Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1.5.3

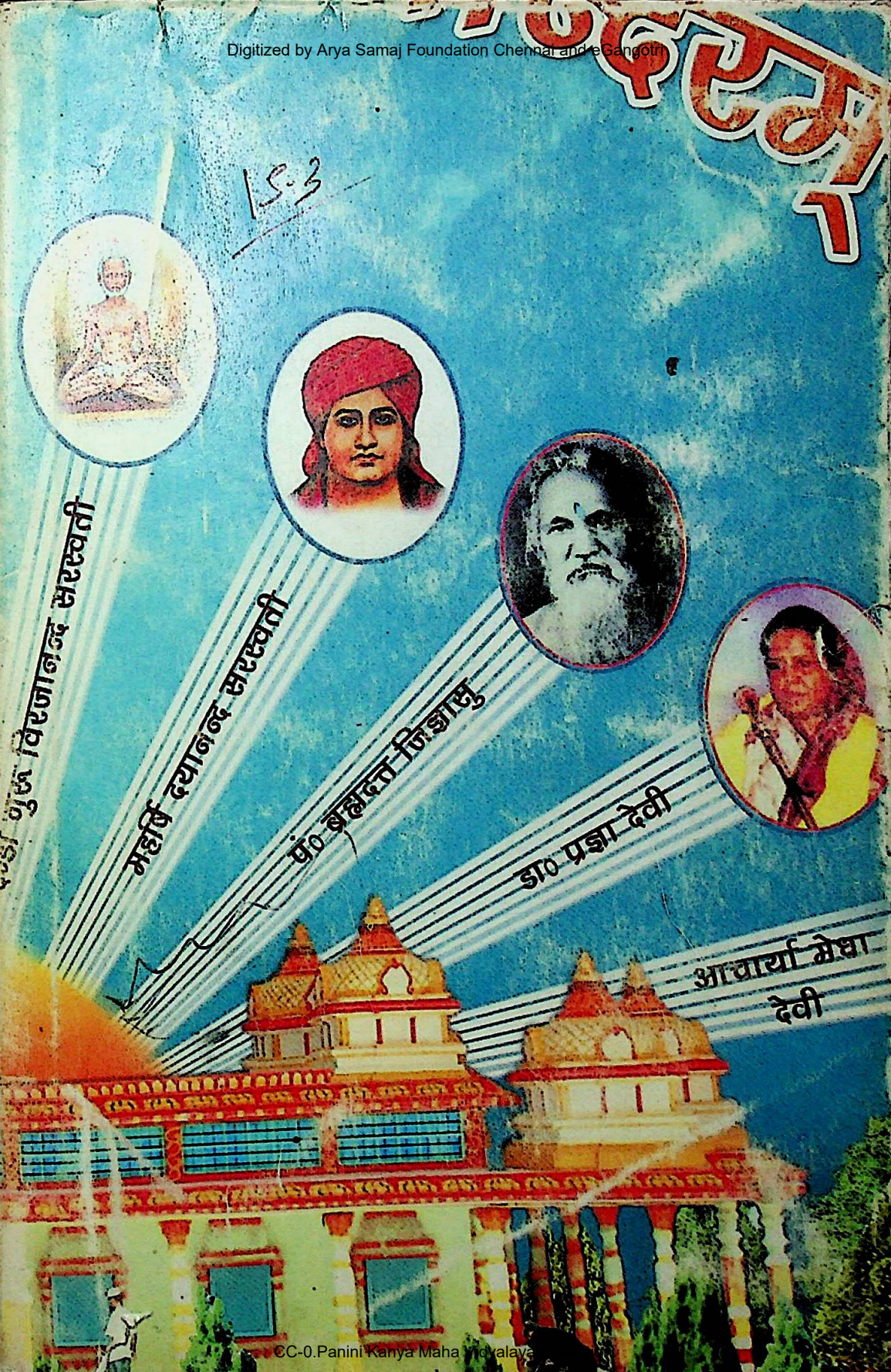

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यकालीन भारत

MEDIEVAL INDIA

[1000 A.D.–1761 A.D.]

एल. पी. शर्मा
भूतपूर्व रीडर, इतिहास विभाग
शिवाजी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय), नई दिल्ली

सत्ताइसवाँ संस्करण : 2010-11

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

By the Same Author :

1. *प्राचीन भारत,* प्रारम्भ से 1200 A.D.
2. *मध्यकालीन भारत,* 1000 से 1761 A.D.
3. *दिल्ली सल्तनत,* 700-1526 A.D.
4. *मुगलकालीन भारत,* 1526-1858 A.D.
5. *भारत का इतिहास,* 1000-1761 A.D.
6. *भारत का इतिहास,* प्रारम्भ से 1526 A.D.
7. *भारत का इतिहास,* 1526 से 1967 A.D.
8. *इंग्लैण्ड का इतिहास,* 1485-1945 A.D.
9. *आधुनिक भारतीय संस्कृति*
10. *Simple History of Ancient India* (Upto 1200 A.D.)
11. *Simple History of Medieval India* (1000-1707 A.D.)
12. *Simple History of Modern India* (1707-1947 A.D.)
13. *Simple History of India* (Earliest Times to 1526 A.D.)
14. *Simple History of India* (1526 to 1947 A.D.)
15. *Simple Evolution of Indian Culture*

© प्रकाशक

ISBN : 978-81-89770-19-8

[*This book or any part thereof may not be reproducted in any way or form without the written permission of the Publishers.*]

प्रथम संस्करण : 1975
सत्ताइसवाँ संस्करण : 2010-11

मूल्य : दो सौ पैंतीस रुपये मात्र

[*All disputes shall be subject to the jurisdiction of Court at Agra.*]

प्रकाशक : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता,
अनुपम प्लाजा, ब्लॉक नं. 50, संजय प्लेस, आगरा-2
टेलीफैक्स : (0562) 2527448
लेज़र टाइप सैटिंग : पैराडाइज ग्राफिक्स, आगरा
मुद्रक : नवरंग ऑफसेट प्रिन्टर्स, आगरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ताइसवें संस्करण के प्रति

सत्ताइसवें संस्करण में मैंने विश्वविद्यालयों के नवीनतम पाठ्यक्रमों तथा प्रतियोगी परीक्षाओं के छात्रों को ध्यान में रखकर संशोधित किया है। इस-नवीन संस्करण में मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने के अतिरिक्त भाषा को और अधिक सरल और आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में मैंने एक नवीन अध्याय *भारत पर अरबों का आक्रमण* शामिल किया है। इस अध्याय में इस्लाम धर्म के उदय का विस्तृत वर्णन किया गया है। पुस्तक के पुराने अध्यायों को अधिक विस्तृत किया गया है तथा साथ ही इसमें जो महत्त्वपूर्ण विषय हो सकते हैं, भी शामिल किया गया है। विश्वविद्यालयों के नवीन परीक्षा पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर प्रत्येक अध्याय के अंत में बहुविकल्पीय, लघु प्रश्न तथा दीर्घ प्रश्नों को बड़ी संख्या में दिया जा रहा है जो निश्चय ही विद्यार्थियों को बहुत अधिक लाभ पहुँचायेंगे। यहाँ पर इस पुस्तक के प्रथम अध्याय की चर्चा जरूर करना चाहूँगा। इस अध्याय (मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्रोत) को इसके महत्त्व को ध्यान में रखकर इसे अधिक व्यापक रूप दिया है, इसमें पुराने संस्करण में जो महत्वपूर्ण सूचनाएँ छूट गयी थीं, वह पूर्ण की गई हैं।

इस पुस्तक के दो भाग 'दिल्ली सल्तनत' तथा 'मुगल काल' की समाप्ति पर अति महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट दिये जा रहे हैं जो विद्यार्थियों को अपने उत्तर को तैयार करने में बहुत सहायता पहुँचायेंगे। इस प्रकार मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक अपने वर्तमान स्वरूप में सभी श्रेणी के विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

—एल. पी. शर्मा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

शिक्षा प्राप्त करने हेतु विदेश जाने पर मेरी अनुपस्थिति में प्रकाशक महोदय, श्री प्रकाश नारायण अग्रवाल (मैसर्स लक्ष्मी नारायण अग्रवाल), ने मेरी अन्य पुस्तकों *दिल्ली-सल्तनत* और *भारत में मुगल-साम्राज्य का इतिहास* को संकलित रूप में एक ही पुस्तक 'मध्यकालीन भारत' को विद्यार्थियों के हेतु प्रस्तुत किया। कुछ ही माह में इसके द्वितीय संस्करण की आवश्यकता ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनका यह प्रयास पूर्ण सफल है। विद्यार्थियों की आवश्यकता को समझकर जो कार्य उन्होंने किया है और जिस प्रकार वह करने में सफल हुए हैं, मैं इसके लिए उनकी सराहना करता हूँ।

मेरे मित्र, श्री महेन्द्र जैन (प्रोपराइटर, जैनसंस प्रिण्टर्स, आगरा), मेरी पुस्तकों के प्रकाशन में सर्वदा रुचि लेते रहे हैं और बिना मेरी सहायता के जिस रूप में वह इस पुस्तक को प्रस्तुत कर सके हैं, वह प्रशंसा के योग्य है। मैं उनके परिश्रम तथा लगन के लिए उनके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

पुस्तक के द्वितीय संस्करण की इतनी शीघ्र आवश्यकता यह सिद्ध करती है कि विद्यार्थियों के लिए यह इसी रूप में लाभदायक है, इस कारण मैंने इसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी। परन्तु फिर भी, जो आवश्यकता मैंने अनुभव की, उसके अनुसार मैंने इसमें परिवर्तन किये हैं। इस पुस्तक में मैंने अंग्रेजी में पाद-टिप्पणियाँ (Foot-notes) नहीं दी हैं। इससे किसी भी भाँति पुस्तक की उपयोगिता में कमी किये बिना पुस्तक के कलेवर को साधारण विद्यार्थियों के लिए घटाने में सुविधा हुई है। जो विद्यार्थी अंग्रेजी के Foot-notes देखना चाहें वे मेरे द्वारा लिखित 'दिल्ली-सल्तनत' और 'भारत में मुगल-साम्राज्य का इतिहास' पुस्तकें पढ़ सकते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि अपने इस रूप में भी यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए पूर्णतः उपयोगी सिद्ध होगी।

जनवरी, 1975

—एल. पी. शर्मा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

तुर्क-अफगान काल

1. मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्रोत ... 3
2. भारत पर अरबों का आक्रमण ... 26
3. 11वीं और 12वीं सदी में तुर्कों के आक्रमण और तुर्कों के राज्य की स्थापना (महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी), उत्तरी भारत में दिल्ली सल्तनत की नींव, कारण और परिस्थितियाँ : तुर्कों की सफलता के परिणाम, भारतीय समाज पर प्रभाव ... 43
4. कुतुबुद्दीन ऐबक और आरामशाह ... 79
5. सुल्तान इल्तुतमिश (1211-1236 ई.) ... 87
6. सुल्तान इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी [सुल्तान और तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट (तुर्कान-ए-चिहालगानी) में राज्य-शक्ति के लिए संघर्ष : 1236-1265 ई.] ... 99
7. गियासुद्दीन बलबन (1265-1287 ई.) (बलबन का राजत्व सिद्धान्त) कैकुबाद और क्यूमर्स (1287-1290 ई.) ... 115
8. जलालुद्दीन फीरोजशाह खलजी (1290-1296 ई.) ... 133
9. अलाउद्दीन खलजी (1296-1316 ई.) : (खलजी साम्राज्यवाद) ... 146
10. कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और खलजी-वंश का पतन (1316-1320 ई.) ... 185
11. गियासुद्दीन तुगलक (1320-1325 ई.) ... 193
12. मुहम्मद-बिन तुगलक (1325-1351 ई.) (प्रशासकीय परिवर्तन) ... 202
13. फीरोजशाह (तुगलक) (1351-1388 ई.) ... 223
14. फीरोजशाह के उत्तराधिकारी और तुगलक-वंश का पतन (1388-1414 ई.) [तुगलक वंश (दिल्ली-सल्तनत) के विघटन तथा पतन के कारण] ... 239
15. विभिन्न सैय्यद सुल्तान (1414-1450 ई.) ... 246
16. विभिन्न लोदी सुल्तान (1450-1526 ई.) ... 253

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय			पृष्ठ
17.	प्रान्तीय राज्य	...	277
18.	मंगोल-आक्रमण और सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति	...	308
19.	शासन-व्यवस्था (राज्य का स्वरूप)	...	316
20.	सभ्यता तथा संस्कृति : समाज, आर्थिक दशा, धार्मिक दशा, साहित्य, स्थापत्य अथवा भवन-निर्माण-कला, संगीत-कला तथा चित्रकला।	...	332
परिशिष्ट 1—	दिल्ली सल्तनत के इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियाँ	...	367
परिशिष्ट 2—	ऐतिहासिक घटनाएँ व इतिहासकारों की टिप्पणी	...	369

मुगल काल

1.	बाबर (1526-1530 ई.) (आत्मकथा और भारत-विवरण)	...	3
2.	हुमायूँ (1530-1556 ई.)	...	24
3.	शेरशाह सूर और उसके उत्तराधिकारी (1540-1555 ई.)	...	39
4.	अकबर महान् (1556-1605 ई.) (अकबर एक राष्ट्रीय सम्राट : अकबर के अधीन राज्यतंत्र का स्वरूप; अकबर के धार्मिक और राजनीतिक विचार; गैर-मुस्लिमों के साथ सम्बन्ध)	...	67
5.	जहाँगीर (1605-1627 ई.)	...	93
6.	शाहजहाँ (1627-1658 ई.) (मुगल-काल का स्वर्ण-युग)	...	118
7.	औरंगजेब (1658-1707 ई.)	...	145
8.	मराठा-शक्ति का उत्कर्ष (1627-1707 ई.)	...	184
9.	मुगल-साम्राज्य का विघटन	...	212
10.	मराठा-शक्ति का विस्तार और प्रथम तीन पेशवा (1707-1761 ई.) (मराठा-राज्य एवं संघ का आविर्भाव, चौथ और सरदेशमुखी)	...	232
11.	मुगल-बादशाहों की विभिन्न महत्वपूर्ण नीतियाँ	...	246
12.	मुगल-शासन-व्यवस्था (केन्द्रीय शासन, मुगल कारखाना, प्रान्तीय शासन, सैनिक शासन (मनसबदारी-व्यवस्था) वित्त और लगान-व्यवस्था, मुद्रा और टकसाल, न्याय, तोल और माप के पैमाने)	...	289
13.	मुगल-सभ्यता और संस्कृति (आर्थिक-स्थिति—कृषि, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य, मुगल और यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियाँ, शहरी केन्द्रों का विस्तार, बैंकिंग-व्यवस्था : सामाजिक स्थिति, हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध, एकीकरण की प्रकृति, 16वीं से 18वीं सदी के सन्दर्भ में शिक्षा, साहित्य, कला—स्थापत्य-कला, चित्रकला)	...	319
14.	18वीं सदी में भारत की स्थिति [I. राजनीतिक स्थिति : 1. राजपूत-राज्य, 2. पंजाब में सिख-शक्ति का उदय, 3. मैसूर-राज्य का उत्थान और पतन, 4. मराठे, 5. यूरोपीय		

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय		पृष्ठ
	निवासी : (i) पुर्तगाली (भारतीय समुद्र पर पुर्तगाली नियंत्रण की स्थापना तथा उसके राजनीतिक और आर्थिक परिणाम), (ii) डच, (iii) अंग्रेज, (iv) फ्रान्सीसी, 6. कर्नाटक के तीन आंग्ल-फ्रान्सीसी युद्ध और फ्रान्सीसियों की भारतीय राजनीतिक मंच से समाप्ति, 7. अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ (बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार), 8. उत्तरकालीन मुगल-बादशाह (1740-1858 ई.) और मुगल-साम्राज्य का पतन, 9. मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण : विभिन्न धारणाएँ	
	II. आर्थिक स्थिति	
	III. सामाजिक स्थिति	
	IV. सांस्कृतिक स्थिति]	... 360
15.	मुगल-साम्राज्य की सफलताएँ एवं असफलताएँ	... 390
परिशिष्ट 1—	मध्यकालीन भारतीय इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियाँ	... 396
परिशिष्ट 2—	महत्वपूर्ण शासकों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्य	... 397

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्क-अफगान काल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1

मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्रोत

मध्यकालीन भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न स्रोत हैं। उनमें प्रथम स्थान ऐतिहासिक ग्रन्थों का है जिनमें से अधिकांश फारसी भाषा में लिखे गये थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यिक ग्रन्थ भी इस काल के इतिहास को जानने के लाभदायक स्रोत हैं जो फारसी भाषा के अतिरिक्त संस्कृत तथा अन्य विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे गये थे। कुछ बादशाहों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाएँ, बादशाहों द्वारा दिये गये फरमान (आदेश-पत्र), शाहजादों, शाहजादियों, मन्त्रियों द्वारा विभिन्न बड़े अधिकारियों द्वारा लिखे गये पत्र तथा विभिन्न विदेशी यात्रियों द्वारा लिखित भारत के यात्रा-विवरण भी इस काल के इतिहास को जानने के लिखित प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त इस काल की प्राप्त पुरातत्व-सामग्री भी इस काल के इतिहास को जानने की बहुमूल्य सामग्री है। विभिन्न अभिलेख, यद्यपि ये बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध नहीं हैं, विभिन्न स्मारक, किले और अन्य इमारतें, मुद्राएँ और चित्र मुख्यतया मुगलकालीन चित्र आदि भी मध्ययुगीन भारत के इतिहास को जानने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इस प्रकार मध्यकालीन भारत के इतिहास को जानने के स्रोत विभिन्न और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

परन्तु इन स्रोतों का अध्ययन करते हुए, मुख्यतया ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रन्थों का, एक विद्यार्थी को सावधानी रखना आवश्यक है। ऐसे स्रोतों का मुख्य दोष यह है कि ये पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण को लिये हुए हैं। इसका कारण यह है कि ये ग्रन्थ मुख्यतया मुसलमान विद्वानों द्वारा लिखे गये थे जिनमें से अधिकांश राजकीय संरक्षण भी प्राप्त किये हुए थे। इस कारण उनका विवरण हिन्दुओं के प्रति अनुदार रहा, अपने संरक्षक सुल्तानों अथवा बादशाहों के प्रति प्रशंसात्मक रहा और अधिकांशतया जन-साधारण के जीवन के प्रति उदासीनता का रहा। इन त्रुटियों के प्रति सावधान रहकर यदि एक विद्यार्थी मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्रोतों का अध्ययन करे तो उसे अध्ययन-सामग्री न केवल मूल्यवान ही प्राप्त होगी अपितु प्रचुर मात्रा में भी प्राप्त होगी। इस काल के इतिहास को जानने के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्रोतों में से कुछ निम्न मुख्य हैं—

1. **तहकीक-ए-हिन्द**—इस ग्रन्थ की रचना अलबरुनी ने अरबी भाषा में की थी। सर्वप्रथम 1888 ई. में एडवर्ड साची ने अरबी भाषा से इस ग्रन्थ का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया। अंग्रेजी भाषा से इसका अनुवाद हिन्दी भाषा में रजनीकान्त शर्मा द्वारा किया गया तथा 'आदर्श हिन्दी पुस्तकालय', इलाहाबाद से उसे प्रकाशित करवाया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलबरुनी का जन्म 973 ई. में खीवा में हुआ था। उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की और एक ख्याति-प्राप्त विद्वान हो गया। 1017 ई. में महमूद गजनवी ने खीवा को विजय किया और वहाँ अलबरुनी को एक युद्ध-बन्दी के रूप में प्राप्त किया। वह उसकी योग्यता से प्रभावित हुआ और उसने अलबरुनी को अपने दरबार के विद्वानों में स्थान प्रदान किया। अलबरुनी महमूद गजनवी के साथ उसके भारत पर किये गये आक्रमणों के अवसरों पर उसके साथ आया। भारत आने से पहले तक अलबरुनी एक राजनयिक के रूप में खीवा वंश के शासन की सेवा में था। उसने यहाँ संस्कृत भाषा, भारतीय दर्शन और ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन किया। अलबरुनी पर यूनानी विचारकों का भी प्रभाव पड़ा, उसने प्रमुख यूनानी विचारकों को अरबी पुस्तकों से जाना था। उसने अपनी कृतियों में अरस्तू व प्लेटो का वर्णन किया है। उसने अपने विभिन्न ग्रन्थों में भारत के विषय में लिखा जिनमें से **तहकीक-ए-हिन्द** में दिये गये विवरण को बहुत प्रामाणिक माना गया है। अलबरुनी ने महमूद गजनवी के समय के भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति के बारे में विस्तृत रूप से लिखा है। **तहकीक-ए-हिन्द** एक विस्तृत ग्रन्थ है जिसमें 80 अध्याय हैं। अलबरुनी ने महमूद गजनवी के उत्तराधिकारी मसूद का संरक्षण भी प्राप्त किया। 1048 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

अलबरुनी ने भारत की जलवायु, प्राकृतिक स्थिति, भाषा, रीति-रिवाज, सामाजिक परम्पराएँ, धर्म, भारतीयों के कर्म-सिद्धान्त, जीव के आवागमन के सिद्धान्त, मोक्ष-सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में लिखा। उसने भारतीयों के भोजन, वेश-भूषा, मेलों, धार्मिक उत्सवों, मनोरंजन के साधनों आदि के विषय में भी लिखा। उसने अपने विवरण में **भगवद्-गीता, वेदों, उपनिषदों,** पातंजलि के **योग-शास्त्र** आदि के विषय में भी लिखा। इस प्रकार, अलबरुनी ने भारतीय जीवन के प्रायः सभी पक्षों के बारे में लिखा।

राजनीतिक स्थिति के विषय में अलबरुनी ने केवल उत्तरी भारत, गुजरात, मालवा, कन्नौज, पाटलिपुत्र, मुंगेर आदि के बारे में ही लिखा। दक्षिण-भारत के किसी भी राज्य के विषय में उसने कुछ नहीं लिखा। उसने लिखा कि भारतीय शासकों में कोई पारस्परिक एकता नहीं है और विदेशी आक्रमण के अवसर पर वे कभी भी मिलकर एक नहीं हुए। उसने भारतीय जाति-प्रथा की कठोरता, उसके दुष्परिणाम और अछूतों की स्थिति के बारे में लिखा। उसने लिखा कि जाति-प्रथा इतनी कठोर है कि यदि एक बार एक व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाये तो उसे पुनः जाति में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उसने भारतीयों की सामाजिक कुरीतियों मुख्यतया सती-प्रथा के बारे में लिखा। उसके अनुसार भारतीय अभिमानी थे। वे अपनी भाषा, संस्कृति, देश आदि सभी को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अलबरुनी ने हिन्दू मन्दिरों, मूर्तियों और बौद्ध-मठों तथा विहारों का भी वर्णन किया। उसके कथनानुसार भारत में वैष्णव-सम्प्रदाय सबसे अधिक लोकप्रिय था और प्रायः सभी भारतीय मूर्ति-पूजक थे। उसके अनुसार भारत आर्थिक दृष्टि से एक सम्पन्न देश था। उसने भारतीयों की मुद्रा-व्यवस्था और नाप-तोल के साधनों के सम्बन्ध में भी लिखा। उसके विवरण के अनुसार भारत में विदेशी व्यापार की तुलना में आन्तरिक व्यापार अधिक मात्रा में था। उसने लिखा कि भारतीय राजाओं को अपनी प्रजा से कर लेने का अधिकार था और कृषकों से वह उत्पादन का 1/6 भाग लगान के रूप में लेते थे जो उनकी आय का मुख्य साधन था। उसके अनुसार भारत धनवान देश था यद्यपि महमूद ने उसकी समृद्धि को लूटकर नष्ट किया।

इस प्रकार, **तहकीक-ए-हिन्द** में भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों का विवरण दिया गया है और उसे तत्कालीन भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के बारे में जानने का एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. **ताज-उल-मासिर**—**ताज-उल-मासिर** को सदरुद्दीन मुहम्मद हसन निजामी ने लिखा था। यह दिल्ली सल्तनत का प्रथम राजकीय इतिहास है। वह खुरासान में स्थित निशापुर नगर का निवासी था। मंगोलों के आक्रमण के अवसर पर वह भागकर भारत आया जहाँ विभिन्न दिल्ली सुल्तानों से उसे संरक्षण प्राप्त हुआ। हसन निजामी ने इस ग्रन्थ को फारसी भाषा में लिखा था। इतिहासकार इलियट और डाउसन ने अंग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद 'भारत के इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत का इतिहास' के द्वितीय भाग में किया। कदाचित हसन निजामी ने अपने इतिहास की रचना दो बार में की थी। प्रारम्भ में उसने 1217 ई. तक की घटनाओं का वर्णन किया। किन्तु इससे उसकी आकांक्षायें पूरी नहीं हुईं। इस कारण उसने पुनः दूसरी बार 1217 से 1229 ई. तक की घटनाओं का वर्णन किया। मुख्यतया कुतुबुद्दीन ऐबक के शासनकाल की घटनाओं का, यद्यपि कहीं-कहीं उसने मुहम्मद गोरी और सुल्तान इल्तुतमिश के समय में हुई घटनाओं का भी उल्लेख किया है। हसन निजामी ने मुख्यतया युद्धों, उनके कारणों और उनके परिणामों का वर्णन किया यद्यपि कुछ प्रकाश उसने भारतीय शासन-प्रणाली और सामाजिक स्थिति पर भी डाला है। हसन निजामी ने भारतीय शहरों, मेलों, उत्सवों और भारतीयों के मनोरंजन-साधनों पर भी प्रकाश डाला है। तब भी **ताज-उल-मासिर** एक छोटा ग्रन्थ है और भारतीय राजनीति, समाज, धर्म और संस्कृति के विषय में विस्तृत रूप से प्रकाश नहीं डालता। हसन निजामी के अनुसार **दिरहम** और **दीनार** नामक सिक्कों को कुतुबुद्दीन ऐबक ने चलाया था यद्यपि अन्य किसी तत्कालीन इतिहासकार ने इसका समर्थन नहीं किया जिसके कारण आधुनिक इतिहासकारों की मान्यता है कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने कोई सिक्का नहीं चलाया था। तब भी **ताज-उल-मासिर** को एक उपयोगी ग्रन्थ माना गया है। हसन निजामी ने मुख्यतया भारतीय राजनीति और उससे सम्बन्धित 12वीं सदी के अन्तिम समय और 13वीं सदी के प्रारम्भिक समय के युद्धों का वर्णन किया है। हसन निजामी ने उन युद्धों और घटनाओं को अपने समय में होते हुए पाया था। इस कारण उसका विवरण पर्याप्त प्रमाणित स्वीकार किया गया है। इस कारण **ताज-उल-मासिर** एक उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत ग्रन्थ माना गया है।

3. **तबकात-ए-नासिरी**—**तबकात-ए-नासिरी** का लेखक मिनहाज-उस-सिराज था जिसने उसे फारसी भाषा में लिखा था। इतिहासकार इलियट और डाउसन ने 'भारत के इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत का इतिहास' के द्वितीय भाग में उसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। 1193 ई. में मिनहाज-उस-सिराज का जन्म हुआ था। उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की और एक विद्वान व्यक्ति सिद्ध हुआ। 1227 ई. में वह सिन्ध पहुँचा जहाँ उसे **मदरसा-ए-फिरोज** में अध्यापक का स्थान प्राप्त हुआ। 1228 ई. में सुल्तान इल्तुतमिश ने उसे अपनी सेवा में ले लिया। उस समय से केवल बीच में एक वर्ष के समय को छोड़कर वह सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल तक राज्य की सेवा में रहा।

तबकात-ए-नासिरी एक विस्तृत ग्रन्थ है जिसमें न केवल दिल्ली-सल्तनत के गुलाम-वंशों के सुल्तानों के शासन का वर्णन किया गया है अपितु इस्लाम के उत्थान, खलीफाओं के शासन, ईरान के शासकों, भारत में तुर्कों के शासन का आरम्भ, गजनी और गोर वंश का इतिहास, मुसलमानी राज्यों पर मंगोलों के आक्रमण आदि का विस्तृत वर्णन भी किया गया है। मिनहाज-उस-सिराज की भाषा सरल, स्पष्ट और आकर्षक है। इसके अतिरिक्त उसने न केवल ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण ही दिया है, अपितु उसने उनकी आलोचनात्मक व्याख्या भी की है जिसके कारण आधुनिक इतिहासकारों को विभिन्न घटनाओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारणों और उनके परिणामों को जानने में भी सुविधा हुई है। आधुनिक इतिहासकार उसके सभी निर्णयों को स्वीकार नहीं करते। उदाहरण के रूप में मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार सुल्ताना रजिया के पतन का मुख्य कारण उसका स्त्री होना था जिसे आधुनिक इतिहासकार स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार उसके कुछ अन्य निर्णयों को भी आधुनिक इतिहासकारों ने स्वीकार नहीं किया है। तब भी सभी आधुनिक इतिहासकार इससे सहमत हैं कि मिनहाज-उस-सिराज का ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन स्पष्ट, विस्तृत और सत्य के निकट है। इसी प्रकार यह भी स्वीकार किया गया है कि यद्यपि मिनहाज-उस-सिराज एक धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था और उसने अधिकांशतया काजी के पद पर कार्य किया परन्तु उसका लेखन धार्मिक कट्टरता से मुक्त था। इस कारण जियाउद्दीन बर्नी जैसे बाद के इतिहासकारों ने **तबकात-ए-नासिरी** को एक विश्वसनीय ग्रन्थ स्वीकार किया तथा उसका उपयोग अपने ग्रन्थों की रचना के लिए किया। मिनहाज-उस-सिराज ने ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त सुल्तानों और अमीरों के व्यक्तिगत जीवन, उनके प्रेम-प्रसंग, नागरिक जीवन और महल के षड्यन्त्रों आदि का भी विवरण दिया है जिसके कारण उसका ग्रन्थ आकर्षक बन गया है। इस प्रकार, **तबकात-ए-नासिरी** एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

4. **अमीर खुसरव द्वारा लिखित विभिन्न ग्रन्थ**—अमीर खुसरव का पूरा नाम अबुल हसन यामीन-उद्दीन खुसरो था। अमीर खुसरव अपने समय का एक महान् विद्वान और कवि था। सुल्तान बलबन के समय में उसने अपने जीवन का आरम्भ किया और सुल्तान कैकुबाद, जलालउद्दीन खलजी, अलाउद्दीन खलजी, कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खलजी और गियासुद्दीन तुगलक का संरक्षण प्राप्त किया। 1253 ई. में उसका जन्म उत्तर प्रदेश के पटियाली गाँव में हुआ था। आरम्भ से ही उसे अध्ययन में रुचि रही और 1325 ई. में अपनी मृत्यु के अवसर तक वह साहित्यिक कार्यों में लगा रहा। वह ऐसा प्रथम भारतीय लेखक था जिसने हिन्दू शब्द एवं मुहावरों का प्रयोग किया। खुसरव एक इतिहासकार नहीं था। वह मुख्यतया एक कवि था। परन्तु तब भी उसके द्वारा लिखे गये **मसनवी** और **दीवान** तत्कालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं और तत्कालीन इतिहास को जानने में सहायता प्रदान करते हैं। खुसरव एक के बाद एक हुए छः दिल्ली सुल्तानों, उनके विभिन्न दरबारियों, सेनापतियों तथा अपने समय के प्रसिद्ध सन्त निजामउद्दीन औलिया के व्यक्तिगत सम्पर्क में रहा था। इस कारण उसे तत्कालीन राजनीति, सामाजिक स्थिति और धार्मिक वातावरण को समझने की सुविधा प्राप्त हुई थी। खुसरव ने भारत में बहुत भ्रमण भी किया। सुल्तानों की सेना के साथ उसने पूर्व में लखनौती तक, पश्चिम में मुल्तान तक और दक्षिण में दौलताबाद तक यात्राएँ की थीं। इसके अतिरिक्त खुसरव एक विद्वान था जिसने सत्य के निकटतम रहने का प्रयत्न किया। खुसरव ने विभिन्न घटनाओं को स्वयं भी देखा था। इस कारण, उसके साहित्यिक ग्रन्थों को भी आधुनिक इतिहासकारों ने तत्कालीन इतिहास को जानने का उपयोगी साधन स्वीकार किया है। खुसरव ने बहुत बड़ी संख्या में ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से **किरान-उस-सादेन, मिफ्ताह-उल-फुतुह, नूह सिपेहर, आशिक, तुगलकनामा, खजान-उल-फुतुह** आदि प्रमुख माने गये हैं। किरान-उस सादेन की रचना 1289 ई. में पद्य में की गयी थी। **किरान-उस-सादेन** में सुल्तान कैकुबाद और उसके पिता तथा बंगाल के सूबेदार बुगराखाँ की पारस्परिक भेंट, दिल्ली नगर के वैभव और भारत की समृद्धि का वर्णन किया गया है। 1291 ई. में पद्य में रचित **मिफ्ताह-उल-फुतुह** में मलिक छज्जू के विद्रोह और जलालउद्दीन खलजी के कुछ अन्य सैनिक-अभियानों का काव्य-शैली में वर्णन किया गया है। **नूह सिपेहर** में सुल्तान मुबारकशाह खलजी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दक्षिण भारत के सैनिक अभियान, भारत के कई स्थानों की भौगोलिक स्थिति का वर्णन तथा भारत के विभिन्न पशु-पक्षियों, आदि का वर्णन काव्य-शैली में किया गया है। **आशिक** भी काव्य-शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। मुख्यतया इसमें गुजरात के शासक कर्ण की पुत्री देवलदेवी और सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के पुत्र खिज्रखाँ के प्रेम-प्रसंग का वर्णन है। इसके अतिरिक्त, इसमें अलाउद्दीन की गुजरात-विजय, मंगोलों द्वारा अमीर खुसरव को बन्दी बनाना, उनकी कैद से बच निकलना, खिज्रखाँ के पतन आदि का वर्णन किया गया है। **तुगलकनामा** में खुसरवखाँ और गियासुद्दीन तुगलक के मध्य हुई कूटनीति और युद्ध तथा गियासुद्दीन तुगलक द्वारा दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने का विवरण है। ये ग्रन्थ भी काव्य-शैली में लिखा गया था। **खजान-उल-फुतुह** गद्य-शैली में लिखा गया था। इसमें अलाउद्दीन खलजी के प्रथम सोलह वर्ष के शासनकाल की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसमें अलाउद्दीन खलजी द्वारा सरदारों के दमन, उसकी बाजार-व्यवस्था, मंगोल-आक्रमणों, आदि का वर्णन नहीं किया गया है। परन्तु मलिक काफूर के दक्षिण भारत के सैनिक-अभियानों का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से किया गया है जिसका वर्णन जियाउद्दीन बरनी ने भी नहीं किया था। इस वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि खुसरो स्वयं भी दक्षिण भारत गया था।

खुसरव के उपर्युक्त ग्रन्थों में से कोई भी ग्रन्थ ऐतिहासिक ग्रन्थों की श्रेणी में नहीं आता। परन्तु तब भी तत्कालीन कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जिनका वर्णन हमें खुसरद के ग्रन्थों से ही प्राप्त हो सका है। इसके अतिरिक्त खुसरव ने घटनाओं का वर्णन क्रमबद्ध रूप में किया था। इस कारण उसके ग्रन्थ ऐतिहासिक ग्रन्थ न होते हुए भी तत्कालीन इतिहास को जानने की उपयोगी सामग्री माने गये हैं।

5. **जियाउद्दीन बरनी द्वारा रचित तारीख-ए-फीरोजशाही**—जियाउद्दीन बरनी का जन्म 1285 ई. में एक शिक्षित और धनवान परिवार में हुआ था। उसने 46 विद्वानों से शिक्षा ग्रहण की थी। उसका पिता सुल्तान बलबन के शासनकाल में एक उच्च पदाधिकारी था और सुल्तान जलालउद्दीन खलजी के समय में वह शाहजादा अर्कलीखाँ का नाइब था। उसका नाम मुईदुलमुल्क सैयद जलालुद्दीन था। उसने किलोखड़ी में एक महल बनवाया था। बरनी का चाचा अला-उल-मुल्क अलाउद्दीन खलजी का विश्वासपात्र और मित्र था। उसने कड़ा में उसके नाइब की दृष्टि से कार्य किया और, बाद में, दिल्ली का कोतवाल बना। इस प्रकार बरनी का परिवार विभिन्न दिल्ली-सुल्तानों, और उनके विभिन्न शासन-अधिकारियों के निकट सम्पर्क में रहा था। बरनी भी एक विद्वान सिद्ध हुआ। सुल्तान गियासुद्दीन ने उसे दरबार में एक सम्मानित स्थान प्रदान किया और वह सुल्तान मुहम्मद तुगलक के भी निकट सम्पर्क में रहा। वह उसके दरबार में नदीम (जिन्दादिल साथी) के पद पर रहा। परन्तु सुल्तान फीरोज तुगलक उससे अप्रसन्न हो गया जिसके कारण बरनी का अन्तिम जीवन आर्थिक संकट में व्यतीत हुआ। सम्भवतः इसी कष्टप्रद जीवन से मुक्ति प्राप्त कर उसने पुनः मान्यता प्राप्त करने के लिए फिरोज की प्रशंसा में **तारीख-ए-फिरोजशाही** और **फतवा-ए-जहाँदारी** की रचना की। उसने अपनी रचना अमीर व कुलीन लोगों को समर्पित की।

बरनी ने कई ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से कुछ उपलब्ध भी नहीं हैं और जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें **तारीख-ए-फीरोजशाही** को ऐतिहासिक ग्रन्थ की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। बरनी ने इस ग्रन्थ की रचना 1358 ई. के लगभग की। बरनी ने इस ग्रन्थ को फारसी भाषा में लिखा था। इतिहासकार इलियट और डाउसन ने उसका अंग्रेजी में अनुवाद 'भारत के इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत का इतिहास' के तृतीय भाग में किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ग्रन्थ में सुल्तान बलबन के सिंहासन पर बैठने के समय से लेकर सुल्तान फीरोज तुगलक के प्रारम्भिक छः वर्षों तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। उसने इस ग्रन्थ को वहाँ से आरम्भ किया जहाँ से 'तबकात-ए-नासिरी' समाप्त होता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ से हमें सुल्तान बलबन, खलजी-सुल्तानों और तुगलक-सुल्तानों के शासनकाल के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। बरनी ने इस ग्रन्थ में राजनीतिक घटनाओं, शासन-प्रबन्ध, सामाजिक स्थिति, आर्थिक दशा, आदि सभी का वर्णन किया है जिसके कारण यह ग्रन्थ मध्यकालीन भारतीय इतिहास और सभ्यता को जानने के लिए एक मूल्यवान ग्रन्थ माना गया है। बरनी ने सत्य लिखने का दावा किया था और उसके लिए उसने प्रयत्न भी किया था यद्यपि उसने स्वयं स्वीकार किया था कि वह सुल्तानों के विरुद्ध लिखने का साहस नहीं कर सकता जिसके कारण इतिहासकार इलियट और डाउसन ने उसे एक न्यायपूर्ण लेखक मानने से इंकार किया। आधुनिक इतिहासकारों में से भी कुछेक ने बरनी पर यह भी दोष लगाया है कि उसने कुछ घटनाओं की तारीखें नहीं लिखीं और घटनाओं को क्रमबद्ध रूप से नहीं लिखा। बरनी पर धार्मिक कट्टरता का भी दोष लगाया गया है। उसने अलाउद्दीन खलजी की बाजार-व्यवस्था का उल्लेख करते हुए लिखा था कि 'हिन्दू और काफिर वस्तुओं की चोर-बाजारी करते थे'। उसी प्रकार मुहम्मद तुगलक की मुद्रा-व्यवस्था का वर्णन करते हुए उसने लिखा था कि 'प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया था।' इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं के प्रति वह अनुदार था। इसी कारण, **तारीख-ए-फीरोजशाही** को पूर्णतया विश्वसनीय ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु तब भी उसे एक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रन्थ माना गया है क्योंकि बरनी स्वयं विभिन्न घटनाओं को देखे हुए था और उनका वर्णन उसने विस्तृत रूप से किया।

6. **शम्स-ए-सिराज द्वारा रचित तारीख-ए-फीरोजशाही**—अफीफ ने कई ग्रन्थों की रचना की थी परन्तु उनमें से **तारीख-ए-फीरोजशाही** ही उपलब्ध है। अफीफ का जन्म 1342 ई. में हुआ था। उसका पिता सुल्तान फीरोजशाह की सेवा में था। उसे भी सुल्तान फीरोज का संरक्षण प्राप्त हुआ। अमीर तैमूर के आक्रमण के पश्चात् सम्भवतया 15वीं सदी के प्रथम दशक में उसने इस ग्रन्थ को लिखा था। अपने इस ग्रन्थ में अफीफ ने सुल्तान फीरोजशाह के जन्म, उसका सिंहासन पर बैठना, उसके समय में हुआ मंगोल-आक्रमण, उसका बंगाल पर आक्रमण, उसकी गुलामों की व्यवस्था, उसकी सैनिक व्यवस्था, उसके धार्मिक और लोकहितकारी कार्य, उसके समय की सामाजिक और आर्थिक स्थिति आदि सभी विषयों का वर्णन किया है। इस प्रकार अफीफ का **तारीख-ए-फीरोजशाही** मुख्यतया सुल्तान फीरोजशाह के शासनकाल की राजनीतिक और नागरिक जीवन की घटनाओं का वर्णन करता है और, इस प्रकार, उस काल के इतिहास को जानने का एक उपयोगी स्रोत ग्रन्थ है। अफीफ ने इस ग्रन्थ की रचना सुल्तान फीरोज के संरक्षण में भी नहीं की थी। परन्तु तब भी अन्य तत्कालीन इतिहासकारों ने इस ग्रन्थ का उपयोग अपनी रचनाओं के लिए नहीं किया।

7. **सीरत-ए-फीरोजशाही**—इस ग्रन्थ की रचना किस लेखक ने की, यह ज्ञात नहीं हो सका है। परन्तु इसकी रचना सुल्तान फीरोजशाह के समय में सम्भवतया 1370 ई. के लगभग उसके संरक्षण में ही हुई। एक प्रकार से यह अफीफ के ग्रन्थ **तारीख-ए-फीरोजशाही** का विस्तृत संस्करण है। इस ग्रन्थ में सुल्तान फीरोजशाह की बहुत प्रशंसा की गयी है।

8. **फतुहात-ए-फीरोजशाही**—यह एक 32 पृष्ठों की छोटी पुस्तक है जिसे स्वयं सुल्तान फीरोजशाह ने लिखा था। यद्यपि पुस्तक के नाम से अर्थ निकलता है, 'सुल्तान फीरोजशाह की फतहें' (विजयें) परन्तु इसमें फीरोज के राज्य-विस्तार के प्रयत्नों का वर्णन नहीं किया गया है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपितु उसके इस्लाम धर्म के प्रसार के लिए किये गये प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। सुल्तान ने उसमें लिखा था कि उसने केवल इस्लाम द्वारा स्वीकृत करों को ही अपनी प्रजा से लिया, ब्राह्मणों से भी जजिया-कर लिया, इस्लाम के विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों को रोका, जनहित के विभिन्न कार्य किये, हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ा और एक बड़ी संख्या में हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में सफलता पायी। इस प्रकार, इस पुस्तक को लिखने में सुल्तान का मुख्य उद्देश्य यह था कि वह अपने को एक आदर्श मुसलमान शासक सिद्ध करना चाहता था। परन्तु इससे यह भी सिद्ध हुआ कि वह एक धर्मान्ध मुसलमान शासक था जिसने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं किया था।

9. **फुतूह-उस-सलातीन**—इस ग्रन्थ का रचयिता ख्वाजा अब्दुल्ला मलिक इसामी था जो सुल्तान मुहम्मद तुगलक का समकालीन था। इसामी का जन्म दिल्ली में 1311 ई. में हुआ। उसका परिवार दिल्ली में ही रहता था परन्तु जब मुहम्मद तुगलक ने 1227 ई. में दौलताबाद को राजधानी बनाया तब उसके परिवार को भी दौलताबाद जाना पड़ा। मार्ग में उसके परिवार को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी और उसके 90 वर्षीय दादा की मृत्यु हो गयी। इसामी इसे कभी न भूल सका और जब मुहम्मद तुगलक ने अपनी प्रजा को पुनः दिल्ली वापस जाने की आज्ञा दे दी तब भी इसामी दिल्ली नहीं गया। जब दक्षिण-भारत में बहमनी-राज्य का निर्माण हुआ और बहमनशाह उसका प्रथम सुल्तान बना तब उसने इसामी को संरक्षण प्रदान किया। इसामी ने बहमनशाह के संरक्षण में रहते हुए **फुतूह-उस-सलातीन** को लिखा तथा 14 मई, 1350 ई. में उसे पूर्ण किया।

तत्कालीन इतिहासकारों में इसामी एक ऐसा विद्वान था जिसने किसी भी तुगलक-सुल्तान से संरक्षण प्राप्त नहीं किया। इस कारण न उसे कोई लालच था और न कोई भय। इस कारण उसका विवरण सत्य के पर्याप्त निकट माना गया है। इसामी सुल्तान मुहम्मद तुगलक से अवश्य अप्रसन्न था और उसने कई बातों के लिए सुल्तान को दोषी ठहराया परन्तु अन्य सुल्तानों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त उसने दक्षिण-भारत में हुए विद्रोह तथा अन्य विभिन्न घटनाओं को स्वयं देखा था। इस कारण उन घटनाओं के विवरण को तो सत्य के निकट माना ही जा सकता है। परन्तु **फुतूह-उस-सलातीन** में केवल तुगलक सुल्तानों के इतिहास का ही वर्णन नहीं किया गया है अपितु उनसे पहले के इतिहास का भी वर्णन है जिसके लिए इसामी ने अन्य विभिन्न विद्वानों के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की सहायता ली। फुतूह-उस-सलातीन में महमूद गजनवी से लेकर 1349 ई. तक की, अर्थात् लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों की घटनाओं का वर्णन है। इस कारण, **फुतूह-उस-सलातीन** के विवरण को सावधानी से अध्ययन करना आवश्यक है।

फुतूह-उस-सलातीन को काव्य शैली में लिखा गया है। इसकी भाषा भी सरल और आकर्षक है। इसमें यामिनी-वंश (महमूद गजनवी का वंश) के इतिहास से लेकर तुगलक-वंश तक के इतिहास का वर्णन किया गया है। इसामी ने 1296 ई. में अलाउद्दीन खलजी द्वारा देवगिरि पर किये गये आक्रमण और मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण-भारत में हुए विद्रोहों का विस्तृत वर्णन किया है। इसामी ने कहीं पर भी अपने ग्रन्थ में जियाउद्दीन बरनी का उल्लेख नहीं किया है परन्तु कई स्थानों पर उसका विवरण बरनी के विवरण की पुष्टि करता है और उसके विवरण का उल्लेख विस्तृत रूप से भी करता है। **फुतूह-उस-सलातीन** को एक विश्वसनीय ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इतिहासकार बदायूँनी और फरिश्ता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अपने ग्रन्थों की रचना में उसकी सहायता ली। आधुनिक इतिहासकार भी उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

10. मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा—ब्रिटिश अजायबघर में प्राप्त **तबकात-ए-नासिरी** की एक प्रतिलिपि में चार पृष्ठों की एक हस्तलिपि संलग्न है। सर्वप्रथम **प्रो. हबीब** द्वारा इन पृष्ठों की ओर ध्यान दिलाया गया और कहा गया कि यह मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा का अंश है। **प्रो. आगा मेंहदी हुसैन** द्वारा इन पृष्ठों का अनुवाद किया गया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा का अंश माना गया और उसे मुहम्मद तुगलक के चरित्र और उसकी विचारधारा को समझने की महत्त्वपूर्ण सामग्री माना। परन्तु उनके पश्चात् कई विद्वानों ने उनके मत के विरोध में विचार प्रकट किया है। **डॉ. के. ए. निजामी** द्वारा जब उन पृष्ठों का अध्ययन किया गया तो निर्णय दिया गया कि उसे मुहम्मद तुगलक की आत्मकथा का अंश मानना एक भूल है। क्योंकि इसमें झूठ के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता। प्रो. हबीब अब प्रो. निजामी के निर्णय से सहमत हैं। एक अन्य विद्वान, **प्रो. कुरैशी** ने यह विचार व्यक्त किया कि ये पृष्ठ सुल्तान मुहम्मद तुगलक के उस प्रार्थना-पत्र के अंश हैं जो उसने फारसी में लिखवाकर खलीफा को अपनी सुल्तान की पदवी की स्वीकृति के लिए भेजा था। प्रो. एस. ए. ए. रिजवी ने भी इस विचार से सहमति प्रकट की है। इस प्रकार इन पृष्ठों के विषय में विवाद है।

11. रेहला—रेहला को इब्नबतूता ने लिखा था जो अफ्रीका का निवासी था और यात्री के रूप में भारत आया। 1304 ई. में तंजीयर में उसका जन्म हुआ था। 1333 ई. में उसने भारत में प्रवेश किया। वह चौदह वर्ष भारत में रहा। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने 1334 ई. में उसे दिल्ली में काजी के पद पर नियुक्त किया जिस पद पर उसने दस वर्ष कार्य किया। बाद में सुल्तान ने असन्तुष्ट होकर उसे उस पद से हटा दिया। परन्तु जब सुल्तान उससे पुनः सन्तुष्ट हो गया तब उसने 1341 ई. में उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा यद्यपि वह वहाँ कभी पहुँच नहीं सका। उसके पश्चात् वह स्वदेश वापस चला गया तथा 25 वर्ष तक मोरक्को के सुल्तान के संरक्षण में रहा। उसी की आज्ञा पर उसने अपनी विदेश-यात्रा का विवरण लिखा जो रेहला नामक ग्रन्थ कहलाया।.

रेहला में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसने सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक की गुप्तचर-व्यवस्था, डाक-व्यवस्था और उसकी मृत्यु की परिस्थितियों का वर्णन किया। परन्तु सुल्तान मुहम्मद तुगलक के शासनकाल की परिस्थितियों का उसने अधिक विस्तृत रूप से वर्णन किया। उसने सुल्तान की क्रूरता, उदारता, राजधानी-परिवर्तन और उसके परिणाम आदि का वर्णन किया। उसने दिल्ली नगर, विभिन्न नगरों के बाजार, भारतीय उत्सवों, मेलों, पशु-पक्षियों, वेश-भूषा, बंगाल की जलवायु आदि का वर्णन किया। इस प्रकार, रेहला से हमें तत्कालीन इतिहास, राजनीति, शासन-व्यवस्था, दरबार का जीवन, नागरिक जीवन, अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक स्थिति आदि सभी के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है।

इब्नबतूता धर्म और कानून का विद्वान था। उसने रेहला को भारत में नहीं लिखा। इस कारण, उस पर न कोई दबाव था और न उसे कोई लालच। उसने अपने विवरण को अपने ज्ञान और परिस्थितियों की स्वयं की जानकारी के आधार पर लिखा था तथा यदि उसने किसी अन्य ग्रन्थ की सहायता ली तो उसने उस ग्रन्थ का वहीं उल्लेख भी किया। इस कारण, आधुनिक इतिहासकार उसके विवरण को पर्याप्त सत्य मानते हैं। इसी कारण, रेहला एक उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12. **मलफूजात-ए-तिमूरी**—यह अमीर तैमूर लंग की आत्मकथा है। यह तुर्की भाषा में लिखी गयी थी। सर्वप्रथम अबू तालिब हुसैनी ने उसका अनुवाद फारसी भाषा में किया और उसे बादशाह शाहजहाँ को भेंटस्वरूप दिया। इसमें तैमूर के कार्य-कलापों और विचारों को प्रस्तुत किया गया है। इसमें अमीर तैमूर के भारत-आक्रमण का भी वर्णन है। इस कारण, यह उत्तरकालीन तुगलक सुल्तानों के इतिहास पर प्रकाश डालता है। इसे एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

13. **जफरनामा**—यह अमीर तैमूर की जीवन-गाथा है। इसे सराजउद्दीन अली याजदी ने अमीर तैमूर के पुत्र के संरक्षण में लिखा था। यह प्रायः **मलफूजात** की नकल है।

14. **तारीख-ए-मुबारकशाही**—इसे याहिया-बिन-अहमद ने लिखा था जो सैयद-वंश के दूसरे शासक मुबारकशाह का समकालीन था और उसके संरक्षण में था। परन्तु उसने इस ग्रन्थ की रचना मुबारकशाह की मृत्यु के बाद की। **तारीख-ए-मुबारकशाही** सैयद-वंश के शासकों के इतिहास को जानने का एकमात्र साधन है यद्यपि इसका विवरण सैयद-वंश के इतिहास तक ही सीमित नहीं है। इसका विवरण मुहम्मद गोरी के सिंहासन पर बैठने के समय से आरम्भ होता है और सैयद-वंश के तृतीय शासक, सुल्तान मुहम्मदशाह के सिंहासन पर बैठने के समय पर समाप्त होता है। याहिया-बिन-अहमद ने फीरोजशाह तुगलक के समय तक का इतिहास अन्य ग्रन्थों की सहायता से लिखा और उसके बाद का इतिहास उसने स्वयं जो देखा और समझा था, उसके आधार पर लिखा। 1400 से 1434 ई. तक के उसके द्वारा लिखे गये इतिहास को बहुत विश्वसनीय माना गया क्योंकि वह उस समय की घटनाओं से स्वयं परिचित था। 1360 से 1434 ई. तक का उसका विवरण बहुत विस्तृत भी है। उसके कई विवरण ऐसे हैं जिन पर शम्स-ए-सिराज अफीफ ने भी प्रकाश नहीं डाला था। इस प्रकार **तारीख-ए-मुबारकशाही** को तत्कालीन इतिहास को जानने का एक उपयोगी स्रोत-साधन माना गया है। बाद के इतिहासकारों जैसे निजामउद्दीन अहमद, बदायूँनी और फरिश्ता ने अपने ग्रन्थों की रचना में **तारीख-ए-मुबारकशाही** की सहायता ली।

15. **वाकियात-ए-मुश्ताकी और तारीख-ए-मुश्ताकी**—इन दोनों ग्रन्थों की रचना शेख रिजकुल्ला (1492-1582 ई.) ने की थी। इन ग्रन्थों को पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया गया है और इनमें घटनाओं का वर्णन क्रमानुसार तिथियों द्वारा नहीं दिया गया है। तब भी इन्हें उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ माना गया है। इन ग्रन्थों में भारत में हुए सम्पूर्ण अफगान-शासकों के इतिहास को दिया गया है। इनमें लोदी-वंश के शासकों तथा शेरशाह सूर और इस्लामशाह सूर के व्यक्तिगत जीवन, उनके शासन-प्रबन्ध, जन-उपयोगी कार्य, दरबार की कार्य-विधियों आदि का वर्णन किया गया है। इस कारण ये ग्रन्थ इन सुल्तानों के व्यक्तित्व, शासन-प्रबन्ध तथा उनके समय की सभ्यता तथा संस्कृति को जानने के उपयोगी साधन हैं।

16. **तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगान या तारीख-ए-शाही**—इस ग्रन्थ को अहमद यादगार ने 1601 ई. में लिखा। उसका विवरण बहलोल लोदी के शासनकाल से आरम्भ होकर हेमू की मृत्यु तक समाप्त होता है। मुख्यतया यह भारत में हुए अफगान-शासकों (लोदी और सूर-वंश के शासक) के शासनकाल का विवरण है यद्यपि कहीं-कहीं मुगल बादशाहों बाबर, हुमायूँ और अकबर के समय में हुई घटनाओं पर भी दृष्टिपात किया गया है। परन्तु मुख्यतया इसमें दिल्ली के अफगान शासकों का इतिहास है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17. **मखजान-ए-अफगाना**—1612 ई. में निमायतउल्ला ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें लोदी-वंश के शासकों के समय की घटनाओं को विस्तृत रूप से दिया गया है। परन्तु इसकी एक विशेषता इसमें अफगानों का वंश वृक्ष का होना है।

18. **तारीख-ए-दाऊदी**—मुगल बादशाह जहाँगीर के शासनकाल में अब्दुल्ला ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसका विवरण लोदी-शासक बहलोल लोदी के शासनकाल से प्रारम्भ होकर बंगाल के अफगान-शासक, दाऊद की मृत्यु (1575 ई.) के समय पर आकर समाप्त होता है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ भारत में हुए अफगान-शासकों के समय के इतिहास को जानने में सहायता करता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त दिल्ली-सल्तनत के समय के विभिन्न प्रान्तों के इतिहास को जानने के लिए अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं जैसे सिन्ध के इतिहास को जानने के लिए मीर मुहम्मद मासूम द्वारा लिखित **तारीख-ए-सिन्ध**, कश्मीर के इतिहास को जानने के लिए मिरजा हैदर द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-रशीदी**, बंगाल के इतिहास को जानने के लिए गुलाम हुसैन सलीम द्वारा लिखित **रियाज-उस-सलातीन** और गुजरात के इतिहास को जानने के लिए मीर अबू तुरबवली द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-गुजरात**, दक्षिण के अहमदनगर राज्य के लिए सैयद अली तबातबा का **बुरहान-ए-मासिर** आदि। तत्कालीन इतिहास को जानने के लिए कुछ ग्रन्थ संस्कृत में भी उपलब्ध हैं। ईरानी राजदूत अब्दुर रज्जाक और इटली के यात्री निकोलो कोन्टी के विजयनगर राज्य के सम्बन्ध में दिये गये विवरण भी बहुत उपयोगी माने गये हैं।

मुगल-काल के इतिहास को जानने के लिए सल्तनत-युग की सामग्री की तुलना में अधिक सामग्री उपलब्ध है जिनमें से कुछ मुख्य निम्न हैं—

19. **तुजुक-ए-बाबरी या बाबरनामा**—मुगल बादशाह बाबर ने अपनी आत्मकथा, तुजुक-ए-बाबरी को तुर्की भाषा में लिखा था। बाबर द्वारा 1508-1519 ई., 1520-1525 ई. और 1529-1530 ई. के मध्य की घटनाओं का वर्णन न करने के बावजूद यह एक अमूल्य ग्रन्थ है। मुगल काल में इसका अनुवाद चार बार पर्शियन (फारसी) भाषा में हुआ। हुमायूँ के शासनकाल में जैन खाँ और पायन्दा हसन ने, अकबर के समय में अब्दुर्रहीम खानखाना ने और शाहजहाँ के समय में मीर अबु तालिब तुरबाती ने इसका अनुवाद किया। बाद में कई बार उसका अनुवाद फारसी भाषा में और तत्पश्चात् विभिन्न यूरोपियन भाषाओं में, मुख्यतया अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं में, भी उसका अनुवाद हुआ। इनमें मैडम बैवरिज द्वारा अंग्रेजी में किये गये अनुवाद को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि यह तुर्की भाषा से अंग्रेजी में किया गया अनुवाद है। मूलतया यह बादशाह बाबर की आत्मकथा है यद्यपि कहीं-कहीं इसमें हुमायूँ के बारे में भी लिखा गया है। कुछ समय ऐसे भी हैं जिसमें बाबर इसे नहीं लिख पाया था। परन्तु तब भी बाबर के जीवन के बारे में जानने का यह सबसे उपयोगी ग्रन्थ है। सभी आधुनिक इतिहासकारों ने इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है और इसे ऐतिहासिक-स्रोत की दृष्टि से श्रेष्ठ माना है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा इतनी श्रेष्ठ है कि इसे साहित्यिक-ग्रन्थ की दृष्टि से भी उच्च स्थान प्रदान किया गया है।

बाबर ने अपने जीवन की घटनाओं के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों की जलवायु, प्रकृति, पशु, पक्षी, राजनीतिक स्थिति, विभिन्न व्यक्तियों और शासकों के चरित्र और व्यक्तित्व, युद्ध-शैली, जन-जीवन, आदि सभी के बारे में लिखा। उसने इसमें भारत का विवरण भी दिया है। ऐसा हुआ है कि बाबर ने परिस्थितियों को समझने में भूल की हो और उसके कुछ निर्णय गलत भी हो गये जैसा कि उसके भारत-विवरण से प्रतीत होता है। परन्तु बाबर ने जहाँ तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी सम्भव हुआ, स्पष्ट लिखा और सत्य लिखा। अपनी दुर्बलताओं, नशा करने की आदतों, दावतों, दोषों आदि को भी छुपाने का प्रयत्न उसने नहीं किया। उसने अपना विवरण अपने सिंहासन पर बैठने के समय से आरम्भ किया और बीच-बीच में कुछ समय को छोड़कर प्रायः 1529 ई. के समय के अन्त तक लिखा। भारत के सम्बन्ध में उसने यहाँ की जलवायु, राजनीतिक स्थिति, जन-जीवन, दौलतखाँ लोदी, इब्राहीम लोदी, आलमखाँ लोदी, राणा संग्रामसिंह आदि के व्यक्तित्व और चरित्र और उनसे हुए युद्धों के बारे में लिखा। उसने गुजरात, मालवा, बंगाल और बहमनी के मुस्लिम राज्यों तथा विजयनगर के हिन्दू-राज्य के बारे में भी लिखा।

उसका विवरण बहुत ही आकर्षक, स्पष्ट और सत्य के निकट माना गया है जिसके कारण एलफिन्सटन ने तुजुक-ए-बाबरी को एशिया में वर्णित ग्रन्थों में से उसे एकमात्र वास्तविक ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वीकार किया है।

20. तारीख-ए-रशीदी—मिर्जा मुहम्मद हैदर ने इसे फारसी भाषा में लिखा था। इसमें उसने बाबर और हुमायूँ के समय की घटनाओं का वर्णन किया था। मिर्जा मुहम्मद हैदर ने 1551 ई. में इसकी रचना पूर्ण की। वह बाबर का सम्बन्धी था और छोटी आयु में ही उसकी सेवा में आ गया था। उसने बाबर और हुमायूँ के जीवन की घटनाओं को स्वयं देखा था और उनमें हिस्सा भी लिया था। उसने बाबर के जीवन-संघर्ष को देखा था, हुमायूँ तथा शेरशाह के संघर्ष को भी उसने देखा, कन्नौज के युद्ध में वह हुमायूँ के साथ था, हुमायूँ के आदेश पर उसने कश्मीर पर आक्रमण करके उसे विजय किया और वहाँ के शासक के रूप में ही उसकी मृत्यु हुई। उसने तारीख-ए-रशीदी को दो भागों में लिखा। एक भाग में उसने 1527-1553 ई. के मध्य के समय की बाबर और हुमायूँ की घटनाओं का उल्लेख किया और दूसरे भाग में उसने 1541 ई. तक की अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन किया।

21. हबीब-उस-सियर—इसकी रचना खवान्द अमीर ने फारसी में की। वह हिरात का रहने वाला था। वह 1528 ई. में भारत आया तथा बाबर की सेवा में चला गया। उसे बाबर के पश्चात् हुमायूँ का भी संरक्षण मिला। गुजरात आक्रमण के समय भी वह हुमायूँ के साथ था। गुजरात से वापस आने के दौरान बीमार होने के कारण 1534 ई. में ग्वालियर में उसकी मृत्यु हो गयी। हबीब-उस-सियर में बाबर के समय की कुछ घटनाओं का वर्णन किया गया है। मुख्यतया बाबर द्वारा 1529 ई. में अफगानों के विरुद्ध किये गये अभियानकार, उसमें हुमायूँ के शासन काल के प्रथम तीन वर्षों की घटनाओं का भी वर्णन है, खवान्द अमीर स्वयं उन घटनाओं का साक्षी था। इस कारण उसका वर्णन प्रामाणिक स्वीकार किया गया है।

22. कानून-ए-हुमायूँनी—यह खवान्द अमीर द्वारा रचित अन्तिम रचना थी। हुमायूँ के शासनकाल की प्रथम कुछ वर्षों की घटनाओं को जानने का यह एक प्रमुख साधन है। हुमायूँ के राज्याभिषेक, उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयाँ, उसके द्वारा बनाये गये प्रारम्भिक कानून, हुमायूँ का चरित्र और व्यक्तित्व आदि को समझने में यह ग्रन्थ बहुत सहायता प्रदान करता है।

23. हुमायूँनामा—बादशाह अकबर के आग्रह पर बाबर की पुत्री और हिन्दाल की बहिन गुलबदन बेगम ने इस ग्रन्थ की रचना फारसी भाषा में की। गुलबदन बेगम ने बाबर के चरित्र, अपने सम्बन्धियों से उसका व्यवहार, उसके अन्तिम समय की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, उसकी बीमारी और मृत्यु और हुमायूँ के जीवन की 1555 ई. तक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण इस ग्रन्थ में दिया। इसमें बाबर और हुमायूँ के काल की राजनीतिक घटनाओं पर बल नहीं दिया गया है। परन्तु बाबर और हुमायूँ के चरित्र, उनके जीवन की व्यक्तिगत घटनाओं, हुमायूँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अपने भाइयों के साथ सम्बन्ध और दोनों बादशाहों के जीवन की कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर विस्तृत रूप से दृष्टिपात किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ बाबर और हुमायूँ के व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन का अधिक उल्लेख करता है। इस कारण, ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्त्व कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त गुलबदन बेगम ने इसे अपनी वृद्धावस्था में अपनी स्मृति के आधार पर लिखा। इस कारण इसके विवरण को बहुत विश्वसनीय भी नहीं माना जा सकता। तब भी हुमायूँनामा को एक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है, मुख्यतया हुमायूँ के जीवन-काल की घटनाओं के सम्बन्ध में। इसकी एकमात्र पाण्डुलिपि लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा भी आकर्षक है जिसके कारण इसका साहित्यिक महत्त्व भी है।

24. **ताजकीरात-उल-वाकियात**—बादशाह अकबर के आदेश पर जौहर आफताब्ची ने फारसी भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की थी। जौहर आफताब्ची वर्षों तक बादशाह हुमायूँ की व्यक्तिगत सेवा में रहा था तथा उसके सैनिक-अभियानों में तथा उसके भगोड़े-जीवन के समय में उसके साथ रहा था। वह हुमायूँ के व्यक्तिगत जीवन से परिचित रहा और उसके जीवन की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं में उसके साथ रहा। उसने लिखा भी केवल हुमायूँ के समय की घटनाओं के बारे में। इस कारण उसके इस ग्रन्थ को हुमायूँ के चरित्र, उसके जीवन की घटनाओं, उसके दुर्दिनों की स्थिति, अकबर का जन्म और अकबर की बाल्यावस्था के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। परन्तु जौहर आफताब्ची ने इस ग्रन्थ को अपनी वृद्धावस्था में अपनी स्मृति के आधार पर लिखा था। इस कारण, उसने घटनाओं का वर्णन क्रमानुसार तिथियों द्वारा नहीं दिया है, कई घटनाओं की तिथियाँ भी गलत दी हैं और कुछ स्थानों की भौगोलिक परिस्थितियों का वर्णन भी ग़लत दिया है। परन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी **ताजकीरात-उल-वाकियात** को हुमायूँ के शासनकाल के इतिहास को जानने के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ की एक मूल लिपि पटना के खुदाबख्श पुस्तकालय में और दूसरी एक अन्य लिपि में उदयपुर के सरस्वती भवन पुस्तकालय में उपलब्ध है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त बाबर और हुमायूँ के समय के इतिहास को जानने में शाह तहमास्प द्वारा लिखा गया ताजकीरात-ए-तहमास्प, बायजिद तियात के संस्मरण, जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं, बायजीद द्वारा रचित तारीख-ए-हुमायूँ, अबुल फजल द्वारा लिखा गया अकबरनामा, ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद बख्शी द्वारा रचित तबकात-ए-अकबरी आदि फारसी भाषा में रचित यह ग्रन्थ अत्यधिक मूल्यवान ग्रन्थ है।

25. **तवारीख-ए-दौलत-ए-शेरशाही**—हसन अली खाँ ने इस ग्रन्थ को फारसी में लिखा था। इसका कुछ भाग ही उपलब्ध है और कुछ इतिहासकार इसे विश्वसनीय ग्रन्थ भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु इसका जो भी भाग उपलब्ध है उसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया गया है और उससे शेरशाह के जीवन और शासन-प्रबन्ध पर उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। जो आधुनिक इतिहासकार इसको विश्वसनीय ग्रन्थ मानते हैं उनका कहना है कि हसन अली खाँ शेरशाह का समकालीन और मित्र था, इस्लामशाह के समय में भी जीवित था तथा इस ग्रन्थ को उसने मुगलों के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में लिखा।

इस ग्रन्थ में शेरशाह के व्यक्तित्व और जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार शेरशाह एक व्यावहारिक व्यक्ति था और अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक साधन अपनाने को तैयार रहता था। परन्तु वह एक न्यायपूर्ण और सद्भावनाओं वाला शासक भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। हसन अली खाँ ने लिखा था कि शेरशाह के सम्बन्ध अपने पिता से ठीक न थे। इस कारण उसे घर छोड़कर भागना पड़ा। उसने बहारखाँ लोहानी के यहाँ नौकरी की और एक चीते को मारने के उपलक्ष्य में 'शेरखाँ' की उपाधि ली। अपनी पिता की मृत्यु के पश्चात् उसने इब्राहीम लोदी से अपने पिता की जागीर प्राप्त की। उसने महमूद लोदी की तरफ से मुगलों से युद्ध किया, चुनार के किले पर उसके किलेदार की विधवा स्त्री से विवाह करके अधिकार किया। उसने उन परिस्थितियों का भी वर्णन किया जिनमें शेरखाँ ने दक्षिणी बिहार पर अधिकार किया। उसने शेरशाह के शासन-प्रबन्ध के बारे में भी लिखा था। उसके अनुसार शेरशाह ने वस्तुओं की कीमतें निश्चित की थीं जिससे उनके मूल्यों में अनावश्यक वृद्धि न हो। उसने नाप-तौल के उपयुक्त साधन उपलब्ध कराये, उसने केवल अपनी सीमा पर ही व्यापारिक-कर लिया, उसने कृषकों की भलाई का प्रयत्न किया, उसने कई सड़कें बनवायीं तथा हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेदभाव नहीं किया। इस प्रकार, हमें **तबारीख-ए-दौलत-ए-शेरशाही** से शेरशाह के व्यक्तित्व, जीवन और शासन के बारे में उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है।

26. **तारीख-ए-शेरशाही अथवा तोहफा-ए-अकबरशाही**—अब्बास खाँ सरवानी ने अकबर के आदेश पर इस ग्रन्थ को फारसी भाषा में लिखा। इस ग्रन्थ का कुछ ही भाग उपलब्ध हो सका है। तब भी जो कुछ उपलब्ध है उससे शेरशाह के जीवन-चरित्र और शासन-प्रबन्ध पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अब्बास खाँ के परिवार के कई सदस्यों का शेरशाह से निकट का सम्बन्ध रहा था। इस कारण, इस ग्रन्थ को एक विश्वसनीय ग्रन्थ माना गया है। अब्बास खाँ ने केवल उन्हीं घटनाओं का वर्णन किया, जिनका ज्ञान उसने उन व्यक्तियों से प्राप्त किया था, जिनको उन घटनाओं का ज्ञान था। इसके अतिरिक्त, अब्बास खाँ ने अपने विवरणों के स्रोतों को भी बताया जिससे उसके ग्रन्थ को पढ़ने वाले उसके विवरण पर विश्वास कर सकें। इसी कारण, बाद के तत्कालीन इतिहासकारों ने उसके ग्रन्थ को एक स्रोत-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग किया। इस ग्रन्थ के रचना काल के विषय में कुछ मतभेद है परन्तु अधिकांशतः यह माना जाता है कि इसकी रचना 1588-89 ई. के पश्चात् हुई।

तारीख-ए-शेरशाही में शेरशाह के कई पूर्वजों का भी वर्णन किया गया है। उसमें शेरशाह का जीवन भी दिया गया है। उसके अनुसार शेरशाह का जन्म सुल्तान बहलोल लोदी के समय में हुआ था, उसका बचपन का नाम फरीद था, अपने पिता से झगड़कर उसने अपना घर छोड़ दिया था, उसने अपने पिता की जागीर का उचित शासन किया था, वह अपने अपराधी सम्बन्धियों को भी दण्डित करता था, उसने बहारखाँ लोहानी की सेवा की जिसने उसे शेरखाँ की उपाधि दी तथा उसने मुगल-बादशाह बाबर की भी नौकरी की यद्यपि अपने जीवन की रक्षा के लिए उसे वहाँ से भागना पड़ा था। इस ग्रन्थ में शेरशाह द्वारा चुनार और रोहतासगढ़ के किलों पर अधिकार किये जाने की घटनाओं और मुगल बादशाह हुमायूँ तथा शेरशाह के मध्य हुए संघर्ष का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में शेरशाह के शासन-प्रबन्ध का भी उल्लेख किया गया है। उसने लिखा था कि उसने केन्द्र पर एक लाख पचास हजार घुड़सवार और पच्चीस हजार बन्दूकची रखे थे, उसने दाग और हुलिया की प्रथाओं को लागू किया, उसने प्रत्येक परगने में लगान वसूल करने के लिए एक अमीन, एक फोतादार और दो कारकुनों की नियुक्ति की, उसने चार मुख्य सड़कों—एक पंजाब से बंगाल में सोनारगाँव तक, दूसरी आगरा से दक्षिण में बुरहानपुर तक, तीसरी आगरा से चित्तौड़ और जोधपुर तक तथा चौथी लाहौर से मुल्तान तक जाती थी। उसने 1,700 सरायों का निर्माण कराया जिनमें हिन्दू

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मुसलमानों के लिए अलग-अलग भोजन की व्यवस्था थी। इस प्रकार, **तारीख-ए-शेरशाही** शेरशाह के चरित्र, जीवन और शासन-प्रबन्ध के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

27. **वाकियात-ए-मुश्ताकी**—इसे शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी ने फारसी में लिखा। मुश्ताकी ने शेरशाह के काल की कुछ मुख्य घटनाओं का ही वर्णन किया। उसने शेरशाह द्वारा बंगाल पर किये गये आक्रमण, उसके पुत्र कुतुबखाँ की मृत्यु और हुमायूँ द्वारा बंगाल पर किया गया आक्रमण तथा उसकी वापसी के विषय में लिखा। उसके अनुसार फरीद को शेरखाँ की उपाधि एक चीता मारने के उपलक्ष में नहीं अपितु एक दृढ़ किले को जीतने के उपलक्ष में दरियाखाँ ने दी थी। यद्यपि समकालीन इतिहासकारों से यह मत भिन्न है। मुश्ताकी ने शेरशाह के सैनिक शासन-प्रबन्ध, असैनिक शासन, परगना के शासन और जनहित कार्यों के बारे में भी लिखा। उसके अनुसार शेरशाह अपने सैनिकों की तनख्वाह उनकी योग्यता के आधार पर निश्चित करता था और उसने विद्रोहों को दबाने के लिए किलों में स्थायी सेना रखी थी।

मुश्ताकी ने इस्लामशाह के सिंहासन पर बैठने की परिस्थितियों, अपने भाई आदिल-शाह से उसका संघर्ष, तथा शेरशाह के सरदारों के दमन करने के प्रयत्नों का भी वर्णन किया। उसने मुहम्मद आदिलशाह की असफलता तथा हुमायूँ द्वारा पुनः दिल्ली पर अधिकार करने का भी वर्णन किया। इस प्रकार **वाकियात-ए-मुश्ताकी** शेरशाह, उसके उत्तराधिकारी और हुमायूँ के इतिहास को जानने में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। परन्तु इसमें यह दोष भी है कि इसमें तिथियाँ नहीं दी गयी हैं, घटनाओं का विवरण क्रमानुसार नहीं है और कुछ ऐसे विवरण भी दिये गये हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से निरर्थक हैं।

28. **तारीख-ए-शाही**—जहाँगीर के समय में पूर्ण की गयी अहमद यादगार के इस ग्रन्थ को अधिक विश्वसनीय स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि यह किंवदन्तियों पर आधारित है। इसमें तिथियों का भी अभाव है। फिर भी इसमें शेरशाह द्वारा किये गये अभियानों के विषय में सही जानकारी मिलती है। इसमें शेरशाह की मुद्रा प्रणाली का उल्लेख है। इसमें यह भी वर्णित है कि कालिंजर अभियान में किस प्रकार बारूद में आग लग जाने से शेरशाह की मृत्यु हुई। इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता इसमें अफगान शासकों के प्रभावशाली अमीरों की सूची का होना है जो अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं मिलती।

29. **तारीख-ए-फिरिश्ता**—फिरिश्ता पहले अहमदनगर के शासक मुर्तजा निजामशाह की सेवा में था। उसके पश्चात् वह बीजापुर के शासक इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय की सेवा में चला गया। वहाँ उसने इस ग्रन्थ को लिखा जो ऐतिहासिक ग्रन्थ की दृष्टि से बहुत उपयोगी माना गया है। इसमें प्रायः भारत का सम्पूर्ण इतिहास दिया गया है। इस ग्रन्थ को लिखने में फिरिश्ता ने विभिन्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, विशेषतः फारसी ग्रन्थों की सहायता ली थी। इसका अधिकांश विवरण तारीख-ए-शेरशाही पर आधारित है।

30. **तारीख-ए-दाउदी**—अब्दुल्ला ने, सम्भवतया, जहाँगीर के शासनकाल में इसे लिखा था। उसने अपना विवरण बहलोल लोदी के शासनकाल से आरम्भ किया यद्यपि उसने विस्तृत रूप से शेरशाह के शासनकाल के बारे में ही लिखा है। उसने अपने विवरण का मुख्य आधार **तारीख-ए-शेरशाही, वाकियात-ए-मुश्ताकी** और **तबकात-ए-अकबरी** को बनाया यद्यपि उसने फारसी के कुछ अन्य ग्रन्थों की सहायता भी ली। उसने शेरशाह के जीवन, राजनीतिक विचार, मुगलों की दुर्बलताओं, शेरशाह और हुमायूँ के संघर्ष और शेरशाह द्वारा चन्देरी और मारवाड़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर किये गये आक्रमणों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया। उसके अनुसार शेरशाह का दृष्टिकोण यह था कि अफगानों की दुर्बलता का मुख्य कारण उनके सरदारों का पारस्परिक संघर्ष था। उसने शेरशाह के शासन-प्रबन्ध और उसके जन-हित के कार्यों का भी वर्णन किया है। परन्तु **तारीख-ए-दाउदी** की मुख्य दुर्बलता यह है कि इसमें तिथियों की कमी है और घटनाओं का विवरण क्रमानुसार नहीं किया गया है। तब भी इस ग्रन्थ को एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

31. **अकबरनामा**—इस ग्रन्थ की रचना बादशाह अकबर के शासनकाल में अबुल फजल ने की थी। अबुल फजल विद्वान था। उसने कई ग्रन्थों की रचना फारसी भाषा में की और कई संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद फारसी में किया। **अकबरनामा** को तीन भागों में बाँटा गया है। पहले भाग में अमीर तैमूर से लेकर हुमायूँ तक के मुगल-शासकों के इतिहास का वर्णन किया गया है। दूसरे और तीसरे भाग में 1602 ई. तक के बादशाह अकबर के इतिहास को दिया गया है। **अकबरनामा** को तैयार करने में अबुल फजल ने फारसी भाषा में लिखे गये विभिन्न ग्रन्थों की सहायता ली जिनमें **तुजुक-ए-बाबरी, हुमायूँनामा, ताजकीरात-उल-वाकियात, ताजकीरात-ए-हुमायूँ और अकबर** तथा **तारीख-ए-रशीदी** प्रमुख थे। उसने इतिहास की उपयोगिता और लेखन-कला की उपयोगिता के सम्बन्ध में **अकबरनामा** की एक बड़ी प्रस्तावना लिखी। बाबर के काल के इतिहास को लिखते हुए उसने उसके चरित्र, व्यक्तित्व, युद्ध-शैली, विद्वत्ता के कार्य, उसका अपने मित्रों और सम्बन्धियों के प्रति व्यवहार आदि का विवरण दिया और, इस प्रकार, **तुजुके-बाबरी** की अपूर्णता को पूर्ण करने का प्रयत्न किया। उसने हुमायूँ की कठिनाइयों, उसके सम्बन्धियों और भाइयों से उसके सम्बन्ध, शेरशाह से उसका संघर्ष, भारत छोड़कर जाना और पुनः दिल्ली को जीतना आदि का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। अबुल फजल मुगल-वंश का पक्षधर था। इस कारण उसने शेरशाह को एक षड्यन्त्रकारी और हुमायूँ की असफलता का कारण उसके दुर्भाग्य को बताया। बादशाह अकबर के बारे में तो उसका विवरण और भी अधिक विस्तृत है। उसने अकबर द्वारा किये गये सैनिक अभियानों, उसकी विभिन्न नीतियों और उनके कारण और परिणामों पर पूर्ण प्रकाश डाला। अकबर का मित्र होने के नाते वह उसकी भावनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और उसकी परिस्थितियों को ठीक प्रकार समझता था और उसने उनका वर्णन प्रभावशाली भाषा में किया। इस प्रकार, **अकबरनामा** मुगल-इतिहास को जानने का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ है। परन्तु इसका एक दोष भी है। उसने मुगल-बादशाहों बाबर, हुमायूँ और मुख्यतया अकबर के व्यक्तित्व को बहुत उज्ज्वल ढंग से प्रस्तुत किया जबकि उनके शत्रुओं शेरशाह और इस्लामशाह को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। इस कारण सूर-वंश के इतिहास को समझने के लिए एक विद्यार्थी को **अकबरनामा** के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी अध्ययन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अबुल फजल की भाषा अलंकारपूर्ण है जिससे उसके वर्णन में अतिशयोक्ति आ गयी है। इन त्रुटियों के अतिरिक्त **अकबरनामा** एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ है।

32. **आईन-ए-अकबरी**—इस ग्रन्थ को भी अबुल फजल ने तीन भागों में लिखा था। इसमें अबुल फजल ने अकबर के शासन-प्रबन्ध, कानून, नियम आदि का वर्णन किया है। इसमें अबुल फजल ने शाही टकसाल, मुद्रा-व्यवस्था, शस्त्रशाला, हरम का प्रबन्ध, शाही घुड़साल, दरबार के नियम, बादशाह अकबर की दिनचर्या, सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों की तनख्वाहों, न्याय, लगान-व्यवस्था, राज्य की आय और व्यय के साधन, अकबर के नैतिक नियम, दीन-इलाही के लक्ष्य और सिद्धान्त, विदेशी आक्रमण, विदेशी यात्री, विभिन्न मुस्लिम सन्त और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके सम्प्रदाय, हिन्दू विद्वान और उनके दर्शन आदि सभी के बारे में विस्तृत रूप से विवरण दिया है। इस प्रकार, **आईन-ए-अकबरी** में राजनीतिक इतिहास नहीं है अपितु शासन, साहित्य, संस्कृति, धर्म, कला आदि का विवरण है। इस प्रकार, **आईन-ए-अकबरी** बादशाह अकबर के शासन. सभ्यता और संस्कृति के बारे में जानने का एक मूल्यवान स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

33. **रुकात-ए-अबुल फजल**—इसमें अबुल फजल द्वारा अपने माता-पिता, भाई, अकबर और उसकी पत्नियों और पुत्रियों तथा शाहजादा मुराद और दानियाल आदि को लिखे गये पत्रों का संग्रह है। इसे 1913 ई. में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ने प्रकाशित किया था। यह पत्र अकबर के समय के इतिहास को जानने में बहुत सहायक है। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है।

34. **इंशा-ए-अबुल फजल**—इसमें बादशाह अकबर द्वारा अबुल फजल से लिखवाये गये और स्वयं अबुल फजल द्वारा लिये गये पत्रों का संग्रह है। इसके पहले भाग में अकबर की ओर से अबुल फजल द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को भेजे जाने वाले पत्रों का संग्रह है तथा दूसरे भाग में स्वयं अबुल फजल द्वारा लिखे जाने वाले पत्रों का संग्रह है। ये पत्र भी अकबर के समय के इतिहास को जानने की बहुमूल्य सामग्री है।

35. **तबकात-ए-अकबरी**—इस ग्रन्थ को निजामउद्दीन अहमद ने लिखा था। इसका प्रकाशन 'बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी' के द्वारा किया गया। निजामउद्दीन के पिता ने बाबर और हुमायूँ के शासनकाल में उच्च पदों पर कार्य किया और स्वयं अकबर के शासनकाल में वह **मीर बख्शी** के पद पर रहा। इस कारण, राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से उसका सम्पर्क रहा था तथा अपने समय की घटनाओं को जानने के साधन उसके पास थे। इसके अतिरिक्त वह एक निष्पक्ष विद्वान था। उसने इस ग्रन्थ को तैयार करने के लिए विभिन्न श्रेष्ठ ग्रन्थों की सहायता भी ली; जैसे—**तारीख-ए-यामिनी, तबकात-ए-नासिरी, तारीख-ए-फीरोजशाही, बाबरनामा, वाकिया-ए-मुश्ताकी, अकबरनामा** आदि। इस प्रकार **तबकात-ए-अकबरी** एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

तबकात-ए-अकबरी तीन भागों में विभाजित है। इसमें भारत में मुस्लिम शासन के स्थापित होने से लेकर बादशाह अकबर के उनतालीसवें वर्ष तक का इतिहास दिया गया है। इसके पहले भाग में भारत में मुस्लिम शासन के आरम्भ से लेकर दिल्ली सुल्तानों तक के इतिहास का वर्णन किया गया है। इसके दूसरे भाग में मुगल बादशाह बाबर से लेकर अकबर के उनतालीसवें वर्ष तक का इतिहास दिया गया है। इसके तीसरे भाग में प्रान्तीय राज्यों मुख्यतया मालवा और गुजरात के इतिहासों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार, **तबकात-ए-अकबरी** मध्ययुगीन भारत के एक बड़े भाग के इतिहास को जानने का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ माना गया है। **तबकात-ए-अकबरी** को पक्षपात रहित ग्रन्थ भी माना गया है। निजामउद्दीन ने बाबर के मुख्य विरोधी संग्रामसिंह के व्यक्तित्व की बहुत प्रशंसा की थी। उसने बाबर की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ के स्थान पर मेंहदी ख्वाजा को सिंहासन पर बिठाने के षड्यन्त्र का भी वर्णन किया। उसने अकबर के शासनकाल की घटनाओं को न केवल अपने द्वारा देखे जाने के आधार पर ही लिखा अपितु अन्य विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की भी सहायता ली। निजामउद्दीन ने घटनाओं का वर्णन क्रमानुसार तिथियों द्वारा किया। इस कारण, **तबकात-ए-अकबरी** एक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ माना गया है। फरिश्ता ने अपने लेखन के लिए **तबकात-ए-अकबरी** का भी प्रयोग किया तथा इतिहासकार डाउसन द्वारा उसे एक 'आदर्श इतिहास' स्वीकार किया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

36. मुन्तखब-उत-तवारीख अथवा तारीख-ए-बदायूँनी—इसका लेखक अब्दुल कादिर बदायूँनी था। उसने अबुल फजल और फैजी के साथ शेख मुबारक नागौरी से शिक्षा प्राप्त की थी। परन्तु वह उनके समान उदार विचार का नहीं रहा अपितु धार्मिक दृष्टि से कट्टर हो गया। परन्तु वह विद्वान सिद्ध हुआ और बादशाह अकबर के समय में इमाम के पद पर रहा। अकबर ने उसे अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया और उसे ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना तथा अन्य भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करने का उत्तरदायित्व सौंपा। बदायूँनी अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। उसने कई अरबी और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में किया। संस्कृत के ग्रन्थों में उसने महाभारत, रामायण, राजतरंगिणी, सिंहासन-बत्तीसी आदि का अनुवाद फारसी भाषा में किया।

तारीख-ए-बदायूँनी को तीन भागों में विभाजित किया गया था। प्रथम भाग में उसने सुबुक्तगीन के समय से लेकर हुमायूँ के शासनकाल तक की घटनाओं का वर्णन किया। दूसरे भाग में उसने 1594 ई. तक के अकबर के शासन की घटनाओं को लिखा। उसने अकबर की धार्मिक नीति की कटु आलोचना की थी जिसके कारण उसने इस दूसरे भाग को अकबर के शासनकाल में गुप्त रखा। तीसरे भाग में बदायूँनी ने अपने समकालीन विद्वानों और सन्तों के जीवन और उनकी गतिविधियों का वर्णन किया। तारीख-ए-बदायूँनी में राजनीतिक घटनाओं का वर्णन अधिकांशतया तबकात-ए-अकबरी के आधार पर किया गया है। स्वयं बदायूँनी ने अपने ग्रन्थ को तबकात-ए-अकबरी का एक छोटा स्वरूप कहा था। बदायूँनी ने घटनाओं की तिथियों को देने का ध्यान नहीं किया और न घटनाओं को क्रमानुसार देने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त वह अकबर की धार्मिक उदारता की नीति के कारण उससे असन्तुष्ट हो गया था जिसके कारण उसका अकबर के काल का वर्णन दोषपूर्ण हो गया। तब भी बदायूँनी के इस ग्रन्थ को उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। अकबर के बारे में दिया गया उसका वर्णन भी अकबर के कार्यों के बारे में अबुल फजल के वर्णन से विपरीत दृष्टिकोण को लिये हुए है जिससे अकबर के पक्ष और विपक्ष को समझकर उसके कार्यों के विषय में एक सन्तुलित दृष्टिकोण बनाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, अकबर के शासनकाल के इतिहास को जानने के लिए इनायतउल्ला का लिखा हुआ तकमील-ए-अकबरनामा, जिसमें 1602 से 1605 ई. तक के अकबर के इतिहास को दिया गया है। मुल्ला मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह (फरिश्ता) द्वारा रचित तारीख-ए-फरिश्ता उर्फ गुलशन-ए-इब्राहीम, जिसमें मुस्लिम शासनकाल के आरम्भ से लेकर जहाँगीर के सिंहासन पर बैठने तक के समय का तथा दक्षिणी भारत के राज्यों के इतिहास का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। नूर-उल-हक द्वारा लिखा गया जुबदात-उत-तवारीख, अब्दुल हक द्वारा लिखा गया तारीख-ए-हक्की, अल्लाहदाद फैजी 'सरहिन्दी' द्वारा लिखे गये तारीख-ए-हुमायूँशाही और अकबरनामा, मुहम्मद अमीन द्वारा लिखा गया अनफौल-ए-अकबर, याहिया बिन अब्दुल लतीफ द्वारा रचित मुन्तखब-उत-तवारीख आदि भी उपयोगी स्रोत ग्रन्थ स्वीकार किये गये हैं।

37. तुजुक-ए-जहाँगीरी—यह जहाँगीर की आत्मकथा है जिसे जहाँगीर ने स्वयं अपने सिंहासन पर बैठने के समय से लेकर अपने शासन के सत्रहवें वर्ष तक लिखा। बाद में अपने स्वास्थ्य के खराब हो जाने के कारण उसने उसे लिखने का उत्तरदायित्व अपने बख्शी, मोतमिद खाँ को सौंप दिया जिसने उसे जहाँगीर के शासन के उन्नीसवें वर्ष तक पूरा किया। जहाँगीर ने अपने पिता के विरुद्ध किये गये अपने विद्रोह, शाहजादा खुसरव की मृत्यु की परिस्थितियों, नूरजहाँ से उसके विवाह की परिस्थितियों, आदि का वर्णन बहुत संक्षिप्त में दिया। इनके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त, उसने बाकी घटनाओं का वर्णन विस्तार से किया और सत्य के निकट किया। उसने अपने चरित्र की दुर्बलताओं, नूरजहाँ से अपने प्रेम और अपनी शराब पीने की आदत को छुपाने का प्रयत्न नहीं किया। जहाँगीर भारत में पैदा हुआ था और यहीं पला। इस कारण भारतीयों के विषय में उसका वर्णन सन्तुलित रहा।

जहाँगीर ने अपने सिंहासन पर बैठने के अवसर पर बनाये गये नियमों, न्याय प्रदान करने के लिए अपने साधनों, खुसरव का विद्रोह, अपने पिता और सम्बन्धियों से अपने सम्बन्ध, अपने समय के सैनिक अभियान, दरबार में मनाये जाने वाले उत्सव, हिन्दुओं और मुख्यतया राजपूतों से अपने व्यवहार, अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या, अपनी शिकार की यात्राएँ, अपनी कश्मीर की यात्राएँ, शेर अफगन की मृत्यु, नूरजहाँ से अपने विवाह आदि के बारे में लिखा। जहाँगीर को प्रकृति को देखने और बगीचे लगाने का शौक था। उसने अपनी आत्मकथा में विभिन्न स्थानों की जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्य, फूल, पेड़, पशु-पक्षी आदि का सुन्दर वर्णन किया है। जहाँगीर को चित्रकला का शौक था। उसने उसके प्रति अपने शौक, अपने ज्ञान और उसकी उन्नति के लिए किये प्रयत्नों का भी वर्णन किया। इस प्रकार **तुजुक-ए-जहाँगीरी** जहाँगीर के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं, इतिहास और संस्कृति को जानने के लिए एक मूल्यवान ग्रन्थ माना गया है।

38. **इकबालनामा**—**इकबालनामा** को मोतमिद खाँ ने लिखा था। वह पर्शिया का निवासी था और भारत आकर उसने जहाँगीर को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और अपनी योग्यता द्वारा मीर-बख्शी का पद प्राप्त किया। उसने जहाँगीर की आत्मकथा को केवल दो वर्ष लिखा और उसके पश्चात् **इकबालनामा** की रचना की। इकबालनामा तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में उसने अमीर तैमूर के परिवार और बाबर तथा हुमायूँ के काल के इतिहास को लिखा। दूसरे भाग में उसने बादशाह अकबर के समय के इतिहास को लिखा और तीसरे भाग में जहाँगीर के काल के इतिहास को लिखा। मोतमिद खाँ जहाँगीर के निकट सम्पर्क में रहा था और उसे तत्कालीन परिस्थितियों को समझने का उचित अवसर भी मिला था। उसने जहाँगीर के शासनकाल के उन्नीसवें वर्ष के बाद के इतिहास को विस्तृत रूप से लिखा। इस कारण, **इकबालनामा** जहाँगीर के शासनकाल के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक उपयोगी ग्रन्थ माना गया है। परन्तु उसका वर्णन पक्षपातपूर्ण माना गया है। जब तक उसे जहाँगीर का संरक्षण प्राप्त हुआ उसने जहाँगीर के व्यक्तित्व को बहुत उठाने का प्रयत्न किया। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् उसे शाहजहाँ का भी संरक्षण प्राप्त हुआ और तब उसने बेगम नूरजहाँ की गतिविधियों की आलोचना की। इस कारण, एक विद्यार्थी को **इकबालनामा** का अध्ययन करते हुए सावधानी रखनी चाहिए।

जहाँगीर के शासनकाल के इतिहास को जानने में सहायता प्रदान करने वाले अन्य ग्रन्थ मुहम्मद हादी द्वारा लिखा गया ततिम्मा-वाकियात-ए-जहाँगीरी, ख्वाजा कामगार धारत खाँ द्वारा रचित मुआसिर-ए-जहाँगीरी और एक अपरिचित लेखक के द्वारा लिखा गया इन्तखाव-ए-जहाँगीरशाह भी है।

39. **पादशाहनामा**—तीन दरबारी इतिहासकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों का नाम **पादशाहनामा** रखा। इन सभी ने मूलतया शाहजहाँ के काल के इतिहास को लिखा।

सर्वप्रथम, बादशाह शाहजहाँ ने अपने शासन के आठवें वर्ष में मुहम्मद अमीन कजवीनी को अपने शासनकाल के इतिहास को लिखने का आदेश दिया। उसने शाहजहाँ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय के प्रथम दस वर्षों के इतिहास को लिखा। उसके बाद शाहजहाँ ने उसे इस कार्य से रोक दिया। कजवीनी ने अपने ग्रन्थ को तीन भागों में बाँटा। पहले भाग में उसने शाहजहाँ की बाल्यावस्था से लेकर सिंहासन पर बैठने के समय तक की घटनाओं को लिखा। दूसरे भाग में उसने शाहजहाँ के शासनकाल के प्रथम दस वर्षों के इतिहास को लिखा। तीसरे भाग में उसने अपने समकालीन विद्वानों और सन्तों के नामों की सूची दी। कजवीनी शाहजहाँ का पक्षधर था। उसने शाहजहाँ के व्यक्तित्व को उठाया। उसने शाहजहाँ के विद्रोह के लिए बेगम नूरजहाँ को दोषी ठहराया। तब भी उसने शाहजहाँ के शासनकाल के प्रथम दस वर्षों की अच्छी-बुरी सभी घटनाओं का वर्णन किया। इस कारण उसके द्वारा लिखित **पादशाहनामा** को एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

कजवीनी को दो वर्ष के पश्चात् शाहजहाँ ने इतिहास लिखने से रोक दिया और उस कार्य को करने के लिए अब्दुल हमीद लाहौरी को नियुक्त किया। अब्दुल हमीद ने भी अपने ग्रन्थ का नाम **पादशाहनामा** ही रखा। उसने अपने **पादशाहनामा** को दो भागों में विभक्त किया। प्रथम भाग में उसने मुगल-वंश के इतिहास को अमीर तैमूर से लेकर शाहजहाँ के शासनकाल के प्रथम दस वर्षों तक लिखा। इस काल का वर्णन उसने संक्षिप्त में किया और शाहजहाँ के शासनकाल के प्रथम दस वर्षों के इतिहास को उसने मुहम्मद अमीन कजवीनी के विवरण पर ही आधारित किया। दूसरे भाग में उसने शाहजहाँ के शासनकाल के अगले दस वर्षों के इतिहास को लिखा। उसने उसमें शाहजहाँ की दैनिक दिनचर्या, दरबार की शान-शौकत, उसको दी गयी भेंट, पदाधिकारियों का विभाजन और उसके समय के सरदारों, विद्वानों, सन्तों और शाहजहाँ के पुत्रों का विवरण दिया। उसने इन दस वर्षों के इतिहास का वर्णन बहुत विस्तृत रूप से किया। अब्दुल हमीद लाहौरी अपने समय के महान् विद्वानों में से एक था। उसका **पादशाहनामा** बाद के इतिहासकारों के लिए भी लाभदायक सिद्ध हुआ। आधुनिक इतिहासकारों ने भी उसे एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया है। परन्तु उसके ग्रन्थ में एक दोष रहा। अपने लेखन में अब्दुल हमीद लाहौरी ने अबुल फजल की शैली की नकल करने का प्रयत्न किया था जिसके कारण उसकी भाषा कठिन हो गयी। लाहौरी का पादशाहनामा बाद के इतिहासकारों के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हुआ। मुन्तखब-उल-लुबाब के लेखक खाफी खाँ ने शाहजहाँ के समय का इतिहास लिखने के लिए इसी की सहायता ली।

तीसरे **पादशाहनामा** को मुहम्मद वारिस ने लिखा। जब अब्दुल हमीद लाहौरी वृद्ध हो गया तब शाहजहाँ के बाद के समय के इतिहास को लिखने का उत्तरदायित्व उसके शिष्य मुहम्मद वारिस को दिया गया। मुहम्मद वारिस ने शाहजहाँ के काल के सम्पूर्ण इतिहास को लिखा। उसने शाहजहाँ के प्रथम बीस वर्षों का इतिहास अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा लिखे गये **पादशाहनामा** के आधार पर लिखा परन्तु बाद के दस वर्षों का इतिहास उसने स्वतन्त्र रूप से और विस्तृत ढंग से लिखा। उसकी लेखन-शैली भी अब्दुल हमीद लाहौरी की भाँति ही रही। उसने अपने विवरण में तिथियों और घटनाओं का वर्णन क्रमानुसार किया। उसके **पादशाहनामा** को एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

उपरोक्त के अतिरिक्त शाहजहाँ के काल के इतिहास पर तत्कालीन लेखकों द्वारा लिखी गयी अन्य पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। इनमें मुहम्मद ताहिर उर्फ इनायत खाँ द्वारा लिखा गया शाहजहाँनामा जो शाहजहाँ के समय का पूर्ण इतिहास है। मुहम्मद सालिह कम्बू द्वारा रचित अमल-ए-सालिह और मुहम्मद सादिक खाँ द्वारा लिखा गया शाहजहाँनामा प्रमुख माने गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

40. मुन्तखाब-उल-लबाब या तारीख-ए-खाफीखाँ—इसका लेखक हाशिम खाफीखाँ था। उसने मुगल-काल के इतिहास को बादशाह बाबर के भारत पर किये गये आक्रमणों से आरम्भ करके उत्तरक़ालीन मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के शासन के प्रथम पन्द्रह वर्षों तक लिखा। खाफीखाँ औरंगजेब के शासनकाल में एक उच्च पद पर था। बाद में वह हैदराबाद राज्य के संस्थापक, निजाम-उल-मुल्क का दीवान बन गया। उसने अपने ग्रन्थ को औरंगजेब के शासनकाल में ही लिखना आरम्भ कर दिया था। बाद में उसने अपने ग्रन्थ को पूर्ण करके बादशाह मुहम्मदशाह को भेंट किया। खाफीखाँ ने औरंगजेब के काल के इतिहास को विस्तृत रूप से लिखा। उसने दावा किया कि उसने निष्पक्षतापूर्ण इतिहास को लिखा और आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. यदुनाथ सरकार ने उसे एक योग्य इतिहासकार स्वीकार किया है। परन्तु उसके इतिहास को पूर्णतया निष्पक्ष स्वीकार नहीं किया गया है। निस्सन्देह, उसने छत्रपति शिवाजी की उदार धार्मिक नीति की प्रशंसा की परन्तु अफजलखाँ की हत्या के लिए उन्हें दोषी ठहराया। उसने हैदराबाद के संस्थापक निजाम-उल-मुल्क की भी अत्यधिक प्रशंसा की। खाफीखाँ ईरानी था। उसने पक्षपातपूर्ण ढंग से मुगल-दरबार के तूरानी-दल को साम्राज्य के अहित में कार्य करने के लिए दोषी ठहराया। उसने बादशाह फर्रुखसियर की हत्या के लिए स्वयं बादशाह को ही दोष दिया। यह सभी कुछ निष्पक्ष ऐतिहासिक विवरण स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु तब भी मुन्तखाब-उल-लबाब को एक उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

41. नुसखा-ए-दिलकुशा—इस ग्रन्थ का लेखक भीमसेन था। उसने क्रमशः मुगल-सरदार दाऊदखाँ, जोधपुर के शासक जसवन्तसिंह और बुन्देला सरदार दलपतराव की सेवा की। उसे फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान था। हस्तलिखित रूप में यह ग्रन्थ लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। भीमसेन अधिकांशतया दक्षिण-भारत में रहा था। उसके ग्रन्थ से औरंगजेब के काल के इतिहास पर मुख्यतया दक्षिण-भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भीमसेन ने अपने ग्रन्थ को उस समय लिखा जबकि वह राज्य की सेवाओं से पूर्णतया मुक्त हो गया था। इस कारण, उसे न किसी का भय था और न उसे किसी को प्रसन्न करना था। उसने विभिन्न मुगल-सरदारों के संरक्षण में कार्य किया था जिससे उसे विभिन्न सरदारों के व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक सम्बन्ध, स्वार्थ, हित-अहित आदि के बारे में देखने का अवसर मिला। इस कारण उसका विवरण अधिकांशतया निष्पक्ष और सत्य के निकट रहा। इस कारण नुसखा-ए-दिलकुशा उसके समकालीन इतिहास को जानने का मुख्यतया दक्षिण-भारत के इतिहास को जानने का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ माना गया है। भीमसेन ने घटनाओं का वर्णन करते हुए उनके कारणों और परिणामों पर भी दृष्टिपात किया। उदाहरण के रूप में उसने लिखा कि दक्षिण-भारत में निरन्तर हुए युद्धों के कारण मराठा-किसानों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी जिसके कारण उन्होंने मराठा-स्वतन्त्रता-संग्राम में औरंगजेब के विरुद्ध मराठा-सरदारों की सेना में भर्ती होना पसन्द किया। उसने विभिन्न सरदारों की युद्ध-शैली का वर्णन किया, उसने कुछेक मुगल सरदारों के चरित्र और व्यक्तित्व का विवरण दिया तथा उसने सड़कों, वस्तुओं के मूल्यों और उच्च वर्ग के व्यक्तियों की जीवन-शैली और मनोरंजन आदि के बारे में भी उल्लेख किया। उसने शिवाजी, उनके विभिन्न कार्य, मुख्यतया सैनिक संगठन, के बारे में भी लिखा जो महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस कारण, नुसखा-ए-दिलकुशा को एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

42. **खुलासात-उत-तवारीख**—इसका लेखक सुजानराय खत्री था तथा पटियाला का रहने वाला था। उसने विभिन्न मुगल-सरदारों के संरक्षण में मुंशी का कार्य किया। उसने दावा किया कि उसने अपने ग्रन्थ की रचना विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर की। उसने अपने ग्रन्थ में उन ग्रन्थों की सूची भी दी। सुजानराय ने इस ग्रन्थ में महाभारत के नायक, पाण्डवों से लेकर औरंगजेब की मृत्यु तक के समय के इतिहास को लिखा है। परन्तु मुगल बादशाहों से पहले का इतिहास उसने बहुत संक्षिप्त में दिया। उसने हिन्दू राजाओं, गजनवी के शासकों, भारत में तुर्की राज्य की स्थापना, दिल्ली-सुल्तानों के शासन आदि का विवरण संक्षिप्त में दिया। शाहजहाँ के काल के इतिहास को भी उसने संक्षिप्त में ही लिखा। परन्तु बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के पुत्रों में हुए उत्तराधिकार के युद्ध का भी उसने विस्तृत रूप से वर्णन किया। उसके अनुसार शाहजादा खुसरव की हत्या के लिए शाहजहाँ दोषी था। उसने अन्य विभिन्न राजनीतिक घटनाओं के कारणों और परिणामों के बारे में भी लिखा। इस कारण **खुलासात-उत-तवारीख** को एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ माना गया है मुख्यतया मुगल इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त, जो मुगल इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, मुगल-साम्राज्य के विघटन के पश्चात् बने प्रान्तीय स्वतन्त्र राज्यों के इतिहास को जानने के लिए भी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से गुजरात के इतिहास को जानने के लिए अली मुहम्मदखाँ के द्वारा लिखा गया **मीरात-ए-आर्मदी**, बंगाल के इतिहास को जानने के लिए सलीमुल्ला द्वारा लिखा गया **तवारीख-ए-बंगला**, गोलकुण्डा के इतिहास को जानने के लिए हबीबउल्ला द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-मुहम्मद कुतुबशाही**, बीजापुर के इतिहास को जानने के लिए जहुर-बिन-जाहौरी द्वारा लिखित मुहम्मदनामा तथा कश्मीर के इतिहास को जानने के लिए हैदर मलिक द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-कश्मीर** आदि प्रमुख हैं। मुगल इतिहास को जानने के लिए संस्कृत भाषा में भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें महेश ठाकुर द्वारा लिखा गया सर्वदेशवृतान्त संग्रह उर्फ अकबरनामा, पद्मसुन्दर द्वारा रचित अकबरशाही-शृंगार दर्पण, चन्द्रशेखर द्वारा लिखा गया सुर्जनचरित् महाकाव्यम् आदि प्रमुख हैं। इस काल में हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये।

मुगल काल में विभिन्न यूरोपीय यात्री भी भारत आये, भारत के बारे में अपने संस्मरणों को लिखा और इस प्रकार भारत के मुगलकालीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता दी। विलियम हाकिन्स, सर टामस रो, डी लाइट, पीटर मुण्डी, बर्नियर, मनुची आदि के विवरण इस काल के इतिहास को जानने के महत्त्वपूर्ण स्रोत माने गये हैं। फ्रांसीसी यात्री वर्नियर ने अपनी पुस्तक *ट्रैवल्स इन मुगल एम्पायर* में भारत यात्रा का विवरण लिखा। 1671 ई. में अंग्रेजी में इसका पहला अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार इटली के यात्री मनुची ने मुगल इतिहास पर रचित अपने ग्रन्थ *स्टोरियो डी मोगोर* को कभी इटालियन में, कभी फ्रेंच में और कभी पुर्तगाली भाषा में लिखा। विलियम इरविन ने अंग्रेजी भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया। यह अनुवाद चार जिल्दों में है। मनुची का यह ग्रन्थ बहुत विस्तृत है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मध्यकालीन भारतीय इतिहास के किन्हीं दो मुख्य स्रोत-ग्रन्थों पर टिप्पणी लिखिए।
2. मुगलकालीन भारत के इतिहास को जानने के कुछ प्रमुख साक्ष्यों का वर्णन कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. इब्नबतूता द्वारा रचित 'रेहला' की ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ के रूप में समीक्षा कीजिए।
4. मुगलकाल के फारसी में लिखित ऐतिहासिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों की विवेचना कीजिए।
5. गुलाम वंश के शासकों के इतिहास को जानने में विभिन्न ग्रन्थों का क्या महत्त्व है ? वर्णन कीजिए।
6. 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के ऐतिहासिक महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
7. ख्वाजा अब्दुल्ला मलिक द्वारा रचित 'फुतूह-उस-सलातीन' से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री को बताइए।
8. 1605 ई. से 1761 ई. तक के मुगलकालीन स्रोत ग्रन्थों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अलबरुनी द्वारा वर्णित भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. मिनहाजुद्दीन सिराज की पुस्तक तबकाते नासिरी पर एक लेख लिखिए।
3. तारीख-ए-फीरोजशाही के लेखक अफीफ का मूल्यांकन कीजिए।
4. आईने अकबरी के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
5. तुजुके-बाबरीं और हुमायूँनामा पर टिप्पणी लिखिए।
6. भीमसेन का इतिहासकार के रूप में क्या महत्त्व रहा है ?
7. तुजुक-ए-जहाँगीरी के अनुसार जहाँगीर के शासन का वर्णन कीजिए।
8. एक इतिहासकार के रूप में अबुल फजल का मूल्यांकन कीजिए।
9. जियाउद्दीन बरनी का एक इतिहासकार के रूप में मूल्यांकन कीजिए।
10. अमीर खुसरो की ऐतिहासिक तथा साहित्यिक रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मिनहाजुद्दीन द्वारा रचित ताज-उल-मासिर में क्या वर्णित किया गया है ?
   (अ) ऐतिहासिक घटनाएँ (ब) सुल्तानों के चरित्र व प्रेम-प्रसंग
   (स) महल के षड्यंत्र (द) उपर्युक्त सभी का।
2. शेख निजामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो किस मत के अनुयायी थे ?
   (अ) कट्टर सुन्नी मत (ब) सूफी मत
   (स) शिया मत (द) इनमें से कोई नहीं।
3. इब्नबतूता का मूल नाम था—
   (अ) शेख अब्दुल्ला (ब) अबू अब्दुल्ला मुहम्मद
   (स) मेंहदी हुसैन (द) ख्वाजा अब्दुल समाद।
4. फिरोज तुगलक के सम्पूर्ण शासन की घटनाओं का वर्णन किसने किया है ?
   (अ) बरनी ने (ब) अफीफ ने
   (स) मिनहाज ने (द) अमीर खुसरो ने।
5. 'मलफूजात-ए-तीमूरी' किस शासक की आत्मकथा है ?
   (अ) सिराजुद्दीन की (ब) तैमूर लंग की
   (स) अलाउद्दीन की (द) इनमें से कोई नहीं।
6. 'बाबरनामा' का मूल तुर्की भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद किसने किया ?
   (अ) मैडम बैवरिज (ब) गुलबदन बेगम
   (स) अब्दुल हमीद लाहौरी (द) याहिया-बिन-अहमद।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. अब्दुल हमीद लाहौरी के ग्रन्थ का नाम था—
(अ) पादशाहनामा (ब) शाहजहाँनामा
(स) अमल-ए-सालिह (द) इनमें से कोई नहीं।

8. मुन्तखब-उत तवारीख नामक ग्रन्थ में अब्दुल कादिर बदायूँनी ने किस सम्राट का वर्णन किया है ?
(अ) हुमायूँ का (ब) शाहजहाँ का
(स) जहाँगीर का (द) अकबर का।

9. कानून-ए-हुमायूँनी का लेखक कौन था ?
(अ) हुमायूँ (ब) गुलबदन बेगम
(स) ख्वान्दामीर (द) रजा मुहम्मद।

10. अलबरुनी द्वारा अरबी भाषा में रचित तहकीक-ए-हिन्द का अंग्रेजी अनुवाद किसने किया ?
(अ) एडवर्ड साची ने (ब) मिनहाज ने
(स) अमीर खुसरव ने (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (ब), 4. (ब), 5. (ब), 6. (अ), 7. (अ), 8. (द), 9. (स), 10. (अ)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2

भारत पर अरबों का आक्रमण

इस्लाम धर्म का उद्‌भव

विश्व इतिहास में इस्लाम धर्म का उत्थान एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अरब के रेगिस्तान में इसकी उत्पत्ति हुई तथा अरबों, ईरानियों और तुर्कों ने इसके प्रसार में प्रमुख भाग लिया। पैगम्बर मुहम्मद (570-632 ई.) इसके संस्थापक थे। इस्लाम ने अरबों में एक राष्ट्र के समान एकता की भावना और तीव्र सैनिक प्रवृत्ति तथा उत्साह प्रदान किया। प्रचार और तलवार के आधार पर इसका विस्तार किया जिससे आरम्भ से ही इसका स्वरूप एक सैनिक-धर्म की तरह हो गया। 100 वर्षों से भी कम समय में इसका और इसके समर्थकों के साम्राज्य का विस्तार पश्चिम में अटलांटिक समुद्र से पूर्व में सिन्धु नदी तक और उत्तर में कैस्पियन सागर से दक्षिण में नील नदी की घाटी तक हो गया, जिसमें स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस का दक्षिणी भाग, उत्तरी अफ्रीका, सम्पूर्ण मिस्र, अरब, सीरिया, मेसोपोटामिया, आर्मीनिया, पर्शिया, सम्पूर्ण मध्य-एशिया, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध आदि सम्मिलित थे। तलवार की शक्ति पर आधारित इस्लाम की शक्ति का इतने थोड़े समय में प्रसार और उसकी विजय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना थी। विभिन्न छोटी-छोटी शक्तियाँ और धार्मिक सम्प्रदाय ही नहीं अपितु बड़ी-बड़ी शक्तियाँ और प्राचीन धर्म भी इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति के आगे झुकते चले गये। यूरोप के ईसाई राज्यों ने इस्लाम की शक्ति को रोकने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये। और यदि 716 ई. में कुस्तुनतुनिया के निकट थियोडोसस तृतीय ने तथा 732 ई. में टुअर्स के युद्ध में चार्ल्स ने इस्लाम की सेनाओं को परास्त करने में सफलता न पायी होती तो सम्भवतया सम्पूर्ण यूरोप इस्लामी सत्ता और धर्म को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता। इसके पश्चात् भी यूरोप इसके भय से मुक्त न हो सका। ओटोमान-तुर्कों ने एक बार फिर इस्लाम की शक्ति को यूरोप में फैलाया। रोमन-साम्राज्य, कुस्तुनतुनिया, बाल्कान प्रदेश और सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप इस्लाम की शक्ति के आगे झुक गया और ईसाई राज्यों के संयुक्त प्रयत्न तथा विभिन्न धर्म युद्ध भी इस्लाम के तूफान के सामने असफल रहे। इसी इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला भारत को भी करना पड़ा। प्रायः तीन सौ वर्ष तक भारत ने अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं पर इसे रोककर रखा। परन्तु अन्त में वह परास्त हुआ और इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया।

पैगम्बर मुहम्मद

570 ई. में इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद का जन्म मक्का (अरब) में हुआ। बचपन में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। इस कारण उनका लालन-पालन उनके चाचा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अबू तालिब ने किया। मुहम्मद आरम्भ से ही अल्लाह के भक्त थे। चालीस वर्ष की आयु में उन्हें यह आत्मज्ञान हुआ कि वह अल्लाह के पैगम्बर हैं और उन्होंने अपने को नवी (पैगम्बर) और रसूल (ईश्वर का दूत) घोषित कर दिया। उस समय अधिकांशतः अरब-निवासी मूर्ति-पूजक थे। वह अल्लाह को मानते थे परन्तु अल्लाह की पूजा नहीं करते थे, अपितु प्रायः 300 अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे जिनकी मूर्तियाँ अथवा चिह्न काबा में रखे गये थे। उनमें से अल्लाह की बेटियों के रूप में लाट, मानत और उजा की पूजा प्रमुख थी और केवल हाबल की एक मूर्ति पूर्ण थी। उस समय तक अरबों का न तो कोई धार्मिक ग्रन्थ था और न कोई धार्मिक दर्शन। उनका मुख्य तीर्थ-स्थान मक्का का काबा था जो एक ऐसा घेराबन्द स्थान था जिसकी छत न थी और जिसमें अरबों के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अथवा उनके प्रतीक रखे गये थे। उसकी स्थापना अब्राहम और इस्माइल ने की थी। बाद में भी उसमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। हज की धार्मिक क्रियाएँ भी काबा में नहीं की जातीं, बल्कि उसके इर्द-गिर्द की उस भूमि में की जाती है जिसे हम हातिम पुकारते हैं। अरब उस समय विभिन्न फिरकों में बँटा हुआ था, जिनमें आपस में युद्ध होते रहते थे। हजरत मुहम्मद ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया, विभिन्न देवी-देवताओं को मानने से इन्कार किया और एक अल्लाह में विश्वास करने का प्रचार किया। मक्का के निवासी उनके विचारों से असन्तुष्ट हो गये। उस समय यासारिब, जो बाद में मदीना (पैगम्बर का शहर) कहलाया, औस तथा खजराज नाम के दो अरब फिरकों के झगड़े का केन्द्र स्थान बना हुआ था। उन दोनों फिरकों ने पैगम्बर मुहम्मद को मदीना आने का निमंत्रण दिया जिससे वह उन दोनों के झगड़ों का न्यायपूर्ण निर्णय कर सकें। उस समय तक मुहम्मद को विभिन्न अरब-फिरकों की आर्थिक स्थिति और उनके पारस्परिक झगड़ों का बहुत अधिक अच्छा ज्ञान हो गया था और वह अरब में प्रचलित यहूदी तथा ईसाई धार्मिक विचारों के बारे में भी बहुत अच्छी जानकारी रखते थे। वह 622 ई. में मक्का को छोड़कर मदीना चले गये। वहाँ उनके धार्मिक विचारों का स्वागत हुआ। मुहम्मद किसी भी अरब-फिरके के नेता होने का दावा नहीं करते थे। इस कारण उनके पास कोई राजनीतिक शक्ति न थी। परन्तु उन्होंने जिस मुस्लिम सम्प्रदाय की स्थापना की वह धीरे-धीरे सभी फिरकों से श्रेष्ठ और शक्तिशाली बन गया। मुहम्मद ने ही कुरान की रचना की। धीरे-धीरे उन्होंने सम्पूर्ण अरब को धार्मिक और राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया। उन्होंने उसके लिए युद्ध भी किये। स्वयं मुहम्मद ने कोई स्थायी सेना नहीं रखी थी। उनके कोई स्थायी शरीर रक्षक न थे, न कोई खजाना था और न कोई स्थायी दफ्तर। उनके सभी कार्य स्वयंसेवकों द्वारा अथवा विभिन्न अवसरों पर उनके द्वारा नियुक्त किये गये उनके प्रतिनिधियों के द्वारा किये जाते थे। मुहम्मद अपने समर्थकों की सलाह को सुनते थे और उनको अपनी आलोचना तक करने का अधिकार देते थे। परन्तु प्रत्येक विषय में अन्तिम निर्णय उन्हीं का होता था। इस प्रकार इस्लाम का प्रचार करने के साथ-साथ मुहम्मद ने परिस्थितियोंवश एक राजनीतिक व्यवस्था और एक राज्य की स्थापना भी की और वह स्वयं उसके प्रधान बन गये, यद्यपि वह सर्वदा पैगम्बर ही कहलाये और उन्होंने कभी भी किसी अन्य पद अथवा स्थिति को स्वीकार नहीं किया। 632 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

उमय्यद-ख़लीफा

पैगम्बर मुहम्मद ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था। इस कारण मदीना में हुई एक जन-साधारण सभा में अबू-बक्र को उनका उत्तराधिकारी चुना गया। पैगम्बर मुहम्मद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उत्तराधिकारी खलीफा कहलाये। इस कारण अबू-वक्र पहला खलीफा हुआ। उसका वंश उमय्यद था। इस कारण पहले के खलीफा उमय्यद-खलीफा कहलाये। 633 ई. से 750 ई. तक के समय में उमय्यद-वंश के 18 खलीफा हुए जिनमें से प्रथम चार खलीफा पवित्र-खलीफा माने गये और बाद के 14 खलीफा धार्मिक प्रधान के साथ-साथ शासक भी माने गये। यद्यपि पहले खलीफा अबू-वक्र के समय में ही पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् होने वाले विभिन्न विद्रोहों को दबाने की आवश्यकता के कारण खलीफा एक धर्म का ही नहीं अपितु एक राज्य का प्रधान और मदीना उस राज्य की राजधानी बन गया था। उसकी मृत्यु बीमारी से हुई। उसने उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। दूसरा खलीफा उमर हुआ जो एक आदर्श खलीफा माना गया और जिसके समय में महान् विजयें की गयीं। सीरिया, मिस्र, ईरान आदि को उसके समय में विजय किया गया। उमर ने अमीरूल-मुर्मीनिन की उपाधि ग्रहण की। उसके समय में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों के मानने वालों को अरब से बाहर बसाया गया और अरब को पूर्णतया अरबों और इस्लाम का प्रदेश बना दिया गया। नवम्बर 644 ई. में प्रार्थना करते हुए उमर की हत्या एक ईरानी गुलाम ने कर दी। परन्तु मरने से पहले वह पैगम्बर के छह साथियों में से एक को अपना उत्तराधिकारी चुने जाने की सलाह दे गया। उनमें से उसमान को नवीन खलीफा चुना गया। उसमान योग्य खलीफा सिद्ध नहीं हुआ। 17 जून, 656 ई. को, जबकि वह कुरान पढ़ रहा था, उसका कत्ल कर दिया गया। चौथा खलीफा अली चुना गया, जिसका सम्पूर्ण जीवन युद्धों में व्यतीत हुआ। अली ने मदीना के स्थान पर कूफा को अपनी राजधानी बनाया। 25 जनवरी, 661 ई. को अली का कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् उसके सबसे बड़े लड़के हसन को खलीफा चुना गया, परन्तु उसने मुअव्विया के पक्ष में अपना पद छोड़ दिया। इस कारण पाँचवाँ खलीफा मुअव्विया हुआ। मुअव्विया ने खलीफा के पद को पैतृक रूप दिया और अपने पुत्र याजिद को अपना उत्तराधिकारी चुना। उसके समय से खलीफा का पद धार्मिक होने के साथ-साथ पूर्णतया राजनीतिक भी बन गया, क्योंकि उसके पश्चात् अधिकांश खलीफा या तो वंशानुगत आधार पर खलीफा बने अथवा चुने गये। याजिद करीब $3\frac{1}{2}$ वर्ष तक खलीफा रहा। उसका लड़का खलीफा मुअव्विया द्वितीय केवल 2 या 3 महीने खलीफा रहा। आठवें खलीफा मारवान का शासन काल भी थोड़े समय का रहा। परन्तु नवें खलीफा अब्दुल मलिक ने अपने 20 वर्ष के शासन-काल में सम्पूर्ण मुस्लिम साम्राज्य को अपनी अधीनता में लाने में सफलता पायी। उसके पुत्र खलीफा तालिद प्रथम का शासन उससे भी अधिक यशस्वी सिद्ध हुआ। अभी तक के खलीफाओं में खलीफा उमर प्रथम का समय सबसे अधिक यश और विस्तार का रहा था।

खलीफा वालिद का समय उससे भी अधिक श्रेष्ठ रहा। उसके समय में इस्लाम की शक्ति सबसे अधिक विस्तृत और संगठित हो गयी। प्रो. मोहम्मद हबीब ने लिखा है कि "कुछ भागों जैसे कि स्पेन के खो जाने और कुछ भागों; जैसे—इण्डोनेशिया के पा लेने को छोड़कर आज भी मुस्लिम अनुयायियों की सीमाएँ वहीं हैं जहाँ मुस्लिम खिलाफत की सीमाओं को 715 ई. में वालिद-विन-अब्दुल-मलिक ने छोड़ा था।"

खलीफा वालिद के समय में ईरान (पर्शिया) की विजय के पश्चात् इस्लाम की सीमाएँ चीन तक, सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में, दक्षिणी स्पेन तक और भारत में सिन्ध तक फैल गयीं। उसके पश्चात् के खलीफाओं ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने में सफलता पायी यद्यपि उसमें से कोई भी बहुत यशस्वी नहीं हुआ। सभी खलीफाओं का यह विश्वास रहा था कि बिना किसी जाति, देश, भाषा, अथवा संस्कृति के अन्तर के सभी खलीफाओं का यह विश्वास रहा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि बिना किसी जाति, देश, भाषा अथवा संस्कृति के अन्तर के सभी मुसलमानों का केवल एक ही राज्य होना चाहिए। जब तक उसकी शक्ति रही, वह अपने इस उद्देश्य में सफल रहे। परन्तु उमय्यद-खलीफाओं का शासन अरब कुलीनों का शासन था। इससे ईरानी असन्तुष्ट थे, वे अरब असन्तुष्ट थे जिनसे उमय्यदों ने राजनीतिक सत्ता छीन ली थी तथा पैगम्बर मुहम्मद अथवा कुरेग वंश के वे व्यक्ति भी असन्तुष्ट थे जो खलीफा के पद पर अपना स्वाभाविक अधिकार समझते थे। इस कारण उमय्यद-खलीफाओं को निरन्तर आन्तरिक विद्रोहों का मुकाबला करना पड़ा था। 747 ई. में अब्बासियों ने विद्रोह किया। 25 जनवरी, 750 ई. को उमय्यद-वंश के अन्तिम खलीफा मारवान द्वितीय की 'जब' के युद्ध में पराजय हुई और उसे पकड़कर कत्ल कर दिया गया। उमय्यद-वंश के प्रायः सभी प्रभावशाली व्यक्ति मार दिये गये। उनमें से केवल एक अब्दुर रहमान जान बचाकर स्पेन भाग सका जहाँ उसने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। **एच. जी. वेल्स** के अनुसार, "उमय्यद-वंश के सभी पुरुषों को कत्ल करके उनकी लाशों पर चमड़े का कालीन बिछाया गया और उस पर बैठकर अब्बास तथा उसके सलाहकारों ने भोजन किया। इसके अतिरिक्त उमय्यद-वंश के खलीफाओं की कब्रों को खोदकर और उनकी हड्डियों को निकालकर तथा जलाकर हवा में बिखेर दिया गया।"

अब्बासी-खलीफा

अब्बासियों का पहला खलीफा अबुल अब्बास था। उसने उमय्यद-वंश के सभी व्यक्तियों को कत्ल करा दिया। उसने कहा था कि "मैं महान् बदला लेने वाला हूँ और मेरा नाम 'अस सफाह' अथवा रक्त बहाने वाला है।"

इस्लाम इतिहास में अब्बास-वंश के शासकों ने सबसे अधिक समय तक शासन किया। उनके 500 वर्ष के लम्बे शासन-काल में 37 शासक या खलीफा हुए यद्यपि उनमें से प्रथम आठ खलीफा ही महत्त्वपूर्ण माने गये। अब्बास-खलीफाओं ने कुफा अर्थात् दमिश्क के स्थान पर बगदाद को अपनी राजधानी बनाया। इनमें से खलीफा अबू जफर मन्सूर और खलीफा 'हारून-अल-रशीद' के नाम काफी विख्यात हुए। परन्तु अब्बासी-खलीफा शासन और राज्य-विस्तार दोनों ही दृष्टि से उमय्यद-खलीफाओं की समता में न आ सके। आरम्भ से ही अब्बासी-खलीफा सम्पूर्ण मुस्लिम संसार को अपने अधिकार में रखने में असमर्थ रहे। बाद में धीरे-धीरे विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना होती चली गयी और अन्त में खलीफाओं के पास बगदाद और उसके आस-पास की भूमि के अतिरिक्त कुछ और बाकी न रहा। इतिहासकार **गिबिन** ने लिखा है कि "अब्बासियों के आठवें खलीफा मुहासिम की मृत्यु के साथ उसके वंश और राष्ट्र का गौरव समाप्त हो गया।"

बाद के दुर्बल खलीफा पहले अपने तुर्की-रक्षकों (842-845 ई. के समय में), उसके पश्चात् बुवाईहीदों (945-1031 ई. के समय में) और उसके बाद सल्जूक तुर्कों अथवा ख्वारिज्म के सुल्तानों (1031-1218 ई. के समय में) के प्रभाव में रहे। उसके पश्चात् प्रायः 40 वर्षों तक वे शान्ति से रह सके, परन्तु अन्त में 1258 ई. में मंगोल बादशाह हलाकू खाँ ने उन्हें समाप्त कर दिया। अब्बासी-खलीफाओं के समय में शासन से अरबों का एकाधिपत्य समाप्त हो गया। इस्लाम के धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष साहित्य का निर्माण हुआ। ग्रीक, ईसाई तथा संस्कृत साहित्य की पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ और ईरानी संस्कृति ने इस्लाम को प्रभावित किया। अब्बासी-खलीफाओं के पश्चात् भी विभिन्न स्थानों पर खलीफाओं की परम्परा चलती रही, नाममात्र के लिए खलीफाओं का सम्मान भी रहा और मुख्य बात यह रही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि क्योंकि राजतन्त्र के बारे में कुरान चुप है, इस कारण खलीफा ही विभिन्न शासकों और सुल्तानों को कानूनी शासक अथवा सुल्तान स्वीकार करने के अधिकार का उपभोग करते रहे। अन्त में, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने खलीफा के पद को समाप्त कर दिया और आधुनिक तुर्की की सरकार ने उसे पुनः जीवित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अब इस्लामी संसार में खलीफा कहलाने वाला कोई व्यक्ति नहीं है।

अरबों का सिन्ध पर आक्रमण

आक्रमण के समय भारत की स्थिति—शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पश्चात् सम्राट हर्ष ने एक बार फिर भारत में एक विस्तृत और दृढ़ साम्राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया। हर्ष अपने उद्देश्य में आंशिक रूप से सफल रहा। वह दक्षिणी भारत तो क्या सम्पूर्ण उत्तरी भारत को भी अपने शासन के अधीन न कर सका। तब भी हर्ष के समय में उत्तरी भारत में एक शक्तिशाली दृढ़ साम्राज्य था। जो शक्ति और सम्पन्नता की दृष्टि से किसी भी विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने में समर्थ था। परन्तु हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत की एकता खण्डित हो गयी, विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गयी और विभिन्न नवीन राजवंशों की उत्पत्ति हुई। ऐसा नहीं था कि वे सभी राज्य छोटे-छोटे और दुर्बल थे, बल्कि इनमें से विभिन्न राज्य शक्ति और विस्तार की दृष्टि से काफी विशाल थे, परन्तु उनकी दुर्बलता का मुख्य कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा थी। विदेशी परिस्थितियों से पूर्णतया अनभिज्ञ और विदेशी आक्रमणों के प्रति उदासीन वे सभी राज्य यश और साम्राज्य-विस्तार के लिए आपस में युद्ध करते रहते थे। भारत की राजनीतिक दुर्बलता का यही मुख्य कारण था।

उस समय अफगानिस्तान में हिन्दू राज्य थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस प्रदेश को सेल्यूकस निकेटर से जीता था। उस समय से वह एक हिन्दू राज्य रहा। वहाँ बौद्ध और हिन्दू धर्म प्रचलित थे और वह राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का एक अंग था। बाद में वह काबुल और जाबुल नाम के दो राज्यों में विभक्त हो गया। मुसलमान उनको इन्हीं नामों से पुकारते थे। काबुल का राज्य उत्तर-पूर्व में कश्मीर और पश्चिम में ईरान की सीमाओं से मिला हुआ था। काबुल, जलालाबाद, गांधार प्रदेश, पेशावर, बन्नू, गोमती नदी के दोनों तट आदि इसमें सम्मिलित थे। जाबुल का राज्य काबुल के दक्षिण और बलूचिस्तान के उत्तर के बीच के भाग में स्थित था। प्रायः 9वीं सदी के अन्तिम वर्षों तक राज्य हिन्दू राज्य रहे। भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर होने के कारण उन्हें अरबों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। कश्मीर का शासक चन्द्रपीड़ था। उसके पश्चात् उसका भाई मुक्तपीड़ ललितादित्य (715-755 ई.) शासक हुआ, जिसने कन्नौज के शासक यशोवर्मन को परास्त किया और मार्तण्ड नामक स्थान पर एक विशाल सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया। कन्नौज में प्रतिहार-वंश का शासक यशोवर्मन था। इसका राज्य पूर्वी पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। बंगाल में उस समय तक पाल-वंश का राज्य था। दक्षिणी भारत में वाकाटक, पल्लव, पाण्ड्य, चोल और चेर-वंश के शासक राज्य करते थे। सिन्ध, जहाँ अरबों ने जिस समय प्रवेश किया, एक विस्तृत राज्य था। उसकी सीमाएँ उत्तर में कश्मीर राज्य से, पूर्व में कन्नौज राज्य से और दक्षिण में समुद्र से मिलती थीं। पश्चिम में मकरान उसकी सीमाओं के अन्तर्गत था। उस समय वहाँ का शासक दाहिर था, जो ब्राह्मण था। उसके पिता चच ने अपने राजा को मारकर कुछ समय पहले ही सिन्ध को प्राप्त किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। चच के पश्चात् उसका भाई चन्द्र गद्दी पर बैठा। इस कारण दाहिर को अपने चचेरे भाई और चन्द्र के पुत्र दुराज से गद्दी के लिए संघर्ष करना पड़ा था। दाहिर का शासन निम्न-वर्ग और मुख्यतया वहाँ की लड़ाकू जाट-जाति के प्रति असहिष्णुता का था। इस कारण आन्तरिक संघर्ष और असन्तोष से व्याप्त सिन्ध का राज्य दुर्बल हो गया था। इस प्रकार अरबों के आक्रमण के समय भारत राजनीतिक दृष्टि से विभक्त था, परन्तु सिन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर दुर्बल न था। विभिन्न शासकों के पारस्परिक संघर्ष और उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ उनकी दुर्बलता का कारण अवश्य थीं। परन्तु साधारण विदेशी आक्रमण उनकी शक्ति को समाप्त करने की क्षमता नहीं रखते थे।

सामाजिक दृष्टि से भारत उस समय भी विभिन्न जातियों में बँटा हुआ था जिनमें आपस में खान-पान और विवाह सम्बन्ध नहीं थे। परन्तु तब भी जाति-व्यवस्था बहुत जटिल नहीं हुई थी। जाति-परिवर्तन, विदेशियों को हिन्दू समाज में स्थान प्राप्त होना और अन्तर्जातीय विवाह उस समय तक सम्भव थे। स्त्रियों का समाज में सम्मान था। वह शिक्षा प्राप्त करती थीं, उनमें पर्दा-प्रथा न थी, वे सामाजिक व प्रशासकीय कार्यों में भाग लेती थीं, और उनके लिए स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान न थी। पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकते थे। जबकि स्त्रियाँ ऐसा नहीं कर सकती थीं। शासक-वर्ग में सती की प्रथा लोकप्रिय होती जा रही थी। व्यक्तियों के आचार-विचार अच्छे थे। उनका भोजन अधिकांशतः प्याज, लहसन, माँस व शराब से मुक्त था और वे सात्विक जीवन पर बल देते थे। शिक्षा में धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि का प्रमुख स्थान था। नालन्दा, बल्लभी, काशी और दक्षिण के भी अनेक स्थान शिक्षा के केन्द्र स्थल थे। देश में हिन्दू और बौद्ध धर्म की प्रधानता थी।

आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था। यद्यपि अमीरों और गरीबों की स्थिति में बहुत अन्तर था परन्तु तब भी जन-साधारण खुशहाल था। कृषि, व्यापार और उद्योग की दृष्टि से भारत सम्पन्न था।

इस प्रकार, अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के अवसर पर भारत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से दुर्बल नहीं माना जा सकता था। परन्तु भारत में विभिन्न राज्यों की पारस्परिक शत्रुता, सैनिक क्षमता को बढ़ाने के प्रति उदासीनता और जन-साधारण में देश-भक्ति का अभाव ऐसी दुर्बलताएँ थीं, जो उस समय में प्रकट होने लगी थीं, और जिन्होंने उनके भविष्य के इतिहास को गम्भीरता से प्रभावित किया।

आक्रमण के कारण

भारतीयों का अरबों से सम्पर्क उनके द्वारा सिन्ध पर आक्रमण किये जाने के समय से प्रारम्भ नहीं हुआ था। उससे पहले अरब-निवासी भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तट के प्रदेशों में व्यापार करने के लिए जाया करते थे। इस्लाम को स्वीकार करने के पश्चात् भी अरब-निवासी भारत में व्यापार करते रहे परन्तु खलीफाओं की धर्म और साम्राज्य-विजय की लालसा ने अरब और भारत के सम्बन्ध व्यापारिक मात्र न रहने दिये। अरबों ने अपनी विजय-लालसा के कारण खलीफा उमर के समय में 636 ई. में बम्बई के निकट थाना नामक स्थान पर आक्रमण किया, परन्तु वह आक्रमण विफल रहा। उसके पश्चात् अरब जल और थल दोनों मार्गों से भारत पर आक्रमण करते रहे परन्तु बाद के आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य सिन्ध के सीमावर्ती क्षेत्रों को जीतने तक सीमित रहा। मकरान (आधुनिक बलूचिस्तान) को जीतने से अरबों के कई प्रयत्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असफल हुए, परन्तु अन्त में 8वीं सदी के आरम्भ में अरबों ने मकरान को जीतने में सफलता पायी। मकरान की विजय ने अरबों के लिए सिन्ध-विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

अरबों के सिन्ध पर आक्रमण करने के मुख्य उद्देश्य धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक थे। तलवार की शक्ति के आधार पर इस्लाम का प्रचार करना सभी खलीफाओं की नीति का उद्देश्य रहा था। सिन्ध पर आक्रमण भी इसी उद्देश्य से किया गया। भारत में साम्राज्य और धर्म विस्तार की लालसा खलीफाओं की विस्तृत योजना का एक भाग थी। इसके अतिरिक्त भारत से व्यापार करने वाले अरब भारत की आर्थिक सम्पन्नता से अवगत थे। इस कारण धन की लालसा भी इनके आक्रमण का एक लक्ष्य रहा था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सिन्ध के समुद्री डाकुओं द्वारा कुछ अरब जहाजों को लूटा जाना तो सिन्ध पर आक्रमण करने का एक बहाना मात्र माना जा सकता है। इस घटना के बारे में विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि लंका के राजा ने खलीफा के पूर्वी प्रान्तों के सूबेदार हज्जाज के पास उन अनाथ कन्याओं को भेजा था, जिनके पिताओं की मृत्यु लंका में हो गयी थी। परन्तु मार्ग में सिन्ध के समुद्र-तट के निकट समुद्री लुटेरों ने उन जहाजों को लूट लिया जिनमें वे कन्याएँ यात्रा कर रही थीं। एक अन्य लेखक के अनुसार समुद्री लुटेरों ने उन दासियों और उपहार की वस्तुओं को लूटा था जो खलीफा के लिए ले जाये जा रहे थे। एक अन्य लेखक के अनुसार समुद्री लुटेरों ने उन दासियों और उपहार की वस्तुओं को लूटा था जो खलीफा के लिए ले जाये जा रहे थे। एक अन्य लेखक के अनुसार लंका के राजा ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था और उसके द्वारा खलीफा को भेजे गये उपहारों को लुटेरों ने लूट लिया। यह घटना जिस प्रकार भी हुई हो परन्तु यह माना जा सकता है कि यह घटना अरबों के सिन्ध पर आक्रमण करने का एक बहाना मात्र थी। निस्सन्देह इस घटना से इराक का सूबेदार हज्जाज बहुत असन्तुष्ट हुआ और उसने सिन्ध के राजा दाहिर से हर्जाना माँगा। दाहिर ने समुद्री लुटेरों के कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लिया और हर्जाना देने से इन्कार कर दिया। हज्जाज इससे बहुत क्रोधित हुआ और उसने खलीफा वाहिद से सिन्ध पर आक्रमण करने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण और विजय

हज्जाज ने एक सेना उबैदुल्ला के नेतृत्व में सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजी थी परन्तु उबैदुल्ला की पराजय हुई और वह मारा गया। उबैदुल्ला के नेतृत्व में भेजी गयी, एक अन्य सेना का भी यही हाल हुआ। तब 711 ई. में हज्जाज ने एक शक्तिशाली सेना 17 वर्षीय मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजी। 6000 सीरियन घुड़सवार, इतने ही ऊँट और 3000 सामान ढोने वाले ऊँटों की सेना को लेकर मकरान के मार्ग से अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। इतनी श्रेष्ठ सेना और इतना श्रेष्ठ सेनापति इससे पहले सिन्ध पर आक्रमण के लिए नहीं भेजा गया था। एक अन्य सेना और पत्थर फेंकने वाला तोपखाना, देवल के बन्दरगाह पर पहुँचकर मुहम्मद बिन कासिम के साथ हो गया। देवल की सुरक्षा और सहायता के लिए दाहिर ने कोई सेना न भेजी जबकि उसकी राजधानी आरोर उससे केवल 150 मील दूर थी। 4,000 राजपूतों ने देवल के किले की रक्षा मृत्युपर्यन्त की, परन्तु अरब विजयी हुए। 17 वर्ष से ऊपर की आयु के सभी पुरुष इस्लाम स्वीकार न करने के कारण कत्ल कर दिये गये और उनके बच्चों तथा स्त्रियों को गुलाम बना लिया गया, तीन दिन तक नगर में कत्लेआम और लूटमार होती रही। 75 सुन्दरतम स्त्रियाँ तथा लूट के माल का पाँचवाँ हिस्सा हज्जाज के पास भेज दिया गया और बाकी सभी को सेना ने आपस में बाँट लिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवल से मुहम्मद निरून के किले की ओर बढ़ा। दाहिर ने अपने लड़के जयसिंह को निरून के एक पुजारी के अधीन छोड़कर ब्राह्मणाबाद आने का आदेश दिया। निरून ने बिना युद्ध के आत्मसमर्पण कर दिया। उसके पश्चात् मुहम्मद ने सीसम के जाटों को परास्त कर दिया। बाझरा वहाँ मारा गया और जाटों ने अरबों का साथ देना स्वीकार कर लिया। वहाँ से मुहम्मद पुनः निरून की ओर वापस लौटा और कई माह तक सिन्ध नदी की मुख्य धारा मेहमान को पार करने के लिए रुका रहा। वहाँ उसकी सेना में बीमारी फैल गयी। इस कारण हज्जाज के द्वारा भेजी गयी दवाइयाँ और सैनिक-सहायता के पहुँच जाने के पश्चात् उसने नदी को पार किया।

दाहिर ने उस समय तक मुहम्मद के कार्य में कोई बाधा नहीं डाली थी और उसने एक बड़े युद्ध पर ही अपने और सिन्ध के भाग्य को छोड़ दिया था। जब मुहम्मद इतनी सफलता पा चुका था तब वह ब्राह्मणाबाद के किले से निकलकर रावर की ओर बढ़ा। वहाँ कई दिनों तक अरबों और हिन्दुओं की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। अन्त में, 20 जून, 712 ई. को युद्ध हुआ। दाहिर की सेना में सम्भवतया 50,000 सैनिक और अनेक हाथी थे। दाहिर ने बड़ी बहादुरी से मुकाबला किया। आग के भय से हाथी के भागने पर भी वह हाथी को पुनः युद्ध-स्थल में लाया और उसके पश्चात् उसने घोड़े पर सवार होकर युद्ध किया, परन्तु अन्त में वह मारा गया। हिन्दू सेना का कुछ हिस्सा भागकर आरोर चला गया और कुछ हिस्सा जयसिंह के साथ भागकर ब्राह्मणाबाद चला गया। रावर के किले की रक्षा दाहिर की पत्नी ने की, परन्तु अन्त में रानीबाई और उसकी सहयोगी स्त्रियों ने आग में जलकर अपने सतीत्व की रक्षा की। जयसिंह के नेतृत्व में ब्राह्मणाबाद के सैनिकों ने भी वीरता से अरबों के आक्रमण का मुकाबला किया परन्तु अन्त में उनकी भी पराजय हुई। जयसिंह वहाँ से भागकर चित्तूर चला गया और किले पर अरबों का अधिकार हो गया। वहाँ पर मुहम्मद को दाहिर की सम्पूर्ण सम्पत्ति, उसकी एक अन्य पत्नी लाड़ी और उसकी दो कुँआरी पुत्रियाँ—सूर्यदेवी तथा परमाल देवी को खलीफा की सेवा के लिए भेज दिया। उसके पश्चात् मुहम्मद ने सिन्ध की राजधानी आरोर पर भी अधिकार कर लिया, जिसकी रक्षा दाहिर का एक अन्य पुत्र कर रहा था। इस प्रकार अरबों की सिन्ध की विजय पूर्ण हो गयी।

713 ई. के आरम्भ में मुहम्मद बिन कासिम मुल्तान की ओर बढ़ा। मार्ग में उसे कई कठिन युद्ध करने पड़े, परन्तु अन्त में वह सफलता से मुल्तान पहुँच गया। एक देशद्रोही ने अरबों को उस जलधारा को बता दिया जिससे किले में पानी जाता था। अरबों ने इस पानी को रोक दिया और मुल्तान के किले ने आत्मसमर्पण कर दिया। अरबों को वहाँ इतना सोना प्राप्त हुआ कि उन्होंने मुल्तान का नाम 'सोने का नगर' रख दिया। मुल्तान की विजय भारत में अरबों की अन्तिम विजय थी।

सिन्ध का विजेता मुहम्मद बिन कासिम अधिक समय तक जीवित न रह सका। उस योग्य और साहसी सेनापति का दुर्भाग्यपूर्ण अन्त हुआ। चचनामा में और उसका अनुसरण करते हुए मीर मासूम ने भी लिखा है कि "दाहिर की पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी ने खलीफा के पास पहुचकर यह शिकायत की कि मुहम्मद बिन कासिम ने तीन दिन तक उनको अपने हरम (जनानखाने) में रखकर और उनके सतीत्व को भंग करके उन्हें खलीफा की सेवा में भेजा है।" खलीफा, जो उनकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया था, बहुत क्रोधित हुआ और उसने आदेश दिये कि मुहम्मद को बैल की कच्ची खाल में बन्द करके उसके पास भेजा जाये। मुहम्मद ने उस आदेश का पालन किया और स्वयं को बैल की खाल में बन्द कर लिया जिससे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका जीवन समाप्त हो गया। जब उसकी लाश खलीफा के सामने प्रस्तुत की गयी तो राजकुमारियों ने यह स्वीकार कर लिया कि मुहम्मद का कोई दोष न था और उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए उस पर यह आरोप लगाया था। खलीफा ने उन दोनों राजकुमारियों को घोड़े की पूँछ से बँधवाकर घोड़ों को उस समय तक दौड़ाया जब तक कि उन दोनों की मृत्यु नहीं हो गयी। इस प्रकार, एक कथन के अनुसार मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के लिए दाहिर की पुत्रियाँ जिम्मेदार थीं। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस कहानी को सत्य नहीं मानते। मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु का वास्तविक कारण राजनीतिक था। 715 ई. में खलीफा वालिद के पश्चात् उसका भाई सुलेमान खलीफा बना। वह हज्जाज से असन्तुष्ट था। परन्तु उस समय तक हज्जाज की मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण हज्जाज के सम्बन्धी और समर्थक उसके असन्तोष का शिकार बने। मुहम्मद हज्जाज का चचेरा भाई और दामाद था। इस कारण याजिद को सिन्ध का नवीन सूबेदार बनाया गया और मुहम्मद को कैद करके मैसोपोटामिया भेज दिया गया, जहाँ उसके शत्रुओं ने उसे अनेक शारीरिक यातनाएँ देकर समाप्त कर दिया।

मुहम्मद बिन कासिम की सफलता के कारण

विभिन्न कारणों से मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध और मुल्तान में सफलता मिली। सिन्ध जनसंख्या, आर्थिक सम्पन्नता और सैनिक दृष्टि से भारत का एक शक्तिशाली राज्य न था। उसकी जनसंख्या कम ही न थी बल्कि ऊँच-नीच की भावना से आपस में विभाजित थी। मुख्यतया जाटों और मेदों जैसी लड़ाकू जातियों के प्रति ब्राह्मण शासक-वर्ग के व्यवहार ने तीव्र असन्तोष उत्पन्न करके समाज की एकता को नष्ट कर दिया था। सिन्ध की भूमि सम्पन्नता प्रदान करने के अनुकूल न थी। निःसन्देह, सिन्ध प्रदेश निर्धन न था और विदेशी व्यापार से वह लाभ प्राप्त करने की स्थिति में था। परन्तु उसका कृषि, व्यापार और उद्योग ऐसी स्थिति में न थे जो उसे एक सम्पन्न प्रदेश बनाते। आर्थिक सम्पन्नता के अभाव में सिन्ध सैनिक दृष्टि से कभी भी शक्तिशाली न बन सका। दाहिर का राजवंश और स्वयं दाहिर न तो सुदृढ़ शासन स्थापित कर सका था और न वह लोकप्रिय बन सका था। उसके प्रान्तीय सूबेदार प्रायः अर्ध-स्वतन्त्र थे और उसकी प्रजा उसके प्रति वफादार न थी। इस कारण वह अरबों के विरुद्ध संगठित शक्ति का प्रयोग न कर सका। बौद्ध-मतावलम्बियों और व्यापारियों ने भी उससे असहयोग किया। सिन्ध भारत के एक कोने में स्थित था। इस कारण भारत के अन्य शासक सिन्ध के प्रति उदासीन रहे। अरबों का सैन्य-बल दाहिर के सैन्य-बल से अधिक श्रेष्ठ था। अरबों की सेना की शक्ति, उनके घोड़े तथा अस्त्र-शस्त्र सिन्ध के सैनिकों से अधिक श्रेष्ठ थे। अरबों में धार्मिक जोश था जबकि सिन्ध के हिन्दुओं को प्रेरणा देने वाली ऐसी कोई भावना न थी। हिन्दू अपनी धार्मिक उदारता के कारण धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं कर सके। वह यह भी न समझ सके कि अरबों का आक्रमण उनके धर्म, सम्मान, समाज और संस्कृति पर होने वाले एक गम्भीर आक्रमण की पहली कड़ी है जिसका परिणाम भविष्य में बहुत बुरा होगा। इस कारण अरबों से उनके संघर्ष का दृष्टिकोण एक सीमित राजनीति रहा। वे धर्म अथवा देश-प्रेम के आधार पर पूर्ण उत्साह से उस आक्रमण के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तत्पर न हुए। दाहिर की सैनिक भूलें भी सिन्ध की पराजय का कारण बनीं। अरबों द्वारा मकरान को जीतने के पश्चात् दाहिर को सचेत हो जाना चाहिए था। जो शक्ति निरन्तर उसके राज्य की सीमाओं पर आक्रमण कर रही थी और उसके प्रवेश द्वार को जीतने में सफल हो गयी थी, उसका मुकाबला करने के लिए उसे जबर्दस्त तैयारी करनी चाहिए थी। परन्तु उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा नहीं किया बल्कि अब मुहम्मद बिन कासिम देवल, निरून, सीसम आदि सिन्ध के निचले भागों को जीत रहा था, तब उसने कुछ न किया। रावर के युद्ध से पहले, जबकि मुहम्मद की सेना में बीमारी फैली हुई थी और वह सैनिक सहायता की प्रतीक्षा कर रहा था, तब भी दाहिर ने उस पर आक्रमण नहीं किया। दाहिर की भूल यही नहीं थी कि उसने एक ही युद्ध के निर्णय पर अपना और सिन्ध का भाग्य छोड़ दिया था बल्कि यह भी थी कि वह अपने ही प्रदेश में आक्रमणकारी की शक्ति को विभिन्न स्थानों पर न बिखेर सका और उसकी दुर्बल परिस्थितियों में उस पर आक्रमण न कर सका। दाहिर बहादुर और साहसी था, परन्तु एक सैनिक की भाँति अपने जीवन को युद्ध में झोंक देना उसकी भूल थी। नेतृत्व, दूरदर्शिता और उचित अवसर के प्रयोग की दृष्टि में दाहिर असफल रहा और सिन्ध की पराजय का कारण बना। देश-प्रेम के अभाव में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न हिन्दुओं ने अपने राजा और देश के साथ गद्दारी की। देवल में एक देशद्रोही ने भारतीयों के मनोबल को कम करने का तरीका अरबों को बताया, निरून को उसके पुजारी ने बिना युद्ध किये अरबों को दे दिया, सीसम के युद्ध के पश्चात् जाट अरबों के साथ मिल गये और मुल्तान के किले को पानी देने वाली जलधारा का पता एक देशद्रोही ने अरबों को दिया। मुहम्मद बिन कासिम का उत्साह, सैनिक-नेतृत्व और उसकी योग्यता भी अरबों की सफलता का कारण थी। यह कहना भूल है कि भारतीय सैनिक बहादुर न थे और उन्होंने अरबों से युद्ध करने में कायरता दिखाई थी। अरबों की सफलता उनके जोश, शक्ति, योग्य नेतृत्व और एक निश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था का परिणाम थी जबकि भारतीयों में इन गुणों का अभाव था।

मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात्

खलीफा सुलेमान ने मुहम्मद को हटाकर याजिद को सिन्ध का सूबेदार बनाया। परन्तु सिन्ध पहुँचने के 18 दिन पश्चात् याजिद की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर हबीब सूबेदार बनाया गया। हबीब ने शान्ति और समझौते की नीति का पालन किया जिसके कारण दाहिर के लड़के जयसिंह ने ब्राह्मणाबाद को अपने स्वामित्व में कर लिया। हबीब ने अन्य हिन्दू-सूबेदारों को भी अपने-अपने स्थानों को पुनः हस्तगत कर लेने दिया। परन्तु 717 ई. में खलीफा उमर द्वितीय के समय में इस उदारता की नीति को छोड़ दिया गया और हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। स्वयं जयसिंह ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। खलीफा हिशाम के समय में इस नीति को और आगे बढ़ाया गया और सूबेदार जूनियाद ने सभी स्थानों पर प्रत्यक्ष अरब शासन को स्थापित किया। यहाँ तक कि जयसिंह भी अपने देश को छोड़ने के लिए बाध्य हुआ। जूनियाद और उसके उत्तराधिकारी सूबेदारों ने सिन्ध के बाहर भी आक्रमण किये परन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। 750 ई. में उमय्यद-खलीफा को अब्बासी खलीफा ने हटा दिया और उसने मूसा को सूबेदार बनाकर सिन्ध भेजा जिसने उमय्यद-खलीफा के सूबेदार मन्सूर से युद्ध करके सिन्ध को उससे छीन लिया। अरबों के इस पारस्परिक संघर्ष से सिन्ध में उनकी शक्ति दुर्बल हुई होगी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सूबेदार बशहर ने तो बाद में खलीफा के आधिपत्य से भी मुक्त होने का प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल न हो सका। परन्तु जैसे-जैसे खलीफाओं की शक्ति और सम्मान कम होते गये, वैसे-वैसे सिन्ध पर उसका आधिपत्य ढीला होता गया और सिन्ध में अरबों की शक्ति दुर्बल पड़ती गयी। 871 ई. तक सिन्ध में खलीफाओं की सत्ता प्रायः समाप्त हो गयी। अन्त में, सिन्ध में अरबों के दो स्वतन्त्र राज्य बन गये। इनमें से एक सिन्ध के ऊपरी भाग में मुल्तान को सम्मिलित करते हुए आरोर तक फैला हुआ था और दूसरा निचले सिन्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मन्सूरी को सम्मिलित करते हुए समुद्र-तट तक फैला हुआ था। महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय सिन्ध की राजनीतिक स्थिति यही थी। इससे स्पष्ट है कि अरब सिन्ध पर तो अपने अधिकार को सुरक्षित रख सके परन्तु भारत के अन्य प्रदेश में प्रवेश पाने में असफल रहे।

अरबों की शासन-व्यवस्था

सिन्ध में अरबों का शासन एक फौजी जागीर की भाँति रहा। अरबों में शासन की रचनात्मक बुद्धि का अभाव था। वे शासन में किसी ठोस-व्यवस्था का निर्माण न कर सके। सिन्ध को विभिन्न भागों में बाँट कर सैनिक अधिकारी नियुक्त किये गये थे जो शक्ति के आधार पर शासन करते थे, न्याय करते थे और कर वसूल करते थे। परन्तु अरबों की संख्या बहुत कम थी। इस कारण उन्होंने भारतीय प्रशासन-अधिकारियों से सहायता ली और स्थानीय शासन में हस्तक्षेप नहीं किया। हिन्दुओं से जजिया, किसानों से लगान, जो पैदावार का $\frac{2}{4}$ से $\frac{1}{4}$ तक था, बगीचा-कर तथा मछली, शराब, मोती आदि पर व्यापारिक कर लिये जाते थे। साधारणतया अरबों का शासन एक विजेता जाति के शासन की भाँति रहा। अरब उच्च सैनिक और शासन अधिकारी रहे तथा भारतीय प्रजा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का साधन बनी।

केवल एक दृष्टि से अरबों का शासन महत्त्वपूर्ण रहा। इस्लाम के अनुसार अन्य सभी धर्मों के व्यक्ति दो श्रेणियों में बाँटे गये थे—एक वे जो ईश्वरीय ज्ञान के हिस्सेदार माने जाते थे; जैसे—यहूदी और ईसाई। इनको 'जिम्मी' पुकारा गया था और वे जजिया (धार्मिक कर) देकर इस्लामी राज्य में रहते हुए अपने धर्म का पालन कर सकते थे। दूसरे, व्यक्ति वे थे जो मूर्तिपूजक थे, और काफिर कहलाते थे। ऐसे व्यक्तियों को इस्लामी राज्य में रहने का अधिकार न था। उन्हें मृत्यु अथवा इस्लाम में से एक को चुनना पड़ता था। इस कारण हिन्दू, जो मूर्तिपूजक थे, वे इस्लामी राज्य में रहने के अधिकारी न थे। मुहम्मद बिन कासिम ने देवल की विजय के पश्चात् हिन्दुओं से इसी आधार पर व्यवहार किया। परन्तु बाद में बहुसंख्यक हिन्दुओं को कत्ल करने में अपने को असमर्थ पाकर उसे अपने विचारों में परिवर्तन करना पड़ा। प्रायः सभी हिन्दू मूर्तिपूजक थे और उन सभी को मुसलमान बनाना अथवा उनको कत्ल करना सम्भव न था। इस कारण मुहम्मद बिन कासिम ने हिन्दुओं को भी काफिर के स्थान पर जिम्मी मान लिया और इसकी स्वीकृति हज्जाम से ले ली। इस आधार पर हिन्दुओं को जजिया देकर इस्लामी राज्य में रहने और अपने धर्म का पालन करने की स्वीकृति मिल गयी। बाद के तुर्क-आक्रमणकारियों को इससे सुविधा हो गयी और इन्होंने भी हिन्दुओं को जिम्मी स्वीकार कर लिया। इसी कारण सर विलियम म्योर ने कहा कि "सिन्ध-विजय ने इस्लामी नीतियों में एक नवीन युग का आरम्भ किया।"

अरबों की धार्मिक नीति के बारे में एक बात यह भी कही जा सकती है कि वह बाद में आने वाले तुर्क आक्रमणकारियों की तुलना में अवश्य ही सहिष्णु थी। यह अन्य बात है कि उनकी इस सीमित सहिष्णुता का आधार उनकी धार्मिक उदारता न थी बल्कि अपनी सीमित शक्ति के कारण परिस्थितियों से समझौता करने की आवश्यकता थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अरबों का धार्मिक जोश प्रायः एक सदी से इस्लाम को मानते रहने के कारण कुछ स्थिरता प्राप्त कर गया था, जबकि तुर्क इस्लाम धर्म के नवीन अनुयायी थे और भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर उनका धार्मिक जोश नूतनता के उत्साह से ओत-प्रोत था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में अरबों की असफलता के कारण

भारत में अरबों के सिन्ध और मुल्तान के आगे बढ़ने के प्रयत्न असफल रहे। कच्छ पर अरबों का आक्रमण विफल रहा। लाट पुलकेशिन द्वितीय द्वारा एक अरब सेना परास्त की गयी और गुर्जर नागभट्ट ने भी अरबों की सेना को परास्त किया, ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं। सर वूल्जले हेग के मतानुसार राजपूताना और अवन्ती के राजवंशों ने अरबों को पूर्व की ओर बढ़ने से रोक दिया था। राष्ट्रकूट-वंश से अरबों के सम्बन्ध मित्रता के रहे। इससे स्पष्ट है कि अरबों का भारत में राज्य सिन्ध और मुल्तान तक ही सीमित रहा और वहाँ पर भी उनकी स्थिति बहुत अधिक दृढ़ न हो सकी। अरब भारत में अपना स्थायी राज्य स्थापित न कर सके। अरबों की असफलता के विभिन्न कारण थे। इतिहासकार एलफिन्स्टन ने इसके निम्नलिखित तीन कारण बताये—

(1) अरबों का सुमेर-राजपूतों द्वारा बाहर निकाला जाना,

(2) हिन्दुओं की अपने धर्म और उनके अनुकूल आचरण में पूर्ण आस्था, और

(3) हिन्दू राजाओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, जिसके कारण राजवंशों में निरन्तर परिवर्तन होना और उनमें से प्रत्येक का अरबों के विरुद्ध होना।

इतिहासकार लेनपूल ने अरबों की असफलता के निम्नलिखित अन्य कारण भी बताये—

(4) पूर्व और उत्तर में शक्तिशाली राजपूत-राज्यों का होना,

(5) खलीफाओं का भारत-विजय के लिए पर्याप्त सेना न भेजना,

(6) अरबों द्वारा सिन्ध की विजय को भी पूर्ण और संगठित न करना, और

(7) खलीफाओं का सिन्ध के निर्धन होने के कारण उसमें आवश्यक रुचि न लेना।

इनके अतिरिक्त अरबों की असफलता के कारणों पर कुछ इतिहासकारों ने भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार—

(8) 750 ई. में अब्बासी-खलीफा ने उमय्यद-खलीफा को नष्ट कर दिया जिससे खलीफा की शक्ति और प्रतिष्ठा में कमी हुई और सिन्ध के अरब अधिकारियों में झगड़े हुए। इससे उनकी शक्ति दुर्बल हुई।

(9) खलीफा हारून-अल-रसीद के समय से अरबों में विलासिता आ गयी। एच. जी. वेल्स ने अपनी पुस्तक *The Khalifa's Lost Heritage* में लिखा है कि "इस्लाम अपने मौलिक और जीवनप्रद तत्त्वों से अलग हो गया" और "कुरान की धार्मिक कट्टरता तथा सादगी का स्थान चिन्तनयुक्त दर्शन तथा उच्चकोटि के रहन-सहन ने ले लिया।" बढ़ती हुई सम्पत्ति और विलासिता ने न केवल खलीफाओं के नैतिक पतन में योग दिया बल्कि सम्पूर्ण अरब जाति को भोग-विलासी बना दिया जिससे उनका जोश, सैनिक-प्रतिभा आदि नष्ट हो गये। बाद के खलीफा न शक्तिशाली रहे और न सम्मानित। वह अपने अधीन सेवकों के हाथों का खिलौना बन गये। उनकी शक्ति का स्रोत भी अरब जाति न रही बल्कि उसका स्थान पहले तुर्कों ने और बाद में अन्य जातियों ने ले लिया। ऐसे खलीफा और ऐसी अरब जाति भारत जैसे दूरस्थ विशाल शक्तिशाली प्रदेश में राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हो सकती थी।

(10) खलीफा की दुर्बलता से लाभ उठाकर 871 ई. में सिन्ध प्रायः स्वतन्त्र हो गया, अरबों की एकता नष्ट हो गयी और सिन्ध, मुल्तान एवं मंसूरा के दो अरब राज्यों में विभाजित हो गया। ऐसी स्थिति में उनकी सफलता का प्रश्न न था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(11) एक तरफ खलीफाओं की दुर्बलता और दूसरी तरफ नस्लवाद तथा राष्ट्रीयता की भावना के प्रादुर्भाव के कारण इस्लाम की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी जिससे भारत में उसकी आक्रमणकारी शक्ति समाप्त हो गयी।

(12) सिन्ध का भारत के एक कोने में होना तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न न होना भी अरबों की सफलता के लिए उत्तरदायी था। सिन्ध को आधार बनाकर भारत की विजय करना किसी भी विदेशी शक्ति के लिए सम्भव नहीं था।

(13) सिन्ध के निकट शक्तिशाली राजपूत-राज्यों का होना, हिन्दुओं की धार्मिक कट्टरता, पुरोहित-वर्ग का उन पर प्रभाव तथा आक्रमणकारी विदेशी शत्रु का मुकाबला, शौर्य और शक्ति से करने की क्षमता भी, निःसन्देह अरबों की सफलता के मार्ग में ऐसी बाधाएँ थीं जिन्हें अरब दूर न कर सके।

उपर्युक्त कारणों से भारत में अरबों की असफलता अस्वाभाविक न थी, बल्कि आश्चर्य इस बात का है कि अरब 300 वर्ष तक सिन्ध में अपना राज्य स्थापित रख सके। कन्नौज का प्रतिहार-राज्य और उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिमी पंजाब का हिन्दूशाही-राज्य अरबों की तुलना में बहुत शक्तिशाली थे और वे सरलता से अरबों को सिन्ध से बाहर निकाल सकते थे। यह भी कहना भूल होगी कि हिन्दुओं में अपने धर्म और देवताओं की मूर्तियों की रक्षा करने का जोश न था। परन्तु तब भी हिन्दुओं ने अरबों को देश से निकालकर अपनी सीमाओं की सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की, यह आश्चर्य की बात है। सम्भवतया, इसका मुख्य कारण हिन्दुओं की विदेशी राजनीति और भारत की सीमाओं पर होने वाली उथल-पुथल से अनभिज्ञता एवं उदासीनता थी जिसके हिन्दुओं को भयंकर परिणाम भुगतने पड़े।

अरब आक्रमण का प्रभाव

राजपूताना के इतिहास के सुविख्यात लेखक टॉड ने अरबों के आक्रमण के प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया। उन्होंने यहाँ तक लिखा कि "अरबों के आक्रमण से समस्त उत्तरी भारत दहल गया था।" परन्तु उनके विचारों को कोई भी आधुनिक इतिहासकार स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में अरबों के आक्रमण का प्रभाव बहुत सीमित और साधारण था।

सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "भारत के इतिहास में वह एक साधारण दुर्घटना थी और उसने इस विशाल प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र के एक छोटे प्रदेश मात्र को प्रभावित किया।"

लेनपूल ने लिखा है कि "यह इस्लाम के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना थी।"

अरबों की सिन्ध की विजय से भारत का कोई महत्त्वपूर्ण भाग मुसलमानों के हाथ में नहीं गया, अरबों ने भारत की राजनीतिक और सैनिक शक्ति को नहीं तोड़ा, क्योंकि भारत के किसी भी शक्तिशाली राज्य से उनका युद्ध नहीं हुआ तथा सिन्ध की विजय ने मुसलमानों के लिए भारत विजय का मार्ग नहीं खोला। इस प्रकार भारत की राजनीति पर अरब आक्रमण का कोई विशेष और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। अरबों ने पहली बार भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना की, एक बड़ी संख्या में भारत के एक देश में हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया और अरब तथा इस्लामी संसार से भारत का निकट का परिचय कराया गया, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अरब आक्रमण का प्रभाव यहीं तक सीमित रहा। इस कारण उसका कोई गम्भीर राजनीतिक प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस्कृतिक दृष्टि से अरबों ने भारतीयों को प्रभावित नहीं किया, वरन् इसके विपरीत अरब भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित हुए। भारत की कला, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र, साहित्य आदि से अरब प्रभावित हुए और उन्होंने उनका सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी मस्जिदों और इमारतों को बनवाने में हिन्दुओं से सहयोग लिया। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि "अरबों में निर्माणात्मक प्रतिभा बिल्कुल नहीं थी। यदि वे अपने पूजागृहों को उतना ही आकर्षक बनाना चाहते थे जितना उनके प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के अनुयायियों के थे, तो उनके लिए विजित देशों के शिल्पियों और कलाकारों से काम लेना अनिवार्य था। उसी प्रकार हैवेल ने लिखा है कि "जिस समय इस्लाम सीखने योग्य यौवनावस्था में था, उस समय उसे यूनान ने नहीं वरन् भारत ने सिखाया, उसके दर्शन और आध्यात्मिक धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया तथा उसके साहित्य और स्थापत्य कला की विशिष्ट शैलियों को प्रेरणा दी।" स्थापत्य कला के अतिरिक्त हिन्दू और बौद्ध दर्शन ने अरबों की विचारधारा को गम्भीरता से प्रभावित किया। खलीफा अल-मंसूर के समय में संस्कृत के 'ब्रह्म सिद्धान्त' और 'खण्ड खाद्यक' नामक ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। तप और संन्यास की विचारधारा को अरबों ने भारत से प्राप्त किया। तबरी ने लिखा है कि खलीफा हारुन-अल-रशीद की बीमारी को एक भारतीय वैद्य ने ठीक किया था। इससे स्पष्ट है कि अरबों ने भारतीय चिकित्सा शास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाया था। अरबों ने अंकों का ज्ञान भी भारतीयों से प्राप्त किया। इस प्रकार, यद्यपि अरब सिन्ध में विजेता की दृष्टि से आये, परन्तु तब भी सभ्यता की दृष्टि से वे भारत को कुछ भी न दे सके वरन् उन्होंने भारत से बहुत कुछ प्राप्त किया। यही नहीं वरन् डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का तो यहाँ तक कहना है कि "अरबों ने भारतीय ज्ञान को यूरोप में पहुँचाया, विशेषकर दर्शन, ज्योतिष और अंकों को। आठवीं और नवीं शताब्दी से यूरोप में जो ज्ञान की ज्योति फैली उसका मुख्य कारण अरबों का भारत से सम्पर्क था।" इस प्रकार यह कहना उचित है कि यद्यपि अरबों के भारत पर किये गये आक्रमण का राजनीतिक प्रभाव नगण्य था परन्तु संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से वह अरबों के लिए ही नहीं वरन् संसार के अन्य देशों के लिए भी लाभदायक सिद्ध हुआ।

अरबों और तुर्कों का हिन्दू-अफगानिस्तान पर आक्रमण और विजय

उस समय भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित अफगानिस्तान में हिन्दू-राज्य थे। इस कारण जिस प्रकार सिन्ध को अरबों की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करना पड़ा, उसी प्रकार अफगानिस्तान के हिन्दू-राज्यों को भी अरबों से युद्ध करने पड़े। उस समय अफगानिस्तान में दो हिन्दू-राज्य थे। उनमें से एक काबुल और दूसरा जाबुल अथवा जाबुलिस्तान का राज्य कहलाता था। 643 ई. में अरबों ने ईरान को जीत लिया जिसके कारण उनकी सीमाएँ अफगानिस्तान के इन हिन्दू राज्यों से टकराने लगीं। उसके पश्चात् प्रायः 200 वर्षों तक अरब इन हिन्दू राज्यों पर आक्रमण करते रहे, परन्तु उन्हें केवल आंशिक सफलता प्राप्त हो सकी। सबसे पहले अरबों ने सीस्तान को जीता, किन्तु उसके पश्चात् प्रायः 50 वर्षों तक उनकी प्रगति रुकी रही। उसके पश्चात् इराक के सूबेदार हज्जाज के समय में जिस प्रकार सिन्ध को जीतने का प्रयत्न किया गया, उसी प्रकार काबुल और जाबुल के राज्य को भी जीतने का प्रयत्न किया गया परन्तु हज्जाज के समय में इन तीनों राज्यों को न जीता जा सका। 750 ई. में जब अब्बासी खलीफा हुए तब भी इन राज्यों को जीतने का प्रयत्न चलता रहा, मुख्यतया खलीफा अल मन्सूर के समय में। परन्तु अरबों के ये सभी प्रयत्न इन हिन्दू-राज्यों की शक्ति को दुर्बल तो कर सके, परन्तु उन्हें समाप्त न कर सके। यहाँ तक कि सम्पूर्ण सीस्तान पर भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरबों का आधिपत्य स्थायी न रह सका । इससे यह स्पष्ट होता है कि अफगानिस्तान के इन हिन्दू-राज्यों ने निरन्तर 200 वर्षों तक इस्लाम की उस बढ़ती हुई शक्ति को भारत के द्वार पर रोक कर रखा जिसने स्पेन से लेकर ईरान तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। यद्यपि अरबों से इन राज्यों के संघर्ष का 200 वर्षों का इतिहास भारतीय इतिहास में अभी तक अपना उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सका है, परन्तु जो कुछ भी उसके बारे में ज्ञात है उससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय के उन हिन्दू राज्यों की दृढ़ता और शक्ति कितनी रही होगी जिससे उन्होंने अरबों को भारत में सीधे प्रवेश करने का मार्ग नहीं दिया।

870 ई. तक यहाँ के शासक हिन्दू रहे, परन्तु उसके पश्चात् वे नवोदित तुर्क शक्ति के आगे झुक गये। तुर्क याकूब-इब्न-लायथ ने अपने जीवन का आरम्भ एक लुटेरे के रूप में किया। परन्तु उसने ईरान और उसके आसपास के प्रदेश में एक दृढ़ राज्य स्थापित करने में सफलता पायी। वहीं याकूब इन राज्यों को भी समाप्त करने के लिए उत्तरदायी हुआ। उसने युद्ध-कौशल और छल-कपट से इन दोनों राज्यों को अफगानिस्तान से उखाड़ फेंका और 870 ई. में अफगानिस्तान में इस्लामी सत्ता को स्थापित कर दिया। इस प्रकार प्रायः 225 वर्ष के निरन्तर संघर्ष के पश्चात् हिन्दू भारत के प्रवेश द्वार अफगानिस्तान को छोड़ने के लिए बाध्य हुए। भारत में प्रवेश करने वाले बाद के तुर्क-आक्रमणकारियों को इससे सुविधा हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अरबों के आक्रमण के समय भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. अरबों द्वारा सिन्ध पर आक्रमण किये जाने के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम के उत्थान पर एक लेख लिखिए।
2. पैगम्बर मुहम्मद के जीवन-वृत्त का वर्णन कीजिए।
3. उमय्यद खलीफाओं का उल्लेख कीजिए।
4. अब्बासी खलीफाओं पर एक लेख लिखिए।
5. अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति लिखिए।
6. अरबों के आक्रमण के समय भारत की सामाजिक स्थिति बताइए।
7. अरबों के भारत पर आक्रमण के दो महत्त्वपूर्ण कारण बताइए।
8. मुहम्मद बिन कासिम और राजा दाहिर के युद्धों का वर्णन कीजिए।
9. मुहम्मद बिन कासिम की विजय अथवा सफलता के कारण लिखिए।
10. भारत में अरबों की सफलता के चार प्रमुख कारण लिखिए।
11. भारत में अरब आक्रमण के प्रभावों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इस्लाम धर्म के संस्थापक थे—
   (अ) पैगम्बर मुहम्मद ✓ (ब) उमय्यद खलीफा
   (स) अब्बासी खलीफा (द) मुहम्मद उमर।
2. हजरत मुहम्मद के जन्म से पूर्व अरब निवासी पूजा करते थे—
   (अ) पुस्तक की (ब) मूर्तियों की ✓
   (स) दोनों की (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. मुहम्मद साहब के माता-पिता की मृत्यु के बाद उनका पालन-पोषण किया था—
(अ) उनके बाबा ने (ब) उनके मामा ने
(स) उनके नाना ने (द) उनके चाचा ने।

4. मुहम्मद साहब ने मक्का से मदीना कब प्रस्थान किया था ?
(अ) 620 ई. में (ब) 621 ई. में
(स) 622 ई. में (द) 623 ई. में।

5. पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु हुई थी—
(अ) 631 ई. में (ब) 632 ई. में
(स) 633 ई. में (द) 634 ई. में।

6. उमय्यद खलीफाओं की कुल संख्या थी—
(अ) सोलह (ब) सत्रह
(स) अठारह (द) बीस।

7. किस उमय्यद खलीफा ने 'अमीरुल मुमीनिन' की उपाधि धारण की थी ?
(अ) अली ने (ब) अबू-वक्र ने
(स) उसमान ने (द) उमर ने।

8. उमय्यद खलीफाओं से कौन असन्तुष्ट था ?
(अ) ईरानी (ब) कुरैशी
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

9. अब्बासी खलीफाओं ने अपनी सत्ता स्थापित की थी—
(अ) 750 ई. में (ब) 752 ई. में
(स) 754 ई. में (द) 755 ई. में।

10. अब्बासी खलीफाओं में प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण खलीफाओं की संख्या थी—
(अ) छः (ब) सात
(स) आठ (द) दस।

11. अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के समय अफगानिस्तान पर शासन था—
(अ) मुसलमानों का (ब) हिन्दुओं का
(स) ईरानियों का (द) इनमें से किसी का नहीं।

12. कश्मीर के शासक मुक्तपीड़ ललितादित्य ने मार्तण्ड नामक स्थान पर किस मन्दिर का निर्माण कराया था ?
(अ) दुर्गा मन्दिर का (ब) शिव मन्दिर का
(स) विष्णु मन्दिर का (द) सूर्य मन्दिर का।

13. अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के समय देश में किस धर्म की प्रधानता थी ?
(अ) हिन्दू धर्म की (ब) बौद्ध धर्म की
(स) दोनों की (द) इनमें से कोई नहीं।

14. अरबों ने भारत में विजय की लालसा से 636 ई. में पहला आक्रमण किया था—
(अ) थाना पर (ब) मकरान पर
(स) ब्राह्मणाबाद पर (द) इनमें से कोई नहीं।

15. अरबों के सिन्ध पर आक्रमण का मुख्य उद्देश्य था—
(अ) राजनीतिक (ब) धार्मिक
(स) आर्थिक (द) उपर्युक्त सभी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16. सिन्ध के विजेता का नाम था—
(अ) उबैदुल्ला (ब) शिहाबुद्दीन
(स) मुहम्मद बिन कासिम (द) हज्जाज।

17. सिन्ध का राजा दाहिर किस युद्ध में मारा गया था ?
(अ) रावर के युद्ध में (ब) आरोर के युद्ध में
(स) ब्राह्मणाबाद के युद्ध में (द) देवल के युद्ध में।

18. अरबों ने 713 ई. में सिन्ध में अन्तिम विजय प्राप्त की थी—
(अ) रावर में (ब) मुल्तान में
(स) मकरान में (द) इनमें से कोई नहीं।

19. मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु का कारण था—
(अ) राजा दाहिर की पुत्रियों का दोषारोपण (ब) द्वेष-भाव
(स) राजनीतिक कारण (द) 'ब' व 'स' दोनों।

20. अरबों की शासन व्यवस्था थी—
(अ) कुशल (ब) ठोस
(स) अकुशल (द) इनमें से कोई नहीं।

21. "सिन्ध विजय ने इस्लामी नीतियों में नवीन युग का आरम्भ किया।" किस लेखक का कथन है ?
(अ) वी. ए. स्मिथ (ब) सर वूल्जले हेग
(स) लेनपूल (द) सर विलियम म्योर।

22. 'द खलीफास लॉस्ट हैरीटेज' (The Khalifa's Lost Heritage) नामक पुस्तक का लेखक था—
(अ) एच. जी. वेल्स (ब) डब्लू. एच. मोरलैण्ड
(स) स्टेनले लेनपूल (द) इनमें से कोई नहीं।

23. 'अरबों के आक्रमण से समस्त उत्तरी भारत दहल गया था।' किस लेखक का मत है ?
(अ) सर वूल्जले हेग का (ब) कर्नल टॉड का
(स) वी. ए. स्मिथ का (द) लेनपूल का।

24. अरबों को अंकों का ज्ञान प्राप्त हुआ था—
(अ) यूरोप से (ब) फारस से
(स) भारत से (द) इनमें से कोई नहीं।

25. हिजरी संवत् का प्रारम्भ हुआ था—
(अ) 615 ई. में (ब) 620 ई. में
(स) 621 ई. में (द) 622 ई. में।

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (ब), 6. (स), 7. (द), 8. (स), 9. (अ), 10. (स), 11. (ब), 12. (द), 13. (स), 14. (अ), 15. (द), 16. (स), 17. (अ), 18. (ब), 19. (द), 20. (स), 21. (द), 22. (अ), 23. (ब), 24. (स), 25. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3

11वीं और 12वीं सदी में तुर्कों के आक्रमण और तुर्कों के राज्य की स्थापना

[महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी]

इस्लाम धर्म के अनुयायियों में से भारत में सर्वप्रथम प्रवेश करने वाले अरब थे। अरबों ने सिन्ध पर अधिकार करने में सफलता पायी परन्तु वे भारत में एक स्थायी राज्य स्थापित करने में असफल रहे। इस्लाम के प्रथम अनुयायी अरबों का धार्मिक उत्साह और शक्ति दो सौ वर्षों से कम समय में निष्प्राण हो गयी तथा खलीफाओं की विलासिता एवं दुर्बलताओं ने इस्लाम के नेतृत्व को अरबों के हाथों से खो दिया। पहले ईरानियों ने उस नेतृत्व को अपने हाथों में लिया और उनके पश्चात् इस्लाम का नेतृत्व तुर्कों के हाथों में गया। भारत में इस्लामी राज्य को स्थापित करने का श्रेय तुर्कों को प्राप्त हुआ। तुर्क अरब और ईरानी दोनों से भिन्न थे। उनमें न तो अरबों जैसी समझदारी थी और न ईरानियों जैसी सुसभ्यता। उनकी बुद्धि और व्यवहार का मुख्य आधार उनकी तलवार की शक्ति थी। वे अत्यन्त भौतिकवादी और पूर्ण व्यावहारिक थे। मंगोलों से उनके दूर के सम्बन्ध थे और उन्हीं की भाँति वे समय-समय पर सभी मानवीय भावनाओं को भूलकर अत्यधिक क्रूर हो जाते थे। वे इस्लाम के नवीन अनुयायी थे। इस कारण, वे अरबों और ईरानियों की तुलना में अधिक धर्मान्ध थे। उनके हाथों में इस्लाम एक गौरवपूर्ण आक्रमणकारी हथियार के समान था जिसका उन्होंने सफलतापूर्वक प्रयोग किया। तुर्कों की नस्ल की श्रेष्ठता के विश्वास ने उस हथियार को और अधिक तीक्ष्ण बना दिया। इस प्रकार नस्ल की श्रेष्ठता के विचार, इस्लाम के प्रसार के उत्साह और तलवार की शक्ति को लेकर तुर्कों ने सम्मान और राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया तथा उसमें सफलता पायी। यही नहीं बल्कि बाद में तुर्कों ने संसार की प्रगतिशील शक्तियों में स्थान प्राप्त किया। तुर्क मंगोलों की भाँति बर्बर न रहे। एक सदी से भी कम समय में वे क्रूर और खानाबदोश घुड़सवारों से बदलकर एक ऐसी सुसंगठित एवं सुसभ्य जाति के व्यक्ति बन गये जिसने इस्लामी सभ्यता के श्रेष्ठ गुणों की रक्षा करने में उस समय में भी सफलता पायी जबकि मंगोल सम्पूर्ण एशिया में उन्हें नष्ट करने में संलग्न थे। 8वीं सदी में तुर्कों ने मध्य-एशिया से हटना आरम्भ किया और एक के बाद एक सल्जूक, गिज, खिताई, इल्बारी, कर्लूग आदि विभिन्न तुर्क-जातियाँ इस्लामी प्रदेशों में प्रवेश करती चली गयीं जहाँ उन्होंने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित किये। नवीन आने वाली जातियों का दबाव और उनकी स्वयं की महत्वाकांक्षाएँ निरन्तर उन्हें आगे बढ़ने के लिए बाध्य करती रहीं और धीरे-धीरे ईरान, इराक, अफगानिस्तान तथा अन्त में भारत में भी उन्होंने प्रवेश किया और अपने राज्य की स्थापना की। 10वीं सदी से तुर्क काबुल के हिन्दूशाही-राज्य के सम्पर्क में आये और गजनवी-वंश की स्थापना के पचास वर्ष पश्चात् उन्होंने भारत में प्रवेश पा लिया। भारत-भूमि में अन्दर तक प्रवेश पाने का प्रथम श्रेय गजनवी-वंश के सुल्तान महमूद को गया यद्यपि भारत में राज्य स्थापित करने का श्रेय शंसबनी-वंश के मुहम्मद गोरी को प्राप्त हुआ।

[1]
महमूद गजनवी

यमीनी-वंश जिसे अधिकांशतया गजनवी-वंश के नाम से पुकारा गया है, ईरान के शासकों की एक शाखा थी। अरब-आक्रमणों के अवसर पर इस वंश के शासक तुर्किस्तान भाग गये जहाँ वे तुर्कों के साथ इतने घुल-मिल गये कि उनके वंशज तुर्क कहलाये। **अलप्तगीन** ने इस वंश का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और 963 ई. में अमीर अबू बक्र लाविक से जाबुलिस्तान तथा उसकी राजधानी गजनी को छीन लिया। उस समय से गजनी उस वंश के राज्य की राजधानी बन गया। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में हिन्दूशाही-राज्य था जिसका विस्तार हिन्दूकुश पर्वतमाला तक था और जिसने पुनः काबुल को तुर्कों से छीन लिया था। इस कारण गजनी और हिन्दूशाही-राज्य की सीमाएँ एक-दूसरे से टकराने लगी थीं। अलप्तगीन के समय से इन राज्यों में छुटपुट युद्ध आरम्भ हो गये। अलप्तगीन की मृत्यु 963 ई. में ही हो गयी। उसके पुत्र इस-हक ने केवल तीन वर्ष शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति **बलक्तगीन** ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। 972 ई. में बलक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् अलप्तगीन के एक गुलाम **पीराई** ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। पीराई अयोग्य था। उसके समय में हिन्दूशाही-राजा जयपाल ने अपने पुत्र के नेतृत्व में एक सेना गजनी पर आक्रमण करने के लिए भेजी क्योंकि वह अपनी सीमा पर एक शक्तिशाली इस्लामी राज्य की स्थापना होने देना नहीं चाहता था। सबुक्तगीन ने हिन्दुओं की उस सेना पर अचानक आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। इससे उसके सम्मान में वृद्धि हुई। अन्त में, 977 ई. में पीराई को हटाकर सबुक्तगीन ने गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया।

सबुक्तगीन अलप्तगीन का गुलाम रहा था परन्तु बाद में वह उसका दामाद बना। वह साहसी और योग्य था। धीरे-धीरे उसने बस्त, दवार, कुसदार, बामियान, तुर्किस्तान और गोर को जीत लिया। उसने हिन्दूशाही-राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ किये और निकट के कई किलों एवं नगरों को जीत लिया। इतिहासकार उतबी ने सबुक्तगीन के उन आक्रमणों को जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) बताया है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन पड़ौसी राज्यों के संघर्षों का कारण राजनीतिक भी था। इस कारण **सबुक्तगीन के समय से गजनी और हिन्दूशाही-राज्य का वह लम्बा संघर्ष आरम्भ हुआ जो सुल्तान महमूद के समय तक चलता रहा और जिसका अन्तिम परिणाम हिन्दूशाही-राज्य का नष्ट होना हुआ।** 986-87 ई. में हिन्दूशाही-राजा जयपाल ने गजनी पर आक्रमण किया। गजनी और लमगान के निकट दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। कई दिन तक युद्ध चलता रहा। बाद में एक भीषण तूफान के कारण जयपाल की सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और जयपाल को सन्धि करके वापस लौटना पड़ा। परन्तु लाहौर पहुँचकर उसने सन्धि की शर्तों को मानने से इंकार कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। इस कारण सबुक्तगीन ने उसकी सीमाओं पर आक्रमण किया और लमगान तक अपना अधिकार कर लिया। जयपाल ने सबुक्तगीन को परास्त करने के लिए एक बड़ी सेना एकत्रित की जिसकी संख्या प्रायः एक लाख हो गयी। फरिश्ता ने लिखा है कि दिल्ली, अजमेर, कालिंजर तथा निकट के अनेक राजाओं ने अपनी सैनिक टुकड़ियाँ जयपाल की सहायता के लिए भेजीं। लमगान के निकट सबुक्तगीन और जयपाल का युद्ध हुआ जिसमें जयपाल की पराजय हुई और उसके पश्चात् सबुक्तगीन ने लमगान और पेशावर के बीच की समस्त भूमि पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार तुर्कों ने सबुक्तगीन के समय में ही हिन्दूशाही-राज्य की शक्ति और सीमाओं को कम करने में सफलता पायी। जयपाल की निरन्तर पराजय हुई थी। परन्तु इस संघर्ष से दो बातें स्पष्ट होती हैं—प्रथम, जयपाल असावधान शासक न था। वह अपनी सीमा के निकट उठ खड़े होने वाले तूफान से परिचित हो गया था और उसे समाप्त करने के लिए उसने आक्रमणकारी नीति को अपनाया था जिसका अभाव हमें बाद के हिन्दू राजाओं में दिखायी देता है। दूसरे, फरिश्ता के कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि भारत के हिन्दू राजा इस्लाम के बढ़ते हुए खतरे से सर्वथा उदासीन न थे जैसा कि साधारणतया उन पर आरोप लगाया जाता है। हिन्दू राजाओं ने जयपाल की सहायता के लिए अफगानिस्तान के दूरस्थ, ठण्डे और पहाड़ी भाग में भी अपने सैनिकों को भेजा था। 997 ई. में सबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी। मरने से पहले उसने अपने छोटे पुत्र इस्माइल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उसके बड़े पुत्र महमूद ने यह मानने से इंकार कर दिया। सात माह के पश्चात् इस्माइल को परास्त करके महमूद ने 998 ई. में अपने पिता के राज्य पर अधिकार कर लिया। यही वह महमूद गजनवी था जिसने भारत पर निरन्तर आक्रमण किये और तुर्कों की भारत-विजय के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

1 नवम्बर, 971 ई. को महमूद गजनवी का जन्म हुआ था। उसने पर्याप्त शिक्षा प्राप्त की थी और अपने पिता के समय में अनेक युद्धों में भाग लिया था। 998 ई. में 27 वर्ष की आयु में वह अपने पिता के राज्य का स्वामी बना। इतिहासकारों ने मुस्लिम इतिहास में महमूद को सर्वप्रथम सुल्तान माना है यद्यपि उसके सिक्कों पर सिर्फ 'अमीर महमूद' अंकित किया गया था। परन्तु महमूद अपनी विजयों के कारण सुल्तान के पद के योग्य था। आरम्भ में महमूद ने अपनी शक्ति को हिरात, बल्ख तथा बस्त में दृढ़ किया और खुरासान को विजय किया। बगदाद के खलीफा अल-कादिर बिल्लाह ने 999 ई. में इन प्रदेशों पर उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया और उसे 'यमीन-उद्-दौला' तथा 'आमीन-उल-मिल्लाह' की उपाधियाँ प्रदान कीं। कहा जाता है कि इसी अवसर पर उसने भारत पर प्रत्येक वर्ष आक्रमण करने की शपथ ली।

महमूद गजनवी के आक्रमण के कारण

इतिहासकारों ने महमूद के भारत-आक्रमणों के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। उनसे पता लगता है कि महमूद के भारत पर आक्रमण करने के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

1. महमूद भारत में इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहता था। परन्तु प्रो. हबीब ने महमूद को पूर्णतया सांसारिक व्यक्ति बताया है। उनका कहना है—"वह धर्मान्ध न था। वह मुस्लिम उलेमा-वर्ग की आज्ञाओं को मानने को तैयार न था और उसके बर्बरतापूर्ण कार्यों ने इस्लाम का प्रचार नहीं किया बल्कि इस्लाम को संसार की दृष्टि में गिराया।" इतिहासकार जाफर ने लिखा है—"महमूद का उद्देश्य भारत में इस्लाम का प्रचार नहीं बल्कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धन लूटना था। उसने हिन्दू-मन्दिरों पर इसलिए आक्रमण किये क्योंकि वहाँ धन संचित था।" प्रो. नाजिम ने लिखा है—"यदि उसने हिन्दू-राजाओं को तंग किया तो उसने ईरानी और ट्रान्स-ऑक्सियाना के मुस्लिम शासकों को भी नहीं छोड़ा। जो लूटमार उसने गंगा के मैदान में की वैसी ही उसने ऑक्सस नदी के किनारे पर भी की।" इसी प्रकार, मि. हैवेल का कथन है—"वह बगदाद को भी वैसी ही निर्दयता से लूटता जैसी निर्दयता से उसने सोमनाथ को लूटा था, यदि उसे वहाँ से उतना ही धन मिलने की आशा होती।" इस प्रकार इन विभिन्न इतिहासकारों का मत है कि महमूद के भारत-आक्रमण का उद्देश्य धार्मिक न होकर धन था। परन्तु महमूद के दरबारी इतिहासकार उतबी ने उसके आक्रमणों को जिहाद माना था जिनका मूल उद्देश्य इस्लाम का प्रसार और बुतपरस्ती (मूर्ति-पूजा) को समाप्त करना था। तुर्कों के नवीन धार्मिक जोश और उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए इसे अस्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता। महमूद ने भारत में मन्दिरों को लूटा ही नहीं बल्कि मूर्तियों और मन्दिरों को बर्बाद भी किया। इस कारण यह माना जाता है कि महमूद का एक उद्देश्य धर्म का प्रचार और इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित करना था और यदि ऐसा नहीं भी था तो उसने उन्हें अपने राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन अवश्य बनाया था।

2. महमूद का प्रमुख उद्देश्य **भारत की सम्पत्ति को लूटना था,** इससे कोई भी इतिहासकार इंकार नहीं करता। महमूद धन का लालची था और उसे गजनी के ऐश्वर्य तथा राज्य-विस्तार के लिए धन की आवश्यकता थी। उसके प्रारम्भिक आक्रमणों की सफलता और धन की लूटमार ने उसे अधिक लालची बना दिया। प्रत्येक अवसर पर जो धन-राशि उसे भारत से प्राप्त हुई उसने उसे भारत की सम्पन्नता से परिचित करा दिया जिससे उसने अपने प्रत्येक आक्रमण को अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का साधन बनाया।

3. **पड़ौस के हिन्दू-राज्य को नष्ट करना** महमूद का राजनीतिक उद्देश्य था। गजनी और हिन्दूशाही-राज्य के झगड़े अलप्तगीन के समय से चले आ रहे थे और तीन बार हिन्दूशाही-राज्य गजनी के राज्य पर आक्रमण कर चुका था। अपने इस शत्रु को समाप्त करना महमूद के लिए आवश्यक था। इस कारण महमूद ने स्वयं आक्रमणकारी नीति अपनायी। हिन्दूशाही-राज्य को समाप्त करने के पश्चात् उसका साहस बढ़ गया और उसने भारत में दूर-दूर तक आक्रमण किये।

4. **यश की लालसा** भी महमूद के आक्रमणों का कारण थी। महमूद महत्वाकांक्षी था और सभी महान् शासकों की भाँति वह भी राज्य-विस्तार और यश का भूखा था। उसने पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार किया था। पूर्व की ओर हिन्दूशाही-राज्य को समाप्त करना और निरन्तर युद्धों में विजय प्राप्त करके यश प्राप्त करना भी उसका उद्देश्य था।

5. डॉ. ए. बी. पाण्डे के कथनानुसार, भारत से हाथी प्राप्त करना भी उसका एक लक्ष्य था जिनका उपयोग वह मध्य-एशिया के शत्रु-राज्यों के विरुद्ध करना चाहता था।

जहाँ तक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि महमूद गजनवी का भारत पर आक्रमण का उद्देश्य धन प्राप्ति रहा होगा, न कि इस्लाम का प्रचार या रक्षा करना। क्योंकि प्राचीन काल से ही भारत के मन्दिर हिन्दुओं की सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र रहे हैं। मूर्तियों के साथ-साथ इन्हीं मन्दिरों में सोना-चाँदी, हीरा-जवाहरात आदि रखा जाता था। इसीलिए वह उसके धन सम्बन्धी महत्त्व से अच्छी तरह परिचित हो चुका था। इस प्रकार भारत में आक्रमण करने का उद्देश्य धन प्राप्त करने के लिए साधन मात्र था, जिससे वह मध्य एशिया में विशाल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्की साम्राज्य की स्थापना कर सके। अगर उसका उद्देश्य इस्लाम का प्रसार करना या उसकी रक्षा करना होता तो वह ईरान या ट्रान्स-ऑक्सीनिया के मुस्लिम शासकों पर आक्रमण नहीं करता। शान्ति के समय में हिन्दू मन्दिरों पर कोई आक्रमण नहीं किया गया था एवं लड़ाई के समय हिन्दू मन्दिरों को तहस-नहस करना मुस्लिम भाइयों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए दिखावा मात्र था और जैसा कि प्रो. हबीब तथा निजामी के पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध होता है कि इस्लामी कानून में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है, जो विध्वंस के कार्य को उचित समझे या उसे बढ़ावा दें।

महमूद के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति

उस समय **राजनीतिक दृष्टि** से भारत विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था। उनमें से कुछ राज्य शक्तिशाली भी थे। परन्तु उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा उनकी मुख्य दुर्बलता थी जिसके कारण वे विदेशी शत्रु का मुकाबला मिलकर न कर सके। **मुल्तान और सिन्ध** में दो मुसलमानी राज्य थे। **ब्राह्मण-हिन्दूशाही राज्य** चिनाब नदी से हिन्दूकुश पर्वतमाला तक फैला हुआ था। जयपाल उसका साहसी, बहादुर और दूरदर्शी शासक था। पड़ौस के गजनी-राज्य को समाप्त करने के लिए उसने आक्रमणकारी नीति का पालन किया यद्यपि वह उसमें सफल नहीं हुआ। महमूद के आक्रमणों का प्रथम और दृढ़तापूर्वक मुकाबला इसी राजवंश ने किया। उस समय **कश्मीर** में भी ब्राह्मण-वंश का राज्य था। उसकी मालिक रानी दिद्दा थी। उसके हिन्दूशाही-राज्य से पारिवारिक सम्बन्ध थे। **कन्नौज** में प्रतिहार-वंश का राज्य था। वत्सराज और नागभट्ट के समय में यह राज्य पर्याप्त शक्तिशाली रहा था परन्तु दक्षिण के राष्ट्रकूट-शासकों तथा उत्तर के पड़ौसी राज्यों से उसका निरन्तर संघर्ष रहा जिससे 11वीं सदी के आरम्भ तक यह राज्य दुर्बल हो गया। उसके सामन्त बुन्देलखण्ड के चन्देल, मालवा के परमार और गुजरात के चालुक्य उसके आधिपत्य से मुक्त हो गये। इस वंश का अन्तिम राजा राज्यपाल था जिसके समय में इस राज्य पर महमूद का आक्रमण हुआ। **बंगाल** में पाल-वंश का राज्य था। इस वंश का महमूद का समकालीन शासक महीपाल प्रथम था। उस समय उसकी शक्ति दुर्बल थी। उसका राज्य छोटा हो गया था और राजेन्द्र चोल के आक्रमण ने बंगाल को क्षत-विक्षत स्थिति में छोड़ दिया था। दूर होने के कारण वह महमूद के आक्रमण से बच गया। **गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड** में भी स्वतन्त्र राज्य थे। दक्षिण-भारत में **परवर्ती चालुक्य और चोल वंश** के शक्तिशाली राज्य थे। इनमें से प्रत्येक राजवंश शक्तिशाली था परन्तु वे आपस में संघर्ष कर रहे थे और उत्तर-भारत की राजनीति में विशेष रुचि नहीं रखते थे। जिस समय महमूद उत्तर-भारत को अपने पैरों तले रौंद रहा था उस समय भी वे अपने ही संघर्षों में व्यस्त रहे। भारत के ये सभी राज्य प्रायः राजपूत-वंशों के राज्य थे। राजपूतों को प्राणों का मोह न था और न उनमें साहस और शौर्य की कमी थी परन्तु उनमें दूरदर्शिता और परिस्थितियों को समझने तथा उनके अनुकूल उठ खड़े होने का सर्वथा अभाव रहा जिसके कारण वे सभी बार-बार महमूद से पराजित होते रहे और अपने देश की रक्षा करने में असमर्थ रहे।

सामाजिक दृष्टि से भारत दुर्बल था। जाति-उपजातियों का विभाजन, स्त्रियों की अवनत स्थिति और अनैतिक आचार-विचार इस बात के प्रमाण थे। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के अतिरिक्त समाज का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा था जिसे 'अन्त्यज' पुकारते थे। इन्हें समाज के किसी भी वर्ग में स्थान प्राप्त न था। चमार, जुलाहे, मछली पकड़ने वाले, टोकरी बुनने वाले, शिकारी आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। अलबरुनी के अनुसार यह दो भागों में विभाजित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे—(1) उच्च वर्ग, जिन्हें भाग्यशाली माना जाता था, (2) निम्न वर्ग, जिन्हें कोई विशेष स्थान प्राप्त नहीं था। इनसे भी निम्न स्तर हादी, डोम, चाण्डाल, बधाटू आदि वर्गों का था जो सफाई और स्वच्छता के कार्यों में लगे हुए थे परन्तु इन्हें नगरों और गाँवों से बाहर रहना पड़ता था। वैश्यों तथा शूद्रों को वेद और धार्मिक शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार न था। यदि इनमें से कोई ऐसा करता था तो अलबरुनी के कथनानुसार उसकी जबान काट ली जाती थी। समाज से पृथक वर्गों की स्थिति का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी स्थिति तो वैश्यों और शूद्रों से भी निम्न थी। जाति-प्रथा के कारण भारत का समाज ऊँच-नीच की भावना से विषाक्त था तथा ऐसे विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था जिनमें एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना थी। जाति-बन्धन उस समय तक कठोर हो गये थे। जाति-परिवर्तन और अन्तर्जातीय खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध सम्भव नहीं थे। स्त्रियों की स्थिति निरन्तर गिरती जा रही थी और उनका स्थान पुरुष की भोग्या मात्र बनता जा रहा था। उच्च वर्णों में बहु-विवाह, बाल-विवाह और सती-प्रथा प्रचलित हो चली थीं और विधवाओं के विवाह सम्भव न थे।

धार्मिक दृष्टि से भी गिरावट स्पष्ट थी। हिन्दू और बौद्ध दोनों ही धर्मों में अनाचार फैल गया था। धर्म की मूल भावना लुप्त हो गयी थी और उसका स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था। वाममार्गी सम्प्रदाय लोकप्रिय हो गये थे, मुख्यतया बंगाल और कश्मीर में। सुरापान, माँस का प्रयोग और व्यभिचार इन वाममार्गी अनुयायियों की धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित थे। इनका प्रभाव समाज के अन्य वर्गों पर भी पड़ रहा था। बौद्ध-विहार, मठ और हिन्दू-मन्दिर अनाचार और भोग-विलास के अड्डे बन गये थे। मन्दिरों में देवदासियों (अविवाहित लड़कियाँ जो देवता की पूजा के लिए रखी जाती थीं) की प्रथा भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण बन गयी थी। ऐसी ही स्थिति बौद्ध-विहारों और मठों की थी। शिक्षा-संस्थाएँ भी इस भ्रष्टाचार से मुक्त न रही थीं। विक्रमशिला के महान् विद्यालय के एक विद्यार्थी के पास शराब की बोतल पायी गयी जिसके बारे में उसने बताया कि वह उसे एक भिक्षुणी ने दी थी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि उस विद्यार्थी ने अनाचार या दण्ड पाने के योग्य कोई कार्य किया था अथवा नहीं, इस प्रश्न को लेकर विद्यालय के अधिकारियों में मतभेद हो गया था। शासक और शिक्षित वर्ग पर अनैतिकता का यह प्रभाव देश की दुर्बलता के लिए पर्याप्त था। धर्म जो सत्कर्म, त्याग, देश-प्रेम और मनोबल की वृद्धि में सहायक हो सकता था, उस समय अनाचार, भोग-विलास और आलस्य का कारण बना हुआ था।

समाज और धर्म की यह स्थिति भारत की सांस्कृतिक विलासिता का भी कारण थी। कला और साहित्य दोनों ही उस समय की दशा के अनुकूल बन गये थे। स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला आदि से भी लालित्य और भोग-विलास की प्रवृत्ति का आभास होता है। साहित्य में 'कुटिनी-मतम' और 'समय-मत्रक' (वेश्या की आत्मकथा) उस समय के साहित्य की प्रतीक मात्र थीं। खजुराहो, पुरी आदि के मन्दिर और मूर्तियाँ उस समय की कला की रुचि का प्रतीक थीं।

सैनिक दृष्टि से भारत ने अपने शस्त्रों और युद्ध-शैली में सुधार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। भारतीय उस समय भी हाथियों पर निर्भर करते थे, तलवार, कटार और भाला उनके मुख्य हथियार थे तथा उनकी युद्ध-शैली रक्षात्मक अधिक आक्रामक कम थी। उत्तर-पश्चिम सीमा पर भारतीयों ने न तो किले बनवाये थे और न किसी अन्य रक्षा-पंक्ति का निर्माण किया था जबकि उसी दिशा से आक्रमण का भय था। इस कारण सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल था। उसकी इस दुर्बलता का एक मुख्य कारण यह भी था कि भारत ने विदेशों से कुछ सीखने का प्रयत्न नहीं किया। भारतीयों ने विदेशों के, मुख्यतया अपने सीमावर्ती देशों के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और सैनिक परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया। इस कारण उनमें अज्ञानता और दम्भ दोनों भावनाओं की उत्पत्ति हुई और वे अपनी उन्नति के प्रति असावधान हो गये। इस सम्बन्ध में महमूद गजनवी के साथ भारत में आने वाले विद्वान अलबरुनी का विवरण हमारी आँखें खोलने वाला है। अलबरुनी ने हिन्दू-दर्शन, धर्म और संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। वह यहाँ के दर्शन और अन्य बहुत-सी बातों से प्रभावित भी हुआ था परन्तु उसने लिखा था—"हिन्दुओं का यह विचार है कि हमारा जैसा देश, राष्ट्र, धर्म, राजा और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।" उसने लिखा—"हिन्दू यह नहीं चाहते कि जो वस्तु एक बार अपवित्र हो जाये, उसे शुद्ध करके पुनः अपना बना लिया जाय।" इस प्रकार अलबरुनी ने हिन्दुओं को संकीर्ण विचारों का बताया यद्यपि उसने यह भी लिखा है कि हिन्दुओं के पूर्वज इतने संकीर्ण विचारों के न थे। इस प्रकार भारतीयों ने अपनी प्रगति के मार्ग को स्वयं अवरुद्ध कर लिया था।

परन्तु भारत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। विस्तृत उपजाऊ भू-प्रदेश और खनिज-पदार्थ उसकी सम्पन्नता के लिए उत्तरदायी थे। विदेशी व्यापार भी अच्छा था। परन्तु आर्थिक सम्पन्नता के साथ-साथ भारत में गम्भीर आर्थिक असमानता भी थी। देश की सम्पत्ति कुछ विशेष वर्गों के हाथों में संचित हो गयी थी। राज्य-परिवार और व्यापारी-वर्ग के अतिरिक्त मन्दिर भी धन के खजाने थे। विदेशी आक्रमणकारी के लिए कुछ विशेष स्थानों पर संचित यह धन लालच का कारण था और भारत की दुर्बलता उसके लिए एक प्रेरणा थी। भारत की सम्पत्ति एक दुर्बल व्यक्ति की सम्पत्ति के समान थी जिसको हथियाने के लिए कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति लालच कर सकता था। महमूद गजनवी ने ऐसा ही किया।

महमूद के आक्रमण

भारत की उपर्युक्त परिस्थितियों में महमूद ने भारत पर आक्रमण किये। ये आक्रमण 11वीं सदी से आरम्भ हुए। सर हेनरी इलियट ने बताया है कि महमूद ने भारत पर 17 आक्रमण किये। यद्यपि सभी आक्रमणों के बारे में सर्वस्वीकृत प्रमाण प्राप्त नहीं होते फिर भी सभी इतिहासकार यह अवश्य मानते हैं कि महमूद ने भारत पर कम से कम 12 आक्रमण अवश्य किये थे। महमूद के आक्रमण 1000 ई. में आरम्भ हुए और पहले उसने सीमा के कुछ किलों को जीता। उसने दूसरा आक्रमण 1001 ई. में किया। इस बार हिन्दूशाही-राजा जयपाल ने पेशावर के निकट उसका मुकाबला किया। युद्ध में महमूद की विजय हुई और जयपाल, उसके पुत्र, नाती तथा अन्य अनेक सम्बन्धी बन्दी बना लिये गये। महमूद जयपाल की राजधानी बैहन्द के निकट तक गया और बहुत लूटमार की। जयपाल और उसके सम्बन्धियों को महमूद ने 25 हाथी और 2,50,000 दीनार लेकर मुक्त कर दिया। इस प्रकार बहुत अधिक धन लेकर महमूद भारत से वापस गया। जयपाल ने अपनी निरन्तर पराजयों से स्वयं को इतना अधिक अपमानित अनुभव किया कि उसने आत्मदाह कर लिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र आनन्दपाल गद्दी पर बैठा।

महमूद का एक अन्य महत्वपूर्ण आक्रमण मुल्तान पर हुआ। मुल्तान के शिया सम्प्रदायी करमाथियों के शासक अब्दुल फतह दाऊद से भी महमूद असन्तुष्ट था। मार्ग में जयपाल के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र आनन्दपाल ने भेरा के निकट उसका मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और महमूद ने 1006 ई. में मुल्तान को जीत लिया। दाऊद ने महमूद को 20,000 दिरहम प्रति वर्ष देने का वायदा किया। अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा पर तुर्की आक्रमण की सूचना पाकर महमूद दाऊद को मुल्तान तथा अन्य विजित भारतीय क्षेत्रों को नौशाशाह (यह जयपाल का नाती सुखपाल था जिसे महमूद ने इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था) को सौंप कर वापस चला गया। उसके जाने के बाद नौशाशाह और दाऊद ने विद्रोह कर दिया। 1008 ई. में महमूद पुनः भारत आया और उसने नौशाशाह और दाऊद को कैद करके मुल्तान को अपने राज्य में मिला लिया।

मुल्तान के महमूद के हाथों में चले जाने से **हिन्दूशाही-राजा आनन्दपाल** को अपने राज्य पर दो तरफ से आक्रमण का भय हो गया। उसने एक बड़ी सेना एकत्रित की, पड़ौसी राज्यों से सहायता ली और पेशावर की ओर बढ़ा। 1009 ई. में बैहन्द के निकट महमूद ने उसका मुकाबला किया और उसे पराजित कर दिया। सिन्ध से नगरकोट तक के भू-क्षेत्र पर महमूद का अधिकार हो गया तथा हिन्दूशाही-राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी। आनन्दपाल के पश्चात् उसके पुत्र **त्रिलोचनपाल** ने समय-समय पर कश्मीर और बुन्देलखण्ड के शासकों से सहायता प्राप्त करके महमूद से संघर्ष किये परन्तु वह प्रत्येक बार असफल रहा। उसके पश्चात् उसके पुत्र भीमपाल की स्थिति महमूद से मुकाबला करने की नहीं रही। 1020 ई. में भीमपाल की मृत्यु हुई। अन्ततोगत्वा हिन्दूशाही-राज्य समाप्त हो गया और सम्पूर्ण पंजाब पर महमूद का अधिकार हो गया। इस प्रकार ब्राह्मणवंशीय हिन्दूशाही-राज्य एक लम्बे और कठोर संघर्ष के बाद समाप्त हुआ। उस समय वही एक ऐसा हिन्दू-राज्य था जिसके शासकों ने दूरदर्शिता का परिचय दिया और अपनी तथा भारत की सुरक्षा के लिए आक्रमणकारी नीति को अपनाया, हिन्दुओं का संयुक्त मोर्चा बनाया और मुल्तान के मुसलमानों को भी नवीन विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध अपने साथ रखने में सफलता पायी। उसके पतन से हिन्दुओं की विदेशियों के विरुद्ध संयुक्त होकर मुकाबला करने की योजना नष्ट हो गयी, उत्तर-पश्चिम के प्रवेश-द्वार पर तुर्कों का अधिकार हो गया और महमूद को भारत में प्रवेश करने तथा अपनी धन-पिपासा को सन्तुष्ट करने का अवसर मिल गया। महमूद को जयपाल जैसा शत्रु अन्य स्थानों पर प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण बार-बार भारत पर आक्रमण करने की उसकी योजना सफल हो सकी। ऐसा प्रतीत होता है कि पेशावर के युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तर-भारत अपंग हो गया था। महमूद एक के बाद एक नगर और मन्दिरों को लूटता एवं नष्ट करता गया। भय से भारतीय अपने धन, धर्म, मन्दिरों और नगरों को तुर्कों को समर्पित करते चले गये और जिसने थोड़ा-बहुत विरोध किया भी, वह सफल न हुआ। महमूद वर्षों तक भयंकर तूफान की भाँति उत्तर-भारत को रौंदता रहा और हिन्दू-राज्य तिनकों की भाँति उसके सामने बिखर गये। प्रत्येक देवता की मूर्ति का भंजन, प्रत्येक स्थान की लूटमार, लाखों स्त्रियों का अपमान और लाखों पुरुषों का कत्ल या उनका इस्लाम में परिवर्तन भी हिन्दू-भारत को महमूद का मुक़ाबला करने का आत्मबल और शक्ति प्रदान न कर सका।

1009 ई. में आनन्दपाल की पराजय के पश्चात् महमूद ने अलवर राज्य में स्थित नारायनपुर नामक स्थान को जीता और लूटा। 1014 ई. में उसने **थानेश्वर** को लूटा। मार्ग में डेरा के शासक राजाराम ने उससे युद्ध किया परन्तु उसकी पराजय हुई। सभी मन्दिरों व मूर्तियों को तोड़कर और नगर को लूटकर महमूद वापस चला गया। विश्वास किया जाता है कि दिल्ली के राजा ने पड़ौसी हिन्दू-राजाओं से सहायता लेकर महमूद को रोकने का प्रयत्न किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

था परन्तु वह असफल हुआ था और थानेश्वर की रक्षा के लिए कोई सेना नहीं पहुँची थी। 1018 ई. में महमूद कन्नौज-राज्य पर आक्रमण करने के लिए आया। शाही-वंश का शासक त्रिलोचनपाल पूर्वी पंजाब से भाग खड़ा हुआ और मार्ग के सभी छोटे-छोटे राज्य उसके समक्ष आत्मसमर्पण करते चले गये। मथुरा के निकट महावन में यदु-वंश के शासक कुलचन्द ने उसका मुकाबला किया, परन्तु परास्त हुआ। आगे बढ़कर महमूद ने मथुरा पर आक्रमण किया जो दिल्ली के राज्य में था। मथुरा की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था और महमूद ने वहाँ इच्छानुसार लूटमार की। मथुरा हिन्दुओं का महान तीर्थस्थान था और वहाँ हजारों मन्दिर थे। उतबी के कथनानुसार मन्दिरों में सोने और चाँदी की हीरे-जवाहरातों से जड़ी हुई हजारों मूर्तियाँ थीं। उनमें से कुछ सोने की मूर्तियाँ पाँच-पाँच हाथ ऊँची थीं जिनमें से एक में 50,000 दीनार के मूल्य की लाल मणियाँ जड़ी हुई थीं। विभिन्न मूर्तियों के नीचे अतुल धनराशि गढ़ी हुई थी जिसे महमूद ने प्राप्त किया। महमूद ने मथुरा का कोना-कोना लूट लिया, मन्दिरों को तोड़ दिया, भूमि को खोद-खोदकर धन निकाला, सभी मूर्तियों को तोड़कर धन की भाँति अपने साथ लिया, नगर को बर्बाद कर दिया और स्त्री-पुरुषों को कत्ल कर दिया या गुलाम बना लिया। मथुरा के निकट के उतने ही भव्य स्थान वृन्दावन की भी यही दशा हुई और महमूद को लूट में अपार धन मिला। वहाँ से महमूद कन्नौज गया जहाँ गुर्जर-प्रतिहार-वंश के अन्तिम शासक राज्यपाल का शासन था। राज्यपाल बिना युद्ध किये भाग गया और कन्नौज को महमूद ने लूट लिया। उसके पश्चात् महमूद ने कानपुर के निकट मन्झावन नामक स्थान पर आक्रमण किया जो ब्राह्मणों के किले के नाम से विख्यात था। 25 दिन तक महमूद किले को न जीत सका परन्तु उसके पश्चात् किले के स्त्री और बच्चे जल मरे और पुरुष युद्ध में मारे गये। उसके बाद असी के शासक चन्द्रपाल और सिरसावा (सहारनपुर के निकट) के शासक चाँदराय ने उसका मुकाबला नहीं किया। मार्ग में अन्य स्थानों पर भी महमूद का कोई मुकाबला नहीं हुआ और विभिन्न स्थानों पर लूटमार करता हुआ महमूद गजनी वापस पहुँच गया।

महमूद के वापस जाने के पश्चात् बुन्देलखण्ड के शासक विद्याधर (गण्ड) ने कुछ हिन्दू-राजाओं का एक मित्र-संघ बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य कन्नौज के शासक राज्यपाल को सजा देना था। उनकी दृष्टि में राज्यपाल ने मथुरा और वृन्दावन जैसे तीर्थस्थानों को लूटने वाले महमूद से बिना युद्ध किये हुए भागकर एक बड़ा अपराध किया था। इन राजाओं ने राज्यपाल पर आक्रमण करके उसे मार दिया। महमूद ने विद्याधर को दण्ड देने का फैसला किया और 1019 ई. में वह पुनः भारत आया। हिन्दूशाही-राजा त्रिलोचनपाल ने इस बार यमुना नदी के निकट उसका मुकाबला किया। त्रिलोचनपाल साहसी था और इस अवसर पर वह चन्देलों का साथ दे रहा था परन्तु महमूद ने उसे परास्त कर दिया और वह भाग खड़ा हुआ। वहाँ से महमूद बरी की ओर बढ़ा जिसे प्रतिहारों ने कन्नौज की लूट के पश्चात् अपनी राजधानी बना लिया था। राज्यपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल (प्रतिहार-वंशीय) वहाँ का शासक था। वह भय के कारण भाग खड़ा हुआ और महमूद ने बरी को धूल में मिला दिया। उसके पश्चात् महमूद अपने मुख्य शत्रु विद्याधर को परास्त करने के लिए बुन्देलखण्ड की सीमा पर पहुँचा (1020-21 ई.)। विद्याधर एक बड़ी सेना के साथ उसका मुकाबला करने के लिए वहाँ तैयार था। विद्याधर की विशाल सेना को देखकर महमूद को घबराहट हो गयी परन्तु शाम के झुटपुटे में हिन्दुओं की सेना के एक भाग की पराजय हुई। सम्भवतया किसी अन्य कारण से अथवा इस छुटपुट युद्ध की पराजय से विद्याधर साहस खो बैठा और रात को चुपके से भाग निकला।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

CC-0. Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रातःकाल शत्रु की सेना को सामने न पाकर महमूद को बड़ा आश्चर्य हुआ। विद्याधर का साहस छोड़ देना उसके राज्य के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। महमूद ने उसके सम्पूर्ण राज्य में लूटमार की और बहुत-सी सम्पत्ति लेकर वापस लौट गया यद्यपि उस समय तक विद्याधर की शक्ति तोड़ी नहीं गयी थी। 1021-22 ई. में महमूद पुनः वापस आया। मार्ग में ग्वालियर के राजा कीर्तिराज को सन्धि के लिए बाध्य करता हुआ महमूद कालिंजर के किले के सम्मुख पहुँचा। किले का घेरा बहुत समय तक पड़ा रहा परन्तु उसे जीता न जा सका। विद्याधर ने सन्धि की बातचीत की और महमूद ने उसे स्वीकार कर लिया। महमूद ने विद्याधर को 15 किले भी इनाम के रूप में दिये। उसके पश्चात् महमूद वापस चला गया।

1024 ई. में महमूद एक विशाल सेना लेकर सोमनाथ पर आक्रमण के लिए चला। काठियावाड़ (गुजरात) में समुद्र-तट पर बना हुआ शिव का मन्दिर उत्तर-भारत में सबसे अधिक प्रतिष्ठित मन्दिर था। लाखों व्यक्तियों की प्रतिदिन की भेंट के अतिरिक्त 10,000 गाँवों की आय उसे प्राप्त होती थी। आकार और सौन्दर्य की दृष्टि से मन्दिर अद्वितीय था और वहाँ अत्यधिक धन संचित था। हजारों प्रकार के हीरे-जवाहरातों से शिव-लिंग का छत्र बना हुआ था, स्वयं शिव-लिंग बीच अधर में बिना किसी सहारे के लटका हुआ था, 200 मन की सोने की जंजीर से उसका एक घण्टा बजाया जाता था, 350 स्त्री और पुरुष शिव-लिंग के सम्मुख सर्वदा नाचने के लिए रखे गये थे, लिंग के भूगर्भ-स्थल में अगाध सम्पत्ति एकत्र थी और एक हजार पुजारी देवता की पूजा में संलग्न रहते थे। सोमनाथ का शिव-मन्दिर अद्वितीय था परन्तु उसके पुजारियों का दम्भ आश्चर्यजनक था। उनका कहना था कि महमूद उत्तर-भारत के दैव-मन्दिरों को इस कारण नष्ट कर सका क्योंकि भगवान सोमनाथ उन सभी से असन्तुष्ट थे। झूठे दम्भ में उन्होंने कहा था कि महमूद भगवान सोमनाथ को हानि पहुँचाने की शक्ति नहीं रखता। पुजारियों का यह दम्भ और मन्दिर की अतुल सम्पत्ति महमूद के आक्रमण का कारण बनी। मुल्तान के मार्ग से महमूद ने काठियावाड़ में प्रवेश किया और मार्ग की समस्त बाधाओं को हटाता हुआ वह 1025 ई. में काठियावाड़ की राजधानी अन्हिलवाड़ पहुँच गया। राजा भीमदेव भाग खड़ा हुआ और महमूद ने बिना किसी विरोध के उसकी राजधानी को लूटा। उसके पश्चात् महमूद सोमनाथ के मन्दिर के निकट पहुँचा। मन्दिर में हजारों हिन्दू-भक्त एकत्र हो गये थे और वे पूर्ण विश्वास के साथ युद्ध के लिए तत्पर थे। महमूद का पहले दिन का आक्रमण सफल नहीं हुआ परन्तु दूसरे दिन वह मन्दिर की प्राचीर को पार गया। युद्ध में 50,000 से अधिक व्यक्ति मारे गये। महमूद ने मन्दिर को पूर्णतया नष्ट कर दिया। उसने छत में लगे हुए चकमक पत्थर को हटा दिया जिसके कारण शिव-लिंग अधर में लटका हुआ था। शिव-लिंग भूमि पर गिर पड़ा। महमूद ने उसे तोड़ डाला। प्रत्येक प्रकार से मन्दिर को खोद-खोद कर लूटा गया। अतुल सम्पत्ति लेकर महमूद सिन्ध के रेगिस्तान से वापस लौटा। मार्ग में उसके भारतीय मार्गदर्शक ने उसे मार्ग से भटका कर बहुत हानि पहुँचाई परन्तु अन्त में महमूद मुल्तान होता हुआ लूटे हुए खजाने के साथ सुरक्षित गजनी पहुँच गया। सोमनाथ के शिव-लिंग के टूटे हुए टुकड़ों को गजनी की जामी मस्जिद की सीढ़ियों में लगा दिया गया।

जिस समय महमूद सोमनाथ को लूटकर वापस जा रहा था, रास्ते में सिन्ध के जाटों ने उसे तंग किया। जाटों को दण्ड देने के लिए 1027 ई. में महमूद अन्तिम बार भारत आया। जाटों को उसने कठोरता से समाप्त किया। उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी और उनकी स्त्रियों व बच्चों को दास बना लिया गया। यह महमूद का अन्तिम आक्रमण था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार महमूद ने भारत पर विभिन्न आक्रमण किये। उनकी संख्या ठीक प्रकार निश्चित नहीं है परन्तु उपर्युक्त महत्वपूर्ण आक्रमण ही उसकी सफलता, भारत की दुर्बलता और उसके परिणामों पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हैं। **महमूद ने न केवल भारत की सदियों से संचित सम्पत्ति को ही लूटने में सफलता प्राप्त की वरन् पंजाब, मुल्तान और अफगानिस्तान के प्रदेशों में गजनवी-वंश के राज्य को स्थापित किया।** 1030 ई. में महमूद की मृत्यु हो गयी।

महमूद का चरित्र और मूल्यांकन

महमूद एक साहसी सैनिक और सफल सेनापति था। उसका स्थान संसार के उन सफलतम सेनापतियों में है जिन्हें जन्मजात सेनापति पुकारा जाता है। उसमें नेतृत्व करने और अपने साधनों एवं परिस्थितियों से पूर्ण लाभ उठाने की योग्यता थी। उसमें मानवीय गुणों को परखने की बुद्धि थी और वह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य देता था तथा प्रत्येक से अपनी इच्छानुसार कार्य लेता था। उसकी सेना में अरब, तुर्क और अफगान ही नहीं वरन् हिन्दू सैनिक भी थे। परन्तु विभिन्न नस्लों से मिल-जुलकर बनी हुई उसकी सेना उसके नेतृत्व में एक शक्तिशाली तथा विजयी सेना बन गयी। अपनी योग्यता के अनुकूल महमूद महत्वाकांक्षी भी था। वह सर्वदा सम्मान और साम्राज्य की लालसा करता रहा। अपने इन गुणों के कारण वह सफल भी हुआ। अपने पिता से उसे गजनी और खुरासान का एक छोटा-सा राज्य प्राप्त हुआ था। अपनी योग्यता से उसने उसे इराक और कैस्पियन सागर से गंगा-तट तक फैला दिया। उसका साम्राज्य बगदाद के खलीफा से बड़ा और शक्तिशाली था। जब खलीफा ने महमूद को समरकन्द देने से इंकार किया था तब महमूद ने उस पर आक्रमण करने की धमकी दी थी। इस प्रकार महमूद एक शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य का निर्माता था। यह कहना गलत है कि महमूद ने दुर्बल भारतीय शासकों को ही परास्त करने में सफलता पायी थी। महमूद ने मध्य-एशिया और ईरान में भी अपने शत्रुओं के विरुद्ध इसी प्रकार सफलता प्राप्त की थी। **एक साहसी सैनिक, महान् सेनापति और साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से महमूद का स्थान श्रेष्ठ है।**

महमूद शिक्षित और सुसभ्य था तथा वह विद्वानों एवं कलाकारों का सम्मान करता था। उसने अपने समय के महान् विद्वानों को गजनी में एकत्र किया था। गणित, दर्शन, ज्योतिष और संस्कृत का उच्चकोटि का विद्वान अलबरुनी, इतिहासकार उतबी, दर्शनशास्त्र का विद्वान फराबी, 'तारीख-ए-सुबुक्तगीन' का लेखक बैहाकी जिसे इतिहासकार लेनपूल ने 'पूर्वी पेप्स' की उपाधि दी, फारस का कवि उजारी, खुरासानी विद्वान तुसी, महान् शिक्षक और विद्वान उन्सुरी, विद्वान अस्जदी और फर्रुखी तथा 'शाहनामा' का रचयिता विद्वान फिरदौसी आदि उसके दरबार में थे। वे सभी योग्य थे और महमूद के संरक्षण ने उनको अधिक योग्य बनने में सहायता दी थी। महमूद ने गजनी में एक विश्वविद्यालय, एक बड़ा पुस्तकालय और एक बड़ा अजायबघर स्थापित किया। वह कलाकारों को भी संरक्षण देता था। उसने देश-विदेश के कलाकारों को बुलाकर गजनी में भव्य इमारतों का निर्माण कराया। अनेक महलों, मस्जिदों, मकबरों आदि से उसने गजनी को सुशोभित किया। गजनी की विख्यात जामा-मस्जिद का निर्माण भी उसी ने कराया। उसके समय में गजनी इस्लामी संसार की शोभा, वैभव और योग्यता का एक महान् केन्द्र स्थान बन गया।

महमूद एक न्यायप्रिय शासक था। अपने भतीजे के द्वारा एक अन्य व्यक्ति की पत्नी से सम्बन्ध रखने के कारण उसने स्वयं अपने भतीजे को कत्ल किया। एक अन्य अवसर पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने शाहजादा मसूद को एक व्यापारी का कर्जा न चुकाने के कारण काजी की अदालत में जाने और व्यापारी का कर्जा चुकाने के लिए बाध्य किया। ऐसी ही अनेक कहानियाँ महमूद की न्यायप्रियता के बारे में प्रचलित हैं। महमूद ने अपने सूबेदारों को अपने नियन्त्रण में रखने, अपने राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने, व्यापार और कृषि की सुरक्षा करने तथा अपनी प्रजा के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करने में सफलता पायी थी।

महमूद धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। वह सुन्नी था और हिन्दुओं के प्रति ही नहीं अपितु शियाओं के प्रति भी अनुदार था तथा उनको दण्ड देने के लिए तत्पर रहता था। बाद के समय के अथवा आधुनिक इतिहासकार जैसे प्रो. मुहम्मद हबीब चाहे किसी प्रकार भी उसकी धार्मिक कट्टरता को ढँकने का प्रयत्न करें, परन्तु यह मानना पड़ता है कि विधर्मियों के प्रति उसका व्यवहार कठोरता का था। महमूद के विषय में तत्कालीन विचारधारा को मानना अधिक उपयुक्त है। हिन्दुओं के प्रति उसके व्यवहार की आलोचना अलबरुनी ने की थी। तत्कालीन समय में मुसलमान उसे इस्लाम धर्म का महान् प्रचारक मानते थे। उसे गाजी (विधर्मियों को कत्ल करने वाला) और मूर्तिभंजक तथा बुतशिकन पुकारा गया था। खलीफा ने सोमनाथ के आक्रमण की सफलता पर उसे और उसके पुत्रों को सम्मान-पत्र और वस्त्र भेजे थे तथा तत्कालीन मुस्लिम संसार ने उसे विधर्मियों को नष्ट करके दूरस्थ देशों में इस्लाम की प्रतिष्ठा और शक्ति स्थापित करने वाला माना था। इस कारण तत्कालीन विचारधारा के आधार पर महमूद को धर्मान्ध माना जा सकता था। तर्क के आधार पर भी महमूद का हिन्दुओं और हिन्दू-मन्दिरों के प्रति नृशंस व्यवहार केवल धन की लालसा के आधार पर ही हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

महमूद धन का लालची था यद्यपि उसके साथ-साथ वह मुक्त-हृदय से धन व्यय भी करता था। भारत पर उसके आक्रमणों का प्रमुख उद्देश्य धन की लालसा था। अपनी मृत्यु के अवसर पर वह यह सोचकर बहुत दुखी हुआ था कि उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को छोड़कर जाना पड़ेगा। प्रख्यात विद्वान फिरदौसी को उसने प्रत्येक छन्द की रचना के लिए एक सोने की दीनार देने का वायदा किया था परन्तु जब उसने 1000 छन्द के 'शाहनामा' को उसके समक्ष प्रस्तुत किया तब उसने सोने के स्थान पर चाँदी की दीनारें देने की इच्छा प्रकट की जिन्हें लेने से फिरदौसी ने इंकार कर दिया। यद्यपि इसका मुख्य कारण महमूद के कृपापात्र अयाज का फिरदौसी के विरुद्ध षड्यन्त्र था और महमूद ने बाद में फिरदौसी के पास स्वर्ण की दीनारें भेज भी दीं (यद्यपि उस समय तक फिरदौसी की मृत्यु हो चुकी थी) परन्तु फिर भी उपर्युक्त घटनाएँ महमूद की लालची प्रकृति का आभास अवश्य कराती हैं।

परन्तु महमूद की सबसे बड़ी दुर्बलता उसका कुशल शासन-प्रबन्धक न होना था। इस कारण महमूद अपने राज्य को स्थायित्व प्रदान न कर सका। उसका विशाल साम्राज्य उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में जाते ही नष्ट होने लगा। महमूद उस साम्राज्य का निर्माता था और उसका व्यक्तित्व ही उसे सुरक्षित रख सका। यह स्पष्ट करता है कि महमूद अपने शासन को स्थायी सिद्धान्तों पर स्थापित न कर सका था। लेनपूल ने लिखा है, "……(वह) महान् सैनिक था और उसमें अपार साहस तथा अथक शारीरिक एवं मानसिक शक्ति थी परन्तु वह रचनात्मक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ न था। हमें ऐसे किन्हीं नियमों, संस्थाओं अथवा शासन-प्रणालियों का पता नहीं है जिनकी नींव उसने डाली हो।" एलफिन्सटन ने भी, जिसने महमूद के अन्य गुणों की प्रशंसा की है, लिखा है—"उसके भारतीय कार्य भी जिनके लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने अपनी अन्य योजनाएँ त्याग दी थीं, किसी प्रकार के संगठन अथवा व्यवस्था की भावना का परिचय नहीं देते।"

इसके बावजूद भी महमूद मुस्लिम इतिहास का एक महान् शासक था। मुस्लिम इतिहास में सुल्तान कहलाने योग्य वह प्रथम शासक था। मध्य-एशिया के महान् शासकों में उसका स्थान है। प्रो. हबीब के शब्दों में—"अपने समकालीन व्यक्तियों में वह चरित्र-बल से नहीं बल्कि योग्यता के कारण ही इतना उच्च पद प्राप्त कर सका था।" उसकी विजयें, उसके साम्राज्य की शान्ति और समृद्धि, उसकी सांस्कृतिक प्रगति और उसके प्रयत्नों के द्वारा इस्लाम की प्रतिष्ठा का विस्तार उसे महान् शासकों में स्थान प्रदान करते हैं।

परन्तु भारतीय इतिहास में महमूद का स्थान एक धर्मान्ध और बर्बर विदेशी लुटेरे के समान है। महमूद गजनी का सुल्तान था; भारत का नहीं। पंजाब, सिन्ध और मुल्तान जो उसके राज्य में सम्मिलित किये गये थे, उसकी पूर्वी सीमाओं की सुरक्षा और भारत पर निरन्तर आक्रमण करने का आधार-मात्र थे। इस कारण महमूद ने इन प्रदेशों के शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। भारत पर अपने निरन्तर आक्रमणों में महमूद ने प्रत्येक स्थान और प्रत्येक व्यक्ति से धन लूटा, प्रत्येक मन्दिर को नष्ट किया, प्रत्येक मूर्ति को खण्डित किया, लाखों व्यक्तियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया अथवा उन्हें कत्ल कर दिया, लाखों को गुलाम बनाया, लाखों स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करने का कारण बना, हजारों सुन्दरतम स्त्रियों को गजनी ले गया, श्रेष्ठतम कलाकृतियों को नष्ट किया और हजारों नगरों व गाँवों को जलाकर राख कर दिया। महमूद ने हिन्दुओं के धन, सम्मान, वैभव, संस्कृति आदि सभी को लूटा। एक भयंकर तूफान की भाँति महमूद जहाँ भी गया वहाँ विनाश करता हुआ गया। जो कुछ वह अपने साथ ले जा सकता था, वह ले गया और जिसको वह नष्ट कर सकता था, उसको उसने नष्ट कर दिया। इस कारण भारत के निवासियों के लिए महमूद एक धर्मान्ध और बर्बर विदेशी लुटेरे के अतिरिक्त हो भी क्या सकता था ?

भारत पर महमूद के आक्रमण एक भीषण झंझावात के समान थे और कभी-कभी यह कहा जाता है कि उसने भारत में विनाश तो किया परन्तु कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ा। भारतीय थोड़े समय के पश्चात् उन दुर्घटनाओं को भूल गये और उन्होंने अपने नगरों, मन्दिरों और वैभव का पुनः निर्माण कर लिया। निस्सन्देह, भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों को भुला दिया जिसका दुष्परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ा। परन्तु यह कहना भूल है कि महमूद के आक्रमणों का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। महमूद ने पंजाब, सिन्ध और मुल्तान को अपने राज्य में सम्मिलित करके अन्य मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिए भारत का मार्ग खोल दिया। मुहम्मद गोरी ने गजनी के भारतीय क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण आरम्भ किये। महमूद ने भारत की सम्पत्ति को लूटकर एवं उसकी सैनिक शक्ति को नष्ट करके भारत को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल बना दिया। निरन्तर पराजयों के कारण हिन्दुओं के मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध करने के मनोबल में भी कमी आ गयी। महमूद किसी भी हिन्दू-राजा से परास्त नहीं हुआ। इससे हिन्दुओं में मुस्लिम आक्रमणकारियों की शक्ति के प्रति भय उत्पन्न हुआ जिसका प्रभाव पर्याप्त समय तक रहा। इन सभी ने भारत की भविष्य की राजनीति को प्रभावित किया। मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिए महमूद की सबसे बड़ी देन हिन्दूशाही-राज्य का विनाश था जिसके कारण मुसलमानों के लिए भारत-विजय सरल हो गयी। डॉ. डी. सी. गांगुली ने लिखा है—"पंजाब और अफगानिस्तान के गजनी राज्य में सम्मिलित किये जाने के कारण इस्लाम द्वारा भारत की विजय सरल हो गयी। अब प्रश्न होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा न होने का नहीं था बल्कि सिर्फ यह था कि कब वह शक्तिशाली बाढ़ सम्पूर्ण भारत को धराशायी कर देगी।"

महमूद के उत्तराधिकारी

महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में गद्दी के लिए हुए युद्ध में मसूद की विजय हुई। 1030 ई. से 1040 ई. तक मसूद ने शासन किया। मसूद यद्यपि योग्य शासक था किन्तु अन्त में वह सल्जूक तुर्कों से परास्त हुआ। उसके सरदारों ने विद्रोह करके उसे उसके अन्धे भाई महमूद को सौंप दिया जिसने उसका वध करा दिया। परन्तु बहुत शीघ्र ही मसूद के पुत्र मादूद ने महमूद और उसके पुत्र को गद्दी से हटाकर उनका वध कर दिया और स्वयं सुल्तान बन गया। उसके समय से गजनी की शक्ति क्षीण होने लगी। आन्तरिक संघर्ष और एक के बाद एक अयोग्य शासक गजनी वंश की दुर्बलता के कारण बने। इसके अतिरिक्त मध्य एशिया में दो नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ —ख्वारिज्म-वंश और गौर-वंश। सल्जूक तुर्कों ने गजनी वंश की शक्ति को तोड़ दिया। उसका लाभ ख्वारिज्म वंश ने पश्चिम में और गोर वंश ने पूर्व में उठाया। अन्त में गोर-वंश ने महमूद के दुर्बल उत्तराधिकारियों से गजनी को छीन लिया और उसे बर्बाद कर दिया। गजनी वंश के शासक को पंजाब में शरण लेनी पड़ी। इस वंश का अन्तिम शासक मलिक खुसरव हुआ जिससे मुहम्मद गोरी ने पंजाब को भी छीन लिया। गजनी वंश के शासक न केवल मध्य एशिया में ही असफल रहे वरन् वह भारत में भी अपनी शक्ति को दृढ़ न रख सके। उनकी दुर्बलताओं का लाभ उठाकर राजपूत राज्यों ने कुछ प्रदेशों को मुसलमानों से छीनने में सफलता पायी और उनके अन्तिम शासक मलिक खुसरव की मृत्यु मुहम्मद गोरी की कैद में 1192 ई. में हुई।

[2]

शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मुहम्मद गोरी

महमूद गजनवी ने भारत को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल बनाया तथा उसकी उत्तर-पश्चिम सीमा पर तुर्क-राज्य को स्थापित किया परन्तु उसने भारत में तुर्क-राज्य की स्थापना नहीं की। इस कार्य की पूर्ति गोर-वंश के शासक मुहम्मद गोरी ने की। गोर का पहाड़ी क्षेत्र गजनी और हिरात के बीच में स्थित था। कुछ इतिहासकारों ने गोर-वंश को अफगान बताया है परन्तु अब उसे स्वीकार नहीं किया जाता। यह तुर्कों का शंसबनी-वंश था जो पूर्वी ईरान से आकर गोर-प्रदेश में बस गया था। महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् मध्य-एशिया की बदलती हुई परिस्थितियों ने गोर-वंश के उत्थान में सहयोग दिया। 11वीं सदी में सल्जूक-तुर्कों का प्रभाव मध्य-एशिया में बढ़ा। महमूद के दुर्बल उत्तराधिकारी उनका मुकाबला न कर सके। सल्जूक-तुर्कों ने गजनी-साम्राज्य को खण्डित करके गोर-वंश और ख्वारिज्म-वंश को पनपने का अवसर दिया। गोर-प्रदेश दस हजार फीट से भी अधिक ऊँचाई पर स्थित था। वहाँ के निवासियों का मुख्य पेशा कृषि था परन्तु वे अच्छी नस्ल के घोड़े पालने और अच्छे शस्त्र तैयार करने के लिए अधिक विख्यात थे। महमूद गजनवी पहला सुल्तान था जिसने गोर को विजय करके वहाँ के निवासियों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया था। इससे पहले वहाँ के निवासी बौद्ध-मतावलम्बी थे। गजनी-वंश की शक्ति दुर्बल हो जाने पर वहाँ के शासकों ने अपनी महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया और गजनी के शासकों से संघर्ष आरम्भ किया। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। 1163-1202 ई. के समय में गियासुद्दीन गोर का शासक बना। उसके भाई शिहाबुद्दीन ने 1173-74 ई. में गिज-तुर्कों से गजनी को छीनने में सफलता पायी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गियासुद्दीन ने गजनी का राज्य अपने भाई शिहाबुद्दीन को दे दिया। यही वह शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मुहम्मद गोरी था जिसने 12वीं सदी में भारत पर आक्रमण किये और यहाँ अपने राज्य की स्थापना की। उसने अपने बड़े भाई गियासुद्दीन का सर्वथा सम्मान किया और एक स्वतन्त्र शासक होते हुए भी उसके जीवित रहते स्वयं को उसके अधीन माना।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के कारण

गजनी का शासक बनने के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने भारत-विजय की योजना बनायी। भारत पर उसके आक्रमणों के उद्देश्य निम्नलिखित थे :

1. मुहम्मद गोरी महत्वाकांक्षी था। भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना उसका प्रमुख लक्ष्य था। उस युग के सभी शासक शक्ति और सम्मान की लालसा से राज्य-विस्तार करना चाहते थे। वही उनको श्रेष्ठता और महानता प्रदान करता था। गोरी का भी एक लक्ष्य यह था।

2. गजनवी और गोर-वंश में वंशानुगत शत्रुता चली आ रही थी। उस समय तक पंजाब में गजनवी-वंश का राज्य था। पंजाब के उस राज्य को अपनी अधीनता में लेना उसका एक अन्य लक्ष्य था। गजनी को जीतकर गोरी पंजाब पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानता था। पंजाब को जीतने से उसके वंश का एक शत्रु नष्ट होता था और पूर्व की ओर से उसके राज्य की सुरक्षा सम्भव होती थी। इस प्रकार पंजाब को जीतकर गजनवी-वंश को नष्ट करने से गोरी को व्यक्तिगत मानसिक सन्तोष और राजनीतिक लाभ था।

3. पश्चिम की ओर गोर-वंश के राज्य के विस्तार को ख्वारिज्म-शासकों ने रोक दिया था। इसके अतिरिक्त उस तरफ राज्य-विस्तार का मुख्य उत्तरदायित्व उसके बड़े भाई गियासुद्दीन का था। इस कारण यदि मुहम्मद गोरी को अपनी राज्य-विस्तार की अभिलाषा की पूर्ति करनी थी तो वह पूर्व की ओर भारत में ही सम्भव हो सकती थी।

4. गोरी को धर्म-विस्तार और धन की लालसा भी रही होगी। उस युग की परिस्थितियों में यह स्वाभाविक था यद्यपि ये कारण मुहम्मद गोरी के भारत-आक्रमण के लिए मुख्य नहीं थे।

गोरी के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति

1027 ई. में महमूद गजनवी ने भारत पर अन्तिम आक्रमण किया था और मुहम्मद गोरी ने अपना प्रथम आक्रमण 1175 ई. में किया। इस प्रकार इन दो महत्वपूर्ण आक्रमणकारियों के समय में प्रायः 148 वर्ष का अन्तर हो गया था। परन्तु तब भी भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों से कुछ भी सीखने का प्रयत्न नहीं किया था। इस कारण विभिन्न राजवंशों में परिवर्तन हो जाने के अतिरिक्त भारत में अन्य कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। राजनीतिक दृष्टि से भारत उस समय भी विभक्त था। निस्सन्देह, कुछ राजपूत-वंश बहुत सम्मानित और शक्तिशाली थे परन्तु उनमें राज्य-विस्तार की प्रतिस्पर्धा एवं वंशानुगत झगड़ों के कारण युद्ध होते रहते थे जिसके कारण न तो वे अपनी शक्ति का सदुपयोग अपने और अपने राज्य के हितार्थ कर सके और न वे एक होकर विदेशी शत्रु का मुकाबला कर सके। उस समय भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर सिन्ध, मुल्तान और पंजाब के मुसलमानी राज्य थे। सिन्ध में सुम्र जाति के शिया शासक राज्य करते थे, मुल्तान में करमाथी जाति के शासक थे और पंजाब में गजनवी-वंश के शासकों का राज्य था। सिन्ध और मुल्तान के राज्य छोटे थे और पंजाब में गजनवी-राज्य दुर्बल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। गिज-तुर्कों से पराजित होकर गजनवी-वंश का अन्तिम शासक खुसरवशाह गजनी को छोड़कर भारत भाग आया था और उसने लाहौर को अपनी राजधानी बना लिया था। गजनवी-वंश के शासकों में उस समय सम्मान और शक्ति नहीं रह गयी थी। वह पड़ौस के राजपूत-राज्यों पर छुटपुट आक्रमण करते रहते थे परन्तु राज्य-विस्तार में असमर्थ थे। इसके विपरीत, चौहान राजपूतों ने उससे कुछ स्थानों को छीनने में सफलता पायी थी। **भारत के अन्य सभी भागों में राजपूत शासक थे। गुजरात और काठियावाड़ में चालुक्य-वंश** का राज्य था जिनकी राजधानी अन्हिलवाड़ (पाटन) थी। उस अवसर पर वहाँ का शासक मूलराज द्वितीय था। **दिल्ली और अजमेर का शासक चौहानवंशीय पृथ्वीराज तृतीय उर्फ 'रायपिथौरा' था।** उत्तर-भारत के राजपूत-शासकों में वह सर्वाधिक साहसी और महत्वाकांक्षी था। उसके पिता पृथ्वीराज द्वितीय ने अपने राज्य को पर्याप्त शक्तिशाली बनाया था। 'रायपिथौरा' ने उसमें और अधिक वृद्धि करने का प्रयत्न किया। परन्तु अपनी महत्वाकांक्षाओं के कारण उसे पड़ौसी राजपूत-राजाओं से संघर्ष करना पड़ा और प्रायः सभी से उसकी शत्रुता हो गयी। गुजरात के चालुक्य-वंश को उसने पराजित और अपमानित किया, बुन्देलखण्ड के चन्देल शासक परमर्दीदेव (राजा परमालदेव) को परास्त करके उसने उससे महोबा छीन लिया और कन्नौज के गहड़वार शासक जयचन्द की पुत्री संयोगिता से बलपूर्वक विवाह करके उसने उससे घोर शत्रुता मोल ले ली। पृथ्वीराज तृतीय अपने युग का एक महान् साहसी योद्धा और सफल सेनानायक था परन्तु उसमें दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञता का अभाव था। इस कारण अपने तुर्क-शत्रु के विरुद्ध वह अपने किसी भी पड़ौसी राज्य से सहायता प्राप्त नहीं कर सका। **कन्नौज के गहड़वार-वंश का राज्य उत्तर-भारत में सबसे अधिक विस्तृत था।** गोरी के आक्रमण के अवसर पर वहाँ का शासक जयचन्द था। **बुन्देलखण्ड में चन्देल-वंश और कलचुरी में चेदि-वंश का राज्य था। बंगाल में पाल और सेन-वंश के राज्य थे।** शक्तिशाली पाल-शासकों का पतन हो चुका था और उस समय उनके अधिकार में सिर्फ उत्तरी बंगाल का कुछ भाग था। उनके राज्य के अधिकांश भाग पर सेन-वंश ने अधिकार कर लिया था जिसमें बिहार और बंगाल का अधिकांश प्रदेश सम्मिलित था। उस समय दक्षिण-भारत उत्तर-भारत की राजनीति के प्रति सर्वथा उदासीन था।

सामाजिक दृष्टि से भारत की स्थिति में केवल एक नवीनता थी। भारत के अन्दर के भागों में मुसलमान शान्तिपूर्ण तरीके से प्रवेश कर गये थे और विभिन्न स्थानों पर बस गये थे। मुसलमानों की वह छोटी-छोटी बस्तियाँ भारत में छोटे-छोटे जलस्रोतों के समान थीं जिनमें से कई भारत में तुर्की-राज्य की स्थापना से पहले ही इस्लाम धर्म की शिक्षा के केन्द्र बन चुकी थीं। बदायूँ ऐसा ही एक स्थान था। इसके अतिरिक्त भारत की सामाजिक स्थिति प्रायः वही थी जो महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय में थी। **धार्मिक, नैतिक, शैक्षणिक और सैनिक** दृष्टि से भारत की स्थिति में इन 148 वर्षों में कोई परिवर्तन नहीं आया था। हिन्दुओं ने अपनी शक्ति और उन्नति के मूल स्रोतों को सुखा डाला था और महमूद गजनवी के आक्रमण भी उन्हें चेतना लाने में असमर्थ रहे थे।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण और भारत-विजय

सबसे पहले 1175 ई. में गोरी ने मुल्तान पर आक्रमण किया। उस समय तक खैबर और बोलन के दर्रे न तो सुरक्षित समझे जाते थे और न उनसे व्यापारिक अथवा सैनिक अभियान का लाभ उठाया जाता था। सबसे प्रचलित मार्ग गोमल के दर्रे से होकर डेरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्माइलखाँ होते हुए उत्तरी सिन्ध में पहुँचने का था। गोरी से पहले के आक्रमण इसी मार्ग से हुए थे। गोरी ने भी इसी मार्ग को चुना और मुल्तान पर आक्रमण किया। उसने उसे सरलता से जीत लिया। उसके पश्चात् उसने **उच्छ और निचले सिन्ध को भी जीत लिया**। 1178 ई. में **गोरी ने गुजरात पर आक्रमण** किया परन्तु मूलराज द्वितीय ने अपनी योग्य और साहसी विधवा माँ नायिकादेवी के नेतृत्व में आबू पहाड़ के निकट गोरी का मुकाबला किया और उसे परास्त कर दिया। **यह भारत में गोरी की पहली पराजय थी**। इसके पश्चात् गोरी ने अपने आक्रमण का मार्ग बदल दिया। इसके पश्चात् उसने पंजाब की ओर से बढ़ना आरम्भ किया। पंजाब में गजनवी-वंश के निकम्मे शासक मलिक खुसरव ने उसका विरोध किया परन्तु परास्त हो गया। 1179 ई. में गोरी ने **पेशावर** को जीत लिया। दो वर्ष बाद उसने लाहौर पर आक्रमण किया और खुसरव ने अति बहुमूल्य भेंटें तथा अपने एक पुत्र को बन्धक के रूप में देकर अपनी रक्षा की। 1185 ई. में गोरी ने **सियालकोट** को जीता और वापस चला गया। खुसरव ने पहाड़ी खोक्खर जाति की सहायता लेकर सियालकोट को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1186 ई. में गोरी ने पुनः लाहौर पर आक्रमण किया। उसने छल से खुसरव को मिलने के लिए बुलाया और विश्वासघात करके उसे कैद कर लिया। उसके पश्चात् **सम्पूर्ण पंजाब पर गोरी का अधिकार हो गया और गजनी का राजवंश समाप्त हो गया**। 1192 ई. में गजनवी-वंश के अन्तिम शासक खुसरव को कत्ल कर दिया गया।

पंजाब को जीतने के पश्चात् मुहम्मद गोरी के राज्य की सीमाएँ दिल्ली और अजमेर के शासक पृथ्वीराज तृतीय के राज्य की सीमाओं से मिलने लगीं। 1188 ई. में गोरी ने सीमावर्ती किले भटिण्डा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। गोरी जब वापस जाने की तैयारी कर रहा था तभी उसे पृथ्वीराज (रायपिथौरा) के आगे बढ़ने का समाचार मिला। गोरी उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। पृथ्वीराज एक बड़ी सेना के साथ भटिण्डा को जीतने के लिए आगे बढ़ रहा था। 1191 ई. में भटिण्डा के निकट **तराइन का प्रथम युद्ध हुआ जिसमें गोरी की पराजय हुई**। मुहम्मद गोरी की यह दूसरी गम्भीर पराजय थी। इसके पश्चात् पृथ्वीराज ने भटिण्डा के किले पर आक्रमण किया परन्तु मलिक जियाउद्दीन ने इतनी दृढ़ता से उसकी रक्षा की कि पृथ्वीराज उसे 13 माह के पश्चात् ही जीत सका। मुहम्मद गोरी तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय को न भुला सका। वह स्वयं को अपमानित अनुभव करता था और पृथ्वीराज को परास्त किये बिना वह भारत में आगे बढ़ भी नहीं सकता था। एक वर्ष तक गोरी ने युद्ध की तैयारियाँ कीं और एक लाख बीस हजार की चुनी हुई घुड़सवार सेना को लेकर गजनी से चला। लाहौर पहुँचकर उसने पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजा कि वह इस्लाम और उसके आधिपत्य को स्वीकार कर ले। पृथ्वीराज ने उसे भारत से वापस लौट जाने का परामर्श दिया। गोरी ने भटिण्डा को जीतकर तराइन के मैदान में प्रवेश किया। पृथ्वीराज भी अपनी सेना को लेकर वहाँ पहुँच गया। बहुत-से अधीनस्थ सामन्त और हिन्दू-राजा पृथ्वीराज की सहायता के लिए आये थे। फरिश्ता ने लिखा है कि उसकी सेना में पाँच लाख घुड़सवार और तीन हजार हाथी थे। पृथ्वीराज की सेना की यह संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बतायी गयी है परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वह एक बड़ी सेना को लेकर युद्ध के लिए गया था। 1192 ई. में **तराइन का द्वितीय युद्ध हुआ जिसमें गोरी की सजगता और श्रेष्ठ युद्ध-प्रणाली के कारण मुसलमानों की जीत हुई**। गोविन्दराय उस युद्ध में मारा गया। पृथ्वीराज ने हताश होकर घोड़े पर बैठकर भागने का प्रयत्न किया परन्तु वह सुरसती (आधुनिक सिरसा, हरियाणा राज्य में) के निकट पकड़ा गया और कैद कर लिया गया। पृथ्वीराज की मृत्यु के बारे में विभिन्न मत प्रकट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये गये हैं। परन्तु उनमें से हसन निजामी का मत ही स्वीकार किया जाता है कि पृथ्वीराज गोरी के साथ अजमेर गया था और उसने गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु जब उसने विद्रोह करने का षड्यन्त्र किया तो उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण था। डॉ. डी. सी. गांगुली ने लिखा है—"तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने न केवल चौहानों की साम्राज्यवादी शक्ति को ही नष्ट किया बल्कि वह सम्पूर्ण भारत के विनाश का कारण बनी।" इस पराजय ने हिन्दू-राजाओं और उनकी प्रजा के मनोबल को तोड़ दिया और सम्पूर्ण भारत में भय की भावना व्याप्त हो गयी। इससे मुहम्मद गोरी की भारत-विजय सरल हो गयी। गोरी ने हाँसी, कुहर आदि सैनिक महत्व के स्थानों को जीत लिया। चौहानों की राजधानी अजमेर को भी जीत लिया गया और पृथ्वीराज को मृत्यु-दण्ड देने के पश्चात् उसके एक पुत्र को अजमेर का शासन सौंप दिया गया। तत्पश्चात् दिल्ली को भी जीत लिया गया। अपने विजित प्रदेशों को कुतुबुद्दीन ऐबक की देखरेख में सौंपकर गोरी भारत से वापस चला गया। गोरी ने विजित प्रदेशों में हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया और उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी कीं परन्तु गोरी ने एक दूरदर्शिता की बात भी की। उसने आरम्भ में अपने विजित प्रदेशों में हिन्दू-राजाओं को ही शासक नियुक्त किया जिससे वह हिन्दुओं की भावनाओं को सन्तुष्ट करके मुस्लिम-विजय को संगठित कर सका। इस नीति के अनुसार उसने आरम्भ में अजमेर में पृथ्वीराज के पुत्र को और दिल्ली में गोविन्दराय के पुत्र को अपनी अधीनता में शासक नियुक्त किया। बाद में विद्रोह के कारण ऐबक ने इन स्थानों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में ले लिया और चौहान-वंश का राज्य सर्वदा के लिए नष्ट हो गया।

गोरी के वापस चले जाने के पश्चात् पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने दो बार अजमेर को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया परन्तु ऐबक ने उसके प्रयत्नों को विफल कर दिया। ऐबक ने बुलन्दशहर, मेरठ और दिल्ली को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में ले लिया। 1193 ई. से दिल्ली भारत में गोरी के राज्य की राजधानी बन गयी। ऐबक ने रणथम्भौर को जीता और उसके पश्चात् उसने कोल (अलीगढ़) को भी विजय किया।

1194 ई. में मुहम्मद गोरी कन्नौज के शासक जयचन्द पर आक्रमण करने के लिए भारत आया। उत्तर-भारत में कन्नौज का राज्य बहुत शक्तिशाली माना जाता था। उसके राजा जयचन्द की पृथ्वीराज से शत्रुता थी। इस कारण उसने गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज को सहायता नहीं दी थी। इस अवसर पर उसे भी गोरी से अकेले युद्ध करना पड़ा। कन्नौज और इटावा के बीच चन्दवार नामक स्थान पर गोरी से उसका युद्ध हुआ। जयचन्द युद्ध में मारा गया और राजपूतों की पराजय हुई। गोरी ने आगे बढ़कर वाराणसी को लूटा और जयचन्द के राज्य के प्रायः सभी प्रमुख स्थानों पर अधिकार कर लिया। गोरी उस समय कन्नौज पर अधिकार न कर सका। उसे बाद में मुस्लिम-राज्य में सम्मिलित किया गया। परन्तु तब भी गोरी को इस विजय से पर्याप्त बड़ा भू-क्षेत्र प्राप्त हुआ। अब उत्तर-भारत में उसका मुकाबला करने के लिए अन्य कोई शक्तिशाली राजा बाकी न रहा और तुर्कों के लिए बिहार तथा बंगाल की विजय का मार्ग प्रशस्त हुआ।

जयचन्द को पराजित करने के पश्चात् मुहम्मद गोरी भारत से वापस चला गया और विजित प्रदेशों को संगठित करने का उत्तरदायित्व ऐबक पर छोड़ गया। गोरी के चले जाने के पश्चात् विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हुए क्योंकि राजपूत उस समय तक तुर्कों की अधीनता को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। वे सभी विद्रोह दबा दिये गये। कोल (अलीगढ़) के निकट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए विद्रोह को ऐबक ने स्वयं दबाया। अजमेर में तीसरी बार विद्रोह हुआ। हरिराज ने अजमेर से पृथ्वीराज के पुत्र को बाहर निकाल दिया और एक बार फिर चौहानों की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किया। परन्तु ऐबक के विरुद्ध उसे सफलता न मिली और उसने स्वयं को आग में जलाकर आत्महत्या कर ली। ऐबक ने 1194 ई. में अजमेर को जीत लिया। इस अवसर पर ऐबक ने हिन्दू और जैन-मन्दिरों को नष्ट करके उनके अवशेषों से दिल्ली में 'कुव्वात-उल-इस्लाम' नामक मस्जिद बनवायी। बाद में 1196 ई. में अजमेर के संस्कृत-विश्वविद्यालय के स्थान पर 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक एक अन्य विख्यात मस्जिद को बनवाना आरम्भ किया गया जो 1200 ई. में पूरी हुई।

1195-96 ई. में गोरी पुनः भारत आया। इस बार उसने बयाना को जीता और ग्वालियर पर आक्रमण किया। ग्वालियर का किला अत्यन्त दृढ़ था। इस कारण जब राजा सुलक्षणपाल ने गोरी के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया तो गोरी ने उससे सन्धि कर ली और वापस चला गया। परन्तु जाने से पहले वह बयाना के सूबेदार तुगरिल को ग्वालियर को जीतने के आदेश दे गया। बाद में **डेढ़ वर्ष के युद्ध के पश्चात् तुगरिल ने उसे जीता।**

इस बार वापस जाकर मुहम्मद गोरी को कई वर्ष तक भारत आने का अवसर न मिल सका और बाकी भू-प्रदेशों को जीतने और वहाँ हुए विद्रोहों को दबाने का दायित्व उसके तुर्क अमीरों पर पड़ा। राजस्थान में एक बार फिर विद्रोह हुआ और मेद तथा चौहान राजपूतों ने गुजरात के चालुक्यों की सहायता लेकर तुर्कों को राजस्थान से निकालने का प्रयत्न किया। गजनी से सहायता पहुँच जाने पर ऐबक ने राजपूतों पर आक्रमण किया और विद्रोहों को दबा दिया। राजस्थान के विद्रोह को समाप्त करके ऐबक ने गुजरात पर आक्रमण किया। आबू पहाड़ के निकट चालुक्य राजपूतों ने उसका मुकाबला किया। ऐबक के सैन्य-संचालन के कारण उसकी जीत हुई। उसने आगे बढ़कर गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूटा (1197 ई) जिसे भीमदेव द्वितीय छोड़कर भाग गया था। परन्तु ऐबक गुजरात को अपने प्रत्यक्ष शासन में न ले सका। इसके पश्चात् ऐबक ने **बदायूँ** को जीता। **वाराणसी** तथा **चन्दवार** भी जो उसके हाथों से निकल गये थे, पुनः जीत लिए गये और **कन्नौज** को भी विजय किया गया।

ऐबक की एक महत्वपूर्ण विजय बुन्देलखण्ड की थी। चन्देल-राजा परमर्दीदेव साहसी था और उसका कालिंजर का किला बहुत दृढ़ था। 1202-1203 ई. में ऐबक ने उस पर आक्रमण किया। युद्ध के बीच में परमर्दीदेव की मृत्यु हो गयी। उसके मन्त्री अजयदेव ने युद्ध को जारी रखा परन्तु उसे अन्त में किला छोड़ना पड़ा। **कालिंजर को जीतने के पश्चात् ऐबक ने महोबा, खजुराहो आदि स्थानों पर भी अधिकार कर लिया।**

बिहार और बंगाल की विजय के बारे में गोरी अथवा ऐबक ने सोचा भी न था। **इस कार्य को गोरी के एक साधारण सरदार इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खलजी ने किया।** अवध के सरदार हिसामुद्दीन-अबुल-बक ने उसकी योग्यता के कारण उसे कुछ गाँवों की जागीर दी थी। उसने उसी जागीर को अपनी उन्नति का साधन बनाया। खलजी सैनिकों की एक छोटी-सी सेना तैयार करके उसने उन समीपवर्ती क्षेत्रों पर आक्रमण करने प्रारम्भ किये जो बंगाल के राजा के अधीन बिहार में थे। बिहार में बार-बार आक्रमण करने पर भी उसके मार्ग में किसी ने बाधा नहीं डाली। प्रत्येक बार की सफलता ने इख्तियारुद्दीन की लालसा, सम्पत्ति और शक्ति में वृद्धि की और वह धीरे-धीरे आक्रमण के क्षेत्र को बढ़ाता गया। 1202-1203 ई. में उसने उदन्दपुर पर आक्रमण किया और वहाँ के बौद्ध-विहार को लूटा तथा भिक्षुओं को कत्ल कर दिया। उसके पश्चात् उसने नालन्दा और विक्रमशिला के विद्या-केन्द्रों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने सम्पूर्ण बिहार को जीत लिया और आश्चर्य यह है कि उसे एक भी स्थान पर किसी गम्भीर विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

बंगाल के शासक लक्ष्मणसेन की अकर्मण्यता इख्तियारुद्दीन को स्पष्ट हो गयी थी। उसने 1204-1205 ई. में बंगाल पर आक्रमण किया। वह इतनी तीव्र गति से आगे बढ़ा कि उसकी मुख्य सेना पीछे रह गयी और जब उसने राजधानी नदिया में प्रवेश किया उसके साथ केवल 18 घुड़सवार थे। सम्भवतया, राजधानी के सैनिकों और नागरिकों ने उनको घोड़ों के व्यापारी समझा और वे बिना किसी बाधा के महल के फाटक तक पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अचानक महल पर आक्रमण कर दिया। राजा लक्ष्मणसेन इतना भयभीत हुआ कि नंगे पैर पीछे के दरवाजे से भाग निकला। इस बीच तुर्की सेना नगर में प्रवेश कर गयी। राजा की अनुपस्थिति में नगर ने आत्मसमर्पण कर दिया और तुर्कों ने नदिया को बुरी तरह लूटा। लक्ष्मणसेन पूर्वी बंगाल भाग गया और वहीं कुछ समय तक शासन करता रहा। इख्तियारुद्दीन ने भी सम्पूर्ण बंगाल को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। **दक्षिण-पश्चिम बंगाल के अधिकांश भाग पर तुर्कों का अधिकार हो गया और इख्तियारुद्दीन ने लखतौनी को उसकी राजधानी बनाया।** अपनी बंगाल-विजय से प्रोत्साहित होकर इख्तियारुद्दीन ने तिब्बत को जीतने की योजना बनायी। परन्तु उसका यह आक्रमण विफल रहा और जबकि वह बीमार पड़ा हुआ था तब उसके एक सरदार अलीमर्दन खलजी ने उसका कत्ल कर दिया (1206 ई.)। इस प्रकार इख्तियारुद्दीन का अन्त हुआ परन्तु अपनी मृत्यु से पहले उसने बिहार और बंगाल के अधिकांश भाग को तुर्की-अधीनता में ला दिया था जिसकी आशा ऐबक और गोरी नहीं करते थे।

जिस समय गोरी के सरदार भारत में उसके राज्य का विस्तार कर रहे थे उस समय वह स्वयं ख्वारिज्म के शासक से मृत्यु और जीवन का संघर्ष कर रहा था। गोरी-वंश का संघर्ष पश्चिम के उस ख्वारिज्म-वंश से चलता रहता था जिसने ईरान में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया था। 1202 ई. में गोरी के बड़े भाई गियासुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर स्वयं गोरी सम्पूर्ण गोर-वंश के राज्य का स्वामी बना। उसने भी ख्वारिज्म के शासकों से युद्ध जारी रखा। 1205 ई. में मुहम्मद गोरी की अन्धखुद के युद्ध में भयंकर रूप से पराजय हुई। बड़ी कठिनाई से वह अपनी जान बचाकर अपनी राजधानी (अब वह गोर थी) पहुँच सका। इस पराजय से मुहम्मद गोरी के सम्मान को बहुत ठेस लगी और भारत में भी उसका प्रभाव पड़ा। यह अफवाह फैल गयी कि गोरी युद्ध में मारा गया। भारत में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। पंजाब में खोक्खर-जाति ने सुल्तान के सूबेदार को परास्त करके लाहौर को जीतने का प्रयत्न किया। इस कारण **1205 ई. में गोरी पुनः भारत आया।** झेलम और चिनाब नदी के बीच उसका मुकाबला खोक्खरों से हुआ। यह युद्ध बड़ा भयंकर हुआ और ऐबक के ठीक समय पर सेना को लेकर पहुँच जाने के कारण ही गोरी की विजय हो सकी। खोक्खरों को निर्दयता से कत्ल किया गया। उसके पश्चात् **गोरी लाहौर पहुँचा और वहाँ व्यवस्था स्थापित करके गजनी वापस चल दिया। मार्ग में सिन्धु नदी के तट पर दमयक नामक स्थान पर शाम की नमाज पढ़ते हुए मुहम्मद गोरी पर कुछ व्यक्तियों ने अचानक आक्रमण करके 15 मार्च, 1206 ई. को उसे कत्ल कर दिया।** कुछ इतिहासकारों के अनुसार कत्ल करने वाले खोक्खर थे और कुछ अन्य के अनुसार ये इस्माइल-सम्प्रदाय के शिया थे। सम्भवतया इस कत्ल में इन दोनों वर्गों का हाथ था।

मुहम्मद गोरी के शव को गजनी ले जाकर दफना दिया गया। गोरी के कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भतीजा महमूद उसका उत्तराधिकारी हुआ लेकिन वास्तव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में देखा जाय तो किरमान का सूबेदार ताजुद्दीन यिल्दिज, उच्छ का सूबेदार नासिरुद्दीन कुबाचा और दिल्ली का सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक ही उसके उत्तराधिकारी थे। महमूद बहुत अधिक समय तक जीवित न रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् शक्तिशाली ख्वारिज्म-शासक ने गोरी के मध्य-एशिया के राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। 1215 ई. तक गजनी पर ताजुद्दीन यिल्दिज ने अपना अधिकार रखा परन्तु जब उस वर्ष उसे भी वहाँ से निकाल दिया गया तब गोरी का सम्पूर्ण मध्य-एशिया का राज्य ख्वारिज्मशाह के अधीन हो गया। परन्तु भारत में कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसके राज्य की सुरक्षा में सफलता पायी और तथाकथित गुलाम-वंश का राज्य स्थापित किया।

मुहम्मद गोरी का चरित्र और मूल्यांकन

मुहम्मद गोरी के चरित्र और कार्यों का मूल्यांकन करते हुए स्वतः ही उसकी तुलना महमूद गजनवी से कर ली जाती है जिससे कभी-कभी उसके दुर्बल पक्ष को अधिक बल मिल जाता है। परन्तु तब भी मुहम्मद गोरी का इतिहास में स्थान विवादरहित है। निस्सन्देह, मुहम्मद गोरी महमूद गजनवी के समान योग्य सेनापति न था। महमूद जन्मजात सेनापति था। भारत में उसके सभी आक्रमण सफल हुए थे और मध्य-एशिया में उसने एक शक्तिशाली एवं ऐश्वर्यशाली राज्य की स्थापना की थी। उसकी शक्ति और ऐश्वर्य बगदाद के खलीफा से भी बढ़ गया था। उसकी सैनिक-सफलताओं से मुहम्मद गोरी की सफलताएँ समानता नहीं कर सकतीं। गोरी अन्हिलवाड़ के शासक मूलराज द्वितीय से हारा, वह तराइन के प्रथम युद्ध में पृथ्वीराज तृतीय से पराजित हुआ और ख्वारिज्म के शासक ने उसे अन्धखुद के युद्ध में बुरी तरह परास्त किया। परन्तु इनमें से कोई भी पराजय मुहम्मद गोरी के साहस को न तोड़ सकी और न उसे उसके लक्ष्य से भ्रष्ट कर सकी। गोरी ने अपने अनुभवों से लाभ उठाया, अपनी प्रत्येक पराजय से अपनी दुर्बलताओं को परखा, उनको दूर किया और अन्त में सफलता प्राप्त की। **स्थायी परिणाम की दृष्टि से गोरी महमूद गजनवी की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुआ।** प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है—"अन्धखुद, तराइन और अन्हिलवाड़ के तीन युद्धों में पराजित इस मुख्य पात्र को जैसा कि प्रो. हबीब उसे पुकारते हैं, मध्य-युग के महानतम साम्राज्यों में से एक को स्थापित करने का श्रेय है और इस दृष्टि से वह, निस्सन्देह, महमूद गजनवी से श्रेष्ठ है।" **मुहम्मद गोरी में परिस्थितियों को समझने और उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता थी।** उसने भारत की खोखली राजनीति को समझ लिया था। इस कारण उसका उद्देश्य भारत में राज्य स्थापित करने का था। निरन्तर सफलता प्राप्त करने के पश्चात् भी महमूद गजनवी ने अपना उद्देश्य भारत में धन लूटने और इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित करने से अधिक नहीं रखा जबकि गोरी ने असफलताओं के बावजूद भी अपना उद्देश्य विस्तृत रखा। गोरी के आक्रमणों में भी मन्दिरों को नष्ट किया गया और हिन्दुओं को इस्लाम में परिवर्तित किया गया, परन्तु ये गोरी के मूल उद्देश्य न थे। भारत में एक राज्य की स्थापना करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा। इस कारण उसका उद्देश्य महमूद की तुलना में अधिक श्रेष्ठ रहा। भारत में उसने राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। उसका एक उद्देश्य यह रहा कि हिन्दू-राजा मिलकर कोई संगठन न बना पायें। इस कारण उसने उनसे सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न किये। अजमेर में पृथ्वीराज के पुत्र और दिल्ली में गोविन्दराय के पुत्र को शासन सौंपने में उसका यही अभिप्राय था। मुख्य स्थानों पर अधिकार करने और विभिन्न स्थानों पर सैनिक चौकियाँ स्थापित करने के अतिरिक्त उसने अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं के शासन और स्थिति में परिवर्तन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया। मुहम्मद गोरी मानव-चरित्र का अच्छा पारखी था। योग्य व्यक्तियों को तलाश करना और उनसे कार्य लेना उसे आता था। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है—"यद्यपि वह एक राजवंश की स्थापना में असफल हुआ परन्तु उसने कुछ ऐसे व्यक्तियों को शिक्षित किया जो उसके आदर्शों के प्रति उससे भी अधिक वफादार और उसके साम्राज्य की सुरक्षा करने में उससे भी अधिक योग्य सिद्ध हुए।" ऐबक, यिल्दिज और तुगरिल जैसे व्यक्ति उसकी सफलताओं के लिए उत्तरदायी थे और उनको गोरी ने शिक्षित किया था। मुहम्मद गोरी के लक्ष्य और चरित्र की दृढ़ता भी उसकी सफलता के लिए उत्तरदायी थी। भारत में एक नहीं बल्कि दो गम्भीर पराजय भी उसे उसके लक्ष्य से नहीं डिगा सकीं। इसी प्रकार, पश्चिम की ओर से शक्तिशाली ख्वारिज्मशाह से अपनी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध पाकर भी उसका उत्साह भंग नहीं हुआ और न उसने पूर्व की ओर अपनी प्रगति के उद्देश्य में कोई कमी की। मुहम्मद गोरी अपनी समस्त योजनाओं को एक सूत्र में बाँधता था, आवश्यकता के अनुसार उनमें परिवर्तन करता था, अपनी दुर्बलताओं को दूर करता था और राजनीति में अनावश्यक खतरे मोल नहीं लेता था। बल्कि, इसके विपरीत, वह बहुत सावधानी, तत्परता और निश्चित योजना से कार्य करता था। अन्हिलवाड़ में पराजित होकर उसने अपने आक्रमण के मार्ग को बदल दिया। तराइन के प्रथम युद्ध में पराजित होकर वह द्वितीय युद्ध के लिए गम्भीर रूप से तैयारी करके भारत आया और उसने अपने युद्ध करने के तरीके में भी परिवर्तन किया। सेनानायक के रूप में उसकी दृष्टि अपने समस्त सैनिक-अभियानों पर रहती थी। जब वह भारत में खोक्खरों के विद्रोह को दबाने में व्यस्त था तब भी उसकी दृष्टि मध्य-एशिया के अपने अभियान पर केन्द्रित थी और ऑक्सस नदी पर बन रहे किले की ओर भी उसका ध्यान था। इसी कारण गोरी जन्मजात सेनापति न होते हुए भी एक सफल विजेता हो सका। निस्सन्देह मुहम्मद गोरी भारत में तुर्की-राज्य की नींव डालने वाला था और यह उसकी एक महान् सफलता थी।

गोरी को शासन की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला और न उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। वह गजनी और गोर का शासक रहा। भारत के राज्य को संगठित करने का उत्तरदायित्व उसके गुलाम और सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक पर पड़ा। गोरी सांस्कृतिक प्रगति की ओर से भी उदासीन न था। उसने विद्वानों को संरक्षण दिया। फखरुद्दीन राजी तथा नजामी उरुजी उसके दरबार में रहते थे। उसने और उसके भाई गियासुद्दीन ने गोर को संस्कृति और विद्वत्ता का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया था।

परन्तु मुहम्मद गोरी की मुख्य सफलता उसकी उत्तर-भारत की विजय थी जिसे उसके गुलाम ऐबक ने भारत के तुर्की-राज्य में परिवर्तित कर दिया और जिसके कारण भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय सम्मिलित हुआ।

[3]

11वीं और 12वीं सदी में तुर्की-मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू-राजपूत राज्यों की पराजय के कारण

भारत ने इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला प्रायः 300 वर्षों तक अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा पर किया। अरबों का भारत पर आक्रमण सिन्ध और मुल्तान तक सीमित रहा और तुर्कों द्वारा काबुल, जाबुल, अफगानिस्तान तथा पंजाब की विजय इस्लाम के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहज सिद्ध नहीं हुई। यह एक गौरवपूर्ण बात थी कि जिस इस्लाम ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के अधिकांश भाग और उसमें निवास करने वाली विभिन्न नस्लों को जीतकर अपना अंग बना लिया उसका मुकाबला हिन्दू एक लम्बे समय तक कर सके थे। परन्तु साथ ही साथ उत्तर-पश्चिम भारत की प्राचीर के टूट जाने के पश्चात् जिस तरह हिन्दू राज्यों की पराजय हुई, यह भी इतिहास की आश्चर्यजनक घटना है। 11वीं और 12वीं सदी में हिन्दू-राज्य जिस प्रकार महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी से पराजित हुए, वह अस्वाभाविक था। निस्सन्देह, हिन्दुओं ने उसके पश्चात् भी निरन्तर संघर्ष किया और अन्त तक अपनी संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने में सफलता पायी, जैसा कि इस्लाम के अधीन किसी अन्य प्रदेश में सम्भव नहीं हुआ, परन्तु तब भी तुर्की आक्रमणों के मुकाबले हिन्दू-राज्य का इस प्रकार झुक जाना आश्चर्यजनक था। हिन्दू-राजाओं में से अनेक के राज्य गजनवी और गोरी के राज्यों की तुलना में कम न थे, हिन्दू-राजाओं के सैनिकों की संख्या तुर्की आक्रमणकारियों की सेना की संख्या से कम न थी तथा उनकी शक्ति भी कम न थी, जैसा कि गोरी की अन्हिलवाड़ तथा तराइन के युद्धों की पराजय से स्पष्ट होता है। शौर्य एवं साहस की दृष्टि से भी भारतीय दुर्बल न थे परन्तु तब भी अन्त में विजय तुर्कों की ही हुई, यह सभी इतिहासकारों की जिज्ञासा का कारण रहा है। **तुर्कों के विरुद्ध राजपूत राजाओं की पराजय के क्या कारण थे ? विभिन्न इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसका उत्तर दिया है और यदि वे एकमत भी हुए हैं तो किसी ने एक कारण पर अधिक बल दिया है तो किसी ने अन्य कारण पर।**

इनके कारणों को जानने में कठिनाई भी है। तत्कालीन विद्वान हसन निजामी और मिनहाज-उस-सिराज ने इन कारणों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। फक्र-ए-मुदब्बिर ने अपने ग्रन्थ में यह संकेत अवश्य दिया कि राजपूतों की सामन्ती सैनिक-व्यवस्था तथा तुर्की घुड़सवार सेना की गतिशीलता तुर्कों की सफलता के कारण थे। परन्तु उसके पश्चात् मध्य-युग के किसी अन्य इतिहासकार ने इन कारणों को खोजने की गम्भीर चेष्टा नहीं की। इस कारण आधुनिक इतिहासकारों ने हिन्दू-राजाओं की पराजय के जो विभिन्न कारण बताये हैं वह अपनी-अपनी सहज-बुद्धि, अध्ययन और तर्क के आधार पर बताये हैं। इस कारण उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है। अंग्रेज इतिहासकारों ने तुर्कों की एकता, उनका बहादुर होना, उनका ठण्डे देश का निवासी होना, उनका माँस खाना, उनमें धार्मिक जोश का होना आदि तुर्कों की सफलता के कारण बताये हैं। एलफिन्सटन ने लिखा है कि गोरी की सेना में ऑक्सस और सिन्धु नदी के बीच के प्रदेशों के लड़ाकू सैनिक थे और उन्हें सल्जूक-तुर्कों तथा तातारों से युद्ध करने का अनुभव था। इस कारण हमें उनके विरुद्ध ऐसे व्यक्तियों (भारतीयों) से कोई आशा नहीं करनी चाहिए जो शान्तिप्रिय थे, छोटे-छोटे राज्यों में बँटे हुए थे और बिना किसी लाभ या विजय की लालसा के युद्ध करते थे। इसी प्रकार के विचार लेनपूल ने प्रकट किये, और विन्सेण्ट स्मिथ ने भी लिखा—"आक्रमणकारी अच्छे योद्धा थे क्योंकि वे उत्तर के शीत-प्रधान देश से आये थे, माँसाहारी थे तथा युद्ध-कला में दक्ष थे।" परन्तु यह विचार आधुनिक समय में स्वीकार नहीं किया जाता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय सैनिक साहस और बहादुरी में किसी भी देश के सैनिकों से कम नहीं रहे। राजपूत-शौर्य और साहस की कहानियाँ तो संसार-प्रसिद्ध हैं। ठण्डा देश अथवा माँस खाना व्यक्ति को शूरवीर बनाता है, यह वैज्ञानिक आधार पर गलत सिद्ध हो चुका है, और शरीर के आकार या नस्ल के आधार पर कोई व्यक्ति साहसी और कर्मठ सैनिक होता है, यह विचार अनुभव और विज्ञान के आधार पर स्वीकार नहीं किया जाता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जदुनाथ सरकार ने इस्लाम धर्म से प्राप्त किये हुए तुर्कों के तीन गुणों को उनकी सफलता का कारण बताया। उनके अनुसार, प्रथम, तुर्कों में जाति-भेद और ऊँच-नीच की भावना नहीं थी जिसके कारण उनमें सामाजिक समानता की भावना रही जिसने उन्हें एकजुट होकर युद्ध करने की भावना प्रदान की। द्वितीय, भाग्यवादिता और अल्लाह में विश्वास ने उन्हें मृत्यु के भय से मुक्त रखा जिससे उनकी युद्ध करने की क्षमता में भावनात्मक दृष्टि से वृद्धि हुई। तृतीय, इस्लाम द्वारा शराब या अन्य कोई नशा करना वर्जित है जिसके कारण तुर्क कोई नशा नहीं करते थे और युद्ध में अपनी सहज-बुद्धि का प्रयोग कर पाते थे। ये सभी उनकी सफलता का कारण थे। परन्तु जदुनाथ सरकार के इन विचारों को भी तर्कपूर्ण स्वीकार नहीं किया गया है। तुर्कों में पूर्णतया भाईचारा हो अथवा पूर्ण सामाजिक समानता हो, यह स्वीकृत नहीं है, तथा वे सभी कुछ अल्लाह पर छोड़ देते थे, यह भी मान्य नहीं है। तुर्क पूर्णतया नशे से मुक्त हों, यह भी सर्वमान्य नहीं है। प्रो. के. ए. निजामी ने हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था और जाति-भेद के अन्तरों को, जिनके कारण हिन्दुओं की सम्पूर्ण सैनिक-व्यवस्था दुर्बल हो गयी थी, इसका मुख्य कारण बताया। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने उस समय की गिरी हुई राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को इसका मुख्य कारण बताया। के. एम. पणिक्कर ने विदेशों से भारत का सम्पर्क न होना और समाज, धर्म, साहित्य, कला आदि की दृष्टि से भारत की पतनोन्मुख संस्कृति को इसके लिए उत्तरदायी बताया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने आन्तरिक दुर्बलताओं को इसके लिए दोषी ठहराते हुए जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणवाद के उत्थान और स्त्रियों की हीन स्थिति पर बल दिया। डॉ. के. एस. लाल ने राजनीतिक एकता के अभाव से उत्पन्न सामाजिक उच्छृंखलता और विभाजन को स्पष्ट करते हुए गुप्तचर-विभाग की कमी और रणनीति की दुर्बलता पर बल दिया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने राजनीतिक एकता का अभाव, सामाजिक विभेद, ब्राह्मणवाद का उत्थान, नैतिक पतन और भारतीयों की तुलना में तुर्कों की रणनीति, सैनिक-संगठन, साधन आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ होना इसका कारण बताये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, सैनिक और आर्थिक आदि सभी कारणों पर प्रकाश डाला है। इस आधार पर तुर्कों के विरुद्ध भारतीयों की पराजय के निम्नलिखित कारण माने जाते हैं :**

(1) भारत की राजनीतिक दुर्बलता उसकी पराजय का कारण थी। राजनीतिक दुर्बलता का कुप्रभाव सामाजिक, नैतिक और सैनिक स्थिति पर भी पड़ा था। **राजनीतिक एकता का अभाव और सम्पूर्ण अथवा उत्तरी भारत में भी एक शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य का न होना इस दुर्बलता का एक कारण था परन्तु उसका मुख्य कारण नहीं था।** सम्राट अशोक के पश्चात् भारत में कभी भी राजनीतिक एकता न हो सकी थी। शक्तिशाली गुप्त-सम्राट और सम्राट हर्ष भी उस दृष्टि से भारत को राजनीतिक एकता प्रदान नहीं कर सके थे। प्राचीन और मध्य-युग की उन परिस्थितियों में भारत जैसे विशाल उपमहाद्वीप को एक राज्य में संगठित करने के प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकते थे बल्कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी भी इस बात का प्रयत्न किया गया, वह असफल हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत की राजनीतिक एकता न तो साधारणतया सम्भव थी और न आवश्यक। निस्सन्देह, भारत उस समय विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था परन्तु उनमें से अनेक राज्य शक्ति, समृद्धि, विस्तार और सैनिक-बल में गजनवी और गोरी के राज्यों से कम नहीं थे। इस कारण **राजनीतिक दुर्बलता का मुख्य कारण एक राज्य का अभाव नहीं बल्कि भारतीय राज्यों की निरन्तर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और शत्रुता थी।** धर्म द्वारा दिग्विजय स्वीकृत थी और राजपूत-शौर्य और अभिमान युद्धों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

अनुकूल था। इस कारण विभिन्न राजपूत-राज्य आपस में निरन्तर युद्ध करते रहते थे। इनमें से अधिकांश का संघर्ष वंशानुगत था और बहुत से केवल यश की भावना से युद्ध करते थे। उन निरन्तर संघर्षों के कारण वे विदेशी शत्रु के सम्मुख अपने राज्य, धर्म और संस्कृति की रक्षा करने के लिए एकत्र न हो सके और न विदेशी आक्रमण की सफलता के प्रभाव को ठीक प्रकार समझ सके। इसके अतिरिक्त निरन्तर युद्धों में लगे रहने के कारण वे अपने सैनिक-बल को क्षति पहुँचाते थे।

कुछ इतिहासकारों का कहना है कि भारत की नौकरशाही (Bureaucracy) के नैतिक पतन ने इस पराजय में भाग लिया था। परन्तु यह मान्य नहीं है। यदि मुसलमानों के साथ किसी ने सहयोग किया तो वह भारतीय नौकरशाही न थी बल्कि मुख्यतया बौद्ध-मतावलम्बी और निम्न जातियाँ थीं जो हिन्दू-समाज की कट्टरता और सामाजिक असमानता से असन्तुष्ट थीं।

भारतीय राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के अतिरिक्त उनकी राजनीतिक दुर्बलता का एक अन्य प्रमुख कारण राजपूतों की जागीर-प्रथा (Feudalism) थी जिसने भारत को, आर. सी. दत्त के शब्दों में, "राजनीतिक पतन की अन्तिम श्रेणी पर पहुँचा दिया था।" प्रत्येक जागीरदार अपने कुल और जागीर का स्वामी था और वह उसकी रक्षा करना तथा उसके सम्मान में वृद्धि करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझता था। इससे न केवल राजपूतों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता था बल्कि ऐसे जागीरदारों की सेनाओं से मिलकर बनी हुई एक राजपूत राजा की सेना विभिन्न पृथक-पृथक टुकड़ों को जोड़कर बनायी गयी ऐसी सेना होती थी जिसमें एकता, नेतृत्व और सैन्य-संचालन का अभाव होता था। जागीरदारी-व्यवस्था राज्य की आर्थिक, प्रशासनिक और सैनिक एकता के भी विरुद्ध थी।

(2) सामाजिक दुर्बलता—भारतीयों की पराजय का एक अन्य कारण था—जाति-व्यवस्था, छुआछूत, ऊँच-नीच की भावना और स्त्रियों की हीन स्थिति इस दुर्बलता के मुख्य कारण थे। मुसलमानी आक्रमणों से पहले उसकी दुर्बलता प्रकट नहीं हुई थी परन्तु इन आक्रमणों के आरम्भ होते ही उसकी दुर्बलता नग्न हो गयी। ब्राह्मणाबाद के पुनरुत्थान ने जाति-व्यवस्था, छुआछूत और ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन दिया। राजपूतों ने इसमें सहयोग दिया। ऐसी स्थिति में धर्म और शासन दोनों ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के स्थान पर उनका समर्थन किया। अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान और जाति-परिवर्तन बहुत जटिल हो गये। समाज एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक विभिन्न वर्गों में बँट गया। निम्न जातियों की स्थिति बहुत गिर गयी और विभिन्न पददलित जातियों को नगरों से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया। छुआछूत इतनी अधिक बढ़ गयी कि जो व्यक्ति एक बार जाति और धर्म से पृथक हो गया अथवा किसी बाध्यता के कारण विधर्मियों के सम्पर्क में हो गया, उसके लिए अपने समाज और धर्म में पुनः स्थान पाना असम्भव हो गया। स्त्रियों की स्थिति भी गिर गयी। अल्पायु-विवाह होने लगे, स्त्री-शिक्षा कम हो गयी, लड़की का जन्म दुखद माना जाने लगा, उच्च जातियों में विधवा-विवाह असम्भव हो गये और सम्भवतया झूठे दम्भ, जबरदस्ती लादी गयी नैतिकता, पुनर्विवाह का न होना, आदि के कारण सती-प्रथा आरम्भ हुई। ऐसा गतिहीन और विभाजित समाज राजनीतिक और सैनिक शक्ति को संचित करने योग्य न था। हिन्दुओं का बहुसंख्यक वर्ग देश की राजनीति और भाग्य के प्रति उदासीन हो गया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है—"विदेशियों के विरुद्ध जनता का कोई विद्रोह नहीं है और न उनकी प्रगति को रोकने के लिए सम्मिलित प्रयत्न किये जाते हैं। जब आक्रमणकारी उनकी लाशों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर से गुजर रहा होता है उस समय भारतीय एक अपंग शरीर की भाँति असहाय होकर उसे देखते रहते हैं।" डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था ने राजपूत-राज्यों की सैनिक शक्ति को दुर्बल किया क्योंकि युद्ध करना एक विशेष वर्ग का कर्तव्य समझा गया। उन्होंने लिखा है—"भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था और अन्यायपूर्ण जाति-भेद है जिन्होंने उनके सम्पूर्ण सैनिक-संगठन को आरक्षित और दुर्बल बना दिया। जाति-भेद और बन्धनों ने सामाजिक और राजनीतिक एकता की भावना को पूर्णतः नष्ट कर दिया।" डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"जाति-भेदों पर आधारित समाज से शत्रुओं को गुप्त देशद्रोहियों का मिलना बहुत सरल था। यह एक ऐसा कारण था जिससे 15 वर्षों में ही उत्तर-भारत के सभी महत्वपूर्ण नगर विजेताओं के हाथों में चले गये। युद्धों में मुसलमानों को कठिन संघर्ष करना पड़ता था परन्तु उसके पश्चात् सभी कुछ सरल हो जाता था क्योंकि नगरों और गाँवों में उनका विरोध करने वाला कोई न था।"

(3) **धर्म में गिरावट** भी पराजय का एक कारण था। हिन्दू धर्म ने संसार के सम्मुख एक व्यक्ति का आदर्श नैतिक और सामाजिक जीवन प्रस्तुत किया है। वास्तव में हिन्दुओं के अनुसार धर्म की परिभाषा कर्तव्य है जो एक व्यक्ति को समाज और मानवता के लिए उपयोगी बनाता है। इसी कारण हिन्दू धर्म एक धार्मिक ग्रन्थ, एक दर्शन, एक ईश्वर, एक संगठन, एक प्रार्थना-स्थल अथवा एक देवता की मूर्ति-पूजा पर आधारित नहीं है जो प्रत्येक धर्म (religion) की आवश्यकताएँ हैं। इसी कारण हिन्दू धर्म अत्यधिक उदारता पर आधारित है। हिन्दू धर्म की यह उदारता उसकी दुर्बलता और उसके पतन का कारण बनी। संस्कृत भाषा के अध्ययन की कठिनाई और ब्राह्मणों के धार्मिक एकाधिपत्य ने जन-साधारण को धर्म से पृथक कर दिया और उसकी उदारता ने उसे विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। इससे धर्म की एकता नष्ट हो गयी, सत्य धर्म से जन-साधारण पृथक हो गया, कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा धर्म में प्रमुख बन गये, वाम-मार्ग और तान्त्रिकवाद पनप गये और धर्म में विशृंखलता आ गयी। धार्मिक एकता के अभाव में सामाजिक एकता भी सम्भव न हुई और भारत में 'भारत संकट में है' अथवा 'भारत का धर्म, समाज या संस्कृति संकट में है' जैसी भावना विदेशी आक्रमणकारी की विध्वंसकारी नीति के विरोध में भी उत्पन्न न हो सकी और भारतीय प्रत्येक प्रकार से विभाजित रहे। कर्मकाण्ड, तन्त्र-विद्या और मूर्ति-पूजा ने हिन्दुओं को धर्म की मुख्य भावना से विमुख कर दिया जिससे उनमें मानव-जीवन और मानव-कर्तव्य के प्रति आस्था न रही और वे मानव-प्रगति में पिछड़ गये।

(4) **समाज और धर्म की इस स्थिति ने भारतीयों को विदेशियों की प्रगति से अनभिज्ञ रखा। ऐसा नहीं था कि भारत का विदेशों से सम्पर्क नहीं था परन्तु भारतीय विदेशों से कुछ भी सीखने को तैयार न थे।** अलबरुनी ने लिखा है कि "भारतीय अपने धर्म और संस्कृति को श्रेष्ठ समझते हैं।" यह प्रमाणित करता है कि भारतीय कितने दम्भी और उसके परिणामस्वरूप कितने एकाकी हो गये थे। इसी कारण भारतीय विदेशी रणनीति के प्रति उदासीन रहे, विदेशी सैन्य-कौशल और शस्त्र-विद्या से अपरिचित रहे, इस्लाम की मूल भावना और उसके प्रभाव से अनभिज्ञ रहे, उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर से असावधान रहे और अपने जीवन, कौशल, योग्यता और प्रतिभा को कुण्ठित और सीमित करते चले गये।

(5) **भारत की नैतिकता, कला, साहित्य और सम्पूर्ण संस्कृति को भी इन परिस्थितियों ने प्रभावित किया।** के. एम. पणिक्कर ने इस स्थिति पर काफी प्रकाश डाला है और सांस्कृतिक पतन को भारतीयों की पराजय का एक मुख्य कारण बताया है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक गिरावट को इसका एक कारण बताया है। वाम-मार्ग का विस्तार, मन्दिरों में देवदासी-प्रथा, मठों और विहारों में अनाचार, आदि इस गिरती हुई नैतिकता के प्रमाण थे। कला के क्षेत्र में कोणार्क, खजुराहो, यहाँ तक कि पुरी, चित्तौड़, उदयपुर आदि के मन्दिरों में बनी हुई विभिन्न मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि धर्म और समाज की गिरती हुई नैतिकता ने कला को भी प्रभावित किया था। तान्त्रिक साहित्य, काव्य में गिरावट और अश्लील पुस्तकों की रचना साहित्यिक गिरावट के प्रमाण थे। इस कारण अनेक इतिहासकार इस युग को सांस्कृतिक पतन का युग मानते हैं और उसे भारत की पराजय का कारण स्वीकार करते हैं।

(6) **राजपूतों का उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के प्रति उदासीन होना** भी उनकी पराजय का एक कारण था। महमूद गजनवी के सफल आक्रमणों के पश्चात् भी राजपूत-शासकों ने न तो पंजाब को दुर्बल गजनवियों से छीनने का प्रयत्न किया और न ही उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा की ओर कोई ध्यान दिया। इस कारण मुहम्मद गोरी को सरलता से पंजाब पर अधिकार करने का अवसर मिल गया जो उसके भारत के अन्दर तक आक्रमण करने का एक ठोस आधार बन गया।

(7) **आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था।** उस समय न्यूनतम ढंग से कृषि होती थी और सिंचाई की व्यवस्था थी। विभिन्न खाद्यान्नों के उत्पादन के अतिरिक्त मगध चावल के लिए, कश्मीर अंगूर और केसर के लिए, कनारा-तट चन्दन के लिए और मलाबार-तट गर्म मसालों के लिए प्रसिद्ध था। पाण्ड्य-राज्य मोतियों के लिए, गुजरात सूती और चमड़े के वस्त्रों के लिए तथा वारंगल सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। मलाबार और गुजरात के बन्दरगाह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे और भारत का व्यापार चीन, जावा, सुमात्रा, अरब आदि पूर्व, दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिम के दूरस्थ प्रदेशों से हुआ करता था। इन सभी से भारत में धन संचित होता था। राजाओं और मन्दिरों का वैभव इसका प्रमाण थे। **कुछ इतिहासकारों ने आर्थिक असमानता पर बल देते हुए उसे भारतीयों की दुर्बलता का कारण बताया है। परन्तु उससे अधिक भारतीयों की दुर्बलता का कारण इस आर्थिक सम्पन्नता का सदुपयोग न करना था।** उन्होंने इसका उपयोग सैनिक-शक्ति को बढ़ाने के लिए नहीं किया जिससे इसकी सुरक्षा हो पाती बल्कि उन्होंने इसे राज्य-परिवारों और मन्दिरों में संग्रह कर दिया जिसके कारण वे स्थान विदेशी आक्रमणकारियों की धनलोलुपता का कारण बने।

(8) डॉ. यू. एन. घोषाल इन सभी उपर्युक्त कारणों पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि राजनीतिक एकता के अभाव और जन-साधारण की देश के भाग्य के प्रति उदासीनता को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। राजपूतों का दृढ़तापूर्वक संघर्ष करना और उनके पतन के बाद भी भारतीयों का निरन्तर मुसलमानों से संघर्ष करते रहना ऐसे प्रमाण हैं जो इन कारणों के महत्व को कम कर देते हैं। इसी प्रकार धर्म, समाज, संस्कृति और नैतिकता की गिरती हुई स्थिति को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। वास्तव में, तान्त्रिकवाद ने दुर्बलता के स्थान पर जनसाधारण की धार्मिक भावना को सन्तुष्ट करके उनमें विदेशी शत्रु से मुकाबला करने की शक्ति का निर्माण किया। देवदासियों की प्रथा भी नवीन न थी बल्कि यह हमें प्राचीन समय से प्राप्त होती है। इसी प्रकार जटिल सामाजिक व्यवस्था ने हमारी संस्कृति की रक्षा में महत्वपूर्ण भाग लिया, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कला और साहित्य की दृष्टि से इस समय में प्रगति न हुई हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। कला और मुख्यतया स्थापत्य-कला की दृष्टि से तो यह युग महान् प्रगति का था। एक नहीं बल्कि राजपूत-युग के बने हुए अनेक मन्दिर, महल और किले सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी भारत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बिखरे हुए थे। उड़ीसा का मुक्तेश्वर का मन्दिर, भुवनेश्वर का लिंगराज का मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर, खजुराहो के विभिन्न मन्दिर, गुजरात का सोमनाथ का मन्दिर, तंजौर का राजराजा का मन्दिर, होयसल का शिव-मन्दिर आदि तो कुछ उदाहरण मात्र थे अन्यथा उत्तर-भारत के विभिन्न राजपूत-शासकों और दक्षिण के पल्लव, चोल और चालुक्य शासकों के संरक्षण में बने हुए महल, मन्दिर, किले व मूर्तियाँ भारतीय कला की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ मानी गयी हैं। वाम-मार्ग से प्रभावित कामसूत्र पर आधारित खजुराहो अथवा कुछ अन्य स्थानों पर बनी हुई मूर्तियाँ इस युग की कला को निम्न कोटि का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसके विपरीत, उस समय में स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला और चित्र-कला की विभिन्न शैलियाँ भारत में प्रगति पर थीं। साहित्य में काव्य-शैली की गिरावट और कुछ शृंगार-ग्रन्थों की रचना मात्र से साहित्यिक गिरावट को पूर्ण मान लिया जाय, ऐसी बात भी नहीं है। कल्हण की 'राजतरंगिणी' और जयदेव का 'गीतगोविन्द' इसी समय में लिखे गये थे। हलायुध, हेमचन्द्र, रामानुज, गनेश, श्रीधर, यादवप्रकाश, विजननेश्वर, देवभट्ट आदि विभिन्न विद्वान इसी समय में हुए जिन्होंने दर्शन, न्याय, कानून आदि पर विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। इसी प्रकार अनैतिकता का समाज में प्रवेश न कोई नवीनता थी और न एक सम्पन्न समाज की कोई मुख्य विशेषता। इस कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पतन न तो पूर्ण था और न उसे मूल रूप से भारतीयों की पराजय का कारण स्वीकार किया जा सकता है। यह कहना एक अतिशयोक्ति है कि प्रायः 500 वर्षों तक संसार से पृथक रहने के कारण भारतीय सभ्यता गतिहीन होकर पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी और वही भारतीयों की पराजय का कारण बनी। इस प्रकार डॉ. यू. एन. घोषाल **राजनीतिक और सांस्कृतिक दुर्बलता** को स्वीकार करते हुए उसे भारतीयों की पराजय के कारणों में प्रमुख स्थान नहीं देते।

डॉ. यू. एन. घोषाल के उपर्युक्त विचार अत्यन्त तर्कपूर्ण हैं। इस कारण यह माना जा सकता है कि यद्यपि सामन्तवाद और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित भारत की राजनीतिक स्थिति किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी का मुकाबला करने की स्थिति में न थी परन्तु वही हिन्दुओं की पराजय का एकमात्र कारण नहीं थी। इसी प्रकार भारत की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी के विरोध में एकता, उत्साह और उसे राष्ट्रीय बल प्रदान करने में, निस्सन्देह, असमर्थ थी जो भारतीयों की अन्य दुर्बलताओं को ढँक देती क्योंकि यह सत्य है कि समाज, राज्य अथवा राष्ट्र की आत्मा और उसकी शक्ति का मूल आधार उसकी सभ्यता और जीवन की मूल मान्यताएँ होती हैं। परन्तु वह स्थिति असहायता की भी न थी। इस कारण यह कहना ठीक है कि भारतीय सभ्यता में दुर्बलताएँ तो थीं परन्तु वह पूर्णतया शक्तिहीन न थी। भारतीय सभ्यता की दुर्बलता इस बात से स्पष्ट होती है कि वह आक्रमणकारियों की सफलता में बाधा न डाल सकी और उसकी शक्ति इस तथ्य से प्रकट होती है कि पराजित होने के पश्चात् भी वह मुसलमानों से सदियों तक संघर्ष कर सकी और अन्त तक जीवित रही।

इस कारण भारतीयों की पराजय का एक अन्य मुख्य कारण था। भारत के भाग्य का निर्णय कुछ युद्धों की पराजय से हुआ। इस प्रकार **भारतीयों की पराजय का एक मूल कारण उनकी सैनिक-दुर्बलता थी।** सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि तुर्क-आक्रमणकारी सैनिक-संगठन, युद्ध-नीति, अस्त्र-शस्त्र और योग्य नेतृत्व की दृष्टि से भारतीयों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए। वही उनकी सफलता का मुख्य कारण था। महमूद गजनवी किसी भी युद्ध में पराजित नहीं हुआ और मुहम्मद गोरी की अन्हिलवाड़ और तराइन के प्रथम युद्ध की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराजय एक अपवाद की भाँति रही। अन्त में सफलता उसी के हाथों में रही। भारत की सैनिक-दुर्बलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। **राजपूत साहस और शौर्य में तुर्कों से कम न थे परन्तु उनका युद्ध करने का आदर्श और लक्ष्य तुर्कों से भिन्न था।** राजपूत-राजा हिन्दू-परम्परा के अनुसार कुछ नियमों का पालन करते हुए युद्ध करते थे चाहे युद्ध में विजय हो अथवा पराजय। धोखे से आक्रमण करना, पीने योग्य जल में जहर मिलाना, कृषि को नष्ट करके शत्रु को रसद प्राप्त न होने देना, पीछे से अथवा अकस्मात् आक्रमण करना आदि तरीकों का प्रयोग राजपूतों ने अपने तुर्क-शत्रुओं के विरुद्ध भी नहीं किया। इसके विपरीत, तुर्कों का लक्ष्य युद्ध में विजय प्राप्त करना था, चाहे उसके साधन कुछ भी हों। इस कारण वे युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार, जबकि तुर्क-सैनिक युद्ध में सावधान रहते थे, राजपूत-सैनिक युद्ध को शौर्य-प्रदर्शन का एक मंच मानते थे। डॉ. घोषाल ने लिखा है—"मुख्यतया राजपूत यद्यपि बहादुरी में और मृत्यु के प्रति अवहेलना की दृष्टि से अद्वितीय थे परन्तु एक आदर्श योद्धा और सैनिक-सम्मान की ऐसी भावना से प्रेरित थे जो उन्हें युद्ध में व्यावहारिक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रायः अयोग्य बना देती थी।" **तुर्कों की तुलना में राजपूतों का सैनिक-संगठन दुर्बल था।** राजपूतों का सैनिक-संगठन सामन्तवादी था और सैनिक अपने-अपने सामन्त के नेतृत्व में युद्ध करते थे। ऐसी सेना एक निश्चित योजना के अनुसार युद्ध करने में असमर्थ थी जबकि तुर्कों की सेना विभिन्न वर्गों और नस्लों के व्यक्तियों के सम्मिलन से बनी हुई होने पर भी एक सेनापति के नेतृत्व में, एक अनुशासन में और एक योजना के अनुसार युद्ध करती थी। **तुर्कों की तुलना में राजपूतों के युद्ध के साधन दुर्बल थे।** राजपूत-सेना का एक मुख्य अंग हाथी थे जो सेना में सबसे आगे रहते थे। अनेक अवसरों पर हाथी राजा को युद्ध-स्थल से लेकर भाग जाते थे जिससे राजा को भागता हुआ जानकर सेना भी भाग जाती थी। इसके अतिरिक्त तुर्कों के तीरों से घायल होकर हाथी अक्सर पीछे भागते थे और अपनी ही सेना की व्यवस्था को नष्ट कर देते थे। राजपूत-सेना में घुड़सवारों की संख्या कभी अधिक न हो सकी यद्यपि भारत के राजा विदेशों से अच्छी नस्ल के घोड़े मँगाने पर काफी धन व्यय करते थे। राजपूतों का मुख्य शस्त्र तलवार थी जो निकट के युद्ध में ही लाभदायक थी। इसकी तुलना में तुर्कों का मुख्य साधन घुड़सवार-सेना और उनके तीर थे। छोटे-छोटे धनुषों का प्रयोग करते हुए तुर्की घुड़सवार तीर चलाने की कला में दक्ष थे और दूर से शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे। राजपूत भी धनुष-बाण का प्रयोग करते थे परन्तु एक स्थान पर खड़े होकर, जिसके कारण उनकी तीरन्दाजी तुर्कों की तुलना में कम प्रभावशाली थी। राजपूतों के पास किलों को तोड़ने के लिए मंजनिक, अर्रादा जैसे आयुध नहीं थे जिनका प्रयोग तुर्क सफलता से कर रहे थे। इसी कारण जबकि मुहम्मद गोरी ने भटिण्डा के किले को सरलता से जीत लिया, पृथ्वीराज चौहान को उसे पुनः प्राप्त करने में तेरह माह लगे। **तुर्कों की घुड़सवार-सेना उनकी श्रेष्ठता का मुख्य साधन थी।** उससे उनकी सेना तीव्र गतिगामिनी थी। डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है—"उस युग में गतिशीलता तुर्की सैनिक-संगठन का मूल आधार थी। वह युग 'घोड़ों का युग' था और अद्वितीय गतिशील तथा शस्त्र-सुसज्जित घुड़सवार-सेना उस युग की एक महान् आवश्यकता थी।" डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि उस युग में तुर्की-घुड़सवार एशिया में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। वह लिखते हैं—"सीमा-पार के इन आक्रमणकारियों के शस्त्रों और घोड़ों ने उनको भारतीयों पर विवादरहित सैनिक-श्रेष्ठता प्रदान की। उनकी रसद भी तेज चलने वाले ऊँटों द्वारा ले जायी जाती थी जिनको स्वयं दाने-चारे की आवश्यकता न थी बल्कि जिनका खाना मार्ग में पड़ने वाले पेड़ों की जड़ें एवं पत्तियाँ थीं जबकि हिन्दुओं की रसद-वाहन बंजारों की बैलगाड़ियाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत धीमी गति से चलने वाली और बोझिल होती थीं।" **तुर्कों की तुलना में राजपूतों की युद्ध-नीति दुर्बल थी।** राजपूत अपनी सेना को तीन भागों में बाँटते थे—केन्द्रीय भाग, दाहिना भाग और बायाँ भाग, जबकि तुर्कों की सेना इन तीन भागों के अतिरिक्त दो अन्य उपयोगी भागों में भी बँटी होती थी। उनमें से एक उनका अग्रगामी भाग था जो आगे बढ़कर शत्रु-सेना की शक्ति को तोलता था, उसकी रसद को रोकता था और उसकी संख्या, उद्देश्य, स्थिति आदि का पता लगाता था। दूसरा भाग उनकी सुरक्षित सेना थी जो केवल कठिनाई के अवसर पर अथवा जिस समय शत्रु थक जाता था उस समय उस पर आक्रमण करती थी और अधिकांशतया युद्ध में सफलता के लिए उत्तरदायी होती थी। तुर्कों के युद्ध करने का एक तरीका यह भी था कि वे सहसा आक्रमण करते थे, कभी-कभी पीछे हटने अथवा भागने का प्रदर्शन करते थे और फिर अचानक आक्रमण करते थे। यह **तुर्कों के 'सहसा आक्रमण' (Shock tactics) के तरीके थे जो उनकी सफलता का एक कारण थे। गजनवी और गोरी ने इनका बड़े पैमाने पर प्रयोग किया।** आक्रमण करना, लूटमार करना, वापस चले जाना और एक या दो वर्ष के पश्चात् पुनः आक्रमण करना भी उनकी रणनीति थी। **राजपूतों की रणनीति की एक मुख्य दुर्बलता उनकी रक्षात्मक नीति थी।** हिन्दूशाही-राज्य के राजा जयपाल के अतिरिक्त किसी भी अन्य हिन्दू-राजा ने तुर्कों के विरुद्ध आक्रमणकारी नीति का पालन नहीं किया; यहाँ तक कि उन्होंने अपनी विजय से पूर्ण लाभ उठाने तक का प्रयत्न नहीं किया जैसा कि गुजरात के शासक मूलराज की अन्हिलवाड़ और पृथ्वीराज तृतीय की तराइन के प्रथम युद्ध की विजयें सिद्ध करती हैं। **राजपूतों में योग्य नेतृत्व का अभाव रहा।** निस्सन्देह, पृथ्वीराज तृतीय एक योग्य सेनापति और अपने समय का श्रेष्ठ योद्धा था परन्तु वह भी गोरी की तुलना में न के बराबर था। महमूद गजनवी का तो किसी यशस्वी सेनापति से मुकाबला ही नहीं हुआ। महमूद अपने युग का महानतम सेनापति था और गोरी ने अपने अनुभव और कर्मठता से अपनी कमी की पूर्ति कर ली थी। परन्तु भारत ने उस समय में किसी भी जन्मजात, दूरदर्शी तथा अनुभवी सेनापति को उत्पन्न नहीं किया। मध्य-युग में युद्धों का निर्णय बहुत बड़ी मात्रा में सेनापति के व्यक्तित्व और उसकी योग्यता पर निर्भर करता था। भारत इस पक्ष में दुर्बल रहा। डॉ. यू. एन. घोषाल ने लिखा है—"सत्यता यह है कि भारतीय अपनी परम्परागत युद्ध-नीति को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में (जैसा कि 17वीं सदी में शिवाजी ने किया) अपने सामाजिक और भौगोलिक एकाकीपन के कारण असफल नहीं हुए थे बल्कि इस कारण असफल हुए थे कि उनमें पर्याप्त प्रतिभा-सम्पन्न नेताओं की कमी थी।" **राजपूतों में गुप्तचर-विभाग का पूर्ण अभाव था** जिसके कारण उन्हें अपने शत्रु की सेना और उसकी गतिविधियों की सूचना ठीक प्रकार और ठीक समय से प्राप्त नहीं होती थी और वे समय के रहते हुए सावधान नहीं हो पाते थे।

(9) **राजपूतों की पराजय का एक मुख्य कारण भावनात्मक था।** राजपूतों ने युद्ध किये परन्तु मुख्यतया अपने राजा और राज्य की रक्षा के लिए। धर्म की रक्षा एक सहायक कारण रहा होगा परन्तु हिन्दू धर्म की उदारता और उसके आन्तरिक अन्तरों को देखते हुए वह कभी प्रबल न बन सका था। सम्मान की रक्षा भी एक कारण रहा होगा परन्तु युद्ध में वीरगति पाने और जौहर करने से उसकी रक्षा सम्भव हो जाती थी। अपनी सभ्यता, संस्कृति और समाज की रक्षा का प्रश्न मुख्य नहीं बना होगा क्योंकि न तो मुसलमानों से भारत में स्थायी रूप से बस जाने की आशा की गयी थी और न इस्लाम के भारत में प्रवेश करने के परिणामों की गम्भीरता को हिन्दू समझ सके थे। इस्लाम की धार्मिक कट्टरता धार्मिक दृष्टि से उदार हिन्दुओं के लिए पूर्णतया नवीन थी और उसका प्रभाव उन्हें बाद में पता लगा। इस कारण **हिन्दुओं का युद्ध का लक्ष्य सीमित रहा। इसी कारण उनकी युद्ध की प्रेरणादायक शक्ति भी सीमित रही।** इसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपरीत, नवीन इस्लाम धर्म का उत्साह और उसके सम्मान को बढ़ाने की लालसा मुसलमानों में प्रबल थी और वह भी इस्लाम धर्म में नव-परिवर्तित तुर्कों में। इस्लाम और उसकी प्रतिष्ठा के प्रसार की भावना ने तुर्कों को युद्धों में वह प्रेरणा प्रदान की जिसका हिन्दुओं में अभाव था। यद्यपि इसके विपरीत डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है—"तुर्कों की सफलता का कारण मुसलमानों के धार्मिक उत्साह में खोजना अनैतिहासिक होगा।" वह मुसलमानों के धार्मिक उत्साह को एक गौण और शीघ्र समाप्त हो जाने वाला कारण मानते हैं। परन्तु सभी इतिहासकार उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। निस्सन्देह, धन की लालसा, लूटमार की इच्छा और राज्य-विस्तार की आकांक्षा भी तुर्कों को प्रेरणा प्रदान करने वाले थे। परन्तु, इस्लाम धर्म उनकी एकता और प्रेरणा का मुख्य आधार था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में वह तुर्कों की सफलता का एक मुख्य कारण था, यह मानना ठीक होगा। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है—"केवल शारीरिक शक्ति और सैनिक-हथियार ही सेना के लिए पर्याप्त नहीं हैं, एक प्रेरणादायिनी विचारधारा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि सैनिक-शिक्षा और साधन।" मध्य-युग शौर्य, प्रेम-प्रसंग और धर्म (chivalry, romance and religion) का युग था। आधुनिक युग में इनका महत्व नहीं परन्तु आधुनिक युग के विचारों को आधार मानकर मध्य-युग की मान्यताओं के प्रभाव को समझना कठिन है। मध्य-युग में आस्था और धर्म का बहुत महत्व था और उस युग के व्यक्तियों पर उनका गम्भीर प्रभाव न हो, यह नहीं माना जा सकता। मध्य-युग में धर्म का प्रभाव न तो अस्वाभाविक था, न तिरस्कृत और न वर्तमान युग की भाँति हानिकारक। मध्य-युग में व्यक्ति धर्म से अधिक प्रभावित थे यह मानना उनके दोष निकालना नहीं है बल्कि, इसके विपरीत, धर्म के प्रभाव की गम्भीरता को कम करना उस युग और उस युग के व्यक्तियों के साथ अन्याय करना है, क्योंकि ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि उस युग के व्यक्ति अपने युग के साथ न्याय नहीं कर सके थे। यदि मुसलमानों में धार्मिक भावना थी तो ईसाइयों में भी थी और हिन्दुओं में भी। यह बात पृथक है कि अपने-अपने धर्म की विचारधारा और अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण किस में कम थी और किस में अधिक, अथवा किसने उसका उपयोग किस प्रकार और कितनी मात्रा में किया ? उस समय तुर्कों की प्रेरणा-शक्ति का आधार इस्लाम रहा होगा, यह मानने में हमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वह उनकी भारत में ही नहीं बल्कि अन्य स्थानों पर भी सफलता का कारण बनी थी। डॉ. यू. एन. घोषाल ने लिखा है—"जैसा कि सत्य ही बताया गया है, तुर्कों की सैनिक-श्रेष्ठता का एक अन्य और अधिक शक्तिशाली कारण उनका अदम्य उत्साह था और यह ध्यान रखना चाहिए कि उस भावना का आधार जितना भारतीय मन्दिरों और महलों में संचित अतुल सम्पत्ति को लूटने की आशा थी उतना ही अपने नवीन स्वीकृत धर्म के प्रति जोश भी था। 300 वर्षों से भी अधिक समय के कठोर संघर्ष के पश्चात् भारत के अधिकांश भाग को जीत लेने में तुर्कों की सफलता का यह सबसे बड़ा कारण था। यह बात 11वीं सदी के सल्जुक-तुर्कों और 15वीं सदी के उन ऑटोमान-तुर्कों के समान उदाहरण से सिद्ध हो जाती है जिन्होंने उस बाइजन्टाइन-साम्राज्य को बर्बाद करने और अन्ततोगत्वा समाप्त करने में सफलता पायी जो भारत में पायी जाने वाली राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की विशेष दुर्बलताओं से मुक्त था।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से 11वीं और 12वीं सदी में मुसलमानों के विरुद्ध भारतीय राजाओं की पराजय हुई। भारत की आन्तरिक दुर्बलताओं ने उस पराजय की पृष्ठभूमि तैयार की और मुसलमानों की सैनिक-शक्ति और धार्मिक उत्साह ने उन्हें विजयी बनाया जिसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण भारतीय इतिहास में एक नवीन अध्याय और भारतीय राजनीति में एक नवीन तत्व सम्मिलित हुआ।

[4]

उत्तरी भारत में दिल्ली सल्तनत की नींव, कारण और परिस्थितियाँ : तुर्कों की सफलता के परिणाम, भारतीय समाज पर प्रभाव

तुर्कों की सफलता का मुख्य परिणाम भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना था। मुहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् उसके गुलाम और सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना की। गोर अथवा गजनी पर उसका आधिपत्य असम्भव था। इस कारण भारत में एक पृथक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना उसके लिए एकमात्र मार्ग था। गजनी और गोरी के समय का इतिहास वास्तव में मध्य-एशिया के इतिहास का एक अंश है परन्तु ऐबक के समय का इतिहास भारत का इतिहास है।

वस्तुतः दिल्ली सल्तनत की नींव का आधार महमूद गजनवी के सफल आक्रमणों ने ही तैयार कर दिया था। उसके सैनिक-अभियानों की सफलता ने भारतीयों के तुर्कों के विरुद्ध युद्ध करने के मनोबल को दुर्बल कर दिया था और उसके द्वारा मुल्तान और पंजाब पर अधिकार किये जाने से मुहम्मद गोरी के भारत पर आक्रमण किये जाने के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। मुहम्मद गोरी ने गजनवी-वंश के अन्तिम शासक मलिक खुशरव को समाप्त करके पंजाब को जीता और भारत में अन्दर प्रवेश करने के लिए उसे अपने आक्रमणों को आधार बनाया। मुहम्मद गोरी द्वारा उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग पर अधिकार किये जाने से दिल्ली-सल्तनत के निर्माण का दूसरा चरण आरम्भ हुआ। मुहम्मद गोरी की मृत्यु और उसके उत्तराधिकारी भतीजे का दुर्बल होना दिल्ली-सल्तनत की स्थापना का अन्तिम चरण सिद्ध हुआ। गोरी की मृत्यु के पश्चात् वस्तुतः उसके सरदारों में से गजनी में ताजुद्दीन यिल्दिज, नासिरुद्दीन कुबाजा ने उच्छ, मुल्तान और सिन्ध में तथा कुतुबुद्दीन ऐबक ने लाहौर और दिल्ली में अपने-अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। ऐबक ने दिल्ली-सल्तनत के निर्माण-कार्य को आरम्भ किया। उसने दिल्ली-सल्तनत को मध्य-एशिया की राजनीति से पृथक किया, उसे गजनी के शासकों के कानूनी आधिपत्य से मुक्त किया और उसे एक स्वतन्त्र राज्य बनाया। उसके बाद इल्तुतमिश ने दिल्ली-सल्तनत के मुख्य शत्रु ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा को समाप्त किया, सुल्तान का पद ग्रहण किया, खलीफा से उस पद की स्वीकृति प्राप्त की और इस प्रकार, कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को पूर्ण किया और दिल्ली-सल्तनत को कानूनी तथा व्यावहारिक रूप से एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया।

तुर्कों की सफलता के परिणामस्वरूप उत्तर-भारत में तुर्की-राज्य (दिल्ली-सल्तनत) की स्थापना हो गयी। भारत में तुर्की-राज्य की स्थापना के पश्चात् केन्द्रीय राजसत्ता को पुनः दृढ़ करने और सामन्तवादी व्यवस्था को नष्ट करने के प्रयत्न आरम्भ हुए। इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन खलजी और गियासुद्दीन तुगलक जैसे शासक इस कार्य में पूर्णतया सफल भी रहे। इन शासकों ने प्रायः सम्पूर्ण उत्तर-भारत में समान शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की। तुर्कों का शासन मूलतया सैनिक-शक्ति पर आधारित था। सुल्तान इल्तुतमिश ने अपने विस्तृत राज्य की सुरक्षा के लिए उसे 'इक्ताओं' (सूबों) में विभाजित किया और वहाँ इक्तादारों की नियुक्ति की। इन इक्तादारों के साथ बड़ी सेनाएँ रहती थीं और अपने 'इक्ता' के सम्बन्ध में इक्तादार के प्रायः वही अधिकार थे जो सुल्तान के सम्पूर्ण राज्य के साथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। परन्तु इस व्यवस्था की मुख्य विशेषता यह थी कि, प्रथम, इक्तादार के अधिकार पैतृक नहीं थे, और द्वितीय, एक इक्तादार अपने 'इक्ता' का स्वामी नहीं था बल्कि मूलतया लगान वसूल करने वाला तथा शान्ति स्थापित करने वाला प्रधान अधिकारी मात्र था और उसका स्थानान्तरण किया जा सकता था। इसी कारण इस व्यवस्था ने राजपूती सामन्त-व्यवस्था को नष्ट करने में सहयोग दिया और शासन तथा अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रीयकरण भी सम्भव हुआ, जो परिवर्तन नव-स्थापित तुर्की राज्य (दिल्ली-सल्तनत) को दृढ़ करने में सहायक सिद्ध हुए।

सर जदुनाथ सरकार के अनुसार उस समय से भारत का एकाकीपन समाप्त हो गया। राजपूत-युग में भारत का विदेशों से सम्पर्क समाप्त हो गया था। तुर्कों के भारत में प्रवेश ने भारत के सम्पर्क एशिया और अफ्रीका से पुनः स्थापित कर दिये। मुख्यतया ये सम्बन्ध सांस्कृतिक और व्यापारिक रहे। बहुत बड़ी संख्या में इस्लामी प्रदेशों से विद्वान्, सन्त मुख्यतया सूफी सन्त, व्यापारी, कलाकार और कारीगर भारत आये जिन्होंने भारतीय समाज, धार्मिक विचार, वेशभूषा, साहित्य, कला मुख्यतया स्थापत्य-कला आदि के विकास में भाग लिया तथा विभिन्न परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हुए। इसी प्रकार भारत के उद्योगों और व्यापार पर भी इन सम्बन्धों का प्रभाव पड़ा और दोनों ही क्षेत्रों में आशातीत वृद्धि हुई।

प्रोफेसर हबीब के अनुसार तुर्कों द्वारा उत्तर-पश्चिम की विजय ने क्रमशः 'शहरी क्रान्ति' और 'ग्रामीण क्रान्ति' को जन्म दिया। तुर्क-शासकों ने अपने नगरों के द्वार सभी वर्ग, जाति, धर्म और नस्ल के व्यक्तियों के लिए खोल दिये। उन नगरों में मजदूर, शासक, शिक्षित वर्ग, व्यापारी, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि सभी व्यक्ति निवास करने लगे। विदेशों से भी बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न व्यवसायों के कुशल कारीगर इस समय भारत में आये। इन सभी से नगरों या शहरों में उद्योगों, व्यवसायों और व्यापार की प्रगति हुई तथा उनकी जनसंख्या में वृद्धि हुई। तुर्क विभिन्न व्यवसायों की प्रगति में रुचि रखते थे उनका सरोकार इस बात से नहीं था कि किस व्यवसाय को किस जाति का व्यक्ति करेगा। इससे भारत की जाति-व्यवस्था पर आधारित व्यवसायों को अपनाये जाने की व्यवस्था को चोट पहुँची। व्यवसाय का आधार जाति नहीं रहा अपितु कारीगर की कुशलता हो गया। इससे विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों की उन्नति में सहायता मिली, जाति-परिवर्तन सम्भव हुए तथा विभिन्न व्यवसायों द्वारा आर्थिक और जातिगत उन्नति सम्भव हुई। इससे शहरीकरण अथवा 'शहरी क्रान्ति' सम्भव हुई। तुर्कों द्वारा गाँवों के शासन में अधिकांशतया हस्तक्षेप नहीं किया गया परन्तु अलाउद्दीन जैसे शासक ने लगान वसूल करने वाले पैतृक अधिकारियों अथवा बिचौलियों को हटाकर 'ग्रामीण क्रान्ति' को भी जन्म दिया। प्रो. इरफान हबीब प्रो. हबीबुल्ला के इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार शहरीकरण किसी वर्ग विशेष की मुक्ति का परिणाम नहीं था अपितु बड़ी संख्या में मुसलमान कारीगरों का विदेशों से भारत आने का परिणाम था और 'ग्रामीण क्रान्ति' जैसा कोई परिवर्तन इस युग में नहीं हुआ।

बाह्य देशों से सम्बन्ध, प्रशासकीय एकता, नगरों के विकास, मुद्रा-व्यवस्था आदि ने व्यापार और उद्योगों की उन्नति में भाग लिया जिससे भारत के आर्थिक विकास में सहायता मिली। प्रो. इरफान हबीब के अनुसार कुशल मुसलमान कारीगरों के विदेशों से भारत आने से विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई। मुसलमानों की दास-प्रथा ने भी, जिसके अन्तर्गत दासों को विभिन्न व्यवसायों में लगाकर योग्य बनाया जाता था, उत्पादन में वृद्धि की और उद्योगों को बढ़ावा दिया। इससे न केवल उद्योगों की उन्नति हुई बल्कि व्यापार की भी उन्नति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई और अनेक नवीन शहरों का निर्माण हुआ। इस परिवर्तित व्यवस्था को उन्होंने 'मध्यकालीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था' का नाम दिया है।

तुर्क-शासनकाल में फारसी भाषा प्रशासन की भाषा स्वीकार की गयी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही उसे सीखा जिससे दोनों की संस्कृतियों के समन्वय में सहयोग प्राप्त हुआ। इस काल की एक मुख्य विशेषता मदरसों की स्थापना भी थी। इससे पहले मस्जिदों में शिक्षा की व्यवस्था थी। परन्तु सुल्तान इल्तुतमिश ने अपने समय में दो मदरसे खोले। उसके पश्चात् सल्तनत-युग में विभिन्न मदरसे खुले जो शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बने।

तुर्की-शासन ने हिन्दुओं की जाति-प्रथा पर भी गम्भीर आक्रमण किया। निस्सन्देह, जाति-प्रथा हिन्दू-समाज से नष्ट नहीं हुई परन्तु तब भी जाति-विभेद और छुआछूत की भावना की अवहेलना अवश्य हुई तथा पददलित जातियों को शासन से सुरक्षा प्राप्त हुई।

तुर्कों ने भारत के सैनिक-संगठन और युद्ध के तरीकों में भी परिवर्तन किया तथा उन्हें बेहतर बनाया। सैनिक-संगठन में सामन्तवादी प्रभाव नष्ट हुआ, केन्द्रीय सेनाओं का निर्माण हुआ, घुड़सवार-सेना के संगठन पर बल दिया गया, शस्त्रों में सुधार हुआ, सेना में सभी जाति और नस्ल के व्यक्ति भर्ती किये गये और सेना की गतिशीलता बढ़ी। इन सभी परिवर्तनों से भारतीय सेना की शक्ति में वृद्धि हुई और वह एशिया की श्रेष्ठ सेना के समकक्ष हो गयी। अलाउद्दीन खलजी, इसी कारण, मंगोलों के भीषण आक्रमणों को विफल करने में सफल हुआ।

तुर्कों के भारत-प्रवेश ने इस्लाम और हिन्दू धर्म को निकट आने का अवसर प्रदान किया जिससे भारत में उस सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ जिसके निर्माण में दोनों धर्मों के व्यक्तियों ने भाग लिया। निस्सन्देह, तुर्कों और भारतीयों में परस्पर संघर्ष भी होते रहे परन्तु अन्ततः दोनों के समन्वय के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ और एक नवीन भारतीय समाज का निर्माण हुआ जो पहले के समाज से भिन्न था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महमूद गजनवी के आक्रमणों के अवसर पर भारत की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. महमूद गजनवी के आक्रमणों के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
3. मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के कारणों और उनके परिणामों को स्पष्ट कीजिए।
4. मुहम्मद गोरी के आक्रमण के अवसर पर भारत की क्या स्थिति थी ?
5. भारत में तुर्कों की सफलता के परिणामों पर विचार कीजिए।
6. 11वीं और 12वीं सदी में राजपूतों के विरुद्ध तुर्कों की सफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. महमूद गजनवी के भारत पर आक्रमण के दो प्रमुख कारण लिखिए।
2. मुहम्मद गोरी के भारत पर आक्रमण के कारण लिखिए।
3. 1191 ई. में होने वाले तराइन के प्रथम युद्ध का वर्णन कीजिए।
4. तुर्कों के विरुद्ध राजपूतों की पराजय के चार कारण लिखिए।
5. तुर्कों की भारत में सफलता के परिणाम बताइए।
6. 1194 ई. के गोरी व जयचन्द के मध्य लड़े गये युद्ध का वर्णन कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
8. महमूद गजनवी के चरित्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
9. महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की सामाजिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
10. 1192 ई. के तराइन की दूसरी लड़ाई का क्या परिणाम हुआ ? प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. महमूद गजनवी किस वंश से सम्बन्धित था ?
   (अ) यमीनी वंश से (ब) शंसबनी वंश से
   (स) दोनों से (द) इनमें से कोई नहीं।
2. गजनवी वंश और हिन्दूशाही राज्य के प्रथम शासक क्रमशः थे—
   (अ) अलप्तगीन और जयपाल (ब) बलक्तगीन और रामपाल
   (स) सुबुक्तगीन और आनन्दपाल (द) इनमें से कोई नहीं।
3. पराजय के पश्चात् जयपाल के आत्मदाह के बाद हिन्दूशाही राज्य की गद्दी पर आसीन हुआ था—
   (अ) त्रिलोचनपाल (ब) भीमपाल
   (स) आनन्दपाल (द) इनमें से कोई नहीं।
4. महमूद गजनवी ने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर पर आक्रमण किया था—
   (अ) 1020 ई. में (ब) 1021 ई. में
   (स) 1023 ई. में (द) 1024 ई. में।
5. फिरदौसी द्वारा लिखित पुस्तक का नाम था—
   (अ) शाहनामा (ब) बादशाहनामा
   (स) पादशाहनामा (द) इनमें से कोई नहीं।
6. गोर प्रदेश की ख्याति का मूल कारण था—
   (अ) अच्छे घोड़े (ब) इस्पात
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
7. गजनी विजय के बाद अलाउद्दीन हुसैन को उपाधि दी गयी थी—
   (अ) जहाँसोज (ब) शहंशाह आजम
   (स) यामीन-उद-दौला (द) इनमें से कोई नहीं।
8. 'राय पिथौरा' के नाम से किस शासक को जाना जाता था ?
   (अ) परमाल देव को (ब) पृथ्वीराज तृतीय को
   (स) जयचन्द को (द) सिद्धराज को।
9. अन्तिम बार गोरी भारत पर आक्रमण हेतु कब आया था—
   (अ) 1202 ई. में (ब) 1203 ई. में
   (स) 1204 ई. में (द) 1205 ई. में।
10. मृत्योपरान्त मुहम्मद गोरी को दफनाया गया था—
   (अ) गोर प्रदेश में (ब) गजनी में
   (स) भारत में (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. 11वीं व 12वीं सदी में भारत की आर्थिक स्थिति थी—
(अ) सम्पन्न (ब) विपन्न
(स) पिछड़ी हुई (द) इनमें से कोई नहीं।

12. हिन्दुओं को धर्म की प्रमुख भावना से विमुख कर दिया था—
(अ) कर्मकाण्ड ने (ब) तन्त्र-विद्या ने
(स) मूर्ति-पूजा ने (द) उपर्युक्त सभी ने।

13. तुर्कों की सफलता का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ—
(अ) तुर्की राज्य की स्थापना (ब) तुर्कों के सम्मान में वृद्धि
(स) निरन्तर युद्धों का अन्त (द) इनमें से कोई नहीं।

14. तुर्कों द्वारा उत्तरी भारत की विजय ने जन्म दिया था—
(अ) शहरी क्रान्ति को (ब) ग्रामीण क्रान्ति को
(स) दोनों को (द) इनमें से कोई नहीं।

15. तुर्की शासन काल में किस भाषा को राजभाषा का दर्जा दिया गया था ?
(अ) अरबी भाषा को (ब) फारसी भाषा को
(स) तुर्की भाषा को (द) हिन्दी भाषा को।

[उत्तर—1. (अ), 2. (अ), 3. (स), 4. (द), 5. (अ), 6. (स), 7. (अ), 8. (ब), 9. (द), 10. (ब), 11. (अ), 12. (द), 13. (अ), 14. (स), 15. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4

कुतुबुद्दीन ऐबक और आरामशाह

1206 ई. से 1290 ई. के मध्य में दिल्ली-सल्तनत के सुल्तान गुलाम-वंश के सुल्तानों के नाम से विख्यात हुए यद्यपि वे एक वंश के न थे। वे सभी सुल्तान तुर्क थे तथा उनके वंश पृथक-पृथक थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 'कुतबी', इल्तुतमिश ने 'शम्सी' और बलबन ने 'बलबनी' राजवंश की स्थापना की थी और इस प्रकार दिल्ली में इस समय में एक ने नहीं बल्कि तीन राजवंशों ने राज्य किया था। इसके अतिरिक्त, इनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र माता-पिता की सन्तान था। इस कारण इन सुल्तानों को गुलाम-वंश के सुल्तान कहने के स्थान पर प्रारम्भिक तुर्क-सुल्तान अथवा दिल्ली के ममलूक-सुल्तान कहना अधिक उपयुक्त है।

[1]

कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-1210 ई.)

दिल्ली का पहला तुर्क शासक कुतुबुद्दीन ऐबक था और उसी को भारत में तुर्की-राज्य का संस्थापक भी माना जाता है। मुहम्मद गोरी ने भारतीय प्रदेशों को विजय करके उन्हें अपने राज्य का अंग अवश्य बनाया किन्तु वह गोर का सुल्तान था न कि दिल्ली का। परन्तु कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली का शासक था। उसने न केवल अपने स्वामी को उसकी भारत-विजय में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की अपितु अधिकांशतया वही उन विजयों और उनके संगठन के लिए उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त **ऐबक की मुख्य सफलता भारत के तुर्की राज्य को गोर और गजनी के सुल्तानों के स्वामित्व से मुक्त करके उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने का प्रयत्न करना तथा गोरी की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अस्थिर परिस्थितियों में उसे स्थायित्व प्रदान करना था। इसी कारण उसे भारत में तुर्की-राज्य का संस्थापक माना गया है।**

प्रारम्भिक जीवन

कुतुबुद्दीन ऐबक तुर्क था और उसके माता-पिता तुर्किस्तान के निवासी थे। बचपन में निशापुर के काजी फखरुद्दीन अब्दुल अजीज कूफी ने उसे एक दास के रूप में खरीदा। तुर्कों में अपने गुलामों को योग्य बनाने की परम्परा थी। अनेक व्यक्ति अपने गुलामों को साहित्य, कला और सैनिक शिक्षा प्रदान करते थे। अनेक गुलामों को राज्य की उत्तम सेवा करने के योग्य बनाया जाता था और अनेक गुलाम सुल्तानों की सेवा करने के योग्य बनाये जाते थे जिससे उनका अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त हो सके। इस कारण उस समय के तुर्क-सुल्तानों के अनेक गुलाम बहुत योग्य होते थे और वे राज्य-सेवा में श्रेष्ठतम पद प्राप्त कर लेते थे। इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1197 ई. में हुए अन्हिलवाड़ के युद्ध के पश्चात् खरीदा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वही इल्तुतमिश ऐबक का दामाद और दिल्ली का सुल्तान बना। इसी प्रकार बहाउद्दीन बलबन को इल्तुतमिश ने 1232 ई. में खरीदा और उसी बलबन ने इल्तुतमिश की एक पुत्री से विवाह किया, सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद से अपनी पुत्री का विवाह किया और अन्त में स्वयं दिल्ली का सुल्तान बना। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी के योग्यतम सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक, ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा उसके गुलाम थे। निशापुर के काजी ने ऐबक को सभी प्रकार की शिक्षा प्रदान की। काजी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों ने ऐबक को बेच दिया और अन्त में मुहम्मद गोरी ने उसे खरीदा। अपनी योग्यता के कारण ऐबक अपने स्वामी की दृष्टि में उठ गया। ऐबक ने धीरे-धीरे अपनी योग्यता के कारण अमीर-ए-अखूर (अश्वशाला का अध्यक्ष) के पद को प्राप्त कर लिया जो उस समय बहुत सम्मानित पद माना जाता था। तराइन के द्वितीय युद्ध के पश्चात् 1192 ई. में गोरी ने ऐबक को अपने मुख्य भारतीय प्रदेशों का सूबेदार नियुक्त किया। इस प्रकार मुहम्मद गोरी की मृत्यु के अवसर पर कुतुबुद्दीन ऐबक गोरी के दिल्ली, लाहौर और उसके अधीन भारतीय प्रदेशों का सूबेदार था।

गोरी का सहायक—मुहम्मद गोरी के समय में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये। तराइन के द्वितीय युद्ध (1192 ई.) के अवसर पर वह गोरी के साथ था। गोरी के भारत से वापस चले जाने के पश्चात् उसने अजमेर, मेरठ आदि स्थानों के विद्रोहों को दबाया और दिल्ली को अपने अधिकार में किया। 1194 ई. में जब गोरी ने कन्नौज के शासक जयचन्द से चन्दवार नामक स्थान पर युद्ध किया तब भी ऐबक उसके साथ था। उसके पश्चात् उसने अलीगढ़ को जीता, अजमेर के विद्रोह को दबाया, गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूटा, राजस्थान के कुछ किलों को जीता और बुन्देलखण्ड के राजा परमार्दीदेव को परास्त करके कालिंजर, महोबा और खजुराहो पर अधिकार किया। इस प्रकार ऐबक ने अपने स्वामी गोरी को न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों को जीतने में सहायता दी बल्कि समय-समय पर उसकी अनुपस्थिति में विजित प्रदेशों को तुर्कों के आधिपत्य में रखा और राज्य-विस्तार भी किया।

शासक ऐबक—1206 ई. में मुहम्मद गोरी का वध कर दिया गया। उसके कोई पुत्र न था और क्योंकि उसकी मृत्यु अचानक हुई थी, इस कारण उसे अपने साम्राज्य की एकता को बनाये रखने के लिए अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त करने अथवा कोई अन्य व्यवस्था करने का अवसर नहीं मिल सका था। मुहम्मद गोरी की मृत्यु की सूचना पाकर लाहौर के नागरिकों ने कुतुबुद्दीन ऐबक को लाहौर आकर शासन-सत्ता अपने हाथों में लेने के लिए आमन्त्रित किया। **ऐबक ने लाहौर पहुँचकर शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली यद्यपि उसने अपना राज्याभिषेक गोरी की मृत्यु के तीन माह पश्चात् जून 1206 ई. में कराया।** सिंहासन पर बैठने के अवसर पर उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की बल्कि केवल 'मलिक' और 'सिपहसालार' की पदवियों से ही सन्तुष्ट रहा जिन्हें उसने अपने स्वामी गोरी से प्राप्त किया था। इसी कारण ऐबक ने न अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और न अपने नाम के सिक्के चलाये। **बाद में गोरी के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन ने उसे सुल्तान स्वीकार किया** लेकिन उस समय तक ऐबक अपनी शक्ति को स्वयं के प्रयत्नों से दृढ़ कर चुका था। इसी प्रकार ऐबक को नियमपूर्वक अपनी दासता से मुक्ति भी 1208 ई. में प्राप्त हुई क्योंकि गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने किसी भी दास को दासता से मुक्त नहीं किया था।

कठिनाइयाँ

सिंहासन पर बैठने के अवसर पर ऐबक अनेक कठिनाइयों से घिरा हुआ था। **वह अपने सभी सरदारों से वफादारी की आशा नहीं करता था** बल्कि उनकी ईर्ष्या एवं व्यक्तिगत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकांक्षाएँ उसके और नवस्थापित तुर्की राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती थीं। तुर्कों ने अफगानिस्तान से लेकर उत्तरी भारत के बंगाल तक के भू-प्रदेशों को अपने पैरों तले रौंद अवश्य दिया था परन्तु वे इसके निर्विवाद स्वामी बनने में उस समय तक असमर्थ थे। गोरी ने राजपूतों की शक्ति को दुर्बल अवश्य कर दिया था परन्तु समाप्त नहीं कर सका था और राजपूत स्थान-स्थान पर तुर्कों का मुकाबला कर रहे थे तथा अनेक स्थानों से तुर्कों को निष्कासित कर रहे थे। बंगाल में खलजी सरदारों के पारस्परिक झगड़ों ने वहाँ तुर्की-सत्ता को दुर्बल कर दिया था और बंगाल के खलजी सरदार ऐबक के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। वास्तव में ऐबक का आधिपत्य सिन्ध, पंजाब, दिल्ली और दोआब तक सीमित था और वहाँ पर भी राजपूत उसकी सत्ता का विरोध कर रहे थे।

परन्तु इससे भी बड़ी कठिनाइयाँ ऐबक को अपने सम्बन्धियों तथा अपने समान ही गोरी के दास तथा उसके राज्य के अधिकारी ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा की तरफ से थीं। ताजुद्दीन यिल्दिज ने गजनी में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी, उसकी पुत्री का विवाह ऐबक से हुआ था और वह ऐबक को अपने अधीन तथा गोरी के भारत के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। नासिरुद्दीन कुबाचा उच्छ का सूबेदार था, यिल्दिज की एक पुत्री और ऐबक की एक बहन से उसने विवाह किया था तथा वह भी दिल्ली के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। वास्तव में यिल्दिज और कुबाचा ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी थे। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि गोरी ने ऐबक को अपने भारतीय राज्य का संरक्षक नियुक्त किया था, उसे 'मलिक' की उपाधि दी थी और उसकी इच्छा थी कि ऐबक भारत में उसका उत्तराधिकारी बने। परन्तु प्रो. के. ए. निजामी इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने गुलाम सरदारों के अधिकारों और अपने उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय ही नहीं किया था जिसके कारण ऐबक, यिल्दिज और कुबाचा की स्थिति समान थी और उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने अधिकारों की व्याख्या करने के लिए स्वतन्त्र था। यही नहीं बल्कि उनका तो यह तक कहना है कि गोरी ने भारत के विभिन्न तुर्की सरदारों को भी ऐबक की अधीनता में नहीं लिया था और यदि वहाबुद्दीन तुगरिलखाँ तथा मुहम्मद बख्तियार खलजी जैसे शक्तिशाली सरदारों की मृत्यु पहले ही न हो गयी होती तो वे ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होते। यिल्दिज और कुबाचा की गतिविधियों को देखते हुए डॉ. निजामी का कथन सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोरी की मृत्यु के पश्चात् ऐबक को स्वतः ही भारत का तुर्की राज्य प्राप्त नहीं हो गया था बल्कि उसे इसके लिए कौशल और कूटनीति से प्रयत्न करना पड़ा था।

ऐबक की कठिनाई यिल्दिज और कुबाचा की प्रतिद्वन्द्विता तक ही सीमित न थी बल्कि ख्वारिज्मशाह की बढ़ती हुई शक्ति भी उसके लिए एक बड़ा खतरा थी। ख्वारिज्मशाह की नजर गजनी पर थी। यिल्दिज उसकी शक्ति का मुकाबला करने में असमर्थ था। ऐसी स्थिति में यदि गजनी पर ख्वारिज्मशाह का अधिकार हो जाता तो वह दिल्ली पर भी अपना दावा कर सकता था। इस कारण ऐबक की एक मुख्य कठिनाई भारत के राज्य को मध्य-एशिया की राजनीति से पृथक करना, उसे गजनी के शासकों के कानूनी आधिपत्य से मुक्त करना तथा उसे एक पृथक स्वतन्त्र राज्य का अधिकार और अस्तित्व प्रदान करना था।

कार्य

ऐबक का मुख्य कार्य अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित करना था। उसने कौशल और कूटनीति से कार्य किया। उसने अनेक तुर्की-सरदारों को अपनी अधीनता स्वीकार करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए मना लिया। सम्भवतया इसी कारण उसे सिंहासन पर बैठने में कुछ समय लगा। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के आशय से ही उसने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश से और अपनी बहन का विवाह नासिरुद्दीन कुबाचा से किया। सम्भवतया, कुबाचा ने उसे दिल्ली का सुल्तान स्वीकार कर लिया। परन्तु यिल्दिज की तरफ से खतरा रहा। इस कारण ऐबक सर्वदा लाहौर में रहा। उसे दिल्ली में रहने का अवसर कभी न मिल सका।

सुल्तान गियासुद्दीन ने यिल्दिज को दासता से मुक्त करके गजनी का शासक स्वीकार कर लिया था। ख्वारिज्मशाह के दबाव के कारण यिल्दिज को गजनी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने पंजाब पर आक्रमण किया। गजनी का शासक होने के नाते वह भारत के तुर्की राज्य को अपने अधिकार में मानता था। ऐबक ने उसका विरोध किया और उसे युद्ध में परास्त करके पंजाब को छोड़ने के लिए बाध्य किया। परन्तु गजनी उस समय असुरक्षित था और सम्भव था कि ख्वारिज्मशाह उस पर अधिकार कर लेता। गजनी के नागरिकों ने ऐबक को आने के लिए निमन्त्रण दिया और ऐबक ने आगे बढ़कर गजनी पर अधिकार कर लिया। परन्तु गजनी के नागरिक उससे सन्तुष्ट न रह सके और उन्होंने यिल्दिज को आमन्त्रित किया। यिल्दिज के अचानक गजनी की सीमा पर पहुँच जाने के कारण ऐबक केवल 40 दिन पश्चात् ही गजनी को छोड़ने के लिए बाध्य हुआ। इस प्रकार **ऐबक का गजनी का अभियान सफल होते हुए भी स्थायी लाभ का न रहा परन्तु यिल्दिज भी उसके भारत के राज्य पर अधिकार करने में असमर्थ रहा और ऐबक ने दिल्ली के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित रखने में सफलता प्राप्त की।**

बंगाल के दूरस्थ इक्ता (सूबा) ने भी ऐबक को परेशान किया। मुहम्मद बख्तियार खलजी के हत्यारे अलीमर्दन खाँ को खलजी सरदारों ने कैद कर लिया था और उन्होंने मुहम्मद शेरा को इस शर्त पर गद्दी पर बैठाया था कि वह दिल्ली की अधीनता स्वीकार नहीं करेगा। इस कारण आरम्भ में बंगाल एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। परन्तु अलीमर्दन खाँ कैद से भागकर ऐबक के पास पहुँचा। ऐबक ने उसे बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसने वायदा किया कि वह ऐबक के अधीन रहेगा तथा वार्षिक कर देगा। परन्तु खलजी सरदार इस प्रबन्ध को मानने के लिए तैयार नहीं थे। **ऐबक के सरदार कैमाज रूमी के निरन्तर प्रयत्नों और युद्ध के पश्चात् ही अलीमर्दन खाँ को बंगाल का इक्तादार (सूबेदार) बनाया जा सका और बंगाल दिल्ली सुल्तान के अधीन हो गया।**

ऐबक को राजपूतों की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला और न वह साम्राज्य-विस्तार की नीति को अपना सका। इसके विपरीत, राजपूतों ने कुछ स्थानों को उससे छीन लिया और ऐबक उन्हें पुनः जीतने का प्रयत्न न कर सका। ऐबक को समय भी थोड़ा मिला। चौगान (आधुनिक पोलो की भाँति का एक खेल) के खेल में घोड़े से गिर जाने के कारण 1210 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसे लाहौर में दफनाया गया और उसकी कब्र पर एक साधारण स्मारक बना दिया गया।

ऐबक का मूल्यांकन

ऐबक को भारत में तुर्की-राज्य का संस्थापक माना गया है। मुहम्मद गोरी की भारत-विजय में ऐबक उसका सबसे बड़ा सहायक था। गोरी की अनुपस्थिति में उसी ने उसकी विजयों को सुरक्षित एवं संगठित किया तथा उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके भारतीय राज्य को गजनी के आधिपत्य से मुक्त करके एक स्वतन्त्र राज्य में परिणित करने का प्रयत्न भी उसी ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ किया। उसने न तो यिल्दिज की अधीनता स्वीकार की और न ही उसे पंजाब में प्रवेश करने दिया। भारत के तुर्की-सरदारों को अपने साथ और आधिपत्य में लेकर उसने दिल्ली के तुर्की-राज्य को एकता प्रदान की तथा दिल्ली-सल्तनत का आरम्भ किया। यदि वह ऐसा न कर पाता तो सम्भव था कि भारत का तुर्की-राज्य गजनी राज्य के अधीन हो जाता, मध्य-एशिया की राजनीति का एक भाग बनकर ख्वारिज्मशाह की लालसा का शिकार हो जाता अथवा तुर्की-सरदारों के पारस्परिक झगड़ों के कारण टुकड़े-टुकड़े होकर शक्तिहीन होकर नष्ट हो जाता। ऐबक ने ऐसा कुछ नहीं होने दिया बल्कि उसने भारत के तुर्की राज्य को एकता प्रदान की और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए प्रयत्न ही नहीं किया वरन् उसे स्थापित भी रखा। इसी दृष्टि से ऐबक को भारत में तुर्की-राज्य का संस्थापक माना गया है।

ऐबक मुहम्मद गोरी के गुलामों में योग्यतम गुलाम सिद्ध हुआ। वह अपनी योग्यता के कारण धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ सुल्तान के पद तक पहुँचा और एक ऐसे राज्य का संस्थापक बना जो भारत में स्थायी रहा। ऐबक में मस्तिष्क और हृदय दोनों के गुण थे। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है—"उसमें एक तुर्क का साहस और एक ईरानी की उदारता और सुसभ्यता मिश्रित थी।" सभी तत्कालीन इतिहासकारों ने उसकी वफादारी, उदारता, साहस और न्यायप्रियता की प्रशंसा की है। हसन निजामी ने लिखा है—"कुतुबुद्दीन अपनी प्रजा को समान रूप से न्याय प्रदान करता था और अपने राज्य की शान्ति और समृद्धि के लिए प्रयत्नशील था।" इतिहासकार मिनहाज ने लिखा है—"ऐबक श्रेष्ठ भावनाओं से युक्त विशाल-हृदयी बादशाह था। वह बहुत दानशील था।" अपनी उदारता के कारण वह इतना अधिक दान करता था कि उसे 'लाखबख्श' (लाखों को देने वाला) के नाम से पुकारा गया। फरिश्ता ने लिखा है कि यदि व्यक्ति किसी की दानशीलता की प्रशंसा करते थे तो उसे 'अपने युग का ऐबक' पुकारते थे। ऐबक को साहित्य से अनुराग था और स्थापत्य-कला में उसकी रुचि थी। तत्कालीन विद्वान हसन निजामी और फख्र-ए-मुदब्बिर को उसका संरक्षण प्राप्त था और उन्होंने उसे अपने ग्रन्थ समर्पित किये थे। उसने दिल्ली में 'कुव्वात-उल-इस्लाम' और अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक मस्जिदों का निर्माण कराया था। दिल्ली में स्थित कुतुबमीनार की नींव 'ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी' के नाम पर उसने ही रखी, जिसे इल्तुतमिश ने पूरा किया।

ऐबक में व्यावहारिक बुद्धि थी। साथ ही उसमें कूटनीतिज्ञता का भी अभाव न था। वह यह समझ सका था कि उसकी प्रथम आवश्यकता भारत के तुर्की-राज्य को मध्य-एशिया की राजनीति से पृथक रखना और उसे गजनी के आधिपत्य से मुक्त करना था। उसने इसी दिशा में प्रयत्न किये और भारत में राज्य-विस्तार की ओर ध्यान नहीं दिया। वह यह भी समझता था कि भारत में तुर्की-सरदारों को अपनी अधीनता में लेना आवश्यक था अन्यथा भारत का तुर्की-राज्य छोटी-छोटी जागीरों में विभाजित हो जायेगा। इस कार्य में वह सफल रहा। नासिरुद्दीन कुबाचा, यिल्दिज और बंगाल के अलीमर्दन खाँ से उसका व्यवहार कूटनीतिज्ञता का रहा। निस्सन्देह, अन्य सरदारों के प्रति भी उसका व्यवहार कौशल और कूटनीतिज्ञता का रहा होगा जिसके कारण भारत की सीमाओं के अन्तर्गत किसी भी तुर्की-सरदार ने उसका विरोध नहीं किया और बंगाल में उसकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी।

परन्तु ऐबक की सबसे बड़ी योग्यता उसका एक कर्मठ सैनिक और योग्य सेनापति होना था। वह एक साहसी और अनुभवी सेनापति था। मुहम्मद गोरी की भारतीय विजयों का अधिकांश श्रेय उसी को था। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है—"इस पर अधिक बल देने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता नहीं है कि मुईजुद्दीन की भारत की सफलताओं का मुख्य श्रेय ऐबक के अथक परिश्रम और वफादार सेवा को था क्योंकि मुईजुद्दीन ने केवल प्रेरणा-शक्ति प्रदान की थी जबकि ऐबक दिल्ली राज्य की विस्तृत योजनाओं और उसके निर्माण के लिए उत्तरदायी था।" सेनापति की दृष्टि से ऐबक बहुत योग्य था। फक्र-ए-मुदब्बिर ने लिखा है—"यद्यपि ऐबक की सेना में विभिन्न नस्लों के सैनिक थे परन्तु तब भी कोई सैनिक किसी व्यक्ति से जबरदस्ती एक तिनका घास, एक दाना अनाज अथवा एक पेड़ भी छीनने का साहस नहीं कर सकता था।" बाद के महान् विद्वान अबुल फजल ने जिसने निरपराधों का रक्त बहाने के कारण सुल्तान महमूद गजनवी की कटु आलोचना की, ऐबक के बारे में लिखा है कि "उसने अच्छे और महान कार्य किये।"

इस प्रकार ऐबक एक योग्य सेनापति, एक व्यावहारिक शासक और एक उदार व्यक्ति था। वह भारत में तुर्की-राज्य का संस्थापक माना गया है। परन्तु ऐबक में कुछ कमियाँ भी रहीं। जहाँ वह बहुत दानशील था वहाँ वह लाखों व्यक्तियों का रक्त बहाने वाला भी था। डॉ. ईश्वरीप्रसाद, हसन निजामी, प्रो. हबीबुल्ला आदि विभिन्न विद्वानों ने ऐबक को एक शक्तिशाली और योग्य शासक स्वीकार किया। परन्तु डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव तथा कुछेक अन्य इतिहासकार उसे अच्छे प्रशासकों में स्थान प्रदान नहीं करते। उनके अनुसार उसने अपने राज्य को व्यवस्थित और संगठित करने की योग्यता का परिचय नहीं दिया। निस्सन्देह, उसके पास समय का अभाव रहा परन्तु तब भी उसने शासन-व्यवस्था में किसी विशेष सिद्धान्त का पालन नहीं किया। राजधानी में एक शक्तिशाली सेना रखने के अतिरिक्त उसने सभी महत्वपूर्ण शहरों में भी सैनिक छावनियाँ स्थापित कीं। उसके सभी शासनाधिकारी प्रायः सैनिक-अधिकारी थे। उसने अर्थ-व्यवस्था में भी कोई परिवर्तन नहीं किया और शक्ति के आधार पर लगान और अन्य करों को वसूल किया। इस प्रकार वस्तुतः उसका शासन एक फौजी जागीर की भाँति रहा जिसमें स्थायित्व के गुणों का समावेश न था। हिन्दू-मन्दिरों के अवशेषों से मस्जिदों का निर्माण कराना भी उपयुक्त न था। इसके अतिरिक्त ऐबक अपने कार्य की पूर्ति नहीं कर सका। ऐबक के पास समय का अभाव रहा। वह अपने जीवन में दिल्ली-सल्तनत को पूर्ण स्थायित्व प्रदान नहीं कर सका और उसे गजनी-सुल्तानों के सम्प्रभुता के दावे से पूर्ण मुक्ति नहीं दिला सका। उसके ये कार्य अधूरे रहे। इस कारण उसके पश्चात् इल्तुतमिश को इन कार्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने पड़े।

[2]
आरामशाह (1210-1211 ई.)

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारों ने उसके पुत्र (यद्यपि कुछ इतिहासकार इस बारे में सन्देह प्रकट करते है) आरामशाह को लाहौर में गद्दी पर बैठा दिया परन्तु दिल्ली के तुर्की-सरदार और नागरिक इससे सहमत नहीं हुए। आरामशाह एक अयोग्य नवयुवक था जबकि उस समय की कठिन परिस्थितियों में तुर्की-राज्य को एक योग्य तथा अनुभवी शासक की आवश्यकता थी। इस कारण सिपहसालार अमीर-ए-दाद और कुछ तुर्की अमीरों ने ऐबक के दामाद और बदायूँ के सूबेदार इल्तुतमिश को दिल्ली का सुल्तान बनने के लिए आमन्त्रित किया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँचकर सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया। आरामशाह ने उस पर आक्रमण किया किन्तु वह पराजित हुआ और मार दिया गया। इस प्रकार आरामशाह का शासन केवल आठ माह में समाप्त हो गया और इल्तुतमिश दिल्ली का सुल्तान बन गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
2. कुतुबुद्दीन ऐबक के कार्यों और उसके परिणामों पर विचार कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कुतुबुद्दीन ऐबक के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
2. ऐबक की प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।
3. ऐबक के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. एक शासक के रूप में ऐबक का मूल्यांकन कीजिए।
5. एक वायसराय के रूप में ऐबक की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
6. ऐबक की रचनात्मक प्रतिभा पर प्रकाश डालिए।
7. आरामशाह के उत्थान व पतन का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ममलूक सुल्तान से अर्थ है—
   (अ) दास सुल्तान
   (ब) तथाकथित दास सुल्तान ✓
   (स) स्वतन्त्र सुल्तान
   (द) इनमें से कोई नहीं।
2. कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1206 ई. में गद्दी पर बैठने के पश्चात् उपाधि धारण की—
   (अ) मलिक की
   (ब) सिपहसालार की
   (स) दोनों की ✓
   (द) इनमें से कोई नहीं।
3. अमीर-ए-आखुर का क्या अर्थ है ?
   (अ) अश्वशाला का अध्यक्ष ✓
   (ब) हस्तिसेना का अध्यक्ष
   (स) पैदल सेना का अध्यक्ष
   (द) न्याय विभाग का अध्यक्ष।
4. ऐबक का राज्याभिषेक हुआ था—
   (अ) दिल्ली में
   (ब) लाहौर में ✓
   (स) गुजरात में
   (द) अलीगढ़ में।
5. कुतुबुद्दीन ऐबक को विधिवत् दासता से मुक्ति प्राप्त हुई थी—
   (अ) 1206 ई. में
   (ब) 1207 ई. में
   (स) 1208 ई. में ✓
   (द) 1210 ई. में।
6. ऐबक के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे—
   (अ) राजपूत
   (ब) ताजुद्दीन यिल्दिज
   (स) नासिरुद्दीन कुबाचा
   (द) उपर्युक्त सभी। ✓
7. ऐबक गजनी पर केवल चालीस दिन ही शासन क्यों कर सका ?
   (अ) गजनी के नागरिकों के असन्तुष्ट होने के कारण ✓
   (ब) विलासिता में डूब जाने के कारण
   (स) दोनों कारणों से
   (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. 1210 ई. में ऐबक की अचानक मृत्यु हुई थी—
(अ) घुड़दौड़ के समय (ब) युद्ध करते समय
(स) पोलो खेलते समय (द) इनमें से कोई नहीं।

9. स्थापत्य कला के प्रति ऐबक का लगाव स्पष्ट होता है—
(अ) कुब्बत-उल-इस्लाम मस्जिद से (ब) अढ़ाई दिन के झोंपड़े से
(स) कुतुबमीनार के निर्माण के प्रारम्भ से (द) उपर्युक्त सभी से।

10. ऐबक के दरबार में कौन से इतिहासकार आश्रित थे—
(अ) हसन निजामी (ब) फख्र-ए-मुदब्बिर
(स) 'अ' एवं 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

11. आरामशाह ने कितने समय तक शासन किया ?
(अ) आठ दिन (ब) आठ माह
(स) आठ वर्ष (द) इनमें से कोई नहीं।

12. कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के बाद कौन गद्दी पर आसीन नहीं हुआ—
(अ) इल्तुतमिश (ब) बलबन
(स) आरामशाह (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (स), 6. (द), 7. (अ), 8. (स), 9. (द), 10. (स), 11. (ब), 12. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5

सुल्तान इल्तुतमिश (1211-1236 ई.)

वस्तुत: दिल्ली का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था। उसने सुल्तान के पद की स्वीकृति गोर के किसी शासक से नहीं बल्कि खलीफा से प्राप्त की। इस प्रकार वह कानूनी तरीके से दिल्ली का प्रथम स्वतन्त्र सुल्तान हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से उसने दिल्ली की गद्दी के दावेदार ताजुद्दीन एल्दौज और नासिरुद्दीन कुबाचा को समाप्त किया, भारत के तुर्की-राज्य को संगठित किया, उसे मंगोल-आक्रमणों से बचाया, राजपूतों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाया, दिल्ली को तुर्की-राज्य की राजधानी के अनुरूप वैभवपूर्ण बनाया और अपने नाम के सिक्के चलाये।

इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इस कारण वह एक गुलाम का गुलाम था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने अपने स्वामी से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। मुहम्मद गोरी ने अपने समय में ही उसे दासता से मुक्त कर दिया था। इस कारण ऐबक की भाँति सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम न था बल्कि उससे बहुत पहले दासता से मुक्त हो चुका था।

इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था, न कि उसका वंशज। इल्तुतमिश शम्सी-वंश का था। इस कारण उसके गद्दी पर बैठने से दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन राजवंश का अधिकार स्थापित हुआ। डॉ. आर्नोल्ड ने यह मत प्रकट किया था कि इल्तुतमिश दिल्ली के सिंहासन का अपहरणकर्ता था क्योंकि उस सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार नहीं था। कुछ अन्य इतिहासकारों ने भी उसके इस विचार का समर्थन किया। उनके अनुसार आरामशाह ऐबक का पुत्र था जिसके कारण लाहौर के तुर्की-सरदारों ने उसे सुल्तान चुना था, जबकि इल्तुतमिश ऐबक का दामाद मात्र था। परन्तु अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि आरामशाह, सम्भवतया, ऐबक का पुत्र नहीं था। मिनहाज ने लिखा था कि ऐबक के कोई पुत्र नहीं था बल्कि केवल तीन पुत्रियाँ थीं। इसी प्रकार, अब्दुल्ला बस्साफ ने लिखा था कि आरामशाह ऐबक का पुत्र नहीं था। इस कारण वह पैतृक आधार पर ऐबक का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। इसी कारण आधुनिक इतिहासकारों का कहना है कि उस समय जबकि सिंहासन पर वंशानुगत अधिकार की परम्परा स्थापित नहीं हुई थी और तलवार की शक्ति ही शासकों का निर्णय करती थी, इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना अवैध नहीं माना जा सकता। आरामशाह को लाहौर के सरदारों का समर्थन प्राप्त था और इल्तुतमिश को दिल्ली के सरदारों का। इल्तुतमिश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरामशाह के मुकाबले अधिक योग्य और अनुभवी था। उस समय की परिस्थितियों में उसका समर्थन तुर्की-राज्य के हित में था। इस कारण आरामशाह को समाप्त करके इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना न तो अवैध था और न गलत। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर न्यायोचित अधिकार था क्योंकि वह दिल्ली के सरदारों द्वारा चुना गया था, वह एक योग्य सेनापति और आज्ञापालन कराने की शक्ति रखने वाला प्रशासक था, तथा उसने बगदाद के खलीफा से अपने लिए सुल्तान के पद की स्वीकृति प्राप्त करने में सफलता पायी थी।

प्रारम्भिक जीवन

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश का वंश इल्बारी-तुर्क था। उसका पिता इलामखाँ अपने कबीले का प्रधान था। इल्तुतमिश सुन्दर और बुद्धिमान था तथा उसका पिता प्रेमवश उसे घर से बाहर नहीं जाने देता था। इस कारण वह अपने भाइयों की ईर्ष्या का पात्र बन गया जिन्होंने उसे धोखे से एक मेले में ले जाकर गुलामों के एक व्यापारी को बेच दिया। उसके पश्चात् इल्तुतमिश को पुनः दो बार बेचा गया और अन्त में जमालुद्दीन मुहम्मद नामक एक व्यापारी उसे बेचने के लिए गजनी ले गया। वहाँ उसे सुल्तान मुहम्मद गोरी ने खरीदना चाहा परन्तु मुँहमाँगी धनराशि न मिलने के कारण जमालुद्दीन ने उसे बेचने से इन्कार कर दिया जिसके कारण गोरी ने उसे गजनी में बेचने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अन्त में कुतुबुद्दीन ऐबक की दृष्टि उस पर पड़ी और क्योंकि उसको गजनी में खरीदना और बेचना निषिद्ध था, इस कारण उसे दिल्ली ले जाया गया जहाँ ऐबक ने उसे खरीद लिया। इल्तुतमिश ने किस प्रकार और क्या शिक्षा प्राप्त की, इसके बारे में पता नहीं लगता। परन्तु वह शिक्षित व्यक्ति, साहसी सैनिक और योग्य नेता था। ऐबक ने उसे आरम्भ से ही 'सर-ए-जाँदार' (अंगरक्षकों का प्रधान) का महत्वपूर्ण पद दिया। एक के पश्चात् एक पद पर निरन्तर उन्नति करते हुए वह शीघ्र ही 'अमीरे-शिकार' के पद पर पहुँच गया। ग्वालियर के किले की विजय के पश्चात् उसे वहाँ का किलेदार बनाया गया। उसके पश्चात् उसे बरन (बुलन्दशहर) का इक्ता सौंपा गया और अन्त में उसे दिल्ली राज्य का सबसे महत्वपूर्ण बदायूँ का इक्ता (सूबा) सौंपा गया। ऐबक ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। 1205-1206 ई. में खोक्खर जाति के विद्रोह को दबाने के अभियान में इल्तुतमिश सुल्तान मुहम्मद गोरी और ऐबक के साथ था। इल्तुतमिश ने उस युद्ध में जिस साहस और कौशल का परिचय दिया उससे प्रसन्न होकर गोरी ने ऐबक को उसके साथ भला व्यवहार करने की सलाह दी और उसे दासता से मुक्त करने के आदेश दिये। ऐबक की मृत्यु के पश्चात् सिपहसालार अमीर अली इस्माइल ने दिल्ली के तुर्की सरदारों की सम्मति लेकर इल्तुतमिश को दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँचकर अपने को सुल्तान घोषित कर दिया और 1211 ई. में आरामशाह को परास्त किया तथा उसका वध कर दिया।

कठिनाइयाँ

इल्तुतमिश ने ऐबक से एक अरक्षित सिंहासन और छोटा-सा राज्य प्राप्त किया। आरामशाह को समाप्त करके और दिल्ली में एकत्रित कुछ 'कुतबी' और 'मुइज्जी' तुर्क-सरदारों के विद्रोह को दबाकर जो राज्य उसे प्राप्त हुआ वह पूर्व में वाराणसी से लेकर पश्चिम में शिवालिक की पहाड़ियों तक विस्तृत था। गजनी का शासक एल्दौज दिल्ली के राज्य को अपनी अधीनता में मानता था। उसने ऐबक के समय में भी ऐसा ही दावा किया था और उससे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध किया था। परन्तु ऐबक उसका दामाद था जबकि इल्तुतमिश से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। इसके अतिरिक्त ख्वारिज्मशाह के बढ़ते हुए दबाव के कारण उसे पंजाब की ओर बढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इन परिस्थितियों में गजनी और दिल्ली के शासकों की शत्रुता का बढ़ना स्वाभाविक था। नासिरुद्दीन कुबाचा ने कुतुबुद्दीन से किसी प्रकार का झगड़ा नहीं किया था परन्तु वह इल्तुतमिश की कठिनाइयों से लाभ उठाकर अपने राज्य का विस्तार करता रहा। उच्छ, सिन्ध और मुल्तान के अतिरिक्त उसने भटिण्डा, कुहराम तथा सरस्वती को अपने अधिकार में कर लिया। आरामशाह की मृत्यु के पश्चात् उसने लाहौर को भी जीत लिया। बंगाल और बिहार दिल्ली-राज्य से पृथक हो गये थे और लखनौती में अलीमर्दान ने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया था। हिन्दू राजपूत शासक पुनः शक्ति एकत्र कर रहे थे और उन्होंने विभिन्न स्थानों से तुर्कों को बाहर निकाल दिया था। जालौर, रणथम्भौर और ग्वालियर स्वतन्त्र हो गये थे और दोआब में तुर्की-आधिपत्य को स्थापित रखना कठिन हो रहा था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोल-आक्रमण का भय भी इल्तुतमिश के समय में उपस्थित हुआ। इसके अतिरिक्त ऐबक का दिल्ली का राज्य एक अस्थिर फौजी जागीर की भाँति था जिसमें स्थायित्व का अभाव था और जिसे केवल शक्ति के आधार पर ही स्थापित रखा जा सकता था। ये सभी परिस्थितियाँ संकटपूर्ण थीं। परन्तु इल्तुतमिश ने कौशल, साहस और शक्ति से इन सभी संकटों का मुकाबला किया तथा अन्त में सफलता प्राप्त की।

इल्तुतमिश के कार्य

1. चालीस गुलाम सरदारों के गुट अर्थात् 'तुर्कान-ए-चिहालगानी' का संगठन—आरम्भ में ही कुछ 'कुतबी' अर्थात् कुतुबुद्दीन के समय के सरदार और 'मुइज्जी' अर्थात् मुहम्मद गोरी के समय के सरदारों ने इल्तुतमिश के सिंहासन पर बैठते ही उसका विरोध किया। इल्तुतमिश ने उनके विद्रोह को समाप्त कर दिया परन्तु वह कभी भी उन पर पूर्ण विश्वास न कर सका। इस कारण उसने अपने गुलाम सरदारों का एक गुट बनाया जो 'तुर्कान-ए-चिहालगानी' के नाम से विख्यात हुआ। वे गुलाम सरदार उसी के द्वारा खरीदे गये थे। उन्हें राज्य में प्रतिष्ठित पद प्रदान किये गये और प्रशासन में उनसे सहयोग लिया गया। वे पूर्णतया इल्तुतमिश पर निर्भर करते थे और उसी के कारण उच्च पदों पर पहुँचे थे। इस कारण वे इल्तुतमिश के प्रति सर्वदा वफादार रहे। इससे इल्तुतमिश की 'कुतबी' और 'मुइज्जी' सरदारों पर निर्भरता नष्ट हो गयी।

2. एल्दौज की पराजय—एल्दौज के प्रति इल्तुतमिश का व्यवहार सफल कूटनीतिज्ञता का रहा। जब वह सिंहासन पर बैठा तब एल्दौज ने उसे अपने अधीन मानते हुए छत्र, दण्ड आदि राजचिह्न भेजे। इल्तुतमिश ने उन्हें शान्ति से स्वीकार कर लिया। एल्दौज के सैनिकों ने जब कुबाचा से लाहौर और पंजाब के अधिकांश भाग को छीना तब भी इल्तुतमिश ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। इल्तुतमिश ने एल्दौज को उस समय तक झगड़ा करने का अवसर नहीं दिया जब तक उसने दिल्ली, उसके सीमावर्ती क्षेत्रों तथा पूर्व की ओर वाराणसी तक अपनी स्थिति को दृढ़ नहीं कर लिया।

1215 ई. में ख्वारिज्मशाह से पराजित होकर एल्दौज लाहौर भाग आया और उसने थानेश्वर तक के पंजाब प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली के सिंहासन पर भी अपना दावा किया। उस समय इल्तुतमिश ने उससे निर्णायक युद्ध करने की तैयारी की और अपनी सेना को लेकर आगे बढ़ा। 1215-16 ई. में तराइन के युद्ध में एल्दौज को परास्त करके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैद कर लिया गया। उसे कैद करके बदायूँ भेज दिया गया और उसी वर्ष उसका वध कर दिया गया। एल्दौज की समाप्ति से इल्तुतमिश को दो लाभ हुए—प्रथम, उसका एक मुख्य शत्रु समाप्त हो गया, और द्वितीय, दिल्ली का गजनी से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। एल्दौज के पश्चात् गजनी का कोई अन्य सुल्तान दिल्ली के सिंहासन पर दावा नहीं कर सका।

3. मंगोल-आक्रमण का भय—इल्तुतमिश के समय में भारत के तुर्की-राज्य को मंगोलों के आक्रमण की सम्भावना से एक महान् संकट उत्पन्न हुआ। मंगोलों के महान् नेता चंगेजखाँ ने गोबी के रेगिस्तान और एशिया के घास के मैदान (Steppes) की समस्त बर्बर जातियों को अपने नेतृत्व में संगठित करके चीन, तुर्किस्तान, इराक, मध्य-एशिया, पर्शिया आदि को अपने पैरों तले रौंद दिया। उसने पर्शिया (ईरान) के शासक अलाउद्दीन मुहम्मद ख्वारिज्मशाह का सम्पूर्ण साम्राज्य नष्ट कर दिया। ख्वारिज्मशाह स्वयं कैस्पियन समुद्र-तट की ओर भाग गया और उसका सबसे बड़ा पुत्र जलालुद्दीन मांगबर्नी भागकर भारत की ओर आया। चंगेजखाँ ने खुरासान और अफगानिस्तान होते हुए सिन्धु नदी के तट पर उसका पीछा किया। वहाँ आकर वह रुक गया। उस समय से पंजाब और सिन्ध सागर के दोआब का ऊपरी भाग जलालुद्दीन मांगबर्नी, कुबाचा, मंगोल अधिकारियों और खोक्खर जाति के संघर्ष का रणक्षेत्र बन गया। इल्तुतमिश ने उनके झगड़ों में फँसना पसन्द नहीं किया और स्थिति को चुपचाप देखता रहा। जलालुद्दीन मांगबर्नी एक साहसी और योग्य नेता था। उसने सिन्ध-सागर-दोआब पर अधिकार किया, खोक्खर-नेता राय खोक्खर की पुत्री से विवाह किया और सियालकोट जिले में पस्तूर को जीत लिया। उसने लाहौर की ओर अपने कदम बढ़ाये और मंगोलों के विरुद्ध इल्तुतमिश से सहायता माँगी। इल्तुतमिश के सम्मुख बड़ी कठिनाई थी। एक शरणार्थी मुसलमान शाहजादे की सहायता की माँग को ठुकराना एक मुसलमान सुल्तान के लिए अपवाद का कारण बन सकता था। परन्तु जलालुद्दीन को सहायता देने का परिणाम उस चंगेजखाँ से शत्रुता मोल लेना था जिसके सम्मुख बड़े-बड़े साम्राज्य झुकते चले गये थे। अन्त में, इल्तुतमिश ने जलालुद्दीन के दूत का वध करा दिया और जलालुद्दीन को शरण देने से नम्रतापूर्वक इंकार कर दिया। उसने जलालुद्दीन से प्रार्थना की कि वह पंजाब को छोड़ दे। परन्तु साथ ही साथ उसने एक बड़ी सेना भी युद्ध के लिए तैयार कर ली। जलालुद्दीन ने इल्तुतमिश से युद्ध करना उचित न समझा और खोक्खरों के शत्रु कुबाचा पर दबाव डाला। उसने कुबाचा को उच्छ के निकट परास्त किया और उसकी शक्ति को पर्याप्त हानि पहुँचाई। अन्त में, सिन्ध के दक्षिणी भाग को लूटकर और अपने कुछ अधिकारियों को भारत में छोड़कर जलालुद्दीन 1224 ई. में पर्शिया चला गया। जब तक जलालुद्दीन भारत में रहा तब तक इल्तुतमिश ने उसे कोई सहायता नहीं दी और जब तक चंगेजखाँ जीवित रहा तब तक उसने सिन्धु नदी के पश्चिम में राज्य-विस्तार की लालसा नहीं की तथा अन्य किसी प्रकार से भी मंगोलों को असन्तुष्ट करने का कारण उत्पन्न नहीं किया। चंगेजखाँ का उद्देश्य भारत पर आक्रमण करना न था। परन्तु यदि इल्तुतमिश ने जलालुद्दीन को सहायता दी होती तो सम्भवतया वह दिल्ली पर आक्रमण करता। ऐसी स्थिति में चंगेजखाँ जैसे महान् विजेता के विरुद्ध इल्तुतमिश की विजय की सम्भावना नहीं थी। यह भी सम्भव था कि भारत का तुर्की-राज्य उस मंगोल-आक्रमण के तूफान के कारण नष्ट हो जाता। इस प्रकार इल्तुतमिश की दूरदर्शिता ने तुर्की-राज्य को मंगोल-आक्रमण से बचा लिया। यही नहीं बल्कि उसने उससे उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाया।

4. कुबाचा की पराजय—मुहम्मद गोरी का एक मुख्य गुलाम नासिरुद्दीन कुबाचा भी था जिसे उच्छ की सूबेदारी दी गयी थी। उसने कुतुबुद्दीन ऐबक को परेशान नहीं किया परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इल्तुतमिश के गद्दी पर बैठते ही उसने सिन्ध-सागर-दोआब, सरस्वती, भटिण्डा और लाहौर तक अपना अधिकार कर लिया। इस कारण वह उत्तर-पश्चिम सीमा और पंजाब में इल्तुतमिश का एक प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी था जो कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकता था। एल्दौज ने लाहौर को कुबाचा से छीन लिया था परन्तु जब वह इल्तुतमिश से परास्त हो गया तब कुबाचा ने लाहौर को पुनः अपने अधीन कर लिया। इल्तुतमिश ने उस समय उस ओर ध्यान नहीं दिया परन्तु 1217 ई. में उसने लाहौर को कुबाचा से छीन लिया। तब भी कुबाचा मुल्तान, उच्छ, सिन्ध और सिन्ध-सागर-दोआब का स्वामी रहा। जलालुद्दीन मंगबर्नी के भारत आने का सबसे अधिक कुप्रभाव कुबाचा की शक्ति पर पड़ा। जलालुद्दीन ने कुबाचा की शक्ति को बहुत हानि पहुँचाई। इल्तुतमिश ने इस स्थिति का लाभ उठाया। उसने पहले लाहौर को अधिकार में किया और उसके पश्चात् उच्छ और मुल्तान पर एक साथ आक्रमण किया। कुबाचा ने घबराकर निचले सिन्ध में स्थित भक्खर के किले में जाकर शरण ली। तीन माह पश्चात् मई 1228 ई. में इल्तुतमिश का उच्छ पर अधिकार हो गया। कुबाचा की स्थिति भक्खर में भी दुर्बल हो गयी और उसने सन्धि की बातचीत आरम्भ की। इल्तुतमिश ने उसे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करने की सलाह दी जिसे कुबाचा ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में, निराश होकर कुबाचा ने सिन्धु नदी में डूबकर आत्महत्या कर ली। इस प्रकार 1228 ई. में इल्तुतमिश का एक अन्य प्रमुख शत्रु समाप्त हो गया। मुल्तान और उच्छ को दिल्ली-राज्य में मिला लिया गया और अन्य बहुत से महत्वपूर्ण किलों को जीतकर इल्तुतमिश ने पंजाब और सिन्ध में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। इल्तुतमिश ने अपनी मृत्यु के समय तक सियालकोट और अजमेर तक अपना आधिपत्य कर लिया था परन्तु उसने उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि ऐसा करने से मंगोलों से प्रत्यक्ष झगड़ा होने की सम्भावना थी।

5. बंगाल-विजय—कुतुबुद्दीन ऐबक के समर्थन और सहायता से अलीमर्दान खाँ ने बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित की थी परन्तु ऐबक की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया। प्रायः दो वर्ष पश्चात् उसके सरदारों ने उसे कत्ल कर दिया और उसके स्थान पर 1211 ई. में हुसामुद्दीन एवाज खलजी को गद्दी पर बैठाया। एवाज ने सुल्तान गियासुद्दीन की उपाधि ग्रहण की और एक स्वतन्त्र शासक बन गया। गियासुद्दीन ने बिहार को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और जाजनगर, तिरहुत, बंग तथा कामरूप के पड़ौसी-राज्यों से कर वसूल किया। जब इल्तुतमिश ने अपनी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा कर ली तब उसने पूर्व की ओर ध्यान दिया। वह दक्षिणी बिहार को जीतकर आगे बढ़ा। गियासुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए आया परन्तु बाद में उसने बिना किसी युद्ध के इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में बहुत-सा धन दिया। इल्तुतमिश मलिक जानी को बिहार का सूबेदार नियुक्त करके वापस आ गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् गियासुद्दीन ने मलिक जानी को बिहार से बाहर निकाल दिया और दिल्ली-राज्य के आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया। इल्तुतमिश ने अपने पुत्र तथा अवध के सूबेदार नासिरुद्दीन महमूद को उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने का परामर्श दिया। गियासुद्दीन जब अपनी पूर्वी सीमा पर युद्ध करने के लिए गया हुआ था तभी नासिरुद्दीन ने उसकी राजधानी लखनौती पर आक्रमण किया। गियासुद्दीन अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिए वापस लौटा परन्तु युद्ध में मारा गया और 1226 ई. में नासिरुद्दीन ने लखनौती को विजय कर लिया। इस प्रकार 1226 ई. में बंगाल दिल्ली-सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) बन गया। परन्तु प्रायः दो वर्ष पश्चात् 1229 ई. में शाहजादा नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गयी और मलिक इख्तियारुद्दीन बख्का खलजी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने विद्रोह करके गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया। 1229 ई. में इल्तुतमिश ने स्वयं जाकर इस विद्रोह को समाप्त किया। इख्तियारुद्दीन बल्का युद्ध में मारा गया और बंगाल पुनः दिल्ली-सुल्तान के अधीन हो गया। इस बार इल्तुतमिश ने बंगाल और बिहार में पृथक-पृथक इक्तादारों (सूबेदारों) की नियुक्ति की। इसके उपरान्त ये इक्ता (सूबे) इल्तुतमिश की मृत्यु तक उसके अधीन रहे।

6. हिन्दू-राजाओं से संघर्ष (राजस्थान, मालवा, दोआब आदि) —कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में हिन्दू-राजाओं ने आक्रमणकारी नीति को अपना लिया था और वे विभिन्न स्थानों पर तुर्की-राज्य को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। चन्देलों ने कालिंजर और अजयगढ़ को जीत लिया था, प्रतिहारों ने ग्वालियर, नरवर और झाँसी पर अधिकार कर लिया था, गोविन्दराज के नेतृत्व में चौहानों ने रणथम्भौर को तुर्कों से छीनकर जोधपुर और उसके निकट के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया था, जालौर के चौहानों ने दक्षिण-पश्चिमी राजपूताना के अधिकांश प्रदेश को जीत लिया था और कई बार तुर्कों को परास्त किया था, भट्टी-राजपूतों ने अलवर और उसके निकटस्थ प्रदेशों को स्वतन्त्र कर लिया था तथा अजमेर, बयाना और थंगीर भी स्वतन्त्र हो गये थे। राजस्थान की भाँति दोआब (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में भी हिन्दू-शासक तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। बदायूँ, कन्नौज, बनारस और कटेहर तुर्की-आधिपत्य से मुक्त हो गये थे और फर्रुखाबाद तथा बरेली जैसे स्थानों पर हिन्दुओं ने अपने सुरक्षित दुर्ग बना लिये थे।

हिन्दू-शासकों की शक्ति को दुर्बल करना और अपने राज्य के मुख्य भाग दोआब को अपने अधीन करना इल्तुतमिश के लिए आवश्यक था। उसने हिन्दू-राजाओं के प्रति दृढ़ और आक्रमणकारी नीति अपनायी। मुख्यतया उसने तुर्की-राज्य से छीने गये स्थानों को पुनः जीतने और अपने अधीन प्रदेशों में अपनी सत्ता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने 1226 ई. में रणथम्भौर को जीत लिया। उसके पश्चात् उसने परमारों की राजधानी मन्दौर पर अधिकार किया। 1228-29 ई. में जालौर के शासक उदयसिंह को आधिपत्य स्वीकार करने एवं वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया। उसके पश्चात् बयाना, थंगीर, अजमेर, नागौर और उसके आसपास के प्रदेश जीते गये। 1231 ई. में ग्वालियर का घेरा डाला गया और एक वर्ष के कठिन संघर्ष के बाद उसे विजय कर लिया गया। इल्तुतमिश ने ग्वालियर के सूबेदार मलिक तुसरानुद्दीन तयसाई को कालिंजर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। चन्देल शासक भाग गया और मलिक तयसाई ने 1233-34 ई. में कालिंजर और उसके आसपास के प्रदेश को लूटने में सफलता पायी। परन्तु इल्तुतमिश के नागदा के गुहिलौतों और गुजरात के चालुक्यों पर किये गये आक्रमण विफल हुए। 1234-35 ई. में इल्तुतमिश ने मालवा पर आक्रमण किया तथा भिलसा और उज्जैन को लूटने में सफलता पायी। तुर्कों ने भिलसा के प्राचीनतम हिन्दू मन्दिर तथा उज्जैन के महाकाल के मन्दिर को लूटा और नष्ट कर दिया। परन्तु यह मालवा की विजय न थी बल्कि केवल एक लूट मात्र थी। दोआब में इल्तुतमिश ने बदायूँ, कन्नौज, बनारस, कटेहर और बहराइच को पुनः जीतने में सफलता प्राप्त की तथा अवध में भी तुर्की सत्ता को स्थापित किया। इस प्रकार इल्तुतमिश ने तुर्की सत्ता से स्वतन्त्र हो गये प्रदेशों को पुनः जीतने में सफलता प्राप्त की, हिन्दू-राजाओं की आक्रमणकारी शक्ति को दुर्बल कर दिया और विजित प्रदेशों में सफलतापूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित किया।

परन्तु इस कार्य की पूर्ति के लिए इल्तुतमिश को कठोर संघर्ष करना पड़ा था। यह अवध में हुए पिर्थू के विद्रोह से स्पष्ट हो जाता है जिसके बारे में इल्तुतमिश के पुत्र और अवध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सूबेदार नासिरुद्दीन ने कहा था कि उसने प्रायः 1,20,000 मुसलमानों का रक्त बहाया था। इसी प्रकार राजस्थान में भी इल्तुतमिश की सफलता पूर्ण न थी। राजपूतों की शक्ति नष्ट कर दी गयी हो, ऐसी कोई बात न थी। नागदा के गुहिलौतों और गुजरात के चालुक्यों ने उसे परास्त किया था, बूँदी के राजपूतों ने उसके एक अधिकारी के आक्रमण को विफल कर दिया था, इल्तुतमिश द्वारा बयाना और थानागढ़ की विजय भी चौहानों की शक्ति के विकास को रोकने में असफल रही थी, मालवा में परमार राजपूतों का शासन पहले की भाँति रहा और ग्वालियर की विजय ने चन्देल राजपूतों के उत्साह में कोई कमी नहीं की जिनके आधिपत्य में झाँसी के निकट तक का प्रदेश रहा।

7. खलीफा द्वारा इल्तुतमिश को सुल्तान के पद की स्वीकृति—इल्तुतमिश ने बगदाद के खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति की प्रार्थना की। 18 फरवरी 1229 ई. में खलीफा के प्रतिनिधि इस स्वीकृति-पत्र को लेकर दिल्ली पहुँचे। खलीफा द्वारा इल्तुतमिश को सुल्तान स्वीकार किये जाने के कारण उसका पद कानूनी बन गया और दिल्ली-सल्तनत वैध रूप से एक स्वतन्त्र राज्य बन गया जिसके लिए कुतुबुद्दीन ऐबक ने प्रयत्न आरम्भ किये थे। इस स्वीकृति से इल्तुतमिश को सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाने और दिल्ली के सिंहासन पर अपने बच्चों के अधिकार को सुरक्षित करने में सहायता मिली।

8. शासन प्रबन्ध—इल्तुतमिश ने शासन में कुछ नवीन बातें आरम्भ कीं। उसने इक्ता-व्यवस्था को आरम्भ किया, केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी। उसने इक्ता संस्था का प्रयोग भारतीय समाज की सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त करने तथा साम्राज्य के दूरस्थ भागों को केन्द्र के साथ संयुक्त करने के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया। उसने मुद्रा में सुधार किया। वह पहला तुर्क शासक था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलाये। सल्तनत युग के दो महत्त्वपूर्ण सिक्के—चाँदी का टंका (175 ग्रेन) और ताँबे का जीतल उसी ने आरम्भ किये तथा सिक्कों पर टकसाल का नाम लिखवाने की परम्परा शुरू की। उसने उत्तराधिकार के रूप में ज्येष्ठ पुत्र का चयन करने की सामान्य प्रथा को तोड़ दिया। उसने लाहौर के स्थान पर दिल्ली को राजधानी बनाया।

मृत्यु

1236 ई. में इल्तुतमिश ने बनिहान के शासक और जलालुद्दीन मंगबर्नी के अधिकारी सैफुद्दीन हसन कार्लूग (परन्तु वूल्जले हेग के अनुसार खोक्खरों) पर आक्रमण किया। सैफुद्दीन ने गजनी और सिन्धु नदी के बीच में एक बड़े प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था और मंगोल भी उसे वहाँ से नहीं निकाल सके थे। परन्तु मार्ग में इल्तुतमिश बीमार हो गया जिसके कारण उसे दिल्ली वापस आना पड़ा। अप्रैल 1236 ई. में इल्तुतमिश की मृत्यु हो गयी।

इल्तुतमिश का मूल्यांकन

इल्तुतमिश एक सुसभ्य धार्मिक व्यक्ति, साहसी सैनिक, अनुभवी सेनापति और योग्य शासक था। वह दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ भी था। गुलाम का गुलाम होते हुए भी जिस गति से उसने उन्नति की और अन्त में सुल्तान के पद को प्राप्त किया, वह उसकी योग्यता का प्रमाण था। निस्सन्देह, अन्य अनेक मुइज्जी (सुल्तान मुहम्मद गोरी के) और कुर्त्बा (कुतुबुद्दीन ऐबक के) सरदार भी योग्य थे जिनके बारे में स्वयं इल्तुतमिश ने यह कहा था कि जब वे उसके दरबार में खड़े होते थे तो उसकी इच्छा उनके हाथों और पैरों को चूमने की होती थी। परन्तु वह उन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी को पीछे छोड़ गया और उन सभी ने उसे अपना सुल्तान स्वीकार किया। यह इल्तुतमिश की श्रेष्ठता का प्रमाण था।

इल्तुतमिश सुसभ्य था और उसने अपने दरबार में ईरानी राजदरबार के रीति-रिवाजों और व्यवहार को आरम्भ किया। वह विद्वानों और योग्य व्यक्तियों का सम्मान करता था। उसने मंगोल-आक्रमणों के कारण मध्य-एशिया और इस्लामी प्रदेशों से भागकर भारत आये हुए सभी योग्य व्यक्तियों और राजपुरुषों को अपने दरबार में स्थान दिया। उसने समकालीन विद्वान मिनहाज-उस-सिराज और मलिक ताजुद्दीन को संरक्षण प्रदान किया। निजामुल-मुल्क मुहम्मद जुनैदी, मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी और फखरुल-मुल्क इसामी जैसे योग्य व्यक्ति उसके दरबार में सम्मान प्राप्त किये हुए थे। विभिन्न योग्य व्यक्तियों के कारण "उसका राजदरबार सुल्तान महमूद गजनवी की भाँति ही गौरवपूर्ण बन गया।" इल्तुतमिश ने लाहौर के स्थान पर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और उसे दिल्ली-सल्तनत के सम्मान के अनुकूल सुन्दर और वैभवपूर्ण बनाया। उसने दिल्ली में विभिन्न तालाब, मदरसे, मस्जिदें और इमारतें बनवायीं। उसने कुतुबमीनार को पूरा कराया जो प्रारम्भिक इस्लामी कला का एक श्रेष्ठ नमूना माना गया है।

इल्तुतमिश धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। 'तबकात-ए-नासिरी' के लेखक मिनहाज-उस-सिराज ने इल्तुतमिश के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसके समान धर्मपरायण, दयालु तथा महात्माओं एवं विद्वानों का सम्मान करने वाला कोई दूसरा शासक नहीं हुआ।" इल्तुतमिश रात्रि का पर्याप्त समय प्रार्थना और चिन्तन में व्यतीत करता था। वह सूफी सन्तों, जैसे शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी (जिसके बारे में डॉ. ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि इल्तुतमिश ने उसके ही सम्मान में कुतुबमीनार को बनवाया था), काजी हमीदुद्दीन नागौरी, शेख जलालुद्दीन तबरीजी, शेख वहाबुद्दीन जकारिया, शेख नजीबुद्दीन नख्शबी आदि का बहुत सम्मान करता था। वह धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। यह उसके व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं बल्कि व्यवहार से भी प्रकट होता है। उसने भिलसा और उज्जैन में हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया था। उसके अन्तिम समय में दिल्ली के इस्माइली शियाओं ने उसकी धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर उसे दिल्ली की मस्जिद में कत्ल करने का प्रयत्न किया था। परन्तु जैसा कि डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है, 'उसकी राजनीति उसके धार्मिक विचारों से पृथक रही,' यह ठीक प्रतीत होता है। वह अपने धार्मिक विचारों के कारण तत्कालीन धार्मिक नेताओं का समर्थन प्राप्त करके अपने राज्य को नैतिक समर्थन दिलाने में सफल हुआ। परन्तु वह प्रत्येक अवसर पर उलेमा-वर्ग (धार्मिक व्यक्तियों का वर्ग) से सलाह लेना आवश्यक नहीं मानता था। यह उसके द्वारा अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी बनाने से स्पष्ट होता है।

इल्तुतमिश एक न्यायप्रिय शासक था। इब्नबतूता के वर्णन से पता चलता है कि उसने अपने महल के सामने संगमरमर की दो शेरों की मूर्तियाँ स्थापित करायी थीं जिनके गले में घण्टियाँ लटकी हुई थीं जिनको बजाकर कोई भी व्यक्ति सुल्तान से न्याय की माँग कर सकता था। इसके अतिरिक्त, उसने न्याय करने के लिए सभी शहरों में काजी और अमीरदाद नामक अधिकारी नियुक्त किये थे।

इल्तुतमिश एक साहसी सैनिक और अनुभवी सेनापति था। मुहम्मद गोरी के समय में खोक्खरों के विद्रोह को दबाने के अवसर पर उसने जिस साहस और शौर्य का परिचय दिया था, उसके कारण गोरी ने उसे दासता से मुक्त कर दिया था। एल्दौज और कुबाचा को समाप्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में उसका अपना योगदान था और बंगाल तथा राजस्थान के महत्वपूर्ण युद्धों में उसने स्वयं नेतृत्व किया था। उसकी विजयों का बहुत कुछ श्रेय उसकी स्वयं की सैनिक प्रतिभा और सेनापतित्व की योग्यता को था।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, **"इल्तुतमिश ने शासन-संस्थाओं का निर्माण नहीं किया और वह रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न राजनीतिज्ञ न था।"** निस्सन्देह, इल्तुतमिश की शासन-व्यवस्था के विषय में जानने के साधन उपलब्ध नहीं हैं और सम्भवतया उसने किसी नवीन शासन-व्यवस्था को जन्म नहीं दिया। **परन्तु डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार 'इक्ता' की शासन-व्यवस्था और सुल्तान की सेना के निर्माण का विचार उसने दिल्ली-सल्तनत को प्रदान किया।** उसके अनुसार इल्तुतमिश ने अपने तुर्क अमीरों को भारी संख्या में जागीरें (इक्ता) प्रदान कीं जो दो प्रकार की होती थीं—छोटी और बड़ी। छोटे इक्तादारों को सैनिक-सेवा के बदले में भूमि के कुछ भाग से केवल कर वसूल करने का अधिकार था, जबकि बड़े इक्तादारों को सैनिक-सेवा के अतिरिक्त अपने-अपने इक्ताओं के सम्बन्ध में प्रशासकीय अधिकार भी दिये गये थे। इक्ता-प्रणाली में सामन्तशाही तत्व सम्मिलित न हो जायें, इसके लिए इल्तुतमिश इक्तादारों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित भी करता रहता था। शाही सेना के संगठन का आरम्भ भी इल्तुतमिश ने किया जिस सेना की भर्ती, वेतन, प्रशिक्षण आदि केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता था। **उसने मुद्रा में सुधार किया था,** इसे सभी स्वीकार करते हैं। **वह पहला तुर्क सुल्तान था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलाये।** सल्तनत-युग के ये **महत्वपूर्ण सिक्के चाँदी का 'टंका' और ताँबे का 'जीतल' उसी ने आरम्भ किये थे।** इसके अतिरिक्त नेल्सन राइट के अनुसार, "विदेशों में प्रचलित टंकों पर टकसाल का नाम लिखने की परम्परा को भारत में प्रचलित करने का श्रेय भी इल्तुतमिश को दिया जा सकता है।"

इल्तुतमिश दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ था। भारत की उन परिस्थितियों में वंशानुगत राजतन्त्र की स्थापना करना एक प्रमुख आवश्यकता थी। उसने इसके लिए प्रयत्न किये और सफल हुआ। खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति लेना उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का एक भाग था। अपनी कूटनीतिज्ञता का परिचय उसने चंगेजखाँ और जलालुद्दीन मंगबर्नी के साथ व्यवहार करते हुए दिया। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों के अनुकूल होने पर एल्दौज और कुबाचा को समाप्त करना भी उसकी दूरदर्शिता का प्रमाण था।

परन्तु इल्तुतमिश की मुख्य सफलता भारत में नव-स्थापित तुर्की राज्य को सुरक्षा प्रदान करना, उसे वैधानिक स्थिति दिलाना और उस पर अपने वंश के अधिकार को वंशानुगत अधिकार बनाना था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के शब्दों में, "भारत में मुस्लिम सम्प्रभुता का इतिहास उससे आरम्भ होता है।" ऐबक ने अपने द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों को अधूरा छोड़ दिया था। इल्तुतमिश ने उन कार्यों को पूर्ण किया। एल्दौज और कुबाचा को समाप्त करके उसने गोर और गजनी के स्वामित्व के दावे से दिल्ली-सल्तनत को मुक्त कर दिया, राजस्थान के राजपूत शासकों द्वारा दिल्ली-सल्तनत के छीने गये प्रदेशों को पुनः अपने अधीन करके तथा दोआब के विद्रोह को दबाकर उसने दिल्ली-सल्तनत की वास्तविकता को सिद्ध कर दिया, बंगाल को दिल्ली-सल्तनत का एक 'इक्ता' (सूबा) बनाकर उसने राज्य-विस्तार किया और मंगोल-आक्रमण से दिल्ली-सल्तनत की रक्षा करके उसने उसे महान् संकट से बचा लिया। डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है—"ऐबक ने दिल्ली-सल्तनत की रूपरेखा के बारे में सिर्फ दिमागी आकृति बनायी थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व, एक पद, एक प्रेरणा-शक्ति, एक दिशा,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक शासन-व्यवस्था और एक शासक-वर्ग प्रदान किया।" इल्तुतमिश को न तो ऐबक की भाँति सुल्तान मुहम्मद गोरी का समर्थन प्राप्त हो सका था और न उसकी भाँति भारत के तुर्की सरदारों का नैतिक समर्थन ही मिला था। इसके विपरीत, उसे दिल्ली-सल्तनत को प्राप्त करने के लिए आरामशाह से युद्ध करना पड़ा था। परन्तु तब भी अपनी मृत्यु के अवसर तक उसने एक दृढ़ तुर्की राज्य की स्थापना कर दी, उसकी सीमाएँ निश्चित कर दीं और खलीफा से सुल्तान पद की स्वीकृति प्राप्त करके अपने और अपने बच्चों का दिल्ली सिंहासन पर कानूनी अधिकार स्थापित कर दिया। अपने वंश के अधिकार को उसने इतना अधिक दृढ़ बना दिया था कि उसकी मृत्यु के तीस वर्ष बाद भी व्यक्ति यह विश्वास करते रहे कि दिल्ली के सिंहासन पर केवल उसी के वंश का अधिकार था। इस प्रकार, वास्तव में, इल्तुतमिश ने दिल्ली-सल्तनत का निर्माण किया और वह उसका पहला सुल्तान था। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है—"ऐबक ने दिल्ली-सल्तनत की सीमाओं और उसकी सम्प्रभुता की रूपरेखा बनायी। इल्तुतमिश, निस्सन्देह, उसका पहला सुल्तान था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है—"उसने एक ऐसे सैनिक राजतन्त्र की नींव डाली जो आगे चलकर खलजियों के नेतृत्व में निरंकुशता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।" प्रो. हबीबुल्ला ने इल्तुतमिश को महान् नहीं माना है और कुछ अन्य इतिहासकार, जैसे डॉ. एस. आर. शर्मा उसे गुलाम-शासकों में प्रथम स्थान प्रदान नहीं करते। परन्तु तब भी इल्तुतमिश एक श्रेष्ठ सुल्तान था, यह सभी मानते हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसे गुलाम-शासकों में प्रथम स्थान दिया है और सर वूल्जले हेग ने भी लिखा है—"इल्तुतमिश गुलाम-शासकों में सबसे महान् था।" इस प्रकार यह माना जाता है कि इल्तुतमिश गुलाम-शासकों में श्रेष्ठतम शासक था। नवस्थापित तुर्की राज्य की रक्षा करने, उसे दृढ़ बनाने, उसे एक राजधानी प्रदान करने और उसे एक स्वतन्त्र संगठित तथा वंशानुगत राज्य बनाने का श्रेय उसी को था। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है—"इल्तुतमिश, निस्सन्देह, गुलाम-वंश का वास्तविक संस्थापक था।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सिंहासनारोहण के अवसर पर इल्तुतमिश की क्या कठिनाइयाँ थीं ? वह उन्हें दूर करने में कहाँ तक सफल रहा ?
2. "भारत में मुस्लिम सम्प्रभुता का इतिहास इल्तुतमिश के शासनकाल से आरम्भ होता है।" विवेचना कीजिए।
3. "इल्तुतमिश गुलाम वंश का संस्थापक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इल्तुतमिश के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
2. इल्तुतमिश के काल में होने वाले मंगोल आक्रमण के संकट का उल्लेख कीजिए।
3. सिंहासनारोहण के पश्चात् इल्तुतमिश की कठिनाइयों पर एक लेख लिखिए।
4. इल्तुतमिश के चरित्र की चार विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. सिद्ध कीजिए इल्तुतमिश दास वंश का संस्थापक था।
6. इल्तुतमिश की बंगाल विजय का वर्णन कीजिए।
7. इल्तुतमिश के धार्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
8. एक साहसी सैनिक व अनुभवी सेनापति के रूप में इल्तुतमिश का मूल्यांकन कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इल्तुतमिश किसका दास था ?
   (अ) मुहम्मद गोरी का (ब) कुतुबुद्दीन ऐबक का
   (स) आरामशाह का (द) इनमें से कोई नहीं।
2. इल्तुतमिश ऐबक का क्या था ?
   (अ) भाई (ब) निकट सम्बन्धी
   (स) दामाद (द) इनमें से कोई नहीं।
3. 1211 ई. में इल्तुतमिश को सुल्तान के पद की स्वीकृति प्रदान की थी—
   (अ) मुहम्मद गोरी ने (ब) ऐबक ने
   (स) तत्कालीन खलीफा ने (द) इनमें से कोई नहीं।
4. इल्तुतमिश को विधिवत दासता से मुक्ति प्राप्त हुई थी—
   (अ) 1205 ई. में (ब) 1206 ई. में
   (स) 1207 ई. में (द) 1208 ई. में।
5. ऐबक ने इल्तुतमिश को कहाँ क्रय किया था ?
   (अ) लाहौर में (ब) दिल्ली में
   (स) गजनी में (द) गोर में।
6. ऐबक ने किसके कहने पर 1285 ई. में इल्तुतमिश को दासता से मुक्त किया था—
   (अ) मुहम्मद गोरी के (ब) स्वेच्छा से
   (स) अमीरों के कहने पर (द) सैनिकों के दबाव से।
7. ऐबक ने उसकी प्रथम नियुक्ति की थी—
   (अ) अमीरे शिकार के पद पर (ब) सर जांदार के पद पर
   (स) अमीरे आखूर के पद पर (द) बरन के सूबेदार के पद पर।
8. इल्तुतमिश के काल में मंगोलों के आक्रमण का नेतृत्व कर रहा था—
   (अ) हलाकू (ब) कुबलाई खाँ
   (स) चंगेज खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।
9. तुर्कान-ए-चिहालगानी का गठन किया था—
   (अ) ऐबक ने (ब) आरामशाह ने
   (स) मुहम्मद गोरी ने (द) इल्तुतमिश ने।
10. इल्तुतमिश ने 1215-1216 ई. के तराइन के युद्ध में पराजित किया था—
    (अ) एल्दौज को (ब) कुबाचा को
    (स) राजपूतों को (द) मंगोलों को।
11. किसका पीछा करते हुए मंगोल 1221 ई. में सिन्धु नदी के तट पर आ पहुँचे थे ?
    (अ) ख्वारिज्म के शाह का (ब) जलालुद्दीन मांगबर्नी का
    (स) राय खोक्खर का (द) इनमें से कोई नहीं।
12. जलालुद्दीन की बहादुरी व साहस को देखकर किसने कहा था—"एक पिता को ऐसा पुत्र चाहिए।"
    (अ) इल्तुतमिश ने (ब) ऐबक ने
    (स) चंगेज खाँ ने (द) कुबलाई खाँ ने।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. इल्तुतमिश से पराजित होने के बाद कुबाचा ने शरण ली थी—
(अ) मुल्तान के किले में (ब) लाहौर के किले में
(स) रावर के दुर्ग में (द) भक्खर के किले में।

14. कुबाचा की मृत्यु हुई थी—
(अ) सिन्धु नदी में डूबकर (ब) विषपान से
(स) तीर लगने से (द) इनमें से कोई नहीं।

15. अलीमर्दान की हत्या के बाद बंगाल की गद्दी पर आसीन होते ही हुसामुद्दीन एवाज ने उपाधि धारण की थी—
(अ) सुल्तान हुसामुद्दीन (ब) सुल्ताने आजम हुसामुद्दीन
(स) सुल्तान गियासुद्दीन (द) इनमें से कोई नहीं।

16. हिन्दुओं एवं राजपूतों की स्वतन्त्रता की प्रकृति पर अंकुश लगाने में इल्तुतमिश रहा था—
(अ) असफल (ब) सफल
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

17. इल्तुतमिश को बगदाद के खलीफा ने सुल्तान के पद की स्वीकृति प्रदान की थी—
(अ) 1225 ई. में (ब) 1226 ई. में
(स) 1228 ई. में (द) 1229 ई. में।

18. इल्तुतमिश द्वारा जारी किये गये ताँबे के सिक्के का नाम था—
(अ) टंका (ब) दाम
(स) जीतल (द) इनमें से कोई नहीं।

19. किस अभियान पर जाते समय इल्तुतमिश अस्वस्थ होकर दिल्ली पहुँचने पर मरा था—
(अ) मुल्तान के अभियान पर (ब) बामियान के अभियान पर
(स) मालवा के अभियान पर (द) रणथम्भौर के अभियान पर।

20. इल्तुतमिश ने नवस्थापित तुर्की साम्राज्य को प्रदान किया था—
(अ) सुरक्षा (ब) स्थायित्व
(स) वैधानिक स्थिति (द) उपरोक्त सभी।

21. इल्तुतमिश के सन्दर्भ में किस विद्वान ने लिखा है, "भारत में मुस्लिम सम्प्रभुता का इतिहास उससे प्रारम्भ होता है।"
(अ) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने (ब) डॉ. ए. बी. पाण्डेय ने
(स) डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने (द) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (स), 4. (अ), 5. (ब), 6. (अ), 7. (ब), 8. (स), 9. (द), 10. (अ), 11. (ब), 12. (स), 13. (द), 14. (अ), 15. (स), 16. (ब), 17. (द), 18. (स), 19. (ब), 20. (द), 21. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6

सुल्तान इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी

[सुल्तान और तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट (तुर्कान-ए-चिहालगानी) में राज्य-शक्ति के लिए संघर्ष : 1236-1265 ई.]

सुल्तान इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् दस वर्षों के अन्तर्गत ही उसके वंश के चार सुल्तानों को बलि के बकरों की भाँति कत्ल किया गया। उसके बाद पाँचवें सुल्तान ने एक कठपुतले की भाँति राज्य किया और अन्त में इल्तुतमिश के द्वारा खरीदे गये एक गुलाम बलबन ने उसके राजवंश को समाप्त करके दिल्ली के सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। निस्सन्देह, इसका मुख्य कारण इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों का दुर्बल और अयोग्य होना था। सुल्ताना रजिया के अतिरिक्त इल्तुतमिश के जीवित पुत्रों अथवा पौत्रों में से कोई भी सुल्तान बनने के योग्य न था। परन्तु इन घटनाओं का एक अन्य मुख्य कारण इल्तुतमिश के गुलाम-सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ थीं जिनके कारण उन्होंने सुल्तानों की दुर्बलता का लाभ उठाकर दिल्ली की राजसत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इल्तुतमिश के शासन का मुख्य आधार विदेशी मुसलमान थे। वह विदेशी मुसलमान दो वर्गों में बँटे हुए थे—प्रथम, उसके तुर्क गुलाम-सरदार (तुर्कान-ए-पाक-अस्ल) और दूसरे, ताजिक (ताजिकान-ए-गुजीदा-वस्ल) अथवा वे विदेशी मुसलमान जो तुर्क नहीं थे परन्तु उच्च वंश के थे और अपनी योग्यता के कारण श्रेष्ठ पदों को प्राप्त कर सके थे। तुर्की गुलाम-सरदार अपने को "ख्वाजा-तश" अर्थात् एक मालिक के गुलाम पुकारते थे और वे एक-दूसरे को भाई-भाई समझते थे। राज्य के शासन में उनका विशेष प्रभुत्व था और इन सभी ने सुल्तान इल्तुतमिश की वफादारी से सेवा की। परन्तु इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारी उन गुलाम सरदारों को स्वामित्व में न रख सके अपितु वे सरदार ही उन सुल्तानों को बनाने और मिटाने वाले बन गये। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने को 'सुल्तानी' अर्थात् उस सुल्तान के सरदार पुकारना आरम्भ किया जिसको उन्होंने सिंहासन पर बैठाया था। उनमें से प्रत्येक राज्य का बड़ा अधिकारी था, प्रत्येक के पास अपनी सेना अथवा अंगरक्षक थे तथा प्रत्येक के पास अपने-अपने महल तथा सुख एवं शक्ति के साधन थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने अपने एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी ताजिकों को समाप्त कर दिया और राज्य की शक्ति का एकमात्र आधार बन गये। इल्तुतमिश के अयोग्य उत्तराधिकारियों से उन्होंने राज्य की सम्प्रभुता को छीनने का प्रयत्न किया। परन्तु क्योंकि उनमें प्रत्येक महत्वाकांक्षी था और प्रत्येक दूसरे के साथ समानता का दावा करता था, इस कारण उनमें से कोई भी एक उस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय तक सुल्तान न बन सका जब तक कि उसने बाकी अन्य सभी को समाप्त नहीं कर दिया। अपनी पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वे एक लम्बे समय तक अपने में से किसी एक को सुल्तान नहीं बना सके परन्तु इस बीच में उन्होंने मिलकर सुल्तान की शक्ति को अपने हाथों में लेने और अपनी इच्छा के अनुसार सुल्तान को बनाने और हटाने का प्रयत्न अवश्य किया। इस कारण सुल्तानों और उनके गुलाम-सरदारों में राज्य-शक्ति के लिए संघर्ष हुआ। उन गुलाम-सरदारों की संख्या निश्चित न थी परन्तु यह संख्या 40 के आसपास रही थी। इस कारण उनका गुट 'चालीस सरदारों के गुट' (तुर्कान-ए-चिहालगानी) के नाम से विख्यात हुआ। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् प्रायः तीस वर्ष का दिल्ली-सल्तनत का इतिहास मुख्यतया सुल्तानों और 'चालीस सरदारों के गुट' के संघर्ष का इतिहास रहा। इस संघर्ष में सरदारों की विजय हुई और अन्त में इन्हीं गुलाम-सरदारों में से एक सरदार बलबन ने अपने सभी साथियों के प्रभाव को नष्ट करके सिंहासन पर बैठने में सफलता पायी और दिल्ली में अपने राजवंश की सत्ता स्थापित की।

सुल्तानों और सरदारों के गुट के इस संघर्ष के कारण सुल्तान का सम्मान और शक्ति नष्ट हो गयी, उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मंगोल आक्रमणों को प्रोत्साहन मिला, हिन्दू राजपूत शासकों ने तुर्कों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, दूरस्थ सूबों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये, आन्तरिक विद्रोह हुए और शासन व्यवस्था दुर्बल हुई। भाग्यवश अथवा सुल्तानों की दुर्बलता के कारण यह संघर्ष लम्बा नहीं चला वरन् मूलतया दस वर्ष पश्चात् नासिरुद्दीन महमूद के सिंहासन पर बैठ जाने से समाप्त हो गया और इसके साथ-साथ शासन में एक योग्य सरदार बलबन का प्रभुत्व हो जाने के कारण स्थिति सँभल गयी अन्यथा भारत के तुर्की राज्य को अधिक हानि उठानी पड़ती।

[1]
रुकनुद्दीन फिरोजशाह (1236 ई.)

इल्तुतमिश का सबसे बड़ा पुत्र नासिरुद्दीन महमूद उसका योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध होता परन्तु 1229 ई. में ही उसकी मृत्यु हो जाने की वजह से इल्तुतमिश को तभी से अपना उत्तराधिकारी चुनने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। उसका दूसरा पुत्र फिरोज आलसी और विलासी था तथा उसके अन्य पुत्रों की आयु कम थी। ऐसी स्थिति में इल्तुतमिश ने अपनी योग्य पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी चुना। ग्वालियर पर आक्रमण करने के अवसर पर वह रजिया को शासन की देखभाल करने के लिए राजधानी दिल्ली में छोड़ गया और जिस कुशलता से रजिया ने उस कार्य की पूर्ति की उससे वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि ग्वालियर से वापस आने पर उसने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और चाँदी के 'टंका' पर उसका नाम अंकित करा दिया। इस अवसर पर उसके कुछ अमीरों ने रजिया के स्त्री होने के नाते उसका विरोध किया परन्तु इल्तुतमिश ने उनको यह कहकर शान्त कर दिया कि "मेरी मृत्यु के पश्चात् यह पता लग जायेगा कि मेरी पुत्री के अलावा मेरे पुत्रों में से कोई अन्य शासक बनने के योग्य नहीं है।"

परन्तु सम्भवतया इल्तुतमिश ने अपनी मृत्यु से पहले अपने पुत्र फिरोज को अपना उत्तराधिकारी निश्चित कर दिया था। फिरोज का व्यक्तित्व आकर्षक था और उसकी माँ शाह तुर्कान (जो पहले एक दासी थी) महत्वाकांक्षी तथा कुचक्री थी। उस समय इल्तुतमिश के प्रान्तीय इक्तादार (सूबेदार) पश्चिमी सीमा के अभियान से उसके साथ वापस दिल्ली आये हुए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। शाह तुर्कान ने उनके साथ मिलकर अपने पुत्र के पक्ष को दृढ़ कर लिया और इल्तुतमिश की मृत्यु होने के अगले दिन ही फिरोज को सुल्तान घोषित कर दिया गया। निस्सन्देह, फिरोज को सुल्तान बनाने में मुख्य योगदान प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) का था।

परन्तु फिरोज विलासी और अयोग्य था तभी उसकी माँ क्रूर सिद्ध हुई। फिरोज भोग-विलास में फँस गया और वह अनावश्यक रूप से जनता में धन बिखेरने लगा। उसकी माँ शाह तुर्कान ने शाही परिवार की स्त्रियों और बच्चों पर अत्याचार करने आरम्भ किये और शासन की शक्ति का स्वयं उपभोग करने लगी। उसके और फिरोज के व्यवहार से अमीरों एवं सरदारों में असन्तोष हो गया और जब इल्तुतमिश के एक छोटे पुत्र कुतुबुद्दीन को अन्धा करके मरवा दिया गया तब सरदारों का फिरोज और उसकी माँ पर कोई भरोसा न रहा। इसके अतिरिक्त फिरोज की अयोग्यता और उसकी माँ के शासन में हस्तक्षेप करने से दरबार के अनेक अमीर और कुछ प्रान्तीय इक्तादार (सूबेदार) असन्तोष अनुभव कर रहे थे। इस कारण विभिन्न स्थानों पर विद्रोह की तैयारियाँ होने लगीं।

फिरोज के भाई और अवध के सूबेदार गियासुद्दीन ने विद्रोह करके बंगाल से दिल्ली आने वाले खजाने और निकट के विभिन्न नगरों को लूट लिया। प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) में से बदायूँ के इक्तादार मलिक इजाउद्दीन मुहम्मद सालारी, मुल्तान के इक्तादार मलिक इजउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज, हाँसी के इक्तादार मलिक सैफुद्दीन कूची और लाहौर के इक्तादार मलिक अलाउद्दीन जानी ने सम्मिलित होकर विद्रोह किया और फिरोज को सिंहासन से हटाने के उद्देश्य से अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़े। फिरोज अपनी सेना को लेकर उनके मुकाबले के लिए आगे बढ़ा। जब फिरोज अपनी सेना को लेकर कुहराम की ओर बढ़ रहा था तभी मार्ग में उसकी सेना के अधिकांश सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, गैर-तुर्की सरदारों को कत्ल कर दिया और दिल्ली वापस चले गये। इस प्रकार सेना के प्रमुख भाग ने फिरोज का साथ छोड़ दिया जिसके कारण उसे विद्रोहियों का मुकाबला करने के स्थान पर राजधानी की ओर वापस लौटना पड़ा।

दिल्ली में रजिया ने फिरोज की अनुपस्थिति का लाभ उठाया। शुक्रवार की नमाज के समय वह लाल वस्त्र (लाल वस्त्र वह पहनता था जो न्याय की माँग करता था) पहनकर जनता के सम्मुख गयी। उसने जनता को इल्तुतमिश की इच्छा से अवगत कराया, क्रूर शाह तुर्कान के विरुद्ध सहायता माँगी और, सम्भवतया, यह वायदा भी किया कि यदि शासक बनने का अवसर मिलने पर वह अयोग्य सिद्ध हो तो उसका सिर काट दिया जाय। दिल्ली की जनता ने उत्साहित होकर उसका साथ दिया। ऐसी स्थिति में फिरोज के दिल्ली में प्रवेश करने से पहले ही रजिया को सिंहासन पर बैठा दिया गया। फिरोज की माँ शाह तुर्कान को कारागार में डाल दिया गया और स्वयं फिरोज को पकड़कर कत्ल कर दिया गया। इस प्रकार फिरोज का शासनकाल सात माह में समाप्त हो गया और रजिया ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त कर लिया।

फिरोज के शासन पर बैठने और हटाये जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि फिरोज को सुल्तान बनाने में सरदारों—मुख्यतया प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) का योगदान था और उसके सिंहासन से हटाये जाने में उसके प्रति दिल्ली के नागरिकों का असन्तोष और उसके दिल्ली के सरदारों का उसके विरुद्ध विद्रोह करना था। निस्सन्देह प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) का विद्रोह भी इस घटना को बढ़ावा देने वाला था यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इसमें भाग नहीं लिया था। इन घटनाओं ने भविष्य के इतिहास पर प्रभाव डाला। रजिया स्त्री थी, इस कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरदारों ने सुल्तान बनने के मामले में हस्तक्षेप किया था। फिरोज अयोग्य निकला, इस कारण सरदारों ने पुनः सुल्तान बनने के मामले में हस्तक्षेप किया। दोनों बार उनका हस्तक्षेप सफल हुआ। इसमें उनका उत्साह और आत्मविश्वास बढ़ा। रजिया को सुल्ताना बनाने में प्रान्तीय सूबेदारों का भाग न था, इस कारण वे असन्तुष्ट रहे जिससे रजिया की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ आरम्भ हुईं। वास्तव में परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार बन रही थीं जिनमें दिल्ली के सरदार ही नहीं वरन् प्रान्तीय सूबेदार भी सुल्तान को बनाने के निर्णय में शान्ति के आधार पर अपने अधिकार की माँग कर रहे थे। इल्तुतमिश के गुलाम सरदार सिंहासन पर उसके वंश के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी यह निर्णय अपने हाथों में रखने का प्रयत्न कर रहे थे कि उसके वंश में से सुल्तान कौन होगा ? इस प्रश्न का जो उत्तर रजिया ने दिया उसके कारण उसका सम्पूर्ण शासनकाल अपने सरदारों और इक्तादारों (सूबेदारों) से संघर्ष करने में व्यतीत हुआ।

[2]
सुल्ताना रजिया (1236-1240 ई.)

प्रो. के. ए. निजामी के अनुसार रजिया के सुल्ताना बनने से कुछ निम्नलिखित बातें स्पष्ट हुईं—

(1) दिल्ली के नागरिकों ने दिल्ली सल्तनत के इतिहास में प्रथम बार सुल्तान को बनाने में भाग लिया। इस कारण सुल्ताना रजिया को दिल्ली में रहते हुए कोई भय नहीं था और उसे दिल्ली में रहते हुए षड्यन्त्र द्वारा सिंहासन से नहीं हटाया जा सकता था।

(2) सुल्ताना रजिया ने यह वायदा किया कि यदि वह सफल न हुई तो दिल्ली के नागरिकों को उसे हटाने का अधिकार था। इस प्रकार उसका सिंहासन पर बैठना सुल्ताना और उसकी प्रजा के बीच एक समझौता था।

(3) उसके सिंहासन पर बैठने से इल्तुतमिश की इच्छा की पूर्ति हुई।

(4) उसके सिंहासन पर बैठने से धार्मिक वर्ग की राजनीति में असहायता प्रकट हुई क्योंकि इस्लाम की परम्परा के अनुसार एक स्त्री का सिंहासन पर बैठना वर्जित था।

(5) इससे तुर्कों की बौद्धिक उदारता प्रमाणित हुई क्योंकि उन्होंने एक स्त्री को शासक स्वीकार कर लिया।

सुल्ताना रजिया योग्य पिता की योग्य पुत्री थी। वह मध्य-युग की अद्वितीय स्त्री थी। व्यक्तिगत दृष्टि से उसने भारत में पहली बार स्त्री के सम्बन्ध में इस्लाम की परम्पराओं का उल्लंघन किया और राजनीतिक दृष्टि से उसने राज्य की शक्ति को सरदारों अथवा सूबेदारों में विभाजित करने के स्थान पर सुल्तान के हाथों में केन्द्रित करने पर बल दिया और इस प्रकार इल्तुतमिश के सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राजतन्त्र के सिद्धान्त का समर्थन किया जो उस समय की परिस्थितियों में तुर्की-राज्य के हित में था। परन्तु इसी कारण रजिया को प्रारम्भ से ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

रजिया के सिंहासन पर बैठने के अवसर पर बदायूँ, मुल्तान, हाँसी और लाहौर के इक्तादार अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। **प्रान्तीय इक्तादारों ने फिरोज को सिंहासन पर बैठाने में मुख्य भाग लिया था** और उसको सिंहासन से उतारने के लिए वे विद्रोही बनकर अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़े थे। दिल्ली में फिरोज के स्थान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर रजिया सुल्तान बन चुकी थी। इससे उनका एक उद्देश्य तो पूरा हो गया था, परन्तु रजिया को सुल्तान बनाने में उन्होंने भाग नहीं लिया था। वे इस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार न थे कि सुल्तान के चुनाव में उनकी भी सम्मति होनी चाहिए। इस कारण वे अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली तक पहुँच गये। वजीर निजामुल-मुल्क जुनैदी पहले ही फिरोज का साथ छोड़कर उनसे जा मिला था और क्योंकि रजिया के चुनाव में उसका भी कोई योगदान न था अतएव वह भी रजिया को सुल्तान मानने के लिए तैयार न हुआ। रजिया प्रान्तीय इक्तादारों को सुल्तान चुनने का अधिकार देने को तैयार न थी। इस कारण उसने इन आक्रमणकारी इक्तादारों से युद्ध करने का निश्चय किया और अपनी सेना के साथ दिल्ली से बाहर निकली। छुटपुट युद्ध से कोई परिणाम नहीं निकला। उसके पश्चात् रजिया ने चालाकी से काम लिया। उसने बदायूँ के इक्तादार (सूबेदार) मलिक इजाउद्दीन मुहम्मद सालारी और मुल्तान के इक्तादार मलिक इजउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज को गुप्त रूप से अपनी तरफ मिला लिया और उन्होंने वजीर जुनैदी एवं अन्य सरदारों को कैद करने का वायदा किया। इसकी सूचना अन्य सरदारों को हो गयी अथवा रजिया ने जानबूझकर स्वयं यह सूचना उनके पास पहुँच जाने दी। इससे विद्रोही सरदारों का मनोबल समाप्त हो गया और वे भाग खड़े हुए। उनका पीछा किया गया। हाँसी का सूबेदार मलिक सैफुद्दीन कूची और उसका भाई फखरुद्दीन पकड़े गये तथा कारागार में डाल दिये गये। लाहौर का सूबेदार मलिक अलाउद्दीन जानी मारा गया और उसका सिर काटकर सुल्ताना के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। वजीर जुनैदी सिरमूर की पहाड़ियों में भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। इन विद्रोही सरदारों का दमन रजिया की कूटनीति और शक्ति की एक बड़ी विजय थी। इस विजय के पश्चात् ही वह वास्तविक सुल्ताना होने का दावा कर सकी।

विद्रोही इक्तादारों को परास्त करने के पश्चात् रजिया ने अपने शासन को कौशल एवं शक्ति से दृढ़ किया और सफल हुई। उसका प्रमुख लक्ष्य शासन से तुर्की गुलाम-सरदारों के प्रभाव को समाप्त करके उन्हें सिंहासन के अधीन बनाना था। उसने अपने विश्वासपात्र सरदारों को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया। विभिन्न पदों और सूबों में उसने नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की। ख्वाजा मुहाजबुद्दीन को वजीर, मलिक सैफुद्दीन ऐबक बहतू को सेना का प्रधान और उसकी मृत्यु के पश्चात् मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी को 'नायब-ए-लश्कर' तथा मलिक इजउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज को लाहौर का इक्ता (सूबा) दिया गया। दो अन्य नियुक्तियाँ भी महत्वपूर्ण थीं। मलिक-ए-कबीर इख्तियारुद्दीन एतगीन को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद दिया गया और इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया को भटिण्डा का इक्तादार (सूबेदार) बनाया गया। ये दो अधिकारी रजिया के कृपापात्र थे और उसी की कृपा से इन श्रेष्ठ पदों पर पहुँचे थे। परन्तु बाद में रजिया के पतन में इन्हीं दोनों ने प्रमुख भाग लिया। एक अबीसीनियन मलिक जमालुद्दीन याकूत को रजिया ने 'अमीर-ए-अखूर' (अश्वशाला का प्रधान) का सम्मानित पद दिया। जमालुद्दीन याकूत रजिया का कृपापात्र था और वह रजिया के घोड़े पर बैठने के अवसर पर उसे अपने हाथों का सहारा दिया करता था। इस कारण कुछ इतिहासकारों ने रजिया पर याकूत के साथ प्रेम-सम्बन्ध होने का आरोप लगाया है। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस आरोप को झूठा मानते हैं। रजिया ने अपने सरदारों को बड़े कौशल से अपने अधीन किया और बिहार के विद्रोही सरदार तुगुलखाँ ने भी रजिया के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। उससे रजिया का आधिपत्य उच्छ से लेकर लखनौती तक स्वीकार करा लिया गया। परन्तु रजिया को रणथम्भौर और ग्वालियर को जीतने में सफलता न मिली जो इस बात का प्रमाण था कि इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् हिन्दू-शासक पुनः शक्तिशाली बन गये थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु रजिया केवल इससे सन्तुष्ट न थी। **सुल्तान की शक्ति और सम्मान में वृद्धि करने के लिए उसने अपने व्यवहार में परिवर्तन किया।** उसने पर्दा त्याग दिया, मर्दाने कपड़े पहनकर दरबार में जाना शुरू किया, शिकार और घुड़सवारी करना आरम्भ किया और अपनी जनता के सम्मुख खुले-मुँह जाने लगी। रजिया के व्यवहार से प्रतिक्रियावादी मुसलमान-वर्ग अवश्य असन्तुष्ट हुआ होगा परन्तु यह उसके विरुद्ध असन्तोष का मुख्य कारण न था। रजिया का यह व्यवहार इस बात का प्रमाण था कि वह सुल्तान के रूप में पुरुषों की भाँति कार्य करना चाहती थी और उसका स्त्री होना उसके शासन की दुर्बलता नहीं बन सकता था।

1238 ई. में गजनी और बामियान के ख्वारिज्मशाह के सूबेदार मलिक हसन कार्लुग ने मंगोलों के विरुद्ध रजिया से सहायता माँगी। रजिया ने उससे सहानुभूति प्रकट करते हुए 'बरन' की आय उसे देने का वायदा किया परन्तु सैनिक सहायता नहीं दी। इस प्रकार **इल्तुतमिश की भाँति उसने भी मंगोलों के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा की।**

रजिया के शासन के तीसरे वर्ष तक यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि **रजिया शासन को अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहती थी।** विदेशी और तुर्की मुसलमानों को विभिन्न शासकीय पदों पर नियुक्त करना उसकी उस योजना का भाग था जिसके द्वारा वह गुलाम तुर्की सरदारों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न कर रही थी। **इसे तुर्की गुलाम-सरदार सहन नहीं कर सके।** उन्होंने रजिया को सिंहासन से हटाकर अपनी शक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न किया और इस कारण उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। इस षड्यन्त्र में दिल्ली और सूबों के वे सरदार जो प्रभावशाली 'चालीस सरदारों के गुट' के सदस्य थे, सम्मिलित थे। 'अमीर-ए-हाजिब' इख्तियारुद्दीन एतगीन, लाहौर के सूबेदार कबीरखाँ ऐयाज और भटिण्डा के सूबेदार इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया ने इस षड्यन्त्र का नेतृत्व किया। परन्तु दिल्ली में रजिया पूर्ण सुरक्षित थी। दिल्ली के नागरिक उसके प्रति वफादार थे और वह पूर्ण सचेत थी जिसके कारण महल में कोई षड्यन्त्र सफल नहीं हो सकता था और दिल्ली पर आक्रमण करके उसे जीतने का प्रयत्न पहले की भाँति असफल हो सकता था। इस कारण रजिया को उसकी राजधानी से दूर ले जाकर ही समाप्त किया जा सकता था। इस आशय से **1240 ई. में लाहौर के इक्तादार (सूबेदार) कबीरखाँ ने विद्रोह किया।** रजिया ने तुरन्त अपनी सेना लेकर उस पर आक्रमण किया। यह आक्रमण इतनी शीघ्रता से हुआ कि अन्य षड्यन्त्रकारी सरदार कबीरखाँ की सहायता के लिए पहुँचने का अवसर न पा सके। अकेला कबीरखाँ रजिया से युद्ध में परास्त हो गया और भाग खड़ा हुआ। रजिया ने उसका पीछा किया। चिनाब नदी के उस पार मंगोलों का आतंक था। इस कारण रजिया द्वारा वहाँ तक पीछा किये जाने पर **कबीरखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया।** रजिया ने उससे लाहौर की सूबेदारी छीन ली और उसके स्थान पर उसे मुल्तान का सूबा प्रदान कर दिया। परन्तु रजिया को राजधानी में वापस आये कठिनाई से दस दिन ही हुए थे कि उसे **भटिण्डा के सूबेदार अल्तूनिया के विद्रोह का समाचार मिला।** अल्तूनिया रजिया के 'अमीर-ए-हाजिब' एतगीन का घनिष्ठ मित्र था और वह बहुत सावधानी से कार्य कर रहा था। रमजान के गर्मी के दिनों की परवाह न करके रजिया तुरन्त ही विद्रोह को दबाने के लिए चल दी। जिस समय रजिया भटिण्डा के किले के सामने अपनी सेना को लेकर खड़ी हुई थी, तभी उसके तुर्की सरदारों ने उसे धोखा दिया। उन्होंने **जमालुद्दीन याकूत का वध कर दिया और रजिया के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पकड़ कर भटिण्डा के किले में कैद कर दिया।** रजिया के कैद हो जाने की सूचना पाते ही षड्यन्त्रकारियों ने तुरन्त इल्तुतमिश के तीसरे पुत्र बहराम को सिंहासन पर बैठा दिया, जिसका निर्णय वे पहले ही कर चुके थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्यन्त्रकारियों के नेता एतगीन के दिल्ली पहुँचने पर उसे 'नाइब-ए-मामलिकात' का नवीन पद दिया गया। यद्यपि उसके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर सुल्तान बहराम ने दो माह के अन्दर ही उसका वध करा दिया।

विद्रोह की सफलता के बावजूद अल्तूनिया को उसकी इच्छानुसार पद नहीं मिला। उसके मित्र एतगीन के वध के पश्चात् उसे किसी अच्छे पद की आशा भी नहीं रही। उसने रजिया से विवाह कर लिया। ऐसा करने से रजिया ने अपने सिंहासन को प्राप्त करने की आशा की थी और अल्तूनिया को अपने सम्मान और पद में वृद्धि की आशा थी। बहराम से असन्तुष्ट हो गये सरदार मलिक सालारी और कराकश भी उनसे जा मिले। खोक्खर, राजपूत और जाटों को सम्मिलित करके अल्तूनिया ने एक सेना एकत्र की और रजिया के साथ दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। परन्तु दिल्ली की संगठित सेना के मुकाबले उनकी पराजय हुई और उन्हें भटिण्डा की ओर वापस लौटना पड़ा। उनके सैनिक उनका साथ छोड़ गये और मार्ग में कैथल के निकट कुछ हिन्दू डाकुओं ने रजिया और अल्तूनिया का 13 अक्टूबर, 1240 ई. को वध कर दिया जबकि वे एक वृक्ष के नीचे आराम कर रहे थे।

रजिया का मूल्यांकन

इतिहासकार मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार रजिया ने 3 वर्ष, 5 माह, 6 दिन राज्य किया। दिल्ली की सुल्तान बनने वाली वह एकमात्र स्त्री थी और मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार, "उसमें वे सभी प्रशंसनीय गुण थे जो एक सुल्तान में होने चाहिए।" परन्तु वही इतिहासकार उसके चारित्रिक गुणों को बताते हुए अन्त में लिखता है—"ये सभी श्रेष्ठ गुण उसके किस काम के थे ?" निस्सन्देह, मिनहाज-उस-सिराज का उक्त कथन यह संकेत करता है कि रजिया की एकमात्र दुर्बलता उसका स्त्री होना था। कुछ इतिहासकारों ने रजिया की असफलता का मुख्य कारण रजिया का स्त्री होना बताया भी है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस धारणा से सहमत नहीं हैं। निस्सन्देह, रजिया स्त्री थी परन्तु यह उसके विरोधियों द्वारा उसे नष्ट करने का एक बहाना मात्र था। सुल्ताना रजिया ने स्त्री होकर भी स्त्री होने की किसी दुर्बलता का परिचय नहीं दिया। वह योग्य, शिक्षित, दयालु, कर्तव्य-परायण, साहसी, कुशल सैनिक और योग्य सेनापति थी। वह कौशलयुक्त और कूटनीतिज्ञ भी थी। वह राज्य के स्थायी हितों से अवगत थी और उनकी पूर्ति के लिए उसने निरन्तर प्रयत्न किये। सुल्तान की प्रतिष्ठा और शक्ति में उसकी आस्था थी तथा उसने उन्हें स्थापित करने का प्रयत्न किया। इल्तुतमिश को अपनी पुत्री की योग्यता में विश्वास था और वह पुत्री भी अपने पिता के विश्वास के अनुरूप सिद्ध हुई थी।

रजिया स्त्री थी और अपने भाई के विरुद्ध होकर उसने दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया था, परन्तु उसके पिता इल्तुतमिश ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया था। उसका भाई अयोग्य शासक सिद्ध हुआ था और उसके शासक भाई की माँ शाह तुर्कान उसका कभी भी वध करा सकती थी। इस कारण रजिया का अपने भाई के विरुद्ध सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न उसकी सुरक्षा और उसके उचित अधिकार की पूर्ति के अनुकूल था। जहाँ तक स्त्री होकर शासक बनने का प्रश्न है, यह भारत में इस्लाम के समर्थकों के लिए एक नवीन बात अवश्य थी परन्तु इस्लाम के इतिहास के लिए नहीं। मिस्र, ईरान और ख्वारिज्म के साम्राज्यों में स्त्रियों ने शासन-सत्ता का उपभोग किया था और कर रही थीं। जहाँ तक रजिया के व्यक्तिगत गुणों का प्रश्न है, सभी इतिहासकारों ने उसकी प्रशंसा की है। तत्कालीन इतिहासकार इसामी ने उस पर जमालुद्दीन याकूत से अनुचित प्रेम-सम्बन्ध का आरोप लगाया था, परन्तु अविवाहित इसामी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आरोप को अन्य इतिहासकार स्वीकार नहीं करते। वह एक ऐसा सन्देह है जिसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। मिनहाज-उस-सिराज ने उन दोनों के सम्बन्धों को निष्कलंक बताया है। कौशल और कूटनीति की दृष्टि से वह श्रेष्ठ थी। विद्रोही सरदारों में फूट डालकर उन्हें परास्त करना, मलिक हसन कार्लूग को सहायता न देकर मंगोल आक्रमण से अपने राज्य को बचाना और उच्छ से लेकर लखनौती तक अपनी सत्ता को स्वीकार करा लेना इसके प्रमाण थे। वह एक कर्मठ सैनिक और योग्य सेनापति थी तथा प्रत्येक कष्ट और उत्तरदायित्व को स्वयं उठाने के लिए तैयार रहती थी। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उसने प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में सेना का संचालन स्वयं किया था। शासक के कर्तव्यों की पूर्ति करने के लिए उसने पर्दा करना छोड़ दिया था और अपने सरदारों एवं नागरिकों पर अपना प्रभाव रखने के लिए वह खुले-मुँह दरबार में बैठती थी तथा अपनी प्रजा के सम्मुख जाती थी। इससे उसकी लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आयी थी। यह इससे स्पष्ट होता है कि दिल्ली के नागरिक अन्त तक उसके प्रति वफादार रहे थे जिसके कारण विद्रोही सरदारों ने रजिया को दिल्ली से बाहर ले जाकर ही अपने षड्यन्त्र में सफलता प्राप्त की थी। रजिया के दिल्ली में रहते हुए किसी भी षड्यन्त्र के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती थी। रजिया यह विश्वास करती थी कि राज्य के हित और सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित रखने के लिए तुर्की गुलाम-सरदारों की शक्ति को तोड़ना आवश्यक है। इस कारण उसने प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) के सुल्तान के चुनाव में भाग लेने के प्रयत्न का विरोध किया था और इसी कारण उसने अपने समर्थक तुर्की-सरदारों को बड़े-बड़े पद देने आरम्भ किये थे। **प्रायः तीन वर्ष तक वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल रही। वह अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा कर सकी, सफलतापूर्वक शासन कर सकी और अपने विरोधी तुर्की गुलाम-सरदारों को अपने अधीन रख सकी।** इसके अतिरिक्त उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि उसने अपने तुर्की अमीरों की सहायता से शासन नहीं किया बल्कि उनको अपने अधीन बनाकर शासन किया। **परन्तु अन्त में रजिया असफल हुई।** वह तुर्की अमीरों की शक्ति को न तोड़ सकी, बल्कि उन्होंने ही उसे नष्ट कर दिया।

इस कारण रजिया की असफलता का मुख्य कारण तुर्की गुलाम-सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ थीं। इल्तुतमिश के योग्य तुर्की-सरदार, जो राज्य में बड़े से बड़े पद प्राप्त किये हुए थे और उन्हें इल्तुतमिश ने अपनी शक्ति का आधार बना रखा था, उसके बच्चों के प्रति वफादार न रहे। इल्तुतमिश के पश्चात् एक शक्तिशाली उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति ने उन्हें वह अवसर प्रदान कर दिया जिसमें वह सुल्तान के भाग्यविधाता बन सकते थे। इसी के लिए वे मिलकर प्रयत्नशील रहे। परन्तु जब रजिया ने सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा को स्थापित रखने के लिए उनकी शक्ति को दुर्बल करने का प्रयत्न किया, तब वे रजिया के विरुद्ध हो गये और उन्होंने रजिया को समाप्त करने का प्रयत्न किया। अन्त में वे सफल हुए और उन्होंने रजिया के स्थान पर अपनी इच्छानुसार बहराम को सिंहासन पर बैठाने में सफलता पायी। यही रजिया के पतन का प्रमुख कारण था। परन्तु फिर भी इतिहास में रजिया का सम्मानित स्थान है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है—"उससे पहले और बाद में इल्तुतमिश-वंश के अन्य सभी सदस्य व्यक्तिगत और चारित्रिक दृष्टि से उससे कहीं अधिक दुर्बल थे।" प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है—"इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में वह सबसे श्रेष्ठ थी।"

इस प्रकार रजिया का अन्त तुर्क अमीरों, मलिकों की सफलता थी। इसके बाद से चालीस के दल ने सुल्तान को चुनने और पदच्युत करने के सारे अधिकार अपने हाथ में ले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये यद्यपि उन्होंने सुल्तान के पद पर अधिकार नहीं किया, किन्तु उसकी निरंकुशता को कम किया तथा उसकी शक्ति के मार्ग में हमेशा बाधक बने।

[3]

मुइजुद्दीन बहरामशाह (1240-1242 ई.)

रजिया को हटाकर बहरामशाह को सिंहासन पर बैठाना तुर्की-सरदारों की विजय का प्रतीक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् शक्ति के लिए जो संघर्ष सुल्तान और तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट में हुआ उसमें तुर्की सरदारों के गुट की विजय हुई। तुर्की-सरदारों ने रजिया के व्यवहार से एक सबक और सीखा। वे अब सुल्तान को शासन में कोई भी अधिकार देने को तैयार न थे। इस कारण उन्होंने एक नवीन पद 'नाइब' या 'नाइब-ए-मामलिकात' बनाया और शासन के सम्पूर्ण अधिकार उस अधिकारी को सौंप दिये जिससे शासन की वास्तविक शक्ति सुल्तान के स्थान पर उनमें से किसी एक के पास रह सके। सर्वप्रथम, रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालों के नेता एतगीन को यह पद दिया गया। परन्तु क्या सुल्तान इस स्थिति को स्वीकार कर लेगा, क्या सुल्तान वास्तविक शासन-सत्ता को तुर्की-सरदारों को देकर अपनी प्रतिष्ठा और अपने विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में समझौता कर लेगा, आदि प्रश्नों का उत्तर सुल्तान बहरामशाह के शासनकाल में मिला। बहरामशाह ने अपनी प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में तुर्की-सरदारों से समझौता नहीं किया जिसके कारण उसे भी सिंहासन से हटना पड़ा और तुर्की-सरदार अपनी शक्ति के विस्तार में एक कदम और आगे बढ़ गये।

बहरामशाह इस शर्त पर सिंहासन पर बैठा था कि वह शासन के सम्पूर्ण अधिकार 'नाइब' को सौंप देगा। बहरामशाह को सुल्तान की शान-शौकत और बाह्य दिखावट में कोई रुचि न थी बल्कि वह आतंकवादी और निर्भय होकर रक्त बहाने वाला था। सुल्तान बनने के दो माह पश्चात् ही उसने यह सिद्ध कर दिया कि तुर्की-सरदारों ने उसे पूर्णतया असहाय समझकर भूल की थी। उसने एतगीन को 'नाइब' स्वीकार कर लिया जबकि वजीर का पद मुहाजबुद्दीन के पास ही रहा। बहरामशाह ने 'नाइब' को शासन के अधिकार देने से तो इंकार नहीं किया परन्तु जब एतगीन ने अपने महल के सामने 'नौबत' रखना और हाथी रखना आरम्भ किया तो वह असन्तुष्ट हो गया क्योंकि ये अधिकार सुल्तान के विशेषाधिकारों में से थे। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए एतगीन ने बहरामशाह की एक तलाकशुदा बहन से विवाह कर लिया। बहरामशाह उसकी इन बढ़ती हुई लालसाओं से इतना अधिक असन्तुष्ट हो गया कि उसने दो माह में ही उसके दफ्तर में ही उसका वध करा दिया।

परन्तु एतगीन का वध करा देने से बहरामशाह को शासन-शक्ति प्राप्त नहीं हुई। निस्सन्देह, 'नाइब' के पद पर किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति नहीं हुई, परन्तु 'अमीर-ए-हाजिब' बदरुद्दीन शंकर रूमी ने वे अधिकार हड़प लिये जो 'नाइब' को प्राप्त थे। इस कारण बहरामशाह अब बदरुद्दीन शंकर से ईर्ष्या करने लगा। बदरुद्दीन शंकर ने बहरामशाह को सिंहासन से हटाने के लिए षड्यन्त्र किया परन्तु वजीर मुहाजबुद्दीन ने बहरामशाह को इस षड्यन्त्र से अवगत करा दिया क्योंकि वह भी बदरुद्दीन शंकर के प्रति ईर्ष्यालु था। बहरामशाह ने षड्यन्त्रकारियों को तुरन्त बन्दी बना लिया परन्तु अपनी दुर्बलता को समझकर वह उन्हें कठोर दण्ड न दे सका। उनमें से कई को उनके पदों से हटा दिया गया और कई को दिल्ली से बाहर भेज दिया गया। बदरुद्दीन शंकर को बदायूँ भेज दिया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु वह चार माह में ही दिल्ली वापस आ गया। उसे कैद कर लिया गया और बाद में उसका और एक अन्य सरदार सैयद ताजुद्दीन अली का वध कर दिया गया।

नाइब एतगीन के वध से तुर्की-सरदारों में गम्भीर असन्तोष था परन्तु बदरुद्दीन और ताजुद्दीन के वध ने उन्हें अपनी सुरक्षा के प्रति सचेत कर दिया। तुर्की उलेमा-वर्ग बहरामशाह से असन्तुष्ट था क्योंकि उसमें से कई को उसने दण्ड दिये थे और उनमें से एक 'मिहिर' के काजी का उसने वध करा दिया था। वजीर मुहाजबुद्दीन ने सरदारों के इस सन्तोष का लाभ उठाना चाहा। उसने बहरामशाह को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया। 1241 ई. में जब मंगोलों ने पंजाब पर आक्रमण करके लाहौर को घेर लिया तब वजीर को अवसर मिला। वह लाहौर की रक्षा हेतु भेजी गयी सेना के साथ स्वयं गया। मार्ग में उसने तुर्की-सरदारों को यह कहकर भड़का दिया कि सुल्तान ने उसे उन सभी को गुप्त रूप से कत्ल कर देने के आदेश दिये हैं। उसने वह आदेश-पत्र भी उन्हें दिखा दिया जिसे उसने स्वयं धोखे से सुल्तान से प्राप्त कर लिया था। **तुर्की-सरदारों ने विद्रोह कर दिया, सुल्तान को सिंहासन से हटाने की शपथ ली और दिल्ली वापस चल दिये।** बहरामशाह के कुछ वफादार गुलामों और दिल्ली के नागरिकों ने विद्रोही सेना का मुकाबला किया परन्तु उनकी पराजय हुई। **बहरामशाह को बन्दी बना लिया गया और मई 1242 ई. में उसका वध कर दिया गया।** तुर्क सरदार किश्लूखाँ ने दिल्ली में सबसे पहले प्रवेश किया और महल पर अधिकार करके उसने अपने आपको सुल्तान बनाने का प्रयत्न किया परन्तु अन्य तुर्की-सरदार इसके लिए तैयार न हुए। अन्त में, फिरोजशाह के पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को उन्होंने सुल्तान बनाया।

इस प्रकार एक बार फिर सुल्तान के विरुद्ध तुर्की-सरदारों की विजय हुई। सुल्तान बहरामशाह का शाही विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न असफल हुआ। यह स्पष्ट हो गया कि राज्य की वास्तविक शक्ति तुर्की-सरदारों के हाथ में निहित थी और सुल्तान केवल नाममात्र का सुल्तान बनकर ही रह सकता था। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि तुर्की सरदारों में से कोई भी एक उस समय तक इतना शक्तिशाली न बन सका था कि अन्य सरदार उसे सुल्तान मानने को तैयार हो जाते। इस प्रकार सुल्तान का पद इल्तुतमिश के वंशज को ही दिया गया।

[4]
अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-1246 ई.)

अलाउद्दीन मसूदशाह सुल्तान इल्तुतमिश के पुत्र सुल्तान फिरोजशाह का पुत्र था। **उसे भी इसी शर्त पर सिंहासन सौंपा गया था कि वह स्वयं राज्य की शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा** बल्कि उसका प्रयोग अपने 'नाइब' के द्वारा करेगा। इस कारण 'नाइब' का पद पुनः स्थापित किया गया और यह पद मलिक कुतुबुद्दीन हसन को दिया गया जो गोर से भाग कर आया हुआ एक शरणार्थी था। परन्तु क्योंकि वह तुर्की-सरदारों के दल का नहीं था, अतएव 'नाइब' पद का वास्तव में कोई महत्व न रहा। अन्य पदों पर तुर्की सरदारों के गुट के सदस्यों का बहुमत रहा यद्यपि कुछ नवीन सरदारों को भी इन पदों के वितरण में सम्मिलित किया गया जो यह संकेत करता था कि तुर्की-सरदारों के गुट की एकता पारस्परिक ईर्ष्या के कारण दुर्बल हो रही थी। शासन की वास्तविक सत्ता वजीर मुहाजबुद्दीन ने हथिया ली जो वास्तव में एक 'ताजिक' (गैर-तुर्क) था। वजीर ने अपनी शक्ति में वृद्धि करने के लिए तुर्की-सरदारों को उनके पदों से हटाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। तुर्की-सरदारों ने वजीर को अपना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद छोड़ने के लिए बाध्य किया और उसके स्थान पर नजमुद्दीन अबू बक्र को वजीर बनाया। उस अवसर पर विभिन्न पदों को सरदारों में पुनः वितरित किया गया, जिसमें से 'अमीर-ए-हाजिब' का महत्वपूर्ण पद बलबन को प्राप्त हुआ।

बलबन 'चालीस तुर्की-सरदारों के दल' में निम्न स्थान रखता था परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसे यह पद प्राप्त हुआ। 'अमीर-ए-हाजिब' का पद प्राप्त करके बलबन ने धीरे-धीरे तुर्की-सरदारों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया। उसने शासन-सत्ता अपने हाथों में रखी और तुर्की-सरदारों का ध्यान राजपूतों और मंगोलों की ओर लगा दिया। इस कारण मसूदशाह का शासन तुलनात्मक दृष्टि से अधिक शान्तिपूर्ण रहा तथा सुल्तान एवं सरदारों अथवा सरदारों एवं सरदारों के परस्पर झगड़े नहीं हुए।

परन्तु फिर भी मसूदशाह के समय में बंगाल और बिहार के सूबेदार तुगानखाँ ने दिल्ली के आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया और उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी सरदार, अवध के सूबेदार तमरखाँ से निरन्तर झगड़ा किया। इसी प्रकार, उच्छ और मुल्तान के सूबेदारों ने दिल्ली की अधीनता को मानने से इंकार किया और केवल मंगोल-आक्रमणों का भय ही उन्हें नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता को मानने के लिए बाध्य कर सका।

इस प्रकार मसूदशाह का शासन शान्तिपूर्ण होते हुए भी प्रभावपूर्ण न था। **वास्तव में वह समय बलबन की शक्ति के निर्माण का था। सुल्तान मसूदशाह के हाथों में कोई शक्ति बाकी नहीं रह गयी थी** और बलबन धीरे-धीरे उस शक्ति को अपने हाथों में एकत्र कर रहा था तथा तुर्की-सरदारों में भी अपने प्रभुत्व को स्थापित कर रहा था। इस कारण जब बलबन ने नासिरुद्दीन (इल्तुतमिश का प्रपौत्र) और उसकी माँ के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से हटाने का षड्यन्त्र किया तो वह षड्यन्त्र केवल महल तक ही सीमित रहा। **जून 1246 ई. में मसूदशाह को सिंहासन से हटा दिया गया** और उसके स्थान पर नासिरुद्दीन को सुल्तान बनाया गया। यह कार्य शान्तिपूर्ण ढंग से हो गया जो इस बात का प्रमाण था कि सुल्तान अपनी सत्ता को पूर्णतया खो चुके थे। मसूदशाह की मृत्यु कारागार में हुई।

[5]

नासिरुद्दीन महमूद (1246-1265 ई.)

नासिरुद्दीन महमूद 10 जून, 1246 ई. को 16 वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा। **उसके सुल्तान बनने के समय से राज्य-शक्ति के लिए जो संघर्ष सुल्तान एवं उसके तुर्की-सरदारों के मध्य चल रहा था, वह समाप्त हो गया।** सुल्तान ने स्वयं कभी शासन नहीं किया। वह शक्ति का अनुयायी रहा। तुर्की-सरदार शक्तिशाली थे और बलबन उनका नेता था। उसने राज्य की शक्ति उन्हें और उनके नेता को सौंप दी। यह विचार प्रकट किया गया है कि सुल्तान नासिरुद्दीन महत्वा- कांक्षाओं से रहित एक धर्म-परायण व्यक्ति था। वह कुरान की नकल करता था, उसको बेचकर अपनी आय करता था और धार्मिक कार्यों में लगा रहता था। उसकी सादगी और सच्चरित्रता के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हुईं। यह कहा गया कि उसकी पत्नी स्वयं भोजन बनाती थी। एक बार उंगलियों के जल जाने के कारण उसने अपने पति और सुल्तान से एक नौकरानी रखने के लिए कहा परन्तु सुल्तान ने इंकार कर दिया क्योंकि वह राज्य के धन को स्वयं की सुख-सुविधाओं पर खर्च नहीं करना चाहता था। परन्तु इन किंवदन्तियों में अतिशयोक्ति है। सुल्तान की पत्नी तुर्की-सरदारों के प्रधान और राज्य के 'नाइब' बलबन की पुत्री थी। यह कैसे सम्भव था कि उसकी सेवा में दासियाँ न हों। सर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वूल्जले हेग ने लिखा है कि "एक अन्य अवसर पर सुल्तान ने इतिहासकार मिनहाजुद्दीन की बहन को 40 दास भेंट-स्वरूप दिये थे।" इस कारण इतना स्वीकार करना पर्याप्त है कि सुल्तान दयालु और सहृदय प्रवृत्ति का था। उसे हस्तलिपि का शौक था जिसके कारण वह कुरान की नकल करता था और सुल्तान के पद के बाह्य ऐश्वर्य के प्रति लालायित होने की बजाय सादगी से सन्तुष्ट था। परिस्थितियों ने भी उसे इस बात के लिए बाध्य किया था अन्यथा एक पूर्ण सरल प्रवृत्ति के व्यक्ति को राज्य-शासन की इच्छा ही नहीं होनी चाहिए थी। ऐसी स्थिति में नासिरुद्दीन अपनी माँ और बलबन के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से उतारने का प्रयत्न न करता। वास्तविकता यह थी कि नासिरुद्दीन महत्वाकांक्षी न था और उसमें परिस्थितियों से समझौता करने की समझदारी थी। वह यह समझ सका कि उससे पहले के चार सुल्तानों का क्या परिणाम हुआ था ? उनमें से प्रत्येक को सिंहासन छोड़ना पड़ा था और प्रत्येक का वध हुआ था क्योंकि उन्होंने तुर्की-सरदारों की शक्ति का विरोध करने का साहस किया था। 16 वर्ष की अवस्था के नासिरुद्दीन को ठीक मार्ग पर रखने के लिए यह भय पर्याप्त था। इसके अतिरिक्त वह उन तुर्की-सरदारों के नेता की कृपा से ही सुल्तान बन सका था और वह ठीक प्रकार समझ गया था कि उसकी कृपा से ही वह शासक रह सकता था अन्यथा इल्तुतमिश-वंश के सभी व्यक्ति अभी मरे नहीं थे। इस कारण जिस प्रकार उसने सिंहासन प्राप्त किया था, उसी प्रकार कोई अन्य भी सिंहासन प्राप्त कर सकता था। इतिहासकार इसामी ने नासिरुद्दीन की धार्मिक प्रवृत्ति की बहुत प्रशंसा की है परन्तु वह यह भी लिखता है—"वह बिना उनकी (तुर्की-सरदारों की) पूर्व-आज्ञा के अपना कोई विचार व्यक्त नहीं करता था। वह बिना उनके आदेश के अपने हाथ-पैर तक नहीं हिलाता था। वह बिना उनकी जानकारी के न पानी पीता था और न सोता था।" इसी कारण डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है—"आत्मसमर्पण पूर्ण था।" **नासिरुद्दीन के शासनकाल में कुछ थोड़े समय को छोड़कर शासन-सत्ता पूर्णतया उसके 'नाइब' बलबन के हाथों में रही।** आरम्भ में बलबन 'अमीर-ए-हाजिब' था और अबू बक्र वजीर। परन्तु वास्तव में शासन-सत्ता का प्रयोग बलबन ही करता था। अगस्त 1249 ई. में उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन से कर दिया। उस समय उसे 'नाइब-ए-मामलिकात' का पद देकर कानूनी रूप से शासन के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दिये गये और उसे 'उलूगखाँ' की पदवी से विभूषित किया गया। बलबन के सभी सम्बन्धियों को राज्य में सम्मानित पद दिये गये जिससे वह शासन-व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके।

इस विषय में एक अन्य विचार डॉ. ए. बी. पाण्डे ने प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार नासिरुद्दीन एकमात्र कठपुतला शासक नहीं था वरन् 1255 ई. तक पर्याप्त प्रभावशाली था। अपने विचार के समर्थन में उसने कहा है कि मिनहाज-उस-सिराज ने लिखा है कि "जब नासिरुद्दीन बहराइच का हाकिम था तब उसने हिन्दू-राजाओं के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और कुशलतापूर्वक वहाँ का शासन किया जिससे वहाँ की जनता सुखी और समृद्ध हुई।" 1253 ई. में बलबन को नाइब-ए-मामलिकात के पद से हटाना और उसे पुनः नियुक्त करना भी उसकी शक्ति के प्रयोग के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। उसने इतिहासकार फरिश्ता के विचार को भी अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है, जिसने लिखा था : "वह अपने पिता के सिंहासन को सुशोभित करने के लिए अपने वंश के अतिरिक्त अपनी शूरवीरता, योग्यता, विद्वत्ता और अपने अनेक सद्गुणों के कारण विशेष रूप से उपयुक्त था।"

रायहान 'वकीलराय' (1253 ई.)

बलबन को प्रायः एक वर्ष अपने पद से पृथक रहना पड़ा और उस अन्तराल में एक भारतीय मुसलमान रायहान ने शासन का संचालन किया। 1249 ई. में बलबन की पुत्री का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह सुल्तान से होने, उसके 'नाइब' बनने और उसके सम्बन्धियों को बड़े-बड़े पद प्राप्त होने से दरबार के कुछ सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे। इस कारण बलबन के विरुद्ध कुछ सरदारों का एक पृथक दल बन गया। उसमें कुछ तुर्की-सरदार थे, सुल्तान नासिरुद्दीन की माँ उनके साथ थी और बाकी अन्य भारतीय मुसलमान थे जिनकी संख्या भी पर्याप्त थी। सम्भवतया, सुल्तान नासिरुद्दीन भी उनके साथ हो गया था। उस दल का नेतृत्व रायहान ने किया। उन सभी सरदारों के कहने से 1253 ई. में सुल्तान ने बलबन को उसके पद से हटा दिया और उसे उसके सूबे हाँसी जाने की आज्ञा दी। बाद में उसे नागौर भेज दिया गया। बलबन ने दोनों ही अवसरों पर सुल्तान की आज्ञा का पालन किया। राज्य के अन्य सरदारों के पदों में भी परिवर्तन किया गया। रायहान स्वयं 'वकीलदार' बना और उसका सम्पूर्ण शासन पर अधिकार हो गया। बलबन के भाई और सम्बन्धियों को भी उनके पदों से हटा दिया गया और उनके स्थान पर नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। मलिक मुहम्मद निजाम जुनैदी को वजीर, मिनहाज को हटाकर शमसुद्दीन को मुख्य काजी और भटिण्डा तथा मुल्तान की सूबेदारी शेर खाँ के स्थान पर अर्सला खाँ को दी गयी।

परन्तु रायहान बहुत अधिक समय तक अपनी स्थिति को दृढ़ न रख सका। तुर्की-सरदार एक भारतीय मुसलमान की सत्ता को सहन न कर सके और उनमें से जो रायहान के साथ हो गये थे, वे पुनः बलबन के पक्ष में हो गये। प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) ने बलबन को सहायता का आश्वासन दिया। 1254 ई. में बलबन और उसके समर्थकों ने अपनी सेनाएँ भटिण्डा में एकत्रित कर लीं और उसके पश्चात् दिल्ली की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। सुल्तान रायहान को साथ लेकर दिल्ली से बाहर निकला। दोनों विरोधी दलों की सेनाएँ समाना पहुँच गयीं जहाँ युद्ध करने की बजाय समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। रायहान ने सुल्तान को युद्ध करने की सलाह दी परन्तु सभी तुर्की-सरदार बलबन के पक्ष में हो गये थे। इस कारण सुल्तान जो शक्ति-सम्पन्न रहना पसन्द करता था, युद्ध के लिए तैयार न हुआ। अन्त में, विद्रोही सरदारों की सलाह मानकर सुल्तान ने रायहान को उसके पद से हटा दिया और बलबन को पुनः 'नाइब' का पद दे दिया। रायहान को पहले बदायूँ और उसके पश्चात् बहराइच भेजा गया। बाद में वहीं पर उसका वध कर दिया गया। इस प्रकार भारतीय मुसलमानों द्वारा शासन-सत्ता को प्राप्त करने का प्रथम प्रयत्न असफल हुआ। रायहान के पतन का मुख्य कारण तुर्की-सरदारों की ईर्ष्या थी जो भारतीय मुसलमानों से भी उतनी ही घृणा करते थे जितनी हिन्दुओं से और इसी कारण वे उसके आधिपत्य को बर्दाश्त नहीं कर सके।

बलबन पुनः नाइब (1254-1265 ई.)

रायहान के पतन के पश्चात् बलबन ने नासिरुद्दीन के अन्तिम समय तक निर्विवाद सत्ता का उपभोग किया। सभी महत्वपूर्ण पदों पर पुनः उसके समर्थकों की नियुक्ति की गयी, अधिकांश सरदारों ने उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया और यदि कभी किसी ने विरोध करने का साहस भी किया तो उसे समाप्त कर दिया गया, जैसा कि मलिक कुतुबुद्दीन हसन के साथ हुआ। बलबन ने सुल्तान से 'छत्र' (सुल्तान के पद का प्रतीक) प्रयोग करने की आज्ञा माँगी थी और सुल्तान ने अपना छत्र उसके प्रयोग के लिए दिया था। कुतुबुद्दीन ने उसके विषय में कुछ कह दिया जिसके कारण बलबन ने उसकी हत्या करा दी।

नाइब के रूप में बलबन के कार्य

नाइब के रूप में बलबन का मुख्य कार्य अपनी स्थिति को दृढ़ करना था। इसमें वह सफल हुआ। इसके अतिरिक्त उसके अन्य मुख्य कार्य दिल्ली-सल्तनत की सीमाओं की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षा करना तथा विद्रोहों को दबाना थे। इन कार्यों को करने के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहा परन्तु आंशिक रूप में सफल हुआ।

पूर्व में बंगाल का सूबा दिल्ली-सुल्तानों के लिए सर्वदा कष्टदायक रहा था। दो बार वहाँ विद्रोह हुए जिन्हें दबा दिया गया। परन्तु अन्त में कड़ा के इक्तादार अर्सलाखाँ ने बंगाल पर अधिकार कर लिया और वह एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करने लगा। इस प्रकार **नासिरुद्दीन के समय में बंगाल दिल्ली-सल्तनत के प्रभुत्व से निकल गया।**

उत्तर-पश्चिम में मंगोल-आक्रमणों, बामियान के शासक सैफुद्दीन कार्लूग की महत्वाकांक्षाओं और किश्लूखाँ सदृश विद्रोही सरदारों के विद्रोह ने दिल्ली-सल्तनत की स्थिति को दुर्बल बनाया। मुल्तान और सिन्ध पर दिल्ली का अधिकार अस्थिर रहा और मंगोलों ने लाहौर तक अपना अधिकार कर लिया। यद्यपि बाद में वे उसे छोड़ गये, तब भी पंजाब का उत्तर-पश्चिम का महत्वपूर्ण प्रदेश मंगोलों के अधिकार में रहा। परन्तु 1259 ई. में मंगोल-शासक हलाकू के साथ एक समझौता हो जाने से पंजाब में स्थिति कुछ शान्त हुई।

बलबन को अपनी बहुत कुछ शक्ति आन्तरिक विद्रोहों को दबाने में लगानी पड़ी। पश्चिम में खोक्खर, मेवात में मेव (मेवाती), दोआब और बुन्देलखण्ड में होने वाले विद्रोह तथा मालवा और राजस्थान के राजपूत-शासकों ने उसे निरन्तर व्यस्त रखा। बलबन को प्रायः प्रत्येक वर्ष किसी न किसी स्थान पर विद्रोहों को दबाने के लिए जाना पड़ता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह इन विद्रोहों को समाप्त करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ था। राजस्थान में रणथम्भौर, ग्वालियर और बूँदी को जीतने के उसके प्रयत्न असफल रहे तथा जाजनगर (दक्षिण बिहार) और कामरूप के शासकों ने तुर्क सेनाओं को पराजित करने में सफलता पायी। यह इस बात का प्रमाण था कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के समय में **हिन्दू-शासक अपनी शक्ति में वृद्धि करके दिल्ली-सल्तनत से टकराने का साहस कर रहे थे।**

इस प्रकार 'नाइब' की दृष्टि से बलबन के समय में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया गया। वास्तव में सुल्तान के सम्मान और शक्ति में कमी हो जाने तथा तुर्की-सरदारों की महत्वाकांक्षाओं के पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में परिवर्तित हो जाने से दिल्ली-सल्तनत और तुर्की-राज्य का प्रभाव बहुत दुर्बल हो गया था। **बलबन के लिए यही कार्य यथेष्ट था कि उसने तुर्की-राज्य को नष्ट नहीं होने दिया और उसके प्रभाव को स्थापित रखने के लिए प्रयत्नशील रहा। इसके अतिरिक्त उसे अपनी स्थिति को दृढ़ रखना था जिसमें वह पूर्णतया सफल रहा और यही बलबन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।**

1265 ई. में सुल्तान नासिरुद्दीन की अनायास मृत्यु हो गयी। बरनी ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा। 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के अनुसार सुल्तान बीमारी से मरा। सर वूल्जले हेग और हबीबुल्ला का भी यही मत है कि सुल्तान की मृत्यु अचानक हुई और क्योंकि उसके कोई बच्चा नहीं था, अतएव बलबन स्वयं सुल्तान बन बैठा। परन्तु इतिहासकार इसामी ने लिखा है कि बलबन ने नासिरुद्दीन को जहर देकर मरवा दिया था और फरिश्ता ने लिखा है कि बलबन ने इल्तुतमिश के कई वंशजों का वध करा दिया जिससे कोई अन्य उसके विरुद्ध सिंहासन का दावेदार ही न बन सके। इब्नबतूता ने भी लिखा है कि "अन्त में नाइब ने उसे (नासिरुद्दीन को) मार डाला और स्वयं सुल्तान बन गया।" इस कारण प्रो. के. ए. निजामी का यह मत है कि बलबन ने नासिरुद्दीन को मरवा दिया था। प्रो. निजामी का यह भी कहना है कि सुल्तान नासिरुद्दीन के चार पुत्र उस समय जीवित थे और इल्तुतमिश के अन्य वंशज भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय अवश्य जीवित रहे होंगे। मृत्यु के अवसर पर सुल्तान की आयु 36 वर्ष थी जबकि बलबन उससे 20 या 24 वर्ष बड़ा था। इस कारण महत्वाकांक्षी बलबन पर ऐसा सन्देह किया जाना अस्वाभाविक नहीं है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् सुल्तान और चालीस सरदारों (तुर्कान-ए-चिहालगानी) में सत्ता के लिए हुए संघर्ष का वर्णन कीजिए। उसका क्या परिणाम हुआ ?
2. 'रजिया इल्तुतमिश की योग्यतम उत्तराधिकारी थी।' स्पष्ट कीजिए तथा उसके पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की दुर्बलता का उल्लेख कीजिए।
2. बहरामशाह की उपलब्धियाँ लिखिए।
3. रुकनुद्दीन फिरोजशाह के चरित्र और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिए।
4. सुल्ताना रजिया के पतन के कारण लिखिए।
5. सुल्ताना रजिया के प्रशासनिक कार्यों का वर्णन कीजिए।
6. चालीस अमीरों के दल के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
7. नासिरुद्दीन महमूद का एक शासक के रूप में मूल्यांकन कीजिए।
8. वकीलदार के रूप में रायहान का वर्णन कीजिए।
9. नाइब के रूप में बलबन के कार्यों पर प्रकाश डालिए।
10. क्या अलाउद्दीन मसूदशाह का काल बलबन के शक्ति निर्माण का काल था। स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर आसीन हुआ था—
   (अ) चालीस गुलामों का एक सदस्य कुतुबुद्दीन
   (ब) रुकनुद्दीन फिरोज
   (स) रजिया
   (द) इनमें से कोई नहीं।
2. इल्तुतमिश ने अपने किस उत्तराधिकारी का नाम चाँदी के टंके पर अंकित करवाया था ?
   (अ) नासिरुद्दीन महमूद (ब) अलाउद्दीन मसूदशाह
   (स) रजिया (द) रुकनुद्दीन फिरोज।
3. रुकनुद्दीन फिरोज की माँ शाह तुर्कान मूलतः थी—
   (अ) इल्तुतमिश की वैधानिक पत्नी (ब) अवैधानिक पत्नी
   (स) तुर्की दासी (द) शाही परिवार की सदस्या।
4. रजिया ने अपने पिता की वसीयत के अनुसार गद्दी प्राप्त करने के लिए किया था—
   (अ) विद्रोह (ब) मस्जिद में लाल वस्त्र पहनकर अपील
   (स) शत्रुओं पर आक्रमण (द) इनमें से कोई नहीं।
5. रजिया ने भारत में शासन किया था—
   (अ) चार वर्ष (ब) पाँच वर्ष
   (स) चार माह (द) सात वर्ष।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. रजिया ने जमालुद्दीन याकूत को किस पद पर नियुक्त किया था ?
(अ) सर जांदार (ब) अमीर-ए-आखूर
(स) अमीर-ए-शिकार (द) अमीर-ए-कोही।

7. रजिया ने कबीर खाँ ऐयाज को किस प्रान्त का सूबेदार नियुक्त किया था ?
(अ) भटिण्डा का (ब) लखनौती का
(स) लाहौर का (द) ग्वालियर का।

8. भटिण्डा के विद्रोह का दमन रजिया की असफलता का कारण था—
(अ) याकूत का वध (ब) तुर्की सरदारों का असहयोग
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

9. रजिया व अल्तूनिया का वध कर दिया गया था—
(अ) 1240 ई. में (ब) 1241 ई. में
(स) 1242 ई. में (द) 1244 ई. में।

10. रजिया के पतन का सर्वप्रमुख कारण था—
(अ) उसकी कार्यप्रणाली
(ब) उसकी सैन्य दुर्बलता
(स) उसकी कठोर नीति
(द) उसका स्त्री होना व गुलाम सरदारों की महत्त्वाकांक्षा।

11. सर्वप्रथम नाइब के पद पर नियुक्त किया गया था—
(अ) एतगीन को (ब) कबीर खाँ को
(स) कुतुबुद्दीन हसन को (द) इनमें से किसी को नहीं।

12. नाइब एतगीन के वध का मूल कारण था—
(अ) उसका उग्र स्वभाव (ब) उसका उदार स्वभाव
(स) उसकी महत्वाकांक्षाएँ (द) सुल्तान के विशेषाधिकारों का दमन।

13. सर्वप्रथम बलबन को किस महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया गया था ?
(अ) अमीर-ए-कोही के पद पर (ब) अमीर-ए-आखूर के पद पर
(स) अमीर-ए-हाजित के पद पर (द) अमीर-ए-शिकार के पद पर।

14. चालीस अमीरों के प्रति नासिरुद्दीन की नीति के सन्दर्भ में किसने लिखा है—"उसका आत्म-समर्पण पूर्ण था।"
(अ) प्रो. इरफान हबीब (ब) डॉ. के. ए. निजामी
(स) डॉ. जफर इकबाल (द) डॉ. हसन अस्करी।

15. बलबन ने वकीलदार के पद पर कितने वर्ष कार्य किया था ?
(अ) छः माह (ब) आठ माह
(स) दस माह (द) एक वर्ष।

16. 1259 ई. में किस मंगोल सरदार से समझौते के बाद पंजाब में शान्ति स्थापित हुई थी—
(अ) चंगेज खाँ से (ब) कुबलाई खाँ से
(स) हलाकू से (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (स), 4. (ब), 5. (अ), 6. (ब), 7. (स), 8. (स), 9. (अ), 10. (द), 11. (अ), 12. (द), 13. (स), 14. (ब), 15. (द), 16. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7

गियासुद्दीन बलबन, कैकुबाद और क्यूमर्स

बलबन ने एक नवीन राजवंश 'बलबनी-वंश' की नींव डाली यद्यपि इल्तुतमिश के वंश से उसके सम्बन्ध काफी घनिष्ठ हो गये थे। सुल्तान मसूदशाह और सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दोनों उसके दामाद थे और नासिरुद्दीन की दूसरी पत्नी से उत्पन्न एकमात्र पुत्री से उसके पुत्र बुगराखाँ का विवाह हुआ था। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में बलबन 'नाइब' था और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का उपभोग करता था। बलबन ने 20 वर्ष तक वजीर की हैसियत से तथा 20 वर्ष तक सुल्तान के रूप में शासन किया। इस प्रकार बलबन के सुल्तान बनने से शासन में परिवर्तन हुआ परन्तु शासन करने वाले में नहीं। वास्तव में, नासिरुद्दीन का शासन बलबन का शासन था यहाँ तक कि उसने सुल्तान के सम्मान के प्रतीक 'छत्र' का प्रयोग भी नासिरुद्दीन के समय में ही आरम्भ कर दिया था।

[1]

गियासुद्दीन बलबन (1265-1287 ई.)

प्रारम्भिक जीवन

बहाउद्दीन बलबन के जन्म के बारे में कुछ पता नहीं लगता परन्तु सम्भवतया जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है, 'वह इल्तुतमिश की भाँति इल्बारी-तुर्क था।' उसका पिता 10,000 परिवारों का खान था। वह बचपन में मंगोलों के द्वारा पकड़ा गया और उन्होंने उसे बगदाद ले जाकर गुलाम के रूप में बेच दिया। उसे ख्वाजा जमालुद्दीन बसरी नामक एक व्यक्ति ने खरीदा जो उसे 1232-33 ई. में गुजरात के मार्ग से दिल्ली लाया। इल्तुतमिश ने 1233 ई. में ग्वालियर की विजय के पश्चात् उसे खरीदा। इल्तुतमिश उसकी योग्यता से प्रभावित हुआ और कुछ समय पश्चात् उसे 'खासदार' का पद प्राप्त हो गया। अपनी योग्यता और कार्यक्षमता के कारण रजिया के शासनकाल में वह 'अमीर-ए-शिकार' के महत्वपूर्ण पद पर पहुँच गया। रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वाले तुर्की-सरदारों में एक वह भी था और जब बहरामशाह सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-अखूर' (अश्वशाला का प्रधान) का पद प्रदान किया गया। 'अमीर-ए-हाजिब' मलिक बदरुद्दीन शंकर रूमी की उस पर विशेष कृपा रही जिसके कारण उसे रेवाड़ी की जागीर दी गयी। सुल्तान बहरामशाह को सिंहासन से हटाकर मसूदशाह को सुल्तान बनाने में भी उसने तुर्की-अमीरों का साथ दिया जिसके कारण उसे हाँसी की सूबेदारी दी गयी। जब वजीर मुहाजबुद्दीन और तुर्की-सरदारों में झगड़ा हुआ और मुहाजबुद्दीन को हटाकर अबू बक्र को वजीर बनाया गया तब बलबन को 'अमीर-ए-हाजिब'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पद प्राप्त हुआ। वजीर अबू बक्र अत्यन्त सरल प्रकृति का व्यक्ति था और 'नाइब' के पद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया गया था। इस कारण बलबन को 'अमीर-ए-हाजिब' के पद पर रहते हुए अपनी शक्ति को दृढ़ करने का अवसर मिल गया। बलबन ने तुर्की-सरदारों का ध्यान पारस्परिक झगड़ों की ओर से हटाकर राजपूतों एवं मंगोलों की ओर आकृष्ट किया और धीरे-धीरे राज्य की शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली। मसूदशाह को सिंहासन से हटाकर नासिरुद्दीन महमूद को सुल्तान बनाने में मुख्य योगदान बलबन का रहा। इस कारण नासिरुद्दीन ने स्वेच्छा से राज्य की सम्पूर्ण शक्ति बलबन के हाथों में सौंप दी। अगस्त 1249 ई. में बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन से कर दिया। इस अवसर पर उसे 'उलूगखाँ' की उपाधि और 'नाइब-ए-मामलिकात' का पद दिया गया। इस प्रकार शासन के सम्पूर्ण अधिकार कानूनी तौर पर उसे दे दिये गये। बलबन ने अपने सम्बन्धियों को महत्वपूर्ण पद प्रदान किये और स्वयं राज्य का वास्तविक शासक बन गया। बलबन की शीघ्र उन्नति से अनेक सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे जिनमें कुछ ऐसे तुर्की-सरदार भी सम्मिलित थे जो अपने में से ही एक साधारण सरदार की श्रेष्ठतम पदोन्नति और सत्ता से असन्तुष्ट हो गये। रायहान के नेतृत्व में संगठित होकर उन्होंने बलबन का विरोध किया, फलस्वरूप बलबन को उसके पद से हटा दिया गया और रायहान ने 'वकीलदार' के रूप में प्रायः एक वर्ष (1253 ई.) शासन-सत्ता का उपभोग किया। परन्तु रायहान के शासन से तुर्की-सरदार सन्तुष्ट न रह सके और उन्होंने पुनः बलबन के नेतृत्व में संगठित होकर रायहान का विरोध किया। रायहान को उसके पद से हटा दिया गया और बलबन पुनः 'नाइब' बन गया। उसके पश्चात् सुल्तान नासिरुद्दीन के अन्तिम समय तक बलबन का शासन पर पूर्ण प्रभुत्व रहा। धीरे-धीरे उसने अपने सहयोगी और समर्थक तुर्की-सरदारों की शक्ति को भी दुर्बल कर दिया तथा जब नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयं सुल्तान बना तो उस समय कोई भी सरदार उसका विरोध करने की स्थिति में न था। इस प्रकार धीरे-धीरे अपनी योग्यता, कुशलता एवं कुचक्रों से बलबन अपनी साधारण स्थिति से उठकर तुर्की-सरदारों में ही श्रेष्ठ नहीं हो गया वरन् 1265 ई. में सुल्तान बन गया।

कठिनाइयाँ

बलबन ने नासिरुद्दीन महमूद के समय में प्रायः 20 वर्ष शासन किया था। परन्तु फिर भी सुल्तान बनने पर उसके सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ थीं। सबसे पहली कठिनाई सुल्तान की प्रतिष्ठा का नष्ट हो जाना था। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक दुर्बल सुल्तानों के कारण सुल्तान का सम्मान नष्ट हो गया था। तुर्की गुलाम-सरदारों और बाद के समय में स्वयं बलबन ने भी सुल्तान की शक्ति और सम्मान को नष्ट करने में सहयोग दिया था। इस कारण जिन साधनों और तरीकों का प्रयोग बलबन ने अपनी शक्ति के निर्माण के लिए किया था उन्हीं को अब अपनी शक्ति की रक्षा के लिए नष्ट करना आवश्यक हो गया। तुर्की-सरदारों की शक्ति और प्रभाव को नष्ट करना तथा जनसाधारण में सुल्तान के प्रति भय एवं सम्मान की भावना जाग्रत करना बलबन की प्रथम आवश्यकता थी।

बलबन की दूसरी प्रमुख कठिनाई दिल्ली-सल्तनत की सुरक्षा और उसका संगठन था। उसकी अन्य सभी कठिनाइयाँ इससे सम्बन्धित थीं। यद्यपि बलबन के समय में मंगोलों के द्वारा भारत की विजय का भय न था परन्तु मंगोल-आक्रमणों से अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा करना बलबन की एक प्रमुख कठिनाई थी। उत्तर-पश्चिमी पंजाब का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण प्रदेश मंगोलों के हाथ में चला गया था। मंगोल भारत में और अधिक प्रवेश न कर सकें, यह बलबन की एक प्रमुख चिन्ता थी। बंगाल नासिरुद्दीन के अन्तिम समय में स्वतन्त्र हो गया था। अन्य सूबे इस उदाहरण को अपने सम्मुख न रखें और बंगाल भी दिल्ली-सल्तनत का भाग बना रहे, यह बलबन के लिए आवश्यक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् हिन्दुओं की आक्रमण-शक्ति बढ़ गयी थी। राजस्थान, दोआब, मालवा, बुन्देलखण्ड आदि सभी ऐसे प्रदेश थे जहाँ हिन्दू-शासक अपनी शक्ति को पुनः स्थापित अथवा विस्तृत करने का प्रयत्न कर रहे थे। बलबन के लिए इन शासकों की इस आक्रमणकारी शक्ति को नष्ट करना आवश्यक था। विभिन्न स्थानों पर होने वाले विद्रोह यह सिद्ध कर रहे थे कि दिल्ली-सल्तनत की शक्ति का जनसाधारण में भी कोई भय नहीं रहा था। मेव (मेवाती) तथा कटेहर और दोआब के हिन्दुओं के विद्रोह एवं उपद्रवों ने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत भी अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी। दिल्ली के निकट मेवों का इतना अधिक आतंक हो गया था कि कोई भी राजमार्ग सुरक्षित न था। दिल्ली नगर का पश्चिमी फाटक दोपहर की नमाज के बाद बन्द कर दिया जाता था। इतिहासकार बरनी ने लिखा है—"दोपहर की नमाज से पहले भी वे (मेव) उन पानी भरने वालों और दासियों को लूटते थे जो तालाब से पानी लेने जाती थीं। वे उनके कपड़े उतार कर ले जाते थे और उनको नग्न छोड़ देते थे।" इन विद्रोहियों और लुटेरों को नष्ट करना भी राज्य के सम्मान और उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक था।

बलबन के कार्य

इस प्रकार बलबन के सम्मुख विभिन्न कठिनाइयाँ थीं। लेकिन बलबन योग्य, दूरदर्शी एवं व्यावहारिक व्यक्ति था। वह अपनी कठिनाइयों को ठीक प्रकार समझ सका और उसने दृढ़ता से उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। बलबन ने एक निश्चय यह किया कि वह राज्य-विस्तार का प्रयत्न उस समय तक नहीं करेगा जब तक कि जिस राज्य को उसने प्राप्त किया है उसकी सीमाओं की सुरक्षा और उन सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति एवं व्यवस्था को स्थापित करने का प्रबन्ध नहीं कर लेता। इस कारण बलबन का सम्पूर्ण समय आन्तरिक संगठन का है, साम्राज्य-विस्तार का नहीं।

1. बलबन का राजत्व-सिद्धान्त और सुल्तान की प्रतिष्ठा की स्थापना—बलबन दिल्ली-सल्तनत का पहला शासक था जिसने सुल्तान के पद और अधिकारों के बारे में विस्तृत रूप से विचार प्रकट किये। प्रो. के. ए. निजामी ने लिखा है—"यह सुल्तान के सम्मान में वृद्धि करने तथा अन्य सरदारों के संघर्ष से बचने के लिए आवश्यक था परन्तु इसका एक कारण उसकी हीनता की भावना भी थी जिसके कारण वह अपने विचारों को निरन्तर व्यक्त करके अपने सरदारों को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वह किसी हत्यारे के छुरे अथवा जहर के प्याले के कारण सुल्तान नहीं बना बल्कि ईश्वर की इच्छा के कारण बना।" बलबन के राजत्व-सिद्धान्त की दो मुख्य विशेषताएँ थीं : प्रथम, सुल्तान का पद ईश्वर के द्वारा प्रदान किया हुआ होता है, और द्वितीय, सुल्तान का निरंकुश होना आवश्यक है। उसके अनुसार, "सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि (नियामत-ए-खुदाई) है और उसका स्थान केवल पैगम्बर के पश्चात् है। सुल्तान को कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। इस कारण जनसाधारण या सरदारों को उसके कार्यों की आलोचना करने का अधिकार नहीं है।" उसने अपने पुत्र बुगराखाँ से कहा था—"सुल्तान का पद निरंकुशता का सजीव प्रतीक है।" उसका विश्वास था कि सुल्तान की विशेष स्थिति और सम्मान ही उसके नागरिकों को उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज्ञा-पालन के लिए बाध्य कर सकते थे। परन्तु बलबन का यह भी कहना था कि "ईश्वर एक व्यक्ति को सुल्तान का पद इसलिए प्रदान करता है ताकि वह प्रजा के कल्याण के लिए कार्य करे और अपने कर्तव्यों के प्रति सर्वदा सजग रहे।" यही नहीं अपितु बलबन अपने अधिकारियों से भी यह आशा करता था कि वे ईमानदार, न्यायप्रिय और धर्मपरायण हों। उसका विश्वास था कि जिस प्रकार प्रजा सुल्तान के जीवन को आदर्श मानकर उसका अनुकरण करती है, उसी प्रकार अधिकारियों के व्यवहार से भी प्रभावित होती है। इसी कारण बलबन ने केवल सुल्तान अपितु सम्पूर्ण शासन के प्रति भय ही नहीं बल्कि सम्मान भी स्थापित करने में सफल हुआ।

अपने इन विचारों को बलबन ने व्यवहार में परिणत किया। उसने वंशानुगत अधिकार के महत्व को समझकर अपने को विद्वान फिरदौसी की रचना 'शाहनामा' के शूरवीर पात्र अफ्रीसियाब का वंशज बताया। सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुकूल उसने अपने व्यवहार को अत्यन्त गम्भीर एवं एकाकी बना लिया। उसने अधिकांशतः एकान्त में रहना आरम्भ कर दिया, शराब पीना बन्द कर दिया, विनोदप्रिय व्यक्तियों के साथ बैठना बन्द कर दिया और साधारण व्यक्तियों के साथ तो क्या छोटे अमीरों एवं सरदारों से भी मिलना बन्द कर दिया। दिल्ली के एक धनी व्यापारी ने सुल्तान से मिलने की एवज में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति देने का वायदा किया परन्तु फिर भी वह बलबन से मिलने की स्वीकृति न पा सका। उसने न कभी किसी के सामने अस्वाभाविक हर्ष प्रकट किया और न कभी अपना दुख। जब उसे उसके सबसे बड़े प्रिय पुत्र तथा राज्य के उत्तराधिकारी महमूद की मृत्यु की सूचना राजदरबार में दी गयी तब वह विचलित हुए बिना राज्य-कार्य करता रहा यद्यपि उसकी और उसके वंश की समस्त आशाएँ उस शाहजादे की मृत्यु के साथ समाप्त हो गयी थीं और वह उसके लिए अपने निजी कक्ष में फूट-फूटकर रोया करता था। वह दरबार में न हँसता था और न मुस्कराता था। वह कभी भी पूर्ण वेशभूषा के बिना किसी के सम्मुख नहीं आता था। इस प्रकार बलबन ने अपने व्यवहार को 'व्यक्ति बलबन' के स्थान पर 'सुल्तान बलबन' में ढाल दिया। अपने राजत्व को प्रभावशाली बनाने के लिए फारस की रहन-सहन की परम्पराओं को अपनाया। अपने पौत्रों के नाम फारस के सम्राटों की भाँति कैकुबाद, कैखुसरो और कैकास रखे।

दरबार के लिए बलबन ने एक बड़े सुल्तान के दरबार के अनुरूप नियम बनाये और उन्हें कठोरता से लागू किया। इस क्षेत्र में उसका आदर्श ईरानी बादशाह थे और उसने उनकी कई परम्पराओं को अपने दरबार में आरम्भ किया। उसने 'सिजदा' (भूमि पर लेटकर अभिवादन करना) और 'पैबोस' (सुल्तान के सिंहासन के निकट आकर उसके चरणों को चूमना) की रीतियाँ आरम्भ कीं, ऊँचे और भयावह व्यक्तियों को अंगरक्षक बनाया जो उसके सिंहासन के दोनों तरफ चमकती हुई नंगी तलवारें लेकर खड़े रहते थ और बड़े-बड़े सरदारों के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियों को अपने दरबार में खड़े रहने के आदेश दिये। दरबारियों के लिए शराब पीना निषिद्ध कर दिया गया और उन्हें विशेष वस्त्र धारण करके ही दरबार में आने की आज्ञा दी गयी। किसी भी व्यक्ति को दरबार में मुस्कराने अथवा हँसने की आज्ञा न थी। उसके दरबार में प्रत्येक वर्ष ईरानी त्यौहार 'नौरोज' बड़ी शान-शौकत के साथ मनाया जाने लगा। उसके दरबार की शान-शौकत को देखकर विदेशी व्यक्ति चकित रह जाते थे। 16वीं सदी के एक लेखक फजूनी अस्तराबादी ने बलबन के बारे में लिखा था कि उसका चेहरा लम्बा था, उसकी दाढ़ी लम्बी थी और वह बहुत ऊँचा मुकुट पहनता था जिसके कारण दाढ़ी से लेकर उसके मुकुट की ऊँचाई की लम्बाई प्रायः एक गज हो जाती थी। जब बलबन महल से बाहर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकलता था तब नंगी तलवारें लिये हुए तथा 'बिसमिल्लाह-बिसमिल्लाह' कहते हुए भयावह शरीर-रक्षक उसके साथ चलते थे। शान-शौकत और सत्ता के इस प्रदर्शन का प्रभाव सरदारों एवं जनसाधारण पर पड़ा और सुल्तान की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त बलबन ने विदेशों से आये हुए विद्वान व्यक्तियों और सम्मानित राजपुरुषों को अपने दरबार में स्थान दिया तथा उनके निवास-गृहों के नाम उनके देश अथवा वंश के नाम पर रखे। इससे विदेशों में उसका सम्मान बढ़ा और उसे मुस्लिम सभ्यता का संरक्षक माना जाने लगा। अपने व्यक्तिगत व्यवहार और दरबार की शान-शौकत एवं सत्ता के प्रदर्शन से बलबन को सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सहायता मिली।

2. तुर्की सरदारों अथवा चालीस गुलाम-सरदारों के दल की समाप्ति—बलबन 'चालीस तुर्की सरदारों के गुट' का सदस्य रहा था। उसका सदस्य होने के नाते उसने सुल्तानों और सरदारों के बीच हुए संघर्ष में स्वयं सक्रिय भाग लिया था तथा इसी कारण वह सुल्तान के पद पर पहुँचा था। इस कारण वह भलीभाँति जानता था कि सुल्तान की प्रतिष्ठा और उसके वंश की सुरक्षा तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वह सरदारों के उस गुट को समाप्त नहीं कर देता। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में जब उसने 'नाइब' के रूप में कार्य किया तभी से उसने इस 'चालीस सरदारों के गुट' (तुर्कान-ए-चिहालगानी) को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उसके लिए सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किया। जहर का प्याला अथवा हत्यारे का छुरा दोनों ही उसके लिए समान थे बशर्ते वे उसके लक्ष्य की पूर्ति में सहायक थे। इस कारण जब वह सुल्तान बना उस समय तक उस दल के अधिकांश सदस्य या तो मर चुके थे अथवा बलबन द्वारा मार दिये गये थे। जो कुछ सरदार शेष रह गये थे उन्हें उसने सुल्तान बनने के पश्चात् समाप्त कर दिया या उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया। बदायूँ के इक्तादार (सूबेदार) मलिक बकबक को जनसाधारण के सम्मुख कोड़ों से पीटा गया क्योंकि उसने एक दास को कोड़ों से पीटकर मार दिया था। इसी प्रकार अवध के इक्तादार हैबातखाँ को अपने एक दास की हत्या कर देने के अपराध में 500 कोड़े लगाये जाने की सजा दी गयी। उसने मृत व्यक्ति की विधवा को बहुत-सा धन देकर मुक्ति तो पायी, परन्तु वह इतना अधिक लज्जित हुआ कि मृत्युपर्यन्त अपने निवास-स्थान से बाहर नहीं निकला। प्रो. हबीबुल्ला ने बलबन के न्याय की प्रशंसा की है और, निस्सन्देह, बलबन जनसाधारण के प्रति न्यायपूर्ण था। परन्तु प्रभावशाली सरदारों के प्रति इस प्रकार के व्यवहार का कारण तो उनके प्रभाव और सम्मान को नष्ट करना ही था, कुछ अन्य नहीं। बलबन अपने और अपने वंश के अधिकार की सुरक्षा और सम्मान की वृद्धि के लिए किसी भी तरीके को अपनाने में नहीं हिचका। इसी कारण जब अवध का इक्तादार अमीनखाँ बंगाल के आक्रमण में तुगरिल बेग द्वारा विफल होकर वापस लौटा तो बलबन ने उसे मृत्युदण्ड देकर अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया। इसके अतिरिक्त बलबन ने अपने चचेरे भाई शेरखाँ पर सन्देह करके उसे जहर देकर मरवा दिया। शेरखाँ की मृत्यु से बलबन का सबसे शक्तिशाली और सम्भावित विरोधी सरदार समाप्त हो गया। इस प्रकार बलबन ने सभी महत्वपूर्ण तुर्की-सरदारों को समाप्त कर दिया और 'चालीस सरदारों का गुट' नष्ट हो गया। उन सरदारों के स्थान पर छोटे सरदारों की पदोन्नति की गयी जो बलबन के प्रति वफादार थे और जो कभी भी उसके साथ समानता का दावा नहीं कर सकते थे। 'चालीस सरदारों के गुट' को नष्ट करके बलबन ने सुल्तान की प्रतिष्ठा और आतंक को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। परन्तु जिस प्रकार उसने उनको नष्ट किया उससे भारत में तुर्क-नस्ल का पराभव हो गया। बाद के समय में तुर्क-नस्ल ने अपनी शक्ति और योग्यता दोनों को खो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। प्रो. के. ए. निजामी ने बलबन को भारत में तुर्क-शक्ति के पतन के लिए दोषी बताया है। उन्होंने लिखा है—"अपने व्यक्तिगत और सामाजिक हितों की सुरक्षा के लिए उसने तुर्की शासक-वर्ग के हितों को पूर्णतया भुला दिया। उसने तुर्की-सरदारों की प्रतिभा को इतनी क्रूरता से नष्ट किया कि जब सिंहासन के लिए खलजी उनके प्रतिद्वन्द्वी बनकर सामने आये तो वे पूर्णतया असहाय और पराजित कर दिये गये। भारत में तुर्की-शक्ति के पतन में बलबन के उत्तरदायित्व से इंकार नहीं किया जा सकता।"

3. सेना का संगठन—मध्य-युग में एक बड़ी और कुशल सेना के अभाव में सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा सम्भव नहीं थी। मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा तथा आन्तरिक विद्रोहों को दबाने के लिए बलबन की सेना का पुनर्गठन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त बलबन की निरंकुशता का आधार उसकी सेना की शक्ति ही हो सकती थी। इस कारण बलबन ने सेना को विशाल और कुशल बनाने का प्रयत्न किया। बलबन ने अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की तथा हजारों अनुभवी एवं वफादार सैनिक-अधिकारियों की नियुक्ति की। उसने सैनिकों के वेतन में वृद्धि की। वह उनके प्रशिक्षण पर बल देता था और स्वयं जाड़ों में प्रत्येक दिन एक हजार घुड़सवारों और एक हजार पैदल सैनिकों को लेकर शिकार के बहाने रेवाड़ी तक जाता था और रात्रि हो जाने के पश्चात् वापस आता था। उसने अपना सेना-मन्त्री (दीवाने-ए-अर्ज) इमाद-उल-मुल्क को नियुक्त किया जो अत्यन्त ईमानदार और परिश्रमी व्यक्ति था। बलबन ने उसे वजीर के आर्थिक नियन्त्रण से मुक्त कर दिया जिससे उसे धन की कमी न हो। बलबन की सेना की अच्छी व्यवस्था का बहुत अधिक श्रेय इमाद-उल-मुल्क को था। इसके अतिरिक्त बलबन कभी भी अनावश्यक सैनिक-कार्यवाहियाँ नहीं करता था, प्रत्येक सैनिक-आक्रमण की योजना स्वयं बनाता था और उसे अन्तिम दिन तक गुप्त रखता था। उसके सैनिकों को आज्ञा दी जाती थी कि वे निर्धनों एवं दुर्बलों को न सतायें।

बलबन ने उन सभी जागीरों की जाँच करायी जो विभिन्न व्यक्तियों को सैनिक-सेवा के बदले शासकों द्वारा दी गयी थीं। उनमें अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे जो जागीरें प्राप्त करके उनके बदले में राज्य की कोई सेवा नहीं कर रहे थे। अनेक वृद्ध पुरुष, बच्चे अथवा विधवा स्त्रियाँ भी ऐसी जागीरों की मालिक थीं। ऐसे सभी व्यक्तियों की जागीरें छीन लेने के आदेश दिये गये। जो व्यक्ति राजा की सेवा के योग्य थे अथवा राज्य-सेवा कर रहे थे, उनकी जागीरों से आय एकत्र करने का अधिकार सरकारी कर्मचारियों को दिया गया और जागीरदारों को नकद धन देने के आदेश दिये गये। परन्तु बलबन को अपने इन आदेशों में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा। अनेक वृद्ध पुरुष और विधवा स्त्रियाँ सुल्तान के मित्र कोतवाल फखरुद्दीन की शरण में पहुँचे और सुल्तान से उनकी सिफारिश करने की प्रार्थना की। वृद्ध कोतवाल के कहने से बलबन ने ऐसे असहाय व्यक्तियों को उनकी जागीरें वापस दे देने की आज्ञा दे दी। इस कारण बलबन की यह सुधार-योजना व्यर्थ हो गयी।

इसके अतिरिक्त सेना का केन्द्रीयकरण किया गया हो ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। सैनिकों को वेतन नकद दिया जाता हो ऐसी भी कोई बात नहीं थी। सैनिकों को वेतन के स्थान पर पहले की तरह ही भूमि प्राप्त होती रही। इक्तादारों और सरदारों को अपनी सेना की व्यवस्था करने का स्वयं अधिकार रहा। इस कारण सेना के संगठन में दोष रहे। परन्तु फिर भी बलबन के समय में सेना की शक्ति में वृद्धि हुई।

4. शासन और गुप्तचर-विभाग का संगठन—बलबन का शासन अर्द्ध-सैनिक और अर्द्ध-असैनिक था। उसके सभी पदाधिकारियों से सैनिक और प्रशासकीय दोनों ही प्रकार की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवाओं की आशा की जाती थी। बलबन ने शासन का नियन्त्रण पूर्णतया अपने हाथों में रखा था। उसके समय में अन्य पदाधिकारियों का ही नहीं बल्कि वजीर के पद का भी महत्व घट गया और 'नाइब' जैसा कोई अधिकारी न रहा। बलबन प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति की स्वयं देखभाल करता था। उसके शासन की एक विशेषता यह थी कि वह केवल उच्च वंश के व्यक्तियों को ही अधिकारियों के पद पर नियुक्त करता था। निम्न वंश के व्यक्तियों से उसे घृणा थी। अमरोहा में एक भारतीय मुसलमान को एक सामान्य अधिकारी का पद देने से भी वह असन्तुष्ट हुआ था। उसने कहा था, "जब मैं किसी निम्न परिवार के व्यक्ति को देखता हूँ तो मेरे शरीर की शिराएँ क्रोध से उत्तेजित हो जाती हैं।" सिंहासन पर बैठने के पश्चात् उसने अपने पदाधिकारियों की वंशावली की जाँच करायी। उसने पाया कि उसके कई उच्च अधिकारी ऐसे थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे। उसने ऐसे सभी पदाधिकारियों को उनके पद से हटा दिया। प्रो. हबीबुल्ला ने बलबन की इस शासन-नीति की आलोचना की है। बलबन के समय में मंगोलों द्वारा भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर अधिकार कर लिये जाने के कारण तुर्कों अथवा विदेशी मुसलमानों का भारत आना सम्भव नहीं रह गया था। इस कारण शासन में भारतीय मुसलमानों का सहयोग लेना शासन की एक आवश्यकता बन गया था जिसकी पूर्ति बलबन ने नहीं की। इसके अतिरिक्त, अप्रत्यक्ष रूप से बलबन की शान्ति स्थापित करने और संगठन की नीति को प्रभावपूर्ण बनाये जाने के कारण एक मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का विकास हो रहा था। बलबन के द्वारा उच्च कुल के व्यक्तियों को ही शासन में स्थान देने के कारण उसमें बाधा आयी। इस कारण उनका कहना है कि "बलबन का यह कार्य न केवल निरर्थक था, अपितु बुद्धिहीनतापूर्ण भी था।" इस दोष के होते हुए भी यह स्वीकार किया गया कि बलबन ने एक ऐसी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता पायी जिसमें जनसाधारण न्याय और शान्ति प्राप्त कर सका। शासन के सम्बन्ध में उसके क्या विचार थे यह उसके द्वारा अपने पुत्रों को दी गयी सलाह से पता लगता है। उसने सलाह दी थी कि—

1. एक शासक को दुर्बलों को शक्तिशालियों से बचाना चाहिए।

2. शासन न बहुत कठोर होना चाहिए और न बहुत उदार। कर न इतने अधिक होने चाहिए कि जनता असहाय और निर्धन हो जाय और न इतने कम होने चाहिए कि जनता उद्दण्ड हो जाय।

3. शासक का कर्तव्य है कि वह एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करे जिससे कृषि उत्पादन पर्याप्त हो।

4. राज्य की अर्थ-व्यवस्था योजनाबद्ध होनी चाहिए। आय में से आधी आय व्यय करनी चाहिए और आधी आय संकट के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए।

5. राज्य के आदेशों का पालन होना चाहिए और उसके निर्णयों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

6. शासक को व्यापारियों को समृद्ध और सन्तुष्ट बनाये रखने के प्रयत्न करने चाहिए।

7. सैनिकों को ठीक समय पर वेतन मिलना चाहिए तथा शासक को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे सेना सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहे।

उपर्युक्त सिद्धान्तों पर बलबन ने भी कार्य किया और उसने एक ऐसी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता पायी जिसमें जन-साधारण न्याय और शान्ति प्राप्त कर सका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु बलबन के शासन की सफलता का मुख्य आधार उसका गुप्तचर-विभाग था। बलबन ने अपने पुत्रों, इक्तादारों, सैनिक-अधिकारियों, प्रशासकीय अधिकारियों, आदि सभी के साथ अपने गुप्तचर (बरीद) नियुक्त किये। प्रत्येक इक्ता (सूबा) और जनसाधारण में भी उसके गुप्तचर रहा करते थे। बलबन स्वयं उनकी नियुक्ति करता था और उन पर पर्याप्त धन व्यय करता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे प्रत्येक महत्वपूर्ण सूचना को प्रतिदिन सुल्तान के पास भेजेंगे। यदि उनमें से कोई अपने कर्तव्य की पूर्ति में असफल हो जाता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। बदायूँ के संवाददाता को, जिसने मलिक बकबक के सम्बन्ध में सुल्तान को उचित समाचार नहीं भेजा था, नंगर के फाटक पर लटकवा दिया था। गुप्तचर सुल्तान से सीधा सम्पर्क स्थापित करते थे यद्यपि उनमें से कोई भी दरबार में खुलेतौर से सुल्तान के निकट नहीं जाता था। इस प्रकार बलबन ने एक अच्छा गुप्तचर-विभाग संगठित किया।

5. विद्रोहों का दमन और शान्ति-व्यवस्था—बलबन की एक मुख्य समस्या हिन्दू विद्रोहियों का दमन था। दोआब, बदायूँ, अमरोहा, कटेहर आदि स्थानों पर ही विद्रोह नहीं होते थे अपितु दिल्ली का नागरिक जीवन भी असुरक्षित था। विद्रोही और लुटेरे राजमार्गों पर आक्रमण करते थे, व्यापारियों को लूटते थे और लगान-अधिकारियों को पीटकर भगा दिया करते थे। राज्य की शान्ति और सम्मान की सुरक्षा के लिए इन विद्रोहों को समाप्त करना आवश्यक था। सिंहासन पर बैठते ही बलबन ने, सर्वप्रथम, दिल्ली की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जहाँ मेवों (मेवातियों) ने आतंक फैला रखा था। दिल्ली के आसपास के जंगल काटकर साफ कर दिये गये, चारों दिशाओं में चार किलों का निर्माण करके वहाँ अफगान सैनिकों की नियुक्तियाँ की गयीं तथा लुटेरों एवं विद्रोहियों पर निरन्तर आक्रमण किये गये। **एक ही वर्ष में दिल्ली को इन लुटेरों के आतंक से मुक्त कर दिया गया। दूसरे वर्ष बलबन ने दोआब और अवध के विद्रोहों को दबाया।** सम्पूर्ण विद्रोही प्रदेश को सैनिक-क्षेत्रों में बाँट दिया गया, मुख्य स्थानों पर सैनिक चौकियाँ बनायी गयीं, जंगल साफ किये गये, विभिन्न स्थानों पर सैनिक टुकड़ियाँ नियुक्त की गयीं और घूम-घूमकर विद्रोहियों का दमन किया गया। उसके पश्चात् सुल्तान कटेहर गया। **कटेहर में बलबन ने नृशंसता का व्यवहार किया।** गाँव के गाँव जला दिये गये और सभी पुरुषों का वध कर देने के आदेश दिये गये। **सुल्तान की आतंक की यह नीति सफल रही और उसने प्रारम्भिक वर्षों में ही अपने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। साथ ही सुल्तान ने जंगलों को साफ करने, सड़कों का निर्माण करने और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करने की नीति अपनायी** जो उसकी सफलता का एक कारण बनी।

6. बंगाल विजय—बंगाल पर दिल्ली-सल्तनत का आधिपत्य सर्वदा ही अस्थिर रहा था। नासिरुद्दीन महमूद के समय में अर्सलाखाँ ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। **परन्तु जब बलबन सिंहासन पर बैठा तब अर्सलाखाँ के पुत्र और उत्तराधिकारी तातारखाँ ने दिल्ली के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और बलबन को 63 हाथी भेंट-स्वरूप भेजे। कुछ समय पश्चात् तातारखाँ को हटाकर तुगरिलखाँ को बंगाल का इक्तादार बनाया गया जो बलबन का एक योग्य गुलाम सरदार था। परन्तु तुगरिलखाँ ने 1279 ई. में विद्रोह कर दिया।** उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' की उपाधि ग्रहण की, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया। तुगरिलखाँ के इस विद्रोह से बलबन को एक बड़ा धक्का लगा। यह एक गुलाम सरदार का पहला विद्रोह था। यदि वह सफल हो जाता तो बलबन की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट हो जाती। इस कारण इस विद्रोह को दबाना बलबन की एक मुख्य आवश्यकता हो गयी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह का समाचार मिलते ही उसने अवध के इक्तादार अमीनखाँ को बंगाल पर आक्रमण करने के आदेश दिये। परन्तु अमीनखाँ की पराजय हुई और उसकी सेना नष्ट हो गयी। बलबन ने क्रोधित होकर अमीनखाँ को अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया। तिर्मित के नेतृत्व में दिल्ली से भेजी गयी एक अन्य सेना की भी पराजय हुई। अवध के नवीन इक्तादार शहाबुद्दीन के नेतृत्व में भेजी गयी तीसरी सेना का भी वही परिणाम हुआ। बंगाल के विरुद्ध इन निरन्तर असफलताओं ने बलबन के धैर्य को समाप्त कर दिया। बलबन की आयु 80 वर्ष की थी और मंगोल-आक्रमण का भय भी समाप्त नहीं हुआ था, परन्तु फिर भी उसने स्वयं बंगाल पर आक्रमण करने का निश्चय किया। बलबन एक बड़ी सेना लेकर बंगाल की ओर बढ़ा। उसने अवध में अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की और प्रायः दो लाख सैनिकों एवं अपने पुत्र बुगराखाँ को लेकर बंगाल पहुँचा।

सुल्तान के आने का समाचार पाकर तुगरिलखाँ का साहस समाप्त हो गया और वह लखनौती को छोड़कर जाजनगर की तरफ भाग गया। बलबन उसे पकड़ने के लिए कटिबद्ध था। उसने सुनारगाँव तक उसका पीछा किया। परन्तु तुगरिलखाँ जंगलों में जा छिपा। अन्त में, मलिक मुहम्मद शेरन्दाज को अचानक तुगरिलखाँ के छिपने के स्थान का पता लग गया। उसने केवल अपने चालीस साथियों के साथ तुगरिलखाँ के डेरे पर आक्रमण कर दिया। तुगरिलखाँ और उसकी सेना निश्चिन्त होकर आराम कर रही थी। इस अचानक आक्रमण को उन्होंने सुल्तान की सेना का आक्रमण समझा और वे इधर-उधर बिखर गये। स्वयं तुगरिलखाँ ने घोड़े की नंगी पीठ पर बैठकर भागने का प्रयत्न किया परन्तु मलिक मुकद्दर नामक एक सैनिक अधिकारी ने उसका पीछा किया और उसका सिर काट लिया। इतने में बकतार के नेतृत्व में सुल्तान की सहायता पहुँच गयी और तुगरिलखाँ की सेना नष्ट कर दी गयी तथा उनमें से हजारों सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बलबन उन सभी कैदियों को लेकर लखनौती पहुँचा। वहाँ उसने तुगरिलखाँ के साथियों को कठोर दण्ड दिया। इतिहासकार बरनी ने लिखा है—"लखनौती के मुख्य बाजार के दोनों ओर दो मील लम्बी तख्तों की एक कतार खड़ी की गयी और तुगरिलखाँ के समर्थकों को उन पर ठोक दिया गया। ऐसे वीभत्स दृश्य को देखकर अनेक व्यक्ति मूर्च्छित हो गये।" बलबन ने अपने पुत्र बुगराखाँ को बंगाल का इक्तादार नियुक्त किया और उसे उस बाजार के दृश्य को दिखाते हुए सलाह दी कि वह कभी भी दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस न करे। इसके पश्चात् बलबन दिल्ली वापस लौट आया।

7. मंगोल-आक्रमण—मंगोल-आक्रमण का भय बलबन के सम्मुख सर्वदा रहा। इसी कारण बलबन राज्य-विस्तार की नीति अपनाने में समर्थ न हुआ, परन्तु बलबन ने मंगोल-आक्रमणों को रोकने की पर्याप्त व्यवस्था की। आरम्भ के कुछ वर्षों में उत्तर-पश्चिमी सीमा का रक्षक बलबन का चचेरा भाई शेरखाँ था। प्रो. हबीबुल्ला और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि शेरखाँ एक महान् योद्धा था और उसने मंगोलों एवं खोक्खरों को आतंकित कर रखा था। परन्तु डॉ. के. ए. निजामी इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि मिनहाज ने किसी भी ऐसे युद्ध का वर्णन नहीं किया है जिसमें शेरखाँ ने मंगोलों के विरुद्ध भाग लिया हो बल्कि, इसके विपरीत, वह मंगोलों की सेवा करने को तत्पर हो गया था। बलबन ने उसे दिल्ली के निकट की जागीर प्रदान की परन्तु जब वह कुछ वर्षों तक वहाँ नहीं आया तो बलबन ने उसे जहर दिलाकर मरवा दिया। उपर्युक्त कोई भी कारण रहा हो परन्तु बलबन के प्रारम्भिक समय में मंगोल-आक्रमणों को सफलता नहीं मिली थी अथवा आक्रमण हुए ही नहीं थे। 1270 ई. में बलबन लाहौर गया और उसने वहाँ के किले को सुदृढ़ बनाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आदेश दिये। उसने सीमा पर किलों की एक कतार बनवायी और प्रत्येक किले में एक बड़ी संख्या में सेना रखी। कुछ वर्षों के पश्चात् उत्तर-पश्चिमी सीमा को दो भागों में बाँटा गया। लाहौर, मुल्तान और दिपालपुर का क्षेत्र शाहजादा मुहम्मद को और सुमन, समाना तथा उच्छ का क्षेत्र शाहजादा बुगराखाँ को दिया गया तथा प्रत्येक शाहजादे के साथ प्रायः 18 हजार घुड़सवारों की एक शक्तिशाली सेना रखी गयी। जब बुगराखाँ को बंगाल का इक्तादार (सूबेदार) बनाया गया तब सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व शाहजादा मुहम्मद को दिया गया। शाहजादा मुहम्मद बलबन का सबसे बड़ा तथा योग्य पुत्र था। वह सिंहासन का उत्तराधिकारी था। वह योग्य सेनापति के अतिरिक्त सुसभ्य भी था और साहित्य में उसकी रुचि थी। विद्वान अमीर खुसरव और अमीर हसन ने अपना साहित्यिक जीवन उसके संरक्षण में आरम्भ किया था। फारसी के महान् कवि शेख सादी को भी उसने निमन्त्रित किया था यद्यपि वह अपनी वृद्धावस्था के कारण आ नहीं सका। शाहजादे ने मंगोल-आक्रमणों को रोंकने में आशातीत सफलता प्राप्त की। परन्तु 1286 ई. में अचानक एक बड़ी मंगोल सेना से घिर जाने के कारण वह युद्ध करता हुआ मारा गया। उसके पश्चात् भी बलबन सीमा की सुरक्षा की ओर ध्यान देता रहा। मंगोलों के विरुद्ध बलबन को सफलता इस सीमा तक मिली कि वह लाहौर तक के प्रदेशों को अपने अधिकार में रख सका और उसने मंगोलों को व्यास नदी को पार नहीं करने दिया। परन्तु बलबन न तो स्वयं कभी व्यास नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर आक्रमण कर सका और न ही वह उनके भय को सर्वदा के लिए समाप्त कर सका।

मृत्यु

बलबन काफी वृद्ध हो चुका था। शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु ने उसको बहुत दुःखी कर दिया। बलबन की समस्त आशाएँ उस पर केन्द्रित थीं। उसका दूसरा पुत्र बुगराखाँ विलासी एवं आरामपसन्द था। उससे बलबन को अपने राज्य की सुरक्षा की आशा न थी। बलबन बीमार हो गया और उस समय उसने बुगराखाँ को बंगाल से बुला लिया। उसका आशय उसको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का था। परन्तु बुगराखाँ ने बंगाल के आरामपसन्द एवं स्वतन्त्र जीवन को अधिक पसन्द किया और चुपके से बंगाल वापस चला गया। बलबन ने अपने बड़े बेटे महमूद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी चुना और कुछ समय पश्चात् 1287 ई. के मध्य में उसकी मृत्यु हो गयी।

बलबन का मूल्यांकन

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने बलबन के मुख्यतया दो दोष बताये हैं। प्रथम, "वह धर्मान्ध था तथा अपनी बहुसंख्यक प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण था।" द्वितीय, "उसमें रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था। उसमें व्यवस्था स्थापित करने की शक्ति थी, नवीन आविष्कार करने की नहीं।" इसके अतिरिक्त उन्होंने उसकी प्रशंसा की है और तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में इल्तुतमिश के पश्चात् वे उसे दूसरा स्थान प्रदान करते हैं। प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने बलबन की राजनीति में एक मुख्य दोष यह बताया है कि उसने भारतीय मुसलमानों के प्रभाव को राजनीति और शासन में स्वीकार नहीं किया। वह लिखते हैं—"वह अपने आप को मुसलमानों का शासक मानने की बजाय तुर्की-सम्प्रभुता का संरक्षक अधिक मानता था।" इसके अतिरिक्त वह भी बलबन के कार्यों की प्रशंसा करते हैं।

बलबन की सबसे अधिक दुर्बलताएँ प्रो. के. ए. निजामी ने बतायी हैं। वह उसे राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय तो प्रदान करते हैं परन्तु अन्य बातों में उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असफलताओं की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। वह लिखते हैं कि बलबन की तुर्कों की श्रेष्ठता को स्थापित रखने की नीति ने लाभ के स्थान पर हानि अधिक पहुँचाई। उसने भारतीय मुसलमानों को उच्च पदों से और हिन्दुओं को प्रशासकीय सेवाओं, मुख्यतया लगान व्यवस्था में सम्मिलित न करके शासन में होने वाले सहज परिवर्तन को रोक दिया। इस कारण जब वह परिवर्तन आया तब क्रान्तिकारी रूप में सम्मुख आया। इसके अतिरिक्त बलबन की सबसे बड़ी असफलता उसकी सेना के विषय में थी। लखनौती के विद्रोह को दबाने में उसे छः वर्ष लगे थे, राजपूत शासकों के विरुद्ध वह कोई कदम नहीं उठा सका था और उसके अधिकारी मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध असफल रहे थे। वह बताते हैं कि इसका मुख्य कारण अच्छे सैनिक-अधिकारियों की कमी थी। मध्य-एशिया में मंगोलों का प्रभाव बढ़ जाने के कारण भारत में बड़ी संख्या में तुर्क नहीं आ सके थे और बलबन तुर्कों के अतिरिक्त किसी अन्य नस्ल के व्यक्तियों को कोई निम्न पद तक देने के लिए तत्पर न था। शासन-व्यवस्था पर भी दृष्टिपात करते हुए उन्होंने लिखा है—"यद्यपि उसने एक पुलिस के व्यक्ति की भाँति शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के कर्तव्यों की पूर्ति की परन्तु एक भी ऐसा कानून या नियम प्राप्त नहीं होता जिसके कारण बलबन को याद किया जा सके। विद्रोहियों में सबसे अधिक शान्त और वृद्ध जलालुद्दीन खलजी ने तुर्की गुलाम-सरदारों के शासन को उलट दिया जो निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि यह व्यवस्था (बलबन की) कितनी दुर्बल और कीड़ों द्वारा खायी हुई हो चुकी थी।"

निस्सन्देह, बलबन की शासन-व्यवस्था में दोष थे। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और प्रो. हबीबुल्ला ने भी बलबन की शासन-व्यवस्था के दोषों को बताया है। बलबन की मृत्यु के तीन वर्ष पश्चात् ही उसके राज्य का नष्ट हो जाना और दिल्ली के सिंहासन पर खलजी-वंश का अधिकार हो जाना उसके दोषों एवं दुर्बलता को सिद्ध करते हैं। बलबन का मुख्य दोष उसकी निरंकुशता और तुर्क-नस्ल की श्रेष्ठता को स्थापित रखने का प्रयत्न करना था। एक व्यक्ति अथवा किसी एक अल्पसंख्यक वर्ग की शक्ति और क्षमता पर आधारित राज्य स्थायी नहीं हो सकता था। इस कारण बलबन का राज्य और उसके वंश का दिल्ली के सिंहासन पर स्वामित्व सुरक्षित न रहा।

परन्तु तब भी बलबन को एक योग्य शासक माना गया है तथा तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। बलबन अपनी योग्यता से सुल्तान बना था। वह कठोर एवं क्रूर था परन्तु, सम्भवतया, उस समय की परिस्थितियों में उसका ऐसा बनना आवश्यक था। शासन के प्रति भय और सम्मान की भावना का नष्ट हो जाना और विद्रोहियों एवं लुटेरों की संख्या में वृद्धि एक कठोर शासक की आवश्यकता की ओर इंगित करते थे। इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि "नासिरुद्दीन के शासनकाल के अन्तिम दिनों में सुल्तान की प्रतिष्ठा पूर्णतया नष्ट हो चुकी थी।" वह पुनः लिखता है : "जिस समय बलबन सिंहासन पर बैठा, उस समय राज्य की शक्ति का भय, जो शासन का आधार है, और राज्य का गौरव सभी मनुष्यों के हृदय से जाता रहा था।" ऐसी स्थिति में बलबन ने एक कठोर शासक की आवश्यकता की पूर्ति की अन्यथा बलबन न्यायप्रिय, दुर्बलों का रक्षक और प्रजा के आर्थिक हितों की ओर ध्यान देने वाला शासक था। इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उत्पन्न हुई अराजकता को दूर करने का श्रेय बलबन को था। उसने विद्रोहों को समाप्त किया, विद्रोही इक्तादारों को दण्ड दिया, दिल्ली-सल्तनत की सीमाओं को सुरक्षित रखा तथा उसके अन्तर्गत शान्ति और व्यवस्था स्थापित की। बलबन ने सुल्तान की सम्प्रभुता को स्थापित किया और जैसा कि प्रो.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिपाठी ने लिखा है, "उसकी सम्प्रभुता की धारणा सम्मान, शक्ति और न्याय पर आधारित थी।" डॉ. ए. बी. पाण्डे ने लिखा है—"यदि हम बलबन के कार्यों को एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द है—सुदृढ़ीकरण। यही उसकी नीति का मन्त्र था।" सुल्तानों और तुर्की गुलाम-सरदारों के संघर्ष तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा को समाप्त किये जाने के लिए बलबन दोषी न था। राजनीतिक मंच पर उसके अवतरण से पहले ही यह संघर्ष आरम्भ हो चुका था। उसने धीरे-धीरे उन परिस्थितियों का लाभ अपने हित के लिए उठाया, यह अन्य बात है। एक बार सुल्तान बनने के पश्चात् **उसने सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया, यह उसकी महान् सफलता थी।** प्रो. ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है—"बलबन का एकमात्र और महानतम कार्य राज्य में सल्तनत (बादशाहत) को पुनः श्रेष्ठतम स्थान प्रदान करना था।" इस क्षेत्र में उसने कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों की पूर्ति की। इल्तुतमिश ने सुल्तान के पद को स्थापित किया था परन्तु उसकी शक्ति तुर्की गुलाम-सरदारों की शक्ति पर आश्रित थी। बलबन ने इस दुर्बलता को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। **बलबन की शक्ति स्वयं सुल्तान की शक्ति थी जिसको किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं थी, अपितु उस पर अन्य सभी निर्भर करते थे। इस कारण बलबन यथार्थ में सुल्तान था।** निस्सन्देह, बलबन मंगोल-आक्रमणों के भय को सर्वदा के लिए समाप्त नहीं कर सका परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि **उसने मंगोलों की सफलता के मार्ग को बन्द कर दिया। उसने दिल्ली-सल्तनत को सशक्त बनाया** और अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा के सम्बन्ध में जो नीति अपनायी वह आगे आने वाले खलजी-शासकों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है—"महान् योद्धा, शासक एवं नीति-निपुण बलबन जिसने घोर संकटमय स्थिति में पड़े हुए अल्पवयस्क मुसलमान राज्य को सुरक्षित रखा और नष्ट होने से बचाया, मध्यकालीन भारतीय इतिहास में सदैव उच्च स्थान पाता रहेगा। उसने अलाउद्दीन के सफल शासन की भूमिका तैयार की। यदि उसने भारत में संघर्षरत मुसलमान शक्ति को दृढ़ एवं सुरक्षित न बना दिया होता तो अलाउद्दीन मंगोलों के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने तथा सुदूरवर्ती प्रदेशों को विजय करने में कभी सफल न हो पाता जिसके कारण उसको मुसलमानों के इतिहास में ऐसा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।" प्रो. हबीबुल्ला के अनुसार भी "बलबन ने बड़ी सीमा तक खलजी राज्य-व्यवस्था की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।" बलबन के विषय में इतिहासकार बरनी का भी एक कथन महत्वपूर्ण है। उसने लिखा है—"बलबन की मृत्यु से दुःखी हुए मलिकों (अमीरों) ने अपने वस्त्र फाड़ डाले और सुल्तान के शव को नंगे पैरों दारुल-अमन के कब्रिस्तान को ले जाते हुए अपने सिरों पर धूल फेंकी। उन्होंने चालीस दिन तक उसकी मृत्यु का शोक मनाया और नंगी भूमि पर सोये।" इससे प्रकट होता है कि बलबन की कठोरता के बावजूद भी उसके सरदार उससे प्रेम करते थे अथवा उसकी उपस्थिति की आवश्यकता को अनुभव करते थे। एक कठोर शासक के प्रति यह भावना एक आश्चर्य की बात थी। इस कारण यह मानना पड़ता है कि बलबन एक सफल शासक था। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में एकमात्र रजिया ने योग्यता से कार्य किया। परन्तु वह असफल हुई। बलबन ने सफलता प्राप्त की और उसने इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उत्पन्न हुई अव्यवस्था और दुर्बलता को दूर कर दिया। निस्सन्देह, वह अपने वंश के स्वामित्व को दिल्ली के सिंहासन पर सुरक्षित रखने में असफल हुआ परन्तु वह दिल्ली-सल्तनत के अधिकार और प्रभाव को स्थायित्व प्रदान करने में अवश्य सफल हुआ। **बलबन को एक महान् सुल्तान नहीं माना जा सकता। परन्तु तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में महान् सुल्तान कहलाने का**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारी कोई भी नहीं है। बलबन में भी कमियाँ रहीं परन्तु जो सफलताएँ उसने अर्जित कीं, उनके कारण उसे गुलाम-सुल्तानों में एक महत्वपूर्ण सुल्तान माना गया है। यह विचार भी प्रकट किया गया है कि व्यक्तिगत दृष्टि से बलबन कठोर नहीं था। अपने परिवार के सभी सदस्यों के प्रति वह सहृदय था और अपने सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद की मृत्यु हो जाने पर वह अपने निजी-कक्ष में फूट-फूटकर रोया करता था। बलबन ने मंगोल-आक्रमणों के कारण मध्य-एशिया से भागकर आये हुए सभी प्रतिष्ठित मुसलमान व्यक्तियों को अपने दरबार में शरण दी और योग्यतानुसार उन्हें पद भी प्रदान किये। बलबन ने न केवल अपने राज्य में शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी वरन् उसकी आर्थिक स्थिति को ठीक करने में भी सफलता प्राप्त की थी। बलबन विद्वानों और कलाकारों को भी संरक्षण प्रदान करता था। उसके दरबार में साहित्यकार, कवि, दार्शनिक, चिकित्सक आदि सभी को आश्रय प्राप्त हुआ था। उसके दरबार के विद्वानों में शेख बदरुद्दीन बजारिया, शेख मसूद, बदरुद्दीन गजनवी, काजी कुतुबुद्दीन, मौलाना हमीदुद्दीन मुतरिज, आदि सम्मिलित थे। विभिन्न आधुनिक इतिहासकारों ने बलबन की सफलताओं की प्रशंसा की है। इस कारण डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के शब्दों में, "तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में इल्तुतमिश के बाद उसका दूसरा स्थान है।"

[2]

कैकुबाद और शम्सुद्दीन क्यूमर्स (1287-1290 ई.)

बलबन ने अपनी मृत्यु से पहले अपने बड़े पुत्र मुहम्मद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। परन्तु दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन मुहम्मद उससे और उसके परिवार से घृणा करता था। उसने एक षड्यन्त्र रचा और कैखुसरव को डराकर मुल्तान भगा दिया अथवा उसे मुल्तान की सूबेदारी दिला दी और उसके स्थान पर बलबन के दूसरे पुत्र तथा बंगाल के इक्तादार बुगराखां के पुत्र कैकुबाद को सुल्तान बनाने में सफलता प्राप्त की। सुल्तान बनने के अवसर पर कैकुबाद की आयु 17 अथवा 18 वर्ष थी। कैकुबाद सुन्दर, सुसभ्य, उदार, शिक्षित और शस्त्र चलाने में निपुण था। परन्तु वह अल्पायु था और उसका लालन-पालन बलबन के कठोर नियन्त्रण में हुआ था। उसने सुल्तान बनने से पहले किसी सुन्दर स्त्री का मुँह तक नहीं देखा था और न कभी शराब पी थी। कोतवाल फखरुद्दीन के दामाद निजामुद्दीन ने इसका लाभ उठाया। वह कुचक्री एवं महत्वाकांक्षी था और उसका श्वसुर प्रभावशाली व्यक्ति था। उसने कैकुबाद को विलासिता की ओर प्रेरित किया। कैकुबाद की दबी हुई भावनाएँ भड़क उठीं और स्त्री, शराब तथा गाना-बजाना ही उसके एकमात्र कार्य रह गये। निजामुद्दीन दिल्ली का केवल 'दादबेग' (शहर का अधिकारी) था परन्तु वास्तव में वह सुल्तान का 'नाइब' बन गया और सम्पूर्ण शासन की बागडोर उसके हाथों में चली गयी। निजामुद्दीन स्वार्थी और कुचक्री था परन्तु योग्य भी था। उसने शासन को अव्यवस्थित नहीं होने दिया। मंगोलों की एक सेना ने तैमूरखाँ के नेतृत्व में पंजाब पर आक्रमण किया और समाना तक पहुँच गयी परन्तु मलिक बकबक ने लाहौर के निकट उसे परास्त करने में सफलता प्राप्त की अथवा शाही सेना के आने का समाचार पाकर मंगोल स्वयं वापस चले गये। लगभग एक हजार मंगोल बन्दी बना लिये गये और दिल्ली लाकर उन्हें कत्ल कर दिया गया।

परन्तु निजामुद्दीन सिंहासन के पीछे शक्ति का उपयोग करने से सन्तुष्ट न रह सका। वह सुल्तान की असावधानी का लाभ उठाकर सिंहासन को प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। उसने अपने श्वसुर कोतवाल फखरुद्दीन की सलाह मानने से भी इंकार कर दिया। उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुल्तान के महल में अपनी पत्नी को भेज दिया जिससे वह महल पर भी अपना नियन्त्रण रख सके। छः माह पश्चात् कैखुसरव का वध कर दिया गया, वजीर ख्वाजा खातीर को गधे पर बैठाकर नगर में घुमाया गया तथा अन्य कई विरोधी तुर्क-सरदारों को कत्ल कर दिया। इस कारण अनेक तुर्क-सरदार निजामुद्दीन के विरोधी हो गये।

कैकुबाद के विलासी जीवन और निजामुद्दीन के बढ़ते हुए प्रभाव की सूचना उसके पिता बुगराखाँ तक पहुँच चुकी थी। उसने अपने पुत्र को पत्रों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में, बुगराखाँ ने अपने पुत्र से मिलने का निश्चय किया और एक बड़ी सेना लेकर वह बंगाल से अवध पहुँच गया। कैकुबाद भी अपनी सेना लेकर अयोध्या के निकट पहुँच गया। निजामुद्दीन ने कैकुबाद को अपने पिता से मिलने से रोकने तथा उससे युद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु बुगराखाँ के धैर्य और कुछ वफादार तुर्क-सरदारों के प्रयत्नों के कारण पिता-पुत्र की भेंट सम्भव हो गयी। बुगराखाँ ने 'जमींपोशी' और 'पैबोस' की रस्मों की पूर्ति की, यहाँ तक कि कैकुबाद को इतनी अधिक ग्लानि हुई कि वह सिंहासन छोड़कर अपने पिता के चरणों में गिर पड़ा। उसके पश्चात् पिता-पुत्र गले मिले और तीन दिन तक साथ-साथ रहे। बुगराखाँ ने कैकुबाद को विलासी जीवन छोड़ देने की सलाह दी और चलते समय चुपके से निजामुद्दीन से भी छुटकारा पाने का परामर्श दिया। कैकुबाद ने दिल्ली वापस आकर अपने पिता की सलाह के अनुरूप कार्य करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह दुर्बल-चरित्र था जिसके कारण एक सप्ताह पश्चात् ही वह पुनः भोग-विलास में फँस गया। परन्तु उसने निजामुद्दीन से छुटकारा पाने का निश्चय कर लिया था। निजामुद्दीन को मुल्तान जाने के आदेश दिये गये परन्तु जब उसने टालमटोल की तो कैकुबाद ने उसे जहर देकर मरवा दिया। निजामुद्दीन की मृत्यु सुल्तान के लिए लाभदायक होती यदि वह शासन को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करता परन्तु उसने ऐसा नहीं किया और पहले की भाँति इन्द्रिय-सुखों में संलिप्त रहा। शीघ्र ही उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और शासन-सत्ता दो तुर्क-सरदार मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा के हाथों में चली गयी।

कैकुबाद ने जलालुद्दीन फिरोज खलजी को अपनी सेना का सेनापति और बुलन्दशहर का इक्तादार नियुक्त किया था। खलजियों को गैर-तुर्क समझा जाता था, इस कारण जलालुद्दीन खलजी की सेनापति के पद पर नियुक्ति से तुर्क-सरदार असन्तुष्ट हो गये। मलिक कच्छन और सुर्खा ने शासन में तुर्कों की श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए सभी गैर-तुर्क सरदारों को कत्ल करने की योजना बनायी जिसमें सबसे पहला नाम जलालुद्दीन खलजी का था। उस समय तक कैकुबाद को लकवा मार गया था। तुर्की-सरदारों ने उसे पूर्णतया अनुपयोगी समझकर उसके तीन वर्ष के पुत्र क्यूमर्स को शम्सुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मलिक कच्छन ने जलालुद्दीन को मारने का उत्तरदायित्व लिया और धोखे से मारने के लिए उसे सुल्तान से मिलने का आदेश दिया। जब इस आदेश को लेकर कच्छन स्वयं जलालुद्दीन के पास गया तो उसे कत्ल कर दिया गया। जलालुद्दीन अपनी सेना को लेकर दिल्ली के निकट पहुँच चुका था। उसके सैनिकों ने दिल्ली में प्रवेश करके सुल्तान तथा कोतवाल फखरुद्दीन के बच्चों को पकड़ लिया। इसके पश्चात् सुल्तान के संरक्षक की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। फखरुद्दीन और सुल्तान के भतीजे मलिक छज्जू ने उस पद को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। तब जलालुद्दीन खलजी स्वयं सुल्तान का संरक्षक बन गया। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। तीन माह पश्चात् जलालुद्दीन ने क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शम्सुद्दीन का वध करा दिया। कैकुबाद को एक खलजी सरदार ने उसी की चादर में लपेटकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यमुना नदी में फेंक दिया। 1290 ई. में स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार बलबन के उत्तराधिकारियों का अन्त हुआ और उनके साथ-साथ तुर्कों की श्रेष्ठता भी समाप्त हो गयी।

[3]

ममलूक अथवा तथाकथित गुलाम-वंश के पतन के कारण

उत्तर-भारत में दिल्ली को राजधानी बनाकर प्रायः 84 वर्ष तक ममलूक-सुल्तानों ने शासन किया। ममलूक-सुल्तानों ने तुर्की-राज्य को भारत में स्थापित किया, मध्य-एशिया तथा गजनी और गोर की राजनीति से भारत को पृथक किया, नवनिर्मित भारत के मुसलमानी राज्य की मंगोलों से सुरक्षा करने में सफलता प्राप्त की, उत्तर-भारत के अधिकांश भाग को राजनीतिक और प्रशासकीय एकता प्रदान करने के प्रयत्न किये और पर्याप्त सफल भी रहे, राजपूतों की शक्ति को तोड़ने में भी पर्याप्त सफल हुए तथा भारत में शहरीकरण, एक नवीन अर्थ-व्यवस्था और एक नवीन संस्कृति को प्रारम्भ करने में भी सहायक हुए। परन्तु अन्त में वे असफल हुए। 1290 ई. में खलजियों ने उस वंश के शासन को समाप्त कर दिया। गुलाम-वंश के पतन के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं :

1. गुलाम-सुल्तानों का विदेशी होना—गुलाम-सुल्तान विदेशी तुर्क थे। निस्सन्देह, उन्होंने अपने राज्य और शासन को विदेशी राजनीति से पृथक् कर लिया परन्तु वे एक विदेशी धर्म और संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और उसी की श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। बलबन तो तुर्की नस्ल की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए भारतीय मुसलमानों को भी शासन में स्थान देने के लिए तत्पर नहीं था। इस प्रकार गुलाम-शासकों ने न केवल हिन्दुओं को उनके राज्यों से वंचित किया वरन् अपनी नस्ल, संस्कृति और धर्म की श्रेष्ठता को भी बनाये रखने का प्रयत्न किया। इस कारण हिन्दू निरन्तर तुर्क-शासकों से संघर्ष करते रहे जिसके कारण शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में ही सुल्तानों की अधिकांश शक्ति लगी रही और स्थायित्व की परिस्थितियों का निर्माण करना उनके लिए कठिन रहा। निस्सन्देह, गुलाम-सुल्तान ऐसे सार्वजनिक भलाई के कार्य करने में अधिकांशतया असफल रहे जो उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहानुभूति दिलाने में समर्थ होते। ऐसी स्थिति में मूल आधार पर ही गुलाम-शासकों के शासन में अस्थिरता सदैव उपस्थित रही।

2. उत्तराधिकार के नियम का अभाव—इल्तुतमिश ने अपने वंश के अधिकार को दिल्ली के सिंहासन पर सुरक्षित रखने के लिए खलीफा से स्वीकृति ली और वह अपने वंश के अधिकार को वैध बनाने में पर्याप्त सफल भी हुआ। परन्तु इस सम्पूर्ण काल में तुर्कों में स्वयं सुल्तान के पद को प्राप्त करने के लिए संघर्ष रहा और उत्तराधिकार का कोई एक नियम विकसित नहीं हुआ। ऐबक से लेकर बलबन के समय तक तलवार की शक्ति ने सुल्तान का निश्चय किया। ऐसी स्थिति में खलजियों ने भी सिंहासन प्राप्त करने के लिए तलवार की सहायता ली और अन्त में सफल हुए।

3. अमीरों की शक्ति का उत्कर्ष और उनका पारस्परिक संघर्ष—सुल्तान इल्तुतमिश ने अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए अपने गुलाम-सरदारों का एक गुट (तुर्कान-ए-चिहालगानी) बनाया था। उसके समय से तुर्क गुलाम-सरदार राज्य-शासन में प्रभावशाली हो गये। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी इच्छा से सुल्तानों में परिवर्तन किये और सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा को समाप्त कर दिया। निस्सन्देह, बलबन ने अपने समय में इन तुर्की अमीरों की शक्ति को नष्ट कर दिया। परन्तु ऐसा करते हुए भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह शासन में अमीरों के प्रभाव को नष्ट नहीं कर सका। अमीर, जो उस समय तक तुर्क और खलजियों में विभाजित हो गये थे, बलबन की मृत्यु के पश्चात् उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में सत्ता प्राप्त करने के लिए पुनः उत्सुक हुए। उन्होंने सत्ता के लिए संघर्ष किया जिसमें खलजी-अमीर सफल हुए और राजवंश में परिवर्तन हो गया।

4. मंगोल-आक्रमणों का भय—गुलाम-सुल्तानों को न केवल हिन्दुओं से और अपने स्वयं के अमीरों से ही संघर्षरत होना पड़ा था अपितु मंगोल-आक्रमण भी उनके लिए एक बड़ी समस्या थी। इस कारण बलबन ने उत्तर-पश्चिम सीमा की रक्षा के लिए वहाँ सर्वदा एक बड़ी सेना और एक योग्य सेनापति को रखने की व्यवस्था की। उस सेना में खलजी सैनिक जिनको भ्रमवश अफगान माना जाता था, अधिक थे। जलालुद्दीन खलजी उसी सेना का प्रधान था जिससे उसकी शक्ति दिल्ली की सेना से भी अधिक हो गयी थी। उसने अपनी सेना की सहायता से ही दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया।

5. बलबन का उत्तरदायित्व—बलबन ने अपने तुर्की अमीरों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट कर दिया परन्तु ऐसा करते हुए उसने न केवल अपने वंश के अपितु दिल्ली के सिंहासन पर तुर्कों के अधिकार को भी नष्ट कर दिया। मध्यकालीन युग में और मुख्यतया उत्तर-भारत की उन अस्थिर परिस्थितियों में तलवार ही सिंहासन के अधिकारी का निर्णय कर सकती थी और करती रही। इस कारण गुलाम-वंश को नष्ट करके खलजियों द्वारा अपने राज्य को स्थापित करना अस्वाभाविक नहीं था। ऐसा बाद में भी हुआ। दिल्ली-सल्तनत के समय में हुए विभिन्न राजवंशों के परिवर्तन का कारण तलवार की शक्ति ही रही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सुल्तान बलबन की क्या कठिनाइयाँ थीं ? वह उसे दूर करने में कहाँ तक सफल रहा ?
2. बलबन का राजत्व सिद्धान्त क्या था ? वह उसके व्यावहारिक प्रयोग में कहाँ तक सफल रहा ?
3. "बलबन गुलाम वंश का एक महत्वपूर्ण शासक था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
4. ममलूक अथवा तथाकथित गुलाम वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बलबन की प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।
2. बलबन के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. बलबन के राजत्व सिद्धान्तों पर संक्षेप में एक लेख लिखिए।
4. चालीस अमीरों के दल के विघटन का वर्णन कीजिए।
5. बलबन की गुप्तचर व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
6. बलबन द्वारा बंगाल में तुगरिल बेग के दमन का उल्लेख कीजिए।
7. बलबन के शासन में होने वाले मंगोल आक्रमण का वर्णन कीजिए।
8. कैकुबाद के उत्थान का वर्णन कीजिए।
9. बुगराखाँ के शासन की घटनाओं पर प्रकाश डालिए।
10. गुलाम वंश के पतन के चार प्रमुख कारण लिखिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शासक बनने से पूर्व बलबन ने महत्वपूर्ण पद पर कार्य किया था—
   (अ) अमीर-ए-शिकार (ब) अमीर-ए-अखूर
   (स) अमीर-ए-हाजिब (द) उपर्युक्त सभी।
2. सुल्तान नासिरुद्दीन से बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह किया था—
   (अ) 1248 ई. में (ब) 1249 ई. में
   (स) 1250 ई. में (द) 1253 ई. में।
3. गद्दी पर बैठने के बाद बलबन की पहली आवश्यकता थी—
   (अ) तुर्की सरदारों की शक्ति को नष्ट करना (ब) सुल्तान के पद के प्रति सम्मान जगाना
   (स) नवजात तुर्की साम्राज्य की सुरक्षा (द) उपर्युक्त सभी।
4. बलबन के राजत्व सिद्धान्त का आधार था—
   (अ) राजपद ईश्वरीय देन के सिद्धान्त में विश्वास
   (ब) सुल्तान की निरंकुशता में विश्वास
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों
   (द) इनमें से कोई नहीं।
5. बलबन ने अपने आपको किस वंश से सम्बन्धित बताया था—
   (अ) इल्बारी वंश (ब) अफ्रीसीयात वंश
   (स) शम्सी वंश (द) कुतुबी वंश।
6. राजपद की मर्यादा में वृद्धि के लिए बलबन ने कौन-सी पद्धति को अपनाया था ?
   (अ) सिजदा व पैबोस (ब) आतंक की नीति
   (स) नौरोज का त्यौहार (द) तीनों।
7. चालीस अमीरों के दमन के लिए बलबन ने किस नीति का अवलम्बन किया ?
   (अ) विनम्रता की नीति (ब) कठोरता की नीति
   (स) देश निकाले की नीति (द) इनमें से कोई नहीं।
8. चालीस अमीरों के विनाश हेतु बलबन ने किस अमीर को अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया था—
   (अ) मलिक बकबक (ब) मलिक हैबत खाँ
   (स) शेर खाँ (द) अमीन खाँ।
9. बलबन ने सैन्य व्यवस्था हेतु इयाद-उल-मुल्क नियुक्त किया था—
   (अ) दीवान-ए-वरीद (ब) दीवान-ए-कोही
   (स) दीवान-ए-अर्ज (द) इनमें से कोई नहीं।
10. "जब मैं किसी निम्न परिवार के व्यक्ति को देखता हूँ तब मेरे शरीर की शिराएँ क्रोध से उत्तेजित हो जाती हैं।" किसका कथन है ?
    (अ) बलबन का (ब) इल्तुतमिश का
    (स) अलाउद्दीन खलजी का (द) सभी का।
11. मेवों के दमन के लिए बलबन ने क्या प्रयास किये थे ?
    (अ) जंगलों को कटवाया (ब) किलों का निर्माण करवाया
    (स) अफगान सैनिकों की नियुक्ति की (द) उपर्युक्त सभी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12. बलबन के शासन काल में बंगाल के तातार खाँ के स्थान पर किसे इक्तादार बनाया गया था ?
(अ) हिसायुद्दीन को (ब) तुगरिल बेग को
(स) अलीमर्दान को (द) अर्सला खाँ को।

13. बंगाल विजय हेतु बलबन अपने साथ किस पुत्र को लेकर गया था ?
(अ) मोहम्मद को (ब) बुगरा खाँ को
(स) कैकुबाद को (द) क्यूमर्स को।

14. शेर खाँ को बलबन ने मरवाया था—
(अ) विष देकर (ब) मंगोलों द्वारा
(स) धोखा देकर (द) शराब पिलाकर।

15. शाहजादा मोहम्मद की मृत्यु किस अभियान में हुई थी ?
(अ) राजपूतों के विरुद्ध अभियान में (ब) हिन्दू विद्रोहियों के दमन के समय
(स) मंगोल अभियान के दौरान (द) बीमारी से।

16. "उसका (बलबन का) सम्प्रभुता का सिद्धान्त सम्मान, शक्ति व न्याय पर आधारित था।" किस इतिहासकार ने लिखा है ?
(अ) डॉ. ए. बी. पाण्डेय ने (ब) डॉ. त्रिपाठी ने
(स) प्रो. हबीबुल्ला ने (द) इनमें से किसी ने नहीं।

17. बलबन एक विजेता ही नहीं अपितु रचनात्मक प्रतिभा सम्पन्न सुल्तान था, किस तथ्य से पता चलता है ?
(अ) विद्वानों को आश्रय देने से (ब) कलाकारों को संरक्षण देने से
(स) दोनों से (द) इनमें से कोई नहीं।

18. कैकुबाद किसका पुत्र था ?
(अ) मोहम्मद का (ब) बुगरा खाँ का
(स) फखरुद्दीन का (द) इनमें से कोई नहीं।

19. कैकुबाद पर सबसे अधिक प्रभाव किसका था ?
(अ) बुगरा खाँ का (ब) निजामुद्दीन का
(स) फखरुद्दीन का (द) मोहम्मद का।

20. अत्यधिक सुरापान के कारण कैकुबाद को हो गया था—
(अ) पक्षाघात (ब) हृदय रोग
(स) मिर्गी (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (ब), 6. (द), 7. (ब), 8. (द), 9. (स), 10. (अ), 11. (द), 12. (ब), 13. (ब), 14. (अ), 15. (स), 16. (ब), 17. (स), 18. (ब), 19. (ब), 20. (अ)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8

जलालुद्दीन फिरोजशाह खलजी (1290-1296 ई.)

जलालुद्दीन खलजी ने दिल्ली में एक नवीन राजवंश की स्थापना की। निस्सन्देह खलजी-वंश के सुल्तान भी तुर्क थे। 'तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारकशाही' के लेखक फखरुद्दीन, रावर्टी (Raverty), बार्थोल्ड (Barthold) आदि विभिन्न विद्वानों ने उन्हें तुर्क माना है। अफगानिस्तान में हेलमन्द नदी की घाटी के प्रदेश को 'खलजी' के नाम से पुकारा जाता था और जो जातियाँ उस प्रदेश में बस गयीं उन्हें 'खलजी' पुकारा जाने लगा। जलालुद्दीन के वंशज उन्हीं जातियों में से थे जो 200 वर्षों से भी अधिक समय तक उस प्रदेश में रहे जिसके कारण उनका रहन-सहन तथा रीति-रिवाज अफगानों जैसे हो गये और भारत में उन्हें भ्रमवश अफगान समझा जाने लगा।

परन्तु तुर्क होते हुए भी एक दृष्टि से खलजियों की शासन-व्यवस्था पिछले इल्बारी-तुर्कों की शासन-व्यवस्था से भिन्न रही। दिल्ली के सिंहासन पर खलजी-वंश का आधिपत्य हो जाने से भारत में तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी। खलजियों का विद्रोह मुख्यतया भारतीय मुसलमानों का उन तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह था जो दिल्ली की बजाय गोर और गजनी से प्रेरणा पाते थे। खलजी-वंश के दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ होने से शासन में भारतीय और गैर-तुर्क मुसलमानों का प्रभाव हो गया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि सुल्तान के पद पर किसी एक विशेष वर्ग का एकाधिपत्य नहीं होता।

ममलूक-सुल्तानों के शासनकाल पर दृष्टिपात करने से एक बात और स्पष्ट होती है। प्रायः 100 वर्ष के निरन्तर संघर्ष और शासन के बावजूद भी तुर्क भारत में राज्य-विस्तार करने में असफल रहे। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर बलबन तक हुए दिल्ली सुल्तान केवल उस राज्य की सुरक्षा और दृढ़ता में व्यस्त रहे जिसे मुहम्मद गोरी ने भारत में स्थापित किया था। स्वतन्त्र हिन्दू राजा एवं अधीनस्थ हिन्दू प्रजा निरन्तर मुसलमानों से संघर्ष करती रही थी और बलबन जैसा निरंकुश सुल्तान भी राज्य-विस्तार का साहस नहीं कर सका था। इस कारण इल्बारी-तुर्कों के शासनकाल में सम्पूर्ण उत्तर-भारत की विजय भी पूर्ण न हो सकी थी। खलजी-वंश के समय में इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। अलाउद्दीन खलजी ने न केवल साम्राज्य-विस्तार करने में ही सफलता प्राप्त की बल्कि हिन्दुओं की विद्रोह और संघर्ष करने की शक्ति को भी दुर्बल किया। इस प्रकार, खलजी-युग साम्राज्यवाद और मुस्लिम शक्ति के विस्तार का युग

CC-0:Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा। इसके अतिरिक्त, खलजी-वंश के शासनकाल में शासन-व्यवस्था में गम्भीर परिवर्तन किये गये और उसमें भारतीय मुसलमानों का सहयोग लिया गया। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"उसने (खलजी-क्रान्ति ने) एक नवीन राजवंश को ही आरम्भ नहीं किया बल्कि उसने निरन्तर हो रही विजयों और राज्य-पद्धति में नवीन अन्वेषणों एवं अतुलनात्मक साहित्यिक गतिविधियों के युग को आरम्भ किया।"

एक अन्य दृष्टि से भी खलजी-वंश का महत्व है। जलालुद्दीन ने सिंहासन पर अधिकार न वंशानुगत आधार पर, न चुनाव द्वारा और न षड्यन्त्र द्वारा किया था बल्कि शक्ति के आधार पर किया था और शक्ति के द्वारा ही खलजियों ने उसे स्थापित रखा। खलजियों ने अपनी शक्ति के निर्माण में न जनसाधारण की सहायता ली, न सरदारों की और न उलेमा-वर्ग (मुसलमानों के धार्मिक वर्ग) की। खलजियों ने इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि राज्य बिना धर्म की सहायता के केवल जीवित ही नहीं रह सकता बल्कि सफलतापूर्वक कार्य भी कर सकता है। खलजी-वंश के किसी भी सुल्तान ने खलीफा से अपने पद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता अनुभव नहीं की।

प्रारम्भिक जीवन

जलालुद्दीन के पूर्वज पर्याप्त समय पहले भारत में आकर बस गये थे और तुर्क-सुल्तानों की सेवा में थे। जलालुद्दीन ने अपनी योग्यता से 'सर-ए-जाँदार' उर्फ शाही अंगरक्षक के पद को प्राप्त किया और बाद में समाना का सूबेदार बना। उस पद पर कार्य करते हुए उसने कई अवसरों पर मंगोल आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और सफलता प्राप्त की। सुल्तान कैकुबाद ने उसे दिल्ली बुलाया, 'शाइस्ताखाँ' की उपाधि दी और 'आरिज-ए-मुमालिक' अर्थात् सेना-मन्त्री का पद दिया। इस प्रकार जलालुद्दीन एक योग्य सेनापति था और कैकुबाद के अन्तिम दिनों में सेना-मन्त्री के पद पर कार्य कर रहा था। इसके अतिरिक्त वह भारत में खलजी कबीले का प्रधान और दरबार के गैर-तुर्की मुसलमानों के दल का नेता था। तुर्क सरदारों ने गैर-तुर्की सरदारों की शक्ति को नष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण सरदारों को कत्ल करने की योजना बनायी। उन सरदारों में एक जलालुद्दीन खलजी भी था। इस कारण उसने उन तुर्क-सरदारों के नेताओं का विरोध किया और अन्त में अपंग कैकुबाद और क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शम्सुद्दीन को समाप्त करके दिल्ली के सिंहासन को अपने अधिकार में कर लिया। 13 जून, 1290 ई. को कैकुबाद द्वारा बनवाये गये अपूर्ण किलोखरी (कीलूगढ़ी) के महल में जलालुद्दीन ने अपना राज्याभिषेक किया और सुल्तान बन गया।

विचार और व्यवहार

सुल्तान बनने के अवसर पर जलालुद्दीन 70 वर्ष का वृद्ध व्यक्ति था और वृद्धावस्था की दुर्बलता उसके चरित्र में प्रकट होने लगी थी। यद्यपि वह एक योग्य सेनापति था परन्तु वह युद्धप्रिय नहीं रह गया था। वह अत्यधिक उदार और सहिष्णु बन गया था। उसने तुर्की-सरदारों और पिछले शासनाधिकारियों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया, विद्रोहियों को ही नहीं अपितु लुटेरों एवं ठगों तक को क्षमा कर दिया, षड्यन्त्रकारी अमीरों को व्यक्तिगत शौर्य-प्रदर्शन द्वारा अथवा उदारता से अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया और अन्त में अपनी अविवेकपूर्ण उदारता के कारण अपने भतीजे के षड्यन्त्र में फँसकर मारा गया। जलालुद्दीन ने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल न तो व्यवहार किया और न ही उसके अनुकूल उसकी महत्वाकांक्षाएँ रहीं। जब वह कुछ माह पश्चात् बलबन के लाल किले में गया तब वह बाहर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के फाटक पर ही घोड़े से उतर गया और बलबन के सिंहासन को देखकर रो पड़ा तथा उसने सिंहासन पर बैठने से इंकार कर दिया। **जलालुद्दीन ने एक धार्मिक मुसलमान की भाँति अपनी वृद्धावस्था के समय को शान्तिपूर्वक व्यतीत करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा व्यक्त नहीं की।** जलालुद्दीन का राजवंश से कोई सम्बन्ध नहीं था और दिल्ली के नागरिक जो एक लम्बे समय से इल्बारी-तुर्कों को ही शासन का अधिकारी मानते आ रहे थे, जलालुद्दीन और खलजियों के शासन करने के अधिकार को स्वीकार करने को तत्पर न थे। तुर्की-सरदार खलजियों को गैर-तुर्क मानते थे, इस कारण वे खलजियों से घृणा करते थे और उन्हें शासक स्वीकार करने में स्वयं को असम्मानित अनुभव करते थे। ऐसी परिस्थितियों में सुल्तान की उदारता और सहिष्णुता को गलत समझा गया। **महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने जलालुद्दीन को सिंहासन से हटाने के लिए विद्रोह और षड्यन्त्रों का सहारा लिया तथा उसके खलजी सरदारों में उसके प्रति विश्वास न रहा। वास्तव में दिल्ली-सल्तनत को उस समय जलालुद्दीन जैसे उदार सुल्तान की आवश्यकता न थी बल्कि एक कठोर और अनुशासनप्रिय शासक की आवश्यकता थी। जलालुद्दीन का व्यवहार और नीति इसके प्रतिकूल थीं।**

जलालुद्दीन को दिल्ली के नागरिकों और अमीरों के विरोध का भय था। इस कारण उसने अपना राज्याभिषेक दिल्ली में नहीं बल्कि उसके निकट किलोखरी के महल में कराया, उसने उस महल को शोभनीय बनाया और अपने अमीरों को भी वहीं रहने की आज्ञा दी जिससे वहाँ एक सुन्दर नवीन शहर बस गया। एक वर्ष के पश्चात् कोतवाल फखरुद्दीन और दिल्ली के नागरिकों द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर ही वह दिल्ली गया।

पदों पर नियुक्ति

जलालुद्दीन ने बलबन के सम्बन्धियों और तुर्की-सरदारों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी। उसने उनसे उदारता का व्यवहार किया। तुर्की-अमीरों को उसने पहले की भाँति ही उनके पदों पर रहने दिया गया। दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन ही रहा, कड़ा-मानिकपुर की जागीर बलबन के भतीजे मलिक छज्जू के पास रहने दी गयी और ख्वाजा खातीर को 'वजीर' रहने दिया गया। परन्तु उसने अपने सम्बन्धियों और विश्वासपात्र सरदारों को भी महत्वपूर्ण पद दिये। उसने अपने सबसे बड़े पुत्र को 'खानखाना', दूसरे को 'अर्कलीखाँ' और तीसरे को 'कद्रखाँ' की उपाधियाँ दीं। उसने अपने भतीजे अलाउद्दीन और अलमास बेग को उच्च पद दिये, अपने छोटे भाई यग्रुसखाँ को सेना-मन्त्री (आरिज-ए-मुमालिक) बनाया और अपने सम्बन्धी अहमद चप को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद दिया। इस प्रकार सुल्तान ने तुर्की-अमीरों को सन्तुष्ट करने के साथ-साथ शासन पर अपना नियन्त्रण रखने की भी व्यवस्था की।

मलिक छज्जू का विद्रोह

अगस्त 1290 ई. में कड़ा-मानिकपुर के सूबेदार मलिक छज्जू ने विद्रोह किया। उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' की उपाधि ग्रहण की, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया। अवध का सूबेदार अमीर अली हातिमखाँ और बलबन के समय के राज्य के पूर्वी भागों के कुछ अन्य सरदार भी उससे जाकर मिल गये। दोआब के बहुत-से हिन्दू सरदार भी उसके साथ हो गये। उसने बदायूँ के मार्ग से दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। बदायूँ में मलिक बहादुर और आलम गाजी भी अपनी सेनाओं को लेकर उसके साथ मिलने के लिए तत्पर थे। जलालुद्दीन इस विद्रोह को दबाने के लिए स्वयं गया। उसका पुत्र अर्कलीखाँ सेना के अग्रगामी भाग के साथ गया और उसने बदायूँ के निकट मलिक छज्जू को परास्त कर दिया। छज्जू भाग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया परन्तु बाद में पकड़ा गया। जब उसे और उसके साथियों को जंजीरों में बाँधकर गन्दे वस्त्रों में सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया तब सुल्तान रो पड़ा। उसने उनको सम्मानित ढंग के वस्त्र पहनने की आज्ञा दी और उनको दावत पर बुलाया। दावत के अवसर पर सुल्तान ने मलिक छज्जू के सहयोगियों की यह कहकर प्रशंसा की कि वे अपने स्वर्गीय सुल्तान के एकमात्र वंशज के प्रति वफादार थे। जलालुद्दीन ने मलिक छज्जू को अर्कलीखाँ की देखरेख में मुल्तान भेज दिया और उसके साथियों को मुक्त कर दिया। उसके भतीजे अलाउद्दीन और सरदार अहमद चप ने इसका विरोध भी किया परन्तु सुल्तान ने यह कहकर उन्हें शान्त कर दिया कि राज्य की खातिर वह मुसलमानों का रक्त बहाने को तैयार नहीं है। इस अवसर पर कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी अलाउद्दीन खलजी को दी गयी।

षड्यन्त्र

जलालुद्दीन की अविवेकपूर्ण उदारता शासन के हित में सिद्ध नहीं हुई। दिल्ली में करीब एक हजार ठग और चोर पकड़े गये परन्तु सुल्तान ने उनको नावों में बैठाकर बंगाल भेज दिया जहाँ उसकी आज्ञानुसार उन्हें मुक्त कर दिया गया। ऐसी उदारता निश्चय ही महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को प्रोत्साहित करने वाली थी। जब सुल्तान रणथम्भौर के अभियान पर गया हुआ था तब एक शराब की दावत के अवसर पर कुछ सरदारों ने योजना बनायी कि वृद्ध सुल्तान का वध करके मलिक ताजुद्दीन कूची को सिंहासनारूढ़ किया जाय। ताजुद्दीन कूची बलबन के समय के प्रभावशाली 'सरदारों के गुट' में से एक था। जब इस घटना की सूचना सुल्तान को मिली तो उसने उनको अलग-अलग बुलाया और उनमें से प्रत्येक को अपने से द्वन्द्व-युद्ध करने के लिए ललकारा। परन्तु एक समझदार सरदार के समझाने से वह तुरन्त शान्त हो गया। उसने उनको दण्डित नहीं किया बल्कि एक वर्ष के लिए उनको दरबार से निष्कासित करके ही सन्तुष्ट हो गया।

केवल एक अवसर पर सुल्तान अपनी स्वाभाविक उदारता को भूल गया। सीदी मौला ईरान से आया हुआ एक फकीर था जो दिल्ली में बस गया था। परन्तु उसके पास बहुत धन था और उसके यहाँ हजारों व्यक्तियों को प्रतिदिन भोजन प्राप्त होता था। कुछ व्यक्तियों का विश्वास था कि वह तन्त्र-विद्या जानता था और उसके कुछ विरोधी उसे ठगों से मिला हुआ मानते थे। परन्तु सम्भवतया सुल्तान का सबसे बड़ा पुत्र खानखाना जो उसका अनुयायी था, उसे धन देता था। सीदी मौला के अनुयायियों की संख्या करीब दस हजार तक पहुँच गयी थी और उस पर सन्देह किया जाता था कि वह शाहजादा खानखाना के समर्थकों का सहयोगी था। डॉ. के. एस. लाल का कथन है कि वह राजनीति में हस्तक्षेप करता था जिससे शाहजादा अर्कलीखाँ उससे असन्तुष्ट था। सीदी मौला के समर्थकों ने उसका विवाह स्वर्गीय सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की एक पुत्री से करके उसे सिंहासन पर बैठाने का षड्यन्त्र किया। परन्तु उन्हीं में से एक ने इस षड्यन्त्र की सूचना सुल्तान को दे दी। सुल्तान ने उसे दरबार में बुलाया और जब सीदी मौला ने राजनीति में हस्तक्षेप करने के अपराध को स्वीकार नहीं किया तब सुल्तान ने क्रोधित होकर उसे मार देने की आज्ञा दी। विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय के एक व्यक्ति ने एक छुरे से सीदी मौला पर कई वार किये और उसी समय शाहजादा अर्कलीखाँ के आदेश पर उसे हाथी के पैरों तले रौंद दिया गया। बरनी ने लिखा है कि इस घटना के पश्चात् एक जबर्दस्त आँधी आयी, बहुत जोर की वर्षा हुई और अकाल पड़ा। बहुत से व्यक्तियों ने यह विश्वास किया कि ये दुर्घटनाएँ उस फकीर की मृत्यु के कारण हुई थीं। दुर्भिक्ष वास्तव में इतना भयंकर था कि अन्न का भाव एक जीतल प्रति सेर तक पहुँच गया और बड़ी संख्या में लोगों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने यमुना में डूबकर प्राण त्याग दिये। अकाल का कारण कुछ भी रहा हो परन्तु यह स्पष्ट है कि सीदी मौला ने राजनीति में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया था।

सीदी मौला को इस प्रकार दण्डित करना सुल्तान का एकमात्र कठोर कार्य था अन्यथा उसकी नीति उदारता और सभी को सन्तुष्ट करने की रही।

युद्ध

जलालुद्दीन ने अपनी बाह्य नीति में अपनी स्वाभाविक दुर्बलता का परिचय दिया। उसने विजय की इच्छा से केवल दो आक्रमण किये। **रणथम्भौर** चौहानों की सत्ता का केन्द्र-स्थान था और राणा हम्मीरदेव ने गौड़ और उज्जैन के राजाओं को परास्त करने में सफलता पायी थी। इस कारण जलालुद्दीन हम्मीरदेव की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहता था। उस समय तक उसके सबसे बड़े पुत्र खानखाना की शंकाजनक परिस्थितियों में मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण अपने दूसरे पुत्र अर्कली खाँ को राजधानी में छोड़कर सुल्तान 1290 ई. में रणथम्भौर की ओर बढ़ा। **मार्ग में सुल्तान ने झैन के किले को जीता** और वहाँ के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया। सुल्तान की सेना के एक भाग ने मालवा पर आक्रमण किया जिसने उसके सीमावर्ती क्षेत्रों को लूटा और मन्दिरों को नष्ट किया। उसके पश्चात् सुल्तान रणथम्भौर के किले के सामने पहुँचा जिसकी सुरक्षा का प्रबन्ध राजपूतों ने भलीभाँति संभाला हुआ था। किले की सुदृढ़ स्थिति को देखकर सुल्तान उसी दिन झैन वापस आ गया और उसने अपने सरदारों से स्पष्ट कह दिया कि वह मुसलमान सैनिकों के जीवन के मूल्य पर किले को जीतने को तैयार नहीं है। उसने कहा—"वह एक मुसलमान के एक बाल को भी ऐसे दस किलों की तुलना में अधिक महत्व देता है।" इस प्रकार **रणथम्भौर को बिना जीते हुए सुल्तान जून 1291 ई. में दिल्ली वापस लौट गया। 1292 ई. में मण्डौर पर आक्रमण किया गया और उसे जीतकर दिल्ली के अधीन कर लिया गया।** झैन को भी दुबारा लूटा गया।

मण्डौर की विजय से पहले ही 1292 ई. में हलाकूखाँ (हुलागू) के एक प्रपौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व में डेढ़ लाख मंगोलों की एक बड़ी सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सुनम तक पहुँच गयी। उस अवसर पर जलालुद्दीन ने समय नष्ट नहीं किया और अपनी सेना को लेकर सिन्धु घाटी तक पहुँच गया। बरनी के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि जलालुद्दीन ने मंगोलों को परास्त करने में सफलता पायी थी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ था। छुटपुट आक्रमणों में सुल्तान को सफलता मिली और जब मंगोलों की एक बड़ी टुकड़ी ने सिन्धु नदी को पार करके सुल्तान पर आक्रमण किया तो उसे परास्त कर दिया गया और बहुत से मंगोल पदाधिकारी कैद कर लिये गये। उसके पश्चात् सन्धि की बातचीत आरम्भ हो गयी और जो कुछ भी निश्चय हुआ वह सुल्तान के लिए बहुत सम्मानजनक न था। मंगोलों ने वापस चले जाने का निर्णय किया। परन्तु चंगेजखाँ के एक वंशज उलगू ने अपने 4,000 समर्थकों के साथ इस्लाम को स्वीकार करके भारत में ही रहने का निश्चय किया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू के साथ कर दिया और उसे तथा उसके साथियों को दिल्ली के निकट रहने की आज्ञा प्रदान कर दी। ये मंगोल 'नवीन मुसलमान' कहलाये।

जलालुद्दीन के समय में उसके भतीजे और कड़ा-मानिकपुर के सूबेदार अलाउद्दीन ने दो साहसिक आक्रमण किये। 1292 ई. में सुल्तान की स्वीकृति लेकर उसने मालवा में स्थित भिलसा पर आक्रमण किया और वहाँ से बहुत-सा धन लूटकर लाया जिसका एक भाग उसने सुल्तान के पास भेज दिया। सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे अवध की सूबेदारी प्रदान की। इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय से अलाउद्दीन की विजय और धन की लालसा तीव्र हो गयी। वास्तव में अलाउद्दीन दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के लिए लालायित था और जलालुद्दीन की दुर्बल नीति से असन्तुष्ट महत्वाकांक्षी खलजी सरदार उसके निकट एकत्र हो गये थे। परन्तु अलाउद्दीन को अपनी शक्ति और समर्थकों की संख्या में वृद्धि करने के लिए धन की अतीव आवश्यकता थी। भिलसा के आक्रमण के अवसर पर उसने दक्षिण के देवगिरि राज्य की सम्पत्ति और वैभव के बारे में सुना था। इस कारण वह उस पर आक्रमण करने के लिए लालायित हो उठा। वास्तव में 13वीं सदी में देवगिरि का राज्य दक्षिण-भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य था। उसका शासक रामचन्द्रदेव एक योग्य और साहसी राजा था। उसने मालवा और मैसूर के राज्यों को परास्त किया था। दीर्घकालीन शान्ति, राज्य-विस्तार तथा व्यापार और कृषि की उन्नति ने देवगिरि राज्य को सम्पन्न एवं वैभवपूर्ण बना दिया था। उस समय तक उत्तर-भारत का कोई भी मुसलमान शासक दक्षिण-भारत में प्रवेश करने का साहस न कर सका था तथा दक्षिण-भारत के राज्यों का सम्मान और सम्पत्ति सुरक्षित रही थी। **अलाउद्दीन ने देवगिरि की सम्पत्ति को लूटने का निश्चय किया।** परन्तु उसने अपनी योजना को पूर्णतः गुप्त रखा। उसने सुल्तान जलालुद्दीन से केवल चन्देरी पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी। फरवरी 1296 ई. में अपने 8,000 चुने हुए घुड़सवारों को लेकर वह दक्षिण की ओर रवाना हुआ। चन्देरी और भिलसा होता हुआ वह देवगिरि की उत्तरी सीमा पर स्थित एलिचपुर नामक स्थान पर पहुँच गया जहाँ उसने दो दिन आराम किया और यह अफवाह फैला दी कि वह दिल्ली से भागा हुआ एक असन्तुष्ट सरदार है जो तेलंगाना राज्य में नौकरी प्राप्त करने की आशा से जा रहा है। देवगिरि से प्रायः 12 मील पश्चिम की ओर लासूड़ा के दर्रे में वहाँ के सरदार कान्हा ने अलाउद्दीन का मार्ग रोका। दो साहसी जागीरदार रानियों ने भी उसकी सहायता की। अलाउद्दीन को कठिन मुकाबला करना पड़ा परन्तु उसने उन्हें परास्त कर दिया और देवगिरि की ओर बढ़ा। उस सहसा आक्रमण से रामचन्द्रदेव चकित रह गया। मुसलमानों का दक्षिण-भारत पर यह पहला आक्रमण था जिससे जनसाधारण में भय और आतंक फैल गया। रामचन्द्रदेव का बड़ा पुत्र शंकरदेव (सम्भवतया उसका सही नाम सिंहनदेव था) राज्य की चुनी हुई सेना लेकर युद्ध करने के लिए होयसल राज्य की सीमा पर गया हुआ था। ऐसी स्थिति में और मुख्यतया तब जबकि अलाउद्दीन की सेना नगर में प्रवेश कर रही थी, रामचन्द्रदेव ने किले के फाटक बन्द करके अपनी सुरक्षा करने का प्रयत्न किया। रामचन्द्रदेव कितना असावधान था यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उस समय उसके किले के चारों तरफ खाई में न तो पानी था और न ही किले में रसद का प्रबन्ध था। इससे भी अधिक, अनाज समझकर एक व्यापारी से छीनकर किले में रखे गये बोरों में अनाज के बदले नमक निकला। अलाउद्दीन ने यह अफवाह फैला दी कि उसकी सेना तो दिल्ली से आने वाली 20 हजार की मुख्य सेना का एक अग्रगामी भाग मात्र है। ऐसी स्थिति में रामचन्द्रदेव ने सन्धि की बातचीत की और अलाउद्दीन धन लेकर वापस लौटने के लिए राजी हो गया। परन्तु उसी समय रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव) राजधानी पर विपत्ति के समाचार सुनकर वापस आ गया और उसने अपने पिता की राय के विरुद्ध अलाउद्दीन को लूटी हुई सम्पत्ति को छोड़कर चले जाने की धमकी दी। एक हजार घुड़सवारों को नसरत जलेसरी के संरक्षण में किले की देखभाल के लिए छोड़कर अलाउद्दीन ने शंकरदेव का मुकाबला किया। अलाउद्दीन की पराजय प्रायः निश्चित थी कि नसरत जलेसरी उसकी दुर्बल स्थिति को भाँपकर अपने घुड़सवारों के साथ उसकी सहायता के लिए पहुँच गया जिसे देखकर शंकरदेव (सिंहनदेव) की सेना ने यह समझा कि वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

दिल्ली से आने वाली मुख्य सेना है जिसकी अफवाह अलाउद्दीन ने फैला रखी थी। इससे भयभीत होकर हिन्दू सेना भाग खड़ी हुई और अलाउद्दीन की विजय हुई। अब रामचन्द्रदेव के पास सन्धि करने के अतिरिक्त कोई चारा न रहा। जब उसे यह पता लगा कि किले में रखे हुए बोरों में अनाज की बजाय नमक है तो उसे किले में बन्द रहकर सुरक्षा करना भी व्यर्थ लगा और सन्धि-वार्ता अनिवार्य हो गयी। अलाउद्दीन ने सन्धि के लिए कठोर शर्तें प्रस्तुत कीं और युद्ध-क्षति के रूप में अतुल सम्पत्ति लेकर वापस लौटा। बरनी के अनुसार वह सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि अलाउद्दीन और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा अपव्यय किये जाने के पश्चात् भी वह फिरोज तुगलक के समय तक काम आयी। अलाउद्दीन ने एलिचपुर प्रान्त को हस्तगत कर लिया, जिसकी वार्षिक आय को रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के पास भेजना स्वीकार कर लिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार रामचन्द्रदेव ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी अलाउद्दीन से किया। परन्तु यह विवाह चाहे हुआ हो अथवा नहीं और अलाउद्दीन को प्राप्त होने वाली धनराशि कितनी भी क्यों न हो, इसमें सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने इस आक्रमण में अतुल सम्पत्ति प्राप्त की जिसका प्रयोग वह सुल्तान बनने के अवसर पर सफलता से कर सका। डॉ. एस. रॉय ने लिखा है—"वास्तव में दिल्ली को देवगिरि में जीता गया क्योंकि दक्षिण के स्वर्ण ने अलाउद्दीन के सिंहासन पर बैठने का मार्ग प्रशस्त किया।" **अलाउद्दीन का देवगिरि का आक्रमण जलालुद्दीन के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी।** इससे न केवल अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षाएँ ही बलवती हुईं वरन् उसे वे साधन भी उपलब्ध हो गये जिनकी सहायता से वह दिल्ली का सुल्तान बन सका। इसके अतिरिक्त अपने केन्द्र-स्थान से सैकड़ों मील दूर सर्वथा अपरिचित तथा शत्रुओं से भरपूर मार्ग से गुजरकर दूरस्थ देवगिरि पर सफल आक्रमण अलाउद्दीन के साहस और उसकी सैनिक प्रतिभा को सिद्ध करता है।

जलालुद्दीन का वध

जब अलाउद्दीन देवगिरि को लूटकर कड़ा-मानिकपुर की ओर वापस लौट रहा था, उस समय जलालुद्दीन ग्वालियर में था। उस समय तक अलाउद्दीन का एक सरदार अला-उल-मुल्क कड़ा-मानिकपुर से सुल्तान को यह सूचना भेजता रहा था कि अलाउद्दीन सुल्तान की तरफ से मध्य-भारत के आक्रमण पर गया हुआ है। पहली बार ग्वालियर में सुल्तान को अलाउद्दीन के देवगिरि-आक्रमण की सूचना मिली। अहमद चप ने सुल्तान को सलाह दी कि सुल्तान को अलाउद्दीन का मार्ग रोककर उससे दक्षिण में प्राप्त सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए अन्यथा वह धन उसे शक्तिशाली बना देगा जो राज्य के हित में नहीं होगा। परन्तु सुल्तान ने उसकी सलाह को ठुकरा दिया। उसके पश्चात् सुल्तान दिल्ली चला गया और अलाउद्दीन बिना किसी बाधा के कड़ा-मानिकपुर पहुँच गया। अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास बेग (जिसे बाद में 'उलूगखाँ' की उपाधि से विभूषित किया गया) को पत्र लिखा कि वह बहुत भयभीत है क्योंकि उसने सुल्तान की आज्ञा के बिना देवगिरि पर आक्रमण किया था और वह सुल्तान को देवगिरि की सम्पूर्ण सम्पत्ति सौंपने को तैयार है बशर्ते सुल्तान स्वयं कड़ा-मानिकपुर आये। यदि ऐसा न हुआ तो वह बंगाल भाग जायेगा अथवा आत्महत्या कर लेगा। इस प्रकार का पत्र उसने सुल्तान को लिखा और उससे माफी माँगी। अलमास बेग ने चालाकी से काम लिया और अलाउद्दीन के प्रति जलालुद्दीन के प्रेम और विश्वास का पूरा लाभ उठाया। उस समय तक दरबार के अधिकांश सरदारों को यह विश्वास हो गया था कि अलाउद्दीन चालाकी कर रहा है और सम्भवतया बंगाल जाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहता है। परन्तु तब भी अपने वफादार सरदारों की सलाह को ठुकराकर सुल्तान ने अलाउद्दीन से मिलने के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानिकपुर जाने का निर्णय किया। स्वयं सुल्तान नदी के मार्ग से मानिकपुर गया और उसकी सेना अहमद चप के नेतृत्व में स्थल-मार्ग से गयी। अलाउद्दीन कड़ा को छोड़कर गंगा नदी को पार करके मानिकपुर पहुँच गया जिससे स्थल-मार्ग से आने वाली सुल्तान की सेना को नदी पार करने में कठिनाई हुई। उसके पश्चात् भी सुल्तान के पहुँचने पर अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास बेग (जो पहले ही उसके पास पहुँच चुका था) को उसके पास भेजा और उसने सुल्तान को केवल कुछ विश्वासपात्र सरदारों को लेकर गंगा पार करने के लिए राजी कर लिया। सरदारों ने सुल्तान को समझाया कि अलाउद्दीन एक तो स्वयं उससे मिलने नहीं आया है और दूसरे उसने अपनी सेना युद्ध की तैयारी में खड़ी कर रखी है, इस कारण सुल्तान को उसके पास नहीं जाना चाहिए। परन्तु सुल्तान अलमास बेग की बातों में आ गया और केवल दो नावों में अपने कुछेक सरदारों को लेकर अपने भतीजे से मिलने चल पड़ा। तट पर पहुँचने से पहले अलमास बेग की प्रार्थना पर सुल्तान ने अपने शस्त्र उतार फेंके और अपने सरदारों के शस्त्र भी उतरवा दिये जबकि अलाउद्दीन की सेना युद्ध-पंक्ति में खड़ी थी। अतः जो होना था वही हुआ। अलाउद्दीन नदी के तट पर जलालुद्दीन से मिलने आया और सुल्तान के पैरों पर गिर पड़ा। सुल्तान ने उसे उठाकर गले से लगाया और उसे आश्वासित करता हुआ अपनी नाव की ओर चला। उसी समय अलाउद्दीन के इशारे पर मुहम्मद सलीम ने सुल्तान पर आक्रमण कर दिया। सुल्तान घायल होकर अपनी नाव की तरफ यह कहता हुआ भागा कि 'धोखेबाज अलाउद्दीन, यह तूने क्या किया !' एक अन्य सरदार इख्तियारुद्दीन हुद ने सुल्तान के पीछे दौड़कर उसे भूमि पर गिरा दिया और उसका सिर काट लिया। एकमात्र मलिक फखरुद्दीन को छोड़कर सुल्तान के सभी साथी कत्ल कर दिये गये अथवा गंगा में डूबकर मर गये। इस प्रकार 20 जुलाई, 1296 ई. को सुल्तान जलालुद्दीन का वध कर दिया गया और जब सुल्तान के कटे हुए सिर से रक्त बह रहा था, अलाउद्दीन को सुल्तान घोषित कर दिया गया। सुल्तान के कटे हुए सिर को कड़ा-मानिकपुर और अवध की सीमाओं में एक साधारण अपराधी के सिर की भाँति घुमा-घुमाकर जनसाधारण को दिखाया गया।

अलाउद्दीन ने अपने चाचा का वध करके स्वयं को सुल्तान तो घोषित कर दिया था परन्तु दिल्ली उसके अधीन न थी। इसके अतिरिक्त जलालुद्दीन का वफादार सरदार अहमद चप अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी दिल्ली की सेना को लेकर वापस दिल्ली पहुँच गया था और राज्य का उत्तराधिकारी अर्कलीखाँ एक साहसी और योग्य सेनापति था। परन्तु जलालुद्दीन की विधवा पत्नी मलिका-ए-जहान ने अलाउद्दीन के कार्य को सरल कर दिया। अलाउद्दीन ने एक बार बंगाल जाकर वहाँ एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का विचार किया था परन्तु दिल्ली की राजनीति ने उसे दिल्ली की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। जलालुद्दीन का योग्य और ज्येष्ठ पुत्र अर्कलीखाँ मुल्तान में था। विधवा मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र कद्रखाँ को 'रुकनुद्दीन इब्राहीम' के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया। इससे अर्कलीखाँ असन्तुष्ट होकर मुल्तान में रुक गया। उसके साथी भी असन्तुष्ट हो गये और वे रुकनुद्दीन के प्रति वफादार न रहे। जलाली-सरदारों और भाइयों के इस मतभेद को देखकर अलाउद्दीन दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में स्थान-स्थान पर वह धन बिखेरता हुआ आगे बढ़ा। उस प्रत्येक स्थान पर जहाँ अलाउद्दीन मार्ग में रुका, पाँच मन सोने के सिक्के बिखेरे गये। इससे उसे अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने और एक बड़ी सेना एकत्र करने में सहायता मिली। जब वह बुलन्दशहर पहुँचा तो वे जलाली-सरदार जिन्हें रुकनुद्दीन इब्राहीम ने उसके विरुद्ध भेजा था, उसके साथ मिल गये। उन्हें बहुत-सा धन दिया गया। इस प्रकार अलाउद्दीन के सोने ने बाकी बचे हुए कार्य की पूर्ति कर दी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब अलाउद्दीन दिल्ली के निकट पहुँचा तो उसके साथ एक विशाल सेना थी। अर्कलीखाँ ने दिल्ली की सहायता के लिए आने से इंकार कर दिया था और जलाली-सरदार परस्पर विभाजित हो गये थे। ऐसी स्थिति में जब रुकनुद्दीन इब्राहीम अपनी सेना को लेकर दिल्ली से बाहर निकला तो उसकी विजय की कोई आशा नहीं थी। युद्ध के आरम्भ होने से पहले ही उसकी सेना का सम्पूर्ण वाम-भाग अलाउद्दीन से जा मिला जिसके कारण रुकनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ और उनके कुछ वफादार सरदार, जैसे अहमद चप और अलगूखाँ मुल्तान भाग गये और बिना किसी युद्ध के अलाउद्दीन ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार 22 अक्टूबर, 1296 ई. को अलाउद्दीन ने दिल्ली में प्रवेश किया जहाँ बलबन के लाल महल में उसने अपना राज्याभिषेक कराया और दिल्ली का सुल्तान बना।

जलालुद्दीन फिरोजशाह का मूल्यांकन

तत्कालीन इतिहासकारों जैसे खुसरो, इसामी और इब्नबतूता ने जलालुद्दीन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। आधुनिक इतिहासकारों में से कुछेक ने जलालुद्दीन को उदारता, क्षमाशीलता, निस्वार्थता आदि मानवीय गुणों से परिपूर्ण बताया। उनके अनुसार 13वीं सदी में जब शासन केवल तलवार की शक्ति के आधार पर चलाया जाता था तब उसने उसे अपने मानवीय गुणों के आधार पर चलाया और पर्याप्त सफल भी हुआ। जलालुद्दीन ने अपने राज्य में शान्ति स्थापित रखी, अनुशासन बनाये रखा, राज्य को समृद्धशाली बनाया और ये सब कार्य बिना आतंक की नीति को अपनाये हुए किये गये। उसके समय में शिक्षा और साहित्य की उन्नति हुई और कुतुबुद्दीन अलवी, शादुद्दीन, ख्वाजा जमालुद्दीन, मुइद जमी जैसे विद्वानों ने राज्य में आश्रय प्राप्त किया। अपने समय का श्रेष्ठ कवि खुसरो भी जलालुद्दीन की कृपा का पात्र था। डॉ. ए. बी. पाण्डे ने जलालुद्दीन के पक्ष में महत्वपूर्ण तर्क उपस्थित किये हैं। उसके अनुसार, "जलालुद्दीन पहला शासक था जिसने उदारता को शासन की आधारशिला बनाने का प्रयत्न किया।" उसने लिखा है कि "जलालुद्दीन का मूल्यांकन करते हुए हमें इन तथ्यों को नहीं भूलना चाहिए कि उसके समय में मलिक छज्जू के असफल विद्रोह के अतिरिक्त अन्य कोई विद्रोह नहीं हुआ, उसके सरदार उसकी नीतियों से सहमत न होते हुए भी उसके साथ रहे और उसका सम्मान करते रहे, राज्य की कठिनाइयों को देखते हुए उसने व्यावहारिक आधार पर साम्राज्य-विस्तार की नीति को नहीं अपनाया, उसने उदारता के साथ सजगता और कठोरता को भी शामिल किया तथा बिना आतंक के सफलतापूर्वक शासन किया। अलाउद्दीन के षड्यन्त्र का शिकार हो जाना, निस्सन्देह, उसका अपने भतीजे और दामाद पर अत्यधिक विश्वास था, जो उसके अवसाद का मुख्य कारण बन गया।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी लिखा है—"जलालुद्दीन दिल्ली का प्रथम तुर्की सुल्तान था जिसने उदार निरंकुशवाद के आदर्श को अपने सामने रखा।"

निस्सन्देह, जलालुद्दीन प्रथम सुल्तान था जिसने अपने विरोधियों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया था। वह एक योग्य सेनापति रहा था और सुल्तान बनने से पहले उसने मंगोलों के विरुद्ध युद्ध करने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु सुल्तान बनने के पश्चात् उसने युद्ध और आक्रमण की नीति को त्याग दिया। इसके अतिरिक्त उसने भय और आतंक के स्थान पर उदारता और सहृदयता की नीति को अपनाया तथा अपने शत्रुओं के हृदय-परिवर्तन पर बल दिया। परन्तु यह सभी उसकी नीति के कारण नहीं था, जैसा कि डॉ. श्रीवास्तव ने लिखा है—"इसका एक कारण सुल्तान की वृद्धावस्था भी था।" निस्सन्देह, जलालुद्दीन कायर न था परन्तु उसकी दयालुता और शान्ति की नीति अतिशय मात्रा में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण दुर्बलता की बन गयी जो किसी भी प्रकार राज्य के हित में नहीं थी। ठगों और षड्यन्त्रकारी सरदारों के प्रति उसका व्यवहार दोषपूर्ण तथा सुल्तान की योग्यता में अविश्वास उत्पन्न करने वाला था। एक व्यक्ति की दृष्टि से उसकी दयालुता और उदारता प्रशंसनीय थी। धार्मिक दृष्टि से वह एक कट्टर मुसलमान था और मुसलमानों के जीवन एवं हितों के रक्षक की दृष्टि से भी उसकी सराहना की जा सकती है। परन्तु एक शासक की दृष्टि से रणथम्भौर की विजय को पूर्ण किये बिना वापस आ जाना दिल्ली-राज्य के सम्मान के अनुकूल न था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है—"वह अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति उदार न था।" उसने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ा और उनके देवताओं की मूर्तियों को अपमानित एवं खण्डित किया। इस कारण पूर्ण उदारता जलालुद्दीन की मूल प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती। सीदी मौला के प्रति किया गया उसका व्यवहार भी इसी बात की ओर संकेत करता है। अतः यह माना जा सकता है कि जलालुद्दीन की उदार नीति बहुत-कुछ उसकी वृद्धावस्था की दुर्बलताओं के कारण थी। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि मंगोलों को वह परास्त नहीं कर सकता था और जिस प्रकार उसने उनसे समझौता किया था, वह सम्मानपूर्ण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन के प्रति उसका व्यवहार पूर्णतया मूर्खतापूर्ण सिद्ध हुआ। निरन्तर अपने वफादार सरदारों के समझाने के बावजूद भी वह उसकी चालाकी से उसके शिकंजे में फँसता गया और स्वयं अपनी मृत्यु का कारण बना। बिना अस्त्र-शस्त्र के अलाउद्दीन से मिलने जाना और अपने सरदारों को भी शस्त्र-विहीन करके ले जाना एक सुल्तान की मूर्खता के अलावा और क्या हो सकता है ? इसी कारण डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"खलजी-वंश के संस्थापक से अधिक अनुपयुक्त राजमुकुट को धारण करने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता था।" ऐसा भी नहीं माना जा सकता था कि जलालुद्दीन ने कैकुबाद और क्यूमर्स के शासनकाल में उत्पन्न हुई अव्यवस्था को ठीक करने के लिए कोई ठोस कदम उठाये जिनके कारण विस्तारवादी नीति के स्थान पर संगठन और शान्ति की नीति का पालन करना आवश्यक हो गया हो। उसके समय में शासन और व्यवस्था के लिए कोई विशेष कार्य किया गया हो, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। निस्सन्देह, जियाउद्दीन बरनी का 'तारीख-ए-फिरोजशाही' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिससे हमें खलजी-वंश के इतिहास के बारे में पता लगता है। परन्तु बरनी सभी खलजी शासकों से असन्तुष्ट था, अतएव उसके विवरण पर पूर्ण विश्वास करना कठिन है। परन्तु तब भी शासक की दृष्टि से जलालुद्दीन का समर्थन करने के लिए हमें बहुत कम तथ्य प्राप्त होते हैं। यह ठीक है कि वह एक धर्मपरायण, दयालु और सज्जन व्यक्ति था परन्तु शासक की दृष्टि से वह असफल रहा, यह मानना पड़ता है। शासक की दृष्टि से केवल एक बात उसके पक्ष में है कि जलालुद्दीन ने तुर्कों, गैर-तुर्कों और भारतीय मुसलमानों को शासन में सम्मिलित करके भारत के मुसलमानी राज्य को एक विस्तृत आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया जिसका ममलूक-सुल्तानों (गुलाम-वंश के सुल्तानों) के समय में अभाव था। यह भी बहुत कुछ परिस्थितियों के कारण था क्योंकि जलालुद्दीन स्वयं शुद्ध तुर्क होने का दावा नहीं कर सकता था। परन्तु यह बहुत कुछ सुल्तान जलालुद्दीन की उदारता के कारण भी था। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जलालुद्दीन खलजी-वंश का संस्थापक भी था। अतः अन्य दृष्टिकोणों से उसका शासनकाल महत्वहीन होते हुए भी उल्लेखनीय और उपयोगी बन सका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'जलालुद्दीन खलजी खलजी वंश का संस्थापक था।' विवेचना कीजिए।
2. दिल्ली के सिंहासन पर खलजी वंश के आधिपत्य करने के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
3. सुल्तान जलालुद्दीन फिरोजशाह खलजी के वध किये जाने की परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. खलजी क्रान्ति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. जलालुद्दीन खलजी के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालिए।
3. मलिक छज्जू के विद्रोह पर टिप्पणी लिखिए।
4. सीदी मौला के विद्रोह का वर्णन कीजिए।
5. रणथम्भौर के अभियान में जलालुद्दीन की असफलता पर प्रकाश डालिए।
6. जलालुद्दीन के शासन में कड़ा मानिकपुर के सूबेदार अलाउद्दीन के देवगिरि अभियान का वर्णन कीजिए।
7. जलालुद्दीन की हत्या की घटना पर टिप्पणी लिखिए।
8. शासक के रूप में जलालुद्दीन खलजी का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. खलजी कौन थे ?
   (अ) तुर्क ✓ (ब) अरब
   (स) अफगान (द) इनमें से कोई नहीं।
2. इल्बारी तुर्कों के विरुद्ध खलजियों की सफलता ने सिद्ध कर दिया—
   (अ) तुर्की श्रेष्ठता की नीति की अनुपयोगिता (ब) तुर्कों की नीति की असफलता
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
3. प्रारम्भिक तुर्क शासकों के प्रशासनिक नीति का आधार था—
   (अ) साम्राज्यवादी नीति (ब) सुदृढ़ीकरण की नीति
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
4. खलजी वंश ने सत्ता की स्थापना की थी—
   (अ) चुनाव द्वारा (ब) षड्यन्त्र द्वारा
   (स) वंशानुगत अधिकार से (द) शक्ति के द्वारा।
5. आरिज-ए-मुमालिक पद पर नियुक्ति के बाद कैकुबाद ने जलालुद्दीन को किस उपाधि से विभूषित किया था ?
   (अ) खानखाना (ब) महाबत खाँ
   (स) शाइस्ता खाँ (द) उपर्युक्त सभी।
6. 1290 ई. में जलालुद्दीन ने अपना राज्याभिषेक कराया था—
   (अ) दिल्ली में (ब) किलोगढ़ी में
   (स) लाहौर में (द) आगरा में।
7. सल्तनत काल के अमीर जलालुद्दीन को सुल्तान मानने के विरोध में थे—
   (अ) उसकी सहिष्णुता के कारण (ब) उसकी वृद्धावस्था के कारण
   (स) उसकी ढुल-मुल नीति के कारण (द) उपर्युक्त सभी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. सुल्तान जलालुद्दीन ने अमीर-ए-हाजिब के पद पर नियुक्ति की थी—
(अ) अहमद चप की (ब) यग्रास खाँ की
(स) अर्कली खाँ की (द) कद्र खाँ की।

9. जलालुद्दीन ने अपने किस पुत्र को खानखाना की उपाधि से विभूषित किया था ?
(अ) तीसरे को (ब) दूसरे को
(स) पहले को (द) इनमें से कोई नहीं।

10. मलिक छज्जू ने जलालुद्दीन के विरुद्ध विद्रोह किया था—
(अ) 1289 ई. में (ब) 1290 ई. में
(स) 1291 ई में (द) 1292 ई. में।

11. सीदी मौला को विद्रोह के कारण क्या सजा दी गयी थी ?
(अ) हाथी के पैरों से कुचल दिया गया (ब) वध कर दिया गया
(स) फांसी पर लटका दिया गया (द) इनमें से कोई नहीं।

12. जलालुद्दीन के शासन में रणथम्भौर के शासक का नाम था—
(अ) राणा धर्मपालसिंह (ब) राणा विजयसिंह
(स) राणा रामसिंह (द) राणा हम्मीरदेव।

13. 'नवीन मुसलमान' किन्हें कहा गया है ?
(अ) धर्म परिवर्तित हिन्दुओं को (ब) दिल्ली में रहने वाले मंगोलों को
(स) युद्धबन्दियों को (द) इनमें से कोई नहीं।

14. देवगिरि के प्रथम अभियान में अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य था—
(अ) धन की लालसा (ब) साम्राज्य विस्तार करना
(स) यादव वंश (द) चौहान वंश।

15. देवगिरि का शासक राजा रामचन्द्र किस वंश से था ?
(अ) क्षत्रिय वंश (ब) ब्राह्मण वंश
(स) यादव वंश (द) चौहान वंश।

16. देवगिरि के शासक राजा रामचन्द्र की पराजय का कारण था—
(अ) किले के चारों ओर बनी खाई में पानी का न होना
(ब) किले में रसद का अभाव
(स) अलाउद्दीन द्वारा फैलायी गयी अफवाह कि बड़ी सेना आने वाली है
(द) उपर्युक्त सभी कारण।

17. "वास्तव में दिल्ली को देवगिरि में जीता गया।" किस लेखक का कथन है ?
(अ) डॉ. एस. राय (ब) डॉ. वी. ए. स्मिथ
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (द) इनमें से कोई नहीं।

18. अलाउद्दीन और उसके साथियों ने फीरोज का वध किया था—
(अ) 1295 ई. में (ब) 1296 ई. में
(स) 1298 ई. में (द) 1299 ई. में।

19. मलिका जहान ने अपने पति की हत्या के बाद अपने किस पुत्र को रुकुनुद्दीन इब्राहीम के नाम से गद्दी पर बैठाया था—
(अ) खानखाना को (ब) अर्कली खाँ को
(स) कद्र खाँ को (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20. किस इतिहासकार का कथन है, "जलालुद्दीन दिल्ली का प्रथम तुर्की सुल्तान था जिसने उदार निरंकुशवाद के आदर्श को अपने सामने रखा।"
(अ) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव (ब) डॉ. ए. बी. पाण्डेय
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (द) डॉ. वी. ए. स्मिथ।

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (द), 5. (स), 6. (ब), 7. (द), 8. (अ), 9. (स), 10. (ब), 11. (अ), 12. (द), 13. (ब), 14. (अ), 15. (स), 16. (द), 17. (अ), 18. (ब), 19. (स), 20. (अ)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9

अलाउद्दीन खलजी (1296-1316 ई.)

1296 ई. में अपने चाचा और श्वसुर जलालुद्दीन का वध करके और उसके पुत्र रुकुनुद्दीन इब्राहीम को दिल्ली छोड़ने के लिए बाध्य करने के पश्चात् अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। उस अवसर पर उसने 'अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद्दुनिया-वा दीन मुहम्मद शाह खलजी' की उपाधि ग्रहण की। एक विजेता, शासक और शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से मध्य-युग के इतिहास में अलाउद्दीन खलजी का एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। अलाउद्दीन को 'महान्' कहकर नहीं पुकारा गया है परन्तु वह 'महानता' के काफी निकट था और तुलनात्मक दृष्टि से दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में उसे महान् स्वीकार करना अनुचित नहीं है।

प्रारम्भिक जीवन

अलाउद्दीन जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खलजी का पुत्र था। शिहाबुद्दीन के चार पुत्र थे—अली अथवा गुरशप (अलाउद्दीन), अलमास बेग, कुतुलुग तिगिन और मुहम्मद। अली अथवा अलाउद्दीन और अलमास बेग का तो इतिहास में विवरण मिलता है परन्तु बाकी अन्य दो भाइयों के विषय में कुछ अधिक पता नहीं लगता। अलाउद्दीन के प्रारम्भिक जीवन अथवा उसकी जन्म-तिथि के बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन को पढ़ने-लिखने की शिक्षा कम प्राप्त हुई परन्तु वह शस्त्र-विद्या में निपुण हो गया। खलजी-क्रान्ति में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया और जब जलालुद्दीन सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-तुजुक' और उसके छोटे भाई अलमास बेग को 'अखूरबेग' का पद दिया गया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह अलाउद्दीन के साथ और एक अन्य पुत्री का विवाह अलमास बेग के साथ किया। मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में भी अलाउद्दीन ने महत्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण उसे कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी दी गयी।

कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी अलाउद्दीन के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। वृद्ध जलालुद्दीन की सहिष्णु नीति से असन्तुष्ट महत्वाकांक्षी खलजी सरदार उसके चतुर्दिक एकत्र हो गये और उन्होंने अपने सम्मान एवं पद में वृद्धि की लालसा से अलाउद्दीन को सुल्तान बनने की प्रेरणा देना आरम्भ किया। यह प्रेरणा अलाउद्दीन की मनोवृत्ति के अनुकूल थी। वह अपनी पत्नी और सास के व्यवहार से दुःखी थी। उसकी पत्नी सुल्तान की पुत्री होने के कारण दम्भी थी और उसकी सास मलिका-ए-जहान उसे सन्देह की दृष्टि से देखती थी तथा अपने पति और पुत्री को अलाउद्दीन के विरुद्ध भड़काती रहती थी। परन्तु अलाउद्दीन आरम्भ से ही योग्य एवं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्वाकांक्षी था। परिस्थितियों ने भी उसका साथ दिया। सुल्तान जलालुद्दीन का सम्मान दिन-प्रतिदिन घट रहा था जिससे अलाउद्दीन और उसके समर्थकों का साहस बढ़ गया। 1292 ई. में उसने सुल्तान की आज्ञा लेकर भिलसा को लूटा और उसके बदले में उसे अवध की सूबेदारी दी गयी। 1296 ई. में उसने देवगिरि पर आक्रमण किया और वहाँ से अतुल सम्पत्ति लूटकर लाया। इससे उसके सम्मान एवं शक्ति में वृद्धि हुई। उसी वर्ष उसने जलालुद्दीन को मानिकपुर बुलाकर धोखे से कत्ल कर दिया। इस कार्य में उसे अपने भाई अलमास बेग से बहुत सहायता मिली क्योंकि सुल्तान को धोखा देने और फुसलाने में उसका प्रमुख भाग रहा। अलाउद्दीन ने स्वयं को कड़ा-मानिकपुर में ही सुल्तान घोषित कर दिया और अपने समर्थकों को प्रतिष्ठित पद दिये। उसके पश्चात् दिल्ली की दुर्बल स्थिति ने उसे दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया और उसी वर्ष रुकनुद्दीन इब्राहीम को भागने के लिए बाध्य करके उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया तथा अपना राज्याभिषेक किया। इस प्रकार अपनी योग्यता, धूर्तता और देवगिरि से लूटे गये धन की शक्ति के आधार पर अलाउद्दीन ने दिल्ली का सुल्तान बनने में सफलता प्राप्त की।

कठिनाइयाँ

सिंहासन पर बैठने के अवसर पर अलाउद्दीन के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ थीं। उसने अपने कृपालु चाचा का वध किया था जिसके कारण वह प्रजा की घृणा का पात्र था। अनेक जलाली (जलालुद्दीन के वंश के समर्थक) सरदार अलाउद्दीन से असन्तुष्ट थे क्योंकि उनकी षड्यन्त्रकारी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगाया गया था, अतएव वे कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। जलालुद्दीन का बड़ा पुत्र अर्कलीखाँ पंजाब, मुल्तान और सिन्ध का स्वतन्त्र स्वामी था और उसका भाई एवं अपदस्थ सुल्तान रुकनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ तथा अन्य वफादार और योग्य जलाली-सरदार उसकी शरण में थे। वे सभी मिलकर अलाउद्दीन के लिए कभी भी संकट खड़ा कर सकते थे। अधीनस्थ प्रदेशों में से सम्पूर्ण दोआब और अवध में अलाउद्दीन की स्थिति दुर्बल थी और अधीनस्थ राजा एवं प्रजा विद्रोह के लिए तत्पर थे। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर खोक्खर-जाति शत्रुतापूर्ण थी और मंगोल भारत में प्रवेश पाने के लिए निरन्तर आक्रमण कर रहे थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे दूरस्थ प्रदेशों में दिल्ली-सल्तनत का प्रभाव नगण्य था और प्रायः स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र हिन्दू अथवा मुसलमान शासक वहाँ शासन कर रहे थे। राजस्थान में प्रायः सभी राज्य स्वतन्त्र थे और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर जैसे राज्य दिल्ली-सल्तनत को चुनौती दे रहे थे। बुन्देलखण्ड और मालवा में भी राजपूतों की शक्ति दृढ़ थी। गुजरात पर किसी भी मुसलमान शासक ने अधिकार नहीं किया था और दक्षिण-भारत में दिल्ली-सल्तनत के किसी भी शासक ने प्रवेश करने का साहस नहीं किया था। इसके अतिरिक्त शासन को व्यवस्थित करना तथा सल्तनत के प्रति सम्मान और भय उत्पन्न करना भी अलाउद्दीन के लिए आवश्यक था।

अलाउद्दीन इन कठिनाइयों के अनुकूल सिद्ध हुआ। उसने इन सभी को समाप्त किया। उसने प्रजा को वश में किया, सिंहासन के दावेदारों को नष्ट किया, षड्यन्त्रकारी और विद्रोही सरदारों का दमन किया, दूरस्थ प्रान्तों में अपनी सत्ता स्थापित की, एक कठोर शासन-व्यवस्था स्थापित की, नवीन राज्यों को जीता अथवा उन्हें अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, विदेशी आक्रमणों से अपने राज्य की सुरक्षा की और इस प्रकार खलजी साम्राज्यवाद और खलजी निरंकुशता को सफलता प्रदान की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रारम्भिक कार्य

अलाउद्दीन की सबसे पहली आवश्यकता और कठिनाई सिंहासन पर अपनी स्थिति को दृढ़ करने की थी। उसने खुले तौर पर और अत्यधिक उदारता से जनसाधारण में धन बाँटा जिससे व्यक्ति बहुत शीघ्र ही उसके चाचा के वध की घटना को भूल गये। उसने अपने वफादार सरदारों को बड़े-बड़े पद और सम्मानित उपाधियाँ जलालुद्दीन के वध के पश्चात् ही प्रदान कर दी थीं। जैसे उसने अपने भाई अलमास बेग को 'उलूग खाँ', नसरत जलेसरी को 'नसरत खाँ' मलिक युसूफ को 'जफर खाँ' और संजर को 'अलम खाँ' की उपाधि से विभूषित किया था। दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात् जो जलाली-सरदार स्वेच्छा से उसकी सेवा में आ गये, उन्हें भी उसने उनके पदों पर रहने दिया अथवा उन्हें अच्छे पद दिये जिससे वे सन्तुष्ट हो जायें। इससे जलाली-सरदार सन्तुष्ट हो गये।

परन्तु एक मुख्य समस्या अर्कलीखाँ, उसके परिवार और उनके उन वफादार सरदारों की थी जो मुल्तान में थे। सिंहासन पर बैठने के प्रायः एक माह पश्चात् तीस अथवा चालीस हजार सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना उलुगखाँ और जफरखाँ के नेतृत्व में मुल्तान पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी। कुछ माह के घेरे के पश्चात् अर्कलीखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और वह, उसके परिवार के सदस्य तथा जलाली-सरदार बन्दी बना लिये गये। मार्ग में सुल्तान के आदेश से अर्कलीखाँ, रुकनुद्दीन इब्राहीम, अहमद चप और मलिक अलगू को अन्धा कर दिया गया। बाद में अर्कलीखाँ, उसके दो पुत्र और रुकनुद्दीन हाँसी के कोतवाल के सुपुर्द कर दिये गये जिसने उन सभी का वध कर दिया। मलिका-ए-जहान, अहमद चप और मलिक अलगू को नसरतखाँ के सुपुर्द कर दिया गया और सम्भवतया धीरे-धीरे वे सभी कत्ल कर दिये गये।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने सिंहासन के सभी दावेदारों को समाप्त कर दिया। 1297 और 1299 ई. में हुए दो मंगोल-आक्रमणों को भी उसने विफल कर दिया। इसके पश्चात् उसने उन जलाली-सरदारों को दण्ड दिया जो धन के लालच में उसके साथ मिल गये थे। उनमें से अधिकांश को उसने अन्धा करा दिया और कुछ को कैद करा दिया तथा उन सभी की सम्पत्ति जब्त कर ली। इस प्रकार अलाउद्दीन ने पुराने जलाली-सरदारों को पूर्णतया नष्ट करके अपने वफादार सरदारों का दल बनाया जो उसके सहायक बने।

अलाउद्दीन को अपनी और राज्य की सेवा के लिए विभिन्न व्यक्ति प्राप्त हुए। जियाउद्दीन बरनी ने उसके सरदारों को तीन वर्गों में बाँटा था—प्रथम, आरम्भ में अलाउद्दीन को उलूग खाँ (उसका भाई), नसरत खाँ, अलप खाँ और जफर खाँ जैसे योग्य सेनानायक प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त उसे मलिक अला-उल-मुल्क, मलिक फखरुद्दीन, मलिक असगरी और मलिक ताजुद्दीन काफूर की सेवाएँ भी प्राप्त हुईं। इन व्यक्तियों ने उसे राज्य की जड़ों को स्थापित करने में सहायता दी। द्वितीय, उन अधिकारियों का वर्ग था, जिन्होंने उसे शासन एवं व्यवस्था स्थापित करने में सहायता दी। उन व्यक्तियों में मलिक हमीदुद्दीन, मलिक अजीउद्दीन, मलिक आइनुल-मुल्क मुल्तानी, निजामुद्दीन, उलूग खाँ, मलिक शरफ कानी और ख्वाजा हाजी मुख्य थे। तृतीय, अपने शासक के बाद के समय में अलाउद्दीन को मलिक काफूर की सेवाएँ प्राप्त हुईं जिसने अलाउद्दीन के लिए दक्षिणी भारत को विजय किया और जो अन्त में 'नायब' और राज्य का सबसे प्रभावशाली सरदार हो गया। अलाउद्दीन की सफलता का श्रेय उसके इन योग्य पदाधिकारियों को भी था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलाउद्दीन योग्य तथा महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ। अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों को दूर करने के पश्चात् उसने राज्य-विस्तार और शासन-व्यवस्था हेतु महत्वाकांक्षी योजनाएँ बनायीं। उसकी विजयों और सफलताओं ने उसे इतना प्रोत्साहित किया कि उसने 'सिकन्दर द्वितीय' (सानी) की उपाधि ग्रहण की और उसे अपने सिक्कों पर अंकित कराया। वह सम्पूर्ण विश्व को जीतने और एक नवीन धर्म को आरम्भ करने की इच्छा भी करने लगा। परन्तु उसके वफादार मित्र कोतवाल अला-उल-मुल्क ने उसे सलाह दी कि पहले वह भारत के विस्तृत प्रदेश को जीतने का प्रयत्न करे और नवीन धर्म को चलाने का विचार त्याग दे क्योंकि यह कार्य शासकों का न होकर पैगम्बरों का होता है। अलाउद्दीन ने उसकी सलाह मान ली और भारत में ही एक विस्तृत एवं दृढ़ राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल हुआ। यद्यपि अलाउद्दीन ने खलीफा की सत्ता को मान्यता प्रदान करते हुए 'यामिन-उल-खिलाफत-नासिरी-अमीर-उल-मोमिनीन' की उपाधि धारणा की किन्तु उसने खलीफा से अपने पद की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं समझा। अपनी शासन-नीति (गृह-नीति) के द्वारा उसने एक ऐसे निरंकुश राज्य की स्थापना की जिसके बारे में इल्तुतमिश ने विचार मात्र किया था, जिसकी स्थापना में सुल्तान रजिया असफल रही थी और जिसकी स्थापना में बलबन कुछ सफल हुआ था। **अलाउद्दीन के समय में निरंकुशता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने अपनी विजय-योजनाओं को सफल बनाकर भारत में मुस्लिम साम्राज्यवाद को उसकी पूर्णता पर पहुँचा दिया** जिसके लिए ममलूक-सुल्तान प्रयत्न भी नहीं कर सके थे। इस प्रकार अलाउद्दीन प्रत्येक क्षेत्र में सफल रहा। यह अन्य बात है कि वह अपनी सफलता को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सका और उसकी सफलता उसके जीवन तक ही सीमित रही।

[1]
आन्तरिक व्यवस्था

1. राजत्व-सिद्धान्त

अलाउद्दीन एक शक्तिशाली मुसलमान सुल्तान था परन्तु **उसने शासन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया।** बयाना के काजी मुगीसुद्दीन को भेंट और सम्मान देकर उसने कहा था—"मौलाना मुगीस, न मुझे कुछ ज्ञान है और न मैंने कोई पुस्तक पढ़ी है। तब भी मैं मुसलमान पैदा हुआ हूँ और मेरे पूर्वज पीढ़ियों से मुसलमान रहे हैं। उन विद्रोहों को रोकने के लिए जिनमें हजारों जीवन नष्ट हो जाते हैं मैं अपनी प्रजा को ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं उनकी और राज्य की भलाई के लिए लाभप्रद समझता हूँ.....मैं ऐसे आदेश देता हूँ जिन्हें राज्य के लिए लाभदायक और परिस्थितियों के अनुकूल समझता हूँ। मैं नहीं जानता कि 'शरा' उनकी आज्ञा प्रदान करता है अथवा नहीं। मैं नहीं जानता कि 'अन्तिम निर्णय के दिन' खुदा मेरे साथ क्या व्यवहार करेगा।" इसी प्रकार, यद्यपि अलाउद्दीन ने 'यामनी-उल-खिलाफत नासिरी अमीर-मुमनिन' (खलीफा का नाइब) की उपाधि ग्रहण की थी जिसका आशय नाममात्र के लिए खलीफा की परम्परा को स्थापित रखना तो हो सकता था परन्तु अन्य कुछ नहीं, क्योंकि **उसने खलीफा से अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं समझी और न कभी उसके लिए प्रयत्न किया।** उलेमा-वर्ग से भी वह कोई सलाह नहीं लेता था। इस प्रकार **अलाउद्दीन ने शासन में न तो इस्लाम के सिद्धान्तों का सहारा लिया, न उलेमा-वर्ग से सलाह ली और न ही खलीफा के नाम का सहारा लिया।** इसी कारण डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने लिखा है—"इस प्रकार अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनमें कम से कम सिद्धान्त रूप में राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता था।" निस्सन्देह, अलाउद्दीन पूर्ण मुसलमान था, इस्लाम धर्म के कानूनों का विरोध नहीं करता था, हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति कठोर थी और समय-समय पर उसने मुसलमानों की धार्मिक भावना का लाभ भी उठाया था परन्तु उसने धर्म और धार्मिक-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। सुल्तान के अधिकारों पर धर्म कोई सीमा लगाये, यह उसे स्वीकार न था।

अलाउद्दीन निरंकुश राजतन्त्र में विश्वास करता था। यद्यपि बलबन की भाँति अलाउद्दीन ने राजत्व-सिद्धान्तों की कभी व्याख्या नहीं की परन्तु उसके विचार और कार्य उसी की भाँति थे। सुल्तान सर्वशक्तिशाली होता है, कोई उसके समान नहीं है, सुल्तान की इच्छा ही कानून होती है, आदि जैसे सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राजतन्त्र के विचार अलाउद्दीन के भी थे। इस कारण अलाउद्दीन स्वेच्छाचारी और निरंकुश सुल्तान था। उसके वजीर, सेनापति, सरदार, शासनाधिकारी आदि सभी व्यक्ति उसके कर्मचारी थे और उनमें से कोई व्यक्ति उसे सलाह देने का साहस नहीं करता था। दिल्ली का कोतवाल अला-उल-मुल्क ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था जिससे अलाउद्दीन ने शासन के विषय में सलाह ली अथवा जो उसे सलाह देने का साहस कर सका। अलाउद्दीन में एक निरंकुश शासक बनने की क्षमता भी थी। उसमें मौलिक विचारों को जन्म देने की क्षमता, उनको कार्य-रूप में परिणत करने का निश्चय और उनके परिणामों को भुगतने का साहस था। दिल्ली के सुल्तानों को प्रभावित करने वाले वर्ग राज्य में केवल दो थे—सरदारों का वर्ग और उलेमा-वर्ग। अलाउद्दीन ने सरदारों की शक्ति और साहस को नष्ट कर दिया और उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"एक शब्द में, फ्रांस के शासक लुई चौदहवें की भाँति अलाउद्दीन अपने को राज्य में सर्वोपरि मानता था।" इसी आधार पर उसने कार्य किये और सफलता पायी। इस कारण उसके समय में शासन का केन्द्रीयकरण पूर्ण था और निरंकुशता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।

2. विद्रोह : उनके कारण और अध्यादेश

अलाउद्दीन के शासनकाल के आरम्भ में कुछ विद्रोह हुए। उनमें से एक-दो विद्रोह ऐसे भी हुए जिन्होंने अलाउद्दीन के जीवन को संकट में डाल दिया तथा जिनके द्वारा सुल्तान में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया। 1299 ई. में गुजरात पर आक्रमण किया गया। उसकी सफलता के पश्चात् जब नसरतखाँ वापस आ रहा था तो लूट के धन के वितरण पर 'नवीन मुसलमान' (मंगोल जो इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गये थे) असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अचानक विद्रोह करके अलाउद्दीन के एक भतीजे और नसरतखाँ के एक भाई का वध कर दिया। नसरतखाँ ने विद्रोह को दबा दिया। बहुत-से विद्रोही मारे गये परन्तु कुछ भागकर हम्मीरदेव अथवा कुछ अन्य रायकरन की शरण में चले गये। अलाउद्दीन और नसरतखाँ ने विद्रोहियों के बच्चों और उनकी पत्नियों को (जो दिल्ली में थे) अपमानित किया और उनका वध कर दिया। दूसरा विद्रोह अलाउद्दीन के मृतक भाई मुहम्मद के पुत्र और राज्य के वकीलदार अकतखाँ ने किया। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के अभियान के लिए जा रहा था तब वह मार्ग में शिकार के लिए रुका। जब वह अपने कुछ ही सैनिकों के साथ था तब अकतखाँ ने अचानक अपने मंगोल सैनिकों को लेकर उस पर तीर बरसाने आरम्भ कर दिये। सुल्तान ने अपनी कुर्सी की ढाल बनाकर अपनी रक्षा की परन्तु शीघ्र मूर्च्छित होकर गिर गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके पैदल सैनिक उसके चारों तरफ घेरा बनाकर खड़े हो गये और उन्होंने कह दिया कि सुल्तान मर गया है। अकतखाँ ने सुल्तान को मृत मानकर देर करना ठीक नहीं समझा और खेमे में पहुँचकर स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। कुछ सरदारों ने उसे सुल्तान मान भी लिया। परन्तु जब उसने सुल्तान के 'हरम' (जनानखाने) में प्रवेश करने का प्रयत्न किया तो 'हरम' के रक्षक मलिक दीनार और उसके सैनिकों ने उसे रोक दिया। इतने समय में अलाउद्दीन होश में आ गया तथा वह अपने सैनिकों को लेकर खेमे में पहुँच गया। सुल्तान को जीवित देखकर अकतखाँ भाग खड़ा हुआ। उसका पीछा किया गया और उसका सिर काटकर सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। सुल्तान ने उसके छोटे भाई कुतलुगखाँ तथा अन्य समर्थकों का भी वध कर दिया। **तीसरा विद्रोह अलाउद्दीन की एक बहन के पुत्रों ने किया।** उनमें से एक मलिक उमर बदायूँ का और दूसरा मंगूखाँ अवध का सूबेदार था। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के घेरे में व्यस्त था तभी उन्होंने विद्रोह किया। परन्तु वे सफल नहीं हुए और सुल्तान के वफादार सरदारों ने उन्हें परास्त कर कैद कर लिया। उनको सुल्तान के सामने लाया गया और उसके आदेश से उनका वध कर दिया गया। **चौथा विद्रोह दिल्ली में हाजी मौला ने किया।** हाजी मौला पुराने कोतवाल फखरुद्दीन का सेवक रहा था। उस समय तक अलाउद्दीन के पहले कोतवाल अला-उल-मुल्क की मृत्यु हो चुकी थी और उसने दिल्ली में बैयाद तिर्मिजी और सीरी में अयाज को कोतवाल नियुक्त किया था। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के किले के घेरे में व्यस्त था तभी हाजी मौला ने कोतवाल तिर्मिजी का धोखे से वध कर दिया और कोतवाल अयाज का वध करने का असफल प्रयास किया। **उसने सुल्तान के लाल महल पर अधिकार कर लिया और इल्तुतमिश की एक पुत्री के वंशज शाहिंशाह को सुल्तान घोषित कर दिया। परन्तु अलाउद्दीन का एक वफादार सरदार हमीदुद्दीन इस विद्रोह को समाप्त करने में सफल रहा तथा हाजी मौला, शाहिंशाह और उनके समर्थकों का वध कर दिया गया।**

इस प्रकार **उक्त सभी विद्रोह असफल हुए।** परन्तु इतनी जल्दी-जल्दी विद्रोहों के होने के कारण अलाउद्दीन ने उनके मूल कारणों को खोजने का प्रयत्न किया। रणथम्भौर के घेरे के समय उसने अपने विश्वासपात्र सरदारों से इस बारे में सलाह की और अन्त में **इस निर्णय पर पहुँचा कि विद्रोहों के मुख्यतया चार कारण हैं :**

1. सुल्तान अपनी प्रजा और राज्याधिकारियों के अच्छे अथवा बुरे कार्यों से अनभिज्ञ रहता है;

2. शराब पीना और शराब की दावतें करना, जिसके कारण विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे के निकट आते हैं तथा उन्हें षड्यन्त्र अथवा विद्रोह के लिए प्रेरणा मिलती है;

3. सरदारों के पारस्परिक, सामाजिक और वैवाहिक-सम्बन्ध, जिनके कारण वे एक-दूसरे के निकट हो जाते हैं और उन्हें संगठित होने का अवसर मिलता है; तथा

4. व्यक्तियों के पास सम्पत्ति का संचित होना, जिसके कारण उन्हें विद्रोह और षड्यन्त्र करने के लिए शक्ति तथा समय मिल जाता है।

विद्रोहों के कारणों को समझकर अलाउद्दीन ने दिल्ली आकर **उनको समाप्त करने के लिए निम्नलिखित चार अध्यादेश जारी किये :**

1. **एक अध्यादेश के द्वारा दान में दी गयी भूमि, उपहार, पेन्शन आदि व्यक्ति से छीन ली गयीं और सरकारी अधिकारियों को सभी व्यक्तियों से अधिकाधिक कर और धन लेने के आदेश दिये गये।** इस आदेश से यह लाभ हुआ कि व्यक्तियों के पास धन नहीं रह गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनका ध्यान व समय मुख्यतया जीविका कमाने में लग गया। बरनी ने लिखा है कि दिल्ली में केवल मलिक, अमीर, राज्य-कर्मचारी, हिन्दू-मुल्तानी व्यापारी और सेठों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के पास सोना न रहा।

2. दूसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने एक **अच्छे गुप्तचर-विभाग का संगठन किया**। 'बरीद' (गुप्तचर अफसर) और 'मुनहिस' (गुप्तचर) अमीरों के घरों, दफ्तरों, प्रान्तीय राजधानियों और बाजारों में नियुक्त किये गये जो सुल्तान को प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना की सूचना देते थे। अलाउद्दीन का गुप्तचर-विभाग इतना अधिक सफल हुआ कि बड़े से बड़े सरदार भी उससे आतंकित हो गये और परस्पर बातचीत करने में भी डरने लगे।

3. तीसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने **शराब और भाँग जैसे मादक द्रव्यों का प्रयोग तथा जुआ खेलना बन्द करा दिया**। दिल्ली में शराब पीना बिल्कुल समाप्त कर दिया गया और सुल्तान ने स्वयं शराब पीना छोड़कर अपनी शराब और शराब के पात्रों को जनता के सम्मुख फिकवा दिया। इस कानून को तोड़ने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था जिसके कारण शराब पीने वाले दिल्ली से 20 या 25 मील दूर जाकर ही शराब पी सकते थे। परन्तु बाद में इस कार्य को असम्भव समझकर अलाउद्दीन ने इस नियम में कुछ परिवर्तन कर दिया। व्यक्तियों को अपने घरों में शराब पीने और बनाने की आज्ञा दे दी गयी परन्तु वे सार्वजनिक रूप से न तो शराब बना सकते थे, न उसे पी सकते थे और न ही शराब की दावतें कर सकते थे। अलाउद्दीन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त था।

4. चौथे अध्यादेश के द्वारा **अलाउद्दीन ने अमीरों एवं सरदारों की दावतों, पारस्परिक मेलजोल और विवाह-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगा दिये**। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे आपस में विवाह-सम्बन्ध नहीं कर सकते थे, आपस में मिल-जुल नहीं सकते थे, न एक-दूसरे को दावत कर सकते थे और न जनता के निकट सम्पर्क में आ सकते थे। अलाउद्दीन ने पुराने सरदारों को समाप्त कर दिया और अपने नवीन सरदारों को इतना भयभीत कर दिया कि वे सुल्तान ही नहीं अपितु सुल्तान के अधिकारी के आदेश का पालन भी तत्परता से करते थे।

सुल्तान के उपर्युक्त अध्यादेश अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफल हुए। जब तक अलाउद्दीन शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल नहीं हो गया तब तक उसके राज्य में विद्रोह नहीं हुए और शासन में सरदारों का प्रभाव समाप्त हो गया।

हिन्दुओं के प्रति व्यवहार—अलाउद्दीन का हिन्दुओं के प्रति क्या व्यवहार था और उसके क्या कारण थे, इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद हैं। हिन्दू अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था और मुख्यतया लगान-व्यवस्था से प्रभावित हुए थे और उस पर दृष्टिपात करने से ही हिन्दुओं के प्रति किये गये उसके व्यवहार और कारणों पर प्रकाश पड़ता है। डॉ. यू. एन. डे ने लिखा है कि अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था का आधार अत्यधिक विस्तृत था यद्यपि उससे हिन्दुओं और किसानों की सम्पन्नता नष्ट हो गयी। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से वह अत्यधिक कठोर न थी और उसके समय में तो क्या, "भारतीय इतिहास में कभी भी खूत और मुकदम ऐसी निर्धनता की स्थिति में नहीं पहुँचे जैसा कि उसके शासनकाल के बारे में बताया जाता है।" वह लिखते हैं—"बरनी का यह कथन कि निर्धनता के कारण धन कमाने के लिए खूतों और मुकदमों की पत्नियों को मुसलमानों के घरों में कार्य करने के लिए जाना पड़ता था, पूर्णतया बकवास है।" डॉ. डे के इन विचारों से यह अनुमान होता है कि अलाउद्दीन की यह नीति हिन्दुओं के प्रति दुर्व्यवहारपूर्ण न थी। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इसे स्वीकार नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते। उनके अनुसार अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था बहुत कठोर थी जिसका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओं पर पड़ता था। इससे यह विश्वास किया जाता है कि, निस्सन्देह, अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बनाने का प्रयत्न किया था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि "निस्सन्देह अलाउद्दीन के कार्य अत्याचारपूर्ण थे।" उनके अनुसार अलाउद्दीन का लक्ष्य किसानों के पास उतना ही धन छोड़ने का था जो उनके जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हो। अलाउद्दीन ने खूत, मुकदम आदि हिन्दू लगान-अधिकारियों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया था, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। सर वूल्जले हेग ने लिखा है—"सम्पूर्ण राज्य में हिन्दुओं को निर्धनता एवं पीड़ा के निम्नतर स्तर पर पहुँचा दिया गया और यदि कोई एक वर्ग अन्य वर्गों की तुलना में दयनीय था तो वह पैतृक आधार पर कर निर्धारित करने और उसे वसूल करने वाले पदाधिकारियों का था जिसका पहले सबसे अधिक सम्मान था।" इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि अलाउद्दीन ने **हिन्दुओं को निर्धन बना दिया था। राज्य की बहुसंख्यक प्रजा के साथ यह व्यवहार न तो उचित था और न राज्य के हित में था।** इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन के समय में हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट करने, देवी-देवताओं की मूर्तियों को अपमानित करने और युद्धबन्दियों को कत्ल करने की नीति भी यथावत् रही थी। काजी मुगीसुद्दीन द्वारा हिन्दुओं के सम्बन्ध में दी गयी सलाह का भी अलाउद्दीन ने स्वागत किया था क्योंकि वह उसकी नीति के अनुकूल थी। इस कारण **हिन्दुओं के प्रति अलाउद्दीन की नीति निश्चय ही कठोर थी।**

परन्तु इस नीति का आधार क्या था ? डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि अलाउद्दीन की कठोर कर-व्यवस्था और बहुसंख्यक हिन्दू-किसानों की निर्धनता के कारण अलाउद्दीन पर किसानों पर अत्याचार करने वाले शासक का भ्रम अवश्य हो जाता है, परन्तु उसकी नीति का आधार धार्मिक न था। अलाउद्दीन व्यावहारिक शासक था और वह अपनी प्रजा के बहुसंख्य व्यक्तियों को अप्रसन्न करने की भूल नहीं कर सकता था। परन्तु उसे यह विश्वास हो गया था कि जब तक हिन्दुओं को निर्धन नहीं बनाया जायेगा तब तक वे विद्रोह करना बन्द नहीं करेंगे। वह लिखते हैं—"अलाउद्दीन अपने देशवासियों को इसलिए निर्धन बनाना चाहता था ताकि उनके मुँह से विद्रोह का शब्द नहीं निकल सके।" इस प्रकार डॉ. के. एस. लाल के अनुसार अलाउद्दीन की इस नीति का उद्देश्य राजनीतिक था। परन्तु सर वूल्जले हेग ने लिखा है—"उसके पश्चात् अलाउद्दीन ने हिन्दुओं के लिए विशेष नियम बनाये जिनसे वह कुछ धर्म के आधार पर, कुछ सम्पत्ति के कारण जिसका उनमें से अनेक उपभोग करते थे, और कुछ उनके विद्रोहों मुख्यतया दोआब के विद्रोहों के कारण, असन्तुष्ट था।" डॉ. एस. रॉय ने लिखा है—"अलाउद्दीन के लक्ष्य निश्चय ही राजनीतिक थे।" परन्तु साथ ही वह यह भी लिखते हैं कि सुल्तान ने हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर किया था। उनके अनुसार, "मुसलमानों से कुछ विशेषाधिकार छीने गये थे परन्तु हिन्दुओं की भाँति एक वर्ग के आधार पर उन्हें जानबूझकर पीस देने वाली निर्धनता और तिरस्कारपूर्ण असम्मान की स्थिति में ले जाने का औचित्य नहीं था।" वह पुनः लिखते हैं—"परन्तु तब भी ऐसे मानवीय आधार हैं जिनके कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि हिन्दुओं के प्रति अपने व्यवहार में अलाउद्दीन साम्प्रदायिकता की भावना से भी प्रभावित हुआ था।" इस प्रकार, **डॉ. रॉय अलाउद्दीन की नीति का आधार राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही मानते हैं।** यही विचार सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है।

3. राजस्व (कर) तथा लगान-व्यवस्था

अलाउद्दीन की राजस्व और लगान-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य एक शक्तिशाली और निरंकुश राज्य की स्थापना करना था। साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति और मंगोलों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमणों से सुरक्षा करने के लिए उसे एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी और उसके लिए राज्य की आय में वृद्धि करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की विद्रोह करने की शक्ति को तोड़ देना भी इसका एक कारण रहा। डॉ. यू. एन. डे ने इन सुधारों के किये जाने का एक अन्य कारण भी बताया है। उनके अनुसार इक्तादार या राज्य और किसानों के बीच का वर्ग पुरानी व्यवस्था से सबसे अधिक लाभ उठाता था। यह वर्ग बिना राज्य की स्वीकृति के अपनी भूमि में वृद्धि करता चला गया था और जबकि वह किसानों से अधिक से अधिक कर वसूल करता था, राज्य को उसमें से बहुत कम हिस्सा प्राप्त होता था। इससे किसानों और राज्य को कम से कम और उस वर्ग को अधिक से अधिक लाभ था। यह स्थिति बहुत समय तक नहीं चल सकती थी और इस स्थिति में सुधार करने का उत्तरदायित्व अलाउद्दीन पर आया। इस वर्ग की शक्ति और प्रभाव को नष्ट करना उसकी राजस्व-नीति का एक अन्य कारण था। वह लिखते हैं—"सम्भवतया विद्रोहों ने इस समस्या को प्रमुख बना दिया था, परन्तु ये सुधार एक ऐतिहासिक क्रम का परिणाम थे और अलाउद्दीन उन्हें कार्यरूप में परिणत करने का साधन मात्र बना।"

इस प्रकार अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था के विभिन्न कारण थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने प्राचीन परम्परा को समाप्त करके एक नवीन व्यवस्था की नींव डाली। सर्वप्रथम, उसने उन व्यक्तियों पर आक्रमण किया जिन्हें इनाम, पेन्शन आदि के रूप में सुल्तानों से मुफ्त भूमि प्राप्त हुई थी और जो अब किसी भी रूप में राज्य की सेवा नहीं कर रहे थे। उन सभी व्यक्तियों से भूमि छीन ली गयी जिन्हें वह मिल्क (राज्य द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति, इनाम, इन्दारात पेन्शनें) तथा वक्फ (धर्म की सेवा के आधार पर प्राप्त हुई भूमि) आदि के रूप में मिली हुई थी। डॉ. यू. एन. डे का कहना है कि ऐसा नहीं था कि व्यक्तियों के पास ऐसी भूमि न रही हो परन्तु अलाउद्दीन ने पहले ऐसे सभी व्यक्तियों से भूमि छीन कर उसका पुनः वितरण किया। उसने योग्यता तथा राज्य-सेवा के आधार पर व्यक्तियों को भूमि प्रदान की तथा इसका स्पष्ट ब्यौरा रखा कि किसके पास कौनसी और कितनी भूमि रहेगी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य "ऐसी सभी भूमियों के बारे में, जिनके अधिकार को वह सही नहीं मानता था, निर्णय करने, उन्हें समाप्त करने अथवा अपनी शर्तों पर उन्हें अन्य व्यक्तियों को देने के सुल्तान के अधिकार को स्थापित करना था।" डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"सुल्तान सभी भूमि को छीनकर अपने अफसरों को नकद वेतन देना चाहता था, और यदि ऐसी सभी भूमि को छीना नहीं गया तो उनमें से अधिकांश का प्रबन्ध करने का अधिकार राज्य ने अवश्य ले लिया।" अलाउद्दीन के इस सुधार से राज्य की भूमि (खालसा-भूमि) में वृद्धि हुई, केवल योग्य व्यक्तियों के पास भूमि रही और पुराने सरदारों का प्रभाव कम हुआ।

अलाउद्दीन का दूसरा आक्रमण खूत, चौधरी और मुकद्दमों पर हुआ जो पैतृक आधार पर लगान-अधिकारी थे और सभी हिन्दू थे। सुल्तान को उनसे शिकायत थी कि वे किसानों से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे और उसमें से राज्य को कम से कम देकर अधिक से अधिक अपने पास रख लेते थे। वे खराज, जजिया, घरी और चराई जैसे करों का देना टाल देते थे। इन्हीं कारणों से वे धनवान थे। बरनी ने लिखा है—"(वे) अच्छे घोड़े पर सवार होते थे, अच्छे वस्त्र पहनते थे, ईरानी धनुषों का प्रयोग करते थे, आपस में युद्ध करते थे और शिकार करते थे·····और शराब तथा ठाठ की दावतें करते थे।" अलाउद्दीन ने उनसे लगान वसूल करने का अधिकार छीन लिया और उनके विशेषाधिकार समाप्त कर दिये। उनकी भूमि पर से कर लिया जाने लगा और बाकी अन्य सभी कर उनसे लिये गये जिसके कारण खूत (जमींदार)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बलाहार (साधारण किसान) में कोई अन्तर नहीं रहा। बरनी के कथनानुसार उनकी स्थिति बहुत खराब हो गयी जिसके कारण उनकी पत्नियों को कार्य करने के लिए मुसलमानों के घर जाना पड़ता था। अपने इस सुधार से अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बनाकर उनकी विद्रोह करने की शक्ति को समाप्त कर दिया।

अलाउद्दीन ने लगान (खराज) पैदावार का आधा (1/2) भाग कर दिया। डॉ. यू. एन. डे का कहना है—"पिछले सुल्तान कितना लगान वसूल करते थे इस बारे में प्रमाण प्राप्त नहीं होते और जो कुछ भी बताया जाता है वह केवल अनुमान के आधार पर बताया जाता है।" परन्तु जो कुछ भी अनुमान लगाया जाता है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पिछले सुल्तानों के समय में यह पैदावार का एक-तिहाई (1/3) भाग था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने लगान में वृद्धि की थी, इसमें सन्देह नहीं है। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने भूमि की पैमाइश (नाप) कराकर लगान वसूल करना आरम्भ किया। इसके लिए एक 'बिस्वा' को एक इकाई माना गया। प्रति बिस्वा उपज के आधे भाग को राज्य का हिस्से का लगान के रूप में निर्धारित किया गया। उसने छोटी इक्ताओं को समाप्त कर दिया तथा इनसे प्राप्त जमीनों को खालसा के अन्तर्गत लाया गया जिस पर केन्द्र का पूर्ण नियन्त्रण होता था तथा लगान सीधे राज्य द्वारा वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त, सुल्तान लगान को गल्ले के रूप में लेना पसन्द करता था।

अलाउद्दीन ने दो नवीन कर भी लगाये—मकान-कर और चराई-कर। बरनी के अनुसार, चराई-कर दूध देने वाले पशुओं पर लगाया गया था और उन सभी के लिए चरागाह निश्चित कर दिये गये थे जबकि फरिश्ता के अनुसार 2 जोड़ी बैल, 2 भैंस, 2 गाय और 10 बकरियों पर कोई कर न था। उसके अनुसार जिन व्यक्तियों के पास इससे अधिक पशु थे, केवल उन्हीं को कर देना पड़ता था। जजिया, सिंचाई-कर और आयात-निर्यात कर पहले की ही भाँति रहे। 'करी' अथवा 'करही' एक अन्य कर था परन्तु उसके बारे में ठीक से कुछ पता नहीं लगता। इस प्रकार किसानों पर कर का भार बहुत अधिक था, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतया, राज्य किसानों से उनकी पैदावार का 75% से 80% तक करों के रूप में वसूल कर लेता था। इसके अतिरिक्त मुसलमान व्यापारियों पर जहाँ वस्तु के मूल्य का 5% कर था, हिन्दुओं पर यह कर 10% था।

अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था सम्पूर्ण राज्य में समान रूप से लागू नहीं की जा सकती थी। भूमि की पैमाइश करके किसानों से सरकारी कर्मचारियों के द्वारा लगान वसूल किये जाने की व्यवस्था दिल्ली और उसके सीमावर्ती क्षेत्र में ही लागू की गयी थी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार निचले दोआब, अवध, गोरखपुर, बिहार, बंगाल, मालवा, पश्चिमी पंजाब, गुजरात और सिन्ध इस व्यवस्था में सम्मिलित न थे।

अपनी व्यवस्था को लागू करने के लिए अलाउद्दीन ने एक पृथक विभाग 'दीवान-ए-मुसतखराज' स्थापित किया था और हजारों की संख्या में आमिल, मुंशरिफ, मुहस्सिल, गुमाश्ता, नवसिन्दा और सरहंग नाम के पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। रिश्वत और बेईमानी को रोकने के लिए उसने लगान-अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की परन्तु जब उससे कोई लाभ नहीं हुआ तो उसने उन्हें कठोर दण्ड दिये। बरनी ने लिखा है—"पाँच सौ अथवा एक हजार टंका के लिए लगान-अधिकारी को वर्षों जेल में रहना पड़ता था और कोई अधिकारी किसी व्यक्ति से एक टंका रिश्वत के रूप में लेने का साहस नहीं कर सकता था। प्रजा भी इतनी भयभीत हो गयी थी कि एक साधारण लगान-अधिकारी बारह खूत और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौधरियों को पीटकर उनसे लगान वसूल कर सकता था और व्यक्ति लगान-अधिकारियों से इतनी घृणा करने लगे थे कि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री का विवाह उनमें से किसी के भी साथ करने को तैयार नहीं होता था।" **अलाउद्दीन भ्रष्टाचार को पूर्णतया समाप्त कर चुका हो, यह तो सम्भव प्रतीत नहीं होता परन्तु फिर भी अपने कठोर शासन में उसने उसमें सुधार अवश्य किया और एक सीमित क्षेत्र में उसकी व्यवस्था सफल रही।** उसके वित्तमंत्री शराफ काई ने भी अपने परिश्रम से उसकी इस सफलता में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था उसके समय में उसके उद्देश्य की पूर्ति में सफल रही। उसका उद्देश्य राज्य की आय में वृद्धि करने के साथ-साथ विद्रोहों की आशंकाओं को समाप्त करना था। वह इसमें सफल हुआ। परन्तु क्या उसकी व्यवस्था प्रजा और राज्य के स्थायी हितों के अनुकूल थी ? डॉ. यू. एन. डे ने लिखा है—"एक व्यक्ति यह निर्णय करने के लिए लालायित हो जाता है कि किसानों की भौतिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि बढ़ी हुई कर-व्यवस्था के पश्चात् न तो विद्रोह हुए और न किसान भूमि छोड़कर भागे। यह भी कहा जा सकता है कि जब किसानों ने अपने ऊपर अत्याचार करने वालों के साथ वही व्यवहार होते हुए देखा जिससे वह बहुत पहले से पीड़ित थे तो उन्हें अप्रत्यक्षतः सन्तुष्टि हुई।" परन्तु डॉ. डे का यह विचार मात्र अनुमान ही कहा जा सकता है। अपनी आय का 75 से 80% अंश राज्य को देकर कोई भी वर्ग सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार डॉ. इरफान हबीब का यह कहना कि "गाँवों में दो वर्गों के पारस्परिक झगड़ों का लाभ उठाते हुए अलाउद्दीन ने जानबूझकर शक्तिशाली के विरुद्ध दुर्बल का समर्थन करके पूर्णतः न्यायसम्मत कार्य किया" भी अधिक ठीक प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टिकोण में खूत, चौधरी, मुकद्दम आदि के विशेषाधिकारों की समाप्ति पर अत्यधिक बल दिया गया है परन्तु किसानों पर डाले गये बोझ की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। अलाउद्दीन के समय में किसानों पर जो अत्यधिक भार डाला गया था, उसके सन्दर्भ में विचार करते हुए डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"मध्ययुगीन भारत के मुसलमान शासकों पर भारतीय जनता को निर्धन बनाने का आरोप उचित अर्थ में लगाया जा सकता है।" अतः यह कहना अधिक ठीक है कि **अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था राज्य और जनसाधारण के हित में न थी और उससे स्थायी लाभ प्राप्त नहीं हो सके।** डॉ. ताराचन्द ने लिखा है—"यह नीति आत्मघातक थी क्योंकि उसने सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को मार डाला। उसने उत्पादन-वृद्धि और कृषि में सुधार के तरीकों के लिए कोई प्रोत्साहन बाकी न छोड़ा।"

4. सैनिक-व्यवस्था

जियाउद्दीन बरनी ने लिखा था कि "बादशाहत दो स्तम्भों पर आधारित होती है—एक स्तम्भ शासन है और दूसरा स्तम्भ विजय है। यह दोनों स्तम्भ सेना पर निर्भर करते हैं। .... बादशाहत सेना है और सेना बादशाहत है।" अलाउद्दीन जैसे महत्वाकांक्षी शासक के लिए एक बड़ी और शक्तिशाली सेना आवश्यक थी। आन्तरिक विद्रोहों को दबाने, भारत-विजय की लालसा को पूरा करने, अपने शासन को निरंकुशता पर आधारित करने और मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा के लिए अलाउद्दीन ने सैनिक-व्यवस्था की ओर पूरा ध्यान दिया।

अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी और स्थायी सेना रखी तथा उसे नकद वेतन दिया। ऐसा करने वाला वह दिल्ली का पहला सुल्तान था। केन्द्र में अनुभवी सेनानायक नियुक्त किये जाते थे, जिन्हें कोतवाल कहा जाता था। सेना की इकाइयों का विभाजन हजार, सौ और दस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आधारित था जो खानों, मलिकों, अमीरों, सिपहसालारों इत्यादि के अन्तर्गत थे। दस हजार की सैनिक टुकड़ियों को तुमन कहा जाता था। उससे पहले के सुल्तान अपनी सेना की संख्या और शक्ति के लिए अपने सरदारों, इक्तादारों और मलिकों की सैनिक-सहायता पर निर्भर करते थे। अलाउद्दीन ने इस निर्भरता को समाप्त कर दिया। सैनिकों की भर्ती सेना-मन्त्री (आरीज-ए-ममालिक) द्वारा की जाने लगी और उन्हें सुल्तान की ओर से नकद वेतन दिया जाने लगा। सुल्तान के सैनिकों को हथियार, शिक्षा, रसद, वस्त्र, वेतन आदि सुल्तान से प्राप्त होते थे। उनकी नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान पर निर्भर करती थी। एक 'एक-अस्पा' सैनिक (जिसके पास एक घोड़ा होता था) को प्रति वर्ष 234 टंका वेतन मिलता था तथा 'दो-अस्पा' (वह सैनिक जिसके पास दो घोड़े होते थे) को 378 टंका वेतन मिलता था। फरिश्ता के अनुसार सुल्तान की सेना में 4,75,000 घुड़सवार थे। पैदल-सेना की संख्या इससे अधिक ही होगी, यह माना जा सकता है। हाथी भी सेना का एक भाग थे और पत्थर फेंकने वाली मशीनों (तोपों) का प्रयोग भी किया जाता था। धनुष-वाण, तलवार, भाला, कटार आदि युद्ध करने के मुख्य शस्त्र थे। सुरक्षा के लिए शिरस्त्राण, कवच और ढाल का प्रयोग किया जाता था।

अलाउद्दीन ने सेना के अस्त्र-शस्त्रों में उन्नति के लिए व्यक्तिगत रुचि ली। सैन्य-सामग्री और अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए राज्य में अनेक कारखाने खोले गये, वहाँ कुशल अस्त्र-शस्त्र निर्माता अधिकारी नियुक्त किये गये और सभी प्रकार के श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण विस्तृत आधार पर किया गया। उन कारखानों में किलों को तोड़ने के लिए भी मशीनें तैयार की जाती थीं। अलाउद्दीन अपने सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण और अनुशासन बनाये रखने आदि में स्वयं रुचि लेता था। उसकी सेना ने निरन्तर मंगोलों से युद्ध किये जो उसके लिए स्वतः ही प्रशिक्षण-केन्द्र बन गये। दक्षिण-भारत पर निरन्तर आक्रमण किये जाने की अलाउद्दीन की योजना ने भी उसकी सेना को प्रशिक्षण और युद्ध-तत्परता प्रदान की।

युद्ध के अवसर पर सैनिक अपने स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को न भेज दें, इसकी रोकथाम के लिए सैनिकों का हुलिया लिखने की प्रथा प्रारम्भ की गयी। इस कार्य की देखभाल 'दीवान-ए-अर्ज' करता था। इसी प्रकार सैनिक अच्छे घोड़ों में परिवर्तन न कर सकें और एक ही घोड़े को बार-बार निरीक्षण के लिए प्रस्तुत न किया जा सके, इसके लिए घोड़ों को दागने की प्रथा प्रारम्भ की गयी। दिल्ली के किसी अन्य सुल्तान ने उस समय तक इन कार्यों को अपनी सेना में आरम्भ नहीं किया था।

इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बलबन द्वारा बनवाये गये किलों की मरम्मत करायी तथा महत्वपूर्ण स्थानों पर नवीन किले बनवाये। उन सभी किलों में स्थायी रूप से सेना रखी गयी। दिल्ली और सीरी के किलों की भी मरम्मत करायी गयी। वे सभी किले सर्वदा अस्त्र-शस्त्रों और अन्न-भण्डारों से परिपूर्ण रहते थे। उनके अधिकारियों और सैनिकों से सर्वदा युद्ध के लिए तत्पर और सचेत रहने की आशा की जाती थी क्योंकि मंगोलों के आक्रमण की आशंका अलाउद्दीन के आरम्भिक शासनकाल में एक लम्बे समय तक बनी रही।

इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन अपने समय में कुछ योग्य सेनापतियों की सेवाएँ प्राप्त करने में भी सफल हुआ। नसरतखाँ, अलपखाँ, उलुगखाँ, जफरखाँ और मलिक काफूर ने न केवल मंगोल-आक्रमणों से ही राज्य की सुरक्षा की अपितु राज्य का विस्तार भी किया। बाद के समय में गाजी तुगलक मलिक ने भी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा करने में श्रेष्ठ योग्यता का परिचय दिया। निस्सन्देह, इन सेनापतियों को श्रेष्ठ बनाने में अलाउद्दीन का भी हाथ रहा होगा क्योंकि योग्यता एक योग्य व्यक्ति के संरक्षण में ही पनप सकती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलाउद्दीन को अपने आरम्भिक काल में रणथम्भौर को जीतने में कठिनाई हुई थी, वारंगल पर किया गया उसका आक्रमण विफल हुआ था और मंगोल दिल्ली तक आ सके थे। परन्तु अलाउद्दीन के समय में ही उत्तर तथा दक्षिण-भारत में महान् सफलताएँ मिलीं और मंगोलों को निरन्तर परास्त किया गया। इससे सिद्ध होता है कि **अलाउद्दीन ने एक श्रेष्ठ सेना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की थी।**

5. बाजार-व्यवस्था

अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी और उसे नकद वेतन दिया। उस सेना का व्यय बहुत अधिक था। बरनी के अनुसार, "यदि उतनी बड़ी सेना को साधारण वेतन भी दिया जाता तो राज्य का खजाना पाँच या छः वर्ष में ही समाप्त हो जाता। **अतः अलाउद्दीन ने सेना के खर्च में कमी करने के लिए सैनिकों के वेतन में कमी की। परन्तु उसके सैनिक सुविधापूर्वक रह सकें, इसके लिए उसने वस्तुओं के मूल्य निश्चित किये और उनकी दरें कम कर दीं।**" सुल्तान के खजाने में धन की कमी न थी। परन्तु देवगिरि से लूटकर लायी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति, दक्षिण-भारत के राज्यों से निरन्तर प्राप्त होने वाला कर और शराब पीने के सोने-चाँदी के बर्तनों को तोड़कर सिक्के बनाने से भी अलाउद्दीन की बड़ी सेना के व्यय के भार को शाही खजाना नहीं उठा सकता था। लगान को पैदावार का 1/2 भाग कर देना तथा अन्य करों में वृद्धि कर देने से भी सेना के व्यय की समस्या का हल नहीं निकल सका था। इसके विपरीत, आरम्भ में सुल्तान द्वारा मुक्त-हृदय से नागरिकों में धन के वितरण और इतनी बड़ी संख्या में सैनिकों को वेतन देने से मुद्रा के मूल्य में कमी हो गयी थी। **इस कारण सैनिकों के वेतन और वस्तुओं के मूल्य में कमी करना आवश्यक था।** डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"यह गणित की एक साधारण गणना और एक साधारण आर्थिक सिद्धान्त था। क्योंकि उसने सैनिकों के वेतन को कम करने का निर्णय किया था; अतएव उसने दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्य को भी कम करने का निश्चय किया।" डॉ. यू. एन. डे ने इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार प्रकट किया है। उनके अनुसार, **अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था का मुख्य कारण सैनिकों के वेतन में कमी करना न होकर वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोकना था।** वह लिखते हैं—"अलाउद्दीन ने अपने एक सैनिक को 234 टंका प्रति वर्ष दिया था जबकि मुगल बादशाह अकबर ने अपने तबिनन (सैनिक) को 240 रु. प्रति वर्ष और शाहजहाँ ने अपने सैनिक को 200 रु. प्रति वर्ष दिया। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने सैनिक को अकबर के सैनिक से प्रति वर्ष 6 रु. कम और शाहजहाँ के सैनिक से 34 रु. प्रति वर्ष अधिक दिया। इस प्रकार 14वीं सदी के आरम्भ में अलाउद्दीन द्वारा अपने सैनिकों को दिया गया वेतन कम न था।" इसी सम्बन्ध में वह एक प्रश्न करते हैं और उसका उत्तर भी देते हैं कि क्या अलाउद्दीन ने वस्तुओं के मूल्य दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित मूल्यों से कम निश्चित किये थे ? उसके अनुसार ऐसा नहीं था। वह लिखते हैं—"अलाउद्दीन के समय में वस्तुओं के मूल्य प्रायः वही थे जो हमें बाद में फिरोजशाह तुगलक के समय में प्राप्त होते हैं।" बरनी का कथन भी इस बात का समर्थन करता है। बरनी के कथनानुसार, "किसान दिल्ली की मण्डी में अपनी वस्तुओं को लेकर सरकारी मूल्यों पर बेचने के लिए आते थे।" वह यह भी लिखता है—"सुल्तान स्वयं प्रत्येक वस्तु के उत्पादन-मूल्य के आधार पर वस्तुओं का मूल्य निश्चित करता था।" डॉ. डे लिखते हैं—"इस कारण, निस्सन्देह, किसानों और व्यापारियों को कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होता था।" जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि जब अलाउद्दीन का उद्देश्य वस्तुओं के मूल्य को सामान्य प्रचलित मूल्य से कम करना नहीं था तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाजार-नियन्त्रण करने और उसे कठोरता से लागू करने की क्या आवश्यकता थी ? वह लिखते हैं—"उस समय दिल्ली एक बड़े साम्राज्य की राजधानी होने के कारण व्यापार और आवागमन का केन्द्र बन गयी थी, उसकी जनसंख्या में बहुत वृद्धि हो गयी थी और अलाउद्दीन की बड़ी सेना भी वहीं रहती थी। इसके अतिरिक्त सैनिकों को नकद वेतन दिये जाने तथा अन्य कारणों से मुद्रा का चलन भी दिल्ली में अधिक था। इस प्रकार जनसंख्या और मुद्रा का विस्तार हो जाने के कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होना स्वाभाविक था और व्यापारी-वर्ग द्वारा संग्रह करने तथा चोरबाजारी करने के कारण वस्तुओं के मूल्यों में अधिक से अधिक वृद्धि हो जाने की सम्भावना थी। अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं के मूल्यों में इन कारणों से उत्पन्न होने वाली वृद्धि को रोकना था।" वह लिखते हैं—"अलाउद्दीन का उद्देश्य व्यापारी-वर्ग द्वारा चालाकी के विभिन्न साधनों के प्रयोग से वस्तुओं के मूल्यों में हो रही वृद्धि को रोकना था, न कि उनके सामान्य प्रचलित मूल्यों में कमी करना।" डॉ. डे का यह विचार तर्कपूर्ण और मानवीय है। परन्तु इससे इस बात का महत्व कम नहीं हो जाता कि अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी और उसे नकद वेतन देना आरम्भ किया, इस कारण उसे बाजार-नियन्त्रण की आवश्यकता हुई।

आधुनिक इतिहासकारों में से कुछ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि बाजार-नियन्त्रण और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी प्रजा को सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराना चाहता था। इसी कारण उसने यह कार्य किया था। उसके इस विचार का आधार शेख नासिरुद्दीन द्वारा लिखे गये ग्रन्थ 'खायरुल-मजालिस' में शेख हमीदुद्दीन का एक संवाद है जिसमें अलाउद्दीन की अपनी प्रजा की भलाई की भावना की प्रशंसा की गयी है। अमीर खुसरव द्वारा रचित 'खजाइनुल-फुतूह' में भी अलाउद्दीन के आर्थिक सुधारों की प्रशंसा की गयी है। परन्तु उपर्युक्त आधारों को अधिक प्रमाणित नहीं माना जा सकता और न वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य प्रजा की भलाई था। इसके विपरीत, जिस कठोरता से इस बाजार-व्यवस्था को लागू किया गया और जिस प्रकार जनसाधारण पर इसका प्रभाव पड़ा उससे यह स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन ने इस व्यवस्था को लागू करने में किसी विशेष आर्थिक सिद्धान्त अथवा प्रजा की भलाई का ध्यान नहीं रखा था। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाजार-नियन्त्रण और वस्तुओं के मूल्यों को निर्धारित करने में अलाउद्दीन का एकमात्र उद्देश्य राजनीतिक था। एक बड़ी सेना रखना, अपने सैनिकों को एक निश्चित और नकद वेतन देकर उनको जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध कराना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोकना उसका मुख्य उद्देश्य था तथा बाजार-नियन्त्रण इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक साधन।

अलाउद्दीन ने प्रायः सभी वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित किया। सभी प्रकार के अनाज, दालें, कपड़ा, गुलाम अथवा घोड़े ही नहीं वरन् सब्जी, मेवा, माँस, मछली, गन्ना, सुई, धागा, कंघा आदि जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित किये गये। प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक-पृथक बाजार निश्चित किये गये। गल्ले के लिए मण्डी, कपड़े के लिए सराय-ए-आदिल, घोड़ों, गुलामों और पशुओं के लिए पृथक बाजार तथा दैनिक जीवन के उपयोग की अन्य वस्तुओं के लिए एक पृथक बाजार निश्चित किया गया। कठिनाई के अवसरों पर सुरक्षा के लिए सरकारी गोदामों में सभी आवश्यक वस्तुओं को संग्रह करने की व्यवस्था की गयी थी और ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के खरीदने की सीमा निश्चित की गयी थी। कोई भी वस्तु अप्राप्य न हो जाय इसके लिए भी प्रबन्ध किया गया था। खालसा-भूमि (सुल्तान की भूमि) तथा, जहाँ तक सम्भव था, अधीनस्थ सामन्तों की भूमि से भी गल्ले के रूप में लगान वसूल किया गया। सरकार में पंजीकृत व्यापारियों को ही किसानों से गल्ला खरीदने की आज्ञा थी। सभी व्यापारियों को 'शहाने-मण्डी' के दफ्तर में अपने को पंजीकृत (Registered) कराना पड़ता था। कपड़े के व्यापारियों को बाहर से कपड़ा लाने के लिए अग्रिम धन देने की व्यवस्था थी परन्तु उन्हें बाजार में एक निश्चित मूल्य पर कपड़ा बेचने के लिए बाध्य किया जाता था। सभी व्यापारियों को एक निश्चित मात्रा मे वस्तुएँ लाने के लिए बाध्य किया जाता था जिससे किसी वस्तु की कमी न हो। सुल्तान द्वारा निश्चित किये गये मूल्यों पर ही वे वस्तुएँ बेची जायें और तोल में भी ठीक हों, इसके लिए बड़ी कठोरता की जाती थी। वस्तुएँ केवल निश्चित मूल्य पर बेची जा सकती थीं; यहाँ तक कि बड़े से बड़ा पदाधिकारी भी सुल्तान की आज्ञा के बिना मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता था। कम तोलने वाले के शरीर से उतनी ही मात्रा में माँस काट लिया जाता था। कोई भी व्यक्ति (व्यापारी या किसान) किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं कर सकता था। दोआब के पदाधिकारियों को यह लिखकर देना पड़ता था कि वे किसी भी किसान को अनाज संग्रह नहीं करने देंगे। सट्टेबाजी और चोरबाजारी पूर्णतया समाप्त कर दी गयी थी। कानून को भंग करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कठोरतम दण्ड दिया जाता था। इन कार्यों की देखभाल के लिए 'दीवाने-रियासत' और 'शहाने-मण्डी' तथा न्याय के लिए 'सराय-अदूल' नाम के बड़े अधिकारियों की नियुक्ति की गयी थी। मलिक-कबूल को अलाउद्दीन ने खाद्यान्न तथा अन्न बाजार का शहाने मण्डी नियुक्त किया था और मलिक याकूब को 'दीवान-ए-रियासत' नियुक्त किया। 'सराय-अदूल' नामक बाजार में एक टंके से लेकर 10,000 टंके मूल्य की वस्तुएँ बिकने के लिए आती थीं। इनके अतिरिक्त 'बरीद-ए-मण्डी', 'मुनहीयान्स' (गुप्तचर) आदि अनेक पदाधिकारियों की भी नियुक्ति की गयी थी। इन सभी अधिकारियों को दण्ड देने के विस्तृत अधिकार थे। वे सभी सुल्तान से आतंकित थे और उन्होंने सभी व्यापारियों को आतंकित कर रखा था जिसके कारण सुल्तान के नियमों का अक्षरशः पालन किया जाता था। राज्य के बड़े-बड़े सरदार और धनवान व्यक्ति भी इन कानूनों को नहीं तोड़ सकते थे। यदि उनमें से कोई किसी बहुमूल्य वस्तु को खरीदना चाहता था तो उसे 'दीवाने-रियासत' अथवा 'शहाने-मण्डी' से आज्ञा लेनी पड़ती थी। अलाउद्दीन का अन्तिम अधिनियम 'परवाना नवीस' नामक अधिकारी की नियुक्ति और अधिकार से सम्बन्धित था जिसका कार्य तस्बीहस तवरेज, कंजमावरी, सुनहरी जरी, देवगिरि, रेशम, खुज्जे दिल्ली एवं कमरवाद जैसी वस्तुओं को बेचने के लिए परवाना नवीस जारी करना था।

प्राप्त साधनों के आधार पर ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन ने विभिन्न वस्तुओं की निम्न कीमतें निश्चित की थीं :

1. गेहूँ—7·5 जीतल प्रति मन
2. जौ—4 जीतल प्रति मन
3. चना—5 जीतल प्रति मन
4. चावल—5 जीतल प्रति मन
5. शक्कर—$1\frac{1}{2}$ जीतल प्रति सेर
6. गुड़—$\frac{1}{3}$ जीतल प्रति सेर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. भगवत या घी—1 जीतल प्रति $2\frac{1}{2}$ सेर
8. सरसों का तेल—1 जीतल प्रति 3 सेर
9. नमक—1 जीतल प्रति $\frac{1}{2}$ मन
10. घोड़ा (उत्तम)—100-120 टंका,
11. दास—20-30 टंका,
12. गाय (उत्तम)—10-12 टंका
13. दासी 20—40 टंका।

खाद्यान्नों की तुलना में कपड़ा अधिक महँगा था, मुख्यतया रेशमी कपड़ा। बरनी के अनुसार अच्छी श्रेणी का लट्ठा-कपड़ा एक टंका में बीस गज मिलता था।

घोड़ों और दासों को विभिन्न श्रेणियों में बाँटा गया था और उनकी भिन्न-भिन्न कीमतें रखी गयी थीं। प्रथम श्रेणी के घोड़े की कीमत 100 से 120 टंका, द्वितीय श्रेणी की 80 से 90 टंका, तृतीय श्रेणी की 60 से 70 टंका और टट्टू का मूल्य 10 से 20 टंका रखा गया। इसी प्रकार, घर में काम करने वाली दासी का मूल्य 5 से 12 टंका, कार्य-कुशल दास की कीमत 10 से 15 टंका और अकुशल दास की कीमत 7 से 8 टंका निश्चित की गयी थी। इसी प्रकार, दुधारू भैंस की कीमत 10 से 12 टंका और दुधारू गाय की कीमत 3 से 4 टंका निश्चित की गयी थी।

वस्तुओं के उपर्युक्त मूल्य उदाहरणार्थ हैं। इसी प्रकार अन्य सभी वस्तुओं के मूल्य भी निश्चित किये गये थे।

अलाउद्दीन की यह बाजार-व्यवस्था दिल्ली में ही लागू की गयी थी अथवा राज्य के अन्य भागों या शहरों में भी लागू की गयी थी ? इतिहासकार फरिश्ता ने मात्र इतना लिखा है कि वस्तुओं के जो मूल्य दिल्ली में थे, वही राज्य के अन्य भागों में भी थे, जो यह संकेत देता है कि अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था सम्पूर्ण साम्राज्य में लागू की गयी थी। परन्तु इसके विपरीत मोरलैण्ड ने विचार प्रकट किया कि भाव-नियन्त्रण के लिए दिल्ली को शेष साम्राज्य से पृथक कर दिया गया था। उसके अनुसार "सारे देश में भाव घटाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। यह प्रयास केवल दिल्ली तक ही सीमित रहा जहाँ सेना केन्द्रित थी।" बरनी भी, जो खलजी-वंश के इतिहास को जानने का एकमात्र मूल आधार है, ऐसी कोई स्पष्ट बात नहीं कहता बल्कि समय-समय पर उसके द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से यह स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन की यह व्यवस्था केवल दिल्ली तक ही सीमित थी। बरनी ने केवल दिल्ली और आसपास के बाजारों की चर्चा की है। राज्य के अन्नागारों से खाद्यान्नों के वितरण का उल्लेख करते हुए उसने लिखा कि सुल्तान की नीति और नियमों से "दिल्ली में अनेक वस्तुएँ सस्ती हो गयी थीं और वर्षों तक सस्ती रहीं।" उसने यह भी लिखा कि वस्तुओं के सस्ती होने और प्रचुर मात्रा में उनकी उपलब्धि के कारण अनेक विद्वान, योग्य और कुशल व्यक्ति दिल्ली में आकर बस गये। साम्राज्य के अन्य शहरों के बारे में बरनी ने ऐसा कुछ नहीं लिखा। इस कारण उसके इन विवरणों से यह आभास होता है कि अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था दिल्ली और उसके निकटस्थ क्षेत्रों तक ही सीमित थी। परन्तु डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना इस विचार से सहमत नहीं हैं। वह लिखते हैं कि यह धारणा इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि दिल्ली में ही मूल्यों की कमी सेना के लिए सहायक सिद्ध नहीं हो सकती थी। सेना तो साम्राज्य के सभी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागों में रहती थी। इस कारण केवल दिल्ली में ही मूल्य-नियन्त्रण किये जाने से उसकी सहायता कैसे हो सकती थी ? परन्तु अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि अलाउद्दीन का उद्देश्य दिल्ली में स्थित केन्द्रीय सेना को ही उचित मूल्यों पर वस्तुएँ उपलब्ध कराने तक सीमित था। दिल्ली और उसके निकटस्थ क्षेत्रों में मूल्यों के नियन्त्रण मात्र से उसके उद्देश्य की पूर्ति हो गयी थी। इसके अतिरिक्त, सम्पूर्ण साम्राज्य में उसकी बाजार-व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव भी नहीं था। इस कारण अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं कि अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था दिल्ली और उसके निकटस्थ क्षेत्रों तक ही सीमित थी।

अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था उसके समय में उसके लक्ष्य की पूर्ति में सफल रही। अलाउद्दीन चाहता था कि सभी वस्तुएँ निश्चित मूल्य पर बेची जायें और वह इसमें सफल हुआ। बरनी ने लिखा है—"जब तक अलाउद्दीन ने शासन किया तब तक वस्तुओं के मूल्य न बढ़े और न घटे बल्कि सर्वदा निश्चित रहे।" वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित रखने में अलाउद्दीन का उद्देश्य था कि वह एक बड़ी सेना रख सके। वह उसमें भी सफल हुआ। उसकी सेना बड़ी ही नहीं बल्कि प्रत्येक युद्ध में सफल भी रही। अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के भीषणतम् आक्रमण हुए परन्तु अलाउद्दीन न केवल उन्हें परास्त करने में सफल रहा अपितु भारत के दूरस्थ प्रदेशों को विजय करने में भी उसने सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त **दिल्ली के नागरिकों को भी उससे लाभ था** क्योंकि उन्हें सभी वस्तुएँ सामान्य मूल्यों पर प्राप्त होती थीं और बेईमानी की कोई गुंजाइश नहीं थी। निस्सन्देह, वस्तुओं को निर्धारित मूल्यों पर बेचे जाने की अलाउद्दीन की व्यवस्था सफल और अद्वितीय थी। डॉ. के. एस. लाल जो अन्य विभिन्न प्रकार से उस व्यवस्था के दोषों को बताते हैं, यह स्वीकार करते हैं कि "अलाउद्दीन के शासन का वास्तविक महत्व वस्तुओं के मूल्यों के कम करने में नहीं है बल्कि बाजार की कीमतों को निश्चित रखने में है जो अपने युग का एक महान् आश्चर्य समझा गया था।"

परन्तु अलाउद्दीन को उसकी सफलता का उचित श्रेय प्रदान करने के पश्चात् यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था न तो जनसाधारण के हित में थी, न राज्य के अन्तिम हितों की पूर्ति में सहायक और न स्थायी। इस व्यवस्था से किसानों को कोई लाभ न था। जिन किसानों को अपनी पैदावार का आधा भाग लगान के रूप में देना पड़ता हो, वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं को अपने स्थानीय बाजार के मूल्यों (जो निस्सन्देह दिल्ली में लागू मूल्यों से अधिक होंगे) पर खरीदकर सुखी और सम्पन्न कैसे रह सकते थे ? दिल्ली के नागरिक तो अलाउद्दीन द्वारा निर्धारित मूल्यों से लाभ प्राप्त कर सकते थे परन्तु बाकी अन्य नागरिकों को यह सुविधा कैसे मिल सकती थी। **कारीगरों को भी इस व्यवस्था से लाभ नहीं था।** क्योंकि उनके द्वारा निर्मित वस्तुएँ अधिक से अधिक उत्पादन-मूल्य से कुछ अधिक मूल्य पर ही बिक सकती थीं (यदि यह मान लिया जाय कि अलाउद्दीन ने मूल्य-निर्धारण में उत्पादन-मूल्य को अपना आधार बनाया था)। **व्यापारी-वर्ग इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता था** क्योंकि उसका लाभ राज्य की इच्छा पर निर्भर करता था। अलाउद्दीन ने व्यापारियों को वस्तुएँ खरीद कर लाने और बेचने के लिए बाध्य किया था और वह उन्हें एक-दूसरे के लिए तथा उनके परिवार के सदस्यों को उनके लिए बन्धक के रूप में रखता था। ऐसी स्थिति में व्यापार तथा उद्योगों को प्रोत्साहन मिलने का कोई प्रश्न नहीं था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"चाहे सुल्तान का उद्देश्य उन निर्धन किसानों पर जुल्म करने का न रहा हो जिनके विरुद्ध, सम्भवतया, उसे किसी शिकायत का कारण न था परन्तु राज्य की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीव्र आवश्यकताओं ने उसे ऐसे कदम उठाने पर बाध्य किया जिनके कारण व्यापार और कृषि के हितों को सेना के हितों की पूर्ति के लिए त्याग दिया गया।" इसी प्रकार डॉ. एस. रॉय ने अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"जबकि सम्पूर्ण देश का धन निचोड़ा गया, राजधानी का पेट भरा गया । दिल्ली में इतनी अधिक मात्रा में अनाज का संग्रह किया गया था कि 1334 ई. में वहाँ आने वाले इब्नबतूता ने अलाउद्दीन के द्वारा संग्रहित चावल को खाया। इन नियमों से केवल सेना और अनजाने में दिल्ली की जनता को लाभ हुआ। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे बनाये गये थे उस दृष्टि से वे अत्यधिक सफल हुए। परन्तु क्योंकि वे आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे अतएव वे अपने निर्माता के साथ ही समाप्त हो गये।" इस प्रकार अलाउद्दीन की व्यवस्था में मूल आधार पर दोष थे। यह व्यवस्था अलाउद्दीन के समय में ही सफल रही। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह को न तो साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी और न मंगोल-आक्रमणों का भय। इस कारण उसे न तो बड़ी सेना की आवश्यकता थी और न बाजार-व्यवस्था की। मुबारकशाह इन कार्यों के योग्य भी न था। उसे युद्धों से अधिक स्त्रियों से प्रेम था। इसके अतिरिक्त शक्ति पर आधारित यह व्यवस्था बहुत लम्बे समय तक स्थापित नहीं रखी जा सकती थी। अतएव अलाउद्दीन की मृत्यु के साथ ही उसकी बाजार-व्यवस्था समाप्त हो गयी।

[2]

साम्राज्य-विस्तार (खलजी-साम्राज्यवाद)

उत्तर-भारत

अलाउद्दीन की आकांक्षाएँ साम्राज्यवादी थीं। स्वतन्त्र राज्यों को अधिक से अधिक संख्या में अपने राज्य में सम्मिलित करना अथवा उनको अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य करना उसकी साम्राज्यवादी नीति का लक्ष्य था। उसने 'सिकन्दर द्वितीय' की उपाधि ग्रहण की थी और वह सम्पूर्ण विश्व को जीतने के स्वप्न देखता था यद्यपि अपने मित्र और दिल्ली के कोतवाल अला-उल-मुल्क की सलाह को मानकर उसने अपनी विजय-योजनाओं को भारत की सीमाओं तक ही सीमित रखा। इस कारण भारत में अपने राज्य और प्रभाव-क्षेत्र का अधिक से अधिक विस्तार करना उसका लक्ष्य रहा। उत्तर-भारत के राज्यों के प्रति उसकी नीति राज्य-विस्तार की थी जबकि दक्षिण-भारत के राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार कराकर और वार्षिक कर लेकर ही वह सन्तुष्ट हो गया।

1. जैसलमेर और गुजरात

गुजरात एक समृद्धशाली राज्य था। मुसलमान आक्रमणकारियों ने समय-समय पर उसके विभिन्न क्षेत्रों को लूटने में सफलता प्राप्त की थी परन्तु वे उसे विजय करने में न केवल विफल हुए थे अपितु एक-दो अवसर पर पराजित हुए थे। उस समय उसकी राजधानी अन्हिलवाड़ (पाटन) थी और बघेला-शासक कर्ण (राय करन) उसका शासक था। गुजरात पर आक्रमण किये जाने के कारण राजा कर्ण के एक मन्त्री, माधव के द्वारा दिल्ली पहुँचकर सुल्तान से अपने मालिक के विरुद्ध सहायता माँगना था क्योंकि उसने उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी पर अधिकार कर लिया था। 1298 ई. के उत्तरार्ध में उलुगखाँ और नसरतखाँ के नेतृत्व में गुजरात पर आक्रमण किया गया। उन्होंने मार्ग में जैसलमेर को विजय किया। अहमदाबाद के निकट राजा कर्ण ने उनका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हुआ और उसने अपनी पुत्री देवलदेवी के साथ भागकर देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव के यहाँ शरण ली। युद्ध में विजय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पश्चात् मुसलमानों ने सूरत, सोमनाथ और काम्बे के बन्दरगाह तक आक्रमण किये। गुजरात को मुसलमानों ने निर्दयता से लूटा, राजा कर्ण का समस्त खजाना और उसकी पत्नी कमलादेवी भी उनके हाथ लगी जिसको लेकर वे दिल्ली पहुँचे। सोमनाथ मन्दिर को पुनः नष्ट कर दिया गया और उसकी मूर्ति के टुकड़ों को दिल्ली लाकर मुसलमानों के पैरों तले रौंदने के लिए फेंक दिया गया। कमलादेवी ने अलाउद्दीन से विवाह कर लिया और वह उसकी प्रिय पत्नी बनी। गुजरात में नसरतखाँ ने काफूर हजारदीनारी को खरीदा।

2. रणथम्भौर

रणथम्भौर चौहान राजपूतों की शक्ति का गढ़ था। सुल्तान जलालुद्दीन उसे विजय करने में असफल रहा था और राणा हम्मीरदेव ने अपने राज्य और प्रभाव को बढ़ाने में सफलता पायी थी। राजस्थान की विजय रणथम्भौर को जीते बिना सम्भव न थी। इसके अतिरिक्त राणा हम्मीरदेव ने अपनी शरण में आये हुए मंगोल-मुसलमानों को वापस देने से इंकार करके अलाउद्दीन को आक्रमण करने का बहाना दे दिया। उलुगखाँ और नसरतखाँ को इस किले को विजय करने के लिए भेजा गया। परन्तु उनका आक्रमण विफल हुआ और नसरतखाँ मारा गया। मुसलमान आक्रमणकारियों को पीछे हटना पड़ा। तब अलाउद्दीन ने स्वयं आक्रमण किया और रणथम्भौर के किले का घेरा डाल दिया। एक वर्ष के निरन्तर घेरे के पश्चात् भी न तो किले को जीता जा सका और न राजपूतों ने आत्मसमर्पण ही किया। हम्मीरदेव का एक मन्त्री रनमल अलाउद्दीन से मिल गया जबकि उसे सन्धि की बातचीत के लिए भेजा गया था। अन्त में जुलाई 1301 ई. में अलाउद्दीन ने किले को जीत लिया। परन्तु इससे पहले राजपूत स्त्रियों ने जौहर कर लिया था और राजपूत सैनिक राणा हम्मीरदेव के साथ युद्ध में मारे जा चुके थे। अलाउद्दीन ने रनमल और उसके सभी साथियों का वध करा दिया जो विश्वासघात करके उसके साथ आ मिले थे।

3. बंगाल

डॉ. के. एस. लाल ने यह विचार व्यक्त किया है कि "1303 ई. में वारंगल पर किया गया आक्रमण वस्तुतः बंगाल पर किया गया आक्रमण था, जहाँ शम्सुद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया था और अपने नाम के सिक्के चलाये थे।" इस आक्रमण का कोई परिणाम न निकला क्योंकि वारंगल में मुस्लिम सेना की पराजय हुई और उसे वापस लौटना पड़ा। फलस्वरूप 1324 ई. तक बंगाल स्वतन्त्र रहा।

4. चित्तौड़

राजस्थान में रणथम्भौर के पश्चात् राजपूतों की एक दूसरी बड़ी शक्ति चित्तौड़ का राज्य था। एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ चित्तौड़ का किला अजेय माना जाता था। जनवरी 1303 ई. में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और किले का घेरा डाल दिया। राजा रतनसिंह ने सात माह तक बहादुरी से अलाउद्दीन का मुकाबला किया, परन्तु, अन्त में, अगस्त 1303 ई. में किले पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। राजपूत स्त्रियों ने रानी पद्मिनी के साथ 'जौहर' कर लिया। राजपूत-प्रमाणों के अनुसार राणा रतनसिंह युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया जबकि इसामी और अमीर खुसरव ने लिखा है कि राणा ने अपनी पराजय के पश्चात् आत्मसमर्पण कर दिया और अलाउद्दीन की शरण में चला गया। सत्य कुछ भी परन्तु उसके पश्चात् रतनसिंह का नाम कहीं भी सुनने में नहीं आता। यह भी निश्चित है कि राजपूतों ने अलाउद्दीन का कड़ा मुकाबला किया था क्योंकि किले पर अधिकार करने के पश्चात् अलाउद्दीन ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कत्लेआम का आदेश दिया था और प्रायः 30,000 राजपूत उस समय कत्ल किये गये थे। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद रखा और उसे अपने पुत्र खिज्रख़ाँ को देकर वह स्वयं दिल्ली वापस आ गया। 1311 ई. में खिज्रखाँ को चित्तौड़ से वापस बुला लिया गया और अलाउद्दीन ने उसे अपने एक मित्र राजपूत सरदार मालदेव को दे दिया। परन्तु राजपूत चित्तौड़ की पराजय को न भूल सके। उन्होंने खिज्रखाँ को निरन्तर परेशान किया। रतनसिंह के ही एक वंशज हम्मीरदेव ने मालदेव को भी निरन्तर परेशान किया। मालदेव ने उसे सन्तुष्ट करने के लिए अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ किया। परन्तु हम्मीरदेव ने चित्तौड़ को जीतने के प्रयत्नों में कमी न की और अन्त में 1321 ई. में मालदेव की मृत्यु के पश्चात् उसने चित्तौड़ और सम्पूर्ण मेवाड़ राज्य को स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार **अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् चित्तौड़ स्वतन्त्र हो गया।**

पद्मिनी की कहानी—पद्मिनी की कहानी का मुख्य आधार 1540 ई. में मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा लिखित काव्य-पुस्तक 'पद्मावत' है। अमीर खुसरव ने सुलेमान और रानी शैबा के प्रेम-प्रसंग का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया था और उसने संकेतों में अलाउद्दीन की समता सुलेमान से तथा पद्मिनी की तुलना शैबा से की थी। सम्भवतया, उसी को आधार मानकर मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की और उसके आधार पर राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी की कहानी बनी। बाद में राजस्थान के अनेक कवियों ने उस पर गाथाएँ लिखीं तथा बहुत से इतिहासकारों ने उस कहानी को स्वीकार किया।

'पद्मावत' के अनुसार अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण करने का एक प्रमुख कारण राजा रतनसिंह की अत्यन्त सुन्दर और विदुषी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करना था। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के किले को जीतने में असमर्थ रहा तब उसने यह शर्त रखी कि यदि उसे पद्मिनी की शक्ल दर्पण में दिखा दी जायेगी तो वह वापस चला जायेगा। राणा ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया। परन्तु जब राणा दर्पण में रानी को दिखाकर अलाउद्दीन को उसके खेमों तक छोड़ने गया तो उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया। राजपूतों ने भी अलाउद्दीन के साथ छल करने का निश्चय किया। उन्होंने सुल्तान को सूचना भेजी कि वे उसे पद्मिनी को देने को तैयार हैं। उसके पश्चात् सशस्त्र राजपूतों को 1,600 पालकियों में बैठाकर वे दिल्ली पहुँचे और रानी ने केवल एक बार राणा से मिलने की स्वीकृति माँगी। इस स्वीकृति के मिलने पर राजपूत राणा के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने अचानक आक्रमण करके राणा को छुड़ा लिया और रानी तथा राणा चित्तौड़ भाग गये। मार्ग में गोरा ने मुसलमानों का मुकाबला किया और बादल राणा तथा रानी को लेकर सुरक्षित चित्तौड़ पहुँच गया। उसके पश्चात् रतनसिंह ने कुम्भलगढ़ के शासक देवपाल पर आक्रमण किया जिसने उसकी अनुपस्थिति में पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। इस युद्ध में राणा ने देवपाल को मार दिया परन्तु स्वयं घायल हो गया और कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। रानी पद्मिनी राणा के शरीर के साथ सती हो गयी। अलाउद्दीन उसके पश्चात् चित्तौड़ पहुँचा और उसने किले को जीतने में सफलता प्राप्त की।

'पद्मावत' की इस कहानी के विभिन्न स्वरूप हो गये हैं। कुछ लेखकों के अनुसार राणा को दिल्ली नहीं ले जाया गया था। बल्कि वह अलाउद्दीन के खेमे में ही कैद था, जहाँ से राजपूतों ने उसे छुड़ाया। इसी प्रकार पद्मिनी की कहानी में भिन्न-भिन्न लेखकों तथा कवियों ने भिन्न-भिन्न परिवर्तन कर दिये हैं। परन्तु **क्या पद्मिनी की कहानी ऐतिहासिक तथ्य है ? इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है।** डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ. बी. पी. सक्सेना,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. के. एस. लाल और डॉ. कानूनगो इस कहानी की सत्यता में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि तत्कालीन इतिहासकार इसामी, अमीर खुसरव, इब्नबतूता आदि किसी ने इस कहानी का वर्णन नहीं किया अपितु इस कहानी का मुख्य आधार केवल 'पद्मावत' है। परन्तु अबुल फजल, हाजी उद्दबीर, फरिश्ता और नेन्सी ने इस कहानी को सत्य माना और बाद में कर्नल टॉड भी इससे सहमत हुए। आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. ईश्वरीप्रसाद, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. एस. रॉय यह लिखते हैं कि "पूर्णतया प्रमाणित न होते हुए भी इस कहानी को पूर्णतया मनगढ़न्त कहना ग़लत है।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ कल्पित हैं परन्तु काव्य का मुख्य कथानक सत्य प्रतीत होता है।" डॉ. एस. रॉय और डॉ. ईश्वरीप्रसाद अलाउद्दीन के चरित्र की कामुकता और हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा के कारण इस कहानी के आधार को सत्य मानने की सम्भावना प्रकट करते हैं। **अन्त में, यह कहा जा सकता है कि इस कहानी को पूर्णतया असत्य कहकर टाल देना उचित नहीं यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य इसे अभी तक सत्य प्रमाणित करने में असमर्थ हैं।**

5. मालवा

मालवा का तत्कालीन शासक महलकदेव एक शक्तिशाली शासक था और उसका सेनापति हरनन्द (कोका प्रधान) एक योग्य राजनीतिज्ञ और कुशल योद्धा था। मुसलमानों ने मालवा पर आक्रमण कर उज्जैन, भिलसा आदि स्थानों को पहले भी लूटा था परन्तु मालवा को विजय नहीं किया जा सका था। **1305 ई. में अलाउद्दीन ने मुल्तान के सूबेदार आईन-उल-मुल्क को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा।** उसने महलकदेव और हरनन्द के नेतृत्व में एक हिन्दू-सेना को परास्त किया। हरनन्द युद्ध में मारा गया परन्तु महलकदेव भागकर माण्डू चला गया। कुछ समय पश्चात् आईन-उल-मुल्क माण्डू की तरफ बढ़ा। मार्ग में उसने महलकदेव के पुत्र को युद्ध में परास्त किया और उसके बाद माण्डू के किले का घेरा डाल दिया। एक विश्वासघाती की सहायता से आईन-उल-मुल्क रात्रि में किले में प्रवेश पा सका और उसने अचानक आक्रमण कर दिया। राजा महलकदेव मारा गया और **नवम्बर 1305 ई. में किले पर आईन-उल-मुल्क का अधिकार हो गया।** उसके पश्चात् उज्जैन, धारनगरी, चन्देरी आदि को भी जीत लिया गया तथा **मालवा को दिल्ली-राज्य में शामिल कर लिया गया।**

6. सिवाना

1308 ई. में अलाउद्दीन ने सिवाना पर आक्रमण किया। वहाँ का शासक परमार राजपूत शीतलदेव था जो राजस्थान का एक शक्तिशाली शासक माना जाता था। कई माह तक राजपूतों ने मुसलमानों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु एक राजद्रोही की सहायता से मुसलमानों ने उस मार्ग को बन्द कर दिया जहाँ से एक झील का जल किले में जाता था। तत्पश्चात् **मुसलमानों ने किले में प्रवेश करने में सफलता प्राप्त की।** शीतलदेव जालौर भागने की तैयारी करता हुआ घेर लिया गया और मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को सिवाना की देखभाल का उत्तरदायित्व सौंप कर अलाउद्दीन दिल्ली वापस लौट गया।

7. जालौर

जालौर सिवाना से केवल 50 मील दूर था और वहाँ का शासक कान्हणदेव (कृष्णदेव तृतीय) एक साहसी और महान् योद्धा था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि 1304 ई. में कान्हणदेव ने अलाउद्दीन का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। परन्तु डॉ. दशरथ शर्मा ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी नवीनतम खोजों द्वारा यह सिद्ध किया है कि कान्हणदेव ने अलाउद्दीन की अधीनता को स्वीकार नहीं किया था बल्कि गुजरात से वापस आते हुए नसरतखाँ पर आक्रमण किया था और 1305 ई. में हुए मुसलमानी आक्रमण को विफल कर दिया था। 1311 ई. में जालौर पर पुनः आक्रमण किया गया किन्तु राजपूतों ने कई अवसरों पर मुसलमानों को परास्त किया। राजपूत-स्रोतों के आधार पर यह युद्ध कई वर्षों तक चला। अन्त में, अलाउद्दीन ने कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी और जालौर को विजय कर लिया गया। कान्हणदेव युद्ध में मारा गया और उसके सभी सम्बन्धी कत्ल कर दिये गये। केवल कान्हणदेव का एक भाई मालदेव जीवित बच सका जिसने अलाउद्दीन को प्रसन्न करके चित्तौड़ की सूबेदारी प्राप्त की। जालौर का युद्ध बहुत कठिन था और कान्हणदेव की वीरता की गाथाएँ सम्पूर्ण राजस्थान में प्रसिद्ध हुईं।

जालौर की विजय ने अलाउद्दीन की राजस्थान की विजय को पूर्ण कर दिया। बूँदी, माण्डौर और टोंक भी अलाउद्दीन की अधीनता में चले गये। सम्भवतया, जोधपुर पर भी अलाउद्दीन का अधिकार हो गया था यद्यपि इसके पूर्ण प्रमाण प्राप्त नहीं हो सके हैं। यद्यपि अलाउद्दीन की **राजस्थान की विजय अत्यन्त अस्थिर थी और अलाउद्दीन के सूबेदारों को निरन्तर राजस्थान में राजपूतों से मुकाबला करना पड़ा, परन्तु फिर भी अलाउद्दीन का उद्देश्य पूरा हो गया। 1311 ई. तक उत्तर भारत में सिर्फ नेपाल, कश्मीर एवं असम ही ऐसे भाग शेष बचे थे जिन पर अलाउद्दीन अधिकार नहीं कर सका था। राजस्थान के दृढ़ किले उसके अधिकार में हो गये तथा गुजरात और दक्षिण-भारत के मार्गों पर उसका आधिपत्य हो गया।**

डॉ. बी. पी. सक्सेना ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि अलाउद्दीन ने राजस्थान के प्रति कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनायी थी। उसके अनुसार अलाउद्दीन को राजस्थान में बहुत कठिन युद्ध करने पड़े जबकि वहाँ से उसे आर्थिक दृष्टि से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में उसकी रुचि राजस्थान-विजय में नहीं रही थी। परन्तु डॉ. सक्सेना का उपर्युक्त विचार अधिकांश इतिहासकारों को मान्य नहीं है। अलाउद्दीन किसी भी शक्तिशाली राज्य को अपने निकट स्वतन्त्र देखना नहीं चाहता था। राजस्थान की विजय उसकी विजय-योजना की एक कड़ी थी। इसके अतिरिक्त, उसे गुजरात और दक्षिण-भारत के लिए सुरक्षित मार्ग चाहिए थे जो राजस्थान की विजय द्वारा ही सम्भव थे। इस कारण राजस्थान की विजय उसके लिए आवश्यक थी। इसी कारण उसने रणथम्भौर और चित्तौड़ जैसे किलों पर स्वयं आक्रमण किया। इस प्रकार, राजस्थान की विजय अलाउद्दीन की विजय-योजना का एक सुनिश्चित भाग था और जो सफलता उसने वहाँ प्राप्त की उससे उसके उद्देश्य की पूर्ति हो गयी।

दक्षिण-भारत

14वीं सदी के आरम्भ के कुछ वर्षों के पश्चात् अलाउद्दीन मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षित हो गया था, उत्तर-भारत में उसकी शक्ति का विरोध करने का साहस किसी में बाकी न रहा था, उसके कठोर शासन के कारण राज्य में शान्ति और व्यवस्था थी, विद्रोहों की आशंकाएँ समाप्त हो चुकी थीं और सुल्तान के पास एक बड़ी तथा शक्तिशाली सेना थी। ऐसी स्थिति में अलाउद्दीन दक्षिण-भारत की विजय के लिए तत्पर हुआ। **उस समय दक्षिण-भारत में चार शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य थे। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण-पश्चिम में महाराष्ट्र को सम्मिलित करते हुए यादवों का देवगिरि राज्य था।** रामचन्द्रदेव वहाँ का शासक और देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) उसकी राजधानी थी। दक्षिण-पूर्व में **तेलंगाना का काकतीय राज्य था**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसका शासक प्रतापरुद्रदेव द्वितीय था तथा उसकी राजधानी वारंगल थी। देवगिरि के दक्षिण और तेलंगाना के दक्षिण-पश्चिम में होयसल राज्य था जिसका शासक वीर बल्लाल तृतीय था। उसकी राजधानी द्वारसमुद्र थी। सुदूर-दक्षिण में पाण्ड्य राज्य था जिसे मुसलमान इतिहासकारों ने 'माबर' (मलाबार) राज्य के नाम से पुकारा था। सुन्दर पाण्ड्य द्वारा अपने पिता का वध किये जाने के पश्चात् वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य नामक भाइयों में मुसलमानों के आक्रमण के समय से संघर्ष चल रहा था। उसकी राजधानी मदुरा थी।

डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है : "सभी विजेताओं को प्रेरणा प्रदान करने वाले धन के लालच और गौरव की लालसा ने उसे भी दक्षिण के सभी राज्यों पर एक के बाद एक आक्रमण करने की प्रेरणा दी।" दक्षिण-भारत के इन राज्यों पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य धन और विजय-लालसा दोनों ही था। देवगिरि के धन ने उसे सुल्तान बनने में सहायता दी थी और दक्षिण के सम्पन्न राज्य उसे सुल्तान बने रहने में सहायता दे सकते थे। वस्तुतः दक्षिण-भारत में अतुल सम्पत्ति संचित थी और उसे किसी भी मुसलमान आक्रमणकारी ने नहीं लूटा था। पाण्ड्य राज्य के विषय में मार्को पोलो ने लिखा है : "जब राजा की मृत्यु होती है तब उसकी सम्पत्ति अथवा राजकोष में से कोई भी कुछ भी लेने का साहस नहीं करता क्योंकि वे मानते हैं कि जिस प्रकार हमारे पिता ने इतनी सम्पत्ति एकत्रित की है उसी भाँति हमें भी उतनी ही सम्पत्ति एकत्रित करनी चाहिए। इसके फलस्वरूप राजकोष में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण विपुल सम्पत्ति एकत्र हो गयी।" दक्षिण के अन्य सभी राज्यों की स्थिति भी प्रायः ऐसी ही थी। फरिश्ता ने लिखा था कि "दक्षिण में गरीब से गरीब लोग भी सोने के आभूषण पहनते हैं और सोने-चाँदी के बर्तनों में भोजन करते हैं।" इसी प्रकार दक्षिण के मन्दिरों में भी विपुल सम्पत्ति एकत्रित थी। इस कारण अलाउद्दीन का प्रमुख उद्देश्य दक्षिण-भारत की सम्पत्ति को लूटना था। परन्तु अलाउद्दीन इतने से ही सन्तुष्ट न था। दक्षिण-भारत के राज्यों को अपनी अधीनता में लेने और वार्षिक कर देने के लिए उन्हें बाध्य करना भी उसका उद्देश्य था जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होती और उसे दक्षिण से निरन्तर धन भी प्राप्त हो सकता था। डॉ. यू. एन. डे ने उसके इस उद्देश्य पर अत्यधिक बल दिया है। वह लिखते हैं—"अलाउद्दीन दक्षिण और सुदूर-दक्षिण के राज्यों को अधीनस्थ राज्य बनाने के लिए पूर्ण सोच-विचार कर निश्चित की गयी नीति का पालन कर रहा था जिससे ये राज्य उसकी सम्प्रभुता को स्वीकार करें, उसे वार्षिक कर दें और प्रत्येक प्रकार से उसके अधीनस्थ राजाओं की भाँति व्यवहार करें।" अलाउद्दीन एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि दक्षिण-भारत को अपने राज्य में सम्मिलित करके उस पर शासन करना असम्भव है। इस कारण उसका दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने का उद्देश्य कभी नहीं रहा बल्कि जिन राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर दिया, उनके शासकों के प्रति उसका व्यवहार सम्मानपूर्ण रहा। रामचन्द्रदेव और वीर बल्लाल समय-समय पर सुल्तान की राजधानी में उससे मिलने गये और उनका सत्कार किया गया। डॉ. एस. रॉय ने लिखा है—"उसने दक्षिण में राज्य-विस्तार की इच्छा कभी नहीं की। वह हिन्दू-राजाओं से अपनी सम्प्रभुता को स्वीकार कराना और उनसे बड़ी मात्रा में राजस्व चाहता था।" अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने दक्षिण-भारत पर आक्रमण करने के लिए समय-समय पर अपनी सेनाएँ भेजीं। उसके समय में दक्षिण-भारत की विजय का प्रमुख श्रेय मलिक काफूर को है जिसे एक गुलाम के रूप में खरीदा गया था और जो अपनी योग्यता से राज्य-शासन में उस वक्त सबसे प्रतिष्ठित 'नाइब' के पद को प्राप्त कर सका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलाउद्दीन के समय में सबसे पहला आक्रमण 1303 ई. में तेलंगाना पर किया गया। परन्तु फखरुद्दीन जूना और नसरतखाँ के भतीजे मलिक छज्जू के नेतृत्व में बंगाल तथा उड़ीसा के मार्ग से किया गया यह आक्रमण विफल हुआ और प्रतापरुद्रदेव ने मुसलमानों को परास्त करके अव्यवस्थित रूप से वापस लौटने के लिए बाध्य किया। उसके पश्चात् अलाउद्दीन कुछ वर्षों तक दक्षिण की ओर ध्यान न दे सका।

1. देवगिरि

1296 ई. में देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के सफल आक्रमण से बाध्य होकर उसे प्रतिवर्ष एलिचपुर की आय को भेजने का वायदा किया था। परन्तु 1305 ई. अथवा 1306 ई. में उसने उस वार्षिक कर को दिल्ली नहीं भेजा। यह भी कहा गया है कि रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव) इस बात के लिए उत्तरदायी था। रामचन्द्रदेव ने यह सूचना सुल्तान को दी। यह भी हो सकता है कि रामचन्द्रदेव ने सुल्तान की सेना की वारंगल में पराजय और उसकी मंगोल-आक्रमणों में व्यस्तता का लाभ उठाना चाहा हो। परन्तु कारण कुछ भी रहा हो, अलाउद्दीन वार्षिक कर की हानि को बर्दाश्त करने के लिए तत्पर न था। 1307 ई. में 'नाइब' मलिक काफूर के नेतृत्व में एक सेना देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी। ख्वाजा हाजी को उसकी सहायता के लिए साथ भेजा गया और मालवा के सूबेदार आईन-ए-मुल्क तथा गुजरात के सूबेदार अलप खाँ को अपनी सेनाएँ लेकर उसकी सहायता करने के आदेश दिये गये।

गुजरात के राजा कर्ण को रामचन्द्रदेव ने अपने यहाँ शरण दी थी और बगलाना का प्रदेश उसे स्वतन्त्र रूप से शासन करने के लिए दे दिया था। उस समय से वह वहीं था। इस समय जबकि काफूर दक्षिण की विजय पर जा रहा था, अलाउद्दीन की पत्नी (पहले वह राजा कर्ण की पत्नी थी) कमलादेवी ने अपनी एकमात्र जीवित पुत्री देवलदेवी को दिल्ली लाये जाने की इच्छा प्रकट की। इस कारण अलाउद्दीन ने काफूर को देवलदेवी को उसके पिता राजा कर्ण से छीनकर दिल्ली लाने की आज्ञा दी।

मलिक काफूर मालवा को पार करके सुल्तानपुर पहुँचा। राजा कर्ण ने अपनी पुत्री को काफूर को देने से इंकार कर दिया और दो माह तक सफलतापूर्वक उसका मुकाबला किया। इस कारण राजा कर्ण को समाप्त करने का दायित्व अलपखाँ को सौंपकर काफूर स्वयं देवगिरि की ओर बढ़ गया। अलपखाँ का मुकाबला भी कर्ण ने दो माह तक किया। उसी अवसर पर उसे देवगिरि के राजकुमार शंकरदेव (सिंहनदेव) का देवलदेवी से विवाह करने और सहायता देने का आश्वासन मिला। इससे पहले राजा कर्ण ने अपने वंश को शंकरदेव के वंश की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित राजपूत-वंश बताकर इस विवाह-प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। परन्तु इस बार उसने उसे स्वीकार कर लिया और कुछ सैनिकों के साथ देवलदेवी को देवगिरि भेज दिया। अलपखाँ ने राजा कर्ण को युद्ध में पराजित करके देवगिरि की ओर भागने के लिए बाध्य किया और स्वयं उसका पीछा किया। मार्ग में अचानक उसके सैनिकों को देवलदेवी का काफिला मिल गया और उन्होंने देवलदेवी को छीन लिया। अलपखाँ ने देवलदेवी को दिल्ली भेज दिया जहाँ उसका विवाह शाहजादा खिज्रखाँ से कर दिया गया। अलपखाँ स्वयं मलिक काफूर से जाकर मिल गया।

मलिक काफूर सम्पूर्ण मार्ग में लूटमार करता हुआ देवगिरि पहुँचा। सम्भवतया, रामचन्द्रदेव पूर्णतया असावधान था। एक युद्ध में उसे पराजित कर दिया गया। उसका पुत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंकरदेव (सिंहनदेव) युद्ध से भाग निकला और रामचन्द्रदेव ने आत्मसमर्पण कर दिया। काफूर ने देवगिरि को लूटा और बहुत से हाथी, सम्पत्ति और राजा रामचन्द्रदेव सहित उसके अनेक सम्बन्धियों को दिल्ली ले गया। अलाउद्दीन ने रामचन्द्रदेव के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार किया, उसे 'रायराहन' की उपाधि दी तथा छः माह के पश्चात् उसे एक लाख सोने के टंका और नवसारी का जिला देकर उसके राज्य वापस भेज दिया। देवगिरि राज्य का शासक रामचन्द्रदेव ही रहा परन्तु वह न केवल अलाउद्दीन के अधीन हो गया बल्कि उसके व्यवहार से सन्तुष्ट होकर उसका वफादार मित्र भी बन गया। उसने दक्षिण-भारत की विजय में काफूर को पर्याप्त सहायता दी। डॉ. एस. रॉय ने लिखा है—"निस्सन्देह, देवगिरि दक्षिण और सुदूर-दक्षिण में खलजी के सैनिक-अभियानों का आधार बना।"

2. तेलंगाना

अलाउद्दीन तेलंगाना पर अपने पिछले आक्रमण की विफलता को नहीं भूला था। देवगिरि पर आक्रमण की सफलता ने उसे तेलंगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। 1 नवम्बर, 1309 ई. को मलिक काफूर को तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। दिसम्बर में काफूर देवगिरि पहुँचा। रामचन्द्रदेव ने काफूर की सेना के लिए रसद की व्यवस्था की, मराठा सैनिकों को उसके साथ भेजा और स्वयं भी कुछ दूर तक उसके साथ गया। काफूर ने हीरों की खानों के जिले बसीरगढ़ (भैरागढ़) के मार्ग से तेलंगाना में प्रवेश किया। मार्ग में उसने सिरबर (सिरपुर) के किले को विजय किया और जनवरी 1310 ई. में तेलंगाना की राजधानी वारंगल के निकट पहुँचा गया। वारंगल का किला पहले मिट्टी की और उसके बाद एक पत्थर की प्राचीर से सुरक्षित था। उसके चारों ओर पानी से भरी हुई खाई थी परन्तु फिर भी प्रतापरुद्रदेव द्वितीय अधिक समय तक अपनी रक्षा न कर सका और उसने सन्धि की इच्छा प्रकट की। उसने अपनी एक सोने की मूर्ति बनवाकर और उसके गले में सोने की जंजीर डालकर आत्मसमर्पण-स्वरूप काफूर के पास भेजी। काफूर सन्धि के लिए राजी हो गया। प्रतापरुद्रदेव ने उसे 100 हाथी, 700 घोड़े और अतुल धनराशि प्रदान की, अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार की तथा वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया। लूट में प्राप्त हुई सम्पत्ति को एक हजार ऊँटों पर लादकर मार्च 1310 ई. में काफूर उत्तर-भारत वापस लौटा। कहा जाता है कि खफीखाँ ने भी लिखा है कि इसी अवसर पर प्रतापरुद्रदेव ने काफूर को संसार-प्रसिद्ध 'कोहिनूर' हीरा दिया था जिसे काफूर ने सुल्तान अलाउद्दीन को भेंट किया।

3. होयसल

काफूर को तेलंगाना से वापस हुए केवल कुछ माह ही हुए थे कि अलाउद्दीन ने नवम्बर 1310 ई. में उसे सुदूर-दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए भेजा। फरवरी 1311 ई. में काफूर देवगिरि पहुँचा। रामचन्द्रदेव ने उसे हथियारों और रसद की ही सहायता नहीं दी, अपनी दक्षिण-सीमा के सेनापति परुसराम (पारसदेव) को भी काफूर की सहायता के लिए नियुक्त किया। जिस समय काफूर होयसल राज्य की सीमा पर पहुचा, उस समय वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य के पारस्परिक झगड़े से लाभ उठाने के लिए वीर बल्लाल तृतीय पाण्ड्य राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने हेतु गया हुआ था। यह सूचना पाकर काफूर ने उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर दिया। वीर बल्लाल तुरन्त लौटकर आया और उसकी प्रार्थना पर वीर पाण्ड्य ने भी अपनी एक सेना उसकी सहायता के लिए भेजी। परन्तु राजधानी के संकट से हतोत्साहित होकर अपने सरदारों की सलाह के विरुद्ध वीर बल्लाल तृतीय ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छुटपुट के युद्ध के पश्चात् सन्धि करना स्वीकार कर लिया। उसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली, वार्षिक कर देना स्वीकार किया तथा काफूर को हाथी, घोड़े और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्जित कर दी। वीर बल्लाल स्वयं काफूर के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने उसे पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण करने के मार्ग को बताने का भी आश्वासन दिया। बाद में वह स्वयं दिल्ली गया जहाँ अलाउद्दीन ने उसका सम्मान किया। अलाउद्दीन ने वीर बल्लाल को उसका राज्य वापस कर दिया। जब वह अपनी राजधानी वापस लौटा तो अलाउद्दीन ने उसे एक विशेष खिलअत, एक मुकुट, एक छत्र और दस लाख टंका भी दिये। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपनी कूटनीति से वीर बल्लाल को सन्तुष्ट करके दक्षिण-भारत में एक और शक्तिशाली मित्र बनाने में सफलता प्राप्त की।

4. पाण्ड्य

पाण्ड्य राज्य में वीर पाण्ड्य और सुन्दर पाण्ड्य में सिंहासन के लिए झगड़ा था और अपने भाई से पराजित होकर सुन्दर पाण्ड्य ने सम्भवतया अलाउद्दीन से दिल्ली जाकर अथवा काफूर से जो उस समय दक्षिण में ही था, सहायता माँगी थी। डॉ. बी. पी. सक्सेना ने इस विचार से असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार काफूर ने दोनों भाइयों के विरुद्ध अभियान किया था। काफूर के आक्रमण का उद्देश्य भी सुदूर-दक्षिण तक पहुँचना था। इस कारण होयसल राज्य में कुछ दिन रहकर वह पाण्ड्य राज्य की सीमाओं पर पहुँच गया। **वीर पाण्ड्य अधिक कुशल सिद्ध हुआ। उसने किले में बन्द रहकर युद्ध करना ठीक नहीं समझा और न उसने शत्रु की शक्तिशाली सेना का मुकाबला किसी एक बड़े युद्ध में किया। उसने शत्रु से छिपकर और स्थान-स्थान पर छुटपुट युद्ध करने की नीति अपनायी।** परिणामस्वरूप काफूर को वीर पाण्ड्य से कोई बड़ा युद्ध नहीं करना पड़ा। काफूर ने 1311 ई. में पाण्ड्य राज्य की सीमा में प्रवेश किया। उसने वीर पाण्ड्य के प्रमुख स्थान 'वीरधूल' पर आक्रमण किया जहाँ उसने लूटमार की और यहीं वीर पाण्ड्य के बीस हजार मुसलमान सैनिक भी उससे मिल गये। परन्तु वीर पाण्ड्य वहाँ से जा चुका था। काफूर उसकी तलाश करता हुआ कुण्डूर पहुँचा जहाँ उसे खजाना और 120 हाथी तो मिले परन्तु वीर पाण्ड्य वहाँ से भी निकल चुका था। वहाँ से उसने बरमतपती (बहापुरी या आधुनिक चिदंवरम्) पर आक्रमण किया और 'लिंग महादेव' के सोने के मन्दिर को लूटा और बरबाद किया। यहाँ उसे 250 हाथी प्राप्त हुए। काफूर ने श्रीरंगम और कुण्डूर के मन्दिरों को लूटा तथा नष्ट किया। उसके पश्चात् उसने पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण किया और वहाँ पर भी मन्दिरों को नष्ट किया तथा सम्पत्ति को लूटा। परन्तु वीर पाण्ड्य उसके हाथ नहीं लगा। **वीर पाण्ड्य को पकड़ने के काफूर के सभी प्रयत्न असफल हुए। इस कारण पाण्ड्य राज्य ने अलाउद्दीन की अधीनता को स्वीकार नहीं किया।** परन्तु काफूर ने बहुत बड़ी मात्रा में सम्पत्ति एकत्र कर ली थी। वीर पाण्ड्य को पकड़ने के प्रयत्नों की असफलता के कारण काफूर ने पाण्ड्य राज्य मे अत्यधिक लूटमार की, बहुत बड़ी मात्रा में जनसंहार किया तथा अनेक मन्दिरों को नष्ट किया। सम्भवतया, काफूर रामेश्वरम् तक गया था परन्तु इसके विषय में कुछ मतभेद हैं। इसामी और बरनी ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है परन्तु अमीर खुसरव ने अपनी पुस्तक 'आशिक' में यह संकेत दिया है कि काफूर ने रामेश्वरम् के हिन्दू मन्दिर को नष्ट करके वहाँ एक मस्जिद खड़ी की। **अप्रैल 1311 ई. में काफूर अपार सम्पत्ति लेकर उत्तर-भारत वापस पहुँचा। धन की दृष्टि से यह आक्रमण काफूर का सबसे सफल आक्रमण था।** उस अवसर पर होयसल राजा वीर बल्लाल भी दिल्ली गया जिसे अलाउद्दीन ने धन और सम्मान देकर वापस भेज दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवगिरि पर दूसरा आक्रमण

1312 ई. में रामचन्द्रदेव की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव द्वितीय) देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। शासक बनते ही उसने दिल्ली से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तेलंगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव ने भी अलाउद्दीन से प्रार्थना की कि वह अपने किसी प्रतिनिधि को उससे वार्षिक कर लेने के लिए देवगिरि भेज दे। दिल्ली में अलाउद्दीन की पत्नी मलिका-ए-जहान और उसके भाई अलपखाँ ने काफूर के प्रभाव को कम करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। इस कारण काफूर स्वयं दक्षिण जाने के लिए उत्सुक था। 1313 ई. में अलाउद्दीन ने उसे देवगिरि पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा। शंकरदेव (सिंहनदेव) ने काफूर का मुकाबला किया परन्तु युद्ध में मारा गया। इस बार देवगिरि के अधिकांश भाग को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। 1315 ई. में अलाउद्दीन ने काफूर को दिल्ली बुला लिया।

अलाउद्दीन की दक्षिण-विजय न पूर्ण थी और न स्थायी। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में मिलाने की नीति अपनायी थी। वह उनसे केवल अपने आधिपत्य को स्वीकार कराकर वार्षिक कर चाहता था। इसमें भी उसकी सफलता पूर्ण नहीं थी। देवगिरि और होयसल राज्यों ने, निस्सन्देह, उसकी सत्ता को मान लिया परन्तु तेलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव का व्यवहार सर्वदा शंकापूर्ण रहा और पाण्ड्य शासक वीर पाण्ड्य ने अन्त तक उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की। अलाउद्दीन की विजय स्थायी भी नहीं मानी जा सकती। मलिक काफूर को देवगिरि पर दुबारा आक्रमण करके शंकरदेव (सिंहनदेव) से युद्ध करना पड़ा, तेलंगाना और कर्नाटक पर आक्रमण करने पड़े और देवगिरि को अपनी सैनिक छावनी बनाना पड़ा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **दक्षिण के राज्य विजेता के हटते ही दिल्ली-सल्तनत के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास आरम्भ कर देते थे।** बाद के समय में मुबारकशाह खलजी और मुहम्मद तुगलक को भी दक्षिण को अपने अधीन रखने के लिए प्रयत्न करने पड़े। अतः यह माना जा सकता है कि अलाउद्दीन के समय की दक्षिण-भारत की विजय अस्थिर थी।

परन्तु फिर भी अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति सफल थी। उसकी नीति के प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति हो गयी। दक्षिण के अधिकांश राज्यों को दिल्ली की अधीनता स्वीकार करने और वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया और उन सभी को पददलित किया गया। अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसकी सेनाओं ने सुदूर-दक्षिण तक आक्रमण किये और सफलता प्राप्त की। दक्षिण-भारत के अनेक ग्रन्थ यह बताते हैं कि हिन्दुओं ने कई स्थानों पर मुसलमानों को परास्त किया परन्तु इन युद्धों से जो परिणाम निकला उससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि हिन्दुओं ने अनेक स्थानों पर मुसलमानों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु अन्तिम सफलता मुसलमानों को ही प्राप्त हुई। इस कारण **सैनिक दृष्टि से मुसलमानों और उसके सेनापति मलिक काफूर की सफलता अद्वितीय थी।** 'वस्साफ' ने लिखा है—"दक्षिण में काफूर की शानदार सफलताओं ने महमूद गजनवी की हिन्दुस्तान की विजयों को भुला दिया।" इसके अतिरिक्त काफूर दक्षिण-भारत से इतना अधिक धन लूटकर ले गया कि उसकी तुलना किसी भी अन्य लूट से नहीं की जा सकती। **अलाउद्दीन का एक लक्ष्य दक्षिण-भारत की संचित सम्पत्ति को लूटना था और वह उसमें पूर्णतः सफल हुआ।**

अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति के प्रभावों के विषय में यह कहा गया है कि उसके समय के अभियानों ने दक्षिण-भारत में मुस्लिम-संस्कृति के प्रसार के लिए मार्ग प्रशस्त किया क्योंकि वहाँ की जनसंख्या का एक बड़ा भाग मुसलमान बन गया। यह कथन पर्याप्त सत्य है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार भी प्रस्तुत किया गया है कि उसके आक्रमणों ने दक्षिण-भारत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के हिन्दुओं में मुसलमानों और इस्लाम के प्रति प्रतिक्रिया की भावना को जन्म दिया। इसी सन्दर्भ में डॉ. मजूमदार ने लिखा है : "उनके (हिन्दुओं) लिए आक्रमणकारी की विशाल शक्ति के सामने उस समय तो आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था; परन्तु उनके हृदय में असन्तोष निश्चित रूप से घर कर गया जिसकी अन्तिम अभिव्यक्ति राजनीतिक परिणाम के रूप में विजयनगर-राज्य के उत्कर्ष में हुई।"

दक्षिण-भारत में काफूर की विजयों के प्रायः वही कारण थे जो उत्तर-भारत में मुसलमानों की सफलता के कारण रहे थे। दक्षिण-भारत में एक शक्तिशाली राज्य के स्थान पर चार राज्य थे और उनमें परस्पर शत्रुता थी। वीर पाण्ड्य द्वारा वीर बल्लाल को सैनिक सहायता भेजना ही एकमात्र ऐसा उदाहरण है जबकि दक्षिण-भारत के इन शासकों ने एक-दूसरे की सहायता करने की ओर ध्यान दिया अन्यथा वे एक-दूसरे के विरुद्ध मुसलमानों के सहायक बने रहे थे। जब अलाउद्दीन ने 1296 ई. में देवगिरि पर आक्रमण किया था उस समय राजकुमार शंकरदेव (सिंहनदेव) तीर्थयात्रा पर नहीं गया था बल्कि सेना के अधिकांश भाग को लेकर होयसल राज्य से युद्ध करने के लिए गया हुआ था। जिस समय काफूर ने होयसल राज्य पर आक्रमण किया उस समय वीर बल्लाल पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण करने के लिए गया हुआ था और जब काफूर ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया तब सुन्दर पाण्ड्य अपने भाई वीर पाण्ड्य के विरुद्ध काफूर की सहायता कर रहा था। इसके अतिरिक्त रामचन्द्रदेव ने काफूर को तेलंगाना और होयसल राज्य के विरुद्ध सहायता प्रदान की तथा होयसल शासक वीर बल्लाल ने काफूर को वीर पाण्ड्य के विरुद्ध सहायता दी। उत्तर-भारत की भाँति दक्षिण भारत में भी पारस्परिक एकता और मुसलमानी आक्रमणों के प्रभाव को ठीक प्रकार समझने का सर्वथा अभाव था। उत्तर-भारत के विनाश से दक्षिण-भारत के राज्यों ने कोई सबक नहीं लिया था। गुप्तचर-विभाग की दुर्बलता, सीमाओं की सुरक्षा के प्रति उदासीनता, शत्रु की गतिविधि की सूचना न रखना, किलों में रहकर रक्षात्मक युद्ध लड़ना, एक ही युद्ध में अपने राज्य के भाग्य का निर्णय कर डालना आदि उत्तर-भारत के राजपूत शासकों के द्वारा की गयी भूलों का निर्णय कर डालना आदि उत्तर-भारत के राजपूत शासकों के द्वारा की गयी भूलों की पुनरावृत्ति दक्षिण के शासकों ने भी की। वीर पाण्ड्य के अतिरिक्त रामचन्द्रदेव, प्रतापरुद्रदेव और वीर बल्लाल मलिक काफूर के आक्रमणों के प्रति पूर्णतया असावधान रहे और वे युद्ध के लिए उसी समय तत्पर हुए जब काफूर ने उनकी राजधानियों के फाटक खटखटाये। लूट का लालच और इस्लाम धर्म के आधार पर हुई एकता और समानता की भावना भी काफूर की सफलता का कारण बनी, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु काफूर की सफलता का एक मुख्य कारण अलाउद्दीन की श्रेष्ठ सेना और स्वयं उसका योग्य नेतृत्व था। अलाउद्दीन का सैन्य-संगठन, शस्त्र, अनुभव, युद्ध-नीति आदि सभी श्रेष्ठ थे। जिस सेना ने मंगोलों के निरन्तर होने वाले आक्रमणों को विफल कर दिया था, वह श्रेष्ठ थी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। अलाउद्दीन की घुड़सवार-सेना तो निश्चय ही बहुत अच्छी थी जिसके बारे में डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"उसकी घुड़सवार-सेना की गतिशीलता आश्चर्यजनक थी। उसने दिल्ली से देवगिरि तक की दूरी को प्रायः समाप्त कर दिया था।" मलिक काफूर अपने समय का एक योग्यतम सेनापति सिद्ध हुआ और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन के समय में हुई दक्षिण-भारत की विजय का श्रेय बहुत कुछ उसकी योग्यता को था।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। उत्तर-पश्चिम में सिन्धु नदी उसके राज्य की सीमा थी परन्तु 1306 ई. के पश्चात् काबुल और गजनी तक का क्षेत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके प्रभाव में आ गया था। पूर्व में उसका राज्य अवध तक था। उड़ीसा तथा सम्भवतया (क्योंकि यह विवादपूर्ण है) बंगाल और बिहार उसके राज्य में न थे। उत्तर में कश्मीर उसके राज्य में न था, परन्तु पंजाब से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक का क्षेत्र उसके राज्य में सम्मिलित था। राजस्थान के शासक उसके अधीनस्थ शासक थे और उनके महत्वपूर्ण किलों पर अलाउद्दीन का अधिकार था। गुजरात उसके अधीन था। दक्षिण में पाण्ड्य राज्य के अतिरिक्त अन्य राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार **सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार में न रखते हुए भी उसने उस समय तक के तुर्की-सुल्तानों की तुलना में सर्वाधिक विस्तृत राज्य स्थापित किया था।**

इस प्रकार, अलाउद्दीन एक महान् साम्राज्यवादी सिद्ध हुआ। उसने तुगलक-वंश के शासकों की साम्राज्यवादी नीति के आधार का निर्माण किया, उसने दक्षिण-भारत में मुस्लिम-संस्कृति के विकास के लिए मार्ग बनाया तथा दिल्ली-सल्तनत के प्रभाव को दक्षिणी भारत तक पहुँचा दिया। परन्तु उसका एक दुष्परिणाम भी हुआ। उसके दक्षिणी भारत के अभियानों ने दक्षिण-भारत में मुसलमानों के प्रति द्वेष और घृणा की भावना को जन्म दिया।

[3]

मंगोल-आक्रमण और उत्तर-पश्चिम सीमा नीति

अलाउद्दीन के समय में भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा से मंगोलों के निरन्तर आक्रमण हुए। मंगोलों का दबाव सिन्ध और पंजाब पर निरन्तर बढ़ता गया था और ममलूक-सुल्तानों के समय में उनकी सीमाएँ रावी नदी तक हो गयी थीं। गजनी और काबुल उनके अधीन थे जो उनके आक्रमणों के आधार बने हुए थे। जब सुल्तान जलालुद्दीन खलजी के समय में मंगोलों का आक्रमण हुआ था तब दिल्ली-सुल्तान ने उसमें कोई उल्लेखनीय भाग नहीं लिया था। अलाउद्दीन के समय में भी कुछ अन्तिम वर्षों को छोड़कर भारत पर मंगोलों के आक्रमण का भय सर्वदा बना रहा।

यद्यपि चंगेजखाँ की मृत्यु के पश्चात् मंगोल-साम्राज्य के विभाजन और उनके नेताओं के पारस्परिक युद्धों के कारण मंगोलों की शक्ति पहले की अपेक्षा दुर्बल हो गयी थी तथापि एशिया में मंगोल उस समय तक एक महान शक्ति थे। इसके अतिरिक्त **इस समय मंगोल-आक्रमणों का उद्देश्य पहले से भिन्न था। जबकि पहले मंगोलों के आक्रमणों का उद्देश्य लूटमार और अपने प्रभाव का विस्तार मात्र था, अलाउद्दीन के समय में हुए उनके आक्रमणों का उद्देश्य भारत-विजय अथवा प्रतिशोध की भावना थी।** मंगोलों की विभिन्न शाखाओं में से पर्शिया (ईरान) के इल-खानों और ट्रान्स-ऑक्सियाना के चगताइयों ने इस समय में भारत पर आक्रमण किये। परन्तु भाग्यवश इन दोनों मंगोल शाखाओं में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी और दोनों मध्य-एशिया में ही नहीं बल्कि भारत में भी एक-दूसरे के विरुद्ध साम्राज्य-विस्तार की लालसा करती थीं। मंगोलों के आक्रमण के समय अफगान तथा खोक्खर जातियाँ भी लूटमार की लालसा से उनके साथ मिल जाती थीं। दिल्ली-सुल्तानों से असन्तुष्ट भारतीय अमीर कभी-कभी मंगोलों से मिल जाते थे। इस कारण मंगोलों के आक्रमण भारत के लिए एक स्थायी खतरा बने हुए थे।

1297-98 ई. में ट्रान्स-ऑक्सियाना के शासक दवाखाँ ने एक लाख की सेना कादर के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजी। पंजाब में प्रवेश करके उन्होंने लाहौर के समीपवर्ती क्षेत्रों को लूटना आरम्भ किया। अलाउद्दीन ने जफरखाँ और उलुगखाँ को उनके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध भेजा जिन्होंने मंगोलों को जालन्धर के निकट परास्त कर दिया। प्रायः बीस हजार मंगोल युद्ध में मारे गये, उनके बहुत से अधिकारी पकड़कर कत्ल कर दिये गये और बहुत बड़ी संख्या में मंगोल स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बनाकर दिल्ली भेज दिया गया।

1299 ई. में सलदी के नेतृत्व में मंगोलों का दूसरा आक्रमण हुआ। सलदी दवाखाँ का भाई था। उसने सेहबान (सिबिस्तान) पर अधिकार कर लिया। परन्तु **जफरखाँ ने उसे परास्त किया और सेहबान उससे छीन लिया।** सलदी और अनेक मंगोल स्त्री-पुरुषों को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। जफरखाँ की इस विजय से अलाउद्दीन उसकी ओर से शंकित हो उठा। यह विश्वास किया जाता है कि वह उसे दिल्ली बुलाना चाहने लगा अथवा उसे जहर देकर मरवा देने के लिए भी उत्सुक हो गया। अलाउद्दीन का भाई उलुगखाँ भी जफरखाँ से ईर्ष्या करने लगा क्योंकि जफरखाँ की इस विजय ने उसके गुजरात-विजय के यश को भुला दिया।

1299 ई. के अन्त में दवाखाँ ने अपने पुत्र कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मंगोलों की एक शक्तिशाली सेना को सलदीखाँ की पराजय और मृत्यु का बदला लेने तथा भारत को विजय करने के उद्देश्य से भेजा। वे बिना कोई बड़ा युद्ध लड़े दिल्ली के निकट पहुँच गये। उस अवसर पर अलाउद्दीन ने एक योग्य शासक और दृढ़ योद्धा होने का परिचय दिया और अपने मित्र अला-उल-मुल्क तक की सलाह को नहीं माना जिसने सुल्तान को उचित अवसर तक युद्ध न करने और मंगोलों को तंग करके दुर्बल बनाने की सलाह दी। अलाउद्दीन अपनी सेना लेकर कीली के मैदान में पहुँच गया। स्वयं सुल्तान और नसरतखाँ सेना के मध्य भाग में, उलुगखाँ वाम पक्ष पर और जफरखाँ दाहिने पक्ष पर था। जफरखाँ मंगोलों से युद्ध करने के लिए बेचैन था और उसने कुतलुग ख्वाजा को द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती दी थी। उसे मंगोलों के वाम पक्ष पर आक्रमण करने के लिए तैयार होने का आदेश मिला ही था कि उसने आक्रमण कर दिया। उसके पुत्र दिलेरखाँ ने मंगोलों पर भीषण हमला किया। केन्द्र पर हुए मंगोलों के आक्रमण को सुल्तान ने विफल कर दिया। परन्तु इस बीच में जफरखाँ के आक्रमण से मंगोलों का वाम पक्ष टूट गया और वे भाग खड़े हुए। थोड़े समय पश्चात् मंगोलों ने जफरखाँ पर भीषण आक्रमण किया और जफरखाँ ने उनका मुकाबला नहीं किया बल्कि उनको भागने पर बाध्य किया। जफरखाँ ने 18 कोस तक मंगोलों का पीछा किया परन्तु जब वह उन्हें भगाकर केवल एक हजार सैनिकों के साथ वापस लौटा तो तार्गी के नेतृत्व में मंगोलों ने उसे घेर लिया। मंगोलों की संख्या प्रायः दस हजार थी परन्तु फिर भी बचकर भागने के स्थान पर जफरखाँ ने उनसे भयंकर युद्ध किया और वह, उसका एक-एक सैनिक और सरदार उस युद्ध में मारे गये। इस सम्पूर्ण युद्ध में जफरखाँ की सहायता के लिए न तो अलाउद्दीन गया और न उलुगखाँ। अपने अत्यधिक जोश और सुल्तान अथवा उलुगखाँ से कोई सहायता प्राप्त न होने के कारण जफरखाँ मारा गया जो अपने समय का श्रेष्ठ और साहसी सेनापति था। **जफरखाँ के शौर्य और भारतीय सेना की दृढ़ता से मंगोल इतने प्रभावित हुए कि वे उसी रात्रि को 30 कोस पीछे हट गये और फिर वापस चले गये।** जफर खाँ के शौर्य से मंगोल इतने प्रभावित हुए थे कि बाद में भी यदि मंगोलों के घोड़े पानी पीने से इन्कार करते थे तो मंगोल उनसे यही कहते थे कि क्या तुमने जफर खाँ को देख लिया है जो तुम पानी पीने से इन्कार करते हो ?

मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के घेरे से वापस लौटकर दिल्ली पहुँचा ही था। उसकी दिल्ली की सेना अपर्याप्त और दुर्बल स्थिति में थी और एक बड़ी सेना तेलंगाना के आक्रमण (1303 ई.) पर जा चुकी थी। मंगोल नेता तार्गी ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1,20,000 घुड़सवार लेकर अत्यन्त द्रुत गति से दिल्ली पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन मंगोलों से युद्ध करने की स्थिति में न था। उसने सीरी के किले में अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया। मंगोलों ने अलाउद्दीन की सहायता के लिए उत्तर-पश्चिम से आने वाली तथा मलिक जूना और छज्जू के नेतृत्व में पूर्व से आने वाली सेनाओं के मार्ग को बन्द कर दिया। परन्तु मंगोल घेरा डालकर किले को जीतने की कला में दक्ष न थे और, सम्भवतया, वे इसके लिए तैयार होकर भी नहीं आये थे। मध्य-एशिया की राजनीति के कारण वे अधिक समय तक भारत में रह भी नहीं सकते थे। इन कारणों से दो माह के घेरे के पश्चात् सीरी के किले को जीतने में असफल होकर वे दिल्ली की सड़क और उसके निकटवर्ती क्षेत्र को ही लूटकर वापस चले गये।

तार्गी के आक्रमण ने अलाउद्दीन को सचेत कर दिया। उसने सीरी के किले को दृढ़ किया, दिल्ली के किले की मरम्मत 1304 ई. में करायी, सीरी को अपनी राजधानी बनाया, उत्तर-पश्चिम सीमा के पुराने किलों की मरम्मत करायी, कुछ नवीन किले बनवाये, उन किलों में स्थायी सेना रखी, सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए पृथक सेना और एक सूबेदार (सीमारक्षक) की नियुक्ति की तथा अपनी सेना की संख्या और युद्धकुशलता में वृद्धि की।

1305 ई. में अलीबेग और तार्ताक के नेतृत्व में पचास हजार की मंगोल सेना ने पुनः आक्रमण किया। पिछले आक्रमण का नेता तार्गी भी उनके साथ सम्मिलित हो गया। सीमा-स्थित किलों से बचकर मंगोल अमरोहा तक पहुँच गये। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर और गाजी मलिक को उनके विरुद्ध भेजा जिन्होंने वापस जाती हुई मंगोल सेना को घेरकर परास्त कर दिया। अलीबेग और तार्ताक को कैद करके दिल्ली लाया गया जहाँ उन्हें कत्ल कर दिया गया और उनके सिरों को सीरी के किले की दीवार में चिनवा दिया गया। तार्गी अमरोहा पहुँचने से पहले ही एक युद्ध में मारा जा चुका था। इस युद्ध के पश्चात् गाजी मलिक तुगलक को पंजाब का सूबेदार एवं सीमारक्षक तथा अलपखाँ को गुजरात का सूबेदार बनाया गया।

1306 ई. में अलीबेग और तार्ताक की मृत्यु का बदला लेने के लिए मंगोलों ने पुनः आक्रमण किया। उनकी एक सेना कबक के नेतृत्व में मुल्तान होती हुई रावी नदी की ओर बढ़ी तथा एक अन्य सेना इकबालमन्द और तई-बू के नेतृत्व में नागौर की तरफ बढ़ी। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर और गाजी मलिक तुगलक को उनके विरुद्ध भेजा। मलिक काफूर ने कबक को रावी नदी के तट पर परास्त करके कैद कर लिया और नागौर की ओर बढ़ा। मंगोलों पर अचानक आक्रमण किया गया और वे पराजित होकर भाग गये। कबक के साथ प्रायः बीस हजार मंगोलों को बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया। सभी मंगोल पुरुषों को हाथियों से कुचलवा कर उनके सिरों की एक मीनार बदायूँ दरवाजे पर बनायी गयी तथा स्त्री एवं बच्चों को गुलाम बनाकर विभिन्न स्थानों पर बेच दिया गया।

जियाउद्दीन बरनी के अनुसार कन्क, इकबालमन्द और अन्य मंगोल नेता ने अलाउद्दीन के समय में विभिन्न अवसरों पर आक्रमण किये थे और इसी कारण 1306 ई. के पश्चात् भी मंगोलों के आक्रमण हुए परन्तु अमीर खुसरव और इसामी के अनुसार 1306 ई. में हुआ मंगोलों का उपर्युक्त आक्रमण अलाउद्दीन के समय का अन्तिम आक्रमण था। डॉ. के. एस. लाल और डॉ. राय भी उसे अन्तिम आक्रमण मानते हैं।

इस प्रकार अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के सबसे अधिक और सबसे भयंकर आक्रमण हुए। परन्तु तब भी अलाउद्दीन ने उनके विरुद्ध सफलता प्राप्त की। भारत पर मंगोल-आक्रमण उसके अन्तिम वर्षों में नहीं हुए। यही नहीं बल्कि फरिश्ता और बरनी के कथनानुसार सीमारक्षक गाजी मलिक तुगलक ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये तथा मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में लूटमार की और कर वसूल किया। इस अग्रगामी नीति के कारण मंगोलों की आक्रमणकारी शक्ति नष्ट हो गयी।

[4]

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन तथा मृत्यु

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन उसके लिए कष्टप्रद सिद्ध हुए। अलाउद्दीन 'नवीन मुसलमानों' (इस्लाम धर्म में परिवर्तित मंगोल) से असन्तुष्ट था। उसने उन्हें सभी सरकारी पदों से पृथक कर दिया। उन्होंने अलाउद्दीन को कत्ल करने का षड्यन्त्र किया परन्तु उसकी सूचना सुल्तान को मिल गयी। उसने प्रायः बीस या तीस हजार मंगोल पुरुषों का वध करा दिया और उनके बीबी-बच्चों व सम्पत्ति को उनका वध करने वालों में बाँट दिया। इस कत्लेआम में अनेक निरपराध व्यक्ति मारे गये।

परन्तु यह अलाउद्दीन की असंयत बुद्धि का एक उदाहरण मात्र था। अथक परिश्रम एवं बढ़ती हुई आयु ने उसके शरीर और बुद्धि को नष्ट करना आरम्भ कर दिया था। उसने सन्देह के कारण अपने सभी योग्य सरदारों को राजधानी से दूर भेज दिया था और स्वयं अपने परिवार को अपने नियन्त्रण में रखने में असमर्थ हो रहा था। उसका सबसे बड़ा पुत्र खिज्रखाँ भोग-विलासी था, उसकी पत्नी मलिका-ए-जहान उससे उदासीन होकर अपने विलास में मस्त थी और अपने भाई अलपखाँ के साथ मिलकर नाइब काफूर की शक्ति को तोड़ने में लगी हुई थी। फरवरी 1312 ई. में खिज्रखाँ का विवाह अलपखाँ की एक पुत्री से कर दिया गया और खिज्र खाँ को सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। 1313 ई. में काफूर देवगिरि के द्वितीय अभियान पर चला गया जिसके कारण मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र शादीखाँ का विवाह अलपखाँ की दूसरी पुत्री से कर दिया और खिज्रखाँ का विवाह राजा कर्ण की पुत्री देवलदेवी से कर दिया गया। इस बीच में अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और जब उसने देखा कि उसकी पत्नी और उसका पुत्र उसकी परवाह नहीं करते तो 1315 ई. में उसने मलिक काफूर को दक्षिण-भारत से वापस बुला लिया। परन्तु मलिक काफूर ने सुल्तान की मृत्यु को निकट जानकर स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान को विश्वास दिला दिया कि खिज्रखाँ, मलिका-ए-जहान और अलपखाँ उसके शत्रु हैं। उसके पश्चात् जबकि अलाउद्दीन अपने बिस्तर पर बीमार पड़ा हुआ था, मलिक काफूर ने अलपखाँ को महल में ही मार दिया। मलिका-ए-जहान को कैद कर लिया गया तथा खिज्रखाँ को पहले अमरोहा भेजा गया और बाद में ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। मलिक काफूर राज्य का सर्वेसर्वा बन गया और अलाउद्दीन कुछ न कर सका। ऐसी स्थिति में गुजरात में अलपखाँ की सेना ने विद्रोह कर दिया। जो सेना कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में उसे दबाने के लिए भेजी गयी वह असफल हुई तथा कमालुद्दीन मारा गया। इसी प्रकार चित्तौड़ में हम्मीरदेव ने मालदेव को चुनौती दी तथा देवगिरि में रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने तुर्कों को बाहर निकालकर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में जबकि अलाउद्दीन का ऐश्वर्य और सत्ता भंग हो रही थी, 5 जनवरी, 1316 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

[5]

अलाउद्दीन का मूल्यांकन

मध्य-युग के शासकों में अलाउद्दीन एक महत्वपूर्ण शासक था। वह 30 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा और 15 वर्ष में ही भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली सुल्तान बन गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जीवन में शासन और साम्राज्य-विस्तार में अलाउद्दीन की सफलता अद्वितीय थी। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"एक नगण्य स्थिति से उठकर वह मध्य-युग के महान् शासकों में से एक बन गया।"

व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन स्वार्थी और क्रूर था। वह प्रेम और नैतिकता से रहित था। उसका एकमात्र लक्ष्य सफलता था और उसकी प्राप्ति के लिए वह किसी भी साधन का प्रयोग कर सकता था। 'साध्य से ही साधन का औचित्य सिद्ध होता है,' यह उसका विश्वास था। अपने संरक्षक चाचा जलालुद्दीन का वध करके वह सिंहासन पर बैठा तथा उसके पुत्रों को उसने अन्धा करके मरवा दिया। जब तक जलाली-सरदार उसके लिए उपयोगी रहे, उसने उन्हें प्रसन्न रखा परन्तु जैसे ही उनकी उपयोगिता नष्ट हो गयी, उसने उन्हें क्रूरता से नष्ट कर दिया। विद्रोही सरदारों के बीबी-बच्चों का वध करने की परम्परा उसी ने आरम्भ की। असहाय मंगोल स्त्रियों और बच्चों का उसने क्रूरता से वध कराया और मंगोलों के सिरों को उसने सीरी के किले की दीवारों में चिनवा दिया। **उसकी दण्ड-व्यवस्था बर्बरता के निकट थी।** उसने सन्देह मात्र के कारण 'नवीन मुसलमानों' का हजारों की संख्या में वध करा दिया और उनके बीबी-बच्चों तथा सम्पत्ति को उनका वध करने वालों में वितरित कर दिया। अलाउद्दीन को न अपनी पत्नियों से प्रेम था और न अपने बच्चों से जिनकी शिक्षा के प्रति वह सर्वदा उदासीन रहा। **अलाउद्दीन के जीवन में दया, क्षमा, सहिष्णुता और उदारता के लिए कोई स्थान न था।** यदि वह किसी व्यक्ति से असन्तुष्ट हो जाता था तो उसे नष्ट कर देता था। वह ईर्ष्यालु था और किसी भी व्यक्ति की शक्ति और सम्मान में वृद्धि नहीं होने देता था। वह किसी के प्रभाव में न था और उसके मित्र अला-उल-मुल्क के अलावा कोई अन्य व्यक्ति उसे स्पष्ट सलाह देने का साहस नहीं कर पाता था। **अलाउद्दीन का विश्वास आतंक, भय, रक्तपात, कठोरता तथा अनुशासन में था और इन्हीं के आधार पर उसने अपनी सत्ता और शासन की नींव रखी।** इस कारण इतिहासकार स्मिथ उसको क्रूर और अन्यायी शासकों में स्थान देता है। वह लिखता है—"वस्तुतः वह (अलाउद्दीन) एक बर्बर और अत्याचारी शासक था जिसके हृदय में न्याय के लिए बहुत कम स्थान था। उसका शासन गुजरात की विजय के समान अन्य अनेक सफल आक्रमणों तथा दो सुदृढ़ किलों को नष्ट करने वाला होते हुए भी कई दृष्टियों से लज्जापूर्ण था।"

परन्तु अलाउद्दीन एक कर्मठ सैनिक, श्रेष्ठ सेनापति, कुशल कूटनीतिज्ञ, महान् शासन-प्रबन्धक, महान् विजेता तथा शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी सुल्तान था। सफलता उसका उद्देश्य था और वह अपने जीवनपर्यन्त सफल रहा। एलफिन्सटन ने उसके बारे में लिखा है—"उसका शासनकाल गौरवपूर्ण था और अनेक मूर्खतापूर्ण एवं क्रूर नियमों के बावजूद भी वह एक सफल शासक था और उसने उचित ढंग से अपनी शक्तियों का प्रयोग किया।" अलाउद्दीन ने भिलसा और देवगिरि पर आक्रमण करके अपने चाचा के समय में ही अपनी सैनिक और सेनापति की प्रतिभा का परिचय दिया। उसका दूरस्थ और अनजान राज्य देवगिरि पर आक्रमण करके सफलता प्राप्त करना सैनिक-इतिहास में एक अद्वितीय घटना मानी जाती है। यह भी कहना भूल है कि उसके समय की विजयों का श्रेय जफरखाँ, नसरतखाँ, अलपखाँ, उलुगखाँ और मलिक काफूर जैसे उसके सेनापतियों को ही था। निस्सन्देह, वे सभी सेनापति योग्य थे परन्तु अलाउद्दीन किसी भी प्रकार उनसे कम न था। वे सभी सेनापति उसकी आज्ञा का पालन करते रहे, इसी से यह सिद्ध होता है कि वह सेनापतियों का सेनापति होने की योग्यता रखता था। इसके अतिरिक्त राजपूताने के सभी महत्वपूर्ण युद्धों में स्वयं अलाउद्दीन ने नेतृत्व किया था। रणथम्भौर में जहाँ नसरतखाँ और उलुगखाँ असफल हुए वहाँ सुल्तान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं गया। इसी प्रकार चित्तौड़-विजय का श्रेय भी उसी को था। अलाउद्दीन के व्यक्तिगत साहस और दृढ़ता का परिचय इस उदाहरण से भी स्पष्ट होता है कि जब 1299 ई. में मंगोल नेता कुतलुग ख्वाजा ने युद्ध के लिए दिल्ली के निकट अपने खेमे गाड़ दिये तो अलाउद्दीन ने अला-उल-मुल्क की सलाह के विरुद्ध उससे युद्ध करने का निश्चय किया। कीली के युद्ध की विजय का श्रेय जफरखाँ के शौर्य को था परन्तु अलाउद्दीन की दृढ़ता और उसका सेनापतित्व भी बहुत-कुछ उसके लिए उत्तरदायी था। मंगोलों के चौथे आक्रमण के समय अपने सीमित साधनों से सीरी के किले की सुरक्षा करना भी अलाउद्दीन के सेनापतित्व और नेतृत्व करने की योग्यता का प्रमाण था।

अलाउद्दीन साम्राज्यवादी था। उसने अपने राज्य की सीमाओं का अधिकतम विस्तार किया और जहाँ राज्य-विस्तार नहीं किया वहाँ के शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। उस परिस्थिति में जबकि **मंगोल भारत को विजय और पददलित करने के उद्देश्य से निरन्तर आक्रमण कर रहे थे, अलाउद्दीन की भारत-विजय अद्वितीय थी।** उस समय तक दिल्ली का कोई भी सुल्तान इस कार्य को नहीं कर सका था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है—"अलाउद्दीन ने सफलतापूर्वक इस दोमुखी कार्य की पूर्ति की। इस खलजी शासक की केवल यह एक सफलता ही पर्याप्त है जिसके कारण उसे 13वीं शताब्दी के अपने सभी पूर्वाधिकारियों के मुकाबले उच्च स्थान मिलना चाहिए। इसलिए उसे भारत का पहला तुर्की सम्राट कहना सर्वथा उचित है।" अलाउद्दीन ने उत्तर-भारत में ही एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना नहीं की बल्कि उसने दक्षिण-भारत के अधिकांश राज्यों को भी अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस विस्तृत भू-प्रदेश में आक्रमणकारी नीति की सफलता अलाउद्दीन की महान् सफलता थी। दिल्ली-सल्तनत का कोई भी सुल्तान इस कार्य की पूर्ति नहीं कर सका था और बाद के यशस्वी मुगल बादशाह बहुत कठिनाई से और एक लम्बे समय में इस कार्य की पूर्ति कर सके।

अलाउद्दीन एक शक्ति-सम्पन्न शासक था। उसने सुल्तान की निरंकुशता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। उसके मन्त्री, सरदार, सेनापति और शासनाधिकारी उसके सेवक थे, उसके समय में उसका कोई भी सूबेदार विद्रोह न कर सका, उसने सरदारों के प्रभाव को शासन से पूर्णतया नष्ट कर दिया, उसने सरदारों की शक्ति के आधारों को नष्ट करके उनकी विद्रोह करने की क्षमता और उनके साधनों को समाप्त कर दिया। उसके समय में उसकी हिन्दू प्रजा विद्रोह करने में पूर्णतया असमर्थ थी और उसके राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत उसकी आज्ञाओं का निर्विवाद पालन किया जाता था। एक शासक की दृष्टि से वह अपनी प्रजा को शान्ति और सुरक्षा प्रदान कर सका। फरिश्ता ने लिखा है—"न्याय इतना कठोर था कि चोरी और डकैती, जिनका पहले देश में बोलबाला था, अब सुनने को भी नहीं मिलती थी। राजमार्गों पर यात्री निश्चिन्त होकर सोते थे और व्यापारी पूर्ण सुरक्षा के साथ अपना सामान बंगाल की खाड़ी से काबुल तक और तेलंगाना से कश्मीर तक ले जा सकते थे।" इसके अतिरिक्त, **अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। अलाउद्दीन उलेमा-वर्ग के प्रभाव से मुक्त रहा। निस्सन्देह उसकी नीति हिन्दुओं के प्रति कठोरता की थी परन्तु इसका कारण धर्म से अधिक राजनीति था।** हिन्दुओं को निर्धन और शक्तिहीन किये बिना उनके विद्रोहों को समाप्त करना असम्भव था। इस कारण यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के प्रति अलाउद्दीन की नीति दिल्ली के अन्य सुल्तानों के समान ही रही।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलाउद्दीन एक महान शासन-प्रबन्धक था। उसे शासन के नवीन कार्यों और नवीन पद्धतियों को आरम्भ करने का श्रेय है। इस कार्य में उसने किसी से सहायता नहीं ली। निस्सन्देह, वह समय-समय पर अपने सरदारों से सलाह लिया करता था परन्तु उनमें से कोई भी उसकी शासन सम्बन्धी नीतियों के लिए उत्तरदायी न था। एकमात्र अला-उल-मुल्क ही ऐसा था जिसकी सलाह का वह सम्मान करता था परन्तु अला-उल-मुल्क उसके द्वारा शासन में नवीन प्रयोगों के आरम्भ किये जाने से पहले ही मर चुका था। उसने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना की नियुक्ति, घोड़ों को दागने की प्रथा, सैनिकों की हुलिया लिखा जाना आदि उसकी नवीन योजनाएँ थीं। भूमि की पैमाइश कराकर सरकारी कर्मचारियों द्वारा लगान वसूल करने की व्यवस्था भी सर्वप्रथम उसी ने आरम्भ की। बाजार-नियन्त्रण तो एकमात्र उसी के शासन की विशेषता रही। सम्पूर्ण शासन को एक सूत्र में बाँधने का श्रेय भी अलाउद्दीन को है। तुर्की सुल्तानों में अलाउद्दीन पहला शासक था जिसने वित्तीय तथा राजस्व सुधारों में गहरी रुचि ली थी। उसके शासन-प्रबन्ध की सफलता पर दृष्टिपात करते हुए डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है—"सल्तनत के समय में अलाउद्दीन अपने पूर्वाधिकारियों तथा उत्तराधिकारियों दोनों से श्रेष्ठ था।"

अलाउद्दीन महत्वाकांक्षी होने पर भी व्यावहारिक और कूटनीतिज्ञ था। इस कारण वह सफल रहा। उसकी महत्वाकांक्षाओं ने उसे प्रेरणा और दृढ़ता प्रदान की तथा उसकी व्यावहारिकता ने उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमा में बाँधकर रखा। उसने नवीन धर्म को आरम्भ करने और संसार को विजय करने के स्वप्न को त्याग दिया, दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित न करना उसने व्यावहारिक समझा और रामचन्द्रदेव तथा वीर बल्लाल के प्रति उसके कूटनीतिक व्यवहार ने उसे उसकी दक्षिण-विजय के लिए अच्छे सहयोगी प्रदान किये। किस अवसर पर छल अथवा कूटनीति तथा किस अवसर पर शौर्य और शक्ति हितकर होगी, इसका उसे ज्ञान था। यदि ऐसा न होता तो अलाउद्दीन सफल कैसे होता ?

व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन का धर्म इस्लाम था। धर्म में उसकी आस्था थी और वह धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। शेख निजामउद्दीन औलिया और मुहम्मद शम्सुद्दीन तुर्क का उसने सर्वदा सम्मान किया। यद्यपि वह न कभी रोजे (व्रत) रखता था और न शुक्रवार की सामूहिक नमाज में सम्मिलित होता था। अशिक्षित होते हुए भी अलाउद्दीन विद्वानों का सम्मान करता था और ललित-कलाओं को उसने संरक्षण प्रदान किया। उसके दरबार में विभिन्न विद्वान थे जिनमें अमीर खुसरव और अमीर हसन देहलवी जैसे प्रख्यात विद्वान सम्मिलित थे। उसने सीरी का किला, हजारखम्भा महल तथा अनेक तालाब और सरायें बनवायीं। कुतुबमीनार के निकट उसके द्वारा बनवाया गया 'अलाई-दरवाजा' प्रारम्भिक तुर्की-कला का एक श्रेष्ठ नमूना माना गया है।

परन्तु अलाउद्दीन की मुख्य दुर्बलता यह थी कि उसका शासन राज्य-शक्ति एवं आतंक पर आधारित था। इस कारण उसकी मृत्यु के पश्चात् वह तुरन्त नष्ट हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् न तो उसकी विशाल सेना रही, न उसकी बाजार-व्यवस्था और न ही उसकी लगान-व्यवस्था। यही नहीं बल्कि नागरिक और सरदार उसकी मृत्यु और शासन की समाप्ति से प्रसन्न हुए तथा स्थायित्व के गुणों के अभाव के कारण उसका राजवंश कुछ ही वर्षों में नष्ट हो गया। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि इसका उत्तरदायित्व यदि अलाउद्दीन पर था तो उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों पर भी था। अलाउद्दीन की तो बात ही क्या, किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था दुर्बल सुल्तानों के संरक्षण में सफल नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन के शासन के सिद्धान्त तो उसकी मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहे। आगे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आने वाले शासकों में से कई ने उसके विभिन्न शासन-सिद्धान्तों, मुख्यतया उसके सैनिक-अधिकारों को अपनाया और लाभान्वित हुए।

इस कारण उसके शासन और राजवंश की अस्थिरता उसके दोषों को प्रकट करते हुए भी इतिहास में उसके स्थान को गिरा नहीं सकती। मध्य-युग के शासकों में अलाउद्दीन का स्थान श्रेष्ठ है। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है—"यदि अलाउद्दीन के कार्यों तथा सफलताओं की निष्पक्ष समीक्षा की जाय तो कहना पड़ेगा कि दिल्ली के मध्ययुगीन शासकों में उसका स्थान उच्च है।" डॉ. एस. रॉय, जिन्होंने उसके व्यक्तित्व और चरित्र की समीक्षा करना कठिन बताया है, लिखते हैं—"अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान् मुसलमान शासन-प्रबन्धक था। भारत में मुस्लिम-साम्राज्य और मुस्लिम-शासन का इतिहास वस्तुतः उसी से आरम्भ होता है।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ? वह कहाँ तक सफल रही ?
2. अलाउद्दीन की दक्षिण नीति के कारणों एवं परिणामों पर प्रकाश डालिए।
3. अलाउद्दीन की दक्षिण नीति क्या थी ? वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक सफल रही ?
4. अलाउद्दीन के समय में हुए मंगोल आक्रमणों का वर्णन कीजिए। उनका क्या परिणाम हुआ ?
5. अलाउद्दीन खलजी का राजत्व सिद्धान्त क्या था ? क्या आप समझते हैं कि निरंकुशता उसके समय में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी ?
6. 'अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने विद्रोहों के मूल कारणों पर विचार किया।' अलाउद्दीन ने विद्रोहों को समाप्त करने के लिए क्या-क्या उपाय किये और वे कहाँ तक सफल हुए ?
7. अलाउद्दीन की राजत्व व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ? वह कहाँ तक सफल रही ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अलाउद्दीन खलजी के प्रारम्भिक जीवन पर लेख लिखिए।
2. अलाउद्दीन खलजी के राजत्व सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
3. अलाउद्दीन खलजी की बाजार नियंत्रण नीति के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
4. अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण विजय की नीति के कारण लिखिए।
5. दक्षिण विजय में मलिक काफूर के योगदान का वर्णन कीजिए।
6. एक शासक के रूप में अलाउद्दीन का मूल्यांकन कीजिए।
7. अलाउद्दीन की सैनिक अथवा राजस्व व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए।
8. अलाउद्दीन खलजी ने विद्रोहों के दमन हेतु जो अध्यादेश जारी किये, उनका वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अलाउद्दीन खिलजी जलालुद्दीन के किस भाई का पुत्र था ?
   (अ) शिहाबुद्दीन मंसूर खलजी (ब) मुहम्मदशाह खलजी
   (स) मुहम्मद अली खलजी (द) इनमें से कोई नहीं।
2. अलाउद्दीन के चार भाइयों में किस एक का वर्णन इतिहास में उपलब्ध होता है ?
   (अ) मुहम्मद का (ब) अलमास बेग का
   (स) तिगिन का (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. सुल्तान जलालुद्दीन ने गद्दी पर बैठने के बाद अलाउद्दीन को उपाधि दी थी—
(अ) अखूर बेग की (ब) खानख़ाना की
(स) उलूग खाँ की (द) अमीर-ए-तुजुक की।

4. गद्दी पर बैठने से पूर्व अलाउद्दीन खलजी कहाँ का सूबेदार था ?
(अ) दोआब का (ब) कटेहर का
(स) कड़ा मानिकपुर का (द) इनमें से कोई नहीं।

5. खलजी साम्राज्यवाद की सफलता के लिए अलाउद्दीन ने कौन से कदम उठाए ?
(अ) कठोर शासन स्थापित किया
(ब) नवीन राज्यों को विजय किया
(स) षड्यन्त्रकारी और विद्रोही सरदारों का दमन किया
(द) उपर्युक्त सभी कार्य किये।

6. अलाउद्दीन खलजी की उत्तर भारत की विजयों में प्रमुख सहयोगी था—
(अ) उलूग खाँ (ब) नुसरत खाँ
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

7. अलाउद्दीन के शासन काल में दक्षिण विजय का प्रमुख श्रेय जाता है—
(अ) मलिक काफूर को (ब) अलप खाँ को
(स) जफर खाँ को (द) नुसरत खाँ को।

8. अलाउद्दीन ने अपनी विजयों से प्रोत्साहित होकर उपाधि धारण की थी—
(अ) सुल्तान-ए-आजम की (ब) सिकन्दर द्वितीय की
(स) बादशाह सलामत की (द) इनमें से कोई नहीं।

9. खराज गुजर का अर्थ होता है—
(अ) मुश्किल से गुजारा करने वाला व्यक्ति (ब) कठिनाइयों से ग्रस्त व्यक्ति
(स) निम्न स्थिति वाला व्यक्ति (द) कर देने वाला व्यक्ति।

10. नासिरी अमीर-उल-मुमनिन का तात्पर्य है—
(अ) जनता का नाइब (ब) सामन्तों का नाइब
(स) खलीफा का नाइब (द) इनमें से कोई नहीं।

11. अलाउद्दीन का पूर्णतया विश्वास था—
(अ) निरंकुश राजतन्त्र में (ब) सीमित राजतन्त्र में
(स) प्रजातन्त्र में (द) उदार शासन तंत्र में।

12. अलाउद्दीन के सत्ता ग्रहण करते ही राज्य में कितने प्रमुख विद्रोह हुए ?
(अ) दो (ब) तीन
(स) चार (द) छः।

13. अलाउद्दीन ने विद्रोहों के दमन हेतु कितने अध्यादेश जारी किये ?
(अ) चार (ब) पाँच
(स) सात (द) आठ।

14. "भारतीय इतिहास में भी खुत और मुकदम ऐसी निर्धनता की स्थिति में नहीं पहुँचे" किस इतिहासकार ने लिखा है—
(अ) डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड (ब) डॉ. यू. एन. डे
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (द) डॉ. ए. बी. पाण्डेय।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. अलाउद्दीन ने कौन-सी भूमि लोगों से छीन ली थी ?
(अ) मिल्क में प्रदत्त (ब) इनाम व इद्रारात में प्रदत्त
(स) वक्फ में प्रदत्त (द) उपर्युक्त सभी।

16. हिन्दुओं की दयनीय स्थिति का सबसे भयंकर वर्णन किसने किया है ?
(अ) बरनी ने (ब) अफीफ ने
(स) इसामी ने (द) मिनहाज ने।

17. दीवान-ए-मुसतखराज से तात्पर्य किस विभाग से है ?
(अ) सैन्य विभाग से (ब) राजस्व विभाग से
(स) न्याय विभाग से (द) इनमें से कोई नहीं।

18. किस इतिहासकार ने अलाउद्दीन की राजस्व नीति की आलोचना करते हुए लिखा है, "यह नीति आत्मघाती थी क्योंकि उसने सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को मार डाला।"
(अ) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (ब) डॉ. ए. बी. पाण्डेय
(स) डॉ. ताराचन्द (द) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव।

19. सेना में सुधार के लिए अलाउद्दीन ने किस प्रथा को प्रारम्भ किया था ?
(अ) सैनिकों की हुलिया लिखने की (ब) घोड़ों को दागने की
(स) दोनों 'अ' व 'ब' (द) इनमें से कोई नहीं।

20. बाजार नीति का प्रमुख अधिकारी जाना जाता था—
(अ) दीवाने रियासत अथवा शहाने मण्डी के नाम से
(ब) कारकून के नाम से
(स) वरीद-ए-मण्डी के नाम से
(द) मुनहीयान्स के नाम से।

21. अलाउद्दीन खलजी की बाजार व्यवस्था का उद्देश्य था—
(अ) जनहित (ब) राजहित
(स) कारीगरों के हित (द) इनमें से कोई नहीं।

22. कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के काल में बाजार नियन्त्रण नीति की असफलता का कारण था—
(अ) कुतुबुद्दीन की साम्राज्य विस्तार की अनिच्छा
(ब) मंगोल आक्रमण का भय न होना
(स) सुल्तान का युद्धों की अपेक्षा स्त्रियों से लगाव
(द) उपर्युक्त सभी।

23. अलाउद्दीन के गुजरात पर आक्रमण के समय वहाँ का शासक था—
(अ) हम्मीर देव (ब) भीम द्वितीय
(स) कर्ण बघेला (द) इनमें से कोई नहीं।

24. रणथम्भौर के अभियान के दौरान अलाउद्दीन का सेनापति मारा गया था—
(अ) उलूग खाँ (ब) नुसरत खाँ
(स) अला खाँ (द) जफर खाँ।

25. अलाउद्दीन चित्तौड़ के किले पर अधिकार करने में सफल हुआ था—
(अ) 1303 ई. में (ब) 1304 ई. में
(स) 1305 ई. में (द) 1306 ई. में।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

26. पद्मिनी की कथा का वर्णन किया है—
(अ) मलिक मुहम्मद जायसी ने (ब) रसखान ने
(स) अब्दुर्रहमान ने (द) इनमें से किसी ने नहीं।

27. जालौर की विजय के लिए अलाउद्दीन ने किसके नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी थी ?
(अ) आईन-उल-मुल्क के (ब) मलिक काफूर के
(स) जफर खाँ के (द) कमालुद्दीन गुर्ग के।

28. तेलंगाना का शासक प्रताप रुद्रदेव किस वंश से सम्बन्धित था ?
(अ) यादव वंश से (ब) काकतीय वंश से
(स) होयसल वंश से (द) पाण्डेय वंश से।

29. अलाउद्दीन खलजी के दक्षिण आक्रमण का मुख्य उद्देश्य था—
(अ) साम्राज्य विस्तार (ब) धन लूटना
(स) हिन्दुओं को नीचा दिखाना (द) इनमें से कोई नहीं।

30. देवगिरि को जीतने के बाद अलाउद्दीन ने राजा रामचन्द्र देव के साथ व्यवहार किया—
(अ) मधुर (ब) कठोर
(स) सन्तोषजनक (द) इनमें से कोई नहीं।

31. दक्षिण के किस पराजित शासक ने मलिक काफूर को कोहिनूर हीरा भेंट किया था ?
(अ) राजा रामचन्द्र देव ने (ब) वीर बल्लाल ने
(स) प्रताप रुद्रदेव ने (द) सुन्दर पाण्डेय ने।

32. पाण्डेय राज्य पर अभियान के दौरान मलिक काफूर ने लूटा था—
(अ) लिंग महादेव मन्दिर को (ब) रामेश्वरम् के मन्दिर को
(स) श्रीरंगम और कुण्डूर मन्दिर को (द) उपर्युक्त सभी को।

33. चंगेज की मृत्यु के बाद ट्रान्स-आक्सियाना के शासक का नाम था—
(अ) फतेह खाँ (ब) दवा खाँ
(स) उलुग खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।

34. मंगोलों को पराजित करने में अलाउद्दीन के किस सेनानायक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की ?
(अ) जफर खाँ (ब) अलप खाँ
(स) नुसरत खाँ (द) उलुग खाँ।

35. तार्गी के आक्रमण के समय अलाउद्दीन ने किस किले में शरण ली थी ?
(अ) चित्तौड़ के किले में (ब) रणथम्भौर के किले में
(स) सीरी के किले में (द) इनमें से कोई नहीं।

36. मंगोलों ने अलाउद्दीन पर अन्तिम आक्रमण किया था—
(अ) 1303 ई. में (ब) 1304 ई. में
(स) 1305 ई. में (द) 1306 ई. में।

37. अलाउद्दीन खलजी के काल की सबसे सुन्दर इमारत थी—
(अ) हजार खम्भा महल (ब) अलाई दरवाजा
(स) सीरी का किला (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (द), 6. (स), 7. (अ), 8. (ब), 9. (द), 10. (स), 11. (अ), 12. (स), 13. (अ), 14. (ब), 15. (द), 16. (अ), 17. (ब), 18. (स), 19. (स), 20. (अ), 21. (ब), 22. (द), 23. (स), 24. (ब), 25. (अ), 26. (अ), 27. (द), 28. (ब), 29. (ब), 30. (अ), 31. (स), 32. (द), 33. (ब), 34. (अ), 35. (स), 36. (द), 37. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10

कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और खलजी-वंश का पतन

[1]

कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी (1316-1320 ई.)

मलिक काफूर के प्रभाव के कारण अपनी मृत्यु के अवसर पर अलाउद्दीन ने अपने बड़े पुत्र खिज्रखाँ को राज्याधिकार से वंचित करके अपने पाँच या छः वर्ष के छोटे पुत्र शिहाबुद्दीन उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। मलिक काफूर ने उस अल्पायु बच्चे को सिंहासन पर बैठा दिया, स्वयं उसका संरक्षक बन गया और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति हस्तगत कर ली। उसने शिहाबुद्दीन की माँ से विवाह कर लिया जो देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव की पुत्री थी। परन्तु उसने शीघ्र ही उसकी (अपनी नव-विवाहित पत्नी की) धन-सम्पत्ति को छीनकर उसे कारागार में डाल दिया। उसने खिज्रखाँ और शादीखाँ को ग्वालियर के किले में कैद करके अन्धा कर दिया। अलाउद्दीन के अन्य पुत्र भी कारागार में डाल दिये गये। सम्भवतया, काफूर का लक्ष्य अलाउद्दीन के सभी पुत्रों को समाप्त करके शीघ्र ही सिंहासन को हस्तगत कर लेना था।

परन्तु काफूर 35 दिन से अधिक शासन-सत्ता का उपभोग न कर सका। उसके व्यवहार और शक्ति के दुरुपयोग से अधिकांश सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये। मलिक काफूर खलजी-वंश के प्रति वफादार सरदारों को भी समाप्त करना चाहता था। इससे वे सरदार अपनी सुरक्षा के प्रति चिन्तित हो उठे। सरदारों की तरफ से असावधान काफूर ने कुछ सैनिकों को अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र मुबारकखाँ को अन्धा करने के लिए भेजा। मुबारक ने अपना हीरों का हार उन्हें भेंट में दिया और साथ ही उन्हें खलजी-वंश के प्रति वफादार रहने के दायित्व की याद दिलायी। धन के लालच और भावना से प्रेरित होकर वे पैदल सैनिक और उनके नेता काफूर के पास पहुँचे और उसका कत्ल कर दिया। मुबारकखाँ को कारागार से छुड़ाकर उसे शिहाबुद्दीन का संरक्षक बनाया गया। दो माह में सरदारों को अपने पक्ष में करके मुबारकखाँ ने अपनी स्थिति दृढ़ कर ली, शिहाबुद्दीन को अन्धा करके ग्वालियर के किले में कैद कर दिया और 19 अप्रैल, 1316 ई. को कुतुबुद्दीन मुबारक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बन गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन सैनिकों और उनके सरदारों ने काफूर का कत्ल किया था उन्होंने राज्य में हस्तक्षेप करना चाहा और उच्च पदों की लालसा प्रकट की। इस कारण उनके नेताओं का वध कर दिया गया और उन सैनिकों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँट कर सूबों में भेज दिया गया। इस घटना के अतिरिक्त मुबारक का शासन उदारता से आरम्भ हुआ। जिस दिन वह सिंहासन पर बैठा, उसी दिन करीब 17 या 18 हजार कैदी कारागार से मुक्त कर दिये गये और धीरे-धीरे अलाउद्दीन के समय के सभी कठोर कानून समाप्त कर दिये गये। जिन व्यक्तियों को राजधानी से बाहर भेज दिया गया था, उन्हें वापस आने की आज्ञा मिल गयी, सैनिकों को छः माह का अग्रिम वेतन दिया गया, सरदारों व विद्वानों के वेतन एवं जागीरों में वृद्धि की गयी, अनेक व्यक्तियों को उनसे छीनी गयी जागीरें वापस कर दी गयीं, कठोर दण्ड-व्यवस्था एवं कर समाप्त कर दिये गये, शासन की कठोरता और गुप्तचर-विभाग का कठोर अनुशासन समाप्त कर दिया गया और यद्यपि शराब के कानूनों को समाप्त नहीं किया गया परन्तु उनका व्यावहारिक प्रयोग समाप्त हो गया। इस प्रकार अलाउद्दीन के समय के सभी कठोर कानून समाप्त हो गये और प्रजा एवं सरदारों ने चैन की साँस ली। परन्तु इन कानूनों की समाप्ति के दुष्परिणाम भी निकले। सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये, व्यापारियों ने अधिकतम लाभ कमाना आरम्भ कर दिया, शासन में शिथिलता आ गयी और क्योंकि सुल्तान स्वयं ऐशपसन्द था, अतः सरदार और नागरिक भी ऐशो-आराम की ओर प्रवृत्त हुए।

गुजरात के विद्रोह की समाप्ति

अलाउद्दीन के अन्तिम समय में अलपखाँ के कत्ल के पश्चात् उसके वफादार सैनिकों और सरदारों ने दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। मलिक काफूर ने आइन-उल-मुल्क को उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा था परन्तु काफूर की शीघ्र हत्या हो जाने के कारण आइन-उल-मुल्क राजपूताना में रुक गया। मुबारक ने गाजी मलिक तुगलक को उसकी सहायता के लिए भेजा और गुजरात के विद्रोह को समाप्त करने की आज्ञा दी। आइन-उल-मुल्क ने गुजराती सैनिकों और सरदारों में फूट डलवा दी और अन्त में एक युद्ध में उन्हें परास्त करके गुजरात पर अधिकार कर लिया। मुबारक ने अपने श्वसुर जफरखाँ (मलिक दीनार) को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया।

देवगिरि की पुनर्विजय

मलिक काफूर की मृत्यु होते ही देवगिरि राज्य दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गया और रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। 1318 ई. में मुबारक स्वयं एक बड़ी सेना लेकर देवगिरि गया। हरपालदेव भाग खड़ा हुआ परन्तु छुटपुट युद्धों के पश्चात् पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया। देवगिरि में एक सूबेदार को नियुक्त करके तथा खुसरव को तेलंगाना और सुदूर-दक्षिण तक आक्रमण करने की आज्ञा देकर सुल्तान दिल्ली वापस लौटा।

षड्यन्त्रों एवं विद्रोहों का दमन

जिस समय मुबारक दिल्ली वापस लौट रहा था उस समय उसके चचेरे भाई असदउद्दीन ने उसे कत्ल करने का प्रयत्न किया। इस षड्यन्त्र में दिल्ली के कुछ सरदार भी सम्मिलित थे। यह निश्चित नहीं है कि षड्यन्त्रकारियों का उद्देश्य असदउद्दीन अथवा मुबारक द्वारा दिल्ली की रक्षा हेतु नियत संरक्षक वफा मलिक अथवा खिज्रखाँ के दसवर्षीय पुत्र को सुल्तान बनाना था। परन्तु इस षड्यन्त्र का पता लग गया और मुबारक ने असदउद्दीन तथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सहयोगी षड्यन्त्रकारियों को पकड़कर कत्ल करा दिया। मार्ग में ही उसने असदउद्दीन के सभी सम्बन्धियों तथा अपने भाई खिज्रखाँ, शादीखाँ और शिहाबुद्दीन को भी कत्ल करने के आदेश दे दिये। वे सभी मारे गये और दिल्ली पहुँचकर मुबारक ने वफा मलिक को तथा गुजरात से जफरखाँ को बुलाकर उन्हें भी कत्ल करा दिया।

जफरखाँ के गुजरात से चले आने के पश्चात् हिसामउद्दीन को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। उसने विद्रोह किया परन्तु गुजरात के सरदारों ने उस विद्रोह को समाप्त करके हिसामउद्दीन को पकड़कर दिल्ली भेज दिया। वह मुबारक के कृपापात्र खुसरवखाँ का भाई था, इस कारण उसे माफ कर दिया गया।

इसी समय देवगिरि के सूबेदार ने विद्रोह किया और शम्सुद्दीन के नाम से स्वतन्त्र सुल्तान बन गया। परन्तु दिल्ली से भेजी गयी एक सेना ने विद्रोह को दबा दिया और शम्सुद्दीन को दिल्ली भेज दिया गया जहाँ उसके नाक-कान काट लिये गये। साथ ही उसके समर्थकों को भी कठोर दण्ड दिये गये।

इसी बीच खुसरव ने तेलंगाना के प्रतापरुद्रदेव को परास्त करके दिल्ली-सल्तनत की अधीनता मानने और धन देने के लिए बाध्य किया। उसके पश्चात् वह सुदूर-दक्षिण में मलाबार प्रदेश में गया। वहाँ उसे कोई बड़ा युद्ध तो नहीं करना पड़ा परन्तु उसे सन्धि करने वाला कोई शासक भी प्राप्त नहीं हुआ। खुसरव को दक्षिण-भारत में अपार सम्पत्ति मिली और वह मलाबार में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के सपने देखने लगा। इसकी सूचना कुछ वफादार सरदारों ने सुल्तान को दी और सुल्तान ने खुसरव को दिल्ली बुला लिया। परन्तु सुल्तान खुसरव से इतना अधिक प्रभावित था कि उसने उसे दण्ड देने के बजाय उन सरदारों को दण्ड दिया जिन्होंने खुसरव की लालसाओं की सूचना सुल्तान को दी थी।

मुबारक का कत्ल

प्रारम्भिक सफलता और मुख्यतया देवगिरि के अभियान ने मुबारक की बुद्धि पलट दी और असदउद्दीन के षड्यन्त्र ने उसे शंकालु बना दिया। वह शासन के प्रति उदासीन और व्यवहार में क्रूर हो गया। उसने सन्देह में अपने भाइयों और कुछ योग्य सरदारों का वध करा दिया तथा खुसरव के प्रभाव में आकर कुछ वफादार सरदारों को दण्डित किया। वह सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल भोग-विलास में लिप्त हो गया। उसने अपने भाई खिज्रखाँ की विधवा पत्नी देवलदेवी से विवाह कर लिया। उसे नग्न स्त्री-पुरुषों की संगत पसन्द थी। वह अत्यधिक शराब पीने लगा तथा स्त्रियों के वस्त्र पहनकर दरबार में आने लगा। बरनी के कथनानुसार, "वह कभी-कभी नग्न होकर अपने दरबारियों के बीच दौड़ा करता था।" दरबार में स्त्रियों, वेश्याओं और चाटुकारों का प्रभाव हो गया तथा प्रतिष्ठित सरदारों का सम्मान कम होने लगा। ऐसी स्थिति में भी भयवश कोई सरदार सुल्तान को सलाह तक नहीं दे सका। परन्तु मुबारक की सबसे बड़ी भूल खुसरवखाँ के प्रति उसका मोह तथा उस पर अत्यधिक विश्वास करना था। उसने उसे वजीर का पद दिया। खुसरव ने सुल्तान से अपने गुजराती सैनिकों की सेना तैयार करने की आज्ञा प्राप्त कर ली जिसकी संख्या 40,000 हो गयी। उसने अपने सम्बन्धियों और मित्रों को महल के निकट रहने तथा रात्रि में उसके लिए महल में प्रवेश करने की आज्ञा भी प्राप्त कर ली। अपने एक अध्यापक काजी जियाउद्दीन के द्वारा स्पष्ट रूप से समझाये जाने पर भी मुबारक ने खुसरव पर सन्देह नहीं किया वरन् काजी का ही अपमान किया। 15 अप्रैल, 1320 ई. की रात्रि को खुसरव के सैनिकों ने महल में अचानक प्रवेश करके सुल्तान के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंगरक्षकों को कत्ल कर दिया। सुल्तान प्राण-रक्षा हेतु जनानखाने की ओर भागा। खुसरव ने उसके बाल पकड़ लिये परन्तु सुल्तान उसे गिराकर उसकी छाती पर बैठ गया। तभी वहाँ हत्यारे पहुँच गये और उन्होंने सुल्तान को कत्ल कर दिया।

मुबारक अपने योग्य पिता का अयोग्य पुत्र था। विलासप्रियता और दम्भ ने उसकी बुद्धि और विवेक को नष्ट कर दिया था। वह अपनी मूर्खता के कारण स्वयं और अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। अपने पिता से उसने एक शक्तिशाली, विस्तृत और समृद्धशाली साम्राज्य प्राप्त किया था परन्तु उसने बहुत शीघ्र ही उसे खो दिया। उसने स्वयं को खलीफा घोषित किया था और 'अल-इमाम', 'उल-इमाम', 'खलाफत उल-लह' आदि उपाधियाँ ग्रहण की थीं जिनके वह सर्वथा अयोग्य था। **मुबारक न तो योग्य शासक था और न ही योग्य व्यक्ति। उसे अपने कार्यों के अनुकूल मृत्यु प्राप्त हुई।**

[2]

नासिरुद्दीन खुसरवशाह (15 अप्रैल—7 सितम्बर, 1320 ई.)

खुसरवशाह हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमान था और उसे गुजराती हिन्दू सैनिकों का समर्थन प्राप्त था। यही उसका सबसे बड़ा दोष बना। यद्यपि वह बचपन में ही मुसलमान बन गया था, उसने दक्षिण के युद्धों में इस्लामी जोश का परिचय दिया था, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया था और 'पैगम्बर का सेनापति' की उपाधि ग्रहण की थी परन्तु फिर भी उसके शत्रुओं ने उसके विरुद्ध 'इस्लाम का शत्रु' और 'इस्लाम खतरे में है' के नारे लगाये।

सुल्तान बनने के पश्चात् खुसरव ने उन सभी सरदारों का वध करा दिया जो खलजी-वंश के प्रति अत्यधिक वफादार थे। उसने अपने सिंहासन की सुरक्षा के लिए अलाउद्दीन के बचे हुए पुत्रों का भी वध करा दिया और मुबारकशाह की विधवा (सम्भवतया खिज्रखाँ की विधवा देवलदेवी) से विवाह कर लिया। उसने अन्य सभी सरदारों को सम्मान और पद देकर अपने पक्ष में कर लिया तथा निजामुद्दीन औलिया जैसे धार्मिक व्यक्तियों का नैतिक समर्थन भी प्राप्त कर लिया।

परन्तु कुछ सरदार उससे असन्तुष्ट रहे। यह वे सरदार थे जो तुर्कों की जातीय श्रेष्ठता में विश्वास करते थे तथा जिन्हें एक भारतीय मुसलमान का सुल्तान बनना सहन न था। गाजी मलिक तुगलक ने इसका लाभ उठाना चाहा। वह दिपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक था। वह स्वयं महत्वाकांक्षी था और उसका पुत्र जूनाखाँ दिल्ली के तुर्की-सरदारों में प्रभावशाली था। गाजी मलिक ने पहले आइन-उल-मुल्क तथा सिबिस्तान, मुल्तान और समाना के सूबेदारों को विद्रोह के लिए प्रेरित किया। परन्तु जब उनमें से कोई भी उसके साथ न हुआ तब उसने निम्न अधिकारियों और उन प्रदेशों की जनता को इस्लाम के नाम पर विद्रोह के लिए उकसाया। मुस्लिम जनता और सीमा-प्रान्त के निम्न सैनिक अधिकारी उसके साथ हो गये तथा उसका पुत्र जूनाखाँ चुपके से भागकर उसके साथ मिल गया। इसके पश्चात् गाजी मलिक तुगलक दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में समाना के सूबेदार मलिक यकलाकी ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हो गया। सिरसा के निकट खुसरवशाह के भाई हिसामुद्दीन ने उसका मुकाबला किया, परन्तु वह भी परास्त हुआ और भाग खड़ा हुआ। दिल्ली के बाहर इन्द्रप्रस्थ के निकट स्वयं खुसरवशाह ने उसका मुकाबला किया। उस अवसर पर आइन-उल-मुल्क अपनी सेना को लेकर मालवा की तरफ चला गया। युद्ध में खुसरवशाह ने साहस और बहादुरी का परिचय दिया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिलपट के निकट उसे पकड़ लिया गया तथा वहीं उसका वध कर दिया गया। 7 सितम्बर को गाजी मलिक ने अलाउद्दीन के हजार स्तम्भों वाले महल में प्रवेश किया और बहाने के तौर पर यह पता लगाया कि खलजी-वंश का कोई उत्तराधिकारी तो वहाँ जीवित न था। 8 सितम्बर, 1320 ई. को वह गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

इस प्रकार खुसरवशाह के 4-1/2 माह के शासन का अन्त हुआ। खुसरव भ्रष्ट था, अपने मालिक के प्रति उसने बेवफाई की थी तथा उसने उसे और उसके वंश को नष्ट किया था। एक योग्य शासक के गुणों का उसमें पूर्ण अभाव था। परन्तु इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने का आरोप उस पर नहीं लगाया जा सकता। वह असफल हुआ परन्तु उसकी असफलता का कारण उसका इस्लाम के विरुद्ध कार्य करना न होकर गाजी मलिक तुगलक की महत्वाकांक्षा, उसका श्रेष्ठ तुर्क-नस्ल का दावा और उसकी सैन्य-शक्ति थी।

[3]

खलजी वंश के पतन के कारण

जलालुद्दीन खलजी-वंश के राज्य का संस्थापक था। अलाउद्दीन खलजी ने उस वंश के राज्य का विस्तार किया, उसकी सैनिक-शक्ति को प्रबल बनाया, भयंकर मंगोल-आक्रमणों से उसकी सुरक्षा की तथा सैनिक और असैनिक शासन में विविध परिवर्तन किये। यदि अलाउद्दीन की उत्तर और दक्षिण-भारत की विजयें अद्वितीय थीं तो उसकी राजस्व-व्यवस्था, मुख्यतया लगान-व्यवस्था, और बाजार-व्यवस्था प्रशासकीय क्षेत्र में नवान अन्वेषण ही नहीं अपितु आश्चर्यजनक रूप से सफल थीं। अलाउद्दीन प्रत्येक दृष्टि से सफल शासक ही सिद्ध नहीं हुआ था अपितु उसने दिल्ली-सल्तनत को शक्ति और निरंकुशता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। इस कारण उसकी मृत्यु के पश्चात् चार वर्षों में ही खलजी-वंश का पतन होना भी एक अस्वाभाविक घटना रही। विभिन्न व्यक्तियों और परिस्थितियों ने खलजी-वंश के पतन में भाग लिया। उनमें से कुछेक इस प्रकार हैं :

1. उत्तराधिकार-नियम का अभाव—तुर्क-सुल्तानों में उत्तराधिकार का कोई मान्य नियम नहीं था। इस कारण सिंहासन पर अधिकार का निर्णय सर्वदा तलवार की शक्ति के आधार पर हुआ। सम्पूर्ण दिल्ली-सल्तनत के समय में राजवंशों में परिवर्तन इसी आधार पर होते रहे। स्वयं जलालुद्दीन खलजी और अलाउद्दीन खलजी ने सिंहासन को इसी आधार पर प्राप्त किया था। मलिक काफूर, खुसरवशाह और गियासुद्दीन तुगलक ने भी सिंहासन को प्राप्त करने के लिए तलवार का ही सहारा लिया। जो परास्त हो गया, उसका सिंहासन पर अधिकार नहीं रहा, और जो विजयी हुआ उसने सिंहासन प्राप्त किया। अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए मलिक काफूर, मुबारकशाह, खुसरवशाह और गियासुद्दीन तुगलक ने संघर्ष किया जिसमें अन्ततः गियासुद्दीन तुगलक विजयी हुआ और उसने एक नवीन राजवंश के शासन को दिल्ली में स्थापित किया।

2. खलजी-सुल्तानों द्वारा अपने शासन के पक्ष में विस्तृत आधार का निर्माण न करना—खलजी सुल्तानों में से कोई भी लोकप्रिय नहीं हुआ। प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना तो उनका लक्ष्य था ही नहीं और सम्भवतया उससे विशेष लाभ भी प्राप्त नहीं होता। परन्तु जलालुद्दीन खलजी के अतिरिक्त किसी अन्य सुल्तान ने अपने सरदारों की वफादारी तक प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। जलालुद्दीन ने अपनी अत्यधिक उदारता से दुर्बल शासक होने का परिचय दिया, अलाउद्दीन खलजी ने सरदारों की शक्ति का विनाश करके रखा और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने अपने विलासपूर्ण जीवन से सरदारों में अपने सम्मान को ही खो दिया। एक अयोग्य शासक की उपस्थिति में यदि कोई राजवंश की सुरक्षा कर सकता था तो वह हो सकता था राजवंश के प्रति वफादार सरदारों का दल। परन्तु जहाँ जलालुद्दीन का सरदारों की वफादारी प्राप्त करने का प्रयत्न असफल हुआ, अलाउद्दीन खलजी और मुबारक खलजी ने ऐसा प्रयत्न ही नहीं किया। इसी कारण मलिक काफूर सरलता से गद्दी पर अधिकार कर सका और इसी कारण खुसरव मुबारक खलजी की हत्या करने में सफल हुआ जिसके कारण खलजी-वंश का शासन समाप्त हो गया।

3. खलजी-सुल्तानों का उत्तरदायित्व—जलालुद्दीन खलजी सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित रखने में असफल हुआ था। अलाउद्दीन ने शासन में आतंक और निरंकुशता की नीति को अपनाया। अलाउद्दीन की सभी सैनिक और असैनिक सफलताओं का मूल कारण उसकी सैनिक-शक्ति थी। उसकी सरदारों के विद्रोहों को समाप्त करने की नीति, उसकी राजस्व-व्यवस्था, उसकी बाजार-व्यवस्था आदि उसकी शक्ति के भय और आतंक के कारण सफल थे। उसकी नीतियों में स्थायित्व के गुणों का अभाव था। इस कारण अलाउद्दीन की मृत्यु होते ही शासन का सम्पूर्ण ढाँचा तहस-नहस हो गया। इसके अतिरिक्त मुबारक खलजी एक अयोग्य और विलासप्रिय शासक सिद्ध हुआ। मध्य-युग में शासक की योग्यता ही उसके और उसके राजवंश के शासन को सुरक्षित रख सकती थी। मुबारक खलजी की अयोग्यता, निस्सन्देह, खलजी-वंश के पतन का सबसे बड़ा कारण रही। इस प्रकार अपने-अपने तरीके से प्रत्येक खलजी सुल्तान अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।

4. सैनिक-शक्ति का पतन—अलाउद्दीन खलजी ने केन्द्र पर एक स्थायी और शक्तिशाली सेना का निर्माण किया था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके किसी भी उत्तराधिकारी ने सेना की व्यवस्था का ध्यान नहीं रखा अथवा जानबूझकर उसकी शक्ति को दुर्बल हो जाने दिया जिससे वह सिंहासन के लिए होने वाले संघर्षों में हस्तक्षेप करने के योग्य ही न रहे। कारण कुछ भी रहा हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन की मृत्यु के साथ ही उसकी सेना की शक्ति भी नष्ट हो गयी अन्यथा गियासुद्दीन तुगलक सरलता से खुसरवशाह का विरोध करने का साहस न करता और यदि करता भी तो सफल न हो पाता क्योंकि खुसरवशाह की अधीनता में दिल्ली की सेना थी।

5. गियासुद्दीन तुगलक की सैनिक योग्यता—गाजी तुगलक खुसरवशाह को परास्त करने के पश्चात् गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बना जो, निस्सन्देह, एक योग्य सैनिक और सेनापति था। उसकी सैनिक प्रतिभा के कारण ही उसे उत्तर-पश्चिम सीमा का रक्षक नियुक्त किया गया था। मंगोल-आक्रमणों की आशंकाओं के कारण गुलाम-वंश के शासकों के समय से ही यह परम्परा थी कि उत्तर-पश्चिम सीमा का रक्षक राज्य के एक योग्य सेनापति को ही नियुक्त किया जाता था। गाजी तुगलक ने सुल्तान बनने के पश्चात् सैनिक-संगठन को दृढ़ किया और इस कार्य के लिए अलाउद्दीन की नीतियों को ही अपनाया। उसके समय में दिल्ली-सुल्तान की सेना पुनः अजेय बन गयी जिसने दिल्ली-सल्तनत का विस्तार भी किया। इस कारण युद्ध में खुसरवशाह का मुकाबला राज्य के एक योग्य सेनापति से हुआ था जिसके कारण साहस और बहादुरी प्रदर्शित करते हुए भी उसकी पराजय हुई तथा गाजी तुगलक दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर सका।

इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों और व्यक्तियों ने ख़लजी-वंश के पतन में भाग लिया। इसमें मूल दोष खलजी शासकों और उनमें भी मुबारक खलजी का रहा। खलजी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासकों ने रक्तपात के द्वारा ही दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया था और अन्त में, रक्तपात के द्वारा ही उनके वंश का पतन और विनाश हुआ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. खलजी-वंश के पतन की परिस्थितियों और उनके कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी के शासनकाल पर दृष्टिपात करते हुए खलजी वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मलिक काफूर के लगभग 35 दिन के शासनकाल का वर्णन कीजिए।
2. कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी के शासन की घटनाओं पर प्रकाश डालिए।
3. मुबारकशाह की हत्या की घटना का विवरण दीजिए।
4. नासिरुद्दीन खुसरवशाह के शासनकाल का वर्णन कीजिए।
5. खलजी वंश के पतन के चार महत्त्वपूर्ण कारण लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसका कौन-सा पुत्र गद्दी पर बैठा था ?
   (अ) खिज्र खाँ (ब) शिहाबुद्दीन
   (स) कुतुबुद्दीन मुबारकशाह (द) इनमें से कोई नहीं।
2. कुतुबुद्दीन मुबारकशाह दिल्ली का सुल्तान बना था—
   (अ) 1314 ई. में (ब) 1315 ई. में
   (स) 1316 ई. में (द) 1318 ई. में।
3. मलिक काफूर ने दिल्ली के सुल्तान के रूप में शासन किया था—
   (अ) 15 दिन (ब) 25 दिन
   (स) 20 दिन (द) 35 दिन।
4. सत्तारूढ़ होते ही मुबारकशाह ने उदारता से कार्य करते हुए क्या किया था ?
   (अ) बन्दियों को मुक्त किया
   (ब) अलाउद्दीन खलजी के कठोर कानून समाप्त कर दिये
   (स) सरदारों, विद्वानों की जागीरों में वृद्धि की
   (द) उपर्युक्त सभी।
5. गुजरात के विद्रोह के दमन के बाद सूबेदार का पद दिया गया था—
   (अ) जफर खाँ को (ब) नुसरत खाँ को
   (स) उलूग खाँ को (द) इनमें से किसी को नहीं।
6. मलिक काफूर की मृत्यु के बाद किसने देवगिरि में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी ?
   (अ) सिंहनदेव ने (ब) हरपाल देव ने
   (स) रामपाल देव ने (द) राजपाल देव ने।
7. खुसरव की विद्रोही प्रवृत्ति की सूचना देने वालों के साथ मुबारकशाह ने व्यवहार किया—
   (अ) कठोर (ब) विनम्र
   (स) उदार (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. मुबारकशाह के सन्दर्भ में किसने लिखा है, "वह कभी-कभी नग्न होकर अपने दरबारियों के बीच में दौड़ा करता था।"
(अ) मिनहाज ने (ब) अफीफ ने
(स) बरनी ने (द) इसामी ने।

9. सुल्तान मुबारक का कत्ल किया था—
(अ) झरिया ने (ब) खुसरवशाह ने
(स) खुसरव के सैनिकों ने (द) इनमें से कोई नहीं।

10. मुबारकशाह ने अपने आपको खलीफा घोषित करते हुए कौन-सी उपाधि धारण की थी ?
(अ) अल-इमाम (ब) उल-इजाय
(स) खलीफत उल-लह (द) उपर्युक्त सभी।

11. खुसरवशाह था—
(अ) हिन्दू (ब) तुर्क
(स) धर्म परिवर्तित मुसलमान (द) इनमें से कोई नहीं।

12. सुल्तान बनने पर खुसरवशाह ने विवाह कर लिया था—
(अ) देवल देवी से (ब) कमला देवी से
(स) दोनों से (द) इनमें से किसी से नहीं।

13. गाजी मलिक गद्दी पर बैठने से पूर्व किस पद पर कार्यरत था ?
(अ) दिपालपुर का सूबेदार (ब) सीमा रक्षक
(स) दोनों 'अ' व 'स' (द) इनमें से कोई नहीं।

14. गाजी मलिक दिल्ली की गद्दी पर आसीन हुआ था—
(अ) 1318 ई. में (ब) 1320 ई. में
(स) 1321 ई. में (द) 1322 ई. में।

15. खलजी वंश के पतन का प्रमुख कारण था—
(अ) उत्तराधिकार के नियम का अभाव (ब) दुर्बल सेना
(स) कमजोर उत्तराधिकारी (द) उपर्युक्त सभी।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (द), 4. (द), 5. (अ), 6. (अ), 7. (अ), 8. (स), 9. (ब), 10. (द), 11. (स), 12. (अ), 13. (स), 14. (ब), 15. (अ)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11

गियासुद्दीन तुगलक (1320-1325 ई.)

गियासुद्दीन तुगलक ने एक नवीन राजवंश की नींव डाली परन्तु यह कहना भूल है कि 'तुगलक' किसी नस्ल अथवा वंश का नाम था। गियासुद्दीन का नाम गाजी तुगलक अथवा गाजीबेग तुगलक था। इस कारण इतिहास में उसके उत्तराधिकारियों को भी 'तुगलक' पुकारा जाने लगा और उसका वंश तुगलक-वंश कहलाया अन्यथा उसके पुत्र मुहम्मद ने अपने को मुहम्मद-बिन तुगलक (तुगलक का पुत्र) पुकारा और उसके किसी अन्य उत्तराधिकारी ने अपने नाम के साथ 'तुगलक' शब्द का प्रयोग नहीं किया। इब्नबतूता ने तुगलकों को तुर्कों की 'करावा' शाखा का बताया। मलिक ने उनको मिश्रित रक्त का बताया। अमीर खुसरव ने लिखा है कि स्वयं सुल्तान गियासुद्दीन ने अपने बारे में कहा था कि वह एक साधारण वंश का व्यक्ति है। इस कारण फरिश्ता की धारणा सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। फरिश्ता के अनुसार उसका पिता मलिक तुगलक बलबन का एक तुर्की गुलाम था जिसने एक हिन्दू जाट स्त्री से विवाह किया था। फरिश्ता के इस कथन की पुष्टि 'खुलासात-उत-तवारीख' नामक ग्रन्थ में भी की गयी है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव सदृश आधुनिक इतिहासकारों ने इसी मत को स्वीकार किया है। उनका पुत्र गाजी तुगलक था जो गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। गाजी तुगलक ने अपने पिता की भाँति दिल्ली के सुल्तानों की सेवा की थी और जलालुद्दीन खलजी के समय में वह सैनिक सेवा में था। अपनी योग्यता से वह प्रगति करता गया और 1305 ई. में अलाउद्दीन ने उसे दिपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक नियुक्त किया था। उसने मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की, काबुल तथा गजनी तक आक्रमण किये और मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्रों से राजस्व वसूल किया। खुसरवशाह के समय में वह अपने उसी पद पर रहा। उसके पश्चात् खुसरवशाह को समाप्त करके उसने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा 8 सितम्बर, 1320 ई. को सुल्तान बन गया।

कठिनाइयाँ

सुल्तान मुबारक खलजी और खुसरवशाह ने दिल्ली-सल्तनत की व्यवस्था और सम्मान को नष्ट कर दिया था। इस कारण सिंहासन पर बैठने के पश्चात् गियासुद्दीन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अलाउद्दीन के द्वारा स्थापित की गयी शासन-व्यवस्था नष्ट हो गयी थी और उसके बाद किसी नवीन व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। सरदारों और दरबारियों में धन-लोलुपता, विलासिता और अकर्मण्यता आ गयी थी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिकों में सुल्तान का सम्मान कम हो गया था तथा मुबारक और खुसरव के द्वारा सरदारों एवं नागरिकों में अत्यधिक धन का वितरण करने से शाही खजाना खाली हो गया था। परन्तु इससे भी अधिक बड़ी और विकट समस्या सूबेदारों एवं अधीनस्थ शासकों को दिल्ली की अधीनता में रखने की थी। सिन्ध में अमर ने थट्टा और निचले सिन्ध पर अधिकार करके अपने को प्रायः स्वतन्त्र कर लिया था, गुजरात में आइन-उल-मुल्क की वापसी के पश्चात् से ही अव्यवस्था थी। राजस्थान में चित्तौड़, नागौर और जालौर पर राजपूतों के आक्रमण बढ़ गये थे, बंगाल पहले ही स्वतन्त्र था, दक्षिण भारत में तेलंगाना और होयसल राज्य के शासक स्वतन्त्रता से व्यवहार कर रहे थे तथा सुदूर-दक्षिण में तुर्की प्रभाव को नष्ट कर दिया गया था। इस प्रकार गियासुद्दीन तुगलक के सम्मुख आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की समस्याएँ थीं।

आन्तरिक व्यवस्था

गियासुद्दीन ने नस्ल के आधार पर तुर्की अमीरों का समर्थन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु उसने खुसरव के समर्थकों को भी उनके पदों पर रहने दिया जिससे वे सन्तुष्ट रहे। उसने अलाउद्दीन के वंश की लड़कियों के विवाह तो कराये परन्तु कट्टर खलजी समर्थकों से उसने उनकी जागीरें छीन लीं और उन्हें उनके पद से पृथक कर दिया। अमीरों को पद देने में वंशानुगत के साथ-साथ योग्यता को भी आधार बनाया गया ताकि इजारेदारी को समाप्त किया जा सके। अलाउद्दीन के समय में जिन व्यक्तियों से उनकी जागीरें छीन ली गयी थीं, वे उन्हें वापस कर दी गयीं। इस प्रकार उसने उदारता और कठोरता का समन्वित प्रयोग करके सभी सरदारों और नागरिकों को सन्तुष्ट किया तथा किसी ने उसके सुल्तान बनने का विरोध नहीं किया। गियासुद्दीन ने खुसरव द्वारा अनावश्यक रूप से वितरित किये गये धन को वापस लेने का प्रयत्न किया। इस कार्य में वह पर्याप्त सफल रहा परन्तु वह सम्पूर्ण धन को वापस न ले सका। शेख निजामुद्दीन औलिया ने तो उसकी धन की माँग का उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं समझी। एक अन्य धारणा के अनुसार उसने सुल्तान से कहलवा दिया कि "उसने उस धन को बाँट दिया है और अब उसके पास वापस करने के लिए धन नहीं है।"

राज्य की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए गियासुद्दीन ने लगान-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। किसानों की स्थिति में सुधार करना और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि करना उसके दो प्रमुख उद्देश्य थे। अलाउद्दीन खलजी द्वारा लागू की गयी भूमि लगान तथा मण्डी सम्बन्धी नीति के पक्ष में वह नहीं था। उसने 'मुकद्दम' तथा 'खूतों' को उनके पुराने अधिकार लौटा दिये। अलाउद्दीन की कठोर नीति के विपरीत गियासुद्दीन ने उदारता की नीति अपनायी जिसे बरनी ने 'रस्मोनियम' अथवा मध्यपंथी नीति कहा है। अलाउद्दीन की व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। उसे पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। सम्भवतया, किसानों से पहले की तरह पैदावार का 1/5 से 1/3 भाग लगान के रूप में वसूल किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त उसने आदेश दिये कि एक वर्ष में एक इक्ता (सूबा) के राजस्व में 1/11 से 1/10% से अधिक वृद्धि नहीं की जानी चाहिए। अकाल की स्थिति में आवश्यकतानुसार भूमि-कर को माफ करने की व्यवस्था की गयी थी। मोरलैण्ड के अनुसार, गियासुद्दीन के सुधारों के दृष्टिकोण का पता इस बात से लगता है कि फसल के खराब हो जाने पर या नवीन भूमि पर कृषि-उत्पादन ठीक प्रकार न होने की स्थिति में किसानों को लगान से मुक्त कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, किसानों को उसी भूमि पर लगान देना होता था जिस पर उन्होंने कृषि की थी, चाहे उसके अधिकार में अन्य भूमि भी हो। पुराने हिन्दू लगान अधिकारियों के विशेषाधिकार उन्हें पुनः दे दिये गये यद्यपि सरकारी कर्मचारियों को यह आदेश भी दिये गये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वे इस बात का ध्यान रखें कि हिन्दू अधिक धनवान न हो जायें। सरकारी कर्मचारियों को राजस्व-वसूली में हिस्सा नहीं दिया गया बल्कि उन्हें जागीरें दी गयीं जो कर से मुक्त रखी गयीं। भूमि की पैमाइश करके लगान का निश्चय करने के तरीके को पुनः आरम्भ नहीं किया गया बल्कि 'नस्ल' और 'बँटाई' की प्रथा प्रचलन में रही। सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिये गये कि वे किसानों की भलाई के प्रयत्न करें और उनके साथ कठोरता न करें। यदि कोई अधिकारी किसानों से बहुत अधिक कर वसूल कर लेता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था परन्तु साधारण कठोरता करने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। अपनी इस मध्य-मार्ग की नीति से गियासुद्दीन ने किसानों, लगान-अधिकारियों और सरकारी कर्मचारियों को सन्तुष्ट और सुखी बनाये रखने का प्रयत्न किया। अलाउद्दीन की कठोर नीति के विपरीत गियासुद्दीन ने उदारता की नीति अपनायी, जिसे बरनी ने 'रस्मोमियान' अथवा मध्यपंथी नीति कहा है। इसमें उसे सफलता मिली। किसानों की स्थिति में सुधार हुआ तथा कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई। गियासुद्दीन प्रशासनिक और लगान-अधिकारियों की ईमानदारी पर भी बहुत बल देता था। उसने सिंचाई की भी अच्छी व्यवस्था की और बहुत से बाग लगवाये। **इससे किसानों और राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।**

गियासुद्दीन ने **सड़कें ठीक करायीं तथा पुलों एवं नहरों का निर्माण कराया।** इससे यातायात में सुविधा हुई। उसकी **डाक-व्यवस्था श्रेष्ठ थी** और शीघ्रता करने के लिए प्रत्येक 3/4 मील पर डाक लाने वाले कर्मचारी अथवा घुड़सवार नियुक्त किये गये थे। **उसने न्याय-व्यवस्था में सुधार किये।** अलाउद्दीन के समय की कठोर दण्ड-व्यवस्था समाप्त कर दी गयी परन्तु चोरों, कर न देने वालों और सरकारी धन की बेईमानी करने वालों को कठोर दण्ड दिये गये। बरनी के कथनानुसार, "तुगलकशाह के न्याय से भेड़िये को भी इस बात का साहस नहीं होता था कि वह किसी भेड़ की ओर देखे।" इसके अतिरिक्त, गियासुद्दीन ने व्यभिचार, मदिरा-पान, जुआ खेलना आदि बुराइयों को भी रोकने का प्रयत्न किया।

गियासुद्दीन एक कुशल सेनापति था और बरनी के कथनानुसार वह अपने सैनिकों को पुत्रवत् प्रेम करता था। इस कारण **उसने सैनिक-व्यवस्था की ओर पूर्ण ध्यान दिया।** वह अपने सैनिकों को सुविधाएँ देता था और इस बात की स्वयं देखभाल करता था कि उनको उचित वेतन मिले। परन्तु वह सैनिक-अनुशासन में कठोर था। उसने 'हुलिया' और 'दाग' की प्रथाओं को कठोरतापूर्वक लागू किया। सिंहासन पर बैठने के बाद दो वर्ष में ही उसने सेना को शक्तिशाली बनाने में सफलता प्राप्त की।

हिन्दुओं के प्रति गियासुद्दीन की नीति कठोर थी। हिन्दुओं के बारे में उसने अपने अधिकारियों को आदेश दिये थे कि "वे न तो इतने धनवान बन सकें कि विद्रोह करने को तत्पर हो जायें और न इतने निर्धन हो जायें कि कृषि छोड़कर भाग जायें।" इस प्रकार हिन्दुओं के प्रति अपनायी गयी उसकी नीति का मुख्य आधार राजनीतिक था। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है—"यदि उसने हिन्दुओं के प्रति कठोरता प्रदर्शित की तो वह कठोर धर्मान्धता का परिणाम न होकर राजनीतिक आवश्यकता थी।" इस प्रकार गियासुद्दीन की हिन्दुओं के प्रति नीति अलाउद्दीन की नीति के निकट ही थी।

विद्रोहों का दमन और साम्राज्य-विस्तार

गियासुद्दीन पूर्णतया साम्राज्यवादी था। इस दृष्टिकोण से वह अलाउद्दीन से भी आगे था। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् स्वतन्त्र छोड़ दिया था। उसने देवगिरि को उसी समय अपने राज्य में सम्मिलित किया था जबकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंकरदेव (सिंहदेव द्वितीय) ने उसकी अधीनता को मानने से इंकार कर दिया। परन्तु गियासुद्दीन ने विद्रोही और अधीनस्थ राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी। उसके समय में जिस राज्य को पराजित किया गया और जिस स्थान के विद्रोह को दबाया गया उस राज्य और उस स्थान को दिल्ली-सल्तनत में सम्मिलित कर लिया गया।

तेलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव ने दिल्ली-सल्तनत की अव्यवस्था का लाभ उठाकर दिल्ली सुल्तान को कर भेजना बन्द कर दिया था और एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु उसने अपनी स्वतन्त्रता का सदुपयोग हिन्दू राज्यों के संगठन और सहयोग के लिए नहीं किया वरन् अपने पड़ौसी हिन्दू राज्यों से युद्ध करके उसका दुरुपयोग किया। गियासुद्दीन उसके स्वतन्त्र व्यवहार को पसन्द नहीं कर सका। उसने 1321 ई. में अपने सबसे बड़े पुत्र जूनाखाँ उर्फ उलूगखाँ (उपाधि जो उसे दी गयी थी) को तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उलूगखाँ ने तीव्रतर वेग से आक्रमण किया और बिना किसी विरोध के वारंगल के किले के सामने पहुँच गया। प्रायः छः माह तक किले का घेरा पड़ा रहा और अन्त में प्रतापरुद्रदेव अधीनता स्वीकार करने और राजस्व देने को तैयार हो गया। परन्तु उलूगखाँ उससे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कराना चाहता था। इस कारण कोई सन्धि न हो सकी। हिन्दुओं ने उलूगखाँ के आवागमन के मार्गों को बन्द कर दिया और दिल्ली के समाचार आना अथवा वहाँ समाचार पहुँचाना असम्भव हो गया। थोड़े समय के पश्चात् उलूगखाँ को घेरा उठाने के लिए बाध्य होना पड़ा और वह देवगिरि वापस लौट गया जहाँ उसके छोटे भाई महमूदखाँ ने उसका स्वागत किया। इब्नबतूता ने लिखा है कि उलूगखाँ विद्रोह करने के लिए तत्पर था और उसने जानबूझकर अपने मित्र उबैद द्वारा यह अफवाह फैला दी कि सुल्तान गियासुद्दीन की मृत्यु हो गयी है जिससे सेना और सरदार उसके साथ हो जायें। परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। अनेक सरदार अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर उलूगखाँ का साथ छोड़ गये और उसे बाध्य होकर किले का घेरा उठाना पड़ा। परन्तु इसामी और बरनी का कथन इसके विपरीत है। उनका कहना है कि शाहजादे की विद्रोह की कोई इच्छा न थी और सुल्तान की मृत्यु की अफवाह फैलाने में भी उसका कोई हाथ न था बल्कि उबैद स्वयं पूर्णतया उसके लिए उत्तरदायी था। आधुनिक इतिहासकारों में से सर वूल्जले हेग और कुछ अन्य इतिहासकारों ने इब्नबतूता के कथन को ठीक माना है। परन्तु डॉ. ईश्वरीप्रसाद, डॉ. मेंहदी हुसैन, डॉ. बी. पी. सक्सेना आदि ने इसामी और बरनी के कथन को सही माना है। कारण कुछ भी हो परन्तु उलूगखाँ घेरा उठाकर देवगिरि होता हुआ दिल्ली वापस लौट गया।

गियासुद्दीन ने उलूगखाँ के विद्रोही सरदारों को मृत्यु-दण्ड दिया परन्तु उलूगखाँ को माफ करके एक अन्य सेना के साथ तेलंगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा। 1323 ई. में उलूगखाँ ने वारंगल पर आक्रमण किया। मार्ग में उसने बीदर तथा अन्य किलों को जीता और यातायात के मार्गों को सुरक्षित किया। वारंगल के किले को पाँच माह के पश्चात् जीत लिया गया और प्रतापरुद्रदेव तथा उसके सभी सम्बन्धियों को कैद कर लिया गया। प्रतापरुद्रदेव को दिल्ली भेज दिया गया। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार या तो प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु कारागार में हुई अथवा उसने आत्महत्या कर ली। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार प्रतापरुद्रदेव को छोड़ दिया गया और उसने या तो एक साधारण अधीनस्थ शासक के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया अथवा एक स्वतन्त्र शासक के रूप में उसकी मृत्यु हुई। तेलंगाना की राजधानी वारंगल का नाम बदलकर सुल्तानपुर रख दिया गया और तेलंगाना को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भवतया, वारंगल की विजय के पश्चात् उलूगखाँ ने सुदूर-दक्षिण के मलाबार तट पर आक्रमण किया और मदुरा को जीतकर (1323 ई.) उसे दिल्ली-राज्य के अधीन कर लिया। परन्तु तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों ने इस आक्रमण के बारे में कुछ नहीं लिखा है। **उलूगखाँ ने उड़ीसा (जाजनगर) पर भी आक्रमण किया।** उड़ीसा पर उसकी विजय पूर्ण नहीं थी और सम्भवतया एक युद्ध के पश्चात् लूटमार करके अथवा आक्रमण में असफल होकर उलूगखाँ दिल्ली वापस लौट गया।

दक्षिण के युद्ध से छुटकारा हुआ ही था कि भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर **मंगोलों ने आक्रमण किया परन्तु दिल्ली से भेजी गयी एक सेना ने उन्हें परास्त कर दिया।** सम्भवतया, गुजरात में भी इसी समय एक विद्रोह हुआ परन्तु उसे भी शीघ्र दबा दिया गया।

बलबन की मृत्यु के पश्चात् से बंगाल स्वतन्त्र हो गया था। उसके पश्चात् दिल्ली के किसी सुल्तान ने उसे अपनी अधीनता में लेने का प्रयत्न नहीं किया था। इस समय गियासुद्दीन बहादुर, शिहाबुद्दीन और नासिरुद्दीन नामक तीन भाइयों में गद्दी के लिए संघर्ष चल रहा था। गियासुद्दीन बहादुर ने 1319 ई. में अपने भाइयों को पराजित करके बंगाल को अपने अधीन कर लिया। नासिरुद्दीन ने भागकर सुल्तान गियासुद्दीन से सहायता माँगी। सुल्तान स्वयं बंगाल की ओर बढ़ा और तिरहुत के निकट नासिरुद्दीन भी उससे आ मिला। सुल्तान ने जफरखाँ को बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भेजा और उसने गियासुद्दीन बहादुर को पराजित करके बन्दी बना लिया। **उत्तरी बंगाल में नासिरुद्दीन को दिल्ली की अधीनता में शासक बना दिया गया जिसकी राजधानी लखनौती थी। दक्षिणी और पूर्वी बंगाल को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया** तथा सुल्तान ने बहरामखाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया।

इसामी के कथनानुसार **सुल्तान ने बंगाल से वापस आते हुए तिरहुत (मिथिला) पर आक्रमण किया।** राजा हरसिंहदेव को नेपाल की सीमाओं में जाकर शरण लेनी पड़ी और तिरहुत पर दिल्ली-सुल्तान का अधिकार हो गया (1324-25 ई.) परन्तु सुल्तान इससे पहले ही दिल्ली के लिए वापस चल दिया था। 1324 ई. में जब जूना खाँ दक्षिण में था तब मंगोलों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण कर दिया था किन्तु वे पराजित हुए और उनके नेताओं को दिल्ली पकड़कर ले जाया गया।

गियासुद्दीन की मृत्यु

गियासुद्दीन की मृत्यु के बारे में इतिहासकारों में मतभेद हैं। डॉ. मेंहदी हुसैन और डॉ. बी. पी. सक्सेना सुल्तान की मृत्यु को एक दुर्घटना मानते हैं, जबकि डॉ. ईश्वरीप्रसाद और वूल्जले हेग उसकी मृत्यु का कारण उसके पुत्र उलूगखाँ (जूनाखाँ) के षड्यन्त्र को मानते हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. आर. सी. मजूमदार भी डॉ. ईश्वरीप्रसाद के मत का समर्थन करते हैं। तत्कालीन इतिहासकारों में से इब्नबतूता और इसामी ने उलूगखाँ को इसके लिए दोषी ठहराया है, जबकि बरनी का कथन काफी संक्षिप्त और अनिर्णयात्मक है। उसने लिखा है कि "अचानक बिजली गिरने से सुल्तान दुर्घटनाग्रस्त हो गया।"

जो विद्वान उलूगखाँ को अपने पिता की मृत्यु के लिए दोषी नहीं मानते, उनके तर्क हैं कि (1) इब्नबतूता और इसामी दोनों के ही कथनानुसार हाथी अथवा हाथियों का प्रदर्शन सुल्तान की आज्ञा से किया गया था न कि उलूगखाँ के आदेश पर, (2) इब्नबतूता और इसामी दोनों ने यह स्वीकार किया है कि उनका अपना विचार सुनी-सुनाई बातों पर आधारित है, (3) सुल्तान बनने के पश्चात् उलूगखाँ के सम्बन्ध अपनी माँ से अच्छे रहे जो सम्भव न होते यदि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने पिता की हत्या करायी होती, (4) उलूगखाँ के राज्याभिषेक पर किसी भी व्यक्ति ने कोई आपत्ति नहीं की, और (5) उलूगखाँ अपने परिवार के सभी सदस्यों के प्रति स्नेहपूर्ण था। इस कारण वह अपने पिता की हत्या में भाग नहीं ले सकता था।

जो विद्वान उलूगखाँ पर अपने पिता की हत्या का सन्देह करते हैं, उनके तर्क हैं कि (1) इब्नबतूता गियासुद्दीन का समकालीन था और उसका उलूगखाँ से कोई द्वेष न था। इस कारण उसका कथन विश्वसनीय माना जा सकता है, (2) बरनी ने स्पष्टतया कुछ नहीं लिखा क्योंकि वह राजाश्रय चाहता था, मुख्यतया फीरोज तुगलक से जो मुहम्मद तुगलक का कृपापात्र था, (3) निजामुद्दीन अहमद ने 'तबकात-ए-अकबरी' में, बदायूँनी ने 'मुन्तखाब-उत-तवारीख' में और अबुल फजल ने 'आईन-ए-अकबरी' में बरनी द्वारा बिजली गिरने से सुल्तान के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने के विवरण को कपोलकल्पित बताया है, (4) 'तारीख-ए-मुबारकशाही' में दुर्घटना का माह फरवरी-मार्च है जिन दिनों बिजली गिरने की कोई सम्भावना नहीं होती, (5) उलूगखाँ महत्वाकांक्षी था, और (6) उसने अहमद ऐयाज को जिसने उस अस्थायी इमारत का निर्माण कराया था, दण्ड देने के स्थान पर सुल्तान बनने पर अपना वजीर नियुक्त किया।

इब्नबतूता के अनुसार जब सुल्तान गियासुद्दीन बंगाल में था तभी उसे उलूगखाँ के व्यवहार के चिन्ताजनक समाचार प्राप्त हुए। उसे सूचना मिली कि वह अपने समर्थकों की संख्या बढ़ा रहा है और शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य बन गया है। उस शेख से सुल्तान के सम्बन्ध अच्छे न थे। सुल्तान ने उलूगखाँ और निजामुद्दीन औलिया को दिल्ली पहुँचने पर दण्ड देने की धमकी दी जिसके बारे में औलिया ने कहा कि "दिल्ली अभी बहुत दूर है।" सुल्तान शीघ्रता से बंगाल से वापस लौटा और उलूगखाँ ने उसके स्वागत के लिए नवीन राजधानी तुगलकाबाद से तीन या चार मील दूर अफगानपुर नामक गाँव में एक लकड़ी का महल बनवाया। वह महल अहमद ऐयाज (जिसे बाद में उलूगखाँ उर्फ सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने अपना वजीर बनाया) ने इस प्रकार बनवाया था कि हाथियों के द्वारा एक विशेष स्थान पर धक्का लगाने से वह गिर सकता था। भोजन के पश्चात् उलूगखाँ ने सुल्तान से बंगाल से लाये गये हाथियों का प्रदर्शन देखने की प्रार्थना की। सुल्तान की आज्ञा से वे हाथी प्रदर्शित किये गये और जैसे ही उनका एक धक्का महल को लगा वह गिर गया और सुल्तान तथा उसका छोटा पुत्र महमूद उसमें दबकर मर गये। उलूगखाँ ने मलवा हटाने में भी जानबूझकर देर की और जब सुल्तान और उसके पुत्र की लाशें उसमें से निकलीं तो सुल्तान अपने पुत्र पर इस प्रकार झुका हुआ पाया गया मानो वह अपने पुत्र की रक्षा करना चाहता था। इब्नबतूता को इस घटना के बारे में शेख रुकनुद्दीन ने बताया था जो उस समय महल में था और जिसे उलूगखाँ ने नमाज पढ़ने के बहाने उस समय उस स्थान से हटा दिया था।

गियासुद्दीन का मूल्यांकन

तत्कालीन इतिहासकारों ने सुल्तान गियासुद्दीन को एक आदर्श मुसलमान सुल्तान माना। इसका मुख्य कारण यह था कि उसने मंगोल-आक्रमणों से इस्लाम की रक्षा की थी और खुसरवशाह को समाप्त करके इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित किया था। परन्तु उपर्युक्त आधारों पर तो सुल्तान को इस्लाम का रक्षक ही माना जा सकता है। कुछ अन्य कारण ऐसे हैं जिनसे उसे दिल्ली के सुल्तानों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है।

व्यक्तिगत दृष्टि से सुल्तान का चरित्र अच्छा था। वह न शराब का शौकीन था और न स्त्री का बल्कि उसने अलाउद्दीन की भाँति शराबबन्दी का प्रयत्न किया। वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था और धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। हिन्दुओं के प्रति उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति यदि उदार न थी तो बहुत कठोर भी न थी। परन्तु गियासुद्दीन की सफलता चरित्र की दृष्टि से नहीं बल्कि उसके कार्यों की दृष्टि से थी। **वह एक योग्य सेनापति था।** सुल्तान बनने से पहले और सुल्तान बनने के पश्चात् भी उसने इस योग्यता का परिचय दिया। उसके सैनिक-अनुशासन के कारण दिल्ली की सेना एक बार पुनः शक्तिशाली बन गयी। इसी कारण **उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया।** उसने प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और उसके समय में बंगाल की विजय भी हुई। उसका साम्राज्य अलाउद्दीन के साम्राज्य से अधिक विस्तृत था। जिन राज्यों को अलाउद्दीन ने केवल अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् स्वतन्त्र छोड़ दिया था उन राज्यों को उसने अपने शासन के अधीन किया। **एक शासक की दृष्टि से भी वह सफल रहा।** उसने अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अव्यवस्था को सुधारा। उसने शासन से भ्रष्टाचार को समाप्त किया, कृषकों की भलाई की, कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि की, यातायात और डाक-व्यवस्था को ठीक किया, पुल और नहरें बनवायीं, बाग लगवाये, सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की, लगान-अधिकारियों को प्राप्त होने वाली सुविधाएँ उन्हें पुनः प्रदान कीं तथा शाही खजाने को परिपूर्ण कर दिया। गियासुद्दीन एक न्यायप्रिय शासक था और प्रतिदिन सुबह और शाम वह न्याय के लिए दरबार करता था। वह पहला दिल्ली सुल्तान था, जिसने कृषकों की भलाई के लिए प्रयत्न किया और अपने कर्मचारियों को आदेश दिये कि वे लगान में वृद्धि करने के स्थान पर कृषि योग्य भूमि और उत्पादन वृद्धि के लिए प्रयत्न करें। उसने विद्वानों को दरबार में संरक्षण प्रदान किया। उसने तुगलकाबाद नामक शहर की नींव डाली और वहाँ कई इमारतें बनवायीं। उसका महल इतनी चमकदार ईंटों का बनवाया गया था कि सूर्य की रोशनी में उसे टकटकी लगाकर देखना असम्भव था। इस प्रकार **अपनी विजयों और सफल शासन द्वारा उसने सुल्तान और राजसिंहासन की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया। गियासुद्दीन न केवल नवीन नीतियों और सिद्धान्तों को जन्म देने वाला था बल्कि एक व्यवस्थापक और राज्य के संगठनकर्ता की दृष्टि से भी उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा।** यद्यपि वह एक साधारण स्थिति से उठकर सुल्तान के पद पर पहुँचा था परन्तु सुल्तान बनने के पश्चात् उसने बलबन की भाँति अपनी सहायता के लिए श्रेष्ठ तुर्की नस्ल का सहारा नहीं लिया। उसने न तो कभी स्वयं श्रेष्ठ नस्ल का वंशज होने का दावा किया और न ही शुद्ध तुर्की नस्ल के व्यक्तियों की वफादारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार, **यद्यपि वह अलाउद्दीन के समय की क्रूर परम्पराओं में पनपा था परन्तु उसने कभी भी क्रूरता को अपने शासन का आधार नहीं बनाया।** गियासुद्दीन अन्य व्यक्तियों में योग्यता की खोज करता था और स्वयं अपनी योग्यता में विश्वास रखता था। **अतः उसे न तो श्रेष्ठ नस्ल की सहायता की आवश्यकता हुई और न क्रूरता की। तब भी वह सफल रहा।** बरनी ने लिखा है—"साम्राज्य के सभी शहरों में अपने शासन को स्थापित करने के लिए वह सब कुछ जो सुल्तान अलाउद्दीन ने इतने अधिक रक्तपात, कुटिल नीति, अत्याचार और हिंसा से किया, सुल्तान तुगलकशाह ने चार वर्षों में बिना किसी कुटिलता, कठोरता अथवा रक्तपात के कर दिया।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गियासुद्दीन तुगलक की साम्राज्य विस्तार की नीति की समीक्षा कीजिए।
2. 'गियासुद्दीन तुगलक तुगलक वंश का संस्थापक था।' उपर्युक्त कथन के आधार पर गियासुद्दीन का मूल्यांकन कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. गियासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों के मतभेद को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गियासुद्दीन तुगलक की प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।
2. गियासुद्दीन तुगलक ने आन्तरिक व्यवस्था सुधारने के लिए क्या प्रयास किये, उनका वर्णन कीजिए।
3. गियासुद्दीन तुगलक के तैलंगाना विजय के प्रयासों पर लेख लिखिए।
4. गियासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के सन्दर्भ में जूनाखाँ का दायित्व बताइए।
5. मेंहदी ख्वाजा के तर्कों का वर्णन कीजिए जो उसने मुहम्मद तुगलक के पक्ष में देते हुए, उसे हत्या के दोषारोपण से मुक्त करने के लिए दिये थे।
6. डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने मुहम्मद तुगलक को हत्या का दोषी मानते हुए जो तर्क दिये हैं, उनका वर्णन कीजिए।
7. एक शासक के रूप में गियासुद्दीन तुगलक का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'तुगलक' शब्द से क्या तात्पर्य है ?
   (अ) जाति के लिए प्रयोग हुआ है (ब) नस्ल के लिए प्रयोग हुआ है
   (स) नाममात्र के लिए प्रयोग किया गया है (द) इनमें से कोई नहीं।
2. गियासुद्दीन तुगलक की माँ थी—
   (अ) मुस्लिम महिला (ब) हिन्दू महिला
   (स) ईसाई महिला (द) राजपूत महिला।
3. गियासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली सल्तनत के तख्त पर अधिकार किया था—
   (अ) खुसरवशाह को मारकर (ब) वंशानुगत अधिकार से
   (स) अमीरों की इच्छा से (द) सभी कारणों से।
4. सत्तारूढ़ होते ही गियासुद्दीन तुगलक को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था ?
   (अ) आन्तरिक (ब) बाह्य
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
5. गियासुद्दीन तुगलक की नीति आधारित थी—
   (अ) कठोरता पर (ब) उदारता पर
   (स) 'अ' व 'ब' के मिश्रण पर (द) इनमें से कोई नहीं।
6. लगान व्यवस्था के पीछे गियासुद्दीन का उद्देश्य था—
   (अ) किसानों की स्थिति को सुधारना (ब) कृषि योग्य भूमि में वृद्धि
   (स) उपरोक्त दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
7. गियासुद्दीन तुगलक ने किसानों के हितों के लिए क्या किया ?
   (अ) सरकारी कर्मचारियों को राजस्व वसूली का भाग दिया जाता था
   (ब) उन्हें किसानों से कठोरतापूर्ण व्यवहार न करने का आदेश था
   (स) भूमि की पैमाइश करके लगान निश्चित करना जारी रखा
   (द) इनमें से कोई नहीं।
8. गियासुद्दीन तुगलक ने जनहित के लिए कौन से कार्य किये ?
   (अ) सड़क व पुल बनवाये (ब) नहरों को खुदवाया
   (स) डाक-व्यवस्था में सुधार किये (द) उपर्युक्त सभी कार्य किये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. तैलंगाना विजय हेतु गियासुद्दीन ने कितनी बार जूनाखाँ को भेजा था ?
(अ) एक बार (ब) दो बार
(स) तीन बार (द) चार बार।

10. विजयोपरान्त गियासुद्दीन ने तैलंगाना की राजधानी वारंगल का नाम रखा था—
(अ) बहादुरपुर (ब) कासिमपुर
(स) सुल्तानपुर (द) रायपुर।

11. जूनाखाँ ने मदुरा को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिलाया था—
(अ) 1320 ई. में (ब) 1321 ई. में
(स) 1323 ई. में (द) 1322 ई. में।

12. "दिल्ली अभी बहुत दूर है" यह कथन किसका है ?
(अ) शेख निजामुद्दीन औलिया का (ब) शेख सलीम चिश्ती का
(स) शेख मूसा का (द) इनमें से कोई नहीं।

13. बंगाल विजय के बाद लौटते समय लकड़ी से निर्मित महल में गियासुद्दीन तुगलक कहाँ ठहरा था ?
(अ) शमशादपुर (ब) अफगानपुर
(स) मतलबपुर (द) सुल्तानपुर।

14. लकड़ी के महल का निर्माता था—
(अ) अहमद हुसैन (ब) मेंहदी हुसैन
(स) महमूद इलाही (द) अहमद ऐयाज।

15. कौन-सा इतिहासकार जूनाखाँ को गियासुद्दीन की हत्या का दोषी नहीं मानता है ?
(अ) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (ब) डॉ. ए. बी. पाण्डेय
(स) डॉ. मेंहदी हुसैन (द) एस. एम. जफर।

16. किस इतिहासकार ने अपने तर्कों द्वारा जूनाखाँ को पितृहन्ता माना है ?
(अ) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (ब) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव
(स) डॉ. ए. बी. पाण्डेय (द) डॉ. विद्याधर महाजन।

17. गियासुद्दीन तुगलक को किन कारणों से एक आदर्श मुस्लिम शासक कहा गया है ?
(अ) मंगोल आक्रमण के विरुद्ध इस्लाम की सुरक्षा
(ब) इस्लाम की प्रतिष्ठा हेतु खुसरव की हत्या के कारण
(स) 'अ' व 'ब' दोनों के लिए
(द) इनमें से कोई नहीं।

18. गियासुद्दीन ने सुल्तान व सिंहासन की प्रतिष्ठा को बढ़ाया था—
(अ) सफल शासन द्वारा (ब) नवीन नीतियों के द्वारा
(स) व्यवस्थापिका व राज्य के संगठन द्वारा (द) उपर्युक्त सभी।

[उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (अ), 4. (स), 5. (स), 6. (स), 7. (ब), 8. (द), 9. (ब), 10. (स), 11. (स), 12. (अ), 13. (ब), 14. (द), 15. (स), 16. (अ), 17. (स), 18. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12

मुहम्मद-बिन तुगलक (1325-1351 ई.)

अपने पिता की मृत्यु के तीन दिन पश्चात् फरवरी अथवा मार्च 1325 ई. में उलूगखाँ (जूनाखाँ) मुहम्मद-बिन तुगलक के नाम से सुल्तान बना। साधारणतया उसे मुहम्मद तुगलक के नाम से पुकारा जाता है। 40 दिन तक वह तुगलकाबाद में रहा। तत्पश्चात् उसने दिल्ली में प्रवेश किया। उस अवसर पर सभी ने उसका स्वागत किया। उसने भी उदारतापूर्वक अपनी प्रजा में सोने और चाँदी को बिखेरा तथा सरदारों में पदों का वितरण किया। अपने पिता की मृत्यु में मुहम्मद तुगलक का कुछ भी हाथ रहा हो अथवा न रहा हो परन्तु उसके सिंहासन पर बैठने का विरोध किसी ने नहीं किया यद्यपि उसके तीन भाई जीवित थे।

मध्य-युग के शासकों में चरित्र और कार्यों की दृष्टि से अन्य कोई शासक इतना विवादपूर्ण नहीं है जितना मुहम्मद तुगलक। ऐसा नहीं है कि मुहम्मद तुगलक का कोई समकालीन इतिहासकार न था। उसके शासन काल में 1333 ई. में अफ्रीकी यात्री इब्नबतूता भारत आया था। सुल्तान ने उसका खूब स्वागत किया तथा दिल्ली का काजी नियुक्त किया। इसके विपरीत, मुहम्मद तुगलक के समय में एक नहीं बल्कि तीन विख्यात विद्वान (इसामी, बरनी और इब्नबतूता) थे और तीनों ने उसके समय के इतिहास के बारे में विस्तृत वर्णन दिया है। परन्तु फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि इस सुल्तान के चरित्र, कार्यों के उद्देश्य और विभिन्न कार्यों की तारीखों व उनके क्रम के बारे में निश्चित धारणा नहीं है।

मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य रोचक हैं। वह सर्वाधिक विलक्षण व्यक्तित्व वाला शासक था। वह अरबी-फारसी का महान् विद्वान तथा ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न विधाओं; जैसे—खगोलशास्त्र, दर्शन, गणित, चिकित्सा, विज्ञान, तर्कशास्त्र आदि में पारंगत था। सर्वप्रथम उसने ही बिना किसी भेदभाव के पदों का आबंटन योग्यता के आधार पर किया। उसकी महत्वाकांक्षाएँ और योजनाएँ तथा उसकी सफलता अथवा असफलता प्रत्येक प्रकार से आकर्षक और आश्चर्यजनक हैं। मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता से एक विस्तृत साम्राज्य प्राप्त किया। उस समय तुगलक साम्राज्य 23 प्रान्तों में बँटा हुआ था। कश्मीर एवं आधुनिक बलूचिस्तान को छोड़कर लगभग सारा हिन्दुस्तान दिल्ली सल्तनत के नियन्त्रण में था। उसने अपने समय में उसमें और अधिक वृद्धि की। दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों में से किसी ने भी इतने विस्तृत साम्राज्य पर शासन नहीं किया परन्तु दस वर्षों में ही वह साम्राज्य खण्डित हो गया और उसने जो कुछ अपने पिता से प्राप्त किया था, उसे भी खो दिया। मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता से भरपूर खज़ाना प्राप्त किया था। बरनी के कथनानुसार उसके समय के समान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्व कभी भी दिल्ली में एकत्रित नहीं हुआ। परन्तु फिर भी मुहम्मद तुगलक को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। चीन, ईरान, मिस्र, आदि दूरस्थ विदेशी राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करना उसकी अपनी ही विशेषता थी, नस्ल और वर्ग-विभेद को समाप्त करके योग्यता के आधार पर अधिकारियों की नियुक्ति करने की नीति उसके समय में अपनी पूर्णता पर पहुँच गयी थी, धार्मिक दृष्टि से वह अपने समय से आगे था और उसने अपने समय में विभिन्न नवीन योजनाओं को जन्म दिया परन्तु फिर भी उसके नागरिक उससे असन्तुष्ट हुए, उसके समय में अधिकतम विद्रोह हुए और अन्त में मुहम्मद तुगलक असफल हुआ।

[1]

राजत्व-सिद्धान्त और धार्मिक विचार

मुहम्मद तुगलक का राजत्व-सिद्धान्त दैवी सिद्धान्त की भाँति था। उसका विश्वास था कि सुल्तान बनना ईश्वर की इच्छा है। उसने अपने सिक्कों पर 'अल सुल्तान जिल्ली अलाह' (सुल्तान ईश्वर की छाया है), 'ईश्वर सुल्तान का समर्थक है' आदि वाक्यों को अंकित कराया था। उसका विश्वास सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान में था।

अलाउद्दीन की भाँति मुहम्मद तुगलक भी शासन में किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता था। उसके मन्त्री और अधिकारी उसके अनुगामी और कर्मचारी मात्र थे। उनमें से कोई शासन-सत्ता में भाग लेने वाला नहीं बन सकता था। उसने समय-समय पर विद्वान बरनी से सलाह ली परन्तु कार्य अपनी इच्छानुसार ही किया। इसी प्रकार उसने उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। अपने आरम्भिक काल में उसने न तो अपने सुल्तान के पद के लिए खलीफा से स्वीकृति ली और न ही अपने सिक्कों पर किसी खलीफा का नाम अंकित कराया। उसका अभिप्राय इस्लाम और इस्लाम धर्म के कानूनों की उपेक्षा करना नहीं था परन्तु वह शासन में धर्म अथवा धार्मिक-वर्ग के प्रभाव को स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। न्याय-विभाग पर उलेमा-वर्ग का एकाधिपत्य था। उसने उसे समाप्त कर दिया। उसने अन्य व्यक्तियों को भी काजी का पद प्रदान किया और काजी के जिस निर्णय को वह ठीक नहीं मानता था उसे बदल देता था। यदि किसी धार्मिक व्यक्ति पर भी विद्रोह या सरकारी धन की बेईमानी करने का अपराध सिद्ध हो जाता था तो वह उसे दण्डित करता था। राज्य के कानून से कोई भी मुक्त न था। इसी कारण मुसलमान धार्मिक-वर्ग मुहम्मद तुगलक का विरोधी हो गया जो जनता में उसके विरुद्ध असन्तोष का कारण बना। अपने बाद के समय में मुहम्मद तुगलक ने इस वर्ग से समझौता कर लिया। इस कारण उसने अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया, अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति के लिए प्रार्थना की और 1340 ई. में मिस्र के खलीफा के एक वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद को, जिसकी स्थिति एक भिखारी के समान थी, दिल्ली बुलाया, उसका अत्यधिक सम्मान किया, स्वयं अनुरोध करके अपनी गर्दन पर उसका पैर रखवाया और उसे अमूल्य वस्तुएँ और जागीर भेंट में दीं।

मुहम्मद तुगलक दिल्ली-सुल्तानों में प्रथम सुल्तान था जिसने उत्तरी और दक्षिणी भारत की प्रशासनिक और सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया। देवगिरि को अपनी राजधानी बनाने में, सम्भवतया, उसका मूल अभिप्राय यही था। मुहम्मद तुगलक ने सभी योग्य व्यक्तियों के लिए शाही सेवा के दरवाजे खोल दिये। इस क्षेत्र में भी वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने हिन्दुओं को ही नहीं बल्कि विभिन्न निम्न कुलों एवं जातियों के व्यक्तियों को राज्य में उच्च पद प्रदान किये। डॉ. इरफान हबीब का कहना है कि मुहम्मद तुगलक के अमीर वर्ग में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खानदानी अमीरों के अतिरिक्त कई जातियों के लोग थे जिनमें मुख्यतया मंगोल, विदेशी मुसलमान तथा हिन्दू भी थे। भारत के बाहर के देशों जैसे चीन, इराक, सीरिया, ख्वारिज्म आदि से सम्बन्ध बनाने और वहाँ से राजदूतों का आदान-प्रदान करना भी मुहम्मद तुगलक के शासन की एक विशेषता रही। इस प्रकार, निस्सन्देह, मुहम्मद तुगलक ने विभिन्न क्षेत्रों और प्रशासन में नवीन प्रयोग किये। यह अलग बात है कि वह उनमें कितना सफल या असफल रहा।

मुहम्मद तुगलक ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया। दिल्ली के सुल्तानों में वह प्रथम सुल्तान था जिसने योग्यता के आधार पर पद देना आरम्भ किया और भारतीय मुसलमानों एवं हिन्दुओं को भी सम्मानित पद प्रदान किये। इस दृष्टि से वह अपने समय से आगे था। सम्भवतया, तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा उसकी निन्दा किये जाने का एक कारण यह भी था। परन्तु **मुहम्मद तुगलक सहिष्णु होते हुए भी अपनी प्रजा की सद्भावनाएँ प्राप्त न कर सका। इसका कारण उसकी कठोर नीतियाँ और विभिन्न योजनाओं की असफलता थी, न कि उसके विचार।**

[2]

आन्तरिक शासन : विभिन्न योजनाएँ (प्रशासनिक परिवर्तन)

मुहम्मद तुगलक नवीन प्रयोग करने वाला एक महत्वाकांक्षी सुल्तान था। अपनी बाह्य नीति के अन्तर्गत उसने सम्पूर्ण भारत को विजय करने की लालसा की। उसने सुदूर-दक्षिण ही नहीं अपितु हिमालय के पर्वतीय राज्यों पर भी अधिकार करने की आकांक्षा की और भारत से बाहर खुरासान-विजय तक की योजना बनायी। परन्तु उसकी अन्वेषण-बुद्धि का प्रभाव मुख्यतया उसके आन्तरिक शासन पर पड़ा जिसके अन्तर्गत उसने कई नवीन योजनाओं को जन्म दिया।

1. राजस्व-सुधार

सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करने में मुहम्मद तुगलक की तुलना स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय से की जा सकती है।" उसने राजस्व-व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक कानून बनाये। सर्वप्रथम, उसने सूबों की आय-व्यय का हिसाब रखने के लिए एक रजिस्टर तैयार कराया और सभी सूबेदारों को इस सम्बन्ध में अपने-अपने सूबों का हिसाब भेजने के आदेश दिये। उसका उद्देश्य था कि साम्राज्य के सभी प्रदेशों में समान लगान-व्यवस्था लागू की जाय और कोई भी गाँव लगान देने से मुक्त न रहे। परन्तु यह पता नहीं लगता कि इस रजिस्टर का क्या लाभ हुआ और सुल्तान ने विभिन्न श्रेणी की भूमियों के उत्पादन और विभिन्न स्थानों पर मूल्यों के अन्तर का ध्यान किस प्रकार रखा था ?

2. दोआब में कर-वृद्धि (1325-27 ई.)

अपने शासनकाल के आरम्भ में सुल्तान ने दोआब में कर-वृद्धि की। बरनी के कथनानुसार इसे दस या बीस गुना अधिक कर दिया गया। फरिश्ता के अनुसार यह कर तीन या चार गुना अधिक किया गया। गार्डनर ब्राउन के अनुसार यह कर-वृद्धि बहुत साधारण थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार सुल्तान अपनी आय में 5% से 10% तक वृद्धि करना चाहता था और उसने भूमि-कर में वृद्धि नहीं की बल्कि मकानों एवं चरागाहों आदि पर कर लगाया। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कर में वृद्धि की गयी थी। जिस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय दोआब में कर-वृद्धि की गयी उस समय वहाँ सूखा और अकाल पड़ रहा था। अतएव किसानों ने कृषि छोड़कर चोरी-डकैती का पेशा अपना लिया। लगान-अधिकारियों ने बहुत कठोरता से कर वसूल किया जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। सुल्तान ने बड़ी कठोरता से विद्रोहों को दबाया और बरनी के शब्दों में, "हजारों व्यक्ति मारे गये और जब उन्होंने बचने का प्रयत्न किया तब सुल्तान ने विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये तथा जंगली जानवरों की भाँति उन्हें अपना शिकार बनाया।" गार्डनर ब्राउन बरनी के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार नागरिकों के कष्ट का कारण कर-वृद्धि न होकर वर्षा की कमी से उत्पन्न अकाल था। डॉ. मेंहदी हुसैन ने एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सुल्तान की सेना से निकाले गये सैनिकों ने कृषि करना बन्द कर दिया तथा लगान-अधिकारियों को मार डाला। इस कारण सुल्तान ने उनके विद्रोह को कठोरतापूर्वक दबाया। कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि **करों में वृद्धि और अकाल की स्थिति में कठोरता से लगान का वसूल किया जाना विद्रोह का प्रमुख कारण था और सुल्तान ने उस विद्रोह को अत्यधिक कठोरता से दबाया।** डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "बाद में सुल्तान ने किसानों को बीज, बैल आदि दिये तथा सिंचाई के लिए कुएँ और नहरें खुदवाईं परन्तु उनसे कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि ये सहायता-कार्य देर से किये गये तथा इस सहायता का प्रयोग किसानों ने क्षुधा-पूर्ति के लिए किया। इसके अतिरिक्त मकान तथा चरागाह-कर जो अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् त्याग दिये गये थे, सर्वदा ही घृणा के पात्र थे।" सुल्तान की इस नीति से उसकी आय में कोई वृद्धि नहीं हुई और वह अपनी प्रजा में अत्यधिक बदनाम हुआ।

3. कृषि की उन्नति का प्रयत्न

मुहम्मद तुगलक ने कृषि की उन्नति के लिए एक नवीन विभाग खोला और एक नया मंत्री 'अमीर-ए-कोही' नियुक्त किया। राज्य की ओर से सीधी आर्थिक सहायता देकर कृषि के योग्य भूमि का विस्तार करना इस विभाग का मुख्य उद्देश्य था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "साठ वर्ग मील का एक भू-क्षेत्र चुना गया जहाँ सरकारी कर्मचारियों की देखरेख में किसानों से खेती करने के लिए कहा गया।" वहाँ क्रमशः विभिन्न फसलें बोई गयीं और प्रायः तीन वर्ष में 70 लाख टंका (रुपया) व्यय किये गये। यह एक प्रकार से राजकीय कृषि-फार्म की भाँति था। मोरलैण्ड लिखता है : "भारतीय इतिहास में पहली बार यह प्रकट हुआ कि खेती, खेती के तरीकों तथा खेती के साधनों को सुधारना भी सरकार के कर्तव्यों में आता है। दूसरे शब्दों में, भारत के लिए यह पहला अवसर था जब सल्तनत ने कृषि-सुधार पर न केवल बल दिया वरन् सरकारी खजाने से एक लम्बी रकम भी खर्च की।" परन्तु यह योजना सफल न हो सकी। सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, किसानों की उदासीनता, भूमि का अच्छा न होना और समय की कमी इस योजना की असफलता के कारण बने। तीन वर्ष के पश्चात् इस योजना को त्याग दिया गया।

4. राजधानी-परिवर्तन (1326-27 ई.)

डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार, "सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने देवगिरि का नाम कुतबाबाद रख दिया था और सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने उसका नाम दौलताबाद रखा।" देवगिरि को 'कुबतुल इस्लाम' भी कहा गया। मुहम्मद तुगलक द्वारा दिल्ली के स्थान पर देवगिरि को राजधानी बनाये जाने के विभिन्न कारण बताये गये हैं। बरनी के अनुसार साम्राज्य के केन्द्र में होने के कारण देवगिरि को राजधानी बनाया गया। इब्नबतूता के अनुसार सुल्तान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को दिल्ली के नागरिक असम्मानपूर्ण पत्र लिखते थे, अतएव उन्हें दण्ड देने के लिए उसने देवगिरि को राजधानी बनाने का निर्णय किया। सर वूल्जले हेग ने इब्नबतूता के मत को स्वीकार किया है। इसामी ने लिखा है कि वह दिल्ली के नागरिकों की शक्ति को तोड़ने के लिए उन्हें दक्षिण-भारत ले जाना चाहता था। इस प्रकार वह भी इब्नबतूता के कथन का समर्थन करता है। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि वह दक्षिण-भारत में मुस्लिम संस्कृति के विकास तथा दक्षिण की सम्पन्नता एवं शासन की सुविधा की दृष्टि से देवगिरि को राजधानी बनाना चाहता था। डॉ. मेंहदी हुसैन का कहना है कि वह दौलताबाद को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बनाने के लिए उसे राजधानी बनाना चाहता था। डॉ. मेंहदी हुसैन और डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार मुहम्मद तुगलक का लक्ष्य दो राजधानियाँ—दिल्ली और दौलताबाद—बनाने का था परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस विचार से सहमत नहीं हैं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा, दक्षिण-भारत में सुदृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता और दक्षिण-भारत का सम्पन्न होना इस राजधानी-परिवर्तन के कारण थे। उपर्युक्त मतों के आधार पर यह माना जाता है कि **देवगिरि का साम्राज्य के केन्द्र में होना, उत्तर-भारत की अपेक्षा दक्षिण-भारत के शासन और संगठन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता, मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा अथवा उनके आक्रमणों के भय का कम हो जाना, दक्षिण-भारत की समृद्धि का लालच और, सम्भवतया, वहाँ पर मुस्लिम संस्कृति को स्थापित करने की लालसा मुहम्मद तुगलक के राजधानी-परिवर्तन के कारण रहे।**

तत्कालीन इतिहासकारों के अनुसार दिल्ली की समस्त जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये और दिल्ली उजाड़ हो गयी। बरनी ने लिखा है कि "सभी कुछ बर्बाद कर दिया गया। तबाही इतनी भयानक थी कि शहर की इमारतों, उसके महलों और उसके आसपास के क्षेत्रों में एक बिल्ली अथवा कुत्ता भी दिखायी नहीं देता था।" इसी प्रकार इब्नबतूता ने लिखा है : "सुल्तान के आदेश पर खोज करने पर उसके गुलामों को एक लंगड़ा और एक अंधा व्यक्ति प्राप्त हुए। लंगड़े को मार दिया गया और अंधे को घसीटकर दौलताबाद ले जाया गया जहाँ उसकी केवल एक टाँग ही पहुँच सकी।" उसने लिखा है : "रात्रि में सुल्तान ने अपने महल की छत पर चढ़कर दिल्ली को देखा और जब उसे एक भी रोशनी, धुआँ अथवा चिराग दिखायी नहीं दिया तब उसने कहा कि अब मेरा हृदय प्रसन्न है और मेरी आत्मा को शान्ति है।" इसी प्रकार इतिहासकार इसामी ने लिखा है : "उसने (मुहम्मद तुगलक ने) शहर (दिल्ली) को जला देने और सभी जनता को उससे बाहर निकाल देने की आज्ञा दी।" आधुनिक समय के कुछ इतिहासकार इसे नहीं मानते। डॉ. मेंहदी हुसैन का कहना है : "दिल्ली राजधानी न रही हो, ऐसा कभी नहीं हुआ और इस कारण वह न कभी आबादी-रहित हुई और न निर्जन।" इसी प्रकार, डॉ. के. ए. निजामी का भी कहना है कि "समस्त जनता को जाने के आदेश नहीं दिये गये थे बल्कि केवल सरदार, शेख, उलेमा और उच्च-वर्ग के व्यक्तियों को ही दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे।" परन्तु डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, डॉ. ईश्वरीप्रसाद सदृश आधुनिक समय के अधिकांश इतिहासकारों का कहना है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने इस बात को चाहे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर ही कहा हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि **दिल्ली की जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे।**

मार्ग में सुल्तान ने जनता की सुविधा के लिए प्रत्येक सम्भव कार्य किये। दिल्ली से दौलताबाद तक की 700 मील (प्राय: 950 किलोमीटर) लम्बी सड़क पर छायादार वृक्ष लगाये गये, प्रत्येक दो मील के पश्चात् जनता के रुकने और खाने-पीने की व्यवस्था की गयी, सभी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को यातायात सुलभ किया गया, सभी को अपनी छोड़ी हुई सम्पत्ति का मुआवजा दिया गया तथा सभी के लिए दौलताबाद में रहने और खाने की मुफ्त व्यवस्था की गयी। परन्तु इन सभी सुविधाओं के होते हुए भी दिल्ली से दौलताबाद की चालीस दिन की यात्रा दिल्ली के नागरिकों के लिए अत्यन्त कष्टदायक रही होगी, इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

मुहम्मद तुगलक की यह योजना असफल रही। इसामी के अनुसार दिल्ली 14 वर्ष के पश्चात् बसी परन्तु सम्भवतया 1335 ई. में ही सुल्तान ने व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार दिल्ली वापस जाने की आज्ञा दे दी थी। इस योजना की असफलता के विभिन्न कारण थे। सुल्तान को केवल अपने दरबारियों को दौलताबाद ले जाना चाहिए था, न कि जनता को। साधारण नागरिक अपने घरों को छोड़कर अनजान और दूरस्थ दौलताबाद को जाने के लिए तैयार न थे और न उन्हें वहाँ ले जाने की कोई आवश्यकता थी। सुल्तान का यह सोचना भी भूल थी कि दौलताबाद एक उपयुक्त राजधानी होगी। मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए और उत्तर-भारत के पूर्ण संगठित राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिए दिल्ली अधिक उपयुक्त स्थान था। अव्यवस्थित दक्षिण-भारत की तुलना में संगठित उत्तर-भारत दिल्ली-सल्तनत के लिए अधिक महत्वपूर्ण था।

5. सांकेतिक मुद्रा (ताँबे या पीतल के सिक्कों) का चलाना (1329-30 ई.)

मुहम्मद तुगलक ने अपने समय में विभिन्न प्रकार के सुन्दर सिक्के चलाये और उन सभी का उचित मूल्य निश्चित किया परन्तु सांकेतिक मुद्रा का चलाना उसकी एक विशिष्टता रही। बरनी के कथनानुसार खजाने में धन की कमी और साम्राज्य-विस्तार की नीति को कार्य-रूप में परिणत करने की वजह से मुहम्मद तुगलक को सांकेतिक मुद्रा चलानी पड़ी। ईरान में कैरवात् खाँ के समय में सांकेतिक मुद्रा चलायी गयी थी यद्यपि वहाँ यह प्रयोग असफल हुआ था। परन्तु चीन में कुबलाई खाँ के समय में सांकेतिक मुद्रा का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया था। सम्भवतया नवीन अन्वेषणों का प्रयोग करने वाले मुहम्मद तुगलक ने उन देशों से प्रेरणा प्राप्त की। आधुनिक इतिहासकारों का यह भी कहना है कि उसके समय में सम्पूर्ण विश्व में चाँदी की कमी हो गयी थी और भारत में तो बहुत ही कमी थी। इस कारण उसने सांकेतिक मुद्रा चलायी।

बरनी के मतानुसार सुल्तान ने ताँबे के सिक्के चलाये और फरिश्ता के अनुसार ये सिक्के पीतल के थे। सम्भवतया, दोनों ही धातुओं के सिक्के चलाये गये थे। सुल्तान ने उनका मूल्य चाँदी के 'टंका' के बराबर कर दिया। पहले ताँबे के सिक्के को 'जीतल' (पैसा) पुकारते थे, अब 'टंका' (रुपया) भी ताँबे अथवा पीतल का होने लगा।

परन्तु सुल्तान की यह योजना असफल हुई। डॉ. मेंहदी हुसैन के अनुसार, "यह योजना पूर्णतया उपयुक्त और कूटनीतिक थी। परन्तु व्यावहारिक रूप में उसने वे सब सावधानियाँ नहीं बरतीं जो ऐसे प्रयोग के लिए आवश्यक थीं।" प्रो. मुहम्मद हबीब के अनुसार इस योजना की असफलता का दोष नागरिकों पर था जिन्होंने उन नवीन सिक्कों की धातु को परखने का उसी प्रकार प्रयत्न नहीं किया जिस प्रकार वे चाँदी और सोने के सिक्कों को परखते थे और इसके फलस्वरूप वे असली और नकली सिक्कों में अन्तर न कर सके। परन्तु अन्य इतिहासकार इसका मूल दोष मुहम्मद तुगलक को देते हैं। उनके अनुसार सुल्तान की यह भूल थी कि उसने ये सिक्के ऐसे नहीं बनवाये जिनकी नकल करना सम्भव न होता। वास्तव में इस असफलता का दायित्व दोनों पर था। सुल्तान ने उन सिक्कों की नकल न किये जाने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था नहीं की और नागरिकों ने इसका लाभ उठाकर नकली सिक्के बनाने आरम्भ कर दिये। बरनी के अनुसार, "प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया।" परन्तु हिन्दू ही क्यों, मुसलमान भी इस लोभ से वंचित नहीं रहे होंगे और जो भी नकली सिक्के बना सकता था, उसने उन्हें बनाया। प्रजा ने पीतल और ताँबे के सिक्कों में कर और लगान दिया तथा अपने घरों में चाँदी व सोने के सिक्के एकत्र करना आरम्भ कर दिया। व्यापार में भी व्यक्ति चाँदी और सोने के सिक्के लेना चाहते थे तथा ताँबे और पीतल के सिक्के देना चाहते थे। इससे व्यापार और मुख्यतया विदेशी व्यापार नष्ट होने लगा।

ये सिक्के अधिक से अधिक तीन या चार वर्ष चले। सुल्तान ने इस योजना की असफलता को देखकर सरकारी टकसाल द्वारा जारी की गयी सभी सांकेतिक मुद्रा को वापस ले लिया और व्यक्तियों को उनके बदले में चाँदी और सोने के सिक्के दे दिये। यह सुल्तान की बहुत बड़ी उदारता थी। सरकारी टकसालों के सम्मुख ताँबे और पीतल के सिक्कों के ढेर लग गये। सुल्तान ने जाली सिक्कों के अतिरिक्त सभी सिक्के बदलवा दिये। इससे राज्य की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई।

इस प्रकार मुहम्मद तुगलक अपनी सभी योजनाओं में असफल रहा। यह कहा जा सकता है कि उसके सुधार समय से आगे थे, उसकी प्रजा और उसके अधिकारी उन योजनाओं को न तो समझ सके और न ही उन्होंने उसके साथ सहयोग किया। परन्तु इतना कहने से उसकी योजनाओं की असफलता के मुख्य कारणों पर प्रकाश नहीं पड़ता। सुल्तान की योजनाओं की असफलता बहुत-कुछ स्वयं उसके कारण थी। सुल्तान में कल्पना-बुद्धि तो थी परन्तु व्यावहारिकता की कमी थी। वह नवीन योजनाएँ तो बना सकता था और वे सम्भवतया सिद्धान्त के आधार पर ठीक भी होती थीं परन्तु उन्हें कार्य-रूप में परिणित करने की जो आवश्यकताएँ थीं उनकी पूर्ति सुल्तान नहीं कर पाता था। वह बहुत उग्र और असंयमी था। तनिक-सी असफलता उसे क्रुद्ध कर देती थी और शीघ्र सफलता न मिलने पर वह अपनी योजनाओं को त्याग देता था। उसे अपने नागरिकों और अधिकारियों की योग्यता एवं क्षमता से लाभ उठाना तथा उनका सहयोग प्राप्त करना नहीं आता था। उसमें एक सुल्तान की दृष्टि से परिस्थितियों और व्यक्तियों के चरित्र को परखने की योग्यता का अभाव था। इस प्रकार उसमें एक व्यक्ति-समूह का नेता होने के गुण का अभाव था। मुहम्मद तुगलक की असफलताओं के मुख्य कारण यही थे। इस कारण स्वयं सुल्तान और उसके चरित्र के अभाव ही उसकी और उसकी योजनाओं की असफलता का कारण बने।

[3]

मंगोल-आक्रमण

मुहम्मद तुगलक के समय में मंगोलों का केवल एक आक्रमण हुआ। 1328-29 ई. में ट्रान्स-ऑक्सियाना के मंगोल नेता अलाउद्दीन तार्माशीरीन ने एक बड़ी सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। डॉ. मेंहदी हुसैन का कहना है कि तार्माशीरीन गजनी के निकट अमीर चोबन से परास्त होकर एक शरणार्थी की भाँति भारत में भागकर आया था और मुहम्मद तुगलक ने उसे 5,000 दीनार की सहायता देकर वापस भेज दिया। परन्तु अधिकांश इतिहासकार उसके इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार मंगोल आक्रमणकारी के रूप में आये और उन्होंने मुल्तान तथा लाहौर से लेकर बदायूँ और मेरठ तक लूटमार की। परन्तु सुल्तान ने उनके साथ क्या व्यवहार किया, इस बारे में इन इतिहासकारों में भी मतभेद है। इसामी के अनुसार सुल्तान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की एक सेना ने मेरठ के निकट मंगोलों को परास्त किया और उन्हें वापस जाने के लिए बाध्य किया। सर वूल्जले हेग ने इसी बात का समर्थन किया है। परन्तु फरिश्ता के अनुसार मंगोलों के दिल्ली के निकट पहुँचने पर सुल्तान ने उन्हें बहुमूल्य भेंटें देकर वापस किया। डॉ. ईश्वरीप्रसाद और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव फरिश्ता का समर्थन करते हैं। मंगोलों के निर्विघ्न दिल्ली के निकट तक पहुँच जाने और बिना किसी बड़े युद्ध के वापस चले जाने के कारण उनका यह मत सत्य भी जान पड़ता है। इतनी बात अवश्य है कि जब मंगोल वापस चले गये तब सुल्तान ने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। इसामी के अनुसार सुल्तान ने कलनूर (पंजाब में) तथा पेशावर को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ की सुरक्षा की व्यवस्था की।

[4]

साम्राज्य-विस्तार

मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली-सल्तनत का सबसे अधिक विस्तार हुआ। गियासुद्दीन तुगलक के समय में विजित राज्यों को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित करने की नीति का पालन किया गया था। मुहम्मद तुगलक ने उसी नीति का अनुसरण किया। इसामी के अनुसार मंगोलों के वापस चले जाने के पश्चात् उसने पेशावर और कलनूर को अपने आधिपत्य में ले लिया।

1. खुरासान तथा इराक की विजय-योजना

मंगोलों के वापस चले जाने के पश्चात् सुल्तान ने खुरासान तथा इराक को जीतने की योजना बनायी और इसके लिए उसने प्रायः 3,70,000 सैनिकों की एक बड़ी सेना एकत्र की तथा उसे एक वर्ष का अग्रिम वेतन भी दे दिया। मध्य-एशिया और ईरान (पर्शिया) की अव्यवस्थित परिस्थितियाँ और सुल्तान के दरबार में इराक तथा खुरासान से भागकर आये हुए अमीरों का प्रोत्साहन इस योजना के निर्माण का कारण बना था। परन्तु यह योजना कार्य-रूप में परिणित न की जा सकी और सुल्तान ने सेना को भंग कर दिया। मध्य-एशिया की परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया और सुल्तान बहुत लम्बे समय तक इतनी बड़ी सेना का व्यय भी नहीं उठा सकता था। इस कारण इस योजना से हानि हुई। इससे सुल्तान की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई और सेना से निकाले गये सैनिकों ने असन्तोष का वातावरण उत्पन्न किया। योजना मूल आधार पर भी दोषपूर्ण थी। इतने दूरस्थ प्रदेश को जीतना सम्भव न था और यदि जीत भी लिया जाय तो उसे अपने अधिकार में रखना कठिन था।

2. नगरकोट की विजय (1337 ई.)

पंजाब के कांगड़ा जिले में स्थित नगरकोट का किला एक हिन्दू राजा के अधीन था। उस समय तक किसी भी मुसलमान शासक ने उसे विजय नहीं किया था। मुहम्मद तुगलक ने उसे जीत लिया परन्तु अपनी अधीनता को स्वीकार कराने के पश्चात् उसे वहीं के राजा को वापस कर दिया।

3. कराजल पर आक्रमण (1337-38 ई.)

इतिहासकारों ने कराजल को 'कुराचिल', 'कूमाचल', 'कूर्माचल', आदि नामों से भी पुकारा है। यह राज्य हिमाचल की तराई में स्थित आधुनिक कुमायूँ जिले में था। फरिश्ता के अनुसार सुल्तान का लक्ष्य कराजल की विजय न होकर चीन को जीतना था। बरनी के अनुसार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह इराक और खुरासान को जीतने का प्रथम चरण था। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इनमें से किसी भी मत को सत्य नहीं मानते। उनके अनुसार मुहम्मद तुगलक का उद्देश्य उन पहाड़ी राज्यों को अपनी अधीनता में लाना था जहाँ अधिकांश विद्रोहियों को शरण प्राप्त होती थी। इससे उसकी उत्तरी सीमाएँ भी सुरक्षित हो जाती थीं। इब्नबतूता के अनुसार वहाँ आक्रमण के लिए एक लाख घुड़सवारों और बड़ी संख्या में पैदलों की एक विशाल सेना को भेजा गया। खुसरो मलिक को इस सेना का नेतृत्व सौंपा गया। इस सेना ने जिदया शहर को जीत लिया। डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार सुल्तान की आज्ञा को न मानकर जब खुसरो मलिक तिब्बत की ओर बढ़ा तब उसे भी बख्तियार खलजी की भाँति निराश होना पड़ा। उसकी सेना नष्ट हो गयी। इब्नबतूता के अनुसार सेना के केवल तीन अफसर जीवित वापस आ सके। परन्तु तराई के भाग में पहाड़ के नागरिक कृषि करते थे। इस कारण उन्होंने सुल्तान से सन्धि कर ली और उसे कर देना स्वीकार कर लिया। परन्तु इस आक्रमण से सुल्तान की सैनिक शक्ति दुर्बल हुई।

4. दक्षिण-भारत

अपने पिता के समय में मुहम्मद तुगलक तेलंगाना और सुदूर-दक्षिण में मलाबार-तट (पाण्ड्य राज्य) के अधिकांश भाग पर अधिकार कर चुका था। अपने शासनकाल के आरम्भ में बहाउद्दीन गुर्साप्स के विद्रोह ने उसे दक्षिण के अन्य भागों को विजय करने का अवसर दे दिया। गुर्साप्स ने कम्पिली के एक छोटे राज्य में शरण ली। वहाँ का राजा किसी समय में देवगिरि के अधीन था परन्तु अलाउद्दीन के समय में देवगिरि को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित किये जाने के पश्चात् उसने स्वयं को स्वतन्त्र कर लिया था। उसने अपनी सीमाओं और प्रतिष्ठा में भी वृद्धि करने में सफलता प्राप्त की थी। उस समय तक उस राज्य को मुसलमानों ने विजय नहीं किया था। तत्कालीन शासक कम्पिलीदेव ने गुर्साप्स को अपने यहाँ शरण दी और दिल्ली की सेनाओं से युद्ध करता हुआ मारा गया। परन्तु उससे पहले उसने गुर्साप्स को वीर बल्लाल की शरण में भेजने का प्रबन्ध कर दिया था। राजा की मृत्यु के पश्चात् कम्पिली को दिल्ली-राज्य में शामिल कर लिया गया।

वीर बल्लाल ने गुर्साप्स की रक्षा करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। उसकी पराजय हुई और उसने गुर्साप्स को दिल्ली सुल्तान को सौंप दिया तथा स्वयं उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस अवसर पर उससे उसके राज्य (द्वारसमुद्र) का अधिकांश भाग छीन लिया गया।

डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार राजधानी-परिवर्तन के पश्चात् मुहम्मद तुगलक ने देवगिरि के निकट के कोंढन (सिंहगढ़) को नाग नायक से छीन लिया। सम्भवतया, कोंढन उस समय तक स्वतन्त्र था। अतः कोंढन की विजय भी मुहम्मद तुगलक की एक नवीन विजय मानी जाती है।

इन विजयों ने दक्षिण-भारत की विजय की पूर्ति कर दी। दक्षिण के कुछ भाग को छोड़कर शेष सभी प्रदेश पर मुहम्मद तुगलक का अधिकार हो गया।

5. राजस्थान

केवल राजस्थान में मुहम्मद तुगलक को सफलता नहीं मिली। मालदेव के पुत्र जयजा को मेवाड़ छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा और राणा हम्मीरदेव ने सम्पूर्ण मेवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। राणा हम्मीरदेव ने मुहम्मद तुगलक द्वारा भेजी गयी एक सेना को परास्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में सफलता प्राप्त की, इसके भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् दिल्ली के सुल्तानों ने राजस्थान में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया और राजस्थान में मेवाड़ का राज्य सबसे अधिक प्रतिष्ठित बन गया।

इस प्रकार मुहम्मद तुगलक ने साम्राज्य-विस्तार करने में सफलता प्राप्त की। दिल्ली के सुल्तानों में सबसे बड़ा राज्य उसी का था। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है : "कश्मीर, उड़ीसा, राजस्थान और मलाबार-तट के भाग को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में सुल्तान की सत्ता स्वीकार की जाती थी और इस विस्तृत साम्राज्य पर उसने एक आधिपत्यपूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की।" परन्तु मुहम्मद तुगलक की यह सफलता स्थायी नहीं रही। दस वर्षों के पश्चात् उसके विस्तृत साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। उसके समय में अनेक विद्रोह हुए। उनमें से अधिकांश को उसने कठोरतापूर्वक दबा दिया परन्तु अन्त में उनमें से कुछ सफल हुए और भारत के दूरस्थ प्रदेशों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। उसके अन्तिम समय में उसके राज्य की सीमा अलाउद्दीन के राज्य की सीमा से अधिक न थी। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक राज्य-विस्तार करने में तो सफल रहा परन्तु उस राज्य को अधिक समय तक अपने अधिकार में न रख सका। भारत का एक विस्तृत भू-प्रदेश होना, यातायात की असुविधाएँ और एक लम्बे समय से राजनीतिक एकता का अभाव मुहम्मद तुगलक की असफलता के मूल कारण थे। परन्तु उसकी आन्तरिक योजनाओं की असफलता, खुरासान की विजय-योजना, कराजल का आक्रमण और दक्षिण में प्लेग के अवसर पर उसकी श्रेष्ठ सेना का नष्ट हो जाना भी उसकी असफलता के कारण थे।

मुहम्मद तुगलक ने विदेशी राज्यों से सम्बन्ध स्थापित किये। भारत में विदेशी मुसलमान काफी बड़ी संख्या में पहले भी आये और उसके समय में भी आये। परन्तु मुहम्मद तुगलक ने सम्भवतया, मिस्र से अपने राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। इसके अतिरिक्त 1341 ई. में चीन के सम्राट तोगन तिमूर ने अपना एक राजदूत उसके दरबार में भेजा था और उसने 1342 ई. में इब्नबतूता को अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा जो 1347 ई. में भारत वापस आया। इन सम्बन्धों से भारत को चाहे बहुत अधिक लाभ न हुआ हो परन्तु वे मुहम्मद तुगलक के विस्तृत दृष्टिकोण का प्रतीक अवश्य थे।

[5]

विद्रोह और साम्राज्य का विघटन

मुहम्मद तुगलक के समय में सबसे अधिक (चौंतीस) विद्रोह हुए, जिसमें सत्ताइस विद्रोह अकेले दक्षिण भारत में हुए। उनमें से कुछ विद्रोह महत्वाकांक्षी सरदारों ने किये परन्तु अधिकांश उसकी दमन-नीति के विरोध में अथवा उसकी दुर्बल परिस्थितियों से लाभ उठाने के उद्देश्य से किये गये। उनमें से कुछ विद्रोह सफल हुए और उन्होंने साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

(1) 1326-27 ई. में उसके पिता की बहन के पुत्र तथा गुलबर्गा के निकट सागर के जागीरदार वहाबुद्दीन गुर्साप्स ने विद्रोह किया। उसने बहुत-सी सम्पत्ति संचित कर ली थी। उसने सुल्तान के वफादार जागीरदारों पर आक्रमण किया। 1327 ई. में सुल्तान की सेना ने उसे देवगिरि के निकट परास्त किया और सागर तक उसका पीछा किया। गुर्साप्स वहाँ से भागकर कम्पिली के हिन्दू शासक की शरण में चला गया। सुल्तान ने कम्पिली पर आक्रमण करने के लिए एक बड़ी सेना भेजी। कम्पिलीदेव ने उसका मुकाबला किया। अन्त में, अपनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति को दुर्बल देखकर उसने गुर्सास्प को द्वारसमुद्र के होयसल शासक वीर बल्लाल की शरण में भेज दिया, स्त्रियों को 'जौहर' की आज्ञा दे दी और स्वयं युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। वीर बल्लाल ने आरम्भ में दिल्ली की सेना का मुकाबला किया परन्तु अपनी स्थिति को दुर्बल देखकर उसने गुर्सास्प को शाही सेना को सौंप दिया। उस समय मुहम्मद तुगलक ने अपनी क्रूर प्रकृति का परिचय दिया। **उसने गुर्सास्प की खाल में भूसा भरवा कर उसे साम्राज्य के सभी महत्वपूर्ण शहरों में प्रदर्शित कराया** और उसके शरीर के माँस को चावल के साथ पकाकर उसकी बीबी-बच्चों के पास खाने के लिए भेजा।

(2) 1327-28 ई. में उच्छ, सिन्ध और मुल्तान के सूबेदार बहराम आईबा उर्फ किश्लू खाँ ने विद्रोह किया। वह गियासुद्दीन तुगलक का मित्र था। सुल्तान मुहम्मद उसका सम्मान करता था। वह सीमा-रक्षक भी था। इस कारण उसका विद्रोह राज्य के लिए एक बड़ा खतरा था। सम्भवतया, इस विद्रोह का मुख्य कारण यह था कि उसने दौलताबाद जाने से इंकार कर दिया और जिस व्यक्ति ने उसे सुल्तान के आदेश दिये उसने उसके साथ दुर्व्यवहार किया जिस कारण उसने उसका वध करा दिया। बहराम आईबा के विद्रोह की सूचना पाकर सुल्तान दक्षिण से स्वयं उत्तर में गया और उसे परास्त कर दिया। **बहराम आईबा भाग खड़ा हुआ परन्तु पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया।**

(3) **1327-28 ई. में बंगाल में विद्रोह हुआ।** गियासुद्दीन तुगलक गियासुद्दीन बहादुर को बंगाल से कैद करके दिल्ली ले आया था। मुहम्मद तुगलक ने उसे छोड़ दिया था और उसे अपनी अधीनता में सोनारगाँव में शासन करने की आज्ञा दे दी थी। परन्तु प्रायः तीन वर्ष के पश्चात् उसने विद्रोह कर दिया। सुल्तान के सौतेले भाई **बहरामखाँ ने उसे परास्त कर दिया और उसकी खाल में भूसा भरवाकर सुल्तान के पास भेज दिया।**

परन्तु शीघ्र ही बहरामखाँ की मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् विभिन्न सरदारों में पारस्परिक झगड़े हो गये। अन्त में, एक वफादार सरदार अली मुबारक ने लखनौती पर अधिकार करके सुल्तान से किसी सूबेदार को नियुक्त करने की प्रार्थना की। परन्तु जब ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो सकी तब उसने स्वयं को सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। बाद में मलिक हाजी इलियास नामक एक अन्य सरदार ने उसका वध करके लखनौती पर अधिकार कर लिया और **सुल्तान शम्सुद्दीन के नाम से स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया।** सोनारगाँव पर भी उसने शीघ्र अधिकार कर लिया। **मुहम्मद तुगलक बंगाल की ओर ध्यान न दे सका और वहाँ शम्सुद्दीन का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया (1340-41 ई.)।** इसके पश्चात् बंगाल कभी भी दिल्ली-सुल्तानों के अधीन नहीं हुआ।

(4) सुनम और समाना, कड़ा, बीदर, गुलबर्गा, अवध और मुल्तान में भी विद्रोह हुए परन्तु उन्हें दबा दिया गया।

(5) 1334-35 ई. में सूबेदार अहसन शाह ने मलाबार में विद्रोह किया। सुल्तान उसे दबाने गया परन्तु लाहौर में हो गये विद्रोह के कारण उसे वापस आना पड़ा और **मदुरा (मलाबार) में एक स्वतन्त्र राज्य बन गया।**

(6) इसी अवसर पर हिन्दुओं ने तेलंगाना और काँची में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता पायी तथा हरीहर और बुक्का ने 1336 ई. में दक्षिण में विजयनगर के राज्य की नींव डाली।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(7) 1347 ई. में महाराष्ट्र (पिछले देवगिरि राज्य का प्रदेश) में एक नवीन स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य—बहमनी राज्य—की नींव पड़ी। सुल्तान ने कुतलुगखाँ को दौलताबाद से हटा दिया था और अजीज हिमार को मालवा का सूबेदार बनाया था। यह उसकी दो भूलें रहीं। कुतलुगखाँ एक योग्य सूबेदार था और दौलताबाद से उसको हटाया जाना हानिकारक हुआ। इधर अजीज हिमार ने सुल्तान की इच्छा को जानकर विदेशी मुसलमानों में से अनेक का वध कर दिया। इस कारण गुजरात के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया। उसे दबा दिया गया। तत्पश्चात् दौलताबाद में विद्रोह हुआ और वहाँ विद्रोहियों ने इस्माइल नामक एक सरदार को नासिरुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। सुल्तान जो गुजरात जा रहा था, पहले दौलताबाद गया और विद्रोहियों को परास्त करने के पश्चात् उसने उस पर अधिकार कर लिया। परन्तु उसी समय तागी के नेतृत्व में गुजरात में पुनः विद्रोह हुआ। सुल्तान उस विद्रोह को दबाने के लिए गुजरात गया। परन्तु उसके दौलताबाद से हटते ही विद्रोहियों ने उसे पुनः जीत लिया और इस बार हसन अबुल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह के नाम से सुल्तान बना और उसने एक स्वतन्त्र राज्य—बहमनी राज्य—की नींव डाली। गुजरात के विद्रोह के कारण सुल्तान को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न मिल सका।

(8) गुजरात में विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया था। उसी के परिणामस्वरूप मालवा, बरार और दौलताबाद में विद्रोह हुए थे। आरम्भ में नायब-वजीर ने उस विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु जब सुल्तान दौलताबाद में था तभी तागी के नेतृत्व में गुजरात में एक बड़ा विद्रोह हो गया। सुल्तान स्वयं उस विद्रोह को दबाने के लिए गुजरात गया। तागी एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना कोई बड़ा युद्ध किये हुए घूमता रहा परन्तु अन्त में उसकी पराजय हुई और वह भागकर सिन्ध चला गया। सुल्तान ने गुजरात में शान्ति स्थापित की, शासन को व्यवस्थित किया और तत्पश्चात् तागी को समाप्त करने व सिन्ध के विद्रोह को दबाने के लिए सिन्ध गया।

मृत्यु—मार्ग में सुल्तान बीमार हो गया और जब वह थट्टा के निकट ही था तब 20 मार्च, 1351 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी। बदायूँनी ने लिखा है : "सुल्तान को उसकी प्रजा से और प्रजा को अपने सुल्तान से मुक्ति मिल गयी।"

मुहम्मद तुगलक के सिंहासन पर बैठने के एक वर्ष पश्चात् ही विद्रोह आरम्भ हो गये थे और वह अन्त तक उन विभिन्न विद्रोहों को दबाने में लगा रहा, यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी विद्रोह को दबाने का प्रयत्न करते हुए ही हुई। सम्भवतया, इतने अधिक विद्रोह किसी अन्य सुल्तान के शासनकाल में नहीं हुए। परन्तु उनमें से अनेक का कारण स्वयं सुल्तान की गलत नीतियाँ अथवा भूलें थीं। सुल्तान ने उनमें से अधिकांश विद्रोहों को दबाने में सफलता प्राप्त की परन्तु बाद में धन की कमी और विभिन्न युद्धों में सैनिक-शक्ति के अपव्यय के कारण वह उनमें से अनेक को दबाने में असफल भी रहा। इस कारण बंगाल और सम्पूर्ण दक्षिण-भारत उसके हाथ से निकल गया और वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। मुहम्मद तुगलक का समय साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से सबसे अधिक सफल था परन्तु वही समय तुगलक-साम्राज्य के विघटन का भी रहा। उसके जीवन काल में सम्पूर्ण दक्षिण भारत स्वतन्त्र हो गया और दक्षिण में तुगलक साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर तीन स्वतन्त्र राज्य विजयनगर साम्राज्य, बहमनी सल्तनत और मदुरा की सल्तनत की स्थापना हुई। इस दृष्टि से मुहम्मद तुगलक तुगलक-साम्राज्य की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी हुआ तथा तुगलक-वंश के पतन का कारण बना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[6]

मुहम्मद तुगलक का चरित्र और मूल्यांकन

मध्य-युग के इतिहास में मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य अन्य सभी शासकों की तुलना में सर्वाधिक विवादपूर्ण रहे हैं। सम्भवतया, इस विवाद का एक कारण यह है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने भी उसके बारे में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया। बरनी ने सुल्तान को 'सृष्टि का आश्चर्य' बताया, इब्नबतूता ने सुल्तान को दयालु तथा कठोर दोनों बताया और इसामी ने सुल्तान को इस्लाम का विरोधी बताया। मध्य-युग के अन्य मुसलमान विद्वानों जैसे फरिश्ता, बदायूँनी, अबुल फजल आदि ने इन्हीं तत्कालीन इतिहासकारों को अपने मत का आधार बनाया। यूरोपीय इतिहासकारों में से गार्डनर ब्राउन को छोड़कर सभी ने सुल्तान की आलोचना की। इसके विपरीत, विभिन्न भारतीय इतिहासकारों ने उसे दुराग्रही और असन्तुलित बताते हुए भी अनेक प्रकार से उसकी प्रशंसा की है। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। ऐसा नहीं है कि मुहम्मद तुगलक का सम्पूर्ण चरित्र विवादपूर्ण है। मुख्य विवाद उसके चरित्र की क्रूरता, उसके दुराग्रह और उसके कार्यों की असफलता में उसके उत्तरदायित्व के बारे में है अन्यथा अनेक बातें ऐसी भी हैं जिनके सम्बन्ध में इतिहासकार सहमत हैं।

सभी इतिहासकार सहमत हैं कि व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक असाधारण था। उसका शरीर पुष्ट और शक्तिशाली था। उसने उचित शिक्षा प्राप्त की थी और उसका ज्ञान विस्तृत था। उसे अरबी और फारसी भाषा, गणित, नक्षत्र-विज्ञान, भौतिकशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि का ज्ञान था। वह एक अच्छा कवि था तथा उपमाओं एवं अलंकारों का सफलतापूर्वक प्रयोग करता था। वह लेखन और वार्तालाप की कला में पटु था। उसे विभिन्न ललित-कलाओं और मुख्यतया संगीत से प्रेम था। वह ललित-कलाओं का पोषक था और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी और उसकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र थी। इस प्रकार वह एक विद्वान और सुसभ्य व्यक्ति था। वह अत्यधिक उदार भी था। वह मुक्त-हृदय से दान करता था। वह निर्धनों की सहायता करता था और प्रायः चालीस हजार व्यक्ति प्रतिदिन शाही भोजनालय से भोजन प्राप्त करते थे। उसने अनेक अस्पताल बनवाये थे और राज्य की तरफ से दान-दक्षिणा का पूर्ण प्रबन्ध था। उसका नैतिक जीवन बहुत अच्छा था और मध्य-युग के शासकों के सामान्य अवगुण उसमें नहीं थे। वह शराब नहीं पीता था और शराब पीने को रोकने के लिए उसने प्रयत्न किये थे। स्त्री-सम्बन्धों के बारे में वह बहुत कट्टर था और उसने अनेक अवसरों पर सेना के साथ स्त्रियों को ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाया था। वह योग्य और अपने से अधिक आयु के व्यक्तियों का सम्मान करता था। सम्भवतया, उसने अपने पिता का वध कराया था परन्तु उसने अपने सिक्कों पर अपने पिता का नाम अंकित कराया और अपनी माँ का सर्वदा सम्मान किया।

वह एक सैनिक और सेनापति की दृष्टि से योग्य था। उसने अपने शाहजादा-काल में मंगोलों से अनेक युद्ध किये थे और अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय दिया था। सुल्तान बन जाने के पश्चात् भी वह प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में स्वयं भाग लेता रहा। दक्षिण-भारत की विजय को पूर्ण करने का श्रेय उसी को था। उसके समय में अनेक विद्रोह हुए परन्तु जहाँ-जहाँ भी सुल्तान गया वहाँ-वहाँ उसने विद्रोहों को दबाने में सफलता प्राप्त की। निस्सन्देह, उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जीवन-काल में ही अनेक दूरस्थ सूबों को खो दिया परन्तु उसमें उसकी असमर्थता किसी अन्य दृष्टिकोण से थी। उसने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लिया था जिनकी ओर न तो वह स्वयं ध्यान दे सका और न ही उन पर अधिकार रख सका। परन्तु उसका एक भी सैनिक-अभियान असफल नहीं रहा जबकि यह विश्वास किया जा सकता है कि आर्थिक संकटों, उत्तर-भारत के अकाल और दक्षिण-भारत में फैले हैजा अथवा प्लेग के कारण उसकी सेना दुर्बल हो गयी थी। उसके सैनिक-अभियानों की सफलता यह भी सिद्ध करती है कि उसे वफादार और योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त थीं। यह भी सत्य है कि दिल्ली के सुल्तानों में से किसी ने भी मुहम्मद तुगलक के बराबर अपने जीवन का समय सैनिक-अभियानों में व्यतीत नहीं किया।

मुहम्मद तुगलक शासक की दृष्टि से अत्यधिक परिश्रमी था। उसने व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार उन्हें पद प्रदान किये और ऐसा करते हुए उसने धर्म, जाति, वंश आदि के भेदभाव को नहीं माना। परन्तु वह असफल हुआ। अपने 26 वर्ष के शासनकाल में वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हुआ। उसकी आन्तरिक योजनाओं में से प्रत्येक योजना असफल हुई। उनमें से प्रत्येक ने राज्य की आर्थिक हानि की, जनसाधारण को कष्ट और असन्तोष प्रदान किया तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा में कमी की। बाह्य दृष्टि से उसकी खुरासान की विजय-योजना त्याग दी गयी, कराजल-आक्रमण से लाभ कम और सैनिक-हानि अधिक हुई, बंगाल स्वतन्त्र हो गया, सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये और गुजरात तथा सिन्ध में उसका प्रभाव अस्थिर हो गया। उसने अपने पिता से प्राप्त एक शक्तिशाली राज्य को दुर्बल और छोटा कर दिया तथा यह माना जा सकता है कि तुगलक-वंश का पतन उसके समय से ही आरम्भ हुआ। इस दृष्टिकोण से सुल्तान के पक्ष में केवल दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम, उन सभी कठिनाइयों और असफलताओं के होते हुए भी किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने सुल्तान का वध करने का प्रयत्न नहीं किया, जैसा कि सल्तनत के अधिकांश शासकों के साथ हुआ। द्वितीय, सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् सिन्ध में सुल्तान की सेना दो दिनों तक बिना किसी सुल्तान के पड़ी रही, तब भी किसी सरदार ने सुल्तान बनने का प्रयत्न नहीं किया और फीरोज तुगलक निर्विवाद सुल्तान चुना गया। परिस्थितियाँ इसके लिए उत्तरदायी हों, यह माना जा सकता है परन्तु यह बात सुल्तान मुहम्मद तुगलक के पक्ष में अवश्य जाती है। परन्तु तब भी निर्णय यही किया जाता है कि मुहम्मद तुगलक परिश्रमी, जनता की भलाई चाहने वाला और समय-समय पर अत्यधिक न्यायप्रिय होते हुए भी शासन की दृष्टि से असफल हुआ।

उपर्युक्त बातों पर सहमत होने के पश्चात् भी मुहम्मद तुगलक का दोमुखी व्यक्तित्व, चरित्र, व्यवहार और कार्य इतिहासकारों में विवाद का कारण बन गये हैं। शासक की दृष्टि से उसकी असफलताओं पर विचार करते हुए कुछ इतिहासकार यह कहते हैं कि उसकी असफलताओं का श्रेय उसके समय की परिस्थितियों और जनता के असहयोग को था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सुल्तान का उत्तेजक चरित्र, दुराग्रह, अव्यावहारिक बुद्धि, धैर्य की कमी और मानव-व्यवहार एवं परिस्थितियों को समझने का अभाव उसकी असफलता के मुख्य कारण थे। इतिहासकारों का यही मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। मुहम्मद तुगलक काल्पनिक योजनाएँ बना लिया करता था और, सम्भवतया, सिद्धान्त के आधार पर वे ठीक भी होती थीं परन्तु उन्हें सफल बनाने के लिए वह उचित साधन नहीं खोज पाता था और न उसमें पर्याप्त मात्रा में धैर्य था। इस कारण उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[6]

मुहम्मद तुगलक का चरित्र और मूल्यांकन

मध्य-युग के इतिहास में मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य अन्य सभी शासकों की तुलना में सर्वाधिक विवादपूर्ण रहे हैं। सम्भवतया, इस विवाद का एक कारण यह है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने भी उसके बारे में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया। बरनी ने सुल्तान को 'सृष्टि का आश्चर्य' बताया, इब्नबतूता ने सुल्तान को दयालु तथा कठोर दोनों बताया और इसामी ने सुल्तान को इस्लाम का विरोधी बताया। मध्य-युग के अन्य मुसलमान विद्वानों जैसे फरिश्ता, बदायूँनी, अबुल फजल आदि ने इन्हीं तत्कालीन इतिहासकारों को अपने मत का आधार बनाया। यूरोपीय इतिहासकारों में से गार्डनर ब्राउन को छोड़कर सभी ने सुल्तान की आलोचना की। इसके विपरीत, विभिन्न भारतीय इतिहासकारों ने उसे दुराग्रही और असन्तुलित बताते हुए भी अनेक प्रकार से उसकी प्रशंसा की है। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। ऐसा नहीं है कि मुहम्मद तुगलक का सम्पूर्ण चरित्र विवादपूर्ण है। मुख्य विवाद उसके चरित्र की क्रूरता, उसके दुराग्रह और उसके कार्यों की असफलता में उसके उत्तरदायित्व के बारे में है अन्यथा अनेक बातें ऐसी भी हैं जिनके सम्बन्ध में इतिहासकार सहमत हैं।

सभी इतिहासकार सहमत हैं कि व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक असाधारण था। उसका शरीर पुष्ट और शक्तिशाली था। उसने उचित शिक्षा प्राप्त की थी और उसका ज्ञान विस्तृत था। उसे अरबी और फारसी भाषा, गणित, नक्षत्र-विज्ञान, भौतिकशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि का ज्ञान था। वह एक अच्छा कवि था तथा उपमाओं एवं अलंकारों का सफलतापूर्वक प्रयोग करता था। वह लेखन और वार्तालाप की कला में पटु था। उसे विभिन्न ललित-कलाओं और मुख्यतया संगीत से प्रेम था। वह ललित-कलाओं का पोषक था और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी और उसकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र थी। इस प्रकार वह एक विद्वान और सुसभ्य व्यक्ति था। वह अत्यधिक उदार भी था। वह मुक्त-हृदय से दान करता था। वह निर्धनों की सहायता करता था और प्रायः चालीस हजार व्यक्ति प्रतिदिन शाही भोजनालय से भोजन प्राप्त करते थे। उसने अनेक अस्पताल बनवाये थे और राज्य की तरफ से दान-दक्षिणा का पूर्ण प्रबन्ध था। उसका नैतिक जीवन बहुत अच्छा था और मध्य-युग के शासकों के सामान्य अवगुण उसमें नहीं थे। वह शराब नहीं पीता था और शराब पीने को रोकने के लिए उसने प्रयत्न किये थे। स्त्री-सम्बन्धों के बारे में वह बहुत कट्टर था और उसने अनेक अवसरों पर सेना के साथ स्त्रियों को ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाया था। वह योग्य और अपने से अधिक आयु के व्यक्तियों का सम्मान करता था। सम्भवतया, उसने अपने पिता का वध कराया था परन्तु उसने अपने सिक्कों पर अपने पिता का नाम अंकित कराया और अपनी माँ का सर्वदा सम्मान किया।

वह एक सैनिक और सेनापति की दृष्टि से योग्य था। उसने अपने शाहजादा-काल में मंगोलों से अनेक युद्ध किये थे और अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय दिया था। सुल्तान बन जाने के पश्चात् भी वह प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में स्वयं भाग लेता रहा। दक्षिण-भारत की विजय को पूर्ण करने का श्रेय उसी को था। उसके समय में अनेक विद्रोह हुए परन्तु जहाँ-जहाँ भी सुल्तान गया वहाँ-वहाँ उसने विद्रोहों को दबाने में सफलता प्राप्त की। निस्सन्देह, उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जीवन-काल में ही अनेक दूरस्थ सूबों को खो दिया परन्तु उसमें उसकी असमर्थता किसी अन्य दृष्टिकोण से थी। उसने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लिया था जिनकी ओर न तो वह स्वयं ध्यान दे सका और न ही उन पर अधिकार रख सका। परन्तु उसका एक भी सैनिक-अभियान असफल नहीं रहा जबकि यह विश्वास किया जा सकता है कि आर्थिक संकटों, उत्तर-भारत के अकाल और दक्षिण-भारत में फैले हैजा अथवा प्लेग के कारण उसकी सेना दुर्बल हो गयी थी। उसके सैनिक-अभियानों की सफलता यह भी सिद्ध करती है कि उसे वफादार और योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त थीं। यह भी सत्य है कि दिल्ली के सुल्तानों में से किसी ने भी मुहम्मद तुगलक के बराबर अपने जीवन का समय सैनिक-अभियानों में व्यतीत नहीं किया।

मुहम्मद तुगलक शासक की दृष्टि से अत्यधिक परिश्रमी था। उसने व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार उन्हें पद प्रदान किये और ऐसा करते हुए उसने धर्म, जाति, वंश आदि के भेदभाव को नहीं माना। परन्तु वह असफल हुआ। अपने 26 वर्ष के शासनकाल में वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हुआ। उसकी आन्तरिक योजनाओं में से प्रत्येक योजना असफल हुई। उनमें से प्रत्येक ने राज्य की आर्थिक हानि की, जनसाधारण को कष्ट और असन्तोष प्रदान किया तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा में कमी की। बाह्य दृष्टि से उसकी खुरासान की विजय-योजना त्याग दी गयी, कराजल-आक्रमण से लाभ कम और सैनिक-हानि अधिक हुई, बंगाल स्वतन्त्र हो गया, सम्पूर्ण दक्षिण-भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये और गुजरात तथा सिन्ध में उसका प्रभाव अस्थिर हो गया। उसने अपने पिता से प्राप्त एक शक्तिशाली राज्य को दुर्बल और छोटा कर दिया तथा यह माना जा सकता है कि तुगलक-वंश का पतन उसके समय से ही आरम्भ हुआ। इस दृष्टिकोण से सुल्तान के पक्ष में केवल दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम, उन सभी कठिनाइयों और असफलताओं के होते हुए भी किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने सुल्तान का वध करने का प्रयत्न नहीं किया, जैसा कि सल्तनत के अधिकांश शासकों के साथ हुआ। द्वितीय, सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् सिन्ध में सुल्तान की सेना दो दिनों तक बिना किसी सुल्तान के पड़ी रही, तब भी किसी सरदार ने सुल्तान बनने का प्रयत्न नहीं किया और फीरोज तुगलक निर्विवाद सुल्तान चुना गया। परिस्थितियाँ इसके लिए उत्तरदायी हों, यह माना जा सकता है परन्तु यह बात सुल्तान मुहम्मद तुगलक के पक्ष में अवश्य जाती है। परन्तु तब भी निर्णय यही किया जाता है कि मुहम्मद तुगलक परिश्रमी, जनता की भलाई चाहने वाला और समय-समय पर अत्यधिक न्यायप्रिय होते हुए भी शासन की दृष्टि से असफल हुआ।

उपर्युक्त बातों पर सहमत होने के पश्चात् भी मुहम्मद तुगलक का दोमुखी व्यक्तित्व, चरित्र, व्यवहार और कार्य इतिहासकारों में विवाद का कारण बन गये हैं। शासक की दृष्टि से उसकी असफलताओं पर विचार करते हुए कुछ इतिहासकार यह कहते हैं कि उसकी असफलताओं का श्रेय उसके समय की परिस्थितियों और जनता के असहयोग को था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सुल्तान का उत्तेजक चरित्र, दुराग्रह, अव्यावहारिक बुद्धि धैर्य की कमी और मानव-व्यवहार एवं परिस्थितियों को समझने का अभाव उसकी असफलता के मुख्य कारण थे। इतिहासकारों का यही मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। मुहम्मद तुगलक काल्पनिक योजनाएँ बना लिया करता था और, सम्भवतया, सिद्धान्त के आधार पर वे ठीक भी होती थीं परन्तु उन्हें सफल बनाने के लिए वह उचित साधन नहीं खोज पाता था और न उसमें पर्याप्त मात्रा में धैर्य था। इस कारण उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योजनाएँ असफल होती थीं। फलस्वरूप, सुल्तान संयम खोकर कठोर दण्ड देता था और परिस्थितियों से बाध्य होकर वह उन्हें त्याग भी देता था। सुल्तान की एक कमी यह भी थी कि वह अपनी प्रजा और अपने अधिकारियों का सहयोग प्राप्त करने में असफल हो जाता था और फिर आक्रोश में सभी को नीच और बेईमान मान लेता था। **अतः अपनी असफलता का मूल कारण वह स्वयं था।**

तत्कालीन इतिहासकार इसामी और बरनी ने सुल्तान पर 'काफिर' होने का आरोप लगाया है। परन्तु यह सर्वथा गलत है। सुल्तान दिल्ली के सुल्तानों में अत्यधिक सहिष्णु शासक था। वह सभी धर्मों के विद्वानों का सम्मान करता था। जैन विद्वान और सन्त जिनप्रभु सूरी को उसने दरबार में बुलाकर सम्मान प्रदान किया था। वह सूफी, शेख और अन्य विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों के सम्पर्क में आया था। **अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। नगरकोट पर आक्रमण के अवसर पर उसने ज्वालामुखी देवी के मन्दिर को नष्ट नहीं किया। हिन्दुओं को उसने सम्मानित पदों पर नियुक्त किया था।** सम्भवतया, दिल्ली-सुल्तानों में वह प्रथम सुल्तान था जो हिन्दुओं के त्यौहारों, मुख्यतया होली, में भाग लेता था। उसने गैर-तुर्कों और भारतीय मुसलमानों को भी सरकारी पदों पर नियुक्त किया जिसके कारण बरनी ने उसकी कटु आलोचना की और ऐसे व्यक्तियों को 'छिछोरा, माली, जुलाहा, नाई, रसोइया' आदि कहा। प्रो. इरफान हबीब ने यह भी कहा है कि मुहम्मद तुगलक के अमीरों में खानदानी अमीरों के अतिरिक्त मंगोल, विदेशी मुसलमान और हिन्दू भी थे। ऐसा नहीं था कि सुल्तान ने खानदानी अमीरों को पद देने बन्द कर दिये थे और केवल योग्यता को ही सरकारी पद देने का आधार बना दिया था। ऐसा किया जाना मध्य-युग में सम्भव भी नहीं था। परन्तु यह बात अवश्य है कि सुल्तान ने विद्रोही अमीर-वर्ग में परिवर्तन करने के लिए योग्यता को सरकारी पद प्रदान करने का एक आधार बनाया था। इसके अतिरिक्त, मुहम्मद तुगलक ने उलेमा-वर्ग को उनके विशेष अधिकारों से वंचित किया था और अनेक अवसरों पर उन्हें कठोर दण्ड दिये थे। अतः कट्टर मुसलमान और उलेमा-वर्ग उससे असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने उस पर मिथ्या आरोप लगाये। अन्त में, सुल्तान को उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए खलीफा की स्वीकृति लेने और खलीफा के एक वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद का सम्मान करने के लिए विवश होना पड़ा। **वैसे मुहम्मद तुगलक इस्लाम और उसके सम्मान की सुरक्षा में विश्वास करता था।** वह इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने वालों को मृत्यु-दण्ड देता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था। **अतः यह माना जाता है कि वह एक सहिष्णु मुसलमान शासक था।**

परन्तु मुहम्मद तुगलक के विषय में मुख्य विवाद उसकी क्रूर और आत्म-विरोधी प्रकृति के कारण है। इब्नबतूता ने लिखा है : "मुहम्मद तुगलक एक ऐसा व्यक्ति है जो उपहार देने व रक्त बहाने में अन्य सभी से अधिक रुचि रखता है। उसके द्वार पर किसी निर्धन को धनवान बनते हुए अथवा जीवित व्यक्ति को मृत्यु के मुँह में जाते हुए किसी भी समय देखा जा सकता है।" इसी प्रकार इतिहासकार बरनी ने लिखा है : "सुल्तान ने निरपराध मुसलमानों का रक्त इतनी क्रूरता से बहाया कि सर्वदा उसके महल के दरवाजे से बहते हुए खून का दरिया देखा जा सकता था।" इस आधार पर इन इतिहासकारों ने उसे रक्त-पिपासु बताया। सम्भवतया, इन तत्कालीन इतिहासकारों के मत के आधार पर ही एलफिन्सटन ने यह मत व्यक्त किया है कि **"मुहम्मद तुगलक में पागलपन का कुछ अंश था।"** उसने लिखा है : "प्रत्येक प्रकार से यह स्वीकार किया जाता है कि वह अपने युग का एक शक्तिशाली और योग्य शासक था परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सभी अनुपम प्रतिभाएँ और योग्यताएँ उसे निरर्थक ही प्रदान की गयी थीं। इन सभी के साथ निर्णय का अनौचित्य सम्मिलित था जो निरंकुश शक्ति के मद को ध्यान में रखने के बाद भी हमें यह सन्देह प्रदान करता है कि क्या उसमें पागलपन का कुछ अंश विद्यमान न था ?" कुछ अन्य यूरोपियन इतिहासकारों, जैसे हैवेल, इरविन, स्मिथ, लेनपूल, आदि ने भी इसी मत को स्वीकार कर लिया है। **परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते।** निस्सन्देह, मुहम्मद तुगलक अपराधियों, विरोधियों और विद्रोहियों को जो अमानवीय और नृशंस भी बन जाते थे, कठोरतम दण्ड देता था। इब्नबतूता जो एक विदेशी यात्री था, ऐसे अनेक उदाहरण देता है जबकि सुल्तान ने अमानुषिक दण्ड दिये थे। फीरोज तुगलक का अपने समय में मुहम्मद तुगलक द्वारा दण्डित अनेक व्यक्तियों को भेंट, दान आदि देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना भी यह संकेत देता है कि सुल्तान क्रूर था। अतः कतिपय इतिहासकारों द्वारा उसे क्रूरता के दोष से मुक्त करने का प्रयत्न तो सफल नहीं माना जा सकता, परन्तु इसी आधार पर सुल्तान को रक्त-पिपासु अथवा पागल कहना सर्वथा अनुपयुक्त है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है : "मुहम्मद पर पागल होने का दोष मुल्लाओं द्वारा लगाया गया था जिनके प्रति सुल्तान का व्यवहार स्पष्टतया उपेक्षापूर्ण रहा था।" वह पुनः लिखते हैं : "कुछ इतिहासकार उस पर पागलपन का आरोप लगाते हैं परन्तु इब्नबतूता के लेखों और बरनी के इतिहास में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया गया है।" इसी प्रकार डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव भी उसे पागलपन के दोष से सर्वथा मुक्त मानते हैं। वह लिखते हैं : "मुहम्मद साधारण अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड इसलिए नहीं दिया करता था कि वह पागल था बल्कि इसलिए कि उसमें साधारण और भीषण अपराधों में अन्तर समझने की विवेकपूर्ण बुद्धि न थी। उसकी गलतियों का कारण उसका पागलपन न होकर सन्तुलन का अभाव था।" इसी प्रकार अन्य अधिकांश आधुनिक इतिहासकार भी मुहम्मद तुगलक को पागलपन के दोष से सर्वथा मुक्त करते हैं।

मुहम्मद तुगलक के बारे में एक अन्य विवाद यह है कि उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था अथवा नहीं ? स्मिथ ने लिखा है : "वह विरोधी तत्वों का मिश्रण था, जैसा कि बाद के समय में जहाँगीर हुआ।" परन्तु डॉ. ईश्वरीप्रसाद इस विचार से सहमत नहीं हैं। वह लिखते हैं : "केवल सरसरी दृष्टि से देखने पर ही हमें मुहम्मद 'आश्चर्यजनक विरोधी तत्वों का मिश्रण' प्रतीत होता है अन्यथा वास्तविकता में वह ऐसा नहीं था।" वह उसका मुख्य दोष उसमें 'शासन-प्रबन्ध के उच्च आदर्शों के साथ-साथ 'दुराग्रह की प्रवृत्ति' को बताते हैं। डॉ. के. ए. निजामी भी उसे विरोधी तत्वों का मिश्रण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार मुहम्मद तुगलक के बारे में इस प्रकार की धारणा बनने का कारण बरनी है जो भावावेश में कभी सुल्तान की बहुत प्रशंसा करता है तो कभी अत्यधिक बुराई। वह लिखते हैं : "जब बरनी वर्तमान में है तब उसे मुहम्मद-बिन तुगलक से प्रेम है। जब वह भूतकाल में है तो उसके पास उसके लिए घृणा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" वह लिखते हैं कि सुल्तान में विरोधी तत्वों का मिश्रण न था बल्कि स्वयं बरनी के विचारों में ही विरोध था जिसके कारण सुल्तान के बारे में इस प्रकार की धारणा बना ली गयी है। डॉ. मेंहदी हुसैन भी लिखते हैं कि "मुहम्मद तुगलक के विरोधी गुण उसके जीवन के विभिन्न अवसरों पर प्रकट हुए और उनके लिए स्पष्ट कारण भी थे। अतः उसे विरोधी तत्वों का मिश्रण स्वीकार नहीं किया जा सकता।" परन्तु अन्य कुछ आधुनिक इतिहासकार ऐसे भी हैं जो मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्वों का मिश्रण मानते हैं। मुहम्मद तुगलक के कार्यों को देखते हुए जब उसके चरित्र की व्याख्या की जाती है तब यह स्पष्ट होता है कि निस्सन्देह, उसके चरित्र में विरोधी तत्व थे। मुहम्मद तुगलक में उच्चकोटि की नम्रता थी परन्तु दम्भ भी अत्यधिक था। खलीफा के दरिद्र वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद से स्वयं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुरोध करके उसके पैर को उसने अपनी गर्दन पर रखवाया, यह उसकी नम्रता ही थी। परन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर वह यह सुनने को तैयार न था कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर ऐसा कोई भू-प्रदेश है जिस पर उसका आधिपत्य न हो। यह उसका दम्भ था। एक अवसर पर सुल्तान एक साधारण व्यक्ति की भाँति काजी के न्यायालय में उपस्थित होता है, उसे पहले से ही आदेश भेज देता है कि न्यायालय में वह उसके साथ एक साधारण व्यक्ति जैसा ही व्यवहार करे और काजी के निर्णय को शिरोधार्य करता है। इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर वह अपने एक अधिकारी के पुत्र से 21 बेंत खाता है। वही सुल्तान अनेक अवसरों पर साधारण से साधारण अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड देता है अथवा देने में क्रूरता और बर्बरता का परिचय देता है। इसे न्याय का औचित्य नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि साधारणतया, मुहम्मद तुगलक शान्त और संयमी था परन्तु क्रोध में उसके मस्तिष्क का सम्पूर्ण सन्तुलन नष्ट हो जाता था। इसी प्रकार कभी सुल्तान बहुत उदार और कभी ऐसी संकुचित प्रवृत्ति का बन जाता था जिसमें तर्क के लिए कोई स्थान नहीं रहता था। सर वूल्जले हेग ने उसके बारे में लिखा है कि शासक की दृष्टि से "उसके कुछ प्रशासकीय कार्य और अधिकांश सैनिक-कार्य श्रेष्ठतम योग्यता का प्रमाण देते हैं परन्तु अन्य कार्य पागलपन के कार्य हैं।" ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्वों का मिश्रण था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव यह मानते हैं कि "उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था।" इस सम्बन्ध में डॉ. आर. सी. मजूमदार ने भी लिखा है : "वह न रक्त-पिपासु दैत्य था और न पागल, जैसा कि कुछ व्यक्तियों ने कहा है। लेकिन उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था इसमें सन्देह नहीं है क्योंकि असहनीय क्रूरता, तुच्छ सनक और परिस्थितियों को समझने का अपना अत्यधिक विश्वास आदि उसके चरित्र के ऐसे अवगुण थे जो उसके हृदय और मस्तिष्क के अनेक गुणों के पूर्णतया विरोध में प्रतीत होते हैं।" इस प्रकार मुहम्मद तुगलक पागल तो न था परन्तु उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण अवश्य था।

विभिन्न प्रकार से असफल होते हुए भी मुहम्मद तुगलक को इतिहास में एक प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। गार्डनर ब्राउन ने मुहम्मद तुगलक को सभी अपवादों से मुक्त करके उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने उसके बारे में लिखा है : "मध्य-युग में राजमुकुट धारण करने वालों में मुहम्मद तुगलक, निस्सन्देह, योग्यतम व्यक्ति था। मुस्लिम शासन की स्थापना के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन को सुशोभित करने वाले शासकों में वह सर्वाधिक विद्वान एवं सुसंस्कृत शासक था।" सर वूल्जले हेग ने लिखा है : "दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले असाधारण शासकों में से वह एक था।" उपर्युक्त इतिहासकारों के कथन में बहुत कुछ सत्यता है। शिक्षा, ज्ञान, नैतिक चरित्र, व्यक्तिगत साहस और सैन्य-संचालन की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक अद्वितीय था। यह भी ठीक है कि उससे अधिक विद्वान और सच्चरित्र शासक दिल्ली के सुल्तानों में कोई अन्य नहीं हुआ। उसका व्यक्तित्व और चरित्र आकर्षक था। परन्तु एक शासक की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक पूर्णतया असफल रहा, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उसकी सद्भावनाओं और योग्यता का अन्तिम परिणाम सफलता नहीं बल्कि असफलता था। वह न तो अपने राज्य की सुरक्षा कर सका, न अपनी प्रजा की भलाई, और न ही अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा। इस कारण इतिहास में मुहम्मद तुगलक का स्थान एक योग्य और सफल शासक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसकी विद्वत्ता, काल्पनिक शक्ति, व्यक्तिगत साहस और धार्मिक सहिष्णुता उसकी श्रेष्ठता थी। कई क्षेत्रों में उसने नवीन अन्वेषण किये। उनमें उसे सफलता नहीं मिली परन्तु उसकी शक्ति उसके सिद्धान्तों के औचित्य, उनकी पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्न और अपनी असफलता को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार करने में थी। इस कारण, मुहम्मद तुगलक की श्रेष्ठता उसकी सफलता अथवा असफलताओं के कारण नहीं है बल्कि उसकी विद्वत्ता और चरित्र के कुछ विशेष गुणों के कारण है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मुहम्मद तुगलक की आन्तरिक सुधार योजनाओं का वर्णन कीजिए। उनकी असफलता के क्या कारण थे ?
2. मुहम्मद तुगलक के समय में हुए विद्रोहों ने किस प्रकार तुगलक-साम्राज्य के विघटन में भाग लिया ?
3. मुहम्मद तुगलक के चरित्र और व्यक्तित्व पर एक टिप्पणी लिखिए।
4. "मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्त्वों का मिश्रण था।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?
5. मुहम्मद तुगलक की निम्न आन्तरिक योजनाओं में से किन्हीं दो पर विस्तार से टिप्पणी लिखिए—

   (अ) दोआब में कर वृद्धि,

   (ब) राजधानी परिवर्तन,

   (स) सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मुहम्मद बिन तुगलक के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
2. मुहम्मद तुगलक के राजत्व सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।
3. दोआब में कर वृद्धि की योजना की विवेचना कीजिए।
4. राजधानी परिवर्तन के कारणों का वर्णन कीजिए।
5. सांकेतिक मुद्रा अथवा प्रतीक मुद्रा की योजना की असफलता का उल्लेख कीजिए।
6. मुहम्मद बिन तुगलक के शासन में होने वाले मंगोल आक्रमण का वर्णन कीजिए।
7. मुहम्मद तुगलक की विजय की योजना पर एक टिप्पणी लिखिए।
8. मुहम्मद तुगलक के समय में होने वाले चार विद्रोहों का वर्णन कीजिए।
9. एक शासक के रूप में मुहम्मद तुगलक का मूल्यांकन कीजिए।
10. क्या मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्त्वों का मिश्रण था ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुहम्मद तुगलक 1325 ई. में सुल्तान बनने के कितने दिन बाद दिल्ली में प्रविष्ट हुआ था ?

   (अ) 10 दिन बाद (ब) 20 दिन बाद

   (स) 30 दिन बाद (द) 40 दिन बाद।

2. मुहम्मद तुगलक का राजत्व सिद्धान्त था—

   (अ) दैविक सिद्धान्त (ब) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

   (स) जनसेवा का सिद्धान्त (द) इनमें से कोई नहीं।

3. मुहम्मद तुगलक ने सिक्कों पर नाम खुदवाया था—

   (अ) खलीफा का (ब) अपना

   (स) 'अ' व 'ब' दोनों का (द) इनमें से किसी का नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. न्याय विभाग पर किस वर्ग का आधिपत्य था ?
(अ) शासक वर्ग का (ब) सामन्तों का
(स) उलेमा वर्ग का (द) अमीरों का।

5. मुहम्मद तुगलक के सन्दर्भ में किसने लिखा है, "उसके सरदारों में न केवल उच्च परिवारों के ही व्यक्ति थे, अपितु अन्य वर्गों; जैसे—मंगोल, विदेशी मुसलमान आदि के व्यक्ति भी सम्मिलित थे।"
(अ) डॉ. इरफान हबीब ने (ब) प्रो. मुहम्मद हबीब ने
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने (द) डॉ. ए. बी. पाण्डेय ने।

6. मुहम्मद तुगलक का हिन्दू प्रजा के प्रति व्यवहार था—
(अ) असहिष्णुतापूर्ण (ब) सहिष्णुतापूर्ण
(स) कठोर (द) क्रूर।

7. दोआब की कर वृद्धि को किस लेखक ने अत्यन्त साधारण होना लिखा है ?
(अ) बरनी ने (ब) अफीफ ने
(स) गार्डनर ब्राउन ने (द) डॉ. श्रीवास्तव ने।

8. दोआब में कर वृद्धि के परिणामस्वरूप क्या हुआ ?
(अ) दोआब का क्षेत्र उजड़ गया (ब) लोग जमीन छोड़कर भागने लगे
(स) लोग चोरी-डकैती करने लगे (द) उपर्युक्त सभी।

9. कृषि विभाग की उन्नति हेतु नियुक्त मन्त्री को कहा जाता था—
(अ) अमीर-ए-कोही (ब) अमीर-ए-हाजिब
(स) अमीर-ए-शिकार (द) अमीर-ए-अखूर।

10. मुहम्मद बिन तुगलक ने दिल्ली के स्थान पर देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया था—
(अ) मंगोल आक्रमणों से बचने हेतु
(ब) नागरिकों को दण्डित करने हेतु
(स) दक्षिण भारत को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बनाने हेतु
(द) उपर्युक्त सभी।

11. किस लेखक का मत है कि मुहम्मद तुगलक ने सम्पूर्ण जनता को दिल्ली से दौलताबाद जाने के आदेश नहीं दिये थे—
(अ) डॉ. इरफान हबीब (ब) प्रो. हबीबुल्ला
(स) डॉ. के. ए. निजामी (द) डॉ. एस. एम. जफर।

12. दिल्ली से दौलताबाद की दूरी थी—
(अ) 800 सौ किलोमीटर (ब) 950 किलोमीटर
(स) एक हजार किलोमीटर (द) तीनों में से कोई नहीं।

13. सांकेतिक मुद्रा की योजना लागू की गयी थी—
(अ) 1324-25 ई. में (ब) 1325-26 ई. में
(स) 1327-28 ई. में (द) 1329-30 ई. में।

14. सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने किस धातु की मुद्रा का प्रचलन किया था ?
(अ) ताँबे की (ब) चाँदी की
(स) सोने की (द) काँसे की।

15. सांकेतिक मुद्रा की योजना की असफलता का कारण था—
(अ) नकली सिक्के (ब) टकसाल के अधिकारियों की लापरवाही
(स) जनता का लालच (द) उपर्युक्त सभी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16. मुहम्मद तुगलक के समय किस मुगल नेता ने भारत पर आक्रमण किया था ?
(अ) दवा खाँ (ब) तार्माशीरीन
(स) कुबलाई खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।

17. अपनी विजय की योजना के कार्यान्वयन हेतु मुहम्मद ने बड़ी सेना एकत्रित की थी—
(अ) 3,50,000 सैनिकों की (ब) 3,60,000 सैनिकों की
(स) 3,70,000 सैनिकों की (द) 3,80,000 सैनिकों की।

18. मुहम्मद बिन तुगलक ने 1342 ई. में किस व्यक्ति को अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा था ?
(अ) अब्दुर्रज्जाक को (ब) इब्नबतूता को
(स) अब्दुल रहमान को (द) इनमें से किसी को नहीं।

19. गुलबर्गा के समीप सागर के निकट किस जागीरदार ने मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध विद्रोह किया था ?
(अ) बहाबुद्दीन गुसस्पि ने (ब) किश्लू खाँ ने
(स) बहराम ने (द) शमसुद्दीन ने।

20. 1740-41 ई. में बंगाल में किस व्यक्ति ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी ?
(अ) नासिरुद्दीन ने (ब) बहाबुद्दीन ने
(स) गियासुद्दीन ने (द) शमसुद्दीन ने।

21. 1335 ई. में तैलंगाना में स्वतन्त्र शासन की स्थापना की थी—
(अ) रामपाल ने (ब) सोमदेव ने
(स) काप्य नायक ने (द) इनमें से किसी ने नहीं।

22. हरिहर व बुक्का मन्त्री थे—
(अ) कृष्णदेव के (ब) कम्पिली देव के
(स) विजयपाल के (द) राजपाल के।

23. 1351 ई. में मुहम्मद तुगलक की मृत्यु पर किस विद्वान ने लिखा है, "सुल्तान को उसकी प्रजा से और प्रजा को अपने सुल्तान से मुक्ति मिल गयी।"
(अ) बदायूँनी ने (ब) अफीफ ने
(स) बरनी ने (द) मिनहाज ने।

24. सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक की असफलताओं का मूल कारण था—
(अ) जन-असहयोग (ब) अयोग्य अधिकारी
(स) उसका क्रोधी स्वभाव (द) अपनी योग्यता पर अत्यधिक विश्वास।

25. 'मुहम्मद बिन तुगलक में पागलपन का कुछ अंश था।' किस इतिहासकार का कथन है ?
(अ) लेनपूल का (ब) एलफिन्स्टन का
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद का (द) डॉ. ए. बी. पाण्डेय का।

26. "मुहम्मद तुगलक विरोधी तत्त्वों का मिश्रण था।" किस इतिहासकार ने लिखा है ?
(अ) वी. ए. स्मिथ ने (ब) लेनपूल ने
(स) एलफिन्स्टन ने (द) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने।

27. "वह न रक्त पिपासु दैत्य था और न पागल, जैसा कुछ व्यक्तियों ने कहा है लेकिन उसमें विरोधी तत्त्वों का मिश्रण था।" उपर्युक्त कथन है—
(अ) वी. ए. स्मिथ का (ब) स्टेनले लेनपूल का
(स) डॉ. आर. सी. मजूमदार का (द) डॉ. श्रीवास्तव का।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

28. किस विद्वान ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है, "दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले असाधारण शासकों में से वह एक था।"
(अ) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने (ब) सर वूल्जले हेग ने
(स) लेनपूल ने (द) वी. ए. स्मिथ ने।

[उत्तर—1. (द), 2. (अ), 3. (ब), 4. (स), 5. (अ), 6. (ब), 7. (स), 8. (अ), 9. (द), 10. (द), 11. (स), 12. (ब), 13. (द), 14. (अ), 15. (द), 16. (अ), 17. (स), 18. (ब), 19. (अ), 20. (द), 21. (स), 22. (ब), 23. (अ), 24. (द), 25. (ब), 26. (अ), 27. (स), 28. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13

फीरोजशाह (तुगलक) (1351-1388 ई.)

फीरोज सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक के छोटे भाई रज्जब का पुत्र था। रज्जब का विवाह एक राजपूत राजा रनमल पर दबाव डालकर उसकी पुत्री से किया गया था। उसी का पुत्र फीरोज था जिसका जन्म 1309 ई. में हुआ। फीरोज की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया परन्तु वह योग्य न बन सका। उसने अपने जीवन में न तो किसी सफल सैनिक-अभियान में भाग लिया और न ही एक अच्छे शासन-प्रबन्धक की योग्यता का परिचय दिया। परन्तु मुहम्मद तुगलक अपने इस भाई से विशेष प्रेम करता था। सम्भवतया, फीरोज का सबसे बड़ा गुण अपने भाई की आज्ञा का पालन करना था। इस कारण फीरोज को शासन में महत्वपूर्ण पद प्राप्त होते रहे। जिस समय मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हुई तब भी फीरोज उसके साथ था। सरदारों की सम्मति से 23 मार्च, 1351 ई. को फीरोज ने सिंहासन पर बैठना स्वीकार कर लिया और सुल्तान बना।

फीरोज के सिंहासन पर बैठने के विषय में दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम, फीरोज स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिए उत्सुक था अथवा नहीं ? साधारणतया यह मत प्रचलित है कि वह स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिए उत्सुक नहीं था बल्कि सरदारों के कहने से विवश होकर उसने सिंहासन को स्वीकार किया था। आधुनिक समय में इस मत के बारे में शंका प्रकट की गयी है। डॉ. यू. एन. डे ने अपने एक लेख में यह सिद्ध किया है कि फीरोज बहुत सच्चरित्र न था। वह आरम्भ से ही शराब पीता था और नाच-गाने, मुख्यतया गाना सुनने का शौकीन था। ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि वह महत्वाकांक्षाओं से रहित था बल्कि सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के उत्तराधिकार के समर्थन में बने हुए विभिन्न गुटों में से एक गुट में वह भी सम्मिलित था। प्रभावशाली उलेमा-वर्ग और इस्लाम के समर्थक साधु-सन्त व सरदार जो मुहम्मद तुगलक की नीति से असन्तुष्ट होकर उस नीति में परिवर्तन चाहते थे, फीरोज के समर्थक बने और स्वयं फीरोज निरन्तर उनसे सम्पर्क बनाये रहा, बड़ी सावधानी से उनका समर्थन प्राप्त करता रहा तथा उस गुट के प्रभाव को बढ़ने का अवसर देता रहा। थट्टा से दिल्ली आते हुए मार्ग में वह सभी सुन्नी सन्तों की मजारों पर गया, सभी जीवित धर्माधिकारियों में उसने सम्मान प्रकट किया और सर्वथा कट्टर सुन्नी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त किया। जिस समय उसे सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया गया, उस अवसर पर यद्यपि उसके समर्थकों की संख्या बहुत थी परन्तु तब भी उसकी स्थिति सुनिश्चित न थी। यही उसके संकोच का कारण रहा था अन्यथा उसने कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करके सिंहासन को प्राप्त करने की लालसा की थी। इसी कारण डॉ. डे ने लिखा है : "उसकी अरुचि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और संकोच का कारण राज्य के सभी वर्गों से अपने लिये समर्थन प्राप्त करने की अनिश्चितता का परिणाम था।" वह पुनः लिखते हैं : "उसे सुल्तान बनने की पूर्ण इच्छा थी और उसने इस प्रकार कार्य किया कि उसे सफलता प्राप्त हो जाय।" डॉ. डे ने अपने समर्थन में बदायूँनी का एक विवरण भी दिया है जिसमें बदायूँनी ने लिखा था कि "सुल्तान मुहम्मद के एक पुत्र था जो उस समय शिकार पर गया हुआ था और जिसका फीरोज ने अमीरों की सहायता से वध कराकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया।" डॉ. डे के अनुसार अफीफ और बरनी के कथनों को आधुनिक इतिहासकारों ने आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है जबकि वे दोनों ही फीरोज की कृपा के इच्छुक थे और ऐसी स्थिति में फीरोज के विरुद्ध कुछ भी लिखने को तत्पर न थे। डॉ. डे का कथन अत्यधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। फीरोज में सैनिक-प्रतिभा नहीं थी फिर भी अमीरों ने उस संकट की घड़ी में उसे ही सुल्तान चुना। बाद के समय में भी वह निरन्तर उलेमा-वर्ग पर निर्भर करता रहा और उसकी धार्मिक नीति कठोर रही। ये सभी बातें इस ओर संकेत करती हैं कि **फीरोज ने धार्मिक-वर्ग और मुहम्मद तुगलक की नीतियों से असन्तुष्ट-वर्ग से गठबन्धन करके सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमें सफल हुआ।** बरनी और अफीफ ने लिखा है कि सुल्तान मुहम्मद ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। परन्तु इस बात के कोई अन्य प्रमाण प्राप्त नहीं होते। यह बात अवश्य मानी जाती है कि सिन्ध के विद्रोहियों और मंगोलों के शाही खेमों तक धावा करने के कारण ऐसी स्थिति बन गयी थी कि सुल्तान का शीघ्र चुनाव करना आवश्यक था और राज्य की परिस्थितियों की यह माँग थी कि एक बच्चे के स्थान पर पूर्ण वयस्क और सर्वमान्य व्यक्ति को सिंहासन पर बैठाया जाय। इन परिस्थितियों में फीरोज ने बड़ी चतुराई से कार्य किया और बहुसंख्यकों का समर्थन प्राप्त करके सुल्तान बनने में सफलता प्राप्त की।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि क्या फीरोज सिंहासन का अपहरणकर्ता था अथवा क्या सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार न था ? सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि वजीर, ख्वाजा-ए-जहाँ ने जिस बच्चे को दिल्ली में सुल्तान घोषित किया वह मुहम्मद तुगलक का जायज पुत्र था। इस कारण सिंहासन पर अधिकार उसी का था। ऐसी स्थिति में उस बच्चे को सिंहासन से हटाकर स्वयं सुल्तान बनना न्यायपूर्ण न था। अतः फीरोज अपहरणकर्ता था। आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. आर. सी. जौहरी ने भी फीरोज को राज्य का अपहरणकर्ता माना है। उनके अनुसार बरनी के अतिरिक्त किसी अन्य समकालीन इतिहासकार ने यह नहीं लिखा है कि मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। यदि मुहम्मद तुगलक फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करता तो मुहम्मद की बहिन खुदाबन्दजादा अपने पुत्र दावर मलिक के सिंहासन पर बैठने के अधिकार की माँग न करती और ऐसी स्थिति में सरदारों को सुल्तान चुनने की आवश्यकता ही न होती। इस पक्ष में यह भी कहा गया है कि बदायूँनी के अनुसार मुहम्मद तुगलक का एक पुत्र था और उस स्थिति में सिंहासन पर उसी का अधिकार था। डॉ. त्रिपाठी तथा एस. आर. शर्मा भी फीरोज को राज्य का अपहरणकर्ता मानते हैं। परन्तु अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। प्रथम, वजीर द्वारा प्रस्तुत बच्चा मुहम्मद तुगलक का ही पुत्र था इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होते। याहिया बिन अहमद, फरिश्ता और निजामुद्दीन अहमद ने उस बच्चे को अपरिचित परिवार का बताया है। आधुनिक इतिहासकारों में डॉ. ईश्वरीप्रसाद और ए. सी. बनर्जी भी उस बच्चे को मुहम्मद तुगलक का पुत्र स्वीकार नहीं करते। द्वितीय, मुसलमानों में शासकों के लिए वंशानुगत अधिकार मान्य नहीं था। अनेक बार मुसलमान सुल्तान निर्वाचित किये गये थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लामी कानून और परम्परा भी सुल्तान के निर्वाचन के विरुद्ध नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में फीरोज का निर्वाचन नियम-विरुद्ध नहीं था और इस कारण उसे सिंहासन का अपहरणकर्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता।

फीरोज का सिंहासनारोहण निर्विवाद न था। जिस समय सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु हुई थी उस समय उसका एक भाई, तीन चचेरे भाई, एक भानजा, उसकी पुत्री के दो पुत्र और, सम्भवतया, उसका एक अल्पवयस्क पुत्र जीवित थे। इनमें से उसकी बहन खुदाबन्दजादा ने अपने पुत्र के अधिकार का दावा किया परन्तु सरदारों ने उसे अयोग्य मानकर उसके अधिकार को अस्वीकृत कर दिया और फीरोज को थट्टा के निकट सुल्तान घोषित कर दिया। सेना को व्यवस्थित करके और विद्रोहियों के संकट को दूर करके फीरोज दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग में उसे विद्रोहियों के नेता तागी की मृत्यु की सूचना मिली जिससे वह प्रसन्न हुआ। मार्ग में ही उसे यह सूचना मिली कि वजीर, ख्वाजा-ए-जहाँ ने एक बच्चे को मुहम्मद तुगलक के पुत्र के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया है। परन्तु सरदारों ने उस बच्चे को मुहम्मद तुगलक का पुत्र मानने से इंकार कर दिया और ख्वाजा-ए-जहाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया। वजीर को माफ कर दिया गया और उसे समाना जाने की आज्ञा प्रदान की गयी। परन्तु मार्ग में फीरोज की मौन स्वीकृति से उसका वध कर दिया गया। अगस्त 1351 ई. में फीरोज ने दिल्ली में पुनः राज्याभिषेक किया और इस प्रकार सुल्तान मुहम्मद के राज्य का स्वामी बन गया।

[1]
आन्तरिक शासन

फीरोज ने आन्तरिक शासन की ओर पूर्ण ध्यान दिया। मुहम्मद तुगलक के अन्तिम समय में शासन अव्यवस्थित हो गया था, नागरिकों में तीव्र असन्तोष था, अधिकांश मुस्लिम-वर्ग सुल्तान की धार्मिक नीति और व्यवहार से उसके विरोध में हो गया था और सबसे बड़ी समस्या राज्य की गिरती हुई आर्थिक स्थिति थी। फीरोज का लक्ष्य इस स्थिति को सुधारने का रहा। जो सूबे दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गये थे उन्हें पुनः अधीनता में लाने का न तो उसका उद्देश्य था और न उसके लिए उसमें पर्याप्त योग्यता थी। इस कारण राज्य की जो भी सीमाएँ शेष रह गयी थीं उनकी सुरक्षा करना, राज्य के नागरिकों में विश्वास उत्पन्न करना, उसके लिए राज्य की भलाई हेतु आर्थिक सम्पन्नता का प्रयत्न करना और मुस्लिम धार्मिक-वर्ग को सन्तुष्ट करके अपनी मुस्लिम प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना फीरोज के प्रमुख उद्देश्य रहे। फीरोज ने इन कार्यों में सफलता प्राप्त की। इस कारण वह लोकप्रिय हुआ। परन्तु सुल्तान स्वयं अच्छा शासन-प्रबन्धक न था। वह आराम-पसन्द था। उसकी सफलता का श्रेय उसके शासनाधिकारियों को था जिनमें प्रमुख नाम उसके वजीर, मलिक-ए-मकबूल (खानेजहाँ) का आता है जो तेलंगाना का एक ब्राह्मण था और कुछ समय पहले ही मुसलमान बना था। सुल्तान के पक्ष में एक बात कही जा सकती है कि उसमें योग्य व्यक्तियों को खोजने की क्षमता थी, वह उनमें विश्वास रखता था, उन्हें अधिकार प्रदान करता था और उनकी वफादारी एवं विश्वास प्राप्त कर सकता था। अतः फीरोज का 37 वर्ष का शासन आन्तरिक दृष्टि से सफलता और सम्पन्नता का रहा तथा दिल्ली के सुल्तानों में उसे एक ऐसा शासक माना गया जिसने अपनी प्रजा की भलाई का प्रयत्न किया। फीरोज का केवल एक अपवाद रहा। विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने समय से आगे होते हुए और सार्वजनिक भलाई के प्रयत्न करते हुए भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका लक्ष्य एक आदर्श मुसलमान सुल्तान बनना रहा। इस कारण उसकी धार्मिक नीति कट्टर सुन्नी मुसलमानों के समर्थन, उलेमा-वर्ग के प्रभाव से परिपूर्ण और अपनी बहुसंख्य हिन्दू प्रजा के लिए असहिष्णुता की रही।

फीरोज ने उदारता और सभी सरदारों को प्रसन्न करने की नीति से अपना शासन आरम्भ किया। उसने राजवंश के सभी व्यक्तियों को सुरक्षा का आश्वासन दिया, राज्य के कर्ज को चुका दिया, पिछले वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिए जिस सम्पत्ति को विभिन्न व्यक्तियों को दे दिया था, उसे उनसे छीनने का प्रयत्न नहीं किया और इस्लाम के कानूनों के अनुसार शासन करने का आश्वासन दिया।

1. राजस्व-व्यवस्था

फीरोज ने इस्लामी कानूनों के द्वारा स्वीकृत केवल चार कर लगाये—खराज (लगान), खम्स (युद्ध में लूटे गये धन का 1/5 भाग), जजिया (हिन्दुओं पर धार्मिक कर) और जकात (आय का 2-1/2% जो मुसलमानों से लिया जाता था और उन्हीं के हितार्थ व्यय कर दिया जाता था)। उसने खम्स को उतना ही लिया जितना कि उसका अधिकार बनता था जबकि पिछले अनेक सुल्तान लूट का अधिकांश भाग स्वयं रख लेते थे। जजिया उसने हिन्दू-ब्राह्मणों से भी लिया जिसे उससे पहले के सुल्तानों ने उदासीनता अथवा व्यावहारिकता के कारण नहीं लिया था। इनके अतिरिक्त, **उसने उलेमा-वर्ग की स्वीकृति के पश्चात् सिंचाई-कर भी लगाया।** उन किसानों को, जो सिंचाई के लिए शाही नहरों का पानी प्रयोग में लाते थे, अपनी पैदावार का 1/10 भाग सरकार को देना पड़ता था। इन करों के अलावा अन्य सभी कर हटा दिये गये। फीरोज ने अपने समय में **प्रायः 24 कष्टदायक करों को समाप्त किया।** सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिये गये कि वे उचित कर से अधिक की माँग न करें। उसने शशगनी नामक सिक्का चलाया। अफीफ के अनुसार सुल्तान ने 'अद्धा एवं बिख' नामक ताँबा और चाँदी निर्मित सिक्का चलाया। उसने सिक्कों पर अपने नाम के साथ अपने पुत्र अथवा उत्तराधिकारी फतह खाँ का नाम अंकित करवाया।

सम्भवतया, उसके समय में लगान पैदावार का 1/5 से 1/3 भाग था। उसका मुख्य **कार्य सम्पूर्ण राष्ट्र के लगान को अनुमान के आधार पर निश्चित करना था जिससे राज्य की आय निश्चित हो गयी।** ख्वाजा हिसामुद्दीन ने विभिन्न सूबों का दौरा करके छः वर्ष के परिश्रम के पश्चात् खालसा-भूमि (केन्द्रीय सरकार की भूमि) से छः करोड़ पचासी लाख टंका का लगान निश्चित किया। फीरोज के सम्पूर्ण काल में लगान से राज्य को प्रायः यही आय प्राप्त होती रही। यह आय भूमि की नाप-तौल और उपज के आधार पर निश्चित नहीं की गयी थी। इसका आधार लगान-विभाग के पुराने लेखा-जोखा थे। इस कारण फीरोज की लगान-व्यवस्था का आधार दोषपूर्ण था। परन्तु फिर भी राज्य की आय निश्चित हो जाने से व्यय पर नियन्त्रण सम्भव था अतः यह सुधार राज्य के लिए लाभदायक रहा। **सुल्तान ने प्रायः 1200 फलों के बाग लगवाये जिससे राज्य की आय बढ़ी। उसने सिंचाई की भी पर्याप्त व्यवस्था की जिससे कृषि के उत्पादन और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई।**

फीरोज ने कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की, उन्हें उनके कार्य के बदले में जागीरें दीं, उन्हें या सूबेदारों को यातनाएँ देकर उनसे ठीक हिसाब लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया और सुल्तान को भेंट देने की प्रथा को भी समाप्त कर दिया जिससे वे किसानों पर भार न डाल सकें। किसानों को राज्य द्वारा प्रदत्त तकावी ऋण से भी मुक्त कर दिया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फीरोज ने **विभिन्न आन्तरिक व्यापारिक करों को समाप्त कर दिया** जिससे वस्तुओं के मूल्यों में कमी हुई और व्यापार में प्रगति हुई।

फीरोज के राजस्व सम्बन्धी सुधार लाभदायक हुए। उनसे राज्य एवं प्रजा दोनों को लाभ हुआ और राज्य में सम्पन्नता आयी। फीरोज के समय में कोई अकाल नहीं पड़ा, जनता सम्पन्न हुई और वस्तुओं के मूल्य कम रहे। सभी तत्कालीन इतिहासकारों ने राज्य और जनता की समृद्धि का वर्णन किया है। इतिहासकार शम्स-ए-सिराज अफीफ ने लिखा है : "जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं और फीरोज के सम्पूर्ण शासनकाल में बिना किसी प्रयत्न के अनाज के मूल्य अलाउद्दीन खलजी की भाँति सस्ते रहे।"

परन्तु फीरोज की व्यवस्था में दो मूल दोष रहे—जागीरदारी प्रथा और भूमि का ठेके पर दिया जाना। जागीरदारों से किसानों की भलाई करने की आशा नहीं की जा सकती थी जबकि जागीरें केवल राज्य के बड़े पदाधिकारियों को ही नहीं बल्कि सभी महत्वपूर्ण सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों को भी दी गयी थीं। ये पदाधिकारी अपनी भूमियों को पेशेवर ठेकेदारों को लगान एकत्रित करने के लिए दे देते थे। भूमि को ठेके पर लेने वाले पेशेवर व्यक्ति किसानों से अधिकाधिक धन वसूल करते थे।

2. सिंचाई-व्यवस्था

सिंचाई की सुविधा के लिए फीरोज ने **पाँच बड़ी नहरों का निर्माण कराया।** इनमें से एक 150 मील लम्बी नहर यमुना नदी से हिसार तक बनायी गयी थी। दूसरी 96 मील लम्बी नहर सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी नहर सिरमौर की पहाड़ियों के निकट से आरम्भ होकर हाँसी तक जाती थी। चौथी नहर घग्घर से फीरोजाबाद शहर तक और पाँचवीं यमुना नदी से फीरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरों के कारण कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई, व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ीं और सिंचाई-कर के रूप में राज्य की आय में वृद्धि हुई। **फीरोज ने सिंचाई और यात्रियों की सुविधा के लिए 150 कुएँ खुदवाये।** फरिश्ता के अनुसार फीरोज ने सिंचाई की सुविधा के लिए **विभिन्न नदियों पर 50 बाँध और 30 झीलों अथवा जल को संग्रह करने के लिए तालाबों का निर्माण कराया था।**

3. नगर और सार्वजनिक निर्माण-कार्य

कहा जाता है कि फीरोज ने 300 नवीन नगरों का निर्माण कराया। इनमें सम्भवतया वे गाँव भी शामिल थे जो पहले उजाड़ थे परन्तु फीरोज के समय में कृषि की सुविधा के कारण पुनः बस गये थे। उसके द्वारा बसाये गये नगरों में फतेहाबाद, हिसार, फीरोजपुर, जौनपुर और फीरोजाबाद प्रमुख थे। यमुना नदी के तट पर बसाया गया दिल्ली के लाल किले के निकट आधुनिक फीरोज कोटला कहलाने वाला फीरोजाबाद नगर फीरोज को बहुत प्रिय था और वह अधिकांशतया वहीं रहता था। फरिश्ता ने लिखा है : "फीरोज ने 40 मस्जिदें, 30 विद्यालय 20 महल, 100 सरायें, 200 नगर, 100 अस्पताल, 5 मकबरे, 100 सार्वजनिक स्नानगृह, 10 स्तम्भ, 150 पुल तथा अनेक बाग एवं सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों का निर्माण कराया था।" उसने अशोक के दो स्तम्भों को दिल्ली मँगाया। इनमें से एक खिज्राबाद से और दूसरा मेरठ के निकट से लाया गया था।

फीरोज ने नवीन इमारतों की सुरक्षा और मरम्मत की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त उसने अनेक पुरानी ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत करायी। 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में उसने दावा किया है कि उसने दिल्ली की जामा-मस्जिद, कुतुबमीनार, शम्शी-तालाब, अलाई-तालाब,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँपनाह, इल्तुतमिश का मदरसा, सुल्तान इल्तुतमिश, सुल्तान बहरामशाह, सुल्तान रुकनुद्दीन फीरोजशाह, सुल्तान जलालुद्दीन और सुल्तान अलाउद्दीन के मकबरों तथा ताजुद्दीन कफूरी और शेख निजामुद्दीन औलिया की समाधियों की मरम्मत करायी।

4. परोपकारी कार्य

फीरोज मुसलमान सन्तों और धार्मिक व्यक्तियों को जागीर व सम्पत्ति दान करता था। उसने एक रोजगार का दफ्तर स्थापित किया था जो बेकार व्यक्तियों को कार्य दिलाता था अथवा उन्हें आर्थिक सहायता देता था। उसने एक विभाग 'दीवान-ए-खैरात' स्थापित किया था जो मुसलमान अनाथ स्त्रियों एवं विधवाओं को आर्थिक सहायता देता था और निर्धन मुसलमान लड़कियों के विवाह की व्यवस्था करता था। उसने दिल्ली के निकट एक खैराती अस्पताल दार-उल-शफा की स्थापना की, जिसमें जन-सामान्य के लिए निःशुल्क चिकित्सा दी जाती थी।

5. न्याय

फीरोज की न्याय-व्यवस्था इस्लाम के कानूनों पर आधारित थी। काजियों को उसने पुनः उनके विशेषाधिकार दे दिये थे। फीरोज स्वयं भी न्याय करता था। वह कठोर दण्ड नहीं देता था। मुहम्मद तुगलक के समय में सच्चाई को जानने के लिए व्यक्तियों को जो यातनाएँ दी जाती थीं, उसने उन्हें समाप्त कर दिया था।

6. शिक्षा

फीरोज स्वयं विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। जियाउद्दीन बरनी और शम्स-ए-सिराज अफीफ ने उससे संरक्षण प्राप्त किया। बरनी ने 'फतवा-ए-जहाँदारी' और 'तारीख-ए-फीरोजशाही' लिखे। शम्स-ए-सिराज अफीफ ने भी 'तारीख-ए-फीरोजशाही' लिखी। एक अन्य विद्वान ने 'सीरत-ए-फीरोजशाही' की रचना की। फीरोज ने स्वयं अपनी आत्मकथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' लिखी। फीरोज को इतिहास और चिकित्सा-शास्त्र में रुचि थी। इसके अतिरिक्त उसने इस्लामी कानूनों और धर्मशास्त्रों की शिक्षा में भी रुचि दिखायी। उसने प्रायः 13 मदरसे स्थापित किये जिनमें से तीन श्रेष्ठ स्तर के विद्यालय थे। राज्य के सभी स्थानों पर विद्वानों को संरक्षण दिया जाता था सभी विद्वानों को जागीरें अथवा भेंटें प्रदान की जाती थीं। ज्वालामुखी के मन्दिर के पुस्तकालय में उसे संस्कृत में लिखे गये 1,300 ग्रन्थ प्राप्त हुए। उनमें से कुछ का उसने फारसी में अनुवाद कराया। उनमें से एक का नाम 'दलायले-फीरोजशाही' रखा गया जो दर्शन और नक्षत्र-विज्ञान से सम्बन्धित ग्रन्थ था। अफीफ के कथनानुसार सुल्तान विद्वानों को सहायता के रूप में 36 लाख टंका देता था। इस प्रकार फीरोज ने शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की परन्तु उसके समय का साहित्य इस्लाम धर्म से प्रभावित होने के कारण संकुचित धारणाओं से परिपूर्ण रहा।

7. दास

फीरोज को दासों का बहुत शौक था और उसके दासों की संख्या प्रायः 1,80,000 तक पहुँच गयी थी। प्रत्येक दास को 10 से 100 टांके के बीच तक वेतन मिलता था तथा कभी-कभी जागीरें भी मिलती थीं। उनकी देखभाल के लिए एक पृथक विभाग और एक पृथक अधिकारी की नियुक्ति की गयी थी। उन दासों की शिक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। सभी सरदारों और सूबेदारों को यह आदेश दिये गये थे कि वे अपने दासों से पुत्रवत्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहार करें। फीरोज का यह शौक राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे शाही व्यय में अनावश्यक वृद्धि हुई और बाद में इन दासों ने राजनीति में हस्तक्षेप किया जो तुगलक-वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।

8. सैन्य-संगठन

फीरोज का सैनिक-संगठन दुर्बल रहा। केन्द्र पर एक बड़ी स्थायी सेना न थी। अधिकांश सैनिकों को जागीरों के रूप में वेतन दिया जाने लगा। इससे एक सैनिक सैनिक न रहकर लगान उगाहने वाला व्यक्ति बन गया और उसके बच्चे सैनिक न रहकर पेन्शन प्राप्त करने वाले कर्मचारी मात्र रह गये। उसने सैनिक-सेवा वंशानुगत कर दी। एक व्यक्ति के पश्चात् उसका पुत्र, दामाद अथवा गुलाम सेना में स्थान प्राप्त करने के अधिकारी थे। ऐसी स्थिति में सैनिक-सेवा में योग्यता का स्थान प्रमुख न रहा। सम्भवतया, केन्द्र पर 80 या 90 हजार की घुड़सवार-सेना थी और शेष के लिए सुल्तान अपने अमीरों अथवा सरदारों की सेना पर निर्भर करता था। सेना में कठोर अनुशासन अथवा नियन्त्रण नहीं रखा गया। एक अवसर पर स्वयं सुल्तान ने एक सैनिक को इसलिए एक टंका दिया कि वह उसे रिश्वत के रूप में सैन्य-विभाग के एक अधिकारी को देकर अपने घोड़े की स्वीकृति करा ले। ऐसी स्थिति में सेना के शक्तिशाली होने का प्रश्न ही नहीं था।

9. धार्मिक नीति

दिल्ली के सुल्तानों में फीरोज पहला सुल्तान हुआ जिसने इस्लाम के कानूनों और उलेमा-वर्ग को राज्य के शासन में प्रधानता प्रदान की। अन्य शासकों ने इस्लाम धर्म का समर्थन किया और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु उन्होंने उसे स्पष्ट रूप से शासन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया। परन्तु फीरोज ने कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए इस्लाम के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार बनाया तथा प्रत्येक अवसर पर उलेमा-वर्ग से सलाह और सहायता ली। इस दृष्टि से उसका सिद्धान्त बाद के मुगल बादशाह औरंगजेब की भाँति रहा। उसमें केवल एक अन्तर रहा कि जहाँ औरंगजेब स्वयं को इस्लामी कानूनों में पारंगत मानता था, फीरोज इसके लिए उलेमा-वर्ग की सलाह पर निर्भर करता था। इस प्रकार फीरोज की धार्मिक नीति धर्मान्धता और असहिष्णुता की रही।

सुल्तान शिया, सूफी, मुन्हीदियों, महदवियों आदि मुसलमान-वर्गों के प्रति असहिष्णु था क्योंकि वे कट्टर सुन्नी मत के समर्थक न थे। शियाओं को उसने दण्डित किया था और उनकी धार्मिक पुस्तकों को जलवा दिया था, यह उसने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है।

फीरोज अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति अत्यधिक कठोर रहा। उसने इस्लाम के प्रचार को अपना प्रमुख कर्तव्य माना और हिन्दुओं को अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रोत्साहन दिये। अपनी आत्मकथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में जो कुछ भी उसने लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि वह अपने को एकमात्र मुसलमानों का शासक मानता था और हिन्दुओं को 'जिम्मी' कहता था। उसने लिखा है : "मैंने अपनी काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और यह घोषणा की कि जो भी अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान बन जायेगा उसे जजिया से मुक्त कर दिया जायेगा।" अनेक स्थलों पर उसने हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट करने, हिन्दू-मेलों को भंग करने, हिन्दुओं को मुसलमान बनाने अथवा उनका वध करने का वर्णन किया है। जाजनगर पर आक्रमण करने में उसका मूल उद्देश्य वहाँ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट करना था जिससे वह महमूद की भाँति 'मूर्तिभंजक' कहलाने का यश पा सके। ज्वालामुखी के मन्दिर की मूर्तियों को भी उसने नष्ट किया। उसने एक हिन्दू ब्राह्मण का वध कराया क्योंकि वह मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहित करता था। उसने हिन्दू ब्राह्मणों पर जजिया लगाया जिन्हें पिछले सुल्तानों ने इस कर से मुक्त रखा था अथवा व्यावहारिक रूप से उनसे यह कर वसूल करना वे टाल देते थे। जब दिल्ली और उसके निकट के क्षेत्रों के ब्राह्मणों ने सुल्तान के महल के सम्मुख आत्मदाह करने की धमकी दी तब भी फीरोज ने उन्हें इस कर से मुक्त नहीं किया। इस प्रकार यह सत्य है कि फीरोज ने हिन्दुओं के प्रति कठोर धार्मिक नीति का पालन किया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है : "फीरोज इस युग का सबसे महान् धर्मान्ध (सुल्तान) और इस क्षेत्र में सिकन्दर लोदी तथा औरंगजेब का अग्रगामी था।"

फीरोज ने खलीफा से दो बार अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति ली, अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा और अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया। इस सभी में उसका उद्देश्य कट्टर मुसलमानों और उलेमा-वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करना था जिनके समर्थन से वह सुल्तान बना था।

फीरोज की धर्मान्धता की नीति राज्य के लिए हानिकारक और सैद्धान्तिक आधार पर प्रतिक्रियावादी थी। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा उससे असन्तुष्ट थी और अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक के समय में आरम्भ की गयी धर्म और राज्य को पृथक करने की चेष्टा विफल हो गयी। तुगलक-वंश के पतन में उसका योगदान रहा।

फीरोज एक शासक की दृष्टि से न तो कुशल था और न परिश्रमी। परन्तु उसके योग्य अधिकारियों ने उसकी इन कमियों की पूर्ति की और उसकी धार्मिक नीति ने उसे कट्टर इस्लामी समर्थकों का सहयोग प्रदान किया। उसकी दास-प्रथा और सैनिक-व्यवस्था दुर्बल और राज्य के लिए हानिकारक रही। इसके अतिरिक्त, फीरोज के शासनकाल में शासन में भ्रष्टाचार बहुत अधिक फैल गया था। इतिहासकार अफीफ के अनुसार सुल्तान का वजीर खान-ए-जहाँ मकबूल ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध था। परन्तु वह भी भ्रष्टाचार को रोकने में असमर्थ था। इन्शा-ए-माहरु के पत्रों से ज्ञात होता है कि सरकारी कर्मचारी जनता को तो हानि नहीं पहुँचाते थे परन्तु सरकार को खूब लूटते थे क्योंकि सुल्तान ने स्वयं भ्रष्टाचार की ओर से अपनी आँखें फेर ली थीं; यहाँ तक कि सुल्तान द्वारा विभिन्न करों को समाप्त किये जाने के बावजूद भी स्थानीय अमीर और अधिकारी उन करों को वसूल करते रहे और उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। फीरोजशाह के पश्चात् राज्य के लिए यह विनाशकारी सिद्ध हुआ जिसके कारण फीरोज को भी तुगलक-वंश के पतन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। परन्तु फीरोज के आर्थिक, लोकहितकारी और सार्वजनिक निर्माण के कार्य सफल हुए। उसके समय में प्रजा सम्पन्न और सुखी हुई जिसके कारण विभिन्न इतिहासकारों ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि "मुहम्मद तुगलक ने राज्य की प्रजा को जो घाव लगाये थे, फीरोज ने उनको भर दिया।" पर्याप्त मात्रा में यह कथन सत्य भी है यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं है कि फीरोज के बाद के समय में राज्य का व्यय राज्य की आय से अधिक होने लगा था जो उसे दिवालियेपन की स्थिति की ओर ले जाने वाला सिद्ध हुआ।

[2]

युद्ध, आक्रमण और विद्रोह

मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल और सम्पूर्ण दक्षिण-भारत दिल्ली-सल्तनत की अधीनता से मुक्त हो गया था। फीरोज ने दक्षिण-भारत को जीतने का प्रयत्न नहीं किया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरदारों के आग्रह को यह कहकर टाल दिया कि वह मुसलमानों का रक्त बहाने को तैयार नहीं है। उसने बंगाल को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। उसने राजस्थान को जीतने अथवा उसे अपने प्रभाव में लेने का प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार **फीरोज की नीति साम्राज्य-विस्तार की न होकर राज्य के संगठन की थी।** इस दृष्टि से वह दिल्ली के सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रति भी उदासीन रहा। फीरोज में सैनिक-प्रतिभा नहीं थी और न कभी वह एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली की सेना की शक्ति दुर्बल हो गयी थी। फीरोज ने उसे पुनः शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न नहीं किया यद्यपि उसके पास धन का अभाव न था। इस कारण **फीरोज की बाह्य नीति दुर्बल रही। उसके समय में कोई महत्वपूर्ण विजय नहीं की गयी।**

1. बंगाल

बंगाल में हाजी इलियास ने शम्सुद्दीन इलियासशाह के नाम से अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। उसने दिल्ली-राज्य के अधीन तिरहुत राज्य पर आक्रमण किया। इस कारण 1353 ई. में फीरोज ने बंगाल पर आक्रमण किया। इलियास ने अपनी राजधानी पाँडुआ को छोड़कर इकदाला के किले में शरण ली। फीरोज किले को जीतने में विफल हुआ और उसने वापस लौटने का दिखावा किया। इलियास ने उसका पीछा किया परन्तु परास्त हुआ तथा किले में पुनः शरण लेने को बाध्य हुआ। अन्त में, फीरोज ने युद्ध बन्द कर दिया और एक सन्धि करके 1355 ई. में दिल्ली वापस आ गया।

1359 ई. में फीरोज ने बंगाल पर पुनः आक्रमण किया। पूर्वी बंगाल के एक दिवंगत सुल्तान के दामाद जफरखाँ ने उससे सहायता माँगी। फीरोज ने इसी को आक्रमण का बहाना बना लिया। उस समय तक शम्सुद्दीन इलियास की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र सिकन्दर सुल्तान था। सिकन्दर ने भी इकदाला के किले में शरण ली। फीरोज उस किले को जीतने में असमर्थ रहा और दिल्ली वापस आ गया। इस प्रकार बंगाल को दिल्ली-सल्तनत में शामिल करने के उसके दोनों प्रयास असफल हुए।

2. उड़ीसा और जाजनगर

1360 ई. के अन्तिम समय में फीरोज ने जाजनगर पर आक्रमण किया। सुल्तान बंगाल से वापस आकर जौनपुर में ठहरा हुआ था। वहाँ से उसने अचानक जाजनगर पर आक्रमण करने की योजना बनायी। उसका मुख्य उद्देश्य पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर को ध्वस्त करना था। मार्ग में जनता के विरोध को समाप्त करता हुआ फीरोज कटक तक पहुँच गया। उड़ीसा का शासक भानुदेव तृतीय भाग गया परन्तु उसके सैनिकों ने सुल्तान का मुकाबला किया। उन्हें परास्त करके फीरोज ने पुरी के जगन्नाथ मन्दिर पर आक्रमण किया। सुल्तान ने मन्दिर और मूर्तियों को नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् राजा के आत्मसमर्पण करने और प्रतिवर्ष भेंटस्वरूप कुछ हाथी देने के आश्वासन पर फीरोज वापस आ गया।

3. नगरकोट

फीरोज ने 1361 ई. में काँगड़ा में स्थित नगरकोट पर आक्रमण किया। नगरकोट के राजा ने मुहम्मद तुगलक के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु उसके अन्तिम दिनों में वह पुनः स्वतन्त्र हो गया था। परन्तु, सम्भवतया, सुल्तान का उद्देश्य ज्वालामुखी के मन्दिर को ध्वस्त करना था। छः माह के घेरे के पश्चात् राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। फरिश्ता के अनुसार, "सुल्तान ने ज्वालामुखी की मूर्तियों को तोड़ दिया, उनके टुकड़ों को गाय के माँस में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलाया और उसकी गन्ध के थैले बनाकर ब्राह्मणों के गलों में लटकवा दिये तथा मुख्य मूर्ति को विजय-चिन्ह के रूप में मदीना भेज दिया।"

4. सिन्ध

1362 ई. में फीरोज ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध ने मुहम्मद तुगलक को परेशान किया था और वहाँ पर विद्रोही उस समय भी सक्रिय थे। 90,000 घुड़सवार और 480 हाथियों की एक विशाल सेना लेकर फीरोज ने उस पर आक्रमण किया। सिन्ध में जाम बाबनियाँ ने दृढ़तापूर्वक उसका मुकाबला किया यहाँ तक कि सुल्तान को गुजरात की ओर जाना पड़ा। मार्ग में वह रन के रेगिस्तान में फँस गया और छः माह के कष्ट के पश्चात् वहाँ से निकल सका। 1363 ई. में सुल्तान गुजरात में रहा और वहाँ शान्ति स्थापित की। वहीं पर उसे बहमनी-वंश के विरोधी सरदार बहराम का दक्षिण-भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण मिला परन्तु फीरोज ने उसे अस्वीकार कर दिया और सिन्ध पर पुनः आक्रमण किया। इस बार जाम बाबनियाँ ने फीरोज के आधिपत्य को स्वीकार कर उसे वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया।

5. विद्रोह और उनका दमन

फीरोज के प्रारम्भिक काल में उसकी बहन खुदाबन्दजादा ने उसका वध करने के लिए एक षड्यन्त्र रचा परन्तु वह प्रयत्न विफल रहा। पहला विद्रोह गुजरात के सूबेदार दामगानी ने किया क्योंकि वह सुल्तान को उतना राजस्व नहीं दे सका जितने का उसने वायदा किया था। वह विद्रोह असफल हुआ और दामगानी का सिर काटकर दिल्ली भेज दिया गया। दूसरा विद्रोह इटावा के जमींदारों ने किया परन्तु उसे भी दबा दिया गया। तीसरा विद्रोह कटेहर (रुहेलखण्ड) शासक खड़कू ने किया। उसने बदायूँ के सूबेदार सैयद मुहम्मद और दो सैयद-बन्धुओं का धोखे से वध करा दिया। फीरोज स्वयं उस विद्रोह को दबाने के लिए गया। खड़कू कुमायूँ की पहाड़ियों में भाग गया। फीरोज ने उसके अपराध का बदला उसकी प्रजा से लिया। उसने हजारों हिन्दुओं का वध करा दिया और 23,000 हिन्दुओं को बन्दी बनाकर जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया। इतने से भी सुल्तान सन्तुष्ट न हुआ। उसने अगले पाँच वर्ष तक प्रत्येक वर्ष कटेहर को इसी तरह बर्बाद करते रहने के आदेश दिये। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने वहाँ एक अफगान अधिकारी की नियुक्ति की और वह स्वयं भी वहाँ प्रत्येक वर्ष यह देखने के लिए जाता रहा कि उसके आदेशों का यथोचित पालन किया जाता है अथवा नहीं।

इस प्रकार, सिन्ध के अतिरिक्त फीरोज ने किन्हीं अन्य महत्वपूर्ण सूबों अथवा किलों को जीतने में सफलता प्राप्त नहीं की। उसका बंगाल-अभियान असफल हुआ तथा जाजनगर और नगरकोट की उसकी विजयें साधारण थीं।

[3]

अन्तिम दिन और मृत्यु

फीरोज के अन्तिम दिन कष्ट में व्यतीत हुए। उसके दो पुत्रों की मृत्यु हो चुकी थी। उनके पश्चात् उसका तीसरा पुत्र मुहम्मदखाँ उसका उत्तराधिकारी था। परन्तु सुल्तान की आयु 80 वर्ष के निकट हो गयी थी, वह अपनी शक्ति और बुद्धि खो चुका था तथा उसके नये वजीर (खानेजहाँ मकबूल का पुत्र) ने उसे अत्यधिक प्रभावित कर रखा था। वजीर ने स्वयं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंहासन की आकांक्षा की और शाहजादा मुहम्मद को समाप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसकी योजना असफल हुई और वह मेवात के सरदार कोका चौहान के यहाँ भाग गया। बाद में वह पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया। 1387 ई. से शाहजादा मुहम्मद ने सुल्तान के साथ-साथ सत्ता का उपभोग करना आरम्भ कर दिया और उसे 'नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह' की उपाधि दी गयी। परन्तु मुहम्मद विलासप्रिय था। गुजरात में विद्रोह की सूचना पाकर भी वह उसे दबाने नहीं गया बल्कि भोग-विलास में लिप्त रहा। उसके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर कुछ सरदारों ने विद्रोह कर दिया और दो दिन तक दिल्ली में युद्ध होता रहा। तीसरे दिन विद्रोहियों ने महल पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की और उन्होंने वृद्ध सुल्तान फीरोज को पालकी में बैठाकर युद्ध करने वालों के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया। शाहजादे के सैनिक सुल्तान को देखकर उसके साथ हो गये और शाहजादा मुहम्मद भाग गया। उसके पश्चात् फीरोज ने अपने बड़े पुत्र फतहखाँ के पुत्र तुगलकशाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके थोड़े समय पश्चात् सितम्बर 1388 ई. में फीरोज की मृत्यु हो गयी।

[4]

चरित्र एवं मूल्यांकन तथा तुगलक-वंश के पतन में फीरोज का उत्तरदायित्व

तत्कालीन इतिहासकारों जैसे बरनी, अफीफ आदि ने फीरोज के चरित्र और कार्यों की अत्यधिक प्रशंसा की है। वे उसे एक अत्यधिक उदार, दयालु और न्यायप्रिय शासक बताते हैं। आधुनिक इतिहासकारों में से हेनरी इलियट और एलफिन्सटन ने भी उसकी प्रशंसा की है और उन्होंने उसे 'सल्तनत-युग का अकबर' कहा है। सर वूल्जले हेग ने उसके शासन पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है : "फीरोज के शासनकाल से भारत में अकबर से पहले के मुस्लिम शासन के इतिहास का एक गौरवपूर्ण युग समाप्त हो जाता है।" परन्तु सभी इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं। वी. ए. स्मिथ फीरोज की तुलना अकबर से करना मूर्खता मानते हैं। डॉ. ईश्वरीप्रसाद का कहना है : "फीरोज में उस विशाल हृदय और उदार बुद्धि वाले बादशाह (अकबर) की प्रतिभा का शतांश भी नहीं था।" डॉ. आर. सी. मजूमदार फीरोज को दिल्ली-सल्तनत के मुख्य शासकों में से अन्तिम शासक स्वीकार करने को सहमत हैं परन्तु उसे कोई गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने के लिए तैयार नहीं हैं। निस्सन्देह, फीरोज में ऐसा कोई गुण न था और न उसका ऐसा कोई कार्य था जिसके कारण उसके शासनकाल को महानता का स्थान दिया जाय।

फीरोज में व्यक्तिगत दृष्टि से कुछ गुण थे, यह माना जाता है। फीरोज स्वयं विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। वह धर्मपरायण था और साधारणतया अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन करता था। वह अपनी मुस्लिम प्रजा की नैतिक उन्नति करना चाहता था। वह योग्य व्यक्तियों की खोज करता था और उसमें उनसे वफादारी प्राप्त करने की योग्यता थी। उसकी एक योग्यता परिस्थितियों को समझने और उनसे समझौता करने की थी। अपनी इसी योग्यता के कारण वह सरदारों का बहुमत प्राप्त करके सुल्तान बन सका और इसी कारण वह प्रायः 37 वर्ष तक शान्तिपूर्वक शासन कर सका। उलेमा-वर्ग के समर्थन की उसे आवश्यकता थी और उसने उसे प्राप्त किया। उसे राज्य-विस्तार की इच्छा न थी और न उसमें इसके लिए योग्यता थी। अतः इसके लिए उसने प्रयत्न नहीं किये। उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता शासन-व्यवस्था को ठीक करके राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने की थी। उसने इस आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और उसमें सफल रहा। इसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त फीरोज न तो पूर्ण दयालु था, न पूर्ण उदार और न पूर्ण ईमानदार। उसकी दयालुता और उदारता कट्टर सुन्नी मुसलमानों तक सीमित थी। अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति वह क्रूर और अनुदार था। स्वयं उसकी आत्मकथा 'फतूहत-ए-फीरोजशाही' इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जो सुल्तान अपने सैनिकों को बेईमानी करने के लिए स्वयं धन दे सकता था, उसे पूर्ण ईमानदार कैसे कहा जा सकता है ? इतिहासकारों द्वारा यह भी स्वीकार किया गया है कि उसके समय में राज्य में भ्रष्टाचार व्याप्त था और उसे समाप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। फीरोज शराब पीता था, यह भी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त परिस्थितियों में उसके चरित्र को श्रेष्ठ अथवा उज्ज्वल स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके चरित्र के विषय में डॉ. यू. एन. डे का कथन सत्यता के सर्वाधिक निकट है। उन्होंने लिखा है : "वह अपने युग की एक विशेष उपज था। वह महत्वाकांक्षी होते हुए भी उदासीनता का दिखावा करने में पर्याप्त चतुर था। अपने वास्तविक चरित्र को छिपाकर सच्चरित्रता के गुण का झूठा दिखावा करने की क्षमता रखते हुए तथा निरन्तर तत्कालीन सुन्नी-मान्यताओं के समर्थन का दावा करते हुए उसने एक धार्मिक जीवन व्यतीत करने का दिखावा किया।" इसके अतिरिक्त, उसमें साहस, शौर्य तथा सैनिक और सेनापति की प्रतिभा का अभाव था, इसे सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं।

एक शासक की दृष्टि से फीरोज की मुख्य सफलता अपनी प्रजा को सम्पन्न बनाने में थी। इस दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि वह पहला सुल्तान था जिसने विजयों तथा युद्धों की तुलना में अपनी प्रजा की भौतिक उन्नति को सर्वोच्च स्थान दिया। उसका यह सिद्धान्त माननीय है और उसे इसकी पूर्ति में सफलता मिली, यह सर्वस्वीकृत है। सभी इतिहासकार यह मानते हैं कि उसके समय में प्रजा समृद्ध थी। उसके राजस्व-कार्यों, उसकी नहरों, उसके बागों और उसकी व्यापारिक सुविधाओं ने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया तथा उसकी प्रजा निस्सन्देह मुहम्मद तुगलक के समय के दुर्दिनों को भूल गयी होगी और उसके प्रति आभारी होगी। इसके अतिरिक्त, फीरोज के लोकहितकारी कार्य भी प्रशंसनीय थे। पुल, बाँध कुएँ, नगरों एवं इमारतों का निर्माण, ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत आदि उसके कार्य शासक की दृष्टि से उपयुक्त थे। बेरोजगारों की सहायता, 'दीवान-ए-खैरात' और खैराती अस्पताल की स्थापना उसके मानवोचित कार्य थे। मदरसों की स्थापना और शिक्षा के प्रसार के लिए प्रयत्न करना भी फीरोज का महत्वपूर्ण कार्य था। यह स्पष्ट होते हुए भी कि इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य केवल अपनी मुस्लिम प्रजा की भलाई करना था, यह माना जाता है कि फीरोज दिल्ली के सुल्तानों में पहला सुल्तान था जिसने शासक के कर्तव्यों को विस्तृत किया। विजय, शान्ति-व्यवस्था और राजस्व वसूल करने के अतिरिक्त प्रजा की भलाई के लिए प्रयत्न करने के दायित्व को समझने और वहन करने वाला वह पहला सुल्तान था।

परन्तु इनके अतिरिक्त फीरोज शासक की दृष्टि से सफल न था। उसके शासन की सफलता का श्रेय उसके योग्य अधिकारियों को था। वह स्वयं अपनी विवेकरहित उदारता के कारण उसकी दुर्बलता का कारण था। बेईमान व्यक्तियों को भी माफ कर देना एक अच्छे शासन की स्थापना करना नहीं था। वह न तो स्वयं परिश्रमी था और न स्वयं शासन की देखभाल करता था। इस कारण उसने अपने सरदारों और अधिकारियों को विस्तृत अधिकार दे दिये थे जो राज्य के अन्तिम हित में न था। सर वूल्जले हेग ने लिखा है : "निस्सन्देह, अच्छी से अच्छी भाँति निर्धारित की गयी नीति भी उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में शक्ति को सुरक्षित नहीं रख सकती थी और न उस भयंकर धक्के को बर्दाश्त कर सकती थी जो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी मृत्यु के दस वर्षों के भीतर ही राज्य को लगा। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि उसकी विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था उसके योग्यतम उत्तराधिकारी को भी कठिनाई में डालने के लिए पर्याप्त थी और उसने निस्सन्देह अपने वंश के पतन की प्रगति को तीव्र किया।" **उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देने तथा सुन्नी मुसलमान वर्ग को विशेष संरक्षण प्रदान करने से भी शासन की क्षमता पर कुप्रभाव पड़ा था।** फीरोज ने श्रेष्ठ शासन को अपना लक्ष्य नहीं बनाया था अपितु शासन को एक विशेष वर्ग के संरक्षण और अपने लिए सार्वजनिक लोकप्रियता का साधन बनाया था। ऐसी स्थिति में शासन में दोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। डॉ. यू. एन. डे ने लिखा है : "लेकिन यह सम्पूर्ण बाह्य शान्ति, आराम और समृद्धि कार्य-कुशलता के बदले में प्राप्त की गयी थी। उसने शासन की जड़ों को खोखला कर दिया। उसके उलेमा-वर्ग के समर्थन ने एक ऐसे सिद्धान्तहीन और स्वार्थी व्यक्तियों के वर्ग को प्रोत्साहन दिया जिन्होंने दम्भपूर्ण व्यवहार किया और मुस्लिम आत्म-नैतिकता के संरक्षक होने का दिखावा किया। इन सभी ने मिलकर ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया जिसमें (राज्य का) विघटन आवश्यक बन गया।" **इस प्रकार फीरोज ने शासन को सुसंगठित नहीं किया बल्कि उसे दुर्बल और भ्रष्टाचारपूर्ण बनाया जो तुगलक-वंश के पतन का कारण बना।** उसके चलाये हुए नवीन सिक्कों में चाँदी कम मात्रा में मिलाई गयी। टकसाल-अधिकारी कजरखाँ इसके लिए उत्तरदायी था और वजीर मकबूल खानेजहाँ को इसका ज्ञान था। तब भी कजरखाँ को सम्मानित किया गया और सुल्तान ने बाद में कजरखाँ को स्थानान्तरित करने के सिवाय कोई अन्य सजा नहीं दी। इस प्रकार का भ्रष्टाचार फीरोज के अन्य सभी शासन-विभागों में रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है और इसका दायित्व सुल्तान की विवेकरहित उदारता पर था। **फीरोज की दास-प्रथा राज्य के अनावश्यक व्यय और शासन में अनुचित हस्तक्षेप का कारण बनी।** फीरोज की मृत्यु के पश्चात् उसके दासों ने सुल्तान को बनाने या हटाने की कुचेष्टा की। **अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति फीरोज का व्यवहार उस समय तक हुए सुल्तानों की तुलना में कठोर था।** वास्तव में वह पहला सुल्तान था जिसने इस्लाम धर्म को राज्य-शासन का आधार बनाया और उसका व्यावहारिक प्रयोग किया। **इस प्रकार फीरोज ने दिल्ली-सल्तनत की व्यवस्था को उदारता के स्थान पर प्रतिक्रिया की ओर मोड़ दिया जो राज्य के हित में न था। हिन्दुओं का असन्तोष भी तुगलक-वंश के पतन में सहयोग प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ।** डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है : "फीरोज के सुधार हिन्दुओं का विश्वास अर्जित करने में असफल रहे जिनकी भावनाएँ उसकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण कटु बन गयी थीं। उन सभी ने मिलकर उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जो उस वंश के लिए घातक सिद्ध हुई जिसका वह एक अयोग्य प्रतिनिधि था।" **परन्तु फीरोज की सबसे बड़ी असफलता एक सुसंगठित सेना का निर्माण न कर पाना और साम्राज्य व सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित करने में असफल होना था।** मध्य-युग में एक शक्तिशाली सेना ही एक राज्य, एक शासन और एक सुल्तान तथा उसके वंश की सुरक्षा व सम्मान की स्थापना का आधार थी। फीरोज इसमें पूर्णतया असफल हुआ। उसके सैनिक-शासन की शिथिलता, पैतृक आधार पर सैनिकों का भर्ती किया जाना, बूढ़े और दुर्बल व्यक्तियों को सैनिक-सेवा से न निकालना, सैनिकों में जागीरों का वितरण और घुड़सवार-सेना का वार्षिक निरीक्षण न करना आदि ऐसे कार्य थे जिनसे दिल्ली-सल्तनत की सैन्य-शक्ति नष्ट हो गयी। फीरोज खोये हुए एक भी सूबे को पुनः अपनी अधीनता में न ले सका तथा बंगाल, जाजनगर और सिन्ध पर उसके आक्रमण उसकी सैनिक दुर्बलता तथा सैन्य-संचालन की अयोग्यता को सिद्ध करने वाले थे। 'मुसलमानों का रक्त न बहे', इस आधार पर वह युद्धों के प्रति उदासीन रहा। परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में यह उसकी अपनी अयोग्यता और सैनिक दुर्बलता को छिपाने का बहाना मात्र था। वास्तव में सुल्तान फीरोज दिल्ली-सल्तनत की सैनिक और प्रशासकीय प्रतिष्ठा को स्थापित करने में असफल हुआ और इस कारण अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है : "फीरोजशाह के लम्बे शासनकाल में शान्ति, समृद्धि और सन्तोष होते हुए भी कोई इस बात में सन्देह नहीं कर सकता कि उसकी नीतियों और प्रशासनिक कार्यों ने दिल्ली-सल्तनत के पतन में बहुत बड़ी मात्रा में योग दिया और विघटन की उस प्रक्रिया को तीव्र किया जो उसके पूर्वाधिकारी के शासनकाल में ही आरम्भ हो चुकी थी।" ऐसी स्थिति में फीरोज को सामान्यतया एक योग्य सुल्तान तो माना जा सकता है परन्तु उसे एक श्रेष्ठ अथवा महान् शासक स्वीकार नहीं किया जा सकता। मुगल बादशाह अकबर से उसकी तुलना करने का तो कोई औचित्य ही नहीं है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. फीरोज तुगलक की आन्तरिक नीति की समीक्षा कीजिए।
2. फीरोज तुगलक के आर्थिक सुधार और उनके परिणामों पर विचार कीजिए।
3. 'फीरोज तुगलक का शासन अच्छाई और बुराई का अद्‌भुत मिश्रण था।' उपर्युक्त कथन के आधार पर फीरोज तुगलक की आन्तरिक नीति की विवेचना कीजिए।
4. फीरोज तुगलक तुगलक वंश के पतन के लिए किस प्रकार और कहाँ तक उत्तरदायी था ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. फीरोज तुगलक के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
2. क्या फीरोज तुगलक अपहरणकर्त्ता था ?
3. सिद्ध कीजिए कि फीरोज तुगलक गद्दी का वास्तविक दावेदार था।
4. फीरोज तुगलक के राजस्व सुधारों का वर्णन कीजिए।
5. फीरोज तुगलक के सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर प्रकाश डालिए।
6. फीरोज तुगलक की धार्मिक नीति की विवेचना कीजिए।
7. फीरोज की विदेश नीति का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
8. एक शासक के रूप में फीरोज तुगलक का मूल्यांकन कीजिए।
9. फीरोज तुगलक के काल में दासों की स्थिति का वर्णन कीजिए।
10. फीरोज के काल में सैन्य स्थिति पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सुल्तान फीरोज के पिता का नाम था—
   (अ) गियासुद्दीन (ब) रज्जब ✓
   (स) मुहम्मद तुगलक (द) इनमें से कोई नहीं।
2. फीरोज तुगलक की माँ मूल रूप से थी—
   (अ) एक राजपूत महिला ✓ (ब) एक मुस्लिम महिला
   (स) एक यहूदी महिला (द) एक ईसाई महिला।
3. मुहम्मद बिन तुगलक की मृत्यु के समय फीरोज था—
   (अ) दिल्ली में (ब) सैनिक अभियान पर
   (स) सिन्ध में मुहम्मद तुगलक के साथ ✓ (द) इनमें से कहीं नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. फीरोज तुगलक ने प्रारम्भ में सुल्तान पद के लिए इन्कार क्यों कर दिया था ?
(अ) वह अनिच्छुक था
(ब) कट्टर सुन्नियों का समर्थन प्राप्त करना चाहता था
(स) अपनी स्थिति को सुनिश्चित करना चाहता था
(द) 'ब' व 'स' दोनों।

5. क्या फीरोज एक अपहरणकर्त्ता था ?
(अ) हाँ (ब) नहीं
(स) विवादित विषय (द) इनमें से कोई नहीं।

6. फीरोज की गद्दी का दावेदार था, यह पुष्टि होती है—
(अ) उत्तराधिकार के नियम के न होने से (ब) वंशानुगत अधिकार की अमान्यता से
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

7. फीरोज ने राज्य की आन्तरिक स्थिति को सुधारने के क्या प्रयास किये ?
(अ) राजकीय सीमाओं की सुरक्षा
(ब) धार्मिक वर्ग को सन्तुष्ट किया
(स) देश में आर्थिक सम्पन्नता लाने का प्रयास किया
(द) उपर्युक्त सभी प्रयास किये।

8. फीरोज की सफलता के लिए पूरी तरह उत्तरदायी था—
(अ) उसका वजीर मलिक-ए-मकबूल (ब) हिसामुद्दीन
(स) शिहाबुद्दीन (द) मलिक शेर खाँ।

9. फीरोज ने कितने कष्टदायक करों को समाप्त कर दिया था ?
(अ) अठारह (ब) बीस
(स) चौबीस (द) पच्चीस।

10. राजस्व व्यवस्था में सुधारों के बाद भी उसमें कुछ दोष रहे—
(अ) जागीरदारी प्रथा (ब) जागीरदारों द्वारा किसानों का उत्पीड़न
(स) भूमि को ठेके पर दिया जाना (द) उपर्युक्त सभी।

11. फीरोज तुगलक ने किसानों की सुविधा के लिए नहरें खुदवायी थीं—
(अ) चार (ब) पाँच
(स) छः (द) सात।

12. फीरोज तुगलक अशोक के कितने स्तम्भों को दिल्ली लाया था ?
(अ) दो (ब) तीन
(स) चार (द) एक।

13. फीरोज की न्याय व्यवस्था थी—
(अ) कठोर (ब) उत्पीड़न व यातनापूर्ण
(स) उदार (द) इनमें से कोई नहीं।

14. फीरोज तुगलक की आत्मकथा का नाम था—
(अ) तारीख-ए-फीरोजशाही (ब) फतूहात-ए-फीरोजशाही
(स) सीरत-ए-फीरोजशाही (द) फतवा-ए-जहाँदारी।

15. ज्वालामुखी मन्दिर से प्राप्त संस्कृत ग्रन्थों में से कुछ का उसने अनुवाद कराया था—
(अ) फारसी में (ब) उर्दू में
(स) अरबी में (द) हिन्दी में।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16. फीरोज तुगलक के काल में दासों की संख्या में अत्यन्त वृद्धि का कारण था—
(अ) दासों से लगाव (ब) उन्हें शिक्षित करना
(स) धर्म प्रचार की भावना (द) उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त करना।

17. फीरोज तुगलक की सैन्य शक्ति दुर्बल क्यों थी ?
(अ) सेना अस्थायी थी (ब) सैनिक का पद वंशानुगत था
(स) सुल्तान सामन्तों की सेना पर निर्भर था (द) उपर्युक्त सभी।

18. हिन्दुओं के साथ फीरोज अन्य किसके प्रति असहिष्णु था ?
(अ) शियाओं के प्रति (ब) सूफियों के प्रति
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

19. हिन्दुओं को कहा जाता था—
(अ) जिम्मी (ब) गैर-मुसलमान
(स) धर्म-विरोधी (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

20. फीरोज ने उलेमाओं की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए क्या किया था ?
(अ) खलीफा से दो बार सुल्तान पद की स्वीकृति प्राप्त की
(ब) सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया
(स) दोनों 'अ' व 'ब'
(द) इनमें से कोई नहीं।

21. किस विद्वान ने लिखा है, "फीरोज इस युग का सबसे महान् धर्मान्ध (सुल्तान) और इस क्षेत्र में सिकन्दर लोदी तथा औरंगजेब का अग्रसर था।"
(अ) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (ब) डॉ. आर. सी. मजूमदार
(स) डॉ. ए. बी. पाण्डेय (द) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव।

22. फीरोज ने बंगाल विजय हेतु दो बार प्रयास किये, किन्तु परिणाम रहा—
(अ) असफलता (ब) सफलता
(स) परिणाम रहित (द) इनमें से कोई नहीं।

23. नगरकोट पर आक्रमण में फीरोज का उद्देश्य था—
(अ) विजय प्राप्त करना (ब) ज्वालामुखी मन्दिर को ध्वस्त करना
(स) मूर्तियों को तोड़ना (द) 'ब' व 'स' दोनों।

24. सिन्ध के अभियान के समय फीरोज कहाँ फँस गया था—
(अ) गोबी के रेगिस्तान में (ब) रन के रेगिस्तान में
(स) सहारा के रेगिस्तान में (द) इनमें से कोई नहीं।

25. फीरोज तुगलक के जीवन का अन्त हुआ था—
(अ) 1386 ई. में (ब) 1387 ई. में
(स) 1388 ई. में (द) 1389 ई. में।

[उत्तर—1. (ब), 2. (अ), 3. (स), 4. (द), 5. (स), 6. (स), 7. (द), 8. (अ), 9. (स), 10. (द) 11. (ब), 12. (अ), 13. (स), 14. (ब), 15. (अ), 16. (स), 17. (द), 18. (स), 19. (अ), 20. (स) 21. (ब), 22. (अ), 23. (द), 24. (ब), 25. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14

फीरोजशाह के उत्तराधिकारी और तुगलक-वंश का पतन

[1]

फीरोजशाह के उत्तराधिकारी (1388-1414 ई.)

सितम्बर 1388 ई. में फीरोज की मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े पुत्र फतहखाँ का पुत्र तुगलकशाह 'गियासुद्दीन तुगलक द्वितीय' के नाम से सुल्तान बना। फीरोज के तांसरे पुत्र शाहजादा मुहम्मद ने सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ। गियासुद्दीन एक अयोग्य और विलासी शासक सिद्ध हुआ। उसके सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये। फीरोज के दूसरे पुत्र जफरखाँ के पुत्र अबू बक्र ने इसका लाभ उठाया और कुछ अमीरों के सहयोग से षड्यन्त्र करके गियासुद्दीन को सिंहासन से हटा कर मार दिया। फरवरी 1389 ई. में अबू बक्र सुल्तान बना। अबू बक्र को भी शाहजादा मुहम्मद के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। कुछ शक्तिशाली सरदार मुहम्मद के साथ हो गये और उसने अप्रैल 1389 ई. में स्वयं को सुल्तान घोषित करके दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। दिल्ली के अमीरों और सूबेदारों ने खुले तौर से एक अथवा दूसरे पक्ष का साथ दिया। दो या तीन असफल प्रयासों के पश्चात् मुहम्मद ने अबू बक्र को दिल्ली छोड़ने के लिए बाध्य किया और अगस्त 1390 ई. में नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह के नाम से सुल्तान बन गया। बाद में अबू बक्र को पकड़ कर मिरात के किले में बन्द कर दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। राजवंश के इन शाहजादों के संघर्ष के कारण तुगलक-साम्राज्य का विघटन तीव्रता से आरम्भ हो गया और विभिन्न सरदार अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। नासिरुद्दीन ने कुछ क्रियाशीलता का परिचय दिया परन्तु विलासिता के कारण उसका स्वास्थ्य ख़राब हो गया जिससे जनवरी 1394 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ 'अलाउद्दीन सिकन्दरशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। परन्तु छः सप्ताह के अन्दर उसकी भी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सरदारों ने उसके छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूदशाह (1394-1412 ई.) को सुल्तान बनाया जो तुगलक-वंश का अन्तिम शासक था।

उस समय तक दिल्ली-सल्तनत का राज्य बहुत सीमित रह गया था। दक्षिण-भारत, खानदेश, बंगाल, गुजरात, मालवा, राजस्थान, बुन्देलखण्ड आदि सभी सूबे दिल्ली-सुल्तान के हाथों से निकल गये थे और विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गयी थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिरुद्दीन महमूद के समय में यह विघटन रोका न जा सका बल्कि उसके समय में जौनपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, पंजाब का सूबेदार खिज्रखाँ स्वतन्त्र होकर दिल्ली को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगा और फीरोज़ के एक पुत्र नसरतशाह ने नासिरुद्दीन को चुनौती दी जिसके फलस्वरूप तुगलक-वंश के दो शासकों ने एक साथ ही दिल्ली के छोटे-से राज्य पर शासन किया। नासिरुद्दीन महमूद दिल्ली में शासक रहा और नसरतशाह फीरोजाबाद में तथा दोनों में से कोई भी एक-दूसरे को समाप्त न कर सका। विभिन्न सरदार कभी एक सुल्तान का पक्ष लेते थे और कभी दूसरे का। ऐसी ही परिस्थितियों में तैमूर का आक्रमण हुआ और दोनों सुल्तान भाग खड़े हुए। तैमूर के वापस चले जाने के पश्चात् नासिरुद्दीन महमूद ने अपने वजीर मल्लू इकबाल की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। परन्तु उस अवसर पर वह दिल्ली और उसके निकटवर्ती जिलों मात्र का सुल्तान तथा मल्लू इकबाल के हाथों में एक कठपुतली था। परन्तु कुछ समय पश्चात् मल्लू इकबाल के भय के कारण सुल्तान महमूद कन्नौज भाग गया। परन्तु मल्लू इकबाल मुल्तान के सूबेदार खिज्रखाँ (तिमूर ने खिज्रखाँ को मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर का सूबेदार नियुक्त किया था) से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दिल्ली पहुँच गया। परन्तु इस बार उसने शासन-सत्ता एक अफगान सरदार दौलतखाँ लोदी को सौंप दी। खिज्रखाँ दिल्ली को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा परन्तु असफल रहा। 1412 ई. में नासिरुद्दीन महमूद की, जिसने कभी स्वयं शासन नहीं किया था और जो कई बार राजधानी छोड़ने के लिए बाध्य हुआ था, मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु से तुगलक-वंश का शासन समाप्त हो गया। 1413 ई. में सरदारों की सम्मति से दौलतखाँ लोदी सुल्तान बना परन्तु खिज्रखाँ ने दिल्ली पर आक्रमण किया, दौलतखाँ को परास्त करके उसे हिसार के किले में कैद कर दिया और 1414 ई. में दिल्ली सिंहासन पर बैठकर एक नवीन राजवंश—सैयद-वंश—की नींव डाली।

[2]

तैमूर का आक्रमण (1398-1399 ई.)

तैमूर का जन्म 1336 ई. में ट्रान्स-ऑक्सियाना के कैच उर्फ 'शहर-ए-सब्ज' में हुआ। वह तुर्कों की बरलास नस्ल का था और उसका पिता कैच की एक छोटी सी जागीर का शासक था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् 1360 ई. में वह उसकी साधारण सी जागीर का मालिक बना। उस समय से लेकर 1405 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक तैमूर निरन्तर युद्धों एवं संघर्षों में लिप्त रहा। मंगोलों का विस्तृत साम्राज्य उस समय तक छिन्न-भिन्न हो चुका था और मध्य-एशिया की राजनीति अस्थिर थी। अनेक कठिनाइयों एवं संघर्षों के पश्चात् उसने उस राजनीति को अपने अधिकार में किया और एक बड़े साम्राज्य को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। शक्ति और क्रूरता तैमूर के मुख्य साधन थे। परन्तु इनके अतिरिक्त वह एक महान् सेनापति, कट्टर सैनिक और कुशल राजनीतिज्ञ था जिसके कारण एक के बाद एक राज्य उसके सम्मुख घुटने टेकते चले गये। ट्रान्स-ऑक्सियाना, तुर्किस्तान का एक बड़ा भाग, अफगानिस्तान, पर्शिया, सीरिया, कुर्दिस्तान, एशिया माइनर का कुछ भाग, बगदाद, जॉर्जिया आदि उसके साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। सम्पूर्ण दक्षिण-रूस (Russia) को उसने लूटा तथा भारत में दिल्ली तक के प्रदेश को लूटने में सफलता प्राप्त की। जब वह चीन पर आक्रमण करने जा रहा था तभी मार्ग में उसकी मृत्यु हो गयी। तैमूर एक नृशंस शासक था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह जहाँ भी गया वहाँ उसने लूटमार, अग्निकाण्ड और कत्लेआम से नगर और गाँव ध्वस्त कर दिये। तबाही, आतंक और भय उसकी विजय के साधन थे। उसने अपने जीवन में व्यवस्था और शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तैमूर विजेता मात्र था और एक महान् सेनापति की भाँति उसने विजय अर्जित कीं। एक प्रारम्भिक युद्ध के अवसर पर ही उसकी एक टाँग घायल हो गयी जिसकी वजह से वह जीवन-भर लँगड़ाता रहा और तैमूर लंग के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु फिर भी वह एक महान योद्धा और सेनापति सिद्ध हुआ। उसने तुर्कों के विशालतम साम्राज्य का निर्माण किया। तैमूर की विजयों का एक मुख्य कारण धनलिप्सा रही थी। वह जहाँ-जहाँ भी गया वहाँ उसने लूटमार की और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने भारत पर आक्रमण किया।

भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्यों को तैमूर ने स्वयं स्पष्ट किया था। उनमें से एक था काफिरों से युद्ध और उनका विनाश तथा दूसरा था धन की प्राप्ति। भारत में उसके व्यवहार ने यह स्पष्ट कर दिया कि धन प्राप्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा। उसके आक्रमण से पहले उसके पोते और काबुल के सूबेदार पीर मुहम्मद ने भारत पर आक्रमण कर दिया था और उच्छ को जीतकर मुल्तान का घेरा डाल रखा था। मार्च या अप्रैल 1398 ई. में तैमूर अपनी राजधानी समरकन्द से भारत पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ। सितम्बर 1398 ई. में सिन्धु नदी को पार करके वह झेलम नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ा। झेलम को पार करके उसने तालम्बा नामक स्थान पर अधिकार किया। पीर मुहम्मद भी मुल्तान को जीतकर उससे आ मिला। तैमूर ने दिपालपुर और समाना की तरफ अपनी सेना के कुछ दस्तों को भेजा और स्वयं भाटनेर के किले पर आक्रमण किया। यहाँ के किलेदार दुलचाँद ने आत्मसमर्पण कर दिया परन्तु फिर भी किले और उसके नगर को धूल में मिला दिया गया। मार्ग में लूटमार और कत्लेआम करता हुआ तैमूर दिसम्बर 1398 ई. में दिल्ली के निकट पहुँच गया। उस समय तक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने तैमूर को रोकने का कोई प्रबन्ध नहीं किया था। अब उसने और उसके वजीर मल्लू इकबाल ने तैमूर की सेना के पृष्ठ-भाग पर आक्रमण किया परन्तु उनकी पराजय हुई और वे भाग खड़े हुए। तैमूर ने दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी की और युद्ध से पहले प्रायः एक लाख हिन्दू कैदियों को नृशंसतापूर्वक कत्ल करा दिया जिससे वे युद्ध के अवसर पर कोई संकट उपस्थित न कर सकें। 17 दिसम्बर, 1398 ई. को दिल्ली के बाहर एक युद्ध हुआ जिसमें नासिरुद्दीन महमूद और मल्लू इकबाल पुनः पराजित हुए। नासिरुद्दीन महमूद गुजरात भाग गया और मल्लू इकबाल बुलन्दशहर। 18 दिसम्बर को तैमूर ने राजधानी में प्रवेश किया। नागरिकों और सैनिकों में झगड़ा होने के कारण तिमूर ने कत्लेआम का आदेश दिया। कई दिन तक दिल्ली में लूटमार और कत्लेआम होता रहा। हजारों व्यक्तियों का वध किया गया, हजारों व्यक्ति दास बना लिये गये और दिल्ली को निर्दयतापूर्वक लूटा गया। तैमूर दिल्ली में 15 दिन रहा तथा उसके सभी सरदारों ने यहाँ अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। 1 जनवरी, 1399 ई. को तैमूर फीरोजाबाद, मेरठ, हरिद्वार, काँगड़ा और जम्मू होता हुआ वापस लौटा। वह मार्ग में इन सभी स्थानों को लूटता और नष्ट करता हुआ गया। 19 मार्च, 1399 ई. को उसने सिन्धु नदी को पार किया और समरकन्द वापस चला गया। जाने से पहले उसने खिज्रखाँ को मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर का सूबेदार नियुक्त किया।

तैमूर के एक आक्रमण ने भारत में जितनी बर्बादी की उतनी, सम्भवतया, उस समय तक किसी भी विदेशी आक्रमणकारी ने नहीं की थी। वह जहाँ-जहाँ भी गया फसलों, गाँवों और नगरों को नष्ट करता हुआ गया। उसने लाखों व्यक्तियों का वध किया और प्रत्येक स्थान से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकथक सम्पत्ति लूट ले गया। दिल्ली महीनों तक उजाड़ पड़ी रही और मृतकों की अत्यधिक संख्या के कारण वहाँ बीमारी फैल गयी। दिल्ली-सल्तनत और तुगलक-वंश को भी तैमूर नष्ट करता गया। उसके आक्रमण से पहले दिल्ली-सल्तनत का विनाश आरम्भ हो चुका था परन्तु उसके पश्चात् उसकी सम्पूर्ण शक्ति एवं प्रतिष्ठा नष्ट हो गयी। दूरस्थ सूबे ही स्वतन्त्र नहीं हो गये बल्कि दिल्ली के निकट के कुछ जिलों को छोड़कर दिल्ली के सुल्तान के पास कुछ भी न रहा। लाहौर, मुल्तान तथा दिपालपुर पर तिमूर की ओर से खिज्रखाँ ने अधिकार कर लिया और अन्त में वह दिल्ली को प्राप्त करने में भी सफल हुआ। इस प्रकार **तैमूर का आक्रमण मारकाट, लूटमार, भुखमरी, तुगलक-वंश के पतन और दिल्ली-सल्तनत की प्रतिष्ठा के नष्ट होने का कारण बना।**

[3]

तुगलक-वंश (दिल्ली-सल्तनत) के विघटन तथा पतन के कारण

दिल्ली-सल्तनत के इतिहास में तुगलक-वंश का साम्राज्य भारत में सबसे अधिक विस्तृत था। गियासुद्दीन तुगलक ने अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण-विजय का पूर्ण लाभ उठाया और उसने उसे दिल्ली-सल्तनत के अधीन कर लिया। साम्राज्य के इस विस्तार में सबसे बड़ा योगदान मुहम्मद-बिन तुगलक का रहा। शाहजादा और बाद में सुल्तान के रूप में उसने दक्षिण-भारत को दिल्ली की अधीनता में कर दिया। इस कारण उसका समय तुगलक-वंश की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा। परन्तु उसी के समय से तुगलक-वंश का पतन और तुगलक-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ तथा अन्त में नासिरुद्दीन महमूद (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) के समय में न सुल्तान की प्रतिष्ठा शेष रही और न उसका साम्राज्य। उसके बारे में कहा गया कि "संसार के स्वामी का शासन दिल्ली से पालम तक फैला है।" (पालम दिल्ली शहर से सात मील दूर एक गाँव है जहाँ आधुनिक समय में हवाई अड्डा है।) तुगलक-वंश के पतन के विभिन्न निम्नलिखित कारण थे :

1. तुगलक शासकों का दक्षिण-भारत को अपने राज्य में सम्मिलित करना—गियासुद्दीन तुगलक के समय से दक्षिण के राज्यों को जीतकर दिल्ली-राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी गयी थी। मुहम्मद-बिन तुगलक ने इस नीति की पूर्ति की। परन्तु वह नीति उसके लिए घातक सिद्ध हुई। मध्य युग में इतने बड़े साम्राज्य को एक शासक के अधीन रखना असम्भव था। यातायात और सन्देशवाहनों की कमी इसके मुख्य कारण थे। सम्पूर्ण भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न पहले भी असफल हुए थे और बाद में भी हुए जब तक कि अंग्रेजों के शासनकाल में यातायात और सन्देशवाहनों में प्रगति नहीं कर ली गयी। मुहम्मद तुगलक के समय में ही दक्षिण-भारत दिल्ली-सल्तनत से पृथक हो गया। यही नहीं बल्कि दक्षिण ने सुल्तान के साधनों, शक्ति और प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचाया।

2. मुहम्मद-बिन तुगलक की असफलताएँ—मुहम्मद तुगलक एक सफल शासक सिद्ध नहीं हुआ। उसकी विभिन्न योजनाएँ असफल रहीं तथा उन्होंने राज्य के सम्मान और आर्थिक शक्ति को दुर्बल कर दिया। उसकी कठोर नीति और व्यवहार ने उसके विरुद्ध असन्तोष और विद्रोह को जन्म दिया। वह अपनी सैनिक-शक्ति को दृढ़ न रख सका और अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने में असमर्थ रहा। मुहम्मद तुगलक को जो साम्राज्य अपने पिता से प्राप्त हुआ था वह न तो उसका निर्माण कर सका और न ही उसकी सीमाओं की रक्षा में समर्थ रहा। उसने फीरोज को एक संकुचित होता हुआ दिवालिया राज्य सौंपा। उसके समय में ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण-भारत और बंगाल स्वतन्त्र हो गये, गुजरात और सिन्ध पर दिल्ली-सल्तनत का अधिकार अस्थिर हो गया, राजस्थान दिल्ली के सुल्तान के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहा, राज्य आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हो गया तथा नागरिकों में असन्तोष और विद्रोह की भावना जाग्रत हो गयी। इस कारण मुहम्मद तुगलक अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। (मुहम्मद तुगलक की असफलताओं के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 11 देखिए।)

3. फीरोजशाह की दुर्बल और प्रतिक्रियावादी नीति—फीरोज की आर्थिक नीति और सार्वजनिक हित के उसके कार्य प्रशंसनीय रहे परन्तु उसकी विवेकरहित उदारता, शासन में शिथिलता, सैनिक-शक्ति की पुनःस्थापना के प्रति उदासीनता, उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देना, हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार, शक्ति एवं विजय के द्वारा सुल्तान और दिल्ली-सल्तनत की प्रतिष्ठा को स्थापित न करना तथा उसकी दास-प्रथा साम्राज्य की दुर्बलता और उसके पतन का कारण बनीं (तुगलक-वंश के पतन में फीरोज के उत्तरदायित्व के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 12 देखिए।)

4. फीरोज के अयोग्य उत्तराधिकारी—फीरोज के उत्तराधिकारियों में से कोई भी सुल्तान बनने के योग्य न था। फीरोज की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई और उसके दो बड़े तथा योग्य पुत्रों की मृत्यु उसके जीवन-काल में हो गयी। उसका तीसरा पुत्र मुहम्मद अयोग्य एवं विलासी निकला जिसके कारण फीरोज ने उसे सिंहासन के अधिकार से वंचित करके अपने सबसे बड़े (मृतक) पुत्र के पुत्र तुगलकशाह को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। शाहजादा मुहम्मद ने अपने अधिकार को प्राप्त करने हेतु गियासुद्दीन तुगलक द्वितीय तथा अबू बक्र से संघर्ष किया। यद्यपि अन्त में वह सफल हुआ परन्तु राजपुत्रों के इस संघर्ष ने विभिन्न सरदारों को महत्वाकांक्षी और स्वार्थी बनने का अवसर प्रदान किया और सुल्तान उनकी सहायता पर निर्भर हो गये। अन्तिम शासक नासिरुद्दीन महमूद अयोग्य था और वह अपने सरदारों के हाथों में कठपुतली बना रहा। उसकी मृत्यु से तुगलक-वंश समाप्त हो गया। मध्य-युग में जब सभी कुछ सुल्तान की योग्यता और सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था, फीरोज के उत्तराधिकारियों का अयोग्य और दुर्बल होना तुगलक-वंश के पतन का मुख्य कारण बना।

5. सरदारों में योग्यता और नैतिकता का अभाव—तुगलक सुल्तानों के सरदारों ने फीरोज के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता और दुर्बलता का लाभ उठाया। उनमें से जो योग्य थे उन्होंने सूबों में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये और जो अयोग्य थे वे दरबार के निकट रहकर स्वार्थी और षड्यन्त्रकारी बन गये। उनमें से कोई योग्य सिद्ध नहीं हुआ और यदि योग्य हुआ तो वफादार नहीं हुआ जो दिल्ली के सुल्तान के लिए शक्ति का साधन बन पाता।

6. तैमूर का आक्रमण—तैमूर के आक्रमण ने उस कार्य की पूर्ति में सहायता दी जो उससे पहले ही आरम्भ हो चुका था। तुगलक-वंश की शक्ति उसके आक्रमण से पहले नष्ट हो चुकी थी। तैमूर ने उसके सम्मान और शक्ति को अन्तिम आघात पहुँचाया।

इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों के कारण तुगलक-वंश का पतन हुआ। मुहम्मद तुगलक और फीरोज जैसे शासक भी इसके लिए उत्तरदायी थे परन्तु मूलतः फीरोज के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता ही इसके लिए उत्तरदायी थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर तैमूर के भारत आक्रमण के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. तुगलक वंश के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए। अमीर तैमूर के आक्रमण का उसमें क्या उत्तरदायित्व रहा ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. फीरोजशाह के अयोग्य उत्तराधिकारी का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. तैमूर के भारत पर आक्रमण के कारण लिखिए।
3. अमीर तैमूर के भारत पर आक्रमण के परिणामों पर प्रकाश डालिए।
4. तुगलक वंश के पतन के दो महत्त्वपूर्ण कारण लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. फीरोज की मृत्यु के बाद दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ—
   (अ) फतह खाँ (ब) तुगलक शाह
   (स) अलाउद्दीन (द) नासिरुद्दीन।
2. सत्तारूढ़ होने के बाद तुगलक शाह ने उपाधि धारण की थी—
   (अ) गियासुद्दीन तुगलक की (ब) नासिरुद्दीन तुगलक की
   (स) महमूदशाह तुगलक की (द) इनमें से कोई नहीं।
3. गियासुद्दीन तुगलक की हत्या के बाद अबूबक्र सुल्तान बना था—
   (अ) 1387 ई. में (ब) 1388 ई. में
   (स) 1389 ई. में (द) 1390 ई. में।
4. तुगलक वंश का अन्तिम सुल्तान था—
   (अ) अबूबक्र (ब) गियासुद्दीन तुगलक
   (स) अलाउद्दीन सिकन्दरशाह (द) नासिरुद्दीन महमूदशाह।
5. फीरोजशाह की मृत्यु के बाद 13 वर्ष में तुगलक वंश के कितने अयोग्य उत्तराधिकारियों ने शासन किया था ?
   (अ) तेरह (ब) चौदह
   (स) पन्द्रह (द) इनमें से कोई नहीं।
6. 1414 ई. में दिल्ली में किस नवीन राजवंश की स्थापना हुई थी ?
   (अ) लोदी वंश (ब) सैयद वंश
   (स) तुर्क वंश (द) इनमें से कोई नहीं।
7. तैमूर ने अपने पिता की मृत्यु के बाद अपनी जागीर पर शासन प्रारम्भ किया था—
   (अ) 1345 ई. में (ब) 1350 ई. में
   (स) 1355 ई. में (द) 1360 ई. में।
8. मध्य एशिया में तैमूर ने राजनीति पर नियन्त्रण स्थापित किया था—
   (अ) शक्ति के द्वारा (ब) क्रूरता के द्वारा
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
9. तैमूर की मृत्यु किस अभियान पर जाते समय हुई थी ?
   (अ) अफगानिस्तान के (ब) चीन के
   (स) पर्शिया के (द) सीरिया के।
10. तैमूर को तैमूर लंग क्यों कहा जाता है ?
   (अ) युद्ध में पैर खराब हो जाने पर लंगड़ाने के कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by

(ब) उपाधि के कारण
(स) अत्यधिक क्रूर होने के कारण
(द) इनमें से कोई नहीं।

11. पीर मुहम्मद तैमूर का रिश्ते में था—
(अ) पुत्र (ब) दामाद
(स) पौत्र (द) अन्य निकट सम्बन्धी।

12. भटनेर के किले का किलेदार था—
(अ) मल्लू इकबाल (ब) राय दुलीचन्द
(स) राय भारमल (द) अलाउद्दीन।

13. तैमूर ने दिल्ली को विजय किया था—
(अ) 1395 ई. में (ब) 1396 ई. में
(स) 1397 ई. में (द) 1398 ई. में।

14. 1399 ई. में अपनी वापसी के दौरान तैमूर ने नीति अपनायी थी—
(अ) क्रूरता की (ब) लूटमार की
(स) हत्याकाण्ड की (द) उपर्युक्त सभी।

15. तुगलक वंश के पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी—
(अ) मुहम्मद तुगलक के काल से (ब) फीरोज के काल से
(स) गियासुद्दीन तुगलक के काल से (द) उपर्युक्त सभी के शासन से।

16. तुगलक शासकों द्वारा दक्षिण विजय की नीति सिद्ध हुई—
(अ) लाभदायक (ब) घातक
(स) हितकर (द) इनमें से कोई नहीं।

17. तुगलक वंश के पतन में सर्वाधिक योगदान रहा—
(अ) आर्थिक विपन्नता का (ब) शासकों की फिजूलखर्ची का
(स) अयोग्य उत्तराधिकारियों का (द) सभी का।

18. तुगलक कालीन सरदार थे—
(अ) स्वार्थी (ब) षड्यन्त्रकारी
(स) अयोग्य (द) उपर्युक्त सभी अवगुणों से विभूषित।

[उत्तर—1. (ब), 2. (अ), 3. (स), 4. (द), 5. (अ), 6. (ब), 7. (द), 8. (स), 9. (ब), 10. (अ), 11. (स), 12. (ब), 13. (द), 14. (द), 15. (अ), 16. (ब), 17. (स), 18. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15

विभिन्न सैयद सुल्तान

सैयद-वंश का शासनकाल केवल 37 वर्ष का रहा। उसके समय में न तो खलजी-वंश के शासकों की भाँति साम्राज्य-विस्तार की साहसिक नीति अपनायी गयी और न तुगलक-वंश के शासकों की भाँति प्रशासकीय सुधारों का प्रयत्न किया गया। सैयद शासक किसी भी आदर्श को अपने और अपनी प्रजा के सम्मुख रखने में असमर्थ रहे जिसके कारण विभाजन और विघटन की जो प्रवृत्ति फीरोज के उत्तराधिकारियों के समय में प्रबल रही थी वह उनके समय में भी बिना किसी बाधा के प्रोत्साहन प्राप्त करती रही। सैयद शासकों का राजनीतिक दृष्टिकोण दिल्ली के दो सौ मील के घेरे तक ही सीमित रहा और अन्त में वे उस घेरे की सुरक्षा करने में भी असमर्थ रहे।

[1]

खिज्रखाँ (1414-1421 ई.)

खिज्रखाँ सैयद-राजवंश का संस्थापक था। उसने अपने को पैगम्बर मुहम्मद का वंशज बताया था परन्तु इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। सम्भवतया, उसके पूर्वज अरब से मुल्तान में आकर बस गये थे। मुल्तान के सूबेदार मलिक मर्दान दौलत ने खिज्रखाँ के पिता मलिक सुलेमान को पुत्रवत् माना था। बाद में सुल्तान फीरोज ने अपने समय में खिज्रखाँ को मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया था। परन्तु 1395 ई. में मल्लू इकबाल के भाई सारंगखाँ ने उसे मुल्तान से भागने को बाध्य किया और वह मेवात चला गया। तैमूर के आक्रमण के अवसर पर वह उसके साथ हो गया और तैमूर ने भारत छोड़ने से पहले उसे मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर की सूबेदारी प्रदान की। अन्त में, 1414 ई. में उसने दौलतखाँ लोदी से दिल्ली को छीन लिया और दिल्ली का पहला सैयद सुल्तान बना। परन्तु खिज्रखाँ ने 'सुल्तान' की उपाधि ग्रहण नहीं की अपितु 'रैयत-ए-आला' की उपाधि से ही सन्तुष्ट रहा। वह तैमूर के पुत्र शाहरुख को निरन्तर भेंट और राजस्व भेजता रहता था और इस प्रकार एक प्रकार से वह अपने को उसके अधीन मानता था यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी कोई बात नहीं थी। उसने कई वर्षों तक खुतबा भी शाहरुख के नाम से ही पढ़वाया। उसने अपने सिक्कों पर तुगलक शासकों के ही नाम रहने दिये। सम्भवतया, इसका कारण सोने-चाँदी की कमी थी। परन्तु उसका मूल उद्देश्य तुर्क एवं अफगान सरदारों को सन्तुष्ट रखना और अपनी प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खिज्रखाँ का दिल्ली पर अधिकार हो जाने से पंजाब, मुल्तान और सिन्ध दिल्ली-सल्तनत में सम्मिलित हो गये थे। परन्तु इनके अतिरिक्त दिल्ली-साम्राज्य दोआब और मेवात के कुछ प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। खिज्रखाँ ने इन सीमाओं को विस्तृत करने का कोई प्रयत्न नहीं किया बल्कि उसने इक्ताओं (सूबों) का 'शिकों' (जिलों की भाँति) में बाँटकर स्थानीय वफादारियों को बढ़ने का अवसर प्रदान किया। खिज्रखाँ का मुख्य कार्य दिल्ली के निकट के उपजाऊ क्षेत्र को अपने अधीन करने और प्रत्येक वर्ष सैनिक बल द्वारा अपने जागीरदारों से राजस्व वसूल करने तक ही सीमित रहा। खिज्रखाँ ने तुर्की अमीरों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी और उन्हें उनकी जागीरों से वंचित नहीं किया। परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए और उस सुविधा का उपयोग उन्होंने निरन्तर विरोध और विद्रोह करने के लिए किया। खिज्रखाँ के सम्पूर्ण समय में यह स्थिति रही कि प्रत्येक वर्ष उसे या उसके सरदारों को राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक-अभियानों पर जाना पड़ता था। विभिन्न जागीरदार या तो विरोध करने की स्थिति में न होने के कारण राजस्व दे दिया करते थे अथवा अपने किले में बन्द हो जाते थे और पराजित होने के पश्चात् ही राजस्व देते थे। इस कार्य में उसके मन्त्री ताज-उल-मुल्क ने उसकी बड़ी सहायता की। परन्तु खिज्रखाँ उस विद्रोही प्रवृत्ति और उन विद्रोही जागीरदारों को स्थायी रूप से समाप्त करने में असफल हुआ और जीवनपर्यन्त इन सैनिक-अभियानों में लगा रहा। उसने कटेहर, इटावा, खोर, जलेसर, ग्वालियर, बयाना, मेवात, बदायूँ आदि स्थानों पर आक्रमण किये। दूरस्थ स्थानों में से केवल नागौर ऐसा था जहाँ के शासक की सहायता के लिए वह गया। एक विद्रोही ने अपने को सारंगखाँ बताया और पंजाब में उपद्रव किया परन्तु उसे परास्त कर दिया गया। पंजाब में खोक्खरों ने भी उसे परेशान किया। मेवात और बदायूँ पर भी आक्रमण करने पड़े यद्यपि उनमें उसे आशातीत सफलता न मिली। उसके समय में गुजरात, मालवा और जौनपुर के शासक दिल्ली को प्राप्त करने के इच्छुक रहे परन्तु उन्होंने कोई बड़ा आक्रमण नहीं किया।

अपने अन्तिम समय में वह मेवात पर आक्रमण करने के लिए गया और उसने कोटला के किले को बर्बाद कर दिया। उसके पश्चात् उसने ग्वालियर के कुछ क्षेत्रों को लूटा और फिर इटावा गया जहाँ के नवीन राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। वहाँ से वापस आते हुए वह बीमार हो गया और 20 मई, 1421 ई. को दिल्ली पहुँचकर उसकी मृत्यु हो गयी।

खिज्रखाँ बुद्धिमान, उदार और न्यायप्रिय शासक था। उसका व्यक्तिगत चरित्र अच्छा था। इसी कारण वह अपनी प्रजा का प्रेम प्राप्त कर सका। फरिश्ता लिखता है : "उसके शासन में जनता प्रसन्न और सन्तुष्ट थी और इस कारण युवा और वृद्ध, दास और स्वतन्त्र, सभी ने उसकी मृत्यु पर काले वस्त्र पहनकर दुख प्रकट किया।" परन्तु वह बहुत सफल शासक नहीं हुआ। तुगलक-वंश के पतन और तैमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली-सल्तनत की जो दुर्बल स्थिति हो गयी थी, वह उसे सुधार न सका और उसका राज्य भारत के विभिन्न राज्यों की तुलना में श्रेष्ठ न बन सका।

[2]

मुबारकशाह (1421-1434 ई.)

खिज्रखाँ ने अपने पुत्र मुबारकखाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था और वह मुबारकशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने 'शाह' की उपाधि धारण की, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया और अपने नाम के सिक्के चलवाये। इस प्रकार उसने विदेशी स्वामित्व को स्वीकार नहीं किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुबारक को तीन मुख्य शत्रुओं से खतरा था। उत्तर-पश्चिम में खोक्खर नेता जसरथ, दक्षिण में मालवा का शासक और पूर्व में जौनपुर का शासक उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे। उनमें से प्रत्येक दिल्ली को प्राप्त करने की लालसा करता था। परन्तु मुबारक अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा करने में समर्थ रहा यद्यपि वह राज्य-विस्तार न कर सका। झेलम और चिनाब नदी की घाटियों में खोक्खर जाति बहुत पहले से प्रभावपूर्ण थी। उस अवसर पर उसके नेता जसरथ ने सैयद-वंश को नष्ट करने का प्रयत्न किया। जसरथ ने कश्मीर के राजा से सहायता प्राप्त की और काबुल के सूबेदार से भी सहायता लेने का प्रयत्न किया। उसने निरन्तर सरहिन्द, जालन्धर, लाहौर आदि विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। मुबारक ने जसरथ को दबाने हेतु अफगान सरदार बहलोल को नियुक्त किया परन्तु जसरथ ने उससे समझौता कर लिया। उसकी योजना बहलोल को साथ लेकर दिल्ली पर अधिकार करने की थी। परन्तु वह इस उद्देश्य में सफल न हो सका। मालवा के शासक हुसंगशाह ने ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और ग्वालियर का शासक मुबारक की अधीनता को स्वीकार करता रहा यद्यपि उससे राजस्व वसूल करने के लिए मुबारक को उस पर कई बार आक्रमण करने पड़े। जौनपुर के शासक इब्राहीम से मुबारक का झगड़ा मुख्यतया बयाना, कालपी और मेवात के आधिपत्य के प्रश्न पर था। इब्राहीम निरन्तर इनको अपने आधिपत्य में लेने का प्रयत्न करता रहा परन्तु सफल न हुआ। मार्च 1428 ई. में मुबारक और इब्राहीम में बयाना के निकट एक बड़ा युद्ध हुआ परन्तु यह युद्ध निर्णयात्मक न हुआ। फिर भी इब्राहीम वापस चला गया और बयाना मुबारक के अधिकार में रहा। परन्तु मुबारक का वध हो जाने पर मालवा के शासक हुसंगशाह ने कालपी पर अपना अधिकार करने में सफलता प्राप्त की।

मुबारक को काबुल के नायब-सूबेदार शेख अली के आक्रमणों का भी मुकाबला करना पड़ा। शेख अली ने सरसुती, अमरोहा और तबरहिन्द के विद्रोही सूबेदार पुलाद की सहायता की और जसरथ (खोक्खर) के उपद्रवों से भी लाभ उठाना चाहा। उसने जालन्धर, फीरोजपुर, लाहौर और मुल्तान के विभिन्न क्षेत्रों को लूटने में सफलता पायी परन्तु बड़े युद्धों में वह परास्त हुआ और मुबारक की सीमाओं के अन्तर्गत किसी भी प्रदेश को अपने आधिपत्य में न कर सका।

मुबारक को भी राजस्व वसूल करने के लिए अपने जागीरदारों और सरदारों के विरुद्ध मुख्यतया बदायूँ, इटावा, कटेहर, ग्वालियर आदि पर आक्रमण करने पड़े। इससे स्पष्ट होता है कि विद्रोही सरदारों और सामन्तों को स्थायी रूप से दबाने में वह भी असफल रहा।

19 फरवरी, 1434 ई. को उसके वजीर सरवर-उल-मुल्क ने धोखे से मुबारकशाह का वध करा दिया जबकि वह कालपी जाते हुए अपने नवीन नगर मुबारकाबाद के निरीक्षण के लिए वहाँ रुका था। वजीर सरवर-उल-मुल्क पहले मलिक सरुप नाम का हिन्दू था और बाद में मुसलमान बना था। खिज्रखाँ ने उसे दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया था परन्तु 1422 ई. में वह वजीर बनने में सफल हो गया। मुबारक उसके दम्भी व्यवहार से असन्तुष्ट था और वह उसकी कार्यक्षमता में भी विश्वास न कर सका था। इस कारण उसने उससे राजस्व के अधिकार छीनकर नायब सेनापति कमाल-उल-मुल्क को दे दिये थे। इससे सरवर-उल-मुल्क असन्तुष्ट हो गया था। अन्त में, वह कुछ हिन्दुओं की सहायता से मुबारकशाह का वध कराने में सफल हो गया।

सैयद-सुल्तानों में मुबारकशाह योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। वह अपने राज्य का विस्तार न कर सका परन्तु शाह की उपाधि धारण करके उसने अपने को बाह्य आधिपत्य से स्वतन्त्र घोषित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया और अपने नाम के सिक्के चलाये। उसकी मुख्य सफलता अपने राज्य की खोक्खरों एवं काबुल के मुगल आक्रमणों से रक्षा करना तथा जौनपुर और मालवा के शक्तिशाली शासकों के प्रभाव एवं अधिकार-क्षेत्र को बढ़ने से रोकना था। उसका प्रायः 13 वर्ष का शासनकाल अपने राज्य के विदेशी शत्रुओं और आन्तरिक विद्रोहियों से निरन्तर संघर्ष का समय था। वह इस संघर्ष में सफल हुआ। उसने इक्तादारों (सूबेदारों) का स्थानान्तरण करके सुल्तान की प्रतिष्ठा को भी स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे यह सिद्ध हो सके किं उनकी जागीर या उनका 'इक्ता' पैतृक सम्पत्ति नहीं बल्कि सुल्तान द्वारा प्रदत्त अधिकार है। परन्तु इससे जागीरदार और इक्तादार असन्तुष्ट हुए क्योंकि फीरोज के उत्तराधिकारियों के समय में सुल्तानों की दुर्बलता का लाभ उठाकर वे अपनी जागीरों एवं इक्ताओं को पैतृक सम्पत्ति मानने लगे थे। मुबारक की मुख्य असफलता योग्य एवं वफादार असैनिक अधिकारियों और दरबार के अमीरों को चुनने की रही जिसके कारण उसकी हत्या का षड्यन्त्र सफल हुआ। अन्य दृष्टिकोण से उसके प्रयत्न सराहनीय रहे। मुबारक ने यमुना नदी के तट पर एक नवीन नगर मुबारकाबाद बसाया और उसमें एक अच्छी मस्जिद बनवायी। उसने तत्कालीन विद्वान याहिया सरहिन्दी को संरक्षण प्रदान किया जिसने उसके समय के इतिहास 'तारीख-ए- मुबारकशाही' को लिखा। इस प्रकार मुबारकशाह सैयद-शासकों में योग्यतम शासक सिद्ध हुआ।

[3]

मुहम्मदशाह (1434-1445 ई.)

मुबारकशाह के पश्चात् उसके भाई का पुत्र मुहम्मद-बिन फरीदखाँ मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। वह अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ। उसने अपनी अयोग्यता से सैयद-वंश के पतन का मार्ग प्रशस्त किया। आरम्भ के छः माह तक वजीर सरवर-उल-मुल्क का शासन पर पूर्ण प्रभाव रहा। उसने अपने साथी सरदारों और मुबारक के वध में भाग लेने वाले हिन्दू-सामन्तों को प्रतिष्ठित पद प्रदान किये। परन्तु नायब-सेनापति कमाल-उल-मुल्क सैयद-वंश के प्रति वफादार रहा और उसने वजीर को समाप्त करने के लिए सरदारों का एक पृथक गुट बना लिया। वह चालाकी से अपनी भावनाओं को छिपाये रहा। वजीर ने उसे बयाना के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। सेना की शक्ति प्राप्त करके कमाल-उल-मुल्क ने अपनी योजना को सभी के सम्मुख रख दिया और अपनी सेना को लेकर दिल्ली वापस आ गया। वजीर ने इस षड्यन्त्र को देखकर सुल्तान का वध करने का प्रयत्न किया परन्तु सुल्तान स्वयं इस षड्यन्त्र में सम्मिलित था अतः सावधान था। जब वजीर उसे कत्ल करने गया तब सुल्तान के अंगरक्षकों ने वजीर और उसके सहयोगियों का वध कर दिया।

मुहम्मदशाह वजीर के प्रभाव से मुक्त हो गया परन्तु स्वयं भी शासन की देखभाल न कर सका। नवीन वजीर कमाल-उल-मुल्क भी अधिक योग्य न था। इसके परिणामस्वरूप विद्रोहियों और बाह्य आक्रमणकारियों को अवसर मिला। मालवा के शासक महमूद ने दिल्ली पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह ने अपनी सहायता के लिए मुल्तान के सूबेदार बहलोल को बुलाया। दिल्ली से दस मील दूर तलपत नामक स्थान पर युद्ध हुआ परन्तु निर्णय न हो सका। मुहम्मदशाह ने महमूद के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा और महमूद अपनी राजधानी पर गुजरात के शासक द्वारा आक्रमण का समाचार पाकर वापस जाने को तैयार हो गया। वापस जाते हुए महमूद पर बहलोल ने आक्रमण किया तथा उसके कुछ सामान को लूटने और सैनिकों को बन्दी बनाने में सफलता प्राप्त की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहम्मदशाह ने बहलोल का सम्मान किया, उसे अपना पुत्र कहकर पुकारा और 'खान-ए-खाना' की उपाधि से विभूषित किया। पंजाब के अधिकांश भाग पर बहलोल का स्वामित्व भी स्वीकार कर लिया गया। इससे लालायित होकर बहलोल ने स्वयं 1443 ई. में दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु वह विफल रहा। परन्तु इससे यह स्पष्ट हो गया कि सैयद शासकों द्वारा उत्तर-पश्चिम और पंजाब की सुरक्षा के लिए नियुक्त किये गये अफगान व लोदी सरदार शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी बन गये थे तथा उनका नेता बहलोल लोदी दिल्ली को जीतकर स्वयं सुल्तान बनने के लिए उत्सुक हो गया था।

अपने अन्तिम समय में मुहम्मदशाह न तो आन्तरिक विद्रोहों को दबा सका और न ही अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा कर सका। जौनपुर के शासक ने पूर्व में उससे कुछ परगने छीन लिये, मुल्तान स्वतन्त्र हो गया, इक्तादारों ने राजस्व देना बन्द कर दिया और दिल्ली के बीस मील के दायरे में रहने वाले अमीर भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय देने लगे। इस प्रकार मुहम्मदशाह असफल शासक सिद्ध हुआ और उसके समय से सैयद-वंश का पतन आरम्भ हो गया। 1445 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

[4]

अलाउद्दीन आलमशाह (1445-1450 ई.)

मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन 'अलाउद्दीन आलमशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह सैयद-शासकों में सबसे अधिक अयोग्य सिद्ध हुआ। वह आरामपसन्द और विलासी था। अपने प्रभुत्व को बढ़ाने में स्वयं को अयोग्य पाकर और अपने वजीर हमीदखाँ से झगड़ कर वह बदायूँ चला गया और वहीं रहने लगा। 1447 ई. में बहलोल लोदी ने पुनः दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु वह पुनः असफल रहा। अन्त में हमीदखाँ ने बहलोल और नागौर के सूबेदार कियामखाँ को दिल्ली आमन्त्रित किया। उसका विचार था कि उनमें से जो भी दिल्ली में रहेगा, वह उसके हाथ में कठपुतली बन जायेगा। बहलोल, जो निकट था, पहले दिल्ली पहुँच गया और कियामखाँ वापस चला गया। बहलोल ने थोड़े समय पश्चात् हमीदखाँ को मरवा दिया और 1450 ई. में उसने सम्पूर्ण शासन अपने हाथों में ले लिया। उसने अलाउद्दीन आलमशाह को दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया परन्तु अलाउद्दीन ने अपनी दुर्बल स्थिति को देखकर बदायूँ में रहना ही ठीक समझा। बहलोल ने भी अलाउद्दीन को बदायूँ से अपदस्थ करने का प्रयत्न नहीं किया और अलाउद्दीन अपनी मृत्यु तक (1476 ई.) बदायूँ पर शासन करता रहा। इसके पश्चात् उसके दामाद और जौनपुर के शासक हुसैनशाह शर्की ने बदायूँ को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। डॉ. के. ए. निजामी ने लिखा है : "इस प्रकार 37 वर्ष के नगण्य शासन के पश्चात् सैयद-वंश समाप्त हो गया। मुल्तान के राज्य के रूप में उसका उत्थान हुआ और बदायूँ के राज्य के रूप में वह समाप्त हुआ। भारत के मध्य-युग के इतिहास में राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से उसका कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा यद्यपि वह दिल्ली-साम्राज्य के विघटन और पुनर्निर्माण के रूप में एक अनिवार्य कड़ी था।" इस प्रकार सैयद शासक न तो दिल्ली सल्तनत को सुरक्षित रख सके और न उसे कोई प्रशासकीय व्यवस्था अथवा सिद्धान्त प्रदान कर सके और "बहलोल लोदी को वस्तुतः न केवल नवीन राज्य का ही निर्माण करना पड़ा वरन् एक नवीन राजत्व सिद्धान्त को भी जन्म देना पड़ा।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "भारत के मध्य-युग के इतिहास में सैयद वंश का कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा। यद्यपि वह दिल्ली साम्राज्य के विघटन और पुनर्निर्माण के क्रम में एक अनिवार्य कड़ी था।" विवेचना कीजिए।
2. "सैयद सुल्तान राजतन्त्र अथवा असैनिक शासन व्यवस्था की पद्धति में कोई सक्रिय योगदान नहीं दे सके थे।" समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सैयद वंश के संस्थापक खिज्रखाँ पर एक लेख लिखिए।
2. मुबारकशाह के शासनकाल पर एक निबन्ध लिखिए।
3. मुहम्मदशाह की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
4. अलाउद्दीन आलमशाह के शासन काल का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सैयद वंश ने कुल कितने वर्ष शासन किया था ?
   (अ) 35 वर्ष (ब) 37 वर्ष ✓
   (स) 38 वर्ष (द) 40 वर्ष।
2. सैयद वंश का संस्थापक था—
   (अ) अलाउद्दीन आलमशाह (ब) मुहम्मदशाह
   (स) मुबारकशाह (द) खिज्रखाँ। ✓
3. खिज्र खाँ को सर्वप्रथम फीरोज ने कहाँ का सूबेदार नियुक्त किया था ?
   (अ) मुल्तान का ✓ (ब) लाहौर का
   (स) पंजाब का (द) इनमें से कोई नहीं।
4. तैमूर के प्रतिनिधि के रूप में उसने दिल्ली को किससे जीता था ?
   (अ) मल्लू इकबाल से (ब) मलिक मर्दान से
   (स) दौलतखाँ लोदी से ✓ (द) नासिरुद्दीन से।
5. सुल्तान के स्थान पर उसने उपाधि धारण की थी—
   (अ) मलिक की (ब) सिपहसालार की
   (स) सुलेमान अली की (द) रैयत-ए-आला की।
6. उसने सिक्कों पर नाम खुदवाया था—
   (अ) अपना (ब) तुगलक शासकों का ✓
   (स) खलीफा का (द) इनमें से किसी का नहीं।
7. किस अभियान से लौटने के बाद 1421 ई. में खिज्रखाँ का देहान्त हो गया था—
   (अ) जागीरदारों के विरुद्ध अभियान (ब) पंजाब के अभियान से
   (स) मेवात के अभियान से ✓ (द) इनमें से कोई नहीं।
8. खिज्रखाँ की मृत्यु पर जनता ने शोक प्रकट किया था—
   (अ) काले वस्त्र पहनकर ✓ (ब) हरे वस्त्र पहनकर
   (स) सफेद वस्त्र पहनकर (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. मुबारकशाह को गद्दी पर बैठने के बाद प्रमुख खतरा था—
(अ) जसरथ खोखर से (ब) मालवा के शासक से
(स) जौनपुर के शासक से (द) उपर्युक्त सभी से। ✓

10. मुबारक ने खोखर नेता जसरथ के दमन के लिए नियुक्त किया था—
(अ) दौलतखाँ को (ब) बहलोल लोदी को
(स) नासिरुद्दीन को (द) इनमें से कोई नहीं।

11. मुबारकशाह के काल में मालवा का शासक था—
(अ) हुसंगशाह (ब) इब्राहीम
(स) शेख अली (द) अलाउद्दीन।

12. 1434 ई. में मुबारकशाह का वध किया था—
(अ) शेख अली ने (ब) सरबर-उल-मुल्क ने
(स) इमाद-उल-मुल्क ने (द) इनमें से कोई नहीं।

13. 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का लेखक था—
(अ) बरनी (ब) अफीफ
(स) याहिया सरहिन्दी (द) मिनहाज।

14. मुहम्मदशाह कैसी प्रवृत्ति का शासक था ?
(अ) अयोग्य (ब) विलासी
(स) सादगी पसन्द (द) 'अ' व 'ब' दोनों।

15. सैयद वंश का अन्तिम शासक था—
(अ) अलाउद्दीन आलमशाह ✓ (ब) मुहम्मदशाह
(स) मुबारकशाह (द) इनमें से कोई नहीं।

16. "प्रथम दोनों सैय्यद शासकों ने अनजाने में अपने वंश की कीमत पर लोदी शक्ति को बढ़ने में सहायता दी।" किस इतिहासकार ने लिखा है ?
(अ) डॉ. ईश्वरी प्रसाद (ब) डॉ. के. एस. लाल
(स) डॉ. ए. बी. पाण्डेय (द) डॉ. श्रीवास्तव।

[उत्तर—1. (ब), 2. (द), 3. (अ), 4. (स), 5. (द), 6. (ब), 7. (स), 8. (अ), 9. (द), 10. (ब), 11. (अ), 12. (ब), 13. (स), 14. (द), 15. (अ), 16. (ब) ।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16

विभिन्न लोदी सुल्तान

सल्तनत-युग में दिल्ली के सिंहासन पर राज्य करने वाले राजवंशों में लोदी-वंश अन्तिम था। बहलोल लोदी ने इस वंश की स्थापना की, सिकन्दर लोदी ने उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि की तथा इब्राहीम लोदी जब इसी दिशा में प्रगति करने के लिए प्रयत्नशील था तब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली के लोदी-सुल्तानों की सत्ता को समाप्त करके मुगल-वंश की नींव डाली। **लोदी-वंश के 75 वर्ष के शासन की मुख्य विशेषता कटु संघर्ष है। लोदी-वंश के शासकों के लिए यह संघर्ष त्रिमुखी था। सर्वप्रथम उन्हें जौनपुर, मालवा, गुजरात और मेवाड़ के शक्तिशाली पड़ौसी राज्यों से अपने अस्तित्व की सुरक्षा और शक्ति के विस्तार के लिए संघर्ष करना पड़ा।** सम्भवतया, इनमें से प्रत्येक राज्य दिल्ली-राज्य की तुलना में अधिक समृद्धशाली और शक्तिशाली था। उनकी मुख्य कमी दिल्ली का उनके हाथों में न होना था जिससे वे दिल्ली का सुल्तान होने का दावा कर पाते और उससे सम्बन्धित प्रतिष्ठा तथा प्रभाव का लाभ प्राप्त कर पाते। इस कारण उनमें से प्रत्येक अपने राज्य और प्रभाव का विस्तार करने के लिए उत्सुक था और प्रत्येक का लक्ष्य दिल्ली को प्राप्त करना था। **लोदी-शासकों का दूसरा संघर्ष उन जमींदारों और अमीरों से था जो दुर्बल सुल्तानों के समय में प्रायः अर्द्ध-स्वतन्त्र हो गये थे** और जो केवल तलवार की शक्ति पर ही दिल्ली के सुल्तान की आज्ञा का पालन करने और उसे राजस्व देने के लिए बाध्य किये जा सकते थे। फीरोज तुगलक के पश्चात् दिल्ली के सुल्तानों की दुर्बलता ने उस युग में ऐसी विकेन्द्रीकरण की शक्ति को जन्म दे दिया था जिसमें केन्द्रीय सत्ता का न भय था और न सम्मान तथा जो एक शक्तिशाली राज्य के संगठन के पूर्ण विरोध में थी। सैयद-शासक इस प्रवृत्ति को समाप्त करने और दिल्ली के सुल्तानों की प्रतिष्ठा तथा शक्ति को स्थापित करने में असफल रहे थे। इस कारण, लोदी-सुल्तानों को पुनः एक बड़े और केन्द्रीय राज्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करना पड़ा और इस विकेन्द्रीकरण तथा स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति के समर्थक अमीरों से संघर्ष करना पड़ा। **परन्तु लोदी-सुल्तानों का तीसरा और मुख्य संघर्ष अपने अफगान सरदारों से हुआ।** वे अफगान सरदार, जो उनकी शक्ति का मूल आधार थे, उनके साम्राज्य के संगठन और एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना के मुख्य शत्रु थे। अफगानों की स्वतन्त्रता, समानता और शौर्य की प्रवृत्ति उनका मुख्य गुण थी परन्तु उनकी वही प्रवृत्ति लोदी सुल्तानों के द्वारा एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों के लिए सबसे अधिक घातक थी। अफगानों की स्वतन्त्र कबीलों की प्रवृत्ति उनके सुल्तानों की प्रतिष्ठा और शक्ति को सर्वोपरि स्थापित करने की नीति तथा राजनीतिक एकता की आवश्यकता के विरोध में थी। इस कारण लोदी-सुल्तानों की मुख्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी और एक बड़ी मात्रा में यही उनके पतन के लिए उत्तरदायी हुई। अफगान सरदार एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना की आवश्यकता को समझने और उसकी स्थापना में सहयोग प्रदान करने में असफल हुए और इसी कारण मुगल शासक बाबर को भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का अवसर मिला।

[1]

बहलोल लोदी (1451-1489 ई.)

बहलोल लोदी ने दिल्ली में लोदी-राजवंश की स्थापना की। वह अफगानों की एक महत्वपूर्ण शाखा 'शाहूखेल' से सम्बन्धित था। लोदी वंश के व्यक्ति सर्वप्रथम भारत में लमगान और मुल्तान के निकट बसे थे। बहलोल ने सुल्तान मुहम्मदशाह को प्रसन्न करके अमीर का पद प्राप्त किया था। अपने चाचा इस्लामखाँ की मृत्यु के उपरान्त उसे सरहिन्द की सूबेदारी भी प्राप्त हो गयी। उसने आसपास के क्षेत्रों को जीतकर अपनी शक्ति में वृद्धि की और सुल्तान मुहम्मदशाह से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। मुहम्मदशाह ने मालवा के शासक महमूद खलजी के आक्रमण के अवसर पर बहलोल से सहायता माँगी और महमूद खलजी के वापस चले जाने के पश्चात् उसे अपना पुत्र पुकारा तथा उसे 'खानेजहाँ' की उपाधि दी। उसके पश्चात् बहलोल ने दो बार दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु दोनों ही बार वह असफल रहा। जब सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह अपने वजीर हमीदखाँ से झगड़कर बदायूँ चला गया तब हमीदखाँ ने बहलोल को दिल्ली बुलाया। हमीदखाँ का विचार था कि बहलोल उसका समर्थक और अनुयायी बना रहेगा। परन्तु बहलोल इसके लिए तत्पर न था। जो कार्य वह शक्ति से न कर सका था, वह अब स्वतः ही पूरा हो गया था। एक दावत के अवसर पर अफगान सैनिक किले में प्रवेश कर गये और बहलोल के चचेरे भाई कुतुबखाँ ने हमीदखाँ को जंजीरों से बाँध दिया तथा कहा कि "राज्य की भलाई इसी में है कि आप कुछ दिन विश्राम करें।" इस प्रकार वजीर हमीदखाँ को कैद कर लिया गया और बाद में उसका वध कर दिया गया। बहलोल ने सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह को बदायूँ से दिल्ली आने का निमन्त्रण भेजा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार बहलोल को दिल्ली का सिंहासन बिना किसी संघर्ष के प्राप्त हो गया और 19 अप्रैल, 1451 ई. को वह 'बहलोलशाह ग़ाजी' के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और उसने अपने नाम से खुतबा पढ़वाया।

कार्य

बहलोल को सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करनी थी, अफगानों की श्रेष्ठता को कायम रखना था, विद्रोही जमींदारों और सरदारों को दबाना था तथा शासन को व्यवस्थित करना था। वास्तव में दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने से उसके राज्य की सीमाओं में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी जबकि उसका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया था। उसने अफगान सरदारों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी, उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दीं और उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार किया क्योंकि वे ही उसके राज्य और शासन का आधार थे। उसने अफगानों को भारत आने के लिए आमन्त्रित किया, मुख्यतया रोह से और उन सभी को उनकी योग्यतानुसार पद और जागीरें प्रदान कीं। परन्तु बहलोल सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए भी प्रयत्नशील रहा। उसने विद्रोही और उद्दण्ड सरदारों को दण्डित किया तथा उन पर सैनिक आक्रमण किये। उसने मेवात, सम्भल, कोल, इटावा, रपरी, भोगाँव और ग्वालियर पर सैनिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमण किये तथा वहाँ के जागीरदारों और राजाओं को अपना आधिपत्य स्वीकार करने व राजस्व देने के लिए बाध्य किया। वह उनकी जागीरों में कमी करके भी उनकी शक्ति को दुर्बल बनाने में सफल हुआ। परन्तु इनमें से कुछ ऐसे भी थे जो कभी जौनपुर के शासक के साथ और कभी उसके साथ मिल जाते थे तथा वे उसकी पूर्ण अधीनता में तभी आये जबकि बहलोल ने जौनपुर राज्य को जीतने में सफलता प्राप्त की। अपने अफगान सरदारों को भी वह नियन्त्रण में रख सका। उस समय की परिस्थितियों में बहलोल का उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार करना और उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें देना, सम्भवतया, आवश्यक था। परन्तु इसके साथ उसने उनमें अपनी श्रेष्ठता को बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त की। बहलोल सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान के आदर्श को अपने सम्मुख न रख सका और उसे परिस्थितियोंवश अफगानों को बड़ी-बड़ी जागीरें देकर उन्हें शक्तिशाली बनने का अवसर भी प्रदान करना पड़ा जो लोदी-वंश की दुर्बलता का कारण बना। परन्तु बहलोल अफगान सरदारों का सुल्तान रहा और उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति को अपने अधिकार में रख सका इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अफगान सरदारों को अपनी स्वतन्त्र जागीरें या राज्य बनाने का अवसर बहलोल ने नहीं दिया।

बहलोल की एक मुख्य सफलता जौनपुर के राज्य को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित करने की थी। शर्की-वंश के जौनपुर के शासक महमूदशाह ने सैयद-वंश के अन्तिम शासक अलाउद्दीन आलमशाह की पुत्री से विवाह किया था। उसकी वह पत्नी अपने पति को दिल्ली पर आक्रमण करके बहलोल को अपदस्थ करने के लिए निरन्तर उत्तेजित करती रहती थी। महमूदशाह अलाउद्दीन आलमशाह का दामाद होने के नाते दिल्ली पर अपना अधिकार भी मानता था और बहलोल की शक्ति को दिल्ली में जमने देने से पहले ही उखाड़ फेंकना चाहता था। इस कारण उसने बहलोल के शासन के पहले ही वर्ष में दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु युद्ध से पहले ही उसका सेनापति दरियाखाँ लोदी बहलोल के पक्ष में हो गया। बहलोल, जो मुल्तान की तरफ गया हुआ था, वापस लौट आया और दिल्ली के निकट नरेला में उसने महमूदशाह से युद्ध किया। महमूदशाह की पराजय हुई और उसे वापस लौटना पड़ा। परन्तु महमूदशाह इस पराजय को न भूला और कुछ समय पश्चात् उसने इटावा पर आक्रमण किया। इस बार भी उसे सफलता न मिली और दोनों पक्षों में सन्धि हो गयी। परन्तु शीघ्र ही दोनों में शमशाबाद के आधिपत्य के प्रश्न पर युद्ध हुआ। दोनों में सन्धि भी हो गयी क्योंकि युद्ध से कोई परिणाम न निकला। तत्पश्चात् बहलोल ने जौनपुर पर आक्रमण किया परन्तु उससे भी कोई लाभ न मिला। 1457 ई. में महमूदशाह की मृत्यु हो गयी। महमूदशाह के पुत्र मुहम्मदशाह ने भी युद्ध को जारी रखा परन्तु मुहम्मदशाह को गृह-युद्ध के कारण युद्ध से हटना पड़ा। उसे शीघ्र ही उसके भाई हुसैन ने युद्ध में परास्त करके मार दिया और स्वयं हुसैनशाह के नाम से जौनपुर का शासक बन गया। उसके पश्चात् चार वर्षों के लिए दोनों राज्यों में शान्ति रही। हुसैनशाह ने बहलोल के बहनोई कुतुबखाँ को मुक्त कर दिया और बहलोल ने हुसैनशाह के भाई जलालखाँ को मुक्त कर दिया। परन्तु यह एक अस्थायी समझौता था। हुसैनशाह साहसी और महत्वाकांक्षी था। उसने भी दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया और दिल्ली-राज्य पर आक्रमण किया। उसके पश्चात् दिल्ली और जौनपुर राज्यों में एक लम्बे समय तक संघर्ष चला। बीच-बीच में दोनों में सन्धि भी हुई परन्तु कभी कोई किसी पर आक्रमण करता रहा और कभी कोई किसी पर। दो बार बहलोल ने हुसैनशाह के रनिवास की स्त्रियों और उसकी पत्नी मलिक-ए-जहाँ को पकड़ने में भी सफलता पायी यद्यपि दोनों अवसरों पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें सम्मानपूर्वक वापस कर दिया गया। अन्त में हुसैनशाह की पराजय हुई और वह बिहार में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। बहलोल ने जौनपुर-राज्य को अपने अधीन कर लिया और अपने पुत्र बारबकशाह को वहाँ का शासक नियुक्त किया। जौनपुर की विजय बहलोल की सबसे महत्वपूर्ण विजय थी। जौनपुर का राज्य उसके राज्य से अधिक समृद्धशाली और शक्तिशाली था। इस विजय का कारण केवल उसकी सैनिक-प्रतिभा और उसका योग्य सेनापतित्व था। इस विजय से उसके राज्य और सम्मान में वृद्धि हुई। इससे न केवल दोआब के विद्रोही सरदार ही उसके अधीन हो गये बल्कि कालपी, धौलपुर और बाड़ी के शासकों ने भी उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।

बहलोल का अन्तिम आक्रमण ग्वालियर पर हुआ। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने उसे 80 लाख टंका दिये। ग्वालियर से वापस आते हुए मार्ग में बहलोल बीमार पड़ गया और जुलाई 1489 ई. के मध्य में उसकी मृत्यु हो गयी।

मूल्यांकन

लोदी-शासकों में बहलोल लोदी एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। यह उसके परिश्रम और सैनिक-प्रतिभा का परिणाम था कि लोदी-वंश दिल्ली-सल्तनत के इतिहास में एक स्थान पा सका। उसके पिता की मृत्यु के उपरान्त उसका लालन-पालन उसके चाचा ने किया था। उसने अपने जीवन का प्रारम्भ एक साधारण स्थिति से किया परन्तु अपनी सैनिक-प्रतिभा के कारण उसने सुल्तान मुहम्मदशाह से 'मलिक' की उपाधि प्राप्त की और अपने चाचा से सरहिन्द की सूबेदारी। जब उसने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया तब दिल्ली-सल्तनत का आधिपत्य केवल पालम तक सीमित था। बहलोल ने उसे वास्तविक राज्य का स्वरूप प्रदान किया। अपनी 80 वर्ष की वृद्धावस्था में जब उसकी मृत्यु हुई तब दिल्ली-सल्तनत पंजाब से लेकर बिहार तक फैली हुई थी, दिल्ली, बदायूँ, बरन, सम्भल, रपरी आदि प्रमुख नगर उसके राज्य में सम्मिलित थे, राजस्थान का कुछ भाग उसकी अधीनता में था तथा ग्वालियर, धौलपुर और बाड़ी के शासक उसे राजस्व देते थे। जब वह सिंहासन पर बैठा था तब तक दिल्ली के दुर्बल शासकों ने दिल्ली-सल्तनत की शक्ति और प्रतिष्ठा का सर्वनाश कर दिया था, निकट के जागीरदार, मुख्यतया दोआब के विद्रोही, उद्दण्ड बन चुके थे और जौनपुर के शर्की-शासकों ने अन्तिम सैयद-सुल्तानों को परास्त करके अपमानित किया था तथा शमशाबाद और इटावा तक अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार कर लिया था। बहलोल लोदी एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। उसने विद्रोही जागीरदारों को दबाने में सफलता पायी तथा उसने उस जौनपुर राज्य को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित कर लिया जो 85 वर्षों से दिल्ली-सुल्तानों को चुनौती दे रहा था तथा शक्ति और साधनों में दिल्ली-सल्तनत की तुलना में अधिक श्रेष्ठ था। दिल्ली-राज्य को संगठित करके उसका पुनः विस्तार करने तथा उसकी प्रतिष्ठा को स्थापित करने में बहलोल ने सफलता प्राप्त की।

निस्सन्देह बहलोल एक कट्टर सैनिक और योग्य सेनापति था। परन्तु बहलोल जहाँ अत्यधिक साहसी था वहीं अत्यधिक चालाक भी था। युद्ध को जीतना उसका एकमात्र लक्ष्य रहता था चाहे उसके साधन कुछ भी हों। वजीर हमीदखाँ और हुसैनशाह शर्की के प्रति उसका व्यवहार चालाकी का रहा। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह आवश्यकतानुसार धोखेबाजी और चालाकी का सहारा लेता था। परन्तु उसके चरित्र का यह पक्ष युद्ध तक ही सीमित था। युद्ध के पश्चात् वह विपक्षी के प्रति उदार था। दो बार उसने हुसैनशाह की पत्नी को युद्ध में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैद किया परन्तु दोनों बार उसे सम्मान सहित उसके पति के पास भेज दिया यद्यपि वह जानता था कि वही स्त्री उसकी और हुसैनशाह की शत्रुता का मुख्य कारण थी। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है : "मध्य-युग के भारत में विजयी मुसलमान सुल्तान का यह व्यवहार अद्‌भुत था।" पराजित हुसैनशाह को भी उसने कुछ परगनों की आय के उपभोग का अवसर दे दिया था।

बहलोल कूटनीतिज्ञ और परिस्थितियों को समझने वाला था। जौनपुर के अतिरिक्त उसने किसी अन्य राज्य को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी शक्ति की सीमाओं को समझता था। इससे भी अधिक व्यावहारिकता का परिचय उसने अपने अफगान सरदारों के प्रति व्यवहार करते हुए दिया। उसने उनमें विश्वास उत्पन्न किया, बड़ी मात्रा में उन्हें अपनी सहायता के लिए एकत्रित किया, उन्हें सम्मान प्रदान किया, उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दीं, उन्हें दिल्ली से लूटी हुई सम्पत्ति में से बराबर का हिस्सा दिया, उनके साथ समानता एवं मित्रता का व्यवहार किया, उनके साथ बैठकर भोजन किया, कालीन पर बैठकर दरबार किया, उनकी बीमारी अथवा उनके असन्तुष्ट होने पर उनके घर गया और इस प्रकार उन्हें सन्तुष्ट करके उन्हें अपनी शक्ति का आधार बनाया। निस्सन्देह, उसकी इस नीति और व्यवहार से हानिकारक परिणाम भी निकले। इससे सुल्तान सरदारों में से एक बड़ा सरदार मात्र रह गया। यह स्थिति अफगानों के राजत्व-सिद्धान्त के अनुकूल तो थी परन्तु इसके आधार पर एक केन्द्रीय राज्य और सुल्तान की प्रतिष्ठा का निर्माण नहीं किया जा सकता था। इससे स्वतन्त्र प्रकृति के अफगानों की महत्वाकांक्षाएँ बलवती हुईं और उनकी बड़ी-बड़ी जागीरों ने उन्हें शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न बनाया जिसके कारण उसके उत्तराधिकारियों को कठिनाई हुई जो सुल्तान और सरदारों के संघर्ष में परिवर्तित होकर लोदी-वंश के पतन का मुख्य कारण बनी। परन्तु बहलोल लोदी के पास इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। उसका राज्य और उसकी शक्ति उसके समर्थक अफगान सरदारों के सहयोग पर निर्भर करती थी। इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी के मतानुसार बहलोल का विश्वास तुर्कों की भाँति निरंकुश राजतन्त्र में था। परन्तु उसे परिस्थितियोंवश अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति से समझौता करना पड़ा था। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि बहलोल ने अपने अफगान सरदारों का सहयोग प्राप्त किया और उन्हें अपने नियन्त्रण में रखने में सफलता प्राप्त की। भविष्य की घटनाओं को न तो वह समझ सकता था और न उन पर नियन्त्रण रख सकता था। इस कारण भविष्य की घटनाओं के लिए उसे दोषी नहीं माना जा सकता। उसके समय में उसके अफगान सरदारों ने उसके लिए एक राज्य को स्थापित करने और उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने में पूर्ण सहयोग दिया। इसी में बहलोल लोदी की मुख्य सफलता थी।

एक शासक की दृष्टि से बहलोल न तो योग्य था और न उसे एक व्यवस्थित शासन-व्यवस्था को स्थापित करने का अवकाश मिला। इस दृष्टि से उसका केवल एक कार्य उल्लेखनीय है। उसने 'बहलोल सिक्का' चलाया जो अकबर से पहले तक उत्तर-भारत में विनिमय का मुख्य साधन बना रहा। परन्तु शासक की दृष्टि से उसे न्यायप्रिय और उदार शासक माना गया है। अपनी प्रजा के प्रति वह कठोर न था, उसके कष्टों को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता था और राज्य के धन का अपव्यय अपनी शान-शौकत, व्यक्तिगत व्यसन तथा बाह्य प्रतिष्ठा के प्रदर्शन हेतु नहीं करता था।

व्यक्ति की दृष्टि से बहलोल धार्मिक, उदार, साहसी, ईमानदार, परिश्रमी और दयावान था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसके दरवाजे से कोई भी निर्धन व्यक्ति खाली हाथ वापस नहीं लौटता था। वह सभी से मित्रवत् और सहृदयता का व्यवहार करता था। उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वदा विद्वानों और धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान किया। वह बहुत सादगी से रहता था। वह कुशाग्रबुद्धि वाला और वाक्पटु था। बहलोल धर्म में आस्था रखता था। वह इस्लाम के नियमों का विधिवत् पालन करता था और व्यक्तिगत दृष्टि से उसे कोई व्यसन न था। परन्तु बहलोल धर्मान्ध न था। उसने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार नहीं किया बल्कि उसके सरदारों में कई प्रतिष्ठित हिन्दू सरदार थे, जैसे—राय प्रतापसिंह, राय करनसिंह, राय नरसिंह, राय त्रिलोकचन्द्र और राय दाँदू।

दिल्ली-सल्तनत के इतिहास में बहलोल का स्थान जौनपुर की विजय, विद्रोही सरदारों के दमन और दिल्ली-सल्तनत की खोई हुई प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करने के कारण है। वह स्वयं बहुत कुछ कर सका और अपने पुत्र के लिए कुछ और अधिक करने हेतु मार्ग प्रशस्त किया।

[2]

सिकन्दरशाह लोदी (1489-1517 ई.)

बहलोल ने अपनी मृत्यु से पहले अपने तीसरे पुत्र निजामखाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। जो व्यवस्था उसने स्थापित की थी, उसके कारण उसके अफगान सरदारों ने राजवंश से पृथक किसी अन्य सरदार को सुल्तान बनाने का विचार नहीं किया। परन्तु कुछ सरदारों ने बहलोल के दूसरे पुत्र बारबकशाह (जो उस समय जौनपुर का शासक था) अथवा बहलोल के सबसे बड़े पुत्र बयाजिद (जिसकी मृत्यु हो चुकी थी) के पुत्र आजम हुमायूँ को सुल्तान बनाने का प्रयत्न किया। निजामखाँ के विरोध में होने का उनका मुख्य कारण यह था कि निजामखाँ की माँ जैबन्द एक सुनार की पुत्री थी। परन्तु कुछ शक्तिशाली सरदारों ने निजामखाँ का साथ दिया और 17 जुलाई, 1489 ई. को निजामखाँ 'सुल्तान सिकन्दरशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा।

कार्य

सिकन्दरशाह ने यह सिद्ध कर दिया कि वह अपने पिता के पुत्रों में योग्यतम था। उसने उन विरोधी सरदारों को जो उसे सुल्तान बनाने के पक्ष में न थे और उन दावेदारों को, जो सिंहासन प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे, समाप्त किया। उसने अफगान सरदारों के प्रभाव और शक्ति को दबाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। उसने बारबकशाह के दिल्ली से स्वतन्त्र होने के प्रयत्नों को असफल किया और इन सभी कार्यों को सफलतापूर्वक करने के साथ-साथ उसके साम्राज्य का भी विस्तार किया। बहलोल ने साम्राज्य-विस्तार के कार्य को आरम्भ किया था। सिकन्दर ने उस कार्य को आगे बढ़ाया। बहलोल ने विद्रोही सरदारों को दबाकर रखा था और अपने अफगान सरदारों से सुल्तान के अधिकारों के सम्बन्ध में समझौता कर लिया था। सिकन्दर ने विद्रोही सरदारों की शक्ति को नष्ट कर दिया और अन्य सरदारों को सुल्तान की सत्ता को मानने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार राज्य-विस्तार तथा सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की स्थापना की दृष्टि से सिकन्दरशाह अपने पिता से आगे बढ़ गया और लोदी-वंश के शासकों में श्रेष्ठ शासक कहलाने का अधिकारी बना।

सिकन्दरशाह ने सर्वप्रथम अपने विरोधियों को समाप्त किया। उसने अपने चाचा आलमखाँ को रपरी छोड़ने के लिए बाध्य किया। अन्त में वह गुजरात भाग गया। उसने ईसाखाँ को एक युद्ध में परास्त किया। युद्ध में घाव लग जाने के कारण ईसाखाँ की शीघ्र मृत्यु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गयी। उसने अपने भतीजे आजम हुमायूँ को परास्त करके उससे कालपी को छीन लिया। झालरा के विरोधी सरदार तातारखाँ को भी उसने परास्त किया यद्यपि उसकी जागीर उसे वापस दे दी। इस प्रकार एक वर्ष के अन्दर ही सिकन्दरशाह ने अपने विरोधी सरदारों तथा गद्दी के दावेदारों को समाप्त कर दिया।

अपने बड़े भाई तथा जौनपुर के शासक बारबकशाह से उसने केवल यह माँग की कि वह उसकी अधीनता को स्वीकार कर ले जिससे राज्य का विभाजन न हो। परन्तु जब बारबकशाह ने इस बात को मानने से इंकार कर दिया तो सिकन्दरशाह ने जौनपुर पर आक्रमण किया। युद्ध में बारबकशाह की पराजय हुई। सिकन्दरशाह ने जौनपुर में शासन करने का अधिकार बारबकशाह को ही दे दिया यद्यपि उसने उसके दरबार में अपने व्यक्तियों की नियुक्ति करके और वहाँ अपने सरदारों में जागीरें वितरित करके उसे अपने नियन्त्रण में रखने का प्रबन्ध किया। परन्तु बारबकशाह अयोग्य सिद्ध हुआ। बार-बार शासन में असफल हो जाने पर बारबकशाह को पकड़कर कारागार में डाल दिया गया और जौनपुर में इक्तादार की नियुक्ति कर दी गयी।

जौनपुर के विद्रोहों ने सिकन्दरशाह को बिहार को जीतने का अवसर प्रदान किया। जौनपुर के विद्रोही जमींदारों के नेता जुगा ने भागकर हुसैनशाह शर्की के पास शरण ली। उस अवसर पर सिकन्दरशाह ने हुसैनशाह को बिहार भागने के लिए बाध्य किया। हिन्दुओं के पुनः विद्रोह करने पर सिकन्दरशाह को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। उस अवसर को उपयुक्त समझकर हुसैनशाह ने आगे बढ़कर सिकन्दरशाह पर आक्रमण किया (1494 ई.)। परन्तु बनारस के निकट एक युद्ध में सिकन्दरशाह ने उसे परास्त कर दिया। इस बार सिकन्दरशाह ने उसका पीछा किया और उसे बंगाल में शरण लेने के लिए बाध्य किया। बिहार को दिल्ली-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

वहाँ से सिकन्दर ने तिरहुत पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

हुसैनशाह शर्की के बंगाल भाग जाने से दिल्ली की सेना ने बंगाल की सीमा तक उसका पीछा किया। बंगाल का शासक अलाउद्दीन हुसैनशाह बिहार पर दिल्ली के अधिकार को पसन्द नहीं करता था और उसने दिल्ली की सेना की प्रगति को रोकने के लिए अपने पुत्र दानियाल के नेतृत्व में एक सेना भेजी। परन्तु बिना किसी युद्ध के दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक-दूसरे की सीमाओं पर आक्रमण न करने का वचन दिया, बिहार को सिकन्दर के राज्य की सीमाओं में मान लिया गया और अलाउद्दीन हुसैनशाह ने यह आश्वासन भी दिया कि वह दिल्ली के सुल्तान के शत्रुओं को अपने राज्य में शरण नहीं देगा।

मालवा के आन्तरिक संघर्ष के कारण सिकन्दर को उस राज्य में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला परन्तु उसने मालवा पर आक्रमण नहीं किया। चन्देरी पर उसने अवश्य अधिकार कर लिया।

राजपूत राज्यों के विरुद्ध भी सिकन्दर को कुछ सफलता मिली। उसने धौलपुर, मन्दरेल, उतगिरि, नरवर और नागौर को जीतने में सफलता प्राप्त की परन्तु समय-समय पर ग्वालियर के राजा को परास्त करके और उससे राजस्व वसूल करके भी वह ग्वालियर को अपने राज्य में सम्मिलित नहीं कर सका। 1504 ई. में उसने राजस्थान के शासकों पर अपने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए आगरा का नवीन नगर बसाया। वहाँ पर उसने एक किले का भी निर्माण कराया जो 'बादलगढ़ का किला' के नाम से मशहूर था। 1506 ई. में आगरा सिकन्दर लोदी की राजधानी बनी।

बिहार की विजय के अतिरिक्त सिकन्दर लोदी की अन्य कोई विजय राज्य के विस्तार की दृष्टि से महत्वपूर्ण न थी। परन्तु वह जौनपुर को दिल्ली के अधीन करने में सफल हुआ और राजपूत शासकों के विरुद्ध उनकी सफलताओं ने उसे सम्मान प्रदान किया। सम्भवतया, सिकन्दर अपनी शक्ति की सीमाओं को समझता था और मुसलमान राज्यों से संघर्ष भी नहीं करना चाहता था। निकट के बंगाल और मालवा राज्यों के प्रति उसका व्यवहार उसकी इस नीति के प्रमाण थे।

सिकन्दर लोदी की एक मुख्य समस्या अफगान सरदारों की स्वतन्त्र और विद्रोही प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की थी। उसने सभी सूबेदारों और जागीरदारों को अपनी आय और व्यय का विवरण देने की आज्ञा दी। जिस सरदार ने राज्य के धन का गबन किया उसे उसने दण्ड दिया। जौनपुर के सूबेदार को इसी आधार पर दण्डित किया गया और उससे राज्य का धन वसूल किया गया। उसने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया और सभी अमीरों को दरबार में अथवा दरबार के बाहर अपने आदेशों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए बाध्य किया। उसके आदेशों को प्राप्त करने के लिए उसके अमीर अपने स्थान से छः मील दूर आते थे। इसी प्रकार सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के विभिन्न नियम बनाये गये थे और जो उन्हें तोड़ता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। न्याय में वह छोटे और बड़े का कोई अन्तर नहीं करता था। इससे भी उसे सरदारों को अपने अनुशासन में रखने में सफलता मिली। परन्तु शासन में और सरदारों को नियन्त्रण में रखने में उसकी सफलता का मुख्य श्रेय उसके गुप्तचर-विभाग को था। सभी स्थानों पर यहाँ तक कि सरदारों के निवास-स्थानों तक में शाही गुप्तचर और संवाददाता नियुक्त किये गये थे जो सुल्तान को प्रतिदिन की सूचना देते थे। उसका गुप्तचर-विभाग इतना श्रेष्ठ था कि जनसाधारण यह विश्वास करता था कि सुल्तान को विभिन्न सूचनाएँ भूत-प्रेतों से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार सिकन्दर ने अपने सरदारों पर अंकुश लगाया। परन्तु सिकन्दरशाह सरदारों से सम्मान तथा अनुशासन की आशा करते हुए भी उनके प्रति क्रूर नहीं था और न उसके साथ असम्मानजनक व्यवहार करता था। वह वृद्ध और अनुभवी सरदारों का सम्मान करता था तथा अन्य सरदारों की व्यक्तिगत भावनाओं की परवाह करता था। उसका उद्देश्य केवल सुल्तान की श्रेष्ठता को स्थापित करना था। वह यह भी चाहता था कि वे उसे अपना सुल्तान मानें तथा अपने को सुल्तान का पदाधिकारी। वह अपने इस कार्य में सफल हुआ। एक अवसर पर प्रायः 22 सरदारों ने षड्यन्त्र करके सिकन्दर को गद्दी से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखाँ को सिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न किया परन्तु फतहखाँ ने अपनी माँ और अपने धार्मिक शिक्षक की सलाह पर इसकी सूचना सिकन्दरशाह को दे दी। वे सभी सरदार मार दिये गये अथवा राज्य से निष्कासित कर दिये गये। उसके पश्चात् सिकन्दर के समय में न कोई षड्यन्त्र हुआ और न कोई खुला विद्रोह।

सिकन्दरशाह अत्यधिक परिश्रमी, उदार, न्यायप्रिय और अपनी प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। वह प्रातःकाल से लेकर मध्य-रात्रि तक कार्य करता था। वह न्याय में पूर्णतया निष्पक्ष था और न्यायालय में उसके प्रतिनिधि रहते थे जो यह देखते थे कि सभी व्यक्तियों को न्याय प्राप्त होता है अथवा नहीं। उसने कृषि और व्यापार की उन्नति का प्रयत्न किया। नाप के लिए एक पैमाना 'गजे सिकन्दरी' उसी के समय में आरम्भ किया गया जो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगभग 30 इंच का होता था। उसे प्रतिदिन वस्तुओं के मूल्य की सूचना दी जाती थी जिससे वह जान सके कि जनसाधारण का जीवन किस प्रकार का था। उसने आन्तरिक व्यापारिक करों को समाप्त कर दिया। उसके राज्य में शान्ति और व्यवस्था रही जिसके कारण कृषि और व्यापार की उन्नति हुई। उसने निर्धनों के लिए मुफ्त भोजन की व्यवस्था की। उसके समय में योग्य व्यक्तियों के नामों की सूची बनाकर प्रत्येक छः माह पश्चात् उसके सामने प्रस्तुत की जाती थी जिसके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। इस प्रकार उसका शासन शान्ति, सम्पन्नता, अनुशासन और प्रगति का रहा। फीरोज तुगलक के पश्चात् शासन में जो दुर्व्यवस्था आ गयी थी, उसे ठीक करने में सिकन्दर लोदी ने सफलता प्राप्त की।

धार्मिक दृष्टि से सिकन्दर लोदी असहिष्णु सिद्ध हुआ। तत्कालीन इतिहासकारों ने भी उसकी नीति को धर्मान्धता की बताया। निजामुद्दीन अहमद ने लिखा—"इस्लाम में उसकी (सिकन्दर की) धर्मान्धता इतनी अधिक थी कि वह इस क्षेत्र में अतिशय की सीमा को पार कर गया था।" अपनी इस धार्मिक कट्टरता का परिचय उसने अपने शाहजादा-काल में भी दिया था जबकि उसने थानेश्वर के पवित्र कुण्ड को नष्ट करने का निश्चय किया था। सुल्तान बनने के पश्चात् उसने हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट करने, मूर्तियों को खण्डित करने और उनके स्थानों पर मस्जिदें बनाने की नीति अपनायी। एक तत्कालीन इतिहासकार के अनुसार उसने नगरकोट के ज्वालामुखी-मन्दिर की मूर्ति को तोड़कर उसके टुकड़ों को माँस तोलने के लिए कसाइयों को दे दिया। उसने मथुरा, मन्दैल, नरवर, चन्देरी आदि स्थानों पर मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट किया। मथुरा में उसने हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए प्रोत्साहन दिया। उसने बोधन नामक एक हिन्दू को इसलिए मृत्यु-दण्ड दिया क्योंकि वह इस्लाम और हिन्दू दोनों ही धर्मों को सत्य बताता था। सिकन्दरशाह के पक्ष में यह कहा गया है कि उसने मुसलमानों में प्रचलित कुप्रथाओं को भी रोकने का प्रयत्न किया था। उसने मुहर्रम में 'ताजिये' निकालना बन्द कर दिया था और मस्जिदों को सरकारी संस्थाओं का रूप प्रदान करके उसे शिक्षा का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया और मुसलमान स्त्रियों को 'पीरों' और सन्तों की मजारों पर जाने से रोक दिया था। क्रोध में उसने शर्की-शासकों द्वारा बनवायी गयी जौनपुर की सुन्दर मस्जिद को भी तोड़ने के आदेश दे दिये थे यद्यपि उलेमाओं के कहने से उसने अपना आदेश वापस ले लिया था। आधुनिक इतिहासकारों में से डॉ. के. एस. लाल ने भी उसके पक्ष में एक शक्तिशाली तर्क दिया है। उन्होंने लिखा है : "15वीं सदी के अन्त और 16वीं सदी के आरम्भ तक भारत का धार्मिक वातावरण बदल चुका था। हिन्दू और मुसलमान धर्म एक-दूसरे के निकट आ चुके थे, भक्ति-आन्दोलन आरम्भ हो चुका था जो ईश्वर की समानता पर बल दे रहा था और धार्मिक सहिष्णुता का विचार फैल रहा था। ऐसी स्थिति में सिकन्दरशाह के धार्मिक कट्टरता के कुछ कार्य बहुत बुरे माने गये अन्यथा उसका व्यवहार अन्य मुसलमान शासकों की तुलना में अधिक धर्मान्धता का न था।" वह पुनः लिखते हैं : "14वीं सदी में सिकन्दर लोदी का कार्य आश्चर्यजनक न माना जाता परन्तु 15वीं सदी में उसकी धर्मान्धता बहुत दोषपूर्ण मानी गयी।" परन्तु सिकन्दर लोदी के पक्ष में दिये गये तर्कों के पश्चात् भी अधिकांशतया माना जाता है कि वह धर्मान्ध था और मुख्यतया उसने हिन्दुओं के प्रति अधिक कठोरता की नीति अपनायी। डॉ. के. एस. लाल के तर्क को स्वीकार करते हुए भी यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि सिकन्दरशाह ने धर्मान्धता के कार्य किये थे। ये कार्य अपने युग की प्रवृत्ति होने के कारण अप्रिय भी समझे गये। ऐसी स्थिति में अपने युग की सहिष्णुता के वातावरण में धार्मिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कट्टरता का परिचय देना एक बड़ी भूल ही नहीं बल्कि एक दुराग्रह भी था। इस कारण सिकन्दरशाह को धर्मान्धता के दोष से मुक्त नहीं किया जा सकता।

परन्तु सिकन्दरशाह को एक सफल शासक माना गया है। अपने अन्तिम दिनों में वह बयाना गया था। वहीं उसे गले की बीमारी हो गयी। वह दिल्ली वापस आ गया परन्तु ठीक न हो सका और 21 नवम्बर, 1517 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

मूल्यांकन

सिकन्दर लोदी लोदी-वंश का श्रेष्ठ शासक था। तत्कालीन इतिहासकारों ने उसे एक आदर्श शासक माना था और आधुनिक इतिहासकार भी उसे लोदी-वंश के शासकों में महानतम शासक स्वीकार करते हैं। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है : "सिकन्दरशाह ने ऐश्वर्य और सफलता से 29 वर्ष शासन किया था। वह लोदी-वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था और उसने अपने को अपने पिता बहलोल तथा अपने पुत्र इब्राहीम से अधिक सफल सिद्ध किया।"

सिकन्दर सुन्दर, सुडौल और शक्तिशाली था। सम्भवतया, अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाये रखने के कारण ही वह दाढ़ी नहीं रखता था। बचपन में सिकन्दर इतना अधिक सुन्दर था कि उसका शिक्षक शेख हसन मौलवी उससे इतना अधिक प्रेम करने लगा कि शहजादे को उसका महल में आना पसन्द न रहा। सिकन्दर **शिक्षित और विद्वान था।** वह फारसी भाषा का ज्ञाता था और स्वयं कविताओं की रचना करता था। वह शिक्षा को प्रोत्साहन देता था और **विद्वानों का सम्मान** करता था। उसने अफगान सरदारों के बच्चों की शिक्षा पर बल दिया जिससे वे सुसभ्य बनें। प्रति छः माह पश्चात् योग्य व्यक्तियों की सूची बनाकर उसके सम्मुख प्रस्तुत की जाती थी तथा वह उनके लिए इनाम, जागीर और आर्थिक सहायता की व्यवस्था करता था। उसने अनेक मस्जिदें बनवायीं तथा प्रत्येक में एक धर्म-प्रचारक, एक शिक्षक और एक मेहतर की नियुक्ति की। इस प्रकार उसने मस्जिदों को सरकारी संस्थाओं का स्वरूप प्रदान करके उन्हें शिक्षा का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। विद्वानों को संरक्षण देने के कारण उसका दरबार विद्वानों का केन्द्र-स्थल बन गया। प्रत्येक रात्रि को 70 विद्वान उसके पलंग के निकट बैठकर विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ करते थे। उसने मुस्लिम-शिक्षा में सुधार करने के लिए तालम्बा के विद्वान शेख अब्दुल्ला और शेख अजीजुल्ला को बुलाया। उसके समय में संस्कृत के कई ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। उसके स्वयं के आदेश से एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया गया जिसका नाम 'फरहंगे सिकन्दरी' रखा गया। **अनेक प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह और नवीन ग्रन्थों की रचना उसके समय की विशेषता रही।** चाहे सिकन्दर इसके लिए उत्तरदायी न हो परन्तु फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि उस समय में हिन्दू और मुसलमानों में एक-दूसरे के साहित्य को पढ़ने का चाव उत्पन्न हुआ था। सम्भवतया, यह उस युग का प्रभाव था। **सिकन्दर को ललित-कलाओं का भी शौक था।** उनका उपनाम 'गुलरुखी' था। इसी उपनाम से वह कविताएँ लिखा करता था। गान-विद्या में उसकी बड़ी रुचि थी और वह शहनाई सुनने का बहुत शौकीन था। उसके समय में गान-विद्या के एक श्रेष्ठ ग्रन्थ 'लज्जत-ए-सिकन्दरशाही' की रचना हुई। स्थापत्य-कला की दृष्टि से उसने अनेक मस्जिदें बनवायीं, दिल्ली में अपने पिता का एक स्मारक बनवाया और आगरा शहर को बसाया।

सिकन्दर चरित्रवान, दानी और साधारणतया धर्मपरायण व्यक्ति था। उसके चरित्र में स्त्री-प्रसंग का दोष न था, वह शराब छिप-छिप कर पीता था और उससे उसकी कार्यक्षमता पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई प्रभाव नहीं आया था। उसके समय में निर्धनों के लिए राज्य की ओर से खाने-कपड़े की व्यवस्था की जाती थी। एक मुसलमान की दृष्टि से वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था यद्यपि वह इसमें बहुत कट्टर न था। इस कारण उसने अपनी मृत्यु के अवसर पर अपनी दाढ़ी न बनवाने और कभी-कभी रोजा और नमाज का विधिवत् पालन न करने के दोष से मुक्ति पाने के लिए बहुत-सा धन दान किया। **परन्तु सिकन्दर ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति धर्मान्धता का व्यवहार किया।** हिन्दू-मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट करना, हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए प्रोत्साहन देना और उन्हें उनके तीर्थस्थानों पर अपने धार्मिक कृत्यों को करने से रोकना, उसकी नीति में सम्मिलित थे। वह मूर्ति-पूजा का इतना प्रबल विरोधी था कि उसने उससे किसी प्रकार से भी सम्बन्धित मुसलमानों के कार्यों में भी बाधा डाली। ताजियों को निकालना और मुस्लिम स्त्रियों का पीरों की मजारों पर जाना इसी कारण रोका गया था। एक हिन्दू माँ से उत्पन्न और एक हिन्दू स्त्री से विवाह करने के लिए उत्सुक सुल्तान के यह कार्य अस्वाभाविक थे। परन्तु इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सिकन्दर ने धर्मान्धता का परिचय दिया और अपने युग की धार्मिक सहिष्णुता की प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य किया जिसके कारण तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों तक ने उसे धर्मान्ध कहा।

एक शासक की दृष्टि से सिकन्दर परिश्रमी, न्यायप्रिय और प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। वह प्रातःकाल से मध्य-रात्रि तक शासन-कार्य में व्यस्त रहता था और उसने अपने व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद त्याग दिये थे। वह अपने व्यक्तिगत व्यसनों पर राज्य का धन व्यय करना पसन्द नहीं करता था और साधारणतया उसका जीवन सादगीपूर्ण था। न्याय में उसका इतना विश्वास था कि उसके महल में एक काजी और बारह उलेमा प्रत्येक अवसर पर न्याय करने के लिए उपस्थित रहते थे और यदि सुल्तान को मार्ग में भी कोई व्यक्ति न्याय माँगने वाला मिल जाता था तो वह तुरन्त उसका न्याय करता था। वह न्याय करने में देर करना पसन्द नहीं करता था। उसका न्याय कठोर था परन्तु प्रतिहिंसा पर आधारित न था। अपनी प्रजा की भलाई के लिए सुल्तान ने व्यापारिक करों और गल्ले के करों में कमी कर दी थी। उसके समय में सभी वस्तुओं के मूल्य कम रहे। सिकन्दर के समय में जनसाधारण सुखी और सम्पन्न था तथा इसका श्रेय सुल्तान का कृषि और व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करना था। इस प्रकार सिकन्दर अपनी प्रजा को शान्ति, सम्पन्नता और न्याय प्रदान करने में सफल हुआ था।

सिकन्दर एक कट्टर सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल सैनिक-संगठन करने वाला था। वह साहसी और युद्धप्रिय था, यह उसके सैनिक-अभियानों से स्पष्ट होता है। वह सफल सेनापति था, यह उसके साम्राज्य-विस्तार से स्पष्ट होता है। उसने बिहार को विजय किया, तिरहुत के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार किया तथा बंगाल और उड़ीसा के शासकों ने उसे अपना मित्र मान लिया। उसने राजस्थान में बयाना, धौलपुर, इटावा, चाँदवार और चन्देरी को जीता तथा नागौर और ग्वालियर के शासकों से राजस्व प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त उसने दोआब के हिन्दू विद्रोहियों को समाप्त कर दिया। इन विजयों के कारण उसे महान् सेनापति तो नहीं माना जा सकता परन्तु इन्होंने उसके राज्य का विस्तार किया और सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर दिया।

सिकन्दरशाह की एक मुख्य सफलता अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी। अपने न्याय, अनुशासन, राजदरबार के नियम, कठोरता और उदारता के समन्वय की नीति आदि से वह उनमें सुल्तान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत कर सका। उसने आरम्भ में ही विरोधी सरदारों को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की। वह न्याय में उनके साथ पक्षपात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करता था। उसने दरबार और दरबार से बाहर भी सुल्तान के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए नियम बनाये थे जिनका पालन करना अनिवार्य था। उसने 22 षड्यन्त्रकारी सरदारों का वध करा दिया अथवा राज्य से निष्कासित कर दिया। परन्तु सिकन्दर अपने अफगान सरदारों के प्रति कठोर न था। वह उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान करता था, वृद्ध और अनुभवी सरदारों का आदर करता था तथा उन्हें कभी अनावश्यक दण्ड नहीं देता था। उसने कभी भी किसी सरदार को उसकी जागीर से वंचित नहीं किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नहीं हो गया। यदि किसी को कोई गुप्त खजाना प्राप्त हो जाता था तो वह उसे उस खजाने से वंचित नहीं करता था। इसके अतिरिक्त उसने उन्हें और उनके बच्चों को शिक्षा प्रदान करके सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया जिससे उनकी कबाइली प्रवृत्तियाँ दब जायें। वह उन्हें परस्पर झगड़े और द्वन्द्व-युद्ध भी नहीं करने देता था बल्कि ऐसा करने वालों को दण्ड देता था। इन कार्यों से उसने अफगान सरदारों को अनुशासन में रखने में सफलता प्राप्त की। जो अफगान सरदार बहलोल लोदी के समय में सुल्तान को अपने में से ही एक सरदार मानते थे, वे अब सुल्तान को अपना सुल्तान मानने के लिए बाध्य हो गये। सिकन्दर लोदी ने स्वयं कहा था : "यदि मैं अपने एक गुलाम को भी पालकी में बैठा दूँ तो मेरे आदेश पर मेरे सभी सरदार उसे अपने कन्धों पर उठाकर ले जायेंगे।" सिकन्दर लोदी का यह कहना अतिशयोक्ति थी क्योंकि यह तो स्वीकार ही नहीं किया जा सकता कि सिकन्दर लोदी ने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट कर दिया था। परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह अपने समय में अफगानों की स्वतन्त्र व कबाइली प्रकृति पर अंकुश लगाने में सफल हुआ था और इस दृष्टि से सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने में वह अपने पिता बहलोल लोदी से अधिक सफल रहा था।

इस प्रकार सिकन्दर लोदी एक सफल सुल्तान था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों को आगे बढ़ाने में सफलता प्राप्त की। यदि बहलोल लोदी ने लोदी-वंश के दिल्ली-राज्य की स्थापना की थी तो सिकन्दर लोदी ने उसे पहले की तुलना में अधिक विस्तृत और दृढ़ किया था।

[3]

इब्राहीम लोदी (1517-1526 ई.)

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के अवसर पर उसके प्रायः सभी महत्वपूर्ण सरदार और पुत्र राजधानी में उपस्थित थे। सरदारों की सम्मति से यह निश्चय किया गया कि दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम होगा और जौनपुर का सुल्तान उसका भाई (वह दोनों एक माँ के पुत्र थे) जलालखाँ होगा। इस योजना के अनुसार सिकन्दर का सबसे बड़ा पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। इब्राहीम लोदी-वंश का अन्तिम शासक हुआ। उसका समय अपने भाई जलालखाँ के संघर्ष से आरम्भ हुआ, ग्वालियर की विजय उसके समय की एकमात्र और यशस्वी विजय रही और मेवाड़ से संघर्ष उसके अपमान और उसकी दुर्बलता का कारण बना। परन्तु उसके समय की मुख्य विशेषता उसका अपने अफगान सरदारों से संघर्ष था। सम्भवतया, बाबर का भारत पर आक्रमण लोदी-वंश के पतन का मुख्य कारण था क्योंकि इब्राहीम लोदी का बाबर से युद्ध में जीतना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। परन्तु इब्राहीम का अपने अफगान सरदारों से संघर्ष भी लोदी-वंश के पतन का एक महत्वपूर्ण कारण था जिसने बाबर के आक्रमण से पहले ही अफगानों की सैनिक-शक्ति को दुर्बल कर दिया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य या घटनाएँ

सुल्तान बनने के अवसर पर इब्राहीम ने सरदारों की सलाह से अपने भाई जलालखाँ को जौनपुर का शासक स्वीकार कर लिया था। जलालखाँ अपने सहयोगी सरदारों के साथ कालपी की ओर रवाना हुआ। परन्तु इब्राहीम और दिल्ली के सरदार शीघ्र ही साम्राज्य-विभाजन के विरोधी हो गये। इब्राहीम ने आरम्भ में निश्चित किये गये समझौते को भंग करके एकमात्र सुल्तान रहने का निश्चय किया। जलालखाँ कालपी पहुँच ही पाया था कि इब्राहीम ने हैबतखाँ के हाथों एक सन्देश भेजकर उसे दिल्ली बुलाया। उसने जौनपुर और बिहार के सरदारों को यह आदेश भेज दिया कि वे जलालखाँ की आज्ञा का पालन न करें और सुरक्षा की दृष्टि से उसने अपने अन्य भाइयों को कारागार में डाल दिया। जलालखाँ ने दिल्ली आने से इंकार कर दिया और जब उसे यह पता लगा कि जौनपुर के सरदारों को उसे पकड़ने के आदेश दिये गये हैं तब उसने स्वयं को कालपी में 'जलालुद्दीन' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इब्राहीम ने बड़ी शान-शौकत से दिसम्बर 1517 ई. में पुनः अपना राज्याभिषेक किया। इसके बाद दोनों भाइयों में संघर्ष चला। दो बार सरदारों ने बीच में पड़कर जलालखाँ को इब्राहीम को सुल्तान मानने के लिए राजी भी कर लिया परन्तु इब्राहीम समझौते के लिए तैयार न हुआ। अन्त में, जलालखाँ गोंड-राजा की शरण में चला गया जहाँ के शासक ने उसे कैद करके इब्राहीम के पास भेज दिया। इब्राहीम ने उसे हाँसी के किले में कैद करने के लिए भेजा परन्तु मार्ग में ही उसे जहर देकर मरवा दिया। इस प्रकार इब्राहीम ने अपने भाई को समाप्त करके राज्य-विभाजन को बचा लिया। परन्तु इस संघर्ष से अनेक सरदारों में यह भावना उत्पन्न हो गयी कि इब्राहीम पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि दो बार इब्राहीम ने सरदारों द्वारा अपने भाई से कराये गये समझौते को ठुकरा दिया था, अपने सभी भाइयों को कैद कर लिया था और जलालखाँ को जहर देकर मरवा दिया था।

इसके पश्चात् इब्राहीम ने ग्वालियर को जीतने की योजना बनायी। ग्वालियर ने समय-समय पर दिल्ली के सुल्तानों का विरोध किया था और उसे जीतने के सिकन्दरशाह के प्रयत्न असफल हुए थे। इस कारण ग्वालियर इब्राहीम की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकती थी। ग्वालियर के राजा द्वारा जलालखाँ को शरण देना इस अवसर पर उपयुक्त बहाना भी था। आजमखाँ हुमायूँ शेरवानी के नेतृत्व में एक बड़ी सेना ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। उस समय तक ग्वालियर के राजा मानसिंह की मृत्यु हो गयी थी और उसका पुत्र विक्रमजीत वहाँ का राजा था। उसने साहसपूर्वक किले की सुरक्षा का प्रबन्ध किया परन्तु वह असफल हुआ और अन्त में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। **ग्वालियर पर इब्राहीम का अधिकार हो गया।** परन्तु इब्राहीम ने उदारता से विक्रमजीत को शमशाबाद की जागीर दे दी।

ग्वालियर की विजय से प्रोत्साहित होकर इब्राहीम ने मेवाड़ को जीतने की योजना बनायी। राजस्थान में मेवाड़ सबसे शक्तिशाली राज्य था और उसका शासक संग्रामसिंह (राणा साँगा) एक महान योद्धा था। दिल्ली-सल्तनत और मेवाड़ का झगड़ा मालवा के अधिकार को लेकर था। मालवा के प्रधानमन्त्री मेदिनीराय की शक्ति प्रबल हो गयी थी तथा मालवा के सुल्तान ने असहाय होकर गुजरात और दिल्ली के शासकों से सहायता माँगी थी। सिकन्दर लोदी ने अपने समय में उसकी सहायता के लिए एक सेना भेजी थी। परन्तु राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त करके मेदिनीराय ने गुजरात के शासक और सिकन्दरशाह के मालवा में हस्तक्षेप करने के प्रयत्नों को असफल कर दिया था। इस प्रकार राणा संग्रामसिंह धीरे-धीरे मालवा में राजपूत-प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था जबकि दिल्ली के सुल्तान स्वयं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालवा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक होने लगे थे। अतः इब्राहीम लोदी ने मेवाड़ को विजय करके अपने राज्य और सम्मान में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। जलालखाँ के विद्रोह के अवसर पर राणा संग्रामसिंह ने दिल्ली-सल्तनत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। अब इब्राहीम एक सेना लेकर उसके विरुद्ध गया। ग्वालियर के निकट घटोली नामक स्थान पर एक युद्ध (1517-18 ई.) हुआ जिसमें पराजित होकर इब्राहीम को वापस लौटना पड़ा। राणा संग्रामसिंह ने अपना बायाँ हाथ खो दिया और उसकी एक टाँग घायल हो गयी परन्तु विजय उसी को प्राप्त हुई। एक वर्ष पश्चात् 1518-19 ई. में इब्राहीम ने पुनः आक्रमण किया। धौलपुर के निकट हुए इस युद्ध में भी दिल्ली की सेना की पराजय हुई। **उसके पश्चात् भी मेवाड़ और दिल्ली में विभिन्न युद्ध हुए परन्तु उनमें अधिकांशतया दिल्ली की सेना की ही पराजय हुई।** इस प्रकार इब्राहीम के समय में दिल्ली और मेवाड़ में निरन्तर संघर्ष चलता रहा जिसमें लाभ राजपूतों को मिला और राणा ने बयाना तक अपने राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार मेवाड़ से युद्ध करने में इब्राहीम को असफलता और अपमान मिला तथा उसकी सैनिक शक्ति दुर्बल हुई।

इब्राहीम के शासनकाल की मुख्य घटना सुल्तान और उसके अफगान सरदारों का संघर्ष था। इसके लिए एक तरफ सुल्तान इब्राहीम का निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना का प्रयत्न और उसकी सन्देही प्रकृति तथा दूसरी तरफ अफगान सरदारों की स्वतन्त्रता और समानता की भावना एवं अपनी सुरक्षा के लिए सुल्तान की तरफ से आशंकित होना था। इब्राहीम ने स्वेच्छाचारी तुर्की सुल्तानों के समान व्यवहार करना आरम्भ किया। उसका विश्वास था कि सुल्तान का कोई सम्बन्धी नहीं होता और राज्य के सरदार उसके सेवक मात्र होते हैं। उसने दरबार के अमीरों को अपने सम्मुख हाथ बाँधकर खड़े होने की आज्ञा दी। जलालखाँ के विद्रोह के कारण वह अमीरों की तरफ से शंकित हो गया और उसे समाप्त करने में सफल होने के कारण वह दम्भी हो गया। उसने अपने पिता के समय के सभी सरदारों को समाप्त करने का निश्चय किया। वास्तव में इब्राहीम ने उन्हीं अफगान सरदारों को समाप्त करने का प्रयत्न किया जिन पर उसके राज्य की शक्ति निर्भर करती थी। सुल्तान सिकन्दर ने सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने में सफलता प्राप्त की थी। उसका मुख्य कारण यह रहा था कि उसने उन्हें कभी भी अपमानित नहीं किया था, उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान किया था और उनकी शक्ति को नष्ट करने के स्थान पर उसको अपने हित की पूर्ति में लगाया था। इब्राहीम ने अपने अफगान सरदारों को नष्ट करके अपने निरंकुश शासन की व्यवस्था का प्रयत्न किया। यह अफगान सरदारों की प्रकृति और सुरक्षा के विरुद्ध था जिसके कारण इब्राहीम का सम्पूर्ण समय अफगान सरदारों के विद्रोह को दबाने में व्यतीत हुआ।

जलालखाँ के विद्रोह के अवसर पर सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में सन्देह के कारण उपस्थित हो गये थे। इब्राहीम ने आरम्भ में हुए साम्राज्य के विभाजन को ठुकरा दिया था। निस्सन्देह, जो सरदार इस विभाजन के पक्ष में थे और जलालखाँ के साथ चले गये थे, वे असन्तुष्ट हुए। दूसरी बार इब्राहीम ने मलिक आदम काकर द्वारा जलालखाँ से किये गये समझौते को ठुकरा दिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि सुल्तान का व्यवहार विश्वसनीय न था। सुल्तान भी अपने सरदारों के प्रति शंकित रहने लगा। ग्वालियर के किले से जलालखाँ को मालवा भागने का अवसर मिल सका था। इब्राहीम ने इसके लिए आजम हुमायूँ शेरवानी को दोषी माना क्योंकि उसने एक बार पहले भी जलालखाँ का साथ दिया था। इब्राहीम ने ग्वालियर के किले की विजय से पहले ही आजम हुमायूँ और उसके पुत्र फतहखाँ को आगरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुलाया और उन्हें कारागार में डाल दिया। वास्तव में जलालखाँ द्वारा विद्रोह करने के पश्चात् इब्राहीम अपने पिता के समय के सभी सरदारों के प्रति शंकालु हो गया और उस विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् उन सभी को समाप्त करने के लिए तत्पर हो गया। उसने अपने वजीर मियाँ भुआ को भी कारागार में डाल दिया। मियाँ भुआ सिकन्दर लोदी का वजीर रहा था और 28 वर्ष से वफादारी एवं योग्यता से लोदी सुल्तानों की सेवा कर रहा था। उसका अपराध सम्भवतया सिर्फ यह था कि वह वृद्ध हो गया था और अधिक परिश्रम से राज्य की सेवा करने में असमर्थ था। इब्राहीम ने उस जैसे प्रतिष्ठित सरदार को कारागार में बन्द करके ठीक नहीं किया और उससे भी बड़ी भूल यह की कि उसी के पुत्र को अपना वजीर बना लिया। जिसका वृद्ध पिता कारागार में हो उससे वफादारी की आशा करना मूर्खता थी। अपने भाइयों के प्रति इब्राहीम का व्यवहार क्रूरता का रहा। जलालखाँ को जहर देकर मरवा दिया गया और, सम्भवतया, महमूद के अतिरिक्त उसके सभी भाई कारागार में मर गये। इसके अतिरिक्त इब्राहीम ने पुराने सरदारों के स्थान पर अपने प्रति वफादार नये और छोटे सरदारों को बड़े-बड़े पद प्रदान करना आरम्भ कर दिया था। उसके इन कार्यों ने अनेक सरदारों को असन्तुष्ट कर दिया। आजम हुमायूँ को कारागार में बन्द करने से यह असन्तोष फूट पड़ा। आजम हुमायूँ के दूसरे पुत्र इस्लामखाँ ने कड़ा में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। उसने सुल्तान द्वारा भेजे गये सरदार अहमदखाँ को परास्त कर दिया। आजम हुमायूँ लोदी और सईदखाँ लोदी भी सुल्तान का साथ छोड़कर इस्लामखाँ से जा मिले और यह विद्रोह कड़ा से कन्नौज तक के सम्पूर्ण अवध-प्रदेश में फैल गया। विद्रोहियों ने सुल्तान द्वारा भेजी गयी एक सेना पर धोखे से आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। इब्राहीम ने अपने सरदारों को आदेश दिये कि वे विद्रोहियों को दण्ड दिये बिना वापस न लौटें। उसने अपने सरदारों की सहायता के लिए और अधिक सेना भेजी और फिर स्वयं भी युद्ध करने के लिए गया। विद्रोहियों ने प्रायः 40 हजार घुड़सवार और 500 हाथियों की एक सम्मिलित सेना एकत्र कर ली थी। दोनों ओर की सेनाओं में प्रमुख सरदार थे, यहाँ तक कि बाप-बेटे एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हुए थे। स्पष्ट था कि युद्ध भयंकर होगा और अफगान परस्पर युद्ध करके अपने निकट सम्बन्धियों तक का वध करेंगे। इस कारण तत्कालीन प्रतिष्ठित सन्त शेख यूसूफ कत्ताल ने बीच में पड़कर समझौता कराने का प्रयत्न किया। विद्रोहियों ने आजम हुमायूँ शेरवानी को मुक्त कर देने की शर्त रखी जिसके लिए इब्राहीम तैयार न हुआ। परिणामस्वरूप भयंकर युद्ध हुआ। नियामतउल्ला ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में इतना अधिक रक्तरंजित युद्ध वर्षों से नहीं लड़ा गया था—लाशों के ढेरों से युद्ध-स्थल भर गया और मैदान में रक्त की नदियाँ बहने लगीं। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और प्रकृतिदत्त शौर्य के कारण भाई ने भाई और पिता ने पुत्र से युद्ध किया। उन्होंने तीर-कमान और भालों को त्याग कर छुरा, चाकू और तलवार से युद्ध किया।" दोनों पक्षों को मिलाकर 10,000 बहादुर अफगान मारे गये। इब्राहीम की विजय हुई। इस्लामखाँ मारा गया। सईदखाँ और अनेक सरदार कैद कर लिये गये। इब्राहीम ने सरदारों की शक्ति को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की परन्तु इस युद्ध में सेना के सर्वाधिक साहसी शूरवीर मारे गये और अफगानों की शक्ति दुर्बल हो गयी। इब्राहीम के एक हठ ने अपने शक्ति-स्तम्भों की जड़ों को खोखला कर दिया।

इस युद्ध के पश्चात् इब्राहीम और अधिक उद्दण्ड हो गया। आजम हुमायूँ और मियाँ भुआ की कारागार में मृत्यु हो गयी। इससे सरदारों में इब्राहीम के प्रति शंका हुई। इसी समय इब्राहीम ने हुसैनखाँ फारमूली का धोखे से चन्देरी में वध करा दिया और उसके हत्यारे को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

700 सोने के सिक्के और 10 गाँव प्रदान किये। इससे अनेक अफगान सरदारों को यह विश्वास हो गया कि सुल्तान उनमें से प्रत्येक को नष्ट करने पर तुला है। जो सरदार उस समय तक सुल्तान इब्राहीम की वफादारी से सेवा कर रहे थे, वे भी उसके प्रति शंकालु हो गये। इस कारण बिहार के सूबेदार दरियाखाँ नूहानी तथा खान-ए-जहाँ लोदी आदि ने पूर्व में विद्रोह कर दिया। शीघ्र ही दरियाखाँ नूहानी की मृत्यु हो गयी परन्तु उसके पुत्र बहादुरखाँ (बहारखाँ) ने बिहार में स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करके 'सुल्तान मुहम्मद' की उपाधि ग्रहण कर ली। गाजीपुर का सूबेदार नसीरखाँ नूहानी और अनेक असन्तुष्ट सरदार मुहम्मद से जा मिले। उसकी सेना में एक लाख घुड़सवार हो गये और उसने बिहार से लेकर सम्भल तक के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। उसने कई बार इब्राहीम द्वारा भेजी गयी सेनाओं को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। इब्राहीम ने पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी को अपनी सहायता के लिए आगरा बुलाया। परन्तु शंकावश उसने अपने पुत्र दिलावरखाँ को आगरा भेज दिया। इब्राहीम उस समय तक अपनी कठोरता और निर्ममता की नीति के दोषों से अनभिज्ञ था। उसने दिलावरखाँ को आतंकित करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उसने चुपके से अपने पिता के पास पहुँचकर उसे सावधान कर दिया कि इब्राहीम पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस कारण दौलतखाँ लोदी ने सुल्तान इब्राहीम की सहायता के लिए जाने के स्थान पर काबुल के शासक बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया।

उसी समय जबकि इब्राहीम की शक्ति को तोड़ने के लिए दौलतखाँ लोदी ने बाबर को निमन्त्रण दिया, इब्राहीम के चाचा आलमखाँ लोदी ने, जो सिकन्दरशाह के विरुद्ध विद्रोह करने के बाद से गुजरात के शासक की शरण में था, बाबर से सहायता माँगी और काबुल गया। बाबर ने, जो पहले से ही भारत पर आक्रमण करने के लिए इच्छुक था, इसे एक सुअवसर समझा और 1524 ई. में उसने लाहौर तक आक्रमण किया तथा इब्राहीम की एक सेना को परास्त करने में सफलता पायी। परन्तु लाहौर में अपने सरदारों की नियुक्ति करके बाबर भारत से वापस चला गया। दौलतखाँ लोदी ने जो बाबर की ओर से शंकित हो गया था, आलमखाँ लोदी से एक समझौता करके 1525 ई. में दिल्ली पर आक्रमण किया। परन्तु इब्राहीम ने उन दोनों को परास्त कर दिया।

नवम्बर 1525 ई. में बाबर अपने भारत-विजय के अभियान पर काबुल से चला। दौलतखाँ लोदी और आलमखाँ लोदी इब्राहीम से पराजित हो चुके थे। अतः पंजाब को जीतने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। दौलतखाँ, उसका पुत्र दिलावरखाँ और आलमखाँ उससे मिल गये। 12 अप्रैल, 1526 ई. को बाबर पानीपत के मैदान में पहुँचा। इब्राहीम लोदी की शक्ति उस समय तक दुर्बल हो गयी थी। उसका सम्पूर्ण पूर्वी भारत का राज्य उसके हाथ से निकल चुका था, मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह ने उसकी शक्ति को हानि पहुँचाई थी तथा सम्पूर्ण पंजाब को उसने खो दिया था। इसके अतिरिक्त मालवा और गुजरात के शासक भी इब्राहीम की पराजय के इच्छुक थे, यहाँ तक कि गुजरात का भगोड़ा शाहजादा बहादुरशाह अपने 3,000 घुड़सवारों के साथ एक दर्शक की भाँति पानीपत के युद्ध-स्थल के निकट उपस्थित था। इन परिस्थितियों में 12 अप्रैल, 1526 ई. को बाबर और इब्राहीम में पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ। इब्राहीम ने साहस और बहादुरी से युद्ध किया परन्तु बाबर के योग्य सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्ध-नीति और तोपखाने के कारण इब्राहीम की पराजय हुई और वह युद्ध-स्थल में मारा गया। इब्राहीम की मृत्यु से लोदी-वंश ही समाप्त नहीं हुआ वरन् दिल्ली-सल्तनत का इतिहास भी समाप्त हो गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

सुल्तान इब्राहीम एक योग्य, परिश्रमी, चरित्रवान, न्यायप्रिय और प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। इस दृष्टि से वह अपने पिता और पितामह से किसी भी तरह कम न था तथा उसकी प्रजा प्रसन्न, सुखी और समृद्धशाली थी। **वह अत्यधिक साहसी, कट्टर सैनिक और कुशल सेनापति था।** 1525 ई. में दौलतखाँ और आलमखाँ लोदी ने दिल्ली पर आक्रमण करने के अवसर पर उसकी सेना पर आक्रमण किया और उसे नष्ट कर दिया। परन्तु सुल्तान इब्राहीम अपने अंगरक्षक सैनिकों के साथ युद्धस्थल पर डटा रहा तथा प्रातःकाल होते ही जबकि उसके शत्रु लूट-मार में व्यस्त थे, उसने आलमखाँ लोदी पर आक्रमण किया और उसे युद्ध-स्थल से भागने पर बाध्य किया जिससे अन्त में विजय उसी की हुई। सुल्तान के लिए यह एक असाधारण बात मानी जा सकती है। इसी प्रकार, पानीपत के युद्ध में अपनी पराजय को पूर्ण मानकर भी वह युद्ध-स्थल से भागा नहीं बल्कि युद्ध करता हुआ मारा गया। फरिश्ता ने लिखा है : "वह मृत्युपर्यन्त लड़ा और एक सैनिक की भाँति मारा गया। नआमतउल्ला (नियामत- उल्ला) ने लिखा है कि "सुल्तान इब्राहीम के अतिरिक्त भारत का अन्य कोई सुल्तान युद्ध-स्थल में नहीं मारा गया।" इस प्रकार साहस, शौर्य और दृढ़-निश्चय की दृष्टि से इब्राहीम अद्वितीय था। **वह एक योग्य सेनापति था और उसने अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त की थी यद्यपि यह सत्य है कि मुगल-वंश का संस्थापक बाबर इस दृष्टि से उससे श्रेष्ठ था।**

परन्तु **इब्राहीम की सबसे बड़ी दुर्बलता उसका हठी स्वभाव था।** उसने अपने अफगान सरदारों की शक्ति को तोड़ने का निश्चय किया और अन्त तक उसके लिए कटिबद्ध रहा। वह यह नहीं समझ सका कि उसके अफगान सरदार सुल्तान की शक्ति और सम्मान के साथ धीरे-धीरे समझौता तो कर सकते थे परन्तु अपनी स्वतन्त्र प्रकृति और आत्मसम्मान के कारण तुरन्त समझौता करने के लिए तत्पर न थे। सुल्तान को अमीरों में से ही एक अमीर मानने वाले अफगान सरदार सुल्तान सिकन्दरशाह की कुशल नीति के कारण दब गये थे और सुल्तान का सम्मान करना सीख रहे थे। परन्तु इब्राहीम ने अपनी शंका, कठोरता और हठ से उनके सम्मान और प्रकृति को खुली चुनौती दे दी और वह समय-समय पर मिले समझौते के अवसरों को खोता गया जिसके कारण सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में प्रत्यक्ष टक्कर हो गयी। निस्सन्देह, बाबर की योग्यता, रणनीति और तोपखाना पानीपत के युद्ध में अफगानों के एक होने पर भी उसकी सफलता के लिए पर्याप्त थे परन्तु पंजाब से लेकर बिहार तक के शक्तिशाली और समृद्धशाली सुल्तान इब्राहीम को परास्त करना बाबर के लिए सरल न होता। परन्तु ऐसा न हो सका। इब्राहीम अपने सरदारों से लड़कर अपनी शक्ति के आधार को खो चुका था तथा उसका राज्य संकुचित हो गया था और इस कारण उसकी युद्धक्षमता दुर्बल हो गयी थी। ऐसी स्थिति में पानीपत का युद्ध दो असमान शत्रुओं का युद्ध था जिसमें इब्राहीम की पराजय निश्चित थी।

[4]

अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त और लोदी सुल्तान

अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त (Theory of Kingship) तुर्कों के राजत्व-सिद्धान्त से भिन्न था। तुर्की-सुल्तान निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने का दावा करते थे। उनके सरदार उनके कर्मचारी, सलाहकार, समर्थक और अनुयायी थे परन्तु उनमें से कोई भी सुल्तान के साथ समानता या राज्य के शासन में साझेदारी का दावा नहीं कर सकता था। सुल्तान इल्तुतमिश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से लेकर सैयद-वंश के शासकों तक ने इस श्रेष्ठता का दावा किया था और बलबन तथा अलाउद्दीन खलजी जैसे शक्तिशाली शासक अपने में देवत्व के अंश का दावा करते थे। यह ईसाई राजाओं तथा हिन्दू राजाओं के दैवी राजत्व के सिद्धान्त (Divine Right of Kings) के निकट था। इसके विपरीत, अफगान सरदार सुल्तान को अपने में से ही एक बड़ा सरदार मानते थे। वे सुल्तान में देवत्व का अंश मानने के लिए तत्पर न थे। वे शक्ति, प्रभाव और राज्य के शासन में अपना हिस्सा समझते थे। इस प्रकार अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त सरदारों की समानता पर आधारित था और ऐसी स्थिति में उनकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रीय न होकर कुलीनतन्त्रीय थी और भारत में उस समय तक मान्य हिन्दू और तुर्की-व्यवस्था के प्रतिकूल थी। अफगानों की इस व्यवस्था की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ थीं :

(1) उत्तराधिकारी के विषय में अफगान पैतृक अधिकार अथवा उत्तराधिकारी को नामजद किये जाने के अधिकार को स्वीकार नहीं करते थे बल्कि योग्यता के आधार पर सरदारों के द्वारा सुल्तान को चुने जाने के अधिकार को मानते थे।

(2) प्रत्येक अफगान सरदार अपनी सेना का प्रधान होने का दावा करता था और अपनी सेना को सुल्तान की सेना का अविभाज्य अंग नहीं मानता था।

(3) सुल्तान के किसी भी अधिकार को वे विशेषाधिकार के रूप में मानने के लिए तत्पर न थे बल्कि स्वयं भी ऐसे सभी अधिकारों का उपभोग करना अपना अधिकार मानते थे।

अफगानों की इन प्रमुख विशेषताओं के कारण अफगान सरदार सुल्तान को अपनी शक्ति पर निर्भर रहने के लिए बाध्य कर सकते थे, सभी सुविधाओं और अधिकारों का उपभोग कर सकते थे तथा स्वयं की बड़ी-बड़ी जागीरें और सेनाएँ रख सकते थे जिसमें असंख्य घुड़सवार और हाथी हो सकते थे। इस कारण लोदी शासकों के समय में अफगान सरदारों की स्वयं की बड़ी-बड़ी जागीरें और सेनाएँ थीं जिन्हें वे सुल्तान के विरुद्ध युद्धों में प्रयोग में ला सके। विद्रोही सरदारों की इतनी शक्तिशाली सेनाएँ तुर्की शासकों के समय में प्राप्त नहीं होतीं।

बहलोल लोदी प्रथम अफगान सुल्तान था। उसके सिंहासन पर बैठने तक अफगान मुल्तान, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रभावशाली हो गये थे। बहलोल अफगान सरदारों का नेता था और वह सफलतापूर्वक उनका नेतृत्व कर सका। परन्तु उसकी शक्ति अफगान सरदारों के समर्थन और सहयोग पर निर्भर करती थी। इस कारण उसने अफगान सरदारों के स्वतन्त्रता और सम्मान के विचारों के साथ समझौता कर लिया। उसका कहना था कि वह अमीरों में से ही एक अमीर है। वह अपने मुख्य सरदारों के साथ कालीन पर बैठता था, अपने अमीरों को 'मसनद-ए-अली' पुकारता था, अपने किसी भी अमीर के बीमार अथवा अप्रसन्न हो जाने पर उसके निवास-स्थान पर जाता था, विजय में लूटी हुई सम्पत्ति में उन्हें बराबर का हिस्सा देता था, अफगान परम्परा के अनुरूप व्यक्तिगत अंगरक्षक नहीं रखता था, उसका भोजन प्रत्येक दिन किसी न किसी अमीर के यहाँ से आता था और घोड़े पर सवार होते समय उसका कोई न कोई अमीर उसे अपना घोड़ा देता था। फरिश्ता के अनुसार उसका कहना था : "इतना ही पर्याप्त है कि मेरा नाम राज्य के साथ जुड़ा हुआ है।" मुश्ताकी ने लिखा है : "वह दरबार में सिंहासन पर नहीं बैठा और उसने अमीरों को खड़ा रहने से मना किया।" इस प्रकार बहलोल ने अपने सरदारों के साथ सुल्तान की भाँति व्यवहार नहीं किया, उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें एवं सम्मान प्रदान किये तथा उनकी प्रकृति तथा अफगान परम्परा के अनुसार व्यवहार करके उन्हें प्रसन्न किया और उन्हें अपना समर्थक बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। इस कारण डॉ.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के. ए. निजामी ने लिखा है : "बहलोल का शासन 'बिरादरी' पर आधारित था और उसी आधार पर चलाया जाता था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "अफगानों की भावनाओं और अपने पिता की परम्पराओं के अनुकूल कार्य करते हुए बहलोल ने अमीरों में से ही एक अमीर होने से अधिक कोई अन्य दावा नहीं किया। वह सुल्तान की उपाधि और अफगानों का नेता होने से पर्याप्त सन्तुष्ट था। उसके समय का अफगान साम्राज्य लोदी शासक के नेतृत्व में विभिन्न जातियों का एक प्रकार का संघ-राज्य था।" उसी प्रकार प्रो. हमीदउद्दीन ने भी लिखा है कि अपनी मृत्यु से पहले बहलोल ने अपने राज्य को अपने सम्बन्धियों और अमीरों में बाँट दिया। वह लिखते हैं कि "इस प्रकार एक प्रकार से एक अफगान संघ-राज्य को बनाकर जुलाई 1489 ई. के मध्य में 'साकेत' परगने में 'जलाली' नगर के निकट 'मलावली' नामक स्थान पर बहलोल की मृत्यु हो गयी।

परन्तु बहलोल के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये उपर्युक्त विचारों से प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी का मतभेद है। वह यह तो स्वीकार करते हैं कि बहलोल का व्यवहार अपने सरदारों के प्रति उदारता एवं शिष्टता का था परन्तु उनके अनुसार बहलोल का यह व्यवहार समय और परिस्थितियों के कारण था। उस समय अफगान सरदारों का समर्थन उसकी शक्ति की स्थापना के लिए परम आवश्यक था। परन्तु साथ ही साथ वह कहते हैं कि पर्शियन स्रोत-ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहलोल निरंकुश शासक था और उसने एक कठिन समय में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने लिखा है : "ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह मत सिद्ध नहीं होता कि उसके समय में दिल्ली-सल्तनत अफगान जातियों का एक संघ-राज्य था और इस कारण इस मत को उसके समय के इतिहास को गलत पढ़ने का प्रयत्न समझकर त्याग देना चाहिए।" उनका कहना है कि बहलोल ने अपनी कठिन परिस्थितियों के कारण अपने सरदारों, उलेमाओं और अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वह आरम्भ में अपने सरदारों को सन्तुष्ट करने के अतिरिक्त कुछ भी कर नहीं सकता था। परन्तु साथ ही साथ उसने अपने विरोधी सरदारों को चाहे वे अफगान ही क्यों न हों, समाप्त करने का प्रयत्न किया, जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दिपालपुर के शक्तिशाली सरदार तातारखाँ के दमन से स्पष्ट होता है। बहलोल अपने सरदारों के इक्ताओं में भी परिवर्तन करता था। इस कारण, प्रो. सिद्दीकी के मतानुसार, बहलोल ने अपने सरदारों के प्रति कूटनीतिज्ञता का व्यवहार किया तथा उसने उन्हें विभिन्न जातियों के सदस्य होने के बजाय एक 'बिरादरी' का सदस्य बनने की भावना प्रदान की और सफलतापूर्वक उन्हें अपनी शक्ति की स्थापना का साधन बनाया।

प्रो. सिद्दीकी का मत तर्कसंगत है। यह माना जा सकता है कि बहलोल का अपने सरदारों के प्रति सद्व्यवहार का कारण उस समय की राजनीति थी। प्रो. सिद्दीकी भी यह मानते हैं कि बहलोल की नीति अपने सरदारों को सन्तुष्ट करने की थी। जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि बहलोल का साम्राज्य एक अफगान संघ-राज्य था अथवा नहीं, यह चाहे विवाद का प्रश्न रहे परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि बहलोल ने अपने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति पर इतना अंकुश लगाने में अवश्य सफलता प्राप्त की थी कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारों ने उसी के पुत्रों में से एक को सुल्तान चुनने का निश्चय किया और अपने में से किसी को भी सुल्तान बनाने का विचार तक उनके मस्तिष्क में नहीं आया। अपने अफगान सरदारों के प्रति बहलोल की यह सफलता अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

सिकन्दर लोदी अपने सरदारों के प्रति व्यवहार करने में अपने पिता की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहा। लोदी-वंश का राज्य विस्तृत और सुरक्षित हो गया था। अपने शासनकाल के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम वर्ष में ही अपने विरोधियों को समाप्त करने में उसने जो सफलता प्राप्त की उससे उसे अपने सरदारों को अपने अधिक नियन्त्रण में रखने के लिए प्रोत्साहन मिला। सिकन्दर लोदी की नीति कठोरता, अनुशासन और सुल्तान के विशेषाधिकारों पर बल देने की थी। उसकी नीति का उद्देश्य सुल्तान की प्रतिष्ठा और उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करना था। परन्तु इसके लिए उसने सरदारों को अनावश्यक रूप से अपमानित करने अथवा नष्ट करने का विचार नहीं किया। इस प्रकार उसकी नीति में कठोरता के साथ-साथ उदारता और व्यावहारिकता सम्मिलित रही। सिकन्दर लोदी ने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया, सरदारों को नतमस्तक होकर नमस्कार करने के लिए बाध्य किया, दरबार और दरबार से बाहर सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के नियम बनाये, प्रान्तीय अमीरों को अपनी राजधानियों से छः मील चलकर सुल्तान के आदेशों को सम्मानपूर्वक ग्रहण करने की परम्परा प्रचलित की, न्याय में छोटे और बड़े का कोई ध्यान नहीं रखा, सरदारों के इक्ताओं और जागीरों में परिवर्तन किये, सरदारों को द्वन्द्व-युद्ध और परस्पर झगड़े करने से रोका तथा सभी को अपने आदेशों एवं नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किया। जो सरदार सुल्तान की आज्ञा की अवहेलना करते थे, उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। मुश्ताकी ने लिखा है : "जिस किसी ने भी उसकी आज्ञा का विरोध करने का साहस किया उसका उसने (सुल्तान ने) सिर कटवा दिया अथवा उसे अपने साम्राज्य से निष्कासित कर दिया।" जिन 22 सरदारों ने उसे सिंहासन से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखाँ को सुल्तान बनाने का षड्यन्त्र किया, उन सभी का उसने वध करा दिया अथवा उन्हें साम्राज्य से निष्कासित कर दिया। अपनी सहायता के लिए सिकन्दर लोदी ने एक श्रेष्ठ गुप्तचर-विभाग का संगठन किया। इसके अतिरिक्त, उसकी नीति उदारता की भी रही। सुल्तान ने अफगान सरदारों तथा उनके बच्चों को शिक्षित और सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने किसी को तब तक दण्डित नहीं किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नहीं हो गया। अनेक अवसरों पर उसने छोटे सरदारों की जागीर में कमी करने के बाद उन्हें माफ कर दिया। उसने वृद्ध वफादार अमीरों को सम्मानित पद प्रदान किये। इस प्रकार अपनी इस अनुशासनपूर्ण परन्तु व्यावहारिक नीति से सिकन्दर लोदी अपने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति पर अंकुश लगाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने में सफल रहा। प्रो. सिद्दीकी ने लिखा है : "सुल्तान सिकन्दर पहला अफगान सुल्तान था जिसने एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न बादशाह की भाँति व्यवहार किया और जिसने अपने सरदारों से पूर्ण आज्ञापालन और अविचलित वफादारी की अपेक्षा की।.....उसकी चतुरता, मानवता, उदारता, उच्च आदर्श, व्यक्तिगत आकर्षण और युद्ध-क्षेत्र की निरन्तर सफलताओं ने उसके सरदारों को पूर्ण वफादार और सुल्तान के प्रति आज्ञाकारी बना दिया। इससे उनकी सुल्तान से समानता करने की भावना भी दब गयी।"

परन्तु इब्राहीम लोदी के सुल्तान बनते ही सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में संघर्ष आरम्भ हो गया। सिकन्दर लोदी ने अफगान अमीरों को अनुशासन एवं आज्ञापालन अवश्य सिखा दिया था परन्तु वह उनकी समानता एवं स्वतन्त्रता की भावना को नष्ट नहीं कर सका था। इसके अतिरिक्त अफगान परम्परा के अनुकूल उस समय तक ऐसे भी अमीर थे जिनके पास बड़े-बड़े इक्ता अथवा जागीरें थीं और जिनकी बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं। ऐसी परिस्थिति में इब्राहीम लोदी को सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए था। सिकन्दर लोदी ने सरदारों को अनुशासन में रखने में बहलोल लोदी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की थी। इब्राहीम लोदी उससे कुछ आगे बढ़ सकता था और इस प्रकार अफगानों के राजत्व-सिद्धान्त को नष्ट करके तुर्की राजत्व-सिद्धान्त की स्थापना करने में कुछ और अधिक सफल हो सकता था। परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ परिस्थितियोंवश और अधिकांशतया अपनी हठी और शंकालु प्रवृत्ति के कारण वह शीघ्र ही अपने अफगान अमीरों के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष में फँस गया। जलालखाँ को जौनपुर का शासक मानने से ही उसकी भूलें आरम्भ हो गयीं। उस सम्बन्ध में हुए संघर्ष ने सुल्तान और उसके अमीरों में शंका व तनाव का वातावरण उत्पन्न कर दिया जो समय के साथ-साथ बढ़ता गया। सुल्तान का अमीरों से अधिक कठोर व्यवहार, उसकी अपने भाइयों के प्रति क्रूरता, आजम हुमायूँ, फतहखाँ और मियाँ भुआ को कारागार में बन्द करने तथा सभी पुराने सरदारों पर शंका करके अपने नवीन सरदारों को श्रेष्ठ पद प्रदान करने की नीति आदि ने इस्लामखाँ के विद्रोह को जन्म दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए जो युद्ध हुआ उसमें इब्राहीम को सफलता अवश्य मिली परन्तु 10,000 श्रेष्ठ अफगान सैनिक और सरदार उस युद्ध में मारे गये। इस विजय ने इब्राहीम को अधिक उद्दण्ड बना दिया। कारागार में आजम हुमायूँ और मियाँ भुआ की सन्देहास्पद परिस्थितियों में मृत्यु तथा चन्देरी के सूबेदार हुसैनखाँ फारमूली की हत्या ने बिहार में दरियाखाँ और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बहादुरखाँ के विद्रोह को जन्म दिया जिससे बिहार से सम्भल तक का सम्पूर्ण प्रदेश इब्राहीम के हाथों से निकल गया। पंजाब में दौलतखाँ लोदी ने उसकी सहायता करने के स्थान पर बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण दिया और तत्पश्चात् आलमखाँ लोदी की सहायता की। इन्हीं परिस्थितियों में इब्राहीम ने बाबर से युद्ध किया और मारा गया। इस प्रकार, इब्राहीम लोदी अपने अफगान अमीरों को दबाने अथवा नष्ट करने में असफल हुआ। इसके अतिरिक्त सुल्तान और अमीरों के इस संघर्ष ने इब्राहीम को एक विदेशी आक्रमणकारी से युद्ध करने के अवसर पर दुर्बल बनाकर छोड़ दिया।

सुल्तान इब्राहीम के समय में सुल्तान और अमीरों के बीच हुए संघर्ष से यह स्पष्ट होता है कि उस संघर्ष में सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत आशंकाएँ, भय एवं हठ अधिक मात्रा में सम्मिलित था तथा इब्राहीम की अकुशलता और अव्यावहारिकता इसके लिए बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थी। निस्सन्देह, इब्राहीम ने अपने अमीरों से नीतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया बल्कि सुल्तान सिकन्दर के समय में जो अमीर सुल्तान की आज्ञापालन के लिए तत्पर हो गये थे, उसने उन्हें अपने विद्रोहियों में परिवर्तित कर दिया। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी माननीय है कि इब्राहीम भी सिकन्दर की भाँति निरंकुश राजतन्त्र की एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील था जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल थी। परन्तु अफगान सरदार अपनी स्वतन्त्रता, सम्मान और समानता की भावना के कारण उस लाभदायक व्यवस्था को समझने तथा अपने को उसके अनुकूल ढालने में असमर्थ रहे जिसके कारण वे सुल्तान इब्राहीम अथवा लोदी-वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुए तथा भारत में अफगान साम्राज्य के स्वामी बने रहने के अधिकार से भी वंचित हो गये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "बहलोल लोदी लोदी वंश का संस्थापक था।" उपर्युक्त कथन के आधार पर बहलोल लोदी की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. "सिकन्दर लोदी लोदी शासकों में सर्वश्रेष्ठ था।" समीक्षा कीजिए।
3. "इब्राहीम लोदी के पतन का एक कारण उसका अपने अफगान सरदारों से संघर्ष था।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. अफगानों के राजत्व सिद्धान्त के बारे में आप क्या जानते हैं ? क्या आप समझते हैं कि वह लोदी सुल्तानों की सफलताओं में बाधक सिद्ध हुआ था ?
5. विभिन्न लोदी सुल्तान किस समय तक अपने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति पर अंकुश लगाने में सफल रहे ?
6. "बहलोल लोदी ने अपने अफगान सरदारों की विभिन्न जातियों के सदस्य होने के स्थान पर एक 'बिरादरी' के सदस्य बनने की भावना दी।" उपर्युक्त कथन के आधार पर बहलोल लोदी द्वारा अपने सरदारों के प्रति अपनायी गयी नीति का मूल्यांकन कीजिए।
7. "सिकन्दर लोदी अपने अफगान सरदारों को नियन्त्रण में रखने में लोदी शासकों में सबसे अधिक सफल रहा।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संक्षेप में बहलोल लोदी की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. एक शासक के रूप में बहलोल लोदी का मूल्यांकन कीजिए।
3. सिकन्दर लोदी की धार्मिक नीति पर प्रकाश डालिए।
4. सिकन्दर लोदी के कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. सिकन्दर लोदी का चरित्र-चित्रण कीजिए।
6. इब्राहीम की दुर्बलताओं का वर्णन कीजिए।
7. अफगान राजत्व सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।
8. इब्राहीम लोदी के शासनकाल में होने वाले सरदारों व सुल्तान के संघर्ष का वर्णन कीजिए।
9. इब्राहीम लोदी और बाबर के संघर्ष के कारण लिखिए।
10. एक शासक के रूप में इब्राहीम का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लोदी वंश के शासकों ने भारत पर शासन किया था—
   (अ) 55 वर्ष (ब) 65 वर्ष
   (स) 75 वर्ष (द) 85 वर्ष।
2. लोदी सुल्तानों की केन्द्रीकरण की नीति के अफगान सरदार विरोधी थे—
   (अ) अपनी स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति के कारण (ब) अपनी समानता की प्रवृत्ति के कारण
   (स) अपनी शौर्य की प्रवृत्ति के कारण (द) उपर्युक्त सभी कारणों से।
3. लोदी वंश का कौन-सा शासक इस वंश का संस्थापक था ?
   (अ) बहलोल लोदी (ब) सिकन्दर लोदी
   (स) दौलतखाँ लोदी (द) इब्राहीम लोदी।
4. मुहम्मदशाह सैयद ने बहलोल लोदी से किसके विरुद्ध सहायता की माँग की थी ?
   (अ) मालवा के शासक महमूद खलजी के विरुद्ध
   (ब) मल्लू इकबाल के विरुद्ध
   (स) नासिरुद्दीन के विरुद्ध
   (द) इनमें से कोई नहीं।
5. अफगान सरदारों के प्रति बहलोल लोदी की नीति थी—
   (अ) उत्पीड़न की (ब) तुष्टिकरण की
   (स) सम्मान की (द) 'ब' व 'स' दोनों की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. जौनपुर के शर्की राज्य के प्रति बहलोल लोदी की नीति थी—
(अ) दिल्ली राज्य समायोजन की (ब) स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की
(स) अधीनस्थ राज्य की (द) इनमें से कोई नहीं।

7. बहलोल लोदी ने जौनपुर के शासक हुसैनशाह के रनिवास की स्त्रियों व पत्नी को दो बार बन्दी बनाने के बाद उनसे व्यवहार किया—
(अ) सम्मानजनक (ब) अपमानजनक
(स) उत्पीड़न का (द) इनमें से कोई नहीं।

8. डॉ. के. एस. लाल ने निम्न कथन किस सुल्तान के लिए लिखा है, "मध्य युग के भारत में विजयी सुल्तान का यह व्यवहार अद्भुत था।"
(अ) दौलतखाँ लोदी के लिए (ब) बहलोल लोदी के लिए
(स) सिकन्दर लोदी के लिए (द) इब्राहीम लोदी के लिए।

9. बहलोल लोदी द्वारा प्रचलित सिक्कों को जाना जाता था—
(अ) टंका के नाम से (ब) बहलोली सिक्कों के नाम से
(स) लोदी सिक्कों के नाम से (द) जीतल के नाम से।

10. बहलोल का धार्मिक दृष्टिकोण था—
(अ) उदार (ब) उग्र
(स) कठोर (द) इनमें से कोई नहीं।

11. बहलोल की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए संघर्ष का मूल कारण था—
(अ) उत्तराधिकार के नियम का अभाव (ब) सरदारों के परस्पर द्वेष
(स) ईसाखाँ द्वारा तानाशाही पूर्ण व्यवहार (द) उपर्युक्त सभी।

12. सुल्तान बनने के बाद 'निजाम खाँ' उपाधि धारण की थी—
(अ) सुल्तान निजाम खाँ ने (ब) सुल्तान सिकन्दर लोदी ने
(स) सुल्तान सिकन्दरशाह ने (द) इनमें से किसी ने नहीं।

13. गद्दी पर बैठने के बाद सिकन्दरशाह ने सबसे पहले क्या कार्य किया ?
(अ) विरोधियों का दमन
(ब) अन्य सरदारों को सत्ता मानने के लिए बाध्य किया
(स) 'अ' व 'ब' दोनों
(द) इनमें से कोई नहीं।

14. 1504 ई. में राजस्थान के शासकों पर नियन्त्रण रखने के लिए आगरा को बसाया था—
(अ) बहलोल लोदी ने (ब) सिकन्दर लोदी ने
(स) दौलतखाँ लोदी ने (द) इब्राहीम लोदी ने।

15. सिकन्दर लोदी की न्याय-व्यवस्था आधारित थी—
(अ) समानता के सिद्धान्त पर (ब) असमानता के सिद्धान्त पर
(स) पक्षपात पर (द) इनमें से कोई नहीं।

16. शासक बनने के बाद उसने अपनी कट्टरता प्रदर्शित करने के लिए किया था—
(अ) मन्दिरों का विध्वंस (ब) मूर्तियों का खण्डन
(स) मस्जिदों का निर्माण (द) उपर्युक्त सभी।

17. सिकन्दर लोदी की मृत्यु हुई थी—
(अ) 21 नवम्बर, 1515 ई. को (ब) 21 नवम्बर, 1516 ई. को
(स) 21 नवम्बर, 1517 ई. को (द) 21 नवम्बर, 1518 ई. को।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18. सिकन्दर के काल में संस्कृत के ग्रन्थ का फारसी में 'फरहंगे सिकन्दरी' के नाम से अनुवाद किया गया। यह किस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ था ?
(अ) साहित्य (ब) आयुर्वेद
(स) ललित कला (द) इनमें से कोई नहीं।

19. सिकन्दर लोदी के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र इब्राहीम को दिल्ली का शासक घोषित किया गया और जलाल खाँ को बनाया गया था—
(अ) जौनपुर का शासक (ब) बदायूँ का शासक
(स) लाहौर का शासक (द) बनारस का शासक।

20. मेवाड़ अभियान में इब्राहीम को मिली थी—
(अ) विजय (ब) अपमान
(स) असफलता (द) 'ब' व 'स' दोनों।

21. जलाल के विद्रोह के अवसर पर सिकन्दर लोदी ने दण्डित किया था—
(अ) आजम हुमायूँ को (ब) फतह खाँ को
(स) मियाँ भुआ को (द) उपर्युक्त सभी को।

22. मियाँ भुआ और आजम हुमायूँ की मृत्यु के बाद इब्राहीम ने हुसैनखाँ करमूली को क्या दण्ड दिया ?
(अ) हत्या करवा दी (ब) कारावास में डाल दिया
(स) देश से निकाल दिया (द) इनमें से कोई नहीं।

23. 1526 ई. में इब्राहीम लोदी की मृत्यु किस शासक के विरुद्ध युद्ध करते समय हुई थी ?
(अ) जलाल खाँ से (ब) बाबर से
(स) हुसैन फरमूली से (द) आजम हुमायूँ से।

24. इब्राहीम लोदी की सबसे बड़ी दुर्बलता थी—
(अ) उसकी सैन्य अक्षमता (ब) उसका शंकालु स्वभाव
(स) उसकी हठी प्रवृत्ति (द) इनमें से कोई नहीं।

25. अफगानों के राजत्व सिद्धान्त का आधार था—
(अ) निरंकुशता (ब) असमानता
(स) स्वेच्छाचारिता (द) समानता।

26. बहलोल लोदी अपने सरदारों को कहता था—
(अ) परम मित्र (ब) मसनद-ए-अली
(स) बिरादर (द) इनमें से कोई नहीं।

27. अफगान सरदार इब्राहीम के क्यों विरोधी हो गये थे ?
(अ) उसकी निरंकुशता के कारण (ब) तुर्की राजत्व सिद्धान्त लागू करने के कारण
(स) शंकालु प्रवृत्ति के कारण (द) उपर्युक्त सभी।

[उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (अ), 4. (अ), 5. (द), 6. (अ), 7. (अ), 8. (द), 9. (ब), 10. (अ), 11. (द), 12. (स), 13. (स), 14. (ब), 15. (अ), 16. (द), 17. (स), 18. (ब), 19. (अ), 20. (द), 21. (द), 22. (अ), 23. (ब), 24. (स), 25. (द), 26. (ब), 27. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17

प्रान्तीय राज्य

[1]
कश्मीर

1301 ई. में सूहादेव ने कश्मीर में सुदृढ़ हिन्दू राज्य की स्थापना की। परन्तु उसकी पूर्वी एवं उत्तरी सीमाओं पर शत्रुओं ने आक्रमण किये तथा 1320 ई. में पश्चिमी तिब्बत के एक सरदार के पुत्र रिनचन ने उससे कश्मीर छीन लिया। रिनचन ने अपनी सेवा में शाहमीर नामक एक मुसलमान को रखा तथा उसकी योग्यता से प्रसन्न होकर उसे अपने बच्चों और पत्नी की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। रिनचन के पश्चात् उदयनदेव कश्मीर का शासक बना। 1338 ई. में उदयनदेव की मृत्यु के पश्चात उसकी पत्नी कोटा ने अपने बच्चों के अल्पायु होने के कारण शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली। परन्तु शाहमीर ने, जो उस समय तक पर्याप्त प्रभावशाली बन चुका था, उसे और उसके बच्चों को कैद करके 1339 ई. में राज्य पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'शम्सुद्दीनशाह' के नाम से कश्मीर का प्रथम मुस्लिम शासक बना। कालान्तर में शमसुद्दीन शाहमीर ने कोटा रानी से विवाह कर इन्द्राकोट में शाहमीर राज्य की स्थापना की।

शम्सुद्दीन ने केवल तीन वर्ष शासन किया। 1342 ई. में उसका सबसे बड़ा पुत्र जमसेद शासक बना। परन्तु उसके भाई अलाउद्दीन ने कुछ माह पश्चात् सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन ने प्रायः 12 वर्ष शासन किया। तत्पश्चात् उसका भाई शिहाबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। शिहाबुद्दीन ने 19 वर्ष शासन किया। उसने अपने शासनकाल में राजधानी को इन्द्राकोट से हटाकर 'अलाउद्दीनपुर' (श्रीनगर) में स्थापित किया। उसने सभी दिशाओं में युद्ध किये और सफलता प्राप्त की। पश्चिम में उसने पेशावर तक आक्रमण किया तथा गजनी और कन्धार तक उसका नाम विख्यात हो गया। दक्षिण में उसने सतलज नदी तक आक्रमण किया। इसके अतिरिक्त तिब्बत के राजा ने उससे मित्रता कर ली। परन्तु उसने यह आक्रमण लूट-मार के लिए किये, साम्राज्य-विस्तार के लिए नहीं। वह धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने कश्मीर-राज्य के सम्मान में वृद्धि की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कुतुबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। 1389 ई. में कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसका अल्पायु पुत्र सिकन्दर सिंहासन पर बैठा। सिकन्दर के समय में भारत पर 1398 ई. में तैमूर का आक्रमण हुआ। सिकन्दर का शासन सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टियों से गम्भीर परिवर्तनों वाला सिद्ध हुआ। उसके समय तक कश्मीर की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी तथा हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अत्यधिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहिष्णुता के थे। परन्तु सिकन्दर धर्मान्ध सिद्ध हुआ। उसने सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और सबसे प्रबल आक्रमण ब्राह्मणों पर किया। अनेक हिन्दुओं ने जहर खा लिया, कुछ कश्मीर छोड़कर भाग गये और अन्य बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान हो गये। हिन्दू-मन्दिरों और मूर्तियों को इतनी अधिक मात्रा में नष्ट किया गया कि सिकन्दर को 'बुतशिकन' की उपाधि दी गयी। जोनराजा ने लिखा है : "सुल्तान अपने सुल्तान के कर्तव्यों को भूल गया और दिन-रात उसे मूर्तियों को नष्ट करने में आनन्द आने लगा"""उसने मार्तण्ड, विश्य, इसाना, चक्रव्रत और त्रिपुरेश्वर की मूर्तियों को तोड़ दिया"""ऐसा कोई शहर, नहर, गाँव या जंगल बाकी न रहा जहाँ तुरुष्क सूहा (सिकन्दर) ने ईश्वर के मन्दिरों को न तोड़ा हो।" इस प्रकार सिकन्दर ने कश्मीर की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और उसके समय में बाहर से मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में कश्मीर आये। 1413 ई. में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र अलीशाह सिंहासन पर बैठा। उसके समय में उसके वजीर ने धार्मिक कट्टरता की नीति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया और सिकन्दर के बचे हुए कार्य की पूर्ति कर दी। अलीशाह अपने भाई से संघर्ष करते हुए खोक्खरों द्वारा पकड़ लिया गया और चदुरा नामक स्थान पर उसकी मृत्यु हुई।

1420 ई. में अलीशाह का भाई शाहीखाँ 'जैन-उल-अबीदीन' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसे 'बुदशाह' व महान् सुल्तान भी कहा जाता था। वह कश्मीर का सबसे महान् शासक हुआ। वह धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक सहिष्णु था। उसकी धार्मिक उदारता के कारण बहुत से इतिहासकारों ने उसकी तुलना मुगल बादशाह अकबर से की है। उसके समय में कश्मीर राज्य का अधिकतम विस्तार हुआ। गान्धार, सिन्ध, राजपुरी, लद्दाख, लेह आदि स्थान उसके अधिकार में हो गये और उसने खोक्खर नेता जसरथ की सहायता करते हुए जम्मू के मुसलमान शासक को भी परास्त किया। उसके समय में कश्मीर की भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति हुई। वह उदार और सुसभ्य शासक था। वह विद्वान था तथा फारसी, संस्कृत, तिब्बती और अन्य कई भाषाओं का ज्ञाता था। उसने हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, भागे हुए हिन्दुओं को कश्मीर बुलाया, मन्दिरों के निर्माण की आज्ञा दी, ब्राह्मणों को पुरस्कार देने आरम्भ किये और इस प्रकार पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने विभिन्न करों को हटाया, हिन्दुओं को जजिया से मुक्त किया, व्यापारियों को उचित मूल्यों पर वस्तुएँ बेचने के लिए बाध्य किया, चोरी-डकैती को बन्द किया तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था स्थापित की। गौ-हत्या निषिद्ध कर दी। हिन्दुओं की भावनाओं का आदर करते हुए सती प्रथा पर से प्रतिबन्ध हटा दिया। वूलर झील में जैना लेका नामक द्वीप का उसी ने निर्माण कराया। उसने 'महाभारत' और 'राजतरंगिनी' का फारसी में अनुवाद कराया, अनेक फारसी और अरबी ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद कराया तथा अनेक विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय दिया। वह 'कुतुब' उपनाम से फारसी में कविताएँ लिखता था। उसने शिकायतनामा ग्रन्थ की रचना की। वह विदेशों में भी प्रख्यात हुआ। दिल्ली, गुजरात, ग्वालियर, मक्का, मिस्र, खुरासान आदि के शासकों से उसके मधुर सम्बन्ध रहे। 1470 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। कश्मीरी लोगों ने इसे 'वुडशाह' (महान् नरेश) की उपाधि से सम्मानित किया। उसकी उदार नीतियों के कारण उसे 'कश्मीर का अकबर' और मूल्य नियंत्रण व्यवस्था के कारण 'कश्मीर का अलाउद्दीन खलजी' कहा जाता है।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हाजीखाँ 'हैदरशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसका शासन प्रायः एक वर्ष का रहा। वह अयोग्य था और उसने एक बार फिर धार्मिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असहिष्णुता की नीति की पुनरावृत्ति की। हैदरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हसनशाह सिंहासन पर बैठा। उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु वह अपने सरदारों को अधिकार में न रख सका और कश्मीर-राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

1540 ई. में बाबर का रिश्तेदार मिर्जा हैदर दोगलत गद्दी पर बैठा। उसने नाजुकशाह की उपाधि धारण की। 1551 ई. में कश्मीरी अमीरों ने उसे परास्त किया। किन्तु अमीरों का पारस्परिक संघर्ष पूर्ववत् चलता रहा। 1555 ई. में चक कबीले ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया जिसका अन्त 1586 ई. में कश्मीर को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित करके अकबर द्वारा किया गया।

दिल्ली-सल्तनत के समय में कश्मीर पर किसी भी दिल्ली-सुल्तान ने अधिकार नहीं किया। बाद में मुगल बादशाह अकबर ने उसे दिल्ली-राज्य में शामिल किया।

[2]
जौनपुर

बनारस के उत्तर-पश्चिम में 34 मील दूर जौनपुर नगर को फीरोज तुगलक ने बसाया था। जौनपुर-राज्य का संस्थापक मलिक सरदार फीरोज तुगलक के पुत्र सुल्तान मुहम्मद का दास था जो अपनी योग्यता से 1389 ई. में वजीर बना। सुल्तान महमूद ने उसे 'मलिक-उस-शर्क' की उपाधि दी। 1394 ई. में उसे दोआब के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया। उसने उस विद्रोह को ही नहीं दबाया अपितु अलीगढ़ से लेकर बिहार में तिरहुत तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। वह एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करता था यद्यपि उसने कभी सुल्तान का पद ग्रहण नहीं किया। तैमूर के आक्रमण के अवसर पर उसने दिल्ली सुल्तान को कोई सहायता नहीं भेजी। 1399 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पद के कारण उसका वंश शर्की-वंश कहलाया।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका गोद लिया हुआ पुत्र मुबारकशाह सिंहासन पर बैठा। उसने सुल्तान की उपाधि धारण की और अपने नाम का खुतबा पढ़वाया। सुल्तान महमूद तुगलक के शक्तिशाली वजीर मल्लू इकबालखाँ ने जौनपुर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1402 ई. में मुबारकशाह की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई इब्राहीम 'शम्सुद्दीन इब्राहीमशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने स्वयं सिराज-ए-हिन्द की उपाधि धारण की। उसके समय में दिल्ली और जौनपुर के सम्बन्धों में कटुता आ गयी। उसके सम्बन्ध महमूद तुगलक से ही नहीं अपितु सैयद-शासक खिज्रखाँ और मुबारकशाह से भी खराब रहे जिसका मुख्य कारण दोनों राज्यों की विस्तारवादी नीति थी। परन्तु इस संघर्ष का कोई परिणाम न निकला। इब्राहीमशाह ने बंगाल को भी जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से उसका समय महत्वपूर्ण रहा। उसके समय में जौनपुर उत्तर-भारत का एक महान् सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। उसके दरबार में अनेक विद्वान आश्रय पाते थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रसिद्ध अटाला मस्जिद जो अब जौनपुर ढंग की शिल्प विद्या के देदीप्यमान नमूने के रूप में खड़ी है, 1408 ई. में इब्राहीम शर्की के काल में पूरी हुई। उसने जौनपुर को एक सुन्दर नगर बनाया तथा उसके समय में स्थापत्य-कला में एक नवीन शैली—जौनपुर अथवा शर्की-शैली—का जन्म हुआ। 1440 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। महमूदशाह ने चुनार के किले को जीता परन्तु कालपी के किले को जीतने में असफल रहा। उसने एक आक्रमण दिल्ली-राज्य पर भी किया परन्तु बहलोल लोदी ने उसे परास्त कर दिया। सुल्तान इब्राहीम के समय से चली आ रही दिल्ली तथा जौनपुर राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता उसके समय में तीव्र हो गयी। उसके पुत्र मुहम्मदशाह ने भी बहलोल लोदी से संघर्ष किया परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। मुहम्मदशाह के भाई ने उसका वध कर दिया और वह हुसैनशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। हुसैनशाह के समय में दिल्ली व जौनपुर में जीवन और मृत्यु का संघर्ष चला जिसमें अन्त में हुसैनशाह की पराजय (1479 ई.) हुई। वह पहले बिहार भाग गया और बाद में सिकन्दर लोदी के समय में बंगाल में शरण लेने के लिए बाध्य हुआ।

जौनपुर का राज्य दिल्ली-सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर एक स्वतन्त्र राज्य बना था और प्रायः 75 वर्ष की स्वतन्त्र सत्ता के पश्चात् पुनः दिल्ली-सल्तनत का भाग बन गया। शर्की शासन के अन्तर्गत विशेषकर इब्राहीम शाह के समय में जौनपुर में साहित्य एवं स्थापत्य कला के क्षेत्र में हुए विकास के कारण जौनपुर को 'भारत का शिराज़' कहा जाता था।

[3]
बंगाल

बंगाल और बिहार को दिल्ली-सल्तनत में सम्मिलित करने का श्रेय इख्तियारुद्दीन मुहम्मद-बिन बख्तियार खलजी को था परन्तु बंगाल दिल्ली से इतनी अधिक दूर था कि वहाँ के शासक प्रायः स्वतन्त्र रहे। बलबन के समय में तुगरिलखाँ ने विद्रोह किया परन्तु उसे दबा दिया गया और बंगाल दिल्ली-सल्तनत के अधीन हो गया। बलबन के पुत्र बुगराखाँ को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। परन्तु बलबन की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी कैकुबाद ने अपने पिता बुगराखाँ को बंगाल में प्रायः स्वतन्त्र शासक मान लिया और बुगराखाँ ने सुल्तान नासिरुद्दीन की उपाधि ग्रहण कर ली। परन्तु दिल्ली में खलजी-वंश की स्थापना हो जाने पर उसने 1291 ई. में अपने पुत्र रुकनुद्दीन कैकौस को सिंहासन सौंप दिया। रुकनुद्दीन ने 1301 ई. तक बंगाल और बिहार पर एक स्वतन्त्र शासक की भाँति राज्य किया परन्तु बाद में बिहार के सूबेदार शम्सुद्दीन फीरोजशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और इन सूबों पर अपना आधिपत्य कर लिया। फीरोज ने इस राज्य का विस्तार किया और असम से सिलहट तक के क्षेत्र को जीत लिया। 1322 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके जीवन-काल में ही उसके पुत्र उससे संघर्षरत थे और जब उसकी मृत्यु हो गयी तो उसके पुत्र गियासुद्दीन बहादुरशाह ने नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन को छोड़कर अपने सभी भाइयों का वध करा दिया। नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन ने दिल्ली-सल्तनत गियासुद्दीन तुगलक से सहायता माँगी। गियासुद्दीन तुगलक ने बंगाल पर आक्रमण किया और गियासुद्दीन बहादुरशाह को कैद करके दिल्ली ले गया। उत्तरी बंगाल नासिरुद्दीन को दे दिया गया जिसकी राजधानी लखनौती थी तथा दक्षिण और पूर्वी बंगाल को दिल्ली-साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने गियासुद्दीन बहादुरशाह को अपने शासनकाल के आरम्भ में छोड़ दिया और उसे अपने सूबेदार के साथ पूर्वी बंगाल का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् उसने विद्रोह किया और सम्पूर्ण बंगाल को दिल्ली-राज्य में शामिल कर लिया गया। कुछ वर्षों तक बंगाल में शान्ति रही परन्तु 1337-38 ई. में वहाँ पुनः विद्रोह हो गया। उस विद्रोह को फखरुद्दीन ने दबाया परन्तु जब उसे मुहम्मद तुगलक से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई तो उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं को 'फखरुद्दीन मुबारकशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल पुनः एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। उसके पश्चात् बंगाल दिल्ली-सल्तनत की अधीनता में न आ सका। 1345-46 ई. में शम्सुद्दीन इलियासशाह ने सम्पूर्ण बंगाल को अपने अधिकार में कर लिया। 1375 ई. में शम्सुद्दीन इलियास की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर सुल्तान बना। उसने पाण्डुआ में अदीना मस्जिद का निर्माण करवाया। उसके पश्चात् गियासुद्दीन आजमशाह बंगाल का शासक बना जो अपनी न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध था और प्रसिद्ध फारसी कवि 'हाजिफ शीरजी' एवं अनेक विद्वानों से उसका सम्पर्क था। 1410 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् हिन्दू जमींदार राना गणेश ने 1415 ई. में बंगाल पर अधिकार कर लिया, जिसे फारसी पाण्डुलिपियों में 'केस' नाम से जाना जाता है। उसने दनुजमर्दन की उपाधि धारण की थी। 1418 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। इसी वर्ष उसके पुत्र पाण्डुआ और चटगाँव से 'चण्डी के उपासक महेन्द्रदेव' नामक राजा द्वारा बंगला अक्षरांकित सिक्के चलाये गये।

बंगाल के अमीरों ने 1493 ई. में अलाउद्दीन हुसैनशाह को बंगाल की गद्दी पर बैठाया। चैतन्य महाप्रभु अलाउद्दीन के समकालीन थे। उसने 'सतदीरे' नामक आन्दोलन की शुरूआत की। अहोमो के सहयोग से सुल्तान ने कामता राजा को नष्ट किया। हिन्दू लोग उसे कृष्ण का अवतार मानते थे। उसने 'नृपति तिलक' एवं 'जगत् भूषण' आदि उपाधियाँ धारण कीं। उसके समय में पालधर बसु ने 'श्रीकृष्ण विजय' की रचना की और 'गुणराज खान' की उपाधि धारण की। 1518 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् अलाउद्दीन का पुत्र नसीबखाँ नासिरुद्दीन नुसरतशाह की उपाधि से सिंहासन पर बैठा। उसके समय में बंगला भाषा में अनुवाद करवाया गया। उसने गौड़ में बड़ा सोना एवं 'कदम रसूल मस्जिद' का निर्माण करवाया। 1533 ई. में नुसरत शाह की मृत्यु हो गयी। इस वंश का अन्तिम शासक गियासुद्दीन महमूदशाह को 1538 ई. में शेरशाह ने बंगाल से भगाकर समूचे बंगाल पर अधिकार कर लिया।

इसके बाद शेरशाह सूर ने बंगाल को दिल्ली साम्राज्य का भाग बनाया और तत्पश्चात् अकबर ने उसे मुगल साम्राज्य का अंग बनाया।

[4]

गुजरात

अलाउद्दीन खलजी ने राजा कर्ण (रायकरन) को परास्त करके 1297 ई. में गुजरात को दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया। उसके पश्चात् 1401 ई. तक वह दिल्ली-सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) रहा। 1391 ई. में मुहम्मदशाह तुगलक ने जफरखाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। उसने तैमूर के आक्रमण के पश्चात् उत्पन्न हुई दिल्ली-सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया, यहाँ तक कि जब सुल्तान महमूद तुगलक गुजरात में शरण प्राप्त करने के लिए गया तब उसने उसका यथोचित सत्कार भी नहीं किया। जफरखाँ (उसे 'मुजफ्फरखाँ' की उपाधि दी गयी थी) को उसके पुत्र तातारखाँ ने कुछ समय के लिए कारागार में डाल दिया परन्तु शीघ्र ही उसके चाचा शम्सखाँ ने उसे जहर देकर मार दिया और जफरखाँ को मुक्त कर दिया। उसके पश्चात् 1407 ई. में जफरखाँ ने स्वयं को 'सुल्तान मुजफ्फरशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मुजफ्फरशाह ने मालवा के शासक हुसंगशाह को परास्त करके उसकी राजधानी धार पर अधिकार किया यद्यपि बाद में उसने उसे उसका राज्य वापस कर दिया। 1411 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र तातारखाँ का पुत्र अहमद 'अहमदशाह' के नाम से सुल्तान बना। उसने प्रायः 32 वर्ष शासन किया और गुजरात के अधीनस्थ राजाओं एवं राजपूताना, मालवा और दक्षिण-भारत के पड़ौसी राज्यों से निरन्तर संघर्ष किया। वह एक सफल शासक था और उसने नव-स्थापित अहमदाबाद नगर को अपनी राजधानी बनाया। 1443 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अहमदशाह ने इस्लामी और गुजरात की जैन स्थापत्य कला का समन्वय करके, अनेक भव्य मस्जिदों, खानकाहों, मदरसों आदि का निर्माण कराया। अहमदाबाद में उसके द्वारा बनवायी गयी जामा मस्जिद प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र मुहम्मदशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। 1451 ई. में मुहम्मदशाह द्वितीय की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः कुतुबुद्दीन अहमदशाह और दाऊदखाँ शासक हुए। परन्तु वे दोनों दुर्बल सिद्ध हुए। कुतुबुद्दीन ने 1451-1458 ई. तक शासन किया परन्तु दाऊदखाँ का शासन केवल कुछ दिनों का ही रहा। उसकी अयोग्यता के कारण उसके सरदारों ने उसे गद्दी से उतारकर 1458 ई. में फतहखाँ को सिंहासन पर बैठा दिया। उसने 'अबुल-फतह महमूद' की उपाधि ग्रहण की, यद्यपि इतिहास में वह महमूद बेगड़ा के नाम से विख्यात हुआ।

महमूद बेगड़ा (1458-1511 ई.) अपने वंश का महानतम शासक माना गया। उसने उन विद्रोही अमीरों का दमन किया जो उसके भाई हसनखाँ को गद्दी पर बैठाने के उत्सुक थे। महमूद ने गुजरात के स्वतन्त्र और विरोधी हिन्दू-राजाओं को परास्त किया, मालवा के विरुद्ध बहमनी-राज्य की सहायता की, सिन्ध के हिन्दू विद्रोहियों को दबाने में अपने नाना जामनन्दा की सहायता की, द्वारिकापुरी पर आक्रमण किया तथा अन्य अनेक युद्ध किये। परन्तु उसकी मुख्य विजयें चम्पानेर और गिरनार के दृढ़ किलों की थीं जिसके कारण वह बेगड़ा के नाम से पुकारा जाने लगा। उसने गिरिनार पहाड़ियों की तलहटी में मुस्तफाबाद नामक नगर की स्थापना की। उसमें अपने पिता की तरह सैनिक प्रतिभा व सैनिक निपुणता नहीं थी। वह अत्यन्त विलासी और कामुक होने के साथ-साथ इतना उदार था कि लोग साधारणतः उसे 'जरबख्श' अर्थात् "स्वर्ण दान करने" वाला कहते थे। अपने मृदुल स्वभाव के कारण उसने करीम की उपाधि अर्जित की। उसने सिद्धपुर के मन्दिरों का विनाश किया। हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया जो गुजरात में पहले कभी नहीं लगा था। कहा जाता है कि वह एक विद्वान भी था। मिस्र के प्रसिद्ध विद्वान् बद्र-उद-दीन-दमामीनी जिसने अहमदशाह के शासनकाल में गुजरात की यात्रा की, लिखा है कि "वह सुल्तानों में विद्वान और विद्वानों का सुल्तान था।" महमूद बेगड़ा एक योद्धा, विजेता और महान शासक सिद्ध हुआ। उसके समय में गुजरात एक शक्तिशाली, ऐश्वर्यपूर्ण और सम्पन्न राज्य बना। उसके समय में ललित-कलाओं और साहित्य की प्रगति हुई। महमूद का केवल एक दोष था। वह धर्मान्ध था और अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुता का था। महमूद ने मिस्र के शासक के जल-बेड़े की सहायता लेकर पुर्तगालियों से युद्ध किया। परन्तु वह सफल न हुआ तथा पुर्तगाली गुजरात के समुद्र-तट पर प्रभावशाली रहे।

महमूद बेगड़ा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खलीलखाँ 'मुजफ्फरशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने मेदिनीराय के विरुद्ध मालवा के शासक महमूद खलजी की सहायता की और उसकी शक्ति को माँडू में स्थापित करने में सफलता पायी यद्यपि चन्देरी पर मेदिनीराय का ही अधिकार रहा। उसका मुख्य झगड़ा मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से रहा जो मेदिनीराय और निकट के राजपूत राजाओं की सहायता कर रहा था। परन्तु उसे राणा संग्रामसिंह के विरुद्ध कोई सफलता न मिल सकी। अप्रैल 1526 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके पश्चात् सिकन्दर और महमूद द्वितीय नामक दो अयोग्य शासक हुए परन्तु उन्होंने केवल कुछ माह ही शासन किया। जुलाई 1526 ई. में बहादुरशाह शासक बना। उसने 1531 ई. में मालवा को जीतकर गुजरात में सम्मिलित कर लिया और चित्तौड़ को लूटा। इस प्रकार उसका समय गुजरात की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा परन्तु उसका झगड़ा मुगल बादशाह हुमायूँ से हुआ जिसने एक बार मालवा और गुजरात को जीतने में सफलता प्राप्त की। हुमायूँ के वापस लौट जाने पर वह मालवा और गुजरात को पुनः जीत सका परन्तु 1537 ई. में पुर्तगालियों ने उसे धोखे से मार डाला। उसके पश्चात् गुजरात में दुर्बल शासक हुए। अन्त में, 1572 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने गुजरात को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

[5]

मालवा

अलाउद्दीन खलजी ने मालवा को दिल्ली-सल्तनत का अंग बनाया था। 1390 ई. में फीरोज ने दिलावरखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। तैमूर के आक्रमण के अवसर पर सुल्तान महमूद तुगलक ने पहले गुजरात में और उसके पश्चात् मालवा में शरण ली। उसके वापस जाने के उपरान्त 1401 ई. में दिलावर ने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र शासक बना लिया यद्यपि उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। 1405 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अलपखाँ ने 'हुसंगशाह' की उपाधि ग्रहण की और स्वयं को सुल्तान घोषित किया। उसने हिन्दुओं के प्रति उदारतापूर्ण नीति का अनुसरण किया। वह सूफी सन्त शेख बुहरानुद्दीन का शिष्य था जिसके कारण उसके संरक्षण में अनेक सूफी सन्त मालवा की ओर आकर्षित हुए। गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह ने मालवा पर आक्रमण किया और हुसंगशाह को कैद कर लिया। परन्तु मालवा में विद्रोह हो जाने पर उसने हुसंगशाह को ही उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। हुसंगशाह ने एक बार फिर मालवा पर अधिकार कर लिया और माँडू को, जिसको उसने स्वयं बसाया था, अपनी राजधानी बनाया। हुसंगशाह ने निरन्तर गुजरात के शासक अहमदशाह (जो मुजफ्फरशाह की मृत्यु के पश्चात् सुल्तान बना) से युद्ध किया और गुजरात पर कई आक्रमण किये। अहमदशाह ने भी अवसर पाकर मालवा पर आक्रमण किये परन्तु मालवा और गुजरात के उन युद्धों का कोई विशेष लाभ न निकला। उसका ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न सैयद-शासक मुबारकशाह के कारण असफल रहा। उसने कालपी को जीता और उड़ीसा के हिन्दू राज्यों में भी लूटमार की यद्यपि वह उन्हें जीत न सका। इस प्रकार हुसंगशाह ने अपने समय में निरन्तर युद्ध किये। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था परन्तु पड़ौस में शक्तिशाली राज्यों की उपस्थिति के कारण वह राज्य-विस्तार करने में असफल रहा। 1435 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र गाजी खाँ 'मुहम्मदशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। वह एक अयोग्य शासक था और एक वर्ष पश्चात् उसके वजीर महमूदखाँ ने उसे हटाकर सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'महमूदशाह' की उपाधि ग्रहण की।

महमूदशाह (1436-1469 ई.) ने मालवा में खलजी-वंश की नींव डाली और वह मालवा के शासकों में योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। उसने गुजरात, दिल्ली, बहमनी और मेवाड़ के राज्यों से युद्ध किये। उसने अपने राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की और मिस्र के खलीफा ने उसे सुल्तान स्वीकार कर लिया। मेवाड़ के साथ राणा कुम्भा से हुए युद्धों में दोनों शासकों ने अपनी-अपनी विजय का दावा किया। राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में 'विजय स्तम्भ' बनवाया और महमूद खलजी ने माण्डू में सात मंजिलों वाला स्तम्भ स्थापित किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके व्यापार को बढ़ावा देने के लिए जैन पूँजीपतियों को संरक्षण प्रदान किया। प्रजा के स्वास्थ्य के लिए माण्डू में एक चिकित्सालय की तथा शिक्षा के लिए एक आवासीय महाविद्यालय की भी स्थापना की। महमूदशाह एक उदार, न्यायप्रिय और विद्वान शासक था परन्तु वह धर्मान्ध था और उसने हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी।

1469 ई. में महमूदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गियासुद्दीन सिंहासन पर बैठा। वह आरामपसन्द शासक था और उसने अपने पड़ौसी राज्यों के साथ शान्ति की नीति अपनायी। उसने मेवाड़ पर दो बार आक्रमण किये परन्तु दोनों ही बार असफल रहा। उसके समय में गुजरात ने चम्पानेर को जीत लिया और वह कुछ न कर सका। वह धर्मपरायण और धर्मान्ध शासक सिद्ध हुआ। उसके चरित्र के सम्बन्ध में अन्तर्विरोध है। वह बाह्य दृष्टि से तो धार्मिक जीवन व्यतीत करता था किन्तु आन्तरिक दृष्टि से नितान्त इन्द्रिय-लोलुप था। उसके महल में 16,000 दासियाँ थीं जिनमें से अनेक हिन्दू सरदारों की पुत्रियाँ थीं। उसने इथोपियाई एवं तुर्की दासियों की एक अंगरक्षक सेना नियुक्त की थी। सम्भवतया, 1500 ई. में उसके पुत्र ने उसको जहर देकर मरवा दिया और स्वयं 'नासिरुद्दीनशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। नासिरुद्दीन एक क्रूर शासक था। 1511 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा पुत्र आजम हुमायूँ 'महमूदशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। महमूदशाह द्वितीय के समय में हिन्दू और मुसलमान सरदारों में सत्ता के लिए संघर्ष हुआ तथा मेदिनीराय के प्रभाव को नष्ट करने के लिए उसने गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह द्वितीय की सहायता ली परन्तु मेदिनीराय ने मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त कर उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। महमूद की गुजरात के शासक बहादुरशाह से भी शत्रुता थी जिसके कारण बहादुरशाह ने 1531 ई. में मालवा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। बाद में महमूदशाह मारा गया। उस समय से मालवा गुजरात-राज्य का भाग बना रहा। बादशाह अकबर ने इसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित किया।

[6]
मेवाड़ (आधुनिक उदयपुर)

अलाउद्दीन खलजी ने मेवाड़ को जीतकर दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया। राणा रतनसिंह गुहिलौत राजपूत-वंश का था। उसके पश्चात् उसी वंश की एक शाखा सीसोदिया-वंश के शासक लक्ष्मण सिंह ने अपने सात पुत्रों सहित चित्तौड़ की रक्षा में जान गवाँ दी। उसका केवल एक पुत्र अजयसिंह राजवंश की सुरक्षा के लिए अरावली की पहाड़ियों में जा छिपा। 1314 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े भाई का पुत्र हम्मीरदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। हम्मीरदेव ने अपने साहस और कौशल से मेवाड़ राज्य की पुनः स्थापना की। हम्मीर ने अलाउद्दीन के समय में मेवाड़ को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल न हुआ। परन्तु उसके आक्रमणों के कारण शाहजादा खिज्रखाँ मेवाड़ छोड़ने के लिए बाध्य हुआ और मालदेव को मेवाड़ का सूबेदार नियुक्त किया गया। सम्भवतया, मुहम्मद तुगलक के बाद के समय में हम्मीरदेव ने चित्तौड़ को जीत लिया और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड़ स्वतन्त्र हो गया। इतिहासकारों के बहुमत के अनुसार हम्मीर ने 64 वर्ष शासन किया। हम्मीरदेव के पश्चात् उसका पुत्र क्षेत्रसिंह (1378-1405 ई.) मेवाड़ का शासक बना। वह अपने पिता की भाँति ही योग्य था और उसने राज्य का विस्तार किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र लक्खा गद्दी पर बैठा। उसने मारवाड़ के राठौर-राजवंश की पुत्री से विवाह करके अपनी शक्ति को दृढ़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मोकल (1420 ई.) गद्दी पर बैठा। उसके समय में उसके मामा रानमल ने मारवाड़ को अपने आधिपत्य में किया और नागौर को जीता। उसने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, एकलिंग मन्दिर के चारों ओर परकोटे का निर्माण कराया, माना, फन्ना एवं विशाल नामक प्रसिद्ध शिल्पकारों एवं कविराज वानी विलास तथा योगेश्वर नामक दो विद्वानों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। 1433 ई. में मोकल जब गुजरात के शासक के विरुद्ध युद्ध करने गया तो उसका वध कर दिया गया।

इस आन्तरिक फूट के अवसर पर मालवा और गुजरात के शासकों ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। परन्तु रानमल ने मेवाड़ की सहायता की, अपने प्रपौत्र और मोकल के पुत्र कुम्भकरण (राणा कुम्भा) को गद्दी पर बैठाया, मालवा और गुजरात के शासकों को वापस जाने के लिए बाध्य किया तथा विद्रोही सरदारों को दबाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मेवाड़ में रानमल के प्रभुत्व से कुछ राजपूत सरदार ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने राणा लक्खा के पुत्र चूँड़ा (जो बहुत पहले मालवा चला गया था) के साथ मिलकर 1438 ई. में रानमल का वध कर दिया, परिणामस्वरूप मारवाड़ और मेवाड़ की शत्रुता आरम्भ हुई। इस कारण राणा कुम्भा के प्रारम्भिक वर्ष बड़ी कठिनाई में गुजरे। परन्तु राणा कुम्भा यशस्वी राणा सिद्ध हुआ। उसने अधिकांश मारवाड़ को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और अपने प्रमुख शत्रु मालवा-राज्य को भी कई युद्धों में परास्त किया। मालवा के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उसने 1448 ई. में चित्तौड़ में कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण कराया जिसे 'हिन्दू देवशास्त्र का चित्रित कोश' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, उसने मेवाड़ में अनेक महल, मन्दिर और किलों का निर्माण कराया। जिसे 'हिन्दू देवशास्त्र का चित्रित कोश' कहा गया है। राणा कुम्भा को अनेक युद्ध करने पड़े। मारवाड़ के राठौरों के अतिरिक्त उसके मुख्य शत्रु मालवा और गुजरात के शासक थे जिन्होंने सम्मिलित होकर उसकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे असफल रहे। मध्य-युग के शासकों में राणा कुम्भा एक महान् शासक था। अनेक युद्धों में व्यस्त रहते हुए भी उसने साहित्य, ललित-कलाओं आदि की उन्नति की। वह स्वयं विद्वान था और वेद, स्मृति, मीमांसा, उपनिषद, व्याकरण, राजनीति व साहित्य का ज्ञाता था। उसने चार स्थानीय भाषाओं में चार नाटकों की रचना की थी और जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' पर रसिकप्रिया नामक टीका लिखी थी। वह एकलिंग महात्म्य के अन्तिम अध्याय का रचयिता था। उसने सुप्रसिद्ध वास्तुविद् सूत्रधार मण्डन को संरक्षण दिया। उसे संगीत से प्रेम था और उसने उस पर तीन पुस्तकें लिखी थीं। उसके समय में स्थापत्य-कला की विशेष उन्नति हुई। उसने मेवाड़ के 84 किलों में से 32 किलों को बनवाया, चित्तौड़ के किले को दृढ़ किया तथा कुम्भलगढ़ के नवीन नगर और किले में अनेक शानदार इमारतें बनवायीं। जब उसके समय की पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो जायेगी तब सम्भवतया उसे मध्य-युग के महानतम शासकों में स्थान प्रदान करने में इतिहासकारों को कोई आपत्ति नहीं होगी। परन्तु राज्य के लोभवश उसके पुत्र उदय ने राणा कुम्भा का वध करा दिया (1473 ई.)।

सरदारों के विरोध के कारण उदय अधिक समय तक शासन न कर सका और उसके छोटे भाई रायमल ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। रायमल को मुख्यतया अपने विद्रोही सरदारों, मालवा के शासकों और जंगली जातियों से संघर्ष करना पड़ा। रायमल ने 36 वर्ष (1473-1509 ई.) शासन किया। वह एक सफल शासक रहा। परन्तु उसके अन्तिम समय में उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष हुआ जिसके कारण वह पागल हो गया और बाद में मर गया। उसके सबसे बड़े पुत्र पृथ्वीराज को जहर देकर मारा गया, दूसरा पुत्र जयमल एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी से द्वन्द्व-युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ तथा तीसरे पुत्र जयसिंह को सरदारों ने राणा मानने से इंकार कर दिया। तब राणा संग्राम सिंह (राणा साँगा जो अपने भाइयों से लड़कर मालवा चला गया था) को सिंहासन पर बैठाया गया। राणा साँगा (1509-1528 ई) एक महत्वाकांक्षी और युद्धप्रिय शासक सिद्ध हुआ। उसने पड़ौस के दिल्ली, मालवा और गुजरात के राज्यों से युद्ध किये, अपने राज्य का विस्तार किया तथा राजस्थान के प्रायः सभी राज्यों को अपने अधीन कर लिया अथवा उनका समर्थन प्राप्त कर लिया। वह दिल्ली को जीतने के लिए भी उत्सुक था। उसने 1527 ई. में मुगल बादशाह बाबर से खानवा का युद्ध किया जिसमें उसकी पराजय हुई और थोड़े समय के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उपरान्त मेवाड़ की शक्ति दुर्बल हो गयी और अन्त में जहाँगीर के समय में मेवाड़ ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

[7]

मारवाड़ (आधुनिक जोधपुर)

मारवाड़ के राठौर प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे। निकट के मुसलमान और राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए अन्त में चुन्द (1394-1421 ई) ने आधुनिक मारवाड़ राज्य की नींव डाली और आधुनिक जोधपुर को अपनी राजधानी बनाया। चुन्द ने अपनी पुत्री का विवाह मेवाड़ के वृद्ध शासक लक्खा से करके अपने प्रभाव में वृद्धि की। चुन्द का सबसे बड़ा पुत्र रानमल था परन्तु वह अपने पिता की आज्ञा से अपने राज्य को छोड़कर मेवाड़ चला गया। चुन्द के पश्चात् कान्हा और कान्हा के पश्चात् सता मारवाड़ का शासक बना। सता प्रायः अन्धा था। रानमल ने सता को हटाकर मारवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। रानमल ने राणा कुम्भा की उसके प्रारम्भिक वर्षों में बहुत सहायता की परन्तु मेवाड़ के सरदारों ने उसका वध कर दिया। उस समय से मेवाड़ और मारवाड़ में शत्रुता प्रारम्भ हो गयी। रानमल के पुत्र जोधा को मेवाड़ से संघर्ष करना पड़ा। बाद में मालवा और गुजरात के शासकों से युद्ध करते हुए राणा कुम्भा ने जोधा के साथ समझौता करना उपयुक्त समझा और जोधा ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। उसने जोधपुर के दुर्ग का निर्माण कराया, वहाँ पर एक नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया। जोधा के 17 पुत्र थे। 1488 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उनमें संघर्ष हुआ। उसके जीवित रहते हुए भी उसके पुत्रों ने सातल, बीकानेर, मेड़ता आदि में अपने-अपने अर्ध-स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। परन्तु अन्त में सरदारों की सम्मति से पहले सातल और उसकी मृत्यु के पश्चात् सुजा मारवाड़ का शासक बना। परन्तु जोधा के पुत्र विका ने बीकानेर में अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली और मेड़ता भी मारवाड़ के अधीन न रहा। मेवाड़ के पतन के पश्चात् मारवाड़ को प्रगति का अवसर प्राप्त हुआ और वह राजपूताना का प्रमुख राज्य बन गया। शेरशाह के समय में मारवाड़ का शक्तिशाली शासक मालदेव था। अकबर के समय में मारवाड़ ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

[8]

खानदेश (दक्षिण-भारत)

खानदेश के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् सूबेदार मलिक राजा फारुकी ने की। ताप्ती नदी की घाटी में स्थित खानदेश राज्य कभी भी बहुत शक्तिशाली राज्य न बन सका। खानदेश की राजधानी बुरहानपुर थी तथा असीरगढ़ का किला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक शक्तिशाली सैनिक अड्डा था। इस वंश के सभी शासकों ने खान की उपाधि धारण की जिसके कारण उसे खानदेश कहा जाने लगा। निकट के बहमनी-राज्य से निरन्तर उसका संघर्ष रहता था और समय-समय पर उसे मालवा और गुजरात के शासकों की सहायता लेनी पड़ती थी। अधिकांश समय खानदेश के शासकों ने गुजरात के शासकों की अधीनता को स्वीकार किया जिनसे उसके विवाह-सम्बन्ध थे। 1601 ई. में मुगल बादशाह अकबर ने उसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

[9]

बहमनी-राज्य (दक्षिण-भारत)

मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया और दौलताबाद पर अधिकार करके हसन नामक एक सरदार को सुल्तान चुना। वह 1347 ई. में 'अबुल हसल मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा और उसने बहमनी राज्य की नींव डाली। बहमनशाह ने अपने को ईरान के इस्फन्दियार के बहादुर पुत्र बहमन का वंशज बताया था जबकि फरिश्ता के अनुसार वह आरम्भ में एक ब्राह्मण गंगू का नौकर था जिसने अपने कृपालु मालिक का सम्मान करने की दृष्टि से शासक बनने पर 'बहमनशाह' की उपाधि ग्रहण की थी। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों में से अधिकांश फरिश्ता के इस विचार को स्वीकार नहीं करते। बहमनी-राज्य दक्षिण का एक महत्वपूर्ण राज्य बना। दक्षिण-भारत के पर्याप्त बड़े भाग पर प्रायः 200 वर्ष तक उसकी सत्ता रही।

बहमनशाह एक योग्य शासक था और उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया तथा उसका नाम अहमदाबाद रखा। उसने न केवल अपने साम्राज्य को दृढ़ किया, बल्कि उसका विस्तार भी किया। उसका राज्य उत्तर में वानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में दौलताबाद से लेकर भोंगिरी तक फैला हुआ था। उसके समय में उसके राज्य के दक्षिण-पूर्व में वारंगल और दक्षिण-पश्चिम में विजयनगर के हिन्दू-राज्यों की स्थापना हुई। उसने वारंगल के शासक कापय नायक को वार्षिक कर देने और कौलास का किला छोड़ देने के लिए बाध्य किया। बहमनशाह एक कुशल शासन-प्रबन्धक भी था। उसने दक्षिण के हिन्दू शासकों को अपने अधीन किया तथा अपने अनुयायियों को पद और जागीर प्रदान करने की नयी प्रथा आरम्भ की। उसने हिन्दुओं से जजिया न लेने का आदेश दिया। उसने अपने राज्य को चार सूबों (तर्फों) में बाँटा। गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर उसकी प्रान्तीय राजधानियाँ थीं। एक सुसंगठित राज्य स्थापित करने के पश्चात् 1358 ई. में बहमनशाह की मृत्यु हुई।

बहमनशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मुहम्मदशाह प्रथम (1358-1375 ई.) गद्दी पर बैठा। मुहम्मदशाह के समय की मुख्य घटना वारंगल और विजयनगर के हिन्दू-राजाओं से युद्ध थी। इस काल में बारूद का प्रयोग पहली बार हुआ जिससे रक्षा संगठन में एक नयी क्रान्ति पैदा हुई। सम्भवतया वारंगल के शासक कापय नायक और विजयनगर के शासक बुक्का ने परस्पर समझौता कर लिया था जिसके अनुसार कापय ने मुहम्मद से कौलास के किले की और बुक्का ने उससे कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के दोआब (रायचूर) की माँग की। मुहम्मद ने उन दोनों से युद्ध किया। वह कापय नायक के विरुद्ध अधिक सफल रहा। उसने गोलकुण्डा का किला उससे छीन लिया। तब से उस किले को दोनों राज्यों की सीमा मान लिया गया। परन्तु विजयनगर-राज्य से हुए समझौते में सम्भवतया यह मान लिया गया कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों राज्य एक-दूसरे के युद्धबन्दियों को कत्ल नहीं करेंगे और एक-दूसरे की निःशस्त्र प्रजा को नहीं मारेंगे। मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन मुजाहिद गद्दी पर बैठा। उसने निरन्तर तीन वर्ष तक विजयनगर-राज्य से युद्ध किया। एक अवसर पर वहाँ से वापस आते हुए उसके चचेरे भाई दाऊदखाँ ने उसका वध कर दिया (1378 ई.)। परन्तु विद्रोही अमीरों ने एक माह में ही दाऊदखाँ का वध कर दिया और उसके एक भाई को 'मुहम्मद द्वितीय' के नाम से सिंहासन पर बैठाया। आन्तरिक संघर्ष के उस समय में विजयनगर-राज्य ने बहमनी-राज्य के पश्चिमी तट की कुछ सीमाओं पर अधिकार कर लिया। परन्तु मुहम्मद द्वितीय ने विजयनगर से युद्ध नहीं किया। वह शान्तिप्रिय शासक था। वह विद्वान था और उसने विद्वानों को आश्रय दिया। 1397 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् गियासुद्दीन और शम्सुद्दीन शासक हुए। परन्तु इन दोनों ने बहुत थोड़े समय राज्य किया। 1397 ई. में ही ताजुद्दीन फीरोजशाह गद्दी पर बैठा। उसने तीन बार विजयनगर से युद्ध किया। दो युद्धों में उसे आंशिक सफलता मिली परन्तु तीसरे युद्ध में उसकी पराजय हुई। इससे उसका सम्मान कम हो गया जिसके कारण उसके भाई अहमदशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और 1422 ई. में स्वयं सुल्तान बन गया। फीरोजशाह एक विद्वान शासक था। उसने फीरोजशाह नामक एक नवीन शहर बसाया था और चौल एवं दभौल के बन्दरगाहों की उन्नति की थी।

अहमदशाह (1422-1436 ई.) ने वारंगल पर आक्रमण करके उसे जीत लिया, विजयनगर-राज्य में लूटमार की और मालवा पर सफल आक्रमण किया। परन्तु गुजरात के विरुद्ध उसे सफलता न मिली। 1425 ई. में उसने बीदर को अपनी राजधानी बनाया। बहमनी साम्राज्य की इस नवीन राजधानी को मुहम्मदाबाद नाम दिया गया जहाँ उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने उसकी कब्र पर एक शानदार मकबरा बनवाया। उसका शासनकाल न्याय व धर्मनिष्ठता के लिए प्रख्यात था जिसके कारण उसे इतिहास में अहमदशाह वली या सन्त अहमद भी कहा जाता है। उसके समय में भारतीय मुसलमान अमीरों और विदेशी मुसलमान अमीरों में झगड़े आरम्भ हुए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन अहमदशाह (1436-1458 ई.) गद्दी पर बैठा। अलाउद्दीन अहमदशाह ने कोंकण के हिन्दू राज्य को जीता, खानदेश के आक्रमण को विफल किया, संगमेश्वर के हिन्दू राजा की पुत्री से विवाह किया तथा विजयनगर-राज्य से युद्ध किया। उसके समय में महमूद गवाँ (जो बाद में बहमनी-राज्य का विख्यात वजीर हुआ) को राज्य की सेवा में लिया गया। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ ने तीन वर्ष शासन किया। वह बहुत क्रूर शासक था जिसके कारण उसे 'जालिम' पुकारा गया। उसे 'दक्कन का नीरो' भी कहा गया। उसने प्रशासनिक परिषद् की स्थापना की जिसमें राजमाता, महमूद गवाँ सहित चार व्यक्ति थे। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् उसका आठ वर्षीय पुत्र निजामशाह शासक बना। उसकी माता ने महमूद गवाँ और ख्वाजा जहाँ तुर्क की सहायता से शासन-कार्य सँभाला और उड़ीसा एवं मालवा के आक्रमणों को विफल किया। 1463 ई. में निजामशाह की मृत्यु हो गयी और उसका भाई मुहम्मदशाह तृतीय गद्दी पर बैठा। इस समय में ख्वाजा जहाँ तुर्क का वध करा दिया गया क्योंकि राजमाता उस पर सन्देह करने लगी थी। उसके पश्चात् महमूद गवाँ को प्रधानमन्त्री अथवा वजीर बनाया गया तथा उसे 'ख्वाजा जहाँ' की उपाधि प्रदान की गयी। मुहम्मद तृतीय के शासनकाल में रूसी यात्री निकितिन ने बहमनी राज्य की यात्रा की थी। उसने बहमनी साम्राज्य की जनसाधारण की दशा का वर्णन अपने लेख में किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महमूद गवाँ

महमूद गवाँ मूलतया पर्शिया का निवासी था और व्यापार करने के उद्देश्य से बहमनी-राज्य में आया था। उसने पूरी योग्यता से राज्य की सेवा की। उसके समय में कोंकण के हिन्दू राजा का दमन किया गया, संगमेश्वर के राजा से खलना का किला छीन लिया गया, विजयनगर-राज्य के कुछ भाग को लूटा गया तथा उससे गोआ का बन्दरगाह छीन लिया गया। राजमुन्दरी और कोण्डवीर के किलों को जीतने तथा उड़ीसा पर आक्रमण करके वहाँ से बहुत-सा धन लूटने में भी उसने सफलता पायी। योग्य सेनापति के अतिरिक्त महमूद गवाँ एक योग्य शासन-प्रबन्धक भी था। उसने केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाया और प्रान्तों की संख्या चार से आठ कर दी। उसने बरार को गाविल और माहुर, 'गुलबर्गा' को बीजापुर एवं गुलबर्गा, 'दौलताबाद' को दौलताबाद एवं जुन्नार तथा 'तेलंगाना' को राजमुद्री और वारंगल में विभाजित किया। इसके साथ-साथ उसने प्रत्येक प्रान्त से कुछ प्रदेश लेकर उन्हें केन्द्रीय सरकार की अधीनता में ले लिया और उनको खालसा-भूमि (केन्द्रीय सरकार की भूमि) में परिवर्तित कर दिया जिससे प्रान्तों के मामलों में प्रशासकीय आधार पर हस्तक्षेप किया जाना सरल हो सके। उसने प्रान्तपतियों (तर्फदारों) के सैनिक अधिकारों में भी कमी की। सम्पूर्ण प्रान्त (तर्फ) में केवल एक ही किला प्रान्तपति की अधीनता में दिया गया। बाकी सभी किलों को केन्द्रीय सरकार के अधिकार में लेकर वहाँ पृथक सेनानायकों की नियुक्ति की गयी। इसी प्रकार जिन जागीरदारों के पास जागीरें रहीं उनको उनकी जागीरों की आय के अनुपात में सेना रखने के लिए बाध्य किया गया और जो ऐसा नहीं कर पाये, उन्हें जितनी उनकी सेना कम होती थी उसके अनुपात में शाही खजाने में धन लौटाने के लिए मजबूर किया गया। उसने जागीर-व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न किया तथा पदाधिकारियों को जागीर के स्थान पर नकद वेतन देना आरम्भ किया। उसने सेना की संख्या में वृद्धि की और सैनिकों को नकद वेतन दिया। उसने सैनिकों के प्रशिक्षण और अनुशासन पर भी ध्यान दिया जिससे बहमनी राज्य की सैनिक-शक्ति में वृद्धि हुई। उसने राज्य की आय में वृद्धि करने के लिए भूमि की नाप (पैमाइश) करके लगान निश्चित करना आरम्भ किया। किसान सिक्के या गल्ला दोनों ही शक्लों में लगान दे सकते थे। परन्तु महमूद गवाँ की शक्ति से भारतीय मुसलमान अमीर ईर्ष्या करने लगे जिसके कारण उन्होंने सुल्तान से जबकि वह शराब के नशे में था, महमूद गवाँ के वध की आज्ञा ले ली और 5 अप्रैल 1481 ई. में उसका वध कर दिया। महमूद गवाँ अपने समय का योग्यतम व्यक्ति था। उसने बीदर में एक विद्यालय की स्थापना की। महमूद गवाँ स्वयं भी विद्वान था और उसने 'रौजत-उल-इन्शा' तथा 'दीवान-ए-अश्र' नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। उसने तीन पीढ़ियों तक बहमनी-राज्य की सेवा की। महमूद गवाँ एक योग्य और परिश्रमी व्यक्ति था। उसका व्यक्तिगत जीवन बहुत सादा और दोषरहित था। कहा जाता है कि वह चटाई पर सोता था और मिट्टी के बर्तनों में भोजन करता था। वह उदार, दयालु, साहसी और न्यायप्रिय था। एक सैनिक, सेनापति और शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से भी उसने अपनी योग्यता को सिद्ध किया। उसके शासन के समय में बहमनी-साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ, लगान-व्यवस्था में सुधार किया गया, राज्य सम्पन्न हुआ और केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली हुई। उसने दक्षिणी और विदेशी मुसलमानों में समझौता बनाये रखने का भरसक प्रयत्न किया और पर्याप्त मात्रा में सफल भी रहा। वह अपने स्वामी और राज्य के प्रति सर्वदा वफादार रहा। वस्तुतः उसकी योग्यता ही उसके प्रति ईर्ष्या का कारण बनी, परिणामस्वरूप जालसाजी से उसका वध किये जाने की व्यवस्था की गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहमनी-साम्राज्य के विघटन का प्रारम्भ हुआ क्योंकि सरदारों के पारस्परिक वैमनस्य और महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाया जाना सम्भव न हो सका। इस प्रकार महमूद गवाँ का बहमनी-साम्राज्य के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा।

महमूद गवाँ की मृत्यु—1482 ई. में मुहम्मदशाह तृतीय की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना परन्तु अल्पवयस्क होने के कारण शासन-सत्ता हसन निजाम-उल-मुल्क (मलिक नाइब) के हाथों में रही। परन्तु महमूद गवाँ की हत्या ने विदेशी मुसलमानों को काफी असन्तुष्ट कर दिया था और वे सुल्तान की आज्ञा मानने के लिए तैयार न थे। भारतीय मुसलमानों में तुर्क, मुगल, ईरानी और अरब सम्मिलित थे। इनमें मुख्य झगड़ा नस्ल अथवा जाति का न होकर शक्ति और धर्म का था। विदेशी मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में बहमनी-राज्य में आये थे और प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये हुए थे। दक्षिण-भारतीय मुसलमान उनसे ईर्ष्या करते थे। इसके अतिरिक्त, जबकि दक्षिणी मुसलमान सुन्नी थे, अधिकांश विदेशी मुसलमान शिया थे। इस कारण दरबार में दो दल बन गये थे, जो एक-दूसरे को नष्ट करने पर तुले हुए थे। महमूदशाह (जो अल्पायु था) के समय से कोई भी बहमनी शासक योग्य नहीं हुआ। इस कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा मिला। महमूद गवाँ (जो विदेशी मुसलमान था) इन दो दलों में शक्ति-सन्तुलन बनाये हुए था परन्तु नाइब मलिक (जो दक्षिणी मुसलमान था) के षड्यन्त्र के कारण वह मारा गया। उसके वध के कारण दोनों दलों में खुला झगड़ा आरम्भ हो गया जिसे सुल्तान महमूदशाह समाप्त न कर सका। मलिक नाइब को अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा परन्तु बीदर के सूबेदार ने उसका वध कर दिया। दक्षिणी मुसलमानों ने महल पर आक्रमण करके सुल्तान को कैद करने का प्रयत्न किया परन्तु वे सफल न हुए और उन्हें बहुत बड़ी संख्या में कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् महमूदशाह शासन से उदासीन हो गया और उसने अपना शासन एक तुर्की अमीर कासिम बरीद के हाथों में सौंप दिया। परन्तु विभिन्न सूबेदार कासिम बरीद की सत्ता को मानने के लिए तैयार न हुए। सर्वप्रथम मृतक नाइब मलिक के पुत्र मलिक निजाम-उल-मुल्क ने राज्य की आज्ञाओं को मानना बन्द किया। उसके पश्चात् 1490 ई. में अहमद ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बीजापुर के आदिलखाँ और बीदर के इमाद-उल-मुल्क ने राज्य की आज्ञाओं को मानना बन्द किया। इस प्रकार बहमनी-राज्य के शक्तिशाली सूबेदार प्रायः स्वतन्त्र हो गये यद्यपि महमूद के समय में किसी ने भी सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। उनकी एकता का एकमात्र आधार प्रति वर्ष विजयनगर के शासकों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) करना था। 1518 ई. में महमूद की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् चार दुर्बल सुल्तान हुए परन्तु वे कासिम बरीद के हाथों में कठपुतली बने रहे। उसका नाममात्र का अन्तिम शासक खलीमुल्ला हुआ जिसकी मृत्यु 1538 ई. में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् नाममात्र का बहमनी-राज्य भी नष्ट हो गया और उसका स्थान पाँच स्वतन्त्र राज्यों ने ले लिया। बहमनी-राज्य के खण्डों से बीजापुर के आदिलशाही राज्य, गोलकुण्डा के कुतुबशाही राज्य, अहमदनगर के निजामशाही राज्य, बीदर के बरीदशाही राज्य और बरार के इमादशाही राज्य की स्थापना हुई। इस प्रकार बहमनी साम्राज्य में कुल 18 शासक हुए जिन्होंने 175 वर्ष तक शासन किया।

दक्षिण-भारत के इन पाँच मुसलमान राज्यों में परस्पर संघर्ष रहा। परन्तु इनका मुख्य शत्रु विजयनगर-राज्य रहा। 1574 ई. में बरार राज्य को अहमदनगर ने जीत लिया और 1618-19 ई. में बीदर राज्य को बीजापुर ने जीत लिया। मुगल बादशाह अकबर ने अहमदनगर के कुछ भाग पर अधिकार किया और शाहजहाँ के समय में इस राज्य का अस्तित्व नष्ट हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मुगल बादशाह औरंगजेब ने नष्ट किया।

बहमनी-राज्य के पतन के कारण

प्रायः 200 वर्ष तक दक्षिण-भारत में बहमनी-राज्य का अस्तित्व रहा। उसका मुख्य योगदान दक्षिण में इस्लाम की संस्कृति का प्रसार रहा। उसके विघटन के पश्चात् भी उसके खण्डों से बने हुए राज्यों ने एक लम्बे समय तक दक्षिण-भारत की राजनीति, सभ्यता और संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मुगल बादशाह औरंगजेब के शासनकाल में ही इसके अन्तिम अवशेषों को समाप्त किया जाना सम्भव हुआ। विभिन्न निम्नलिखित परिस्थितियों ने बहमनी-राज्य के पतन में भाग लिया :

1. विदेशी और भारतीय मुसलमान अमीरों का पारस्परिक द्वेष और संघर्ष—मुहम्मद तुगलक ने अपने शासनकाल में दक्षिण-भारत के अपने साम्राज्य को संगठित करने के लिए ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति की थी जिनमें से प्रत्येक प्रायः सौ ग्रामों के समूह पर शासन करता था। उन्हें 'अमीरात-ए-सदह' या 'सादी' पुकारा गया। वे न केवल अपने प्रदेश से राजस्व ही वसूल करते थे, अपितु स्थानीय सैनिक टुकड़ियों के प्रधान भी थे। राजस्व और सैनिक अधिकारों के एक ही व्यक्ति के हाथों में होने के कारण वे शासन में बहुत प्रभावशाली थे। उनमें एक बड़ी संख्या में विदेशी मुसलमान थे। उन्होंने ही विद्रोह करके बहमनी-राज्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण किया। परन्तु भारतीय मुसलमान अमीर भी शासन के साथ एक बड़ी संख्या में सम्मिलित किये गये थे। विदेशी अमीरों में तुर्क, अफगान, अरब, अबीसीनियन आदि की प्रधानता थी। वे धर्म और जातीयता के आधार पर एक नहीं थे परन्तु भारतीय मुसलमानों से, निस्सन्देह, अपने को पृथक मानते थे। इस कारण बहमनी-राज्य में दो प्रतिद्वन्द्वी दलों का निर्माण आरम्भ से ही हो गया था—विदेशी अमीर और भारतीय अमीर। इन दोनों दलों में शक्ति के लिए सर्वदा संघर्ष रहा। महमूद गवाँ विदेशी मुसलमान था और जब जालसाजी से उसे सुल्तान द्वारा मरवा दिया गया तब से इन दोनों दलों का संघर्ष खुलकर सामने आ गया जिसे बाद के दुर्बल बहमनी-शासक रोक नहीं सके जिसके परिणामस्वरूप बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभाजित हो गया।

2. बाद के बहमनी-शासकों की अयोग्यता—मध्य-युग में शासक की योग्यता और अयोग्यता के अनुरूप ही राज्य के भाग्य का निर्णय होता था। 1458 ई. में अलाउद्दीन अहमदशाह की मृत्यु के पश्चात् कोई भी बहमनी-शासक योग्य न हुआ। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ शासक हुआ। वह बहुत क्रूर शासक था जिसके कारण उसे जालिम पुकारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका आठ वर्षीय पुत्र निजामशाह सिंहासन पर बैठा। उसने अपनी माता की देखरेख में शासन किया। हुमायूँ का शासनकाल तीन वर्ष का और निजामशाह का समय केवल दो वर्ष का रहा। इनके समय से ही राज्य-शासन में अव्यवस्था का आरम्भ हुआ। 1463 ई. में निजामशाह का भाई मुहम्मदशाह तृतीय शासक बना। वह स्वयं योग्य सिद्ध नहीं हुआ परन्तु उसके समय में महमूद गवाँ को वजीर का पद दिया गया। महमूद गवाँ ने बहमनी-राज्य के शासन की उचित व्यवस्था की परन्तु वह भारतीय मुसलमानों की ईर्ष्या का पात्र बन गया जिन्होंने शराब के नशे में चूर मुहम्मदशाह से महमूद गवाँ के लिए मृत्यु-दण्ड की आज्ञा ले ली। 1481 ई. में इस प्रकार जालसाजी से महमूद गवाँ मारा गया। 1482 ई. में सुल्तान मुहम्मदशाह तृतीय की भी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्पवयस्क पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। उसके समय में विदेशी और भारतीय मुसलमान अमीरों में खुला संघर्ष आरम्भ हो गया जिसे महमूदशाह रोक न सका। उसके पश्चात् भी कोई भी बहमनी-शासक योग्य न हुआ और प्रान्तीय तर्फदारों ने सुल्तान की आज्ञा मानना बन्द कर दिया। 1538 ई. में बहमनी-राज्य के नाममात्र के अन्तिम शासक खलीमुल्ला की भी मृत्यु हो गयी और उसकी मृत्यु के पश्चात् बहमनी-राज्य पाँच स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया।

3. बहमनी-शासकों की हिन्दू-विरोधी नीति—बहमनी-शासकों की नीति अधिकांशतया हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की रही जिसके कारण उनकी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा उनसे असन्तुष्ट रही और उनके व उनके राज्य के प्रति वफादारी न रही जो राज्य की दुर्बलता का एक कारण बना।

4. पड़ौस के हिन्दू-राज्यों, मुख्यतया विजयनगर-राज्य से निरन्तर संघर्ष—बहमनी-राज्य का पड़ौस के हिन्दू-राज्यों, जैसे उड़ीसा, वारंगल, काँची और विजयनगर-राज्य से संघर्ष हुआ। विजयनगर-राज्य से उसका संघर्ष तो निरन्तर ही रहा। उससे बहमनी-राज्य की सैनिक-शक्ति और शासन-व्यवस्था पर निश्चय ही बुरा प्रभाव पड़ा। विजयनगर-राज्य भी एक सम्पन्न और शक्तिशाली राज्य था। उससे निरन्तर संघर्ष करते रहना निश्चय ही बहमनी-राज्य के लिए प्रत्येक प्रकार से हानिकारक सिद्ध हुआ और वह उसकी दुर्बलता और पतन का एक कारण बना।

5. प्रान्तीय तर्फदारों की महत्वाकांक्षाएँ—बहमनी-राज्य में तर्फदारों को विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये थे। सुल्तानों की अयोग्यता के कारण प्रान्तीय तर्फदारों की महत्वाकांक्षाएँ बलवती हो गयीं। महमूदशाह के समय से ही उन्होंने सुल्तान की आज्ञाओं को मानने से इंकार करना आरम्भ कर दिया जिसके कारण महमूदशाह ने शासन से उदासीन होकर एक तुर्की अमीर कासिम बरीद को शासन के अधिकार सौंप दिये। तर्फदारों ने कासिम बरीद की आज्ञाओं को मानने से इंकार कर दिया और वस्तुतः उसी समय से बहमनी-राज्य का विघटन आरम्भ हो गया यद्यपि नाममात्र के लिए बहमनी-राज्य कुछ समय और चला।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न कारणों और परिस्थितिवश बहमनी-राज्य का पतन हुआ।

बहमनी-राज्य का शासन

बहमनी-शासकों ने नाममात्र के लिए अब्बासी खलीफाओं को अपना प्रधान माना जबकि वस्तुतः वे स्वतन्त्र शासक थे और उसी के अनुरूप उनका व्यवहार रहा। बहमनशाह को अपनी सैनिक-व्यस्तता के कारण शासन की ओर ध्यान देने का विशेष समय नहीं मिला। मुहम्मद तुगलक ने जिन चार प्रान्तों में अपने दक्षिण के राज्य को विभाजित कर रखा था, उसने उन प्रान्तों में अपने अधिकारी नियुक्त कर दिये। मुहम्मदशाह प्रथम ने अपने राज्य को चार 'अतरफों' (प्रान्त) में बाँटा जिनके शासन के केन्द्र-स्थान दौलताबाद, बरार, बीदर और गुलबर्गा (जिसमें बीजापुर भी सम्मिलित था) थे। उनमें से प्रत्येक 'अतरफ' में एक प्रान्तीय सूबेदार की नियुक्ति की गयी जिसे 'तर्फदार' पुकारते थे और जिसे अपने प्रान्त के सम्बन्ध में विस्तृत सैनिक और प्रशासकीय अधिकार दिये गये। तर्फदार अपने प्रान्त में लगान वसूल करता था, सेना का संगठन करता था और अपने प्रान्त के सभी सैनिक और असैनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता था। कभी-कभी उनमें से किसी को भी मन्त्री-पद पर कार्य करने के लिए भी नियुक्त कर दिया जाता था। राज्य के विस्तृत हो जाने पर महमूद गवाँ के मन्त्रित्व-काल में प्रान्तों की संख्या चार से बढ़ाकर आठ कर दी गयीं। महमूद गवाँ ने प्रान्तीय 'तर्फदारों' की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से प्रत्येक प्रान्त में कुछ भूमि सुल्तान की भूमि निश्चित कर दी जिसका प्रशासन केन्द्रीय सरकार के हाथों में दे दिया गया। प्रान्त या 'अतरफ' को शासन की सुविधा की दृष्टि से सरकारों में बाँटा गया था और 'सरकार' का विभाजन 'परगनों' में किया गया था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे।

शासन का प्रधान सुल्तान था जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक होता था। कानूनी तौर पर उसके अधिकारों की कोई सीमा नहीं थी और उनमें से कई ने अपने आप को 'ईश्वर का पृथ्वी पर प्रतिनिधि' भी पुकारा। परन्तु व्यवहार में उसकी शक्तियाँ मन्त्रियों एवं प्रभावशाली सरदारों के अधिकारों और सम्मति से सीमित होती थीं।

सुल्तान की सहायता के लिए मन्त्री होते थे। प्रधान-मन्त्री को **'वकील-उस-सल्तनत'** पुकारते थे। वित्त-मन्त्री **'अमीर-ए-जुमला'** और विदेश-मन्त्री **'वजीर-ए-अशरफ'** कहलाता था। **'वजीर-ए-कुल'** और पेशवा नामक दो मन्त्री और भी होते थे परन्तु उनका उत्तरदायित्व निश्चित न था। कभी-कभी प्रान्तीय **'तर्फदारों'** की नियुक्ति भी मन्त्री पद पर कर दी जाती थी। सुल्तान के पश्चात् राज्य के मुख्य न्यायाधीश को सद्र-ए-जाहर पुकारते थे। वह धार्मिक कार्यों और राज्य के द्वारा दिये जाने वाले दान की भी व्यवस्था करता था।

पड़ौसी राज्यों से निरन्तर संघर्षरत रहने के कारण बहमनी-शासकों के लिए एक बड़ी सेना रखना एक अनिवार्य आवश्यकता थी। राज्य के सेनापति को अमीर-उल-उमरा पुकारा जाता था। सुल्तान अपने अंगरक्षक रखता था जिन्हें 'खास-खेल' के नाम से पुकारते थे। घुड़सवार, हाथी और पैदलों के अतिरिक्त बहमनी-राज्य ने तोपखाने का निर्माण भी किया था। शिहाबुद्दीन अहमद प्रथम ने अपने समय में 'मनसबदारी-प्रथा' का आरम्भ किया, जिसके अन्तर्गत सैनिक अधिकारियों को उनके 'मनसब' के अनुसार जागीरें दी गयीं जिनसे वे अपनी सेनाओं का व्यय निकालते थे। असैनिक अधिकारियों के वेतन को निश्चित करने के लिए उन्हें भी 'मनसब' दिये गये। जागीरदारों को अपनी आय-व्यय का ब्यौरा केन्द्रीय सरकार को देना होता था। किलों के अधिकारी 'किलेदार' भी प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी थे।

सुल्तान, सरदार और मनसबदार बहुत शान-शौकत से रहते थे जिससे पता लगता है कि बहमनी-राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। परन्तु साधारण व्यक्तियों की स्थिति के बारे में कुछ विशेष पता नहीं लगता। सम्भवतया, अन्य भारतीय जनसाधारण की तरह वहाँ के व्यक्ति भी सामान्य जीवन व्यतीत करते थे।

बहमनी-राज्य ने दक्षिण-भारत में मुस्लिम संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। उत्तर-भारत और विदेशों से बहुत बड़ी संख्या में इस्लाम के समर्थक बहमनी-राज्य में गये। विभिन्न शासकों ने मुसलमान विद्वानों और धर्म-प्रचारकों को संरक्षण प्रदान किया। बहमनी सुल्तानों और बाद में उसके खण्डों से बने अन्य मुसलमान राज्यों ने विभिन्न विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण दिया, मदरसे खोले, इमारतें बनवायीं और इस प्रकार मुस्लिम संस्कृति के विकास में भाग लिया। दक्षिण के पड़ौसी हिन्दू राज्यों से संघर्ष ने भी बहमनी-शासकों को राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस्लाम का नेतृत्व करने के लिए बाध्य किया।

इस प्रकार बहमनी-राज्य ने एक लम्बे समय तक दक्षिण-भारत की राजनीति और संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[10]
विजयनगर-राज्य (दक्षिण-भारत)

राजनीतिक इतिहास

भारत के दक्षिणी-पश्चिमी तट पर विजयनगर-राज्य (जिसका वर्तमान नाम हम्पी है) की स्थापना करने का श्रेय हरीहर और बुक्का नामक दो भाइयों को था। वे कम्पिली राज्य में मन्त्री थे। मुहम्मद तुगलक ने जब कम्पिली को विजय किया तब हरीहर और बुक्का को पकड़कर दिल्ली ले जाया गया और उन्हें मुसलमान बना लिया गया। कम्पिली में विद्रोह होने के अवसर पर मुहम्मद तुगलक ने उन्हें वहाँ दिल्ली की सत्ता को स्थापित करने के लिए भेजा। वे उस कार्य में सफल नहीं हुए और अन्त में एक सन्त विद्यारण्य के प्रभाव में आकर वे मुसलमान से पुनः हिन्दू बनने के लिए तैयार हो गये। कापय नायक और वीर बल्लाल तृतीय की मुसलमानों के विरुद्ध सफलता को देखकर उन्होंने भी हिन्दू-आन्दोलन का नेतृत्व करने का निश्चय किया। विद्यारण्य ने अपने गुरु और शृंगेरी के मठाधीश विद्यातीर्थ को उन्हें हिन्दू बनाने के लिए राजी कर लिया और वे हिन्दू हो गये। 1336 ई. में हरीहर ने हम्पी हस्तिनावती राज्य की नींव डाली। उसी वर्ष तुंगभद्रा के दक्षिणी तट पर स्थित अनेगोण्डी के सामने उसने विजयनगर का नवीन नगर बसाया। यही राज्य बाद में विशाल विजयनगर-राज्य बना और विजयनगर (विद्यानगर) उसकी राजधानी बना।

हरीहर प्रथम (1336-1356 ई.) इस राज्य का प्रथम शासक हुआ। उसकी पहली राजधानी अनेगोन्दी थी। सात वर्ष के पश्चात् उसने विजयनगर को अपनी राजधानी बनाया। पड़ौस के वारंगल राज्य का संस्थापक कापय नायक, उसका मित्र प्रोलय वेम और वीर बल्लाल तृतीय उसके विरुद्ध थे तथा देवगिरि का सूबेदार कुतलुगखाँ भी उसके राज्य की स्थापना को पसन्द नहीं करता था। परन्तु हरीहर एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने बादामी, उदयगिरि और गूटी के दुर्गों को दृढ़ किया, कृषि की उन्नति का प्रयत्न किया तथा एक व्यवस्थित शासन स्थापित किया। उसके राज्य के निकट बल्लाल तृतीय का राज्य था परन्तु बल्लाल मदुरा को जीतने के प्रयत्न में लगा हुआ था जिसके कारण हरीहर ने उसकी पूर्वी सीमाओं के क्षेत्रों को जीत लिया। 1342 ई. में वीर बल्लाल को मदुरा के सुल्तान ने धोखे से मार दिया और उसका पुत्र विरुपाक्ष अथवा बल्लाल चतुर्थ अयोग्य निकला जिसके कारण हरीहर ने होयसल-राज्य को अपने राज्य में मिलाने में सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् उसने कदम्ब-राज्य को जीता और मदुरा के सुल्तान को परास्त किया। इस प्रकार हरीहर ने एक सुदृढ़ और विस्तृत राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। उसने अपने राज्य में एक श्रेष्ठ शासन स्थापित किया जो अन्त तक विजयनगर-राज्य के शासन का आधार बना रहा। हरीहर के पिता का नाम संगम था। इस कारण उसका राजवंश संगम-राजवंश कहलाया। 1356 ई. में हरीहर की मृत्यु हुई।

हरीहर की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई बुक्का सिंहासन पर बैठा। बुक्का ने अपने राज्य के सरदारों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया, शासन का केन्द्रीयकरण किया और तमिलनाडु राज्य को विजयनगर-राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसने वारंगल के राजा से एक समझौता करके बहमनी-शासक मुहम्मदशाह प्रथम पर दबाव डाला और उससे कृष्णा-तुंगभद्रा के दोआब की माँग की। उस समय से बहमनी और विजयनगर राज्यों का संघर्ष आरम्भ हुआ। वास्तव में दोनों राज्य दक्षिण-भारत में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहते थे। इस कारण उनमें संघर्ष स्वाभाविक था। बुक्का के समय में कृष्णा नदी को बहमनी और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजयनगर-राज्य की सीमा मान लिया गया। बुक्का की एक महान् विजय मदुरा के मुसलमानी राज्य की थी जिसके कारण उसका राज्य सुदूर-दक्षिण में रामेश्वरम् तक फैल गया। इस प्रकार बुक्का ने हरीहर से प्राप्त राज्य को और अधिक विस्तृत किया। वह एक योग्य शासक था। धार्मिक दृष्टि से उसने हिन्दू धर्म की सुरक्षा का दावा किया और 'वेद-मार्ग-प्रतिष्ठापक' की उपाधि ग्रहण की। (हरीहर और बुक्का ने राजा अथवा महाराजा की उपाधि ग्रहण नहीं की) परन्तु उसने जैन, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान आदि सभी को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की जो अन्त तक विजयनगर-राज्य की नीति बनी रही। उसने वेद और अन्य धार्मिक ग्रन्थों की नवीन टीकाएँ लिखवायीं तथा तेलुगू साहित्य को प्रोत्साहन दिया। 1377 ई. में बुक्का की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरीहर द्वितीय (1377-1407 ई) सिंहासन पर बैठा। हरीहर द्वितीय ने महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की। उसने कनारा, मैसूर, त्रिचनापली, काँची आदि प्रदेशों को जीता और श्रीलंका के राजा से राजस्व वसूल किया। बहमनी-राज्य से उसका भी संघर्ष हुआ। 1377 ई. में सुल्तान मुजाहिद ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु मुजाहिद को सफलता नहीं मिली और वापस जाते हुए मार्ग में उसका वध कर दिया गया। उसकी मृत्यु से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर हरीहर ने कोंकण और उत्तरी कर्नाटक पर आक्रमण किया। उसने गोआ को भी जीत लिया। बहमनी सुल्तान मुहम्मदशाह द्वितीय और तदुपरान्त सुल्तान फीरोजशाह ने विजयनगर से रायचूर-दोआब को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिली। इस प्रकार हरीहर ने अपने उत्तराधिकारी के लिए एक बड़ा साम्राज्य छोड़ा। वह एक महान् योद्धा और सफल शासक सिद्ध हुआ। 1404 ई. में हरीहर द्वितीय की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में संघर्ष हुआ तथा विरुपाक्ष प्रथम और बुक्का द्वितीय ने क्रमशः सिंहासन को प्राप्त किया परन्तु अन्त में 1406 ई. में देवराय प्रथम शासक बना। देवराय प्रथम के समय में बहमनी-शासक फीरोजशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया परन्तु कोई विशेष लाभ प्राप्त न कर सका। देवराय ने अपनी घुड़सवार-सेना को शक्तिशाली बनाया और तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसके अन्तिम दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत हुए और विजयनगर दक्षिण-भारत में विद्या का केन्द्र बन गया। उसने अनेक कल्याणकारी योजनाएँ प्रारम्भ कीं। 1410 ई. में उसने तुंगभद्रा पर बाँध बनवाकर अपनी राजधानी विजयनगर तक नहरें निकलवायीं। इससे राजधानी में जल का अभाव समाप्त हो गया। उसके शासनकाल में इतालवी यात्री निकोली कोण्टी ने विजयनगर की यात्रा की, जिसने नगर और उसके नरेश तथा विजयनगर में मनाये जाने वाली दीपावली, नवरात्र आदि जैसे उत्सवों का वर्णन किया है। देवराय ने अनेक विद्वानों को भी संरक्षण दिया। हरविलास और अन्य ग्रंथों के रचनाकार प्रसिद्ध तेलुगू कवि श्रीनाथ उसके दरबार में सुशोभित थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1422 ई. में उसका पुत्र रामचन्द्र सिंहासन पर बैठा परन्तु उसने केवल कुछ माह ही शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई विजय गद्दी पर बैठा। उसने 1422-1430 ई. तक शासन किया परन्तु उसके समय में शासन का उत्तरदायित्व उसके पुत्र देवराय पर था जो अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त शासक बना था। देवराय द्वितीय ने 1446 ई. तक राज्य किया। उसके समय में भी बहमनी-राज्य से दो बार कठिन संघर्ष हुआ परन्तु उसका कोई लाभ न निकला। परन्तु उसने आन्ध्र और उड़ीसा के शासकों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। उसने भी तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसी के समय में इटली का एक यात्री, निकोली कोण्टी, तथा ईरान का राजदूत, अब्दुर्रज्जाक विजयनगर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आये जिन्होंने उस राज्य के वैभव और ऐश्वर्य के बारे में बहुत कुछ लिखा। देवराज द्वितीय के पश्चात् उसका भाई विजय (1446-1447 ई.) शासक बना परन्तु उसने शीघ्र ही अपने भतीजे और देवराज द्वितीय के पुत्र मल्लिकार्जुन (1446-1465 ई.) के पक्ष में सिंहासन छोड़ दिया। उसके समय में उड़ीसा और बहमनी राज्यों ने विजयनगर पर आक्रमण किया। यद्यपि मल्लिकार्जुन ने साहसपूर्वक उसका मुकाबला किया परन्तु उड़ीसा ने उसके कोण्डवीर और उदयगिरि नामक दो महत्वपूर्ण किले छीनने में सफलता प्राप्त की। सम्भवतया, 1465 ई. में उसके चचेरे भाई विरुपाक्ष ने उसका और राजवंश के अन्य अनेक व्यक्तियों का वध करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। विरुपाक्ष द्वितीय ने अनैतिक तरीके से सिंहासन पर अधिकार किया था इस कारण प्रान्तीय सरदारों ने उसके आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया और विजयनगर-राज्य दुर्बल हो गया। उस समय बहमनी-राज्य ने विजयनगर से गोआ, कोंकण और उत्तरी कर्नाटक छीन लिये। उड़ीसा के शासक ने भी उसके राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इन परिस्थितियों में चन्द्रगिरि के सरदार नरसिंह सालुव ने राज्य की रक्षा की। विरुपाक्ष द्वितीय की अयोग्यता उसके वंश के पतन का कारण बनी। 1485 ई. में उसके एक पुत्र ने उसका वध कर दिया परन्तु सिंहासन उसने अपने छोटे भाई प्रोधा देवराय को दिया। परन्तु शीघ्र ही नरसिंह सालुव ने उसे हटाकर 1485 ई. में सिंहासन पर अधिकार कर लिया और सालुव-वंश के राज्य की नींव डाली।

नरसिंह सालुव अपने वंश का एकमात्र शासक हुआ। यद्यपि वह रायचूर-दोआब को बहमनी-राज्य से और विजयगिरि को उड़ीसा-राज्य से न छीन सका परन्तु उसने प्रान्तीय सूबेदारों को अपने अधीन करके राज्य को खण्डित होने से बचा लिया। 1490 ई. में उसकी मृत्यु के अवसर पर उसके दोनों पुत्र अल्पायु थे। इस कारण उसने नरस नायक को उनका संरक्षक नियुक्त किया। नरस नायक ने उसके बड़े पुत्र तिम्मा को सिंहासन पर बैठा दिया परन्तु शासन-सत्ता का उपभोग स्वयं करता रहा। 1503 ई. में नरस नायक की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र नरसिंह ने तिम्मा को मरवा दिया और 1505 ई. में स्वयं सिंहासन पर अधिकार करके तुलुव-राजवंश की नींव डाली।

वीर नरसिंह तुलुव ने 1509 ई. तक शासन किया। यद्यपि उसका शासनकाल कम रहा परन्तु फिर भी उसने सेना को सुसंगठित किया, अपने नागरिकों को युद्धप्रिय बनाया, पुर्तगाली गवर्नर आल्मीडिया से उसके द्वारा लाये गये सभी घोड़ों की खरीदने के लिए एक समझौता किया, विवाह-कर को हटाकर एक उदार नीति का आरम्भ किया और सफलतापूर्वक बहमनी-राज्य के आक्रमणों का मुकाबला किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कृष्णदेवराय (1509-1529 ई.) सिंहासन पर बैठा। उसके समय में विजयनगर राज्य ऐश्वर्य और शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया। उस समय तक बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभाजित हो गया था। परन्तु वे सभी मुसलमान शासक विजयनगर के शत्रु थे। इस कारण उसका मुख्य संघर्ष उन राज्यों से हुआ। वह एक महान योद्धा और सेनानायक था। उसके सिंहासन पर बैठते ही बहमनी शासक महमूदशाह (बहमनी-वंश का वंशज जिसका राज्य छोटा हो गया था परन्तु फिर भी जो बहमनी-सुल्तान माना जाता था) ने विजयनगर के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित किया और विजयनगर पर आक्रमण किया। कृष्णदेवराय ने उस सेना को परास्त किया और उसका पीछा किया। बीजापुर का शासक यूसुफ आदिलखाँ इस युद्ध में मारा गया, रायचूर के किले तथा कृष्णा-तुंगभद्रा दोआब पर विजयनगर का अधिकार हो गया और बीदर के किले को भी जीत लिया गया यद्यपि महमूदशाह को पुनः बहमनी शासक बनाकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णदेवराय वापस आ गया। कृष्णदेवराय का बीदर में महमूदशाह को सुल्तान बनाने का मन्तव्य मुसलमानी राज्यों को विभाजित करना था। उसके पश्चात् कृष्णदेवराय ने वारंगल पर अधिकार किया और उड़ीसा के राजा से उदयगिरि और कोण्डावीदू के किलों को जीत लिया। उसने गोलकुण्डा की आक्रमणकारी सेना को परास्त किया और बीजापुर की आक्रमणकारी सेना को उसने परास्त ही नहीं किया बल्कि उसका पीछा करके उसकी राजधानी गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया यद्यपि मुहम्मदशाह द्वितीय के सबसे बड़े पुत्र को सिंहासन देकर वह वापस आ गया। इस प्रकार उसने अपने सभी शत्रुओं को परास्त किया। उसने उनके द्वारा छीनी गयी विजयनगर की भूमि और किलों को पुनः जीता तथा साम्राज्य का विस्तार किया। कृष्णदेवराय ने जिस युद्ध में भाग लिया उसे उसने विजय किया। उसने नागल्लपुर नाम का एक नवीन नगर बसाया, राज्य में अनेक 'मण्डप' और 'गोपुरम' बनवाये तथा विजयनगर को सुन्दर बनाया। उसके समय में ललित-कलाओं तथा साहित्य—मुख्यतया तेलुगू साहित्य—की प्रगति हुई। वह कलाकारों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसके समय में विजयनगर शान्ति, शक्ति और समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया। बाबर ने भी अपनी 'आत्मकथा' में कृष्णदेवराय को भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक बताया।

उसके पुर्तगालियों से अच्छे सम्बन्ध थे, जिसका मुख्य कारण था—पुर्तगालियों का बीजापुर से शत्रुता तथा घोड़ों की आपूर्ति। वह एक महान् प्रशासक भी था। उसने अपने प्रसिद्ध तेलुगू ग्रन्थ आयुक्तमाल्यद में अपनी प्रशासकीय नीति का विवेचन किया है। वह एक महान् प्रशासक के साथ-साथ महान् विद्वान, विद्या-प्रेमी और विद्वानों का उदार संरक्षक भी था, जिसके कारण वे अभिनव भोज के रूप में प्रसिद्ध हैं। उसका शासनकाल तेलुगू साहित्य का क्लासिकी युग माना जाता है। उसके दरबार को तेलुगू के आठ महान् विद्वान एवं कवि (जिन्हें अष्टदिग्गज कहा जाता था) सुशोभित करते थे। अतः उसे आन्ध्रभोज भी कहा जाता था। उसने अपनी राजधानी विजयनगर के निकट नागलापुर नामक नगर की स्थापना की, अनेक मन्दिरों, मण्डपों, तालाबों का निर्माण कराया, उसके समय में पुर्तगाली यात्री डोमिंगो पायस ने यात्रा की थी और कुछ समय तक वह कृष्णदेव राय के दरबार में भी रहा। उसने बंजर एवं जंगली भूमि को कृषि योग्य बनाने की कोशिश की। विवाह कर जैसे अलोकप्रिय करों को हटाकर प्रजा को राहत प्रदान की। उसने हजारा मन्दिर तथा विट्ठलस्वामी के मन्दिर का निर्माण कराया था। वह सभी धर्मों, सम्प्रदाय का सम्मान करता था यद्यपि उसकी आस्था वैष्णव धर्म में थी।

कृष्णदेवराय की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई अच्युतराय (1530-1542 ई) सिंहासन पर बैठा। परन्तु वह एक दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उसका भतीजा सदाशिवराय सिंहासन पर बैठा। वह भी अयोग्य था और उसके समय में शासन-सत्ता का वास्तविक प्रयोग उसका मन्त्री रामराय करता था। रामराय एक योग्य शासन-प्रबन्धक था परन्तु सफल कूटनीतिज्ञ न था। उसने बहमनी-राज्य के खण्डों से बने हुए पाँच मुसलमानी राज्यों में परस्पर फूट डालने और एक दूसरे के विरुद्ध सहायता देने की नीति अपनायी। परन्तु अन्त में इन मुसलमानी राज्यों ने धर्म के आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बना लिया तथा बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की सम्मिलित सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण किया। 23 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोटा का युद्ध हुआ। इसमें विजयनगर की सेना परास्त हुई और मुसलमानों ने विजयनगर शहर को बर्बाद कर दिया।

तालीकोटा का युद्ध और विजयनगर का विध्वंस विजयनगर-राज्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ परन्तु फिर भी रामराय के भाई तिरुमाल ने वेनुगोंडा को अपनी राजधानी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाकर विजयनगर के अस्तित्व को बनाये रखा। 1570 ई. में उसने सदाशिव को सिंहासन से हटाकर अरविन्द-वंश के शासन की नींव डाली। तिरुमाल के पश्चात् उसका पुत्र रंग द्वितीय शासक हुआ और तत्पश्चात् उसका भाई वैंकट। उसके समय में विजयनगर का राज्य नष्ट होने लगा। उसका अन्तिम शासक रंग तृतीय हुआ जिसके समय में मैसूर, बेदनूर, मदुरा, तंजौर आदि स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और विजयनगर-राज्य नष्ट हो गया।

विजयनगर-बहमनी सम्बन्ध, रायचूर-दोआब समस्या और तालीकोटा का युद्ध

मुहम्मद तुगलक के समय में हुए सफल विद्रोहों का परिणाम बहमनी और विजयनगर राज्यों की स्थापना था। दक्षिण-भारत में स्थापित यह दोनों राज्य पड़ौसी भी थे और समकालीन भी। साथ ही इनके साथ एक विशेषता और रही। अधिकांशतया इनके पारस्परिक सम्बन्ध कटुता और शत्रुता के रहे जिसके कारण ये एक दूसरे के विरुद्ध निरन्तर युद्धों में लगे रहे। इस शत्रुता और पारस्परिक युद्धों के विभिन्न कारण थे।

पड़ौसी राज्य होने के कारण इनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक था। सीमा-विस्तार इनके मध्य हुए युद्धों का दूसरा कारण था। बहमनी-राज्य तुंगभद्रा नदी के दक्षिण की ओर राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील था क्योंकि बाकी तीन ओर से वह तीन शक्तिशाली राज्यों—मालवा, गुजरात और उड़ीसा—से घिरा हुआ था। विजयनगर-राज्य अधिकांशतया समुद्र से घिरा हुआ था और भूमि के विस्तार के लिए उसे तुंगभद्रा नदी के उत्तर की ओर बढ़ना आवश्यक हो गया था। ऐसी स्थिति में दोनों राज्यों के मध्य सीमा-विवाद और संघर्ष होना ही था। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से दक्षिण-भारत का यह क्षेत्र जहाँ ये दो राज्य स्थापित हुए थे, प्राचीन काल से चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट और चोल शासकों के संघर्ष का क्षेत्र बना रहा था। इस काल में भी यही हुआ।

कुछ इतिहासकारों ने इन राज्यों के पारस्परिक संघर्ष का कारण धार्मिक और सांस्कृतिक भी बताया। फरिश्ता के अनुसार जब भी विजयनगर-राज्य बहमनी-राज्य को अधीन राज्य की भाँति कर या धन देने से इंकार करता था तभी दोनों राज्यों में युद्ध हो जाता था। फरिश्ता के कथन के अनुसार तो यह आभास होता है कि विजयनगर-राज्य ने बहमनी-राज्य के आधिपत्य को स्वीकार कर रखा था। परन्तु फरिश्ता का विचार इतिहासकारों को मान्य नहीं है क्योंकि अन्य तत्कालीन स्रोतों से यह सिद्ध नहीं होता। एक अन्य समकालीन लेखक अजीज उल्लाह तबतबा ने अपनी पुस्तक 'बुरहान-ए-मआसिर' में इनके संघर्ष का कारण पूर्णतया धार्मिक बताया। परन्तु यह विचार भी आधुनिक इतिहासकारों द्वारा मान्य नहीं है। यह तो स्वीकार किया गया है कि जहाँ बहमनी-राज्य इस्लाम धर्म और उसकी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था, विजयनगर-राज्य हिन्दू धर्म और उसकी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था। ऐसी स्थिति में इन दो राज्यों के संघर्ष में धर्म और संस्कृति के अन्तरों को भी एक माध्यम बनाया गया था, मुख्यतया बहमनी-राज्य और उसके खण्डों से बने मुसलमानी राज्यों ने अनेक बार विजयनगर-राज्य के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित करके धर्म को इस संघर्ष में आवश्यक रूप से सम्मिलित किया। परन्तु यह स्वीकार नहीं किया गया है कि धर्म ही इन राज्यों के मध्य संघर्ष का मूल कारण था।

इन दो राज्यों के संघर्ष का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण आर्थिक था जिसके कारण रायचूर-दोआब समस्या उत्पन्न हुई थी। तुंगभद्रा और कृष्णा नदी के मध्य का भाग रायचूर-दोआब कहलाता था। यह भाग कृषि की दृष्टि से बहुत उपजाऊ था। इसी क्षेत्र में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण-भारत के अधिकांश महत्वपूर्ण बन्दरगाह थे। इसके अतिरिक्त यह क्षेत्र लोहा और हीरों की खानों के लिए प्रसिद्ध था। इस कारण यह क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक लाभदायक था। अतएव यह दोनों राज्य इस रायचूर-दोआब पर अधिकार करने के लिए संघर्षरत रहे। इसके अतिरिक्त क्योंकि यह क्षेत्र दोनों राज्यों की सीमाओं पर था, इस कारण अधिकांशतया यह इन दोनों राज्यों का युद्ध-स्थल भी बना।

इस प्रकार बहमनी और विजयनगर-राज्यों के मध्य प्रतिस्पर्धा और युद्ध के विभिन्न कारण रहे। एक लम्बे समय तक ये दोनों राज्य आपस में संघर्ष करते रहे। इन राज्यों का संघर्ष इनके अस्तित्व में आने के समय से ही आरम्भ हो गया। बहमनी-राज्य के प्रथम शासक अलाउद्दीन बहमनशाह ने विजयनगर-राज्य के संस्थापक हरीहर प्रथम के समय में ही एक सेना रायचूर के किले पर अधिकार करने के लिए भेजी। उस अवसर पर हरीहर ने धन और घोड़े देकर बहमनी-राज्य से समझौता कर लिया। इस प्रकार युद्ध टल गया। उसके उपरान्त बुक्का प्रथम से बहमनी-शासक मुहम्मदशाह प्रथम ने कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब की माँग की। उसके इंकार करने पर दोनों राज्यों में तीन युद्ध हुए परन्तु कोई निर्णय न हो सका। न इन राज्यों की सीमाओं में कोई परिवर्तन हुआ और न किसी ने एक दूसरे के आधिपत्य को स्वीकार किया। मुहम्मद के उत्तराधिकारी मुजाहिद ने भी बुक्का प्रथम से कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब-की माँग की और उसके इंकार करने पर उससे युद्ध किया। परन्तु कई माह के युद्ध के पश्चात् भी कोई परिणाम नहीं निकला। सुल्तान मुजाहिद ने 1377 ई. में पुनः विजयनगर-राज्य पर आक्रमण किया जबकि वहाँ का शासक हरीहर द्वितीय था। इस आक्रमण में भी उसे सफलता नहीं मिली और जबकि वह युद्ध से वापस आ रहा था उसकी हत्या हो गयी। मुजाहिद की हत्या से उत्पन्न बहमनी-राज्य की अव्यवस्था का लाभ उठाकर हरीहर द्वितीय ने उत्तरी कोंकण और कर्नाटक पर आक्रमण किये तथा गोआ को जीत लिया। मुजाहिद की हत्या के पश्चात् बहमनी सुल्तान मुहम्मदशाह द्वितीय और उसके पश्चात् सुल्तान फीरोजशाह ने भी रायचूर-दोआब को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हुए। फीरोजशाह के उत्तराधिकारी अहमद प्रथम और उसके पश्चात् अहमद द्वितीय के समय में भी बहमनी और विजयनगर-राज्यों में युद्ध हुए। 1463 ई. में मुहम्मद तृतीय बहमनी-राज्य का सुल्तान बना जिसके शासनकाल में महमूद गवाँ को वजीर के पद पर नियुक्त किया गया। महमूद गवाँ के समय में बहमनी-राज्य की स्थिति दृढ़ हुई और उसने रायचूर-दोआब तथा गोआ को विजयनगर-राज्य से छीन लिया। 1482 ई. में मुहम्मद तृतीय की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र महमूदशाह के समय में बहमनी-राज्य के विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी और अन्ततः 1538 ई. में बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में विभक्त हो गया। परन्तु इन राज्यों की शत्रुता भी विजयनगर-राज्य से रही और इनमें से बीजापुर के सुल्तानों ने रायचूर-दोआब पर अपने अधिकार करने की इच्छा के कारण इस समस्या को जीवित रखा। 1509-1529 ई. तक कृष्णदेवराय विजयनगर-राज्य का शासक रहा। उसके समय में विजयनगर-राज्य अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसके समय में बीदर के शासक महमूदशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया परन्तु उसकी पराजय हुई। कृष्णदेवराय ने न केवल रायचूर-दोआब पर ही अधिकार किया अपितु गुलबर्गा को भी जीत लिया। उसने बीजापुर और गोलकुण्डा को भी परास्त किया। विजयनगर-राज्य का अन्तिम शासक सदाशिवराय (1542-1572 ई) हुआ। उसके समय में शासन-सत्ता का वास्तविक उपभोग उसका मुख्य मन्त्री रामराय करता था। सदाशिवराय के आरम्भिक काल में ही बीजापुर-राज्य ने विजयनगर पर आक्रमण किया यद्यपि सफल न हुआ। उसके पश्चात् बीजापुर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अहमदनगर राज्यों ने सम्मिलित होकर विजयनगर पर आक्रमण किया और उसके कुछ प्रदेशों को जीतने में सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् रामराय ने अपने राज्य की सुरक्षा हेतु बहमनी-राज्य के विघटन से बने हुए पाँच राज्यों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने उनमें से एक को दूसरे के विरुद्ध करने की नीति अपनायी और पर्याप्त समय सफल भी रहा। रामराय एक योग्य राजनीतिज्ञ और सेनापति था। उसने विजयनगर-राज्य को शक्तिशाली बनाया। इससे दक्षिण के इन मुसलमान राज्यों को ईर्ष्या हो गयी। उनमें से चार राज्यों ने अपने भेदभावों को भुलाकर और संयुक्त होकर विजयनगर-राज्य से युद्ध करने का निर्णय किया। केवल बरार-राज्य इस संयुक्त प्रयत्न में सम्मिलित नहीं था। बाकी बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर और बीदर के सुल्तानों ने पारस्परिक विवाह-सम्बन्धों द्वारा अपने सम्बन्ध दृढ़ किये और अन्त में अपनी संयुक्त सेनाओं को लेकर विजयनगर-राज्य पर आक्रमण किया। 25 जनवरी, 1565 ई. को तालीकोटा का युद्ध हुआ। आरम्भ में विजयनगर की सेनाएँ सफल होती हुई प्रतीत हुईं परन्तु बाद में मुसलमानों के तोपखाने और विजयनगर-राज्य के मुसलमान सैनिकों के अपने सहधर्मियों से मिल जाने के कारण विजयनगर की पराजय हुई। यह युद्ध भारतीय इतिहास के महाविनाशकारी युद्धों में से एक सिद्ध हुआ। हिन्दू सैनिक बहुत बड़ी संख्या में कत्ल किये गये और विजयनगर शहर को बुरी तरह से लूटा और ध्वस्त किया गया। उसके पश्चात् विजयनगर-राज्य का नाममात्र के लिए अस्तित्व तो रहा परन्तु उसकी स्थिति दक्षिण-भारत में कभी भी सुदृढ़ न हो सकी।

मूल्यांकन

विजयनगर-राज्य दक्षिण-भारत में मुसलमान-आक्रमणों के विरुद्ध हिन्दुओं के राजनीतिक संघर्ष का एक सफल परिणाम था। इस राज्य के संस्थापक हरीहर और बुक्का ने सन्त विद्यारण्य के प्रोत्साहन और वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण की प्रेरणा से हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उसकी स्थापना की थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें सफलता मिली। निस्सन्देह, विजयनगर के शासकों ने उड़ीसा, वारंगल आदि के हिन्दू शासकों से भी युद्ध किये और इन युद्धों में उनका उद्देश्य राजनीतिक था परन्तु उनके मुख्य शत्रु बहमनी-राज्य अथवा उसके खण्डों से बने अन्य मुसलमान राज्य ही रहे।

विजयनगर और बहमनी साम्राज्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीनों ही थे। राजनीतिक संघर्ष का कारण दोनों राज्यों का कृष्णा-तुंगभद्रा-दोआब पर अपना अधिकार करना था जो दोनों राज्यों की सीमा पर था। आर्थिक दृष्टि से दो नदियों से बना यह दोआब न केवल खेती की दृष्टि से बहुत उपजाऊ था अपितु यहाँ खनिज पदार्थों में लोहा प्राप्त था तथा हीरों की खानें भी थीं। इस कारण दोनों राज्य इसे प्राप्त करने में अपना आर्थिक लाभ मानते थे। सांस्कृतिक दृष्टि से जबकि बहमनी-राज्य दक्षिण-भारत में इस्लाम धर्म और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता था, विजयनगर-राज्य हिन्दू धर्म और संस्कृति का केन्द्र था। इस अन्तर का लाभ भी दोनों राज्यों के शासकों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए उठाया बल्कि इसी अन्तर को अपनी पारस्परिक शत्रुता का मुख्य कारण बना दिया। इस कारण अर्थ और राजनीति के अतिरिक्त, बहमनी और विजयनगर राज्यों के लम्बे संघर्ष का एक कारण जहाँ एक ओर मुसलमान राज्यों का हिन्दू सत्ता को दक्षिण-भारत से नष्ट कर देने का प्रयत्न था वहीं दूसरी ओर विजयनगर के शासकों का हिन्दू राज्य और हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने का प्रयत्न था और इसमें सन्देह नहीं कि एक लम्बे समय तक विजयनगर-राज्य इस कार्य की पूर्ति करने में सफल रहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन की दृष्टि से विजयनगर-शासकों की व्यवस्था हिन्दू-परम्परा के अनुसार थी। उसमें राजा शासन का प्रधान था और उसमें देवत्व का अंश माना जाता था। वह कानून-निर्माण, शासन-व्यवस्था, न्याय, सैन्य-संचालन आदि सभी का प्रधान था। परन्तु विजयनगर के शासक न निरंकुश थे और न स्वेच्छाचारी। सभी शासक धर्म के अनुसार अपनी प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख उद्देश्य मानते थे। विजयनगर के शासकों के अभिलेखों में धर्म के अनुसार कार्य करने का निरन्तर उल्लेख मिलता है। ऐसे भी अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शासकों ने कृषकों के हितों की सुरक्षा की और उन्हें शोषण से बचाया। विजयनगर के शासकों ने अपने साम्राज्य की सामाजिक एकता, शान्ति और समृद्धि को बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। उनके शासन की एक मुख्य विशेषता यह भी रही कि उन्होंने सभी धर्मों को केवल समानता ही प्रदान नहीं की वरन् अन्य धार्मिक समुदायों और अल्पसंख्यकों को पूर्ण सुरक्षा भी प्रदान की जिससे बहुसंख्यक उन पर कोई दबाव न डाल सकें। विजयनगर नरेश अपनी प्रजा को शान्ति, सुरक्षा और न्याय प्रदान करना भी अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे। उनका दण्ड-विधान कठोर तो था परन्तु क्रूरता पर आधारित नहीं था। विजयनगर-शासकों में से कोई भी निरंकुश नहीं हुआ। इसके विभिन्न कारण रहे। शासक को धर्म के अनुसार शासन करना होता था, जो उस पर सबसे बड़ा अंकुश था। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक निगम, स्थानीय ग्रामीण-संस्थाएँ और धार्मिक संस्थाओं से जुड़ी हुई समितियाँ भी शासक की शक्तियों को सीमित करती थीं। शासक पर राज-परिषद्, मन्त्री-परिषद तथा अन्य सलाहकार समितियों का भी प्रभाव रहता था। राज-परिषद राजा का राज्याभिषेक करती थी और प्रशासकीय मामलों में उसे सलाह देती थी। एक अन्य परिषद ऐसी थी जिसमें प्रान्तीय प्रान्तपति, नायक, सामन्त आदि सम्मिलित थे जो शासक को प्रान्तों या दूरस्थ प्रदेशों का शासन करने में सलाह देती थी। इनके अतिरिक्त, केन्द्रीय मन्त्री-परिषद थी जिसमें प्रधान-मन्त्री, अन्य मन्त्री, विभागों के प्रधान आदि सम्मिलित थे। इनकी संख्या बीस के निकट थी। ये परिषदें अपने-अपने क्षेत्र और तरीकों से शासक को सलाह और सहायता देती थीं और अनेक अवसरों पर शासक को उनकी सलाह को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। विजयनगर के शासकों ने उत्तराधिकार के युद्धों से बचने के लिए एक उपयुक्त तरीका अपना रखा था। शासक अपने जीवित रहते हुए अपना युवराज अर्थात् राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया करता था और उसकी स्वीकृति केन्द्रीय परिषदों, प्रान्तपतियों, नायकों आदि से करा लिया करता था। सामान्यतया वह शासक का सबसे बड़ा पुत्र ही होता था। परन्तु राजा के पुत्र न होने पर राजपरिवार के किसी भी योग्य व्यक्ति को शासक अपना युवराज चुन लिया करता था। युवराज को शासन-कार्य में सम्मिलित किया जाता था जिससे अपने पिता के जीवित रहते हुए ही उसे शासन का अनुभव प्राप्त हो जाय। ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि शासक ने अपने जीवित रहते ही शासन युवराज को सौंप दिया। राजा की सहायता के लिए अन्य अनेक पदाधिकारी और शासन के विभिन्न विभाग होते थे जहाँ हजारों असैनिक अधिकारी कार्य करते थे। विजयनगर-राज्य छः प्रान्तों में बँटा हुआ था जहाँ प्रान्तपति प्रधान होता था। वे अधिकांशतया राजा के सम्बन्धी होते थे और उनके अधिकार विस्तृत थे। प्रान्त अन्य छोटी इकाइयों में विभक्त होते थे। प्रान्त राज्य अथवा मण्डलों में विभाजित थे जबकि मण्डल नाद, स्थल, कोट्टम, पर्श आदि छोटी इकाइयों में विभाजित किये गये थे। कुछ विद्वानों ने विजयनगर-साम्राज्य के शासन की एक मुख्य विशेषता अन्य क्षेत्रों से कुछ भिन्न जागीरदारी व्यवस्था को बताया है। उसे **नायंकार-व्यवस्था** पुकारा गया है। उनके अनुसार राजा अपने जागीरदारों को एक निश्चित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमि दे देता था। उस भूमि को **अमरम** पुकारते थे। ऐसी भूमि के स्वामियों अथवा जागीरदारों को **अमर-नायक** पुकारते थे। वे राजा को प्रति वर्ष एक निश्चित धनराशि देते थे और युद्ध के अवसर पर उसकी सहायता के लिए अपने पास एक निश्चित संख्या में सैनिक भी रखते थे। धीरे धीरे इन नायकों का अधिकार अपनी भूमियों पर पैतृक हो गया था। 16वीं सदी के मध्य में इनकी संख्या दो सौ के लगभग हो गयी थी। इनकी एक मुख्य विशेषता यह थी कि प्रान्तपतियों की तुलना में वे अपने आन्तरिक शासन में अधिक स्वतन्त्र थे। इसके अतिरिक्त, शासक सामान्यतया 'नायंकार' प्रदेशों के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। शासक प्रान्तपतियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण कर दिया करता था परन्तु अमर-नायकों का स्थान-परिवर्तन किया गया हो इसके प्रमाण प्राप्त नहीं होते; प्रान्तपतियों की तुलना में अमर-नायकों के कर्तव्य भी अधिक थे; और ऐसे उदाहरण हैं जबकि ब्राह्मणों को प्रान्तपति नियुक्त किया गया था परन्तु अमर-नायक ब्राह्मण हों ऐसे उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे जहाँ पंचायतें प्रायः स्वशासन के आधार पर कार्य करती थीं यद्यपि उनके अधिकार सीमित थे। गाँव के अधिकारियों के पद पैतृक थे। सेनटेयवा गाँव की आय-व्यय की देखभाल करता था, गाँव के चौकीदार को 'तलस' पुकारते थे और 'बेगरा' गाँव में बेगार, मजदूरी आदि की देखभाल करता था। नायंकार-व्यवस्था की भाँति विजयनगर-राज्य के शासन की एक अन्य विशेषता **आयगार-व्यवस्था** थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कुछेक गाँवों को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में संगठित किया गया और इस ग्रामीण प्रशासकीय इकाई पर शासन करने के लिए बारह व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। इन बारह अधिकारियों को सम्मिलित रूप से आयगार पुकारा गया। इन अधिकारियों की नियुक्ति सरकार के द्वारा की गयी और उनके पद अधिकांशतया पैतृक हो गये, यहाँ तक कि वे अपने पद को बेच या गिरवीं भी रख सकते थे। उनको वेतन नहीं मिलता था परन्तु उनकी सेवाओं के बदले में उन्हें राज्य के करों से मुक्त रखा गया था। उनके प्रशासकीय अधिकार और कर्तव्य भी निश्चित कर दिये गये थे। उनका मुख्य उत्तरदायित्व अपने शासन-क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना था। इन अधिकारियों की स्वीकृति के बिना न तो उनके क्षेत्र की भूमि बेची जा सकती थी और न दान की जा सकती थी। इसी प्रकार गाँव-प्रशासन में उनके अन्य भी अधिकार थे। इस आयगार-व्यवस्था ने गाँव पंचायतों (सभाओं) के अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया और वे शासन की स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में कार्य करने की स्थिति में नहीं रह गयीं। लगान, सिंचाई-कर, चरागाह-कर, व्यापारिक कर आदि राज्य की आय के मुख्य साधन थे। किसानों से पैदावार का 1/5 भाग अथवा उससे कुछ अधिक लगान के रूप में लिया जाता था। विजयनगर-राज्य में एक विशाल सेना थी। उसके लिए एक पृथक विभाग था जिसके अधिकारी को दण्डनायक अथवा सेनापति पुकारा जाता था। घुड़सवार, पैदल और हाथी उसके मुख्य अंग थे। उन्होंने तुर्की धनुर्धरों का भी प्रयोग किया था। राजाओं ने तोपखाना भी रखा था परन्तु वह बहुत श्रेष्ठ न था। विजयनगर-राज्य में सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचलन था। सिक्कों पर विभिन्न देवी-देवताओं अथवा उनके वाहनों (पशुओं) को अंकित किया गया था। विजयनगर के शासकों का दण्ड-विधान कठोर था। मृत्यु-दण्ड, अंग-विच्छेद और सम्पत्ति का जब्त कर लिया जाना मुख्य दण्ड थे। विजयनगर के शासक हिन्दू धर्म के वैष्णव-सम्प्रदाय को मानने वाले थे परन्तु उन सभी ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। उनके राज्य में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि सभी के प्रति समान व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार विजयनगर के शासकों ने एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की थी। परन्तु उनके सैनिक-संगठन में दुर्बलता रही। मुख्यतया उनका तोपखाना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्बल रहा। इसके अतिरिक्त उनके प्रान्तीय सूबेदारों और अमर-नायकों को बहुत अधिक विस्तृत अधिकार थे जिसके कारण ये केन्द्रीय शासन के दुर्बल होने पर स्वतन्त्र हो गये। अपने पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों को बसने का अधिकार देना भी विजयनगर-राज्य की भूल रही।

विजयनगर-राज्य में सामाजिक व्यवस्था सुगठित थी। समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी जिसमें ब्राह्मणों का स्थान बहुत श्रेष्ठ था। उन्हें सबसे अधिक विश्वासपात्र माना जाता था, किसी भी अपराध में उन्हें मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जा सकता था और राज्य की सैनिक और असैनिक सेवाओं में उन्हें उच्च पद प्रदान किये गये थे। अनेक अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मणों में से अनेक सफल सेनापति, मन्त्री, राजदूत आदि हुए थे। शेट्टी या चेट्टी नाम के एक समूह का उल्लेख भी विभिन्न अभिलेखों में प्राप्त हुआ है। यह विजयनगर-राज्य के व्यापारी-वर्ग में प्रमुख समुदाय था और बहुत धनाढ्य था। चेट्टियों की तरह व्यापार में निपुण दस्तकार वर्ग के लोगों को 'वीर पांचाल' कहा जाता था। विजयनगर में दास-प्रथा भी प्रचलित थी और पुरुष तथा स्त्री दास खरीदे और बेचे जाते थे। उनके खरीदे-बेचे जाने को 'वेश बाग' कहा जाता था। कर्ज न चुकाने पर भी व्यक्ति को कर्ज देने वाले का दास बनना पड़ता था। स्त्रियों का समाज में सम्मान था। वे सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती थीं और राज्य-सेवा में उनको स्थान प्राप्त होता था। वे संगीत, नृत्य जैसी ललित-कलाओं के अतिरिक्त शस्त्र-विद्या में भी भाग लेती थीं। गणिकाओं (वेश्याओं) का भी समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। वे दो तरह की होती थीं—1. मन्दिरों से सम्बन्धित, और 2. स्वतन्त्र ढंग से जीवन-यापन करने वाली। वे शिक्षित और धनवान होती थीं। गान और नृत्य-कला में पारंगत होना उनके लिए आवश्यक था। उनको सामाजिक दृष्टि से हेय नहीं देखा जाता था बल्कि सभी सार्वजनिक उत्सवों में वे भाग लेती थीं तथा धनाढ्य, सामन्त तथा शासक-वर्ग के व्यक्ति निसंकोच उनसे सम्पर्क रखते थे। स्त्री-अंगरक्षक भी रखे जाते थे। युद्ध में शौर्य का प्रदर्शन करने के कारण उन व्यक्तियों को सम्मान के रूप में पैर में गंडपेद्र नाम का कड़ा पहनाया जाता था। बाद में यह सम्मान असैनिक सम्मान के रूप में मन्त्रियों, विद्वानों, सैनिकों एवं अन्य सम्मानीय व्यक्तियों को दिया जाने लगा। अनेक विदुषी स्त्रियों को दरबार में स्थान प्राप्त था। परन्तु अल्पायु-विवाह, धनी व्यक्तियों में बहु-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा, देवदासी-प्रथा आदि कुप्रथाएँ समाज में प्रचलित थीं। परन्तु राज्य की ओर से स्त्रियों की दशा में सुधार के लिए प्रयत्न किये गये थे। इसके दो स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। बाल-विवाह की प्रथा के कारण दहेज की कुरीति बहुत बढ़ गयी थी। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण-समुदाय ने दहेज को अवैधानिक घोषित करने का निर्णय लिया। राज्य ने उसे स्वीकार करके दहेज लेना और देना गैर-कानूनी घोषित कर दिया था। यह 1424-25 ई. के एक अभिलेख से सिद्ध होता है। इसी प्रकार, विजयनगर-राज्य में विवाह-कर था जो दोनों पक्षों पर लागू होता था। परन्तु विधवा स्त्री से विवाह करने वाले व्यक्ति और स्त्री-पक्ष को इस कर से मुक्त रखा गया था। इस प्रकार, राज्य ने विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया था। इसी प्रकार, राज्य सती-प्रथा को भी संरक्षण प्रदान नहीं करता था यद्यपि उसे रोकता भी नहीं था। ब्राह्मणों का समाज में सम्मान था। वे माँस नहीं खाते थे। अन्य जातियों और जनसाधारण में माँस खाना प्रचलित था। यज्ञों में बकरों और भैंसों की बलि दी जाती थी। केवल गौ-माँस का भक्षण निषेध था। सूती और रेशमी दोनों ही प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग वहाँ होता था। पुरुष धोती, कमीज, टोपी या पगड़ी और कन्धे पर दुपट्टा प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ धोती और चोली पहनती थीं यद्यपि उच्च-वर्ग में पेटीकोट का भी रिवाज था। साधारण व्यक्ति जूता नहीं पहनते थे परन्तु धनी व्यक्ति उनका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। शिक्षा के लिए राज्य ने कोई विशेष व्यवस्था नहीं की थी। परन्तु मन्दिर और मठ शिक्षालय का भी कार्य करते थे और राज्य उन्हें प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता दिया करता था। 'अग्रहारों' में मुख्यतया वेदों की शिक्षा प्रदान की जाती थी।

आर्थिक दृष्टि से विजयनगर एक समृद्धशाली राज्य था। विजयनगर-साम्राज्य की मुद्रा प्रणाली भारत की सर्वाधिक प्रशंसनीय मुद्रा प्रणालियों में से थी। विजयनगर का सर्वाधिक प्रसिद्ध सिक्का स्वर्ण का वराह था, जिसका वजन 52 ग्रेन था, जिसे विदेशी यात्रियों में हूण, परदोस या पगोडा के रूप में उल्लेखित किया है। चाँदी के छोटे सिक्के 'तार' कहलाते थे। विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक हरिहर के स्वर्ण वराह सिक्कों पर हनुमान एवं गरुड़ की आकृतियाँ अंकित हैं। तुलुव वंश के सिक्कों पर गरुड़, उमा-महेश्वर, वेंकटेश और बालकृष्ण की आकृतियाँ तथा सदाशिवराय के सिक्कों पर लक्ष्मी-नारायण की आकृति अंकित है। आरावीड वंश के शासक वैष्णव धर्मानुयायी थे। अतः उनके सिक्कों पर वेंकटेश, शंख एवं चक्र अंकित हैं। विभिन्न विदेशी यात्रियों ने उसकी धन-सम्पत्ति की प्रशंसा की थी। इटली-निवासी यात्री निकोली कोण्टी, पुर्तगाल-निवासी यात्री डोमिंगोस पेइज और ईरानी यात्री अब्दुर्रज्जाक ने उसकी समृद्धि की अत्यधिक प्रशंसा की। उनके अनुसार केवल राजा ही धनवान न थे बल्कि उनकी प्रजा भी धनवान थी। जनसाधारण भी कानों, गलों, हाथों और उंगलियों में आभूषण पहनते थे। सोने के अतिरिक्त हीरा, मोती जैसे जवाहरातों तथा कीमती पत्थरों के प्रयोग का बहुत अधिक प्रचलन था। खाद्य-पदार्थों के गोदाम भरे रहते थे, किसी वस्तु की कमी न थी और सभी वस्तुओं के मूल्य कम थे। विजयनगर शहर की प्रशंसा सभी यात्रियों ने की थी। निकोली कोण्टी के अनुसार, "नगर का घेरा 60 मील का था जिसमें प्रायः 90 हजार व्यक्ति शस्त्र धारण करने के योग्य थे।" बारबोसा ने नगर की प्रशंसा करते हुए लिखा था : "नगर बहुत विस्तृत और सघन बसा हुआ है तथा भारत हीरों, पेगू के लाल, चीन और एलेक्जेण्ड्रिया की रेशम, सिन्दूर, कपूर, कस्तूरी तथा मलाबार की काली मिर्च और चन्दन के व्यापार का मुख्य केन्द्र-स्थान है।" साम्राज्य की इस समृद्धि के लिए विजयनगर के शासक भी उत्तरदायी थे। राजाओं ने अपनी धार्मिक उदारता के कारण सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त किया था। बारबोसा ने राजा कृष्णदेवराय की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा : "राजा धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार है। उसके राज्य में ईसाई, यहूदी, मुसलमान आदि बिना किसी रोक-टोक के आ-जा सकते हैं, निवास कर सकते हैं और स्वेच्छा से अपने धर्म का पालन कर सकते हैं।" विजयनगर शहर की प्रशंसा करते हुए ईरानी यात्री अब्दुर्रज्जाक ने लिखा था : "विजयनगर सदृश न तो कोई शहर देखा है और न उसके समान विश्व में किसी नगर के बारे में सुना है। नगर की सुरक्षा के लिए एक के अन्दर एक सात परकोटे बनाये गये हैं।" इसी प्रकार, पुर्तगाली यात्री डोमिंगोस पेइज ने लिखा : "यह विश्व का सबसे सुन्दर शहर है जहाँ पर गेहूँ, चावल, जौ, दालों और अन्य सभी वस्तुओं की भरमार है।" वह पुनः लिखता है : "यहाँ के राजा के पास अकथक सम्पत्ति, सैनिक और हाथी हैं क्योंकि यहाँ ये प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इस शहर में तुम्हें सभी देश के निवासी मिलेंगे क्योंकि यहाँ के निवासी सभी देशों से कीमती पत्थरों, मुख्यतया हीरों का व्यापार करते हैं।" कृषि, व्यापार तथा उद्योग सभी में उन्नति हुई थी। सिंचाई के साधन उपलब्ध थे और कृषि-योग्य भूमि में विस्तार किया गया था। आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विजयनगर का व्यापार मलाया, बर्मा, चीन, अरब, ईरान, अफ्रीका, अबीसीनिया और पुर्तगाल से होता था। कपड़ा, चावल, शोरा, चीनी, मसाले, इत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि विदेशों को भेजे जाते थे तथा घोड़े, मोती, ताँबा, कोयला, पारा, रेशम आदि विदेशों से मँगाये जाते थे। व्यापार स्थल और जल (समुद्र) दोनों ही मार्गों से होता था और भारतीय पानी के जहाजों का निर्माण करते थे। अब्दुर्रज्जाक के कथनानुसार विजयनगर-साम्राज्य में 300 बन्दरगाह थे। विजयनगर-राज्य का अपना एक छोटा जल-बेड़ा भी था। वस्त्र, इत्र और धातुओं के बर्तन आदि बनाना वहाँ के मुख्य उद्योग थे। व्यापार और उद्योगों की देखभाल के लिए व्यापारिक-संघ बने हुए थे। इन सभी से राज्य और प्रजा सुखी एवं समृद्ध थी।

साहित्य और कला की दृष्टि से भी विजयनगर-राज्य प्रगतिशील रहा। विभिन्न शासकों ने संस्कृत, तेलुगू, तमिल और कन्नड़ भाषाओं के साहित्य में रुचि ली। इसके प्रारम्भिक काल में ही वेदों के प्रख्यात टीकाकार सायण और उनके भाई माधव विद्यारण्य हुए थे। बुक्का प्रथम ने तेलुगू-साहित्य को प्रोत्साहन दिया। उसने तेलुगू के महान कवि नचन सोम को सरक्षण दिया। देवराय द्वितीय ने 34 कवियों को संरक्षण प्रदान किया था। कृष्णदेवराय ने तेलुगू को संस्कृत के प्रभाव से मुक्त किया और 'प्रबन्ध' नामक तेलुगू की स्वतन्त्र रचनाओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उसके दरबार में तेलुगू के आठ महान् कवि थे जिनमें वेदन्ना भी शामिल था। उसने तेलुगू के अतिरिक्त तमिल और कन्नड़ भाषा के विद्वानों को भी संरक्षण प्रदान किया। इस कारण कृष्णदेवराय के समय में साहित्यिक प्रगति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। विभिन्न विद्वानों को राजदरबार में सम्मान दिया गया। स्वयं कृष्णदेवराय भी विद्वान था। उसने कई पुस्तकें लिखी थीं जिनमें से केवल एक 'अमुक्तमल्यद' प्राप्त हो सकी है। इस सम्पूर्ण समय में संगीत, नृत्यकला, नाटक, व्याकरण, दर्शन, धर्म आदि सभी पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। ललित-कलाओं में चित्रकला, संगीत, नृत्यकला और स्थापत्य-कला की विशेष प्रगति हुई। विट्ठलस्वामी का मन्दिर तथा कृष्णदेवराय के द्वारा बनवाया गया हजार स्तम्भों वाला मन्दिर हिन्दू स्थापत्य-कला के अद्वितीय नमूने माने गये हैं।

इस प्रकार विजयनगर राज्य-विस्तार, शक्ति, शासन, सम्पन्नता, साहित्य और ललित-कला आदि की प्रगति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक हो जाता है कि उसने दक्षिण-भारत में हिन्दू धर्म, सभ्यता और समाज को एक लम्बे समय तक सुरक्षित एवं पल्लवित होने देने में सफलता दिलायी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के शब्दों में, "विजयनगर-साम्राज्य ने दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करके एक महान् ऐतिहासिक उद्देश्य को पूरा किया।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. बहमनी राज्य के उत्थान और पतन पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. विजयनगर साम्राज्य के उत्थान पर प्रकाश डालिए। उसके पतन के क्या कारण थे ?
3. दक्षिण भारत के इतिहास में विजयनगर साम्राज्य के राजनीतिक और सांस्कृतिक योगदान को स्पष्ट कीजिए।
4. बहमनी राज्य की शासन व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ?
5. विजयनगर राज्य की शासन व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कश्मीर के प्रान्तीय राज्य पर एक लेख लिखिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. जौनपुर के शर्की शासकों की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
3. विजयनगर की आर्थिक दशा पर एक लेख लिखिए।
4. विजयनगर में कला और साहित्य की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
5. विजयनगर राज्य की सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
6. कृष्णदेवराय की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
7. बहमनी राज्य के पतन पर एक लेख लिखिए।
8. बहमनी राज्य के उत्थान का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 1339 ई. में कश्मीर में कौन मुस्लिम शासक शासन करता था ?
   (अ) शाहमीर उर्फ शमसुद्दीन शाह (ब) अलाउद्दीन शाह
   (स) जमशेद (द) इनमें से कोई नहीं।
2. जैन-उल-अबीदीन कश्मीर की गद्दी पर आसीन हुआ था—
   (अ) 1418 ई. में (ब) 1419 ई. में
   (स) 1420 ई. में (द) 1421 ई. में।
3. अबीदीन ने हिन्दुओं के प्रति अपने झुकाव के लिए फारसी में अनुवाद कराया था—
   (अ) महाभारत का (ब) राजतरंगिनी का
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
4. किस शर्की शासक के काल में दिल्ली और जौनपुर के सम्बन्धों में कटुता आ गयी थी ?
   (अ) अलाउद्दीन शाह (ब) शमसुद्दीन इब्राहीमशाह
   (स) महमूदशाह (द) इनमें से कोई नहीं।
5. कितने वर्ष की स्वतंत्रता के बाद जौनपुर पुनः दिल्ली सल्तनत का भाग बना था ?
   (अ) 60 वर्ष की (ब) 65 वर्ष की
   (स) 70 वर्ष की (द) 75 वर्ष की।
6. 1337-38 ई. में विद्रोह दमन के बाद किसने अपने आपको बंगाल का स्वतन्त्र शासक घोषित किया था ?
   (अ) फखरुद्दीन ने (ब) नासिरुद्दीन ने
   (स) अलाउद्दीन ने (द) इनमें से कोई नहीं।
7. जफरखाँ ने अपने आपको 'सुल्तान मुजफ्फरशाह' के नाम से गुजरात का शासक घोषित किया था —
   (अ) 1405 ई. में (ब) 1407 ई. में
   (स) 1408 ई. में (द) 1410 ई. में।
8. गुजरात के प्रसिद्ध शासक महमूद बेगड़ा का मूल नाम था—
   (अ) महमूद (ब) अबुल फतह
   (व) फतह खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।
9. महमूद बेगड़ा ने गुजरात पर शासन किया था—
   (अ) 50 वर्ष (ब) 51 वर्ष
   (स) 52 वर्ष (द) 53 वर्ष।
10. मुगल शासक बाबर के काल में गुजरात में शासन था—
   (अ) बहादुरशाह (ब) मुजफ्फरशाह द्वितीय
   (स) खलील खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. दक्षिण में बहमनी वंश का प्रथम शासक था—
(अ) अलाउद्दीन बहमनशाह (ब) नासिरुद्दीन बहमनशाह
(स) कमालुद्दीन बहमनशाह (द) अबुल हसन मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह।

12. अहमदशाह की मृत्यु पर उसके पुत्र ने उसकी कब्र पर मकबरा कहाँ बनाया था ?
(अ) बरार में (ब) बीदर में
(स) अहमदनगर में (द) दौलताबाद में।

13. महमूद गवां द्वारा लिखित ग्रंथ का नाम था—
(अ) रौलत-उल-इन्शा (ब) दीवान-ए-असरा
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

14. बहमनी राज्य का अस्तित्व किस मुगल शासक के काल में समाप्त हुआ था ?
(अ) अकबर के (ब) जहाँगीर के
(स) औरंगजेब के (द) शाहजहाँ के।

15. बहमनी शासन प्रबन्ध के अन्तर्गत अमीर-ए-जुमला से तात्पर्य है—
(अ) विदेश मन्त्री (ब) अर्थमन्त्री
(स) न्यायाधीश (द) इनमें से कोई नहीं।

16. सेना का सबसे बड़ा अधिकारी होता था—
(अ) वकील-उस-सल्तनत (ब) पेशवा
(स) अमीर-उल-उमरा (द) साख-ए-खेल।

17. विजयनगर राज्य की स्थापना का श्रेय जाता है—
(अ) हरिहर और बुक्का को (ब) कृष्णदेव राय को
(स) वीर बल्लाल तृतीय को (द) इनमें से कोई नहीं।

18. सालुव वंश की नींव डाली थी—
(अ) नासिरुद्दीन ने (ब) देवराय सालुव ने
(स) वीरुपाक्ष द्वितीय ने (द) नरसिंह सालुव ने।

19. कृष्णदेव राय विजयनगर का शासक बना था—
(अ) 1509 ई. में (ब) 1510 ई. में
(स) 1511 ई. में (द) 1512 ई. में।

20. 1565 ई. में तालीकोटा का युद्ध किन दो शक्तियों के मध्य हुआ था ?
(अ) मुगलों और विजयनगर में (ब) बहमनी राज्य व विजयनगर के बीच
(स) मुगलों व बहमनी राज्य में (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (स), 4. (ब), 5. (द), 6. (अ), 7. (ब), 8. (स), 9. (द), 10. (अ), 11. (द), 12. (ब), 13. (स), 14. (द), 15. (ब), 16. (स), 17. (अ), 18. (द), 19. (अ), 20. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18

मंगोल-आक्रमण और सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

जब तक यूरोपियन जातियों ने समुद्री मार्ग से भारत में प्रवेश नहीं किया तब तक भारत की सीमाओं में प्रवेश करने के मार्ग उत्तर-पूर्व अथवा उत्तर-पश्चिम से ही थे। उत्तर-पूर्व में हिमालय, असम के पहाड़ और जंगल तथा भारी वर्षाग्रस्त क्षेत्र ने भारतीय सीमाओं को बड़ी मात्रा में सुरक्षा प्रदान की। इसके अतिरिक्त तिब्बत अथवा बर्मा में किसी शक्तिशाली एवं विस्तारवादी साम्राज्य की अनुपस्थिति ने भी सम्पूर्ण मध्य-युग में भारत की उत्तर-पूर्वी सीमाओं को विदेशी आक्रमणों से मुक्त रखा। परन्तु भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा की स्थिति इससे पृथक रही। उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश के पहाड़ों में खैबर, बोलन, कुर्रम, तोची और गोमल के दर्रे भारत को अफगानिस्तान, मध्य-एशिया तथा ईरान जैसे दूरस्थ प्रदेशों से सम्पर्क की सुविधा प्रदान करते थे। स्थल-मार्ग से विदेशों से व्यापार करने के मार्ग यही थे और भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों को भी यही मार्ग प्रदान करते थे। मध्य-युग तक भारत पर इसी दिशा से आक्रमण हुए। मध्य-एशिया और उससे भी दूरस्थ प्रदेशों में हुई राजनीतिक हलचलें भी इन आक्रमणों का कारण बनीं। इन प्रदेशों में समय-समय पर बर्बर, अर्द्ध-सभ्य अथवा सभ्य जातियों के शक्तिशाली साम्राज्यों का निर्माण एवं उत्थान हुआ। उनकी बढ़ती हुई शक्ति भारत की सीमाओं से टकराई, उन्होंने भारत पर आक्रमण किये और यहाँ की राजनीति को प्रभावित किया। ईरानी, यूनानी, हूण, शक, यूची, कुषाण, अरब, तुर्क, मंगोल आदि सभी विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा से ही भारत में प्रवेश किया और भारतीय राजनीति को प्रभावित किया।

उन्हीं में से एक जाति मंगोल थी जिसने दिल्ली-सल्तनत के युग में भारत पर निरन्तर आक्रमण किये और दिल्ली-सुल्तानों की राजनीति को प्रभावित किया। मंगोल चीन के उत्तर में गोबी के रेगिस्तान के निकट घास के मैदान के निवासी थे। वह एक घूमने-फिरने वाली अर्द्धसभ्य जाति थी तथा उसका मुख्य पेशा घोड़ों और अन्य पशुओं का पालन करना था। वे बहुत गन्दे रहते थे और सभी प्रकार का माँस खाते थे। साधारणतया एक मंगोल अत्यधिक आलसी होता था परन्तु आवश्यकता पड़ने पर वह कठिन परिश्रम कर सकता था। एक मंगोल निरन्तर 40 घण्टे तक घोड़े की पीठ पर बैठकर यात्रा कर सकता था। उनमें स्त्री-विषयक नैतिकता का सर्वथा अभाव था यद्यपि वे माँ का सम्मान करते थे। उनके मुख्य शौक घुड़सवारी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिकार और शस्त्र-द्वन्द्व थे। वे विभिन्न कबीलों में बँटे हुए थे जिनमें परस्पर शत्रुता रहती थी। उन्हीं कबीलों में से एक में 1163 ई. में तेमूचिन उर्फ चंगेजखाँ का जन्म हुआ जिसे 'महान्' (Chengiz the Great) और 'श्रापित' (The Accursed) दोनों पुकारा गया। उसके पिता येसूगाई बहादुर ने तेमूचिन की माँ को एक अन्य सरदार से छीना था और मंगोल परम्परा के अनुसार वह उसकी जायज पत्नी न थी। तेमूचिन जब बहुत छोटा था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी और उसे, उसकी माँ, भाई और एकमात्र बहन को प्रतिदिन मजदूरी करके अपना भरण-पोषण करना पड़ा। यही तेमूचिन जिसके बारे में यह विश्वास किया गया था कि वह रक्तरंजित हाथों को लेकर पैदा हुआ था, इतिहास में चंगेजखाँ के नाम से विख्यात हुआ और उसने संसार में सबसे बड़े मंगोल-साम्राज्य की नींव डाली। चंगेजखाँ ने आलसी और असभ्य मंगोल जाति को एक राष्ट्र में संगठित कर दिया। उसने उन्हें एक शक्तिशाली सैनिक अभ्युदल में परिवर्तित किया और पहली बार उनके समाज, न्याय, दण्ड-व्यवस्था आदि के नियम बनाये। अपने समय में ही उसने चीन के अधिकांश भाग, रूस के दक्षिणी भाग, मध्य-एशिया, टर्की, पर्शिया और अफगानिस्तान के प्रदेशों को जीत कर एक महान् साम्राज्य स्थापित किया। तुर्किस्तान का ख्वारिज्म-साम्राज्य तथा बगदाद के खलीफा का राज्य और सम्मान उसके सम्मुख धूल में मिल गये। चंगेजखाँ अपने जीवन में अपराजित रहा और जहाँ-जहाँ भी वह गया, शक्तिशाली से शक्तिशाली शासक और राज्य उसकी शक्ति, भय एवं आतंक के एक झटके से ही खण्डित हो गये। जहाँ-जहाँ भी मंगोल गये, उन्होंने सम्पूर्ण जनता और सभ्यता के सभी चिन्हों को नष्ट कर दिया। साइक ने लिखा है : "इतिहास में भयंकरता और गम्भीर परिणामों की दृष्टि से मंगोल आक्रमण की तुलना किसी अन्य आक्रमण से नहीं की जा सकती।" एक लम्बे समय तक सम्पूर्ण एशिया और यूरोप में मंगोल-आक्रमणों का भय व आतंक व्याप्त रहा। मंगोलों की शक्ति का मुख्य आधार उनकी घुड़सवार-सेना थी। अकस्मात आक्रमण करना, द्रुतगति से पीछे हटना, पुनः पलटकर आक्रमण करना और दौड़ते हुए घोड़ों की पीठ पर बैठे रहकर पीछा करते हुए शत्रुओं पर पीठ के पीछे भी तीव्रता से तीर चलाते रहना उनकी मुख्य विशेषता थी। मंगोलों की एक मुख्य विशेषता उनकी गतिशीलता थी। उनके साथ अधिक सामान नहीं होता था और सम्पूर्ण सेना एक-एक दिन या रात्रि में 20-20 मील या उससे भी अधिक आगे या पीछे हो जाती थी। उनके मुख्य शस्त्र एक भाला, घुड़सवारों को घोड़ों की पीठ पर से खींचने के लिए एक काँटा, तीर-कमान और तलवार थे। चंगेजखाँ के नेतृत्व ने उन्हें बहुत अच्छा संगठन और नेतृत्व प्रदान किया तथा विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए उन्होंने विभिन्न युद्ध-शैलियों का अनुभव प्राप्त कर लिया जिसके कारण चंगेजखाँ के समय में मंगोल अजेय बन गये और उसके पश्चात् भी 14वीं सदी तक एशिया और यूरोप में आतंक का कारण बने रहे। ऐसी कट्टर, युद्धप्रिय, क्रूर और विश्व-विजेता जाति से दिल्ली-सल्तनत को संकट उपस्थित हुआ। भाग्य से भारत पर मंगोलों के आक्रमण उस समय में नहीं हुए जबकि वे अपनी शक्ति की चरम सीमा पर थे अन्यथा, सम्भवतया, दिल्ली-सल्तनत और भारत पर तुर्कों की विजय नष्ट हो जाती।

मंगोल-आक्रमण का भय सबसे पहले सुल्तान इल्तुतमिश के समय में तब उत्पन्न हुआ जब ईरान के युवराज जलालुद्दीन मंगबर्नी का पीछा करता हुआ स्वयं चंगेजखाँ सिन्धु नदी के तट पर पहुँचा। इल्तुतमिश ने कूटनीति से काम लिया। उसने जलालुद्दीन मंगबर्नी द्वारा भेजे गये राजदूत का वध करा दिया तथा जलालुद्दीन को सहायता और शरण देने से इंकार कर दिया। ऐसी स्थिति में चंगेजखाँ ने सिन्धु नदी को पार करके दिल्ली-सल्तनत की सीमाओं में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवेश करने का विचार नहीं किया और वह अपनी सेना के एक भाग को जलालुद्दीन की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए छोड़ कर वापस चला गया। सुल्तान रजिया ने भी मंगोलों के प्रति अपने पिता द्वारा अपनायी गयी नीति का अनुसरण किया। जलालुद्दीन द्वारा छोड़े गये गजनी और बामियान के सूबेदार मलिक हसन कार्लूग को उसने मंगोलों के विरुद्ध सहायता देने से इंकार कर दिया और इस प्रकार मंगोलों की शत्रुता से अपने राज्य को बचाकर रखा। रजिया की मृत्यु के उपरान्त, सम्भवतया, मंगोलों और दिल्ली-सल्तनत का व्यावहारिक समझौता नष्ट हो गया तथा मंगोलों ने सिन्धु नदी को पार करके पंजाब में प्रवेश किया। 1241 ई. में बहादुर ताइर के नेतृत्व में मंगोलों ने लाहौर को लूटा और ध्वस्त किया। 1247 ई. में सली बहादुर के नेतृत्व में मंगोलों ने एक आक्रमण मुल्तान पर किया। वहाँ से बहुत सा धन लेकर उन्होंने लाहौर पर आक्रमण किया और वहाँ से भी पर्याप्त धन लूटकर वापस चले गये। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में भी मंगोलों ने विभिन्न आक्रमण किये। उस समय तक सम्पूर्ण मुल्तान, सिन्ध और पश्चिमी पंजाब मंगोलों के हाथों में चला गया था और नासिरुद्दीन अथवा उसके नाइब बलबन ने इन प्रदेशों को मंगोलों से छीनने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि मंगोल नेता हलाकू से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और राजदूतों का आदान-प्रदान किया।

जब बलबन स्वयं सुल्तान बना तब उसने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए ठोस कदम उठाये। उसी समय मिस्र में हलाकू की पराजय ने मंगोल-शक्ति को एक बड़ा धक्का पहुँचाया जिसके कारण उनके आक्रमणों की भीषणता कम हो गयी। इससे बलबन को लाभ हुआ और उसने लाहौर को जीतने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उसने सीमा पर किलों की एक कतार बनायी, प्रत्येक किले में स्थायी रूप से एक बड़ी सेना रखी और योग्य सरदारों को सीमारक्षक के रूप में नियुक्त किया। आरम्भ में कुछ वर्षों तक उसकी सीमा की सुरक्षा का भार उसके चचेरे भाई शेरखाँ को दिया गया जिसे कुछ इतिहासकारों ने एक महान् योद्धा बताया है और उसे मंगोलों के आक्रमण के विरुद्ध कई युद्धों में सफलता प्राप्त करने का श्रेय प्रदान किया है। परन्तु डॉ. के. ए. निजामी के अनुसार उसका नाम किसी भी महत्वपूर्ण युद्ध में नहीं आया और उसकी वफादारी सन्देहजनक थी जिसके कारण बलबन ने उसे जहर देकर मरवा दिया। लाहौर, मुल्तान और दिपालपुर का क्षेत्र शाहजादा मुहम्मद को और सुनम, समाना तथा उच्छ का क्षेत्र शाहजादा बुगराखाँ के संरक्षण में दिया गया तथा प्रत्येक शाहजादे के साथ 18 हजार घुड़सवारों की एक शक्तिशाली सेना रख दी गयी। जब बुगराखाँ को बंगाल का सूबेदार बना दिया गया तब शाहजादा मुहम्मद ने सम्पूर्ण सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सँभाला। शाहजादा मुहम्मद ने कई मंगोल-आक्रमणों को विफल किया परन्तु अन्त में 1286 ई. में अचानक मंगोल सेना द्वारा घिर जाने के कारण वह मारा गया। उसके पश्चात् कैकुबाद को सीमारक्षक नियुक्त किया गया। कैकुबाद योग्य न था परन्तु फिर भी दो बार हुए मंगोलों के आक्रमण ने लूटमार के अतिरिक्त दिल्ली-सल्तनत को अधिक क्षति पहुँचाने में सफलता नहीं पायी। बलबन के अन्तिम समय में जलालुद्दीन खलजी को सीमारक्षक का पद दिया गया जो मंगोलों के साधारण आक्रमणों को रोकने में सफल रहा।

इस प्रकार, बलबन ने मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध कुछ ठोस कदम उठाये और सफलता प्राप्त की। सम्भवतया, इसका एक कारण मंगोलों की स्वयं की दुर्बलता थी जो मिस्र में हलाकू की पराजय के कारण उत्पन्न हुई थी। इसके अतिरिक्त इस समय में मंगोलों के आक्रमण लूटमार तक ही सीमित रहे। उनका उद्देश्य दिल्ली-राज्य की सीमाओं को जीतना न था। फिर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी तथाकथित गुलाम-शासकों के सम्पूर्ण समय में अधिकांशतया व्यास नदी मंगोलों और दिल्ली-सल्तनत के राज्य की सीमा-रेखा रही। बलबन भी लाहौर को अपने अधीन करने के अतिरिक्त मंगोल-क्षेत्र में बढ़ने का साहस नहीं कर सका।

1292 ई. में **जलालुद्दीन खलजी** के समय में हलाकू के एक प्रपौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व में मंगोलों की एक बड़ी सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सुनम तक पहुँच गयी। स्वयं जलालुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए सिन्धु नदी के तट तक गया। बरनी के कथनानुसार जलालुद्दीन ने मंगोलों को परास्त करके वापस जाने के लिए बाध्य किया। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ था। छुटपुट के आक्रमणों में जलालुद्दीन को सफलता मिली और जब मंगोलों की एक बड़ी टुकड़ी ने सिन्धु नदी को पार करके जलालुद्दीन पर आक्रमण किया तब उसे विफल कर दिया गया और बहुत से मंगोल पदाधिकारी कैद कर लिये गये। उसके पश्चात् सन्धि की बातचीत हुई जो जलालुद्दीन के लिए अधिक सम्मानजनक न थी। जलालुद्दीन ने मंगोलों को अपने देश में बसने की आज्ञा दे दी। चंगेजखाँ के एक वंशज उलगू ने अपने 4,000 समर्थकों के साथ भारत में रहने का निश्चय किया और उन्होंने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। मंगोल सेना वापस चली गयी। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू के साथ कर दिया और उसे तथा उसके साथियों को दिल्ली के निकट बसने की आज्ञा दे दी। ये मंगोल 'नवीन मुसलमान' कहलाये।

सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के समय में भारत पर मंगोलों के भीषणतम आक्रमण हुए। यद्यपि चंगेजखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य का बँटवारा हो गया था और पारस्परिक युद्धों के कारण मंगोलों की शक्ति पहले की तुलना में बहुत दुर्बल हो गयी थी तथापि मंगोल एशिया में एक बड़ी शक्ति थे। उस समय गजनी और काबुल उनके अधीन थे जिनको आधार बनाकर वे भारत पर सुविधा से आक्रमण कर सकते थे। उस समय में भारत पर उनके विभिन्न आक्रमणों को उद्देश्य केवल लूटमार तक सीमित नहीं रहा बल्कि उन्होंने भारत-विजय अथवा बदले की भावना से आक्रमण किये। 1297-98 ई. में कादर के नेतृत्व में एक लाख की संख्या में एक सेना ने पंजाब पर आक्रमण करके लाहौर के निकटवर्ती क्षेत्रों को लूटना आरम्भ किया। परन्तु अलाउद्दीन के द्वारा भेजी गयी दिल्ली की सेना ने जफरखाँ और उलुगखाँ के नेतृत्व में मंगोलों को जालन्धर के निकट परास्त किया। प्रायः 20,000 मंगोल युद्ध में मारे गये तथा अनेक पदाधिकारी, सैनिक, स्त्री और बच्चे पकड़कर दिल्ली भेज दिये गये। 1299 ई. में सलदी के नेतृत्व में मंगोलों ने दूसरा आक्रमण किया परन्तु जफरखाँ ने उन्हें परास्त कर दिया और सलदी तथा अनेक मंगोलों को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया। 1299 ई. में ट्रान्स-ऑक्सियाना के मंगोल शासक दवाखाँ ने अपने पुत्र कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मंगोलों की सेना को सलदी की पराजय और मृत्यु का बदला लेने के लिए भारत पर आक्रमण करने को भेजा। इस बार वे अलाउद्दीन से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध होकर आये थे। इस कारण मार्ग में बिना समय नष्ट किये हुए वे दिल्ली के निकट पहुँच गये। कीली के मैदान में अलाउद्दीन ने उनसे युद्ध किया। अलाउद्दीन की दृढ़ता और जफरखाँ के शौर्य से पहले दिन के युद्ध में ही मंगोल पराजित हो गये। जफरखाँ युद्ध में मारा गया परन्तु मंगोल रात्रि को ही 30 कोस वापस लौट गये और तत्पश्चात् भारत से चले गये। मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के युद्ध से वापस ही लौटा था और उसकी एक बड़ी सेना तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए गयी हुई थी। मंगोल नेता तार्गी ने 1,20,000 घुड़सवार लेकर दिल्ली पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन को सीरी के किले में शरण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनी पड़ी और मंगोलों ने उसे घेर लिया। परन्तु दो महीने के घेरे के पश्चात् विफल होकर मंगोल दिल्ली की सड़क और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों को लूटकर वापस चले गये। इस आक्रमण ने अलाउद्दीन को सचेत कर दिया। उसने सीरी के किले को सुदृढ़ किया, उसी को अपनी राजधानी बनाया, दिल्ली के किले की मरम्मत करायी, उत्तर-पश्चिम सीमा के पुराने किलों की मरम्मत करायी, कुछ नवीन किले बनवाये, उन किलों में स्थायी सेना रखी तथा सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए एक पृथक सेना और एक पृथक सूबेदार (सीमारक्षक) नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त, उसने अपनी सेना की संख्या बढ़ायी और उसमें नवीन सुधार किये। 1305 ई. में अलीबेग और तार्तांक के नेतृत्व में मंगोलों की सेना ने पुनः आक्रमण किया। पिछले आक्रमण का नेता तार्गी भी उनके साथ सम्मिलित हो गया। सीमा के किलों को छोड़ते हुए मंगोल अमरोहा तक पहुँच गये। मलिक काफूर और गाजी मलिक ने वापस लौटती हुई मंगोल सेना पर आक्रमण किया। तार्गी एक युद्ध में पहले ही मारा जा चुका था और इस अवसर पर अलीबेग और तार्तांक को बन्दी बना लिया गया तथा उनके सिरों को काटकर सीरी के किले की दीवार में चिनवा दिया गया। इस युद्ध के पश्चात् गाजी मलिक को सीमारक्षक बनाया गया। 1306 ई. में अलीबेग और तार्तांक की मृत्यु का बदला लेने के लिए मंगोलों ने पुनः आक्रमण किया। उनकी एक सेना कबक के नेतृत्व में मुल्तान होती हुई रावी नदी की ओर बढ़ी। मलिक काफूर ने कबक को रावी के तट पर परास्त करके कैद कर लिया और उसके पश्चात् नागौर की ओर बढ़ती हुई सेना पर आक्रमण किया। मंगोलों की वहाँ पर भी पराजय हुई और वे भाग गये। कबक के साथ-साथ प्रायः 50,000 मंगोलों को पकड़कर दिल्ली लाया गया जहाँ पुरुषों को कत्ल कर दिया गया तथा स्त्री और बच्चों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया। यह अलाउद्दीन के समय में मंगोलों का अन्तिम आक्रमण था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने मंगोल-आक्रमणों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। 1307 ई. में दवाखाँ की मृत्यु हो जाने के कारण मंगोलों की आक्रमणकारी शक्ति दुर्बल हो गयी और अलाउद्दीन के अन्तिम वर्षों में भारत पर मंगोलों के आक्रमण नहीं हुए। अलाउद्दीन का सैन्य-संगठन और सीमा की सुरक्षा के लिए किये गये प्रयत्न इसके लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थे। फरिश्ता तथा बरनी के कथनानुसार सीमारक्षक मलिक गाजी ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये तथा मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्र में लूटमार की और कर वसूल किया जिसके कारण मंगोलों की आक्रमणकारी शक्ति नष्ट हो गयी।

अलाउद्दीन के पश्चात् मंगोलों के बहुत गम्भीर आक्रमण नहीं हुए। गियासुद्दीन तुगलक के समय में हुए आक्रमण को विफल कर दिया गया। मुहम्मद तुगलक के समय में 1327 ई. में मंगोल नेता तार्माशीरीन ने मुल्तान तथा लाहौर से लेकर बदायूँ और मेरठ तक लूटमार की। इसामी के अनुसार मंगोलों को मेरठ के निकट परास्त करके वापस जाने के लिए बाध्य किया गया, परन्तु फरिश्ता के अनुसार मुहम्मद तुगलक ने मंगोलों को बहुमूल्य भेंट देकर वापस किया था। उसके पश्चात् भारत पर मंगोलों के आक्रमण नहीं हुए। मध्य-एशिया के मंगोलों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और तुर्कों के नेता तिमूर ने वहाँ एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करके मंगोल-प्रभाव को नष्ट कर दिया। इस कारण जबकि 14वीं सदी में दिल्ली-सल्तनत की स्थिति बहुत दुर्बल थी, तब भी भारत मंगोल-आक्रमण के भय से मुक्त रहा।

इस प्रकार, दिल्ली-सल्तनत के समय में हुए सभी मंगोल-आक्रमण असफल हुए और वे लूटमार के अतिरिक्त भारत को अधिक हानि नहीं पहुँचा सके। वे भारत के किसी भी भाग पर स्थायी अधिकार करने में सर्वथा असफल रहे। मंगोलों की इस असफलता के विभिन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण थे। चंगेजखाँ ने भारत पर आक्रमण नहीं किया और उसके बाद मंगोलों की एकता नष्ट हो गयी। मध्य-एशिया के मंगोलों ने चीन के मंगोल शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया और अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। ऐसी स्थिति में भारत पर मंगोलों के आक्रमण उनके महान् खानों (शासकों) के द्वारा नहीं हुए बल्कि मुख्यतया ईरान के इल-खानों द्वारा अथवा ट्रांस-ऑक्सियाना के चगताई-खानों के द्वारा भेजी गयी सेनाओं के द्वारा हुए। इसके अतिरिक्त इल-खानों और चगताई-खानों में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी। दवाखाँ ने, जिसने भारत पर आक्रमण करने के लिए निरन्तर सेनाएँ भेजी थीं, मध्य-एशिया में प्रायः 40 युद्ध किये थे। इस कारण मंगोलों की शक्ति के विभक्त हो जाने और उनकी पारस्परिक शत्रुता ने उन्हें दुर्बल बनाया तथा भारत जैसे दूरस्थ प्रदेशों में उन्हें सफलता के योग्य नहीं छोड़ा। बाद के समय में मंगोल अपनी गतिशीलता और दृढ़ता को भी खो बैठे थे। अलाउद्दीन के समय में अनेक स्त्रियों और बच्चों का युद्ध में पकड़ा जाना इस बात का प्रमाण था कि मंगोलों ने उन्हें अपने साथ युद्ध में लाना आरम्भ कर दिया था जिससे उनकी सैनिक-शक्ति पर अवश्य कुप्रभाव पड़ा होगा। इसके अतिरिक्त, भारत पर मंगोलों के सर्वाधिक भयंकर आक्रमण उस समय में हुए जब अलाउद्दीन खलजी यहाँ का सुल्तान था जो स्वयं एक योग्य सेनापति और सैनिक-प्रबन्धक था तथा जिसने केन्द्र पर एक विशाल सेना रखी हुई थी।

मंगोल-आक्रमणों ने दिल्ली-सुल्तानों की राजनीति को प्रभावित किया। उनमें से योग्य सुल्तानों, जैसे बलबन और अलाउद्दीन, ने बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखीं और शक्ति के आधार पर स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की स्थापना का प्रयत्न किया। सुल्तानों की विस्तारवादी नीति पर भी एक गम्भीर प्रभाव पड़ा। अलाउद्दीन के अतिरिक्त दिल्ली का अन्य कोई भी सुल्तान निश्चिन्त होकर भारत के विस्तृत प्रदेश को जीत कर अपनी सत्ता के अधीन करने का प्रयत्न नहीं कर सका। इस प्रकार, अप्रत्यक्ष रूप से मंगोल-आक्रमणों ने इस युग की राजनीति को प्रभावित किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. दिल्ली सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा नीति की समीक्षा कीजिए।
2. दिल्ली सुल्तानों के समय में हुए मंगोल आक्रमणों पर एक टिप्पणी लिखिए। उनका क्या परिणाम रहा ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. उत्तर-पश्चिम सीमान्त नीति के तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए।
2. बलबन ने अपने शासन काल में उत्तर-पश्चिम सीमान्त नीति को सुदृढ़ बनाने के लिए क्या कदम उठाये थे ?
3. मंगोलों के प्रति जलालुद्दीन की नीति को स्पष्ट कीजिए।
4. अलाउद्दीन खलजी के शासन में होने वाले मंगोलों के आक्रमण का वर्णन कीजिए।
5. दिल्ली सल्तनत काल में मंगोल आक्रमणों की असफलता के कारण लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समुद्री मार्ग के अतिरिक्त भारत में प्रवेश का मार्ग था—
   (अ) उत्तर-पश्चिम सीमा ✓ (ब) उत्तर-पूर्व सीमा
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. किन दर्रों से भारत और दूरस्थ प्रदेशों का सम्पर्क होता था ?
(अ) खैबर (ब) कुर्रम
(स) बोलन व गोमल (द) उपर्युक्त सभी ।

3. मध्यकाल में भारत में उत्तर-पश्चिम सीमा से प्रवेश करने वाली जाति थी—
(अ) यूनानी (ब) कुषाण
(स) मंगोल व मुगल (द) हूण ।

4. तेमूचिन उर्फ चंगेज खाँ का जन्म हुआ था—
(अ) 1162 ई. में (ब) 1163 ई. में
(स) 1164 ई. में (द) 1165 ई. में ।

5. चंगेज अपने जीवन में सदैव रहा था—
(अ) असफल (ब) अपराजित
(स) भयभीत (द) इनमें से कोई नहीं ।

6. चंगेज खाँ किसके शासन काल में भारत की सीमा पर आया था ?
(अ) कुतुबुद्दीन (ब) रजिया
(स) इल्तुतमिश (द) बलबन ।

7. मंगोल शक्ति को बलबन के काल में धक्का लगा था—
(अ) मंगबर्नी के भारत आगमन से (ब) चंगेज खाँ की मृत्यु से
(स) हलाकू की मिस्र की पराजय से (द) इनमें से कोई नहीं ।

8. गुलाम शासकों एवं मंगोलों के मध्य कौन-सी नदी सीमा-रेखा का काम करती थी ?
(अ) व्यास नदी (ब) सतलज नदी
(स) रावी नदी (द) चिनाब नदी ।

9. किस खलजी शासक ने मंगोलों को पराजित करके अपने देश में निवास करने की आज्ञा दी थी ?
(अ) जलालुद्दीन खलजी ने (ब) अलाउद्दीन खलजी ने
(स) मुबारकशाह ने (द) खुसरवशाह ने ।

10. अलाउद्दीन खलजी के शासन में मंगोलों के भारत पर आक्रमण का उद्देश्य था—
(अ) लूटमार करने के लिए (ब) बदले की भावना
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं ।

11. कादर के नेतृत्व में 1297-98 ई. के मंगोलों के अभियान को विफल करने में किन सेनानायकों का योगदान रहा ?
(अ) नुसरतखाँ (ब) जफरखाँ
(स) उलूगखाँ (द) 'ब' व 'स' दोनों ।

12. कीली के युद्ध के बाद मंगोलों की वापसी का कारण था—
(अ) अलाउद्दीन की दृढ़ता (ब) जफर खाँ का शौर्य
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं ।

13. कुबंक के नेतृत्व में आये मंगोल आक्रमणकारियों के साथ अलाउद्दीन ने व्यवहार किया—
(अ) विनम्रता का (ब) क्रूरता का
(स) उत्पीड़न का (द) इनमें से कोई नहीं ।

14. मंगोल नेता दवा खाँ का देहान्त हुआ था—
(अ) 1604 ई. में (ब) 1605 ई. में
(स) 1606 ई. में (द) 1607 ई. में ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. मंगोलों की भारत में पराजय का प्रमुख कारण था—
(अ) मंगोल शक्ति का विभाजन
(ब) गतिशीलता का ह्रास
(स) महिलाओं को युद्ध में साथ रखना
(द) उपर्युक्त सभी ।

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (स), 4. (ब), 5. (ब), 6. (स), 7. (स), 8. (अ), 9. (अ), 10. (स), 11. (द), 12. (स), 13. (ब), 14. (द), 15. (द) ।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19

शासन-व्यवस्था

राज्य का स्वरूप

इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके अधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक 'शरीयत' के अधीन होते हैं और उसके कानूनों के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नहीं थे बल्कि 'शरीयत' के कानून के अधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्तव्य धर्म के कानूनों के अनुसार शासन करना था। दिल्ली-सुल्तान भी इसी प्रकार के शासक थे। वे सभी राजनीतिक प्रधान थे। परन्तु उनका कर्तव्य इस्लाम धर्म और कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। अतएव दिल्ली-सुल्तानों की नीति पर धर्म का प्रभाव रहा और कम या अधिक मात्रा में इस्लाम धर्म के कानूनों का पालन करना उनका प्रमुख कर्तव्य रहा। इसी कारण उनके शासन में (कतिपय शासकों को छोड़कर) उलेमा-वर्ग का प्रभाव रहा तथा इस्लाम धर्म एक राज्य-धर्म की तरह माना जाता रहा यद्यपि व्यवहार में उसका प्रयोग सम्भव न हुआ।

दिल्ली-सुल्तानों में से अधिकांश शासकों ने अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा और उनमें से कुछ ने अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति उससे ली। इस दृष्टि से वे अपने को अब्बासी खलीफाओं के अधीन मानते थे। केवल अलाउद्दीन ने यह कार्य नहीं किया जबकि कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने स्वयं खलीफा की उपाधि ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक ने अपने आरम्भिक काल में खलीफा को कोई मान्यता नहीं दी परन्तु बाद के समय में उलेमा-वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए उसने खलीफा को अपना प्रधान मान लिया। परन्तु दिल्ली-सुल्तानों ने खलीफा को केवल नाममात्र का ही प्रधान माना था। अपने को खलीफा का नाइब पुकारने अथवा अपने सिक्कों पर खलीफाओं के नाम अंकित कराने से उनकी व्यावहारिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था और वे वास्तविकता में स्वतन्त्र शासकों की भाँति व्यवहार करते थे। खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने में उनका मन्तव्य अपनी सुन्नी प्रजा और जनता में प्रभावशाली उलेमा-वर्ग का विश्वास एवं वफादारी प्राप्त करना था।

आधुनिक इतिहासकारों में से कुछेक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दिल्ली-सुल्तानों की शासन-व्यवस्था इस्लाम धर्म से प्रभावित नहीं थी और उस काल में इस्लाम-धर्म एक राज्य-धर्म की तरह नहीं माना गया था। उनके अनुसार धर्म-प्रधान व्यवस्था का मूल आदर्श यह है कि राज्य की व्यवस्था धार्मिक नियमों के अनुकूल चलनी चाहिए और उन धार्मिक नियमों की व्याख्या तथा उनका संचालन धर्म के प्रधानों द्वारा किया जाना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली-सल्तनत काल में ऐसा नहीं हुआ था, बल्कि राज्य के कानून सुल्तानों के द्वारा बनाये जाते थे और उन्हीं के द्वारा लागू भी किये जाते थे तथा अनेक अवसरों पर उन्होंने इस्लाम धर्म अथवा 'शरीयत' के नियमों के विरुद्ध कार्य किया था। इन इतिहासकारों का मत पर्याप्त तर्कपूर्ण है मुख्यतया ऐसी स्थिति में जबकि सुल्तान अपनी राजनीतिक श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए व्यवहार में इस्लाम के नियमों के आधार पर ही शासन करने की स्थिति में नहीं थे। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि अपने मुसलमान सैनिकों के उत्साह को बनाये रखने और अपनी मुस्लिम प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए सुल्तानों ने इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया तथा इस कार्य में मुस्लिम धार्मिक वर्ग अर्थात् उलेमा-वर्ग की सहायता ली। इस कारण, यह नहीं माना जा सकता कि दिल्ली-सल्तनत का शासन इस्लाम धर्म के प्रभाव से मुक्त था और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा को न्याय प्रदान कर सका था।

[1]
केन्द्रीय शासन

1. सुल्तान

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली-सल्तनत के युग में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था जैसा कि हम मुगल-काल में पाते हैं जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री को सिंहासन प्राप्त करने का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चों में से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर पैतृक सुल्तान के द्वारा नामजद किये जाने के अधिकार को मान्यता थी। इस आधार पर रजिया, शिहाबुद्दीन खलजी और तुगलकशाह को सिंहासन प्राप्त हुआ। परन्तु इसमें स्त्रियों एवं अल्पायु शाहजादों के सिंहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाय जबकि उत्तराधिकारी योग्य हो। अयोग्य उत्तराधिकारी होने की स्थिति में सरदारों ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया। सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और फीरोज तुगलक सरदारों की सम्मति से चुने गये सुल्तान थे। इसके अतिरिक्त, तलवार की शक्ति भी सिंहासन के अधिकार को निश्चित करती थी। अलाउद्दीन खलजी, खिज्रखाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

दिल्ली-सुल्तानों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन-व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने में प्रधान था। राज्य की सेना का सर्वोच्च सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने, हटाने, उपाधियों का वितरण करने आदि के अधिकार उसी के थे। परन्तु ये उसके कानूनी अधिकार थे। इन अधिकारों का व्यावहारिक प्रयोग उसकी सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति में सरदारों का शासन में प्रभाव बढ़ जाता था। उलेमा-वर्ग का प्रभाव भी शासन में था। केवल अलाउद्दीन खलजी, मुबारकशाह खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक ही उसके प्रभाव से मुक्त रह सके थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन-व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का महत्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना था।

2. मन्त्री और अन्य अधिकारी

शासन में सुल्तान की सहायता के लिए विभिन्न मन्त्री और अन्य अधिकारी होते थे। ये निम्नलिखित थे :

(i) **नाइब (नाइब-ए-मामलिकात)**—इस पद को रजिया के पश्चात् सुल्तान बहरामशाह के समय में आरम्भ किया गया। बहरामशाह के सरदारों ने शासन-शक्ति को अपने हाथों में रखने के लिए अपने में से एक को 'नाइब' का पद दिया। इस कारण दुर्बल सुल्तानों के समय में ही इस पद का महत्व रहा। ऐसी स्थिति में नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और राज्य के वजीर से भी श्रेष्ठ समझा जाता था। परन्तु शक्तिशाली सुल्तानों ने इस पद को या तो रखा ही नहीं अथवा अलाउद्दीन जैसे शासकों ने इसे अपने किसी योग्य सरदार को केवल सम्मान प्रदान करने की दृष्टि से दिया।

(ii) **वजीर**—राज्य का प्रधानमन्त्री वजीर कहलाता था। वजीर मुख्यतया राजस्व-विभाग (दीवान-ए-वजारत) का प्रधान होता था। इस दृष्टि से वह लगान, कर-व्यवस्था, दान, सैनिक-व्यय आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य में 'नाइब' का पद नहीं होता था तो वही सुल्तान के पश्चात् राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शासन पर दृष्टि रखना, सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर शासन का प्रबन्ध करना, विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति करना आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त नाइब-वजीर, मुश्रिफ-ए-मुमालिक, मुस्तौफी-ए-मुमालिक आदि बड़े अधिकारी भी होते थे। **मुश्रिफ-ए-मुमालिक** का कार्य प्रान्तों तथा अन्य विभागों से प्राप्त हिसाब का लेखा-जोखा रखना था और **मुस्तौफी-ए-मुमालिक** इस हिसाब की जाँच करता था। **दीवान-ए-वजारत** एक बड़ा विभाग था। उसका एक बड़ा सचिवालय था जिसके अन्तर्गत हजारों छोटे-बड़े पदाधिकारी और साधारण कर्मचारी कार्य करते थे।

(iii) **आरिज-ए-मुमालिक**—यह सेना-विभाग (दीवान-ए-अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिकों की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों को दागने व सैनिकों की हुलिया लिखे जाने की व्यवस्था आदि करता था। वह राज्य का सेनापति नहीं था और सुल्तान समय-समय पर विभिन्न युद्धों के लिए अपनी इच्छानुसार सेनापति नियुक्त किया करता था।

(iv) **दबीर-ए-खास (अमीर-मुंशी)**—यह शाही पत्र-व्यवहार विभाग (दीवान-ए-इंशा) का प्रधान था। सुल्तान के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना, उसे भेजना, आदि उसी का कार्य था। उसकी सहायता के लिए अनेक दबीर (लेखक) होते थे।

(v) **दीवाने-रसालत**—यह सुल्तानों की विदेश-वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धों की देखभाल करता था। विदेशी पत्र-व्यवहार और राजदूतों का आदान-प्रदान तथा उनकी देखभाल उसका उत्तरदायित्व था।

(vi) **सद्र-उस-सुदूर**—यह धर्म-विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनों का प्रजा में प्रसार करना, उनका पालन कराना और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरदायित्व था। 'जकात' नामक कर से वसूल किये गये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उसकी सलाह पर दी जाती थीं। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।

(vii) **काजी-उल-कजात**—यह न्याय-विभाग का प्रधान था यद्यपि उसके न्यायालय से बड़ा न्यायालय सुल्तान का था। परन्तु राज्य का मुख्य काजी होने के नाते मुकदमे उसकी अदालत में आरम्भ किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णयों पर भी वह पुनर्विचार कर सकता था। अधिकांशतया काजी-उल-कजात और सद्र-उस-सुदूर के पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे।

(viii) **वरीद-ए-मुमालिक**—जिन सुल्तानों ने गुप्तचर-विभाग का संगठन किया था उसका प्रधान यह अधिकारी होता था। विभिन्न गुप्तचर, सन्देशवाहक और डाक-चौकियाँ उसके अधीन होती थीं।

समय-समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागों और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे, जैसे मुहम्मद तुगलक ने 'दीवाने-अमीर-कोही' (कृषि-विभाग का प्रधान) की नियुक्ति की थी। इनके अतिरिक्त, सुल्तान के व्यक्तिगत अंगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमें से 'वकील-ए-दरमहल' शाही कर्मचारियों की देखभाल करता था, 'बारबक' दरबार की शान-शौकत और नियमों की देखभाल करता था, 'अमीर-ए-हाजिब' सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करता था। 'अमीर-ए-शिकार' शाही-शिकार का प्रबन्ध करता था, 'अमीर-ए-मजलिस' शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था तथा 'सर-ए-जहाँदार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान होता था। ये पद मन्त्रियों के पद के समकक्ष तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा आराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदों पर अत्यधिक विश्वासपात्र व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी और कभी-कभी इनमें से कोई पदाधिकारी सुल्तान के व्यक्तिगत सम्पर्क में होने के कारण मन्त्रियों से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो जाता था।

कारखाना—दिल्ली-सुल्तानों ने विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए बहुत से कारखाने खोले थे। के. एम. अशरफ के अनुसार, "कारखाने स्थापित करने का सिद्धान्त, सम्भवतया, फारस से लिया गया था।" समकालीन स्रोतों से सुल्तान द्वारा स्थापित किये गये कारखानों का उल्लेख सर्वप्रथम फीरोज तुगलक के शासनकाल में किया गया है परन्तु ऐसे शाही कारखाने, निस्सन्देह, फीरोज तुगलक के शासनकाल से पहले भी स्थापित किये गये थे। ऐसा उल्लेख मिला है कि मुहम्मद तुगलक ने अपने समय में रेशमी कपड़ा बुनने का एक कारखाना स्थापित किया था जिसमें चार सौ जुलाहे कार्य करते थे। सुल्तान फीरोज तुगलक ने शाही कारखानों की संख्या में बहुत वृद्धि की। उसके बाद के सुल्तानों ने भी शाही कारखाने स्थापित किये थे।

सुल्तानों द्वारा कारखाने स्थापित करना एक आवश्यकता थी। राजदरबार और राजपरिवार की शान-शौकत और विलासिता की वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध नहीं होती थीं। उनके निर्माण के लिए शाही कारखाने खोले जाते थे। ये कारखाने सुल्तान के लिए लाभप्रद भी थे। इन कारखानों में बनने वाली वस्तुएँ अमीरों तथा अन्य धनवान व्यक्तियों को बेची भी जाती थीं जिससे सुल्तान की आय में वृद्धि होती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफीफ ने इन कारखानों को दो भागों में बाँटा था। एक, रातिबी जिनमें काम करने वाले व्यक्तियों को निश्चित वेतन दिया जाता था, और द्वितीय, गैर-रातिबी जिनको काम के अनुसार धन दिया जाता था। प्रत्येक कारखाने की देखभाल के लिए मुतसर्रिफ नामक एक अधिकारी होता था और सभी मुतसर्रिफों के ऊपर एक प्रधान मुतसर्रिफ होता था। इस प्रकार कारखानों की देखभाल की समुचित व्यवस्था भी थी।

[2]

इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन

शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के कारण राज्य को छोटी इकाइयों में बाँटा गया था। उस समय में प्रान्तों को साधारणतया 'इक्ता' पुकारते थे। उस युग में इक्ताओं की न तो संख्या निश्चित की जा सकी थी और न ही उनका शासन-प्रबन्ध समान हो सका था। बड़े इक्ताओं के प्रधान को मुक्ती, नाजिम, नाइब-सुल्तान अथवा वली के नाम से पुकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय में ये इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वे इक्ता थे जो पहले से ही दिल्ली-सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वे इक्ता थे जिनको जीतकर उसी के समय में दिल्ली-सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओं में मुक्ती अथवा वली को कुछ अधिक सैनिक-अधिकार थे जिससे वह अपने इक्ता को दिल्ली-सल्तनत के पूर्ण प्रभाव में ला सके। इसके अतिरिक्त, हिन्दुओं (दक्षिण-भारत) के वे राज्य थे जिन्होंने सुल्तान की अधीनता स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन में वे स्वतन्त्र थे। अपने-अपने इक्ताओं में मुक्ती अथवा वली को वे समस्त अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वे प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने में जमा कराते थे, शक्तिशाली सेनाएँ रखते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे सुल्तान की सहायता के लिए उपस्थित होते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे राज्य-विस्तार के लिए युद्ध नहीं कर सकते थे और जब वे सुल्तान की आज्ञा के अनुसार युद्ध करते भी थे तो लूटे हुए माल में से केन्द्रीय सरकार को हिस्सा देते थे। लूटे हुए हाथियों और राजपरिवार की स्त्रियों पर सुल्तान का एकाधिपत्य होता था। कोई भी मुक्ती राजदण्ड, छत्र और सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं कर सकता था। वे सुल्तान की भाँति दरबार नहीं कर सकते थे, अपने नाम से खुतबा नहीं पढ़वा सकते थे और सिक्के नहीं चला सकते थे। परन्तु दुर्बल शासकों के समय में मुक्ती अथवा वली स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करते थे और लोदी शासकों के समय में तो उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ तथा हाथी भी थे जिन पर अधिकांशतया सुल्तान का एकाधिपत्य रहा था। उस सम्पूर्ण युग में मुक्ती अथवा वली पर्याप्त शक्तिशाली थे। समय-समय पर हुए विद्रोहों और राजवंश में परिवर्तन होने का यह एक बड़ा कारण था। मुक्ती और वली के नीचे प्रान्तों में एक प्रान्तीय वजीर, एक प्रान्तीय अरीज और एक प्रान्तीय काजी भी होता था। प्रत्येक इक्ता में राजस्व वसूल करने के लिए अनेक अधिकारी होते थे। इनके अतिरिक्त केन्द्र के गुप्तचर तथा अन्य अधिकारी भी इक्ताओं में कार्य करते थे। इक्ताओं के शासन की व्यवस्था बहुत कुछ मुक्ती अथवा वली की योग्यता और सुल्तान की शक्ति पर निर्भर करती थी।

13वीं सदी तक इक्ता से छोटी शासन की कोई इकाई न थी। परन्तु उसके पश्चात् इक्ताओं को शिकों में विभाजित किया गया जहाँ का प्रमुख अधिकारी शिकदार होता था जो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सैनिक अधिकारी था। शिकों को परगनों में विभाजित किया गया जहाँ एक आमिल, एक मुशरिफ (उसे अमीन अथवा मुन्सिफ भी पुकारा जाता था), एक खजांची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। आमिल परगने का मुख्य अधिकारी था और मुशरिफ लगान को निश्चित करने वाला अधिकारी था। परगना शासन की एक महत्वपूर्ण इकाई समझा जाता था क्योंकि वहाँ पर राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क किसानों से होता था। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे जो स्वशासन और पैतृक अधिकारियों की व्यवस्था के अन्तर्गत थे। गाँवों के चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, मुकद्दम आदि पैतृक अधिकारी थे जो शासन को लगान वसूल करने में सहायता देते थे तथा जिन्हें अलाउद्दीन के शासनकाल के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। इनके अतिरिक्त, गाँव में पंचायतें होती थीं जो शिक्षा, स्वच्छता, न्याय आदि सभी स्थानीय कार्यों को करती थीं।

इक्ता-व्यवस्था

दिल्ली-सुल्तानों की इक्ता-व्यवस्था उनके शासन की एक मुख्य विशेषता रही। भारत में प्रचलित सामन्ती प्रथा को नष्ट करने और साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों को केन्द्र से जोड़ने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में इक्ता-प्रणाली का प्रयोग किया गया। इसका प्रारम्भ सुल्तान इल्तुतमिश के शासनकाल में हुआ। सुल्तान ने अपने दूरस्थ प्रदेशों में जिन बड़े सैनिक-अधिकारियों की नियुक्ति की उनको वेतन देने की प्रथा के रूप में यह व्यवस्था आरम्भ हुई। इन सैनिक-अधिकारियों को सुल्तान ने अपने राजकोष से वेतन नहीं दिया अपितु उन्हें एक निश्चित भूमि-क्षेत्र (इक्ता) प्रदान किया गया जिससे होने वाली वार्षिक आय से वे अपना वेतन प्राप्त करते थे। छोटे भूमि-क्षेत्र के अधिकारियों को इक्तादार पुकारा जाता था और प्रान्तीय या सूबा के स्तर के अधिकारियों को वली, मुक्ता, अमीर या मलिक पुकारा जाता था। वली या मुक्ता को प्रशासकीय तथा अन्य अधिकार भी प्रदान किये गये थे जबकि छोटे इक्तादारों को ये अधिकार प्राप्त नहीं थे। तेरहवीं सदी के अन्तिम दशक से पहले वली या मुक्ताओं ने सैनिक, प्रशासकीय और वित्तीय अधिकारों का उपयोग किया परन्तु उसके पश्चात् उनके राजस्व-अधिकारों को केन्द्रीय अधिकारियों के निरीक्षण में कर दिया गया। अलाउद्दीन खलजी के समय में दीवान-ए-वजारत ने इक्ताओं की आय पर अपना नियन्त्रण रखा। गियासुद्दीन तुगलक ने इस सम्बन्ध में एक और कार्य किया। प्रत्येक इक्तादार, वली या मुक्ता अपने साथ सैनिक रखने के लिए बाध्य था। गियासुद्दीन ने मुक्ता के व्यक्तिगत व्यय और उसके सैनिकों पर किये जाने वाले व्यय को पृथक कर दिया जिससे सैनिकों के वेतन में मुक्ता कमी न कर सके। बरनी द्वारा लिखित 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में दिये गये विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि तुगलक शासकों के समय में मुक्ताओं की सेनाओं की संख्या, उनका वेतन और उन पर किये जाने वाला अन्य व्यय भी केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित कर दिया गया था। सम्भवतया, पहले दो तुगलक सुल्तानों के समय में यह सम्भव हो सका था। फीरोज तुगलक और उसके उत्तराधिकारियों के समय में यह सम्भव नहीं हो सका था। मुहम्मद तुगलक के समय में मुक्ता से राजस्व-अधिकार लेकर एक केन्द्रीय अधिकारी वली-उल-खराज को दे दिये गये। इब्नबतूता के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि मुहम्मद तुगलक के समय में प्रत्येक इक्ता में दो अधिकारी नियुक्त किये गये थे। एक अमीर या मुक्ता जो एक सैनिक-अधिकारी था और दूसरा वली-उल-खराज जो इक्ता की आय को एकत्रित करता था अर्थात् अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारी था। इन मुक्ताओं का पद पैतृक नहीं था। ये सुल्तान के ऐसे सैनिक-अधिकारी थे जो अपने-अपने इक्ता या प्रान्त में शान्ति स्थापित रखते थे, सुल्तान के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेशों का पालन करते थे, लगान और अन्य करों को वसूल करने में सहायता देते थे, आवश्यकतानुसार सुल्तान की सहायता के लिए अपने सैनिकों को उपस्थित करते थे, और सुल्तान की आज्ञानुसार अपने इक्ता का शासन करते थे। वे अपने इक्ता की आय में से अपना वेतन, अपने सैनिकों का व्यय और प्रशासन पर किये जाने वाले व्यय को निकालकर बची हुई धनराशि को केन्द्रीय खजाने में जमा करते थे। सुल्तान के अधिकारी-मात्र होने के कारण उनका अधिकार अपने इक्ता पर न तो स्थायी था और न पैतृक अपितु उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित भी किया जाता था। दूरस्थ प्रदेशों के मुक्ताओं का साधारणतया दो या तीन वर्ष में ही स्थानान्तरण कर दिया जाता था। परन्तु सुल्तान और मुक्ता के क्या सम्बन्ध होंगे यह सुल्तान की शक्ति पर निर्भर करता था। यदि सुल्तान शक्तिशाली होता था तो मुक्ता उसकी शक्ति का आधार बन जाते थे। परन्तु दुर्बल शासकों के समय में यही मुक्ता साम्राज्य के विघटन और राजवंशों में परिवर्तन का कारण बने। इस प्रकार, दिल्ली-सुल्तानों की यह इक्ता-व्यवस्था भारत में राजपूत-राज्यों में प्रचलित सामन्ती-व्यवस्था से पृथक थी। मूलतया उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :

1. **इक्तादार, वली, मुक्ता या अमीर अपने** क्षेत्र में सुल्तान का एक अधिकारी था जिसे वह क्षेत्र इसलिए प्रदान किया जाता था कि वह उस क्षेत्र की आय से, मूलतया भू-राजस्व से, अपना वेतन और अपने सैनिकों का व्यय निकाल सके। इस कारण, उसके वेतन के अनुकूल ही उसे भू-क्षेत्र प्रदान किया जाता था। अपने-अपने सैनिकों का और अपने प्रशासकीय उत्तरदायित्वों की पूर्ति करने के लिए किये गये व्यय को निकालने के पश्चात् अपने क्षेत्र की आय से बचे हुए धन को उसे केन्द्रीय खजाने में जमा करना पड़ता था।

2. **वली या मुक्ता** को अपने क्षेत्र में सुल्तान की ओर से प्रायः सभी प्रशासकीय अधिकार दिये गये थे परन्तु मुख्यतया वह एक सैनिक-अधिकारी था। अपने भू-क्षेत्र की सुरक्षा, उसमें शान्ति स्थापित रखना और वहाँ सुल्तान के आदेशानुसार शासन करना उसका मुख्य दायित्व था। इसी कारण, अलाउद्दीन खलजी और प्रथम दो तुगलक शासकों ने उनसे राजस्व-अधिकार छीनकर केन्द्रीय अधिकारियों को सौंप दिये।

3. **सुल्तान मुक्ता या वली** का स्थानान्तरण करते रहते थे। इस प्रकार मुक्ता का पद किसी एक विशेष भू-क्षेत्र, इक्ता या प्रान्त पर न तो स्थायी था और न पैतृक।

इस प्रकार, दिल्ली-सुल्तानों की यह इक्तादारी-व्यवस्था राजपूत-शासकों की सामन्ती प्रथा से पृथक थी। मूलतया अपने बड़े सैनिक-अधिकारियों को वेतन देने के लिए भू-क्षेत्र प्रदान कर देने से इसका आरम्भ हुआ। परन्तु बाद में यह दूरस्थ प्रदेशों को प्रशासकीय रूप से केन्द्र से बाँधे रखने में तथा केन्द्र की आय में वृद्धि करने में, जिससे उसकी सैनिक-शक्ति में वृद्धि सम्भव हुई और दिल्ली-सल्तनत का विस्तार हो सका, सहायक सिद्ध हुई।

[3]
राजस्व (कर)-व्यवस्था

दिल्ली-सुल्तानों के समय में कुछ विशेष करों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच कर मुख्य थे :

1. **उश्र**—यह मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमि-कर था। जिस भूमि पर प्राकृतिक साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 10% भाग और जिस भूमि पर मनुष्यकृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 5% भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था।

2. खराज—यह गैर-मुसलमानों पर भूमि-कर था जो पैदावार के एक-तिहाई से लेकर आधे तक विभिन्न सुल्तानों ने लिया।

3. खम्स—यह लूटे हुए धन, खानों अथवा भूमि में गढ़े हुए खजानों से प्राप्त सम्पत्ति का 1/5 भाग था जिस पर सुल्तान का अधिकार था। शेष 4/5 भाग पर उसके सैनिकों, अधिकारियों अथवा खजाने को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अधिकार होता था। परन्तु फीरोज तुगलक को छोड़कर अन्य सभी शासकों ने 4/5 हिस्सा स्वयं अपने लिये रखा। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने गढ़े हुए खजाने में से कोई हिस्सा नहीं लिया।

4. जकात—यह मुसलमानों पर धार्मिक-कर था जो केवल धनवान मुसलमानों से ही लिया जाता था और उनकी आय का ढाई (2-1/2) प्रतिशत होता था। इस धन को केवल मुसलमानों के हितार्थ ही व्यय किया जाता था।

5. जजिया—यह गैर-मुसलमानों पर धार्मिक-कर था। इस्लाम के कानून के अनुसार गैर-मुसलमानों (जिन्हें 'जिम्मी' पुकारा जाता था) को एक मुसलमान शासक के राज्य में रहने का अधिकार न था। इस कर को देने के पश्चात् ही वे राज्य में रहकर शासक का संरक्षण और जीवन की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे। इसके लिए गैर-मुसलमानों को तीन भागों में बाँटा गया था और प्रत्येक वर्ग को क्रमशः 12, 24 और 48 दिरहम इस कर के रूप में देने पड़ते थे। स्त्रियाँ, बच्चे, भिखारी, लँगड़े, अन्धे, साधु, पुजारी, वृद्धजन और वे व्यक्ति जिनकी आय का कोई साधन न था, इस कर से मुक्त थे। फीरोज तुगलक ने दिल्ली के ब्राह्मणों पर भी यह कर लगाया अन्यथा ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे। व्यावहारिक आधार पर दिल्ली-सुल्तानों ने इस कर को कठोरता से वसूल नहीं किया क्योंकि उससे बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के विद्रोही हो जाने का भय था। परन्तु कानूनी तौर पर वे सभी इस कर को वसूल करते रहे थे। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना ने जजिया के सम्बन्ध में एक अन्य विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वह लगान से पृथक कर था। बरनी, अमीर खुसरव और निजामुद्दीन औलिया के अनुसार भी लगान के अलावा अन्य सभी करों को जजिया पुकारा जाता था।

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का 2-1/2% और हिन्दुओं से 5% व्यापारिक-कर लिया जाता था। घोड़ों पर 5% कर था। अलाउद्दीन खलजी ने मकान-कर और चरागाह-कर भी लगाये थे और फीरोज तुगलक ने राज्य के सिंचाई-साधनों से लाभ प्राप्त करने वाली भूमि से उसकी पैदावार का 10% सिंचाई-कर के रूप में लिया था। इसके अतिरिक्त, मुद्रा की ढलाई, लावारिस सम्पत्ति तथा अमीरों एवं प्रान्तीय सूबेदारों द्वारा दी गयी वार्षिक भेंटें भी सुल्तान की आय के साधन थे।

सुल्तान का मुख्य व्यय सेना, अपने और महल के व्यक्तिगत खर्चों तथा विभिन्न पदाधिकारियों के वेतन पर होता था।

लगान-व्यवस्था

राज्य की भूमि चार भागों में विभक्त भी। प्रथम, वह भूमि जो व्यक्तियों को दान के रूप में दी गयी थी। इस पर राज्य कोई लगान नहीं लेता था। द्वितीय, वह भूमि जो मुक्तियों अथवा प्रान्तीय वलियों के अधिकार में थी। इससे मुक्ती अथवा वली लगान वसूल करते थे और अपने शासन के व्यय को पूरा करने के उपरान्त बाकी धन सरकारी खजाने में जमा कराते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। तृतीय, वह भूमि जो अधीनस्थ हिन्दू राजाओं के आधिपत्य में थी जो प्रति वर्ष राज्य को निश्चित धनराशि देते थे। चतुर्थ, खालसा-भूमि जो केन्द्रीय सरकार या सुल्तान की भूमि मानी जाती थी और जिससे सुल्तान के कर्मचारी लगान वसूल करते थे। इस चौथी प्रकार की भूमि की लगान-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सुल्तान और उसके कर्मचारियों पर था। इसके लिए राज्य ने प्रत्येक शिक में 'आमिल' नाम के एक अधिकारी की नियुक्ति की। वह पटवारी, चौधरी, मुकद्दम, कानूनगो, खूत आदि पैतृक अधिकारियों की सहायता से लगान वसूल करता था। इस प्रकार, राज्य के कर्मचारियों का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क न था बल्कि वे वंशानुगत और परम्परा से चले आ रहे गाँव अथवा जिले के अधिकारियों से सम्पर्क रखते थे और वही किसानों से लगान वसूल करके उन्हें देते थे। मुक्ती और वली के कार्यों की देखभाल के लिए सुल्तान 'ख्वाजा' नामक एक अधिकारी की नियुक्ति करता था और केन्द्रीय गुप्तचर भी सुल्तान को उनके सम्बन्ध में सूचनाएँ देते थे। इसके अतिरिक्त, वली और मुक्तियों को प्रति वर्ष अपनी आय और व्यय का ब्यौरा केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता था।

साधारणतया, सम्पूर्ण सल्तनत-युग में किसानों को पैदावार का एक-तिहाई से लेकर आधा भाग तक राज्य को देना पड़ता था। आरम्भ में यह एक-तिहाई ही रहा परन्तु अलाउद्दीन के समय में इसे आधा कर दिया गया। परन्तु अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी शासक इस आधे भाग को वसूल नहीं कर सके और बाद के समय में लगान पैदावार का एक-तिहाई भाग ही रहा। मुहम्मद तुगलक ने दोआब में कर-वृद्धि करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रहा। साधारणतया राज्य लगान को सिक्कों के रूप में वसूल करता था परन्तु अलाउद्दीन ने अपनी बाजार-व्यवस्था के कारण दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्रों और दोआब में लगान गल्ले के रूप में वसूल किया। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के अतिरिक्त किसी भी सुल्तान ने भूमि की पैमाइश करके लगान लेने की पद्धति नहीं रखी बल्कि पैदावार का अनुमान करके ही लगान निश्चित कर दिया जाता था। अलाउद्दीन ने अपने समय में दान के रूप में दी गयी अधिकांश भूमि को जब्त कर लिया था अथवा उसका पुनर्वितरण किया था। उसने चौधरी, मुकद्दम, खूत और जमींदारों के विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया था। गियासुद्दीन तुगलक ने किसानों की भलाई के लिए यह निश्चित किया था कि किसी भी इक्ता के लगान में एक वर्ष के अन्तर्गत 1/11 से 1/10 भाग से अधिक वृद्धि न की जाय। मुहम्मद तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य की आय और व्यय का लेखा तैयार कराया था। उसका आशय सम्पूर्ण राज्य में समान लगान-व्यवस्था करना था। वह यह भी चाहता था कि कोई भी गाँव लगान से मुक्त न रहे। उसने एक पृथक कृषि-विभाग खोला, एक पृथक अधिकारी 'दीवान-ए-कोही' की नियुक्ति की और तीन वर्ष के लिए एक अन्वेषण कृषि-फार्म भी खोला। परन्तु उसके इन प्रयत्नों से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि वे शीघ्र त्याग दिये गये। फीरोज तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य के लगान का अनुमान लगाकर उसे अपने सम्पूर्ण काल के लिए निश्चित कर दिया, किसानों को तकावी कर्ज से मुक्त कर दिया, राजस्व-विभाग के अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की, प्रायः 26 करों से प्रजा को मुक्त कर दिया, फलों के बाग लगवाये, सिंचाई की व्यवस्था की, सिंचाई-कर लगाया और सरकारी अधिकारियों अथवा सूबेदारों को यातनाएँ देकर अधिक से अधिक धन वसूल करने की उस नीति को त्याग दिया जिसका भार अन्ततोगत्वा किसानों पर ही पड़ता था। फीरोज ने, निस्सन्देह, किसानों की भलाई करने में सफलता प्राप्त की। लोदी सुल्तानों ने अफगान सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें प्रदान की थीं जिससे खालसा-भूमि का क्षेत्र कम हो गया और सिकन्दर लोदी के द्वारा भूमि की पैमाइश करके लगान को निश्चित करने के प्रयत्न असफल हुए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली-सल्तनत के युग की लगान-व्यवस्था में सिद्धान्ततः कुछ दोष रहे। भूमि की पैमाइश न करके अनुमान के आधार पर पैदावार पर लगान निश्चित करना किसानों के लिए लाभदायक नहीं हो सकता था। इससे लगान-अधिकारियों को मनमानी करने का अवसर मिला था। इसके अतिरिक्त, साधारणतया भूमि ठेके पर दे दी जाती थी। इससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने वाले भूमि के ठेकेदार वर्ग का जन्म हुआ था जो किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे। लगान के अतिरिक्त किसानों को अन्य कर भी देने पड़ते थे। इस कारण किसानों पर कर का भार अधिक था।

[4]
सैनिक-संगठन

सुल्तानों की शक्ति उनके सैनिक-बल पर निर्भर करती थी। यह सम्पूर्ण काल ऐसा था जबकि सुल्तान भारत में इस्लाम की सत्ता को स्थापित और विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी कारण हिन्दू राजाओं से संघर्ष और आन्तरिक विद्रोहों का दमन सम्पूर्ण सल्तनत-युग में चलता रहा। इसके अतिरिक्त एक लम्बे समय तक मंगोल-आक्रमणों का भय भी रहा। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक सुल्तान को एक बड़ी सेना रखना आवश्यक था। मुसलमानों ने भारत में युद्ध-शैली और सैनिक-संगठन में परिवर्तन किये यद्यपि बाद में वे भी समय के साथ प्रगति करने में असफल रहे।

उस समय सेना में चार प्रकार के सैनिक होते थे। प्रथम, वे सैनिक जो सुल्तान के सैनिकों के रूप में भर्ती किये जाते थे। इनमें शाही अंगरक्षक, शाही गुलाम और कुछ अन्य सैनिक सम्मिलित होते थे। इस सेना को 'खास-खेल' पुकारते थे। अलाउद्दीन खलजी ने केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना रखी थी जिसमें पैदलों के अतिरिक्त 4,75,000 घुड़सवार भी थे। गियासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक के समय में भी केन्द्र पर एक बड़ी सेना स्थायी रूप से रखी गयी परन्तु उनसे पहले और बाद के सुल्तान कभी भी केन्द्र पर बहुत बड़ी सेना न रख सके। यह सेना 'दीवान-ए-अरीज' की देखभाल में रहती थी जो उसकी भर्ती, संगठन, वेतन-वितरण आदि के लिए उत्तरदायी होता था। इस सेना के प्रशिक्षण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था न थी। बलबन जैसे शासक इस सेना को शिकार के बहाने ले जाकर शिक्षण प्रदान करते थे अन्यथा प्रत्येक सैनिक की कुशलता स्वयं अपने परिश्रम और कौशल पर निर्भर करती थी। द्वितीय, वे सैनिक होते थे जो दरबार के सरदारों और प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) आदि के द्वारा भर्ती किये जाते थे। इन सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, वेतन आदि के लिए वे ही उत्तरदायी होते थे। इसके लिए उन्हें अपने इक्ता से आय प्राप्त होती थी अथवा उन्हें जागीरें दी जाती थीं। प्रान्तों में 'प्रान्तीय अरीज' होते थे जो इस सेना के संगठन के लिए उत्तरदायी थे परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व इक्तादार (सूबेदार) का ही होता था। वर्ष में एक बार उनकी सेनाएँ सुल्तान के निरीक्षण के लिए प्रस्तुत की जाती थीं परन्तु साधारणतया इस नियम का विधिवत् पालन नहीं किया जाता था। आवश्यकता होने पर दरबारी-सरदार और सूबेदार अपनी सेनाओं को लेकर सुल्तान की सेवा में उपस्थित होते थे। तृतीय, वे सैनिक थे जो केवल अस्थायी रूप से युद्ध के अवसर पर ही भर्ती किये जाते थे और उसी समय में उनको वेतन पर रसद प्राप्त होती थी। चतुर्थ, वे मुसलमान स्वयंसेवक थे जो हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिए सेना में सम्मिलित होते थे। वे उसे जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) मानते थे। उन्हें केवल युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति में से हिस्सा मिलता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना के मुख्य भाग तीन थे। प्रथम, घुड़सवार-सेना थी जिसे सेना का मुख्य भाग समझा जाता था। घुड़सवार दो प्रकार के होते थे—सवार, जिनके पास एक घोड़ा होता था, और दो-अस्पा, जिनके पास दो घोड़े होते थे। घोड़ों को अरब, तुर्किस्तान और अन्य दूरस्थ प्रदेशों से मँगाया जाता था। अलाउद्दीन खलजी ने घोड़ों को दागने तथा सैनिकों की हुलिया लिखे जाने की प्रथाएँ आरम्भ कीं जिससे घोड़ों और सैनिकों की अदल-बदल न हो सके। गियासुद्दीन तुगलक ने भी इन प्रथाओं को लागू किया। सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने भी इन प्रथाओं को लागू करने का प्रयत्न किया था। परन्तु अन्य सुल्तान इस व्यवस्था को लागू नहीं कर सके थे। फीरोज तुगलक जैसे शासकों ने अपनी उदारता के कारण इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को जन्म दिया। उसके समय में सेना में भर्ती वंशानुगत कर दी गयी जिससे योग्यता का अभाव हो गया और सेना दुर्बल हुई। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो तलवारें, एक भाला और धनुष-बाण होते थे। रक्षा के लिए वे कवच, ढाल और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। घोड़ों की सुरक्षा के लिए उन्हें भी लोहे के बख्तर पहनाये जाते थे। सेना की सफलता पर्याप्त मात्रा में घुड़सवार-सेना की शक्ति और गतिशीलता पर निर्भर करती थी। **द्वितीय, गज-सेना थी।** भारत में आने के बाद दिल्ली-सुल्तानों ने भी युद्ध में हाथियों का प्रयोग करना आवश्यक मान लिया था। हाथियों का रखना सुल्तानों का विशेषाधिकार था। लोदी-सुल्तानों के समय के अतिरिक्त अन्य किसी सुल्तान ने अमीरों और सूबेदारों को हाथियों की सेना रखने की आज्ञा नहीं दी थी यद्यपि कभी-कभी किसी बड़े सरदार को सम्मान-स्वरूप हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी। हाथियों की देखभाल के लिए एक पृथक विभाग होता था और हाथियों को युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। हाथियों को बख्तर से सुरक्षित किया जाता था और उनकी सूँड़ों में तलवार तथा हँसिये रख दिये जाते थे। हाथी की पीठ पर हौदा रखा जाता था जिसमें सैनिक बैठते थे। **तृतीय, पैदल-सेना थी।** पैदल-सैनिक 'पायक' कहलाते थे। वे तलवार, बरछा, कटार, धनुष-बाण, ढाल आदि का प्रयोग करते थे। दिल्ली-सुल्तानों में से किसी ने भी **बारूद-गोले के तोपखाने का निर्माण नहीं किया।** उनके पास तोपें थीं परन्तु वे तोपें पत्थर, जलने वाले पदार्थ, ज़हरीले साँप, लोहे के गोले आदि फेंकने के लिए प्रयोग में आती थीं। उनके फेंकने के लिए बारूद का प्रयोग होता था परन्तु बारूद के गोले उस समय में तैयार नहीं किये गये थे। सुल्तान नावों का बेड़ा भी रखते थे परन्तु उनका प्रयोग युद्ध की अपेक्षा सामान ढोने के लिए अधिक किया जाता था।

दिल्ली-सुल्तान की सेना में सभी धर्म और नस्लों के व्यक्ति थे। तुर्क, ईरानी, मंगोल, अफगान, हब्शी, भारतीय मुसलमान; हिन्दू आदि सभी सेना में भर्ती किये गये थे यद्यपि उच्च पदों पर विदेशी मुसलमानों की ही नियुक्ति की जाती थी। विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी हुई ऐसी सेना की शक्ति मूलतया उसके सेनापति अथवा सुल्तान के सेनापतित्व और योग्यता पर निर्भर करती थी। परन्तु क्योंकि सेना में अधिकांशतया मुसलमान होते थे, अतएव इस्लाम धर्म उनको एकता और भावनात्मक जोश प्रदान करता था।

सेना का संगठन और पदों का विभाजन मुख्यतया दशमलव प्रणाली के आधार पर किया गया था। घुड़सवार-सेना में घुड़सवारों की एक टुकड़ी मानी जाती थी जिसका प्रधान 'सरेखेल' कहलाता था। दस सरेखेलों के ऊपर एक सिपहसालार, दस सिपहसालारों के ऊपर एक अमीर, दस अमीरों के ऊपर एक मलिक और दस मलिकों के ऊपर एक खान होता था। सम्भवतया पैदल-सेना का विभक्तीकरण भी इसी प्रकार किया गया होगा। परन्तु किसी भी सुल्तान ने इस पद्धति का प्रयोग विधिवत् नहीं किया। प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। बहुत से पद वंशानुगत भी बन गये थे और दुर्बल सुल्तानों के समय में योग्यता पद प्राप्त करने का आधार नहीं रह जाती थी।

दिल्ली-सुल्तानों की युद्ध-पद्धति प्रायः समान रही। शत्रुओं की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और सेना का एक अग्रगामी भाग आगे भेजा जाता था। युद्ध के अवसर पर सेना को मुख्यतया चार भागों में बाँटा जाता था—केन्द्र, वाम-पक्ष, दक्षिण-पक्ष और सुरक्षित दल। हाथियों को केन्द्र में सबसे आगे रखा जाता था और उनके बीच में पैदल-सैनिक होते थे। घुड़सवारों के आक्रमण के लिए बीच से मार्ग छोड़ दिया जाता था।

राज्य के सभी महत्वपूर्ण भागों और किलों में स्थायी रूप से सेना रखी जाती थी। किलों को सुरक्षा-पंक्ति का एक मुख्य भाग समझा जाता था और उनकी सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जाते थे।

सुल्तान सेना का मुख्य सेनापति होता था। वह समय-समय पर विभिन्न आक्रमणों के लिए अलग-अलग सेनापति नियुक्त करता था। सेना की शक्ति और संगठन बहुत कुछ सुल्तान की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता था। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खलजी, गियासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद तुगलक जैसे योग्य सुल्तानों के समय में सेना की शक्ति बहुत दृढ़ रही जबकि दुर्बल शासकों के नेतृत्व में वही सेना दुर्बल हो गयी।

दिल्ली-सुल्तानों की सेना बहुत श्रेष्ठ नहीं मानी जा सकती थी। उनमें एकता, सैनिक-शिक्षण और अनुशासन की समानता का अभाव था। सरदारों द्वारा संगठित की गयी सेना अपने सरदार के प्रति अधिक वफादार होती थी। तोपखाने का निर्माण न करना उनकी एक दुर्बलता थी, मुख्यतया उस समय जबकि विदेशों में उसका प्रयोग आरम्भ हो चुका था। परन्तु तब भी राजपूत-शासकों के विरुद्ध इस सेना ने सफलता प्राप्त की।

[5]

न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था

राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश स्वयं सुल्तान होता था। सुल्तान का निर्णय अन्तिम होता था। प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में प्रायः दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और सभी प्रकार के मुकदमों का निर्णय स्वयं करता था। धार्मिक मामलों में मुख्य सद्र अथवा मुफ्ती और अन्य मुकदमों में काजी उसकी सहायता करता था। परन्तु क्योंकि सद्र और काजी अधिकांशतया एक ही व्यक्ति होता था अतः वही न्याय में सुल्तान का मुख्य सलाहकार था। सद्र, मुख्य काजी, प्रान्तीय काजी अथवा नगरों के काजियों की नियुक्ति सुल्तान ही करता था। अधिकांश सुल्तान न्यायप्रिय हुए परन्तु क्योंकि वे इस्लाम धर्म के कानूनों के अनुसार न्याय करते थे और काजी से जो एक धार्मिक व्यक्ति होता था, सलाह लेते थे, इस कारण गैर-मुसलमानों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त होता था, इसमें सन्देह किया जा सकता है। सुल्तान के पश्चात् सद्र और मुख्य काजी तथा उसके पश्चात् प्रान्तीय काजी और मुख्य नगरों के काजी हुआ करते थे। गाँवों में ग्राम-पंचायतें न्याय करती थीं।

सुल्तानों का दण्ड-विधान कठोर था। सामान्यतया अंग-विच्छेद, मृत्यु और सम्पत्ति-अपहरण दण्ड के रूप में प्रदान किये जाते थे। सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों और असैनिक मुकदमों में भी इस्लाम धर्म के कानूनों को मान्यता दी जाती थी।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि सुल्तानों की न्याय और दण्ड-व्यवस्था मध्य-युग की परिस्थितियों के अनुसार सामान्य थी और उसमें कोई महत्वपूर्ण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन किसी भी सुल्तान ने नहीं किया था। न्याय का रूप सुल्तान के व्यक्तित्व और उसके धार्मिक विचारों पर निर्भर करता था। न्यायप्रिय शासकों के समय में न्यायालय की व्यवस्था ठीक रही अन्यथा अन्य सुल्तान इसे एक सामान्य परन्तु आवश्यक कार्य मानकर किया करते थे। इसका मुख्य दोष यह था कि किसी भी सुल्तान ने धर्म-निरपेक्ष न्याय, कानून अथवा दण्ड-व्यवस्था को लागू करने का प्रयत्न नहीं किया जबकि उनकी बहुसंख्यक प्रजा उनसे भिन्न धर्म को मानने वाली थी। ऐसी स्थिति में सुल्तानों की बहुसंख्यक प्रजा निष्पक्ष न्याय की आशा नहीं कर सकती थी।

पुलिस-व्यवस्था के लिए सुल्तानों ने कोई पृथक वर्ग नहीं बनाया था। सैनिक-अधिकारी ही अपने-अपने क्षेत्रों में पुलिस-कार्यों की पूर्ति करते थे। बड़े नगरों में एक अधिकारी कोतवाल अवश्य होता था परन्तु वह भी मुख्यतया एक सैनिक-अधिकारी था।

[6]
धार्मिक नीति

सम्पूर्ण सल्तनत-युग में इस्लाम धर्म राज्य-धर्म था। इस कारण प्रत्येक सुल्तान का एक मुख्य कर्तव्य दारुल-हर्ब (काफिरों का देश) को दारुल-इस्लाम (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ प्रत्येक सुल्तान ने अपने इस धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया। एक सुल्तान किस मात्रा में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर सका, यह उसकी सैनिक-क्षमता और परिस्थितियों पर निर्भर करता था और एक सुल्तान किस सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति करने में लगनशील रहा, यह उसके व्यक्तिगत धार्मिक विचारों की कट्टरता पर निर्भर था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक सुल्तान ने अपनी-अपनी क्षमता और विचारों की सीमा के अनुसार इस कार्य की पूर्ति हेतु प्रयत्न किये। अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों के लिए राजनीतिक उद्देश्य प्रधान था, जबकि फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने राज्य की शक्ति को इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साधन बनाने में कोई संकोच नहीं किया।

सभी सुल्तानों के समय में मुसलमानों और बहुसंख्यक हिन्दुओं में अन्तर किया जाता था। हिन्दू किसानों को मुसलमान किसानों (यद्यपि उनकी संख्या नगण्य थी) की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था तथा हिन्दू व्यापारियों को मुसलमान व्यापारियों की तुलना में दुगुना व्यापारिक-कर देना पड़ता था। हिन्दू तो क्या, हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमानों को भी राज्य में अच्छे पद नहीं दिये जाते थे। हिन्दुओं को मुसलमान बन जाने हेतु विभिन्न प्रलोभन दिये जाते थे। न्याय में मुसलमानों के साथ पक्षपात होता था। हिन्दुओं को उनके तीर्थस्थानों पर जाने से रोका जाता था और उन्हें जजिया देना पड़ता था। सुल्तानों की दान-व्यवस्था और अस्पतालों के निर्माण से हिन्दुओं को कोई लाभ न था। जबकि मुसलमान मदरसों, मकतबों और मौलवियों को धन व जागीरें दी जाती थीं, हिन्दू पाठशालाओं और विद्यालयों को नष्ट किया जाता था। हिन्दू-मन्दिरों और देवी-देवताओं की मूर्तियों को नष्ट करना और उन्हें अपमानित करने के लिए उनके खण्डों को मस्जिदों की सीढ़ियों पर लगाना और मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करना प्रायः सभी सुल्तानों के समय में हुआ। निस्सन्देह, हिन्दुओं को शब्द और व्यवहार दोनों ही प्रकार से 'जिम्मी' तथा 'काफिर' समझा जाता था।

अधिकांश दिल्ली-सुल्तान सुन्नी थे। इस कारण शियाओं और अन्य मुसलमान धर्मावलम्बियों के प्रति भी उनका व्यवहार कटुतापूर्ण था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक समय में विभिन्न इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानों की नीति धार्मिक संकीर्णता और पक्षपात पर आधारित नहीं थी। अपने इस मत के समर्थन में वे विभिन्न तर्क भी देते हैं; जैसे—मन्दिरों को नष्ट किये जाने का कारण धन था, मूर्तियों को नष्ट करने का उद्देश्य हिन्दुओं को एक ईश्वर में विश्वास करना सिखाना था, तत्कालीन इतिहासकारों ने केवल प्रतिष्ठा और प्रचार के कारण सुल्तानों के धार्मिक कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा था, आदि। सम्भवतया ऐसे विद्वानों का इस मत को प्रकट करने का उद्देश्य सद्भावनापूर्ण है। आधुनिक युग की परिस्थितियों में जबकि धार्मिक सहनशीलता, हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्ध और धर्म-निरपेक्ष राज्य के निर्माण की आवश्यकता है, तब धार्मिक कट्टरता पर चाहे वह आधुनिक युग की हो अथवा मध्य-युग की, बल देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतिहास तथ्यों पर आधारित सत्य है, न कि किसी युग की विशेष प्रवृत्ति के प्रचार का साधन। इसके अतिरिक्त, सत्य के द्वारा ही भविष्य का निर्माण करना तर्कसंगत है और उसी के आधार पर किसी भी परिस्थिति या प्रवृत्ति का ठोस आधार बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्रायः सभी दिल्ली-सुल्तानों की धार्मिक नीति संकीर्णता और साम्प्रदायिकता पर आधारित थी। तत्कालीन सभी इतिहासकारों ने इस्लाम धर्म की रक्षा और प्रचार के हेतु सुल्तानों द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा की थी और ये सभी इतिहासकार मुसलमान थे। भविष्य से अनभिज्ञ जो भी उन्होंने लिखा उसमें अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु उनके कथन का आधार सत्य है। मध्य-युग में धर्म की मान्यता थी और यदि सुल्तानों में इस मान्यता के अनुकूल कार्य किये तो उन पर न तो सन्देह करने की आवश्यकता है, न आश्चर्य करने की और न उन सुल्तानों पर लांछन लगाने की। उन सुल्तानों ने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार कार्य किया, जो स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, उनके पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि केवल धर्म-प्रचार ही उनका लक्ष्य न था। भारत में उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया था। उस राज्य की रक्षा करना उनका प्रमुख हित और स्वार्थ था। इस कारण धर्म से राजनीति अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई थी। इस कारण सम्पूर्ण सल्तनत-काल एक संघर्ष का युग था जिसमें हिन्दू और मुसलमान धर्म और राजनीति दोनों ही स्थलों में एक-दूसरे के शत्रु थे। उस संघर्ष में मुसलमान विजेता और आक्रमणकारी बन चुके थे तथा हिन्दू पराजित और रक्षार्थी। इन परिस्थितियों में विजेता का अपने धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित रखने का प्रयत्न और बहुसंख्यक हिन्दुओं को मुसलमान धर्म में परिवर्तित करके अपनी संख्या को बहुमत में बदलने का प्रयत्न परिस्थितियों के अनुकूल, राजनीति के लिए लाभप्रद और धर्म के प्रति धर्मपरायणता का था। इस प्रकार, सभी प्रकार से लाभदायक इस कार्य की पूर्ति करने वाले सुल्तानों के कार्य की निन्दा नहीं की जा सकती तथा उनके कार्य के उद्देश्य को कोई अन्य रूप प्रदान करना उनके साथ अन्याय करना होगा। इस कारण दिल्ली-सुल्तानों की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी और इसमें कोई अनुचित अथवा आश्चर्य की बात न थी। परन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि दिल्ली-सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान महान् न हो सका और इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उनमें से कोई भी अपने समय से आगे न सोच सका और न उसके अनुकूल कार्य कर सका अन्यथा अलाउद्दीन जैसे योग्य शासक और महान् योद्धा को भी आधुनिक इतिहासकार महान् मानने में क्यों संकोच करते हैं ? दिल्ली-सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान यह न समझ सका कि समस्त हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाना असम्भव है और न हिन्दू धर्म को शक्ति के आधार पर नष्ट ही किया जा सकता है। यदि वे यह समझ सके होते तो वे धार्मिक कट्टरता के अवसाद से बच जाते और हिन्दू-मुसलमानों में वह पारस्परिक सद्भावना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक तीव्र गति से स्थापित होती जो जनता में स्वाभाविक दृष्टि से उत्पन्न हो रही थी। मुगल शासक इस बात को समझ सके और अकबर इसे समझकर महान् कहलाने का अधिकारी बन सका। इसी कारण मुगल-वंश भारत में अधिक स्थिर, अधिक लाभप्रद और अधिक उन्नतशील बन सका। दिल्ली-सुल्तानों की धार्मिक कट्टरता उनकी एक बड़ी भूल थी।

दिल्ली-सुल्तानों का शासन पूर्णतया दोषरहित न था तथापि वह समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ रहा। उसके मूल दोष उनकी धार्मिक कट्टरता की नीति और अपने सैनिक-संगठन को समय के अनुकूल न बनाना था। एक ने उनको बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के सहयोग से वंचित रखा और दूसरे ने उनके हाथों से भारत की सत्ता छीन ली।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. क्या दिल्ली-सल्तनत राज्य को एक धर्म-राज्य स्वीकार किया जा सकता है ?
2. दिल्ली सल्तनत की केन्द्रीय शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. दिल्ली सल्तनत की इक्तादारी शासन-व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।
4. दिल्ली सुल्तानों की लगान-व्यवस्था और उसमें हुए विभिन्न परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
5. दिल्ली सुल्तानों की सैनिक-व्यवस्था और उसमें किये गये विभिन्न परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत सल्तनत काल में सुल्तान की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत चार अन्य प्रमुख अधिकारियों की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
3. सल्तनत काल में इक्ता व्यवस्था पर एक लेख लिखिए।
4. सल्तनत काल में राजस्व व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए।
5. जजिया कर पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
6. सल्तनतकालीन लगान व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
7. सल्तनत काल में सैन्य संगठन की विवेचना कीजिए।
8. सल्तनत काल में न्याय तथा दण्ड व्यवस्था पर एक लेख लिखिए।
9. दिल्ली सल्तनत काल के सुल्तानों की धार्मिक नीति पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सल्तनत काल में उलेमा वर्ग का प्रभुत्व किस वंश के शासनकाल में अत्यन्त कम रहा ?
   (अ) दास वंश में (ब) खलजी वंश में
   (स) तुगलक वंश में (द) सैयद वंश में।
2. सल्तनत काल में खलीफा की स्थिति थी—
   (अ) नाममात्र के प्रधान की (ब) वास्तविक प्रधान की
   (स) दोनों में से कोई नहीं (द) दोनों 'अ' व 'ब'।
3. सल्तनत काल में सुल्तान को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का अधिकार था, यदि वह न हो—
   (अ) महिला (ब) अल्पवयस्क
   (स) वयस्क (द) अयोग्य।
4. इस युग में गद्दी की एकमात्र निर्णायक शक्ति थी—
   (अ) सुल्तान का मनोनयन (ब) तलवार
   (स) योग्यता (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. सुल्तान का महत्त्वपूर्ण कार्य था—
(अ) इस्लाम की सुरक्षा (ब) राज्य विस्तार
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

6. दीवान-ए-वजारत किस विभाग से सम्बन्धित अधिकारी होता था ?
(अ) सैन्य विभाग से (ब) राजस्व विभाग से
(स) न्याय विभाग से (द) शिक्षा विभाग से।

7. सद्र-उस-सद्र प्रधान होता था—
(अ) धर्म विभाग (ब) सैन्य विभाग
(स) शिक्षा विभाग (द) इनमें से कोई नहीं।

8. प्रत्येक इक्ता में किस अधिकारी को विशेष सैनिक अधिकार प्राप्त थे ?
(अ) आरिज-ए-मुमालिक (ब) दीवान-ए-रसालात
(स) मुक्ता अथवा बली (द) उपर्युक्त सभी।

9. इक्ताओं को विभाजित किया गया था—
(अ) गाँवों में (ब) परगनों में
(स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) शिकों में।

19. उश्र किस प्रकार का कर था ?
(अ) मुसलमानों से लिया जाने वाला (ब) खम्स
(स) जकात (द) इनमें से कोई नहीं।

11. जजिया कर को गैर-मुसलमानों की आर्थिक स्थिति के अनुसार विभाजित किया गया था ?
(अ) एक (ब) तीन
(स) दो (द) चार।

12. दिल्ली सल्तनत काल में लगान व्यवस्था में दोष रहा था—
(अ) भूमि की पैमाइश न करना
(ब) पैदाइश के अनुमान पर कर निर्धारण
(स) ठेके पर कर की वसूली
(द) उपर्युक्त सभी।

13. सैनिक अंग 'खासखेल' में सम्मिलित थे—
(अ) शाही अंगरक्षक (ब) शाही गुलाम
(स) दोनों 'अ' व 'ब' (द) इनमें से कोई नहीं।

14. निम्नलिखित में से कौन-सा भाग सेना से जुड़ा नहीं था ?
(अ) घुड़सवार (ब) रथ सेना
(स) गज सेना (द) पैदल सेना।

15. राज्य में सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था—
(अ) काजी-उल-कुजात (ब) सद्र-उस-सद्र
(स) सुल्तान (द) मुख्य वजीर।

[उत्तर—1. (ब), 2. (अ), 3. (द), 4. (ब), 5. (स), 6. (ब), 7. (अ), 8. (स), 9. (द), 10. (अ), 11. (ब), 12. (द), 13. (स), 14. (ब), 15. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20

सभ्यता तथा संस्कृति

[1]
समाज

1. विभिन्न वर्ग

मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था। मुसलमानों के आने से उसका विभक्तीकरण बढ़ गया। समाज का सबसे अधिक सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानों का था। वह भारत का शासक-वर्ग था। इस कारण वह वर्ग सबसे अधिक प्रभावशाली और विशेष अधिकारों से युक्त था। राज्य के सभी बड़े-बड़े पद उस वर्ग के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, बड़ी-बड़ी जागीरें उन्हें प्राप्त होती थीं तथा शासन और समाज में उनका स्थान श्रेष्ठ था। परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों में विभाजित थे। तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे। 13वीं सदी तक तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित रखी और उन्होंने अन्य विदेशी मुसलमानों को समानता का दावा नहीं करने दिया। परन्तु 14वीं सदी के आरम्भ में इस स्थिति में परिवर्तन आया। खलजियों द्वारा शासन-सत्ता प्राप्त करते ही तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह-सम्बन्धों एवं बदली हुई परिस्थितियों ने सभी विदेशी मुसलमानों का स्तर एक-समान कर दिया।

समाज का दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानों का था। ये वे मुसलमान थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे परिवर्तित मुसलमानों की सन्तान थे। विदेशी मुसलमानों ने भारतीय मुसलमानों को अपने समान नहीं समझा क्योंकि उन्हें न तो भारत का विजेता माना गया और न श्रेष्ठ नस्ल का, बल्कि क्योंकि अधिकांश भारतीय मुसलमान निम्न हिन्दू जातियों में से मुसलमान बने थे, इस कारण विदेशी मुसलमान उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। भारतीय मुसलमानों को शासन और समाज में बराबर का स्थान नहीं दिया गया। सम्पूर्ण सल्तनत-युग में कतिपय भारतीय मुसलमान ही ऐसे हुए जिन्हें राज्य में विशिष्ट पद प्राप्त हुए। 14वीं सदी में खलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु तब भी सामाजिक दृष्टि से भारतीय मुसलमान निम्न स्तर पर ही रहे। हिन्दू जाति-व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलमानों पर पड़ा, मुख्यतया धर्म-परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू-जाति के प्रभाव से मुक्त न रह सके। मुसलमान बनने के पश्चात् भी उन्होंने अपने जाति-विभेद को स्थापित रखा जिसके कारण वे विभिन्न वर्गों में बँटे रहे। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल और उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। धर्म, शिक्षा और जीविका के आधार पर भी मुसलमानों के विभिन्न वर्ग थे। शिया और सुन्नियों में अन्तर था, सैनिक और विद्वानों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अन्तर था तथा धार्मिक कृत्यों को करने वाला उलेमा-वर्ग उन सबसे पृथक था। सैनिकों को अपने पदों के आधार पर सम्मान मिलता था, विद्वानों को अपनी योग्यता के आधार पर और उलेमा-वर्ग धार्मिक पदाधिकारी होने के नाते सभी से श्रेष्ठता का दावा करते थे तथा शासन में प्रभावशाली थे। अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के कुछ समय को छोड़कर उलेमा-वर्ग का प्रभाव राज्य के शासन पर रहा क्योंकि इस्लाम धर्म से सिद्धान्तों को जानने और उसकी व्याख्या करने में उसका एकाधिकार था। मुस्लिम समाज का निम्नतर स्तर शिल्पी, दुकानदार, क्लर्क तथा छोटे व्यापारियों से मिलकर बन गया था।

भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दुओं का था। हिन्दू-समाज जाति-व्यवस्था के कारण पहले से ही विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था। मुसलमानों के आने से अपने समाज की सुरक्षा के लिए हिन्दुओं ने जाति-बन्धन और अधिक कठोर कर लिये जिसके कारण विभिन्न नवीन उप-जातियों का निर्माण हुआ। ऊँच-नीच की भावना और व्यवसाय व निवास-स्थान के आधार को लेकर विभिन्न उप-जातियाँ बन गयीं जिनमें परस्पर खान-पान और विवाह-सम्बन्ध सम्भव न थे। अन्तर्जातीय विवाहों को अपवाद माना जाता था। आरम्भिक काल में कोई हिन्दू यदि एक बार अपने धर्म को छोड़ देता था अथवा विवशता में मुसलमानों के साथ बन्दी-रूप में भी रह लेता था तो उसे पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश नहीं मिल पाता था, परन्तु बाद के समय में यह बन्धन कुछ शिथिल हो गया। फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने कुछ ब्राह्मणों को इसलिए दण्ड दिया था कि वे मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहन देते थे। विजयनगर-राज्य के हरीहर और बुक्का को पुनः हिन्दू बना लिया गया था। परन्तु हिन्दुओं में अस्पृश्यता, बलि-प्रथा, धर्म के लिए आत्मघात करना आदि कुरीतियाँ थीं। साधारणतया हिन्दू धर्मपरायण, सच्चरित्र और सात्विक विचारधारा के थे। सम्पूर्ण दिल्ली-सल्तनत के युग में हिन्दुओं के साथ जिम्मियों जैसा व्यवहार किया गया। उन्हें कोई उच्च पद प्राप्त नहीं होता था, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था, मुसलमान उनकी स्त्रियों को प्राप्त करने का अवसर तलाश करते रहते थे, उन पर कर का भार अधिक था और उन्हें सर्वदा अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए जागरूक रहना पड़ता था। परन्तु कुछ पदों से—मुख्यतया लगान-विभाग से—हिन्दुओं को हटाना कठिन था। इसी प्रकार, हिन्दू व्यापारी, कारीगर, कृषक आदि भी राज्य के लिए महत्वपूर्ण बने रहे। आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओं को सैनिक के रूप में भी भर्ती किया गया। परन्तु हिन्दू-समाज की स्थिति अपनी स्वयं की दुर्बलताओं और मुसलमानों के व्यवहार के कारण सन्तोषजनक न थी और जो कुछ भी हिन्दू सुरक्षित रख सके वह अपने कौशल और शक्ति के आधार पर ही रख सके।

2. दास-प्रथा

उस समय समाज में हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही दास-प्रथा प्रचलित थी तथा गुलाम बाजार में बेचे और खरीदे जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने गुलामों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते थे यद्यपि उनके जीवन और सम्पत्ति पर उनके मालिकों का पूर्ण अधिकार होता था। मुसलमान दासों की स्थिति हिन्दू दासों की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। सुल्तान स्वयं योग्य दासों को बड़ी संख्या में रखते थे और उनमें से अनेक ने राज्य में बड़े से बड़े पद प्राप्त किये थे।

3. स्त्रियों की स्थिति

हिन्दुओं में स्त्रियों की स्थिति पहले की तुलना में गिर गयी थी। यद्यपि हिन्दू स्त्रियों का परिवार में सम्मान था, वे शिक्षा प्राप्त करती थीं, धार्मिक कार्यों में भाग लेती थीं और उनमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अनेक स्त्रियाँ शस्त्र-विद्या तथा विद्वत्ता में भी कुशल हुईं तथापि उनकी व्यावहारिक स्थिति निम्न हो गयी और वे कई नवीन कुप्रथाओं से पीड़ित हो गयीं। यद्यपि जनसाधारण में एक स्त्री और एक पुरुष के विवाह की प्रथा थी परन्तु धनवान और सम्मानित व्यक्तियों में बहु-विवाह प्रचलित था। विधवाओं को पुनः विवाह का अधिकार न था। उन्हें या तो अपने पति की चिता के साथ जल जाना होता था अथवा मृत्युपर्यन्त संन्यासिनी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में सती-प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। मुसलमान हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे और वे उनका अपहरण करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे। इस कारण हिन्दुओं में अल्पायु-विवाह और पर्दा-प्रथा बढ़ी। स्त्रियों की शिक्षा पर भी इसका प्रभाव पड़ा। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने घरों से बाहर नहीं जा सकती थीं। इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर में ही किया जाता था और यह सुविधा केवल धनवान व्यक्तियों की पुत्रियों को ही प्राप्त हो सकती थी। उस समय घर में लड़की का जन्म होना अशुभ माना जाता था जिसके परिणामस्वरूप बालहत्याएँ भी की जाती थीं। परन्तु निम्न वर्ग इन कुप्रथाओं से पर्याप्त मात्रा में बचा रहा। उसमें पर्दा-प्रथा न थी तथा बहुत-सी निम्न जातियों में तलाक और विधवा-विवाह सम्भव थे। हिन्दुओं में एक कुप्रथा देवदासी-प्रथा भी थी जिसके कारण मन्दिरों में सुन्दर अविवाहित लड़कियों को देवदासी के रूप में रखा जाता था। हिन्दू समाज में मुसलमानों के कारण कुछ अन्य परिवर्तन भी हुए। एक मुख्य परिवर्तन हिन्दू धर्म को छोड़े हुए व्यक्तियों को पुनः हिन्दू धर्म में ले लेने का था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं ने अपने एकाकीपन को छोड़कर परिस्थितियों के अनुसार अपने वस्त्रों, खानपान, व्यवहार और रीति-रिवाज में भी परिवर्तन किया। एक लाभदायक सुधार स्त्रियों की स्थिति में अवश्य इस समय में हुआ। स्त्री-धन के अतिरिक्त उनका अधिकार कुछ विशेष प्रकार की सम्पत्ति पर भी स्वीकार किया गया।

मुस्लिम समाज में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी न थी। मुसलमानों में बहु-विवाह का प्रचलन जनसाधारण में भी था और एक मुसलमान कम से कम चार स्त्रियों से विवाह कर सकता था। धनवान और राजपुरुष तो सैकड़ों और हजारों की संख्या में स्त्रियाँ और दासियाँ रखते थे। मुसलमानों में पर्दा-प्रथा अत्यधिक कठोर थी और उनमें शिक्षा का प्रसार भी कम था। परन्तु मुसलमान स्त्रियाँ कुछ अन्य प्रकार से अच्छी स्थिति में थीं। वे विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती थीं, तलाक दे सकती थीं, उनमें सती की प्रथा न थी और उन्हें अपने माँ-बाप की सम्पत्ति में से हिस्सा लेने का अधिकार था।

परन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि **इस युग में स्त्रियों की स्थिति खराब थी और स्त्रियों का स्थान 'भोग्या' के रूप में था।**

4. जन-जीवन

भोजन की दृष्टि से हिन्दू प्रायः माँस का प्रयोग नहीं करते थे जबकि मुसलमान माँसाहारी थे। अधिकांश हिन्दू दूध और दूध से बनी हुई वस्तुओं को प्रधानता देते थे। परन्तु युद्ध-प्रिय जातियों और शूद्रों में माँसाहार प्रचलित था। मुसलमानों में सूफी और उनसे प्रभावित व्यक्ति माँस नहीं खाते थे अन्यथा सभी मुसलमान माँसाहारी थे। कुरान के अनुसार शराब पीना वर्जित है परन्तु हिन्दू और मुसलमान दोनों में शराब और अफीम का प्रयोग स्वच्छन्दता से किया जाता था। अलाउद्दीन जैसा शासक भी शराब पीना बन्द नहीं करा सका था।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "हिन्दू-समाज में थोड़ी उदारता भी आयी। ब्राह्मणों ने शूद्रों को पुराण सुनने और कुछ वस्तुओं का व्यापार करने की अनुमति दे दी। सम्भवतया यह उदारता शूद्रों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने से रोकने के लिए थी।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही नगरों में अच्छे भवनों का निर्माण कराते थे और उनके यहाँ जीवन की सभी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। ग्राम्य-जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था और जनसाधारण कच्चे मकानों अथवा झोंपड़ियों में रहते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही आतिथ्य-सत्कार में विश्वास करते थे।

वस्त्र, वेशभूषा और गहनों में प्रगति हुई थी। इस क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों ने एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखा। धोती, अंगिया, पेटीकोट, चुनरी आदि के प्रयोग के साथ-साथ कुर्ता, चोली, पाजामा, अंगरखा आदि का प्रयोग होता था। व्यक्ति विभिन्न रंगों के कपड़ों का प्रयोग करते थे और सूती, रेशमी तथा ऊनी सभी प्रकार के वस्त्र प्रयोग में लाते थे। वस्त्र और वेशभूषा की दृष्टि से पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति थी। आभूषण पहनने का शौक हिन्दू और मुसलमान दोनों को था। सिर से लेकर पैरों की उंगलियों तक के लिए विभिन्न प्रकार के जेवर बनने लगे थे तथा स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषणों का प्रयोग करते थे। सोना, चाँदी, जवाहरात आदि का प्रयोग आभूषण बनाने के लिए किया जाता था।

मनोरंजन के लिए खेल-कूद, द्वन्द्व-युद्ध, शिकार, चौपड़, पशु-पक्षियों के युद्ध, चौगान (पोलो) आदि थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमानों के विभिन्न त्यौहार और उत्सव भी मनोरंजन के साधन थे। हिन्दू होली, दीवाली, बसन्त आदि त्यौहारों को मनाते थे और मुसलमान ईद, शब्बेरात, नौरोज आदि मनाते थे।

साधारणतया, हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न कर रहे थे और परस्पर निकट आकर एक-दूसरे से कुछ न कुछ सीख रहे थे। अधिकांश सुल्तानों तथा उलेमाओं की धार्मिक असहिष्णुता के होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान परिस्थितियों और व्यावहारिकता के कारण एक-दूसरे के सम्पर्क में आ रहे थे। इससे समाज में कुछ परिवर्तन हो रहे थे और मुख्यतया खान-पान, वेश-भूषा तथा जन-प्रचलित रीतियों में कुछ सुधार हो रहा था। परन्तु समाज का नैतिक स्तर गिर गया था। हिन्दू राजनीतिक पराजय और समाज में असम्मानित होने के कारण आत्मगौरव, उदारता और प्रगति की चेष्टा से विमुख हो गये थे। हिन्दू-समाज अपनी स्वरक्षा मात्र में लगा रहने के कारण जो कुछ भी अपने में अच्छा अथवा बुरा था, उसी से चिपक गया जिससे उसकी प्रगति रुक गयी और मुसलमान समाज विशेष अधिकारों के उपभोग के कारण अहंकारी और अकर्मण्य बन गया। ऐसी स्थिति में आचार-विचार और नैतिकता में गिरावट स्वाभाविक थी। हिन्दू अथवा मुसलमान कोई भी इस पतन से मुक्त न रहा। सामाजिक परिवर्तन और हिन्दू-मुसलमानों का आदान-प्रदान तो स्वाभाविक था परन्तु केवल यही प्रगति के मापदण्ड न थे। इस कारण दिल्ली-सल्तनत का युग सामाजिक परिवर्तनों का तो था परन्तु प्रगति का न होकर गिरावट का था।

5. तकनीकी विकास का आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति पर प्रभाव

भारत कृषि-प्रधान देश रहा है। परन्तु यह मानना बहुत बड़ी भूल है कि भारत में उद्योगों का अभाव रहा है। प्राचीन भारत में भारत के विभिन्न उद्योग भलीभाँति विकसित थे और भारत की सम्पन्नता का मूल कारण उसके विभिन्न विकसित उद्योग तथा विदेशी व्यापार था। कृषि पर आधारित अर्थ-व्यवस्था अतिरिक्त (Surplus) उत्पादन करने में सक्षम नहीं होती जिसके कारण विदेशी व्यापार की प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में किसी भी देश के सम्पन्न होने का प्रश्न नहीं होता। भारत की सम्पन्नता का एक प्रमुख कारण उसका विदेशों से व्यापार था। प्राचीन भारत में कपड़ा-उद्योग, हाथीदाँत का उद्योग, समुद्री-मोतियों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्योग आदि विकसित स्थिति में थे और विदेशी व्यापार द्वारा भारत बहुत आर्थिक लाभ प्राप्त करता था। पूर्व-मध्ययुग में इस स्थिति में कुछ परिवर्तन हो गया। राजपूत-युग इसी काल में आता है जबकि भारत का विदेशों से प्रत्यक्ष सम्पर्क कम हो गया, सामन्ती-व्यवस्था के कारण भारतीय अर्थ-व्यवस्था कृषि पर अधिक आधारित हो गयी और उद्योगों की स्थिति अच्छी नहीं रही जिसके फलस्वरूप विदेशी व्यापार भी कम हो गया। यह तो नहीं माना गया है कि इस युग में भारत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं था। अनेक महलों, मन्दिरों एवं किलों का निर्माण, राजाओं के खजानों और मन्दिरों में संचित अपार सम्पत्ति तथा महमूद गजनवी का अपने प्रत्येक आक्रमण में भारत से अतुल सम्पत्ति लूटकर ले जाना आदि इसके प्रमाण हैं कि भारत इस युग में भी एक अत्यधिक धनवान देश था। परन्तु तब भी आधुनिक इतिहासकार यह मानते हैं कि इस युग में भारत औद्योगिक और विदेशी व्यापार की दृष्टि से कुछ दुर्बल होने लगा था। भारतीय जाति-व्यवस्था की जटिलता भी उसकी दुर्बलता का एक कारण थी क्योंकि विभिन्न उद्योगों में लगे हुए कारीगर-वर्ग जैसे लुहार, जुलाहा, कुम्हार, चमार, दर्जी, बढ़ई आदि को समाज में शूद्रों में स्थान प्राप्त था तथा उनका व्यवसाय अधिकांशतया वंशानुगत था। इन्हें समाज में सम्मान प्राप्त करने की आशा न थी और इनमें व्यवसाय में परिवर्तन करने की क्षमता का पूर्ण अभाव था। इसका कुप्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर पड़ता था और उसका दुष्परिणाम इन विभिन्न उद्योगों के विकास पर। इन विद्वानों के अनुसार दिल्ली-सल्तनत के काल में इस स्थिति में परिवर्तन हुआ।

आधुनिक इतिहासकार यह मानते हैं कि भारत में तुर्की शासन की स्थापना के पश्चात् कुछ उद्योगों का तकनीकी विकास हुआ, उससे उन उद्योगों से सम्बन्धित वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई तथा उससे विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई। उसका प्रभाव भारत की सामाजिक स्थिति पर पड़ा। मुख्यतया, हिन्दुओं की जातीय व्यवस्था में कुछ शिथिलता आयी और विभिन्न निम्न जातियों ने अपने सामाजिक स्तर को उठाने का प्रयत्न किया और उसमें कुछ सफलता भी पायी। लगान उस काल में राज्य की आय का एक मुख्य स्रोत था। इस कारण, कृषि-योग्य भूमि का विस्तार शासक-वर्ग के हित में था। उसके लिए सिंचाई की व्यवस्था आवश्यक थी। इस युग में यह सम्भव हुआ। यह माना जाने लगा है कि सम्भवतया रहट का प्रयोग, जिसके द्वारा गहरे कुएँ से पानी निकाला जाना सम्भव हुआ, भारत में तुर्की राज्य की स्थापना के बाद की सदियों में हुआ। इससे कृषि-योग्य भूमि में विस्तार सम्भव हुआ और कई निम्न जातियों ने कृषि का पेशा अपनाकर अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न किया। पंजाब में जाटों का वर्ग ऐसा ही वर्ग था जो पहले पशुपालन करता था परन्तु जिसने बाद में कृषि को अपना व्यवसाय बना लिया। इसी प्रकार, कपड़ा कातने के लिए चरखा का प्रयोग भी इसी युग में आरम्भ हुआ। इसका उल्लेख, सर्वप्रथम, इसामी द्वारा लिखित 'फुतूह-उस-सलातीन' में किया गया है। इससे मोटे कपड़े के उत्पादन और प्रयोग में वृद्धि हुई। इसके लिए कपास के उत्पादन को बढ़ाया गया। इससे जुलाहा-वर्ग की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ। प्रो. इरफान हबीब के अनुसार, "चरखा और धुनिया की कमान निश्चित रूप से भारत के बाहर से भारत में सम्भवतया तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में आये।" परन्तु उनका कहना यह भी है कि सम्भवतया लकड़ी की चरखी का जन्म भारत में हुआ। इसी काल में रेशम के कीड़े पाले जाने का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे रेशम वस्त्र-उद्योग की उन्नति हुई। इसी प्रकार, कालीन बनाने के उद्योग की प्रगति भी इसी काल में हुई। भारत में कागज-निर्माण का उद्योग भी इसी काल में हुआ जिससे न केवल शिक्षा के प्रसार में सहायता मिली अपितु व्यापारिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेन-देन, पत्रों द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध और प्रशासकीय आदेशों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना सुगम हुआ। इरफान हबीब के अनुसार चुम्बकीय कुतुबनुमा का प्रयोग भारत में इसी समय में हुआ जिससे समुद्री यात्रा में सहायता मिली। इस समय का एक अन्य लाभकारी आविष्कार समयसूचक-उपकरणों का बनाया जाना था जिनसे समय का सही पता किया जाना सम्भव हुआ। सुल्तान फीरोज तुगलक ने फीरोजाबाद (दिल्ली) में एक धूपघड़ी और एक जलघड़ी बनवायी थी। घोड़ों पर लोहे की रकाब और घोड़ों के पैरों में लोहे की नालों का प्रयोग भी भारत में इसी काल में हुआ। प्रो. इरफान हबीब के अनुसार लोहे की रकाब का आविष्कार चीन में हुआ। वहाँ निश्चित रूप से चौथी सदी में उसका प्रयोग आरम्भ हो चुका था। 7वीं सदी के अन्त तक उसका प्रयोग ईरान और अन्य मुसलमान देशों में आरम्भ हो गया। 11वीं और 12वीं सदी में तुर्की आक्रमणकारी भी उसका प्रयोग करते थे और उन्हीं के माध्यम से भारत में भी उनका प्रयोग आरम्भ हुआ। भारत में उसके प्रयोग का पहला लिखित प्रमाण फखे-ए-मुदबिर में मिलता है जिसे सुल्तान इल्तुतमिश के शासन-काल में लिखा गया था। इसी प्रकार घोड़ों के पैरों में लोहे की नाल के प्रयोग का विवरण भी सर्वप्रथम फखे-ए-मुदबिर में ही मिलता है जिससे प्रमाणित होता है कि 13वीं सदी के आरम्भ में भारत में उसका प्रयोग भी आरम्भ हो गया था। निश्चय ही रकाब और नाल की प्रयोग ने घुड़सवार-सेना की गति को तीव्र करने और उसके आक्रमण करने की शक्ति में वृद्धि करने में बहुत सहायता दी और, इस प्रकार, भारतीयों की युद्ध-शक्ति को बढ़ावा दिया। इनके अतिरिक्त भी, सम्भवतया, इस युग में अन्य तकनीकी उन्नति भी हुई जिसके बारे में विद्वानों को अभी तक ज्ञान नहीं हो सका है। इस तकनीकी उन्नति का प्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर पड़ा। इससे विभिन्न व्यवसायों की उन्नति हुई, नवीन व्यवसाय बने, कारीगरों की संख्या में वृद्धि हुई, शहरों के निर्माण में सहायता मिली तथा विदेशी व्यापार की उन्नति हुई। निस्सन्देह, इन प्रगतिशील आर्थिक परिवर्तनों ने भारत की सामाजिक स्थिति और विचारधारा को प्रभावित किया। नवीन धार्मिक विचार जो सूफी और भक्ति-आन्दोलन के रूप में इस युग में सामने आये और जिन्होंने न केवल धर्म को सरल बनाने का प्रयत्न किया अपितु सामाजिक समानता तथा धार्मिक समानता पर भी बल दिया, बहुत कुछ तकनीकी प्रगति द्वारा सम्भव बनायी गयी, बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों के परिणाम थे।

हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर सम्बन्ध

दिल्ली-सल्तनत के युग में हिन्दू और मुसलमानों के परस्पर क्या सम्बन्ध थे, इस विषय पर विभिन्न विद्वान इतिहासकारों में मतभेद है। एक वर्ग ऐसे इतिहासकारों का है जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग नहीं मानता। वे दिल्ली-सुल्तानों के राजनीतिक उद्देश्यों पर अधिक बल देते हैं तथा जिस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों ने एक-दूसरे के विचारों, रीति-रिवाजों, रहन-सहन आदि को प्रभावित करना आरम्भ किया था उसके आधार पर यह निर्णय करते हैं कि इस युग में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध खराब नहीं रहे थे। सम्भवतया, उनका यह विचार आधुनिक समय में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों में सुधार तथा आधुनिक युग की धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति और उसकी आवश्यकता के कारण भी है। डॉ. ए. रशीद ने इस आवश्यकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। वह लिखते हैं : "इस प्रकार, धार्मिक और सामाजिक मिश्रण तथा भाषा-सम्बन्धी आदान-प्रदान की ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं जो एक सूत्र में बँधे हुए एक राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर रही थीं। राष्ट्रीय एकीकरण के इस समय में एक व्यक्ति को विवादपूर्ण प्रश्नों में नहीं उलझना चाहिए। हमें झगड़े, संघर्ष,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारस्परिक ईर्ष्या और विरोधों के विवरणों से भी बचना चाहिए।" डॉ. ए. रशीद का विचार पूर्ण व्यावहारिक और, सम्भवतया, समयानुकूल है। परन्तु अन्य इतिहासकार ऐसे हैं जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग मानते हैं। उनके अनुसार इस युग में हिन्दू-वर्ग प्रत्येक प्रकार से पीड़ित वर्ग था। ऐसी स्थिति में हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्धों का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "समकालीन अकाट्य प्रमाणों के अतिरिक्त सैकड़ों वर्षों से ऐसी अविच्छिन्न परम्पराएँ चली आयी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि तुर्की शासन अत्याचारपूर्ण था।" डॉ. आर. सी. मजूमदार लिखते हैं : "यह सत्य है कि हिन्दुओं को शासन में बहुत बड़ी संख्या में छोटे पद प्राप्त थे और इस युग के अन्तिम समय में कुछ बड़े असैनिक पद और बहुत ही कम सैनिक पद भी प्राप्त हुए, लेकिन उनका कोई राजनीतिक स्तर न था और वे अपनी जन्मभूमि में जिसे एक मुस्लिम राज्य और देश समझा गया तथा सार्वजनिक दृष्टि से घोषित भी किया गया, पीड़ितों की भाँति रहते थे।"

उपर्युक्त दोनों ही विचारों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान इतिहासकारों ने अपने-अपने तर्क और प्रमाणित तथ्य प्रस्तुत किये हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. के. एस. लाल ने इस समस्या के तीन कारण बताये हैं। प्रथम, मुसलमानों द्वारा भारत-विजय की विशेष प्रकृति; द्वितीय, विजेता और विजित की स्वाभाविक कटुता; तथा तृतीय, गैर-मुसलमानी देश में लागू किये जाने वाले मुस्लिम कानून की प्रकृति। डॉ. के. एस. लाल के बताये हुए कारण इस समस्या के सम्बन्ध में निर्णय लेने में कुछ सहायता प्रदान करते हैं। यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि मुसलमान शासकों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना और उसके विस्तार में धर्म का सहारा लिया। इस कारण उनके राजनीतिक उद्देश्य के साथ धार्मिक उद्देश्य सर्वदा सम्मिलित रहे। इसी प्रकार, विजेता और विजितों के सम्बन्धों में कटुता होना आवश्यक था; मुख्यतया ऐसी स्थिति में जबकि धर्म, विचार और संस्कृति के आधार पर उन दोनों में पर्याप्त अन्तर थे। यह भी निश्चित है कि मुसलमान शासकों ने हिन्दू प्रजा पर मुस्लिम कानूनों के आधार पर ही शासन किया था और किसी धर्म-निरपेक्ष शासन-व्यवस्था अथवा न्याय-व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न नहीं किया था। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं को न्याय और समानता प्राप्त होने का कोई प्रश्न ही न था। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि अलाउद्दीन खलजी के अतिरिक्त सभी सुल्तानों ने उलेमा-वर्ग की शक्ति और प्रभाव को स्वीकार करके उन्हें शासन में सलाह देने तथा हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया था। इन परिस्थितियों में सुल्तान और शासक-वर्ग से हिन्दुओं के प्रति सद्व्यवहार करने की आशा करना व्यर्थ था। इस प्रकार हिन्दू जनता न तो शासन से उदारता की आशा कर सकती थी और न किसी प्रकार शासन में भाग ले सकती थी। परिणामस्वरूप वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में न्याय और सुविधाएँ प्राप्त नहीं कर सकती थी। इस कारण विशेष अधिकार प्राप्त मुसलमानों और अधिकार-रहित हिन्दुओं में शत्रुता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकते थे—चाहे वह शत्रुता स्पष्ट हो अथवा छिपी हुई।

परन्तु यह माना जा सकता है कि जनसाधारण—चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान—साधारणतया शान्तिपूर्वक रहना पसन्द करता है और उसकी राजनीतिक तथा धार्मिक महत्वाकांक्षाएँ या तो होती ही नहीं और यदि होती हैं तो वे अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करने में समर्थ नहीं होतीं। इस कारण वह अपने पड़ौसियों के साथ मिलकर रहना पसन्द करता है—चाहे वह पड़ौसी हिन्दू हो अथवा मुसलमान। इसी आधार पर हिन्दू और मुसलमानों का जनसाधारण-वर्ग एक-दूसरे के साथ रह सका, एक-दूसरे से कुछ सीख सका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा एक-दूसरे को कुछ सिखा सका। सूफी सन्त और भक्ति-आन्दोलन के प्रचारक, जो धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास कर सके और दूसरों को समझा सके, जनसाधारण-वर्ग से थे। शासक-वर्ग की ओर से कभी ऐसा प्रयत्न नहीं किया गया। इस कारण यह माना जा सकता है कि साधारणतया हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध आपस में कटुता के थे जिसका मूल दायित्व शासक और मुस्लिम उलेमा-वर्ग पर था परन्तु जनसाधारण, सन्तों, दार्शनिकों और कतिपय विद्वानों ने हिन्दू- मुसलमानों को एक-दूसरे के साथ रहने की आवश्यकता को बताया और परिस्थितियों ने उन्हें इसके लिए बाध्य किया। उच्च वर्ग में भी राजनीतिक आवश्यकता के कारण हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क हुआ ही। इन सभी ने मिलकर उन परिवर्तनों को जन्म दिया जो हमें सल्तनत-युग में वेश-भूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, साहित्य और धार्मिक प्रवृत्तियों में दिखायी देते हैं। परन्तु ये परिवर्तन बहुत गम्भीर न थे। शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त मुस्लिम-वर्ग की धार्मिक असहिष्णुता ने इस सम्पूर्ण काल में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों को सुधरने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त, जबकि हिन्दू धार्मिक दृष्टि से उदार परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूर्ण अनुदार थे, मुसलमान सामाजिक दृष्टि से उदार परन्तु धार्मिक दृष्टि से पूर्ण धर्मान्ध थे। धर्म और समाज के प्रति हिन्दू और मुसलमानों की ये विरोधी धारणाएँ भी दोनों को एक-दूसरे के निकट लाने में बाधा थीं। इन सभी कारणों से हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध इस युग में कटुता के रहे। इस सत्य को छिपाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्यावहारिकता का लाभ सत्य को छिपाने में नहीं बल्कि उसे जानकर पूर्वजों की भूलों में सुधार करते हुए भविष्य का निर्माण करने में है।

[2]
आर्थिक दशा

आर्थिक दृष्टि से भारत एक समृद्धशाली देश था। महमूद गजनवी ने भारत की सम्पत्ति के लालच में भारत पर आक्रमण किये और यहाँ से अतुल सम्पत्ति लूटकर ले गया। 14वीं सदी के अन्त में भी भारत के एक भाग से तिमूर को अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने दक्षिण-भारत से इतनी अधिक सम्पत्ति लूटी थी कि उत्तर-भारत में मुद्रा का मूल्य कम हो गया। इसके अतिरिक्त, भारत के विभिन्न भागों में अनेक बड़े-बड़े नगरों और बन्दरगाहों का होना, सभी स्थानों पर सूबेदारों और दिल्ली-सल्तनत के पश्चात् प्रान्तीय सुल्तानों अथवा हिन्दू-राजाओं के पास अतुल सम्पत्ति का होना, समाज के उच्च-वर्ग का शान-शौकत और विलासिता से जीवन व्यतीत कर पाना, सभी स्थानों पर कलात्मक दृष्टि से प्रगति होना और मुख्यतया शानदार मकबरों, मन्दिरों, महलों एवं किलों का निर्माण होना तथा विभिन्न विदेशी यात्रियों द्वारा सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात और मोतियों आदि का भारत में प्रचुर मात्रा में प्रयोग बताया जाना आदि इस बात के प्रमाण हैं कि इस युग में भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न था।

भारत की इस अतुल सम्पत्ति का मुख्य कारण भारत की उर्वरा भूमि, पर्याप्त प्राकृतिक और मनुष्यकृत सिंचाई के साधन, भारतीय किसानों का परिश्रम और इन सुविधाओं के होने से कृषि की स्थिति अच्छी थी। परन्तु कृषि मात्र ही इस अतुल सम्पत्ति का कारण नहीं हो सकती थी। भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है परन्तु आधुनिक मशीनों के युग के आरम्भ होने से पहले भारत एक उद्योग-प्रधान और व्यावसायिक देश भी रहा था। भारत की बनी हुई वस्तुएँ प्राचीन काल से दक्षिण-पूर्व, पश्चिम, मध्य-एशिया और यूरोप तक विख्यात थीं। इस कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के उद्योग और उसका व्यापार सर्वदा ही भारत के पक्ष में रहा और वही उसकी समृद्धि का कारण था। इस युग में भी यही स्थिति थी। कृषि-उत्पादन के साथ-साथ भारत के उद्योग और उसका व्यापार भी बहुत अच्छी स्थिति में थे।

भारत में प्रायः सभी स्थानों पर विभिन्न प्रकार के अन्न, दालें, फल आदि उत्पन्न किये जाते थे। अधिकांश फसलें वर्ष में दो बार उत्पन्न की जाती थीं परन्तु कहीं-कहीं फसलें वर्ष में तीन बार भी उत्पन्न की जाती थीं। गेहूँ, चावल, कपास, गन्ना, तिलहन, नील, जौ, मक्का, बाजरा, पान, अदरक, गरम मसाला और विभिन्न प्रकार के फल बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न किये जाते थे। सरसुती का चावल, कन्नौज की शक्कर, मालवा का गेहूँ और पान, ग्वालियर का गेहूँ, मलाबार के गरम मसाले और अदरक, दौलताबाद के अंगूर और नासपाती, विभिन्न प्रकार के सन्तरे, दक्षिण-भारत की सुपाड़ी आदि प्रख्यात थीं। बारबोसा ने लिखा है कि बहमनी-राज्य में कृषि, पशु-पालन और फलों के बाग बहुत अच्छी स्थिति में थे और शहर ही नहीं बल्कि गाँव भी समृद्ध थे। तलू-नाद (तमिलनाडु) में बहुत अच्छा चावल उत्पन्न होता था और गुजरात में सभी वस्तुओं के मूल्य बहुत सस्ते थे। विजयनगर की समृद्धि के बारे में सभी यात्रियों ने विशद् वर्णन किया है। उड़ीसा में बाग और पशु-पालन इतना अधिक था कि पशुओं के खरीददार नहीं मिलते थे और वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं कि कोई भी व्यक्ति एक बार वहाँ जाकर वापस आना नहीं चाहता था। बारबोसा के अनुसार बंगाल में कपास, गन्ना, चावल, अदरक आदि अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न किया जाता था। दोआब का सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी उर्वरा-शक्ति के लिए प्रसिद्ध था। इस प्रकार भारत के सभी क्षेत्रों में कृषि की स्थिति बहुत अच्छी थी। कृषि के साथ-साथ दूध देने वाले पशुओं का पालन भी किसानों का एक मुख्य पेशा था। इससे भी अनेक खाद्य-वस्तुएँ मिलती थीं। उस समय जंगल और चरागाह भी प्रचुर मात्रा में थे। यह सभी कुछ मिलाकर इतना अधिक था कि भारत अपने खाने और उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् भी अनेक वस्तुओं का निर्यात कर पाता था।

उद्योगों की दृष्टि से भी भारत अच्छी स्थिति में था। कपड़े का उद्योग भारत का एक प्रमुख उद्योग था। सूती, रेशमी और ऊनी सभी प्रकार और सभी रंगों के वस्त्र भारत में बनाये जाते थे। मलमल, आरकण्डी, छींट, रेशमी रूमाल आदि प्रचुर मात्रा में तैयार किये जाते थे। कपड़ों को सोना, चाँदी और हीरे-जवाहरातों से भी जड़ा जाता था। इसके अतिरिक्त, शक्कर, कागज, विभिन्न पत्थरों की कटाई, बर्तन बनाना, चन्दन की लकड़ी और हाथीदाँत की वस्तुओं का निर्माण, समुद्री-मोतियों को निकालना आदि विभिन्न प्रकार के उद्योग थे। व्यक्तिगत प्रयत्नों के अतिरिक्त सुल्तानों ने भी शाही कारखानों का निर्माण किया था जहाँ सुल्तान और अमीरों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु श्रेष्ठतम वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। नगरों और गाँवों में श्रम और श्रेणी-संघ बने हुए थे जो उद्योगों की उन्नति में सहायक थे। ये संघ पर्याप्त शक्तिशाली और सुसंगठित थे तथा अपने सदस्यों के सामूहिक हितों की सुरक्षा करने में समर्थ थे।

भारत में आन्तरिक और विदेशी व्यापार प्रचुर मात्रा में होता था। भारत में दूरस्थ प्रदेशों को जोड़ने वाली सड़कें पर्याप्त मात्रा में थीं और विभिन्न नगर भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यापारिक मण्डियाँ बने हुए थे। दिल्ली सुल्तानों की राजधानी थी। इस कारण वह विभिन्न स्थल-मार्गों द्वारा सल्तनत के विभिन्न भागों से जुड़ी हुई थी जिनके माध्यम से आन्तरिक व्यापार ही नहीं होता था अपितु समुद्र-तट तक अथवा भारत की स्थल-सीमा तक वस्तुओं को पहुँचाकर उन्हें विदेशों में भेजा जाता था और विदेशी वस्तुओं को वहाँ से उठाकर भारत के विभिन्न भागों में भेजा जाता था। पूर्व में दिल्ली से एक मार्ग बदायूँ, कन्नौज, इलाहाबाद,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनारस और पटना होता हुआ बंगाल की राजधानी गौड़ तक जाता था। दिल्ली से एक मार्ग ग्वालियर और बयाना होता हुआ मालवा जाता था, एक अन्य मार्ग अजमेर और चित्तौड़ होता हुआ उज्जैन जाता था, एक अन्य मार्ग अजमेर, आबू और ईदर होता हुआ खम्भात तक जाता था और एक अन्य मार्ग दिल्ली को लाहौर से जोड़ता था। इसके अतिरिक्त, विभिन्न मार्ग गुजरात के बन्दरगाहों, कश्मीर, तिब्बत और उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त तक भी जाते थे। आगरा से भी विभिन्न मार्ग भारत के विभिन्न नगरों तक गये हुए थे। स्थल-मार्गों के अतिरिक्त, यातायात और व्यापार जल-मार्गों से भी होता था। सिन्धु नदी, यमुना नदी, गंगा नदी, ब्रह्मपुत्र नदी और दक्षिण-भारत की प्रायः सभी नदियाँ यातायात और व्यापार के लिए प्रयोग की जाती थीं। इस प्रकार आन्तरिक और विदेशी व्यापार के लिए भारत के विभिन्न भागों और मुख्यतया शहरों को विभिन्न स्थल और जल-मार्गों द्वारा जोड़ा गया था। राज्य इस बात का प्रबन्ध भी करता था कि मार्ग यात्रियों एवं व्यापारियों के लिए सुरक्षित और सुविधाजनक रहें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सड़कों के किनारे वृक्ष लगाये जाने और सरायों के बनाये जाने तथा नदियों पर पुल बनाये जाने की व्यवस्था भी की जाती थी। शहरों में लाहौर, मुल्तान, दिपालपुर, हाँसी, भक्खर, बनारस, पटना, आगरा, कन्नौज, ग्वालियर आदि और बन्दरगाहों में थट्टा, देवल, कालीकट, गोआ, मछलीपट्टम आदि अनेकों में से कुछेक थे जो सभी व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। इब्नबतूता ने दिल्ली को संसार की सबसे बड़ी व्यापारिक मण्डी बताया था। दौलताबाद मोतियों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। दभौल के बन्दरगाह पर ताँबा आता था और वहाँ से सम्पूर्ण भारत में भेजा जाता था। गुजरात में रन्देर के बन्दरगाह पर चीन और मलाया से विभिन्न वस्तुएँ आती थीं और सम्पूर्ण भारत में भेजी जाती थीं। विजयनगर-साम्राज्य व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। ड्यू, गोआ, चोल, कालीकट, कोचीन, क्यूलोन पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। पूर्वी तट तथा बंगाल और उड़ीसा तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। विदेशी व्यापार ईरान, अरब, यूरोप, अफ्रीका, चीन, मलाया, अफगानिस्तान, मध्य-एशिया आदि देशों से होता था। अन्न, सूती और रेशमी वस्त्र, अफीम, नील, जस्ता, समुद्री-मोती, चन्दन, गोंद, केसर, अदरक, आदि प्रचुर मात्रा में विदेश भेजे जाते थे। विदेशों से मुख्यतया घोड़े, नमक, गन्धक, सोना, गुलाब-जल आदि का आयात होता था। विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषता यह भी थी कि पुर्तगालियों के आने से पहले तक भारत का विदेशी व्यापार—मुख्यतया सामान को ले जाने और लाने का अधिकार—अरब अथवा ईरानी व्यापारियों के हाथ में था। मलाबार तट के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर इन विदेशी व्यापारियों का एकाधिपत्य था। भारतीय व्यापारी उस समय ही इस व्यापार में साझा करते थे जब ये वस्तुएँ समुद्र-तट तक पहुँचा दी जाती थीं। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार बहुत अधिक था और भारत ही इससे अधिक लाभ प्राप्त करता था। विदेशी व्यापार भारत की समृद्धि का एक बड़ा आधार था।

इस काल में भारत ने कुछ तकनीकी उन्नति भी की जिसने उसकी आर्थिक उन्नति में सहयोग प्रदान किया। यह अब मान लिया गया है कि गहरे कुओं से सिंचाई के लिए पानी निकालने हेतु रहट का प्रयोग दिल्ली-सल्तनत के युग में ही आरम्भ हुआ। इससे सिंचाई में सुविधा हुई जिससे कृषि की उन्नति हुई। इसी काल में चरखा भी बनाया गया। प्रो. इरफान हबीब के अनुसार 12वीं से 14वीं सदी के मध्य किसी समय चरखा का प्रयोग आरम्भ हुआ। इससे सूती कपड़े के उत्पादन में वृद्धि हुई जो निर्धन व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति करता था। इसी काल में कालीन बुनने की कला में भी कुछ सुधार हुए और इसी समय में भारत में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेशम के कीड़ों की खेती को शुरू किया गया। इससे अच्छे कालीन तैयार करने में और रेशम के उत्पादन में वृद्धि हुई। इन सभी नये अन्वेषणों ने भारत को धनवान बनाने में सहायता दी। अनेक विद्वानों के अनुसार कागज का उत्पादन भी दिल्ली-सल्तनत के युग में आरम्भ हुआ जिसने शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था को गम्भीर रूप से प्रभावित किया।

दिल्ली-सल्तनत के युग में हुई तकनीकी प्रगति ने भारत के आर्थिक विकास में जो भाग लिया उसका प्रमाण थे—नगरों की संख्या में वृद्धि, मुद्रा का अधिकाधिक प्रचलन जो व्यापारिक वृद्धि का भी प्रमाण है और बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के कारीगरों की प्राप्ति जिसका विवरण बाबर ने अपनी 'आत्मकथा' में किया है।

इस कारण कृषि-उत्पादन, उद्योगों की उपस्थिति और आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार ने भारत को एक समृद्धशाली देश बनाया था। दिल्ली के सुल्तानों तथा प्रान्तीय सूबेदारों और हिन्दू राजाओं के पारस्परिक युद्धों के होते हुए भी भारत अपने को सम्पन्न रख सका था। सुल्तानों और अधिकांश शासकों की उदासीनता के बावजूद भी भारत की यह सम्पन्नता आश्चर्यजनक थी। परन्तु भारत की इस **आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य लाभ शासक और व्यापारी-वर्ग ने प्राप्त किया था।** उन्होंने वैभव और विलासिता के समस्त साधनों को अपने शौक को पूरा करने के लिए एकत्रित कर लिया था। जनसाधारण की स्थिति सोचनीय तो नहीं परन्तु अच्छी भी न थी। इसी कारण सूखा और अकाल पड़ने के अवसरों पर लाखों व्यक्ति मर जाते थे और राज्य को दान-दक्षिणा अथवा तकावी-कर्जों को माफ कर देने की आवश्यकता पड़ जाती थी।

[3]
धार्मिक दशा

भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने अपने प्राचीन तत्वों अथवा विशेषताओं को नष्ट किये बिना नवीन तत्वों और विशेषताओं को अपने में आत्मसात किया है। धार्मिक दृष्टि से यदि एक विचारधारा या एक सम्प्रदाय यहाँ विकसित हो गया तो चाहे उसका स्वरूप कितना ही बदल गया हो परन्तु उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया। इस कारण इस समय भी भारत में प्राचीनतम धार्मिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, हिन्दू-वैष्णव, शैव, शाक्त और तान्त्रिक सम्प्रदाय आदि सभी किसी न किसी रूप में भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। बौद्ध-मतावलम्बी मुसलमानी आक्रमणों के अवसर पर पर्याप्त संख्या में थे परन्तु धीरे-धीरे उनकी संख्या भारत में नगण्य हो गयी। जैन धर्म पश्चिम भारत में और वह भी मुख्यतया राजस्थान और गुजरात तक सीमित रह गया। हिन्दू धर्म में वैष्णव-सम्प्रदाय प्रभावशाली हो गया और शैव-सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। मुसलमानों में मुख्यतया सुन्नी और शिया तथा कुछ अन्य छोटे सम्प्रदाय थे। परन्तु इस समय की मुख्य विशेषता मुसलमानों में सूफी-सम्प्रदाय की प्रगति और हिन्दुओं में भक्ति-मार्ग पर बल अथवा भक्ति-आन्दोलन की प्रगति थी।

1. सूफी-सम्प्रदाय (मुस्लिम रहस्यवादी आन्दोलन)

सूफ़ी व्यक्ति को साधारणतया ब्रह्मज्ञानी तथा अध्यात्मवादी माना जाता रहा है। इसे मुस्लिम रहस्यवादी आन्दोलन भी पुकारा गया है क्योंकि इसने इस्लाम के बाह्य स्वरूप अथवा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया-कलापों, धार्मिक यात्राओं आदि पर बल नहीं दिया अपितु आन्तरिक प्रेरणा, सदाचार मानवता, ईश्वर के प्रति प्रेम, आदि पर बल दिया और, इस प्रकार, धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को पहचानने और उसके अनुसार कार्य करने को ही धर्म का पालन करना माना। फिर भी विद्वानों में इनके विषय में मतभेद रहा है! आरम्भ में अरब में जो व्यक्ति 'सफ' अर्थात् भेड़ के बालों का ऊनी वस्त्र पहनते थे उन्हें सूफी पुकारा गया। कुछ अन्य विद्वानों ने कहा कि 'सफा' का अर्थ है पवित्रता। इस कारण पवित्र आचार-विचार के व्यक्ति सूफी कहलाये। कुछ अन्य विद्वानों ने यह भी कहा है कि मदीना में मुहम्मद साहब द्वारा बनवाई हुई मस्जिद के बाहर 'सफा' (एक पहाड़ी) पर जिन व्यक्तियों ने शरण ली और खुदा की इबादत (पूजा) में लीन रहे, वे सूफी कहलाये। परन्तु 'सूफी' शब्द की उत्पत्ति किसी प्रकार भी हुई हो, यह निश्चय है कि 'साधक' शब्द के लिए 'सूफी' शब्द का प्रयोग 9वीं सदी से ही आरम्भ हो गया था। इस प्रकार, सूफी-सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है और भारत में उसका प्रवेश दिल्ली-सल्तनत की स्थापना से पहले ही हो गया था। परन्तु दिल्ली-सल्तनत की स्थापना के पश्चात् विभिन्न इस्लामी देशों से सूफी सन्त बहुत बड़ी संख्या में भारत आये और विभिन्न भागों में बस गये। भारत में आकर सूफी विचारधारा पर हिन्दुओं का प्रभाव भी पड़ा। ईश्वर के प्रति प्रेम, अहिंसा, तप, सांसारिक वस्तुओं का त्याग आदि हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म की विशेषताएँ थीं। उनका प्रभाव भारतीय सूफी सन्तों पर पड़ा। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं को भी सूफी सम्प्रदाय में सम्मिलित करने की इच्छा से उन्होंने यहाँ के जन-जीवन को प्रभावित करने वाले कई रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया।

सूफी-दर्शन केवल एक ईश्वर में विश्वास करता है तथा सभी पदार्थों एवं व्यक्तियों को उस ईश्वर में मानता है। उनके अनुसार 'ईश्वर एक है', 'सभी कुछ ईश्वर में है', 'उसके बाहर कुछ नहीं', और 'सभी कुछ त्याग कर प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।' सूफी सन्त कुरान के बाह्य स्वरूप पर नहीं बल्कि उसके मूल आधार में विश्वास करते थे। उनका जीवन बहुत ही सादा होता था। वे सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक मानते थे। किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास न था। वे ईश्वर को दयावान और उदार मानते थे। ईश्वर से डरने के स्थान पर वे उससे प्रेम करके उसे पाना चाहते थे। इसी कारण वे सभी जीवों से प्रेम करने पर बल देते थे और माँसाहार को निषिद्ध मानते थे। लालसा को मनुष्य का मुख्य शत्रु मानकर वे तप, साधना और निरन्तर ईश्वर का नाम लेने में विश्वास करते थे। संगीत और गायन को वे ईश्वर का नाम लेने में सहायक मानते थे और भाव-विभोर होकर वे नाचते-गाते थे। उनका विश्वास गुरु (जिसे वे पीर पुकारते थे) में था। उनके अनुसार बिना गुरु की सहायता के ईश्वर-प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती थी। ईश्वर-प्राप्ति अथवा 'वस्ल' प्राप्त करने के लिए उन्हें तोबा (बुरे कर्मों के प्रति क्षोभ), वारा (अपरिग्रह), जुहुद (करुणा), फकर (निर्धनता), सब्र (बर्दाश्त), शुकर (अहसानमन्द), खौफ (भय), राज (आशा), तवालुख (सन्तोष) और रिजा (ईश्वर को आत्मसमर्पण) का पालन करना आवश्यक था। उनका विश्वास नमाज, रोजा, हज-यात्रा आदि में न था।

इस प्रकार सूफी सन्त प्रायः हिन्दू योगियों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे यद्यपि वे नगरों में या उनके निकट ही रहते थे। वे हिन्दू धर्म के भक्ति-मतावलम्बियों की भाँति ईश्वर-प्रेम पर बल देते थे। भारत में इनकी विभिन्न शाखाएँ थीं परन्तु उनमें सुरावर्दी और चिश्ती सम्प्रदाय प्रमुख थे। सुरावर्दी-सम्प्रदाय सिन्ध, पंजाब और मुल्तान तक सीमित रहा परन्तु चिश्ती-सम्प्रदाय पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण-भारत तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैला हुआ था। 17वीं और 18वीं सदी में उनका प्रभाव सबसे अधिक हुआ। हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग और उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। दिल्ली-सल्तनत के समय में सूफी सन्तों में शेख मुईनउद्दीन चिश्ती, बाबा फरीदुद्दीन, नासिरुद्दीन महमूद, चिराग-ए-देहलवी, ख्वाजा शेख तकीउद्दीन, मुहम्मद गौस ग्वालियरी और मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख थे।

सूफी-सम्प्रदाय का भारत के धार्मिक जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। यह अन्य बात है कि वह प्रभाव कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहा। सूफी सन्तों ने खानकाह बनवाये जहाँ वह स्वयं रहते थे, उपदेश देते थे और मानव-सेवा भी करते थे। उन खानकाहों के द्वार हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए खुले हुए थे। वे खानकाह न केवल निर्धनों की सेवा के साधन थे अपितु मानव-प्रेम सिखाने के विद्यालय भी थे। उनका एकमात्र उद्देश्य सभी को बिना किसी भेद-भाव के ईश्वर के प्रति प्रेम सिखाना तथा पारस्परिक मतभेदों को भुला देना था। इसके अतिरिक्त, सल्तनत-युग में शहरीकरण की वृद्धि से अनेक सामाजिक कुरीतियाँ बढ़ रही थीं। धन की वृद्धि से व्यापारियों और अमीरों में शराब पीना, वेश्यावृत्ति, दास-प्रथा आदि की भी वृद्धि हो रही थी जिसका वर्णन अमीर खुसरो ने अपनी लेखनी से किया और बरनी ने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में किया। सूफी सन्तों ने व्यक्तियों को सांसारिक भौतिक सुखों से दूर करने का प्रयत्न करके इन सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। सूफी-सम्प्रदाय ने भारत में एक ऐसे साहित्य को भी जन्म दिया जिसका उद्देश्य हिन्दू-मुसलमानों के अन्तरों को समाप्त करना था। बाद में हुए बहुत से उर्दू के साहित्यकारों पर सूफी विचारों का प्रभाव पड़ा और उन्होंने साम्प्रदायिक और धार्मिक मतभेदों को भुलाकर मानवीय एकता और ईश्वर-प्रेम पर बल दिया।

2. भक्ति-आन्दोलन

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत उत्पन्न भक्ति-आन्दोलन मध्य-युग के धार्मिक जीवन की एक महान् विशेषता रही। कई सदियों तक यह धार्मिक आन्दोलन बहुत प्रभावपूर्ण रहा और आधुनिक हिन्दू धर्म पर उसकी गम्भीर छाप है। मध्य-युग के इस धार्मिक आन्दोलन को कहाँ से प्रेरणा प्राप्त हुई, इस प्रश्न पर विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं। सर्वप्रथम, वेबर (Weber) और ग्रीअर्सन (Grierson) सदृश यूरोपियन विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए भक्ति और ईश्वर की एकता का विचार हिन्दुओं ने ईसाई धर्म से ग्रहण किया। परन्तु आधुनिक समय में यूरोपियन विद्वानों के इस विचार को मानने के लिए कोई भी तत्पर नहीं है। परन्तु इससे भी अधिक शक्तिशाली विचार यह प्रस्तुत किया गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया जिसका परिणाम मध्य-युग का भक्ति-आन्दोलन था। इसके पक्ष में यह कहा गया है कि रामानन्द जिन्होंने इस आन्दोलन के आधार का निर्माण किया, किसी न किसी प्रकार इस्लाम के विचारों से परिचित हो गये थे। ये विचार उनके लिए प्रेरणादायक बने। यही नहीं बल्कि कुछ व्यक्तियों ने यहाँ तक कहा है कि शंकराचार्य का अद्वैत-सिद्धान्त (एक ईश्वर में विश्वास) भी इस्लाम के एक ईश्वर के विचार से प्रभावित हुआ। परन्तु शंकराचार्य और रामानुज पर नव-स्थापित इस्लाम धर्म का प्रभाव स्वीकार किया जाना तर्कसंगत नहीं है। शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का समर्थन भारतीय वेदान्त-दर्शन के आधार पर किया और रामानन्द व रामानुज वैष्णव धर्म के अनुयायी थे जो हिन्दू धर्म के भक्ति-मार्ग पर बल देते थे और उन्होंने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विचारों का समर्थन उन प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के आधार पर किया जिनमें मूर्ति-पूजा का स्थान नहीं है और जो एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का यह कहना है कि इस्लाम की भ्रातृ-भाव और मानव-समानता की भावना ने हिन्दुओं और भक्ति-मार्ग के प्रचारकों को प्रभावित किया। परन्तु इस्लाम की यह भावना हिन्दुओं को उन परिस्थितियों में किस प्रकार प्रभावित कर सकती थी जबकि इस्लाम अपने व्यावहारिक स्वरूप में हिन्दू और मुसलमानों में गम्भीर अन्तर मानता था ? यह भी कहना तर्कसंगत नहीं है कि सूफी-सम्प्रदाय ने भक्ति-आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान की थी। दोनों आन्दोलनों में कुछ समता का होना इस निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है।

वास्तव में, भक्ति-आन्दोलन हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही एक आन्दोलन था। हिन्दू धर्म में निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करने के तीन मार्ग बताये गये हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। समय-समय पर धर्म-प्रचारकों ने इन्हीं में से किसी न किसी एक मार्ग पर बल दिया। **इस युग में हिन्दू धर्म-प्रचारकों ने भक्ति-मार्ग पर बल दिया और उसी के परिणामस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का जन्म हुआ। इस कारण विचारों और दर्शन की दृष्टि से हिन्दुओं को ईसाई अथवा इस्लाम धर्म से कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।** यह आन्दोलन पूर्णतया नवीन भी नहीं माना जा सकता। ईसा-पूर्व छठी सदी (6th Century B.C.) में बौद्ध और जैन धर्म के साथ भागवद् आन्दोलन का भी प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति-मार्ग पर बल देता था। परन्तु उस अवसर पर वह प्रबल न बन सका। उस समय बौद्ध धर्म एक प्रभावशाली आन्दोलन के रूप में सामने आया। गुप्त-काल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान होने पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत में पर्याप्त प्रबल रहा तथा उसके पश्चात् हिन्दू धर्म एक लम्बे समय तक बौद्धिक अथवा भावनात्मक नवचेतना से वंचित रहा। 8वीं सदी में शंकराचार्य ने तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की जिसके कारण सम्पूर्ण राजपूत-युग में हिन्दू धर्म सर्वोच्च रहा। राजपूतों की शौर्य और युद्ध की प्रवृत्ति भी बौद्ध धर्म के विरुद्ध और हिन्दू धर्म के अनुकूल थी। परन्तु राजपूतों की शौर्य एवं प्रेम-प्रसंगों की भावना और जागीरदारी प्रथा (Feudalism) पर आधारित उनकी राजनीतिक व्यवस्था धर्म में बौद्धिक-क्रान्ति के अनुकूल न थी। इस कारण शंकराचार्य का ज्ञान-मार्ग जनसाधारण के लिए न तो आकर्षक रहा और न समझने के लिए सरल। इन्हीं परिस्थितियों में भारत मुसलमानी आक्रमणों से पदाक्रान्त हो गया और **इस्लाम ने हिन्दू जनजीवन, समाज और धर्म को चुनौती दी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व सामाजिक सुविधाओं से वंचित हिन्दुओं ने धर्म का सहारा लिया और उन्होंने सबसे आकर्षक मार्ग 'भक्ति-मार्ग' को चुना।** ईसाई धर्म के आक्रमण से आक्रान्त भारत में 19वीं सदी में हुए भारतीय पुनरुत्थान आन्दोलन से तो इसकी समता नहीं की जा सकती क्योंकि राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द जैसे धर्म-प्रचारकों का आधार ज्ञान और तर्क था जो सम्भवतया पश्चिमी सभ्यता की जनतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता की विचारधारा में पनप सका था। परन्तु मध्य-युग की निरंकुश प्रवृत्तियों में इस्लाम धर्म से आक्रान्त हिन्दुओं ने धर्म की रक्षा के लिए प्रायः उसी प्रकार की सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर भक्ति-मार्ग को चुन लिया और उसी का परिणाम भक्ति-आन्दोलन हुआ। **मुस्लिम आक्रमणों के कारण सामाजिक एकता के लिए जाति-प्रथा पर आक्रमण, मन्दिरों के नष्ट किये जाने पर मूर्ति-पूजा की आवश्यकता को नगण्य बताना और धार्मिक एकता के लिए एकेश्वरवाद का समर्थन आवश्यक हो गया। सम्भवतया इसी कारण इस आन्दोलन के प्रवर्तकों ने जाति-प्रथा का**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध किया और मूर्ति-पूजा को आवश्यक नहीं बताया, एकेश्वरवाद का समर्थन किया तथा बाद के कुछ उग्रवादी प्रवर्तकों ने इस्लाम और हिन्दू धर्मों को एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्ग बताया।

भक्ति-आन्दोलन और उसके प्रवर्तक सभी सन्तों ने उन विशेष बातों पर बल दिया जो इस आन्दोलन का आधार थीं। इन सभी सन्तों ने किसी विशेष सामाजिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय से अपने को नहीं बाँधा और इनमें से कोई भी किसी नवीन धर्म को आरम्भ नहीं करना चाहता था। इनमें से अधिकांश को किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में आस्था न थी। वे किसी भी धार्मिक कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं करते थे, वे बहुदेववाद का विरोध करते थे, और एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं (जैसे—राम, कृष्ण, शिव, अल्लाह आदि), यह उनका विश्वास था। वे मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का विरोध करते थे तथा केवल भक्ति के द्वारा ही व्यक्तियों को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताते थे। उनका मत था कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने किसी निकट के सम्बन्धी से प्रेम करता है उसी प्रकार धीरे-धीरे एक विस्तृत दृष्टि से प्रेरित होकर वह एकमात्र 'ब्रह्म' अथवा ईश्वर से प्रेम कर सकता है जिसे राम, कृष्ण, शिव आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। अपनी अन्तिम अवस्था में एक भक्त का ईश्वर के प्रति प्रेम एक प्रेमिका का अपने प्रेमी के प्रति अथवा एक प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति तीव्र प्रेम की भाँति होता है जिसमें किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा पदार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। उनके अनुसार ईश्वर मन्दिर में नहीं बल्कि व्यक्ति के हृदय में निवास करता है और सभी सत्य मनुष्य-शरीर में निवास करते हैं। ईश्वर से केवल भक्ति द्वारा सम्पर्क स्थापित करना भक्ति-सन्तों का मूल आधार था। परन्तु भक्ति-मार्ग पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने शरीर और मस्तिष्क को सभी विकारों से मुक्त करना आवश्यक था तथा इसके लिए एक गुरु भी आवश्यक था। उनका कहना था कि गुरु शिष्य को इस कार्य में सहायता प्रदान करता है परन्तु मोक्ष-प्राप्ति केवल ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है और ईश्वर की कृपा प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं का कर्तव्य और कार्य है। विभिन्न सन्तों ने इन सभी विचारों को भजन, दोहा, कविता और सरल उपदेशों के द्वारा जनसाधारण को समझाया। परन्तु सबसे प्रमुख माध्यम उनका स्वयं का भक्तिपूर्ण जीवन था। इन सन्तों ने अपने विचारों को संस्कृत में नहीं बल्कि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में बताया। मन्दिर, सार्वजनिक स्थान और गाँवों की चौपालें उनके प्रचार के स्थान थे तथा भजन और कीर्तन उनके मुख्य साधन। इन सभी ने मिलकर भक्ति-आन्दोलन को मध्य-युग में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

सम्पूर्ण मध्य-युग में भारत के विभिन्न भागों में भक्ति-मार्ग के विभिन्न प्रवर्तक हुए। उनमें से एक रामानुज थे जो 12वीं सदी के आरम्भ में हुए। आन्ध्र प्रदेश में त्रिपुती नामक स्थान पर उनका जन्म हुआ। वह सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे और भक्ति-मार्ग को ईश्वर-प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग बताते थे। उनके अनुसार कर्म-मार्ग व्यक्ति को 'माया' में बाँधता है जिससे मोक्ष सम्भव नहीं है और ज्ञान-मार्ग व्यक्ति को केवल 'माया' (सांसारिक सुख और लालसाएँ) से मुक्ति दिला सकता है, इस कारण अपूर्ण है। इस कारण केवल भक्ति-मार्ग द्वारा ही व्यक्ति बैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है और सच्चिदानन्द (ईश्वर) में लीन हो सकता है। उन्होंने शूद्रों को वर्ष के कुछ दिनों में मन्दिरों में जाने की आज्ञा प्रदान की और उन्हें बताया कि गुरु-भक्ति और ईश्वर को पूर्णतया आत्म-समर्पित करने के पश्चात् वे भी मोक्ष की प्राप्ति कर सकते थे। एक अन्य सन्त निम्बार्क थे। वे 12वीं सदी में हुए। वे राधा-कृष्ण के उपासक थे। वे उन्हें शंकर का अवतार मानते थे। 13वीं सदी में माधवाचार्य हुए। माधवाचार्य का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास द्वैतवाद में था और वे आत्मा और परमात्मा को पृथक्-पृथक् मानते थे। वे लक्ष्मीनारायण के उपासक थे। उनका कहना था कि व्यक्ति को केवल ईश्वर से प्रेम करना चाहिए और फिर गुरु की सहायता से एकमात्र ईश्वर-भक्ति से वह निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त सभी सन्त वैष्णव-सम्प्रदाय के थे और उन्होंने भक्ति-मार्ग को प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु उस समय यह मार्ग बहुत लोकप्रिय न हो सका। इस कार्य की पूर्ति 14वीं सदी में हुए रामानन्द ने की। वह ब्राह्मण थे और इलाहाबाद में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने राघवानन्द नामक गुरु से धर्म की शिक्षा प्राप्त की परन्तु अन्त में स्वयं गुरु के पद को प्राप्त कर सके। उन्होंने अपने विचार रामानुज-सम्प्रदाय से प्राप्त किये जिनको उन्होंने लोकप्रिय बना दिया। रामानन्द ने वैष्णव-सम्प्रदाय और भक्ति-आन्दोलन को तीन प्रकार से प्रभावित किया। प्रथम, उन्होंने सीता-राम की भक्ति पर बल दिया। द्वितीय, उन्होंने अपने उपदेश संस्कृत के स्थान पर हिन्दी में दिये जिससे यह आन्दोलन लोकप्रिय हुआ और हिन्दी-साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। तृतीय, उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सभी जातियों और स्त्री-पुरुषों को समान स्थान दिया। वे ब्राह्मण थे परन्तु उनके समुदाय में सभी जातियों के लोग सम्मिलित हो सकते थे और वे सभी जातियों के लोगों के साथ बैठकर भोजन कर लेते थे। इसी प्रकार उन्होंने स्त्रियों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का समान अधिकार दिया। रामानन्द ने सिद्धान्त के आधार पर जाति-प्रथा का कोई विरोध नहीं किया परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन जाति-समानता में विश्वास करने का था। उनके 12 शिष्यों में से धन्ना जाट था, सेनदास नाई था, रवीदास (रैदास) चमार था और कबीर जुलाहा था। उनके प्रयत्नों से भक्ति-आन्दोलन और वैष्णव-सम्प्रदाय लोकप्रिय बना, निम्न-जातियों का स्तर बढ़ा और स्त्रियों के सम्मान में वृद्धि हुई। वास्तव में, मध्य-युग का धार्मिक आन्दोलन रामानन्द से आरम्भ हुआ।

रामानन्द के एक मुख्य शिष्य कबीर हुए। वे सिकन्दर लोदी के समकालीन थे और किंवदन्तियों के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि सिकन्दर लोदी ने उन्हें मारने हेतु कई प्रयत्न किये परन्तु असफल रहा। किंवदन्तियों के अनुसार एक विधवा ब्राह्मणी ने उनको जन्म दिया था और वह उन्हें एक तालाब के किनारे छोड़ गयी थी जहाँ से नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहे की पत्नी उन्हें उठा लायी तथा उसने उनका पुत्रवत् पालन किया। कबीर रामानन्द के शिष्य बने। वे अधिकांशतया बनारस में रहते थे। उनकी पत्नी, एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। वे जीवनपर्यन्त जुलाहे का कार्य करते रहे। इस प्रकार वह एक पारिवारिक-सन्त थे और गृह-त्याग में उनका विश्वास न था। कबीर जीवनयापन के लिए स्वयं के परिश्रम से धन कमाना आवश्यक मानते थे। उन्होंने कहा था कि "हे माधव ! अपनी कंठी-माला ले लो क्योंकि भूखे पेट मैं तुम्हारा भजन नहीं कर सकता।" परन्तु वे धन को एक सीमित मात्रा में ही आवश्यक मानते थे। धन का संचय करना अथवा उसका लालच करना वे दोष मानते थे। इस प्रकार, समाज की आर्थिक क्रिया की ओर भी कबीर ने ध्यान दिया और, इसी कारण, घर छोड़कर साधु बनना उन्हें स्वीकार नहीं था। उनके विचारों से प्रकट होता है कि उन्हें हिन्दू-दर्शन का ज्ञान था और वे राम-भक्ति में विश्वास करते थे। परन्तु कबीर का विश्वास बाह्याडम्बर, कर्मकाण्ड, जाति-प्रथा, आश्रम-व्यवस्था और धर्म के अन्तरों में न था। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि 'कबीर अल्लाह और राम का पुत्र है।' उन्होंने यह भी कहा था कि "आरम्भ में न कोई तुर्क था, न कोई हिन्दू, न कोई नस्ल और न जाति।" कबीर ने भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया। उन्होंने अपने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश दोहों अथवा छोटी-छोटी कविताओं के रूप में दिये। बाद में एक पुस्तक 'बीजक' में उनका संकलन किया गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनके अनुयायी थे जो कबीरपन्थी कहलाये। कबीर के मुख्य उपदेश निम्न प्रकार थे :

1. संस्कृत एक कुएँ के जल की भाँति है जबकि जन-भाषा एक बहते हुए झरने के समान है।

2. यदि पत्थर की पूजा करने से ईश्वर प्राप्त हो सकता है तो मैं एक पहाड़ को पूजूँगा।

3. यदि जल में स्नान करने से निर्वाण-प्राप्ति सम्भव होती तो सबसे पहले वह मेढ़कों को प्राप्त होती।

4. यदि नग्न घूमने से 'हरी' (ईश्वर) प्राप्त हो जाता तो सबसे पहले उसे हरिण प्राप्त करते।

5. ओ काजी ! पुस्तकों को पढ़ने वाले मार दिये जाते हैं, पुस्तक को छोड़ो, राम की भक्ति करो।

6. अनेक पुस्तकें पढ़कर भी एक व्यक्ति पण्डित नहीं हो सकता। वह पण्डित है जो ढाई अक्षर के शब्द 'प्रेम' को समझता है।

7. सत्य रहो, स्वाभाविक रहो। स्वाभाविक रहना सत्य है। सत्य हृदय में है और प्रेम से पहचाना जाता है।

8. विभिन्न धर्मों और ईश्वर में केवल नाम का अन्तर है। सोना एक-समान होता है, जेवर बन जाने के पश्चात् उसके नाम अलग-अलग हो जाते हैं।

9. धर्म के कारण झगड़ा करने वाले अज्ञानी होते हैं।

10. नामों के विवाद को छोड़कर भक्ति और प्रेम से ईश्वर को याद करो। वही सत्य है और वही निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है।

कबीर ने कोई नवीन धर्म नहीं चलाया और उनके पुत्र ने इस कार्य को करने से इंकार कर दिया। परन्तु उनके अनुयायियों ने कबीरपन्थी सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसके समर्थक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहे। यह कहा जाता है कि उनकी मृत्यु हो जाने पर हिन्दू और मुसलमानों में झगड़ा हुआ। हिन्दू उनके शरीर को जलाना चाहते थे और मुसलमान उनको गाड़ना चाहते थे। परन्तु जब उनके शरीर से कपड़ा हटाया गया तो वहाँ केवल फूल मिले जिसे हिन्दू और मुसलमानों ने आपस में बाँट लिया।

कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमानों की एकता में विश्वास करने वाले एवं पारिवारिक जीवन बिताने वाले एक अन्य सन्त नानक (1469-1538 ई.) थे। लाहौर से 36 मील दूर दक्षिण-पश्चिम में तलबण्डी (आधुनिक ननकाना) नामक स्थान पर नानक का जन्म एक खत्री परिवार में हुआ। अल्पायु में ही उनका विवाह कर दिया गया और उनके दो पुत्र हुए। परन्तु नानक किसी व्यवसाय या खेती आदि में रुचि न ले सके और एक लम्बे समय तक भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि वे श्रीलंका और मक्का व मदीना तक गये थे। नानक ने अपने उपदेश छोटी-छोटी कविताओं के रूप में दिये थे जिन्हें सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुन ने आदि-ग्रन्थ में संकलित किया। उनमें जपजी एक मुख्य कविता है जो नानक के आध्यात्मिक विचारों को स्पष्ट करती है। उसी का एक भाग मूल-मन्त्र है जो नानक की ईश्वर के सम्बन्ध में प्रकट की गयी विचारधारा को स्पष्ट करता है। उनके अनुसार, "ईश्वर एक है और उसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम है आदि-सत्य। वह अनन्त है और संसार का निर्माता है। वह न किसी से भयभीत होता है और न उसकी किसी से शत्रुता है।" नानक का विश्वास ईश्वर की एकता में था और इस आधार पर वह हिन्दू और मुसलमानों को अपने धार्मिक मतभेदों को भुलाने के लिए कहते थे। उनका विश्वास अवतारवाद में नहीं था। उनके अनुसार ईश्वर का मनुष्य-रूप में जन्म लेने की कल्पना करना उसे जन्म और मृत्यु के पाश में बाँधना है जबकि ईश्वर उससे मुक्त होता है। नानक के अनुसार मनुष्य का प्रमुख लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति है और मोक्ष का अर्थ है आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना जो आध्यात्मिक उन्नति द्वारा ही सम्भव है। उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति के अभाव में आत्मा निरन्तर जन्म और मृत्यु के बन्धन में बँधी रहती है। जब व्यक्ति एक सीमा तक आध्यात्मिक प्रगति कर लेता है तब उसकी आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है और इस प्रकार उसे जन्म और मृत्यु के घेरे से मुक्ति मिल जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि नानक हिन्दू-दर्शन के जीव के आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। नानक संसार को माया या छलावा नहीं मानते थे। उनके अनुसार संसार का अस्तित्व है यद्यपि वह उसे अस्थायी और नष्ट हो जाने वाला मानते थे। नानक ने व्यक्ति को घर-परिवार छोड़कर साधु या संन्यासी बन जाने की सलाह भी नहीं दी। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए। व्यक्ति को भीख माँगने या किसी अन्य से भोजन माँगने के स्थान पर अपनी ईमानदारी और परिश्रम से धन कमाकर स्वयं का और अपने परिवार का पालन करना चाहिए। वह उसे एक सामाजिक उत्तरदायित्व मानते थे और आत्म-उन्नति का मार्ग भी। नानक सत्संग को भी महत्व देते थे। अकेले बैठकर ईश्वर की आराधना करने के साथ-साथ अन्यों के साथ मिलकर ईश्वर को याद करना भी वह आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार धार्मिक-कर्मकाण्ड जैसे व्रत, पूजा, तीर्थयात्रा, तिलक लगाना आदि व्यक्ति को धर्म के सत्य मार्ग से भटकाते हैं। इनके स्थान पर व्यक्ति को दया, क्षमा, सत्य आदि जैसे सद्‌गुणों का पालन करना चाहिए जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं। उसी प्रकार, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, आदि दुर्गुणों का पालन करना वह आध्यात्मिक प्रगति में बाधा मानते थे। नानक मूर्ति-पूजा के विरोधी थे और किसी भी धार्मिक-ग्रन्थ में उनकी आस्था नहीं थी। उनके अनुसार कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद और धर्मग्रन्थों अथवा पैगम्बरों में अन्धविश्वास मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में बाधाएँ हैं। सत्कर्म करना और ईश्वर को निरन्तर याद करना वह मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते थे। ईश्वर-भक्ति ही व्यक्ति को निर्वाण या मोक्ष दिलाने में सहायक है, यह उनका विश्वास था। नानक का विश्वास हिन्दू धर्म के कर्म-सिद्धान्त में भी था। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्म के अनुसार फल प्राप्त होता है। उनके अनुसार 'जो जैसा बोयेगा, वह वैसा काटेगा' अर्थात् बुरे कर्म का परिणाम बुरा और अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा होता है। उनका विश्वास था कि व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार यह जीवन प्राप्त करता है परन्तु जीवन और मृत्यु से मुक्ति अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति वह केवल ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। इसी कारण, वह ईश्वर की भक्ति में विश्वास करना सिखाते थे। उनके अनुसार व्यक्ति को एक गुरु की भी आवश्यकता है जो उसके मार्गदर्शन में सहायक होता है। यद्यपि वे ईश्वर को ही मनुष्य का वास्तविक गुरु मानते थे।

नानक ने हिन्दुओं की जाति-प्रथा का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया। वह एक समाज-सुधारक नहीं थे। इस कारण, जाति-प्रथा के विरोध का प्रचार करना उनका लक्ष्य नहीं रहा। परन्तु उनका कहना था कि आत्मा की उन्नति करने और मोक्ष की प्राप्ति करने में ऊँची

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नीची जाति का अन्तर नहीं होता अर्थात् आत्मा जाति के अन्तरों को स्वीकार नहीं करती। मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक आत्मा का है। ईश्वर की भक्ति करके उसकी कृपा से मोक्ष-प्राप्ति प्रत्येक जाति का व्यक्ति कर सकता है, यह नानक का विश्वास था। उसी प्रकार नानक ने धार्मिक मतभेदों को भी इस क्षेत्र में स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। जन्म के आधार पर व्यक्ति हिन्दू या मुसलमान कहलाने लगता है अन्यथा मूल आधार पर तो वह मनुष्य ही है। नानक ने पारिवारिक-सन्त के विचार को दृढ़ किया था। ऐसी स्थिति में उन्होंने स्त्रियों को भी सम्मानित स्थान प्रदान किया। स्त्री को उन्होंने पुरुष का साथी और सहयोगी बताया। उन्होंने स्त्री को भी समान रूप से मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार दिया।

इस प्रकार नानक ने दुर्गुणों जैसे क्रोध, लालसा, मोह, दम्भ, लालच आदि को नष्ट करके सद्गुणों जैसे सन्तोष, सत्य, दया, क्षमा, प्रेम आदि का ग्रहण करना मनुष्य के लिए आवश्यक बताया, क्योंकि यह आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, ईश्वर-भक्ति करके ईश्वर की कृपा को प्राप्त करना उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया जो मनुष्य-जीवन का प्रमुख लक्ष्य होता है।

नानक के विचार वेद, उपनिषद और भागवद्-गीता जैसे हिन्दू धर्म-ग्रन्थों से ही लिये गये थे। कर्म-सिद्धान्त, जीव के आवागमन का सिद्धान्त, निष्काम कर्म करना आदि हिन्दू धर्म के सिद्धान्त रहे हैं। परन्तु नानक ने हिन्दुओं के अवतारवाद, नर्क और स्वर्ग के विचार, जाति-व्यवस्था, कर्मकाण्ड आदि का विरोध किया। नानक ने स्वयं अपना कोई पृथक धार्मिक सम्प्रदाय बनाने का भी विचार नहीं किया। उन्होंने तो केवल शिष्य बनाये थे जो 'सिख' कहलाने लगे। बाद में विभिन्न कारणों के फलस्वरूप सिख-धर्म एक पृथक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

कृष्ण की भक्ति में विश्वास करने वाले एक महान् सन्त वल्लभाचार्य (1479-1531 ई.) हुए। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट तेलंगाना के ब्राह्मण थे और जब वे काशी की यात्रा पर गये हुए थे तभी वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। 11 वर्ष की आयु में उनके पिता की और 12 वर्ष की अवस्था में उनकी माता की मृत्यु हो गयी। परन्तु वे इतने योग्य थे कि उन्होंने बाल्यावस्था में ही चारों वेद, छः शास्त्र और 18 पुराणों का अध्ययन कर लिया। काशी (बनारस) में अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् वे अपने गृह-राज्य विजयनगर चले गये और कृष्णदेवराय के समय में उन्होंने वहाँ वैष्णव-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित की। वे भी एक पारिवारिक-सन्त थे। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी था और उनके अनेक पुत्र हुए। वे द्वैतवाद में विश्वास करते थे और श्रीनाथजी के रूप में उन्होंने कृष्ण-भक्ति पर बल दिया। उन्होंने अनेक धार्मिक ग्रन्थ लिखे जिनमें से 'सुबोधिनी' और 'सिद्धान्त-रहस्य' बहुत विख्यात हुए। उनका बाद का समय अधिकांशतया वृन्दावन और काशी में व्यतीत हुआ। वे कृष्ण को ब्रह्म पुरुषोत्तम और परमानन्द का स्वरूप मानते थे। वे उनके प्रति पूर्ण प्रेम और भक्ति को ही निर्वाण-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बताते थे। भक्ति और प्रेम के प्रति वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण अत्यन्त भावुक था जिसके कारण उन्होंने कविता, गान, नृत्य, चित्रकला आदि को प्रोत्साहन दिया। कृष्ण का गोप-गोपियों के बीच रास-लीलाएँ रचाने में भी उनका विश्वास था और उन्होंने उन्हें बहुत लोकप्रिय बनाया। **वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने कृष्ण-भक्ति को और भी अधिक लोकप्रिय बनाया।** अकबर ने उन्हें गोकुल और जैतपुरा की जागीरें प्रदान कीं। औरंगजेब के समय में श्रीनाथजी की मूर्ति को उदयपुर पहुँचा दिया गया जहाँ वह नाथद्वारा के नाम से विख्यात हुई। 18वीं और 19वीं सदी में उनके कुछ समर्थकों ने राधा-कृष्ण की रास-लीलाओं को विकृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप प्रदान किया जिसके कारण इस सम्प्रदाय में कुछ दोष आ गये परन्तु तब भी यह सम्प्रदाय कृष्ण-भक्ति को लोकप्रिय बनाने में पर्याप्त सफल रहा।

भक्ति-मार्ग के एक अन्य महान् सन्त चैतन्य हुए। 1486 ई. में बंगाल के नदिया नामक स्थान पर इनका जन्म हुआ था। नदिया उस काल में धार्मिक विद्या का एक मुख्य केन्द्र-स्थान था। इनका परिवार ब्राह्मण था जो सिलहट से आकर नदिया में बस गया था। चैतन्य का बचपन का नाम निमाई था। बचपन से ही उन्हें हरि के नाम से प्रेम था और उनके खेलकूद और नटखटपन में श्रीकृष्ण की बचपन की लीलाओं से सामंजस्य था। उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया गया और उन्होंने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने नदिया और निकट के क्षेत्रों के विद्वानों से वाद-विवाद किया और विद्वत्ता में ख्याति अर्जित की। उन्होंने विवाह किया और पहली पत्नी की शीघ्र मृत्यु हो जाने के कारण दूसरा विवाह भी किया। उन्होंने नदिया में ही शिक्षक के रूप में कार्य आरम्भ किया। 1508 ई. में वह अपने मृत पिता का श्राद्ध करने के लिए गया की तीर्थयात्रा करने गये। वहाँ वैष्णव-धर्म के माधव-सम्प्रदाय के अनुयायी और माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी ने उन्हें कृष्ण-मन्त्र दिया। वापस आते हुए अपनी यात्रा के दौरान उन्हें कृष्ण-दर्शन हुआ। उसने उनके जीवन को पूर्णतया नवीन मोड़ प्रदान किया। नदिया पहुँचकर उन्होंने शिक्षा और अध्ययन दोनों को ही छोड़ दिया और मात्र कृष्ण की भक्ति करने लगे। उनके भक्ति-भाव से प्रभावित होकर बहुत व्यक्ति उनके पास एकत्रित होने लगे। चैतन्य ने बहुत शीघ्र संन्यासी बनने का निर्णय किया। 1510 ई. में केशव भारती नामक संन्यासी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी। उस समय उन्हें उसने श्रीकृष्ण चैतन्य नाम दिया। उसके एक माह पश्चात् ही उन्होंने नदिया को छोड़ दिया और वह उड़ीसा में पुरी में जाकर रहने लगे जहाँ उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। उसके पश्चात् उन्होंने दक्षिण-भारत का भ्रमण किया। पूर्वी समुद्र-तट से यात्रा करते हुए वह रामेश्वरम् और कुमारी अन्तरीप तक गये। उन्होंने केरल, कर्नाटक और महाराष्ट्र राज्यों का भी भ्रमण किया। यह भी कहा गया है कि उन्होंने गुजरात में द्वारिका और सोमनाथ की तीर्थयात्राएँ भी की थीं। वर्षों की इस तीर्थयात्रा के पश्चात् वह पुरी वापस लौटे। उड़ीसा का राजा प्रतापरुद्र और राजमुन्दरी का प्रान्तपति रामानन्द उनके शिष्य हो गये जिसके कारण चैतन्य का प्रभाव सम्पूर्ण उड़ीसा में हो गया। 1514 ई. में चैतन्य मथुरा के निकट वृन्दावन की तीर्थयात्रा के लिए निकले। मार्ग में बंगाल के शासक हुसैनशाह के दो ब्राह्मण-मन्त्री, सनातन और सपा को उन्होंने अपना शिष्य बनाया जिन्होंने चैतन्य के विचारों को ठोस दार्शनिक आधार प्रदान करने में सहायता दी। वृन्दावन की यात्रा से लौटते हुए उन्होंने इलाहाबाद में वल्लभाचार्य से भेंट की और बनारस की तीर्थयात्रा की। 1516 ई. में चैतन्य पुरी वापस पहुँच गये। उनका शेष जीवन वहीं व्यतीत हुआ। 1534 ई. में पुरी में ही उनकी मृत्यु हुई। यह विश्वास किया जाता है कि एक साधारण व्यक्ति की तरह से उनका देहावसान नहीं हुआ अपितु उनका शरीर अचानक गायब होकर जगन्नाथजी की मूर्ति में समा गया।

चैतन्य के विचारों का आधार मूलतया भागवत्-पुराण था। उन पर, सम्भवतया, चण्डीदास और विद्यापति की राधा-कृष्ण के प्रेम की कविताओं का प्रभाव था। सर्वप्रथम जयदेव ने 12वीं सदी के उत्तरार्ध में 'गीतगोविन्द' की रचना की थी। उसे बंगाल के अन्तिम स्वतन्त्र हिन्दू राजा लक्ष्मणदेव का संरक्षण प्राप्त था। 'गीतगोविन्द' राधा-कृष्ण के प्रेम पर लिखी गयी भावुकतापूर्ण रचना है। बाद के समय में चण्डीदास और विद्यापति ने उससे प्रभावित होकर राधा-कृष्ण के प्रेम पर आधारित अपनी कविताएँ लिखीं जिन्होंने बंगाल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णव-सम्प्रदाय के भक्ति-मार्ग को लोकप्रिय बनाया। चैतन्य, सम्भवतया, उन भावपूर्ण प्रेम-कविताओं से प्रभावित हुए थे। जयदेव की रचना का राधा-कृष्ण का प्रेम-भाव आत्मा द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम का भाव था। चैतन्य का कृष्ण-प्रेम भी इसी प्रकार का था।

चैतन्य कृष्ण-भक्ति के समर्थक थे। ईश्वर-प्राप्ति के लिए उन्होंने ज्ञान के स्थान पर ईश्वर-प्रेम और भक्ति पर बल दिया। उनके लिए प्रेम एक आध्यात्मिक भावना था। एक व्यक्ति का ईश्वर के प्रति प्रेम उनके लिए एक आत्मा का ईश्वर के प्रति प्रेम था। राधा-कृष्ण का प्रेम भी उनके लिए स्त्री-पुरुष का प्रेम न होकर एक आत्मा का ईश्वर के प्रति प्रेम था। इस प्रकार प्रेम उनके लिए एक आध्यात्मिक भावना थी। कृष्ण के रूप में ईश्वर से अगाध प्रेम और भक्ति ही उनके लिए ईश्वर-प्राप्ति या निर्वाण-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग था। चैतन्य का ईश्वर-प्रेम अद्‌भुत था। वे श्रीकृष्ण का नाम लेते हुए हँसते थे, रोते थे, नाचते थे, गाते थे और अक्सर मूर्च्छित हो जाते थे। उन्होंने भक्ति में कीर्तन करने को मुख्य स्थान दिया जिसमें व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर गाते-बजाते हुए कृष्ण का नाम लेते और भजन गाते थे। वे और उनके शिष्य पुरी की सड़कों पर भजन-कीर्तन करते हुए नाचते-गाते थे और इतने मस्त हो जाते थे कि उनमें से अनेक मूर्च्छित हो जाते अथवा अर्ध-पागलपन की स्थिति में पहुँच जाते थे। चैतन्य ने मूर्ति-पूजा और धार्मिक-ग्रन्थों का विरोध नहीं किया बल्कि उन्होंने संस्कृत भाषा और प्राचीन धार्मिक-ग्रन्थों की श्रेष्ठता को बनाकर रखा। परन्तु उन्हें कर्मकाण्ड और आडम्बरों से घृणा थी। उन्होंने विवाह, श्राद्ध आदि धार्मिक कार्यों को सरल बनाने का प्रयत्न किया यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने सामाजिक सुधार को अपना लक्ष्य नहीं बनाया था। जाति-प्रथा के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण था। वे मुसलमानों और निम्न जातियों का मन्दिर में प्रवेश करना उचित नहीं मानते थे। वह उनके अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण भी नहीं था। परन्तु ईश्वर-प्रेम का अधिकार वे सभी को प्रदान करते थे। इस कारण, सभी वर्गों, जातियों और सम्प्रदायों के व्यक्ति उनके सामूहिक कीर्तन में सम्मिलित हो सकते थे। चैतन्य ने, इस प्रकार, सभी को ईश्वर के सम्मुख समान अधिकार प्रदान किया। चैतन्य समाज-सुधारक नहीं थे। इस कारण, उन्होंने सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु धर्म और ईश्वर की भक्ति में सभी व्यक्तियों और स्त्री-पुरुषों को उन्होंने समान माना। परन्तु राधा-कृष्ण के प्रेम का दुरुपयोग न हो, इसके लिए उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों से पृथक रहने का आदेश दिया था। चैतन्य ने अपने विचारों और व्यवहार से भक्ति-मार्ग को प्रेम और आध्यात्मिक प्रगति दोनों ही दृष्टियों से लोकप्रिय बनाया।

चैतन्य वस्तुतः वैष्णव-सम्प्रदाय के ही अनुयायी थे। उनके विचार प्राचीन हिन्दू-दर्शन पर आधारित थे। उनके समर्थकों ने भी उनमें कोई परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं किया। प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थ उनके विचारों का भी आधार रहे। इसी प्रकार यद्यपि बंगाल के वैष्णवों ने बंगला भाषा में भी अपने भक्ति-काव्य की रचना की परन्तु उनकी रचनाओं की मुख्य भाषा संस्कृत ही रही। परन्तु कृष्ण-भक्ति पर बल देकर उन्होंने वैष्णव-सम्प्रदाय को बंगाल में बहुत लोकप्रिय बना दिया। उन्होंने निरन्तर कृष्ण के नाम को जपने और याद करने मात्र से निर्वाण-प्राप्ति को सम्भव बताकर धर्म को साधारण व्यक्ति के निकट कर दिया। सामाजिक दृष्टि से प्रत्येक जाति के व्यक्ति को कृष्ण-भक्ति का अधिकार देकर उन्होंने जाति-प्रथा पर अप्रत्यक्ष रूप से आक्रमण अवश्य किया परन्तु जाति के अन्तरों को नष्ट करने का कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं किया जिसके कारण बंगाल के वैष्णवों में ऊँच-नीच के भाव बने रहे। उसी प्रकार, चैतन्य ने मूर्ति-पूजा की अवहेलना नहीं की थी जिसके कारण मूर्ति-पूजा भी बंगाल के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए ईश्वर को प्राप्त करने का मुख्य साधन बनी रही।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैतन्य ने न कोई नवीन सम्प्रदाय स्थापित किया और न अपने विचारों को किसी पुस्तक में प्रस्तुत किया। बाद में उनके शिष्यों ने उनके विचारों का संकलन किया। उनके विचारों और जीवन के बारे में जानने का एक मुख्य स्रोत 16वीं सदी के अन्तिम वर्षों में कविराज कृष्णदास द्वारा लिखा गया 'चैतन्य-चरितम्' नामक ग्रन्थ है।

इस मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के विकास और लोकप्रियता में महाराष्ट्र के सन्तों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। ज्ञानेश्वर, हेमाद्रि और चक्रधर जैसे सन्त महाराष्ट्र के प्रारम्भिक सन्त थे। बाद में रामनाथ, तुकाराम और नामदेव जैसे सन्तों ने भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया, मुख्यतया नामदेव ने। 15वीं सदी में महाराष्ट्र में नामदेव ने भक्ति-मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। वह जाति-भेद में विश्वास नहीं करते थे और मुसलमान भी उनके शिष्य थे। वे मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड के विरोधी थे। उपर्युक्त सन्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सन्त उस समय में हुए जिन्होंने भक्ति-मार्ग पर बल दिया। इन सन्तों ने अपने उपदेश अधिकांशतया मराठी-भाषा में दिये। इन सन्तों ने न केवल महाराष्ट्र में सामाजिक समानता और धार्मिक उदारता तथा सदाचार पर ही बल दिया, अपितु महाराष्ट्र के राजनीतिक उत्थान में भी भाग लिया। बाद के समय में दक्षिण-भारत में मुगलों के आक्रमण होने पर शिवाजी के नेतृत्व में और उसके पश्चात् मराठा-स्वतन्त्रता-संग्राम में मराठों को एकता अथवा राष्ट्रीय भावना प्रदान करने में इन सन्तों की विचारधारा ही पृष्ठभूमि में थी।

भक्ति-मार्ग की यह विचारधारा मुगल-काल में भी लोकप्रिय हुई और उस समय में भी अनेक महान् सन्त हुए। जनेश्वर, तुकाराम, जनतीर्थ, विद्याधिराज, रविदास, मलूकदास, चण्डीदास, विद्यापति, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि विभिन्न महान् सन्त समय-समय पर हुए जिसके कारण भक्ति-मार्ग की धारा सम्पूर्ण मध्य-युग में अविरल गति से बहती रही। भक्ति-मार्ग कई सदियों तक प्रभावपूर्ण रहा। साथ ही साथ सम्पूर्ण भारत इस भावना से प्रभावित हुआ। पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक भारत का कोई भी भाग ऐसा न था जहाँ यह आन्दोलन प्रभावपूर्ण न रहा हो। भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के पश्चात् इतना प्रभावशाली आन्दोलन अन्य नहीं हुआ। 19वीं सदी के धार्मिक पुनरुद्धार-आन्दोलन का क्षेत्र और समय उसकी तुलना में बहुत सीमित रहा। इसी से इस आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट है। भक्ति-आन्दोलन के दो प्रमुख कारण थे—इस्लाम के आक्रमणों से सुरक्षा तथा हिन्दू समाज और धर्म में सुधार की आवश्यकता अथवा एक ही कारण ने दूसरी आवश्यकता को जन्म दिया था। परन्तु, सम्भवतया, एक अन्य महत्वपूर्ण कारण तत्कालीन परिस्थितियों में सार्वजनिक पीड़ा से उत्पन्न ईश्वर-प्राप्ति के लिए एक सरल मार्ग तलाश करने की आवश्यकता भी रहा होगा। आरम्भ में हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा न थी। सम्भवतया, इसे उन्होंने बौद्धों से प्राप्त किया और जब मुसलमानी आक्रमणों ने इसे दुष्कर बना दिया तो मध्य-युग के धर्म-प्रचारकों ने मूर्ति-पूजा को अनावश्यक बताया। इस्लाम हिन्दुओं की जाति-प्रथा से लाभान्वित हुआ था, अतः धर्म-प्रचारकों ने जाति-प्रथा के बन्धनों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त, संस्कृत विद्या के अध्ययन की सुविधा न होने और हिन्दू शिक्षालयों के अभाव में हिन्दुओं के बौद्धिक स्तर का ज्ञान-मार्ग को समझने के योग्य न होने से भक्ति-मार्ग उनके सम्मुख सबसे अधिक सरल और जनसाधारण के समझने योग्य मार्ग रह गया। इस कारण उन्होंने उसी का प्रचार किया। यह सब कुछ अनुमान पर आधारित है परन्तु असम्भव नहीं है। इस अनुमान का आधार भक्ति-आन्दोलन में छिपी हुई ईश्वर के प्रति आश्रित होने की भावना है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से पदाक्रान्त हिन्दुओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पास, सम्भवतया, ईश्वर पर आश्रित होने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं रह गया था। भक्ति-मार्ग और भक्ति-आन्दोलन में संघर्ष की भावना का अभाव भी इस अनुमान का आधार है। 19वीं सदी का भारतीय पुनरुद्धार आन्दोलन तर्क और बुद्धि पर आधारित होकर संघर्ष की भावना से प्रेरित था क्योंकि 19वीं सदी में हिन्दू राजनीतिक दासता के बावजूद भी राजनीति, शासन और बौद्धिक दृष्टि से असहाय न थे बल्कि प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे। अतएव 19वीं सदी के धार्मिक आन्दोलन ने आत्मसमर्पण के स्थान पर बुद्धि, तर्क और संगठन के द्वारा संघर्ष करके धर्म और समाज की प्रगति करने का प्रयत्न किया। इस कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि मध्य-युग में हिन्दुओं के आत्मपीड़न और असहायता के कारण भी भक्ति-मार्ग पर बल दिया गया था।

व्यावहारिक दृष्टि से इस आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य दो थे। प्रथम, इसने हिन्दू धर्म में सुधार का प्रयत्न किया। मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का विरोध इस प्रयत्न के मुख्य आधार थे। तत्कालीन युग में इस आन्दोलन ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में कुछ सफलता प्राप्त की। परन्तु वह सफलता न तो स्थायी थी और न ही सर्वव्यापी। हिन्दू धर्म की सुदृढ़ प्राचीरों को (चाहे वे लाभ के लिए हैं अथवा हानि के लिए) यह आन्दोलन न तोड़ सका। विभिन्न धर्म-प्रचारकों के न चाहते हुए भी उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने छोटे-छोटे धार्मिक सम्प्रदायों का निर्माण करके अपने लक्ष्य और कार्यक्षमता को सीमित कर लिया जिसके कारण न तो वे हिन्दू धर्म में कोई स्थायी सुधार कर सके और न हिन्दुओं के जन-जीवन में सम्मिलित ही रह सके तथा हिन्दू धर्म जिस अवस्था में था, उसी प्रकार रहा। इन नवीन सम्प्रदायों में सर्वाधिक शक्तिशाली सम्प्रदाय गुरु नानक के समर्थकों (सिखों) का बना परन्तु उनकी शक्ति का मुख्य आधार वास्तव में गुरु नानक की धार्मिक प्रवृत्ति और आध्यात्मवाद की भावना नहीं है। उसके कुछ अन्य कारण हैं जिनमें एक मुख्य कारण राजनीतिक रहा है। इसके अतिरिक्त, हिन्दू धर्म में सुधार करने वाला और उसकी रक्षा के लिए हथियार उठाने वाला सिख-सम्प्रदाय एक पृथक धर्म और सम्प्रदाय की भावना को जन्म दे सकता है, यह आश्चर्यजनक है। इस कारण हिन्दू धर्म में सुधार करने में इस आन्दोलन की क्षमता सीमित और अस्थायी सिद्ध हुई। परन्तु फिर भी यह आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण था। मध्य-युग में हिन्दू आत्मा को जीवित रखने और शक्ति प्रदान करने में उसका योगदान अमूल्य रहा। इस आन्दोलन का द्वितीय लक्ष्य हिन्दू-मुस्लिम एकता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में यह आन्दोलन पूर्णतया असफल रहा। तत्कालीन समय में भी उसका प्रभाव बहुत सीमित रहा और स्थायी प्रभाव तो उसका हुआ ही नहीं। परन्तु एक अन्य दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण रहा। विभिन्न सन्तों ने अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में अपने उपदेश दिये तथा कविताओं, दोहों आदि की रचना की। इससे प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण में सहायता मिली। हिन्दी, बंगला, मराठी, मैथिल आदि सभी भाषाओं के साहित्य का निर्माण उसके द्वारा सम्भव हुआ। इस प्रकार, मध्य-युग का यह भक्ति-आन्दोलन महत्वपूर्ण तथा अपने युग की एक महान् विशेषता माना गया है।

[4]
साहित्य

कुछ विद्वानों ने दिल्ली-सल्तनत को साहित्यिक प्रगति से रहित बताया है और कुछ अन्य विद्वानों ने उस समय की साहित्यिक प्रगति की बहुत प्रशंसा की है। परन्तु अधिकांशतया यह स्वीकार किया जाता है कि यह समय साहित्यिक दृष्टि से मध्यम था। उस समय में फारसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू और प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं में ग्रन्थ लिखे गये। दिल्ली के विभिन्न सुल्तानों और स्वतन्त्र प्रान्तीय राजाओं ने विद्वानों को आश्रय दिया जिसके फलस्वरूप धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी ग्रन्थों की रचना हुई। काव्य, गद्य, पद्य, नाटक आदि सभी प्रकार की पुस्तकों की रचना हुई। अतएव यह नहीं माना जा सकता कि उस समय में साहित्यिक प्रगति नहीं हुई। परन्तु फारसी साहित्य का मुख्य दोष यह था कि उस पर धार्मिक कट्टरता का प्रभाव था और संस्कृत साहित्य में यह दोष था कि उसमें मूल ग्रन्थ नहीं लिखे गये बल्कि अधिकांश पुस्तकें प्राचीन ग्रन्थों की पुनरावृत्ति, टीकाएँ अथवा प्राचीन गाथाओं का आधार लेकर लिखी गयीं। इस कारण इस युग की मुख्य विशेषता विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण का आधार तैयार करना था। हिन्दी, उर्दू, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि सभी प्रादेशिक भाषाओं को साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण करने में समय तो बहुत लगा परन्तु उस समय में वे किसी न किसी रूप में आरम्भ हो गयीं। इसमें मुख्य योगदान भक्ति-मार्ग के समर्थक सन्तों का रहा।

फारसी साहित्य

तुर्की सुल्तान फारसी साहित्य में रुचि रखते थे। महमूद गजनवी के समय में अलबरुनी भारत आया था। वह एक महान् विद्वान था जिसने संस्कृत का भी अध्ययन किया। हमें 11वीं सदी के भारत के बारे में जानने की मूल्यवान सामग्री उसके विवरण से प्राप्त होती है। दिल्ली-सल्तनत के सुल्तानों ने भी विभिन्न विद्वानों को राज्याश्रय प्रदान करके फारसी साहित्य की प्रगति में योग दिया। इल्तुतमिश के समय में नासिरी अबू-बक्र-बिन मुहम्मद रुहानी, ताजुद्दीन दबीर और नूरुद्दीन मुहम्मद मुख्य विद्वान थे। नूरुद्दीन ने 'लुबाब-उल-अल्बाब' को लिखा था। सुल्तान बलबन और अलाउद्दीन खलजी के समय में मंगोलों के आक्रमण से भयभीत अनेक विदेशी मुसलमान विद्वान भारत भागकर आये जिसके कारण दिल्ली फारसी साहित्य का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बलबन का पुत्र मुहम्मद विद्वानों का संरक्षक था और उसने अपने समय के महान् विद्वान खुसरव तथा मीरहसन देहलवी को संरक्षण प्रदान किया था। अमीर खुसरव ने अपनी कविताओं में हिन्दी शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ किया। फारसी कवियों में उसे श्रेष्ठतम स्थान प्रदान किया गया है। उसके मुख्य ग्रन्थ 'खजाये-नुल-फुतूह', 'तुगलकनामा' और 'तारीखे अलाई' माने गये। मुहम्मद तुगलक के समय में बदरुद्दीन मुहम्मद फारसी का श्रेष्ठ कवि था। इतिहासकार इसामी भी उसका समकालीन विद्वान था। फीरोज तुगलक ने स्वयं की आत्मकथा लिखी थी तथा इतिहासकार बरनी और अफीफ उसके संरक्षण में थे। लोदी शासकों ने भी विद्वानों को संरक्षण दिया। सिकन्दर लोदी स्वयं कविता लिखता था। रफीउद्दीन शिराजी, शेख अब्दुल्ला, शेख अजीजुल्ला और शेख जमालुद्दीन उस समय के मुख्य विद्वान थे। विभिन्न प्रान्तीय राज्यों में भी अनेक विद्वान हुए, जैसे—सिन्ध में सैयद मुईन-उल-हक, बिहार में इब्राहीम फारुखी, गुजरात में फजलुल्ला जैनुल आब्दीन आदि। बहमनी-शासकों में से ताजुद्दीन फीरोजशाह और वहाँ के मन्त्रियों में से महमूद गवाँ का नाम भी विद्वानों में माना गया है।

इतिहासकारों में अलबरुनी, 'ताजुल मासिर' का लेखक हसन निजामी, 'तबकाते नासिरी' का लेखक मिनहाज-उस-सिराज, 'तारीख-ए-फीरोजशाही' एवं 'फतवा-ए-जहाँदारी' का लेखक जियाउद्दीन बरनी, 'तारीख-ए-फीरोजशाही' का लेखक शम्स-ए-सिराज अफीफ, 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का लेखक याहिया-बिन अहमद सरहिन्दी और 'फुतूह-उस-सलातीन' का लेखक ख्वाजा अबू मलिक इसामी मुख्य माने गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस युग में संस्कृत के कुछ ग्रन्थों का भी फारसी में अनुवाद किया गया।

संस्कृत साहित्य

संस्कृत साहित्य को हिन्दू-शासकों, मुख्यतया विजयनगर, वारंगल और गुजरात के शासकों से संरक्षण प्राप्त हुआ। संस्कृत में काव्य, नाटक, दर्शन, टीकाएँ आदि सभी कुछ लिखा गया। रचनाओं की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में अभाव न रहा परन्तु इस युग के ग्रन्थों में मौलिकता का अभाव रहा। हम्मीरदेव, कुम्भकर्ण, प्रतापरुद्रदेव, बसन्तराज, वेमभूपाल, कात्यवेम, विरुपाक्ष, नरसिंह, कृष्णदेवराय, भूपाल आदि ऐसे अनेक शासक हुए जिन्होंने संस्कृत साहित्य का पोषण किया। प्रतापरुद्रदेव के दरबार के विद्वान अगस्त्य ने 'प्रतापरुद्रदेव यशोभूषन', 'कृष्ण-चरित्र' आदि ग्रन्थों की रचना की। विद्याचक्रवर्तिन तृतीय ने वीर बल्लाल तृतीय के संरक्षण में 'रुक्मिणी कल्याण' लिखा और माधव ने विजयनगर के शासक विरुपाक्ष के संरक्षण में 'नर्कासुर-विजय' की रचना की। वामनभट्ट बाण ने काव्य, नाटक, चरित, सन्देश आदि विभिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं और वह एक महान् विद्वान माना गया। एक अन्य विद्वान विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिनी' और अन्य ग्रन्थों की रचना की। विद्यारण्य ने 'शंकर-विजय' लिखा, कृष्णदेवराय के दरबारी कवि दिवाकर ने अनेक ग्रन्थ लिखे और कीर्तिराज अथवा श्रीवर जैसे विद्वानों ने भी अपनी रचनाएँ लिखीं। जैन विद्वान नयचन्द्र ने संस्कृत में 'हम्मीर-काव्य' लिखा। विजयनगर के सम्राट विरुपाक्ष ने स्वयं 'नारायण-विलास' और कृष्णदेवराय ने 'जाम्बवती कल्याण' तथा अन्य कई पुस्तकें लिखीं। रामानुज ने ब्रह्मसूत्रों पर टीकाएँ लिखीं, पार्थसारथी ने कर्म-मीमांसा पर ग्रन्थ लिखे तथा जयदेव ने 'गीतगोविन्द', जयसिंह सूरी ने 'हम्मीर मद-मर्दन' और गंगाधर ने 'गंगादास प्रताप विलास' लिखा। कल्हण द्वारा 'राजतरंगिनी' में कश्मीर का इतिहास चित्रित किया गया और जोनराजा तथा श्रीवर ने उस इतिहास को अपनी रचनाओं (द्वितीय और तृतीय राजतरंगिनी) द्वारा पूर्ण किया। हिन्दुओं के प्रसिद्ध कानूनी ग्रन्थ 'मिताक्षर' की रचना विज्ञानेश्वर ने की और ज्योतिष के महान् विद्वान भास्कराचार्य भी इसी युग में हुए। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये जो यह सिद्ध करते हैं कि सुल्तानों का संरक्षण न मिलने पर भी हिन्दू विद्वान अपने साहित्य को धनवान बनाने के प्रयत्न में लगे रहे थे।

हिन्दी, उर्दू तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ

हिन्दी, उर्दू और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण का आधार इस युग में बना। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में खड़ीबोली और बृजभाषा हिन्दी के निर्माण का आधार बनी। कवि चन्द्रबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', सारंगधर का 'हम्मीर-काव्य', जगनक का 'आल्हखण्ड' आदि ग्रन्थ इस भाषा में लिखे गये महान् ग्रन्थ थे। उर्दू जो पहले 'हिन्दवी' के नाम से पुकारी गयी, इसी समय में उत्पन्न हुई यद्यपि उसका विकास इस युग में नहीं हुआ। अमीर खुसरव एक ऐसे विद्वान हुए जिन्हें हिन्दी और उर्दू दोनों का ही महान् कवि माना गया। मैथिल साहित्य के विकास में विद्यापति ठाकुर ने बड़ा सहयोग दिया जो हिन्दी, मैथिल और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इसके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग के सन्तों और प्रचारकों ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण में सहयोग दिया। अवधी, राजस्थानी, सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, तमिल, कन्नड़, तेलुगू, मलयालम, आदि प्रायः सभी भाषाओं का किसी न किसी मात्रा में विकास हुआ।

इस प्रकार साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से यह युग अभावग्रस्त न था बल्कि दो प्रकार से महत्वपूर्ण था। प्रथम, मुसलमानों के आने से ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना आरम्भ हुई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसकी ओर हिन्दुओं ने कोई ध्यान नहीं दिया था, और द्वितीय, विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के आधार का निर्माण हुआ।

[5]

स्थापत्य अथवा भवन-निर्माण-कला

सल्तनत-युग में विभिन्न ललित-कलाओं में से मुख्यतया स्थापत्य-कला का विकास हुआ। इस्लाम चित्रकला का निषेध करता है, इस कारण उसका कोई विशेष विकास सम्भव न हुआ। गान-विद्या और नृत्य-कला भी इस्लाम में वर्जित हैं परन्तु फिर भी सुल्तानों, अमीरों और प्रान्तीय शासकों के व्यक्तिगत शौक के कारण ये प्रचलित रहीं। परन्तु इस समय में मुख्य कला स्थापत्य अथवा भवन-निर्माण रही।

सुविधा की दृष्टि से उस समय की स्थापत्य-कला को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, **दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला** जिसका विकास दिल्ली के सुल्तानों के संरक्षण में हुआ और जिसमें वे सभी इमारतें सम्मिलित की गयी हैं जिनका निर्माण सुल्तानों ने विभिन्न स्थानों पर कराया। द्वितीय, **प्रान्तीय स्थापत्य-कला** जिसका विकास प्रान्तीय सुल्तानों अथवा शासकों के संरक्षण में हुआ। अधिकांशतया ये शासक मुसलमान थे। शाही स्थापत्य-कला ने प्रान्तीय स्थापत्य-कलाओं को प्रभावित किया था परन्तु उनकी कुछ अपनी पृथक विशेषताएँ भी थीं। तृतीय, **हिन्दू स्थापत्य-कला** जिसका विकास मुख्यतया राजस्थान और विजयनगर राज्यों में हुआ। शाही स्थापत्य-कला की निर्माण-पद्धति ने इनको भी प्रभावित किया परन्तु मुसलमानों के आगमन से पहले जिस स्थापत्य-कला का हिन्दू विकास कर चुके थे वह स्वयं अद्वितीय थी और उस कला की विशेषताएँ इस युग की स्थापत्य-कला में भी मुख्य रहीं।

परन्तु कला का यह वर्गीकरण केवल सुविधा की दृष्टि से ही किया जा सकता है अन्यथा भारत में इस युग में एक ऐसी स्थापत्य-कला का विकास हुआ जिसे 'भारतीय-इस्लामी' कला अथवा इस्लाम से प्रभावित भारतीय स्थापत्य-कला के नाम से पुकारा जा सकता है। यह कला न पूर्णतया इस्लामी कला थी और न हिन्दू कला, परन्तु मिलकर भारतीय कला ही कहला सकती है। सर्वप्रथम, भारत और ईरान के सम्बन्ध बहुत पहले से हैं और भारतीय कला का ज्ञान ईरानियों को था। ईरान ने भारतीय कला के विचारों को पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया था परन्तु उन्होंने उन विचारों को ईरानी स्वरूप दिया और एक श्रेष्ठ ईरानी-कला का निर्माण किया। मुस्लिम-कला जब भारत में आयी तब इस ईरानी-कला के प्रभाव को लेकर आयी जिस पर स्वयं भारत का प्रभाव रहा था। शक्ति और सौन्दर्य का जो सामंजस्य भारतीयों ने अपनी स्थापत्य-कला में किया था वह अद्वितीय था। ईरानियों ने उसे ग्रहण किया था और तुर्क-अफगानों ने भारत में उसका पुनः प्रयोग किया। ईरानी कला के अतिरिक्त मध्य-एशिया, मैसोपोटामिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप, अफगानिस्तान आदि में स्थापत्य-कला की विशिष्ट शैलियों का निर्माण हुआ था और मुस्लिम-कला का व्यावहारिक स्वरूप इन सभी से मिल-जुलकर बना था। इस स्वरूप को लेकर तुर्क-अफगानों ने भारत में उस स्थापत्य-कला का निर्माण किया जिसे भारतीय-इस्लामी कला का नाम दिया गया।

इस भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला के निर्माण के कुछ अन्य कारण भी थे। तुर्क-अफगान शासक अपनी इमारतों को मध्य-एशिया अथवा ईरान की इमारतों का स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। परन्तु भारत में आकर उन्होंने यहीं के कलाकारों से अपनी इमारतें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनवायीं, विभिन्न हिन्दू इमारतों को नष्ट करके उनके अवशेषों का प्रयोग अपनी इमारतों में किया और खुले आँगनों वाले मन्दिरों को मस्जिदों के लिए उपयुक्त समझकर उनमें साधारण परिवर्तन के पश्चात् उन्हें मस्जिदों में बदल दिया। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सजावट हिन्दुओं के लिए प्रमुख थी, उसी प्रकार मुसलमानों के लिए भी आवश्यक थी यद्यपि उसका तरीका भिन्न था। हिन्दुओं ने अपनी इमारतों को विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत करने का प्रयत्न किया जबकि मुसलमानों ने रेखाओं को समानान्तर, वर्ग, त्रिकोण, विपक्ष आदि में काटकर अथवा कुरान की आयतों को लिखकर या चमकदार और विभिन्न रंगों के पत्थर का प्रयोग करके अलंकृत करने का प्रयत्न किया। परन्तु दोनों ही वर्गों की भावना सजावट की थी। उपर्युक्त विभिन्न कारणों से हिन्दू-कला ने इस युग की कला को बड़ी मात्रा में प्रभावित किया और उस मिश्रित कला का जन्म हुआ जिसे भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला पुकारा गया।

1. दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला

कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में रायपिथौरा के किले के निकट 'कुव्वात-उल-इस्लाम' नाम की मस्जिद तथा अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक मस्जिद को बनवाया और दिल्ली की 'कुतुबमीनार' को बनवाना आरम्भ किया था। कुतुबुद्दीन के द्वारा बनवायी गयी मस्जिदों में से पहली एक मन्दिर के स्थान पर और दूसरी एक संस्कृत विद्यालय के स्थान पर बनवायी गयी थी। इनकी रूपरेखा में परिवर्तन करके इन्हें मस्जिदों का स्वरूप दिया गया था। इस कारण इनमें हिन्दू और मुस्लिम कला का सामंजस्य है। बाद में विभिन्न सुल्तानों ने इनमें परिवर्तन किये। इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खलजी ने 'कुव्वात-उल-इस्लाम' को विशाल स्वरूप प्रदान किया। कुतुबमीनार की मूल योजना इस्लामी है। आरम्भ में इसका प्रयोग 'अजान' (नमाज के लिए बुलाना) के लिए किया जाता था परन्तु बाद में इसे कीर्ति-स्तम्भ के रूप में माना गया। कुतुबुद्दीन के समय में इसकी केवल एक मंजिल बन सकी थी। इल्तुतमिश ने इसे 225 फुट ऊँची चार-मंजिली कर दिया। फीरोज तुगलक के समय में बिजली गिर जाने के कारण इसकी चौथी मंजिल नष्ट हो गयी जिसके कारण फीरोज ने इसमें दो छोटी मंजिलें बनवा दीं। इस कारण इसमें पाँच मंजिलें हो गयीं और इसकी ऊँचाई 234 फीट हो गयी। इसकी एक के ऊपर एक खड़ी हुई पाँच मंजिलें नीचे से ऊपर की ओर पतली होती गयी हैं और इसकी ऊँचाई भव्य है। इल्तुतमिश ने कुतुबमीनार को पूरा कराया था। इसके अतिरिक्त उसने कुतुबमीनार से तीन मील दूर मलकपुर गाँव में अपने सबसे बड़े पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद का मकबरा 'सुल्तानगढ़ी', कुतुबमीनार के निकट एक कमरा जो सम्भवतया स्वयं का मकबरा था, हौज-ए-शम्सी, शम्सी-ईदगाह, बदायूँ की जामा मस्जिद और नागौर (आधुनिक जोधपुर) का 'अतरकीन' का दरवाजा बनवाया। उसने 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' और 'कुव्वात-उल-इस्लाम' मस्जिदों का विस्तार किया। बलबन ने रायपिथौरा के किले के निकट अपना स्वयं का मकबरा और 'लाल-महल' बनवाया था। उसका स्वयं का मकबरा जो अब ध्वस्त स्थिति में है, इस्लामी कला का एक श्रेष्ठ नमूना है। अलाउद्दीन खलजी एक महान् निर्माता था और उसके पास आर्थिक साधन भी थे। उसकी इमारतें पूर्णतया इस्लामी विचारधारा के अनुकूल बनायी गयी थीं और कला की दृष्टि से श्रेष्ठतम मानी गयी हैं। यद्यपि उसका विचार कुतुब के निकट ही एक बड़ी मीनार और एक बड़ी मस्जिद बनाने का था परन्तु वह इस कार्य को न कर सका। उसने सीरी का नगर बसाया, उसमें हजार स्तम्भों वाला महल बनवाया, निजामुद्दीन औलिया की दरगाह में जमैयतखाना मस्जिद और कुतुबमीनार के निकट 'अलाई-दरवाजा' बनवाया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका महल और शहर तो बर्बाद हो गया परन्तु जमैयतखाना मस्जिद और अलाई-दरवाजा अभी भी हैं जो इस्लामी कला के सुन्दरतम नमूने माने गये हैं। मार्शल ने लिखा है : "अलाई-दरवाजा इस्लामी स्थापत्य-कला के खजाने का सबसे सुन्दर हीरा है।" तुगलक शासकों की इमारतें इतनी भव्य और सुन्दर न बन सकीं। सम्भवतया इसका कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। गियासुद्दीन तुगलक ने कुतुबमीनार के पूर्व में एक नवीन नगर तुगलकाबाद, उसमें अपना स्वयं का मकबरा और अपना महल बनवाया था। उसका नगर और महल नष्ट हो गया है परन्तु उसके महल के बारे में कहा गया था कि वह सूर्य की रोशनी में इतना चमकता था कि कोई व्यक्ति उसे टकटकी लगाकर नहीं देख सकता था। परन्तु उसका महल और नगर बहुत दुर्बल बनाये गये थे और वे शीघ्र नष्ट हो गये। उसका मकबरा लाल पत्थर के बने एक छोटे से गढ़ का आभास देता है जो दृढ़ तो है परन्तु शानदार नहीं। मुहम्मद तुगलक ने 'जहाँपनाह' नाम का नवीन नगर दिल्ली के निकट बसाया, तुगलकाबाद के निकट आदिलाबाद का किला बनवाया और दौलताबाद में कुछ इमारतें अवश्य बनवायी होंगी। परन्तु वे सभी नष्ट हो गयी हैं। उनमें से केवल 'सथपलाह-बाँध' और 'बिजाई-मण्डल' नामक दो इमारतों के अवशेष प्राप्त होते हैं। फीरोज तुगलक ने बहुत इमारतें बनवायीं परन्तु वे अत्यन्त साधारण और दुर्बल थीं। उसने विभिन्न इमारतों के अतिरिक्त दिल्ली के निकट फीरोजाबाद, उसमें फीरोजशाह कोटला का नगर और किला, दिल्ली में हौजखास के निकट एक विद्यालय और अपना स्वयं का मकबरा बनवाया। उसके पुत्र खानेजहाँ जूनाशाह ने 'खानेजहाँ-तिलगानी' का मकबरा, उसके निकट 'काली-मस्जिद' जहाँपनाह में 'खिरकी-मस्जिद' बनवायी थीं। नासिरुद्दीन मुहम्मद तुगलकशाह के समय में बनी हुई एक भव्य इमारत कबीरुद्दीन औलिया की कब्र पर बना हुआ मकबरा 'लाल गुम्बद' भी है। सैयद और लोदी शासकों के समय में बनी हुई मुख्य इमारतों में से मुबारकशाह सैयद, मुहम्मदशाह सैयद और सुल्तान लोदी के मकबरे तथा सिकन्दर लोदी के प्रधानमन्त्री द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की 'मोठ-मस्जिद' हैं।

उपर्युक्त इमारतों में से अधिकांश इमारतें मुख्यतया नगर, किले और महल नष्ट हो गये हैं परन्तु मकबरे, मस्जिदें तथा मीनारें अब भी हैं। ये कला के अद्वितीय तो नहीं परन्तु पर्याप्त अच्छे नमूने माने जा सकते हैं। कला की दृष्टि से इनमें कुतुबमीनार और अलाई-दरवाजा का प्रमुख स्थान है।

2. प्रान्तीय स्थापत्य-कला

विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न मुसलमान शासकों ने भी महलों, किलों, मस्जिदों और मकबरों का निर्माण कराया। मूल आधार पर उनकी इमारतें भी दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला की भाँति थीं। परन्तु क्योंकि उनके साधन सीमित थे अतएव वे दिल्ली-सुल्तानों की समता में इमारतें न बनवा सके। इसके अतिरिक्त उनकी स्थानीय परिस्थितियों ने भी इमारतों को दिल्ली के सुल्तानों द्वारा बनवायी गयी इमारतों से कुछ भिन्न स्वरूप प्रदान किया।

मुल्तान—मुल्तान में बनवायी गयी इमारतों में शाह यूसूफ-उल-गर्दिजी, बहौल-हक-शम्सुद्दीन और रुक्नेआलम के मकबरे हैं। इनमें रुक्नेआलम के मकबरे को सबसे शानदार माना गया है।

बंगाल—बंगाल में बनी हुई इमारतें बहुत श्रेष्ठ नहीं बन सकीं। उनमें अधिकांशतया ईंटों का प्रयोग किया गया था। इनमें सुल्तान सिकन्दरशाह द्वारा बनवायी गयी 'अदीना मस्जिद', गौड़ का 'दरसवारी का मकबरा', पांडुआ का 'एकलाखी-मकबरा', गौड़ की 'लोटन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मस्जिद', देबीकोट का 'रुक्नखाँ का मकबरा', गौड़ की 'सोना मस्जिद', खुलना जिले की 'सात गुम्बद मस्जिद', नसरतशाह का बनवाया गया गौड़ का 'कदम रसूल का मकबरा', गौड़ का 'दाखिला दरवाजा' और पांडुआ में बना जलालुद्दीन मुहम्मद का मकबरा मुख्य हैं। खम्भों पर नुकीली मेहराबों का प्रयोग, हिन्दू प्रतीकों का प्रयोग और हिन्दू वक्र-रेखाओं को इस्लामी स्वरूप प्रदान करना बंगाल की स्थापत्य-कला की मुख्य विशेषताएँ रहीं।

जौनपुर—शर्की शासकों ने स्थापत्य-कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी कला में हिन्दू तथा इस्लामी शैलियों का अच्छा समन्वय है। चौकोर स्तम्भ, छोटी दहलीजें और मीनारों का अभाव इस कला की मुख्य विशेषताएँ रहीं। जब जौनपुर दिल्ली-सल्तनत के अधीन था तब की बनी हुई इमारतों में इब्राहीम नाइब बारबक का महल और किला मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त बाद में इब्राहीमशाह शर्की ने 'अटाला मस्जिद' को पूर्ण किया, उसी ने 'झाझीरी मस्जिद' को बनवाया, हुसैनशाह ने 'जामीं मस्जिद' को बनवाया और एक अन्य इमारत 'लाल-दरवाजा मस्जिद' बनवायी गयी।

मालवा—यहाँ बनी हुई आरम्भ की इमारतों में 'कमाल मौला मस्जिद', 'लाट मस्जिद', 'दिलवारखाँ मस्जिद' और माँडू का 'मलिक मुगीस का मकबरा' हैं। परन्तु यहाँ की श्रेष्ठतम इमारतों में माँडू का किला और उसके अन्दर बनी हुई विभिन्न इमारतें हैं। जामा मस्जिद, हिण्डोला महल, अशर्फी महल, सात मंजिल का महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया विजय-स्तम्भ, महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया सुल्तान हुसंगशाह का मकबरा, जहाज महल और बाजबहादुर तथा रानी रूपमती के महल मालवा की श्रेष्ठतम इमारतें हैं। कला की दृष्टि से ये दिल्ली-सुल्तानों द्वारा बनवायी गयी इमारतों के पर्याप्त निकट हैं तथा अत्यन्त सुन्दर और दृढ़ बनी हुई हैं। इसी कारण माँडू के किले को सुरक्षित नगरों में सबसे सुन्दर नगर माना गया है।

गुजरात—गुजरात में हिन्दू तथा मुस्लिम-कला का सबसे अच्छा समन्वय हुआ और वहाँ बहुत सुन्दर इमारतों का निर्माण हुआ। डॉ. सरस्वती ने लिखा है : "उसकी (स्थापत्य-कला की) मुख्य विशेषता का कारण यह था कि वह अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानीय कला और उससे भिन्न इस्लाम के संरक्षण का परिणाम थी।" काम्बे की जामा मस्जिद, ढोलका का हिलालखाँ काजी का मकबरा, अहमदाबाद की जामा मस्जिद, उसी में बना हुआ अहमदशाह का मकबरा, हैबतखाँ और सैयद आजम के मकबरे, अहमदाबाद की जामा मस्जिद, वहीं का तीन-दरवाजा, रानी का हुजरा, दरियाखाँ और अलिफखाँ के मकबरे, ढोलका मस्जिद और अहमदाबाद से छः मील दूर शेख अहमद खत्री का मकबरा इनमें प्रमुख हैं। अहमदाबाद की जामा मस्जिद को फर्गुसन ने "पूर्व में बनी हुई सुन्दरतम मस्जिदों में से एक" माना है। इसके अतिरिक्त, महमूद बेगड़ा ने अपने समय में तीन नवीन नगर बसाये और चम्पानेर के नगर में अनेक सुन्दर इमारतें बनवायीं। चम्पानेर में उसके द्वारा बनवायी गयी जामा मस्जिद को फर्गुसन ने "स्थापत्य-कला की दृष्टि से गुजरात में सर्वश्रेष्ठ" बताया। महमूद बेगड़ा के समय में स्थापत्य-कला में कुछ नवीन तथ्य सम्मिलित हुए। उसके और उसके पश्चात् की बनी हुई इमारतों में कुतुब-उल-आलम, मुबारक सैयद और सैयद उस्मान के मकबरे प्रमुख हैं।

कश्मीर—कश्मीर में भी हिन्दू और मुसलमान स्थापत्य-कला का समन्वय हुआ। मदनी का मकबरा, श्रीनगर की जामा मस्जिद और शाह हमदान की मस्जिद इस समय की मुख्य इमारतें हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहमनी राज्य—बहमनी अथवा उसके खण्डों से बने हुए मुसलमानी राज्यों के शासकों ने दक्षिण-भारत में विभिन्न इमारतें बनवायीं जिनमें हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य-कला का अच्छा मिश्रण है। इनमें से गुलबर्गा और बीदर की मस्जिदें, मुहम्मद आदिलशाह का मकबरा जो गोल-गुम्बद के नाम से विख्यात है, दौलताबाद की चार-मीनार और बीदर का महमूद गवाँ का विद्यालय प्रमुख माने गये हैं।

3. हिन्दू स्थापत्य-कला

हिन्दू स्थापत्य-कला के नमूने की इमारतें हमें मुख्यतया राजस्थान में प्राप्त होती हैं जहाँ हिन्दू अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ रहे थे। इसके अतिरिक्त विजयनगर में भी विभिन्न इमारतों और महलों का निर्माण हुआ था। परन्तु तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् मुसलमान आक्रमणकारियों ने उस नगर को पूर्णतया नष्ट कर दिया। इस कारण वहाँ की इमारतों में से कोई भी इमारत सुरक्षित नहीं रही। हिन्दुओं ने निर्माण-शैली में तो मुसलमानों से कुछ सीखा परन्तु कला की दृष्टि से उन्होंने अपनी कला को मुस्लिम-कला के प्रभाव से मुक्त रखा जिसके कारण उनकी इमारतें मुस्लिम शासकों की इमारतों से भिन्न रहीं। मेवाड़ के राणा कुम्भा ने अनेक किले, महल और मन्दिर बनवाये थे। उनमें से प्रमुख कुम्भलगढ़ का किला और चित्तौड़ का कीर्ति अथवा जय-स्तम्भ हैं। जय-स्तम्भ का कुछ भाग लाल पत्थर से और कुछ भाग सफेद संगमरमर से बना हुआ है। यह बहुत सुन्दर स्तम्भ माना गया है। चित्तौड़ में ही एक अन्य स्तम्भ जैन-स्तम्भ भी है जिसमें नक्काशी का बहुत सुन्दर कार्य है। राजस्थान के अन्य भागों में किले और महल बनवाये गये थे परन्तु उनमें से महल नष्ट हो गये हैं। दक्षिण में 'गोपुरम' बनाने की प्राचीन कला को विजयनगर सम्राटों ने और अधिक विस्तृत किया तथा मन्दिरों के 'गोपुरम' (मन्दिर के प्रवेश-द्वार के ऊपर बनवाया गया गुम्बद) पहले की तुलना में अधिक बड़े बनाये गये। सम्राट कृष्णदेवराय द्वारा बनवाया गया विट्ठलस्वामी का मन्दिर दक्षिण-भारत की इमारतों में श्रेष्ठ माना गया है। अन्य स्थानों पर भी अच्छे मन्दिरों का निर्माण किया गया। विभिन्न मन्दिरों पर विभिन्न सम्राटों ने नवीन 'मण्डप' (छत्र) भी बनवाये, जैसे—चैलोर के किले के पार्वती मन्दिर पर, काँचीपुरम के वरदराजस्वामी और एकाम्बरनाथ के मन्दिर पर और त्रिचिनापल्ली के जम्बुकेश्वर के मन्दिर पर।

इस युग में मुसलमान शासकों द्वारा बनवायी गयी इमारतों की विशेषता गुम्बद, मीनारें, मेहराब और तहखाने थे। अधिकांश इमारतें मकबरे, मस्जिद, महल तथा किले थीं। हिन्दू इमारतों की विशेषता स्तम्भ, नुकीली मेहराबें और उनकी अलंकारिकता थी। हिन्दुओं ने अधिकांशतया मन्दिर, किले, गोपुरम और मण्डप बनवाये। भारत में प्रवेश करके मुस्लिम-कला बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी और बिना प्रयत्न किये ही एक ऐसी स्थापत्य-कला का निर्माण हुआ जो भारतीय-इस्लामी कला कहलायी और जिसने भविष्य की स्थापत्य-कला के निर्माण में सहयोग दिया।

[6]

संगीत-कला

इस्लाम धर्म द्वारा संगीत-कला वर्जित है। इस कारण दिल्ली-सल्तनत के कुछ प्रारम्भिक सुल्तानों ने इस कला की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु बाद में बलबन, जलालुद्दीन खलजी, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे सुल्तानों ने इसे संरक्षण प्रदान किया। बलबन के सम्बन्ध में एम. डब्ल्यू. मिर्जा लिखते हैं : "बलबन संगीत-कला का एक बड़ा संरक्षक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उसने भारतीय संगीत-कला की बहुत प्रशंसा की और उसे अन्य देशों की संगीत-कला से श्रेष्ठ स्वीकार किया।" बलबन का पुत्र बुगराखाँ भी संगीत-कला का प्रेमी था। उसने गायकों, नर्तकों और नाटककारों की एक संस्था का निर्माण किया था। जलालुद्दीन खलजी ने इस कला को संरक्षण प्रदान किया। उसने दरबार में संगीतज्ञों का एक समूह तैयार किया था। अलाउद्दीन खलजी ने दक्षिण-भारत के तत्कालीन महान् संगीतज्ञ गोपाल नायक को अपने दरबार में बुलाया था। उसके दरबार में अपने समय के महान कवि, लेखक और गायक अमीर खुसरव को संरक्षण प्राप्त हुआ था। अमीर खुसरव ने कुछ भारतीय और पर्शियन (ईरानी) रागों का सुन्दर मिश्रण किया और इस प्रकार कुछ नवीन राग-शैलियों जैसे इमान, जिल्फ, साजगरी आदि को जन्म दिया। उसने भारतीय कव्वाली में भी एक नवीन शैली को जोड़ा। तुगलक-वंश का संस्थापक गियासुद्दीन तुगलक संगीत-कला का विरोधी था। उसने साम्राज्य में उसका निषेध कर दिया। परन्तु उसके पुत्र और उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक ने संगीत-कला में रुचि ली और उसकी उन्नति के लिए उसे संरक्षण प्रदान किया। अपने शासनकाल में उसने अनेक संगीत-गोष्ठियाँ आयोजित कीं जिनमें हिन्दू और मुसलमान सभी संगीतज्ञ सम्मिलित हुए थे। फीरोज तुगलक भी संगीत-कला में रुचि रखता था। उसके बारे में कहा गया है कि जब वह सिंहासन पर बैठा तब उसने जनसाधारण के मनोरंजन के लिए इक्कीस दिन तक संगीत-गोष्ठी का आयोजन किया।

इस युग में विभिन्न प्रान्तीय स्वतन्त्र शासकों ने भी संगीत-कला को संरक्षण प्रदान किया। जौनपुर के प्रायः सभी शासकों ने संगीत-कला को संरक्षण दिया। उनके संरक्षण में एक मुसलमान विद्वान ने 1375 ई. में संगीत-कला के एक अच्छे ग्रन्थ गुनयाल-उल-मुनयास की रचना की। वहाँ का शासक, हुसैनशाह शर्की स्वयं एक अच्छा संगीतज्ञ था और उसने एक नवीन राग खयाल को भारतीय संगीत-कला में सम्मिलित किया। इसके अतिरिक्त, उसके संरक्षण में कई संगीत-विद्वानों ने मिलकर संगीत-शिरोमणि नामक एक श्रेष्ठ संगीत-ग्रन्थ की रचना की। गुजरात और मालवा के शासकों ने भी संगीत-कला को संरक्षण प्रदान किया था। मालवा का शासक, बाजबहादुर संगीत-कला में बहुत रुचि लेता था जबकि उसकी पत्नी, रूपमती स्वयं इस कला की अच्छी ज्ञाता थी। कश्मीर का सुल्तान जैन-उल-अबीदीन स्वयं एक योग्य संगीतकार था। उसने भी संगीतज्ञों को अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया जिनमें एक विद्वान बुद्धिदत्त ने संगीत-कला पर एक ग्रन्थ की रचना की। बिहार में चिन्तामणि एक महान् संगीतज्ञ हुए जिन्होंने बिहारी-बुलबुल की उपाधि दी गयी। तिरहुत में विद्यापति नामक एक महान् संगीतज्ञ हुए। उनका कजरी नामक काव्य-संगीत बहुत लोकप्रिय हुआ। ग्वालियर का राजा मानसिंह कला-मर्मज्ञ था और उसने इस कला को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके दरबार के संगीत-विद्वानों ने भारतीय संगीत-कला को ध्रुपद-राग प्रदान किया जो एक उत्साहवर्धक राग है। कई महान् संगीतज्ञों जैसे भक्शू और, सम्भवतया, बैजू-बावरा को भी उसका संरक्षण प्राप्त हुआ था।

दक्षिण-भारत के विभिन्न शासकों ने भी संगीत-कला को संरक्षण प्रदान किया। बहमनी-राज्य के शासकों में से फीरोजशाह और महमूदशाह ने संगीत-कला को विशेष संरक्षण प्रदान किया। बीजापुर-राज्य में यूसुफ आदिलशाह और उसके पुत्र ने संगीत-कला को संरक्षण प्रदान किया। विजयनगर-साम्राज्य में इस कला ने सभी शासकों का संरक्षण प्राप्त किया और उन्नति की।

भक्ति-मार्ग के प्रचारक विभिन्न हिन्दू सन्तों और सूफी मत के अनेक फकीरों तथा विद्वानों ने भी संगीत-कला की उन्नति में सहयोग प्रदान किया। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकृष्ण की भक्ति पर अनेक गीतों की रचना की और कीर्तन-पद्धति (सामूहिक गान) के द्वारा संगीत को लोकप्रिय बनाया। चण्डीदास एक अन्य महान् कवि और संगीतज्ञ हुए जिन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम पर अनेक लोकप्रिय गीतों की रचना की। इसी प्रकार, असम के उस समय के संगीतज्ञों में शंकर का नाम प्रख्यात हुआ। सूफी-सन्तों ने भी सामूहिक गान की परम्परा को स्वीकार करके संगीत-कला को लोकप्रिय बनाने में बहुत सहयोग दिया।

इस काल में संगीत-कला पर कई अन्य अच्छे ग्रन्थ भी लिखे गये। सारंगदेव ने एक महान् ग्रन्थ संगीत-रत्नाकर की रचना की। उसने भारत के तत्कालीन संगीत के सभी रागों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया और उनको पन्द्रह मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया। उसके अनुसार अन्य सभी रागों की उत्पत्ति इन्हीं पन्द्रह रागों में से किसी न किसी एक से हुई। एक अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थ रागतरंगिनी की रचना लोकन कवि ने की। उसने अपने ग्रन्थ में भारतीय संगीत की मुख्य बारह शैलियों—भैरवी, टोडी, गौरी, कर्नट, केदार, यामन, सारंग, मेघ, राग, धनसारी, पूर्वी, तुखारी और दियाक का वर्णन किया। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने भी मान-कुतबल नामक संगीत-ग्रन्थ को लिखा जिसमें उसने उत्तर-भारत में उस समय में प्रचलित सभी राग-शैलियों का उल्लेख किया।

इस प्रकार हम पाते हैं कि दिल्ली-सल्तनत के काल में संगीत-कला की उन्नति होती रही। एक विद्वान ने यहाँ तक कहा है कि "इस काल में धर्म-निरपेक्ष और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का संगीत श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सका था।"

इसमें भी कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि संगीत-कला के साथ-साथ इस काल में नृत्य-कला की उन्नति भी होती रही थी।

[7]

चित्रकला

19वीं सदी के बाद के वर्षों में सर्वप्रथम मुहम्मद अब्दुल्ला चगताई ने यह विचार प्रस्तुत किया कि दिल्ली-सल्तनत के काल में चित्रकला का अस्तित्व रहा था। उन्होंने अपने विचार का समर्थन भारतीय-पर्शियन साहित्यिक ग्रन्थों में चित्रकला के सम्बन्ध में दिये गये विभिन्न उल्लेखों के आधार पर किया। परन्तु उनका यह विचार अन्य विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त न कर सका जिसके कारण 20वीं सदी के मध्य तक यह धारणा बनी रही कि इस काल में चित्रकला की ओर पूर्ण उदासीनता थी क्योंकि वह इस्लाम के द्वारा वर्जित थी। 1947 ई. में हरमन गोइट्ज ने 'दी जर्नल ऑफ दी इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट' में अपना एक लेख छपवाकर यह विचार व्यक्त किया कि दिल्ली-सल्तनत के काल में चित्रकला का अस्तित्व था। इसके पश्चात् अन्य कई विद्वानों ने इस विचार के पक्ष में विचार प्रकट किये। मुख्यतया उन्होंने अपने मत का समर्थन तत्कालीन साहित्य में चित्रकला के सम्बन्ध में दिये गये उल्लेखों के आधार पर ही किया। इसके अतिरिक्त, कुछ ग्रन्थों में प्राप्त लघु-चित्रों और कुछ लघु भित्ति- चित्रों को भी इस काल का बताकर उन्होंने अपने मत का समर्थन किया है। इस कारण अब यह धारणा बनती जा रही है कि इस काल में चित्रकला नष्ट नहीं हुई थी अपितु कुछ प्रान्तीय शासकों और, सम्भवतया, कुछ दिल्ली-सुल्तानों का संरक्षण प्राप्त करके जीवित रही थी।

दिल्ली-सल्तनत के काल में भित्ति-चित्रों (दीवारों पर बनाये गये चित्र) का निर्माण हुआ था, यह अब विभिन्न विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया है यद्यपि प्रमाण के रूप में ऐसे चित्रों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अवशेष मुगलों के शासन से पहले बने हुए चम्पानेर और सरहिन्द में बने कुछ स्मारकों तथा सीरी और बेगमपुर के बीच स्थित मखदूमअली-मस्जिद से ही प्राप्त हुए हैं। इस कारण, इस काल में भित्ति-चित्रकला जीवित थी इसके प्रमाण अधिकांशतया साहित्यिक अर्थात् पुस्तकों में दिये गये विवरणों पर ही आधारित हैं। समकालीन विद्वान ताजुद्दीन रजा ने यह लिखा है कि "सुल्तान इल्तुतमिश के शासनकाल में भित्ति-चित्रों का प्रयोग दीवारों को सजाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में किया जाता था।" 14वीं सदी में इतिहासकार इसामी ने अपनी पुस्तक "फुतूह-उस-सलातीन" में ताजुद्दीन रजा के विचार की पुष्टि की। अलाउद्दीन खलजी के समकालीन विद्वान अमीर खुसरो के विभिन्न ग्रन्थों में भित्ति-चित्रों, पाण्डुलिपि-चित्रों (हाथ से लिखी गयी पुस्तक पर बनाये गये चित्र) और कपड़ों पर बनाये गये चित्रों का उल्लेख किया गया है। खुसरो द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'सुनुह सिपिहर' में सुन्दर चित्रित वस्त्रों का वर्णन मिलता है। फारसी और हिन्दी के अन्य विविध ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं। जियाउद्दीन बरनी द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में यह वर्णन है कि सुल्तान जलालुद्दीन खलजी ने सुल्तान कैकुबाद द्वारा आरम्भ किये महल के निर्माण को पूरा कराया और उसे भित्ति-चित्रों से सजाया। फीरोजशाह तुगलक ने भित्ति-चित्रों के निर्माण पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे, ऐसा विवरण शम्स-ए-सिराज अफीफ द्वारा रचित 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में मिलता है जिसका अर्थ है कि दिल्ली-सुल्तानों द्वारा दीवारों को सजाने की प्रथा थी जिसके कारण धर्मान्ध फीरोज को उस पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता हुई।

दिल्ली-सल्तनत के काल में लघु-चित्र बनाने और पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाने की भी प्रथा थी। अमीर खुसरो द्वारा रचित खम्सा की पाण्डुलिपि के कुछ पृष्ठ प्राप्त हुए हैं जिन पर चित्र बने हुए हैं। मालवा, जौनपुर, बंगाल और गुजरात में भी ऐसे चित्र बनाये जाने की प्रथा थी, ऐसे भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। माँडू से प्राप्त ऐसी पाण्डुलिपियों में 'नियामतनामा' और 'मिफताह-उल-फुजाला' प्रमुख हैं जिनमें सुन्दर मानवीय लघु-चित्र बने हुए हैं। जौनपुर में यह चित्रकला प्रचलित थी, इसका प्रमाण विभिन्न स्थानों पर प्राप्त हुई और सुरक्षित रखी गयी 'हम्जनामा', 'खम्सा-ए-अमीर खुसरो', 'शाहनामा', आदि की पाण्डुलिपियाँ हैं। गुजरात और बंगाल में भी दो चित्रकला-शैलियाँ प्रचलित थीं, इसके प्रमाण भी विभिन्न पाण्डुलिपियों के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। विभिन्न स्थानों पर प्राप्त ये पाण्डुलिपियाँ अलग-अलग समय की हैं और उनमें विभिन्नता भी है। इससे यह अनुमान किया गया है कि विभिन्न स्थानों पर चित्रकला के इन क्षेत्रों में विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं और एक लम्बे समय तक, सम्भवतया, सम्पूर्ण दिल्ली-सल्तनत के युग में इस प्रकार की चित्रकला जीवित रही थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. दिल्ली सल्तनत युग की सामाजिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. क्या दिल्ली-सल्तनत के युग में भारत की आर्थिक स्थिति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए ?
3. सूफी सम्प्रदाय से आप क्या समझते हैं ? उसके सन्तों के महत्त्वपूर्ण उपदेश क्या थे ?
4. भक्ति आन्दोलन से आप क्या समझते हैं ? उसके कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
5. भक्ति आंदोलन में चैतन्य के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
6. दिल्ली सुल्तानों द्वारा निर्मित कुछ इमारतों का उल्लेख कीजिए। वे किस सीमा तक भारतीय-इस्लामी स्थापत्य कला के नमूने स्वीकार की जा सकती हैं ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सल्तनत काल के मुस्लिम समाज का वर्णन कीजिए।
2. दास प्रथा पर एक लेख लिखिए।
3. सल्तनत काल में महिलाओं की स्थिति का वर्णन कीजिए।
4. सल्तनत काल में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।
5. हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय पर एक लेख लिखिए।
6. सूफी सम्प्रदाय की लोकप्रियता के कारण लिखिए।
7. सल्तनत काल की स्थापत्य कला की विशेषताएँ लिखिए।
8. भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव और विकास का वर्णन कीजिए।
9. सल्तनतकालीन चित्रकला का वर्णन कीजिए।
10. दास या खलजी वंश की इमारतों पर एक लेख लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सल्तनत काल में समाज का सर्वाधिक सम्मानित वर्ग था—
   (अ) विदेशी मुसलमान (ब) भारतीय मुसलमान
   (स) दोनों 'अ' व 'ब' (द) इनमें से कोई नहीं।
2. समाज में किन दासों की स्थिति अच्छी थी ?
   (अ) हिन्दू दासों की (ब) मुस्लिम दासों की
   (स) क्रेता दासों की (द) इनमें से कोई नहीं।
3. मध्यकालीन समाज में किन कारीगरों का व्यवसाय वंशानुगत था ?
   (अ) जुलाहों का (ब) लुहार का
   (स) बढ़ई व कुम्हार का (द) उपर्युक्त सभी का।
4. मुसलमानों की अफीफ व बिसमिल्लाह के रिवाज हिन्दुओं के किन रिवाजों के प्रतिरूप थे ?
   (अ) मुण्डन (ब) उपनयन
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
5. इब्नबतूता ने भारत में किस स्थान को सबसे बड़ी व्यापारिक मण्डी लिखा है ?
   (अ) दिल्ली को (ब) आगरा को
   (स) गुजरात को (द) कालीकट को।
6. "सूफी धर्म का जन्म इस्लाम के वक्ष से हुआ था।" किसने लिखा है ?
   (अ) डॉ. ए. बी. पाण्डेय ने (ब) डॉ. यूसुफ हुसैन ने
   (स) प्रो. हुमायूँ कबीर ने (द) डॉ. श्रीवास्तव ने।
7. आईन-ए-अकबरी में सूफी संत की कितनी शाखाओं का वर्णन है ?
   (अ) दस (ब) बारह
   (स) चौदह (द) सोलह।
8. 1236 ई. में बदायूँ में किस सूफी सन्त का जन्म हुआ था ?
   (अ) निजामुद्दीन औलिया का (ब) शेख मूसा का
   (स) फरीदुद्दीन गंज-ए-शिकर (द) हमीदुद्दीन नागौरी।
9. बाबा फरीद के प्रमुख अनुयायी थे—
   (अ) हिन्दू (ब) मुस्लिम
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. सल्तनत काल के शासकों ने किस भाषा को राजभाषा बनाया था ?
(अ) फारसी (ब) उर्दू
(स) हिन्दी (द) अरबी।

11. अमीर खुसरो के गुरु का नाम था—
(अ) शेख सलीम चिश्ती (ब) निजामुद्दीन औलिया
(स) शेख मुईनुद्दीन चिश्ती (द) इनमें से कोई नहीं।

12. "मैं हिन्द का तोता हूँ।" किसके लिये यह लिखा गया है ?
(अ) मीर हसन के लिए (ब) बाबर के लिए
(स) मिनहाज के लिए (द) अमीर खुसरो के लिए।

13. नूहसिपेहर का लेखक था—
(अ) मिनहाज (ब) अमीर खुसरो
(स) अफीफ (द) बरनी।

14. हिन्दू-मुस्लिम कला ने किस नवीन शैली को जन्म दिया था ?
(अ) इस्लामिक शैली (ब) इण्डो-इस्लामिक शैली
(स) हिन्दू शैली (द) इनमें से कोई नहीं।

15. कुतुबमीनार का निर्माण पूर्ण हुआ था—
(अ) इल्तुतमिश के काल में (ब) तुगलक काल में
(स) खलजी काल में (द) इनमें से कोई नहीं।

16. खलजी काल की प्रसिद्ध इमारत थी—
(अ) बुलन्द दरवाजा (ब) अलाई दरवाजा
(स) अतारकिन का दरवाजा (द) उपर्युक्त सभी।

17. गियासुद्दीन का मकबरा किस निर्माण शैली का परिचायक है ?
(अ) मुस्लिम शैली (ब) ईरानी शैली
(स) हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित शैली (द) उपरोक्त सभी।

18. सैयद काल में निर्मित इमारतें मुख्य रूप से थीं—
(अ) महल (ब) मकबरे
(स) भण्डार-गृह (द) इनमें से कोई नहीं।

19. सर जॉन मार्शल ने लोदी काल की किस कृति को सर्वश्रेष्ठ बताया ?
(अ) काली मस्जिद (ब) मोठ की मस्जिद
(स) लाल गुम्बद (द) दादी का मकबरा।

20. मांडू के प्रसिद्ध किले का निर्माण कराया था—
(अ) हुसैनशाह ने (ब) बाज बहादुर ने
(स) मोहम्मद शाह ने (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (अ), 6. (ब), 7. (स), 8. (अ), 9. (स), 10. (अ), 11. (ब), 12. (द), 13. (ब), 14. (ब), 15. (अ), 16. (ब), 17. (स), 18. (ब), 19. (ब), 20. (अ)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट 1

दिल्ली सल्तनत के इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियाँ

711 ई.	—	मुहम्मद बिन कासिम का सिन्ध पर आक्रमण।
1000 ई.	—	महमूद गजनवी के आक्रमणों का आरम्भ।
1027 ई.	—	महमूद गजनवी का अन्तिम आक्रमण।
1175 ई.	—	मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का प्रारम्भ।
1178 ई.	—	मुहम्मद गोरी की गुजरात के शासक मूलराज द्वितीय से पराजय।
1191 ई.	—	तराइन का प्रथम युद्ध।
1192 ई.	—	तराइन का द्वितीय युद्ध।
1194 ई.	—	मुहम्मद गोरी द्वारा जयचन्द की पराजय।
1206-1210 ई.	—	कुतुबुद्दीन ऐबक का शासन काल।
1211-1236 ई.	—	सुल्तान इल्तुतमिश का शासन काल।
1236-1240 ई.	—	सुल्ताना रजिया का शासन काल।
1265-1287 ई.	—	गियासुद्दीन बलबन का शासन काल।
1290-1296 ई.	—	जलालुद्दीन फिरोजशाह खलजी का शासन काल।
1296 ई.	—	अलाउद्दीन का देवगिरि पर आक्रमण।
1296-1316 ई.	—	अलाउद्दीन खलजी का शासन काल।
1303 ई.	—	अलाउद्दीन की चित्तौड़ विजय।
1307-1313 ई.	—	मलिक काफूर के सफल दक्षिण अभियान।
1297-1306 ई.	—	अलाउद्दीन के समय के मंगोल आक्रमण और उनकी विफलता।
1316-1320 ई.	—	कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी का शासन काल।
1320-1325 ई.	—	गियासुद्दीन तुगलक का शासन काल।
1325-1351 ई.	—	मुहम्मद बिन तुगलक का शासन काल।
1325-1327 ई.	—	मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा दोआब में कर वृद्धि।
1326-1327 ई.	—	मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा राजधानी परिवर्तन।
1329-1330 ई.	—	मुहम्मद तुगलक द्वारा सांकेतिक मुद्रा का चलाया जाना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1336 ई. — विजयनगर साम्राज्य की स्थापना।
1347 ई. — बहमनी राज्य की स्थापना।
1351-1388 ई. — फिरोजशाह का शासन काल।
1398 ई. — अमीर तैमूर का आक्रमण।
1412 ई. — तुगलक वंश के अन्तिम शासक नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु।
1412-1414 ई. — सैयद शासक खिज्रखाँ का शासन काल।
1421-1434 ई. — सैयद शासक मुबारकशाह का शासन काल।
1434-1445 ई. — सैयद शासक मुहम्मदशाह का शासन काल।
1445-1450 ई. — सैयद शासक अलाउद्दीन आलमशाह का शासन काल।
1451-1489 ई. — बहलोल लोदी का शासन काल।
1489-1517 ई. — सिकन्दरशाह लोदी का शासन काल।
1517-1526 ई. — इब्राहीम लोदी का शासन काल।
21 अप्रैल, 1526 ई. — पानीपत का प्रथम युद्ध।
1509-1529 ई. — कृष्णदेवराय विजयनगर का शासक।
23 जनवरी, 1565 ई. — तालीकोटा का युद्ध और विजयनगर राज्य का पतन।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट 2

ऐतिहासिक घटनाएँ व इतिहासकारों की टिप्पणी

भारत में अरबों की असफलता के कारण सम्बन्धी मत

एलफिन्स्टन के अनुसार—तीन कारण—

(1) सुमेर राजपूतों द्वारा बाहर निकाला जाना।
(2) हिन्दुओं की अपने धर्म में पूर्ण आस्था।
(3) हिन्दू राजाओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा।

लेनपूल के अनुसार—चार कारण—

(1) पूर्व और उत्तर में शक्तिशाली राजपूत राज्य।
(2) पर्याप्त सेना न होना।
(3) सिन्ध विजय को पूर्ण व संगठित न कर पाना।
(4) सिन्ध के निर्धन होने के कारण रुचि न लेना।

एच. जी. वैल्स के अनुसार—

(1) अरबों में विलासिता का आना। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Khalifa's Lost Heritage' में लिखा है कि "इस्लाम अपने मौलिक और जीवनप्रद तत्त्वों से अलग हो गया।"

अरब आक्रमण के प्रभाव से सम्बन्धित

टॉड	—	समस्त उत्तरी भारत दहल गया
सर वूल्जले हेग	—	साधारण दुर्घटना
लेनपूल	—	महत्त्वपूर्ण दुर्घटना

महमूद गजनवी के आक्रमण के उद्देश्य से सम्बन्धित

जाफर	—	उसका उद्देश्य धन लूटना था।
उतबी	—	इस्लाम का प्रचार करना और बुतपरश्ती को समाप्त करना।
डॉ. ए. बी. पाण्डे	—	भारत से हाथियों को प्राप्त करना।
प्रो. हबीब	—	पूर्णतया सांसारिक व्यक्ति, धर्मान्ध नहीं था, उसने इस्लाम को संसार की दृष्टि में गिराया।

तुर्कों के विरुद्ध हिन्दू-राजपूत राजाओं की पराजय से सम्बन्धित इतिहासकारों का मत

फक्र-ए-मुदब्बिर	—	राजपूतों की सामन्ती व्यवस्था, तुर्की घुड़सवारों की गतिशीलता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एलफिन्स्टन	—	लड़ाकू सैनिक।
हसन निजामी तथा मिनहाज उस सिराज	—	तुर्की विजय दैवीकृपा।
लेनपूल और विन्सेन्ट स्मिथ	—	तुर्कों का ठण्डे प्रदेश का होना, माँसाहारी तथा शक्तिशाली होना।
जदुनाथ सरकार	—	तुर्कों में जातिभेद का अभाव, भाग्यवादिता और अल्लाह में विश्वास, नशे से मुक्त होना।
श्री रोमेशचन्द्र दत्त	—	उस समय की गिरी हुई राजनीतिक सामाजिक स्थिति।
प्रो. के. ए. निजामी	—	जातिभेद का अन्तर, दुर्बल सैनिक व्यवस्था।
सरदार के.एम.पणिक्कर	—	विदेशों से भारत का सम्पर्क न होना, पतनोन्मुख सभ्यता।
डॉ. के. एस. लाल	—	गुप्तचर विभाग की कमी, रणनीति की दुर्बलता।
डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव	—	राजनीतिक एकता का अभाव, सामाजिक विभेद, ब्राह्मणवाद का उत्थान, नैतिक पतन।

गियासुद्दीन तुगलक की मृत्यु से सम्बन्धित

डॉ. मेंहदी हुसैन और डॉ. बी. पी. सक्सेना	—	सुल्तान की मृत्यु एक दुर्घटना
डॉ. ईश्वरी प्रसाद और वूल्जले हेग	—	उलुग खाँ (जूना खाँ) का षड्यन्त्र। (डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव द्वारा सहमति।)
इब्नबतूता और इसामी	—	उलुग खाँ दोषी
बरनी	—	बिजली गिरने के कारण (फरिश्ता इससे सहमत)।
निजामुद्दीन अहमद, बदायूँनी और अबुल फजल	—	बिजली गिरने की घटना को नहीं स्वीकारते।

मुहम्मद तुगलक द्वारा राजधानी परिवर्तन से सम्बन्धित मत

बरनी	—	देवगिरि के साम्राज्य के केन्द्र में होने के कारण।
इब्नबतूता	—	दिल्ली के नागरिकों द्वारा असम्मानपूर्ण पत्र लिखने के कारण दण्ड देने के लिए (वूल्जले हेग द्वारा सहमति)।
इसामी	—	दिल्ली के नागरिकों की शक्ति तोड़ने के लिए।
प्रो. हबीबुल्ला	—	दक्षिण की सम्पन्नता शासक की सुविधा की दृष्टि से तथा वहाँ मुस्लिम संस्कृति के विकास के लिए।
डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव	—	मंगोल आक्रमण से सुरक्षा और दक्षिण भारत में दृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता के कारण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. मेंहदी हुसैन	—	दौलताबाद को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बनाने के लिए।

मुहम्मद तुगलक द्वारा दोआब में कर वृद्धि से सम्बन्धित मत

बरनी	—	कर वृद्धि दस या बीस गुना अधिक।
गार्डनर ब्राउन	—	बहुत साधारण।
फरिश्ता	—	तीन-चार गुना अधिक।
डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव	—	उसने 5% से 10% की वृद्धि करने के लिए भूमि कर में वृद्धि करने की बजाय मकान, चारागाहों पर कर लगाया।

मुहम्मद तुगलक द्वारा जारी सांकेतिक मुद्रा से सम्बन्धित मत

बरनी के अनुसार	—	सुल्तान ने चाँदी के सिक्के चलाये।
फरिश्ता के अनुसार	—	सुल्तान ने पीतल के सिक्के चलाये।
डॉ. मेंहदी हुसैन	—	"यह योजना पूर्णतया उपर्युक्त और कूटनीतिक थी।"
बरनी	—	"प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया था।"

मुहम्मद तुगलक के समय मंगोल आक्रमण से सम्बन्धित मत

डॉ. मेंहदी हुसैन	—	शरणार्थी की भाँति आये तार्माशीरीन को मुहम्मद तुगलक ने 5000 दीनार देकर वापस भेज दिया।
इसामी	—	सुल्तान की सेना ने मेरठ के निकट उन्हें परास्त कर जाने के लिए बाध्य किया। (वूल्जले हेग द्वारा समर्थन)
फरिश्ता	—	सुल्तान ने मंगोलों को बहुमूल्य भेंट देकर वापस भेज दिया। (डॉ. ईश्वरी प्रसाद और डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव द्वारा मत का समर्थन)

महत्वपूर्ण शासकों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्य

(1) अरबों के कार्य

- संस्कृत के 'ब्रह्म सिद्धान्त' और 'खण्ड खाद्यक' नामक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद।
- सिन्ध में ऊँट पालन, खजूर की खेती व दिरहम नामक सिक्के का प्रचलन तथा आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिन्धवासियों से जजिया नामक कर की पहली बार वसूली।
- पंचतन्त्र का अनुवाद अरबी भाषा में कलिलावादिम्ना नाम से हुआ, जिसका उल्लेख अलबरुनी ने किया है।

(2) कुतुबुद्दीन ऐबक (ममलूक सुल्तान) [1206-1210 ई.]

- उसने सुल्तान की उपाधि धारण नहीं की। 'मलिक', 'सिपहसालार' की पदवियों से सन्तुष्ट रहा, न तो अपने सिक्के प्रसारित और न खुतवा पढ़ता था।
- 1208 ई. में नियमपूर्वक दासता से मुक्ति प्राप्त की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- हसन निजामी और फक्र-ए-मुदब्बिर को संरक्षण दिया।
- उसने दिल्ली में कुब्बत-उल-इसलाम तथा अजमेर में अढ़ाई दिन का झोंपड़ा नामक मस्जिदों का निर्माण किया।
- उसने मध्यकालीन दिल्ली के तथाकथित, सात शहरों में से प्रथम शहर महरौली की आधारशिला रखी।

(3) इल्तुतमिश [1210-1236 ई.]

- दिल्ली सल्तनत का वास्तविक संस्थापक, सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाया, ज्येष्ठ पुत्र का चयन करने की सामान्य प्रथा को तोड़ दिया।
- वफादार गुलाम अमीरों की एक टुकड़ी 'तुर्कान-ए-चहलगानी' का गठन, इक्ता की शासन व्यवस्था, सुल्तान की सेना के निर्माण का विचार दिल्ली सल्तनत को प्रदान किया।
- मुद्रा व्यवस्था में सुधार, शुद्ध अरबी सिक्के चलाने वाला पहला तुर्क शासक, दो महत्त्वपूर्ण सिक्के चाँदी का टंका और ताँबे का जीतल उसी ने आरम्भ किये।
- मिनहाजुद्दीन सिराज तथा मलिक ताजुद्दीन को संरक्षण प्रदान किया। लाहौर के स्थान पर दिल्ली को राजधानी बनाया।

(4) बलबन [1265-1287 ई.]

- नायब के पद को खत्म किया, अयोग्य सैनिकों को पेंशन देकर सेवा मुक्त किया, 'चालीस दल' का दमन किया, सैन्य विभाग 'दीवाने अर्ज' की स्थापना की।
- ईरानी तथा सिजदा, पैबोस को दरबार में फिर से शुरू करवाया तथा ईरानी त्यौहार नौरोज का मनाना आरम्भ किया।
- सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए 'रक्त एवं लौह की नीति' अपनायी।
- शासन को ईरानी आदर्श के रूप में सुव्यवस्थित किया।
- उसने अपने आपको नियामत-ए-खुदाई कहा।
- ख्वाजा नामक अधिकारी की नियुक्ति की, जो आय-व्यय का सही पता लगा सके।

(5) अलाउद्दीन खिलजी (खिलजी वंश) [1296-1316 ई.]

- चित्तौड़ का नाम अपने पुत्र खिज्रखाँ के नाम पर खिज्राबाद रखा। सीरी को अपनी राजधानी बनाया तथा किलेबन्दी की।
- अलाउद्दीन ने सिकन्दर द्वितीय की उपाधि ग्रहण की और उसे अपने सिक्कों पर अंकित करवाया। इसके अलावा उसने यामीन-उल-खिलाफर-नासिरी-अमीर-उल-मुमीनिन की उपाधि ग्रहण की।
- राज्य के विद्रोह के दमन के लिए चार अध्यादेश—(1) अमीर वर्ग की सम्पत्ति (भूमि) जब्त कर उसे खालसा कृषि योग्य भूमि बनाकर राजस्व में वृद्धि की, (2) गुप्तचर प्रणाली का गठन किया, (3) दिल्ली में मद्य निषेध कर दिया, (4) अमीरों के परस्पर मेल-मिलाप और उनके उत्सवों समारोहों पर रोक लगा दी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- न राजनीति में धर्म का हस्तक्षेप और न खलीफा के नाम का सहारा, केवल निरंकुश राजतंत्र में विश्वास।
- आर्थिक मामलों की देखरेख के लिए दीवान-ए-रियासत, लूट को खत्म करने के लिए नये विभाग दीवान-ए-मुस्तखराज की स्थापना की तथा परवाना नवीस (परमिट देने वाला अधिकारी) की नियुक्ति की।
- मूल्य निर्धारण उत्पादन लागत के अनुसार।
- राशनिंग व्यवस्था लागू की तथा सैनिकों को नकद वेतन देने वाला पहला शासक।
- जाब्ता भूमि की पैमाइश के आधार पर लगान का निर्धारण, बिस्वा पैमाइश की मानक इकाई निर्धारित, प्रति बिस्वा उपज के आधे भाग को राज्य के लगान के रूप में निर्धारित।
- अमीर खुसरो तथा अमीर हसन देहलवी को संरक्षण प्रदान किया।
- दो नये कर मकान-कर व चराई-कर लगाये।

(6) गियासुद्दीन तुगलक (तुगलक वंश) [1320-1325 ई.]

- उदारता की नीति अपनायी जिसे बरनी ने 'रस्मोमियान' अथवा मध्यपंथी नीति कहा।
- सिंचाई हेतु नहर का निर्माण करने वाला पहला शासक, वंशानुगत के साथ-साथ योग्यता को आधार बनाया ताकि इजारेदारी समाप्त हो सके।
- डाक-व्यवस्था का प्रचलन, अलाउद्दीन द्वारा चलायी गयी 'दाग' तथा चेहरा प्रथा को प्रभावशाली ढंग से लागू करना।
- शराब बनाने पर प्रतिबन्ध लगाया, बाजार से मूल्य नियन्त्रण हटाये तथा नस्क प्रणाली अपनायी।

(7) मुहम्मद बिन तुगलक [1325-1351 ई.]

- बरनी के अनुसार सुल्तान ने पाँच योजनाएँ जारी कीं—
- (1) दोआब में कर वृद्धि, (2) देवगिरि को राजधानी बनाना, (3) सांकेतिक मुद्रा जारी करना, (4) खुरासान पर आक्रमण, (5) कराचिल अभियान।
- उसके समय में चौंतीस विद्रोह हुए, जिसमें से केवल सत्ताईस दक्षिण में हुए।
- उसने अपने सिक्कों पर 'अल सुल्तान जिल्ली अल्लाह' अंकित करवाया।
- उश्र और जकात को छोड़कर शेष सभी कर समाप्त कर दिये।
- सूबों की आय-व्यय का हिसाब रखने के लिए रजिस्टर तैयार कराये।
- उसने अमीर वर्ग में खानदानी अमीरों के अतिरिक्त अन्य जाति, जैसे—मंगोल, विदेशी, हिन्दू आदि को शामिल किया।
- मिस्र के अब्बासी खलीफा से स्वीकृति प्राप्त कर सिक्कों एवं खुतबा पर खलीफाओं का नाम अंकित करवाया।
- हिन्दू त्यौहारों मुख्यत; होली में भाग लेने वाला दिल्ली सुल्तानों में प्रथम सुल्तान।
- दीवाने कोही कृषि मन्त्रालय की स्थापना की व इसका मन्त्री नियुक्त किया।
- राजधानी परिवर्तन के समय राजधानी दौलताबाद को बनाया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

- उसने सेना को मंगोल ढंग से दशमलविक प्रणाली पर संगठित करने का प्रयास किया।
- अकालग्रस्त लोगों को सहायता प्रदान करने के लिए अकाल संहिता तैयार की।

(8) फिरोज तुगलक [1351-1388 ई.]

- पहले से चले आ रहे चौबीस करों को समाप्त करके इस्लामी शरीयत कानून द्वारा अनुमति प्राप्त केवल चार करों— खराज, जज़िया, जकात, खुम्स आदि को आरोपित किया और ब्राह्मणों पर सर्वप्रथम जजिया कर लगाया।
- सिंचाई कर लगाया जो उपज का 10% होता था, फलों के 1200 बाग लगवाये, सरकारी पदों को वंशानुगत बनाया। जागीरें देने की प्रथा को पुनर्जीवित किया तथा मुहम्मद तुगलक द्वारा प्रदत्त समस्त तकाबी ऋणों को माफ कर दिया।
- अपने सिक्कों पर अपने नाम के साथ फतह खाँ का नाम अंकित करवाया, अपने को खलीफा का नायब पुकारा तथा सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित करवाया।
- दीवान-ए-खैरात स्थापित किया जो मुसलमान अनाथ स्त्रियों को आर्थिक सहायता देता था।
- गुलामों के लिए पृथक् विभाग दीवान-ए-बदगान बनाया।
- उसने 'शशगनी' (6 जीतल का) नामक सिक्का चलाया। अफीफ के अनुसार सुल्तान ने 'अद्धा' एवं 'विख' नामक ताँबा और चाँदी निर्मित सिक्का चलाया।
- दीवान-ए-इस्तिहाक की स्थापना की जो मृत सैनिकों के आश्रितों को मदद देने से सम्बन्धित था।
- उसने ज्वालामुखी मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त 138 ग्रन्थों में से कुछ का फारसी में अनुवाद करवाया जिसमें से एक का नाम 'दलायले फिरोजशाही' था जो नक्षत्र विज्ञान से सम्बन्धित था।

(9) बहलोल लोदी [1451-1489 ई.]

- अफगानों की एक महत्वपूर्ण शाखा शाहूखेल से सम्बन्धित था।
- उसकी महत्त्वपूर्ण सफलता जौनपुर राज्य को दिल्ली सल्तनत में मिलाना है।
- उसने बहलोली सिक्के को चलाया जो अकबर के पहले तक उत्तरी भारत में विनिमय का मुख्य साधन बना रहा।
- वह अमीरों को 'मसनद-ए-अली' पुकारता था।

(10) सिकन्दर लोदी (लोदी वंश) [1489-1517 ई.]

- नाप के लिए पैमाना 'गजे सिकन्दरी' प्रारम्भ किया जो 30 इंच का होता था।
- आगरा नगर की स्थापना की, वहाँ पर एक किले का निर्माण कराया जो बादलगढ़ के किले के नाम से मशहूर था।
- सिकन्दर लोदी के आदेश से एक 'आयुर्वेदिक ग्रन्थ' का फारसी में अनुवाद किया गया जिसका नाम 'फरंहगे सिकन्दरी' रखा गया।
- वह 'गुलरुखी' के उपनाम से फारसी में कविताएँ लिखता था। उसके समय में गान विद्या के एक श्रेष्ठ ग्रन्थ 'लज्जत-ए-सिकन्दरशाही' की रचना हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(11) विजयनगर साम्राज्य (संगम वंश)

हरिहर [1336-56 ई.]

- विजयनगर साम्राज्य का संस्थापक, पहली राजधानी अनेगोण्डी, सात वर्ष बाद विजयनगर को राजधानी बनाया।
- होयसल राज्य को जीतकर विजयनगर में मिलाया, मदुरा के मुसलमानी राज्य को पराजित किया।

बुक्का प्रथम [1356-77 ई.]

- चीन में एक दूत मण्डल भेजा तथा मदुरा के अस्तित्व को मिटाकर विजयनगर साम्राज्य में मिला लिया।
- वेद-मार्ग प्रतिष्ठापक की उपाधि ग्रहण की तथा जैन, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान आदि सभी को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की।
- तेलुगू साहित्य को प्रोत्साहन किया।
- कृष्णा नदी को बहमनी और विजयनगर राज्य की सीमा माना।

देवराय प्रथम [1404-1422 ई.]

- उसने हरविलास तथा प्रसिद्ध तेलुगू कवि श्रीनाथ को संरक्षण दिया।
- उसके समय में इतालवी यात्री निकोली कोण्टी ने विजयनगर साम्राज्य की यात्रा की।
- तुर्की तीरंदाजों को सेना में शामिल किया।

देवराय द्वितीय [1422-96 ई.]

- साहित्य का महान् संरक्षक, स्वयं संस्कृत का विद्वान, दो संस्कृत ग्रन्थों महानाटक सुधानिधि एवं वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर टीका की रचना की।
- कोण्डबिन्दु पर विजय प्राप्त करके अपने साम्राज्य में मिलाया।
- उसके समय में फारसी यात्री अब्दुर्रज्जाक ने विजयनगर की यात्रा की।

(12) तुलुव वंश

कृष्णदेवराय [1509-1529 ई.]

- उसने अपने प्रसिद्ध तेलुगु ग्रंथ आमुत्कमाल्यद में अपनी प्रशासनिक नीतियों का विवेचन किया है।
- बहमनी सुल्तान महमूदशाह को कारागार से मुक्त करके बीदर की राजगद्दी पर आसीन करने की स्मृति में यवनराज स्थापनाचार्य का विरुद धारण किया।
- विजयनगर के निकट नागलापुर नामक नगर की स्थापना की।
- उसके समय में पुर्तगाली यात्री डोमिंगो पायस हुआर्ट बारवोस ने विजयनगर की यात्रा की।
- वह महान् विद्वान, विद्या-प्रेमी और विद्वानों का उदार संरक्षक या जिसके कारण अभिनव भोज, आन्ध्र भोज के नाम से प्रसिद्ध था। उसके दरबार में आठ महान् विद्वान एवं कवि सुशोभित थे जिनमें पेड्डाना सर्वप्रमुख थे जो संस्कृत एवं तेलुगु दोनों भाषाओं के ज्ञाता थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतदेव राय [1529-42 ई.]

- उसने महामण्डलेश्वर नामक एक नये अधिकारी की नियुक्ति की।
- उसके समय में पुर्तगाली यात्री नूनिज ने विजयनगर साम्राज्य की यात्रा की।
- उसके शासनकाल में पुर्तगालियों ने तूतीकोरन के मोती क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर ली।

सदाशिवराय [1542-1572 ई.]

- वह विजयनगर साम्राज्य का नाममात्र का शासक था। शासन की वास्तविक शक्ति आरवीडु वंशीय मंत्री रामराय के हाथों में रही।
- रामराय ने पुर्तगालियों के साथ एक व्यापारिक समझौता किया जिससे बीजापुर के राजा को घोड़ों की बिक्री बन्द कर दी गयी।
- उसने विजयनगर की सेना में बहुत बड़ी संख्या में मुसलमानों की भर्ती शुरू कर दी।
- तालीकोटा के युद्ध के समय विजयनगर का शासक सदाशिवराय था।
- विजयनगर साम्राज्य विरोधी महासंघ में अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर शामिल थे। गोलकुण्डा और बरार के मध्य पारस्परिक शत्रुता के कारण बरार इसमें शामिल नहीं था।
- 23 जनवरी, 1565 ई. में संयुक्त सेनाओं ने तालीकोटा के युद्ध में विजयनगर की सेना को बुरी तरह पराजित किया। सत्तर वर्षीय रामराय वीरतापूर्वक लड़ा। किन्तु घेरकर मार डाला गया। इस प्रकार इस युद्ध से विजयनगर साम्राज्य के शानदार युग का अन्त माना जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल काल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1

बाबर (1526-1530 ई.)

1175 ई. में मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण से लेकर 1526 ई. में मुगल-साम्राज्य की स्थापना तक विभिन्न मुसलमान शासकों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर राज्य किया। उनमें से प्रत्येक का प्रयत्न अपने साम्राज्य का अधिक से अधिक विस्तार करना था। इस साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल भारत के हिन्दू-शासकों से ही युद्ध किये बल्कि आपस में भी युद्ध किये। तुर्क और अफगानों के विभिन्न राजवंश भारत की सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे और गुलाम (ममलूक), खलजी, तुगलक, सैयद तथा लोदी, आदि राजवंशों में निरन्तर परिवर्तन होते रहे। परन्तु उनमें से कोई भी न तो भारत की राजनीति को व्यवस्थित कर सका और न सम्पूर्ण भारत को जीतने में सफल हो सका। निस्सन्देह, मुसलमान शासकों ने न केवल उत्तर-भारत में ही अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की बल्कि दक्षिण-भारत में भी वह अपने राज्य स्थापित करने में सफल हुए। परन्तु वे न तो हिन्दू-शासकों को समाप्त करने में सफल हुए और न ही भारत को एकता और व्यवस्थित शासन प्रदान कर सके। उनके समय में एक बात अवश्य निश्चित हुई कि मुसलमान भारत में बस गये। इससे हिन्दू और मुसलमानों ने साथ रहना सीखा, दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित करना आरम्भ किया और प्रारम्भिक धार्मिक कटुता नष्ट होने लगी। परन्तु भारत की राजनीति में कोई परिवर्तन न आया।

इस कारण जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय भारत की राजनीतिक अवस्था मुसलमानी आक्रमणों के आरम्भ के समय की भाँति ही दुर्बल और अस्थिर थी। इब्राहीम लोदी के समय में दिल्ली-सुल्तान का वैभव नष्टप्रायः था और उसका साम्राज्य बहुत छोटा हो गया था। बिहार प्रायः स्वतन्त्र हो गया था और पंजाब का सूबेदार दौलतखाँ लोदी एक स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार कर रहा था। उत्तर-भारत में बंगाल, मालवा, गुजरात, सिन्ध, कश्मीर और खानदेश तथा दक्षिण-भारत में बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य थे। परन्तु इनमें से किसी की भी स्थिति दृढ़ और व्यवस्थित न थी। पारस्परिक संघर्ष, आन्तरिक विद्रोह, राजवंशों में परिवर्तन और राज्य की सीमाओं एवं राजनीति में परिवर्तन इनके लिए सामान्य बात थी। निस्सन्देह, राणा संग्राम सिंह के नेतृत्व में राजपूतों की शक्ति राजस्थान में श्रेष्ठ थी। वह दिल्ली, गुजरात और मालवा के शासकों के लिए भय का कारण बना हुआ था। दक्षिण-भारत में कृष्णदेवराय के नेतृत्व में विजयनगर का संगठित और शक्तिशाली राज्य था तथा उड़ीसा में भी हिन्दू-राज्य स्थापित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। परन्तु अपने-अपने क्षेत्र में शक्तिशाली होते हुए भी ये हिन्दू-राज्य भारत को राजनीतिक एकता और स्थिरता प्रदान करने में असफल थे।

आर्थिक दृष्टि से भारत बाबर के आक्रमण के समय में भी धनवान था। कृषि, व्यापार और उद्योगों की दृष्टि से भारत सम्पन्न था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में समन्वय का समय आरम्भ हो चुका था। हिन्दू और मुसलमान, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से, एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न आरम्भ कर चुके थे और एक-दूसरे के सामाजिक रीति-रिवाजों और धार्मिक विचारों को प्रभावित कर रहे थे। अनेक सन्त और धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था जिसने मुगलों के समय की धार्मिक सहनशीलता की भावना की आधारशिला का निर्माण किया। अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू भाषा का आरम्भ भी इस समय में हो चुका था। सूफी मत भी भारत में बढ़ रहा था और यह माना जाता है कि उस पर हिन्दू धर्म का प्रभाव परिलक्षित होने लगा था।

[1]
मुगल-वंश

1526 ई. में बाबर ने भारत में जिस राजवंश की स्थापना की वह तुर्की नस्ल का चगताई-वंश था जिसका नाम चंगेज खाँ के द्वितीय पुत्र के नाम पर पड़ा, परन्तु आमतौर पर उसे 'मुगल' पुकारा गया है। मुगल-वंश भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इस वंश ने भारत में एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया, भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र को राजनीतिक एकता प्रदान की और इसे एक श्रेष्ठ शासन प्रदान किया। इस वंश में बाबर से लेकर औरंगजेब तक एक से एक योग्य और प्रतिभाशाली शासक हुए जिन्होंने शासक के यश और सम्मान में वृद्धि की। मुगल बादशाहों ने 'खलीफा' के आधिपत्य को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। वे सभी अपने आपको पूर्ण स्वतन्त्र 'बादशाह' मानते थे। मुगलों ने भारतीय युद्ध-प्रणाली में परिवर्तन किये तथा पहली बार तोपखाने और घुड़सवार-सेना के सन्तुलित प्रयोग की उपयोगिता को सिद्ध किया। मुगल-वंश की स्थापना के समय से भारत में धार्मिक उदारता की नीति आरम्भ हुई। मुगल बादशाह मुख्यतया राजनीतिज्ञ और साम्राज्य-निर्माता थे। धर्म प्रचार उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था, यद्यपि धर्म उनकी राजनीति का साधन अवश्य बन सकता था। निश्चय ही जिस उद्देश्य को लेकर मुगल साम्राज्य के निर्माता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया वह उद्देश्य महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के उद्देश्य से भिन्न था। सम्भवतया 300 वर्ष से अधिक समय के पारस्परिक सहवास ने भारत के हिन्दू और मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट कर दिया था और भारत में धर्मयुद्ध, जिहाद और धर्मान्धता के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। निस्सन्देह मुगल वंश के समय से धार्मिक सहिष्णुता का युग प्रारम्भ होता है। मुगल-वंश के समय में भारत ने पुनः विदेशों से सम्पर्क स्थापित किया। भारत ने विदेशों और मुख्यतया उत्तर-पश्चिम के दूरस्थ देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। भारत के व्यापार, उद्योग और सम्पत्ति में भी वृद्धि हुई। इसका प्रभाव कला और साहित्य पर पड़ा। मुगल-काल में वास्तुकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीतकला आदि सभी कलाओं और फारसी, उर्दू, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के साहित्य की प्रगति हुई। इन सभी कारणों से मुगल-वंश वैभवपूर्ण रहा और उसने भारत के वैभव को बढ़ाने में सहायता दी। इस कारण भारत में मुगल-वंश और उसके साम्राज्य की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[2]

बाबर का प्रारम्भिक जीवन

बाबर भारत में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। वह मुगल-वंश का प्रथम बादशाह था जिसने न केवल दिल्ली को अफगानों से छीनकर अपनी राजधानी बनाया बल्कि उसे मुगल-शक्ति का केन्द्र-स्थान भी बनाया। उसके पश्चात् के मुगल बादशाह यह कभी न भूल सके थे कि उनकी शक्ति का स्रोत और राज्य का केन्द्र दिल्ली था।

14 फरवरी, 1483 ई. को फरगना के एक छोटे से राज्य में जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म हुआ। वह पितृ-वंश की ओर से तैमूर का पाँचवाँ वंशज और मातृ-वंश की ओर से चंगेजखाँ का चौदहवाँ वंशज था। इस प्रकार, मध्य-एशिया के ही नहीं बल्कि संसार में प्रसिद्ध दो महान विजेताओं का रक्त उसके शरीर में बहता था। उसके पिता का नाम उमर शेख मिर्जा था जो अपने छोटे राज्य से सन्तुष्ट न था और जिसने अपने रिश्तेदारों से सम्बन्ध खराब कर लिये थे। 1494 ई. में जबकि उसके साले अहमदखाँ और महमूदखाँ ने उसके राज्य पर आक्रमण किया हुआ था, उमर शेख मिर्जा की मृत्यु हो गयी। उसी वर्ष (1494 ई.) अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बाबर 11 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। जिस समय से वह गद्दी पर बैठा उसी समय से उसकी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयीं। उसके राज्य पर दो शत्रुओं ने आक्रमण कर रखा था। परन्तु अपनी कूटनीति और दृढ़ता से उसने उन्हें वापस जाने के लिए विवश किया और वह अपनी गद्दी पर सुरक्षित रह सका। अगले दस वर्ष बाबर के लिए अत्यधिक कठिनाई के थे। सम्बन्धियों का विरोध और आन्तरिक षड्यन्त्र ही उसकी कठिनाई के कारण न थे बल्कि उसकी स्वयं की महत्वाकांक्षाएँ भी उसका कारण थीं। बाबर प्रारम्भ से ही अपने पूर्वज तिमूर की विजयों से प्रभावित था और उसकी राजधानी समरकन्द को प्राप्त करने के लिए लालायित था। समरकन्द को जीतने का उसका पहला प्रयत्न (1494 ई. में) असफल हुआ। 1497 ई. में उसने उसे पहली बार जीता परन्तु वह उसे केवल 100 दिन ही अपने अधिकार में रख सका। 1501 ई. में एक बार फिर उसने समरकन्द को जीता परन्तु इस बार भी उसे आठ महीने के पश्चात् उसको छोड़ना पड़ा। इस प्रकार दो बार जीतकर भी बाबर समरकन्द को अपने अधिकार में न रख सका। इसका मुख्य कारण अपने नेता शैबानीखाँ के नेतृत्व में उठती हुई उजबेग-जाति की शक्ति थी। शैबानीखाँ के नेतृत्व में उजबेगों ने प्रायः सम्पूर्ण मध्य-एशिया को अपने अधिकार में कर लिया। इस कारण बाबर मध्य-एशिया की राजनीति में सफलता न पा सका। बल्कि यह समय ऐसा था जबकि बाबर ने दो बार फरगना को खोया, अपनी राजधानी अन्दिजान को खोया और वह अनेक अवसरों पर इधर-उधर खोहों और घाटियों में अपने कुछ साथियों के साथ अथवा अकेला ही भटकता रहा। उसने स्वयं लिखा था : "मैंने रमजान का त्यौहार दो बार एक ही स्थान पर नहीं मनाया।"

1501 ई. में शैबानीखाँ से पराजित होकर जब बाबर इधर-उधर भटक रहा था, तभी अफगानिस्तान की अस्थिर और दुर्बल राजनीति ने उसे वहाँ हस्तक्षेप करने का अवसर प्रदान किया। उसी वर्ष काबुल के शासक और बाबर के चाचा उलुग बेग मिर्जा की मृत्यु हो गयी। उसके छोटे बेटे अब्दुर्रज्जाक को एक सरदार मुकीम आरगो ने सिंहासन से हटा दिया, उसकी बहन से विवाह कर लिया और पुराने सरदारों को उनके पदों से हटाकर अपने पक्ष के सरदारों को शक्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया। इसका विरोध हुआ और अफगानिस्तान में अव्यवस्था फैल गयी। बाबर ने इसका लाभ उठाया और 1504 ई. में काबुल पर आक्रमण किया। बिना किसी महत्वपूर्ण विरोध के काबुल और गजनी पर बाबर का अधिकार हो गया तथा बाबर के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार में एक बड़ा राज्य आ गया। काबुल में उसने अपनी शक्ति को संचित किया और सेना की संख्या में वृद्धि की। 1507 ई. में उसने 'पादशाह' की उपाधि ग्रहण की। पादशाह से पूर्व बाबर 'मिर्जा' की पैतृक उपाधि धारण करता था।

काबुल का शासक होने के पश्चात् भी बाबर समरकन्द को जीतने की लालसा को समाप्त नहीं कर सका था। 1510 ई. में मर्व के युद्ध में ईरान के शाह इस्माइल से लड़ते हुए अपने मुख्य शत्रु शैबानीखाँ उजबेग की पराजय और मृत्यु का समाचार उसे प्राप्त हुआ। बाबर ने एक बार फिर समरकन्द को जीतने का निर्णय किया। उसने शाह इस्माइल से सन्धि कर ली और उससे सहायता प्राप्त की। **1511 ई. में उसने एक बार फिर समरकन्द पर ही नहीं बल्कि बुखारा और खुरासान पर भी अधिकार कर लिया।** बाबर के अधिकार में ताशकन्द से लेकर काबुल तक का सम्पूर्ण मध्य-एशिया का विस्तृत साम्राज्य आ गया, परन्तु बाबर अधिक समय तक उस ऐश्वर्य का उपभोग न कर सका। शाह इस्माइल से उसके सम्बन्ध इसलिए खराब हो गये कि वह शिया मत का समर्थन बहुत अधिक नहीं कर सकता था और समरकन्द की सुन्नी प्रजा उससे इसलिए अप्रसन्न हो गयी कि उसका विचार बन गया कि बाबर कट्टर शियाओं के हाथ की कठपुतली बन गया था और अपने वंश तथा अपनी प्रजा के सम्मान और धर्म की रक्षा करने में असमर्थ था। उजबेगों ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया। अपने नवीन नेता उबैदुल्लाखाँ के नेतृत्व में उजबेगों ने समरकन्द पर आक्रमण किया। बाबर ने शहर से बाहर निकलकर **कुल-ए-मलिक नामक** स्थान पर उनका मुकाबला किया। उसकी पराजय हुई और उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा। इस प्रकार **1512 ई. में समरकन्द पुनः बाबर के हाथ से निकल गया।** यही नहीं, इसके पश्चात् बदख्शां को छोड़कर सम्पूर्ण मध्य-एशिया का साम्राज्य बाबर के हाथ से निकल गया। 1513 ई. में बाबर काबुल वापस आ गया।

[3]
बाबर की भारत-विजय

[अ] लोदी-सुल्तान से संघर्ष

1. आक्रमण अथवा पानीपत के प्रथम युद्ध के कारण—बाबर आरम्भ से ही महत्वाकांक्षी था। **एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की लालसा उसे प्रारम्भ से ही थी।** उसने इसी आशय से समरकन्द और मध्य-एशिया को जीतने के निरन्तर प्रयत्न किये थे। **भारत-विजय उसकी इसी महत्वाकांक्षा का परिणाम थी।** 1503 ई. में उसने एक बुढ़िया से तिमूर के द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण की कहानी सुनी थी। उससे भी उसे भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

परन्तु, सम्भवतया, बाबर भारत पर आक्रमण करने की योजना न बनाता यदि उसे मध्य-एशिया की राजनीति में सफलता मिल जाती। **उत्तर-पश्चिम की ओर की असफलता ने उसे विश्वास दिला दिया कि यदि उसे साम्राज्य स्थापित करना है तो दक्षिण-पूर्व अर्थात् भारत की ओर बढ़ना होगा।** उत्तर-पश्चिम की राजनीति भी उसके इस प्रयत्न के अनुकूल थी। इसमें सन्देह नहीं कि बाबर उत्तर-पश्चिम की ओर अपने राज्य के विस्तार की आशा नहीं कर सकता था। परन्तु इस अवसर पर उसे उत्तर-पश्चिम से आक्रमण की सम्भावना भी नहीं थी। उजबेग अभी मध्य एशिया में अपनी शक्ति को संचित करने के लिए प्रयत्नशील थे और ईरान तुर्की के सुल्तान सलीम से 1514 ई. में बुरी तरह पराजित हुआ था। इस कारण पश्चिमी-एशिया में एक ऐसा शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया था जिसके कारण ईरानी या उजबेग काबुल पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमण करने की स्थिति में न थे। इसलिए बाबर भारत-विजय की योजना को कार्य-रूप में परिणित करने के लिए स्वतन्त्र था।

बाबर का चरित्र और क्षमता उसे भारत पर आक्रमण करने में सहायक थे। निरन्तर प्रयत्न करते रहना बाबर के जीवन का लक्ष्य था। उसने अपनी क्षमता और साधनों में वृद्धि की थी। अपने विरोधी तुर्क, मंगोल, उजबेग, ईरानी और अफगानों से युद्ध करते हुए उसने युद्ध के विभिन्न तरीके सीख लिये थे। उस्ताद अली और मुस्तफा नाम के तुर्की तोपचियों की सहायता से उसने एक बड़ा अच्छा तोपखाना तैयार कर लिया था जो भारत में उसकी सफलता का एक मुख्य कारण बना। इस प्रकार, काबुल में रहते हुए बाबर ने उस क्षमता और साधनों को प्राप्त कर लिया था जिनके द्वारा वह अपनी साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति करने में समर्थ था।

भारत की सम्पत्ति बाबर की लालसा को बढ़ावा देने वाली थी। आर्थिक दृष्टि से भारत उस समय भी सम्पन्न था और बाबर को इसका ज्ञान था। यद्यपि धन की लालसा बाबर के आक्रमण का प्रमुख कारण न थी परन्तु सहायक कारण अवश्य थी क्योंकि वह उसके साथियों और सैनिकों को प्रेरणा प्रदान करने का साधन थी।

भारत की दुर्बल राजनीति ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने की प्रेरणा और अवसर प्रदान किया। भारत राजनीतिक दृष्टि से विभक्त था। इस समय उत्तरी भारत में सबसे बड़ी शक्ति अफगानों की थी। दिल्ली और आगरा की शासन-सत्ता अफगानों के हाथों में थी। परन्तु दिल्ली का अफगान बादशाह इब्राहीम लोदी सम्पूर्ण भारत तो क्या उत्तर-भारत का भी बादशाह न था। बिहार में लोहानी-वंश के अफगान सरदार स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहे थे और पंजाब में दौलतखाँ लोदी एक प्रकार से स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार कर रहा था। इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी ने दिल्ली के सिंहासन पर दावा कर रखा था और दौलतखाँ लोदी के संरक्षण में रहकर दिल्ली को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। गुजरात, मालवा और बंगाल में भी अफगान शासक थे परन्तु इनमें से प्रत्येक अपने-अपने स्वार्थों और राज्य-विस्तार की लालसा में लिप्त था। उत्तर-भारत में अफगान-शक्ति प्रमुख होते हुए भी छोटी-छोटी विरोधी शक्तियों में बँटकर दुर्बल हो चुकी थी। भारत के अफगान शासकों में एकत्र होकर किसी विदेशी शत्रु का मुकाबला करने की क्षमता न थी। लेनपूल ने लिखा है : "16वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत राज्यों का समूह मात्र था जो किसी भी आक्रमणकारी के द्वारा सरलता से जीता जा सकता था। सार्वभौमिक सत्ता के अभाव में देश में साधारण राजाओं का बोलबाला था और सुल्तान के आदेश का कोई सम्मान नहीं था।"

सिन्ध, कश्मीर, उड़ीसा और खानदेश उत्तर-भारत के अन्य स्वतन्त्र राज्य थे परन्तु उनमें से कोई भी शक्तिशाली न था। उत्तर-भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य राजस्थान में मेवाड़ का था। मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह (राणा साँगा) ने युद्ध, कौशल और कूटनीति से न केवल राजस्थान के समस्त राजपूत राजाओं को ही अपने साथ या अपनी अधीनता में कर रखा था बल्कि वह पड़ौस के गुजरात और मालवा के मुसलमान शासकों की शक्ति को दुर्बल करने के लिए भी प्रयत्नशील था। यही नहीं बल्कि उसकी महत्वाकांक्षा दिल्ली और आगरा को भी अपने अधिकार में करने की थी। परन्तु वह उस समय तक आन्तरिक संघर्षों से मुक्त नहीं हो सका था।

दक्षिण-भारत में शक्तिशाली विजयनगर-साम्राज्य था जो राजा कृष्णदेवराय के नेतृत्व में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। दक्षिण-भारत का मुसलमानी बहमनी-राज्य पाँच

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्यों में बँट चुका था। ये राज्य बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर थे। दक्षिण के ये मुस्लिम राज्य न केवल आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहते थे बल्कि इनका संघर्ष निरन्तर विजयनगर-राज्य से भी चलता रहता था। इस प्रकार, दक्षिण के राज्य अपने आन्तरिक संघर्षों में लगे हुए थे और उत्तर-भारत की राजनीति की ओर ध्यान देने का अवसर न था।

इस प्रकार, भारत की राजनीति में उस समय एकता और स्थिरता का अभाव था। हिन्दू और मुसलमान, मुसलमान और मुसलमान तथा अफगान और अफगान एक-दूसरे के शत्रु हो रहे थे और इनमें से कोई भी ऐसा न था जो शक्ति या कौशल से एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर सका होता। निस्सन्देह, ऐसी स्थिति बाबर के आक्रमण के लिए सुअवसर था।

पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी और इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रण दिया। सम्भवतया, बाबर के पंजाब में आ जाने के पश्चात् राणा संग्रामसिंह ने भी इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता देने का आश्वासन दिया। दौलतखाँ लोदी पंजाब में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता था और आलमखाँ लोदी दिल्ली का सुल्तान बनना चाहता था। इस कारण इन्होंने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर से सहायता माँगी। राणा संग्रामसिंह को इस आक्रमण से दिल्ली के अफगानों की शक्ति के समाप्त अथवा दुर्बल होने की आशा थी। बाबर और इब्राहीम लोदी में युद्ध होने पर दोनों में से एक समाप्त हो सकता था या दोनों दुर्बल हो सकते थे, और तब राणा संग्रामसिंह को दिल्ली को जीतने में सुविधा हो जाती। उनके आमन्त्रणों ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन दिया।

बाबर ने पहले पंजाब में प्रवेश करके भारतीय स्थिति को समझने का प्रयत्न किया। इसी कारण भारत पर उसने चार आक्रमण पहले किये और तब पाँचवें आक्रमण में उसने दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया जिसका परिणाम पानीपत का प्रथम युद्ध था।

पहले के चार आक्रमण—बाबर ने अपने प्रथम आक्रमण (1519 ई.) में सीमा के निकट के दो स्थानों—बाजौर और भेरा—को जीता और वापस चला गया। उसके वापस जाते ही ये स्थान मुगलों के हाथ से निकल गये। उसका दूसरा आक्रमण सितम्बर 1519 ई. में हुआ। परन्तु इस बार वह पेशावर से वापस चला गया। वास्तव में, बाबर के इन आक्रमणों का प्रमुख उद्देश्य भारत में प्रवेश करना न था वरन् युसुफजाही-विद्रोहों को दबाना और भारत की सीमा का ज्ञान प्राप्त करना था। बाबर ने तीसरा आक्रमण 1520 ई. में किया। इस बार बाजौर और भेरा के अतिरिक्त उसने पंजाब में प्रवेश करके सियालकोट और सैयदपुर पर भी अधिकार किया। बाबर का चौथा आक्रमण 1524 ई. में हुआ। इस बार उसने पंजाब में प्रवेश किया। लाहौर और दिपालपुर को जीतकर उसने पंजाब के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया। वह दौलतखाँ लोदी से असन्तुष्ट हो गया था। इस कारण उसने उसके लड़के दिलावरखाँ और इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी को संरक्षण दिया और उन्हीं को पंजाब की देखरेख का उत्तरदायित्व सौंपकर वह वापस चला गया। उसके वापस जाते ही दौलतखाँ लोदी ने दिलावरखाँ और आलमखाँ को मार भगाया तथा पंजाब के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया।

2. पाँचवाँ आक्रमण और पानीपत का प्रथम युद्ध (21 अप्रैल, 1526 ई.)—नवम्बर 1525 ई. में बाबर भारत को जीतने के उद्देश्य से काबुल से चला। दौलतखाँ को शीघ्र ही आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसे बन्दी बनाकर भेरा नगर भेज दिया गया परन्तु मार्ग में उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु हो गयी। आलमखाँ भी शीघ्र बाबर की शरण में चला गया। बाबर दिल्ली की ओर बढ़ा। इब्राहीम लोदी उसका मुकाबला करने के लिए पंजाब की ओर बढ़ा। दोनों की सेनाएँ पानीपत के मैदान में एक-दूसरे के सम्मुख पहुँच गयीं। बाबर ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि उसने केवल 12,000 सैनिकों की सहायता से इब्राहीम लोदी को परास्त किया। इतिहासकार रशब्रुक विलियम्स ने उसकी सेना की संख्या को केवल 8,000 बताया है। परन्तु सम्भवतया बाबर की सेना की यह संख्या उस समय होगी जबकि वह भारत पर आक्रमण करने के लिए चला था। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि पंजाब को जीतने के बाद बाबर की सेना की संख्या में वृद्धि हो गयी थी और युद्ध के अवसर पर उसकी संख्या 25,000 के लगभग होगी। उसी प्रकार इब्राहीम लोदी की सेना में 1,000 हाथी और 1,00,000 सैनिक बताये जाते हैं परन्तु, सम्भवतया, उसके सैनिकों की वास्तविक संख्या लगभग 40,000 होगी। दोनों पक्षों की वास्तविक संख्या कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इब्राहीम लोदी की सेना की संख्या बाबर की सेना की संख्या से अधिक थी। एक सप्ताह तक दोनों पक्षों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। उसके बाद छुटपुट युद्ध भी हुए। परन्तु वास्तविक युद्ध का आरम्भ 21 अप्रैल, 1526 ई. को प्रातःकाल से हुआ और दोपहर तक उसका निर्णय हो गया। युद्ध में बाबर की विजय हुई, इब्राहीम लोदी मारा गया और अफगान सेना नष्ट हो गयी।

3. बाबर की सफलता के कारण—बाबर का तोपखाना, तोपों को सजाने में उस्मानी विधि का प्रयोग, उसकी युद्ध-नीति, मुख्यतया 'तुलगमा युद्ध-नीति' जो उसने उजबेक से ग्रहण की और उसकी सेनापति की योग्यता उसकी विजय के मुख्य कारण थे। बाबर के पास एक अच्छा तोपखाना और बन्दूकें थीं जबकि इब्राहीम लोदी के पास उनका सर्वथा अभाव था। बाबर ने अपनी सेना की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की थी और अपने तुलगमा-घुड़सवारों का प्रयोग समय पर और ठीक ढंग से किया था, जबकि इब्राहीम लोदी के युद्ध करने का तरीका पुराना था। इब्राहीम लोदी की सेना के हाथी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुए क्योंकि उन्हें तोपों और गोला-बारूद के सामने युद्ध करने की शिक्षा नहीं थी। उनसे घबड़ाकर उन्होंने स्वयं अपनी ही सेना का नाश किया। बाबर के सैनिक इब्राहीम के सैनिकों की तुलना में अधिक अनुशासित और युद्ध-प्रशिक्षित थे। बाबर की सेना और उसके सरदार उचित संगठन, योग्य नेतृत्व और विजय की लालसा के कारण अधिक उत्साहित थे, जबकि इब्राहीम की सेना में एकता और उत्साह का अभाव था। यही नहीं बल्कि उसके अनेक सरदार क्षुब्ध और असन्तोष की भावना से त्रस्त थे। इस कारण व्यक्तिगत साहस और शौर्य के होते हुए भी इब्राहीम के सैनिक बाबर के सैनिकों की तुलना में दुर्बल थे। इब्राहीम एक कुशल सेनापति न था। बाबर ने उसके बारे में लिखा था : "वह एक अनुभवहीन जवान आदमी था जो अपनी गतिविधियों के प्रति लापरवाह था, जो बिना किसी व्यवस्था के आगे बढ़ता था, बिना किसी कारण के रुकता अथवा लौटता था, और जो बिना दूरदर्शिता के लड़ जाता था।" इब्राहीम की तुलना में बाबर एक बहुत योग्य और अनुभवी सेनापति था। विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए उसने न केवल अपने साहस में ही वृद्धि की थी बल्कि अपने युद्ध-कौशल को भी बढ़ाया था। उसके सैनिक उसकी योग्यता और सैन्य-संचालन में विश्वास करते थे।

4. युद्ध के परिणाम—पानीपत के युद्ध ने भारत के भाग्य का तो नहीं किन्तु लोदी-वंश के भाग्य का निर्णय अवश्य कर दिया। अफगानों की शक्ति समाप्त नहीं हुई लेकिन दुर्बल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गयी। युद्ध के पश्चात् बाबर ने दिल्ली तथा आगरा पर ही नहीं बल्कि धीरे-धीरे लोदी-साम्राज्य के सभी भागों पर आक्रमण कर लिया। उसने इस युद्ध की विजय से भारत में मुगल-वंश की नींव डाल दी।

[ब] पानीपत के युद्ध के पश्चात्

पानीपत के युद्ध के पश्चात् बाबर की मुख्य समस्या विजित प्रदेशों को संगठित करने और लोदी-वंश के अधीन अन्य क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने की थी। इब्राहीम लोदी की पराजय के पश्चात् विभिन्न अफगान सरदारों ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। इब्राहीम लोदी का छोटा भाई महमूद लोदी अभी जीवित था और अफगानों एवं राजपूतों की सहायता लेकर मुगल-वंश को भारत से निकालने के लिए प्रयत्नशील था। गुजरात और बंगाल के अफगान-शासक न केवल इन विभिन्न अफगान सरदारों को सहायता ही दे सकते थे बल्कि स्वयं भी दिल्ली को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मेवाड़ का शासक राणा साँगा भी पानीपत के युद्ध के परिणामों के प्रति उदासीन न था और बाबर का विरोध कर सकता था। उत्तर-भारत की साधारण जनता के लिए बाबर आक्रमणकारी था। अपने सम्मान और धन की सुरक्षा के लिए लोगों ने गाँव खाली कर दिये थे और नगरों में अपनी सुरक्षा हेतु जनता ने फाटक बन्द कर लिये थे। सड़कों और रास्तों पर लूटमार होने लगी थी तथा जन-जीवन अशान्त और आरक्षित हो गया था। बाबर ने स्वयं लिखा कि "नागरिक मुगलों से घृणा करते थे, सैनिकों के लिए गल्ला और घोड़ों के लिए खाना उपलब्ध करना सम्भव नहीं था तथा दिल्ली और आगरा के अतिरिक्त सभी स्थानों पर किलेबन्दी कर ली गयी थी तथा आज्ञा मानने के लिए कोई भी तत्पर न था।" बाबर के स्वयं के सैनिक और प्रभावशाली सरदार भी भारत की जलवायु से परेशान होकर काबुल जाने के लिए उत्सुक थे। इस प्रकार, पानीपत के युद्ध ने बाबर की कठिनाइयों को समाप्त न करके वास्तव में संगठन और व्यवस्था की दृष्टि से उन्हें आरम्भ किया था।

बाबर ने भारत में रहने और इन कठिनाइयों का मुकाबला करने का निर्णय किया। उसके इस निर्णय ने उसके सैनिकों एवं सरदारों को प्रभावित किया और उनकी दुविधा समाप्त हो गयी। जनसाधारण में भी मुगलों के प्रति विश्वास बढ़ा। बाबर ने उन सभी अफगान सरदारों को अपनी सेवा में ले लिया जिन्होंने स्वेच्छा से आत्मसमर्पण किया। बाबर के इस व्यवहार से अनेक अफगान सरदारों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बाबर ने विभिन्न प्रदेशों को अपने सरदारों में बाँट दिया और उन्हीं को उन प्रदेशों के शासन का उत्तरदायित्व सौंपा। इससे मुगल-सरदारों को विजय के लिए प्रोत्साहन मिला और उन्होंने विभिन्न प्रदेशों को जीतकर मुगल-राज्य के अधीन किया। बाबर ने अपने पुत्रों और सरदारों में भारत में मिले धन को उदारता से वितरित किया। उसने हुमायूँ को कोहनूर हीरा दिया और अन्य सरदारों को भी उचित इनाम दिये गये। बाबर की इस उदारता के कारण उसे 'कलन्दर' पुकारा गया और उसके सरदार उसे प्रेम और सम्मान से देखने लगे। बाबर के इन प्रयत्नों से उसे सफलता मिली। राज्य में न केवल शान्ति स्थापित हुई बल्कि उसका विस्तार और संगठन भी हुआ। धीरे-धीरे आसपास के सभी अफगान सरदार या तो बाबर के अधीन हो गये या उनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया। शीघ्र ही सम्भल, इटावा, धौलपुर, जौनपुर, रापरी, गाजीपुर, बयाना, ग्वालियर आदि विभिन्न स्थान बाबर के आधिपत्य में चले गये। परन्तु इससे पहले कि बाबर अफगानों की शक्ति को पूरी तरह से कुचल पाता, उसका संघर्ष राजपूतों से हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[स] खानुवा का युद्ध (16 मार्च, 1527 ई.)

राजपूतों के विरुद्ध खानुवा के युद्ध का मुख्य कारण बाबर का भारत में रहने का निश्चय था। राणा साँगा की धारणा थी कि बाबर भी अन्य विदेशी आक्रमणकारियों की भाँति देश को लूटकर वापस चला जायेगा। सम्भवतया, इसी कारण उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता देने का आश्वासन दिया था। परन्तु जब बाबर का भारत में रहने का निश्चय स्पष्ट हो गया तब उसने एक विदेशी की तुलना में स्थानीय अफगानों को अधिक ठीक समझा। इस कारण उसने हसनखाँ मेवाती से बाबर को भारत से बाहर निकालने के लिए सहायता माँगी, महमूद लोदी को दिल्ली का बादशाह स्वीकार किया और आलमखाँ लोदी को अपने यहाँ शरण दी। इसी कारण डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "यह युद्ध मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं का युद्ध न था बल्कि एक विदेशी शत्रु के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न था।" ऐसी स्थिति में बाबर से राजपूतों का युद्ध आवश्यक हो गया। युद्ध के अन्य सभी कारण गौण थे। **बाबर ने राणा साँगा पर यह दोष लगाया कि उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध उसे सहायता नहीं दी और राणा ने बाबर पर यह दोष लगाया कि बाबर ने बयाना, धौलपुर और कालपी पर अवैध अधिकार किया है।**

राजपूतों ने बयाना और आगरा को जीतने के उद्देश्य से आगे बढ़ना आरम्भ किया। हसनखाँ मेवाती और महमूद लोदी भी उनसे आ मिले। बाबर ने, जो उस समय आगरा में था, इस युद्ध के लिए पूर्ण तैयारी की। बाबर के दो अग्रगामी सैनिक-दलों को राजपूतों ने पराजित करके भगा दिया। उन सैनिकों ने राजपूतों की संख्या, शौर्य और साहस के बारे में जो चर्चाएँ कीं उससे मुगल सैनिक पहली बार भयभीत हुए। काबुल के किसी ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि यह युद्ध मुगलों के विपक्ष में जायगा। इस युद्ध में बाबर का मुकाबला भी राणा साँगा से था जिसके बारे में यह विख्यात था कि उसने अपने जीवन में 100 युद्ध लड़े थे और जिसके शरीर पर 80 घावों के चिह्न थे। निस्सन्देह, राणा साँगा बाबर की भाँति ही एक अनुभवी सेनापति था। ये सभी बातें मुगल सेना के नैतिक मनोबल को कम कर रही थीं। ऐसी स्थिति में बाबर ने सेनापति, नेता और मानव-बुद्धि का पारखी होने की सहज-बुद्धि का प्रयोग किया। उसने अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए बहुत ही नाटकीय ढंग से सभी के सम्मुख कभी शराब न पीने की शपथ ली, शराब के प्याले और बर्तन तुड़वा दिये, गजनी से आई हुई शराब में नमक डलवा दिया, बची हुई शराब को जमीन पर उड़ेल दिया, मुसलमानों को 'तमगा' अथवा व्यापारिक-कर से मुक्त कर दिया, अपने सैनिकों के सामने एक जोशीला भाषण दिया, युद्ध के पश्चात् स्वदेश जाने के इच्छुक सैनिकों को वापस जाने देने का आश्वासन दिया और 11 फरवरी, 1527 ई. को 'जिहाद' (इस्लाम की रक्षा के लिए धर्मयुद्ध) घोषित कर दिया। उसके इन कार्यों का उचित एवं अपेक्षित प्रभाव पड़ा। बाबर के सभी सैनिकों और सरदारों ने कुरान पर हाथ रखकर मरते दम तक युद्ध करने की शपथ ली।

16 मार्च, 1527 ई. को फतेहपुर सीकरी से 10 मील दूर खानुवा नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। रशब्रुक विलियम्स का यह कहना निराधार है कि बाबर और राणा साँगा की सेनाओं का अनुपात 1 : 8 का था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार यह अनुपात 1 : 2 का था जो अधिक तर्कसंगत है। बाबर की सेना में लगभग 40,000 सैनिक थे जबकि राणा साँगा के पास लगभग 80,000 सैनिक थे। 16 मार्च को प्रातः 9 बजे युद्ध आरम्भ हुआ और 20 घण्टे तक चलता रहा। राणा साँगा युद्ध में घायल हुआ और युद्ध के बीच में ही उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाना पड़ा। राजपूतों ने मुगल-घुड़सवारों और तोपखाने के आक्रमणों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहस और शौर्य से मुकाबला किया परन्तु अन्त में राजपूत सेना तितर-बितर हो गयी और बाबर की विजय हुई।

एक बार फिर श्रेष्ठ सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्ध-नीति, श्रेष्ठ सैन्य-संचालन, अवसर के अनुकूल साहस और तोपखाने के कारण बाबर की जीत हुई। युद्ध आरम्भ होने के थोड़े समय पश्चात् ही राणा साँगा घायल हो गया और उसे युद्ध स्थल से हटा दिया गया। राणा के स्थान पर झाला अज्जा को राजा का मुकुट पहना दिया गया जिससे सेना का साहस न टूटे। परन्तु यह सूचना सैनिकों से छिपी न रही और उनका मनोबल समाप्त हो गया। राणा के घायल हो जाने के कारण राजपूत सेना को राणा का कुशल नेतृत्व प्राप्त न हो सका। इस प्रकार राणा के घायल हो जाने से राजपूतों के मनोबल की कमी और कुशल नेतृत्व का अभाव भी बाबर की सफलता के सहायक कारण हुए।

यह युद्ध महत्वपूर्ण और निर्णयात्मक हुआ। सैनिक दृष्टि से इस युद्ध ने मुगल शस्त्रों और युद्ध के तरीकों की श्रेष्ठता को सिद्ध कर दिया। राजपूत शौर्य और साहस में मुगलों से कम न थे। उनका अनुशासन और संगठन भी ठीक था। उनमें से कोई भी देशद्रोही या शत्रु का गुप्तचर न था। फिर भी उनकी पराजय हुई। राजनीतिक दृष्टि से इस युद्ध से राजपूतों की शक्ति दुर्बल हो गयी। बाबर ने युद्ध में मारे गये राजपूतों के सिरों की एक मीनार खड़ी की और 'गाजी' (काफिरों को मारने वाला) की उपाधि ग्रहण की। स्वयं राणा संग्रामसिंह बहुत बुरी तरह से घायल हुआ और जनवरी 1528 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। मेवाड़ का वह गौरव नष्ट हो गया जिसने राजपूतों को एकता प्रदान की थी। इसके पश्चात् राजपूत कभी भी संयुक्त न हो सके और उनका दिल्ली पर आधिपत्य करने का स्वप्न नष्ट हो गया। राजपूतों की शक्ति क्षीण हो जाने से अफगानों की मुगलों से संघर्ष करने की शक्ति दुर्बल हो गयी। हसनखाँ मेवाती इस युद्ध में मारा गया और आलमखाँ लोदी तथा महमूद लोदी भाग गये। मुगलों और बाबर के लिए यह युद्ध निर्णयात्मक था। मुगल-वंश की स्थिति भारत में दृढ़ हो गयी तथा बाबर की शक्ति का केन्द्र काबुल से हटकर हिन्दुस्तान हो गया। बाबर का घुमक्कड़ और अस्थिर जीवन समाप्त हो गया।

[द] चन्देरी की विजय (1528 ई.)

खानुवा के युद्ध के पश्चात् बाबर की दूसरी मुख्य विजय चन्देरी की थी। चन्देरी व्यापार और राजनीति दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण था। वह मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर था तथा मालवा और उत्तर-भारत की मुख्य सड़क वहाँ से गुजरती थी। चन्देरी पहले मालवा के अधीन था परन्तु बाद में वहाँ के सूबेदार मेदिनीराय ने राणा साँगा की अधीनता को स्वीकार कर लिया था और उसकी ओर से खानुवा के युद्ध में भाग लिया था। बाबर ने उस शक्तिशाली राजपूत सरदार को स्वतन्त्र छोड़ना उपयुक्त नहीं समझा। चन्देरी को जीतने से न केवल राजपूत-शक्ति अधिक दुर्बल होती बल्कि बाबर को मालवा को जीतने में भी सुविधा हो सकती थी। बाबर ने शमसाबाद के बदले में मेदिनीराय से चन्देरी माँगा। उसके इंकार करने पर उसने 1528 ई. में उस पर आक्रमण किया। 29 जनवरी, 1528 ई. को प्रायः एक घण्टे के युद्ध के पश्चात् किले पर अधिकार कर लिया गया। मेदिनीराय युद्ध में मारा गया और हजारों की संख्या में राजपूत कत्ल कर दिये गये। मेदिनीराय की एक लड़की कामरान को और दूसरी लड़की हुमायूँ को भेंट-स्वरूप दे दी गयी। इस युद्ध के अवसर पर भी बाबर ने 'जिहाद' घोषित किया और युद्ध के पश्चात् राजपूतों के सिरों की मीनार बनवाई। चन्देरी को मालवा-राजवंश के एक वंशज अहमदशाह को दे दिया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[इ] पुनः अफगानों से घाघरा का युद्ध (1529 ई.)

अफगान उस समय तक पूर्व में एकत्रित होकर कन्नौज तक बढ़ आये थे। अफगानों ने महमूद लोदी को पूर्व में बुला लिया था और बिहार उनके अधिकार में था। सम्भवतया, बंगाल का अफगान शासक नुसरतशाह उनकी सहायता कर रहा था। बाबर ने अफगानों की शक्ति को समाप्त करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ना आरम्भ किया। अफगानों ने सरवार, बनारस और चन्देरी इन तीनों तरफ से आक्रमण कर रखा था परन्तु जब उन्हें बाबर के आगमन की सूचना मिली तब वे भागने लगे। उनमें से महमूदखाँ लोहानी, जलाल खाँ, शेरखाँ सूर और फरीदखाँ जैसे सरदारों ने बाबर को आत्मसमर्पण के पत्र लिखे। परन्तु बिहार में अफगानों का व्यवहार अभी उद्दण्डता का था और वे नुसरतशाह से बातचीत कर रहे थे। इस कारण बाबर आगे बढ़ता गया। बाबर बंगाल की राजनीति में बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। उसने पत्र-व्यवहार के द्वारा नुसरतशाह से समझौता करने का प्रयत्न किया जिससे वह महमूद लोदी और उसके समर्थकों की सहायता न करे। परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में, 6 मई, 1529 ई. को घाघरा के तट पर अफगानों से उसका युद्ध हुआ। बाबर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अनेक अफगान सरदार उसकी शरण में आ गये। महमूद लोदी बंगाल भाग गया। बिहार का कुछ भाग मुहम्मदखाँ लोहानी को और अधिकांश भाग जलालुद्दीन को दे दिया गया। केवल कुछ भाग बाबर ने अपने अधीन रखा। शेरखाँ सूर को माफ कर दिया गया और जलालुद्दीन ने उसे अपना मन्त्री बनाना स्वीकार कर लिया। बंगाल के शासक नुसरतशाह ने बाबर से सन्धि कर ली जिसके द्वारा दोनों ने एक-दूसरे की सम्प्रभुता तथा सीमाओं को स्वीकार कर लिया और नुसरतशाह ने यह आश्वासन दिया कि वह बाबर के शत्रुओं को अपने यहाँ शरण नहीं देगा।

[ई] अन्तिम दिन और मृत्यु

घाघरा का युद्ध बाबर का अन्तिम महत्वपूर्ण युद्ध था। तीन बड़े युद्धों को जीत कर बाबर ने भारत में सिन्धु नदी से लेकर बिहार तक और हिमालय से लेकर ग्वालियर और चन्देरी तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था। उत्तर-भारत में मुगल-शक्ति को चुनौती देने वाली कोई शक्ति नहीं रह गयी थी। इस प्रकार मुगल-राज्य भारत में स्थापित हो चुका था।

भारत में आकर भी बाबर ने मध्य एशिया का ध्यान नहीं छोड़ा था। अपने वापस जाने वाले सैनिकों और सरदारों के साथ उसने 1527 ई. में हुमायूँ को बदख्शां भेजा था। हुमायूँ को हिसार, हिरात और समरकन्द को जीतने के आदेश दिये गये थे। ये प्रदेश उजबेगों के हाथों में थे। सितम्बर, 1528 ई. में ईरान के शाह तहमास्प ने उजबेगों को बहुत बुरी तरह परास्त किया जिससे उजबेग शक्ति को धक्का लगा। परन्तु तब भी हुमायूँ को उजबेगों के विरुद्ध कोई विशेष सहायता न मिली। वह उजबेगों से एक अस्थायी सन्धि करने में ही सफल हो सका। बाबर के अन्तिम समय तक मुगल मध्य एशिया में सफलता पाने में असमर्थ रहे।

परन्तु बाबर का अन्त समय निकट आ गया था। उसने हुमायूँ को सम्भल की जागीर प्रदान की थी। हुमायूँ वहाँ बीमार हो गया और उसे आगरा लाया गया। यह कहानी कि बाबर ने अपनी जिन्दगी के बदले में हुमायूँ की जिन्दगी ईश्वर से माँगी, अब इतिहासकारों के द्वारा स्वीकार नहीं की जाती। डॉ. एस. आर. शर्मा की नवीन खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि हुमायूँ की बीमारी के ठीक हो जाने के छः माह पश्चात् बाबर बीमार हुआ। बाबर की बीमारी का हुमायूँ की बीमारी से कोई सम्बन्ध न था और बाबर की मृत्यु अपनी स्वयं की बीमारी से हुई थी। अधिकांश इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं। डा. आर. पी. त्रिपाठी ने भी बाबर की बीमारी और मृत्यु का मुख्य कारण उसके व्यस्त जीवन, भारत की गर्म जलवायु, एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्यन्त्र द्वारा इब्राहीम लोदी की माँ के द्वारा उसे दिलवाया गया जहर (जिसे वह झेल गया था) तथा शराब और अन्य नशीली चीजों का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग बताया है। 26 दिसम्बर, 1530 ई. को बाबर की मृत्यु हो गयी। अपने मरने से पहले उसने हुमायूँ को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके शव को पहले आगरा के आरामबाग में परन्तु बाद में उसे काबुल में उसी के द्वारा चुने गये स्थान पर दफना दिया गया।

[4]

बाबर का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान

(भारत में मुगल-वंश का संस्थापक)

1. चरित्र—तत्कालीन और आधुनिक सभी यूरोपियन एवं भारतीय इतिहासकारों ने बाबर के चरित्र की अत्यधिक प्रशंसा की है। 'तारीखे-रशीदी' के लेखक मिर्जा हैदर ने बाबर को "अनेक गुणों और अनगिनत विशेषताओं से परिपूर्ण, जिनमें बहादुरी और मानवता श्रेष्ठ थी" बताया। बाबर की लड़की गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' में बाबर की इसी प्रकार से प्रशंसा की। लेनपूल ने बाबर के व्यक्तित्व को "पूर्व के इतिहास में सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तित्व" बताया। **व्यक्ति के रूप में बाबर का चरित्र सराहनीय था।** शारीरिक दृष्टि से वह बहुत बलवान था। वह अपनी दोनों बगलों में दो आदमियों को दबाकर सरलता से किले की दीवार पर दौड़ सकता था। उसने भारत की सभी नदियों को तैरकर पार किया था। वह निरन्तर 80 मील तक घोड़े की पीठ पर सफर कर लेता था। अत्यधिक शराब और अन्य मादक-द्रव्यों का प्रयोग करते हुए भी उसके शरीर ने अन्त समय तक उसका साथ दिया था। इब्राहीम लोदी की माँ के द्वारा दिये गये जहर को वह झेल गया था। वह आज्ञाकारी पुत्र, योग्य एवं प्रिय पिता, अच्छा सम्बन्धी, वफादार मित्र, स्नेही पति, कर्तव्यपरायण मनुष्य और सुशिक्षित व्यक्ति था। अपने पिता, माँ, नानी, दादी आदि सभी का उसने सम्मान किया था और उनको सर्वदा प्रेम और सम्मान से याद करता था। उसने अपने बच्चों की शिक्षा और योग्यता को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न किया था। उसने हुमायूँ को सलाह दी थी कि "संसार उसका है जो परिश्रम करता है। किसी भी आपत्ति का मुकाबला करने से मत चूकना। परिश्रमहीनता और आराम बादशाह के लिए हानिकारक हैं।" उसे अपने सभी बच्चों से प्रेम था। अपनी मृत्यु के अवसर पर उसने हुमायूँ से कहा था : "चाहे तुम्हारे भाई दोषी ही हों परन्तु उनके विरुद्ध कुछ न करना।" उसने सर्वदा अपने भाई और रिश्तेदारों की सहायता की। वह अपने मित्रों के साथ प्रत्येक कठिनाई और हर्ष में साझीदार हुआ करता था। मुसलमान शासकों की परम्परा के अनुसार कई विवाह करते हुए भी उसने अपनी प्रत्येक पत्नी से प्यार किया था। वह बेहद शराब पीता था तथा अन्य मादक-द्रव्यों का भी प्रयोग करता था परन्तु वह नशे का गुलाम कभी नहीं बना। वह अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के प्रति पूर्णतः जाग्रत था। उसने अपने व्यक्तिगत दोषों को उनमें कभी भी हस्तक्षेप नहीं करने दिया था। उदारता, प्रेम, साहस, बहादुरी, सहानुभूति, दया और सद्व्यवहार के गुण बाबर में थे। बाबर मनुष्य-स्वभाव और परिस्थितियों को समझने वाला तथा विभिन्न भाषाओं और ज्ञान के अध्ययन का शौकीन एक सुसंस्कृत व्यक्ति था। बाबर को बगीचे लगाने और इमारतें बनवाने का शौक था और वह स्वयं उनकी देखभाल करता था। उसे गाने का भी शौक था।

धार्मिक दृष्टि से बाबर सुन्नी मुसलमान था और ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। उसने अपनी प्रत्येक सफलता का श्रेय ईश्वर को दिया था। वह कहा करता था : "ईश्वर की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा के बिना कुछ नहीं होता। उसकी दया पर निर्भर करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।" परन्तु बाबर में धार्मिक असहनशीलता न थी। उसने ईरान के शिया बादशाह शाह इस्माइल से जो सन्धि की थी उसकी एक शर्त यह भी थी कि वह शिया मत का अपने राज्य में प्रसार करेगा। उसके दरबार में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान न था। निस्सन्देह, भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। उसने राणा साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' की घोषणा की, युद्धों के पश्चात् 'गाजी' की उपाधि ग्रहण की, राजपूतों के सिरों की मीनारें खड़ी कीं, मुसलमानों को 'तमगा' नामक कर से मुक्त किया और अयोध्या में एक ऐसे स्थान पर मस्जिद बनवायी जिसे श्री रामचन्द्र का जन्म-स्थान मानकर हिन्दू पूजते थे। भारत में बाबर की इस नीति के कारण एक विद्वान ने लिखा है : "बाबर का चरित्र इस्लाम की सभ्यता के एकाकीपन की भावना से पूर्ण था।" परन्तु भारत में बाबर की इस नीति का मूल उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक था। बाबर ने उपर्युक्त कार्य कुछ विशेष अवसरों और मुख्यतया युद्धों के अवसर पर किये थे। शासन की ओर से भारतीय जनता के प्रति धार्मिक कट्टरता की कोई नीति नहीं अपनायी गयी थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा न था।" डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उसने धर्म के आधार पर कभी भी हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किया हो।" उसके कार्यों पर दृष्टिपात करते हुए डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "निकट और मध्य-पूर्व में जो कुछ शियाओं और सुन्नियों के बीच हुआ तथा जो पश्चिमी देशों में हुआ, उसको तुलना में ये कार्य बहुत साधारण थे।"—इस कारण स्वीकार किया जाता है कि बाबर व्यक्तिगत दृष्टि से धार्मिक था किन्तु कट्टर नहीं था और शासन की दृष्टि से वह धर्मान्ध न था।

बाबर एक विद्वान शासक था। निस्सन्देह, बाबर एक जन्मजात सैनिक था और इतिहास में उसका स्थान मुख्यतया उसकी भारत की दिजय के कारण है। परन्तु यदि बाबर ने भारत को न जीता होता तो भी एक विद्वान के रूप में उसे सर्वदा याद किया जाता। 11 वर्ष की अल्पायु में उसने शासन का उत्तरदायित्व सँभाला और उसके पश्चात् उसका जीवन निरन्तर युद्धों, संकटों एवं संघर्षों का रहा। परन्तु तब भी जो योग्यता उसने शिक्षा और ज्ञान की दृष्टि से प्राप्त की, वह अद्वितीय थी। उसे पर्शियन और अरबी भाषा का ज्ञान था और वह तुर्की भाषा का विद्वान था। गद्य में उसकी तुलना तत्कालीन किसी भी व्यक्ति से नहीं की जा सकती। वह उनमें सर्वश्रेष्ठ था। तुर्की भाषा में लिखी हुई उसकी 'आत्मकथा' साहित्य और इतिहास दोनों ही दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। बैवरिज ने उसके बारे में लिखा है : "बेशकीमती एक ऐसा संकलन जो हर युग के लिए है।" भाषा और तथ्यों का वर्णन दोनों ही इसमें श्रेष्ठ हैं। बाबर को जो शौक, ज्ञान और सहजज्ञान मनुष्यों, परिस्थितियों और प्रकृति के बारे में था, उस सभी का वर्णन उसने इसमें किया है। वह सभी कुछ इतना सत्य, स्पष्ट, बुद्धिमत्तापूर्ण और रोचक है कि 'तुज्के-बाबरी' (बाबरनामा) संसार की श्रेष्ठतम आत्मकथाओं में स्थान रखती है। तुर्की पद्य की रचना में तत्कालीन विद्वानों में बाबर का स्थान केवल मीरअली शेरबेग के पश्चात् माना गया है। तत्कालीन लेखक और बाबर के एक सम्बन्धी, मिर्जा हैदर दगलात ने लिखा था : "तुर्की-रचना में केवल मीरअली शेरबेग ही उससे बढ़कर था।" पद्य की रचनाओं में उसके द्वारा किया गया संकलन 'दीवान' था जो तुर्की पद्य में श्रेष्ठ स्थान रखता है। पद्य में उसने एक नवीन शैली में 'मुबइयान' को लिखा जो मुस्लिम-कानून की पुस्तक है। उसने ख्वाजा उबैदुल्ला द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'रिसाला-ए-वालीदिया' को तुर्की पद्य में लिखा था। न्याय पर भी उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसे सभी ने श्रेष्ठ स्वीकार किया था। उसकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक रचना 'रिसाल-ए-उसज' थी जिसके लिखने की शैली को नवीन माना गया था और जिसे 'खत-ए-बाबरी' पुकारा गया। बाबर के ये सभी कार्य श्रेष्ठ थे। भाषा और शैली की दृष्टि से ही नहीं बल्कि ज्ञान की दृष्टि से भी इनको श्रेष्ठ माना गया है। इन सभी से बाबर की प्रतिभा का पता लगता है जो उसने भूगोल, प्रकृति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान, जीव-विज्ञान तथा मनुष्यों की प्रकृति और परिस्थितियों को समझने आदि में प्राप्त की थी। निस्सन्देह, बाबर का स्थान एक विद्वान की दृष्टि से श्रेष्ठ था। लेनपूल ने लिखा है : "वह भाग्यशाली सैनिक था परन्तु एक श्रेष्ठ साहित्यिक रुचि और अनुभवी एवं आलोचनात्मक सहज-बुद्धि वाले व्यक्ति की दृष्टि से भी बाबर कम न था। उसके युद्ध और आमोद-प्रमोद के उत्सव पद्य की भावना से मानवीय बने हुए थे।"

एक सैनिक और सेनापति के रूप में बाबर प्रशंसनीय था। बाबर एक साहसी और कुशल सैनिक था। अपने प्रारम्भिक जीवन में उसने एक सैनिक की भाँति अपने साथियों के कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध किये थे। उसमें असीम शारीरिक बल था। वह खतरा उठाने से कभी भयभीत नहीं होता था और घुड़सवारी करने तथा हथियार चलाने में कुशल था। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "वह एक प्रशंसनीय घुड़सवार, अच्छा निशानची, कुशल तलवारबाज और जबर्दस्त शिकारी था।" इस प्रकार, बाबर एक जन्मजात सैनिक था। सेनापति की योग्यता को बाबर ने अपने संघर्षमय जीवन के अनुभव से प्राप्त किया। बाबर अपने प्रारम्भिक जीवन में अनेक बार पराजित हुआ। इस कारण यह कहना भूल होगी कि वह चंगेजखाँ अथवा तैमूर जैसा जन्मजात सेनापति था। परन्तु बाबर में तुर्कों की शक्ति, मंगोलों की कट्टरता और ईरानियों का उद्वेग एवं साहस सम्मिलित था। उसने निरन्तर युद्ध किये और परास्त भी हुआ परन्तु उसने कभी साहस नहीं छोड़ा। बाबर ने अपने युद्धों और पराजयों से लाभ उठाया। उसने उजबेगों से 'तुलगमा' युद्ध-नीति सीखी, मंगोलों और अफगानों से शत्रु को लालच देकर फँसाना और फिर उस पर प्रत्येक ओर से आक्रमण करना सीखा, तुर्कों से तीव्रगामी घुड़सवार-सेना का सफल प्रयोग सीखा, ईरानियों से बन्दूकों का प्रयोग सीखा और उस्ताद अली तथा मुस्तफा नामक दो तुर्की अधिकारियों की सेवा प्राप्त करके न केवल तोपखाने का प्रयोग सीखा बल्कि स्वयं एक बहुत अच्छा तोपखाना तैयार कराया। उसने विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए न केवल उनके अस्त्र-शस्त्रों को चलाना सीखा बल्कि उनके सैन्य-संचालन को भी समझा। उसके इन अनुभवों ने उसे एक ऐसी युद्ध-नीति और विभिन्न हथियारों के ऐसे सफल प्रयोग को सिखा दिया जिसके कारण वह बाद के समय में एक सफल सेनापति बन गया। भारत में उसकी सभी विजयों का कारण यही था। इसके अतिरिक्त बाबर को अपने साथियों में विश्वास उत्पन्न करना आता था। वह उनकी वफादारी प्राप्त करना जानता था और उन्हें किसी भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकता था। उसमें नेतृत्व करने का स्वाभाविक गुण था। वह अपनी सेना से बड़ी सेनाओं का मुकाबला करने में डरता न था। वह अपने शत्रु की शक्ति और दुर्बलता दोनों को ही ठीक प्रकार से आँकने का प्रयत्न करता था और उसका सदुपयोग अपने हित के लिए कर पाता था। अपने गुणों के कारण वह अपने अमीरों और सैनिकों में प्रिय था। परन्तु वह सम्मान प्राप्त करना भी जानता था। अनुशासनहीनता उसे पसन्द न थी और उसकी अवहेलना होने पर वह अपने सैनिकों को कठोर दण्ड देता था। उसने भेरू में लूटमार करने वाले सैनिकों को कठोर दण्ड दिया था। उसने स्वयं लिखा : "उनमें से कुछ को मैंने मृत्युदण्ड दिया और कुछ अन्य की नाक कटवाकर उसी हालत में उनको खेमों में घुमाया।" इस कारण बाबर की सेना में न तो अनुशासनहीनता थी और न ही भगोड़ापन। इस प्रकार, बाबर एक योग्य सैनिक और सफल सेनापति था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ के रूप में बाबर पर्याप्त सफल था। बाबर ने सिंहासन पर बैठते ही इन गुणों का परिचय दिया था। अपनी दुर्बल स्थिति को देखकर उसने अपने मामाओं से समझौते के प्रस्ताव किये थे। ईरान के शिया बादशाह से सन्धि करना और समरकन्द को जीतने (तीसरी बार) से पहले ही ईरानी सेना को वापस भेज देना इसके प्रमाण थे। परन्तु एक राजनीतिज्ञ और कूटनीति की दृष्टि से उसका प्रमुख कार्य भारत में शुरू हुआ। जिस प्रकार उसने भारतीय और अफगान अमीरों में सन्तुलन बनाकर रखा और जिस प्रकार उसने बिहार और बंगाल के शासकों से व्यवहार किया, वह सफल था। अनेक अफगान सरदार उसकी कूटनीति के कारण उसके साथ मिल गये। कम से कम छः हिन्दू राजाओं ने भी स्वेच्छा से उसके आधिपत्य को स्वीकार किया था। बाबर ने विरोधी अफगानों में फूट डालने में भी सफलता प्राप्त की थी। डेनीसन रॉस ने लिखा : "जिस नीति से उसने सुल्तान इब्राहीम के विद्रोही सामन्तों को आपस में भिड़ाया, वह मैकियावेली की योग्यता से कम न थी।"

बाबर एक अच्छा शासन-प्रबन्धक नहीं था। यह केवल इसी से स्पष्ट नहीं होता कि उसने भारत के शासन-प्रबन्ध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किये बल्कि काबुल के शासक के रूप में भी वह सफल नहीं हुआ था। भारत में उसने अपने साम्राज्य को सरदारों और अमीरों में बाँट दिया था और उन्हीं के द्वारा शासन चलाया था। एक प्रकार से यह एक ऐसी सैनिक शासन-व्यवस्था थी जिसमें प्रत्येक अमीर अपने-अपने क्षेत्र में शासन करने के लिए स्वतन्त्र था। समान शासन-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, कर-व्यवस्था और समुचित न्याय-व्यवस्था करने का प्रयत्न बाबर ने नहीं किया। शक्तिशाली बाबर का व्यक्तित्व ही उस साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने वाला था। धन सम्बन्धी मामलों में भी बाबर लापरवाह था। उसने दिल्ली, आगरा और ग्वालियर में प्राप्त हुए खजानों को अपने साथियों में बाँट दिया और बाद में भी राज्य की आय के साधनों में वृद्धि करने का उचित प्रबन्ध नहीं किया। इस कारण उसे अपने बड़े-बड़े अमीरों से उनकी आय का 30% भाग लेना पड़ा। उस समय तो इससे कार्य चल गया परन्तु उसके पश्चात् हुमायूँ के समय में राज्य को निरन्तर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसी कारण डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है : "हुमायूँ को बाबर की विरासत बहुत ही अस्थिर प्रकृति की थी।"

परन्तु शासक के रूप में बाबर सफल था। इस दृष्टि से बाबर का एक प्रमुख कार्य 'बादशाह' के सम्मान में वृद्धि करना था। बाबर ने अपने को 'सुल्तान' के स्थान पर 'बादशाह' पुकारा था। इस विषय में उसका विचार हिन्दू-राजाओं के निकट था और उन्हीं की भाँति वह बादशाह को ईश्वर का अंश मानता था। बाबर ने इस विश्वास के आधार पर बादशाह के सम्मान में वृद्धि की। सल्तनत-युग के बलबन, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों से प्रजा प्रेम नहीं करती थी बल्कि उनसे भयभीत थी, फीरोज तुगलक से प्रजा भयभीत नहीं थी बल्कि उदासीन थी, फीरोज तुगलक के पश्चात् बादशाह के सम्मान में बहुत कमी हो गयी थी और अफगान अमीर अपने सुल्तान को कोई भी विशेष सम्मान देने को तैयार न थे। बाबर ने बादशाहत को ऐसी स्थिति से निकालकर उसे श्रेष्ठ बनाया। बाबर की प्रजा उससे प्रेम करती थी और डरती भी थी। एक शासक के रूप में उसने प्रजा की भलाई का भी प्रयत्न किया। बदख्शां से बिहार तक फैले हुए अपने विस्तृत साम्राज्य में उसने शान्ति-व्यवस्था स्थापित की, सड़कों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया, सरायें बनवायीं, डाक-व्यवस्था का प्रबन्ध किया, चोर-डाकुओं से अपनी प्रजा के जीवन और सम्मान की सुरक्षा की, स्थानीय अधिकारियों को आदेश दिये कि वह प्रजा के साथ अत्याचार न करें, और इस प्रकार उसने अपनी प्रजा को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्तरिक अशान्ति और विदेशी आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने में सफलता पायी। उसने सड़कों को नापने के लिए 'गज-ए-बाबरी' का प्रयोग कराया जो जहाँगीर के समय तक प्रयोग में आता रहा। वह प्रजा की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता था। राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होने के नाते वह प्रजा का रक्षक था। उसकी प्रजा न्याय और सहानुभूति के लिए उसी की ओर देखती थी। स्वयं शासन न करते हुए भी बाबर यह देखभाल करता था कि शासन करने वाले ठीक प्रकार से शासन करें। उसने आगरा, फतेहपुर सीकरी, बयाना, धौलपुर आदि में अनेक इमारतें बनवायीं, उत्तम कोटि के फलों के अनेक बाग लगवाये तथा अनेक झरने और फव्वारे बनवाये। उसका दरबार अनुशासन का ही नहीं बल्कि संस्कृति का भी केन्द्र-स्थल था। एक शासक के रूप में बाबर ने न केवल अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखा बल्कि उसकी पूर्ति में सफलता पायी और प्रजा का प्रेम प्राप्त किया।

2. मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (भारत में मुगल-वंश का संस्थापक)— इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "बाबर अपने युग का एशिया का सबसे शानदार बादशाह था और वह किसी भी युग के और किसी भी देश के शासकों के बीच एक सम्मानित स्थान प्राप्त करने योग्य था।" इतिहासकार हैवेल ने उसे "इस्लाम के इतिहास का सबसे आकर्षक व्यक्ति" कहा और उसकी 'आत्मकथा' के अनुवादक इर्स्किन ने लिखा है : "एशिया के बादशाहों में, सम्भवतया, हम एक भी ऐसा नहीं पा सकते जिसे हम न्यायपूर्वक उसके समान कह सकें।" इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न प्रकार से बाबर की प्रशंसा की है। बाबर का चरित्र और व्यक्तित्व, निस्सन्देह, इस प्रशंसा के योग्य है। उसका प्रारम्भिक जीवन और उसके संघर्ष की कहानी भी इतनी ही प्रशंसनीय और रोचक है। परन्तु, सम्भवतया, बाबर को कोई अधिक याद न करता यदि बाबर ने भारत में सफलता प्राप्त न की होती। मध्य-एशिया में उसका जीवन सफल न था और अफगानिस्तान की विजय कोई महत्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती थी। इस कारण **इतिहास में बाबर का महत्वपूर्ण स्थान उसकी भारत की विजय के कारण है।**

16वीं सदी में जबकि सम्पूर्ण संसार में राजतन्त्र ही एकमात्र मान्य शासन-व्यवस्था थी, भारत एक शक्तिशाली राजतन्त्र के अन्तर्गत ही पनप सकता था। बाबर के भारत में आने से पहले भारत की राजनीति ऐसी न थी। बाबर ने अफगानों और राजपूतों की शक्ति को तोड़कर एक नवीन साम्राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। बाबर ने तीन महत्वपूर्ण युद्धों (पानीपत, खानुवा और घाघरा) को जीतकर भारत में **मुगल-वंश के साम्राज्य की नींव डाली।** बाबर मुगल-साम्राज्य को दृढ़ नहीं कर सका था, इस कारण यह कहा जाता है कि भारत में मुगल-राज्य का वास्तविक संस्थापक बाबर न होकर अकबर था जिसने इस वंश के राज्य को पुनःस्थापित किया, विस्तृत किया और उसे दृढ़ बनाया। निस्सन्देह, अकबर को इन सभी बातों का श्रेय है और मुगल बादशाहों में वह सबसे महान माना गया है। परन्तु बाबर मुगल बादशाहों में प्रथम बादशाह था जिसने भारत पर आक्रमण किया, दिल्ली और आगरा पर अधिकार किया, अफगानों की एकता और शक्ति के आधार को नष्ट किया तथा राजपूतों की शक्ति को दुर्बल किया। इस कारण भारत में मुगल-वंश की नींव डालने वाला बाबर था और इसी रूप में वह मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। डॉ. एस. आर. शर्मा ने बाबर की तुलना इंगलैण्ड के ट्यूडर-वंश के शासक हेनरी सप्तम से की है। उनके कथनानुसार हेनरी सप्तम का इंगलैण्ड में और बाबर का भारत में प्रारम्भिक कार्य एक-दूसरे से पृथक न था। दोनों को अपने नवीन प्राप्त किये हुए सिंहासनों पर अपने को जमाना था और दोनों को हटायी गयी शक्तियों के वैध अथवा अवैध उत्तराधिकारियों के विरुद्ध संघर्ष करना था। संक्षेप में, दोनों ने अपने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवीन प्रदेशों में एक शक्तिशाली लेकिन उदार राजतन्त्र को स्थापित करने का लक्ष्य बनाया। उन्हीं के शब्दों में, "सन् 1526 ई. में जहीरुद्दीन बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रथम युद्ध में परास्त करके भारत में एक नवीन युग को और दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन वंश को उसी प्रकार आरम्भ किया जिस प्रकार सिर्फ चालीस वर्ष पहले (1485 ई.) बोसवर्थ के मैदान के युद्ध को जीतकर हेनरी सप्तम ने इंगलैण्ड में किया था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने बाबर के बारे में कुछ और भी लिखा है। उसके अनुसार, "मुगल-साम्राज्य का वैभव उसकी सैनिक-शक्ति पर ही निर्भर न था बल्कि उसकी गैर-मुस्लिमों, मुख्यतया राजपूतों के प्रति उदार धार्मिक नीति और सांस्कृतिक पक्ष पर बल देने पर निर्भर था। अकबर की महानता को स्वीकार करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उसकी इस नीति का बीज उसके महान बाबा (बाबर) ने डाला था।"

विश्व-इतिहास में बाबर का स्थान एक विद्वान की दृष्टि से भी है। उसकी रचनाएँ, मुख्यतया उसकी 'आत्मकथा' विश्व की श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक स्वीकार की गयी है। यह विश्वास किया जा सकता है कि यदि बाबर ने किसी अन्य प्रकार से सफलता न भी प्राप्त की होती, तो भी विश्व उसे उसकी आत्मकथा के कारण सर्वदा याद रखता। इस कारण इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "बाबर के राजवंश का वैभव और शक्ति तो समाप्त हो गयी किन्तु समय को चुनौती देती हुई उसकी साहित्यिक कृति—उसके जीवन का विवरण—अभी तक विद्यमान है।"

[5]

बाबर की आत्मकथा और उसका भारत-विवरण

"899वें वर्ष रमजान के महीने में 12 वर्ष की आयु में मैं फरगना के देश में शासक बना।" इन शब्दों से बाबर की आत्मकथा आरम्भ होती है जो साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टि से संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं में स्थान रखती है। 'तुजुक-ए-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' को बाबर ने अपनी मातृभाषा तुर्की में लिखा था। पायन्दाखाँ और अब्दुर्रहीम खानखाना ने फारसी में इसका अनुवाद किया। कई यूरोपीय भाषाओं, मुख्यतया फ्रेंच और अंग्रेजी में भी इसका अनुवाद हो चुका है। इनमें सबसे श्रेष्ठ अनुवाद श्रीमती बेवरिज का माना गया है जो मूल तुर्की भाषा से किया गया है। बाबर कुछ समय की घटनाओं का विवरण नहीं लिख सका था। इस कारण 1508-19, 1520-25 और 1529-30 तक की घटनाओं का विवरण इसमें प्राप्त नहीं होता।

बाबर के जीवन की घटनाओं को जानने का प्रमुख साधन उसकी स्वयं की आत्मकथा है। उसकी बुद्धि, योग्यता और शौक के बारे में भी हमें उससे पता लगता है। बाबर के लिखने की शैली बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली थी। इसके अतिरिक्त उसमें प्रत्येक स्थान पर सत्यता प्रतीत होती है। बाबर ने कभी व्यक्ति और परिस्थिति को समझने में भूल की हो और उस भूल के कारण उसका विवरण गलत हो गया हो (जैसा कि उसके भारत-विवरण के बारे में कहा जा सकता है), यह अन्य बात है परन्तु सत्यता उसके लिए प्रमुख थी यह मानना पड़ता है। अपने चरित्र की दुर्बलताओं और अपनी भूलों को भी उसने स्पष्ट रूप से लिखा है। अपने ऐश के उत्सवों और अनेक नशों के प्रयोग को भी वह लिखना नहीं भूला है। इस कारण लेनपूल ने लिखा है : "बिना किसी सहायक प्रमाण के यदि किसी एक ऐतिहासिक विवरण को समुचित प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है तो वह बाबर की आत्मकथा है।" बाबर ने केवल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जीवन की घटनाओं का ही विवरण नहीं दिया बल्कि समय-समय पर जो भावनाएँ उसके रहीं और जिस प्रकार विभिन्न घटनाओं की प्रतिक्रिया उसके हृदय में हुई, उसने उनको भी लिखा। विभिन्न व्यक्ति, मित्र या शत्रु जो भी उसके सम्पर्क या विरोध में आये, उनके बारे में उसने बहुत ही ईमानदारी और बारीकी से लिखा। दौलतखाँ लोदी, इब्राहीम लोदी, आलमखाँ, राणा साँगा आदि के बारे में भी उसने लिखा। उसने अपने द्वारा देखे गये सभी देशों की जलवायु, झरनों, फूल-पत्तों, पहाड़ों, नदियों, जंगलों, वनस्पति, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि सभी के बारे में लिखा। यह सब कुछ इतने सुन्दर ढंग से लिखा गया है कि पढ़ने वाला इसे पढ़कर आत्म-विभोर हो जाता है। बाबर की स्पष्टवादिता, प्रकृति में रुचि, मनुष्य के चरित्र और परिस्थितियों को समझने की बारीक बुद्धि आदि सभी का पता हमें उसकी इस आत्मकथा से लगता है। बाबर की इस आत्मकथा के बारे में एल्फिन्सटन ने लिखा है कि वास्तविक इतिहास का "एशिया में पाया जाने वाला यह अकेला ग्रन्थ है।"

बाबर ने अपनी आत्मकथा में **भारत का विवरण भी दिया**। भारत की जलवायु, प्रकृति, भारतीयों के घर, वेशभूषा तथा भोजन, राजनीतिक घटनाओं, राज्यों और राजाओं आदि सभी के बारे में उसने लिखा। बाबर ने लिखा : "भारत प्रथम, द्वितीय और तृतीय जलवायु के बीच में है। इसका कोई भी अंश चौथे भाग में नहीं है।" उसने लिखा : "सिन्धु नदी को पार करते ही देश, पेड़, पत्थर, घुमक्कड़ जातियाँ और व्यक्तियों के रिवाज और तौर-तरीके सभी हिन्दुस्तानी हैं।" भारत के प्रथम सम्पर्क का प्रभाव उस पर अच्छा नहीं पड़ा था। उसने लिखा : "यहाँ व्यक्ति न सुन्दर हैं और न सुसंस्कृत। यहाँ न अच्छे घोड़े हैं, न अच्छे कुत्ते, न अच्छे अंगूर, न खरबूजे और न अन्य फल। यहाँ अच्छी रोटी नहीं मिलती, गरम पानी के हम्माम नहीं मिलते और न यहाँ उच्च विद्यालय हैं। यहाँ बत्तियों और मशालों का प्रयोग नहीं होता। मशालों के स्थान पर ये तेल के दीपकों का प्रयोग करते हैं जिनको नौकर अपने हाथों में लिये रहते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों और पहाड़ी झरनों के पानी को छोड़कर यहाँ पानी का अभाव है। यहाँ बगीचों के चारों तरफ दीवारें नहीं हैं। लोगों के रहने के मकान अच्छे नहीं हैं और न उनमें हवा का उचित प्रबन्ध है। किसान और निम्न श्रेणी के व्यक्ति अधिकांश नंगे रहते हैं। पुरुष केवल लँगोट का प्रयोग करते हैं और स्त्रियाँ एक ही कपड़े से अपने कमर के नीचे के भाग और सिर को ढकती हैं।"

उसने लिखा : "हिन्दुस्तान की सबसे अच्छी बात यह है कि यह देश विस्तृत है और यहाँ सोना और चाँदी की भरमार है।" बाबर यहाँ की वर्षा से बड़ा प्रसन्न होता था। उसने लिखा : "यहाँ कभी-कभी एक दिन में 10, 15 या 20 बार वर्षा हो जाती है। अचानक यहाँ मूसलाधार वर्षा हो जाती है और वे नदियाँ जिनमें बिल्कुल पानी नहीं होता, पानी से भरकर बहने लगती हैं। वर्षा के समय यहाँ की हवा बहुत ही मजेदार हो जाती है परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष सीलन और जंग लग जाना है। वर्षा के मौसम में हम अपने देश की कमानों का प्रयोग नहीं कर सकते। कवच, पुस्तकें, वस्त्र, बर्तन आदि सभी पर इसका प्रभाव हो जाता है और सभी बेकार हो जाते हैं। वर्षा के अतिरिक्त गर्मी और जाड़ों में भी यहाँ अच्छी हवा चलती है। वर्षा से पहले यहाँ हवा 5 या 6 बार बहुत तेजी से चलती है और काफी धूल उड़ती है जिसे ये लोग आँधी पुकारते हैं। हिन्दुस्तान की एक बड़ी अच्छाई यहाँ बहुत बड़ी संख्या में हर प्रकार के काम करने वालों का मिलना है।" उसने लिखा : "यहाँ अलग-अलग काम करने वालों की अलग-अलग जातियाँ हैं और प्रत्येक जाति अपने कार्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती है। आगरा में इमारतें बनवाते समय मेरे यहाँ 680 कारीगरों ने काम किया था। आगरा,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोल आदि में मेरी इमारतों के लिए पत्थर काटने हेतु 1491 कारीगर कार्य करते थे। इसी तरह यहाँ हर तरह का कार्य करने के लिए अनगिनत दस्तकार और कारीगर हैं।"

भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए उसने लिखा : "भारत की राजधानी दिल्ली है। जब मैंने इस देश को विजय किया तो वहाँ पाँच मुस्लिम और दो हिन्दू शासक राज्य करते थे।" दिल्ली, गुजरात, बहमनी-शासक, मालवा और बंगाल के मुसलमान-शासकों तथा विजयनगर और मेवाड़ के हिन्दू-शासकों का विवरण उसने दिया था।

बाबर का उपर्युक्त वर्णन न तो पूर्ण है और न ठीक ही। खानदेश, उड़ीसा, सिन्ध और कश्मीर राज्यों का बाबर ने वर्णन नहीं किया। पुर्तगाली भी दक्षिण-भारत में प्रवेश कर चुके थे जिनका विवरण बाबर ने नहीं दिया। इस कारण बाबर का भारत-विवरण पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार, बाबर का भारत-विवरण पूर्णतया सत्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। बाबर को भारत में बहुत कम समय मिला। वह अधिकांश समय युद्धों में लगा रहा और जो कुछ भी उसने देखा एक विजेता की दृष्टि से देखा। यदि उसे थोड़ा समय और मिलता, जब तक भारत की स्थिति स्थिर हो जाती और उसे भारत के सुसंस्कृत वर्ग के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हो जाता तब सम्भवतया स्वयं उसकी धारणा बदल जाती और वह भारत और भारत के निवासियों के बारे में ठीक निर्णय कर पाता। भारत के निवासी बाबर के आक्रमण के समय मिलनसार और सुसभ्य न थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, बाबर का भारत-विवरण हमें भारतीय इतिहास को जानने की सहायक सामग्री अवश्य प्रदान करता है परन्तु उसे पूर्णतया मान्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. बाबर के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. भारत में बाबर की सफलता के कारण बताइए।
3. बाबरकालीन युद्धों के कारणों व परिणामों पर प्रकाश डालिए।
4. बाबर के चरित्र एवं व्यक्तित्व की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पानीपत के युद्ध के कारण लिखिए।
2. पानीपत के युद्ध के परिणामों का वर्णन कीजिए।
3. बाबर की धार्मिक नीति का उल्लेख कीजिए।
4. बाबर की भारत में अन्तिम विजय का उल्लेख कीजिए।
5. खानुवा के युद्ध में राजपूतों की पराजय के कारण लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई थी—
   (अ) 1524 ई. में (ब) 1525 ई. में
   (स) 1526 ई. में (द) 1530 ई. में।
2. बाबर के भारत पर आक्रमण के समय आर्थिक स्थिति थी—
   (अ) सम्पन्न (ब) दुर्बल
   (स) अस्थिर (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. सिंहासनारोहण के समय बाबर की आयु थी—
(अ) 8 वर्ष (ब) 11 वर्ष
(स) 12 वर्ष (द) 14 वर्ष।

4. 1512 ई. में समरकन्द पुनः बाबर के हाथ से क्यों निकल गया था ?
(अ) समरकन्द की सुन्नी प्रजा नाराज थी
(ब) बाबर शिया मत का समर्थक बन गया था
(स) बाबर अपनी प्रजा के सम्मान की रक्षा करने में असमर्थ था
(द) उपर्युक्त तीनों।

5. भारत में बाबर की विजयों का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था—
(अ) उसका रण-कौशल (ब) उसकी कूटनीति
(स) उसका तोपखाना (द) उसकी घुड़सवार सेना।

6. किन शासकों ने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर से सहायता माँगी थी ?
(अ) आलम खाँ लोदी ने (ब) राणा संग्रामसिंह ने
(स) दोनों ने (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

7. पानीपत का प्रथम युद्ध लड़ा गया था—
(अ) 21 अप्रैल, 1526 ई. में (ब) 22 अप्रैल, 1526 ई. में
(स) 24 अप्रैल, 1526 ई. में (द) 25 अप्रैल, 1526 ई. में।

8. पानीपत के प्रथम युद्ध में कौन-सा शासक पराजित हुआ था ?
(अ) बाबर (ब) इब्राहीम लोदी
(स) दौलत खाँ लोदी (द) आलम खाँ लोदी।

9. खानवा का युद्ध लड़ा गया था—
(अ) बाबर व राणा प्रताप में (ब) बाबर व मेदिनीराय में
(स) बाबर व राणा संग्रामसिंह में (द) बाबर व राणा कुम्भा में।

10. मेदिनीराय पराजित हुआ था—
(अ) खानवा के युद्ध में (ब) घाघरा के युद्ध में
(स) पानीपत के युद्ध में (द) चन्देरी के युद्ध में।

11. बाबर ने घाघरा के युद्ध में किन्हें पराजित किया था ?
(अ) राजपूतों को (ब) अफगानों को
(स) दोनों को (द) इनमें से किसी को नहीं।

12. बाबर की मृत्यु हुई थी—
(अ) 1528 ई. में (ब) 1529 ई. में
(स) 1530 ई. में (द) 1532 ई. में।

13. भारत पर बाबर के आक्रमण का उद्देश्य था—
(अ) राजनीतिक (ब) सामाजिक
(स) धार्मिक (द) इनमें से कोई नहीं।

14. "बाबर एक प्रशंसनीय घुड़सवार, अच्छा निशानेबाज, कुशल तलवारबाज और सफल शिकारी था।" किसने लिखा है ?
(अ) फरिश्ता ने (ब) डॉ. एस. आर. शर्मा ने
(स) रशब्रुक विलियम ने (द) मोहम्मद हबीब ने।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. बाबर द्वारा रचित पुस्तक का क्या नाम था ?

(अ) बाबर की आत्मकथा (ब) तुजुके जहाँगीरी

(स) तुजुके बाबरी (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (स), 2. (अ), 3. (ब), 4. (द), 5. (स), 6. (स), 7. (अ), 8. (ब), 9. (स), 10. (द), 11. (ब), 12. (स), 13. (अ), 14. (ब), 15. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2

हुमायूँ (1530-1556 ई.)

बाबर के सबसे बड़े पुत्र हुमायूँ का जन्म 6 मार्च 1508 ई. को काबुल में हुआ। उसकी माँ का नाम माहम सुल्ताना था। उसके छोटे भाई कामरान और अस्करी गुलरुख बेगम से तथा सबसे छोटा हिन्दाल दिलदार बेगम से उत्पन्न, बाबर की सन्तान थे। हुमायूँ की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया था जिसमें सैनिक शिक्षा प्रमुख थी। पानीपत के प्रथम युद्ध और खानुवा के युद्ध में भाग लेने के अतिरिक्त हुमायूँ ने अन्य कई स्थानों पर अफगानों से संघर्ष करके अपनी सैनिक-प्रतिभा का परिचय दिया। हिसार-फिरोजा, बदख्शां और सम्भल की अपनी जागीरों की देखभाल करते हुए भी उसने युद्ध और शासन का अनुभव प्राप्त किया। अपनी मृत्यु के अवसर पर बाबर ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

बाबर के प्रमुख मन्त्री निजामुद्दीन अली मुहम्मद खलीफा ने हुमायूँ को अयोग्य समझा और उसके स्थान पर बाबर के बहनोई तथा बेगम खानजादा के पति मेंहदी ख्वाजा को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया। मेंहदी ख्वाजा प्रायः 20 वर्ष से बाबर की सेवा में था। परन्तु बाद में अपने जीवन को खतरे में समझकर उसने यह विचार त्याग दिया और हुमायूँ का समर्थन किया। 26 दिसम्बर को बाबर की मृत्यु हुई और चार दिन के पश्चात् 30 दिसम्बर, 1530 ई. को बिना किसी विरोध के 23 वर्ष की आयु में हुमायूँ मुगल-सिंहासन पर बैठा।

[1]

हुमायूँ की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अपने शासन के आरम्भ से ही हुमायूँ को विभिन्न कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा। हुमायूँ को कुछ कठिनाइयाँ अपने पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुईं और कुछ उसके सम्बन्धी मिर्जाओं और भाइयों ने खड़ी कीं। लेकिन उसकी सबसे बड़ी कठिनाई उसके अफगान शत्रु थे जो उस समय भी मुगल-वंश को भारत से बाहर निकालने के लिए प्रयत्नशील थे। इन कठिनाइयों के साथ-साथ हुमायूँ का अपना व्यक्तिगत चरित्र भी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

1. बाबर की विरासत—निस्सन्देह, बाबर ने हुमायूँ के लिए एक विस्तृत साम्राज्य छोड़ा था परन्तु वह उस साम्राज्य की जड़ों को दृढ़ न कर सका था। **बाबर अपने साम्राज्य को संगठित करने और उसकी उचित शासन-व्यवस्था करने में सफल नहीं हुआ था।** मेलसन ने लिखा है : "जब उसकी (बाबर) मृत्यु हुई तो पूर्वकालीन मुसलमान-राजवंशों की भाँति मुगल-राजवंश की जड़ें भी भारतीय भूमि में जम नहीं सकी थीं।" बाबर ने दिल्ली और आगरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्राप्त हुए खजानों को बाँट दिया था। उसने अन्य अवसरों पर भी ऐसी ही उदारता का परिचय दिया था जबकि वह राज्य की आय के साधनों में वृद्धि न कर सका था। अपने समय में स्वयं बाबर ने आर्थिक कठिनाइयों का अनुभव किया और हुमायूँ को ये कठिनाइयाँ विरासत के रूप में मिलीं। बाबर द्वारा हुमायूँ को अपने भाइयों के साथ अच्छा व्यवहार करने हेतु दी गयी सलाह भी हुमायूँ के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

2. हुमायूँ के भाई—हुमायूँ के तीन छोटे भाई अयोग्य और बेवफा सिद्ध हुए। जब मुगल-वंश को एकता की आवश्यकता थी तब उन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, अधिकारों और महत्वाकांक्षाओं पर बल दिया और जब उनके भाई को उनकी सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता हुई तभी वे उसके विरोध में खड़े हुए अथवा उसकी तरफ से उदासीन हो गये। उनमें से प्रत्येक हुमायूँ की कठिनाइयों में वृद्धि करने वाला सिद्ध हुआ।

3. मिर्जा-वर्ग और उसके सम्बन्धी—मुगल-राजवंश से सम्बन्धित विभिन्न चगताई तुर्क बड़ी-बड़ी जागीरों को प्राप्त करके महत्वाकांक्षी हो गये थे। उनमें से कुछ ने, मुख्यतया हुमायूँ के सम्बन्धियों ने राजसिंहासन को प्राप्त करने की लालसा की। बाबर के बहनोई मेहदी ख्वाजा ने बाबर की मृत्यु पर सिंहासन को अपने अधिकार में करने का स्वप्न देखा था यद्यपि वह सफल न हो सका। हुमायूँ के दो अन्य निकटतम सम्बन्धियों—मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा—ने समय-समय पर हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह किये और उसके शत्रुओं का साथ दिया। वे हुमायूँ के सहायक न होकर उसके शत्रु सिद्ध हुए।

4. अफगान—हुमायूँ के सबसे प्रबल एवं प्रमुख शत्रु अफगान थे। वे यह नहीं भूल सके थे कि कुछ वर्षों पहले ही दिल्ली पर उनका आधिपत्य था। इस कारण उनमें से कई दिल्ली को अफगानों के आधिपत्य में करने का स्वप्न देखते थे। इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी भागकर बिहार चला गया था जहाँ सभी विद्रोही अफगान सरदार एकत्रित हो रहे थे। बंगाल का शासक खुले तौर से उनकी सहायता कर रहा था। गुजरात का शासक बहादुरशाह न केवल जवान था, बल्कि शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी भी था। उसके पास एक बड़ी सेना, एक अच्छा तोपखाना और गुजरात जैसे धनाढ्य सूबे की आर्थिक शक्ति थी। मालवा को उसने जीत लिया था और राजस्थान पर उसका दबाव बढ़ता जा रहा था। फतहखाँ, कुतुबखाँ, आलमखाँ लोदी जैसे अफगान उसके यहाँ संरक्षण प्राप्त किये हुए थे। शेरखाँ और बंगाल के शासक से उसका पत्र-व्यवहार था। हुमायूँ का प्रत्येक शत्रु और विद्रोही बहादुरशाह से सहायता और संरक्षण की आशा करता था।

अफगानों में से ही एक अफगान सरदार शेरखाँ धीरे-धीरे दक्षिणी बिहार में अपनी शक्ति को संगठित कर रहा था। आरम्भ में तो नहीं परन्तु कुछ समय पश्चात् वही हुमायूँ का सबसे कट्टर, योग्य और शक्तिशाली शत्रु सिद्ध हुआ।

5. सेना का राष्ट्रीय स्वरूप न होना—मुगलों की सेना राष्ट्रीय न थी। उसमें उजबेग, मुगल, तुर्क, ईरानी, अफगान, भारतीय आदि सम्मिलित थे जो अपनी ही जाति के सरदारों की अधीनता में थे। ऐसी सेना में एकता के स्थान पर ईर्ष्या और द्वेष की सम्भावना अधिक थी। ऐसी सेना केवल बाबर सदृश प्रभावशाली सेनापति के नेतृत्व में ही उपयोगी हो सकती थी अन्यथा योग्य सेनापतित्व के अभाव में वह दुर्बल थी।

6. हुमायूँ की व्यक्तिगत दुर्बलताएँ—मुगल-साम्राज्य जब इतने संकटों से घिरा हुआ था तब उसे एक कठोर, अनुशासनप्रिय और योग्य सेनापति-शासक की आवश्यकता थी। हुमायूँ में इन गुणों का पूर्ण अभाव था। हुमायूँ साहसी होते हुए भी योग्य सेनापति न था और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धिमान होते हुए भी नीतिज्ञ न था। उसमें परिस्थितियों को ठीक तरह समझने की योग्यता न थी। उसमें दृढ़ता और निरन्तर प्रयत्न करते रहने की शक्ति का अभाव था और उसमें नेतृत्व करने की योग्यता न थी। हुमायूँ की सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी अत्यधिक उदारता थी। लेनपूल ने लिखा है : "हुमायूँ की असफलता का एक मुख्य कारण उसकी सुन्दर परन्तु विवेकरहित दयालुता थी।" इस कारण हुमायूँ के चरित्र के कुछ दोष भी उसकी प्रमुख कठिनाई थे।

7. हुमायूँ का साम्राज्य-विभाजन—हुमायूँ ने अपने भाइयों को विस्तृत भू-प्रदेश दिये। आरम्भ में ही उसने अस्करी को सम्भल, हिन्दाल को मेवात और कामरान को काबुल तथा कन्धार प्रदान कर दिये। बाद में उसने कामरान को पंजाब और हिसार-फीरोजा पर भा अधिकार कर लेने दिया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार यह हुमायूँ की एक बड़ी भूल थी, क्योंकि जब मुगल-राज्य को एकता की आवश्यकता थी, हुमायूँ ने उसे टुकड़ों में बाँट दिया। परन्तु डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार यह कार्य हुमायूँ को प्राचीन तुर्क-मंगोल परम्परा के कारण बाध्य होकर करना पड़ा था। यदि वह ऐसा न करता तो चारों भाइयों में गृह-युद्ध की सम्भावना थी। इस बँटवारे का कारण चाहे हुमायूँ की उदारता हो और चाहे उसकी बाध्यता परन्तु एक भूल हुमायूँ ने अवश्य की थी। उसे कामरान को अपने उत्तर-पश्चिम के प्रदेश नहीं देने चाहिए थे जहाँ से मुगल-सेना को अच्छे सैनिक प्राप्त होते रहते थे। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है : "ये सुविधाएँ देना हुमायूँ की भूल थी क्योंकि उन्होंने उसे अफगान पहाड़ियों के दूसरी तरफ के भू-क्षेत्रों से पृथक कर दिया।" कामरान के हाथों में हिसार-फीरोजा के चले जाने से दिल्ली-कन्धार की मुख्य सड़क पर उसका अधिकार हो गया।

[2]

कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न और अफगानों से संघर्ष

1. कालिंजर पर आक्रमण (1531 ई.)—सिंहासन पर बैठने के कुछ माह पश्चात् ही हुमायूँ को संघर्ष में फँसना पड़ा। उसके मुख्य शत्रु अफगान थे और उन्हीं से उसका संघर्ष प्रारम्भ हुआ। कालिंजर पर आक्रमण उस संघर्ष की एक कड़ी थी। कालिंजर के शासक प्रतापरुद्रदेव के बारे में यह अनुमान किया गया था कि वह अफगानों के प्रति सहानुभूति रखता था। इस अवसर पर वह कालपी पर अपना दबाव बढ़ा रहा था। यह हुमायूँ के लिए हानिकारक था क्योंकि कालपी, मालवा और यमुना की घाटी को मिलाने वाला स्थान था। विरोधी बादशाह के हाथों में होने से वह मुगल बादशाह के लिए संकट उपस्थित कर सकता था। यदि प्रतापरुद्रदेव के अधिकार में कालपी चला जाता और वह गुजरात के शासक बहादुरशाह के पक्ष में हो जाता तो हुमायूँ को बहुत कठिनाई होती। इस कारण, मूलतया बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए हुमायूँ को कालिंजर पर आक्रमण करने की आवश्यकता अनुभव हुई। 1531 ई. में उसने कालिंजर पर आक्रमण किया। कालिंजर का किला एक पहाड़ी पर कई सौ फुट की ऊँचाई पर बना हुआ एक दृढ़ किला था। वह सर्वदा से तुर्कों और राजपूतों के बीच युद्ध का कारण बना हुआ था। उसे जीतना सरल कार्य न था। जब हुमायूँ किले का घेरा डाले हुए था उसे सूचना मिली कि महमूद लोदी के नेतृत्व में अफगान बिहार से आगे बढ़कर जौनपुर की तरफ बढ़ते चले आ रहे थे। इससे पहले शेरखाँ ने चालाकी से चुनार के दृढ़ किले पर अधिकार कर लिया था। अफगानों की यह कार्रवाई हुमायूँ के लिए ज्यादा खतरनाक थी। इस कारण कालिंजर के राजा से धन और सैनिकों की क्षतिपूर्ति लेकर और उससे एक सन्धि करके हुमायूँ वापस चला आया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. दोहरिया का युद्ध और चुनार का प्रथम घेरा (1532 ई.)—उस समय तक अफगानों ने महमूद लोदी के नेतृत्व में जौनपुर तक अपना अधिकार कर लिया था और अवध में अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे। हुमायूँ जब अपनी सेना के साथ उधर पहुँचा तो दोहरिया नामक स्थान पर अफगानों ने उसका मुकाबला किया। शेरखाँ ने उस समय महमूद लोदी का साथ छोड़ दिया। **अफगानों ने बहादुरी से मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उनकी पराजय हुई।** महमूद लोदी भाग गया और इसके पश्चात् राजनीति से पृथक् हो गया।

इसके उपरान्त हुमायूँ ने चुनारगढ़ का घेरा डाला। चुनार का किला न केवल दृढ़ था बल्कि महत्वपूर्ण भी था। हुमायूँ ने उसे शेरखाँ के हाथों से छीनने का प्रयत्न किया। चार माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जीतने की कोई आशा दिखायी न दी। इस बीच में गुजरात के शासक बहादुरशाह का दबाव राजस्थान पर बढ़ गया। ऐसी स्थिति में हुमायूँ ने शेरखाँ से समझौता कर लिया। किला शेरखाँ के आधिपत्य में छोड़ दिया गया परन्तु शेरखाँ ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और अपने लड़के कुतुबुखाँ के नेतृत्व में एक सेना हुमायूँ की सेवा में छोड़ दी।

हुमायूँ आगरा वापस आ गया जहाँ उसने करीब डेढ़ वर्ष ऐशो-आराम में व्यतीत किया और बहुत-सा धन 'दीनपनाह' नामक एक किले के निर्माण में खर्च किया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, यह किला और नगर कामरान और बहादुरशाह की महत्वाकांक्षाओं को देखते हुए सुरक्षा के दृष्टिकोण से बनवाया गया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि हुमायूँ इस धन और समय का उपयोग बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति के लिए करता तो अधिक उचित था।

इसी अवसर पर (1534 ई.) मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा ने मिलकर बिहार में विद्रोह किया। वे असफल हुए और गिरफ्तार कर लिये गये (यद्यपि बाद में वे कैद से भाग गये)।

3. बहादुरशाह से संघर्ष (1535-36 ई.)—उस समय तक गुजरात के शासक बहादुरशाह की शक्ति में बहुत वृद्धि हो गयी थी। दक्षिण-भारत के कई राजाओं ने उससे सन्धियाँ कर ली थीं, 1531 ई. में वह मालवा को जीत चुका था, 1532 ई. में उसने रायसीन के महत्वपूर्ण किले को जीत लिया था और 1533 ई. में उसने मेवाड़ को सन्धि करने के लिए बाध्य किया था। तुर्की के एक प्रसिद्ध तोपची रूमीखाँ की सहायता से उसने एक अच्छा तोपखाना तैयार कर लिया था। दिल्ली को जीतना उसकी एक महत्वाकांक्षा थी। बंगाल के शासक और बिहार के शेरखाँ से उसका पत्र-व्यवहार था। हुमायूँ के सभी शत्रुओं को उसने शरण दी थी और उस अवसर पर मुहम्मद जमान मिर्जा को भी उसने शरण दी तथा हुमायूँ द्वारा उसे वापस माँगने पर लौटाने से इंकार कर दिया। उस अवसर पर शेरखाँ न केवल दक्षिण-बिहार का वास्तविक मालिक बन बैठा बल्कि वह बंगाल को भी अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील था। सूरजगढ़ के युद्ध (1534 ई.) में बंगाल की सेना को परास्त करने के कारण उसके सम्मान और शक्ति में वृद्धि हुई थी और विभिन्न अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो रहे थे।

हुमायूँ को शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति चुनौती दे सकती थी परन्तु गुजरात का शासक बहादुरशाह उसे चुनौती दे रहा था। **हुमायूँ ने बहादुरशाह से निर्णयात्मक युद्ध करने का निश्चय किया और अपनी सेना के साथ मालवा में प्रवेश किया।** उस समय बहादुरशाह चित्तौड़ के किले का घेरा डाले हुआ था। उस अवसर पर चित्तौड़ का शासक राणा संग्राम सिंह का पुत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमाजीत था। उस कठिनाई के अवसर पर उसकी माँ और राजमाता कर्णवती ने सम्भवतया राखी भेजकर हुमायूँ से सहायता माँगी जबकि बहादुरशाह ने हुमायूँ से प्रार्थना की कि वह उस समय तक उस पर आक्रमण न करे जब तक कि वह काफिरों के विरुद्ध 'जिहाद' में व्यस्त था। हुमायूँ ने धर्म के नाम पर की गयी बहादुरशाह की प्रार्थना स्वीकार कर ली परन्तु धीरे-धीरे चित्तौड़ की तरफ बढ़ता रहा और जनवरी 1535 ई. में सारंगपुर पहुँच गया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, धर्म के अतिरिक्त हुमायूँ के सारंगपुर में रुक जाने के कुछ अन्य कारण थे। हुमायूँ बहादुरशाह का मुकाबला करने से पहले अपनी सेना को व्यवस्थित करना चाहता था और मालवा में बहादुरशाह के विरोधी तत्वों को अपनी तरफ करने के लिए उसे समय की आवश्यकता थी। हुमायूँ बहादुरशाह के दक्षिण-भारत के मित्र-राज्यों से शंकित था। वह ऐसा स्थान भी चाहता था जहाँ से वह माँडू या अहमदाबाद से बहादुरशाह के लिए आने वाली सहायता को रोक सके और बहादुरशाह के वापस जाने के मार्ग को बन्द कर सके। आलमखाँ लोदी कालिंजर की तरफ गया हुआ था और यह सम्भव था कि वह हुमायूँ पर पीछे से आक्रमण कर देता। उपर्युक्त कारणों से हुमायूँ ने बहादुरशाह पर आक्रमण नहीं किया और प्रतीक्षा की। दस दिन के पश्चात् बहादुरशाह के तोपखाने के मुकाबले चित्तौड़ का किला झुक गया। बहादुरशाह ने तीन दिन तक वहाँ लूटमार की। चित्तौड़ के पतन का समाचार प्राप्त होते ही हुमायूँ आगे बढ़ा और मन्दसौर के निकट पहुँच गया। बहादुरशाह की विजयी सेना हुमायूँ के मुकाबले में आयी परन्तु बहादुरशाह ने रूमीखाँ की सलाह और अपने तोपखाने पर विश्वास करते हुए रक्षात्मक नीति अपनायी और हुमायूँ पर तुरन्त आक्रमण नहीं किया। हुमायूँ ने अपनी सेना को गुजराती सेना की तोपों से दूर रखा और उसकी रसद के मार्ग को बन्द कर दिया। बहादुरशाह की सेना अपने ही जाल में फँस गयी। अकर्मण्यता और भुखमरी ने उसके साहस और आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया। एक रात अपने तोपखाने और अन्य बहुत सी वस्तुओं को बर्बाद करके या छोड़कर बहादुरशाह माँडू की तरफ भाग गया। हुमायूँ ने उसका पीछा किया। बहादुरशाह माँडू से चम्पानेर, चम्पानेर से काम्बे और काम्बे से ड्यू भाग गया। हुमायूँ ने काम्बे तक उसका पीछा किया परन्तु वहाँ से चम्पानेर के दुर्ग को जीतने के लिए वापस आ गया। चम्पानेर का दुर्ग बहुत सुरक्षित और मजबूत था। वहाँ अच्छा तोपखाना और भरपूर रसद थी। गुप्त मार्ग से वहाँ रसद भी पहुँच रही थी। हुमायूँ ने उस स्थान को खोज निकाला जहाँ से किले की दीवार केवल 60 या 70 मीटर ऊँची थी, और उसमें कीलें ठोककर उसने स्वयं अपने लगभग 300 सैनिकों को लेकर अचानक आक्रमण कर दिया। किलेदार इख्तियारखाँ को आत्मसमर्पण करना पड़ा। हुमायूँ को वहाँ बहुत धन प्राप्त हुआ जिसे उसने अपने सरदारों और सैनिकों में उदारता से बाँटा।

उस समय तक प्रायः सम्पूर्ण मालवा और गुजरात हुमायूँ के अधिकार में जा चुका था। माँडू और चम्पानेर के किलों की विजयें हुमायूँ की महान् विजयें थी। अपने भाई अस्करी को गुजरात का सूबेदार बनाकर और हिन्दूबेग को उसकी सहायता के लिए छोड़कर हुमायूँ मालवा चला गया। अस्करी गुजरात में ठीक व्यवस्था न कर सका बल्कि मुगल सैनिकों और सरदारों के व्यवहार से वहाँ के नागरिक असन्तुष्ट हो गये। इससे बहादुरशाह के एक बड़े अधिकारी इमाद-उल-मुल्क को एक बड़ी सेना एकत्रित करने का अवसर मिला। बहादुरशाह भी गुजरात वापस आ गया। अस्करी ने अपनी बिखरी हुई सेना को अहमदाबाद में एकत्रित कर लिया। छुटपुट युद्ध के पश्चात् मुगल सेना ने चम्पानेर के दुर्ग में लौटना ठीक समझा। एक प्रकार से यह सम्पूर्ण गुजरात को खोना था। परन्तु इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग न था। चम्पानेर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दुर्गरक्षक तार्दीबेग ने अस्करी का सम्मान तो किया परन्तु न तो उसे किले में शरण दी और न हुमायूँ की आज्ञा के बिना उसे सहायता देना स्वीकार किया। तार्दीबेग अस्करी से शंकित हो गया था। अस्करी ने अपनी सेना को लेकर आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। तार्दीबेग स्वयं भी किले की रक्षा न कर सका। जब बहादुरशाह ने किले पर आक्रमण किया तब तार्दीबेग माँडू चला गया। हुमायूँ को तार्दीबेग ने सूचना दी कि, सम्भवतया, अस्करी आगरा पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में हुमायूँ भी माँडू को छोड़कर आगरा की तरफ चल दिया। दोनों भाइयों की मार्ग में भेंट हुई और हुमायूँ की शंकाएँ समाप्त हो गयीं। हुमायूँ ने अस्करी और हिन्दूबेग आदि सभी को उदारता से माफ कर दिया। हुमायूँ के माँडू को छोड़ते ही मालवा भी मुगलों के हाथ से निकल गया। मल्लूखाँ ने शीघ्र ही माँडू को जीत लिया और बहादुरशाह के नाम से सम्पूर्ण मालवा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार **प्रायः एक ही वर्ष में मुगलों ने सम्पूर्ण गुजरात और मालवा को विजय किया और खो भी दिया।** बहादुरशाह पुनः वहाँ का स्वामी बन गया यद्यपि बहुत समय तक वह उस सत्ता का उपभोग न कर सका क्योंकि फरवरी 1537 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। घुमक्कड़ी की अयोग्यता, उसकी स्वतन्त्रता की इच्छा, अनुभवहीन अधिकारियों की नियुक्ति और हुमायूँ का विजय के पश्चात् स्वयं शासन की देखभाल के स्थान पर ऐशो-आराम में लिप्त हो जाना मुगलों की इस बड़ी हानि के कारण थे। इस हानि के बारे में लेनपूल ने लिखा है : "मालवा और गुजरात के सूबे जो हुमायूँ के शेष सम्पूर्ण साम्राज्य के बराबर थे, एक पके फल की भाँति उसके हाथों में आ गिरे थे। कोई भी विजय इतनी सरल नहीं हो सकती थी। साथ ही साथ कोई भी विजय इतनी लापरवाही से नष्ट नहीं की गयी थी।"

4. शेरखाँ से संघर्ष (1537-40 ई.)—जिस समय हुमायूँ बहादुरशाह के साथ संघर्ष कर रहा था, शेरखाँ बिहाररऔर बंगाल में अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहा था। दक्षिणी बिहार उसके आधिपत्य में आ चुका था, उसका लड़का कुतुबखाँ हुमायूँ की सेना को छोड़कर सुरक्षित वापस पहुँच गया था और विभिन्न अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो रहे थे। शेरखाँ ने बंगालें की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाया। नुसरतशाह की मृत्यु हो चुकी थी और महमूदशाह योग्य शासक सिद्ध नहीं हुआ था। 1536 ई. में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी गौड़ को घेर लिया। दुर्बल महमूदशाह ने 13 लाख दीनार देकर शेरखाँ से सन्धि कर ली। हुमायूँ ने शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति की ओर उस समय तक ध्यान नहीं दिया जब तक कि उसे यह सूचना नहीं मिल गयी कि शेरखाँ ने बंगाल की राजधानी गौड़ पर पुनः आक्रमण (1537 ई.) कर दिया है।

चुनारगढ़ की विजय (1538 ई.)—जुलाई, 1537 ई. में हुमायूँ पूर्व की ओर बढ़ा। अक्टूबर में उसने चुनारगढ़ का घेरा डाला जहाँ कुतुबखाँ ने शेरखाँ की योजना के अनुसार हुमायूँ को अधिक से अधिक समय तक रोकने का निश्चय कर रखा था। छः माह के पश्चात् मार्च 1538 ई. में चालाकी और तोपखाने की सहायता से किले पर अधिकार किया जा सका। उस समय तक शेरखाँ ने गौड़ को जीत लिया था और उसके खजाने को लूटकर रोहतासगढ़ के किले में सुरक्षित रख दिया था। चुनार को जीतने में जो समय हुमायूँ ने लगाया, वह उसकी एक बड़ी भूल मानी गयी है। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी यह स्वीकार करते हैं कि "यद्यपि चुनार को अफगानों के हाथ में छोड़कर बंगाल की ओर बढ़ जाना हुमायूँ के लिए उपयुक्त न था परन्तु अपनी सम्पूर्ण सेना को लेकर चुनार के किले के सामने पड़ा रहना भी एक भूल थी" जिसके कारण शेरखाँ अपनी बंगाल-विजय को सरलता से पूर्ण कर सका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगाल की विजय—चुनार से आगे बढ़कर हुमायूँ बनारस में रुका। वहाँ उसने शेरखाँ से सन्धि की बातचीत आरम्भ की। यह निश्चय हुआ कि बिहार हुमायूँ को और मुगलों की अधीनता में बंगाल शेरखाँ को दे दिया जायेगा जिसके बदले में शेरखाँ हुमायूँ को प्रतिवर्ष दस लाख रुपया देगा। शेरखाँ ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया। परन्तु उसी समय बंगाल के शासक महमूदशाह के एक राजदूत ने आकर हुमायूँ से अपने सुल्तान के लिए सहायता माँगी और बंगाल पर आक्रमण करने की प्रार्थना की। हुमायूँ ने बंगाल की ओर बढ़ने का निश्चय किया। शेरखाँ ने हुमायूँ के अपने वायदे को तोड़ने का लाभ उठाया। उसने अफगानों को यह विश्वास दिला दिया कि मुगल अफगानों का सर्वनाश करना चाहते हैं और मुगलों से की गयी सन्धि पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हुमायूँ के रास्ते में शेरखाँ के पुत्र जलालखाँ ने बाधा डाली परन्तु उसका उद्देश्य हुमायूँ से युद्ध करना न था बल्कि थोड़े समय तक उसको रोके रखना था। इस कार्य की पूर्ति के पश्चात् जलालखाँ अपने पिता के पास चला गया। उसके पश्चात् हुमायूँ को गौड़ का मार्ग साफ मिल गया। शेरखाँ और उसकी सेना पहले ही बंगाल छोड़ चुके थे, सुल्तान महमूद की मृत्यु हो चुकी थी और उसके पुत्रों का वध कर दिया गया था। इस कारण बंगाल पर हुमायूँ ने सरलता से अधिकार कर लिया।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "हुमायूँ ने आठ महीने बंगाल में ऐशो-आराम किया दिल्ली, आगरा या बनारस तक से अपना सम्पर्क नहीं रखा।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "हुमायूँ ने उस समय बंगाल में व्यवस्था स्थापित की और अपनी सेना का पुनर्गठन किया।" स्थिति दोनों में से कोई भी रही हो परन्तु जो समय हुमायूँ ने बंगाल में नष्ट किया, शेरखाँ ने उसी का सदुपयोग किया। उस समय में अफगानों ने बनारस, कड़ा, कन्नौज, सम्भल आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया, जौनपुर और चुनारगढ़ को घेर लिया तथा इस प्रकार हुमायूँ के वापस लौटने के मार्ग को बन्द कर दिया। कई माह पश्चात् हुमायूँ को ये सूचनाएँ प्राप्त हुईं और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि उसके भाई हिन्दाल ने उसके विश्वासपात्र शेख बहलोल का वध कर दिया है और आगरा में अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया है। ये सूचनाएँ मिलते ही हुमायूँ ने वापस लौटने का निर्णय किया। बंगाल में जहाँगीर कुलीबेग को केवल 5,000 सैनिकों के साथ छोड़कर मार्च 1539 ई. में हुमायूँ गौड़ से चला।

चौसा का युद्ध (27 जून, 1539 ई.)—वापस आने के लिए हुमायूँ ने गंगा का दक्षिणी तट चुना और मुख्य सड़क ग्राण्ड ट्रंक रोड से वापस लौटा। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "यह हुमायूँ की बड़ी भूल थी" क्योंकि इस भाग पर अफगानों का अधिकार था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "यह रास्ता ठीक था क्योंकि मुगल सेना इसी मार्ग से बंगाल गयी थी और इससे परिचित थी। इसके अतिरिक्त यह मार्ग हुमायूँ को चुनारगढ़ ले जाता जहाँ मुगल-सेना उस समय भी अफगानों का मुकाबला कर रही थी।" उस मार्ग से आगे बढ़ते हुए हुमायूँ ने एक बार फिर गंगा को पार किया और उसके उत्तरी तट पर चला गया जहाँ चौसा का मैदान था। शेरखाँ भी अपनी सेनाओं को लेकर उसी स्थान पर पहुँच गया। हुमायूँ को अपने भाइयों से कोई सहायता न मिली और न उसकी सेना व्यवस्थित थी। शेरखाँ वर्षा की प्रतीक्षा कर रहा था क्योंकि मुगल-सेना गंगा और कर्मनासा नदियों के बीच में थी और वह भाग नीचा था जिससे वर्षा का पानी आने पर उन नदियों में बाढ़ आ सकती थी तथा मुगल-सेना कठिनाई में फँस सकती थी। तीन महीनों तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। उस समय सन्धि की बातचीत भी हुई परन्तु उसका कोई लाभ न निकला। वर्षा के आरम्भ होते ही मुगलों की सेना को कठिनाई होने लगी। ऐसे समय में 26 जून को प्रातःकाल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँधेरे में ही शेरखाँ ने अचानक मुगल-सेना पर आक्रमण कर दिया। मुगलों में भगदड़ मच गयी और वह बड़ी संख्या में मारे गये अथवा भाग गये। हुमायूँ बड़ी कठिनाई से एक भिश्ती की सहायता लेकर गंगा पार कर सका। हुमायूँ और अस्करी आगरा चले गये। शेरखाँ ने मुगल बेगमों और स्त्रियों को सम्मान सहित वापस भेज दिया।

शेरखाँ ने इस युद्ध के पश्चात् अपने को सुल्तान घोषित किया और 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण की। उसने बहुत शीघ्र बंगाल पर भी अधिकार कर लिया और पूर्व में मुगलों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करके कन्नौज पहुँच गया जिस पर उसके सैनिक पहले ही अधिकार कर चुके थे।

कन्नौज या बिलग्राम का युद्ध (17 मई, 1540 ई.)—जब शेरशाह पूर्व में अपनी स्थिति दृढ़ करने में व्यस्त था, हुमायूँ और उसके भाई अपने मतभेदों में समय नष्ट कर रहे थे। हुमायूँ ने हिन्दाल को ही माफ नहीं कर दिया था बल्कि विद्रोही सुल्तान मिर्जा को भी माफ कर दिया। परन्तु तब भी हुमायूँ की यह उदारता उसके भाइयों को एक न कर सकी। कामरान की तबियत खराब हो गयी। उसे सन्देह हुआ कि हुमायूँ उसे धीरे-धीरे जहर दिलवा रहा था। इस कारण वह अपनी अधिकांश सेना को लेकर लाहौर चला गया। इसी बीच मुगलों की एक सेना ने मालवा में कुतुबखाँ के नेतृत्व में भेजी गयी अफगान सेना को परास्त कर दिया और कुतुबखाँ को मार दिया। परन्तु उस समय उसने शेरशाह के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। अन्त में, हुमायूँ ने देर करना ठीक न समझा और अपनी सेना को लेकर कन्नौज की तरफ चल दिया। कन्नौज के निकट दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने आ गयीं। परन्तु डेढ़ माह तक दोनों ने एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं किया। 15 मई को घनघोर वर्षा हुई जिसमें मुगल खेमों में पानी भर गया। 17 मई को जब मुगल अपनी सेना और खेमों को ऊँची भूमि पर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे, अफगानों ने आक्रमण कर दिया। मुगलों ने डटकर मुकाबला किया परन्तु वे अपने तोपखाने का प्रयोग न कर सके। शेरशाह ने मुगलों के मुकाबले में मुगल युद्ध-नीति का ही प्रयोग किया और सफल हुआ। अन्त में, मुगल सेना के पैर उखड़ गये और वह भाग खड़ी हुई। हुमायूँ और उसके भाई बड़ी कठिनाई से जान बचाकर भाग सके।

यह युद्ध निर्णायक था। हुमायूँ भागकर आगरा पहुँचा परन्तु वहाँ ठहर न सका। इस बार शेरशाह उसका पीछा करता हुआ आ रहा था। हुमायूँ भागकर लाहौर गया जहाँ उसके भाई उसे मिले परन्तु अब भी वह मिलकर कोई कार्य न कर सके। शेरशाह ने सरलता से आगरा और दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार उसने मुगलों से उत्तर-भारत की राजसत्ता छीन ली। हुमायूँ पंजाब में भी न ठहर सका। वहाँ से उसने कश्मीर या बदख्शां जाने का प्रयत्न किया परन्तु प्रत्येक बार उसके रास्ते में कामरान ने रुकावट डाली। अन्त में, हुमायूँ सिन्ध चला गया जहाँ उसका छोटा भाई हिन्दाल पहले से ही गया हुआ था।

5. हुमायूँ की असफलता के कारण

शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की पराजय के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। विभिन्न भूलें जो हुमायूँ ने अपने शासन के आरम्भ में कीं, वे अन्त में हुमायूँ की पराजय और असफलता के लिए उत्तरदायी हुईं। इस सम्बन्ध में हुमायूँ के प्रति डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का दृष्टिकोण सबसे उदार है। उनके कथनानुसार हुमायूँ की असफलता के लिए उसके भाइयों के विरोध और उसके चरित्र के दोषों को बहुत महत्व दिया गया है जो अनुचित एवं अन्यायपूर्ण है। उसे अपने भाइयों में साम्राज्य का विभाजन प्राचीन तिमूरी परम्परा के कारण करना पड़ा था अन्यथा गृह-युद्ध का भय था। उसने गुजरात को जीतने के पश्चात् माँडू में और बंगाल को जीतने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चात् गौड़ में समय व्यतीत किया उसका कारण ऐशो-आराम अथवा आलस्य न था बल्कि विजित प्रदेशों की व्यवस्था करने की आवश्यकता थी। उसके भाइयों में से कामरान ने आरम्भ के दस वर्षों में उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया। कन्नौज के युद्ध के पश्चात् कामरान को अपने भाई की योग्यता में विश्वास नहीं रहा था और अपने अधीन क्षेत्रों को बचाने की भावना से उसने अपना मार्ग हुमायूँ से अलग कर लिया। अस्करी ने हुमायूँ के विरुद्ध कभी भी विद्रोह नहीं किया बल्कि वह प्रायः सभी बड़े युद्धों में हुमायूँ के साथ रहा। जब कामरान हुमायूँ से अलग हुआ तब अस्करी भी कामरान के साथ चला गया क्योंकि वह दोनों एक ही माँ के पुत्र थे। तब भी उसने चालाकी से हुमायूँ को ईरान भागने में सहायता दी और उसके पुत्र अकबर की देखभाल और सुरक्षा की। छोटा भाई हिन्दाल दुर्बल बुद्धि का था और शीघ्र ही दूसरों के प्रभाव में आ जाता था। इस कारण उसने हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह तो किये परन्तु संकोची हृदय से। कई अवसरों पर उसने भूलें तो कीं परन्तु तब भी उसका सम्बन्ध हुमायूँ से प्रेम के रहे और अन्त में वह हुमायूँ की तरफ से युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। निस्सन्देह, यदि कामरान और हिन्दाल ने समय रहते चौसा के युद्ध से पहले ही हुमायूँ की सहायता की होती तो हुमायूँ का भाग्य बच जाता परन्तु उस समय भी इसका कारण उनकी दुर्भावना नहीं बल्कि भूल थी। जिस समय हुमायूँ युद्ध में पराजित होकर वापस लौटा उस समय भी उन्होंने उसकी दुर्बलता का कोई लाभ नहीं उठाया। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से भी हुमायूँ में ऐसी कोई दुर्बलता न थी जिससे वह एक सफल शासक न होता। वह एक साहसी सैनिक और अनुभवी सेनापति था। उसका अफीम का नशा बाबर के विभिन्न नशों की तुलना में बहुत कम था। बाबर की सफलता हुमायूँ की तुलना में कम होती यदि उसने पानीपत के युद्ध को न जीता होता अथवा उसका मुकाबला शेरशाह से होता। इस कारण हुमायूँ की असफलता के कारण ये न थे। हुमायूँ की पराजय का कारण यह था कि उसके शत्रुओं के पास भी अच्छा तोपखाना था जो बाबर के शत्रुओं के पास न था और शेरशाह हुमायूँ की तुलना में, निस्सन्देह, अधिक अनुभवी और योग्य था। हुमायूँ की एक दुर्बलता उसकी दुर्बल आर्थिक व्यवस्था थी। बाबर की भाँति वह अपव्ययी और उदार था। हुमायूँ के चरित्र की यह दुर्बलता भी उसके लिए हानिकारक थी कि वह दूसरे के शब्दों पर अत्यधिक विश्वास कर लिया करता था। हुमायूँ अपने भाग्य का भी शिकार था। तार्दीबेग का अस्करी की सहायता न करना गुजरात और मालवा के खो जाने का कारण बना, बंगाल का शासक महमूदशाह कुछ महीने भी अपनी रक्षा न कर सका और कन्नौज के युद्ध के अवसर पर घनघोर वर्षा हो गयी जो हुमायूँ की पराजय का मुख्य कारण बनी। उसके राजनीतिक निर्णय भी दोषपूर्ण थे। वे यह सिद्ध करते हैं कि वह मनुष्य और उनके उद्देश्यों को समझने का पारखी न था और वह राजनीतिक परिस्थितियों और प्रशासकीय समस्याओं का उचित आँकलन ही कर पाता था। वह लिखते हैं : "एक कूटनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ की दृष्टि से वह बाबर अथवा शेरशाह के समकक्ष न था।"

डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार, "हुमायूँ का अपने साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम भाग को कामरान के हाथों में छोड़ना, अपनी अर्थ-व्यवस्था को ठीक न करना, समय पर चित्तौड़ की सहायता न करना तथा राजपूतों की सहानुभूति पाने के अवसर को खो देना, दोहरिया के युद्ध के पश्चात् चुनार को अपने आधिपत्य में न लेना, मालवा और गुजरात की विजय के पश्चात् अपनी विजय को संगठित न करना और उसके पश्चात् ऐशो-आराम में डूब जाना, समय रहते शेरशाह को न दबाना आदि उसकी असफलता के कारण थे। हुमायूँ के चरित्र की अत्यधिक उदारता, सैनिक परिस्थितियों को ठीक प्रकार न समझ पाना, निर्णय लेने की शक्ति का अभाव आदि दुर्बलताएँ भी उसकी असफलता का कारण थीं।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "हुमायूँ का अपने भाइयों में राज्य का बँटवारा, रचनात्मक कार्य करने की बजाय आरम्भ से ही युद्ध-नीति को अपनाना, उसका कालिंजर-अभियान, शेरशाह की शक्ति का ठीक आंकलन न करना, 1532 ई. में चुनार का घेरा डालने के पश्चात् अधूरी सन्धि करके वापस आ जाना, बहादुरशाह और शेरखाँ के पारस्परिक सहयोग को न समझ पाना, बहादुरशाह पर उसी समय आक्रमण न करना जबकि वह चित्तौड़ से संघर्ष कर रहा था, गुजरात और मालवा को जीतकर उसका समुचित संगठन न करना, चुनारगढ़ के दूसरे आक्रमण के अवसर पर 6-7 महीने का समय उसके घेरे में नष्ट करना, बिहार में शेरखाँ की शक्ति को समाप्त किये बिना बंगाल चले जाना, चौसा के युद्ध के पश्चात् शेरखाँ को विजित प्रदेशों को संगठित करने का अवसर प्रदान करना, कन्नौज के युद्ध के अवसर पर अपनी सेना को नीची भूमि पर रखना, आदि उसकी असफलता के कारण थे। इसके अतिरिक्त, नेतृत्व का अभाव, संगठन-क्षमता की कमी, धन का अपव्यय, समय-समय पर विलासिता में फँस जाना और दृढ़तापूर्वक निरन्तर कार्य करने की क्षमता न होना आदि चारित्रिक दोष भी उसकी असफलता के कारण थे।"

इस प्रकार, हुमायूँ की असफलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि **हुमायूँ की विभिन्न दुर्बलताएँ और विभिन्न भूलें तथा इनके विपरीत शेरशाह की योग्यता और उसका व्यक्तित्व हुमायूँ की असफलता के मुख्य कारण बने।** लेनपूल ने लिखा है : "हुमायूँ जीवनपर्यन्त लड़खड़ाता रहा और लड़खड़ाते हुए ही उसकी मृत्यु हुई।"

[3]

हुमायूँ का निष्कासित जीवन (1540-1555 ई.)

हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर सिन्ध चला गया। अगले 15 वर्ष हुमायूँ के कठिनतम संघर्ष के रहे। उसने सिन्ध को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। उसी अवसर पर 1541 ई. में उसने हिन्दाल के गुरु मीरअली अकबर की पुत्री हमीदाबानू बेगम से शादी की। उस समय हिन्दाल उसका साथ छोड़ गया और उसके पश्चात् उसका विश्वासपात्र यादगार मिर्जा भी उसका साथ छोड़ गया। यहाँ उसे जोधपुर के शक्तिशाली शासक मालदेव की सहायता का आश्वासन प्राप्त हुआ और हुमायूँ उससे मिलने जोधपुर की तरफ चल दिया। बाद में, सम्भवतया, शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति और हुमायूँ की दुर्बल स्थिति को देखकर मालदेव का विचार बदल गया और हुमायूँ उससे बिना मिले ही वापस लौट पड़ा। मार्ग में अमरकोट के राजा वीरसाल ने उसे संरक्षण व सहायता दी। यहीं उसके लड़के अकबर का जन्म हुआ। परन्तु हुमायूँ वहाँ पर भी न रह सका। उस समय सिन्ध के शासक शाह हुसैन अरगों ने हुमायूँ से छुटकारा पाने हेतु कन्धार के लिए मार्ग देने और रसद तथा धन से सहायता देने का आश्वासन दिया। हुमायूँ ने उसे स्वीकार कर लिया और कन्धार की ओर चल पड़ा। उस समय कन्धार में कामरान की ओर से अस्करी सूबेदार था और कामरान के आदेश से उसने हुमायूँ को पकड़ने का प्रयत्न किया। हुमायूँ बड़ी कठिनाई से अपने एक वर्ष के बच्चे अकबर को वहीं छोड़कर अपनी जान बचाकर भाग सका। 1544 ई. में हुमायूँ ईरान के शाह तहमास्प के संरक्षण में चला गया। उसी वर्ष इन शर्तों के बाद कि हुमायूँ शिया बन जायेगा, अपने राज्य की सीमाओं में शिया धर्म का प्रसार करेगा और कन्धार जीतने के पश्चात् उसे ईरान को दे देगा, शाह ने उसे एक सेना की सहायता कन्धार जीतने के लिए दी। हुमायूँ ने अस्करी और कामरान से कन्धार और काबुल जीत लिया (1545 ई.)। कन्धार को जीतकर एक बार ईरानियों के हाथों में दे दिया गया परन्तु शाह के पुत्र की मृत्यु हो जाने के पश्चात् हुमायूँ ने उसे पुनः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने अधीन कर लिया। लेकिन काबुल और कन्धार को जीतने से हुमायूँ की समस्याओं का हल नहीं निकला। यद्यपि हिन्दाल और यादगार मिर्जा हुमायूँ के साथ आ गये थे और बैरमखां हुमायूँ का योग्य वफादार सरदार सिद्ध हुआ था परन्तु कामरान और अस्करी हुमायूँ का विरोध करते रहे। दो बार कामरान ने काबुल पर अधिकार किया। उसने कभी अफगानों की सहायता ली, कभी उजबेगों की और कभी सिन्ध के अमीर की, परन्तु प्रत्येक बार वह परास्त हुआ और प्रत्येक बार हुमायूँ कामरान और अस्करी को माफ करता रहा। उसने बहुत बाद में ही उनको दण्डित किया। कामरान की आँखें निकाल ली गयीं और उसे मक्का जाने की आज्ञा दे दी गयी जहाँ 1557 ई. में उसकी मृत्यु हुई। उसी प्रकार अस्करी को भी कैद से मुक्त कर मक्का जाने की आज्ञा दे दी गयी। 1558 ई. में उसकी मृत्यु हुई। हिन्दाल हुमायूँ की तरफ से युद्ध करता हुआ 1551 ई. में मारा जा चुका था। इस प्रकार 1554 ई. तक हुमायूँ अपने भाइयों से छुटकारा पा चुका था और अफगानिस्तान को अपनी अधीनता में लेने में सफल हुआ था। उस समय एक बार फिर उसे भारत के खोये हुए साम्राज्य को प्राप्त करने का अवसर मिला।

[4]

भारत की पुनः विजय और मृत्यु (1555-1556 ई.)

नवम्बर 1553 ई. में शेरशाह के उत्तराधिकारी इस्लामशाह की मृत्यु हो गयी। इस्लामशाह अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट करने में असमर्थ रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में फूट पड़ गयी। इस्लामशाह के पुत्र फीरोजशाह की हत्या करके उसके मामा मुबारिजखाँ ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि ग्रहण की। वह अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ जिससे उसके विरुद्ध विद्रोह हुए। लाहौर में सिकन्दरशाह ने, बयाना में इब्राहीमशाह ने और बंगाल में मुहम्मदशाह ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। दिल्ली पर पहले इब्राहीमशाह ने और फिर उसके पश्चात् सिकन्दरशाह ने अपना अधिकार कर लिया। ऐसी स्थिति में **जबकि अफगानों में आपस में संघर्ष चल रहा था, हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण करने की योजना बनायी। नवम्बर 1554 ई. में हुमायूँ पेशावर की ओर बढ़ा** और 1555 ई. में प्रारम्भ में लाहौर तक का प्रदेश सरलता से उसके अधिकार में चला गया। सिकन्दरशाह ने, जिसने थोड़े समय पहले ही इब्राहीम सूर को परास्त करके दिल्ली पर अधिकार किया था, एक बड़ी सेना तातारखाँ और हैबतखाँ के नेतृत्व में मुगलों का मुकाबला करने के लिए भेजी। **15 मई, 1555 ई. को मच्छीवारा का युद्ध हुआ जिसमें मुगलों की विजय हुई।** इस युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण पंजाब मुगलों के अधिकार में चला गया। इसके पश्चात् मुगलों का मुकाबला करने के लिए सिकन्दर सूर स्वयं गया। **22 जून, 1555 ई. को सरहिन्द का युद्ध हुआ। इसमें भी मुगलों की जीत हुई** और सिकन्दर सूर भागकर पंजाब की पहाड़ियों में जा छिपा। सरहिन्द का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। अफगानों ने भारत की सत्ता को सदा के लिए खो दिया। हुमायूँ ने आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (जुलाई 1555 ई.)। आगरा, सम्भल और आसपास के क्षेत्रों पर भी मुगलों ने अधिकार कर लिया।

अभी हुमायूँ अपने जीते हुए भारत के राज्य की सुरक्षा का प्रबन्ध भी न कर पाया था कि उसका अन्त समय आ गया। एक दिन जब वह 'दीनपनाह' के पुस्तकालय की सीढ़ियों से उतर रहा था, उसका पैर फिसल गया और वह लुढ़कता हुआ नीचे जा गिरा। उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गयी और उसी चोट से 27 जनवरी, 1556 ई. को हुमायूँ की मृत्यु हो गयी। अपनी मृत्यु के अवसर पर उसने अपने पुत्र अकबर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[5]

हुमायूँ का चरित्र और मूल्यांकन

व्यक्ति की दृष्टि से हुमायूँ का चरित्र निर्दोष ही नहीं बल्कि प्रशंसनीय था। वह अपने पिता बाबर की भाँति ही सुसंस्कृत और शिक्षित था। तुर्की और फारसी साहित्य के अतिरिक्त उसे भूगोल, गणित, ज्योतिष, मुस्लिम-धर्मशास्त्र आदि में भी रुचि थी। वह आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही सम्बन्धी और प्रेमी पति एवं पिता था। वह अपने सैनिकों और सरदारों के प्रति उदार था तथा उनके साथ सफलताओं और असफलताओं में भाग लेता था। उसका व्यवहार सभी के प्रति बहुत स्नेही और सुसंस्कृत था। धर्म में उसकी पूर्ण आस्था थी परन्तु वह धर्मान्ध न था। वह ज्योतिष में अधिक विश्वास करता था। इसलिए वह सप्ताह में सातों दिन सात रंग के कपड़े पहनता था। मुख्यतः वह इतवार को पीले, शनिवार को काले एवं सोमवार को सफेद रंग का कपड़ा पहनता था। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने ईरान के शिया शासक से सन्धि की थी तथा शिया धर्म को मानने और उसका प्रसार करने की शर्त को स्वीकार कर लिया था। उसकी पत्नी हमीदाबानू बेगम तथा उसका मुख्य सलाहकार और समर्थक बैरमखाँ शिया थे। निस्सन्देह, उसने युद्ध के अवसर पर हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया था, परन्तु हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति कठोर नहीं कही जा सकती। वह सभी विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था और उसका दरबार शान-शौकत का ही नहीं बल्कि शिक्षा और विद्या का भी केन्द्र था। हुमायूँ अत्यधिक उदार और क्षमाशील था। जिस भिश्ती ने चौसा के युद्ध के पश्चात् गंगा पार करने में उसकी सहायता की थी और उसकी जान बचायी थी, उसने उसे एक दिन के लिए दिल्ली का बादशाह बना दिया था। उसके भाइयों, मिर्जा-सम्बन्धियों और बड़े-बड़े सरदारों ने बार-बार हुमायूँ का साथ छोड़ा, उसकी आज्ञाओं की अवहेलना की और उसके विरुद्ध विद्रोह भी किये परन्तु हुमायूँ ने निरन्तर उनको माफ किया और सम्मान दिया। हुमायूँ शारीरिक दृष्टि से बलवान, साहसी और कुशल सैनिक था। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों को बर्दाश्त कर सकता था। एक भी युद्ध ऐसा न था जिसमें उसने साहसपूर्वक भाग न लिया हो और अपने जीवन को खतरे में न डाला हो। अन्त तक धैर्य रखने की क्षमता भी उसमें थी। अतएव हुमायूँ का चरित्र प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि आकर्षक भी था।

परन्तु हुमायूँ में कुछेक दुर्बलताएँ भी थीं जो व्यक्ति और शासक दोनों की दृष्टि से हानिकारक थीं। उसने विभिन्न विद्याओं का अध्ययन किया था परन्तु विद्वत्ता वह किसी में भी प्राप्त न कर सका था। भाषा और लेखन-शैली में भी उसे विशेष योग्यता प्राप्त नहीं थी। उसकी उदारता और क्षमाशीलता उसके भाइयों, सरदारों और सम्बन्धियों के उद्दण्ड व्यवहार और विद्रोहों का कारण बनी थी। इसी कारण शासक की दृष्टि से हुमायूँ असफल हुआ। लेनपूल ने लिखा है : "उसका चरित्र आकर्षक है परन्तु प्रभावशाली नहीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह एक प्रसन्नतावर्धक साथी और एक वफादार मित्र हो सकता था। उसके गुण एक ईसाई की भाँति थे और उसका सम्पूर्ण जीवन एक सज्जन व्यक्ति का जीवन था। लेकिन एक बादशाह की दृष्टि से असफल था।" हुमायूँ एक योग्य सेनापति और सैन्य-संगठनकर्ता न था। जिस सेना ने बाबर के समय में पानीपत, खानुवा और घाघरा के युद्धों को विजय किया और हुमायूँ के आरम्भिक समय में भी जिसने गुजरात और मालवा के विस्तृत राज्य को सरलता से अपने अधिकार में किया, वह बाद में नेतृत्व के अभाव में दुर्बल हो गयी। चौसा और कन्नौज के युद्धों में मुगलों की पराजय का मुख्य कारण कुशल नेतृत्व और रणनीति का अभाव था। हुमायूँ एक योग्य सेनापति की भाँति न तो अपनी दुर्बलताओं को छिपा सकता था और न ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने शत्रु की दुर्बलताओं को समझ पाता था। हुमायूँ में कूटनीतिज्ञता का अभाव था। वह राजनीतिक दाँव-पेचों और परिस्थितियों को समय रहते न समझ पाता था। मुगल बादशाहों में हुमायूँ ही एकमात्र शासक था जिसने अपने भाइयों में साम्राज्य का विभाजन किया था। शेरशाह के विरुद्ध उसकी असफलता का यह मूल कारण रहा। वह न तो अपने शत्रु को समय रहते पहचान पाया और न युक्तिपूर्वक अपने भाइयों को अपने साथ रख सका। मुगलों की शक्ति उसके नेतृत्व में बिखर गयी और वह अफगानों के विरुद्ध उसकी पराजय का मुख्य कारण बना। हुमायूँ योग्य शासन-प्रबन्धक न था। अपने विजित प्रदेशों की शासन-व्यवस्था वह कभी भी ठीक प्रकार से न कर सका। अपने अन्तिम दिनों में भारत के शासन के लिए जो योजना उसने बनायी थी, वह न तो कभी लागू की जा सकी और न ही सैद्धान्तिक आधार पर वह लाभदायक अथवा प्रभावपूर्ण थी। हुमायूँ ने आर्थिक व्यवस्था पर भी कभी नियन्त्रण नहीं रखा। बाबर के समय से उत्पन्न हुई आर्थिक दुर्व्यवस्था उसके समय में ठीक होने के स्थान पर और खराब हुई। इसी कारण मेलीसन ने लिखा है : "बहादुर, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, सुखद मित्र, उच्च शिक्षा-प्राप्त, उदार और करुणापूर्ण हुमायूँ दृढ़ सिद्धान्तों के आधार पर एक राजवंश की स्थापना करने में अपने पिता से भी कम योग्य था।" हुमायूँ की ये दुर्बलताएँ उसकी असफलता का कारण थीं।

परन्तु फिर भी हुमायूँ के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि हुमायूँ में अपने पिता की भाँति दृढ़ता थी। असफलताओं ने उसे निराश और अकर्मण्य नहीं बनाया। पर्शिया के शाह की प्रारम्भिक सहायता मात्र से उसने अपने भाइयों से अफगानिस्तान का राज्य छीन लिया और उसके पश्चात् जैसे ही उसे अवसर मिला उसने अफगानों से भारत को पुनः जीत लिया। भारत की पुनर्विजय हुमायूँ को भारतीय इतिहास में स्थान प्रदान कर देती है क्योंकि वह पुनः अफगानों की शक्ति को तोड़कर मुगल-वंश को दिल्ली में स्थापित कर देती है। इस कारण हुमायूँ का चरित्र, उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, उसकी सफलताएँ और असफलताएँ—सभी कुछ मिलकर हुमायूँ के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण बनाती हैं और इसी कारण इतिहासकार उसे 'भाग्यहीन हुमायूँ' पुकारते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हुमायूँ की प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन कीजिए तथा उसकी असफलता का वर्णन कीजिए।
2. 'हुमायूँ जीवनभर ठोकरें खाता रहा और ठोकर खाकर ही उसके जीवन का अन्त हुआ।' क्या आप सहमत हैं ?
3. हुमायूँ एवं शेरशाह के युद्धों का वर्णन कीजिए तथा शेरशाह की सफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चौसा के युद्ध के परिणाम बताइए।
2. हुमायूँ की असफलता के कारण लिखिए।
3. हुमायूँ के निष्कासित जीवन पर प्रकाश डालिए।
4. 1531 ई. के कालिंजर के युद्ध का वर्णन कीजिए।
5. हुमायूँ की व्यक्तिगत दुर्बलताओं पर प्रकाश डालिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. हुमायूँ के सिंहासनारोहण का प्रारम्भ में कौन विरोधी था ?
   (अ) निजामुद्दीन अली मुहम्मद खलीफा (ब) खानजादा बेगम
   (स) मेंहदी ख्वाजा (द) बाबर।
2. बाबर ने अपने पुत्र हुमायूँ को विरासत में कैसा साम्राज्य दिया था ?
   (अ) संगठित (ब) असंगठित
   (स) दुर्बल (द) इनमें से कोई नहीं।
3. हुमायूँ के तीन छोटे भाई थे—
   (अ) अयोग्य (ब) गैर-वफादार
   (स) अदूरदर्शी (द) उपर्युक्त तीनों अवगुणों से विभूषित।
4. हुमायूँ के सगे-सम्बन्धियों में उसके प्रबल विरोधी थे—
   (अ) मुहम्मद जमान मिर्जा (ब) मुहम्मद सुल्तान मिर्जा
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
5. हुमायूँ की सबसे बड़ी भूल थी—
   (अ) भाइयों से स्नेह करना (ब) साम्राज्य का बँटवारा करना
   (स) सुराप्रेमी होना (द) दृढ़ इच्छा शक्ति का अभाव होना।
6. कालिंजर के शासक का नाम था—
   (अ) प्रताप रुद्रदेव (ब) भीम द्वितीय
   (स) कर्ण बघेल (द) इनमें से कोई नहीं।
7. चुनार का प्रथम घेरा डाला गया था—
   (अ) 1528 ई. में (ब) 1530 ई. में
   (स) 1532 ई. में (द) 1534 ई. में।
8. बहादुरशाह को किस प्रसिद्ध तोपची की सहायता प्राप्त थी ?
   (अ) मुश्ताक की (ब) रुमी खाँ की
   (स) अफजल खाँ की (द) इनमें से कोई नहीं।
9. किस हिन्दू राजमाता ने हुमायूँ को राखी भेजी थी ?
   (अ) राजमाता दुर्गावती ने (ब) राजमाता जीजाबाई ने
   (स) राजमाता लक्ष्मी ने . (द) राजमाता कर्णवती ने।
10. हुमायूँ ने समय पर राखी स्वीकार करने के बाद भी हिन्दू राजमाता की सहायता क्यों नहीं की थी ?
    (अ) बहादुरशाह के भय से (ब) अपनी दुर्बल राजनीतिक स्थिति के कारण
    (स) धार्मिक अन्धविश्वास से (द) इनमें से कोई नहीं।
11. चम्पानेर के दुर्ग पर विजय के बाद प्राप्त धन का हुमायूँ ने क्या किया ?
    (अ) सैनिकों व सरदारों में बाँट दिया (ब) सेना संगठित की
    (स) अपनी विलासिता पर व्यय किया (द) इनमें से कोई नहीं।
12. बंगाल विजय के बाद हुमायूँ ने आठ माह व्यतीत किये—
    (अ) युद्ध की तैयारी में (ब) ऐशोआराम में
    (स) सैनिकों को प्रशिक्षित करने में (द) कूटनीतिक चालों में।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. हुमायूँ और शेरशाह के मध्य चौसा का युद्ध लड़ा गया था—
(अ) 1536 ई. में (ब) 1537 ई. में
(स) 1538 ई. में (द) 1539 ई. में।

14. हुमायूँ की भारत से निष्कासित अवधि कितने वर्ष थी ?
(अ) 10 वर्ष (ब) 15 वर्ष
(स) 18 वर्ष (द) 25 वर्ष।

15. 1555 ई. में भारत पर किनका शासन था ?
(अ) अफगानों का (ब) अंग्रेजों का
(स) मुगलों का (द) फ्रांसीसियों का।

[उत्तर—1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (ब), 6. (अ), 7. (स), 8. (ब), 9. (द), 10. (ब), 11. (अ), 12. (ब), 13. (द), 14. (ब), 15. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3

शेरशाह सूर और उसके उत्तराधिकारी (1540-1555 ई.)

[1]

शेरशाह सूर (1540-1545 ई.)

1. प्रारम्भिक जीवन (1472-1530 ई.)

"अगर भाग्य ने मेरी सहायता की और सौभाग्य मेरा मित्र रहा, तो मैं मुगलों को सरलता से हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दूँगा।" यह शेरशाह ने उस समय कहा था जबकि वह मुगल सेना में था और बाबर को चन्देरी के आक्रमण में सहयोग दे रहा था। शेरशाह ने अपने शब्दों को सत्य सिद्ध किया और उसने उत्तर-भारत में सूर-वंश के द्वितीय अफगान-साम्राज्य की स्थापना की। शेरशाह इतिहास के उन महान् व्यक्तियों में से एक था जो केवल अपने परिश्रम, योग्यता और अपनी तलवार की शक्ति के आधार पर साधारण व्यक्ति के स्तर से उठ कर राजपद तक पहुँचा। शेरशाह न तो किसी राजवंश से, न किसी धनाढ्य परिवार से और न किसी ख्याति-प्राप्त धार्मिक अथवा सैनिक नेता से सम्बन्धित था। जो कुछ भी उसने प्राप्त किया वह केवल अपने स्वयं के पौरुष और पुरुषार्थ से प्राप्त किया। इस कारण शेरशाह की गणना महान् व्यक्तियों में की जाती है।

शेरशाह का बचपन का नाम फरीद था। उसका बाबा इब्राहीम घोड़ों का व्यापार करता था। इब्राहीम सूर और उसके लड़के हसन सूर ने हिसार-फिरोजा के अफगान सरदार जमालखाँ के यहाँ सैनिक नौकरी की और वहीं पर हसन की अफगान पत्नी से बजवाड़ा नामक स्थान पर अथवा डॉ. कानूनगो के अनुसार नारनौल परगने में 1472 ई. (डॉ. कानूनगो के अनुसार 1486 ई.) में फरीद का जन्म हुआ। जब सिकन्दर लोदी के समय में जमालखाँ को बिहार में जौनपुर की जागीर दी गयी तब हसन भी उसके साथ गया और जमालखाँ ने उसे सहसराम, हाजीपुर, खवासपुर और टाँडा की जागीर प्रदान की। हसन के चार पत्नी और आठ पुत्र थे। फरीद और निजाम पहली पत्नी से तथा सुलेमान और अहमद उसकी चौथी पत्नी से पैदा हुए थे। हसन अपनी चौथी पत्नी से अधिक प्रभावित था। उसने अपनी पहली पत्नी के बच्चों की कभी परवाह नहीं की। इस कारण **फरीद का प्रारम्भिक जीवन सुखमय न रहा।** अपने पिता से झगड़ा करके फरीद 22 वर्ष की आयु में जौनपुर भाग गया जो उस समय शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र माना जाता था। उसने वहाँ तीन वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की, अरबी और फारसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ज्ञान प्राप्त किया। फारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ गुलिस्तां, बुस्तां और सिकन्दरनामा का अध्ययन किया और सम्भवतया, हिन्दी तथा गणित को भी सीखा तथा अपनी प्रतिभा से अपने पिता के मालिक जमालखाँ को प्रभावित कर दिया। जमालखाँ ने बाप-बेटे में समझौता करा दिया। उसी के कहने से हसन ने अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद को सौंप दिया। **1497 से 1518 ई. तक निरन्तर 21 वर्ष फरीद ने अपने पिता की जागीर की देखभाल की, उसको समृद्धि व शान्ति प्रदान की तथा शासन का अनुभव प्राप्त किया।** 1518 ई. में अपनी सौतेली माँ और भाइयों के कारण उसका अपने पिता से पुनः झगड़ा हो गया और उसी वर्ष वह दौलतखाँ की सेवा में आगरा चला गया जिसने इब्राहीम लोदी से उसे उसके बाप की जागीर दे देने की सिफारिश की। इब्राहीम ने उस समय तो नहीं परन्तु 1520 ई. में हसन की मृत्यु के पश्चात् फरीद को उसके पिता की जागीर दे दी और फरीद ने अपनी जागीर पर अधिकार कर लिया। उसके सौतेले भाई सुलेमान ने एक शक्तिशाली अफगान सरदार मुहम्मद खाँ की सहायता लेकर फरीद से जागीर के बँटवारे की बात की। फरीद ने इससे इंकार कर दिया और अपनी रक्षा के लिए दक्षिण-बिहार के सूबेदार बहारखाँ लोहानी के यहाँ नौकरी कर ली। **वहाँ एक शेर को मारने के उपलक्ष्य में फरीद को 'शेरखाँ' की उपाधि दी गयी।** बहारखाँ ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे अपने लड़के जलालखाँ का संरक्षक और उसके पश्चात् दक्षिण-बिहार का उप-सूबेदार नियुक्त कर दिया।

शेरखाँ की इतनी शीघ्र उन्नति से ईर्ष्या मानते हुए लोहानी सरदारों ने बहारखाँ के कान भरने शुरू कर दिये। उसी अवसर पर पानीपत के युद्ध (1526 ई.) के पश्चात् मुगलों ने दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार कर लिया और बहारखाँ ने अपने आप को मुहम्मदशाह के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। शेरखाँ के शत्रुओं ने मुहम्मदशाह को भड़काने में सफलता प्राप्त की और शेरखाँ को दक्षिण-बिहार छोड़ना पड़ा। **शेरखाँ बाबर की सेवा में चला गया जहाँ उसने मुगलों के सैनिक-संगठन और रणनीति को समझा।** वह चन्देरी के युद्ध में सम्मिलित हुआ। **बाद में वह वहाँ से भाग कर बिहार चला गया। मुहम्मदशाह ने उसे पुनः अपने पुत्र जलालखाँ का संरक्षक नियुक्त कर दिया।** 1528 ई. में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा पत्नी 'दूदू' ने शेरखाँ को अपने पुत्र जलालखाँ का संरक्षक और शासन का प्रधान नियुक्त कर दिया क्योंकि उसका लड़का जलालखाँ अभी बच्चा ही था। एक प्रकार से उस समय से दक्षिण-बिहार का शासन-प्रबन्ध शेरखाँ ने ही किया। उस अवसर का उपयोग उसने अपने योग्य और विश्वासपात्र व्यक्तियों को अच्छे-अच्छे पद प्रदान करके किया जिससे वह उसके प्रति वफादार हों और शासन पर उसका अधिकार रहे। 1529 ई. में इब्राहीम लोदी के छोटे भाई महमूद लोदी की तरफ से उसने अनिच्छा से मुगलों से लड़ना स्वीकार किया। युद्ध (घाघरा का युद्ध) में अफगानों की पराजय हुई और जलालखाँ के साथ-साथ मुगलों की अधीनता स्वीकार करने से उसे भी अपनी जागीर वापस मिल गयी और वह पुनः जलालखाँ के संरक्षक के रूप में कार्य करने लगा। 1529 ई. में बंगाल के शासक नुसरतशाह ने दक्षिण-बिहार पर आक्रमण किया परन्तु शेरखाँ ने उसे परास्त कर दिया। लोहानी-वंश के सरदार शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति को बर्दाश्त न कर सके और उन्होंने उसकी हत्या का प्रयत्न किया। उसमें असफल होने पर उन्होंने नुसरतशाह से सहायता माँगी और जब उससे भी कोई लाभ न हुआ तब वह अल्पायु जलालखाँ को लेकर बंगाल भाग गये। **जलालखाँ के स्वयं भाग जाने से शेरखाँ का मार्ग स्वतः ही साफ हो गया। उसने 'हजरत-ए-आला' की उपाधि ग्रहण की और दक्षिण-बिहार का वास्तविक स्वामी बन बैठा।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1530 ई. में उसने चुनार के किलेदार ताजखाँ की विधवा पत्नी 'लाड मलिका' से विवाह करके न केवल चुनार के दृढ़ किले पर ही अधिकार कर लिया बल्कि अपार सम्पत्ति भी प्राप्त की।

2. साम्राज्य के लिए संघर्ष (1530-40 ई.)

दक्षिण-बिहार के आधिपत्य और बंगाल की सेना पर विजय ने शेरखाँ की महत्वाकांक्षाओं को बढ़ा दिया। उसने नियमित रूप से अफगानों को संगठित करना प्रारम्भ किया और सभी अफगानों को सैनिक बनने के लिए बाध्य किया। उसने अफगानों की मुगलों के प्रति घृणा का लाभ उठाया और दूर-दूर से अफगानों को अपना साथ देने के लिए आह्वान किया। उसकी शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। परन्तु तब भी उस समय शेरखाँ अफगानों का एकमात्र नेता न था। 1530 ई. में हुमायूँ मुगल बादशाह बन चुका था और अफगानों ने महमूद लोदी के नेतृत्व में पुनः मुगलों से संघर्ष का निर्णय किया। बिहार में अफगान सरदार एकत्र होने लगे। शेरखाँ को यह सिद्ध करने के लिए कि वह मुगलों के विरुद्ध अफगान-एकता को आवश्यक मानता है, उनका साथ देना पड़ा। 1532 ई. में हुए दोहरिया के युद्ध में शेरखाँ हुमायूँ के विरुद्ध अफगानों के साथ रहा। परन्तु युद्ध में उसका भाग महत्वपूर्ण न था। अफगानों की पराजय हुई और महमूद लोदी सर्वदा के लिए भाग गया। महमूद लोदी के राजनीति से हटते ही शेरखाँ को अफगानों का नेतृत्व करने का अवसर प्राप्त हो गया।

1532 ई. में हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाला परन्तु चार महीने के घेरे के पश्चात् भी उसे सफलता न मिली। गुजरात के शासक बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर हुमायूँ ने शेरखाँ से सन्धि करना उचित समझा। चुनार का किला शेरखाँ के पास ही रहने दिया गया। शेरखाँ ने अपने बेटे कुतुबखाँ के नेतृत्व में 5,000 सैनिक हुमायूँ की सेवा में भेज दिये। शेरखाँ के लिए यह समझौता हानिकारक न था। उसका बेटा कुतुबखाँ मन्दसौर के युद्ध के बाद हुमायूँ को छोड़कर उसी के साथ आ मिला।

उस समय जब हुमायूँ गुजरात और मालवा में व्यस्त था तब शेरखाँ ने बंगाल की ओर अपने कदम बढ़ाये। बंगाल का शासक महमूदशाह अयोग्य था। उसके समय में बंगाल की स्थिति दुर्बल हो रही थी। परन्तु उसने दक्षिणी बिहार पर आक्रमण करने का दुःसाहस किया। 1534 ई. में सूरजगढ़ का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ जिसमें शेरखाँ की पूर्ण विजय हुई और उसे भूमि, तोपखाना, हथियार, हाथी और सभी कुछ मिले। 1535 ई. में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण किया और महमूदशाह ने 13 लाख सोने के सिक्के देकर उससे सन्धि कर ली। 1537 ई. में शेरखाँ ने इस आधार पर कि महमूदशाह ने उसे वार्षिक कर नहीं दिया था, बंगाल पर पुनः आक्रमण किया। महमूदशाह अपनी सुरक्षा न कर सका और राजधानी गौड़ भाग गया तथा हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की।

1537 ई. में हुमायूँ शेरशाह की शक्ति को दबाने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा। 1537-38 ई. में हुमायूँ ने 6 माह चुनार के किले को जीतने में लगाये। उस समय तक शेरखाँ ने गौड़ को जीतकर लूट लिया और उसकी सेना वहाँ से वापस आ गयी। 1538 ई. में शेरखाँ ने चालाकी से दक्षिण-बिहार के एक दृढ़ किले रोहतासगढ़ पर अपना अधिकार कर लिया। इसी किले में उसने अपने परिवार और खजाने को सुरक्षित किया और हुमायूँ से संघर्ष की तैयारी की। हुमायूँ बिहार को बिना जीते हुए बंगाल चला गया और वहाँ 6 या 7 माह रहा। इस बीच शेरखाँ ने उसके वापस लौटने के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। 1539 ई. में चौसा का युद्ध हुआ जिसमें हुमायूँ पराजित होकर भाग गया। इस विजय के पश्चात् अपने सरदारों की सम्मति से शेरखाँ ने 'शेरशाह सुल्तान-ए-आदिल' की उपाधि ग्रहण की और सुल्तान बन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया। बंगाल में जिस छोटी सी सेना को हुमायूँ छोड़ आया था, उसे परास्त करके बंगाल पर अधिकार कर लिया गया और इस प्रकार चौसा के युद्ध के पश्चात् शेरशाह बंगाल और बिहार का सुल्तान बन गया। 1540 ई. में कन्नौज या बिलग्राम के युद्ध में शेरशाह ने हुमायूँ को पुनः परास्त किया। उसके पश्चात् शेरशाह ने आगरा, दिल्ली, सम्भल, ग्वालियर, लाहौर आदि सभी स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया, हुमायूँ को भारत से बाहर निकालने के लिए एक सेना भेज दी और इस प्रकार मुगलों को भारत से बाहर निकालकर पुनः उत्तर-भारत में अफगान-साम्राज्य को स्थापित किया। (हुमायूँ के साथ संघर्ष के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 2 पढ़िए।)

3. साम्राज्य-विस्तार (अन्तिम समय और मृत्यु—1540-45 ई.)

दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् शेरशाह का प्रमुख लक्ष्य हुमायूँ को भारत से बाहर निकालना तथा उत्तर-पश्चिम की ओर से मुगलों के पुनः प्रवेश को असम्भव बनाना था। उसे उन सभी प्रदेशों को जीतना था जो किसी समय मुगलों अथवा लोदी सुल्तानों के आधिपत्य में थे। इसके अतिरिक्त शेरशाह ने अपने साम्राज्य की सुदृढ़ता के लिए अन्य प्रदेशों को भी अपने अधिकार में करना आवश्यक समझा। इसी कारण, 1545 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक एक अच्छी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने के अतिरिक्त शेरशाह निरन्तर युद्धों और राज्य-विस्तार में लगा रहा।

शेरशाह ने खवासखाँ और कुतुबखाँ को हुमायूँ को भारत से बाहर निकालने के लिए नियुक्त किया और स्वयं आगरा और दिल्ली की व्यवस्था करने के पश्चात् लाहौर और उसके पश्चात् खुशाब तक गया। वहाँ पर बहुत से बलूची सरदारों ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और जब वह हुमायूँ की ओर से निश्चिन्त हो गया तब उत्तर-पश्चिम सीमा के गक्खर प्रदेश को जीतने के लिए गया।

1. गक्खर प्रदेश (1541 ई.)—शेरशाह का उद्देश्य बोलन दर्रे और पेशावर से आने वाले मार्गों को मुगलों के आक्रमणों से सुरक्षित करना था। विभिन्न बलूची सरदारों और सिन्ध के कुछ भाग पर अधिकार करने से कुछ सुरक्षा उसे प्राप्त हो गयी थी परन्तु गक्खर जाति मुगलों के प्रति वफादार थी। शेरशाह ने गक्खरों को समाप्त करने का निश्चय किया। उसने उनके प्रदेश पर आक्रमण किया, उनके मुख्य स्थानों को नष्ट कर दिया और अनेक गक्खरों को कैद कर लिया। वह गक्खरों की शक्ति को तोड़ सका परन्तु समाप्त न कर सका। अनेक गक्खर सरदार इसके बाद भी शेरशाह का विरोध करते रहे और एक लम्बे समय तक यह संघर्ष चलता रहा।

अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए शेरशाह ने वहाँ एक दृढ़ किला बनवाया जिसका नाम उसने 'रोहतासगढ़' रखा। उसने वहाँ हैबतखाँ और खवासखाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली अफगान सेना नियत की। वहीं से शेरशाह ने एक भागे हुए राजकुमार की सहायता करके कश्मीर के शासक मिर्जा हैदर को गद्दी से हटाने का प्रयत्न किया यद्यपि उसे सफलता न मिली।

2. बंगाल का विद्रोह (1541 ई.)—अभी शेरशाह पंजाब को ठीक प्रकार से व्यवस्थित भी न कर सका था कि उसे बंगाल से चिन्ताजनक सूचनाएँ प्राप्त हुईं। सूबेदार खिज्रखाँ ने मृत सुल्तान महमूदशाह की पुत्री से शादी कर ली थी और एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार कर रहा था। शेरशाह स्वयं वहाँ गया और खिज्रखाँ को कैद कर लिया। बंगाल जैसे दूरस्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धनवान सूबे में विद्रोह की आशंकाओं को समाप्त करने के लिए शेरशाह ने वहाँ एक अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्था स्थापित की। उसने बंगाल को सरकारों (जिलों) में बाँटकर उनमें से प्रत्येक को एक छोटी सेना के साथ शिकदारों के नियन्त्रण में दे दिया और शिकदारों की देखभाल के लिए एक असैनिक अधिकारी 'आमीन-ए-बंगला' अथवा 'अमीर-ए-बंगाल' को नियुक्त किया। सर्वप्रथम काजी फजीलात नामक व्यक्ति को यह पद दिया गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बंगाल में किसी भी अधिकारी के पास एक बड़ी सेना न रही जिससे उनमें से कोई भी विद्रोह करने की स्थिति में न रहा।

3. मालवा (1542 ई.)—मालवा में मल्लूखाँ गुजरात के सूबेदार के रूप में कार्य कर रहा था। परन्तु बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसने स्वतन्त्र शासक के रूप में मालवा पर अधिकार करके अपने को 'कादिरशाह' की उपाधि से विभूषित कर लिया (1537 ई.)। माँडू, सारंगपुर, उज्जैन और रणथम्भौर के दृढ़ किले उसके अधिकार में थे। उसने 1540 ई. में शेरशाह के बेटे कुतुबखाँ को सहायता देने से इंकार किया था जिसके कारण कालपी के युद्ध में अस्करी और हिन्दाल ने उसकी हत्या कर दी। उसने शेरशाह के आधिपत्य को भी मानने से इंकार कर दिया था। परन्तु शेरशाह को इसका अधिक भय था कि कहीं दुर्बल कादिरखाँ जोधपुर के शासक मालदेव अथवा हुमायूँ के संरक्षण में न चला जाय, जिनसे शेरशाह को खतरा हो सकता था। इस कारण शेरशाह मालवा पर आक्रमण करने के लिए गया। मार्ग में उसने ग्वालियर के किले को अपने आधिपत्य में किया। कादिरशाह डर गया और सारंगपुर आकर उसने शेरशाह को आत्मसमर्पण कर दिया। माँडू, उज्जैन, सारंगपुर आदि सभी स्थान शेरशाह के अधिकार में चले गये। शुजातखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया और कादिरशाह को लखनौती व कालपी की जागीरें दी गयीं। परन्तु कादिरशाह अपनी जान बचाकर गुजरात भाग गया। वापस आते हुए शेरशाह ने रणथम्भौर के किलेदार को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया और यह दृढ़ किला भी शेरशाह को प्राप्त हो गया। बाद में मालवा को पुनः जीतने का कादिरशाह का प्रयत्न असफल हुआ।

4. रायसीन (1543 ई.)—मालवा को जीतने के पश्चात् शेरशाह बिहार गया। वहाँ उसने पटना नगर बसाया और वहाँ एक दृढ़ किला बनवाया। वहीं उसे यह समाचार मिला कि रायसीन के राजा पूरनमल ने मुसलमानों पर इतने अत्याचार किये थे कि सम्मानित मुस्लिम परिवारों की स्त्रियों को नाचने-गाने का पेशा करना पड़ रहा था। शेरशाह ने पूरनमल को दण्ड देने की शपथ ली। डॉ. कानूनगो के अनुसार, "शेरशाह का रायसीन पर आक्रमण करने का कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था।" पूरनमल के अधिकार में रायसीन और चन्देरी के दृढ़ किले थे जिनका शासन वह अपने बड़े भाई के छोटे बेटे के नाम से करता था। मालवा में उन शक्तिशाली किलों को राजपूतों के आधिपत्य में छोड़ना शेरशाह के लिए कभी भी खतरनाक हो सकता था। यद्यपि शेरशाह के मालवा-आक्रमण के अवसर पर पूरनमल ने शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु शेरशाह इतने से सन्तुष्ट न रह सका। राजनीतिक और धार्मिक कारणों के अतिरिक्त शेरशाह की निगाहें रायसीन राज्य की सम्पत्ति पर भी थीं।

1543 ई. में शेरशाह ने रायसीन पर आक्रमण किया। कई माह तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु शेरशाह को सफलता न मिली। अन्त में, शेरशाह ने चालाकी से काम लिया। उसने कुरान पर हाथ रखकर शपथ ली कि यदि किला उसे सौंप दिया जाय तो वह पूरनमल और उसके सरदारों के परिवारों के सम्मान और जीवन को हानि नहीं पहुँचायेगा। कुतुबखाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और शाहजादा आदिलखाँ इस शर्त को पूरा करने के गवाह बने। इस आश्वासन पर पूरनमल ने आत्मसमर्पण कर दिया। वह अपने राजपूत सैनिकों के साथ किले से बाहर आ गया तथा शेरशाह के खेमों के निकट ही ठहर गया। किला अफगानों को सौंप दिया गया। तत्पश्चात् रायसीन के मुस्लिम परिवारों और स्त्रियों ने शेरशाह से रो-रोकर पूरनमल को सजा देने की प्रार्थना की और मुल्लाओं ने शेरशाह को अपनी शपथ तोड़ देने की सलाह दी। शेरशाह को भी केवल बहाना चाहिए था। एक रात राजपूतों के खेमों को घेर लिया गया। प्रातःकाल होते-होते राजपूतों को अफगानों का उद्देश्य समझ में आ गया और उन्होंने अपने बच्चों व स्त्रियों को कत्ल करना आरम्भ कर दिया जिससे उनके सम्मान की रक्षा हो सके। उसी अवसर पर अफगानों ने राजपूतों पर आक्रमण किया। सभी राजपूत बहादुरी से युद्ध करते हुए मारे गये तथा स्त्रियों ने 'जौहर' कर लिया। दुर्भाग्य से जो कुछ जीवित बचे उन्हें अफगानों ने गुलाम बना लिया। इन्हीं में पूरनमल की एक छोटी लड़की थी जिसे बाजार में नाचने के लिए छोड़ दिया गया। शेरशाह ने कम से कम कीमत देकर रायसीन के दृढ़ किले को जीत लिया था। परन्तु इस घटना ने 'शेरशाह के नाम पर सबसे गहरा धब्बा छोड़ा' (Left the deepest blot on Sher Shah's memory)। इस विश्वासघात से कुतुबखाँ ने इतनी शर्म अनुभव की कि आत्महत्या कर ली।

5. मुल्तान (1543 ई.)—शेरशाह ने खवासखाँ को पंजाब से वापस बुला लिया था और हैबतखाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया था। हैबतखाँ ने फतहखाँ जाट को परास्त करके कैद किया और शेरशाह के आदेश से मुल्तान को भी विजय किया। वहाँ पर शेरशाह ने बलूचियों की परम्पराओं का ध्यान रखते हुए ही शासन-व्यवस्था की। सम्भवतया, सिन्ध के कुछ भाग पर शेरशाह का अधिकार पहले ही हो चुका था। दोनों ही स्थानों पर शेरशाह ने अपने अधिकारियों की नियुक्ति की।

6. राजस्थान : मालदेव से युद्ध (1544 ई.)—1532 ई. में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् मालदेव मारवाड़ का शासक बना था। उसकी राजधानी जोधपुर थी। वह योग्य, साहसी और महत्वाकांक्षी था। मेवाड़ के पतन के पश्चात् राजस्थान में कोई एक बड़ी शक्ति नहीं रह गयी थी। मालदेव ने इसका लाभ उठाया। वह शेरशाह के दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने तक राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया। उसने मेड़ता, सिवाना, जालौर, टोंक, नागौर तथा अजमेर जैसे महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया था और झाझर, जो उसकी सीमाओं में था, दिल्ली से केवल तीस मील दूर था। शेरशाह किसी भी राजपूत राजा की बढ़ती हुई शक्ति को पसन्द नहीं करता था। मालदेव कभी भी उसके लिए संकट उपस्थित कर सकता था। मालदेव ने एक बार हुमायूँ को सहायता देने का आश्वासन दिया था, परन्तु बाद में शेरशाह की शक्ति की यथार्थता को देखकर उसने हुमायूँ को सहायता तो न दी परन्तु जैसी कि शेरशाह की इच्छा थी, उसने हुमायूँ को कैद करने का प्रयत्न भी नहीं किया। इस कारण शेरशाह मालदेव की शक्ति को समाप्त करने का उत्सुक था। जब बीकानेर के राजा राव कल्याणमल और मेड़ता के राजा वीरमदेव ने मालदेव के विरुद्ध शेरशाह से सहायता माँगी तब शेरशाह को बहाना मिल गया और उसने 80,000 की विशाल सेना के साथ राजस्थान में प्रवेश किया। जोधपुर से 70 मील दूर मालदेव और शेरशाह की सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख पहुँच गयीं। शेरशाह को रसद की कठिनाई थी और राजपूतों की सेना दृढ़ और शक्तिशाली थी। मालदेव भी अवसर की तलाश में था। इस कारण प्रायः एक माह तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख पड़ी रहीं। शेरशाह ने एक बार फिर शौर्य के स्थान पर चालाकी का सहारा लिया। उसने एक झूठा पत्र तैयार कराया जो मालदेव के कुछ राजपूत सरदारों की तरफ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से शेरशाह को लिखा गया था और जिसमें उनकी तरफ से यह आश्वासन दिया गया था कि वे युद्ध के अवसर पर मालदेव का साथ छोड़ देंगे तथा मालदेव को कैद करके शेरशाह को सौंप देंगे। इस पत्र को मालदेव के खेमों के निकट डलवा दिया गया जिससे वह सुविधा से मालदेव को मिल जाये। मालदेव के एक सरदार को वह मिल गया और उसे मालदेव तक पहुँचा दिया गया। उस पत्र का वैसा ही परिणाम हुआ जैसा शेरशाह चाहता था। मालदेव को अपने सरदारों पर भरोसा न रहा। उसने युद्ध करने का निश्चय छोड़ दिया और वापस लौटने का निर्णय लिया। कुछ सम्मानित सरदारों जैसे जयता और कुम्पा ने इस विश्वासघात के कलंक और आरोप को धोने का निर्णय किया और अपने कुछ हजार राजपूतों को लेकर शेरशाह पर आक्रमण किया। एक-एक राजपूत अन्त तक बहादुरी से लड़ता हुआ मारा गया। मालदेव पर सत्यता प्रकट हो गयी परन्तु तब तक काफी देर हो चुकी थी। उसकी सेना की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में उसे वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा। शेरशाह की यह विजय कूटनीतिक विजय थी अन्यथा राजपूतों के शौर्य से शेरशाह इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने कहा कि "मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान के साम्राज्य को प्रायः खो चुका था।" शेरशाह ने मालदेव का पीछा किया तथा अजमेर, जोधपुर, नागौर, मेड़ता, आबू आदि सभी नगर और किले उसने जीत लिये। मालदेव के पास मारवाड़ की भूमि का बहुत छोटा-सा भाग रह गया। शेरशाह ने वीरमदेव को मेड़ता और कल्याणमल को बीकानेर दिया तथा जोधपुर से मेवात तक के बाकी सभी क्षेत्र को खवासखाँ की सूबेदारी में सौंप दिया। परन्तु शेरशाह की मारवाड़-विजय स्थायी न रह सकी। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् खवासखाँ ने विद्रोह कर दिया और मालदेव ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण मारवाड़ पर पुनः अधिकार कर लिया। परन्तु यह कार्य शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् 1546 ई. में ही सम्भव हो सका।

मारवाड़ को विजय करके वापस लौटते हुए शेरशाह ने मेवाड़ को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की स्थिति निरन्तर दुर्बल होती गयी थी। बलबीर नामक एक व्यक्ति ने तत्कालीन राजा विक्रमाजीत को मारकर गद्दी पर अपना अधिकार किया था। उसने उसके छोटे बच्चे उदयसिंह को भी मारने का प्रयत्न किया था परन्तु राजकुमार की धाय पन्ना ने अपने बच्चे का जीवन देकर राजकुमार को बचा लिया। वही बच्चा उदयसिंह 1542 ई. में राजा बना। परन्तु राज्य की स्थिति ठीक न थी। जब शेरशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तब उदयसिंह के मन्त्रियों ने चित्तौड़ को स्वेच्छा से शेरशाह को समर्पित कर दिया और शेरशाह के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया। चित्तौड़ को शेरशाह ने 'सरकार' में परिवर्तित कर दिया जिससे राणा ने अपनी राजधानी कुम्भलगढ़ बना ली। शेरशाह ने रणथम्भौर को भी अपने अधीन किया और, सम्भवतया, जयपुर के कछवाहा राजपूत सरदारों ने भी उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार, शेरशाह ने राजस्थान को अपने अधीन करने में सफलता पायी। मारवाड़ के अतिरिक्त शेरशाह ने राजपूत राजाओं को उनके राज्यों से वंचित नहीं किया बल्कि उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् उन्हें उनके राज्य वापस कर दिये। उसने उनको एक दूसरे से पृथक किया और विभिन्न दृढ़ किलों पर अधिकार करके और वहाँ अफगान सेना की नियुक्ति करके अफगान-साम्राज्य की सुरक्षा और उसके आधिपत्य को स्थायी रखने का प्रयत्न किया। इसी कारण उसकी राजपूत-नीति सफल हुई।

7. बुन्देलखण्ड (कालिंजर : 1545 ई.)—कालिंजर का दृढ़ किला कीरतसिंह के अधिकार में था। मालवा और राजस्थान की विजय के पश्चात् प्रशासकीय और सैनिक महत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण, शेरशाह ने उसको जीतना आवश्यक समझा। राजा कीरतसिंह ने हुमायूँ के आधिपत्य को स्वीकार किया था और, सम्भवतया, उसके लड़के वीरभानु ने चौसा के युद्ध के पश्चात् हुमायूँ को कड़ा तक सुरक्षित पहुँचाने में सहायता दी थी। इस कारण जब तक वह शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार न कर लेता, यह विश्वास किया जा सकता था कि उसकी सहानुभूति मुगल-वंश के प्रति थी। यह भी कहा जाता है कि शेरशाह कीरतसिंह की एक नाचने-गाने वाली दासी को हथियाना चाहता था जिसकी उसने बहुत प्रशंसा सुनी थी। जब रीवां के राजा वीरभान बघेला ने शेरशाह की आज्ञा ठुकराकर राजा कीरतसिंह के यहाँ शरण ली तब शेरशाह ने उसे वापस माँगा। कीरतसिंह के इंकार करने पर शेरशाह को कालिंजर पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। नवम्बर 1544 ई. में शेरशाह ने किले का घेरा डाल दिया। लगभग छः-सात माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जीता न जा सका। 22 मई, 1545 ई. को शेरशाह ने किले की दीवार को गोला-बारूद से उड़ा देने की आज्ञा दी। इन्हीं में से बारूद का एक गोला किले की दीवार से टकराकर वापस आया और गोला-बारूद के ढेर में आकर गिरा जिससे उसमें आग लग गयी। शेरशाह पास ही खड़ा था। वह बुरी तरह से जल गया। उसने किले को जीतने की आज्ञा दी। अफगानों को सफलता मिली और शाम तक किले पर अधिकार कर लिया गया। मृत्यु से पहले किले पर अधिकार की सूचना पाकर शेरशाह सन्तोष प्रकट करता हुआ 22 मई, 1545 ई. को मर गया। डॉ. कानूनगो के शब्दों में, "इस प्रकार, एक महान् सैनिक और राजनीतिज्ञ का अन्त अपने जीवन की विजयों और लोकहितकारी कार्यों के मध्य में ही हो गया---।"

अपनी मृत्यु के समय तक शेरशाह ने गुजरात, असम और कश्मीर को छोड़ कर उत्तर-भारत के प्रायः सम्पूर्ण भू-प्रदेश पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफलता पायी। शेरशाह ने एक मामूली जागीरदार के पुत्र की स्थिति से उठकर सुल्तान का पद प्राप्त किया और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया। अफगान शासकों में श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए शेरशाह का यही कार्य पर्याप्त था। परन्तु शेरशाह की योग्यता इससे भी अधिक थी। वह एक महान् शासन-प्रबन्धक भी सिद्ध हुआ। अतः वह मध्य-युग के श्रेष्ठ शासकों में से एक माना जाता है।

4. शासन-प्रबन्ध (शेरशाह अकबर का अग्रणी)

ई. बी. हैवेल के अनुसार, "सैनिक और असैनिक दोनों ही मामलों में शेरशाह ने संगठनकर्ता की दृष्टि से शानदार योग्यता का परिचय दिया।" इर्स्किन ने लिखा है : "अकबर से पहले के सभी शासकों की तुलना में शेरशाह में अपनी प्रजा के लिए कानून-निर्माण और संरक्षक की दृष्टि से कार्य करने की सबसे अधिक भावना थी।" ये कथन स्पष्ट करते हैं कि इतिहासकारों को शेरशाह की शासन-क्षमता ज्ञात थी परन्तु शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से शेरशाह को उसके उपयुक्त स्थान दिलाने का श्रेय 20वीं सदी में की गयी डॉ. कालिकारंजन कानूनगो की महत्वपूर्ण खोजों को है। डॉ. कानूनगो ने अपना मत अकबर के समय में अब्बासखाँ सरवानी द्वारा रचित 'तारीख-ए-शेरशाही' के ही आधार पर बनाया है। आज से 40 वर्ष पहले शेरशाह का मुख्य स्थान एक सैनिक और साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से था। परन्तु डॉ. कानूनगो ने सिद्ध किया है कि "शासन-प्रबन्धक और सैनिक-प्रतिभा की दृष्टि से शेरशाह अफगानों में सर्वश्रेष्ठ था।" डॉ. कानूनगो ने शेरशाह को अकबर से भी श्रेष्ठ रचनात्मक बुद्धि वाला और राष्ट्र-निर्माता बताया। सर वूल्जले हेग ने उसके बारे में लिखा है : "सत्यता से देखा जाय तो शेरशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले महान् शासकों में से एक था। ऐबक से लेकर औरंगजेब तक हुए शासकों में से किसी को भी शासन की विस्तृत बातों का इतना ज्ञान न था

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा सार्वजनिक कार्यों पर इतना बारीकी से अधिकार और प्रभाव न था जितना कि शेरशाह को।" इस प्रकार, योग्य शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से इतिहास में शेरशाह का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। परन्तु डॉ. कानूनगो के पश्चात् इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध में और भी खोजें की हैं। रामप्रसाद त्रिपाठी और डॉ. परमात्मा सरन जैसे इतिहासकारों ने यह विचार प्रकट किया है कि "शेरशाह एक कुशल शासन-प्रबन्धक तो था परन्तु उसमें मौलिकता का अभाव था।" अब इसी मत को स्वीकार किया जाता है। निस्सन्देह, शेरशाह मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में से एक था परन्तु उसने किसी नवीन शासन-व्यवस्था को जन्म नहीं दिया। उदाहरण के तौर पर, उसने अपनी सैनिक-व्यवस्था के सिद्धान्त अलाउद्दीन खलजी से प्राप्त किये थे और उसकी लगान-व्यवस्था भी नितान्त नवीन न थी। परन्तु शेरशाह ने अपने से पहले के योग्य शासकों के अनुभवों का लाभ उठाया। उसने उन पुराने सिद्धान्तों और संस्थाओं को इस कुशलता से लागू किया कि उनका स्वरूप नवीन दिखायी दिया और वह इतनी सफलता से लागू किये गये कि उनसे जनकल्याण सम्भव हो सका तथा शासन स्थिर और व्यवस्थित हुआ।

शेरशाह ने शासन का प्रथम अनुभव उस समय प्राप्त किया था जब उसने अपने पिता की जागीर की देखभाल की थी। उसके पश्चात् शेरशाह ने अपने मालिक जलालखाँ के संरक्षक के रूप में दक्षिण-बिहार पर शासन किया। वह मुगलों के सम्पर्क में आया था और उनकी शासन और सैनिक-व्यवस्था को भी उसने समझा था। इस प्रकार, दिल्ली का सुल्तान बनने से पहले शेरशाह ने शासन का गम्भीर अनुभव प्राप्त कर लिया था। बादशाह बनने के पश्चात् शेरशाह ने इस भावना और अनुभव के साथ परिश्रम को भी सम्मिलित कर दिया। वह प्रतिदिन 16 घण्टे कार्य करता था और सेना, संगठन, भर्ती, कवायद, न्याय, लगान के कागज आदि शासन के सभी कार्यों की स्वयं देखभाल करता था। युद्धों के अवसर पर भी उसके कार्यक्रम में शायद ही अन्तर पड़ता था। इसी कारण शेरशाह शासन-प्रबन्ध को व्यवस्थित करने में सफल हुआ।

(I) केन्द्रीय शासन

सुल्तान—शेरशाह ने अफगानों की भावनाओं और परम्पराओं का ध्यान रखा परन्तु वह यह जानता था कि वे भारत में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती थीं। इस कारण उसने व्यवहार में उनमें परिवर्तन कर दिया। उसका राजत्व-सिद्धान्त तुर्क और अफगानों का मिलाजुला स्वरूप था। यदि व्यवहार में देखा जाय तो वह तुर्कों के सिद्धान्त के अधिक निकट था। शेरशाह स्वयं शासन का प्रधान था। शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं। शेरशाह की सहायता के लिए निश्चय ही मन्त्रियों की भाँति उच्च पदाधिकारी थे परन्तु शेरशाह ने मुगल-शासकों की भाँति अपने मन्त्रियों को विस्तृत अधिकार नहीं दिये थे। मन्त्री स्वयं निर्णय नहीं लेते थे बल्कि केवल उसकी आज्ञा का पालन करते थे और उसके द्वारा सौंपे गये कार्यों की पूर्ति करते थे। सम्भवतया, शेरशाह ने केन्द्रीय शासन-व्यवस्था की विस्तृत योजना बनाने की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया था (अथवा उसके बारे में पूर्णतया पता नहीं लग सका है)। यह उसके शासन की एक दुर्बलता भी मानी गयी है क्योंकि ऐसी स्थिति में केन्द्रीय व्यवस्था पूर्णतया सुल्तान की योग्यता पर निर्भर करती थी और सुल्तान के अयोग्य होने पर उसके नष्ट होने की सम्भावना थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसकी केन्द्रीय व्यवस्था के बारे में कुछ तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

मन्त्री—यद्यपि शेरशाह ने शासन में मन्त्रियों को कोई विशेष स्थान नहीं दिया था तथापि जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि "इतने विशाल साम्राज्य की देखभाल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्रियों की सहायता के बिना एक ही व्यक्ति के द्वारा करना मानव-शक्ति की सामर्थ्य की दृष्टि से असम्भव था।" उनका कहना है कि "इस कारण शासन की सुविधा की दृष्टि से शेरशाह को सल्तनत-काल की व्यवस्था के आधार पर चार मन्त्री-विभाग बनाने पड़े थे।" उनके अनुसार यह विभाग निम्नवत् थे :

(i) **दीवाने-वजारत**—यह लगान और अर्थ-व्यवस्था का प्रधान था। राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना इसका दायित्व था। इसे मन्त्रियों के कार्यों की देखभाल का भी अधिकार था।

(ii) **दीवाने-आरिज**—यह सेना के संगठन, भर्ती, रसद, शिक्षा और नियन्त्रण की देखभाल करता था। परन्तु यह सेना का सेनापति न था। शेरशाह स्वयं ही सेना का सेनापति था और स्वयं सेना के संगठन और सैनिकों की भर्ती आदि में रुचि रखता था।

(iii) **दीवाने-रसालत**—यह विदेश-मन्त्री की भाँति कार्य करता था। अन्य राज्यों से पत्र-व्यवहार करना और उनसे सम्पर्क रखना इसका दायित्व था। यह कभी-कभी राज्य की ओर से दिये जाने वाले दान की देखभाल भी करता था।

(iv) **दीवाने-इंशा**—इसका कार्य सुल्तान के आदेशों को लिखना, उनका लेखा रखना, राज्य के विभिन्न भागों में उनकी सूचना पहुँचाना और उनसे पत्र-व्यवहार करना था।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार 'दीवाने-काजा' और 'दीवाने-बरीद' नामक दो अधिकारी भी मन्त्री-पद के समान ही थे। 'दीवाने-काजा' सुल्तान के पश्चात् राज्य के मुख्य न्यायाधीश की भाँति कार्य करता था और 'दीवाने-बरीद' राज्य के गुप्तचर-विभाग और डाक-व्यवस्था की देखभाल करता था। इनके अतिरिक्त एक अधिकारी ऐसा भी होगा जो सुल्तान के महल, उसकी रक्षा और उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की देखभाल करता होगा और सुल्तान के निकट सम्पर्क में रहने के कारण प्रभावशाली होगा।

(2) प्रान्तीय शासन

(i) **सूबा या इक्ता**—शेरशाह के प्रान्तीय शासन के बारे में बहुत कम पता लग सका है और जो कुछ भी पता लगा है उसके बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। डॉ. कानूनगो के अनुसार, "शेरशाह के समय में सरकारों से ऊँचा विभाजन नहीं किया गया था और उसके समय में प्रान्त या सूबा जैसी शासन की कोई इकाई न थी।" डॉ. परमात्मा सरन के अनुसार, "प्रान्त और फौजी गवर्नरों की व्यवस्था थी।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "शेरशाह के समय में एक तो उन हिन्दू-राजाओं के राज्य थे जिन्होंने शेरशाह के आधिपत्य को तो स्वीकार कर लिया था किन्तु जिन्हें अपने राज्य का शासन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था। इसके अतिरिक्त ऐसे सूबे थे जिन्हें 'इक्ता' पुकारा जाता था और जिनमें फौजी गवर्नर या सूबेदारों की नियुक्ति की गयी थी। लाहौर, मालवा और अजमेर में सूबेदारों की नियुक्ति की गयी थी।" डॉ. ए. बी. पाण्डे का कहना है कि "सूबों के प्रधान को हाकिम, अमीर या फौजदार पुकारते थे। पंजाब के हाकिम हैबतखाँ को 'मसनद-ए-आला' की उपाधि दी गयी थी और उसे 30,000 की सेना रखने तथा अपने अधिकारियों में जागीर बाँटने का अधिकार था। इसी प्रकार, खवासखाँ को राजपूताने का सूबेदार नियुक्त किया गया था और उसे 20,000 सैनिक रखने का अधिकार था।" इसके अतिरिक्त, बंगाल के सूबे में शेरशाह ने एक अन्य प्रकार की व्यवस्था की थी। सम्पूर्ण सूबे को 'सरकारों' में बाँटकर प्रत्येक को एक सैनिक अधिकारी की देखरेख में छोड़ दिया गया था। उनकी देखभाल करने के लिए सूबे में एक असैनिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारी 'अमीन-ए-बंगाल' की नियुक्ति की गयी थी। इस प्रकार, बंगाल में कोई फौजी सूबेदार न था जिसके पास कोई बड़ी सेना होती। यह प्रबन्ध विद्रोह की आशंका को समाप्त करने के उद्देश्य से भी किया गया था।

इस प्रकार, शेरशाह के समय में सूबों अथवा इक्ताओं के शासन की व्यवस्था समान न थी और न विभिन्न अधिकारियों को समान अधिकार ही प्राप्त थे। शेरशाह इन अधिकारियों पर कठोर नियन्त्रण रखता था। 1541 ई. में बंगाल में विद्रोह अवश्य हुआ था परन्तु वह शेरशाह के वहाँ पहुँचते ही समाप्त हो गया था। इसके पश्चात् किसी भी सूबेदार ने शेरशाह के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस नहीं किया।

(ii) सरकारें (जिले) —प्रत्येक इक्ता या सूबा सरकारों में बँटा होता था। प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी होते थे—'शिकदार-ए-शिकदारां' और 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां'। 'शिकदार-ए-शिकदारां' का पद अधिक सम्मान का था। वह एक सैनिक-अधिकारी था और सैनिकों का एक सुदृढ़ दल उसके साथ रहता था। अपने सरकार में शान्ति स्थापित रखना और अधीनस्थ शिकदारों के कार्यों की देखभाल करना उसका कर्तव्य था। 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' मुख्यतया न्याय-अधिकारी था। दीवानी मुकदमों का फैसला करना और अपने अधीन मुन्सिफों के कार्यों की देखभाल करना उसका दायित्व था। इन दो बड़े अधिकारियों के अतिरिक्त इनकी सहायता के लिए अन्य बहुत से छोटे अधिकारी भी प्रत्येक सरकार में अवश्य होते होंगे।

(iii) परगने—प्रत्येक सरकार कई परगनों में बँटा होता था। प्रत्येक परगने में एक शिकदार, एक मुन्सिफ, एक फोतदार (खजांची) और दो कारकुन (क्लर्क) होते थे। शिकदार के साथ एक सैनिक दस्ता होता था और उसका कर्तव्य परगने में शान्ति स्थापित रखना था। मुन्सिफ का कार्य दीवानी मुकदमों का निर्णय करना और भूमि की नाप एवं लगान-व्यवस्था की देखभाल करना था। फोतदार परगने का खजांची था और कारकुनों का कार्य हिसाब-किताब लिखना था।

(iv) गाँव—प्रत्येक गाँव स्वयं शासन की एक इकाई था। सरकार की ओर से वहाँ कोई अधिकारी नियुक्त नहीं किया जाता था परन्तु गाँव के चौकीदार, पटवारी और प्रधान को सरकार स्वीकार करती थी और शासन में उनसे सहायता लेती थी। गाँव की अपनी पंचायत होती थी जो गाँव में सुरक्षा, शिक्षा, सफाई आदि का प्रबन्ध करती थी। शेरशाह ने गाँव की परम्परागत व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया था परन्तु गाँव के इन अधिकारियों को अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था अन्यथा इन्हें दण्ड दिया जाता था।

(3) अर्थ-व्यवस्था (लगान)

केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य साधन लगान, लावारिस-सम्पत्ति, व्यापारिक कर, टकसाल, नमक-कर, अधीनस्थ राजाओं, सरदारों एवं व्यापारियों आदि के द्वारा दिये गये उपहार, युद्ध में लूटे गये माल का 1/5 भाग, जजिया, आदि थे। सरकार के व्यय के मुख्य स्रोत सेना, अधिकारियों के वेतन तथा सुल्तान व उसके परिवार के व्यक्तिगत खर्च थे।

निस्सन्देह, राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर अथवा लगान था। शेरशाह ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया था। **अबुल फजल** ने लिखा था कि "उसने अलाउद्दीन की व्यवस्था को पुनः लागू किया जिसे उसने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में पढ़ा था और आगे आने वाली पीढ़ियों की प्रशंसा का पात्र बन गया।" परन्तु शेरशाह के बारे में व्यक्त किये यह विचार ठीक नहीं हैं। शेरशाह ने अन्धा होकर अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था को लागू नहीं किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उसने जो ठीक समझा वही किया। वह किसानों की भलाई में ही राज्य की भलाई मानता था। जब वह अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध कर रहा था तभी उसने किसानों की भलाई को प्रमुखता दी थी। **शेरशाह की लगान-व्यवस्था बहुत अच्छी मानी जाती है।** उसकी अग्रलिखित विशेषताएँ थीं :

(i) शेरशाह की लगान-व्यवस्था मुख्यतया रैयतवाड़ी थी जिसमें किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया गया था। मुल्तान के अतिरिक्त राज्य के सभी भागों में इस लगान-व्यवस्था को लागू किया गया। इस कार्य में शेरशाह को पूर्ण सफलता नहीं मिली और जागीरदारी प्रथा भी चलती रही। मालवा और राजस्थान में भी व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव न हो सका परन्तु फिर भी उसने इस दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

(ii) उत्पादन के आधार पर भूमि को तीन श्रेणियों में बाँटा गया—अच्छी, मध्यम और बुरी।

(iii) शेरशाह ने भूमिकर निर्धारण के लिए 'राई' (फसलदारों की सूची) को लागू करवाया।

(iv) खेती योग्य सभी भूमि की नाप की जाती थी और पता लगाया जाता था कि किस किसान के पास कितनी और किस श्रेणी की भूमि है। उस आधार पर पैदावार का औसत (Average) निकाला जाता था और तब डॉ. कानूनगो और आई. एच. कुरैशी के अनुसार औसत पैदावार का आधा (1/2) भाग लगान के रूप में किसान से लिया जाता था। परन्तु डॉ. परमात्मा सरन, डॉ. आर. पी. त्रिपाठी तथा अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार औसत पैदावार का एक-तिहाई (1/3) भाग किसान से लगान के रूप में लिया जाता था।

(v) किसानों को सुविधा थी कि वह अपना लगान सिक्के की शक्ल में दें या गल्ले की शक्ल में यद्यपि सिक्के की शक्ल में लगान लेना सरकार अधिक ठीक समझती थी। स्थानीय बाजार में जो मूल्य गल्ले का होता था उसी के आधार पर सिक्के की शक्ल में किसान सरकार को लगान देता था। निस्सन्देह, ऐसी स्थिति में विभिन्न स्थानों पर गल्ले की भिन्न-भिन्न कीमतें होती थीं। इस कारण विभिन्न स्थानों पर गल्ले को सिक्के की शक्ल में बदलने की कीमतें भी भिन्न होती थीं।

(vi) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का लगान सिक्के की शक्ल में ही देना होता था।

(vii) किसानों को फसल के अनुसार वर्ष में दो बार लगान जमा करने की सुविधा थी।

(viii) किसानों को सरकार की ओर से 'पट्टे' दिये जाते थे जिनमें स्पष्ट किया गया होता था कि उस वर्ष उन्हें कितना लगान देना है। किसान 'कबूलियात-पत्र' के द्वारा इन्हें स्वीकार करते थे।

(ix) लगान के अतिरिक्त किसानों की जमीन की पैमाइश और लगान वसूल करने में संलग्न अधिकारियों के वेतन आदि के लिए सरकार को 'जरीबाना' और 'महासीलाना' नामक अतिरिक्त कर देने पड़ते थे जो पैदावार का 2-1/2% से 5% तक होते थे।

(x) इसके अतिरिक्त, किसान को पैदावार का 2-1/2% अकाल, बाढ़ आदि जैसे समय में सुरक्षा के दृष्टिकोण से स्थानीय सरकारी गल्लाघरों में गल्ले की शक्ल में जमा कराना पड़ता था जो आवश्यकता के समय उनको वापस कर दिया जाता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(xi) शेरशाह का स्पष्ट आदेश था कि लगान लगाते समय किसानों के साथ सहानुभूति का बर्ताव किया जाय लेकिन लगान वसूल करते समय कोई नरमी न बरती जाय।

(xii) शेरशाह यह ध्यान रखता था कि युद्ध के अवसर पर कृषि की कोई हानि न हो और जो हानि हो जाती थी उसकी पूर्ति कर दी जाती थी।

(xiii) शेरशाह ने लगान निर्धारण के लिए मुख्यतः तीन प्रकार की प्रणालियाँ अपनायीं—1. गलाबख्शी अथवा बटाई, 2. नश्क या मुक्ताई अथवा कनकूत, 3. नकदी अथवा जब्ती (जमई)।

(xiv) शेरशाह ने भूमि की माप के लिए 'सिकन्दरी गज' (31 अंगुल या 32 इंच) एवं 'सन की डंडी' का प्रयोग करवाया।

शेरशाह की लगान-व्यवस्था पूर्णतया दोषरहित न थी। इसमें मध्यम और बुरी भूमि के मालिक किसानों को अच्छी भूमि के मालिक किसानों की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था। पैदावार का 1/3 भाग लगान, जरीबाना, महासीलाना और सुरक्षा-कर आदि सभी कुछ मिलकर पर्याप्त अधिक हो जाते थे जबकि मुल्तान से उपज का 1/4 हिस्सा लगान के रूप में वसूला जाता था। विभिन्न स्थानों पर गल्लों की भिन्न-भिन्न कीमतें होती थीं जिससे सिक्के की शक्ल में लगान देने में किसानों को असुविधा होती होगी। लगान प्रति प्रति वर्ष निश्चित किया जाता था, इस कारण किसानों को असुविधा होती होगी। जागीरदारी प्रथा को शेरशाह समाप्त नहीं कर सका था। इस कारण जागीरदारों की भूमि में निवास करने वाले किसानों को उसकी व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हुआ था। शेरशाह अपने कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को भी पूर्णतया नहीं रोक सका था। वे बहुत लाभ प्राप्त करते थे। स्वयं शेरशाह इस बात को जानता था और उसकी नीति थी कि वह प्रत्येक वर्ष या दो वर्ष पश्चात् लगान- अधिकारियों का स्थानान्तरण कर दिया करता था जिससे उसके अधिकाधिक कर्मचारी लाभ उठा सकें।

तब भी शेरशाह की लगान-व्यवस्था तुलनात्मक दृष्टि से बहुत अच्छी मानी गयी है। मध्य-युग के उससे पहले के शासकों में से फीरोज तुगलक को छोड़कर अन्य किसी भी शासक ने अपने किसानों की भलाई का इतना अधिक ध्यान नहीं रखा था जितना कि शेरशाह ने। वह किसानों की समृद्धि में राज्य की भलाई मानता था और किसानों को तकलीफ देने वालों को कठोर दण्ड देता था। उसने तुलनात्मक दृष्टि से किसानों से बहुत अधिक कर नहीं लिये थे। शेरशाह का आतंक था और वह स्वयं विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करता था। इस कारण उसने पर्याप्त मात्रा में किसानों की भलाई करने में सफलता प्राप्त की थी। यह सभी स्वीकार करते हैं कि शेरशाह ने सरकार और किसानों के बीच लगान को निश्चित करके किसानों के सरकारी कर्मचारियों के एकपक्षीय निर्णय और कठोरता से बचाया था। अफगानों में वही एक ऐसा शासक हुआ जिसने लगान-व्यवस्था की ओर इतना अधिक ध्यान दिया। डॉ. कानूनगो ने लिखा है : "यदि शेरशाह 10 या 20 वर्ष और जीवित रहा होता तो जमींदार-वर्ग समाप्त हो गया होता और हिन्दुस्तान उत्साही एवं परिश्रमी किसानों द्वारा खेती किया जाने वाला तथा सिंचाई-युक्त एक ऐसा विस्तृत भू-प्रदेश होता जिसमें कहीं भी झाड़ी या घास न होती।"

(4) न्याय-व्यवस्था

शेरशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और वह प्रत्येक बुधवार की शाम को स्वयं न्याय के लिए बैठता था। उसने 'सुल्तान-उल-अदल' की उपाधि धारण कर रखी थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी न्यायप्रियता बहुत निष्पक्ष तथा कठोर थी। लगान सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय परगनों में मुन्सिफ और सरकारों में 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' किया करते थे। इसके अतिरिक्त काजी असैनिक मुकदमों का निर्णय करते थे। फौजदारी मुकदमों का निर्णय शिकदार और 'शिकदार-ए-शिकदारां' करते थे और उनके पश्चात् सूबेदार करते थे। मुल्तान की अदालतों में नीचे की अदालतों की अपीलें सुनी जाती थीं और मुकदमे आरम्भ भी हो सकते थे। फौजदारी कानून कठोर था और सभी पर समान रूप से लागू होता था। कैद, कोड़े से पीटा जाना, शरीर के अंगों को काट दिया जाना, जुर्माना आदि सभी प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

शेरशाह एक न्यायप्रिय शासक था और न्याय करते समय धर्म या धन अथवा किसी अन्य अन्तर को स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना था कि "न्याय करना धार्मिक कार्यों में सर्वश्रेष्ठ है और इसे सभी काफिर और मुसलमान बादशाह स्वीकार करते हैं।" उसने पुनः कहा था कि "न्याय का तात्पर्य यह नहीं है कि अन्याय न किया जाय, बल्कि मनुष्यों के साथ निष्पक्षता और ईमानदारी से व्यवहार करना है।" इस कारण शेरशाह न्याय करते समय गरीब-अमीर अथवा सम्मानित और साधारण व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं करता था।

(5) पुलिस-व्यवस्था

शेरशाह के समय में पुलिस की कोई पृथक व्यवस्था न थी। विभिन्न सैनिक-अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करते थे, चोरों एवं लुटेरों को पकड़ते थे तथा जनसाधारण के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करते थे। इस विषय में शेरशाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य किया था। जिस क्षेत्र में जो अधिकारी था उसी का उत्तरदायित्व उस क्षेत्र में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रखना था। गाँव के चौधरियों और मुकद्दमों का इसमें मुख्य भाग होता था। जिस गाँव में चोरी या हत्या होती थी उस गाँव के चौधरी या मुखिया को ही अपराधी का पता लगाना पड़ता था और यदि वह इस कार्य में सफल नहीं होता था तो चोरी की क्षतिपूर्ति उसे ही करनी पड़ती थी और हत्या के बदले में उसको मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। यह व्यवस्था कठोर थी परन्तु सफल थी। यह कहा गया है कि "शेरशाह के समय में एक वृद्धा स्त्री अपने सिर पर आभूषणों से भरी हुई टोकरी लेकर यात्रा कर सकती थी"।"

(6) व्यापार

शेरशाह ने स्थान-स्थान पर दिये जाने वाले करों को समाप्त कर दिया। उसके समय में व्यापारिक वस्तुओं से केवल दो ही स्थानों पर कर लिया जाता था। एक उस स्थान पर जहाँ से वे वस्तुएँ उसके राज्य की सीमा में प्रवेश करती थीं और दूसरे उस स्थान पर जहाँ पर वे वस्तुएँ बिक्री के लिए जाती थीं। इस व्यवस्था से व्यापार को लाभ हुआ। शेरशाह की पुलिस-व्यवस्था, सड़कों और सरायों की व्यवस्था तथा अच्छे सिक्कों के प्रचलन ने भी व्यापार को प्रोत्साहन दिया। शेरशाह व्यापारियों की सम्पत्ति की सुरक्षा का भी ध्यान रखता था। उसके सभी अधिकारियों को यह आदेश थे कि व्यापारियों की सुरक्षा की जाय और उनके साथ सद्व्यवहार किया जाय।

(7) मुद्रा

शेरशाह ने पुराने और घिसे-पिटे तथा पूर्ववर्ती विभिन्न शासकों के द्वारा चलाये गये सिक्कों का चलन बन्द कर दिया। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के नये सिक्के चलाये, उनका आपस का अनुपात निश्चित किया और चाँदी के रुपये (180 ग्रेन) और ताँबे के सिक्के 'दाम' (380 ग्रेन) के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के भी सिक्के चलाये। शेरशाह के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय में 23 टकसालें थीं। सभी टकसालों में सिक्कों में अच्छी धातु का प्रयोग किया जाता था और उन पर शेरशाह का नाम, पद और टकसाल का नाम अरबी या नागरी लिपि में अंकित किया जाता था। शेरशाह की मुद्रा-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ थी। शेरशाह के रुपये के बारे में इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "यह रुपया वर्तमान ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली का आधार है।"

(8) सड़कें और सरायें

शेरशाह ने अपने समय में कई सड़कों का निर्माण कराया और पुरानी सड़कों की मरम्मत करायी। सड़कों के दोनों तरफ छायादार और फलों वाले पेड़ लगाये गये। शेरशाह ने मुख्यतया चार प्राचीन सड़कों को ठीक कराया। ये सड़कें निम्नवत् थीं :

(1) एक बंगाल में सोनारगाँव से आगरा, दिल्ली, लाहौर होती हुई पंजाब में अटक तक जाती थी;

(2) दूसरी आगरा से बुरहानपुर तक जाती थी;

(3) तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक जाती थी; और

(4) चौथी लाहौर से मुल्तान तक जाती थी।

ये सड़कें यातायात, डाक, व्यापार आदि के लिए बहुत लाभदायक थीं। शेरशाह ने इन सभी सड़कों पर प्रायः दो-दो कोस के फासले से सरायों का निर्माण कराया। उसने अपने समय में करीब 1,700 सरायों का निर्माण कराया। इन सभी सरायों में हिन्दू और मुसलमानों के ठहरने के लिए अलग-अलग प्रबन्ध था। प्रत्येक सराय की देखभाल एक शिकदार करता था। व्यापारी, यात्री, डाक-कर्मचारी आदि सभी यहाँ संरक्षण और भोजन प्राप्त करते थे। इनके व्यय के लिए सरायों के आसपास की भूमि सराय के नाम कर दी गयी थी। डॉ. कानूनगो के शब्दों में ये सरायें 'साम्राज्य-रूपी शरीर की धमनियाँ थीं।'

(9) गुप्तचर और सूचना-विभाग

शेरशाह का गुप्तचर और सूचना-विभाग बहुत श्रेष्ठ था। प्रत्येक सूबेदार, सेना-अधिकारी, सेना आदि के साथ गुप्तचर नियुक्त किये गये थे। प्रत्येक नगर और राज्य के दूर-दूर भागों में भी गुप्तचर एवं समाचार भेजने वालों की नियुक्ति की गयी थी। जो गुप्तचर महत्वपूर्ण सूचनाएँ समय पर नहीं भेज पाता था उसे दण्डित किया जाता था। प्रत्येक सराय में दो घोड़े सूचना देने वालों के प्रयोग के लिए रहते थे जिससे एक हरकारे को निरन्तर स्थान-स्थान पर नवीन घोड़ा मिलता जाय और वह तेजी से यात्रा कर सके। शेरशाह अपने गुप्तचरों और तेज चलने वाले सन्देशवाहकों के माध्यम से अपने सम्पूर्ण राज्य के शासन पर नियन्त्रण रखता था और उसमें सफल था। बहुत से अवसरों पर जो सूचनाएँ उसके सूबेदारों या स्थानीय अधिकारियों को भी नहीं मिल पाती थीं वह शेरशाह के पास पहले पहुँच जाती थीं। बेईमानी को रोकने के लिए उसने घोड़ों को दागने की प्रथा तथा सैनिकों का हुलिया लिखे जाने की प्रथा को अपनाया था। शेरशाह के समय में 16 सैनिक चौकियों का विवरण मिलता है।

(10) धार्मिक विचार और दान-व्यवस्था

व्यक्तिगत दृष्टि से शेरशाह सुन्नी मुसलमान था। वह अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन करता था। इसी कारण उसने दान-दक्षिणा का प्रबन्ध किया था। सरकारी भोजनालय का प्रतिदिन का व्यय 500 अशर्फी था। प्रत्येक सैनिक, किसान,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापारी, धार्मिक व्यक्ति आदि को वहाँ से भोजन प्राप्त होता था। शासक की दृष्टि से वह सभी के प्रति उदार था।

हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति के बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार, "शेरशाह के विचार दिल्ली-सल्तनत के अन्य तुर्क या अफगान शासकों से पृथक नहीं थे।" डॉ. कानूनगो के अनुसार, "हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुता और आदर का था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "शेरशाह की सहिष्णुता का पता उसके समय में धार्मिक, साहित्यिक और वास्तु-कला की दृष्टि से हुए कार्यों से लगता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने इसी समय में 'पद्मावत' की रचना की थी। इसी समय में मथुरा के आसपास वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार हुआ। शेरशाह की इमारतें भी स्पष्ट करती हैं कि उसने हिन्दू, मुस्लिम, अफगान, तुर्क और पर्शियन कलाओं में कोई भेद नहीं किया था।" परन्तु वह भी उसे मुख्यतया अफगानों का शासक मानते हैं। शेरशाह ने अनेक अवसरों पर असहिष्णुता का परिचय दिया था। उसने राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए 'जिहाद' घोषित किये थे, रायसीन के शासक पूरनमल के प्रति उसका दुर्व्यवहार धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था और जोधपुर में उसने हिन्दू-मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवायी थी। शेरशाह के शासनकाल में जजिया और तीर्थयात्रा-कर पहले की भाँति ही हिन्दुओं से लिये जाते थे। तब भी इन विभिन्न तथ्यों और मतों के आधार पर यह समझा जाता है कि शेरशाह ने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवश्य ही धर्म का सहारा लिया था। परन्तु शासन की नीति की दृष्टि से उसने धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी। शेरशाह का धार्मिक व्यवहार न तो पहले के तुर्क और पठान शासकों की भाँति असहिष्णु माना जा सकता है और न अपने से बाद में होने वाले शासक अकबर की भाँति उदार ही। इनके मध्य में शेरशाह को कहीं भी स्थान प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार यह मानना ठीक होगा कि व्यक्तिगत दृष्टि से कट्टर होते हुए भी शेरशाह शासन की दृष्टि से धार्मिक कट्टरता की नीति में विश्वास नहीं करता था और उसके समय में हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति को आरम्भ किया गया था।

(11) शेरशाह की इमारतें

शेरशाह ने अपने अल्प-शासनकाल में इमारतें बनवाने का कार्य भी किया। उसने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए 'रोहतासगढ़' नाम का एक दृढ़ दुर्ग बनवाया, दिल्ली का पुराना किला बनवाया, वहीं यमुना नदी के निकट नगर बनाने का प्रयत्न किया और कन्नौज नगर को बर्बाद करके 'शेरसूर' नामक नगर बसाया। दिल्ली के पुराने किले में बनायी गयी उसकी मस्जिद भारतीय और इस्लामी कला का मिला-जुला एक अच्छा उदाहरण है। परन्तु शेरशाह की सर्वश्रेष्ठ कृति उसका सहसराम (बिहार) का स्वयं का मकबरा है। एक प्रसिद्ध भवन निर्माता के रूप में शेरशाह द्वारा निर्मित सहसराम के मकबरे को पूर्वकालीन स्थापत्य शैली की पराकाष्ठा तथा नवीन शैली के प्रारम्भ का द्योतक माना जाता है। डॉ. कानूनगो ने उसके बारे में लिखा है : "बाहर से मुस्लिम और अन्दर से हिन्दू।" हैवेल ने उसमें "शेरशाह के चरित्र और व्यक्तित्व को देखा।" पर्सी ब्राउन ने शेरशाह की सभी इमारतों की प्रशंसा की है। कनिंघम ने उसके मकबरे को ताजमहल से भी सुन्दर बताया है। झील के बीच में एक चबूतरे पर बना हुआ शेरशाह का यह मकबरा, निस्सन्देह, भारत की श्रेष्ठतम इमारतों में से एक है।

(12) शेरशाह का सैनिक-प्रबन्ध

शेरशाह ने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया था। अलाउद्दीन खलजी की भाँति उसने केन्द्र पर एक शक्तिशाली सेना रखी जो सुल्तान की सेना थी और जिसके सैनिक अपने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बादशाह के सैनिक मानते थे। घुड़सवार-सेना, पैदल-सेना, हाथी और तोपखाना उसकी सेना के मुख्य भाग थे। केन्द्र की सेना में 1,50,000 घुड़सवार, 25,000 पैदल और 5,000 हाथी थे। सम्भवतया, शेरशाह का तोपखाना बहुत श्रेष्ठ न था। उसकी घुड़सवार-सेना में मुख्यतया अफगान थे। बाकी अन्य वर्गों के मुसलमान और हिन्दू भी उसकी सेना में थे। शेरशाह सैनिकों की भर्ती, वस्त्र, घोड़े, हथियार, वेतन, पद-वृद्धि आदि सभी की स्वयं देखभाल करता था। सैनिकों को वेतन नकद दिया जाता था यद्यपि सरदारों को जागीरें दी जाती थीं। बेईमानी को रोकने के लिए उसने 'घोड़ों को दागने' और 'सैनिकों का हुलिया लिखे जाने' की प्रथाओं को अपनाया था। केन्द्र की इस विशाल सेना के अतिरिक्त अधीनस्थ राजाओं और सूबेदारों की अपनी सेनाएँ पृथक थीं जो आवश्यकता के अनुसार सुल्तान की सेवा के लिए प्रस्तुत की जाती थीं। विभिन्न किलों और सैनिक-चौकियों में भी बहुत से सैनिक रहते थे। 16 बड़ी-बड़ी सैनिक-चौकियों का विवरण तो प्राप्त होता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छोटी सैनिक-चौकियों की संख्या भी लाखों में होगी। डॉ. कानूनगो ने लिखा है : "शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी की पद्धति को पुनर्जीवित किया और सेना को सही अर्थों में शाही संस्था बना दिया।"

इस प्रकार शेरशाह की असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ मानी गयी है। जो इतिहासकार बाबर की प्रशासकीय अयोग्यता को समय की कमी कहकर माफ कर देते हैं, शेरशाह उनके लिए एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शेरशाह का स्थान मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में आता है। अब्बासखाँ सरवानी ने शेरशाह के विवरण को समाप्त करते हुए लिखा : "बुद्धिमत्ता और अनुभव में शेरशाह दूसरा हैदर था।" इसी प्रकार कीन ने लिखा है : "किसी भी सरकार ने, यहाँ तक कि अंग्रेजों तक ने इतनी बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया जितना कि इस पठान ने।" इस प्रकार, शेरशाह एक सफल शासन-प्रबन्धक सिद्ध हुआ। दिल्ली-सल्तनत के बाद के समय में शासन में उत्पन्न हुई अव्यवस्था मुगलों एवं अफगानों के संघर्ष-काल में और अधिक हो गयी थी। शेरशाह ने उसको ठीक करके जनसाधारण के जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाया। इस प्रकार शेरशाह ने अकबर के कार्य को भी सरल कर दिया क्योंकि अपने थोड़े समय में ही शेरशाह ने एक श्रेष्ठ शासन की पृष्ठभूमि का निर्माण किया जिससे अकबर के लिए एक स्पष्ट रास्ता बन गया।

शेरशाह को अकबर का अग्रणी (पथ-प्रदर्शक) माना गया है। एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से शेरशाह को यह स्थान दिया जा सकता है। उसने एक अच्छा शासन-प्रबन्ध करके न केवल अकबर के शासन की आधारशिला का ही निर्माण किया अपितु शासन में कई ऐसे कार्य आरम्भ किये जिनसे अकबर को सहायता प्राप्त हुई। रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है : "तैमूर-वंश का यह दुर्लभ सौभाग्य था कि उन्होंने अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया जिसे एक मौलिक शासन-प्रबन्धक शेरशाह अफगान ने दृढ़ कर दिया था और जिसने न चाहते हुए भी मुगलों के लिए एक ऐसी शासन-व्यवस्था का निर्माण कर दिया था जो बादशाह के उस नवीन आदर्श की सफलता के लिए आदर्श तो थी जिसका वे प्रतिनिधित्व करते थे परन्तु जिसको बनाने में स्वयं पूर्णतया असफल रहे थे।" शेरशाह के सैनिक-प्रबन्ध, सरदारों पर उसके नियन्त्रण, उसकी न्याय की भावना, उसकी प्रजा के हित की भावना और शासन के मूल सिद्धान्त आदि सभी का अकबर ने पूर्ण लाभ उठाया। शेरशाह ने राजपूतों से अधीनता स्वीकार करा कर उनके राज्य उन्हें वापस कर दिये थे। अकबर ने इसको और विस्तार से अपनाया। शेरशाह की लगान-व्यवस्था भी अकबर के लिए मार्गदर्शक बनी। अपनी हिन्दू-प्रजा के लिए शेरशाह साधारणतया सहिष्णु था। वह उन्हें उनके उत्सवों, त्यौहारों और धार्मिक कार्यों को करने में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता प्रदान करता था। न्याय भी सभी को समान रूप से प्रदान किया जाता था। इन सबसे भी अधिक शेरशाह में प्रजा की भलाई करने की भावना थी। शेरशाह ने उस सिद्धान्त को अपनाया जिसके अनुसार शासक का कार्य केवल शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना ही नहीं बल्कि जन-कल्याण करना भी है। इसी कारण किसानों, व्यापारियों, सैनिकों और जनसाधारण की भलाई के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना उसका प्रमुख उद्देश्य था। इसी भावना के कारण वह इतने थोड़े समय में एक अच्छा शासन-प्रबन्ध और जन-हित के कार्य कर सका था। मि. डब्लू. क्रुक ने लिखा है : "शेरशाह प्रथम शासक था जिसने प्रजा की रक्षा के आधार पर भारतीय साम्राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया।" अकबर ने भी मूलतया इसी भावना के आधार पर कार्य किया। निस्सन्देह, अकबर ने शेरशाह के द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों में परिवर्तन किया, सुधार किया और उन्हें श्रेष्ठ बनाया। अकबर की लगान-नीति शेरशाह से श्रेष्ठ थी, अकबर की राजपूत-नीति शेरशाह से अधिक उदार थी और अकबर की धार्मिक-नीति का आधार शेरशाह से बहुत अधिक विस्तृत और विशाल था। इस कारण अकबर का एक कुशल शासन-प्रबन्धक और एक श्रेष्ठ शासक की दृष्टि से अधिक महान् था। परन्तु शेरशाह ने अकबर से पहले एक उच्च आदर्श और एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। इस प्रकार, उसने अकबर के शासन की आधारशिला का निर्माण किया और उसका अग्रणी अथवा पथ-प्रदर्शक बना। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "यदि शेरशाह अधिक समय जीवित रहता तो सम्भवतया वह अकबर से महान् हो जाता। निस्सन्देह, वह दिल्ली के सर्वश्रेष्ठ सुल्तान-राजनीतिज्ञों में से एक था। निश्चय ही उसने अकबर की महान् उदार नीति के मार्ग का निर्माण किया और वह सही अर्थों में उसका अग्रणी था।"

5. शेरशाह का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (अफगानों में श्रेष्ठतम शासक)

शेरशाह का चरित्र आकर्षक न था। आरम्भ से ही कठिनाइयों में पला होने के कारण उसके चरित्र की विशेषता उदारता या मानवता नहीं रह सकी थी। मुख्यतया वह एक व्यावहारिक व्यक्ति रहा। वह अपने लक्ष्य को ठीक प्रकार समझता था और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्वक एवं नियोजित प्रयत्न करता था। उसके जीवन में असफलता का कोई प्रयोजन नहीं था क्योंकि एक ही असफलता उसके सम्पूर्ण भविष्य को नष्ट कर सकती थी। इस कारण उसके चरित्र में अनुपात से अधिक साहस, भावना, मानवता और सब कुछ दाँव पर लगा देने का उत्साह नहीं आ सका था जिससे एक व्यक्ति का चरित्र आकर्षक बन पाता है, चाहे वह उसकी असफलता का ही कारण क्यों न बन जाय। **शेरशाह का चरित्र शान्त, नीतिपूर्ण, बुद्धिमत्तापूर्ण, कुशलता, स्वार्थ और उसकी पूर्ति के लिए सभी आवश्यक साधनों के प्रयोग करने की भावना से पूर्ण था।** अपने परिवार के व्यक्तियों से भी उसके व्यवहार का आधार यही था। उसकी शिक्षा का आधार भी यही था। उसे अरबी और फारसी भाषा का ज्ञान था और इतिहास के अध्ययन का उसे शौक था। उसे सुशिक्षित कहा गया है और विद्वानों के संरक्षण का भी उसे ध्यान था। **परन्तु उसे न तो विद्वान स्वीकार किया जा सकता है और न ही उसके संरक्षण में किसी विद्वान की प्रगति हुई। उसकी शिक्षा का लक्ष्य भी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना था।** इस प्रकार उसके चरित्र के निर्माण का सम्पूर्ण आधार सांसारिक सफलता थी और शेरशाह ने उसे प्राप्त किया। उसने विभिन्न अवसरों पर अपनी सफलता के लिए चालाकी का सहारा लिया। रोहतासगढ़ (बिहार), चुनार तथा रायसीन के किलों पर अधिकार और मालदेव के विरुद्ध उसकी सफलता का कारण उसकी चालाकी थी। इसके अतिरिक्त वह **सभी युद्धों में शौर्य के साथ चालाकी का प्रयोग भी करता था।** वह अपने शत्रु को दुर्बल और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असावधान करने के बाद ही उस पर आक्रमण करता था। जब तक उसे शत्रु को जीत लेने की पूर्ण आशा नहीं होती थी तब तक वह उस पर आक्रमण नहीं करता था। इसी प्रकार उसने धीरे-धीरे अपनी शक्ति को संचित किया था।

परन्तु शेरशाह में मानवीय गुण बिलकुल न थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। चौसा के युद्ध के पश्चात् जब मुगल-बेगमें और उनके परिवार के सदस्य उसके सामने लाये गये तो उसकी आँखों में आँसू आ गये थे और उसने उनको सम्मान सहित वापस भेज दिया था। **एक धार्मिक मुसलमान की दृष्टि से वह अपने धार्मिक कृत्यों को नियमपूर्वक करता था।** ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। उसने राजधानी में भोजन का मुफ्त प्रबन्ध कर रखा था। उसे अपनी प्रजा और उसकी प्रसन्नता का पूर्ण ध्यान था और वह उसके लिए कठोर परिश्रम करता था। वह न्याय करने में किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करता था। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टि से भावनात्मक न होते हुए भी **शेरशाह जनसाधारण के प्रति उदार और कर्तव्यपरायण था।**

शेरशाह में एक सैनिक और सेनापति के गुणों का अभाव न था। वह साहसी, परिश्रमी और अस्त्र-शस्त्र चलाने में कुशल था। एक शेर को अकेले मारने के उपलक्ष्य में उसे 'शेरखाँ' की उपाधि दी गयी। एक सैनिक की दृष्टि से उसने अनेक युद्धों में भाग लिया था। एक सेनापति की दृष्टि से वह जन्मजात सेनापति तो न था परन्तु अपने अनुभव से वह एक योग्य सेनापति अवश्य बन गया था। कम से कम मूल्य पर किस प्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, यह उसे आता था। **उसका लक्ष्य विजय होता था केवल युद्ध नहीं। इस दृष्टि से वह सफल भी रहा।** सेनापति के रूप में अपने जीवन में वह एक भी युद्ध में पराजित नहीं हुआ। **शेरशाह एक महान् संगठनकर्ता था। मुगलों के विरुद्ध अफगानों की शक्ति को एकत्रित करने और समय से मुगलों पर आक्रमण करके उसने एक बार फिर अफगान-साम्राज्य को भारत में स्थापित किया था।** यह शेरशाह का एक गौरवपूर्ण कार्य था। इस प्रकार, शेरशाह के चरित्र में चाहे आकर्षण न हो परन्तु सफलता के गुण अवश्य थे।

इतिहास में शेरशाह का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वूल्जले हेग ने कहा है : "वह भारत के मुसलमान सम्राटों में सर्वश्रेष्ठ था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव उसे अकबर के बाद दूसरा स्थान देते हैं। डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "शिवाजी और शेरशाह चरित्र और योग्यता की दृष्टि से ही समान न थे वरन् समान परिस्थितियों में ही उनका विकास हुआ था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी इस मत से सहमत हैं। वह लिखते हैं : "शेरशाह के सबसे निकट आने वाला व्यक्तित्व मराठा-राष्ट्र के महान् निर्माता शिवाजी का है।" इस प्रकार शेरशाह मध्य-युग के शासकों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह तो नहीं माना जा सकता कि वह उनमें सर्वश्रेष्ठ था क्योंकि अकबर, निस्सन्देह, उसकी तुलना में श्रेष्ठ स्थान रखता है। परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह मध्य-युग के महान् शासकों में से एक था।

शेरशाह की मुख्य सफलताएँ अफगानों को एकत्रित करना, राजवंश से सम्बन्धित न होते हुए केवल अपने परिश्रम से राजपद को प्राप्त करना और अपने राज्य का श्रेष्ठ शासन-प्रबन्ध करना था। प्रथम, शेरशाह अफगानों का राष्ट्र-निर्माता था। अफगानों में कभी भी एकता की भावना न थी। वे अपने-अपने विभिन्न फिरकों और वंशों में बँटे हुए थे और प्रत्येक फिरका और वंश अपने को एक-दूसरे से श्रेष्ठ मानता था तथा शक्ति के लिए एक-दूसरे से संघर्ष करता था। अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त भी पृथक था। उनके लिए सुल्तान एक बड़ा सरदार मात्र था। वे उसे इससे अधिक सम्मान देने के लिए तत्पर न थे। इसी कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक शक्तिशाली अफगान सरदार अपने को सुल्तान बनने के योग्य समझता था, इसके लि
शक्ति-संचय करता था और अवसर की तलाश में रहता था। अफगानों की यह प्रवृत्ति उन
दुर्बलता का मुख्य कारण थी। मुगलों से परास्त होकर भी अफगानों में एकता की भावना न
आयी थी। शेरशाह ने अफगानों की एकता का प्रयत्न किया और उसमें सफलता प्राप्त की
इसके लिए उसने मुगलों के प्रति अफगानों की घृणा का लाभ उठाया। धीरे-धीरे समय
अनुकूल कार्य करते हुए, अफगानों को प्रोत्साहन देते हुए और सफलता प्राप्त करते हुए उ
अफगानों को आत्मविश्वास प्रदान किया और उनको संगठित कर लिया। उसने प्रत्येक स्व
से अफगानों को आमन्त्रित किया, उनको अपने संरक्षण में सेवाएँ दीं, उनकी स्वतन्त्रता
स्वच्छन्दता की प्रवृत्तियों को अपने अधिकार में रखा और, अन्त में, उनकी एकत्रित शक्ति
प्रयोग मुगलों के विरुद्ध करके सफलता प्राप्त की। सुल्तान बनकर भी वह अफगानों की शक्ति
को एकत्रित और दृढ़ करता रहा। इस दृष्टि से शेरशाह अफगानों का संगठनकर्ता
राष्ट्र-निर्माता था। परन्तु शेरशाह अफगानों की इस एकता को स्थायित्व प्रदान न कर सका
उसकी मृत्यु होते ही अफगानों की एकता छिन्न-भिन्न होने लगी। इस कारण शेरशाह शिवा
के निकट तो आ सकता है परन्तु उनके समान नहीं हो सकता। शिवाजी ने जिस राष्ट्र
निर्माण किया वह उनकी मृत्यु के पश्चात् भी राष्ट्र बना रहा। शम्भाजी की मृत्यु के उपरा
और महाराष्ट्र पर औरंगजेब का अधिकार हो जाने के पश्चात् जिस स्वतन्त्रता-संग्राम को मरा
ने आरम्भ किया वह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था। इसी कारण उन्होंने औरंगजेब की शक्ति
तोड़ दिया और उसके पश्चात् अपना विकास करने में भी सफलता पायी। शेरशाह अफगा
को ऐसी स्थायी भावना प्रदान नहीं कर सका था। उसके पक्ष में केवल इतना कहा जा सक
है कि वह अपने समय में सफल अवश्य रहा था। शेरशाह का दूसरा कार्य अपनी योग्यता
दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करना था। उसका यह कार्य अद्वितीय था और केवल स्व
अपना था। उसका पिता एक साधारण जागीरदार था और उस पर भी उसके सम्बन्ध अप
पिता से अच्छे न थे। उसके सौतेले भाई उसकी जागीर का बँटवारा चाहते थे। दिल्ली
शासक इब्राहीम लोदी का चाचा आलमखाँ लोदी और उसका भाई महमूद लोदी उसके सम
तक जीवित थे। अफगान यदि मान सकते थे तो दिल्ली के सिंहासन पर उन्हीं के अधिक
को मान सकते थे। गुजरात का शासक बहादुरशाह भी अफगान था, शक्तिशाली था
दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने की इच्छा रखता था। दक्षिण-बिहार में बहारखाँ
मुहम्मदशाह के नाम से स्वतन्त्र अफगान राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था और बंगा
के अफगान शासक नुसरतशाह और बाद में महमूदशाह बिहार को अपने राज्य में सम्मिलि
करना चाहते थे। इनमें से प्रत्येक राजवंश से सम्बन्धित था, प्रत्येक शक्तिशाली था और प्रत्ये
शेरशाह से अधिक अफगानों के नेतृत्व का दावा कर सकता था। परन्तु इनमें से प्रत्ये
असफल रहा और एक मामूली जागीरदार के पुत्र ने शेरशाह के नाम से दिल्ली के सिंहास
को प्राप्त किया। यह शेरशाह की एक महान् उपलब्धि थी और यही उसे इतिहास में ए
सम्मानित स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। शेरशाह की तीसरी और महान् सफलता
शासन-प्रबन्धक के रूप में है। उसने अपने थोड़े से समय में जो सफलता शासन में प्राप्त
और जिस व्यवस्था को उसने स्थापित किया, वह अद्वितीय थी। अलाउद्दीन खलजी मौलि
सिद्धान्तों की दृष्टि से उससे श्रेष्ठ था। निस्सन्देह, अकबर शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से
श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। परन्तु कई प्रकार से शेरशाह शासन-प्रबन्ध में अकबर का अग्रणी था।
अतिरिक्त मध्य-युग के अन्य शासकों में से कोई भी शेरशाह से तुलना करने के योग्य
है। इस कारण शेरशाह मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में से एक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार, शेरशाह का स्थान मध्य-युग के महान् शासकों में है और अफगान शासकों में वह निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ था।

[2]

शेरशाह के उत्तराधिकारी (1545-1555 ई.)

1. इस्लामशाह (1545-53 ई.)

जिस समय शेरशाह की मृत्यु हुई उसके दोनों पुत्रों में से कोई भी उसके पास न था। उसका बड़ा लड़का आदिलखाँ रणथम्भौर में और छोटा लड़का जलालखाँ रीवां के निकट था। शेरशाह ने अपने बड़े पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। परन्तु बहुत से सरदारों ने जलालखाँ को बादशाह बनाना उपयुक्त समझा क्योंकि आदिलखाँ विलासी और आरामपसन्द था। उसके विपरीत, जलालखाँ परिश्रमी और योग्य सैनिक व सेनापति था। जलालखाँ को शीघ्र बुलाने के लिए दूत भेजा गया और उसके आ जाने पर 26 मई, 1545 ई. को उसे इस्लामशाह के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया गया।

आदिल खाँ ने आगरा पर आक्रमण किया परन्तु जब आगरा के किलेदार ने उसको किले में प्रवेश नहीं दिया तथा वह रणथम्भौर वापस चला गया। इस्लाम शाह ने आगरा पहुँचकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने अपने सैनिकों को दो माह का वेतन दिया जिसमें एक माह का वेतन पुरस्कार के रूप में दिया गया। उसने अपने स्वयं के सैनिकों और सरदारों की पदोन्नति की जिससे वे उसके प्रति स्वामिभक्त बन जायें। परन्तु इससे कुछ अन्य सरदार असन्तुष्ट भी हो गये।

(1) आदिलखाँ से संघर्ष—जब तब उसका बड़ा भाई आदिलखाँ जीवित था इस्लामशाह अपने आपको सुरक्षित अनुभव नहीं कर सकता था। उसने आदिलखाँ से आग्रह किया कि यदि वह दरबार में उपस्थित होकर उसके आधिपत्य को स्वीकार कर ले तो उसे सुरक्षा सहित वापस चला जाने दिया जायेगा और बयाना की जागीर भी उसे दे दी जायेगी। खवासखाँ और ईसाखाँ जैसे सम्मानित सरदारों के आश्वासन पर आदिलखाँ आगरा गया और अपने भाई से मिलकर तुरन्त बयाना की जागीर पर वापस चला गया। इसी बीच में उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह असफल हुआ। इसके पश्चात् भी इस्लामशाह ने अपने भाई को अपमानित करने और उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। आदिलखाँ ने खवासखाँ से संरक्षण और सहायता की माँग की। खवासखाँ ने उसे आगरा पर आक्रमण करने की सलाह दी। ईसाखाँ भी उनके साथ हो गया। इस्लामशाह के दरबार के अन्य बहुत से सरदारों ने भी युद्ध के समय इस्लामशाह का साथ छोड़ने का वायदा किया। परन्तु आगरा शहर के बाहर जो युद्ध हुए उनमें आदिलखाँ की पराजय हुई। आदिलखाँ पन्ना की ओर भाग गया और उसके पश्चात् उसका नाम भी सुनने को नहीं मिला। खवासखाँ भागकर सरहिन्द की तरफ चला गया। इस प्रकार, इस्लामशाह का सिंहासन सुरक्षित हो गया।

(2) सरदारों का विद्रोह और दमन—इस्लामशाह ने उन सभी सरदारों को समाप्त करने का निश्चय किया जिन पर उसे शंका थी। वे सभी शेरशाह के समय के पुराने सरदार थे जो आदिलखाँ के पक्ष में कहे जा सकते थे। जलालखाँ और खुदादादखाँ को मार दिया गया और करीब 13 सरदार ग्वालियर के किले में ले जाकर मार दिये गये। सईदखाँ नियाजी अपने भाई तथा पंजाब के सूबेदार आजम हुमायूँ के पास भाग गया। इस्लामशाह ने शुजातखाँ को मालवा से और आजम हुमायूँ को पंजाब से दरबार में आने के आदेश दिये। उसका इरादा उनको भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्त करने का था। शुजातखाँ दरबार में गया जहाँ उसके दत्तक पुत्र के हस्तक्षेप के कारण उसे सम्मान दिया गया परन्तु आजम हुमायूँ ने आने से इंकार कर दिया। इस्लामशाह की नीति से सभी पुराने सरदार शंकित और भयभीत हो गये। उनमें से जो शक्तिशाली थे विद्रोह करने को तत्पर हो गये। इनमें से पहला विद्रोह आजम हुमायूँ का था।

(i) आजम हुमायूँ नियाजी—आजम हुमायूँ ने न केवल दरबार में आने से ही इंकार किया बल्कि उसने विद्रोह किया। खवासखाँ भी अपने सैनिकों के साथ उससे मिल गया। आजम हुमायूँ नियाजी एक विशाल सेना के साथ राजधानी की तरफ बड़ा। इस्लामशाह उसका मुकाबला करने के लिए अम्बाला पहुँचा। खवासखाँ युद्ध से पहले ही नियाजियों का साथ छोड़ गया क्योंकि वह आदिलखाँ के नाम से युद्ध करना चाहता था, जबकि नियाजियों ने घोषणा की कि "सुल्तान का फैसला तलवार से होगा।" युद्ध में नियाजियों की पराजय हुई और वे बुरी तरह से कत्ल किये गये। आजम हुमायूँ भाग गया। उसके पश्चात् भी नियाजी पंजाब में उपद्रव करते रहे और उन्होंने गक्खरों से सहायता ली। इस्लामशाह दो वर्ष तक गक्खर प्रदेश को बरबाद करता रहा यद्यपि वह गक्खरों को पूर्णतया समाप्त न कर सका। इसके पश्चात् आजम हुमायूँ ने कश्मीर में प्रवेश किया और वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने के कारण एक युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। इस्लामशाह ने नियाजी स्त्रियों के साथ बुरा व्यवहार किया। बन्दी स्त्रियों को महीनों तक नंगा रखा गया और बाद में उन्हें वेश्यावृत्ति के लिए छोड़ दिया गया।

(ii) शुजातखाँ—शुजातखाँ मालवा का सूबेदार था परन्तु सुल्तान के आग्रह पर वह ग्वालियर चला गया था। वहाँ एक अफगान ने उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। इससे इस्लामशाह पर सन्देह हुआ और वह वहाँ से मालवा भाग गया। इस्लामशाह ने मालवा पर आक्रमण किया। शुजातखाँ बिना विरोध के भाग खड़ा हुआ। बाद में नियाजी-विद्रोह और शुजातखाँ के लड़के के हस्तक्षेप के कारण शुजातखाँ को माफ कर दिया गया और मुख्य भाग को छोड़कर मालवा का अधिकांश भाग उसे वापस दे दिया गया।

(iii) खवासखाँ—खवासखाँ आदिलखाँ का समर्थक रहा था। युद्ध में आदिलखाँ की पराजय के पश्चात् वह सरहिन्द की तरफ भाग गया था। उसने नियाजियों की सहायता करने का प्रयत्न किया था परन्तु उनकी स्वतन्त्रता की भावना को देखकर वह उनका साथ छोड़ गया था और उसने कुमायूँ के राजा के यहाँ शरण ले ली थी। इस्लामशाह ने उसे राजा से वापस माँगा और इस माँग की अस्वीकृति पर खवासखाँ को स्वयं दरबार में आने के लिए कहा। सुल्तान के व्यक्तिगत आश्वासन पर खवासखाँ दरबार में आने के लिए तैयार हो गया। जब वह दरबार में आ रहा था तो रास्ते में सम्भल के सूबेदार ने इस्लामशाह के इशारे पर उस पर अचानक आक्रमण किया और उसे मार दिया। इस्लामशाह ने उसकी लाश को दिल्ली के बाजार में फिंकवा दिया जिससे विद्रोही उससे सबक ले सकें। परन्तु दिल्ली के नागरिकों ने उस बहादुर व्यक्ति का सम्मान किया और सैनिकों की उपस्थिति के बावजूद भी वे तीन दिन तक लगातार उसकी लाश को फूलों से ढँकते रहे। इस प्रकार शेरशाह के एक अन्य योग्य और स्वामिभक्त सरदार का अन्त हुआ।

विद्रोहों का परिणाम—विद्रोहों को दबाकर और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों को दबाकर करके इस्लामशाह ने सुल्तान के सम्मान और शक्ति में वृद्धि की तथा अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को पूर्णतया दबा दिया। इस्लामशाह के समय में प्रान्तीय सूबेदार सुल्तान का तो क्या सुल्तान के जूतों का भी सम्मान करते थे। सुल्तान के आदेशों का पूर्णतया पालन किया जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। यह उसकी शेरशाह से भी बड़ी सफलता थी। परंतु पुराने सरदारों के प्रति इतनी कठोरता की नीति के दुष्परिणाम भी हुए। दो बार इस्लामशाह की हत्या का प्रयत्न किया गया जिससे वह और भी अधिक कठोर और शंकालु हो गया। उसने प्रायः सभी सूबों से पुराने सूबेदारों को हटाकर नये सूबेदारों की नियुक्ति की। बंगाल से काजी फजीलात को हटाकर महमूदखाँ सूर की नियुक्ति की गयी। उसकी इस नीति से अफगान सरदारों में असन्तोष फैला। उसके समय में तो वे शान्त रहे परन्तु उनमें राजवंश के प्रति भक्ति न रही। इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सिंहासन का फैसला तलवार के आधार पर किया गया। **इस प्रकार इस्लामशाह की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि जिस अफगान-एकता के लिए शेरशाह प्रयत्नशील रहा था उसके लिए वह कोई कार्य न कर सका, बल्कि इसके विपरीत अपनी कठोर नीति से उसने उस पर प्रबल आघात किया।**

(3) अन्तिम दिन और मृत्यु—अपने समय में इस्लामशाह सफल रहा। उसने न केवल राज्य की सुरक्षा की अपितु उसका विस्तार भी किया। उसके समय में पूर्वी बंगाल को विजय किया गया। उसके समय के सभी विद्रोह असफल हुए और 1553 ई. में जब हुमायूँ ने सीमा पर आने का प्रयत्न किया तब बीमारी की स्थिति में भी इस्लामशाह युद्ध के लिए चल दिया और हुमायूँ को वापस जाना पड़ा। उसके समय में उसका भय और सम्मान था और उसके आदेशों का अक्षरशः पालन किया जाता था। उसने शासन-व्यवस्था में विभिन्न सुधार किये जिनमें से अनेक लाभदायक भी थे। परन्तु इस्लामशाह अधिक समय जीवित न रह सका। बीमारी के कारण 30 अक्टूबर, 1553 ई. को इस्लामशाह की मृत्यु हो गयी।

(4) शासन-प्रबन्ध—**इस्लामशाह एक योग्य पिता का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ।** उसने न केवल अपने पिता के समय की अच्छी शासन-व्यवस्था को ही स्थापित रखा बल्कि उसमें कुछ महत्वपूर्ण सुधार भी किये। उसकी शासन-व्यवस्था और लगान-व्यवस्था वही रही जो शेरशाह के समय में थी। उसने उन्हें दृढ़तर किया। शेरशाह ने प्रत्येक चार मील पर एक सराय बनवायी थी, इस्लामशाह ने प्रत्येक दो मील पर सरायें बनवा दीं। शेरशाह के समय में मुफ्त भोजन की व्यवस्था केवल राजधानी में थी, इस्लामशाह ने प्रत्येक सराय में मुफ्त भोजन की व्यवस्था की। इस्लामशाह जागीरदारी प्रथा को समाप्त न कर सका परन्तु उसने पुराने जागीरदारों से जागीरें छीनकर नवीन जागीरदारों को दीं। इससे एक तो नये जागीरदार उसके प्रति वफादार हो गये और दूसरे जागीरदारी प्रथा के स्थायित्व पर चोट पहुँची। उसने पुलिस-व्यवस्था के लिए गाँव के मुखिया और मुकद्दम के अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों को भी उत्तरदायी बना दिया।

उसने सेना की व्यवस्था में सुधार किये। घुड़सवार-सेना को 50, 200, 250 और 500 घुड़सवारों की टुकड़ियों में बाँटा गया और पैदल-सैनिकों को 5,000, 10,000 और 20,000 तक की बड़ी-बड़ी टुकड़ियों में संगठित किया गया। उसकी इच्छा, सम्भवतया, दशमलव पद्धति के आधार पर सेना को विभिन्न टुकड़ियों एवं विभिन्न अधिकारियों के नेतृत्व में बाँटने की थी। बाद में अकबर की मनसबदारी प्रथा में इस व्यवस्था को विस्तृत रूप प्रदान किया गया। उत्तर-पश्चिम की सीमा की सुरक्षा के लिए उसने वहाँ पर पाँच किलों की एक शृंखला खड़ी की। ये किले शेरगढ़, इस्लामगढ़, रसीदगढ़, फीरोजगढ़ और मानकोट में थे। इनको संयुक्त रूप से 'मानकोट के किले' कहा जाता था।

इस्लामशाह ने अपने सरदारों को कठोर नियन्त्रण में रखा। वे सभी उससे डरते थे। इस्लामशाह के आदेशों को प्रत्येक जिले में हर शुक्रवार को एक दरबार करके सुनाया जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उस दरबार में इस्लामशाह के जूते एक सिंहासन पर रखे जाते थे और उसी के सम्मुख आदेश सुनाये जाते थे। शासन के बड़े-बड़े अधिकारी मीलों आगे आकर इस्लामशाह के आदेश-पत्रों को ग्रहण करते थे और सम्मान सहित अपने सिरों पर रखकर उन्हें ले जाते थे। सरदारों के प्रभाव को कम करने के लिए उसने आज्ञा दी थी कि कोई भी सरदार हाथी नहीं रखेगा, नर्तकियाँ नहीं रखेगा और लाल रंग के खेमे का प्रयोग नहीं करेगा। यह सुल्तान के विशेषाधिकार थे। इस प्रकार, इस्लामशाह ने अफगान सरदारों की स्वतन्त्रता की भावना को कठोरता से दबाकर रखा। अपने समय में वह सफल रहा यद्यपि उसके पश्चात् इसके दुष्परिणाम निकले। अफगान सरदारों ने उसके वंश के प्रति भक्ति-भाव नहीं रखा और उसकी मृत्यु होते ही सिंहासन के भाग्य का फैसला तलवार के आधार पर किया।

इस्लामशाह के शासन सम्बन्धी सुधारों में सबसे महत्वपूर्ण सुधार उसका विभिन्न कानूनों का निर्माण और उनका सभी स्थानों पर लागू किया जाना था। उसने कानून-व्यवस्था को राज्य की शक्ति के आधार पर लागू करने का प्रयत्न किया। उसने सैनिक, लगान, व्यापार आदि के सम्बन्ध में विस्तृत कानून बनाये और उन्हें समान रूप से लागू किया। उससे पहले भी इनके विषय में विभिन्न कानून थे परन्तु उनके पीछे धर्म की शक्ति थी। इस्लामशाह ने राज्य की तरफ से कानून बनाकर उनको समान बनाया और धर्म के प्रभाव को कानून-व्यवस्था से समाप्त करने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रयत्न अलाउद्दीन खलजी और तुगलक जैसे शासक तो क्या, उसका पिता शेरशाह भी नहीं कर सका था।

इस प्रकार, इस्लामशाह एक योग्य शासन-प्रबन्धक था। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि उसके कुछ सुधार, यथा—नवीन सरायों का निर्माण और वहाँ पर मुफ्त भोजन की व्यवस्था—केवल इस दृष्टिकोण से किये गये थे कि जनसाधारण उसके पिता की कीर्ति को भूल जायें। परन्तु इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना कठिन है। इस्लामशाह के सुधार शेरशाह के सुधारों में परिवर्तन करने के लिए न थे बल्कि उनको और अच्छा बनाने के लिए थे और यदि इस्लामशाह में दम्भ की भावना रही भी हो तो उससे जनसाधारण का लाभ ही हुआ था।

(5) चरित्र—इस्लामशाह एक शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति था। उसने अच्छी शिक्षा पायी थी और वह फारसी में स्वयं कविता करता था। व्यक्तिगत दृष्टि से वह कट्टर मुसलमान था परन्तु धर्मान्ध न था। एक सैनिक, एक सेनापति और एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से वह योग्य सिद्ध हुआ था। वह साहसी और परिश्रमी भी था। परन्तु इस्लामशाह ईर्ष्यालु, कठोर, निर्दयी, धोखेबाज और प्रतिहिंसात्मक था। मानवीय गुणों की दृष्टि से उसमें बहुत त्रुटियाँ थीं। सम्भवतया, उसकी ये दुर्बलताएँ ही उसके वंश और अफगानों के लिए हानिकारक हुईं। उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में इन्हीं प्रवृत्तियों की प्रधानता परिलक्षित होती है।

2. फीरोजशाह व मुहम्मद आदिलशाह : सूर-साम्राज्य का पतन

इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सूर-साम्राज्य की एकता नष्ट हो गयी और उसके पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस्लामशाह के पश्चात् उसका 12 वर्षीय पुत्र फीरोजशाह गद्दी पर बैठा (1553 ई.)। परन्तु तीन दिन बाद ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने उसकी हत्या करके गद्दी पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि ग्रहण की। आदिलशाह ने गद्दी पर अवैध तरीके से अधिकार किया था और वह अयोग्य भी था। अफगानों की स्वतन्त्रता और शक्ति-संघर्ष की भावना को इससे खुला मार्ग मिल गया तथा विभिन्न सरदारों ने विद्रोह करने आरम्भ कर दिये। आरम्भ में आदिलशाह ने कुछ सफलता प्राप्त की परन्तु साम्राज्य के विभाजन को रोकने में वह पूर्णतः असफल रहा। उसी के बहनोई इब्राहीम सूर ने दिल्ली और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगरा पर अधिकार करके अपने को इब्राहीमशाह के नाम से बादशाह घोषित कर दिया। उस समय आदिलशाह चुनार में था और उसका मुख्य सहायक और सेनापति हेमू पूर्व में युद्ध करने गया हुआ था। इस कारण आदिलशाह कुछ न कर सका। इन परिस्थितियों में आदिलशाह के एक अन्य बहनोई अहमदखाँ को प्रोत्साहन मिला। वह पंजाब का सूबेदार था। उसने अपने आप को सिकन्दरशाह के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। इसी प्रकार, बंगाल में मुहम्मदखाँ सूर ने और मालवा में बाजबहादुर ने अपने-अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। थोड़े समय पश्चात् सिकन्दरशाह ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, सूर-साम्राज्य पाँच भागों में बँट गया। सिकन्दरशाह के अधिकार में पंजाब, दिल्ली और आगरा थ, इब्राहीमशाह का अधिकार दोआब और सम्भल पर था, चुनार से बिहार तक के प्रदेश पर आदिलशाह का अधिकार था, बंगाल में मुहम्मदशाह का आधिपत्य था और मालवा में बाजबहादुर की स्वतन्त्र सत्ता थी। इनमें से प्रत्येक शासक सम्पूर्ण सूर-साम्राज्य को अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील था।

ऐसी परिस्थिति में जबकि सूर-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था और विभिन्न सूर-सरदार आपस में संघर्ष कर रहे थे, हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया। इनके संघर्षों के कारण हुमायूँ लाहौर तक सरलता से पहुँच गया और फिर मच्छीवारा तथा सरहिन्द के युद्धों को जीतकर उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

[3]

द्वितीय अफगान-साम्राज्य के पतन के कारण

भारत में दिल्ली में अफगान-साम्राज्य को सर्वप्रथम लोदी-वंश ने स्थापित किया था। उसी वंश के इब्राहीम लोदी को परास्त करने के पश्चात् बाबर ने 1526 ई. में दिल्ली में मुगल-वंश के राज्य की स्थापना की। परन्तु शेरशाह सूर ने 1540 ई. में बाबर के उत्तराधिकारी बादशाह हुमायूँ को दो युद्धों में परास्त करके भारत छोड़ने के लिए बाध्य किया और दिल्ली में पुनः अफगान-साम्राज्य की स्थापना की। इस कारण शेरशाह द्वारा स्थापित किया गया साम्राज्य द्वितीय अफगान-साम्राज्य कहलाया। परन्तु अफगानों का यह द्वितीय साम्राज्य लगभग पन्द्रह वर्ष ही रह पाया। 1555 ई. में मुगल-बादशाह हुमायूँ वापस लौटा और उसने क्रमशः मच्छीवारा और सरहिन्द के युद्धों को जीतकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार द्वितीय अफगान-साम्राज्य को समाप्त कर दिया। इस द्वितीय अफगान-साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित कारण रहे :

1. प्रशासकीय कठिनाइयाँ—निस्सन्देह, शेरशाह ने अपने अल्प-शासनकाल में ही एक श्रेष्ठ शासन की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की थी। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी इस्लामशाह ने भी उसकी शासन-व्यवस्था को बनाये रखा। लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में सिंहासन को प्राप्त करने के लिए पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हुआ, उससे वह व्यवस्था नष्ट हो गयी। ऐसी परिस्थितियों में नागरिकों का किसी भी शासक के प्रति वफादार होना सम्भव नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, मुख्य कठिनाई आर्थिक थी। अफगान-साम्राज्य के विभाजित हो जाने के कारण दिल्ली के शासक सिकन्दर लोदी के पास पर्याप्त सैनिक-साधन भी उपलब्ध नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में मुगल-सेना अफगान-सेना से श्रेष्ठ सिद्ध हुई तथा हुमायूँ ने सिकन्दर लोदी को सरलता से परास्त करके दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

2. इस्लामशाह का उत्तरदायित्व—इस्लामशाह, निस्सन्देह, शेरशाह का योग्य उत्तराधिकारी था। परन्तु उसी के शासनकाल में अफगानों में आपस में तीव्र विभाजन हो गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्लामशाह ने अपने भाई आदिलखाँ की शक्ति को समाप्त करके साम्राज्य के विभाजन को तो बचा लिया परन्तु अफगानों की एकता को उसने नष्ट कर दिया। वह अपने सरदारों के प्रति शंकालु हो गया और उनमें से कई सरदारों को उसने मरवा भी दिया। इसी कारण उसके विरुद्ध विद्रोह हुआ। वह उस विद्रोह को दबाने में भी सफल हुआ परन्तु अफगान-सरदारों की वफादारी पाने में असफल रहा। उसकी सफलता अपनी शक्ति पर आधारित व्यक्तिगत सफलता थी। अफगान-सरदार उसके वंश के प्रति वफादार नहीं रह सके। अपने समय में वह अफगानों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने में अवश्य सफल रहा परन्तु उसे नष्ट नहीं कर सका। ऐसी स्थिति में ही उसकी मृत्यु भी शीघ्र हो गयी जबकि उसका पुत्र और उत्तराधिकारी फीरोज अल्पायु था। उसकी मृत्यु होते ही अफगान-सरदारों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ और स्वतन्त्र प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से सामने आ गयीं और उनमें पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गये। इस प्रकार, अफगानों को अपने नेतृत्व में एकता प्रदान करने में इस्लामशाह असफल हुआ था और वह उसके वंश और साम्राज्य के पतन का कारण बना।

3. इस्लामशाह के अयोग्य उत्तराधिकारी—इस्लामशाह का उत्तराधिकारी उसका अल्पायु पुत्र फीरोज था जिसको तीन दिन पश्चात् ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने मरवा दिया और आदिलशाह के नाम से स्वयं सुल्तान बन गया। परन्तु आदिलशाह अयोग्य सिद्ध हुआ। इसी प्रकार, इब्राहीमशाह और सिकन्दरशाह, जिन्होंने क्रमशः दिल्ली और आगरा पर अपना अधिकार स्थापित किया, अयोग्य सिद्ध हुए। उनमें से कोई भी अफगान-साम्राज्य के विघटन को रोकने में सफल नहीं हुआ और सूर-साम्राज्य खण्डित हो गया। जिस समय मुगल-बादशाह हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया उस समय आदिलशाह, इब्राहीमशाह और सिकन्दरशाह ही आपस में संघर्षरत नहीं थे बल्कि बंगाल में मुहम्मदशाह और मालवा में बाजबहादुर ने अफगानों के स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। इस प्रकार, हुमायूँ के आक्रमण से पहले ही अफगान अपनी शक्ति को विभाजित कर चुके थे।

4. अफगानों की स्वतन्त्रता और संघर्ष की प्रवृत्ति—द्वितीय अफगान-साम्राज्य की असफलता का मूल कारण अफगानों का एक केन्द्रीय शासन-व्यवस्था को स्वीकार न करना था। अफगान आवश्यकता से अधिक अपने अधिकारों की स्वतन्त्रता पर बल देते थे जिसके कारण वे एक सुल्तान के शासन के अधीन रहना पसन्द नहीं करते थे। सुल्तान उन्हें अपने नियन्त्रण में रखने के लिए शक्ति के आधार पर बाध्य तो कर सकता था परन्तु उनकी स्वतन्त्रता की भावना पर स्थायी अंकुश नहीं लगा सकता था। इस कारण सुल्तान के दुर्बल या अयोग्य होते ही उनकी स्वतन्त्रता की महत्वाकांक्षाएँ सम्मुख आ जाती थीं और वे पारस्परिक संघर्ष में फँस जाते थे। लोदी-वंश के पतन का भी यह एक मुख्य कारण रहा था और द्वितीय अफगान-साम्राज्य के पतन में भी इसने मुख्य भाग लिया।

उपर्युक्त कारणों से शेरशाह द्वारा स्थापित द्वितीय अफगान-साम्राज्य उसकी मृत्यु के पन्द्रह वर्ष पश्चात् ही समाप्त हो गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शेरशाह के जीवन वृत्त और उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. 'शेरशाह अकबर का अग्रगामी था।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?
3. सूरवंश के पतन के कारण लिखिए।
4. शेरशाह के शासन प्रबन्ध की विवेचना कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शेरशाह के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालिए।
2. शेरशाह के कालिंजर पर विजय के कारण बताइए।
3. शेरशाह की अर्थव्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
4. सूर वंश के पतन के दो महत्त्वपूर्ण कारण लिखिए।
5. शेरशाह की प्रमुख विजयों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शेरशाह का बचपन का नाम था—
   (अ) शरीफ (ब) फरीद
   (स) जहीर (द) नसीर।
2. शेरशाह किसके कारण घर छोड़कर दौलत खाँ की सेवा में चला गया था ?
   (अ) अपनी सौतेली माँ के कारण (ब) अपने भाइयों के कारण
   (स) दोनों कारणों से (द) इनमें से कोई नहीं।
3. 1529 ई. में बंगाल का शासक कौन था ?
   (अ) नुसरत खाँ (ब) शेरखाँ
   (स) महमूद लोदी (द) जलालखाँ।
4. 1538 ई. में रोहतासगढ़ का शासक कौन था, जिससे शेरखाँ ने अपने परिवार की सुरक्षा के लिए किला माँगा था ?
   (अ) मुसलमान (ब) हिन्दू
   (स) सिख (द) ईसाई।
5. शेरखाँ ने गद्दी पर बैठते समय कौन-सी उपाधि ग्रहण की थी ?
   (अ) सुल्तान-ए-आजम (ब) शेरशाह
   (स) शेरशाह-सुल्तान-ए-आदिल (द) इनमें से कोई नहीं।
6. शेरशाह की मृत्यु हुई थी—
   (अ) 1540 ई. में (ब) 1542 ई. में
   (स) 1544 ई. में (द) 1545 ई. में।
7. शेरशाह के नाम पर सबसे गहरा धब्बा कौन-सा था ?
   (अ) राजपूतों से विश्वासघात (ब) स्त्रियों से दुर्व्यवहार का
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
8. 'मुट्ठीभर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान के साम्राज्य को प्रायः खो चुका था' किसने कहा था ?
   (अ) मालदेव ने (ब) जलाल खाँ ने
   (स) राणा सांगा ने (द) शेरशाह ने।
9. 'शासन प्रबन्धक और सैनिक प्रतिभा की दृष्टि से शेरशाह अफगानों में सर्वश्रेष्ठ था।' किसने लिखा है ?
   (अ) विलियम इरिस्कन ने (ब) डॉ. के आर कानूनगो ने
   (स) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने (द) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. दीवान-ए-आरिज किस विभाग से सम्बन्धित था ?
(अ) राजस्व विभाग से (ब) सेना से सम्बन्धित
(स) न्याय विभाग से (द) कृषि से सम्बन्धित।

11. शेरशाह के शासन में राज्य की आय का प्रमुख साधन था—
(अ) लगान कर (ब) व्यापारिक कर
(स) युद्ध में लूटा गया माल (द) जजिया।

12. रैयतवाड़ी से तात्पर्य है—
(अ) किसानों से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (ब) किसानों से बलपूर्वक वसूली
(स) किसानों से सीधा सम्पर्क (द) इनमें से कोई भी नहीं।

13. मुन्सिफ-ए-मुन्सिफान किस विभाग से सम्बन्धित अधिकारी था ?
(अ) न्याय विभाग से (ब) राजस्व विभाग से
(स) धार्मिक विभाग से (द) इनमें से किसी से नहीं।

14. शेरशाह ने मुख्य रूप से कितनी प्राचीन सड़कों को ठीक कराया था ?
(अ) तीन (ब) चार
(स) पाँच (द) सात।

15. शेरशाह का धार्मिक दृष्टिकोण था—
(अ) कठोर (ब) क्रूर
(स) उदार (द) इनमें से कोई नहीं।

16. शेरशाह की सर्वश्रेष्ठ इमारत थी—
(अ) जामा मस्जिद (ब) शेरसूर नगर
(स) रोहतासगढ़ का दुर्ग (द) सहसराम का मकबरा।

17. 'शेरशाह बुद्धिमत्ता व अनुभव में द्वितीय हैदर था।' किसने लिखा है ?
(अ) एच. जी. कीन ने (ब) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने
(स) अब्बास खाँ सरवानी ने (द) डॉ. अवध बिहारी पाण्डेय ने।

18. शेरशाह के पुत्र इस्लामशाह ने भारत पर कितने वर्ष शासन किया ?
(अ) सात वर्ष (ब) आठ वर्ष
(स) नौ वर्ष (द) दस वर्ष।

19. हुमायूँ ने 1555 ई. में पुनः मुगल साम्राज्य की स्थापना किसके समय में की थी ?
(अ) फिरोजशाह (ब) अली आदिलशाह
(स) मुहम्मदशाह (द) मुहम्मद आदिलशाह।

20. अफगान साम्राज्य के पतन का कारण था—
(अ) इस्लामशाह (ब) अयोग्य उत्तराधिकारी
(स) अफगानों की संघर्ष की प्रवृत्ति (द) उपर्युक्त तीनों।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (स), 6. (द), 7. (अ), 8. (द), 9. (ब), 10. (ब)
11. (अ), 12. (स), 13. (अ), 14. (ब), 15. (स), 16. (द), 17. (स), 18. (ब), 19. (द), 20. (द)]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4

अकबर महान् (1556-1605 ई.)

केवल मुगल शासकों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मध्य-युग के भारतीय शासकों में अकबर को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। मुगल-साम्राज्य को वास्तव में भारत में स्थापित करने, उसका विस्तार करने और उसे स्थायित्व प्रदान करने का श्रेय अकबर को है। इसके अतिरिक्त, राजस्व और शासन में जिन नवीन और उदार सिद्धान्तों का उसने प्रतिपादन किया वह उसे भारत के ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के महान् शासकों में स्थान प्रदान करता है। प्रायः 350 वर्ष का मुसलमानी शासन उस समय तक भारत में अस्थिर था और एक भी मुसलमान शासक न तो अपने राजवंश को स्थिरता प्रदान कर सका था और न ही शासन के उन सिद्धान्तों को व्यवहार में ला सका था जिनके आधार पर एक विदेशी सत्ता और भिन्न धर्म के मतावलम्बी एक अन्य देश में स्थायी रूप से निवास करने या शासन करने का अधिकार प्राप्त कर पाते। अकबर से पहले केवल शेरशाह ने, निस्सन्देह, प्रजा की भलाई के आधार पर शासन-सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु शेरशाह को बहुत थोड़ा समय मिल सका था। उसकी नीति अभी अस्पष्ट ही थी और उसके प्रभाव के परिणामों को समझने का अवसर भी प्राप्त नहीं हुआ था कि उसकी मृत्यु हो गयी। अकबर को अपनी नीतियों एवं उनके प्रभाव को देखने के लिए एक लम्बा समय प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, वह निश्चय ही शेरशाह की तुलना में अधिक उदार, अधिक दृढ़, अधिक नीतिज्ञ और अधिक विशाल दृष्टिकोण वाला सिद्ध हुआ। निस्सन्देह, अकबर ने अपने राजवंश को स्थायित्व प्रदान किया और शासन के उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोग किया जिनके आधार पर मुगल-वंश और इस्लाम के समर्थक शासकों को एक विदेशी देश अथवा अपने से पृथक धर्म के मतावलम्बियों पर शासन करने का नैतिक अधिकार प्राप्त हो सका। इसी में अकबर की महानता थी। लेनपूल ने लिखा है : "वह भारतीय बादशाहों में सबसे महान् था।" डॉ. ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं : "अकबर भारतीय इतिहास का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व का एक महत्वपूर्ण शासक था"""अकबर की मौलिक योग्यता और सफलताओं की तुलना तत्कालीन यूरोपीय शासकों से करने से उसकी श्रेष्ठता सरलता से स्थापित हो जाती है।"

[1]

राज्याभिषेक और प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अमरकोट के राजा वीरसाल के यहाँ 15 अक्टूबर, 1542 ई. को हमीदा बानू बेगम के गर्भ से अकबर का जन्म हुआ। यह वह समय था जब हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर सिन्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इधर-उधर भटक रहा था। जिस समय हुमायूँ भारत से भागकर पर्शिया के शाह के यहाँ शरण के लिए गया उस समय वह अपने बेटे अकबर को कन्धार के निकट छोड़कर भागा। अस्करी ने अकबर को अपने संरक्षण में ले लिया। 3 वर्ष की आयु में अकबर की भेंट अपने पिता से पुनः उस समय हुई जब हुमायूँ ने कन्धार और काबुल पर अधिकार किया। यहीं उसका नाम 'जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर' रखा गया। परन्तु एक बार पुनः अकबर को अपने पिता से बिछुड़ना पड़ा। एक युद्ध में कामरान ने बालक अकबर को कन्धार के किले की दीवार पर लटका दिया जबकि हुमायूँ की तोपें किले पर आग बरसा रही थीं। भाग्य से ही अकबर बच गया। पाँच वर्ष की आयु से अकबर पिता के साथ ही रहा और उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अकबर ने साहित्यिक शिक्षा में कोई रुचि नहीं दिखायी यद्यपि घुड़सवारी और अस्त्र-शस्त्र चलाने में वह निपुण हो गया। उसने गजनी और लाहौर के सूबेदार के रूप में कार्य किया और हुमायूँ की मृत्यु के अवसर पर वह पंजाब में सिकन्दर सूर को समाप्त करने के प्रयत्न में संलिप्त था। उस अवसर पर बैरमखाँ उसके संरक्षक के रूप में कार्य कर रहा था। हुमायूँ की मृत्यु की सूचना मिलने पर पंजाब में गुरुदासपुर जिले के निकट कलानौर नामक स्थान पर 14 फरवरी, 1556 ई. को अकबर को मुगल बादशाह घोषित किया गया। उसका राज्याभिषेक बैरम खाँ की देख-रेख में मिर्जा अबुल क़ासिम ने किया। उस समय अकबर 14 वर्ष की आयु को भी पूरा नहीं कर पाया था।

अकबर को अपने पिता से काँटों का ताज प्राप्त हुआ था। भारत से बाहर मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत काबुल, बदख्शां और कन्धार थे। काबुल में अकबर का सौतेला भाई मिर्जा हकीम मुनीमखाँ के संरक्षण में शासन कर रहा था। हुमायूँ की मृत्यु की सूचना पाते ही बदख्शां के सूबेदार मिर्जा सुलेमान ने अपने को केवल स्वतन्त्र ही घोषित नहीं किया अपितु वह मिर्जा हकीम और अकबर को अपने आधिपत्य में करने के लिए उत्सुक हो गया। उसने इस आशय से काबुल पर आक्रमण किया। कन्धार पर, जो बैरमखाँ की जागीर में था, पर्शिया के आक्रमण का निरन्तर खतरा रहता था। ऐसी स्थिति में अकबर को अफगानिस्तान से कोई सहायता मिलने की आशा न थी बल्कि वहाँ कभी भी सहायता की आवश्यकता हो सकती थी। भारत में दिल्ली, आगरा और इनके निकट के भागों के अतिरिक्त मुगलों के हाथ में कुछ न था। पंजाब मुगलों के अधिकार में होते हुए भी सिकन्दर सूर की उपस्थिति के कारण असुरक्षित था। इस मुगल भू-प्रदे ा में अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए मुगल सरदार और सेना विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई थी। ग्वालियर, मालवा, बिहार, बंगाल, गुजरात आदि विभिन्न प्रदेशों में अफगान स्वतन्त्र हो गये थे और उत्तर-भारत का अधिकांश भाग विद्रोही अफगान सरदारों के अधिकार में था। सूर-वंश के उत्तराधिकारी सिकन्दरशाह सूर, इब्राहीम सूर और मुहम्मद आदिल सूर अभी तक जीवित थे, विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार किये हुए थे और दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने के लिए लालायित थे। राजस्थान में जोधपुर (मारवाड़) का शासक मालदेव अभी जीवित था और उसके अतिरिक्त मेवाड़, अम्बर, जैसलमेर आदि के शासकों ने अपनी शक्ति को पुनः एकत्रित कर लिया था। मुगल सरदारों की आपस की एकता और स्वामिभक्ति पर अधिक निर्भर रहना कठिन था। शाह अब्दुल माली ने जिसे हुमायूँ 'फर्जन्द' (पुत्र) पुकारता था, अकबर के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने से इंकार कर दिया था। आर्थिक दृष्टि से अकबर की स्थिति बहुत दुर्बल थी। हुमायूँ ने खजाने में धन नहीं छोड़ा था, अधीनस्थ प्रदेशों से तलवार के बूते पर ही लगान या अन्य कर वसूल किये जा सकते थे और दिल्ली एवं आगरा के निकट क्षेत्रों में भयंकर अकाल पड़ रहा था। इस प्रकार 13 वर्षीय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर के लिए ये सभी परिस्थितियाँ कठिन थीं। अकबर के लिए प्रथम संकट मुहम्मद आदिलशाह सूर ने खड़ा किया जिसके अधिकार में सम्भल से बिहार तक का क्षेत्र था। स्वयं आदिलशाह तो योग्य न था परन्तु उसका वजीर एवं सेनापति हेमू, निस्सन्देह, योग्य था और आदिलशाह के आदेश से उसने आगरा और दिल्ली पर अधिकार करने हेतु आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया था।

[2]

बैरमखाँ की संरक्षता का समय (1556-1560 ई.)

अकबर ने अपने संरक्षक बैरमखाँ जो कराकुईलू तुर्क था, को अपना 'वकील' (वजीर) नियुक्त किया और उसे 'खान-ए-खाना' की उपाधि से विभूषित किया। अगले चार वर्ष एक प्रकार से अकबर की नहीं बल्कि बैरमखाँ की सत्ता के थे। अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों का हल निकालने और भारत में मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करने का श्रेय बैरमखाँ को था। बैरमखाँ का वंश पर्शिया का रहने वाला था। उसके पिता सैफ अलीबेग ने बाबर के यहाँ नौकरी की थी और स्वयं बैरमखाँ 16 वर्ष की आयु से हुमायूँ की सेवा में आ गया था। वह अत्यन्त सुसंस्कृत, शिक्षित, वफादार, साहसी, बहादुर व योग्य सैनिक और सेनापति था। उसने हुमायूँ की तरफ से कन्नौज के युद्ध में भाग लिया था और उस समय जबकि हुमायूँ कन्धार भागने की तैयारी कर रहा था, वह उससे जान्पर मिल गया था। उसके पश्चात् वह निरन्तर हुमायूँ के साथ रहा और पर्शिया, कन्धार, काबुल तथा हुमायूँ की भारत की पुनर्विजय के अवसर पर उसने हुमायूँ की प्रत्येक प्रकार से सेवा की। हुमायूँ ने उसके इन्हीं सभी गुणों से खुश होकर 'अमीर' का पद प्रदान किया था। उसने हुमायूँ की भारत की पुनर्विजय में ही नहीं बल्कि अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों को समाप्त करने में पूर्ण सहयोग दिया। कालान्तर में बैरम खाँ की विश्वसनीयता बढ़ने के साथ ही उसको संरक्षक खानखाना, याखफादार आदि की उपाधि मिली। वास्तव में आरम्भ में अकबर की स्थिति को दृढ़ करने में सबसे बड़ा भाग उसी का था। वह फारस के शिया सम्प्रदाय से सम्बन्धित था।

1. पानीपत का द्वितीय युद्ध (5 नवम्बर, 1556 ई.)

जबकि अकबर पंजाब में ही था, हेमू ने ग्वालियर से आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। आगरा के सूबेदार इस्कन्दरखाँ उजबेग ने हेमू की शक्तिशाली सेना से युद्ध करना बेकार समझा और वह भागकर दिल्ली चला गया। आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् हेमू दिल्ली की ओर बढ़ा। वहाँ के सूबेदार तार्दीबेग ने किले से निकलकर उसका मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई। तार्दीबेग किले को छोड़कर पंजाब की ओर भाग गया। इस प्रकार, दिल्ली, आगरा और सम्भल का सम्पूर्ण क्षेत्र हेमू के अधिकार में चला गया। दिल्ली में हेमू ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया और विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की। हेमू 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करने वाला भारत का 14वाँ शासक था।

उस समय मुगलों की स्थिति बहुत दुर्बल थी और अनेक सरदारों ने अकबर को काबुल चले जाने का परामर्श दिया। परन्तु अकबर और बैरमखाँ ने इसे स्वीकार नहीं किया और पंजाब की सुरक्षा का प्रबन्ध करके मुगल-सेना ने दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। सरहिन्द के निकट तार्दीबेग, इस्कन्दरखाँ उजबेग और अलीकुलीखाँ अकबर से मिले। इस अवसर पर बैरमखाँ ने चुपके से तार्दीबेग को मरवा दिया और बाद में अकबर को इसकी सूचना दी। तत्कालीन इतिहासकारों ने बैरमखाँ के इस कार्य को व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईर्ष्या का कारण बताया है। आधुनिक इतिहासकारों का कहना है कि इस अवसर पर उसकी हत्या किया जाना भगोड़ों को सबक देने, मुगल सेना के आत्मबल को बढ़ाने और उन सलाहकारों की आवाज को समाप्त करने के लिए आवश्यक था जो अकबर को काबुल जाने की सलाह दे रहे थे। इस कारण वह कार्य एक हत्या होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से उचित था।

हेमू ने अपने तोपखाने को साधारण संरक्षण में आगे भेज दिया था जिस पर अलीकुलीखाँ के नेतृत्व में मुगलों के अग्रगामी दल ने अधिकार कर लिया। 5 नवम्बर, 1556 ई. को पानीपत के मैदान में हेमू का मुगलों से मुकाबला हुआ। तोपखाना न होते हुए भी हेमू के आक्रमण से मुगल सेना में खलबली मच गयी। परन्तु उसी अवसर पर हेमू की आँख में एक तीर लगा और वह मूर्च्छित होकर अपने हाथी के हौदे में गिर गया। उसके महावत ने उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और हेमू पकड़ा गया। हेमू की सेना इधर-उधर भाग गयी अथवा मारी गयी। हेमू को अकबर के सामने ले जाया गया। अकबर ने सम्भवतया अपनी तलवार उसकी गर्दन से छुआई और बैरमखाँ ने उसका सिर काट दिया। इस प्रकार हेमू की पराजय और मृत्यु हुई। हेमू की पराजय के मुख्य कारण उसके तोपखाने का पहले ही मुगलों के हाथों में चला जाना और युद्ध के दौरान उसकी आँख में तीर लग जाना था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "उसकी पराजय एक दुर्घटना थी और अकबर को विजय दैवी संयोग से मिली थी।"

हेमू अथवा हेमराज मध्य-युग के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। तत्कालीन स्रोतों के अनुसार हेमू वैश्य था और रेवाड़ी के बाजार में नमक बेचता था यद्यपि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसे ब्राह्मणों की भार्गव उपजाति का बताया है। इस्लामशाह ने उसे अपनी सेवा में लिया था और आदिलशाह के समय में उसका सम्मान बढ़ा और पदोन्नति हुई। धीरे-धीरे उसने अपनी योग्यता से राजकीय सम्मान प्राप्त किया। आदिलशाह ने उसकी सैनिक प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर उसे अपना वजीर और सेनापति बना लिया। आदिलशाह की तरफ से उसने 24 युद्धों में भाग लिया जिनमें से उसने 22 युद्धों में सफलता प्राप्त की। उसकी सेना में हिन्दू ही नहीं बल्कि अफगान भी थे और वे सभी उसमें विश्वास करते थे। दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् उसने विक्रमादित्य के नाम से अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया था। हेमू पर अपने मालिक आदिलशाह से गद्दारी करने का आरोप लगाना गलत होगा। मध्य-युग में तलवार के आधार पर राज्य-शक्ति प्राप्त करना साधारण परम्परा थी। मुहम्मद आदिलशाह ने न केवल अपने भानजे को मारकर गद्दी पर अधिकार किया था बल्कि उस समय दिल्ली भी उसके अधिकार में न थी। इसके अतिरिक्त, आदिलशाह विलासी और अयोग्य था। स्वयं उसके सम्बन्धियों ने उससे शासन-सत्ता छीनने का प्रयत्न किया था। ऐसी स्थिति में हेमू द्वारा अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित करना गलत नहीं माना जा सकता। हेमू ने साधारण स्थिति से उठकर अपने को सम्राट बनाया था, इससे उसकी योग्यता स्पष्ट होती है। यह बात और है कि उसकी सफलता अल्पकालीन थी।

2. सूर-वंश के दावेदारों की समाप्ति

अप्रैल 1559 ई. में बंगाल के खिज्रखाँ ने आदिलशाह सूर को एक युद्ध में मार दिया। इसके बाद मुगलो को बंगाल और बिहार की ओर बढ़ने का अवसर मिला। पंजाब में सिकन्दरशाह सूर ने कुछ माह के पश्चात् आत्म-समर्पण कर दिया। उसे बिहार में एक साधारण जागीर दी गयी परन्तु बाद में वह बंगाल की तरफ भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इब्राहीमशाह सूर को खान-ए-जमान ने जौनपुर से निकाल बाहर किया और वह उड़ीसा की ओर भाग गया। वहीं उसकी मृत्यु हुई। इस प्रकार, 1559 ई. तक दिल्ली के सिंहासन पर दावा करने वाले सूर-वंश के सभी उत्तराधिकारी समाप्त कर दिये गये और मुगलों को उनकी ओर से कोई भय न रहा।

3. खोये हुए भू-क्षेत्रों की प्राप्ति और सुरक्षा

पानीपत के युद्ध को जीतने के पश्चात् मुगलों ने सरलता से दिल्ली और आगरा पर अपना अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् मेवात पर अधिकार किया गया और हेमू के पिता को मृत्यु-दण्ड दिया गया। तत्पश्चात् अजमेर, सम्भल, लखनऊ, ग्वालियर और जौनपुर पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। चुनार, रणथम्भौर और मालवा को भी जीतने के प्रयत्न किये गये परन्तु चुनार और रणथम्भौर पर अधिकार न हो सका तथा मालवा को जीतने के लिए भेजी गयी सेना को अकबर और बैरमखाँ के सम्बन्ध खराब हो जाने के कारण वापस बुलाना पड़ा।

सुलेमान मिर्जा कई माह तक काबुल को घेरे रहा, परन्तु जब उसे जीतने की आशा दिखायी न दी तो वह उजबेगों के भय तथा आने वाले जाड़े और बर्फ की सम्भावना को देखकर केवल इस शर्त पर चला गया कि उसका नाम केवल एक दिन के लिए 'खुतबा' में पढ़ दिया जाये। इस प्रकार मुगलों की उत्तर-पश्चिम की सीमाएँ सुरक्षित हो गयीं। परन्तु इस समय कन्धार मुगलों के हाथ से निकल गया जिसे वहाँ के सूबेदार शाह मुहम्मद को बाध्य होकर पर्शिया को सौंपना पड़ा।

इस प्रकार बैरमखाँ के संरक्षण का चार वर्ष का समय कन्धार की हानि के अतिरिक्त सफलता, सुरक्षा और संगठन का था। काबुल से लेकर जौनपुर तक और पंजाब की पहाड़ियों से लेकर अजमेर तक अकबर की सत्ता को स्वीकार कर लिया गया। गक्खरों को भी मुगल-आधिपत्य स्वीकार करने के लिए मना लिया गया।

4. बैरमखाँ का पतन

यद्यपि बैरमखाँ ने मुगल-वंश की काफी सेवा की थी और राज्य में उसका बहुत प्रभाव था परन्तु 1560 ई. में उसका पतन हो गया। निजामुद्दीन ने उसके पतन का कारण 'विभिन्न सरदारों द्वारा अकबर को भड़काना' बताया था। 'अकबरनामा' में लिखा है कि "उसके पतन का कारण उसका दम्भ था।" अबुल फजल ने लिखा था कि "उसका व्यवहार बर्दाश्त से बाहर हो गया था और उसका दिमाग उसके खुशामदियों ने खराब कर दिया था।" फरिश्ता ने लिखा था "बैरमखाँ पर कामरान मिर्जा के लड़के अब्दुल कासिम मिर्जा का पक्ष लेने का सन्देह किया गया था।" इस प्रकार, तत्कालीन इतिहासकारों ने बैरमखाँ के पतन के विभिन्न कारण बताये थे। यद्यपि बैरमखाँ की वफादारी पर सन्देह करना तो अनुचित होगा परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बैरमखाँ का व्यक्तिगत व्यवहार, तुर्की सरदारों और मुख्यतया अकबर के निकट के सम्बन्धियों द्वारा अकबर को भड़काना और शासन-सत्ता को स्वयं अपने हाथों में लेने की अकबर की इच्छा आदि बैरमखाँ के पतन के कारण बने। अनेक तुर्की सरदार और, मुख्यतया, अकबर के निकट-सम्बन्धी जिनमें से अकबर की धाय-माँ माहम अनगा और उसका पुत्र आधमखाँ, माहम अनगा की लड़की जीजी अनगा और उसका पति शम्सुद्दीन आदि यह अनुभव करते थे कि उन्हें अपेक्षित पद और सम्मान न मिलने का प्रमुख कारण बैरमखाँ था। पीर मुहम्मद जिसे बैरमखाँ ने उसके पद से हटा दिया था, उनके साथ हो गया था और उसे उसके पद से हटाये जाने से अन्य तुर्की सरदारों को अपने बारे में आशंकाएँ हो गयी थीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैरमखाँ शिया था जबकि अकबर के सम्बन्धी सुन्नी थे। उन्होंने बैरमखाँ पर दोषारोपण किया कि वह सुन्नी मत के विरुद्ध कार्य कर रहा था। सुन्नियों द्वारा मान्यता-प्राप्त शेख मुहम्मद गयास को हटाकर शिया शेख गदाई को 'सद्र' का पद देना भी सन्देह और असन्तोष का कारण बना। तार्दीबेग का कत्ल और अब्दुल माली एवं पीर मुहम्मद को कैद किया जाना भी सुन्नी सरदारों के प्रति शंका का कारण हो गया था। इसके अतिरिक्त, बैरमखाँ ने हुमायूँ की भतीजी सलीमा सुल्तान बेगम से विवाह करके राजपरिवार से सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। वह भी सुन्नी सरदारों की ईर्ष्या का एक कारण बन गया था। बैरमखाँ का व्यवहार अकबर के प्रति एक अल्पायु बालक जैसा था जबकि अकबर जवान होता जा रहा था। अकबर और उसके पारिवारिकजनों को व्यक्तिगत व्यय हेतु समुचित धनराशि नहीं मिल रही थी। अकबर के स्वयं के सेवकों और सम्बन्धियों को उचित सम्मान और पद भी प्राप्त नहीं हो रहे थे, जबकि बैरमखाँ के सेवकों को अच्छे पद दिये जा रहे थे। एक-दो घटनाएँ ऐसी भी हुईं जिनके कारण अकबर को अनुभव हुआ कि बैरमखाँ उसका उचित सम्मान नहीं करता। अनेक अवसरों पर ऐसा हुआ था जबकि बैरमखाँ ने बिना अकबर की सलाह के महत्वपूर्ण निर्णय ले लिये थे। यह सभी अकबर को रुचिकर नहीं था। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अकबर वयस्क हो गया था और अपने अधिकारों का प्रयोग स्वयं करना चाहता था। बैरमखाँ अकबर की इस मनःस्थिति को समझने में असफल रहा। बैरमखाँ के विरोधियों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी और वे सभी अकबर के साथ थे।

अकबर ने बैरमखाँ से खुलकर झगड़ा करना उचित न समझा। एक बार जबकि अकबर आगरा में था, वह शिकार के लिए गया। वहीं उसे समाचार मिला कि उसकी माँ बीमार है। बैरमखाँ को सूचना भेजकर वह वहीं से दिल्ली पहुँच गया जहाँ सभी बेगमों और बादशाह के सम्बन्धियों ने बैरमखाँ को उसके पद से हटाने की माँग की। अन्त में, अकबर ने बैरमखाँ को पद से हटाने के आदेश भेज दिये। बैरमखाँ ने बादशाह की आज्ञा का पालन किया और मक्का जाने को तैयार हो गया। वह धीरे-धीरे पंजाब की ओर चल दिया जहाँ से, सम्भवतया, उसे अपना खजाना लेना था। बैरमखाँ के विरोधियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ और अकबर ने बैरमखाँ के शत्रु मुल्ला पीर मुहम्मद को एक सेना के साथ उसे भारत से शीघ्र निकालने के लिए भेज दिया। बैरमखाँ ने इसे अपना अपमान समझा और उसने मुगल सेना का विरोध करने का निश्चय किया। तिलवाड़ा नामक स्थान पर एक युद्ध में बैरमखाँ की पराजय हुई और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे अकबर के सामने ले जाया गया। अकबर ने उसका सम्मान सहित स्वागत किया और उसके सम्मुख तीन प्रस्ताव रखे यथा—वह चाहे तो कालपी और चन्देरी का सूबेदार बन जाय अथवा बादशाह के व्यक्तिगत सलाहकार के रूप में दरबार में रहे अथवा मक्का चला जाय। बैरमखाँ ने जो किसी भी निम्न स्थिति में कार्य करने को तैयार न था, मक्का जाने का निर्णय किया। परन्तु बैरमखाँ मक्का न पहुँच सका। गुजरात में 'पाटन' नामक स्थान पर अफगानों के एक दल ने उस पर अचानक आक्रमण किया और मुबारकखाँ नामक एक व्यक्ति ने, जिसके पिता को बैरमखाँ ने मच्छीवारा के युद्ध में कत्ल किया था, उसे मार डाला। पाटन के फकीरों ने बैरम खाँ के मृत शरीर का अन्तिम संस्कार किया। बैरमखाँ के परिवार को बड़ी कठिनाई से दयनीय स्थिति में अहमदाबाद पहुँचाया जा सका। अकबर ने उनको दरबार में बुला लिया, बैरमखाँ की विधवा पत्नी सलीमा बेगम से विवाह कर लिया और उसके बच्चे अब्दुर्रहीम का पालन-पोषण अपने पुत्र की तरह किया। बाद में यही लड़का अपनी योग्यता के कारण 'खानखाना' के पद तक पहुँचा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मिथ ने लिखा है : "बैरमखाँ के पतन और मृत्यु की कहानी एक दुःखद प्रभाव छोड़ती है।" निस्सन्देह, जिस व्यक्ति ने मुगल-वंश की जड़ों को भारत में स्थापित करने में इतना सहयोग दिया हो, उसका ऐसा अन्त कि उसकी लाश को फकीरों ने दफनाया, दर्दनाक था। परन्तु इसका अधिक दोष अकबर पर न था। बैरमखाँ के शत्रु, मुख्यतया हरम के दल और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, अकबर की धाय-माँ माहम अनगा इसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी थे।

[3]

तथाकथित पर्दा-शासन (1560-1564 ई.)

बैरमखाँ के पतन में अकबर के सम्बन्धियों और हरम की स्त्रियों का बड़ा भाग था। इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक अकबर ने अपने सम्बन्धियों को शासन में कुछ हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया। इस कारण कुछ इतिहासकारों ने उस समय को पर्दा-शासन अथवा 'पेटीकोट-सरकार' का समय पुकारा है। यह कहना तो भूल होगी कि इस समय में अकबर पूर्णतया हरम की स्त्रियों के प्रभाव में था। यदि ऐसा होता तो अकबर की उदार और साम्राज्यवादी नीति का आरम्भ इस समय में नहीं हुआ होता। इसी समय अकबर ने 1562 ई. में 'दास-प्रथा' (युद्धबन्दियों को दास बनाना) को समाप्त किया, 1563 ई. में 'तीर्थयात्रा-कर' (हिन्दुओं के तीर्थस्थानों पर लिया जाने वाला यात्री-कर) और 1564 ई. में 'जजिया-कर' समाप्त किया था। इन उदार सुधारों का किया जाना हरम की स्त्रियों के प्रभाव के कारण हो, यह सोचना भूल होगी। इसी प्रकार अकबर की विस्तारवादी नीति भी इसी समय में आरम्भ की गयी। मालवा, चुनार, मेड़ता और गोंडवाना पर आधिपत्य किया गया और आमेर (जयपुर) के राजपूत-वंश से विवाह-सम्बन्ध किये गये। निस्सन्देह, इस विस्तारवादी नीति का श्रेय मुख्यतया अकबर को ही दिया जा सकता है। इस कारण यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि अकबर चार वर्षों (1560-1564 ई.) तक हरम की स्त्रियों के प्रभाव में रहा। हाँ, यह स्वीकार किया जा सकता है कि इन चार वर्षों में उसकी नीति पर हरम की स्त्रियों और उसके सम्बन्धियों का कुछ प्रभाव अवश्य रहा होगा और अकबर अपने स्वयं के प्रभाव को अवसर के अनुकूल प्रयोग में न ला सका होगा। उसमें भी आरम्भ के दो वर्षों को ही सम्मिलित करना अधिक ठीक है। शम्सुद्दीन का कत्ल, आधमखाँ को मृत्यु-दण्ड (1562 ई.) और माहम अनगा की मृत्यु (1562 ई.) के बाद से अकबर ने अपने आप को अपने निकटस्थ सम्बन्धियों के प्रभाव से मुक्त कर लिया। 1564 ई. में ख्वाजा मुअज्जम को दिये गये मृत्यु-दण्ड ने इस अध्याय को पूर्णतया समाप्त कर दिया।

[4]

साम्राज्य-विस्तार

अकबर को विजय और साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी। मुगल-शासकों में अकबर प्रथम शासक था जिसने सम्पूर्ण भारत में मुगल-वंश का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह इसे राज्य की प्रगति और सुरक्षा के लिए आवश्यक मानता था। उसका विश्वास था कि "यदि पड़ौसी राज्यों के साथ युद्ध नहीं किया जायेगा तो वे उसके विरुद्ध युद्ध करेंगे।" इस कारण अकबर जीवनपर्यन्त राज्य विस्तार में लगा रहा। उसे इस कार्य के लिए समय भी मिला और सफलता भी। उसने अपने जीवन में काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर विन्ध्याचल पर्वत तक के क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया। दक्षिण-भारत की विजय की ओर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी अकबर ने अपना कदम उठा लिया था और कुछ सफलता भी उसे प्राप्त हुई थी, किन्तु तभी उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार अकबर ने भारत के बहुत बड़े भाग में मुगल-साम्राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी।

1. मालवा

मालवा में बाजबहादुर शासक था। वह संगीत और कला का प्रेमी था। अपनी प्रेयसी और पत्नी रूपवती के साथ वह संगीत और नृत्य में लीन रहता था। शासन का न उसे शौक था और न उस ओर उसका ध्यान था। 1561 ई. में आधमखाँ को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। जब मुगल सेना उसकी राजधानी सारंगपुर से केवल 20 मील दूर रह गयी तब बाजबहादुर उसका मुकाबला करने के लिए निकला। सारंगपुर से कुछ दूर तक युद्ध हुआ जिसमें बाजबहादुर परास्त हुआ और भाग गया। इस प्रकार 29 मार्च, 1561 ई. में मालवा की राजधानी 'सारंगपुर' पर मुगल सेनाओं ने अधिकार कर लिया। आधमखाँ ने उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति और स्त्रियों पर अपना अधिकार कर लिया। रूपवती ने जहर खाकर अपने सतीत्व की रक्षा की। बाज बहादुर और रूपवती की समाधि उज्जैन में है। आधमखाँ ने लूटी हुई सम्पत्ति का अधिकांश भाग अपने पास रख लिया जिससे अकबर नाराज हो गया और स्वयं सारंगपुर गया। आधमखाँ के माफी माँगने पर अकबर ने उसे माफ कर दिया और उसी को सूबेदार बनाकर वह वापस आ गया।

1562 ई. में मालवा का सूबेदार मुल्ला पीर मुहम्मद था। उसने वहाँ की प्रजा पर बहुत अत्याचार किये। दक्षिण-भारत के शासकों की सहायता लेकर बाजबहादुर ने मालवा पर आक्रमण किया। पीर मुहम्मद उसका मुकाबला करने के लिए गया परन्तु उसे परास्त होकर भागना पड़ा। नर्मदा नदी को पार करते हुए उसका घोड़ा गिर गया और पीर मुहम्मद नदी में डूबकर मर गया। मालवा पर पुनः बाजबहादुर का अधिकार हो गया। परन्तु अकबर ने अब्दुल्लाखाँ उजबेग के नेतृत्व में एक मुगल-सेना मालवा को जीतने के लिए भेजी जिसने बाजबहादुर को परास्त करके मालवा को अपने अधीन कर लिया। बाजबहादुर काफी समय तक इधर-उधर भटकता रहा, परन्तु अन्त में उसने मुगल-सेवा स्वीकार कर ली और उसे मुगल-मनसबदार बना दिया गया।

2. चुनार

1561 ई. में अकबर ने आसफखाँ को चुनार का किला जीतने के लिए नियुक्त किया। उसी वर्ष उस पर अधिकार कर लिया गया।

3. गोंडवाना

गोंडवाना का हिन्दू-राज्य वर्तमान मध्य-प्रदेश के उत्तरी जिलों से लेकर दक्षिण-भारत की सीमा तक फैला हुआ था। वहाँ का शासक वीरनारायण था लेकिन उसके वयस्क हो जाने के पश्चात् भी उसकी माता दुर्गावती उसके संरक्षक के रूप में शासन की देखभाल कर रही थी। दुर्गावती बहुत ही साहसी, बहादुर और योग्य शासिका थी। अपनी योग्यता के कारण ही वह मालवा और दक्षिण-भारत के मुसलमान शासकों के मुकाबले अपने राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ हो सकी थी। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत गोंडवाना के स्वतन्त्र राज्य का कोई स्थान न था। अकबर ने आसफखाँ को गोंडवाना की विजय के लिए नियुक्त किया। चौरागढ़ के निकट रानी दुर्गावती ने मुगलों की विशाल सेना का मुकाबला किया। वीरनारायण को घायल हो जाने के कारण युद्ध से हटना पड़ा। रानी दुर्गावती भी तीरों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से घायल हो गयी और उसने वहीं पर अपनी छाती में कटार भोंककर आत्महत्या कर ली। आसफखाँ ने राजधानी चौरागढ़ पर आक्रमण किया। राजपूत स्त्रियों ने जौहर कर लिया, वीरनारायण और अनेक राजपूत युद्ध करते हुए मारे गये और 1564 ई. में किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। बहुत-सा धन, हाथी और सामान आसफखाँ के हाथ लगा। आसफखाँ ने बहुत थोड़ा हिस्सा अकबर के पास भेजा और अधिकांश स्वयं अपने पास रख लिया।

रानी दुर्गावती के साहस, योग्यता और बहादुरी की सभी तत्कालीन और वर्तमान इतिहासकारों ने प्रशंसा की है। महोबा के चन्देल-वंश से सम्बन्धित इस रानी की प्रजा भी उसके शासन से पूर्ण सन्तुष्ट थी। अकबर का साम्राज्य-विस्तार के अतिरिक्त उसके राज्य पर आक्रमण करने का कोई अन्य कारण न था।

4. राजस्थान

राजस्थान को अपनी अधीनता में लाना भी अकबर की विस्तारवादी नीति का परिणाम था। राजपूत-शासकों के प्रति अकबर की नीति अन्य शासकों से भिन्न रही। राजस्थान में राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में उसकी नीति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं : (अ) महत्वपूर्ण दुर्गों पर आधिपत्य; (ब) स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करने वाले अथवा विवाह-सम्बन्धों के इच्छुक राजपूत राजाओं को अपनी अधीनता में लेना और उनको मुगल-सेवा में लेकर उनके राज्य उन्हीं को वापस कर देना; तथा (स) विरोधी राजाओं से युद्ध करके उन्हें अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न। इस नीति का पालन करते हुए अकबर ने राजस्थान में बहुत सफलता प्राप्त की। राजस्थान के सभी महत्वपूर्ण किले मुगलों के अधिकार में चले गये और मेवाड़ के अतिरिक्त प्रायः सभी राजपूत शासकों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

(i) **आमेर (जयपुर)**—आमेर का शासक भारमल (बिहारीमल) पहला राजपूत राजा था जिसने स्वेच्छा से अकबर की अधीनता स्वीकार की। 1562 ई. में जब अकबर अजमेर के शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की यात्रा पर गया तो मार्ग में राजा भारमल ने उससे भेंट की और अपनी पुत्री का विवाह अकबर से करने की इच्छा प्रकट की। अकबर ने इसे स्वीकार कर लिया। इसी राजपूत राजकुमारी से अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर का जन्म हुआ। अकबर ने भारमल के पुत्र भगवानदास और पोते मानसिंह को मुगल-सेवा में रख लिया और उन्हें उच्च मनसबदार बनाया।

(ii) **मेड़ता**—मेड़ता मेवाड़ के राजा उदयसिंह के अधीन जागीरदार जयमल के अधिकार में था। जब मुगल अधिकारी सर्फुद्दीन ने उस पर आक्रमण किया तो जयमल किले को छोड़कर चला गया। देवदास ने मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उसे उसके 200 साथियों के साथ समाप्त कर दिया गया और मेड़ता का किला 1562 ई. में मुगलों के हाथ में चला गया।

(iii) **मेवाड़**—मेवाड़ के शासकों ने निरन्तर मुगल-सत्ता का विरोध किया था। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के सम्मान में कमी आयी थी परन्तु धीरे-धीरे उसने पुनः अपनी शक्ति और सम्मान में वृद्धि कर ली थी। मेवाड़ का सिसोदिया-वंश उस समय भी राजस्थान में सम्मानित था। तत्कालीन शासक उदयसिंह ने भी उसकी शक्ति के विकास में सहयोग दिया था। उसने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। वह आमेर के कछवाह-राजवंश को हेय-दृष्टि से देखता था क्योंकि उस वंश ने अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। राणा ने अकबर के शत्रु बाजबहादुर को शरण दी थी और विद्रोही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिर्जाओं ने भी उसका संरक्षण प्राप्त किया था। मेवाड़ गुजरात और उत्तर-भारत के मार्ग पर स्थित था। गुजरात की विजय के लिए उसे जीतना आवश्यक था। परन्तु सबसे बड़ी बात यह थी कि मेवाड़ की सत्ता और सम्मान को समाप्त किये बिना राजस्थान और उत्तर-भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। इस कारण 1567 ई. में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सरदारों के परामर्श को मानकर राणा उदयसिंह चित्तौड़ के किले से निकलकर जंगलों में चला गया और जयमल को किले की रक्षा का उत्तरदायित्व दिया गया। करीब पाँच महीने तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु मुगलों को सफलता न मिली। एक रात जब जयमल किले की टूटी हुई दीवार की मरम्मत करा रहा था तभी अकबर ने अपनी बन्दूक से निशाना लगाया जिससे जयमल घायल हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी। रात को राजपूत स्त्रियों ने 'जौहर' किया और प्रातःकाल फतहसिंह (फत्ता), उसकी माँ और पत्नी के नेतृत्व में राजपूतों ने मुगलों पर आक्रमण किया और अन्त तक लड़ते हुए मारे गये। अकबर ने किले में प्रवेश करके हत्याकाण्ड का आदेश दिया जिसमें हजारों राजपूत मारे गये। यह उसके नाम पर एक बड़ा धब्बा है यद्यपि बाद में उसने आगरा के किले के द्वार पर जयमल और फतहसिंह की हाथी पर बैठी हुई मूर्तियाँ बनवायीं। आसफखाँ को किलेदार बनाकर अकबर आगरा चला गया।

कर्नल टॉड ने लिखा है कि उदयसिंह दुर्बल और डरपोक था। परन्तु यह विचार गलत है। राणा उदयसिंह न तो दुर्बल था और न ही डरपोक। उसने कभी भी अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की और मेवाड़ के पतन के पश्चात् भी उसने अपने देश के सम्मान के साथ समझौता नहीं किया। चित्तौड़ के किले को उसने अपने सरदारों की सलाह से छोड़ा था। सम्भवतया, राजपूत जानते थे कि किला मुगल-आक्रमण के सम्मुख टिक न सकेगा। इस कारण अपने राजवंश की सुरक्षा के लिए उन्होंने राणा और उसके परिवार को किला छोड़ने का परामर्श दिया था। इस प्रकार राणा उदयसिंह पर कायरता का दोष नहीं लगाया जा सकता। यह बात दूसरी है कि उसका लड़का प्रतापसिंह साहस और संघर्ष में उससे अधिक दृढ़ सिद्ध हुआ।

1568 ई. में मुगलों ने मेवाड़ की राजधानी और उसके किले चित्तौड़ पर तो अधिकार कर लिया परन्तु मेवाड़ का अधिकांश भू-प्रदेश राणा उदयसिंह के अधिकार में रहा। अकबर चित्तौड़ की विजय के स्मृति स्वरूप वहाँ की महामाता के मंदिर से विशाल झाड़फानूस आगरा ले आया। इसी विजय के उपलक्ष्य में उसने 'फतहनामा' जारी किया। 1572 ई. में राणा उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। राणा प्रताप ने गद्दी पर बैठते ही शपथ ली कि जब तक वह अपनी राजधानी को स्वतन्त्र नहीं कर लेगा तब तक न तो थाली में रोटी खायेगा और न ही बिस्तर पर लेटेगा। राणा ने आजीवन इस शपथ का पालन किया। समझौते के सभी प्रयत्न असफल हुए। अकबर ने राजा मानसिंह को भेजकर राणा से मुगल-आधिपत्य को मानने के लिए कहा परन्तु राणा ने इसे स्वीकार नहीं किया। 1576 ई. में मानसिंह और आसफखाँ के नेतृत्व में एक सेना मेवाड़ पर आक्रमण के लिए भेजी गयी। 18 जून, 1576 ई. को राणा प्रताप ने हल्दीघाटी में उस सेना का मुकाबला किया। थोड़ी संख्या में होते हुए भी राणा ने मुगल-सेना में उथल-पुथल मचा दी परन्तु जब राणा शत्रुओं से घिर गया तब सरदार झाला ने राणा का मुकुट उतार कर स्वयं पहन लिया और राणा को भगाने में सहायता दी। हल्दीघाटी में राणा की पराजय हुई परन्तु मुगल इतने थक गये थे कि वे आगे न बढ़ सके। गोकुण्डा, जिसे राणा खाली कर गया था, राजा मानसिंह के अधिकार में चला गया परन्तु उससे आगे उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। अकबर ने मानसिंह को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वापस बुला लिया। उसके पश्चात् भी अकबर विभिन्न सरदारों को भेजकर मेवाड़ से युद्ध करता रहा परन्तु राणा प्रताप ने उसका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। राणा भूखा रहा, जंगलों में घूमा और उसके पारिवारिकजनों को विभिन्न स्थानों पर छिपकर रहना पड़ा, परन्तु राणा ने संघर्ष जारी रखा। 1597 ई. में राणा प्रताप की मृत्यु हुई और अपनी मृत्यु से पहले उसने मेवाड़ के अधिकांश भू-भाग पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। मेवाड़ और राणा प्रताप का मुगल-साम्राज्य से युद्ध राजस्थान के इतिहास की ही नहीं बल्कि भारत के इतिहास की एक गौरव-गाथा है।

(iv) **रणथम्भौर**—रणथम्भौर का किला राजा सुरजनराय के अधिकार में था जो मेवाड़ के अधीन था। 1569 ई. में मुगलों ने उस पर आक्रमण किया। डेढ़ महीने के घेरे के पश्चात् किला मुगलों को सौंप दिया गया। इस प्रकार 18 मार्च, 1569 ई. को दुर्ग को अकबर ने अपने कब्जे में ले लिया।

(v) **कालिंजर**—उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में स्थित यह किला अभेद्य माना जाता था। इस पर रीवां के राजा रामचन्द्र का अधिकार था। 1569 ई. में कालिंजर के दृढ़ किले पर अकबर का आधिपत्य हो गया। अकबर ने मजनूखाँ को किले पर आक्रमण करने के लिए भेजा था परन्तु किले के स्वामी राजा रामचन्द्र ने चित्तौड़ और रणथम्भौर के किलों के पतन से सबक लिया था अतः बिना किसी विरोध के उसने किले को मुगलों को सौंप दिया।

(vi) **मारवाड़**—1570 ई. में मारवाड़ ने स्वेच्छा से अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। अकबर के दृढ़-निश्चय और चित्तौड़ एवं रणथम्भौर के किलों के पतन ने राजपूत शासकों की विरोध करने की शक्ति क्षीण कर दी थी। इसके अतिरिक्त, राजपूत शासकों के प्रति अकबर की उदारता की नीति भी विभिन्न राजपूत राजाओं के आत्मसमर्पण के लिए उत्तरदायी रही। जोधपुर के शासक मालदेव की मृत्यु हो चुकी थी। उसके लड़के और तत्कालीन शासक राजा चन्द्रसेन ने (उसके पश्चात् उदयसिंह ने) अकबर से भेंट की और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। बीकानेर के शासक राय कल्याणमल और जैसलमेर के शासक हराय ने भी अकबर से भेंट की और न केवल अकबर की अधीनता ही स्वीकार की बल्कि अकबर से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये।

इस प्रकार, 1570 ई. तक मेवाड़ के अधीन कुछ किलों और अधीन प्रदेशों के अतिरिक्त राजस्थान के सभी शासकों ने मुगल-अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर पहला मुसलमान शासक था जिसने राजस्थान में इतनी अधिक सफलता प्राप्त की। राजपूत शासकों ने अकबर की अधीनता को ही स्वीकार नहीं किया था बल्कि वे उसकी सेवा में भी चले गये। अकबर ने राजस्थान के कुछ महत्वपूर्ण किलों पर ही मुगल-आधिपत्य स्थापित किया था अन्यथा प्रायः सभी राजपूत शासकों के राज्य उनको वापस कर दिये थे। उनकी विदेश-नीति अकबर ने अवश्य अपने हाथों में ले ली और उन सभी को या उनके सम्बन्धियों को मुगल-मनसबदार बना दिया। कर्नल टॉड ने लिखा है : "वास्तव में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक अकबर था। वह राजपूत-स्वतन्त्रता का प्रथम सफल विजेता था।"

5. गुजरात

गुजरात एक धनी प्रदेश था। पश्चिमी देशों से व्यापार करने का केन्द्र-स्थल गुजरात को माना जाता था। मक्का की यात्रा करने वाले मुसलमान यात्रियों को यहीं होकर जाना पड़ता था। राजस्थान को जीतने के पश्चात् गुजरात की विजय सम्भव थी। अकबर के विद्रोही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी मिर्जाओं ने वहाँ शरण ले रखी थी और गुजरात की अव्यवस्था का लाभ उठाकर वे शक्तिशाली बन चुके थे। गुजरात का शासक मुजफ्फरखाँ तृतीय अयोग्य था और एक प्रकार से अपने अधिकारी इतमादखाँ का कैदी था। राज्य की स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित थी और वहाँ की प्रजा में असन्तोष था। ऐसी परिस्थिति में अकबर ने गुजरात को जीतने का निश्चय किया और 1572 ई. में स्वयं वहाँ आक्रमण के लिए गया। मुगलों का कोई विशेष विरोध न हुआ और एक साधारण युद्ध के पश्चात् अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया गया। मुजफ्फरखाँ, इतमादखाँ आदि सभी ने आत्मसमर्पण कर दिया। अकबर ने आगे बढ़कर कावे तक अधिकार किया, इब्राहीम मिर्जा का पीछा किया और पर्याप्त खतरा उठाकर सरनाल के युद्ध में उसे परास्त किया। वापस आते हुए उसने सूरत के किले पर अधिकार किया। इस प्रकार गुजरात की विजय पूर्ण हो गयी और 'खान-ए-आजम' (मिर्जा अजीज कोका) को गुजरात का सूबेदार बनाकर अकबर वापस आ गया।

अकबर आगरा वापस पहुँचा ही था कि गुजरात में विद्रोह हो गया (1573 ई.)। मुहम्मद हुसैन मिर्जा जो दौलताबाद भाग गया था, गुजरात वापस आ गया और उसने असन्तुष्ट सरदारों को एकत्रित करके अहमदाबाद पर आक्रमण कर दिया। 'खान-ए-आजम' ने अकबर से सहायता माँगी। अकबर ने फतेहपुरसीकरी से अहमदाबाद तक के 450 मील लम्बे रास्ते को केवल नौ दिन में तय किया। स्वयं अकबर की उपस्थिति से विद्रोही भौंचक्के रह गये। अहमदाबाद के निकट जो युद्ध हुआ उसमें विद्रोही परास्त हुए, शाह मिर्जा भाग गया और गुजरात का विद्रोह समाप्त हो गया। 'खान-ए-आजम' को ही गुजरात का सूबेदार रखा गया। टोडरमल को गुजरात की लगान-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसने छः माह में उसे व्यवस्थित कर दिया। गुजरात का दूसरा आक्रमण अकबर के ही नहीं बल्कि संसार के इतिहास में बहुत ही 'द्रुतगामी आक्रमण' माना गया है। गुजरात मुगल-साम्राज्य का भाग बन गया। यहीं पर पहली बार अकबर की भेंट पुर्तगाली व्यापारियों से हुई। यहीं पर उसने पहली बार समुद्र को देखा था।

6. बिहार और बंगाल

सूर-वंश के पतन के उपरान्त बिहार के अफगान सूबेदार सुलेमान किरानी ने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया था। उसने बंगाल को जीतकर असम की सीमा तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। उसने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। 1572 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका जवान लड़का दाऊद उसकी गद्दी का मालिक बना। दाऊद ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और पटना के मुगल किले पर आक्रमण करके उसे बर्बाद कर दिया। अकबर ने मुनीमखाँ खानखाना को दाऊद पर आक्रमण करने तथा बिहार को जीतने के आदेश दिये। 1574 ई. में मुनीमखाँ ने दाऊद पर आक्रमण किया। स्वयं अकबर भी उसकी सहायता के लिए गया। हाजीपुर के किले को जीतकर अकबर ने सम्पूर्ण बिहार पर अपना अधिकार कर लिया। दाऊद बंगाल भाग गया। मुनीमखाँ को बंगाल को जीतने का दायित्व सौंपकर अकबर फतेहपुरसीकरी वापस आ गया। मुनीमखाँ ने गर्ही और उसके पश्चात् बंगाल की राजधानी टाँडा को जीत लिया। उस समय तक दाऊद ने एक भी स्थान पर मुगलों का मुकाबला नहीं किया था। 1575 ई. में उसने पहली बार तुकरोई नामक स्थान पर मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग गया। दाऊद ने मुनीमखाँ से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और उड़ीसा की जागीर उसे दे दी गयी। परन्तु शीघ्र ही मुनीमखाँ की मृत्यु हो गयी और दाऊदखाँ ने मुगलों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से की गयी सन्धि को ठुकरा दिया तथा टाँडा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। अकबर ने खानेजहान को बंगाल का सूबेदार बनाकर भेजा। अन्त में, राजमहल के निकट हुए एक युद्ध में दाऊदखाँ पकड़ा गया और उसे मार दिया गया। बंगाल पर मुगलों का अधिकार हो गया। इस प्रकार दो वर्ष (1574-1576) के संघर्ष के पश्चात् बिहार और बंगाल पर मुगलों का अधिकार हुआ।

7. हल्दीघाटी का युद्ध (18 जून, 1576 ई.)

उदय सिंह की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ का शासक महाराणा प्रताप हुआ। अकबर ने अप्रैल, 1576 ई. में आमेर के राजा मानसिंह एवं आसफ खाँ के नेतृत्व में मेवाड़ को पूर्णरूप से जीतने के लिए मुगल सेना को आक्रमण करने के लिए भेजा। दोनों सेनाओं के मध्य गोगुंडा के निकट अरावली पहाड़ी की 'हल्दी घाटी' शाखा के मध्य युद्ध हुआ। इस युद्ध में राणा प्रताप पराजित हुए। उनकी जान झाला के नायक की निःस्वार्थ भक्ति के कारण बच सकी क्योंकि उसने अपने को राजा घोषित कर शाही दल के आक्रमण को अपने ऊपर ले लिया। राणा ने चेतक पर सवार होकर पहाड़ियों की ओर भाग कर आश्रय लिया। यह अभियान भी मेवाड़ पर पूर्ण अधिकार के बिना समाप्त हो गया।

1599 ई. में राणा प्रताप की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अमरसिंह उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासनकाल 1599 ई. में मानसिंह के नेतृत्व में एक बार फिर मुगल सेना ने आक्रमण किया। अमरसिंह की पराजय के बाद भी मेवाड़ अभियान अधूरा रहा जिसे बाद में जहाँगीर ने पूरा किया।

8. काबुल

अकबर का सौतेला भाई हकीम मिर्जा काबुल का शासक था। 1566-67 ई. में उसने पंजाब पर आक्रमण किया था परन्तु उसे विफल कर दिया गया था। 1581 ई. में उसने भारत पर पुनः आक्रमण किया। उस समय बंगाल और बिहार में विद्रोह हो रहे थे और विद्रोही सरदार अकबर के स्थान पर हकीम मिर्जा को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने के लिए सन्नद्ध थे। अकबर की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर कुछ मुल्ला-मौलवियों ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करना धार्मिक कर्तव्य बता दिया था। अकबर के कुछ प्रतिष्ठित सरदार भी अकबर के विरुद्ध हकीम मिर्जा से पत्र-व्यवहार कर रहे थे। ऐसी स्थिति में हकीम मिर्जा को लाभ होने की आशा थी। परन्तु जब वह सिन्धु नदी पार करके लाहौर की तरफ बढ़ा तभी अपनी आशा के विपरीत उसने देखा कि पंजाब में उसे कोई सहायता नहीं मिल रही। इस बीच अकबर स्वयं उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। हकीम मिर्जा ने जब यह देखा कि भारत में अकबर की स्थिति दृढ़ है और यहाँ से उसे कोई सहायता नहीं मिल सकेगी तब वह काबुल वापस लौट गया। अकबर ने राजा मानसिंह को काबुल पर अधिकार करने के लिए आगे भेजा और स्वयं भी धीरे-धीरे उधर बढ़ा। राजा मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया और हकीम मिर्जा बिना लड़े हुए भाग गया। उसने अकबर की अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेजा परन्तु अकबर ने उससे व्यक्तिगत रूप में उपस्थित होने की माँग की जिसे उसने स्वीकार नहीं किया। अकबर उसकी बहन बख्तुन्निसा बेगम को काबुल का सूबेदार बनाकर वापस आ गया।

अकबर के वापस आ जाने पर हकीम मिर्जा काबुल पहुँच गया और स्वयं शासन की देखभाल करने लगा यद्यपि नाम उसकी बहन का ही रहा। परन्तु उसी वर्ष जुलाई 1581 ई. में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी मृत्यु हो गयी। **अकबर ने काबुल को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया** (1581 ई.)। राजा मानसिंह को वहाँ का सूबेदार बनाया।

9. कश्मीर

कश्मीर के शासक यूसुफखाँ ने अकबर की अधीनता तो स्वीकार कर ली थी परन्तु वह स्वयं अकबर से भेंट करने नहीं आया था। इस कारण अकबर उससे सन्तुष्ट न था। उसने कश्मीर को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का निश्चय किया। 1585 ई. में वह स्वयं एक बड़ी सेना लेकर लाहौर की ओर बढ़ा। 1586 ई. में कासिमखाँ और राजा भगवानदास को कश्मीर-विजय के लिए भेजा गया। यूसुफखाँ ने मुगलों का मुकाबला किया परन्तु युद्ध अधिक न चला। यूसुफखाँ अपनी दुर्बलता समझता था और मुगल-सेना जाड़े, बर्फ और रसद की कमी से परेशान थी। यूसुफखाँ सन्धि को तैयार हो गया परन्तु जब वह अकबर के सामने प्रस्तुत हुआ तो उसे कैद कर लिया गया क्योंकि सन्धि की शर्तें अकबर को स्वीकार नहीं थीं। यूसुफखाँ के लड़के याकूबखाँ ने मुकाबले की तैयारी की परन्तु राजधानी श्रीनगर में विद्रोह हो जाने के कारण उसे वापस जाना पड़ा। अकबर के आदेश से आगे बढ़ती हुई मुगल सेना ने श्रीनगर पर अधिकार कर लिया और याकूबखाँ भाग गया। बाद में उसने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे कैद कर लिया गया। इस प्रकार **1586 ई. में कश्मीर को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।**

10. सिन्ध

अकबर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को मुल्तान का सूबेदार बनाकर उसे सिन्ध को जीतने का उत्तरदायित्व सौंपा। 1591 ई. में खानखाना ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध के शासक जानीबेग ने साहसपूर्वक मुगलों का मुकाबला किया परन्तु दो युद्धों में उसकी पराजय हुई और **उसने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया।** थट्टा और सेहवान के किले तथा सम्पूर्ण सिन्ध मुगलों के अधिकार में चला गया।

11. उड़ीसा

कुतलूखाँ ने अपने को उड़ीसा में स्वतन्त्र शासक बना लिया था। उस समय राजा मानसिंह बिहार का सूबेदार था। 1590 ई. में राजा मानसिंह ने उड़ीसा पर आक्रमण किया। तब तक कुतलूखाँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसके पुत्र निसारखाँ ने राजा मानसिंह का मुकाबला किया परन्तु पराजित होकर आत्मसमर्पण कर दिया। उड़ीसा की जागीर उसी को दे दी गयी। परन्तु 1592 ई. में उसने विद्रोह किया। इस बार राजा मानसिंह ने उसे परास्त करके भगा दिया **और उड़ीसा को उसी वर्ष मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।**

12. बलूचिस्तान

1595 ई. में मीर मासूम को बलूचिस्तान पर आक्रमण के लिए भेजा गया जिसने उसी वर्ष सीदी के किले पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। बलूचिस्तान से मुगलों ने कन्धार की सीमा तक के सभी भू-क्षेत्र छीन लिये। इस प्रकार **बलूचिस्तान मुगल-साम्राज्य का भाग बन गया।**

13. कन्धार

1595 ई. में कन्धार बिना किसी युद्ध के मुगलों को प्राप्त हो गया। कन्धार पर्शिया के हाथ में था परन्तु वहाँ के तत्कालीन किलेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्जा के सम्बन्ध पर्शिया दरबार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से खराब हो गये। अपनी स्वरक्षा के लिए उसने किला स्वेच्छा से मुगल सरदार शाहबेग को सौंप दिया और स्वयं मुगलों की सेवा में चला गया।

14. मध्य-एशिया और उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त

मध्य-एशिया में बदख्शां बाबर के राज्य की सीमाओं में था यद्यपि हुमायूँ के शासनकाल में सुलेमान मिर्जा वहाँ एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा था। अकबर के शासनकाल में मध्य-एशिया में उजबेगों की शक्ति उनके नेता अब्दुल्ला के नेतृत्व में बढ़ गयी थी तथा उसने बल्ख और बदख्शां को भी अपने अधिकार में कर लिया था जिससे उसके राज्य की सीमाएँ अफगानिस्तान की सीमाओं से मिल गयी थीं जो अकबर के अधीन था। अकबर मध्य-एशिया में राज्य-विस्तार का विचार रखता था परन्तु वह भारत में ही इतना व्यस्त रहा कि उसे उस ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। परन्तु उसने उजबेगों को भी अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का अवसर प्रदान नहीं किया। अकबर ने अब्दुल्लाखाँ के खुरासान के आक्रमण का समर्थन किया जो पर्शिया के अधीन था, जबकि अब्दुल्लाखाँ ने उसे अफगानिस्तान की मुगलों की विरोधी जातियों को समर्थन न देने का आश्वासन दिया। इस प्रकार, अकबर के शासनकाल में उजबेगों और मुगलों के सम्बन्ध ठीक रहे यद्यपि दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से अवश्य देखती रहीं। इस काल में हिन्दूकुश-पर्वतमाला दोनों राज्यों की विभाजन-रेखा रही।

अफगानिस्तान और भारत के मध्य उत्तर-पश्चिम सीमा पर विभिन्न कबाइली जातियाँ निवास करती थीं। ये जातियाँ स्वतन्त्र प्रकृति की थीं और इनकी जीविका का मुख्य साधन मार्ग पर जाते हुए व्यापारिक काफिलों को लूटना अथवा मैदानी भागों पर अचानक आक्रमण करके लूटमार करना था। अकबर ने इन्हें अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। 1600 ई. में रोशनिया-कबीले के सरदार जलालखाँ को गजनी के निकट मार दिया गया। यूसुफजई भी मुगलों को बहुत परेशान कर रहे थे।अकबर ने एक बड़ी सेना राजा बीरबल और जैनखाँ के नेतृत्व में यूसुफजई-कबीले को दबाने के लिए भी भेजी। उस सेना पर धोखे से आक्रमण किया गया। उस लड़ाई में राजा बीरबल मारा गया। उसके पश्चात् अकबर ने राजा टोडरमल और शाहजादा मुराद के नेतृत्व में एक अन्य सेना भेजी जिसने यूसुफजइयों को बुरी तरह से परास्त किया। परन्तु तब भी उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में लूटमार और उपद्रव होते रहे।

15. यूरोप-निवासी

अकबर के शासनकाल में पुर्तगाली, अंग्रेज और डच भारत में पहुँच गये थे परन्तु 16वीं सदी में भारतीय समुद्र-तट पर पुर्तगाली ही प्रभावपूर्ण थे। अंग्रेजों और डचों को इस सदी में कोई व्यापारिक सुविधा प्राप्त नहीं हुई। पुर्तगालियों ने गोआ, चौल, बम्बई तथा निकट के समुद्र-तट पर अपना प्रभाव अवश्य स्थापित कर लिया था। अकबर के दरबार में उन्होंने समय-समय पर ईसाई पादरी भेजे, चर्च स्थापित करने की आज्ञा ली और अकबर को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। परन्तु अच्छे सम्बन्धों के अतिरिक्त पुर्तगाली अन्य लाभ नहीं पा सके।

16. दक्षिण-भारत (अहमदनगर और खानदेश)

अकबर दक्षिण-भारत को अपनी अधीनता में लाने के लिए उत्सुक था। 1591 ई. में उसने दक्षिण के खानदेश, बीजापुर, अहमदनगर और गोलकुण्डा राज्यों के शासकों के पास सन्देश भेजा कि वे उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें। खानदेश का राज्य मुगलों की सीमा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सबसे अधिक निकट था और एक प्रकार से दक्षिण-भारत का प्रवेश-द्वार था। उसके राजा अलीखाँ ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वार्षिक कर देना स्वीकार किया। अन्य तीनों राज्यों ने अकबर का प्रस्ताव विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया। अकबर ने 1593 ई. में शाहजादा मुराद और अब्दुर्रहीम खानखाना को अहमदनगर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। 1594 ई. में अहमदनगर के शासक बुरहान-उल-मुल्क की मृत्यु हो जाने से राज्य में आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था और राज्य के एक दल ने मुराद को अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित भी किया। परन्तु मुगलों के वहाँ पहुँचने के पहले ही वजीर मिंदान मंजू ने विद्रोह को दबा दिया, स्वयं बीजापुर की सीमा पर जा पहुँचा और किले की सुरक्षा का दायित्व चाँदबीबी को सौंप दिया। चाँदबीबी ने इब्राहीम के अल्पायु पुत्र बहादुरशाह को सुल्तान घोषित किया एवं उसकी संरक्षिका बन गयी। 1595 ई. में मुगलों ने अहमदनगर का घेरा डाला। कई महीनों तक चाँदबीबी ने बड़ी योग्यता से किले की रक्षा की। 1596 ई. में पारस्परिक मतभेदों, रसद की कमी और बीजापुर एवं गोलकुण्डा से अहमदनगर के लिए सहायता आ जाने की सम्भावना के कारण मुगलों ने सन्धि करना ठीक समझा। चाँदबीबी इसके लिए तैयार थी। एक सन्धि के द्वारा बुरहान-उल-मुल्क के पोते बहादुरशाह को अहमदनगर का शासक स्वीकार कर लिया गया। उसने अकबर की अधीनता को स्वीकार लिया तथा बरार का प्रदेश और अन्य बहुत सी भेंटें मुगलों को दीं। परन्तु यह सन्धि अधिक समय न रह सकी। चाँदबीबी ने अपने को शासन से पृथक कर लिया और अन्य सरदारों ने सन्धि को ठुकराकर बरार को मुगलों से छीनने का प्रयत्न किया। अकबर ने खानखाना और मुराद को अहमदनगर पर पुनः आक्रमण करने के आदेश दिये परन्तु दोनों के मतभेदों को देखकर बाद में खानखाना के स्थान पर अबुल फजल को भेजा गया। 1597 ई. में शाहजादा मुराद की मृत्यु हो गयी और खानखाना को शाहजादा दानियाल के साथ भेजा गया। स्वयं अकबर भी दक्षिण की ओर चल दिया। 1599 ई. में दौलताबाद पर मुगलों का अधिकार हो गया और 1600 ई. में अहमदनगर के किले को जीत लिया गया। इससे पहले ही चाँदबीबी को, जिसने मुगलों से सन्धि करने का प्रस्ताव रखा था, या तो उसी के सरदारों ने मार दिया अथवा उसने स्वयं आत्महत्या कर ली। बालक निजामशाह को ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर भेज दिया गया। इस प्रकार, वर्षों के संघर्ष के पश्चात् बरार, दौलताबाद और अहमदनगर के किले मुगलों को प्राप्त हो गये। परन्तु इससे अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ। अहमदनगर के सरदार एक अन्य बालक-शासक के नाम से मुगलों से संघर्ष करते रहे और अहमदनगर-राज्य का अधिकांश भाग मुगल-सत्ता से स्वतन्त्र रहा।

खानदेश का शासक राजा अलीखाँ वफादारी से मुगलों की तरफ से अहमदनगर के युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया था। उसके लड़के मीरन बहादुरशाह ने मुगल-आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया तथा अपने पिता से की गयी मुगलों की सन्धि को ठुकरा दिया। अहमदनगर से युद्ध चल रहा था कि खानदेश ने स्वतन्त्रता के रुख को अपना लिया। 1599 ई. में स्वयं अकबर ने खानदेश की राजधानी बुरहानपुर पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। परन्तु मीरन बहादुरशाह ने अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध असीरगढ़ के किले में किया। अकबर ने असीरगढ़ का घेरा डाल दिया और उसके दरवाजे को 'सोने की चाभी' से खोला। अर्थात् अकबर ने दिल खोलकर खानदेश के अधिकारियों में रुपये बाँटे और उन्हें कपटपूर्वक अपनी ओर मिला लिया। 21 दिसम्बर, 1600 ई. को मीरन बहादुर ने अकबर के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया परन्तु अकबर ने अन्तिम रूप से इस दुर्ग को अपने कब्जे में 6 जनवरी, 1601 ई. को किया। असीरगढ़ की विजय अकबर की अन्तिम विजय थी। मीरन बहादुर को ग्वालियर के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किले में बन्दी बनाकर भेज दिया गया और 4,000 अशर्फियाँ उसके वार्षिक निर्वाह के लिए निश्चित कर दी गयीं।

इस प्रकार, 1600 ई. तक मुगलों ने खानदेश के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया और अहमदनगर से बरार तथा कुछ अन्य भू-प्रदेश छीन लिये। बुरहानपुर, असीरगढ़, दौलताबाद और अहमदनगर के नगर और दृढ़ किलों पर भी अधिकार कर लिया गया।

इस प्रकार अकबर ने अपने समय में न केवल मुगल-साम्राज्य को उत्तर-भारत में स्थायित्व प्रदान किया बल्कि उसका विस्तार भी किया। अपनी विजयों में अकबर ने कन्धार और काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर बरार तक का भू-क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया। उसके समय में मुगल-साम्राज्य भारत में सर्वाधिक विस्तृत और सर्वशक्तिशाली साम्राज्य बन गया। मुगलों के विरोधी अफगान पूर्णतया समाप्त कर दिये गये। अब वे केवल अधीन जागीरदार मात्र रह गये और स्वतन्त्र राज्य की इच्छा उनकी शक्ति के बाहर की बात हो गयी। राजपूत शासक (मेवाड़ को छोड़कर) मुगलों के विरोधी न रहकर सहायक बन गये और मुगलों की अधीनता में चले गये। अकबर सम्पूर्ण भारत को विजय न कर सका, परन्तु उत्तर-भारत पूर्णतया उसके अधीन हो गया तथा दक्षिण-भारत में वह प्रवेश पा गया। इसके अतिरिक्त उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए सम्पूर्ण भारत की विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

[5]
अकबर के समय के विद्रोह

1. उजबेग-वर्ग

अकबर के पुराने अमीरों में एक शक्तिशाली वर्ग उजबेग अमीरों का था। जौनपुर का सूबेदार खानमखाँ, उसका भाई बहादुरखाँ और चाचा इब्राहीमखाँ, अवध का सूबेदार खाने-आलम और मालवा का सूबेदार अब्दुल्लाखाँ उसके महत्वपूर्ण नेता थे। वे सभी महत्वाकांक्षी और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। सत्ता को अपने हाथ में केन्द्रित करने की अकबर की नीति उन्हें पसन्द न थी और वे अनुभव करते थे कि अकबर ने उन्हें उनकी योग्यता का उचित पुरस्कार नहीं दिया था।

1564 ई. में अब्दुल्लाखाँ ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय दिया। उसके पश्चात् 1564 से 1567 ई. तक उजबेगों ने अकबर को तंग किया परन्तु अन्त में वे परास्त हुए।

2. मिर्जा-वर्ग

अकबर के विभिन्न सम्बन्धियों और मिर्जा-वर्ग के व्यक्तियों ने भी प्रायः उसी समय विद्रोह किया जबकि उजबेगों ने विद्रोह किया। इब्राहीम मिर्जा, मुहम्मद हुसैन मिर्जा, मसूद हुसैन मिर्जा, सिकन्दर मिर्जा और महमूद मिर्जा अकबर के रक्त-सम्बन्धी थे और शाही-वंश के सदस्य होने के नाते अधिक सम्मान और पद की आकांक्षा करते थे। उन्होंने राज्य की भूमि पर बिना शाही आज्ञा के अधिकार कर लिया। मुनीमखाँ ने उन्हें मालवा की ओर भगा दिया और वहाँ से वे गुजरात भाग गये। वे उस समय तक निरन्तर उपद्रव करते रहे जब तक कि अकबर ने गुजरात पर दुबारा आक्रमण (1573 ई.) करके उनकी शक्ति को न तोड़ दिया।

3. बंगाल और बिहार में विद्रोह

बंगाल और बिहार में 1580 ई. में विद्रोह हुआ। वहाँ के सूबेदारों की कठोरता इस विद्रोह का कारण बनी। बंगाल में बाबाखाँ काकशल ने और बिहार में मुहम्मद मासूम काबुली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अरब बहादुर ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। वे सभी विद्रोही मिलकर एक हो गये। उन्होंने बंगाल के सूबेदार मुजफ्फरखाँ को धोखे से मार डाला और टाँडा के किले पर अधिकार कर लिया। सम्पूर्ण बिहार और बंगाल विद्रोहियों के हाथों में चला गया। अकबर ने राजा टोडरमल को इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा और उसने बड़ी नीति और बहादुरी से 1581 ई. तक इस विद्रोह को समाप्त कर दिया। अधिकांश विद्रोही भाग गये अथवा मार दिये गये।

4. शाहजादा सलीम का विद्रोह

अकबर के अन्तिम दिनों में गद्दी के उत्तराधिकारी शाहजादा सलीम ने अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया। लाड़-प्यार में पला होने के कारण सलीम विलासी और आरामपसन्द था। अकबर बहुत समय जीवित रहा, इस कारण सलीम गद्दी पर बैठने के लिए अधीर हो उठा। 1599 ई. में वह बिना आज्ञा के अजमेर से इलाहाबाद चला गया। वहाँ उसने एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। अकबर ने जो उस समय असीरगढ़ के किले के घेरे में व्यस्त था, उस तरफ कोई ध्यान न दिया और चुपके-चुपके सलीम को मनाने की कोशिश की। 1602 ई. में जब अकबर अपनी राजधानी वापस आया तब भी उसने उसे समझाने का प्रयत्न किया और इसी हेतु अपने मित्र अबुल फजल को दक्षिण से बुलाया, किन्तु सलीम के इशारे पर ओरछा के बुन्देला सरदार वीरसिंह देव ने मार्ग में अबुल फजल की हत्या कर दी जिससे अकबर बहुत दुःखी और क्रोधित हुआ। उस अवसर पर सलीमा बेगम ने इलाहाबाद जाकर सलीम को समझाया। सलीम ने आगरा आकर (1603 ई.) अपने पिता से माफी माँग ली और अकबर ने उसे माफ कर दिया। उसी वर्ष उसे मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। परन्तु वह अकबर से आज्ञा लेकर इलाहाबाद चला गया जहाँ वह शराब और नाच-रंग में डूबा रहा। उसकी पहली पत्नी और मानसिंह की बहन ने उसकी आदतों से दुःखी होकर आत्महत्या कर ली। अकबर इन सभी आदतों से अप्रसन्न था। परन्तु अकबर के दोनों छोटे पुत्रों मुराद और दानियाल की मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण अकबर ने सलीम की सभी आदतों को बर्दाश्त किया। जब सलीम 1604 ई. में अपनी दादी की मृत्यु पर आगरा आया तब भी अकबर ने उसे माफ कर दिया। उसके पश्चात् सलीम अपने पिता के पास ही रहा। यद्यपि सलीम ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करके कोई युद्ध तो नहीं किया परन्तु अपने गलत और स्वतन्त्र व्यवहार से अकबर को उसके अन्तिम दिनों में दुःखी अवश्य किया।

इस प्रकार अकबर के विरुद्ध विभिन्न विद्रोह हुए परन्तु उनमें से कोई भी न तो सफल हुआ और न ही राज्य को कोई जबर्दस्त आघात पहुँचा सका।

[6]

अकबर की मृत्यु

3 अक्टूबर, 1605 ई. को अकबर बीमार हो गया। उसे पेचिश अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य बीमारी थी। उसके मर्ज को ठीक प्रकार न समझा जा सका और 25 अक्टूबर, 1605 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी। अकबर को बौद्ध प्रभाव से प्रभावित सिकन्दरा (आगरा) के मकबरे में दफनाया गया। अकबर के अन्य सभी पुत्र पहले ही मर चुके थे अतः अकबर की मृत्यु के समय उसका एकमात्र जीवित पुत्र सलीम था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[7]

अकबर का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान

(अकबर एक राष्ट्रीय सम्राट)

अकबर मुगल-शासकों में सर्वश्रेष्ठ, भारतीय शासकों में महान् और विश्व के शासकों में एक श्रेष्ठ और सम्मानित पद का अधिकारी है। सभी तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने अकबर की प्रशंसा की है। लेनपूल ने उसे "भारत के बादशाहों में सर्वश्रेष्ठ बादशाह" और "साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक एवं व्यवस्थापक" तथा उसके युग को "मुगल-साम्राज्य का स्वर्णकाल" कहा, यहाँ तक कि इतिहासकार स्मिथ जो कई दृष्टिकोणों से अकबर की आलोचना करता है, इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि "वह मनुष्यों का जन्मजात बादशाह था। इतिहास के सर्वशक्तिशाली बादशाहों में से एक होने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है। निस्सन्देह, उसके इस अधिकार का आधार उसके प्रकृतिदत्त असाधारण गुण, उसके मौलिक विचार और उसकी सफलताएँ थीं।"

इस प्रकार, इतिहास में अकबर को एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। **अकबर का व्यक्तित्व सुन्दर और प्रभावशाली था।** वह एक आज्ञाकारी पुत्र, प्रिय पति और आदरणीय पिता था। वह अपने समस्त सम्बन्धियों एवं मित्रों से प्रेम और आदर का व्यवहार करता था। वह अबुल फजल की मृत्यु पर बहुत रोया था और दो दिन तक उसने भोजन ग्रहण नहीं किया था। उसके गुण मानवीय थे जिसके कारण वह अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य को समझता था और जनसाधारण तथा निर्धनों के प्रति अत्यधिक प्रेम और उदारता का व्यवहार करता था। वह स्वस्थ और शक्तिशाली था। वह शिक्षित न था, परन्तु उसने विद्वानों को सम्मान और आश्रय दिया। उसने एक पुस्तकालय बनाया जिसमें 24,000 ग्रन्थ थे जिनकी कीमत लगभग 65 लाख रुपये थी। उसे खेलकूद और शिकार का शौक था। हथियार चलाने, बन्दूक का निशाना लगाने तथा घुड़सवारी में वह अद्वितीय था। कठोर परिश्रम करने तथा कठिनाइयों को बर्दाश्त करना उसका स्वभाव था। उसमें साहस और धैर्य कूट-कूट कर भरे हुए थे। उसने अनेक अवसरों पर युद्ध में अपने स्वयं के जीवन को संकट में डाला था। ईश्वर में उसका अटूट विश्वास था परन्तु सभी धर्मों के प्रति उसका व्यवहार उदारता का था। वह धार्मिक दृष्टि से अपने युग का प्रवर्तक था। अकबर शिक्षित न था परन्तु विभिन्न विद्वानों के निकट सम्पर्क में आकर उसने दर्शन, धर्म, साहित्य, इतिहास आदि विभिन्न शास्त्रों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसके व्यावहारिक ज्ञान की योग्यता इससे स्पष्ट होती है कि उसने धर्म, राजनीति, समाज-सुधार और सैनिक तथा असैनिक शासन में मौलिक नीतियों, विचारों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया और उनका सफल व्यावहारिक प्रयोग भी किया। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। वह सुनकर अनेक चीजों को विस्तृत रूप से याद कर लेता था। अकबर भी शराब, अफीम आदि मादक-द्रव्यों का सेवन करता था परन्तु वह उनका आदी न था और जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती गयी वह संयमी होता गया, यहाँ तक कि उसने अपने बाद के जीवन में माँस का प्रयोग भी कम कर दिया अथवा समाप्त ही कर दिया। अकबर ने तत्कालीन अन्य शासकों की भाँति बहुत विवाह किये थे। उसके हरम में करीब 5,000 स्त्रियाँ थीं और उनमें उसकी रखैलों की संख्या भी बहुत रही होगी। परन्तु जैसा कि प्रति सप्ताह मीना बाजार लगाकर सुन्दर स्त्रियों को खोजना और बीकानेर के पृथ्वीराज राठौर की पत्नी के शील पर आक्रमण करने की चेष्टा, आदि किंवदन्तियाँ अकबर के चरित्र के साथ जोड़ी जाती हैं, वे ठीक प्रतीत नहीं होतीं। सम्भवतया, युवावस्था में उसका जीवन उच्छृंखल रहा हो परन्तु जैसे-जैसे अकबर की आयु बढ़ती गयी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह गम्भीर और संयमी होता गया। उसके आरम्भिक जीवन की ऐसी घटनाएँ भी प्राप्त होती हैं जबकि उत्तेजना और क्रोधवश कार्य किये थे परन्तु उसके बाद के जीवन में ऐसी घटनाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

अकबर एक कुशल सैनिक और प्रतिभाशाली सेनापति था। उसने अनेक युद्धों में साहस और दृढ़ता से भाग लिया। उसने सेनापति के रूप में अनेक सैनिक अभियानों में सफलता प्राप्त की। उसके समय में मुगल सेना अत्यन्त द्रुतगामी थी। गुजरात के विद्रोह को दबाने के लिए वह जिस तीव्र गति से गया था वह एक 'ऐतिहासिक सैनिक-अभियान' माना गया है। उसने सेना का अति श्रेष्ठ संगठन किया। उसके समय में मुगल सेना अजेय बन गयी। संगठन और युद्ध-नीति दोनों ही इसके लिए उत्तरदायी थीं और अकबर का इसमें बहुत बड़ा भाग था। अकबर के समय का इतिहास निरन्तर सफल युद्धों और राज्य-विस्तार का रहा।

एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से अकबर में मौलिकता एवं व्यावहारिकता दोनों ही थीं। मुगल-व्यवस्था को स्थापित करने का श्रेय उसी को है। उसकी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा बादशाह के पद और अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्याख्या, उसका प्रान्तीय शासन, उसकी लगान-व्यवस्था, उसकी मुद्रा-व्यवस्था, उसकी सैनिक-शासन की मनसबदारी व्यवस्था, आदि सभी को उसके समय में सफलता प्राप्त हुई और वह उसके उत्तराधिकारियों के लिए आधार-स्वरूप बनीं। बाद में मुगल शासक उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव न कर सके अथवा उससे श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था की तलाश में असफल रहे। अकबर के शासन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उसने साम्राज्य के शासन-सूत्र को एक धागे में पिरो दिया था जिससे मुगल-साम्राज्य राजनीतिक स्थायित्व प्राप्त कर सका और शासन की सुविधा समस्त प्रजा को समान रूप से प्राप्त हो सकी।

एक शासक और नीतिज्ञ की दृष्टि से अकबर की धार्मिक उदारता की नीति और राजपूत-नीति अद्वितीय थीं। उन्होंने मुगल-राज्य को एक नवीन आधार और शासन को एक नवीन दृष्टिकोण दिया। मुगल-साम्राज्य की शक्ति का विस्तार और उसका वैभव उसकी इन्हीं नीतियों पर आधारित था। सांस्कृतिक दृष्टि से अकबर की नीति श्रेष्ठ थी। भाषा, साहित्य और कला की दृष्टि से जो प्रगति और समन्वय का दृष्टिकोण उसने अपनाया उससे मुगल-साम्राज्य की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति का आधार बना।

इस प्रकार, अकबर का चरित्र उदार और प्रभावशाली था तथा उसका व्यक्तित्व एक महान् व्यक्ति और एक महान् बादशाह का व्यक्तित्व था। एक व्यक्ति, एक विजेता, एक शासक, एक नीतिज्ञ और एक बादशाह की दृष्टि से उसका जीवन सफल और प्रेरणा प्रदान करने वाला था। इसी कारण अकबर को 'महान्' की पदवी से विभूषित किया गया है। इतिहासकार एडवर्ड्स और गैरेट ने लिखा है :"अकबर ने अपनी योग्यता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सिद्ध की। वह एक बहादुर सैनिक, एक महान् सेनापति, एक बुद्धिमान शासन-प्रबन्धक, एक लोकहितकारी शासक और मनुष्य-चरित्र का पारखी था। वह मनुष्यों का जन्मजात नेता था और इतिहास के सर्वशक्तिशाली शासकों में एक स्थान प्राप्त करने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है—उसने अपने पचास वर्ष के शासनकाल में एक ऐसा शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया जो शक्तिशाली से शक्तिशाली राज्य से समानता का दावा कर सकता था और उसने एक ऐसे राजवंश की स्थापना की जिसका मुकाबला प्रायः एक सौ वर्ष तक भारत में किसी विरोधी ने नहीं किया। उसके शासनकाल में मुगल एक सैनिक-आक्रमणकारी शासन से एक स्थायी भारतीय राजवंश के रूप में बदल गये।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर की महानता का एक मुख्य कारण यह था कि वह एक राष्ट्रीय सम्राट (National King) था। एक शासक को राष्ट्रीय सम्राट तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि उसके शासन में उसकी सम्पूर्ण प्रजा के साथ शासन के सभी क्षेत्रों में समान व्यवहार किया जाय और राज्य की ओर से व्यक्ति और व्यक्ति में धर्म, जाति, वंश आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाय। अकबर ऐसा ही सम्राट था। उसने न केवल अपनी प्रजा की भलाई के लिए ही प्रयत्न किये थे बल्कि सभी के साथ समान व्यवहार किया था। उससे पहले के सभी मुसलमान शासकों ने अपनी प्रजा को दो मुख्य भागों में बाँट रखा था—मुसलमान और हिन्दू। मुसलमान-वर्ग को सिर्फ मुसलमान होने के नाते राज्य की ओर से कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं और हिन्दू-वर्ग को सिर्फ हिन्दू होने के कारण कुछ विशेष कठिनाइयों और उत्तरदायित्वों को भुगतना पड़ता था। अकबर ने इस अन्तर को समाप्त कर दिया। वह भारत का पहला मुसलमान शासक था जिसने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के साथ समान व्यवहार किया और राष्ट्रीय हित को राज्य की नीति का आधार स्वीकार किया। **अकबर का भारत को राजनीतिक एकता प्रदान करने का प्रयत्न, उसकी समान शासन-व्यवस्था, समान अर्थ एवं लगान-व्यवस्था, समान कर-व्यवस्था, सभी को योग्यता के आधार पर राज्य की सेवाओं में उच्चतम स्थान प्राप्त करने की सुविधा, राजपूतों से विवाह-सम्बन्ध और सम्मान की नीति, सभी धर्मों को समान सुविधा और आदर तथा धार्मिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयत्न, फारसी भाषा को राजभाषा बनाना और सभी भाषाओं की प्रगति में सहयोग, विभिन्न ललित-कलाओं की प्रगति तथा उनकी कलाविधियों के समन्वय का प्रयत्न, सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न आदि सभी ऐसे कार्य थे जो राष्ट्रीय हित और प्रगति के आधार पर किये गये थे। इस कारण अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट स्वीकार किया गया है।**

डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने तो यहाँ तक लिखा है कि "अकबर का भारत की एकता का प्रयत्न पहला कदम था। इस्लाम और चंगेजखाँ के आदर्शों से प्रभावित होकर वह सम्पूर्ण संसार को अपनी सत्ता के अधीन करने के लिए उत्सुक था।" वह लिखते हैं : "यदि दक्षिण के राज्यों ने उसकी योजना को पूर्णतया समझा होता और उसके साथ सहयोग किया होता तो, सम्भवतया, भारत यूरेशिया में सर्वाधिक शक्तिशाली और धनवान देश होता और उसका इतिहास भिन्न होता। भारत की एकता को पूर्ण करने के पश्चात् अकबर विश्व-साम्राज्य की स्थापना करने के उद्देश्य से मध्य-पूर्व और पश्चिमी एशिया को भी भारत के साथ सम्मिलित करना चाहता था।" डॉ. त्रिपाठी का यह मत सभी इतिहासकारों को मान्य नहीं है, परन्तु सभी इतिहासकार यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि अकबर का उद्देश्य भारत की एकता, उसकी उन्नति और उसके सभी निवासियों की समान प्रगति और उन्हें समान सुविधाएँ प्रदान करना अवश्य था। इस दृष्टि से प्रायः सभी इतिहासकार उसे राष्ट्रीय सम्राट स्वीकार करते हैं। अकबर की महानता का सबसे बड़ा यही कारण था। **के. टी. शाह** लिखते हैं : "अकबर मुगलों में सर्वश्रेष्ठ और, सम्भवतया, शक्तिशाली मौर्यों के पश्चात् एक हजार वर्ष के भारतीय शासकों में सबसे महान् था। यह सरलता से कहा जा सकता है कि जन्मजात पैतृक संस्कारों से प्राप्त अद्भुत योग्यता के अतिरिक्त अकबर की महानता का कारण यह था कि उसने अपने आपको पूर्ण भारतीय बना लिया था।"

जिस समय अकबर ने अपने कार्य को आरम्भ किया उस समय उसकी सबसे बड़ी कठिनाई मुगल-साम्राज्य की रक्षा करना था। उसे समाप्त करने के पश्चात् उसका लक्ष्य सम्पूर्ण भारत को एक राज्य और एक शासन के अन्तर्गत संगठित करने का था। उसके इस मार्ग में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत कठिनाइयाँ थीं। वह स्वयं एक विदेशी तुर्क-मुसलमान था जबकि उसे भारत में अफगान हिन्दू, पर्शियन, तुर्क आदि सभी से व्यवहार करना था। परन्तु अकबर ने सफलता प्राप्त की। उसने अपने जीवन-काल में सम्पूर्ण उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत के कुछ भाग पर अपना अधिकार कर लिया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए सम्पूर्ण दक्षिण-भारत की विजय का मार्ग प्रशस्त किया। परन्तु अकबर ने विजय मात्र से ही सन्तोष नहीं किया। उसने एक स्थायी एवं सुदृढ़ शासन भी स्थापित किया। उसने अपने प्रदेशों का शासन राज्य की सुरक्षा तथा शक्ति के विस्तार के आधार पर ही नहीं किया बल्कि सम्पूर्ण राज्य की प्रगति और सम्पूर्ण प्रजा की भलाई के उद्देश्य से किया। अकबर का प्रान्तीय शासन, अर्थ-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, कर-प्रणाली आदि सम्पूर्ण राज्य में समान थीं। हिन्दुओं से तीर्थयात्रा-कर और जजिया समाप्त कर दिये गये थे। व्यापारिक-कर सभी पर समान रूप से था और जागीरदारों की भूमि की लगान-व्यवस्था भी वही थी जो खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) की थी। राज्य के सभी असैनिक और सैनिक कर्मचारियों का स्थानान्तरण किया जाता था। बिना किसी जाति, धर्म या प्रदेश के भेदभाव के सभी व्यक्तियों को अपनी योग्यतानुसार राज्य की सेवा में स्थान प्राप्त करने का अधिकार था। राजा मानसिंह को सातहजारी मनसबदार का पद दिया गया था और राजा टोडरमल तथा राजा बीरबल मन्त्री-पद पर पहुँच गये थे। राज्य की सेवाओं में सभी जाति और धर्म के व्यक्ति सम्मिलित किये गये थे। इस प्रकार अकबर की शासन-व्यवस्था ऐसी थी जिसमें उसके सभी नागरिक अपने को एक राज्य का नागरिक मान सकते थे और राज्य से समान सुविधाओं और सुरक्षा की आशा करते थे। अकबर की इस शासन-नीति ने राज्य को एकता और शक्ति प्रदान की। इसके अतिरिक्त, उसने राज्य के व्यवसाय और व्यापार को भी नियन्त्रित किया। एक बड़ा राज्य, आवागमन के साधनों की सुविधा, सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा तथा राज्य की ओर से व्यवसाय और व्यापार को प्रोत्साहन आदि ऐसे साधन थे जिससे राज्य धनवान बना। उसकी लगान-व्यवस्था से कृषि और किसानों की स्थिति में सुधार हुआ। इन प्रयत्नों से प्रजा और राज्य दोनों ही सुखी व सम्पन्न हुए। इससे प्रजा में एकता और राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा में वृद्धि हुई।

अकबर ने भारत की सांस्कृतिक एकता की उन्नति के लिए प्रयत्न किये। फारसी भाषा को राजभाषा बनाया गया और विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। इस कार्य के लिए अकबर ने एक 'अनुवाद' विभाग खोला। इस विभाग की देखभाल में संस्कृत, अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषा के अनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। इसी प्रकार, अकबर ने ललित-कलाओं की विभिन्न पद्धतियों के समन्वय और उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न किये। उसके समय में 'स्थापत्य-कला स्कूल', 'गान-कला स्कूल', 'चित्रकला स्कूल', आदि स्थापित किये गये जहाँ सभी कलाओं की विभिन्न पद्धतियों का समन्वय हो सका और पर्शियन, मुस्लिम तथा हिन्दू कला एक-दूसरे के निकट आ सकीं और मुगल-कला को एक विशेष स्वरूप प्रदान कर सकीं जिसमें विदेशीपन कम और भारतीयता अधिक थी।

अकबर ने अनेक सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। दास-प्रथा समाप्त कर दी गयी और सती-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि को रोकने का उसने प्रयत्न किया। उसने 12 वर्ष की आयु से पहले ही खतना करने की प्रथा को रोका। इस प्रकार सामाजिक कुरीतियों को रोकने का प्रयत्न करके उससे न केवल मानवीयता का परिचय दिया था बल्कि समाज को शक्तिशाली बनाने का भी प्रयत्न किया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु अकबर ने जिस उदार और नवीन सिद्धान्तों को जन्म दिया था उनमें सर्वप्रमुख हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का था। यह नहीं कहा जा सकता कि इस दिशा में उसका प्रयत्न पूर्णतः सफल रहा परन्तु वह पहला मुस्लिम शासक था जिसने इस आवश्यकता को समझा और उसके लिए कुछ ठोस कदम उठाये। उसकी उदार धार्मिक और राजपूत नीति का एक महत्वपूर्ण आधार यह भी था। हिन्दुओं की सभी सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ समाप्त कर दी गयी थीं। उन्हें राज्य की सेवाओं में स्थान प्राप्त करने और सम्मान से रहने का अधिकार दिया गया। जजिया, तीर्थयात्रा-कर तथा अन्य सभी अतिरिक्त कर हिन्दुओं से लेना समाप्त कर दिया गया। न्याय में हिन्दुओं के साथ समान व्यवहार किया गया। जिन राजपूतों से अकबर ने विवाह-सम्बन्ध किये थे, वे स्वेच्छा से किये गये थे और उसके पश्चात् अपनी राजपूत पत्नियों और सम्बन्धियों से अकबर ने सर्वदा सम्मान का व्यवहार किया था। अकबर ने विवाह के अवसर पर यह शर्त तक नहीं रखी थी कि राजपूत राजकुमारियों को पहले मुसलमान बनाया जाय। इसी प्रकार, उसकी हिन्दू पत्नियों को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता थी। उसकी धार्मिक नीति सभी धर्मों को समान स्वतन्त्रता और समान सम्मान प्रदान करने की थी। इसके लिए उसने धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वास को समाप्त करने का प्रयत्न किया। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में उसका एकमात्र उद्देश्य यही था। उसने दरबार में सामूहिक रूप से हिन्दू और मुसलमान दोनों के त्यौहारों को मनाना आरम्भ भी इसी उद्देश्य से किया कि वे एक दूसरे के निकट आ सकें। सम्भवतया, इसी उद्देश्य की रक्षा और पूर्ति के लिए उसने इस्लाम के विवादों का निर्णय करने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया तथा 'दीनइलाही' के प्रसार का प्रयत्न किया। शासक और व्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से अकबर धार्मिक मामलों में बहुत उदार था। सभी धर्मावलम्बी अपनी पूजा, उत्सव आदि करने के लिए स्वतन्त्र ही न थे बल्कि बादशाह स्वयं होली, दीवाली, बसन्त आदि जैसे महत्वपूर्ण त्यौहारों और उत्सवों में भाग लिया करता था। अकबर ने तुलादान, झरोखा-दर्शन आदि जैसी विभिन्न हिन्दू-प्रथाओं को भी स्वीकार कर लिया था। अकबर की राजपूत-नीति सफल रही। जो राजपूत शासक सदियों से मुस्लिम सत्ता का निरन्तर विरोध करते आये थे, वे मुगल-साम्राज्य के सबसे अधिक वफादार सेवक बन गये। लेनपूल ने लिखा है : "हिन्दू राजाओं को एकजुट कर लेना अकबर के समय की सबसे स्पष्ट विशेषता थी।" इसी प्रकार, अकबर की उदार धार्मिक नीति मुगल-शासकों की नीति को एक नवीन मोड़ देने वाली सफल नीति थी। विभिन्न धर्मों में समन्वय करने का और हिन्दू व मुसलमानों के अन्तरों को समाप्त करने का अकबर का उद्देश्य सफल नहीं हुआ परन्तु विभिन्न धर्मों और हिन्दू-मुसलमानों में एक साथ रहने की प्रवृत्ति और साथ-साथ कार्य करने की क्षमता प्रदान करने में अकबर अवश्य सफल हुआ। यह उस युग की भावना और आवश्यकता थी और अकबर ने ठीक प्रकार से उसका पोषण किया। इसी कारण डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "अकबर अपने युग की सन्तान और पिता दोनों था।"

इस कारण, अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट माना जाता है। उसे अपने प्रयत्नों में पूर्ण सफलता नहीं मिली और भारत एक राष्ट्र की भावना प्राप्त न कर सका, यह अन्य बात है। इसी कारण उसे राष्ट्र-निर्माता नहीं पुकारा जाता। परन्तु उसकी नीति, भावना और प्रयत्नों के कारण मध्य-युग के शासकों में उस अकेले को ही राष्ट्रीय सम्राट का सम्मान प्रदान किया गया है। उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यदि हम अकबर के कार्यों का मूल्यांकन करें तो उसे यह सम्मान देना अनुचित नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर के अधीन राज्यतन्त्र का स्वरूप, अकबर के धार्मिक और राजनीतिक विचार, गैर-मुस्लिमों के साथ सम्बन्ध

उपरोक्त तर्कों और विविध इतिहासकारों के मतानुसार अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि अकबर के अधीन भारतीय राज्यतन्त्र का स्वरूप भी राष्ट्रीय हो गया था। मुगल-वंश के राज्य के भारत में स्थापित होने से पहले दिल्ली-सल्तनत के काल में राज्यतन्त्र का स्वरूप आदर्श के रूप में एक धर्म-प्रधान राज्यतन्त्र था चाहे व्यावहारिक रूप में वह कितना ही सीमित क्यों न हो गया हो। परन्तु भारत में मुगल-वंश की स्थापना से इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। दिल्ली-सुल्तानों की तुलना में मुगल-बादशाह बाबर और हुमायूँ धार्मिक दृष्टि से उदार थे। अकबर ने अपने शासनकाल में सभी धर्मों के समान स्थान प्रदान करके अपने अधीन राज्यतन्त्र के स्वरूप को ही बदल दिया। अकबर की 'सुलहकुल' (सभी के साथ शान्ति) की धार्मिक नीति ने राज्य और धर्म को पृथक करने का प्रयत्न किया, धर्म को व्यक्तिगत बनाने का प्रयास किया और, इस प्रकार, अपनी सभी प्रजा को, बिना किसी धार्मिक भेदभाव के, समान मानने और समान सुविधाएँ देने का प्रयत्न किया। 1579 ई. में अकबर ने 'मज़हर' को जारी किया जिसके अनुसार भारत में इस्लाम धर्म से सम्बन्धित विवादों के बारे में निर्णय करने का अधिकार स्वयं अकबर ने ले लिया। इसके द्वारा, वस्तुतः अकबर ने मुसलमानों के उलेमा-वर्ग के पक्षपातपूर्ण व्यवहार को समाप्त करके अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा की उनके उत्पीड़न से रक्षा करना था। अकबर ने यह अनुभव किया था कि भारत में अपने साम्राज्य की दृढ़ता के लिए यह आवश्यक था कि धार्मिक भेदभाव की नीति को समाप्त किया जाय और अपनी सभी प्रजा को राज्य की ओर से समान सुरक्षा और व्यवहार प्राप्त हो। भारत में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करना उसका राजनीतिक उद्देश्य था। उसके लिए उसने आरम्भ से ही विस्तारवादी नीति को अपनाया और सम्पूर्ण भारत को जीतने अथवा उसे अपने अधीन करने का प्रयत्न किया (अकबर के राजनीतिक विचार अथवा साम्राज्यवादी नीति के लिए इसी अध्याय 4. के अन्तर्गत दी गयी 'साम्राज्य-विस्तार' के विवरण का अध्ययन कीजिए)। अपने साम्राज्य को दृढ़ करने के लिए उसने एक उदार धार्मिक नीति को अपनाया (अकबर की धार्मिक नीति के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 11 के अन्तर्गत दी गयी 'मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति का अध्ययन कीजिए)। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अकबर ने राजपूतों के प्रति अपनायी गयी अपनी नीति को राजपूतों की सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने का साधन बनाया (अकबर की राजपूत नीति के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 11 के अन्तर्गत दी गयी 'मुगल बादशाहों की राजपूत-नीति का अध्ययन कीजिए)। इस प्रकार, अकबर ने अपनी गैर-मुस्लिम प्रजा के साथ अपने और राज्य के सम्बन्ध न्याय और सभी को समानता प्रदान करने के आधार पर अपनाये। इसी कारण उसने सभी के लिए समान कानून बनाये, पक्षपातपूर्ण कानून या कर (जजिया और तीर्थ-यात्रा कर) समाप्त किये, समान शासन-प्रणाली अपनायी, भारत की सांस्कृतिक एकता की उन्नति के लिए प्रयत्न किये, हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने के प्रयत्न किये, सभी व्यक्तियों की, बिना किसी भेदभाव के, योग्यता के अनुसार राज्य में पद देना आरम्भ किया तथा धार्मिक कट्टरता तथा अन्धविश्वासों को समाप्त करने के प्रयत्न किये। अपने इन प्रयत्नों के कारण ही अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट माना गया और ऐसा करते हुए उसने अपने अधीन राज्यतन्त्र को भी राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. बैरमखाँ कौन था ? उसके उत्थान और पतन पर प्रकाश डालिए।
2. अकबर की विजयों पर एक निबन्ध लिखिए।
3. अकबर की दक्षिण नीति का वर्णन कीजिए।
4. राजपूत शासकों के प्रति अकबर की नीति पर प्रकाश डालिए।
5. 'अकबर एक राष्ट्रीय शासक था', इस कथन की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।
2. पानीपत के द्वितीय युद्ध का उल्लेख कीजिए।
3. अकबर के पर्दाशासन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
4. अकबर की मध्य एशिया नीति पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
5. एक शासक के रूप में अकबर के गुणों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "अकबर भारतीय इतिहास का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व का महत्त्वपूर्ण शासक है ?" यह कथन किस इतिहासकार का है ?
   (अ) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव (ब) डॉ. ईश्वरी प्रसाद
   (स) डॉ. अवध बिहारी पाण्डे (द) डॉ. वी. डी. महाजन।
2. अकबर का जन्म स्थान था—
   (अ) अमरकोट (ब) राजकोट
   (स) काबुल (द) कन्धार।
3. अकबर सिंहासनारूढ़ हुआ था—
   (अ) 14 फ़रवरी, 1554 ई. को (ब) 14 फरवरी, 1555 ई. को
   (स) 14 फरवरी, 1556 ई. को (द) 14 फरवरी, 1558 ई. को।
4. 1556 से 1560 ई. तक अकबर का संरक्षक था—
   (अ) हेमू (ब) निजामुद्दीन
   (स) इस्कन्दर खाँ (द) बैरम खाँ।
5. दिल्ली की गद्दी के दावेदार सूरवंश के सभी उत्तराधिकारियों का अन्त हो गया था—
   (अ) 1556 ई. तक (ब) 1558 ई. तक
   (स) 1559 ई. तक (द) 1560 ई. तक।
6. बैरम खाँ के प्रबल विरोधी कौन थे, जिन्होंने उसके पतन का मार्ग प्रशस्त किया था ?
   (अ) अकबर की धाय-माँ माहम अनगा (ब) अधम खाँ
   (व) जीजी अनगा व उसका पति (द) ये सभी।
7. "बैरम खाँ के पतन और मृत्यु की कहानी एक दुःखद प्रभाव छोड़ती है।" यह किस इतिहासकार ने लिखा है ?
   (अ) वी. ए. स्मिथ ने (ब) लेनपूल ने
   (स) रशब्रुक विलियम ने (द) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. तथाकथित पर्दा शासन में अकबर कहाँ तक हरम की महिलाओं से प्रभावित था ?
(अ) पूर्णतया (ब) आंशिक रूप से
(स) बिलकुल भी नहीं (द) इनमें से कोई नहीं।

9. गोंडवाना के अवयस्क शासक वीरनारायण का संरक्षक कौन था ?
(अ) रानी कर्णवती (ब) रानी लक्ष्मीबाई
(स) रानी दुर्गावती (द) इनमें से कोई नहीं।

10. राजस्थान के किस शासक ने सर्वप्रथम अकबर की अधीनता स्वीकार करके अपनी पुत्री का विवाह उससे किया था ?
(अ) राणा उदयसिंह ने (ब) राजा भारमल (बिहारीमल) ने
(स) राणा प्रताप ने (द) राणा संग्रामसिंह ने।

11. हल्दीघाटी का प्रसिद्ध युद्ध 18 जून, 1576 ई. को किनके मध्य हुआ था ?
(अ) मुगलों व राणा उदयसिंह (ब) मुगलों व राणा सांगा में
(स) मुगलों व राणा प्रताप में (द) इनमें से कोई नहीं।

12. अकबर ने फतेहपुर सीकरी से अहमदाबाद की 450 मील की यात्रा कितने दिन में पूर्ण की थी ?
(अ) 9 दिन में (ब) 15 दिन में
(स) 18 दिन में (द) 20 दिन में।

13. अकबर के किस सौतेले भाई का काबुल पर अधिकार था ?
(अ) मिर्जा सुलेमान (ब) मिर्जा सिकन्दर
(स) मिर्जा रहमान (द) मिर्जा हकीम।

14. अकबर के शासनकाल में मध्य एशिया में उजबेगों का नेता था—
(अ) अब्दुल्ला खाँ (ब) सादुल्ला खाँ
(स) सुलेमान मिर्जा (द) इनमें से कोई नहीं।

15. 1591 ई. में अकबर ने किन शासकों को अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेजा था ?
(अ) खानदेश (ब) अहमदनगर
(स) गोलकुण्डा (द) तीनों को।

16. शाहजादा सलीम ने अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह कब किया था ?
(अ) 1590 ई. में (ब) 1595 ई. में
(स) 1599 ई. में (द) 1600 ई. में।

17. "अकबर मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक एवं व्यवस्थापक था।" किस इतिहासकार का यह कथन है ?
(अ) वी. ए. स्मिथ का (ब) स्टेनले लेनपूल का
(स) एडवर्ड गैरिट का (द) इनमें से कोई नहीं।

18. "वह (अकबर) अपने युग की सन्तान व पिता दोनों था।" यह कथन किस इतिहासकार का है ?
(अ) डॉ. आगा मेंहदी हसन का (ब) डॉ. ईश्वरी प्रसाद का
(स) डॉ. अवध बिहारी पाण्डेय का (द) डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का।

[उत्तर—1. (ब), 2. (अ), 3. (स), 4. (द), 5. (स), 6. (द), 7. (अ), 8. (ब), 9. (स), 10. (ब), 11. (स), 12. (अ), 13. (द), 14. (अ), 15. (द), 16. (स), 17. (ब), 18. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5

जहाँगीर (1605-1627 ई.)

अनेक सन्तों एवं फकीरों की मिन्नतों तथा फतेहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से अकबर की पत्नी और जयपुर की राजकुमारी मरियम उज्जमानी ने 30 अगस्त, 1569 ई. को मुहम्मद सलीम को जन्म दिया। अकबर सलीम को प्यार से 'शेखूबाबा' पुकारता था। सलीम की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। उसके विभिन्न शिक्षकों में से सबसे महत्वपूर्ण अपने समय का प्रमुख विद्वान अब्दुर्रहीम खानखाना था। विभिन्न भाषाओं और शास्त्रों के ज्ञान के अतिरिक्त सलीम ने सैनिक-शिक्षा भी प्राप्त की। यद्यपि तत्कालीन बादशाहों की परम्पराओं के अनुसार सलीम (बादशाह जहाँगीर) ने अनेक विवाह किये परन्तु उसका पहला विवाह अम्बर (जयपुर) के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहन मानबाई से 13 फरवरी, 1585 ई. में हुआ। सलीम का सबसे बड़ा पुत्र खुसरो इसी की सन्तान था। मानबाई को सलीम (जहाँगीर) ने 'शाह बेगम' की उपाधि प्रदान की थी। मानबाई ने जहाँगीर की शराब की आदतों से दुःखी होकर आत्महत्या कर ली थी। इस कारण कालान्तर में—1586 ई. में उसका दूसरा महत्वपूर्ण विवाह राजा उदयसिंह की लड़की जगतगोसाईं (जोधाबाई) से हुआ जिसकी सन्तान शाहजादा खुर्रम (बादशाह शाहजहाँ) था। जहाँगीर के तीसरे पुत्र परवेज का जन्म उसकी बेगम 'साहिब-ए-जमाल' से और चौथे पुत्र शहरयार का जन्म एक रखैल से हुआ।

सलीम को बहुत लाड़-प्यार से पाला गया था। इस कारण वह आरम्भ से ही ऐशो-आराम और शराब का शौकीन हो गया। अपने पिता के अन्तिम दिनों में उसने उसकी अवज्ञा की और अपने को स्वतन्त्र शासक बनाने का प्रयत्न किया। अन्त में बाप-बेटे में समझौता हो गया। अकबर के दो अन्य पुत्रों—दानियाल और मुराद—की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। अपनी मृत्यु के अवसर पर अकबर ने सलीम को 21 अक्टूबर, 1605 ई. को अपनी पगड़ी एवं कटार से सुशोभित कर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और वही उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर के नाम से बादशाह बना।

अकबर की मृत्यु के आँठवें दिन, 3 नवम्बर, 1605 ई. को आगरा के किले में जहाँगीर का राज्याभिषेक हुआ और उसने 'नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी' की उपाधि धारण की। जहाँगीर ने अपने पक्ष के सरदारों को उच्च पद प्रदान किये जिनमें से एक अब्दुल फजल का हत्यारा राजा वीरसिंह बुन्देला भी था। अकबर की परम्परा को स्थापित रखते हुए जहाँगीर ने अपना शासन उदारता से आरम्भ किया और गद्दी पर बैठते ही उसने विभिन्न लोकहितकारी आदेश दिये, जैसे—जागीरदार और सरकारी अधिकारी गाँवों और सड़कों के निकट कुएँ और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सराएँ बनवायें, व्यापारियों के सामान की बिना उनकी इच्छा के तलाशी न ली जाये, किसी के घर पर जबर्दस्ती अधिकार न किया जाये, अपराध के दण्ड-स्वरूप किसी के नाक-कान न काटे जायें, किसानों की भूमि पर कोई भी जबर्दस्ती अधिकार न करे, राज्य के खर्चे से बड़े नगरों में अस्पताल खोले जायें और वहाँ चिकित्सकों की नियुक्ति की जाये, आदि।

इस प्रकार, जहाँगीर ने अपने शासन का आरम्भ उदारता और जनहित की भावना से किया। उसने आगरा के किले के शाह-बुर्ज से बाहर यमुना नदी के तट पर एक सोने की जंजीर डलवा दी जिसे खींचकर कोई भी व्यक्ति बादशाह से न्याय की माँग कर सकता था।

[1]

खुसरो का विद्रोह (1606 ई.)

खुसरो जहाँगीर का सबसे बड़ा पुत्र, राजा मानसिंह का भानजा और मिर्जा अजीज कोका का दामाद था। वह सुशिक्षित, सुन्दर, उदार और चरित्रवान था। अकबर के अन्तिम दिनों में राजा मानसिंह और मिर्जा अजीज कोका ने सलीम के दुर्बल चरित्र को दृष्टिगत रखते हुए खुसरो को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया। परन्तु जब अन्य सरदार इसके लिए तैयार न हुए तब यह प्रयत्न छोड़ दिया गया। अजीज कोका ने जहाँगीर से क्षमा माँग ली और उसे बादशाह स्वीकार कर लिया। राजा मानसिंह ने खुसरो को लेकर बंगाल भागने की तैयारी की परन्तु जहाँगीर के आश्वासन पर वह वापस आ गया और खुसरो को जहाँगीर को सौंप दिया गया। जहाँगीर ने उन दोनों को क्षमा कर दिया परन्तु खुसरो को अर्द्ध-बन्दी रूप में रखा और कुछ समय पश्चात् राजा मानसिंह को बंगाल की सूबेदारी से पृथक कर दिया।

खुसरो 17 वर्ष की आयु का था। वह बादशाह बनने के सपने देखने लगा। वह 6 अप्रैल, 1606 ई. को आगरा के किले से भाग निकला। दिल्ली होता हुआ वह लाहौर की तरफ गया। उस समय तक उसके समर्थकों की संख्या करीब 12,000 हो गयी। उसने सिख-गुरु अर्जुन सिंह का आशीर्वाद प्राप्त किया। परन्तु लाहौर के किलेदार ने उसके लिए किले के फाटक न खोले। खुसरो के भागने की सूचना जहाँगीर को कुछ घण्टों में ही मिल गयी। उसने एक सेना शाहजादे का पीछा करने के लिए भेजी और स्वयं भी लाहौर की तरफ चल दिया। खुसरो ने भैरावल के मैदान में जहाँगीर का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। चिनाब नदी को पार करते हुए वह अपने साथियों के साथ पकड़ा गया। इस अवसर पर खुसरो को सिर्फ कैद कर दिया गया। इस प्रकार एक माह में ही खुसरो का विद्रोह समाप्त हो गया।

1607 ई. में जब जहाँगीर काबुल से लाहौर वापस आ रहा था, तभी मार्ग में उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। खुसरो के अतिरिक्त इसमें राज्य के कुछ अन्य सरदार भी शामिल थे। परन्तु शाहजादा खुर्रम को इसकी सूचना मिल गयी और उसने जहाँगीर को यह सूचना दे दी। जहाँगीर ने इसके बारे में विस्तृत जानकारी की और जब सभी षड्यन्त्रकारियों के बारे में उसे ठीक पता लग गया तब उसने उनको कठोर दण्ड दिये और खुसरो को अन्धा करा दिया। बाद में शाहजादे पर दया करके उसकी आँखों का इलाज कराया गया परन्तु उसकी एक ही आँख में थोड़ी रोशनी आ सकी। उसके पश्चात् खुसरो प्रायः बन्दी ही रहा। अन्त में, दक्षिण-युद्ध के अवसर पर शाहजादा खुर्रम ने बादशाह से उसे अपने साथ ले चलने की प्रार्थना की। बादशाह उससे इंकार न कर सका और खुर्रम ने, जिसे शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित किया जा चुका था, एक हत्यारे के द्वारा गला घोंटकर खुसरो को 1621 ई. में मरवा दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुसरो के विद्रोह ने कुछ अन्य छोटे-छोटे विद्रोहों को भी जन्म दिया, जैसे बीकानेर के राजा जयसिंह का, बिहार के संग्राम का और बिहार में ही कुतुब का जिसने स्वयं को खुसरो घोषित किया। ये सभी विद्रोह दबा दिये गये। परन्तु खुसरो के विद्रोह का एक परिणाम मुगलों और सिखों के सम्बन्धों का खराब होना भी था क्योंकि जहाँगीर ने सिखों के गुरु अर्जुन पर खुसरो को सहायता देने के अपराध में दो लाख रुपया जुर्माना किया और जब गुरु अर्जुन ने उस जुर्माने को देने से इंकार कर दिया तब उन्हें मृत्यु-दण्ड दे दिया। इसे सिखों ने अपने धर्म पर अत्याचार माना।

[2]

साम्राज्य-विस्तार

अकबर ने जिस साम्राज्य-विस्तार की परम्परा को स्थापित किया था, जहाँगीर ने उसके अनुकूल कार्य करने का प्रयत्न किया। उत्तर-भारत की विजय छोटे-छोटे कुछ राज्यों के अतिरिक्त प्रायः पूर्ण थी। अकेला मेवाड़ ही एक ऐसा राज्य था जिसने उस समय तक मुगलों की सत्ता को मानने से इंकार किया था। दक्षिण-भारत में राज्य-विस्तार की सम्भावना थी जहाँ उस समय तक अहमदनगर के राज्य को भी समाप्त नहीं किया जा सका था। जहाँगीर के समय में इन्हीं राज्यों को विजय करने के प्रयत्न किये गये।

1. मेवाड़ से युद्ध और सन्धि

अकबर ने अपने समय में मेवाड़ को जीतने का निरन्तर प्रयत्न किया था। परन्तु महाराणा प्रताप के दृढ़ विरोध और निरन्तर संघर्ष के कारण सम्पूर्ण मेवाड़ पर मुगलों का अधिकार न हो सका था बल्कि अपनी मृत्यु के पहले राणा प्रताप ने चित्तौड़ को छोड़कर मेवाड़ के प्रायः सभी भू-क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अमरसिंह राणा बना। जहाँगीर के शासनकाल में वही मेवाड़ का शासक था।

गद्दी पर बैठते ही 1605 ई. में जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को एक बड़ी सेना के साथ मेवाड़-विजय के लिए भेजा। राणा अमरसिंह ने आधिपत्य स्वीकार करने के स्थान पर युद्ध का निर्णय किया। देवार के दर्रे में एक युद्ध हुआ जिसमें कोई निर्णय न हो सका और युद्ध चलता रहा। खुसरो के विद्रोह के कारण शाहजादा परवेज को आसफखाँ सहित वापस बुला लिया गया। इस प्रकार 1606 ई. में युद्ध प्रायः समाप्त हो गया, परन्तु 1608 ई. में महाबतखाँ को पुनः इसी उद्देश्य से भेजा गया। उसने राणा को जंगलों में शरण लेने के लिए बाध्य किया। वह इससे अधिक सफलता न पा सका। 1609 ई. में उसके स्थान पर अब्दुल्लाखाँ को नियुक्त किया गया। अब्दुल्लाखाँ 1611 ई. में रानपुर के दर्रे में परास्त हुआ यद्यपि थोड़े समय के पश्चात् उसने राजकुमार करन को एक युद्ध में परास्त करके अपने सम्मान को पुनः स्थापित कर लिया। परन्तु वह अधिक सफलता न पा सका। उसके पश्चात् राजा बसु और उसके असफल होने पर मिर्जा अजीज कोका को इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया। 1613 ई. में स्वयं जहाँगीर अजमेर गया और शाहजादा खुर्रम को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। बाद में अजीज कोका को वापस बुला लिया गया और शाहजादा खुर्रम को इस कार्य के लिए सम्पूर्ण अधिकार दे दिये गये। खुर्रम ने राणा पर प्रत्येक प्रकार से दबाव डाला। खेती बर्बाद कर दी गयी, रसद के मार्ग बन्द कर दिये गये, स्थान-स्थान पर राजा का पीछा किया गया और उसकी सूचना प्राप्त करने के लिए चौकियाँ बना दी गयीं। राजपूत निरन्तर साहसपूर्वक युद्ध करते रहे परन्तु परिस्थितियाँ प्रायः वही हो गयीं जो राणा प्रताप के समय में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् हो गयी थीं। अन्त में, राजकुमार करन और अन्य राजपूत सरदारों ने राणा को मुगलों से सन्धि करने की सलाह दी। राणा ने इसे स्वीकार कर लिया और अपना एक राजदूत शाहजादा खुर्रम के पास भेजा। खुर्रम ने उसका स्वागत किया और उसे जहाँगीर के पास भेजा। जहाँगीर ने प्रसन्नता से राजा के सन्धि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और **1615 ई. में मेवाड़ और मुगलों में निम्नलिखित शर्तों पर सन्धि हो गयी :**

1. राणा ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

2. राणा से मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्धों के लिए नहीं कहा गया। राणा ने स्वयं के स्थान पर अपने पुत्र करन को दरबार में भेजने की स्वीकृति माँगी जिसे जहाँगीर ने स्वीकार कर लिया।

3. जहाँगीर ने मेवाड़ का सम्पूर्ण भू-प्रदेश और चित्तौड़ का किला उदारतापूर्वक राणा को दे दिया। शर्त सिर्फ यह थी कि चित्तौड़ के किले को सुदृढ़ नहीं किया जायेगा।

इस प्रकार, मेवाड़ और मुगलों का दीर्घकालीन संघर्ष समाप्त हुआ। मेवाड़ के राणाओं ने इस सन्धि का उस समय तक पालन किया जब तक कि औरंगजेब की नीतियों के कारण राणा राजसिंह को मुगलों का विरोध करने के लिए बाध्य न होना पड़ा। मेवाड़ और मुगलों का संघर्ष राजस्थान के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय है। शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य से मुकाबला करने में राजपूतों का मुख्य साधन उनका दृढ़ निश्चय और सम्मान-रक्षा की भावना मात्र ही थी। मेवाड़ के सिसोदिया-वंश ने राणा कुम्भा और राणा साँगा के गौरव की रक्षा राणा प्रताप और राणा अमरसिंह के समय में भी की। इसी में उनकी महानता और मेवाड़ का गौरव था।

यह कहना भूल होगी कि राणा अमरसिंह ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया और मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके राणा प्रताप के नाम को कलंकित कर दिया। राणा अमरसिंह ने मुगलों से उसी प्रकार और उन्हीं परिस्थितियों में रहते हुए युद्ध किया जैसे राणा प्रताप ने किया था। कई अवसरों पर उसने मुगल सेना को परास्त किया। युवराज करनसिंह और अपने सरदारों के कहने पर ही उसने मुगलों से सन्धि करना स्वीकार किया। **सन्धि की शर्तें भी सम्मानित थीं, वह स्वयं कभी भी मुगल दरबार में नहीं गया और न उसने मुगलों से विवाह-सम्बन्ध किया। परन्तु इससे भी उसे सन्तोष न हुआ। कुछ समय के पश्चात् उसने अपना सिंहासन युवराज करन को सौंप दिया और एक एकान्त स्थान नौ-चौकी में जाकर उसने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये।** यह कहना भी अनुचित नहीं है कि मेवाड़ का मुगलों से संघर्ष मेवाड़ की प्रजा के लिए लाभदायक न था। निरन्तर संघर्ष के कारण राज्य में शान्ति, समृद्धि और सुख सम्भव न था। शक्तिशाली और समृद्धशाली मुगल-साम्राज्य से युद्ध करते हुए मेवाड़ कब तक सफलता पा सकता था तथा सम्मान की रक्षा के अतिरिक्त और क्या प्राप्त कर सकता था ? मुगलों के आधिपत्य मात्र को स्वीकार करने से राणा को मेवाड़ की सम्पूर्ण भूमि और चित्तौड़ का किला प्राप्त हो गया तथा उसकी प्रजा को शान्ति मिल गयी। जहाँगीर ने राणा अमरसिंह एवं उसके पुत्र करनसिंह की संगमरमर की दो मूर्तियाँ बनवाकर आगरा में राजमहल के उद्यान में रखवायी।

मेवाड़ के प्रति जहाँगीर का व्यवहार भी सराहनीय था। शाहजादा खुर्रम ने राणा अमरसिंह और युवराज करन का सम्मान व स्वागत किया। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें सम्मानित रहने दीं। उसने राणा के सम्मान को कहीं भी चोट नहीं पहुँचाई और मेवाड़ के जीते हुए भू-प्रदेश तथा चित्तौड़ उदारतापूर्वक राणा को वापस कर दिये। युवराज करन को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-दरबार में बादशाह के दाहिनी ओर स्थान दिया गया, उसे 5,000 सवार और 5,000 जात का पद दिया गया तथा अनेक बहुमूल्य उपहार जहाँगीर और नूरजहाँ की ओर से दिये गये। साधारणतया, ऐसा सम्मान मुगल बादशाह की ओर से किसी को नहीं दिया जाता था।

2. दक्षिण-भारत

दक्षिण-भारत में जहाँगीर ने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। अकबर के समय में खानदेश और अहमदनगर राज्य के कुछ भागों को जीत लिया गया था परन्तु अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ था तथा बीजापुर और गोलकुण्डा पूर्णतया स्वतन्त्र थे। जहाँगीर के समय में उनको जीतने या आधिपत्य में लेने का कार्य पुनः आरम्भ किया गया।

उस समय मुगलों की दक्षिण-भारत की विजय में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर ने प्रस्तुत की। मलिक अम्बर अपने समय के योग्यतम व्यक्तियों में से था। अबीसीनियन मलिक अम्बर को कासिम ख्वाजा नामक एक व्यक्ति ने बगदाद के बाजार से खरीदा था। उसने उसे अहमदनगर के मुर्तजा निजामशाह प्रथम के योग्य मन्त्री मीरक दबीर चंगेजखाँ को बेचा। जब बरार और खानदेश मुगलों के अधिकार में चले गये तब मलिक अम्बर ने बीजापुर राज्य में जाकर नौकरी कर ली। परन्तु वह पुनः अहमदनगर वापस आ गया और उसने आनगखाँ की सेवा में 150 घुड़सवारों के मनसबदार का पद स्वीकार कर लिया। जब अकबर के समय में शाहजादा दानियाल ने अहमदनगर-राज्य पर आक्रमण किया तब मलिक अम्बर और मलिक राजू को मुगलों पर आक्रमण करने तथा उन्हें तंग करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। उसने इस कार्य की पूर्ति सफलतापूर्वक की। उसने अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की और अहमदनगर-राज्य के उन प्रदेशों को, जो मुगल-आधिपत्य में चले गये थे, मुगलों से छीनने में भाग लिया। 1601-1602 ई. में मलिक अम्बर ने मण्डेर में सबसे पहली बार मुगलों का प्रत्यक्ष रूप से कड़ा मुकाबला किया जिसमें वह बुरी तरह से घायल हुआ परन्तु जीवित बच गया। अपने साथी सरदार मलिक राजू से मलिक अम्बर की नहीं पट सकी क्योंकि दोनों ही अहमदनगर-राज्य में अपना-अपना प्रभाव चाहते थे। मलिक राजू की प्रतिद्वन्द्विता के कारण मलिक अम्बर ने दो बार अहमदनगर-राज्य का साथ छोड़ा और मुगलों की सेवा स्वीकार की। परन्तु मुगलों की अधीनता में मलिक अम्बर का भविष्य न था। 1607 ई. में निजामशाह ने राजू को कैद कर लिया और मलिक अम्बर से साथ देने की माँग की। राजू के हटते ही मलिक अम्बर का मार्ग साफ हो गया और वह निजामशाह की सेवा में चला गया।

जहाँगीर के बादशाह बनने और खुसरो के विद्रोह के समय कुछ वर्ष दक्षिण-भारत में शान्ति रही। मलिक अम्बर ने उस समय का उपयोग विभिन्न सुधारों तथा अहमदनगर-राज्य की शक्ति को दृढ़ करने के लिए किया। उसने सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के सुधार किये। उसने टोडरमल की लगान-व्यवस्था से सबक लिया। लगान-व्यवस्था को लागू करने में उसके तीन प्रमुख उद्देश्य थे—(1) वह किसानों की भलाई चाहता था, (2) वह कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना चाहता था, और (3) वह राज्य की आय में वृद्धि करना चाहता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने भूमि को ठेके पर देने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया और रैयतवारी-व्यवस्था को आरम्भ किया जिसमें राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया और स्वयं ही उनसे लगान वसूल करना आरम्भ किया। उसने उत्पादन के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर भूमि को कई भागों में बाँटा। उसने भूमि की पैमाइश की व्यवस्था की और पैदावार का 2/3 अथवा 1/3 भाग लगान के रूप में किसानों से लिया। बाद में उसने किसानों से सिक्के की शक्ल में लगान लेना आरम्भ कर दिया। उसने किसानों और गाँवों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। इन सुधारों से अहमदनगर-राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। मलिक अम्बर ने यह जान लिया था कि मुगल-साम्राज्य की विशाल शक्ति से अहमदनगर-राज्य उस युद्ध-नीति से लड़कर लाभ नहीं उठा सकता जिसका प्रयोग उस समय तक होता रहा था। सामने के युद्ध में मुगलों की विशाल सेना का मुकाबला करना असम्भव था। इस कारण उसने मुगलों से युद्ध करने के लिए 'गुरिल्ला युद्ध-पद्धति' को अपनाया जिसे मेवाड़ और बुन्देलखण्ड के हिन्दू-राजाओं और अफगानिस्तान की कबाइली जातियों ने सफलता से मुगलों के विरुद्ध अपनाया था। इसके लिए उसने स्थानीय निवासी मराठों को सेना में भर्ती किया। मराठे अपने निवास-स्थानों के भू-प्रदेशों से पूर्णतया परिचित थे और दक्षिण के पठारी भू-प्रदेशों में 'गुरिल्ला युद्ध-नीति' उनके लिए बहुत अनुकूल थी। मलिक अम्बर ने शत्रु पर अचानक आक्रमण करना, उसकी रसद को रोकना, उस पर असावधान स्थिति में आक्रमण करना, समय पाकर भाग जाना, रात्रि को उसके खेमों पर आक्रमण करना और उसे लालच देकर अपनी सुविधा के अनुकूल स्थानों पर ले जाकर उससे लड़ना, आदि विभिन्न गुरिल्ला युद्ध-नीति के तरीके अपनी सेना को सिखाये। मराठा सैनिक इस युद्ध-नीति में बहुत कुशल हो गये क्योंकि वह अपने देश की भौगोलिक परिस्थितियों से परिचित थे, छिपने और आक्रमण करने के स्थान सरलता से प्राप्त कर लेते थे और आमने-सामने का युद्ध करके सम्मान प्राप्त करना उनका लक्ष्य न था। राजधानी की सुरक्षा के लिए मलिक अम्बर ने कई बार राजधानी को बदला। उसने पहले परेंदा के स्थान पर जुनार को राजधानी बनाया, उसके पश्चात् उसने दौलताबाद को राजधानी बनाया और अन्त में खिर्की को राजधानी बनाया जो भौगोलिक दृष्टि से बहुत सुरक्षित स्थान था। मलिक अम्बर ने पर्शिया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और राजगढ़ से करीब 20 मील दूर जंजीरा के द्वीप में उसने अपनी नौ-सेना को स्थापित किया। उसने अपनी नौ-सेना को अबीसीनिया के अरब सीदियों (सैयद) की सहायता से दृढ़ किया और उन्हीं को नौ-सेना में भर्ती किया। यही वे सीदी थे जिन्होंने बाद में मराठों और यूरोपियन जातियों का समुद्र में मुकाबला किया। इस प्रकार मलिक अम्बर ने आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ सेना और नौ-सेना आदि सभी प्रकार से अहमदनगर-राज्य को दृढ़ करके मुगलों से मुकाबला करने के लिए तैयार किया। यह कहना उचित है कि "युद्ध, सेनापतित्व, उचित निर्णय और शासन-कुशलता में न कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी था और न कोई उसकी बराबरी करने वाला।"

अहमदनगर-राज्य की स्थिति को विभिन्न प्रकार से दृढ़ करके मलिक अम्बर ने मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया, और वह इसमें सफल हुआ। 1608 ई. में जहाँगीर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को दस लाख रुपया और बारह हजार घुड़सवार अतिरिक्त रूप से दिये तथा दक्षिण भेजा। परन्तु उसे कोई सफलता न मिल सकी। इस कारण, 1610 ई. में शाहजादा परवेज और आसफखाँ को एक बड़ी सेना के साथ भेजा गया। परन्तु इससे पहले कि वह सेना दक्षिण में पहुँच पाती, मलिक अम्बर ने खानखाना को सन्धि करने तथा बुरहानपुर वापस जाने के लिए बाध्य कर दिया और अहमदनगर के किले पर अधिकार (1610 ई.) कर लिया। खानखाना को दक्षिण से बुला लिया गया और खानेजहान को दक्षिण भेजा गया। 1611 ई. में मुगलों ने अहमदनगर को जीतने का पुनः प्रयास किया। खानेजहान और राजा मानसिंह ने बरार और खानदेश की ओर से बढ़ना आरम्भ किया तथा अब्दुल्लाखाँ ने नासिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर से बढ़ना आरम्भ किया। दोनों सेनाओं को दौलताबाद में मिलना था। परन्तु अब्दुल्लाखाँ युद्ध की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय स्वयं लेने के उत्साह में अकेला दौलताबाद तक बढ़ गया और मुख्य सेना की प्रतीक्षा नहीं की। उसे इसका परिणाम भुगतना पड़ा। अहमदनगर की सेना ने उस पर आक्रमण करके उसे गुजरात की ओर वापस लौटने के लिए बाध्य किया। जहाँगीर ने खानेजहान को वापस बुला लिया और खानखाना को पुनः दक्षिण भेजा गया (1612 ई.)।

इसके पश्चात् मुगलों का ध्यान मेवाड़ की ओर लगा रहा। दक्षिण में खानखाना ने कूटनीति से मलिक अम्बर के कुछ वफादार सरदारों को अपनी ओर मिलाने में अवश्य सफलता प्राप्त की परन्तु कोई महत्वपूर्ण युद्ध नहीं हुआ। 1615 ई. में मुगलों ने रोशनगाँव के निकट एक युद्ध में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा की एक संयुक्त सेना को परास्त करने में पहली बड़ी सफलता पायी। मलिक अम्बर को भागकर दौलताबाद के किले में शरण लेनी पड़ी। परन्तु शाहजादा परवेज और खानखाना के पारस्परिक मतभेदों के कारण इस विजय से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया गया। थोड़े समय के पश्चात् मलिक अम्बर ने फिर मुगल-क्षेत्रों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। जब 1615 ई. में मेवाड़ से सन्धि हो गयी तब जहाँगीर ने 1616 ई. में शाहजादा-खुर्रम को 'शाह' की उपाधि देकर एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण-भारत भेजा। स्वयं जहाँगीर भी दक्षिण की देखभाल करने के लिए माँडू गया (1617 ई.)। खुर्रम बुरहानपुर तक पहुँच गया। खुर्रम का दक्षिण में जाना और स्वयं जहाँगीर का माँडू पहुँचना प्रभावपूर्ण हुआ। बाकी कार्य की पूर्ति खानखाना की कूटनीति और मुगलों के धन ने कर दी। बीजापुर के राजा ने मध्यस्थता की। मलिक अम्बर सन्धि के लिए तैयार हो गया। बालाघाट का भू-क्षेत्र, अहमदनगर का किला तथा कुछ अन्य किले मुगलों को दे दिये और 1617 ई. में अहमदनगर-राज्य और मुगलों में सन्धि हो गयी। बीजापुर के राजा ने खुर्रम को मूल्यवान उपहार दिये और बदले में जहाँगीर ने उसे 'फर्जन्द' (पुत्र) की उपाधि दी। खानखाना को दक्षिण का सूबेदार रखा गया और शाहजादा खुर्रम वापस आ गया। खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि दी गयी। परन्तु शाहजहाँ की दक्षिण की विजय केवल नाम की थी। डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है : "मुगल-शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहाँ अकबर ने दक्षिण से लौटते समय छोड़ी थी।"

मलिक अम्बर ने इस सन्धि का पालन बहुत समय तक नहीं किया। उसने गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों से समझौता कर लिया और 1620 ई. में अहमदनगर के किले को घेर लिया। उसने बरार और आसपास के प्रदेशों को जीत लिया। एक बार फिर शाहजहाँ को एक बड़ी सेना और धन देकर दक्षिण में भेजा गया। शाहजहाँ ने बुरहानपुर पहुँचकर आक्रमण की तैयारी की। अहमदनगर की नवीन राजधानी खिर्की पर अधिकार कर लिया गया। तत्पश्चात् मुगलों ने अहमदनगर के किलेदार की सहायता के लिए एक सेना भेजी और दौलताबाद पर भी दबाव डाला। मुगलों की इस सफलता से मलिक अम्बर भयभीत हो गया और सन्धि को तैयार हो गया। 1621 ई. में हुई सन्धि के अनुसार अहमदनगर-राज्य ने मुगलों से जीते हुए सम्पूर्ण प्रदेश वापस कर दिये। इसके अतिरिक्त उसने प्रायः 14 लाख रुपये की वार्षिक आय का भू-क्षेत्र और 18 लाख रुपये नकद मुगलों को दिये। बीजापुर और गोलकुण्डा ने अहमदनगर-राज्य की सहायता की थी अतएव बीजापुर ने 12 लाख और गोलकुण्डा ने 20 लाख रुपये हर्जाने के रूप में मुगलों को दिये।

इस प्रकार, 1621 ई. में दक्षिण का युद्ध समाप्त हो गया। इसके पश्चात् शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह के कारण मुगलों को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँगीर के समय में प्राप्त न हो सका। वास्तव में सीमा-विस्तार की दृष्टि से जहाँगीर के समय में दक्षिण में मुगलों को कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण के राज्यों पर मुगलों का दबाव बढ़ गया। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर मलिक अम्बर ने एक बार शाहजहाँ को सहायता दी और मुगल बादशाह का विरोध किया। स्पष्ट था कि अहमदनगर-राज्य अभी मुगल-सत्ता को स्वीकार करने को तैयार न था। 1626 ई. में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी। परन्तु दक्षिण में मुगलों की स्थिति प्रायः पहले जैसी ही रही। उस समय तक अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा मुगलों के आधिपत्य में न थे। ऐसी ही स्थिति में 7 नवम्बर, 1627 ई. को 'भीमवार' नामक स्थान पर जहाँगीर की मृत्यु हो गई। उसे 'शाहदरा' (लाहौर) में रावी नदी के किनारे दफनाया गया।

3. काँगड़ा

उत्तर-पूर्व पंजाब में काँगड़ा की सुन्दर घाटी है। काँगड़ा का किला एक पहाड़ी पर बना हुआ दृढ़ किला था। अकबर के समय में पंजाब के सूबेदार हसनकुलीखाँ ने इसे जीतने का प्रयास किया था परन्तु वह असफल हुआ था। 1620 ई. में शाहजादा खुर्रम के नेतृत्व में राजा विक्रमाजीत ने इस किले का घेरा डाला और लगभग चार माह के घेरे के पश्चात् इस पर अधिकार कर लिया।

4. अन्य विजयें

1611 ई. में टोडरमल के पुत्र राजा कल्याणमल ने खर्दा (उड़ीसा) को राजा पुरुषोत्तमदास से जीता और राजा ने अपनी पुत्री जहाँगीर को भेंट की। 1615 ई. में नूरजहाँ के भाई इब्राहीमखाँ ने खोखर (बिहार) को राजा दुर्जनसाल से जीता। वहाँ हीरे की खानें थीं जो राज्य की सम्पत्ति बना ली गयीं। 1617 ई. में पुरुषोत्तमदास के विद्रोह करने पर उसे पराजित किया गया और उसके राज्य को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। 1620 ई. में कश्मीर के दक्षिण में एक छोटे-से राज्य किश्तवार को मुगलों ने विजय किया। 1622 ई. में राजा ने विद्रोह किया और उसके राज्य को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रदेश में फलों और केसर की खेती अच्छी होती थी। 1613 ई. में उत्तर-पूर्व में मुगलों ने कामरूप पर अपना अधिकार कर लिया था।

इस प्रकार, जहाँगीर के समय में राज्य-विस्तार के जो प्रयत्न किये गये वह आंशिक रूप में सफल रहे। जहाँगीर के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना मेवाड़ से सन्धि थी। दक्षिण में राज्य-विस्तार मुख्यतया मलिक अम्बर के विरोध के कारण सफल न हो सका। जहाँगीर के समय की अन्य विजयें साधारण थीं।

[3]

जहाँगीर और यूरोपीय-निवासी

इस समय में भी यूरोपीय-निवासियों में से मुगल-दरबार से सम्बन्ध रखने वालों में पुर्तगाली ही प्रमुख रहे। जहाँगीर के समय में अधिकांशतया पुर्तगालियों से मुगलों के सम्बन्ध अच्छे ही रहे। जहाँगीर ने उन्हें अपना धर्म मानने, गिरजे बनवाने और व्यक्तियों को इच्छानुसार ईसाई बनाने की आज्ञा दे रखी थी और कई बार ईसाई पादरियों के मिशन जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुए थे। जहाँगीर ने उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता के अतिरिक्त आर्थिक सहायता भी दी। परन्तु 1610 ई. में पुर्तगालियों ने कुछ शाही जहाजों को पकड़ लिया। अपनी नौ-सेना की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए पुर्तगाली उद्दण्ड हो गये थे। यह घटना उसी उद्दण्डता का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम थी। जहाँगीर ने अप्रसन्न होकर आगरा और लाहौर के गिरजे बन्द करा दिये, बहुत से पुर्तगालियों को जेल में डाल दिया और उनकी व्यापारिक सुविधाएँ समाप्त कर दीं। पुर्तगालियों को, अन्त में, बादशाह से माफी माँग कर समझौता करना पड़ा। जहाँगीर के काल में पुर्तगालियों ने अन्य कोई दुर्घटना नहीं की।

जहाँगीर के शासनकाल में अंग्रेजों ने भी बादशाह से व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया और विलियम हॉकिन्स और सर टामस रो ब्रिटेन के प्रतिनिधि के रूप में बादशाह से मिले। जहाँगीर ने हॉकिन्स को 400 का मनसब दिया था। मुगल-दरबार में पुर्तगालियों के प्रभावशाली होने के कारण उन्हें अधिक सुविधाएँ नहीं मिल सकीं। तब भी सर टामस रो ने जहाँगीर से सूरत में अंग्रेज-फैक्टरी स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त की।

[4]

कन्धार

जहाँगीर के समय में कन्धार मुगलों के हाथ से निकलकर पर्शिया के हाथ में चला गया। 1606 ई. में खुसरो के विद्रोह के अवसर पर पर्शिया के बादशाह शाह अब्बास ने खुरासान और निकट के अन्य अमीरों को कन्धार पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उन्होंने किले को घेर लिया। परन्तु मुगल किलेदार शाहबेगखाँ ने उनका डटकर मुकाबला किया। 1607 ई. के आरम्भ में मुगल सेना भी किले की सहायता के लिए पहुँच गयी और ईरानियों को किले का घेरा उठाना पड़ा। शाह अब्बास ने इस आक्रमण के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त किया, उसे अपने सरदारों की नादानी बताया और जहाँगीर से मित्रता का दावा किया। उसके पश्चात् शाह अब्बास ने निरन्तर 1611, 1615, 1616 और 1620 ई. में मुगल दरबार में मूल्यवान उपहारों सहित अपने राजदूत भेजे तथा जहाँगीर से मित्रता और प्रेम का दावा किया। परन्तु 1621 ई. में पर्शिया ने पुनः कन्धार का घेरा डाला और 1622 ई. में उसे जीत लिया। शाहजहाँ के विद्रोह के कारण जहाँगीर कन्धार की रक्षा और उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न न कर सका।

[5]

नूरजहाँ तथा तत्कालीन राजनीति और इतिहास पर उसका प्रभाव

1. प्रारम्भिक जीवन

जहाँगीर के जीवन और उसके इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना नूरजहाँ से उसका विवाह था। नूरजहाँ का बचपन का नाम मेहरुन्निसा था। उसका पिता गियासबेग पर्शिया का रहने वाला था। अपने पिता ख्वाजा मुहम्मद शरीफ की मृत्यु के पश्चात् मिर्जा गियासबेग पर्शिया के अलावा अन्यत्र अपने भाग्य को आजमाने की नीयत से अपने दो पुत्रों एवं एक पुत्री के साथ भारत के लिए रवाना हुआ। मार्ग में उसे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं परन्तु काफिले के मालिक मलिक मसूद ने उसकी बहुत सहायता की। कन्धार के निकट उसकी पत्नी ने एक और लड़की को जन्म दिया और यही लड़की मेहरुन्निसा थी। मिर्जा गियासबेग को अकबर की सेवा में जगह मिल गयी और वह अपनी योग्यता से प्रगति करता गया। उसे काबुल के दीवान का पद दिया गया परन्तु बाद में वह अकबर के व्यक्तिगत कारखाने की सेवा में ले लिया गया। जहाँगीर ने अपने प्रारम्भिक काल में ही उसे 'एत्मातुद्दौला' की उपाधि प्रदान की। 1594 ई. में मेहरुन्निसा की शादी अलीकुलीबेग के साथ कर दी गयी। 1599 ई. में मेवाड़ के आक्रमण के अवसर पर एक शेर को मारने के उपलक्ष्य में अलीकुलीखाँ को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाहजादा सलीम ने 'शेर अफगन' की उपाधि से विभूषित किया, परन्तु जब सलीम ने विद्रोह किया तब शेर अफगन उसका साथ छोड़कर बादशाह अकबर के पास चला गया। जब जहाँगीर बादशाह बना तब उसने शेर अफगन को क्षमा कर दिया परन्तु उसे बंगाल में बर्दवान की जागीर सौंपी। शेर अफगन अपनी नवीन जागीर से सन्तुष्ट न हुआ और, सम्भवतया, उसने वहाँ पर हो रहे अफगानों के विद्रोह को दबाने में कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया। 1606 ई. में राजा मानसिंह को हटाकर कुतुबुद्दीन को बंगाल का सूबेदार बनाया गया। उसी समय शेर अफगन पर राजद्रोह का अपराध लगाया गया और कुतुबुद्दीन ने उसे मिलने के लिए बुलाया। शेर अफगन केवल दो व्यक्तियों को लेकर उससे मिलने गया। कुतुबुद्दीन ने उससे अपमानजनक व्यवहार किया जिससे क्रोधित होकर शेर अफगन ने उस पर कटार से घातक प्रहार किया। उसने उसके मुख्य अंगरक्षक अम्बखाँ को भी मार डाला। परन्तु कुतुबुद्दीन के सैनिकों ने उसके और उसके साथियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। मेहरुन्निसा और उसकी पुत्री लाड़ली बेगम को कैद कर लिया गया।

जहाँगीर के आदेश से मेहरुन्निसा को दरबार में लाया गया और उसे अकबर की विधवा सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त कर दिया गया। 1611 ई. में नौरोज के त्यौहार पर जहाँगीर ने उसे देखा और उस पर आसक्त हो गया। मई 1611 ई. में जहाँगीर ने उससे विवाह कर लिया। बाद में जहाँगीर ने उसे क्रमशः 'नूरमहल' और 'नूरजहाँ' की उपाधियाँ प्रदान कीं। 1613 ई. में नूरजहाँ को 'पट्टमहिषी' या 'बादशाह बेगम' बनाया गया। विवाह के बाद नूरजहाँ ने 'नूरजहाँ गुट' का निर्माण किया।

2. जहाँगीर और नूरजहाँ के सम्बन्धों पर विचार

नूरजहाँ और जहाँगीर के विवाह को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकार यह कहते हैं कि जहाँगीर ने पहली बार मेहरुन्निसा को 1611 ई. में देखा था, उसका उससे बचपन का प्रेम न था और शेर अफगन के कत्ल में जहाँगीर का कोई हाथ न था। कुछ अन्य इतिहासकार यह कहते हैं कि जहाँगीर जब युवराज था तभी मेहरुन्निसा से उसे प्यार था, अपने पिता के समय में वह अपनी इच्छा की पूर्ति न कर सका और मेहरुन्निसा के विधवा होने पर उससे विवाह कर लिया। वही इतिहासकार यह भी कहते हैं कि क्योंकि जहाँगीर मेहरुन्निसा को कभी भूल न सका था, इस कारण उसने शेर अफगन को कत्ल कराकर अपनी इच्छा की पूर्ति की हो, यह सम्भव है।

डॉ. बेनीप्रसाद उन इतिहासकारों में प्रमुख हैं, जो जहाँगीर से नूरजहाँ के पहले सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते और अपने विचार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं :

(i) तत्कालीन ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई विवरण नहीं मिलता।

(ii) शाहजहाँ के समय के ग्रन्थों में ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता।

(iii) तत्कालीन यूरोपीय लेखकों ने ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं किया है यद्यपि शाही परिवार के बारे में उन्होंने अनेक विभिन्न किंवदन्तियों का वर्णन किया है।

(iv) उस समय बहु-विवाह की प्रथा थी। ऐसी स्थिति में अकबर सलीम को मेहरुन्निसा से विवाह करने से क्यों रोकता ?

(v) यदि सलीम का मेहरुन्निसा से प्रेम होता तो अकबर शेर अफगन को सलीम की सेवा में नियुक्त न करता और सलीम बादशाह बनने के पश्चात् शेर अफगन की पद-वृद्धि न करता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(vi) राजा मानसिंह सलीम के स्थान पर खुसरो को गद्दी पर बैठाना चाहता था। इस कारण उसे बंगाल जैसे धनवान और दूरस्थ प्रान्त की सूबेदारी से हटाकर जहाँगीर ने अपने विश्वासपात्र सरदार कुतुबुद्दीन को बंगाल का सूबेदार बनाया था। उसका इस स्थान-परिवर्तन में कोई अन्य आशय न था।

(vii) नूरजहाँ जैसे श्रेष्ठ चरित्र की स्त्री अपने पति के हत्यारे को क्षमा नहीं कर सकती थी जबकि यह स्पष्ट है कि नूरजहाँ जहाँगीर से प्रेम करती थी।

(viii) मेहरुन्निसा को राजदरबार में इसलिए लाया गया था क्योंकि उसके भाई और पति वहीं थे।

इस प्रकार डॉ. बेनीप्रसाद जहाँगीर और नूरजहाँ में पहले से प्रेम की घटना का खण्डन करते हैं और जहाँगीर को शेर अफगन के कत्ल के उत्तरदायित्व से भी मुक्त करते हैं। वह लिखते हैं : "तत्कालीन प्रमाणों का गम्भीर अध्ययन और स्वीकृत तथ्य स्वयं इस प्रेम-कथा को निराधार सिद्ध कर देते हैं तथा जहाँगीर और नूरजहाँ का चरित्र अधिक सत्य व अच्छे स्वरूप में प्रकट हो जाता है।" इसी प्रकार, डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी जहाँगीर तथा नूरजहाँ के पहले के प्रेम-सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते। वह लिखते हैं : "जहाँगीर ने असन्तुष्ट होकर शेर अफगन को बर्दवान की दूरस्थ जागीर दी थी। शेर अफगन इस नियुक्ति से असन्तुष्ट था और राजा मानसिंह की भाँति उसने भी वहाँ के अफगान विद्रोहियों को दबाने में कोई तत्परता नहीं दिखायी थी। कुतुबुद्दीन ने शेर अफगन को प्रान्तीय राजधानी राजमहल बुलाया था जिसकी उसने परवाह नहीं की। इस कारण कुतुबुद्दीन स्वयं बर्दवान गया और उसे अपने पास बुलाया जहाँ उसका कत्ल हो गया। जिस समय शेर अफगन का कत्ल हुआ उस अवसर पर एत्मातुद्दौला (नूरजहाँ का पिता), उसका पुत्र और जहाँगीर काबुल में थे, तथा जहाँगीर ने एत्मातुद्दौला से असन्तुष्ट होकर उसे उसके पद से हटा दिया था। इसी कारण मेहरुन्निसा को दरबार में रोका गया था और उसे सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त किया गया था। डॉ. एस. आर. शर्मा भी इसी पक्ष का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने लिखा है : "डॉ. बेनीप्रसाद ने बड़ी योग्यता के साथ छानबीन करके जहाँगीर को इस अपराध से मुक्त कर दिया है और यह छानबीन ग्राह्य प्रतीत होती है।" जबकि इस विचार के विपक्षी इतिहासकार डॉ. ईश्वरीप्रसाद के मत के बारे में वह लिखते हैं : "इस विषय में डॉ. ईश्वरीप्रसाद की आलोचना दुर्बल है। वह अधिक सन्तोषप्रद नहीं है।"

परन्तु इस मत के विपक्ष में डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं :

(i) जहाँगीर के पक्ष में दिये गये डॉ. बेनीप्रसाद के तर्क नकारात्मक हैं।

(ii) तत्कालीन इतिहासकार बादशाह के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करने के लिए स्वतन्त्र न थे। आधुनिक इतिहासकार उसकी तुलना में अधिक स्पष्ट लिखने की स्थिति में हैं।

(iii) केवल सन्देह मात्र के आधार पर शेर अफगन को दण्डित करने के आदेश कुतुबुद्दीन को दिये गये थे। कुतुबुद्दीन को बादशाह के असन्तोष के कारण भी नहीं बताये गये थे।

(iv) जहाँगीर ने जिसने अपने जीवन की न्यूनतम घटनाओं का वर्णन किया था, नूरजहाँ के बारे में तीन वर्ष बाद लिखा। उसने अपने इस विवाह की परिस्थितियों का भी वर्णन नहीं किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(v) जहाँगीर द्वारा शेर अफगन के कत्ल की घटना के विवरण में शेर अफगन का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

(vi) मेहरुन्निसा को उसके पिता और भाई के पास न भेजकर दरबार में रखना और सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त करना सन्देहजनक है।

(vii) जहाँगीर ने मेहरुन्निसा से चार वर्ष के बाद इस कारण विवाह किया जिससे एक तो मेहरुन्निसा को अपनी भावनाओं को शान्त करने का अवसर मिल जाय और दूसरे अन्य व्यक्तियों को सन्देह का कोई कारण न रहे।

इस प्रकार के तर्क देते हुए डॉ. ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं : "तत्कालीन तथ्यों का ऊँचे प्रकार अध्ययन करने से मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि शेर अफगन की मृत्यु की परिस्थितियाँ बहुत ही सन्देहजनक हैं यद्यपि इस बात को सिद्ध करने का कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि बादशाह इस अपराध के लिए दोषी था।" एक तत्कालीन डच लेखक डी लायट ने जहाँगीर के शाहजादा-काल में मेहरुन्निसा के प्रति उसके प्रेम का वर्णन किया है। उसे उसने लिखा था : "क्योंकि उसकी मँगनी शेर अफगन से हो गयी थी, इस कारण उसके पिता ने उसे उससे विवाह करने की आज्ञा नहीं दी। परन्तु वह उसके प्रति अपने प्रेम को कभी भूल न सका।"

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का झुकाव भी जहाँगीर और नूरजहाँ के पहले प्रेम-सम्बन्धों की ओर है। वह लिखते हैं कि : "इस कथानक में दो विचारणीय विषय हैं—एक जहाँगीर का अपने शाहजादा-काल में मेहरुन्निसा से विवाह की इच्छा और दूसरा शेर अफगन की मृत्यु में उसका उत्तरदायित्व। पहले के विषय में डॉ. बेनीप्रसाद की धारणा का कोई स्पष्ट आधार नहीं है। अकबर ने जैनखाँ कोका की पुत्री से सलीम के विवाह के लिए पहले एक बार इंकार कर दिया था। शेर अफगन से मेहरुन्निसा की मँगनी हो जाना तो उसके मना करने का कारण हो ही सकता था।" वह लिखते हैं : "डी लायट के कथन में पक्षपात की कोई गुंजाइश नहीं है और उसका विवरण उत्तरकालीन मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों की पुष्टि करता है। जहाँगीर के चरित्र को देखते हुए यह कोई असम्भव बात भी नहीं लगती।" दूसरे के विषय में वह लिखते हैं : "यद्यपि शेर अफगन की मृत्यु के लिए जहाँगीर को दोषी ठहराने के लिए कोई स्पष्ट एवं अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते और राजा मानसिंह को बंगाल की सूबेदारी से हटाने का कारण यह नहीं माना जा सकता परन्तु यह भी स्पष्ट है कि शेर अफगन पर कोई निश्चित आरोप न था और यदि था भी तो वह उससे अनभिज्ञ था और अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए उसे कोई अवसर नहीं दिया गया था। उसका आकस्मिक अन्त, उसका अन्त करने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधन, जहाँगीर की मृत शेर अफगन के प्रति प्रकट की गयी घृणा और उसका नूरजहाँ के विषय में उल्लेख न करना आदि सभी सन्देहजनक हैं।" वह लिखते हैं : "मेहरुन्निसा को सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त करने का कारण मेहरुन्निसा को इस विवाह के लिए तैयार करना था और चार वर्ष बाद विवाह करना तथा उसका उल्लेख तीन वर्ष बाद करना सन्देह-निवारण के लिए थे।"

3. नूरजहाँ का चरित्र

जिस समय जहाँगीर से नूरजहाँ का विवाह हुआ था, उस समय जहाँगीर की आयु लगभग 42 और नूरजहाँ की आयु 34 वर्ष थी। नूरजहाँ इस आयु में भी बहुत सुन्दर दिखती थी। वह शिक्षित और तीक्ष्ण बुद्धि की थी। कविता, संगीत और चित्रकला का उसे शौक था। फारसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसने कविताएँ लिखी थीं। उसने एक पुस्तकालय बनवाया था जिसमें अनेक अमूल्य पुस्तकों का संग्रह किया गया था। वस्त्र, शृंगार और आभूषणों का उसे शौक था और उनमें उसने नये-नये ढंग और तरीके निकाले थे। जहाँगीर से अपने विवाह के अवसर पर उसने एक अत्यन्त सुन्दर पोशाक का निर्माण कराया था जिसे 'नूरमहली' के नाम से पुकारा गया और जो वर्षों तक हरम की स्त्रियों में लोकप्रिय रही। शासन में उसे रुचि थी और उसमें समस्याओं का हल निकालने की कुशलता थी। वह धैर्यवान और साहसी थी। वह धार्मिक, सदाचारी और चरित्रवान थी। जहाँगीर के प्रति उसे प्रेम था। उसी कारण जहाँगीर ने अपनी शराब पीने की मात्रा कम कर दी थी। उसका एक विशेष गुण करुणा और उदारता था। वह विद्वानों और निर्धनों की सहायता करती थी तथा उसने सैकड़ों निर्धन लड़कियों के विवाह कराये थे। परन्तु नूरजहाँ के चरित्र की एक विशेषता उसकी महत्वाकांक्षा थी। उसने शासन में हस्तक्षेप किया, अपने प्रभाव को बढ़ाया और सत्ता को अपने हाथ में रखने का प्रयत्न किया। कहा गया है कि सम्पूर्ण मुगल-इतिहास में मुगल बेगमों का शासन में प्रभाव रहा। यह बात नूरजहाँ से अधिक किसी अन्य पर इतनी अधिक सत्यता से लागू नहीं होती।

4. नूरजहाँ का राजनीति और इतिहास पर प्रभाव

विवाह के समय से ही नूरजहाँ का प्रभाव बढ़ने लगा। वह जहाँगीर की प्रमुख बेगम बन गयी और उसके पिता, भाई और अन्य सम्बन्धियों के पदों में वृद्धि हुई। यह कहना तो अनुचित होगा कि उसके पिता एत्मातुद्दौला और भाई आसफखाँ को राज्य में श्रेष्ठ पद प्रदान किये जाने का कारण वही थी, क्योंकि वे स्वयं भी योग्य और वफादार सिद्ध हुए थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नूरजहाँ उनकी उन्नति के लिए उत्तरदायी थी। शासन में उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। किसी भी स्त्री को भूमि उस समय तक दान नहीं की जाती थी जब तक नूरजहाँ की स्वीकृति न ले ली गयी हो। उसने जहाँगीर के साथ 'झरोखा-दर्शन' में भाग लेना आरम्भ कर दिया, बहुत से सिक्कों पर उसका नाम आने लगा और बादशाह के आदेश-पत्रों पर बादशाह के हस्ताक्षरों के अतिरिक्त बेगम नूरजहाँ का नाम लिखा जाने लगा। एक प्रकार से शासन-सत्ता बेगम नूरजहाँ के हाथों में चली गयी। राज्य सम्बन्धी कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय बिना नूरजहाँ की स्वीकृति के सम्भव न रह गया। जहाँगीर प्रायः कहा करता था कि बादशाहत उसने बेगम नूरजहाँ को दे दी है।

नूरजहाँ के प्रभुत्व-काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, 1611 ई. से 1622 ई. तक का समय जबकि उसके माता-पिता जीवित थे और उसकी महत्वाकांक्षा को सीमित रखने में सफल हुए। यह समय ऐसा था जबकि नूरजहाँ और शाहजहाँ एक-दूसरे के साथ थे। दूसरा समय 1622 से 1627 ई. तक था। 1621 ई. में नूरजहाँ की माँ अस्मत बेगम की मृत्यु हो गयी और 1622 ई. में उसके पिता एत्मातुद्दौला की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमित करने वाले उसके माता-पिता इस समय में न रहे जबकि जहाँगीर ने अपना स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण नूरजहाँ को शासन में अधिक स्वतन्त्रता दे दी। यह समय ऐसा रहा जबकि नूरजहाँ और शाहजहाँ एक-दूसरे के विरोध में हो गये।

अपने विवाह के बाद कुछ वर्षों में ही नूरजहाँ ने अपना एक दल बना लिया था जिसे 'नूरजहाँ गुट' के नाम से पुकारा गया। इस गुट में नूरजहाँ, उसका पिता एत्मातुद्दौला, उसकी माँ अस्मत बेगम, उसका भाई आसफखाँ और शाहजादा खुर्रम थे। इनमें से प्रत्येक योग्य था और प्रत्येक राज्य में प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये हुए था। शाहजादा खुर्रम जिसे बाद में 'शाहजहाँ' की पदवी से विभूषित किया गया, राज्य का उत्तराधिकारी समझा जाता था और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आसफखाँ की लड़की अर्जुमन्दबानू बेगम से उसका विवाह हुआ था (1612 ई.)। एत्मातुद्दौला ने 1619 ई. तक ही 7,000 जात और 7,000 सवार का पद प्राप्त कर लिया था, आसफखाँ ने 1622 ई. तक 6,000 सवार और 6,000 जात का पद प्राप्त कर लिया था और शाहजादा खुर्रम को बादशाह के दाहिनी ओर बैठने का स्थान, शाहजहाँ की उपाधि तथा 30,000 जात और 20,000 सवार का पद दिया गया था। यह समय इस गुट और नूरजहाँ की प्रभुसत्ता का था। इस दल के विरोधी वे पुराने सरदार थे जो शासन में नूरजहाँ बेगम के बढ़ते हुए प्रभाव को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु वे दुर्बल स्थिति में थे और जहाँगीर उनकी सलाह सुनने के लिए तैयार न था। इस प्रकार, 1622 ई. तक नूरजहाँ ने इस दल की सहायता से अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव को स्थापित रखा।

प्रो. एम. नूरुल हसन ने इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जहाँगीर के शासन के प्रारम्भिक काल से ही दरबार में अमीरों के विभिन्न गुट थे जो आपस में शक्ति प्राप्त करने के लिए एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। इस प्रकार ये गुट जहाँगीर और नूरजहाँ के विवाह से पहले ही थे। नूरजहाँ ने इस गुटबन्दी में प्रारम्भिक वर्षों में कोई भाग नहीं लिया। उनके अनुसार 1611 ई. से 1620 ई. के मध्य नूरजहाँ-गुट जैसा कोई गुट नहीं था। वस्तुतः नूरजहाँ का राजनीति में हस्तक्षेप जहाँगीर के गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण उसके पिता, एत्मातुद्दौला की मृत्यु के पश्चात् आरम्भ हुआ।

1621 ई. में नूरजहाँ ने शेर अफगन से पैदा हुई अपनी पुत्री लाड़ली बेगम की शादी शाहजादा शहरयार से कर दी और उसे 8,000 जात तथा 4,000 सवार का पद दिया गया। उस समय से उसकी इच्छा में परिवर्तन हो गया। उसने शाहजहाँ की शक्ति को समाप्त करने का निश्चय किया। जहाँगीर का स्वास्थ्य खराब होता जा रहा था और बहुत लम्बे समय तक उसके जीवन की आशा नहीं की जा सकती थी। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ के बादशाह बन जाने से नूरजहाँ शासन-सत्ता का उपभोग नहीं कर सकती थी क्योंकि शाहजहाँ जैसा योग्य और अहंवादी व्यक्ति सत्ता में साझेदारी करने को तैयार नहीं हो सकता था। इसके विपरीत, शाहजादा शहरयार अल्पायु और दुर्बल चरित्र का था। यदि शहरयार बादशाह बन सकता तो सत्ता नूरजहाँ के हाथों में रह सकती थी। डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है : "अल्पायु (16 वर्ष), आज्ञाकारी स्वभाव, दुर्बल मस्तिष्क और दुर्बल चरित्र का शहरयार एक सत्ताप्रिय महिला के लिए उपयुक्त साधन था।" इस कारण नूरजहाँ ने जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शहरयार को गद्दी पर बैठाने की योजना बनायी। इस समय तक उसके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी जो उसे समझा सकते थे। ऐसी स्थिति में जब नूरजहाँ ने शाहजहाँ की स्थिति को नष्ट करने का प्रयत्न किया तो शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का इस विचार से मतभेद है। वे लिखते हैं : "शाहजहाँ का स्वयं का व्यवहार, बादशाह की आज्ञा का पालन करने में टालमटोल करना और सत्ता को प्राप्त करने की लालसा उसके विद्रोह का कारण थे।" परन्तु तब भी अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि शाहजहाँ के विद्रोह का प्रमुख कारण नूरजहाँ की सत्ता-प्रियता था। शाहजहाँ का विद्रोह तीन वर्ष तक रहा। उसने जहाँगीर के अन्तिम दिनों को कष्टप्रद बनाया और साम्राज्य की शक्ति को दुर्बल किया।

1626 ई. में महाबतखाँ ने विद्रोह किया और उसने बादशाह जहाँगीर को व्यक्तिगत रूप से बन्दी बनाकर नूरजहाँ के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया। महाबतखाँ सिंहासन के प्रति वफादार था और एक योग्य सेनापति था। परन्तु वह उन व्यक्तियों में से था जो जहाँगीर पर नूरजहाँ के बढ़ते हुए प्रभाव से अप्रसन्न थे। नूरजहाँ इस बात को जानती थी। इस कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस महाबतखाँ ने अपनी योग्यता से नूरजहाँ से पहले के समय में निरन्तर पदोन्नति पायी थी, नूरजहाँ के समय में कोई पद-वृद्धि न पा सका बल्कि उसे अफगानिस्तान की सीमाओं पर नियुक्त कर दिया गया था। परन्तु महाबतखाँ अपने समय का योग्यतम सेनापति था। शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने के लिए शाहजादा परवेज के साथ उसे नियत किया गया। महाबतखाँ के द्वारा ही शाहजहाँ का विद्रोह दबाया जा सका। इससे उसके सम्मान में वृद्धि हुई और वह शाहजादा परवेज का समर्थक भी बन गया। नूरजहाँ इन दोनों बातों को बर्दाश्त न कर सकी। उसने महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने और उसे अपमानित करने का निश्चय किया जिसके कारण महाबतखाँ को जहाँगीर को बन्दी बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने काबुल जा रहे सम्राट जहाँगीर को झेलम नदी के तट पर 1626 ई. में कैद कर लिया। यह विद्रोह नूरजहाँ की योग्यता के कारण असफल हो गया। प्रायः एक माह के पश्चात् ही गहाबतखाँ को भागना पड़ा। अन्त में उसने शाहजहाँ की सेवा स्वीकार कर ली। परन्तु इससे बादशाह जहाँगीर को दुःख और अपमान सहना पड़ा तथा उसने राज्य के एक वफादार एवं योग्य सेनापति को खो दिया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का कहना है कि इस सम्पूर्ण घटना में मुख्य हाथ आसफखाँ का था जो महाबतखाँ और परवेज़ की शक्ति को समाप्त करना चाहता था जिससे उसके दामाद (शाहजहाँ) के गद्दी पर बैठने में कोई बाधा न आये। नूरजहाँ अपने भाई की इस कूटनीति को न समझ सकी और महाबतखाँ को खो बैठी। महाबत खाँ अपनी सुरक्षा के लिए 'थट्टा' की ओर भाग गया। 28 अक्टूबर, 1626 ई. को परवेज की मृत्यु के बाद एक तरह से महाबत खाँ कमजोर हो गया और वह शाहजहाँ की सेवा में चला गया। यह माना जा सकता है कि महाबतखाँ के पतन में आसफखाँ का हाथ रहा हो परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि स्वयं नूरजहाँ भी महाबतखाँ की शक्ति को समाप्त करना चाहती थी।

इस प्रकार, राजनीति में नूरजहाँ के हस्तक्षेप ने जहाँगीर के अन्तिम दिनों में दो विद्रोहों को जन्म दिया जिन्होंने साम्राज्य की शक्ति और सम्मान को कम किया। यदि नूरजहाँ शासन-शक्ति को अपने हाथों में रखने के उद्देश्य से शहरयार को राजसिंहासन दिलाने के लिए लालायित न होती तो, सम्भवतया, शाहजहाँ विद्रोह के लिए सन्नद्ध न होता और महाबतखाँ के विद्रोह का प्रश्न ही न उठता। इस प्रकार, नूरजहाँ का राजनीति में हस्तक्षेप हानिकारक हुआ। डॉ. एस. आर. शर्मा, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. सक्सेना का यही मत है कि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए नूरजहाँ को इस दोष से पूर्णतया मुक्त करते हैं।

[6]

शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह

1. शाहजहाँ का विद्रोह (1623-26 ई.)

जब से नूरजहाँ ने अपनी पुत्री (शेर अफगन से उत्पन्न) लाड़ली बेगम की शादी शहरयार से की तब से शाहजहाँ के प्रति उसके व्यवहार में अन्तर आ गया। उसने जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ के स्थान पर शहरयार को गद्दी पर बैठाने की लालसा की। इस कारण उसने शाहजहाँ की प्रतिष्ठा और शक्ति को कम करने की योजना बनायी। 1621 ई. में उसकी माँ अस्मत बेगम जिसने गुलाब से इत्र निकालने की विधि को खोजा था, की मृत्यु हो गयी और 1622 ई. के आरम्भ में उसके पिता एत्मातुद्दौला की मृत्यु हो गयी। एत्मातुद्दौला की मृत्यु के पश्चात् उसके शासन सम्बन्धी अधिकार नूरजहाँ को दे दिये गये। इससे नूरजहाँ की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई परन्तु उसको समझाने वाला कोई न रहा। शाहजहाँ स्वयं भी नूरजहाँ बेगम की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो गया। जहाँगीर का स्वास्थ्य खराब चल रहा था। ऐसी स्थिति में इन दोनों महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में टकराव के कारण उपस्थित हो गये।

1621 ई. के अन्तिम दिनों में पर्शिया ने कन्धार पर आक्रमण किया और 1622 ई. के आरम्भ में किले का घेरा डाल दिया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को कन्धार की रक्षा के लिए कूच के आदेश दिये। शाहजहाँ ने, जो नूरजहाँ की ओर से शंकित था, इस बात की माँग की कि सम्पूर्ण पंजाब और रोहतासगढ़ का दुर्ग उसे दे दिये जायें, तभी वर्षा के पश्चात् वह कन्धार जायेगा। नूरजहाँ ने शाहजहाँ की टालमटोल का लाभ उठाया और जहाँगीर को उसके विरुद्ध भड़काया। परन्तु डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का यह मत भी ठीक है कि "यदि शाहजहाँ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता तो वास्तव में उसे सम्पूर्ण गुजरात, राजस्थान का अधिकांश भाग, मालवा, दक्षिण-भारत और पंजाब की सत्ता प्राप्त हो जाती। हो सकता था कि वह बाद में काबुल पर आधिपत्य भी माँगता। ऐसी स्थिति में मुगल बादशाह के पास दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, बंगाल और बिहार के अतिरिक्त कुछ न रहता। शाहजहाँ की इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया और उसे अपनी सेना के साथ कन्धार जाने के आदेश दिये गये।" इसी समय शाहजहाँ ने अपने सैनिकों को धौलपुर की जागीर पर अधिकार करने के लिए भेजा। शाहजहाँ ने इस जागीर को जहाँगीर से माँगा था और उसे आशा थी कि वह उसे प्राप्त हो जायेगी। परन्तु नूरजहाँ ने उससे पहले ही उस जागीर को शहरयार के नाम करा दिया। इस कारण, जब शाहजहाँ के सैनिक धौलपुर पहुँचे तो शहरयार के फौजदार से उनका झगड़ा हो गया। इससे भी जहाँगीर असन्तुष्ट हुआ और उसने शाहजहाँ को अपनी सम्पूर्ण सेना सहित दरबार में उपस्थित होने के आदेश दिये। शाहजहाँ ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। बल्कि जैसा कि डॉ. त्रिपाठी लिखते हैं : "उसने अपने राजदूत जहीदबेग को पर्शिया के शाह के पास नजराने लेकर भेजा और दक्षिण तथा गोंडवाना के राज्यों से रसद एकत्रित करनी आरम्भ कर दी।" जहाँगीर ने शहरयार को 12,000 जात और 8,000 सवार का पद दिया और उसे कन्धार की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार शाहजहाँ के क्षमा माँगने के बाद भी पंजाब की जागीर, जिसमें हिसार भी था, शहरयार को सौंप दी गयी, जबकि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार शाहजहाँ के पत्रों की भाषा उद्दण्डता और नूरजहाँ के प्रति घृणा से पूर्ण थी। जिस प्रकार भी हो, यह निश्चित है कि शाहजहाँ ने बादशाह की आज्ञा का पालन नहीं किया और विद्रोह के लिए तत्पर हो गया। शाहजहाँ के व्यवहार से शंकित होकर नूरजहाँ ने महाबतखाँ को काबुल से बुला लिया और उसे 6,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया। आसफखाँ को आगरा से शाही खजाने को लाने के लिए भेजा गया।

कन्धार के लिए समय से सहायता न पहुँच सकी और 1622 ई. में पर्शिया ने कन्धार पर अधिकार कर लिया। उसी समय शाहजहाँ ने खुला विद्रोह कर दिया। जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को बिहार से बुलाया, सभी स्वामिभक्त सरदारों को एकत्रित होने के आदेश दिये और महाबतखाँ और शाहजादा परवेज को विद्रोह को दबाने के हेतु नियुक्त किया। स्वयं जहाँगीर और नूरजहाँ भी 1623 ई. में अजमेर पहुँच गये।

शाहजहाँ ने माँडू से आगे बढ़कर अचानक आगरा पर आक्रमण किया। परन्तु बिल्लोचपुरा के निकट उसकी पराजय हुई और उसे माँडू वापस लौटना पड़ा। शाहजादा परवेज और महाबतखाँ ने उसका पीछा किया। शाहजहाँ असीरगढ़ चला गया और सम्पूर्ण गुजरात उसके हाथों से निकल गया। शाहजहाँ असीरगढ़ से बुरहानपुर गया और उसने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहमदनगर के मलिक अम्बर तथा बीजापुर के सुल्तान से सहायता की याचना की। परन्तु उसे सहायता न मिली। महाबतखाँ ने बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। शाहजहाँ की स्थिति बहुत खराब थी और उसके साथी उसका साथ छोड़ रहे थे। शाहजहाँ बीजापुर, तेलंगाना आदि स्थानों पर होता हुआ उड़ीसा पहुँचा। उड़ीसा पर उसका सरलता से अधिकार हो गया और बंगाल को उसने युद्ध करके जीत लिया। उसके पश्चात् शाहजहाँ ने बिहार की ओर कदम बढ़ाये। सम्पूर्ण बिहार, रोहतासगढ़ का दुर्ग, जौनपुर, पटना आदि उसके अधिकार में चले गये। शाहजहाँ जब इलाहाबाद का घेरा डाले हुए था, उसी समय बुरहानपुर को सुरक्षित करके महाबतखाँ इलाहाबाद के निकट पहुँचा और शाहजहाँ को युद्ध के लिए बाध्य किया। शाहजहाँ की पराजय हुई और उसे भागना पड़ा। एक बार फिर शाहजहाँ बिहार, बंगाल, तेलंगाना और बीजापुर होता हुआ अहमदनगर पहुँचा। परन्तु महाबतखाँ उसका पीछा कर रहा था। उस अवसर पर बीजापुर और अहमदनगर में युद्ध चल रहा था तथा मुगल बीजापुर की सहायता कर रहे थे। इस कारण मलिक अम्बर ने शाहजहाँ को सहायता दी। शाहजहाँ ने बुरहानपुर का घेरा डाला परन्तु महाबतखाँ के पहुँच जाने के कारण उसे घेरा उठाना पड़ा और उसने बालाघाट में रोहनगढ़ के किले में जाकर शरण ली। उसी समय शाहजहाँ बीमार पड़ गया। उसका मुख्य सहायक अब्दुल्लाखाँ उसे छोड़कर संन्यासी हो गया। ऐसी परिस्थिति में शाहजहाँ ने बादशाह से क्षमा माँगी। उसे रोहतासगढ़ और असीरगढ़ के किले बादशाह को देने पड़े तथा अपने पुत्र दाराशिकोह और औरंगजेब को दरबार में भेजना पड़ा। इन शर्तों पर जहाँगीर ने उसे क्षमा कर दिया और बालाघाट की सूबेदारी उसे दे दी।

इस प्रकार, तीन वर्ष के संघर्ष के पश्चात् शाहजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ। शाहजहाँ की असफलता का कारण उसकी गलत अपेक्षाएँ थीं। उसने सोचा था कि जहाँगीर अपनी बीमारी के कारण स्वयं नेतृत्व न कर सकेगा, उसका श्वसुर आसफखाँ जो राज्य का दीवान था उसकी सहायता करेगा, बेगम नूरजहाँ से असन्तुष्ट सरदार उसका साथ देंगे, उसके सेनापतित्व की ख्याति के कारण अन्य विभिन्न सरदार भी उसके साथ हो जायेंगे, स्वयं उसकी सेना बहुत बड़ी थी जबकि बादशाह से इतनी बड़ी सेना को एकत्रित करने की आशा न थी, पर्शिया के कन्धार को जीतने में साम्राज्य की उत्तर-पश्चिम सीमाएँ अरक्षित हो गयी थीं जिससे बादशाह को वहाँ से सेनाएँ हटाने का अवसर न मिल सकेगा और इन परिस्थितियों में उसे शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जायेगी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। जहाँगीर ने बीमारी के बावजूद भी उत्साह दिखाया, महाबतखाँ जैसा योग्य सेनापति और अन्य विभिन्न सरदार तुरन्त बादशाह की सेवा में पहुँच गये, आसफखाँ ने उस समय शाहजहाँ को सहायता देना ठीक न समझा, दक्षिण-भारत से शाहजहाँ को कोई विशेष सहायता न मिली और पर्शिया ने कन्धार को जीतकर आगे कोई कदम नहीं उठाया। इस कारण, शाहजहाँ को असफलता मिली और उसे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करना पड़ा।

2. महाबतखाँ का विद्रोह (मार्च 1626 ई.)

महाबतखाँ राजभक्त था यद्यपि वह उन सरदारों में से था जो शासन में नूरजहाँ के बढ़ते हुए हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह प्रसन्नता से जहाँगीर के साथ हो गया। शाहजहाँ के विद्रोह को समाप्त करने का मुख्य श्रेय महाबतखाँ को था। इससे महाबतखाँ के सम्मान और शक्ति में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त उस समय में उसने शाहजादा परवेज के साथ रहकर कार्य किया। इस कारण वह परवेज के बहुत निकट हो गया। नूरजहाँ को यह पसन्द न था। वह जानती थी कि महाबतखाँ राजभक्त है परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी सत्ता को पसन्द नहीं करता। वह यह भी नहीं चाहती थी कि महबतखाँ जैसा योग्य सरदार परवेज का सहायक बन जाय। ऐसी स्थिति में परवेज उसके दामाद शहरयार का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बन सकता था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "नूरजहाँ ने महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने का निश्चय किया।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "महाबतखाँ का मुख्य शत्रु नूरजहाँ का भाई आसफखाँ था जो अपने दामाद (शाहजहाँ) के पक्ष को दृढ़ करने के लिए महाबतखाँ का विनाश चाहता था। नूरजहाँ अपने भाई की कूटनीति को न समझ सकी और इस कार्य में वह आसफखाँ की सहायक बन गयी।" जैसा भी हो परन्तु यह स्पष्ट है कि महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने के प्रयत्न शाही दरबार द्वारा किये गये।

महाबतखाँ को बंगाल जाने के आदेश दिये गये, शाहजादा परवेज को बुरहानपुर भेजा गया तथा खानजहाँ को परवेज के साथ भेजा गया। यह सभी कुछ परवेज और महाबतखाँ को एक-दूसरे से पृथक करने के उद्देश्य से किया गया। महाबतखाँ और परवेज दोनों ने इसे स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् महाबतखाँ को आदेश दिया गया कि वह बंगाल और बिहार के युद्ध के अवसर पर पकड़े हुए हाथियों को दरबार में भेजे और युद्ध के अवसर पर प्राप्त किये गये धन का हिसाब दे। महाबतखाँ ने हाथी तो भेज दिये परन्तु उसने यह समझ लिया कि यह उसके विनाश का प्रयत्न है। इस कारण वह स्वयं बादशाह से मिलने चल दिया। उस समय जहाँगीर काबुल जा रहा था और पंजाब में बेहत नदी के तट पर था। उसी समय जहाँगीर ने महाबतखाँ के दामाद बरखुरदार को अपमानित किया और उसकी सम्पत्ति छीन ली। उसका कारण यह बताया गया कि महाबतखाँ ने बिना शाही आज्ञा के अपनी पुत्री की शादी उससे की थी।

जिस समय महाबतखाँ अपने राजपूत सैनिकों को लेकर शाही शिविर के निकट पहुँचा, उस समय बादशाह की अधिकांश सेना, आसफखाँ और नूरजहाँ स्वयं नदी पार कर चुके थे परन्तु जहाँगीर शिविर में था। महाबतखाँ ने बादशाह के सामने पहुँचकर उससे न्याय की माँग की और अपने साथ चलने के लिए कहा। जहाँगीर को उसकी बात माननी पड़ी और इस प्रकार वह एक प्रकार से महाबतखाँ का बन्दी हो गया, यद्यपि महाबतखाँ का कहना था कि बादशाह को उसके सम्बन्धियों के कुप्रभाव से बचाने के लिए उसने यह कार्य किया था। जब नूरजहाँ को इस बात की सूचना मिली कि महाबतखाँ ने जहाँगीर को कैद कर लिया है तो उसने आसफखाँ को इसके लिए दोषी ठहराया। सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि नदी पार करके महाबतखाँ पर आक्रमण किया जाय। जहाँगीर ने नूरजहाँ को समाचार भेजा कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। परन्तु तब भी नूरजहाँ ने अपनी सेना को नदी पार करने के आदेश दिये और स्वयं सेना का नेतृत्व किया। नूरजहाँ की सेना का कुछ ही भाग नदी पार कर सका और उसे भी राजपूतों ने मार कर भगा दिया। बेगम की दासी को तीर लगा तथा उसके हाथी पर हमला किया गया जिसके कारण वह भाग खड़ा हुआ। आसफखाँ ने भागकर अटक के किले में शरण ली। परन्तु नूरजहाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और जहाँगीर के साथ रहने के लिए आ गयी। महाबतखाँ ने अटक को घेर कर आसफखाँ को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया। इस प्रकार बादशाह, बेगम और आसफखाँ आदि सभी महाबतखाँ के हाथ में आ गये और उसका उद्देश्य पूरा हो गया।

महाबतखाँ का उद्देश्य सिर्फ इतना ही था और यह भी वह जोश में परिस्थितियोंवश कर गया था। आगे उसकी कोई योजना न थी। पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार शाही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार काबुल की तरफ चल दिया। साम्राज्य में यथावत् शान्ति रही। परन्तु महाबतखाँ सैनिक था, कूटनीतिज्ञ नहीं, जबकि नूरजहाँ ने आरम्भ से ही अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया। इस कारण महाबतखाँ बहुत थोड़े समय इस स्थिति का उपयोग कर सका। काबुल में घोड़ों को घास चराने के स्थल पर राजपूतों और बादशाह के अहदी सैनिकों में झगड़ा हो गया और एक बड़ी संख्या में राजपूत सैनिक मारे गये। महाबतखाँ ने विद्रोह को तो दबा दिया परन्तु उसकी शक्ति दुर्बल हुई और उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी। काबुल से वापस आते हुए रोहतासगढ़ के निकट महाबतखाँ को बताया गया कि जहाँगीर स्वयं अपनी सेना का निरीक्षण करेगा और उस अवसर पर महाबतखाँ अपनी सेना को दूर रखे। उस समय तक नूरजहाँ ने बादशाह के सैनिकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि कर ली थी। सेना का निरीक्षण करने के बहाने जहाँगीर ने सेना का स्वामित्व अपने हाथों में ले लिया। महाबतखाँ जिसने बादशाह की आज्ञा का पालन करते हुए अपनी सेना को दूर रखा था, नूरजहाँ की इस चालाकी को न समझ सका। सेना का स्वामित्व ग्रहण करते ही जहाँगीर ने महाबतखाँ को शाही शिविर छोड़ देने के आदेश दिये। उस समय बादशाह की सेना का मुकाबला करना शाही विद्रोह था जिसके लिए महाबतखाँ न तो तैयार था और न ही उसके पास शक्ति रह गयी थी। महाबतखाँ थट्टा की ओर भाग खड़ा हुआ। वह अपनी जीवन-रक्षा के हेतु आसफखाँ और दानियाल के पुत्रों को अपने साथ लेता गया। जैसे ही उसने अपने जीवन को सुरक्षित समझा, उसने उन सभी को छोड़ दिया। उस समय शाहजहाँ बादशाह की कठिनाई से लाभ उठाने के लिए थट्टा की तरफ आया किन्तु उसे सफलता न मिली और बीमारी के कारण वह पुनः दक्षिण वापस चला गया। वापस जाते हुए गुजरात में ही शाहजादा परवेज की मृत्यु (28 अक्टूबर, 1626 ई.) और महाबतखाँ के पतन की सूचना उसे मिल गयी थी। जहाँगीर ने शाहजहाँ को दबाने के लिए महाबतखाँ को नियुक्त किया परन्तु महाबतखाँ बादशाह का साथ देने के स्थान पर शाहजहाँ के पास चला गया जिसने उसका स्वागत किया।

इस प्रकार महाबतखाँ का अल्पकालीन प्रभुत्व समाप्त हुआ। देखा जाय तो महाबतखाँ ने यह कार्य क्षणिक उत्साह में किया था, उसकी पहले से निश्चित की गयी कोई योजना न थी, बादशाह और बेगम को कैद करने के पश्चात् भी वह उनका सम्मान करता रहा था और वह कभी बादशाह जहाँगीर को समाप्त करने या उसे भारत से बाहर निकालकर स्वयं अथवा किसी अन्य को गद्दी पर बैठाने के लिए तैयार न था। ऐसी स्थिति में वह कूटनीति के द्वारा ही बादशाह पर प्रभाव रख सकता था और वह योग्यता उसमें न थी। उसकी तुलना में नूरजहाँ अधिक चालाक थी और उसने अपनी चालाकी से जहाँगीर को मुक्त करा लिया।

[7]
जहाँगीर की मृत्यु

1620 ई. से जहाँगीर का स्वास्थ्य निरन्तर खराब होता जा रहा था। निरन्तर कश्मीर की यात्राएँ और वहाँ की अच्छी जलवायु भी उसके स्वास्थ्य को ठीक न कर सकी थी। मार्च 1627 ई. में जहाँगीर कश्मीर गया। उसका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। कश्मीर की जलवायु से भी उसके स्वास्थ्य में सुधार न हुआ और वह लाहौर वापस चल दिया। मार्ग में 7 नवम्बर, 1627 ई. को भीमवार नामक स्थान पर जहाँगीर की मृत्यु हो गयी। लाहौर के निकट एक बाग में उसे दफना दिया गया जहाँ बाद में नूरजहाँ ने एक सुन्दर स्मारक बनवाया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[8]

जहाँगीर का चरित्र, व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

जहाँगीर के चरित्र के विषय में इतिहासकारों में विवाद है। यूरोपियन इतिहासकारों ने प्रायः उसे एक विलासी और असफल शासक कहा है, जबकि अनेक भारतीय इतिहासकारों ने उसे एक न्यायप्रिय और प्रजापालक शासक बताया है। डॉ. स्मिथ ने जहाँगीर के चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा है : "वह कोमलता और निष्ठुरता, न्याय और बुद्धि की चंचलता, सुसभ्यता और पशुता, बुद्धिमत्ता और बचपने का अजीब मिश्रण था।" सर हेनरी इलियट ने लिखा है : "उसके बनाये हुए कानून न नवीन थे और न व्यवहार में लाये गये थे।" लेनपूल ने उसके आरम्भिक दोषों को बताते हुए बाद में उसे उन दोषों से पर्याप्त मात्रा में मुक्त बताया है और एल्फिन्सटन ने भी उदारतापूर्ण बादशाह की दृष्टि से उसके द्वारा अपने प्रारम्भिक काल में बनाये गये कानूनों की प्रशंसा की है। इससे स्पष्ट होता है कि यूरोपियन इतिहासकारों ने मुख्यतया उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं की ओर दृष्टिपात किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसके व्यक्तिगत चरित्र के दोषों का प्रभाव शासन पर पड़ा था ? इस दृष्टिकोण से देखने पर ही हम जहाँगीर का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

जहाँगीर एक अच्छा पुत्र, अच्छा पिता, अच्छा सम्बन्धी और अच्छा मित्र था। वह सभी का आदर करता था और सभी से उसे प्रेम था। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था परन्तु यह विद्रोह उसकी महत्वाकांक्षा और सिंहासन को तुरन्त प्राप्त करने की लालसा की अपेक्षा अपने लिए व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र व्यवहार करने की इच्छा से था। इसके अतिरिक्त, जहाँगीर के चरित्र की यह एक दुर्बलता थी कि वह अपने निकट के आत्मीय-जनों से प्रभावित हो जाता था। इस विद्रोह के लिए भी उसके सहयोगियों का कुप्रभाव अधिक उत्तरदायी था। इसी प्रकार बाद में नूरजहाँ को शासन-सत्ता सौंप देने में भी उसके चरित्र की यह दुर्बलता ही प्रमुख थी। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि उसने अपने पिता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह नहीं किया, बाद में उससे समझौता कर लिया और पिता के द्वारा की गयी भर्त्सना को भी सहर्ष स्वीकार किया। इसी प्रकार, नूरजहाँ के प्रभाव से उसने शासन के ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं किया था और न अयोग्य अधिकारियों या अन्य स्त्रियों के प्रभाव को शासन में आने दिया था। नूरजहाँ से उसका प्रेम व्यक्तिगत था और सिर्फ नूरजहाँ ही उसके प्रेम और सत्ता की अधिकारिणी थी। बाद में अपने पिता के बारे में जहाँगीर ने सर्वदा सम्मान प्रदर्शित किया और वह उसके मकबरे तक पैदल जाया करता था। इसी प्रकार, जहाँगीर ने अपनी सभी पत्नियों के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किया। अपनी पत्नी मानबाई की मृत्यु पर उसने कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। अपने पुत्र खुसरो को विद्रोह करने के बावजूद भी उसने पहली बार माफ कर दिया और दूसरी बार षड्यन्त्र करने पर उसे अन्धा मात्र किया था। उसके पश्चात् उसने उसके नेत्रों का इलाज भी कराया। उसने बाध्य होकर ही शाहजहाँ को खुसरो को सौंपा था और उसकी मृत्यु पर उसे दुःख हुआ था। अपने अन्य पुत्रों परवेज, खुर्रम और शहरयार के प्रति उसका दृष्टिकोण उदार था और समय-समय पर उनके कार्यों के अनुसार उसने उन्हें पद और सम्मान प्रदान किये। अपने मित्रों और वफादार व्यक्तियों को भी उसने राज्य में प्रतिष्ठित पद प्रदान किये। व्यक्तिगत दृष्टि से जहाँगीर का एक दोष अत्यधिक शराब पीना था। स्त्रियों से उसके सम्बन्ध तत्कालीन शासकों की भाँति ही थे बल्कि देखा जाय तो उसमें अपनी पत्नियों के प्रति प्रेम की भावना उनसे कहीं अधिक थी। ऐसी स्थिति में जहाँगीर को विलासप्रिय कह देना उसके साथ अन्याय करना होगा। यह पृथक बात है कि वह आरामपसन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था और अन्य मुगल शासकों की भाँति युद्ध-स्थल पर जाना और सेनापतित्व करना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात थी।

जहाँगीर सुशिक्षित एवं सुसभ्य था। फारसी और तुर्की पर उसका आधिपत्य था और हिन्दी, अरबी और अन्य भाषाओं को भी वह जानता था। उसकी जीवन-गाथा 'तुजुके-जहाँगीरी' आरम्भ के 7 वर्षों में स्वयं उसके द्वारा लिखी गयी थी और उसके पश्चात् उसने अन्य व्यक्तियों से स्वयं लिखायी थी। यद्यपि उसे 'तुजुके-बाबरी' के समकक्ष स्थान तो नहीं दिया जा सकता परन्तु उससे जहाँगीर का फारसी भाषा का ज्ञान, उसकी लेखन-शैली और विभिन्न विषयों के बारे में उसके विस्तृत ज्ञान का पता अवश्य लगता है। जहाँगीर ने विभिन्न पक्षियों, पशुओं और वनस्पति का (मुख्यतया कश्मीर की) जो वर्णन किया है, वह सुन्दर और ज्ञानवर्धक है। प्राकृतिक सौन्दर्य का उसका वर्णन अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त, जहाँगीर विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण प्रदान करता था। वह प्रत्येक शुक्रवार की शाम साहित्यकारों एवं विद्वानों के साथ व्यतीत करता था। उसके समय के विद्वानों में नियामतुल्ला, नजीबखाँ, अब्दुल्ला हक देहलवी आदि प्रमुख थे। उसके समय में अनेक व्यक्तियों ने कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रगति की। जहाँगीर ने सबसे अधिक रुचि चित्रकला में ली जो उसके समय में श्रेष्ठता की स्थिति में पहुँच गयी। स्वयं जहाँगीर को उसका बहुत अच्छा ज्ञान था और उसका दावा था कि यदि उसके सामने कोई भी चित्र प्रस्तुत किया जाय तो वह बता देगा कि उसे किस कलाकार ने बनाया है और यदि एक चित्र को कई कलाकारों ने मिलकर बनाया हो तो वह बता देगा कि उस चित्र का कौन-सा अंग किस कलाकार ने बनाया है। स्थापत्य-कला का भी जहाँगीर को शौक था। आगरा के निकट सिकन्दरा में उसके पिता का मकबरा उसकी देखरेख में ही बनवाया गया जो अकबर के उदार एवं स्पष्ट चरित्र का प्रतीक है। उसके समय में बनवायी गयी लाहौर की मस्जिद की तुलना शाहजहाँ द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की जामा मस्जिद से की जा सकती है और नूरजहाँ द्वारा आगरा में बनवाया गया उसके पिता एत्मातुद्दौला का मकबरा पच्चीकारी और सफेद संगमरमर के पत्थर के प्रयोग के कारण अद्वितीय है। जहाँगीर ने अनेक स्थानों, मुख्यतया लाहौर और कश्मीर में सुन्दर बाग लगवाये। उसने अपने समय के सिक्कों को कलात्मक शक्ल प्रदान की। उसे अच्छी वेशभूषा का शौक था और उसने उसमें सुधार किये।

जहाँगीर ने शस्त्र-विद्या प्राप्त की थी और वह घुड़सवारी एवं शस्त्र चलाने में कुशल था। परन्तु जहाँगीर में एक कट्टर सैनिक की भाँति कष्ट उठाने की क्षमता न थी। उसी प्रकार वह एक अच्छा सेनापति भी न था। अपने पिता के समय में उसने किसी भी युद्ध-अभियान में रुचि नहीं ली। उसके शासनकाल की विजयों का श्रेय उसके पुत्र शाहजहाँ और अन्य योग्य सरदारों को था। **जहाँगीर ने सेना की सुव्यवस्था और रण-कुशलता को बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न किया हो, ऐसा भी कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता।**

धार्मिक नीति की दृष्टि से जहाँगीर का स्थान अपने पिता अकबर और अपने पुत्र शाहजहाँ के मध्य में आता है। जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था और, साधारणतया, अपने धर्म की मुख्य बातों का पालन करता था। परन्तु धर्म में उसे विशेष रुचि न थी। वह इस्लाम के सिद्धान्तों का भी बहुत कट्टरता से पालन नहीं करता था। वह सभी धर्मों के मानने वालों से मिलता था जिससे उसका दृष्टिकोण उदार बन गया था। ईश्वर एक है, इसमें उसका विश्वास था। इस कारण, **जहाँगीर अपने व्यक्तिगत व्यवहार और नीति की दृष्टि से धार्मिक मामलों में उदार रहा।** हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों के मानने वालों को राज्य की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर से समान सुविधाएँ प्राप्त थीं और शासन में राज्य की ओर से धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण रखा गया जो अकबर के समय में था। जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से असहिष्णु नहीं था। उसने 1612 ई. में पहली बार रक्षाबन्धन का त्यौहार मनाया और अपनी कलाई पर राखी बँधवायी। उसने श्रीकान्त नामक एक हिन्दू को हिन्दुओं का जज नियुक्त किया ताकि वे सहूलियत महसूस कर सकें और उन्हें किसी मुसलमान का मोहताज न होना पड़े। हिन्दुओं को राज्य में सम्मानित पद दिये गये थे और उन पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया गया था। जहाँगीर ईसाइयों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया था और उसने अपने पौत्रों की शिक्षा का प्रबन्ध उनकी देखरेख में किया था। परन्तु जहाँगीर के समय में कुछ घटनाएँ ऐसी अवश्य हुईं जो यह स्पष्ट करती हैं कि कभी-कभी जहाँगीर ने इस्लाम धर्म का पक्ष लिया था। रजौरी के हिन्दुओं को उसने इसलिए दण्ड दिया क्योंकि वह मुस्लिम लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे, काँगड़ा के किले को जीतकर वहाँ उसने एक गाय को कटवाकर जश्न मनाया था, अजमेर में वाराह के मन्दिर की मूर्तियों को उसने तालाब में फिंकवा दिया था और पुर्तगालियों से युद्ध के अवसर पर राज्य के सभी गिरजे बन्द कर दिये गये थे। इसी प्रकार, गुरु अर्जुन को दण्ड देने का एक कारण यह भी था कि उसे उनके विचारों से चिढ़ थी। एक बार उसने जैनियों से अप्रसन्न होकर उन्हें गुजरात से बाहर चले जाने के आदेश दिये थे। परन्तु ये सभी घटनाएँ एक विशेष अवसर अथवा स्थिति के कारण थीं। गुरु अर्जुन को दण्ड देने का कारण राजनीतिक भी था। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। इसी प्रकार जैनियों से असन्तुष्ट होने का कारण भी आंशिक रूप से राजनीतिक था। इसके अतिरिक्त, जब हम यह देखते हैं कि असन्तुष्ट होने पर उसने शेख रहीम, काजी नूरुल्ला और शेख अहमद सरहिन्दी जैसे मुस्लिम धर्म-प्रचारकों को भी दण्ड दिया था तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका हिन्दू, जैन, सिख अथवा ईसाइयों के साथ कठोरता करने का कारण राजनीतिक होने के साथ-साथ परिस्थितियों- वश था, न कि धार्मिक कट्टरता। उसने सूरदास को आश्रय दिया था और उसी के संरक्षण में 'सूरसागर' की रचना हुई। साधारणतया, जहाँगीर सभी धर्मों के प्रति उदार रहा और सभी से उसका सम्पर्क रहा। मुख्यतया हिन्दुओं से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे और वह उनके सभी त्यौहारों एवं उत्सवों में भाग लेता था। उसने एक नयी प्रथा चलायी जिसके अनुसार पुरुषों का कान छिदवाना, मूल्यवान रत्न पहनना फैशन बन गया। इस प्रकार, अपने पिता के समान होते हुए भी जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने अपने पिता के समय की अधिकांश परम्पराओं को पूर्ववत् स्थापित रखा। परन्तु उसके समय में अकबर की नीति में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हो गया।

जहाँगीर एक सफल और प्रजापालक शासक माना गया है। उसकी सफलता इसी में थी कि उसने अकबर के समय में स्थापित की गयी शासन-व्यवस्था को यथावत् रखा। अकबर द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था पूर्णतः सफल रही थी। जहाँगीर को उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त समय और परिस्थितियों को समझने की क्षमता जहाँगीर में थी। 22 वर्ष का उसका शासनकाल असफल नहीं माना जा सकता। उसके समय में बादशाह और साम्राज्य की प्रतिष्ठा बनी रही। एक शासक की दृष्टि से जहाँगीर अपनी प्रजा के हित का पूर्ण ध्यान रखता था और उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता था। उसके समय में किसान सम्पन्न थे, उन पर कर का कोई अतिरिक्त भार न था और यदि उनकी हानि होती थी तो राज्य उसकी पूर्ति कर देता था। जहाँगीर के समय में जुआ, शराब पीना आदि को बन्द करने के प्रयत्न किये गये थे। परन्तु उसका सबसे बड़ा गुण उसकी न्यायप्रियता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्य-युग में न्याय बादशाह का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व माना जाता था। जहाँगीर ने इसकी ओर पूरा ध्यान दिया था। मृत्यु-दण्ड सिर्फ बादशाह ही देता था और उस पर भी यह आदेश थे कि शाम होने से पहले उस दण्ड को कार्यरूप में परिणित न किया जाय। बादशाह जहाँगीर न्यायप्रिय था और अपने इस उत्तरदायित्व को ईश्वर के प्रति अपना कर्तव्य मानता था।

इस प्रकार, जहाँगीर को एक अच्छा शासक माना गया है। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने उसके बारे में लिखा है : "मुगल इतिहास में जहाँगीर का व्यक्तित्व एक आकर्षक व्यक्तित्व है। साधारण दृष्टि से आँका गया यह विचार कि वह विलासप्रिय और हृदयहीन अत्याचारी था, न्यायपूर्ण नहीं है। सभी विवरण इससे सहमत हैं कि वह बुद्धिमान, तीक्ष्ण बुद्धि वाला, और राज्य की जटिलतम कठिनाइयों को सरलता से समझने वाला था। ..... उसके चरित्र में बहुत कुछ निन्दा करने के योग्य है परन्तु उसमें बहुत अधिक ऐसा है जो उसे भारतीय इतिहास के रोचक व्यक्तियों में स्थान प्रदान करता है।" डॉ. बेनीप्रसाद ने जहाँगीर के प्रति और भी अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है। वह लिखते हैं : "सर्वांगिक रूप से जहाँगीर का शासनकाल साम्राज्य के लिए शान्ति और समृद्धि का रहा। उसकी संरक्षता में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई, स्थापत्य-कला ने महत्वपूर्ण सफलता पायी, चित्रकला अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गयी, साहित्य की इतनी प्रगति हुई जितनी पहले कभी नहीं थी और तुलसीदास ने 'रामायण' की रचना की जो उत्तर-भारत के लाखों व्यक्तियों के लिए होमर, शेक्सपियर और मिल्टन की रचनाओं के समान है। फारसी और प्रादेशिक भाषाओं के अनेक कवियों की रचनाओं ने मिलकर इस युग को मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का 'ऑगस्टन-युग' बना दिया। जहाँगीर के समय का राजनीतिक इतिहास रोचक है परन्तु उसका मुख्य आकर्षण उसकी सांस्कृतिक प्रगति है।"

जहाँगीर मुगल बादशाहों में महान् न था। उसे हम एक योग्य सेनापति, कुशल राजनीतिज्ञ और मेधावी शासन-प्रबन्धक स्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु यह भी सत्य है कि वह एक सफल और उदार शासक था जिसने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित और सम्पन्न रखा तथा जिसने अपनी प्रजा की भलाई का सर्वदा ध्यान रखा। अकबर महान् की सफलताओं और शाहजहाँ की चमक-दमक के बीच में घिरकर जहाँगीर के व्यक्तित्व और उसके युग को समझने का प्रयत्न करना उचित नहीं होगा। अपने आप में जहाँगीर व्यक्तिगत दृष्टि से कुछ मामलों में दुर्बल होते हुए भी सफल रहा था। कन्धार की हानि मुख्यतया शाहजहाँ के विद्रोह के कारण हुई थी, शाहजहाँ का विद्रोह उस शाहजादे की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं के कारण भी था और महाबतखाँ का विद्रोह शाहजहाँ के विद्रोह का ही दुष्परिणाम था। बाकी अन्य सभी प्रकार से जहाँगीर का समय शान्ति, प्रगति और समृद्धि का था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जहाँगीर के शासनकाल में होने वाले खुसरो के विद्रोह के कारण व परिणाम लिखिए।
2. जहाँगीर की दक्षिण नीति का वर्णन कीजिए।
3. नूरजहाँ के चरित्र का वर्णन कीजिए व राजनीति पर उसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए।
4. जहाँगीर के चरित्र एवं व्यक्तित्व का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जहाँगीर के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
2. जहाँगीर के सिंहासनारोहण के समय जारी बारह आदेश लिखिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. नूरजहाँ के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
4. खुर्रम के विद्रोह के दो महत्त्वपूर्ण कारण लिखिए।
5. जहाँगीर की धार्मिक नीति पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सलीम का जन्म किस सूफी सन्त के आशीर्वाद से हुआ था ?
   (अ) शेख सलीम चिश्ती के (ब) मौ. सलीम किरमानी के
   (स) फखरुद्दीन नक्शबन्दी के (द) इनमें से कोई नहीं।
2. अकबर के मित्र और इतिहासकार अबुल फजल की हत्या की थी—
   (अ) जुझार सिंह ने (ब) राजा विक्रमादित्य ने
   (स) वीरसिंह बुन्देला ने (द) इनमें से कोई नहीं।
3. खुसरो ने अपने पिता जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह किया था—
   (अ) 1605 ई. में (ब) 1606 ई. में
   (स) 1607 ई. में (द) 1608 ई. में।
4. 1607 ई. में जहाँगीर की हत्या के षड्यन्त्र में खुसरो को क्या दण्ड दिया गया था ?
   (अ) मृत्युदण्ड दिया गया था (ब) देश से निकाल दिया था
   (स) आजीवन कारावास दिया था (द) अन्धा करवा दिया था।
5. खुसरो की सहायता के अपराध के कारण किस सिख गुरु को जुर्माना न देने पर मृत्युदण्ड दिया गया था ?
   (अ) गुरु हरगोविन्द (ब) गुरु अर्जुन
   (स) गुरु हरकिशन (द) गुरु हरिराय।
6. जहाँगीर ने मेवाड़ के राणा अमरसिंह के साथ उसकी पराजय के बाद कैसा व्यवहार किया था ?
   (अ) सम्मानीय (ब) अपमानजनक
   (स) कूटनीतिक (द) इनमें से कोई नहीं।
7. दक्षिण में सुधारों के पीछे मलिक अम्बर का लक्ष्य था—
   (अ) किसानों के हितों का रक्षा (ब) कृषि उत्पादन में वृद्धि
   (स) राज्य की आय में वृद्धि (द) उपर्युक्त तीनों।
8. मलिक अम्बर ने मुगलों के विरुद्ध किस नीति का अवलम्बन किया था ?
   (अ) आक्रमणात्मक (ब) सुरक्षात्मक
   (स) गुरिल्ला युद्ध नीति (द) इनमें से कोई नहीं।
9. मुगलों व अहमदनगर में संधि हुई थी ?
   (अ) 1612 ई. में (ब) 1614 ई. में
   (स) 1615 ई. में (द) 1617 ई. में।
10. जहाँगीर द्वारा खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि किस विजय के बाद दी गयी थी ?
    (अ) मेवाड़ विजय के बाद (ब) दक्षिण विजय के बाद
    (स) मलिक अम्बर के वध के बाद (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. कौन व्यक्ति अंग्रेजों के प्रतिनिधि के रूप में व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए सम्राट जहाँगीर से मिला था ?
(अ) सर टामस रो (ब) हाकिन्स
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

12. नूरजहाँ का बचपन का नाम था—
(अ) मेहरुन्निसा (ब) अर्जुमन्दबानो
(स) रईसाबानो (द) इनमें से कोई नहीं।

13. जहाँगीर ने नूरजहाँ के पिता मिर्जा गियासबेग को किस उपाधि से विभूषित किया था ?
(अ) खानखाना (ब) एतमादुद्दौला
(स) महाबत खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।

14. अलीकुली खाँ को शेर अफगन की उपाधि किस शासक ने प्रदान की थी ?
(अ) अकबर ने (ब) शाहजहाँ ने
(स) हुमायूँ ने (द) जहाँगीर ने।

15. मुगल शासन पर नूरजहाँ के प्रस्ताव को किन दो भागों में विभाजित किया गया ?
(अ) 1611 से 1622 व 1622-1627 ई.
(ब) 1608-1628 व 1621-1626 ई.
(स) 1612-1623 व 1623-1625 ई.
(द) इनमें से कोई नहीं।

16. नूरजहाँ के गुट के प्रमुख कौन थे ?
(अ) नूरजहाँ (ब) पिता एतमादुद्दौला
(स) भाई आसफ खाँ (द) तीनों।

17. नूरजहाँ ने अपनी पहली पुत्री लाड़ली बेगम का विवाह किस शहजादे से किया था ?
(अ) खुर्रम से (ब) शहरयार से
(स) खुसरो से (द) तीनों में से किसी से नहीं।

18. खुर्रम ने अपने पिता जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह किया था—
(अ) 1621 ई. में (ब) 1622 ई. में
(स) 1623 ई. में (द) 1624 ई. में।

19. महाबत खाँ के 1626 ई. में विद्रोह का मुख्य कारण था—
(अ) नूरजहाँ का दुर्व्यवहार (ब) नूरजहाँ द्वारा शहरयार का समर्थन
(स) उसके दामाद का अपमान (द) उपर्युक्त सभी।

20. "वह (जहाँगीर) कोमल और निष्ठुर, न्याय और बुद्धि की चंचलता, सुसभ्यता और पशुता, बुद्धिमत्ता व बचपन का अजीब मिश्रण था।" यह किस इतिहासकार ने लिखा है ?
(अ) वी. ए. स्मिथ ने (ब) स्टेनले लेनपूल ने
(स) मैरियट ने (द) लिप्सन ने।

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (द), 5. (ब), 6. (अ), 7. (द), 8. (स), 9. (द), 10. (ब), 11. (स), 12. (अ), 13. (ब), 14. (द), 15. (अ), 16. (द), 17. (ब), 18. (स), 19. (द), 20. (अ)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6

शाहजहाँ (1627-1658 ई.)

प्रायः तीस वर्ष का शाहजहाँ का शासन-काल मुगल-साम्राज्य के वैभव और शक्ति की पराकाष्ठा का था जिसके कारण उसे मुगल-काल का स्वर्ण-काल कहा गया है। अकबर के समय में स्थापित हुई मुगलों की श्रेष्ठता शाहजहाँ के समय में न केवल स्थापित रही बल्कि विकसित भी हुई। निस्सन्देह, औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य का विस्तार किया परन्तु वह मुगलों की शक्ति को संचित और संगठित नहीं रख सका। उसके समय के विद्रोहों ने मुगल-साम्राज्य की एकता और शक्ति में छिद्र कर दिये। शाहजहाँ के समय तक ऐसा सम्भव नहीं हो सका। शाहजहाँ के समय के सभी विद्रोह सरलता से दबा दिये गये और मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ शान्त और सुरक्षित रहीं। जब तक शाहजहाँ बीमार नहीं हुआ और उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए युद्ध नहीं हुआ तब तक मुगल-साम्राज्य की एकता दृढ़ रही और शाहजहाँ की शक्ति का मुकाबला सरलता से भारत में कोई नहीं कर सका। शान्ति, सुरक्षा और सम्पन्नता की दृष्टि से भारत में उसके समय में कोई दुर्बलता न थी।

परन्तु दूसरी तरफ शाहजहाँ का समय दुर्बलताओं के आरम्भ होने का समय भी था चाहे वे प्रकट रूप से उसके समय में नहीं आयीं। रक्तपात के द्वारा सिंहासन पर अधिकार, कन्धार और मध्य-एशिया में मुगलों की सैनिक असफलता, युद्धों, शान-शौकत और इमारतों पर किया गया अपव्यय तथा धार्मिक असहिष्णुता का आरम्भ कुछ ऐसी बातें थीं जिन्होंने भविष्य को प्रभावित किया और जो प्रभाव उनका पड़ा वह मुगल-साम्राज्य के लिए हितकर न था।

5 जनवरी, 1592 ई. को लाहौर में शाहजादा खुर्रम का जन्म हुआ था। उसकी माता मारवाड़ के शासक उदयसिंह की पुत्री जगतगोसाईं (जोधाबाई और भानमती के नामों से भी पुकारा गया है) थी। खुर्रम अपने महापिता अकबर का लाड़ला था। खुसरो के विद्रोह के अवसर पर खुर्रम को राजधानी की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया था। 1606 ई. में उसे 8,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया गया। 1612 ई. में आसफ खाँ की पुत्री अर्जुमन्दबानू बेगम से उसका विवाह हुआ जो बाद में इतिहास में 'मुमताज महल' के नाम से विख्यात हुई। खुसरो के विद्रोह के पश्चात् से खुर्रम को गद्दी का उत्तराधिकारी समझा जाने लगा था। उसने अपनी योग्यता से उसे सिद्ध भी किया। मेवाड़, काँगड़ा और दक्षिण के अभियानों में जो सफलता प्राप्त की उससे उसकी योग्यता स्पष्ट हुई। वह नूरजहाँ के गुट का सदस्य भी रहा और 1622 ई. तक निरन्तर राज्य में सम्मान और पद प्राप्त करता रहा। उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि से विभूषित किया गया और बड़ी से बड़ी जागीर उसे प्राप्त हुई। परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके पश्चात् उसकी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयीं। नूरजहाँ ने शाहजहाँ के पक्ष को छोड़कर शहरयार का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। कन्धार की रक्षा के लिए मुगल सेना को भेजने के प्रश्न पर शाहजहाँ जहाँगीर की नजरों से गिर गया। 1623 ई. में उसने विद्रोह किया परन्तु वह असफल हुआ और 1626 ई. में उसे बादशाह की शर्तों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1627 ई. में जहाँगीर की मृत्यु के अवसर पर शाहजहाँ दक्षिण-भारत में था। उस समय उसकी सहायता उसके श्वसुर और राज्य के 'वकील' आसफखाँ ने की। राज्य का दीवान ख्वाजा अबुल हसन भी उसके पक्ष में था। इन व्यक्तियों ने शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह, शुजा और औरंगजेब को नूरजहाँ के आधिपत्य से मुक्त करा लिया और खुसरो के पुत्र दाबरबक्स को बादशाह घोषित कर दिया जिससे सिंहासन खाली न रहे। आसफखाँ ने शाहजहाँ को शीघ्र राजधानी आने की सूचना भेज दी। नूरजहाँ उस अवसर पर कुछ न कर सकी। वह आसफखाँ के विरुद्ध कोई कदम न उठा सकी। उसी अवसर पर शहरयार ने अपने को लाहौर में बादशाह घोषित कर दिया और लाहौर के खजाने को सरदारों एवं सैनिकों में बाँटकर अपने पक्ष को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह अयोग्य था। आसफखाँ ने उस पर आक्रमण किया, उसे परास्त करके बन्दी बना लिया तथा उसकी आँखें फोड़ दी गयीं। शाहजहाँ शीघ्रता से आगरा की ओर बढ़ रहा था और जब उसे इस सफलता की सूचना मिली तब उसने शहरयार, दाबरबक्स और शाही परिवार के सभी जीवित राजकुमारों को समाप्त कर देने के आदेश आसफखाँ को दिये। आसफखाँ ने ऐसा ही किया और शाहजहाँ के आगरा पहुँचने से पहले ही राजगद्दी के सभी उत्तराधिकारी कत्ल कर दिये गये। इस प्रकार, अपने सम्बन्धी राजकुमारों का वध करके 24 फरवरी, 1628 ई. को शाहजहाँ 'अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मदसाहिब किरन-ए-सानी' की उपाधि लेकर गद्दी पर बैठा। आगरा में उसका राज्याभिषेक हुआ। आसफखाँ को 7,000 जात और 7,000 सवार तथा राज्य के वजीर का पद दिया गया। महाबतखाँ को 7,000 जात और 7,000 सवार का पद तथा खानखाना की उपाधि दी गयी। बेगम नूरजहाँ को 2 लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दी गयी। नूरजहाँ ने अपने जीवन के अन्तिम दिन शान्तिपूर्वक लाहौर में व्यतीत किये और वहीं 1645 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

[1]

शाहजहाँ के समय के विद्रोह

शाहजहाँ के समय में पुर्तगालियों और सिखों से हुए साधारण संघर्षों के अतिरिक्त दो बड़े विद्रोह हुए। उनमें से एक बुन्देलखण्ड के शासक जूझरसिंह का था और दूसरा दक्षिण के सूबेदार खानजहाँ लोदी का।

1. बुन्देलखण्ड का विद्रोह (1628-35 ई.)

वीरसिंह बुन्देला जहाँगीर का कृपापात्र था। अकबर के समय में इसी ने शाहजादा सलीम (जहाँगीर) के इशारे पर अबुल फजल का कत्ल किया था। जहाँगीर ने अपने समय में इसे उच्च पद और सम्मान दिया था। वीरसिंह की मृत्यु जहाँगीर की मृत्यु से तीन या चार माह पूर्व हो गयी और उसके पुत्र जूझरसिंह को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया गया। जूझरसिंह दरबार में था और उसका पुत्र विक्रमजीतसिंह शासन की देखभाल करता था। उसने अपनी प्रजा पर कठोरता की और बहुत धन एकत्र कर लिया। शाहजहाँ ने बादशाह बनने पर जूझरसिंह द्वारा एकत्र किये गये करों की जाँच करने की आज्ञा दी जिससे शंकित होकर जूझरसिंह दरबार छोड़कर बुन्देलखण्ड भाग गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1628 ई. में जूझरसिंह पर आक्रमण किया गया। वह शाहजहाँ के समय का पहला सैनिक-अभियान था। शाहजहाँ बुन्देलखण्ड की कठिन भौगोलिक परिस्थितियों और बुन्देला-शौर्य से परिचित था। इस कारण उसने प्रत्येक दिशा से बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने के आदेश दिये। स्वयं शाहजहाँ भी शिकार के बहाने ग्वालियर पहुँच गया। जूझरसिंह ने शीघ्र अपनी स्थिति की दुर्बलता को समझ लिया। 1629 ई. के आरम्भ में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने एक हजार अशर्फियाँ, पन्द्रह लाख रुपया, चालीस हाथी और अपनी जागीर का कुछ भाग शाहजहाँ को दिया। शाहजहाँ ने उसे क्षमा कर दिया तथा उसे दक्षिण-भारत के युद्ध के लिए नियुक्त कर दिया।

जूझरसिंह ने पाँच वर्ष तक वफादारी से मुगल बादशाह की सेवा की और दक्षिण के युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया। 1634 ई. में वह अपनी राजधानी ओरछा वापस चला गया। 1635 ई. में उसने गोंडवाना पर आक्रमण किया, उसकी राजधानी चौरागढ़ को जीत लिया और राजा प्रेमनारायण को मार दिया। एक अधीनस्थ राजा को दूसरे अधीनस्थ राजा पर बिना बादशाह की आज्ञा के आक्रमण करना मुगलों की नीति के अनुसार अपराध था। प्रेमनारायण के पुत्र ने शाहजहाँ से इसके विरुद्ध रक्षा की प्रार्थना की। शाहजहाँ ने जूझरसिंह से माँग की कि वह गोंडवाना और दस लाख रुपया बादशाह को दे अथवा बुन्देलखण्ड की अपनी जागीर में से गोंडवाना के बराबर की जागीर बादशाह को दे। जूझरसिंह ने इन शर्तों को मानने से इंकार कर दिया। शाहजहाँ ने औरंगजेब को एक बड़ी सेना के साथ आक्रमण के लिए भेजा। मुगलों ने ओरछा पर अधिकार कर लिया और भरतसिंह के पुत्र देवीसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। जूझरसिंह और उसका पुत्र विक्रमजीत जबकि वे जंगल में आराम कर रहे थे, गोंडों के द्वारा मार दिये गये तथा उनके सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिये गये। जूझरसिंह के दो पुत्रों एवं एक पोते को मुसलमान बना लिया गया, एक पुत्र और वृद्ध मन्त्री का वध कर दिया गया क्योंकि उन्होंने इस्लाम को स्वीकार करने से इंकार कर दिया तथा बुन्देला स्त्रियों को महल या सरदारों की सेवा में दे दिया गया। इसके अतिरिक्त, ओरछा के मन्दिर बर्बाद कर दिये गये अथवा मस्जिदों में बदल दिये गये। शाहजहाँ की विजय पूर्ण थी और उसे बहुत सी भूमि और धन प्राप्त हुआ था। इस प्रकार 1635 ई. में यह विद्रोह समाप्त हुआ।

परन्तु बुन्देलों ने देशद्रोही देवीसिंह को अपना राजा मानने से इंकार कर दिया। महोबा के राजा चम्पतराय और उसके पश्चात् उसके पुत्र छत्रसाल ने मुगलों का निरन्तर विरोध किया और बुन्देलों के स्वतन्त्रता-संग्राम को जारी रखा।

2. खानजहाँ लोदी का विद्रोह (1628-31 ई.)

पीरखाँ उर्फ खानजहाँ लोदी एक योग्य और सम्मानित अफगान सरदार था। जहाँगीर के अन्तिम दिनों में वह दक्षिण की सूबेदारी के महत्वपूर्ण पद पर था। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह उदासीन रहा। शाहजहाँ के सहायता माँगने पर उसने उसे कोई सहायता न दी। उसी अवसर पर उसने दक्षिण के राज्यों से समझौता करने का प्रयत्न किया और तीन लाख रुपया लेकर बालाघाट अहमदनगर को सौंप दिया। सम्भवतया, अपनी अफगान प्रवृत्ति के अनुकूल वह जहाँगीर की मृत्यु के अवसर की अव्यवस्थित स्थिति से लाभ उठाकर दक्षिण में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने के लिए लालायित हो गया था। शाहजहाँ ने महाबतखाँ को खानखाना का पद दे दिया था। इससे भी वह असन्तुष्ट था क्योंकि जहाँगीर के समय में यह पद उसे दिया गया था। परन्तु जब शाहजहाँ को आगरा में बादशाह घोषित कर दिया गया तो उसने तुरन्त शाहजहाँ को बादशाह स्वीकार कर लिया। शाहजहाँ ने उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालाघाट को पुनः प्राप्त करने के आदेश दिये। उसी वर्ष जूझरसिंह के विद्रोह को दबाने के लिए भी उसकी सहायता ली गयी। परन्तु खानजहाँ बालाघाट को जीतने में असफल रहा। शाहजहाँ ने दक्षिण की सूबेदारी महाबतखाँ को दी और मालवा खानजहाँ को दिया।

बुन्देला-विद्रोह के शान्त हो जाने पर (1629 ई.) खानजहाँ को दरबार में आने के आदेश दिये गये। यहाँ उसे वह सम्मान प्राप्त नहीं हुआ जो जहाँगीर के समय में प्राप्त होता था। शाहजहाँ के आश्वासन के बाद भी खानजहाँ को अपने जीवन का खतरा रहा और इस भय से आशंकित होकर अक्टूबर 1629 ई. में वह बिना बादशाह की आज्ञा के दक्षिण की ओर भाग खड़ा हुआ। शाही सेना ने उसका पीछा किया। चम्बल नदी के किनारे पर एक युद्ध हुआ और खानजहाँ को अपने कुछेक सम्बन्धियों एवं स्त्रियों को छोड़कर भागना पड़ा। खानजहाँ अहमदनगर पहुँच गया। मुर्तजा निजामशाह ने उसका स्वागत किया, उसे 'बीर' की जागीर दी और मुगलों के आधिपत्य में चली गयी अहमदनगर की भूमि को वापस लेने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा। खानजहाँ के दक्षिण में पहुँच जाने से दक्षिण की समस्या जटिल हो गयी। अहमदनगर ने मुगलों से कुछ भू-प्रदेश छीन लिये। दक्षिण की स्थिति ऐसी हो गयी कि स्वयं शाहजहाँ को 1629 ई. में दक्षिण-भारत जाना पड़ा। शाहजहाँ ने सर्वप्रथम खानजहाँ को दबाने की योजना बनायी और उस पर तीन तरफ से आक्रमण किया। खानजहाँ को स्थान-स्थान पर भागना पड़ा। वह भागकर दौलताबाद की ओर गया और बीजापुर से सहायता लेने का प्रयत्न किया। परन्तु वह नहीं मिल सकी। मुगलों के दबाव के कारण निजामशाह भी तटस्थ हो गया और खानजहाँ के पास दक्षिण को छोड़कर भागने के अलावा कोई अन्य मार्ग न रहा। उत्तर-पश्चिम में उसे अफगानों से सहायता मिलने की आशा थी। खानजहाँ ने नर्मदा नदी को पार किया और मालवा होकर उत्तर की ओर जाने का प्रयत्न किया। मार्ग में जूझरसिंह के पुत्र विक्रमजीत ने उस पर आक्रमण किया और खानजहाँ के अधिकांश साथियों को मार दिया। परन्तु खानजहाँ यहाँ से भी बच निकला। तब मुजफ्फरखाँ सैयद ने उसका पीछा किया। मार्ग में एक-एक करके उसके सभी साथी और पुत्र मारे गये, कालिंजर के किलेदार ने उसके हाथी छीन लिये और अन्त में बाँदा जिले में सिंहोदा नामक स्थान पर खानजहाँ ने अन्तिम युद्ध किया और माधोसिंह के हाथों मारा गया। उसका सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिया गया। इस प्रकार 1631 ई. में खानजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ।

3. पुर्तगाली

बंगाल में पुर्तगाली पर्याप्त समय पहले से व्यापार करते थे। मुगल बादशाह की तरफ से उनको नमक के व्यापार का एकाधिपत्य दिया हुआ था। परन्तु धीरे-धीरे पुर्तगालियों का व्यवहार उद्दण्ड हो गया। उन्होंने भारतीयों को जबरदस्ती ईसाई बनाना आरम्भ किया और समय-समय पर शाही भूमि और बाजारों में लूटमार करनी आरम्भ कर दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुगलों के विरुद्ध अराकान के राजा को सहायता दी। अतएव धार्मिक और राजनीतिक कारणों के साथ-साथ स्थानीय उपद्रवों की वजह से शाहजहाँ ने 1632 ई. में उनको समाप्त करने के आदेश दे दिये। 3-1/2 महीने के घेरे के पश्चात् हुगली पर अधिकार कर लिया गया। हजारों ईसाई मारे गये और सैकड़ों बन्दी बना लिये गये। उनमें से अनेक ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और उनकी जवान स्त्रियों को हरम में ले लिया गया।

4. सिख

शाहजहाँ के आरम्भ-काल में 1628 ई. में एक साधारण घटना से सिखों और शाहजहाँ में शत्रु-भाव उत्पन्न हो गया। अमृतसर के निकट शाहजहाँ शिकार करने गया हुआ था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका एक प्रिय बाज उड़कर गुरु के खेमे में चला गया। सिखों ने उसे पकड़ लिया तथा वापस लौटाने से इंकार कर दिया। मुगल सैनिकों ने कई बार सिखों पर आक्रमण किया परन्तु वे असफल रहे। गुरु हरगोविन्द के कुछ मित्र बादशाह के दरबार में भी थे। उन्होंने बीच में पड़कर इस झगड़े को समाप्त कर दिया।

गुरु हरगोविन्द ने व्यास नदी के तट पर श्री गोविन्दपुर नामक एक शहर बसाना आरम्भ किया था। गुरु के दुश्मनों ने जालन्धर के फौजदार अब्दुल्लाखाँ को गुरु पर आक्रमण करने के लिए भड़काया। सम्भवतया, इस नवीन नगर का निर्माण मुगलों के हित में भी न था। गुरु को आज्ञा दी गयी कि वह नगर-निर्माण के कार्य को बन्द कर दें। उनके इंकार करने पर उन पर आक्रमण किया गया। परन्तु इस बार भी गुरु ने फौजदार की सेना को परास्त कर दिया।

गुरु से मुगलों का तीसरा झगड़ा इस कारण हुआ कि बीधीचन्द्र नामक एक विख्यात डकैत ने, जो गुरु का शिष्य था, शाही घुड़साल से दो बहुत अच्छे घोड़े चुराकर गुरु को भेंट किये और गुरु ने उन्हें स्वीकार कर लिया। एक शक्तिशाली मुगल सेना गुरु के विरुद्ध भेजी गयी परन्तु गुरु ने उसे परास्त कर दिया (1613 ई.)। एक और बड़ी सेना को गुरु ने कर्तारपुर नामक स्थान पर परास्त किया। इसके उपरान्त मुगलों और सिखों का संघर्ष चलता रहा। गुरु ने यह अनुभव करके कि मुगल-सत्ता से निरन्तर संघर्ष करने में नवीन सिख-सम्प्रदाय के समाप्त हो जाने का भय है, पंजाब छोड़ दिया और कश्मीर की पहाड़ियों में कीरतपुर नामक स्थान पर रहना आरम्भ कर दिया। वहीं 1645 ई. में उनकी मृत्यु हुई। अपने मरने से पहले उन्होंने हरराय को गुरु की गद्दी सौंप दी। इसी प्रकार शाहजहाँ के समय में सिखों के छठे गुरु हरगोविन्द से मुगलों का संघर्ष रहा।

[2]
साम्राज्य-विस्तार

1. दक्षिण-भारत

अकबर और जहाँगीर के समय में दक्षिण को जीतने के प्रयत्न किये गये थे। मुगलों की साम्राज्यवादी नीति का वह एक भाग था। शाहजहाँ ने भी इस कार्य को करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त दक्षिण-भारत के राज्यों में मुगलों के विद्रोहियों को शरण प्राप्त होती थी। शाहजहाँ इस स्थिति को समाप्त करना चाहता था।

(i) अहमदनगर—शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने से पहले खानजहाँ ने बालाघाट का प्रदेश अहमदनगर को सौंप दिया था। बाद में खानजहाँ ने विद्रोह करके अहमदनगर में शरण प्राप्त की थी। उसी अवसर पर 1629 ई. में एक शक्तिशाली सेना को दक्षिण भेजा गया और स्वयं शाहजहाँ बुरहानपुर पहुँच गया। मुगलों ने आंशिक सफलता प्राप्त की। उसी अवसर पर निजामशाह ने मलिक अम्बर के अयोग्य पुत्र फतहखाँ को राज्य का वजीर बना दिया। फतहखाँ दुर्बल बुद्धि का स्वार्थी व्यक्ति था। कभी उसने मुगलों से बात की और कभी बीजापुर तथा गोलकुण्डा से मित्रता करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान मुर्तजा निजामशाह द्वितीय को कैद करके मार डाला तथा 10 वर्ष के एक छोटे बालक हुसैन को निजाम बना दिया। शाहजहाँ फतहखाँ पर विश्वास नहीं करता था। उसने मुगल सेना को दौलताबाद पर आक्रमण करने के आदेश दिये। इससे डरकर फतहखाँ ने शाहजहाँ को बहुमूल्य उपहार भेजे तथा मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। शाहजहाँ इससे सन्तुष्ट हो गया। उसका मन दक्षिण के युद्ध में नहीं लग रहा था क्योंकि 17 जनवरी, 1631 ई. को उसकी प्रिय पत्नी मुमताजमहल की मृत्यु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गयी थी। इस कारण अपने अधिकारियों को दक्षिण का उत्तरदायित्व सौंपकर शाहजहाँ स्वयं उत्तर में चला गया (1632 ई.)।

परन्तु अभी अहमदनगर की विजय पूर्ण नहीं हुई थी। 1633 ई. में जब महाबतखाँ दक्षिण पहुँचा तो वह फतहखाँ की दोहरी नीति से बहुत असन्तुष्ट हुआ। उसने दौलताबाद का घेरा डाल दिया। 3-1/2 महीने के घेरे के पश्चात् दौलताबाद के किले को जीत लिया गया। फतहखाँ और अहमदनगर के अन्तिम शासक हुसैनशाह को राजदरबार में भेज दिया गया और अहमदनगर को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1633 ई.)। शाहजहाँ ने फतहखाँ को 2 लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दे दी और उसे राज्य की सेवा में ले लिया। हुसैनशाह को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। इस प्रकार अहमदनगर का राज्य समाप्त हो गया। परन्तु तब भी निजामशाही सरदार और मुख्यतया शाहजी भौंसले ने एक बच्चे (मुर्तजा तृतीय) के नाम से मुगलों से कई वर्षों तक संघर्ष किया। 1636 ई. में मुगलों ने शाहजी को चुनार के किले में घेर लिया। अन्त में, उसने अपने बहुत से किले और मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंप दिया। मुर्तजा तृतीय को भी ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। शाहजी ने बीजापुर राज्य की सेवा स्वीकार कर ली।

(ii) गोलकुण्डा—गोलकुण्डा के शासक शिया थे और मुगल बादशाह के आधिपत्य को उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया था। इस कारण शाहजहाँ के समय में उसे मुगल-आधिपत्य में लेने का प्रयत्न किया गया। 1626 ई. में मुहम्मद कुतुबशाह की मृत्यु हो गयी और 11 वर्ष की आयु का अब्दुल्ला कुतुबशाह बना। उसके समय में गोलकुण्डा की स्थिति दुर्बल हो गयी क्योंकि राज्य के विभिन्न सरदारों में एकता न रही। शाहजहाँ ने इस दुर्बलता का लाभ उठाया। 1631 ई. में जब बीजापुर पर आक्रमण किया गया तब गोलकुण्डा से भी वार्षिक कर माँगा गया। गोलकुण्डा ने धन देने से इंकार कर दिया। 1636 ई. में मराठों और बीजापुर को सन्धि करने के लिए बाध्य करने के पश्चात् गोलकुण्डा पर दबाव डाला गया। अब्दुल्ला कुतुबशाह ने भयभीत होकर 1636 ई. में मुगलों से सन्धि कर ली जिसके अनुसार—

(अ) पहले चार खलीफाओं के नाम के अतिरिक्त शाहजहाँ का नाम खुतबे में और गोलकुण्डा के सिक्कों पर सम्मिलित किया गया।

(ब) गोलकुण्डा ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और 8 लाख रुपया प्रति वर्ष मुगल बादशाह को देना स्वीकार किया। उसने पिछले वर्षों में न दिये गये प्रायः 32 लाख रुपयों को भी देना स्वीकार किया।

(स) बीजापुर या मराठों के आक्रमण के अवसर पर मुगल गोलकुण्डा की सहायता करेंगे और यदि सहायता नहीं कर सकेंगे तो जो हानि गोलकुण्डा की होगी उसकी पूर्ति करेंगे।

दक्षिण के सूबेदार के रूप में औरंगजेब—शाहजहाँ स्वयं उस समय दक्षिण में था। परन्तु इस सन्धि के पश्चात् वह औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार बनाकर दिल्ली चला आया। 1636 से 1644 ई. तक औरंगजेब पहली बार दक्षिण का सूबेदार रहा और औरंगाबाद को मुगलों की दक्षिण के सूबे की राजधानी बनाया गया। औरंगजेब ने अपने इस शासनकाल में दक्षिण-भारत की मुगल-भूमि को चार प्रान्तों में विभाजित किया—1. खानदेश, जिसकी राजधानी बुरहानपुर थी और जिसके अन्तर्गत असीरगढ़ का दृढ़ किला था; 2. बरार, जिसकी राजधानी इलिचपुर थी; 3. तेलंगाना, जिसकी राजधानी नन्देर थी; और 4. अहमदनगर, जिसमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहमदनगर राज्य से छीनी गयी भूमि थी। इस भू-प्रदेश में 64 दृढ़ किले थे। अपने इस कार्य में औरंगजेब का एकमात्र कार्य बगलाना के छोटे-से राज्य को विजय करना था।

1652 से 1657 ई. तक औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार रहा। उस समय दक्षिण के मुगल-सूबों की स्थिति शोचनीय थी। अयोग्य एवं निरन्तर बदलते रहते सूबेदारों ने इन सूबों की आर्थिक स्थिति को नष्ट कर दिया था। जिन सूबों से चार करोड़ रुपया वार्षिक आय की आशा की जाती थी, उनसे 1652 ई. में केवल एक करोड़ की ही आय हुई थी। पड़ौस में शत्रु-राज्यों के होने के कारण मुगलों को वहाँ एक बड़ी सेना रखनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त भी शासन का व्यय अधिक था। इस कारण, इन सूबों की आय सूबों के व्यय की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसी प्रकार, आय में कमी होने के कारण जागीरदार उतनी संख्या में सैनिक नहीं रख पा रहे थे जितनी मात्रा में उनसे आशा की जाती थी। ऐसी स्थिति में औरंगजेब ने सर्वप्रथम आर्थिक और प्रशासकीय सुधारों की ओर ध्यान दिया। उसने मुर्शिदकुलीखाँ खुरासानी की सहायता से दक्षिण की लगान-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को ठीक किया। मुर्शिदकुलीखाँ ने राजा टोडरमल और मलिक अम्बर की लगान-व्यवस्था के आधार पर भूमि-सुधार किये।

मुर्शिदकुलीखाँ ने लगान-व्यवस्था के लिए मुगलों की भूमि को दो भागों में बाँटा— 1. पेनघाट, जिसमें खानदेश और बरार का आधा भाग सम्मिलित था, और 2. बालघाट, जिसमें मुगलों का बाकी सभी भू-क्षेत्र सम्मिलित था। दोनों भागों के शासन के लिए उसने दो उप-दीवान नियुक्त किये। उसने भूमि की पैमाइश करायी, उत्पादन के आधार पर भूमि को अलग-अलग वर्गों में बाँटा तथा किस किसान के पास कितनी और किस प्रकार की भूमि है इसका पता लगाया। उसने प्रत्येक स्थान पर ईमानदार और विश्वासपात्र अधिकारियों की नियुक्ति की। किसानों से तकावी के रूप में उधार लिये गये धन को वसूल किये जाने पर उसे गरीब किसानों में बाँट दिया गया जिससे वे बैल व बीज खरीद सकें। किसानों से लगान के रूप में उत्पादन का 1/4 भाग लिया गया। स्थानीय परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए लगान वसूल करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाये गये। कहीं पर हलों की संख्या के प्रयोग के आधार पर उत्पादन का अनुमान करके लगान वसूल किया गया और कहीं पर वस्तु के उत्पादन के आधार पर लगान वसूल किया गया। मुर्शिदकुलीखाँ के ये सुधार लाभकारी सिद्ध हुए। कुछ ही वर्षों में कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो गयी और उसके अनुसार राज्य की आय में भी वृद्धि हुई। इतिहासकार भीमसेन ने लिखा है कि 1658 ई. में "औरंगाबाद के निकट भूमि का कोई भी टुकड़ा ऐसा नहीं रहा जिस पर कृषि न हो रही हो।" लगान सम्बन्धी सुधारों के अतिरिक्त औरंगजेब ने असैनिक और सैनिक-व्यवस्था में भी सुधार किये। उसने शासन से अयोग्य व्यक्तियों को हटा दिया और उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की। सेना के दोषों को भी औरंगजेब ने दूर किया।

पुनः गोलकुण्डा—उसी अवसर पर औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के अभियान को पूर्णतया समाप्त करने का प्रयत्न किया। गोलकुण्डा 1636 ई. में की गयी सन्धि की शर्तों की पूर्ति नहीं कर रहा था। औरंगजेब के लिए यह एक सुअवसर था, उसकी निगाहें गोलकुण्डा की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, वह मध्य-एशिया और कन्धार में हुए अपने असफल आक्रमणों के अपमान को धोना चाहता था तथा दक्षिण के राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति और प्रभाव में वृद्धि करना चाहता था। गोलकुण्डा द्वारा वार्षिक कर को पूरी तरह से न देने का बहाना उसके पास था ही। मीर जुमला की घटना से उसे शाहजहाँ की आज्ञा से गोलकुण्डा पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमण करने की आज्ञा प्राप्त हो गयी। मीर जुमला का असली नाम मीर मुहम्मद सैयद था जो 25 वर्ष पहले गोलकुण्डा आया था। यह प्रसिद्ध फारसी व्यापारी था, इसी ने शाहजहाँ को कोहिनूर हीरा भेंट किया था। उसने अपनी योग्यता से अब्दुल्ला कुतुबशाह को प्रसन्न कर लिया और राज्य का वजीर बन गया। उसने शक्ति और धन एकत्रित करने में सफलता प्राप्त की और वह राज्य का एक प्रमुख व्यक्ति बन गया। उसने कर्नाटक पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। एक प्रकार से कर्नाटक की भूमि, जो 300 मील लम्बी और 50 मील चौड़ी थी, उसकी व्यक्तिगत जागीर बन गयी। उसने व्यापार और लूटमार से अतुल सम्पत्ति भी एकत्रित कर ली। एक फ्रान्सीसी यात्री थोवेनॉट ने लिखा है कि 'उसके पास 20 मन वजन के हीरे थे।' मीर जुमला ने अपनी एक व्यक्तिगत सेना भी तैयार कर ली थी जिसमें 5,000 घुड़सवार, 20,000 पैदल और एक अच्छा तोपखाना था। कुतुबशाह उसकी बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो गया और जब मीर जुमला ने कर्नाटक को कुतुबशाह के आधिपत्य में देने से इंकार कर दिया तब उसका सन्देह विश्वास में परिणित हो गया। उसने मीर जुमला को कैद करने का प्रयत्न किया। मीर जुमला ने फारस, बीजापुर और मुगलों से बातचीत आरम्भ की। शाहजहाँ ने मीर जुमला को अपनी सेवा में ले लिया और कुतुबशाह को आदेश दिये कि वह मीर जुमला को दिल्ली भेज दे। इसी बीच में मीर जुमला के पुत्र मोहम्मद अमीन के अशिष्ट व्यवहार के कारण कुतुबशाह ने उसे और उसके परिवार के सदस्यों को कैद कर लिया तथा उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली। शाहजहाँ की स्वीकृति लेकर औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहजादा मोहम्मद को जनवरी 1656 ई. में गोलकुण्डा पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। मीर जुमला पहले ही मुगलों से आकर मिल गया था। शाहजहाँ के आदेश से कुतुबशाह ने उसके पुत्र और परिवार के सदस्यों को भी छोड़ दिया। परन्तु औरंगजेब मीर जुमला की सम्पत्ति और बकाया मुगल-कर को गोलकुण्डा से लेने के उद्देश्य से स्वयं गोलकुण्डा की ओर चल दिया। मुगलों ने हैदराबाद को जीत लिया और कुतुबशाह को गोलकुण्डा के किले में घेर लिया गया। कुतुबशाह ने बीजापुर से सहायता माँगी और शाहजहाँ से क्षमायाचना की। इसी समय औरंगजेब को गोलकुण्डा से अपनी सेनाएँ हटा लेने के शाहजहाँ के आदेश प्राप्त हुए। कुछ समय औरंगजेब ने इस आदेश को गुप्त रखा और किले का घेरा डाले रखा। परन्तु शीघ्र ही सन्धि करना आवश्यक हो गया। इस कारण उसी वर्ष 1656 ई. में गोलकुण्डा से सन्धि कर ली गयी। कुतुबशाह ने अपनी एक पुत्री की शादी शाहजादा मोहम्मद से कर दी, 10 लाख रुपया दहेज में दिया, 16 लाख रुपया युद्ध के जुर्माने का दिया, मीर जुमला की सम्पत्ति वापस कर दी, अवशिष्ट कर देने का वायदा किया और मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। मुगल आधिपत्य के समय गोलकुण्डा विश्व के सबसे बड़े हीरा विक्रेता बाजार के रूप में प्रसिद्ध था।

(iii) बीजापुर—बीजापुर ने सर्वदा मुगल बादशाह के विरुद्ध अहमदनगर को सहायता दी थी। इस कारण बीजापुर स्पष्ट रूप से दक्षिण में मुगल-प्रभाव को बढ़ने देने के विरोध में रहा था। जहाँगीर की मृत्यु से कुछ माह पहले सुल्तान इब्राहीमशाह की मृत्यु हो गयी और मुहम्मद आदिलशाह सुल्तान बना। 1631 ई. में शाहजहाँ ने आसफखाँ को बीजापुर पर आक्रमण करने के आदेश दिये। परन्तु आसफखाँ का आक्रमण विफल रहा। शाहजहाँ ने आसफखाँ को वापस बुला लिया और महाबतखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। महाबतखाँ ने दौलताबाद को जीतने और अहमदनगर के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करने में सफलता पायी परन्तु वह परेन्द्र के किले को जीतने में असफल रहा। अक्टूबर 1634 ई. में बीमारी और इस असफलता के धक्के के कारण महाबतखाँ की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाहजहाँ का ध्यान जूझरसिंह के विद्रोह की तरफ गया और बीजापुर के विरुद्ध सफलता न मिल सकी।

1636 ई. में शाहजहाँ स्वयं दौलताबाद गया। बीजापुर की स्थिति उस समय दुर्बल थी। मुहम्मद आदिलशाह अपने सरदारों को नियन्त्रण में रखने में असमर्थ रहा था। ऐसी स्थिति में शाहजहाँ ने बीजापुर पर आक्रमण किया। शाहजहाँ के इस आक्रमण ने बीजापुर को भयभीत कर दिया और वह सन्धि के लिए तैयार हो गया। 1636 ई. में इस सन्धि के अनुसार—

(अ) बीजापुर ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया और 20 लाख रुपया प्रति वर्ष मुगलों को देना स्वीकार किया।

(ब) बीजापुर ने वायदा किया कि यदि शाहजी भौंसले ने चुनार और त्रिम्बक के किले मुगलों को न सौंपे तो वह मुगलों की सहायता करेगा।

(स) बीजापुर ने गोलकुण्डा से मित्रता का और उससे होने वाले अपने झगड़ों का निर्णय मुगलों द्वारा कराने का वायदा किया।

(द) शाहजहाँ ने स्वेच्छा से परेन्द्र, बीदर, गुलबर्गा, शोलापुर आदि स्थान बीजापुर को दे दिये।

इस प्रकार 1636 ई. में बीजापुर ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उसी वर्ष गोलकुण्डा ने भी मुगलों से सन्धि कर ली और शाहजी ने मुगलों से सन्धि करके बीजापुर की सेवाएँ स्वीकार कर लीं। 1636 ई. का समय मुगलों की दक्षिण-नीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण रहा। डॉ. जदुनाथ सरकार नें लिखा है : "इस प्रकार चालीस वर्ष (1595-1636 ई) के संघर्ष के पश्चात् अन्त में दक्षिण के मामले का निर्णय हुआ। बादशाह की सत्ता निर्विवाद स्थापित हो गयी, उसकी सीमाएँ निश्चित हो गयीं और दक्षिण के राज्यों पर उसकी सम्प्रभुता विधिवत स्थापित हो गयी।"

1636 ई. में हुई सन्धि के पश्चात् प्रायः 20 वर्षों तक बीजापुर में शान्ति रही। मुहम्मद आदिलशाह एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने शाहजहाँ से अपने सम्बन्ध ठीक किये। नवम्बर 1656 ई. में आदिलशाह प्रथम की मृत्यु हो गयी। उसकी बेगम 'बड़ी साहिबा' की सहायता से उसके तथाकथित 18 वर्षीय पुत्र को आदिलशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया गया। यह विश्वास किया जाता था कि आदिलशाह के कोई पुत्र न था और 'बड़ी साहिबा' ने इस लड़के को वैसे ही अपना पुत्र मान लिया था। औरंगजेब ने इस बात की सूचना शाहजहाँ को दी। उस समय शाहजहाँ ने बीजापुर को पूर्णतया अपनी अधीनता में लाने का अवसर देखा था। बीजापुर पर यह दोष लगाया गया कि उसने वार्षिक कर पूरी मात्रा में नहीं दिया था, उसने गोलकुण्डा की सहायता के लिए सेना को संगठित किया था और उसने कर्नाटक की मीर जुमला की भूमि पर अधिकार कर लिया था। इस आधार पर शाहजहाँ ने औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया और मीर जुमला तथा अन्य अधिकारियों को उसकी सहायता के लिए भेजा। मुगल-सेना ने बीदर के किले को जीत लिया, गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर की सेना को नष्ट कर दिया और अगस्त 1657 ई. में कल्याणी के किले को भी जीत लिया। इसके पश्चात् औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया। परन्तु उसी समय शाहजहाँ के आदेश प्राप्त हुए कि बीजापुर से, जो सन्धि के लिए तैयार है, सन्धि कर ली जाय और मीर जुमला को दिल्ली वापस भेज दिया जाय। औरंगजेब को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। 1657 ई. में हुई इस सन्धि के अनुसार बीजापुर ने डेढ़ करोड़ रुपया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगलों को देना स्वीकार किया। इसमें से 50 लाख रुपया शाहजहाँ ने उदारतापूर्वक माफ कर दिया। इसके अतिरिक्त, बीदर और कल्याणी के किले मुगलों की अधीनता में रहे। परन्तु इसी अवसर पर शाहजहाँ की तबियत खराब हो जाने के कारण उसके पुत्रों में परस्पर युद्ध की आशंका हो गयी। इसका लाभ उठाकर आदिलशाह ने इस सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया। जो कुछ औरंगजेब औरंगाबाद वापस आते हुए (जनवरी 1658 ई.) बीजापुर से ले सका, वही मुगलों को प्राप्त हुआ।

उसी समय जबकि औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा के साथ युद्धों में व्यस्त था, शाहजी भौंसले के पुत्र शिवाजी ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का कार्य आरम्भ किया और मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ किये। औरंगजेब ने एक सेना शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए भेजी जिसने शिवाजी को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् बीजापुर से सन्धि हो जाने के बाद शिवाजी ने भी मुगलों से समझौता कर लिया और मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण की नीति सफल रही। अहमदनगर के राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया, बीजापुर तथा गोलकुण्डा से भूमि छीनी गयी, कुछ किले हस्तगत कर लिये गये, उनसे धन प्राप्त किया गया, उनकी शक्ति को दुर्बल कर दिया गया और उन्हें स्पष्ट रूप से मुगलों की अधीनता में ले लिया गया। सम्भवतया, बीजापुर और गोलकुण्डा के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया गया होता यदि स्वयं शाहजहाँ ने औरंगजेब के मार्ग में बाधा डालकर उनको जीवित रहने का अवसर प्रदान न किया होता। शाहजहाँ स्वयं दक्षिण की राजनीति से गम्भीरता से परिचित था और उसका यह अनुमान उचित ही था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति और अधिक जटिल हो जायेगी। इस कारण वह इन राज्यों को दुर्बल करके और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहानआरा इन राज्यों को समाप्त करने के पक्ष में न थे। दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था। इस कारण उनके प्रभाव से शाहजहाँ ने इन राज्यों का अस्तित्व रहने दिया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तराधिकार के लिए युद्ध की सम्भावना भी इन राज्यों के जीवित रह जाने का कारण बनी।

2. कुछ छोटी विजयें

शाहजहाँ के समय में कुछ छोटे-छोटे प्रदेश भी जीते गये। मालवा और गौंड के भीलों को मुगल-आधिपत्य में लिया गया, पालामऊ के राजा प्रताप को मुगल-आधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और छोटे तिब्बत को भी जीता गया। 1634 ई. में छोटे तिब्बत के राजा ने शाहजहाँ का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। 1628-1639 ई. के समय में असम से निरन्तर युद्ध होता रहा परन्तु अन्त में सीमाएँ निश्चित कर ली गयीं और असम से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये।

[3]
मध्य-एशिया

अपने से पहले के सभी मुगल बादशाहों की भाँति शाहजहाँ भी मध्य-एशिया को जीतने के लिए उत्सुक था। 1628 ई. और 1629 ई. में मध्य-एशिया के शासक इमामकुली उज्बेग ने काबुल को जीतने का प्रयत्न किया था परन्तु असफल रहा था। बाद में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इमामकुलीखाँ के भाई नजरमुहम्मद ने समरकन्द पर अधिकार कर लिया। 1645 ई. में उसके पुत्र अब्दुल अजीज ने विद्रोह किया। शाहजहाँ ने इससे लाभ उठाने का प्रयत्न किया। पहले शाहजादा मुराद को मध्य-एशिया भेजा गया और उसने सफलता भी प्राप्त की। मुराद के वापस आ जाने पर 1647 ई. में शाहजादा औरंगजेब को भेजा गया। प्रारम्भिक सफलता के पश्चात् औरंगजेब को भी वापस आना पड़ा (1647 ई.)। इस प्रकार, मध्य-एशिया को अपने अधिकार में करने का शाहजहाँ का प्रयत्न असफल हुआ।

[4]

कन्धार

कन्धार सर्वदा से मुगलों और फारस (ईरान) के शासकों के बीच संघर्ष का कारण रहा हुआ था। जहाँगीर के समय में 1622 ई. में कन्धार पर फारस ने अधिकार कर लिया था। 1628 ई. में उसके फारसी किलेदार अलीमर्दनखाँ ने स्वेच्छा से यह किला मुगलों को सौंप दिया। मध्य-एशिया में मुगलों के आक्रमण की असफलता से प्रोत्साहित होकर 1648 ई. में फारस ने कन्धार पर आक्रमण किया और इससे पहले कि किले को कोई सहायता पहुँच पाती, उस पर अधिकार कर लिया। 1649 ई. में औरंगजेब कन्धार पहुँचा परन्तु उसे जीतने में असफल रहा। 1652 ई. में औरंगजेब को पुनः कन्धार जीतने के लिए भेजा गया। वह पुनः असफल रहा। इसी प्रकार 1653 ई. में दाराशिकोह द्वारा कन्धार को जीतने का प्रयत्न भी असफल रहा। इस प्रकार शाहजहाँ के समय में कन्धार एक बार मुगलों को प्राप्त अवश्य हुआ परन्तु पुनः खो गया।

[5]

उत्तराधिकार का युद्ध

6 सितम्बर, 1657 ई. में शाहजहाँ बीमार पड़ा और उसकी तबियत इतनी अधिक खराब हो गयी कि उसने दरबार और झरोखा-दर्शन में जाना बन्द कर दिया। इससे राज्य में दुश्चिन्ताएँ उत्पन्न हो गयीं। बादशाह शक्ति, शान्ति और व्यवस्था का प्रतीक था। प्रत्येक बादशाह की मृत्यु पर संघर्ष और अव्यवस्था की आशंका रहती थी जिससे सभी को हानि की सम्भावना होती थी। इस अवसर पर भी ऐसा ही हुआ। शाहजहाँ की मृत्यु की सम्भावना मात्र से विभिन्न व्यक्ति और वर्ग अनेक प्रकार की चिन्ताएँ करने लगे। शाहजहाँ का प्रत्येक पुत्र गद्दी प्राप्त करने के लिए उत्सुक था, विभिन्न सरदार विरोधी शाहजादों का समर्थन करने के लिए तत्पर थे, हिन्दू ऐसे शाहजादे का समर्थन करना चाहते थे जो धार्मिक उदारता के पक्ष में हो, कट्टर मुसलमान ऐसे शाहजादे का पक्ष लेने के लिए तत्पर थे जो इस्लाम के सम्मान की रक्षा करे और जनसाधारण अशान्ति एवं अव्यवस्था की आशंका से भयभीत था। विभिन्न आशंकाओं और सन्देहों का निवारण करने के लिए शाहजहाँ ने कभी-कभी झरोखा-दर्शन के लिए जाना आरम्भ कर दिया और यह अनुभव करके कि उसका स्वास्थ्य शासन का उत्तरदायित्व सँभालने के योग्य नहीं है, उसने अपने सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह को अपने सभी सरदारों के सम्मुख अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और स्वयं के जीवित रहने तक अपनी ओर से शासन करने का उत्तरदायित्व उसे सौंप दिया। उसका आशय यह था कि ऐसा करने से, सम्भवतया, उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध नहीं होगा। परन्तु उत्तराधिकार के विषय में मुस्लिम कानून बहुत लचीला था और अधिकांशतया तलवार की शक्ति के आधार पर ही उसका निर्णय हुआ करता था। शाहजहाँ ने स्वयं इसी आधार पर अपने सभी विरोधियों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्त करके सिंहासन पर अधिकार किया था। शाहजहाँ के पुत्रों ने भी यही निश्चय किया। सिंहासन के लिए शाहजहाँ के चार पुत्रों में जो युद्ध हुआ उसे मुगल-इतिहास में 'उत्तराधिकार के युद्ध' के नाम से पुकारा गया है। ऐसा नहीं है कि उत्तराधिकार के युद्ध इससे पहले या इसके बाद नहीं हुए। हुमायूँ को अपने भाइयों से युद्ध करना पड़ा था, अकबर का विरोध उसके सौतेले भाई मिर्जा हकीम ने किया था, जहाँगीर ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था, शाहजहाँ ने भाइयों का कत्ल करके गद्दी प्राप्त की तथा औरंगजेब के पुत्रों में भी उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ। परन्तु शाहजहाँ के पुत्रों में हुआ 'उत्तराधिकार का युद्ध' भीषणतम था। वह बादशाह के जीवित रहते हुए लड़ा गया था तथा, सम्भवतया, गम्भीरतम प्रश्नों एवं प्रभावशाली व्यक्तियों के लाभ और हानियों से सम्बन्धित था। इस कारण इस युद्ध को स्पष्टतया 'उत्तराधिकार के युद्ध' की संज्ञा दी जाती है। बादशाह के जीवित रहते हुए सिंहासन के लिए लड़ा गया यह भीषण युद्ध मुगल इतिहास का पहला उदाहरण था।

शाहजहाँ की सभी महत्वपूर्ण सन्तानें, जिनका नाम इतिहास में उल्लेखनीय है, उसकी प्रिय बेगम मुमताजमहल से उत्पन्न हुई थीं। उसकी 14 सन्तानों में से 7 जीवित रहीं। इनमें से चार लड़के और तीन लड़कियाँ थीं। इनके नाम थे : जहानआरा (जन्म 1614 ई.), दाराशिकोह (जन्म 1615 ई.), शाहशुजा (जन्म 1616 ई.), रोशनआरा (जन्म 1617 ई.), औरंगजेब (जन्म 1618 ई.), मुरादबक्स (जन्म 1624 ई.), और गौहनआरा (जन्म 1631 ई.)। इनमें से प्रत्येक ने इस उत्तराधिकार के युद्ध में भाग लिया। चारों भाई ही सिंहासन के लिए प्रयत्नशील न थे बल्कि बहिनों ने भी किसी न किसी भाई का पक्ष लिया। जहानआरा दाराशिकोह के पक्ष में थी, रोशनआरा ने औरंगजेब की सहायता की और गौहनआरा ने मुरादबक्स का पक्ष लिया।

दाराशिकोह शिक्षित, सुसभ्य एवं उदार विचारों का था। वह सच्चरित्र, दयालु और पितृभक्त था। उसके धार्मिक विचार अत्यधिक उदार थे और बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रति उसे सद्भावना थी। उसका जन्म 1615 ई. को हुआ था। वह सूफियों की 'कादिरी परम्परा' से बहुत प्रभावित था। कादिरी सिलसिले के प्रसिद्ध सन्त 'मुल्लाशाह' उसके आध्यात्मिक गुरु थे। शाहजहाँ ने दारा को 'शाहुबलन्द इकबाल' की उपाधि से विभूषित किया था। उसे पंजाब की सूबेदारी प्राप्त थी परन्तु वह बादशाह के निकट ही रहता था। शासन का उसे अनुभव था। उसमें साहस, शौर्य एवं उत्साह की भी कमी न थी। अपने चरित्र और विचारों के लिए वह बादशाह और जनसाधारण का प्रिय था तथा, सम्भवतया, भारत के लिए सबसे उपयुक्त बादशाह सिद्ध होता। परन्तु, निस्सन्देह, दारा औरंगजेब की तुलना में सेनापति एवं कूटनीति की दृष्टि से दुर्बल था। शाहजहाँ ने जब उसे राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तो जहाँ उसे इससे कुछ लाभ हुए वहीं कुछ कठिनाइयाँ भी हुईं। उसे बादशाह की सम्पति से राज्य का शासन करना था और अपने भाइयों से सिंहासन के लिए युद्ध भी करना था। बादशाह के प्रतिनिधि की दृष्टि से कार्य करते हुए वह अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र न था जबकि उसके प्रत्येक कार्य को उसके भाई और उनके समर्थक शंका और ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। उसके सभी भाइयों ने यह अनुभव किया कि दारा अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न कर रहा है। इस कारण वे शीघ्रातिशीघ्र उससे युद्ध करके सत्ता हथियाने के लिए उत्सुक हो गये और शाहजहाँ का प्रभाव समाप्त हो गया। शाहशुजा उस समय बंगाल का सूबेदार था। वह एक आकर्षक व्यक्ति और योग्य सैनिक था। परन्तु वह आरामपसन्द था और बंगाल की जलवायु और सम्पत्ति ने उसे विलासप्रिय बना दिया था। धार्मिक दृष्टि से वह शिया था और उसे शियाओं का समर्थन प्राप्त था। औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार था। वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहसी, कट्टर, परिश्रमी और दृढ़-निश्चयी था। कन्धार और मुख्यतया मध्य-एशिया के युद्ध ने उसे एक योग्य सेनापति बना दिया था। कूटनीति में वह अपने सभी भाइयों से श्रेष्ठ था और कलम और तलवार दोनों का प्रयोग कुशलता से कर सकता था। धार्मिक दृष्टि से वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था तथा कट्टर सुन्नी वर्ग और सरदार उसको बादशाह बनाकर इस्लाम की प्रतिष्ठा स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। पिछले कई दशकों से भारत में इस्लाम के प्रतिक्रियावादी तत्व प्रभावशाली होते जा रहे थे। जहाँगीर और शाहजहाँ की धार्मिक नीतियों को इन प्रतिक्रियावादी तत्वों ने प्रभावित किया था। शेख अहमद सरहिन्दी और अब्दुल हक देहलवी इन तत्वों को नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। इनका उद्देश्य भारत में इस्लाम के आदर्शों पर आधारित राज्य की स्थापना करना था। इस कारण इस मत के समर्थक दाराशिकोह के विरोध में औरंगजेब के समर्थक बन गये। यद्यपि डॉ. एम. अतहर अली ने इस विचार का तीव्र विरोध किया है। उन्होंने आँकड़े देकर यह बताया है कि औरंगजेब के पक्ष में भी पर्याप्त राजपूत और मराठा-सरदारों का होना इस युद्ध में धर्म के प्रभाव को गौड़ बना देता है। इस कारण उत्तराधिकार युद्ध का एक कारण विरोधी धार्मिक विचारधाराएँ भी बन गयीं। मुराद भावना-प्रधान और अव्यावहारिक था। वह बहादुर और आरामपसन्द दोनों था। युद्ध-क्षेत्र में वह कट्टर, साहसी और प्रत्येक खतरे को निर्भीकतापूर्वक उठाने वाला सैनिक तथा सेनापति था परन्तु हरम में वह एक विलासी शाहजादा था। वह उदार और प्रसन्नचित्त था परन्तु उसमें चालाकी, कूटनीति, सन्तुलन और व्यावहारिकता की कमी थी। व्यावहारिक राजनीति का न तो उसे ज्ञान था और न उसने उसका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न ही किया था। हठी और असंयमी बच्चे की भाँति वह किसी से भी लड़ सकता था तथा सरलता से दूसरे के हाथों में खिलौना भी बन सकता था। वह गुजरात का सूबेदार था। शाहजहाँ की बीमारी का समाचार प्राप्त करके इन चारों शाहजादों में से प्रत्येक ने अपने-अपने तरीके से बादशाह बनने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

शाहशुजा, औरंगजेब और मुराद ने बादशाह को देखने के बहाने राजधानी की ओर बढ़ने का आग्रह किया। शाहजहाँ ने यह सिद्ध करने के लिए कि वह जीवित है, सभी शाहजादों को अपने हस्ताक्षरों से युक्त पत्र भेजे। सभी शाहजादों का सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर बढ़ना राज्य के लिए संकट उपस्थित कर सकता था। शाहजहाँ ने शाहजादों को यह सूचना भी भेजी कि वे स्वयं केवल अपने अंगरक्षकों को ही लेकर आगरा आयें। परन्तु शाहजादों ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें भय था कि दाराशिकोह उनके जीवन को खतरे में डाल सकता है। इस प्रकार स्थिति ऐसी हो गयी कि शाहजादों का विश्वास बादशाह और उसके सन्देशों से उठ गया अथवा उन्होंने उसकी परवाह नहीं की और वे बल-प्रयोग के लिए तत्पर हो गये। मुराद ने अपने को गुजरात में और शाहशुजा ने अपने को बंगाल में स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया। जनवरी 1658 ई. में, सर्वप्रथम, शाहशुजा अपनी सेनाओं को लेकर राजधानी की ओर बढ़ा। मुराद ने अपने दीवान अलीनकी को कत्ल करा दिया, सूरत को लूटा और फरवरी में आगरा की ओर बढ़ा। औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों से उनकी सामर्थ्यानुसार धन एकत्रित किया, अपने प्रमुख सहायक मीर जुमला से भी धन वसूल किया और दक्षिण में अपनी स्थिति दृढ़ करके फरवरी में आगरा की ओर बढ़ा। परन्तु औरंगजेब ने अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित नहीं किया। उसने सिर्फ यह बहाना किया कि वह अपने बीमार पिता से मिलने जा रहा है। दारा के तीनों भाई दारा से ईर्ष्या करते थे और आपस में पत्र-व्यवहार कर रहे थे। औरंगजेब इसमें सर्वाधिक सफल रहा। उसने न केवल इस बात का सफल प्रयत्न किया कि उसकी गतिविधि की सूचना आगरा न पहुँच सके बल्कि उसने मुराद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक समझौता करने में भी सफलता पायी। मुराद के साथ यह समझौता हुआ कि दोनों मिलकर दाराशिकोह को नष्ट करेंगे। उन्होंने यह घोषित किया कि उनका आशय इस्लाम की सुरक्षा के लिए विधर्मी दारा को समाप्त करना है। यह निश्चय हुआ कि सफलता के पश्चात् अफगानिस्तान, पंजाब, कश्मीर और सिन्ध मुराद को एक स्वतन्त्र शासक के रूप में प्राप्त होंगे और लूट के माल में से 1/3 भाग भी मुराद को मिलेगा। बाकी साम्राज्य और धन औरंगजेब को प्राप्त होगा अथवा वह इनके बारे में जो भी चाहे वह समझौता शाहशुजा के साथ कर सकता था।

शाहजहाँ ने इन विद्रोही सेनाओं का मुकाबला करने के लिए एक सेना दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह और जयसिंह के नेतृत्व में पूर्व की ओर भेजी तथा दूसरी सेना राजा जसवन्तसिंह और कासिमखाँ के नेतृत्व में दक्षिण की ओर भेजी। इनको आदेश दिये गये थे कि पहले तो वह शाहजादों को समझा-बुझाकर अपने सूबों में वापस लौटने के लिए बाध्य करें और यदि युद्ध आवश्यक हो जाय तो भी शाहजादों का जीवन नष्ट नहीं किया जाय। शाही सेना का मुकाबला शाहशुजा से बनारस से पाँच मील दूर बहादुरपुर नामक स्थान पर 14 फरवरी, 1658 ई. को हुआ। शाहशुजा की पराजय हुई और वह बंगाल की ओर भाग गया। इसी अवसर पर दक्षिण में भी युद्ध हुआ। अप्रैल 1658 ई. में दीपालपुर नामक स्थान पर औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ मिल गयी थीं। राजा जसवन्तसिंह को इसका पता न लग सका। उसे केवल मुराद से मुकाबला होने की आशा थी! वह मुराद और औरंगजेब की सम्मिलित सेनाओं से युद्ध करने के लिए तैयार न था। इसके अतिरिक्त, कासिमखाँ का व्यवहार सन्देहजनक था। परन्तु उस समय न तो सन्धि-चर्चा का समय रह गया था और न उसने वापस लौटना सम्मानपूर्ण माना। उज्जैन से 14 मील दूर धरमट नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। युद्ध में कासिमखाँ ने अपेक्षित सहयोग नहीं दिया और युद्ध के बीच में ही भाग खड़ा हुआ। राजा जसवन्तसिंह और उसके राजपूतों को ही युद्ध का सम्पूर्ण भार उठाना पड़ा। परन्तु डटकर मुकाबला करने के उपरान्त भी उनकी पराजय हुई। शाही सेना तितर-बितर हो गयी और राजा जसवन्तसिंह को घायल स्थिति में युद्ध-भूमि से हटाया गया। यही वह अवसर था जबकि उसके जोधपुर वापस लौटने पर उसकी रानी ने युद्ध-क्षेत्र से भागने के अपराध में उसे किले में नहीं घुसने दिया था। धरमट के युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ ग्वालियर होती हुई आगे बढ़ीं। दारा शाहजहाँ की आज्ञा प्राप्त करके उनका मुकाबला करने के लिए आगरा से बाहर निकला। आगरा से 8 मील दूर सामूगढ़ नामक स्थान पर 8 जून, 1668 ई. को दारा ने औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं का मुकाबला किया। दारा ने आरम्भ में ही एक भूल की। औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ लगातार चलते रहकर सामूगढ़ पहुँची थीं और थकी हुई थीं। दारा ने उसी समय उन पर आक्रमण नहीं किया बल्कि उनको एक दिन आराम करने का अवसर दे दिया। 8 जून को ही युद्ध का निर्णय हो गया। दारा की पराजय हुई और उसे युद्ध-स्थल छोड़कर भागना पड़ा। दारा ने शर्म के कारण शाहजहाँ से मिलना भी पसन्द नहीं किया। अपने परिवार के सदस्यों के साथ अधिक से अधिक धन लेकर वह दिल्ली की ओर चल दिया।

सामूगढ़ के युद्ध ने दारा और भारत के भाग्य का निर्णय कर दिया। औरंगजेब स्पष्ट रूप से विजयी हुआ था। उसने आगरा के किले का घेरा डाल दिया, यमुना नदी के पानी को किले में जाने से रोक दिया और शाहजहाँ को कुछ दिनों में ही किले के फाटक खोल देने के लिए बाध्य दिया। बाप-बेटे में पत्र-व्यवहार हुआ और समझौते का मार्ग खोजा गया। परन्तु जब औरंगजेब अपने पिता से मिलने जा रहा था तभी उसके हाथ एक पत्र लगा जिसे शाहजहा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने दारा को लिखा था और जिससे स्पष्ट होता था कि शाहजहाँ उस समय भी बड़े पुत्र के पक्ष में था। औरंगजेब अपने पिता से मिलने नहीं गया और उसके पश्चात् बाप-बेटे का पत्र-व्यवहार तो होता रहा परन्तु भेंट कभी नहीं हुई। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष शाहजहाँ ने आगरा के किले में बन्दी की भाँति व्यतीत किये।

सामूगढ़ के युद्ध में दारा की पराजय के विभिन्न कारण थे। दारा अपने सम्पूर्ण तोपखाने को युद्ध-स्थल पर नहीं ले जा सका था, आरम्भ में उसका उपयोग भी उस समय किया गया जबकि शत्रु सेना उसकी मार में न थी। बाद में वह अपने तोपखाने और शत्रुओं के बीच फँस गया जिससे तोपखाने का प्रयोग ठीक प्रकार न हो सका। दारा ने शत्रुओं की थकी हुई सेना को एक दिन आराम करने का अवसर दे दिया था। उसकी सेना के बायें भाग का सेनापति रुस्तमखाँ ठीक समय पर सहायता न पहुँचने के कारण लड़ता हुआ मारा गया और उसका वामपक्ष दुर्बल हो गया। अपने वामपक्ष को सहायता देने के लिए जब दारा मध्य से हटा तो अपने ही तोपखाने के सामने आ गया। शत्रु के तोपखाने की मार से बचने के लिए अपने कुछ सरदारों के कहने से वह हाथी के हौदे से उतर कर घोड़े पर सवार हो गया। हौदे को खाली देखकर उसके सैनिकों का मनोबल समाप्त हो गया। उसके सैनिकों ने समझा कि दारा मारा गया और वे हतोत्साहित होकर भाग खड़े हुए। राजपूतों ने दारा का साथ दिया और युद्ध में अन्त तक लड़े लेकिन अनेक मुसलमान सरदारों ने दारा का साथ नहीं दिया, यहाँ तक कि उसके दाहिने पक्ष के सेनापति खलीलुल्लाखाँ और उसके सैनिकों ने युद्ध में केवल दिखावे के लिए ही भाग लिया। इन कारणों से दारा की पराजय हुई। यह कहना गलत होगा कि दारा की सेना दुर्बल थी। वास्तव में, उसकी सेना शत्रु-सेना से श्रेष्ठ थी। उसके साथ शाही सेना की रीढ़ की हड्डी समझे जाने वाले सैयद और वफादार एवं शूरवीर राजपूत थे। उसे रुस्तमखाँ, छत्रसाल हाड़ा और दिलेरखाँ अफगन सदृश योग्य एवं साहसी सेनापति प्राप्त थे। उसका तोपखाना भी शक्तिशाली था। परन्तु तब भी अनेक मुसलमान सरदारों द्वारा दारा के साथ विश्वासघात करना और औरंगजेब की सेनापतित्व की योग्यता दाराशिकोह की असफलता के मुख्य कारण बने।

आगरा के किले को हस्तगत करने के पश्चात् औरंगजेब ने दारा का पीछा करने में जल्दी नहीं की। सर्वप्रथम, उसे दारा के लड़के सुलेमान शिकोह को अपने पिता से मिलने से रोकना था क्योंकि उसके साथ अभी भी एक बड़ी सेना थी। इससे भी अधिक औरंगजेब को मुरादबक्स की ओर से चिन्ता थी। मुराद ने शाहजहाँ से अपने कार्यों के लिए क्षमा माँगी थी और शाहजहाँ को राजसिंहासन से हटाने का इरादा भी उसने त्याग दिया था। उसने औरंगजेब से स्वतन्त्र व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। आगरा से औरंगजेब और मुराद की सेनाएं दिल्ली की ओर बढ़ीं। इस अवसर पर मुराद भी औरंगजेब के व्यवहार से शंकित हो गया। औरंगजेब के स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार और अपने प्रति उसकी उदासीनता से मुराद असन्तुष्ट हो गया। औरंगजेब ने मुराद को अपने मार्ग से हटाने की योजना बनायी। उसने मुराद को कई बार दावत पर बुलाया परन्तु मुराद ने प्रत्येक बार आने से इंकार कर दिया। परन्तु मथुरा के निकट शिकार से वापस लौटते हुए औरंगजेब द्वारा धन से खरीदे गये और अपने एक सरदार के कहने से मुराद ने एक रात औरंगजेब के खेमे में गुजारना स्वीकार कर लिया। मुराद को खूब शराब पिलायी गयी, अच्छा भोजन कराया गया और उसके तम्बू में उसके पैरों की मालिश करने के लिए एक दासी को भेज दिया गया। मुराद के घोर निद्रा में सो जाने के पश्चात् उसके हथियार उससे अलग कर दिये गये और उसे बन्दी बना लिया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुराद से मुक्ति पाकर औरंगजेब दिल्ली की ओर बढ़ा। दारा उस समय तक दिल्ली में एक बड़ी सेना एकत्रित नहीं कर सका था। वह दिल्ली को छोड़कर लाहौर चला गया और औरंगजेब ने सरलता से दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ औरंगजेब ने अपना राज्याभिषेक किया और अपने को बादशाह घोषित किया। औरंगजेब ने एक सेना सुलेमान शिकोह का मुकाबला करने के लिए पूर्व की ओर भेजी और स्वयं दारा का पीछा करने के लिए रवाना हुआ। यद्यपि दारा के पास 14,000 की सेना और पर्याप्त धन था परन्तु न तो वह इससे अधिक सेना एकत्रित कर सका और न ही उसने औरंगजेब का मुकाबला करने का साहस किया। वह लाहौर से मुल्तान और मुल्तान से बक्खर भाग गया। औरंगजेब ने मुल्तान तक उसका पीछा किया। उसके पश्चात् अपने सरदारों को उसका पीछा करने के लिए छोड़कर वह दिल्ली वापस लौटा और तब शाहशुजा का मुकाबला करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा।

शाहशुजा ने दारा की पराजय का समाचार प्राप्त करने के पश्चात् बिहार से आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया था। औरंगजेब दारा का पीछा करने गया हुआ था। इस कारण उसे आशा थी कि वह सरलता से आगरा पर अधिकार कर लेगा। इलाहाबाद से आगे ख्वाजा नामक स्थान पर औरंगजेब के बड़े बेटे मुहम्मद ने उसके रास्ते को रोका। उसी समय औरंगजेब और (दक्षिण से) मीर जुमला भी पहुँच गये। यद्यपि राजा जसवन्तसिंह उस समय औरंगजेब की सेना का साथ छोड़कर मारवाड़ वापस चला गया था परन्तु तब भी औरंगजेब की सेना की संख्या शाहशुजा से दुगुनी थी। औरंगजेब ने शाहशुजा पर आक्रमण किया। शाहशुजा की पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। औरंगजेब ने अपने बेटे मुहम्मद और मीर जुमला को उसका पीछा करने के लिए नियुक्त किया जिन्होंने बंगाल तक उसका पीछा किया। शाहशुजा हताश होकर अराकान भाग गया। उसके बाद उसका पता नहीं लगा। कहा जाता है कि उसने वहाँ अराकान के राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का प्रयत्न किया जिसका पता लग गया और उसे मार डाला गया।

इस बीच में दारा बक्खर के किले से भाग निकला। वह कच्छ गया जहाँ के राजा ने उसका पीछा किया। वहाँ से वह गुजरात गया। वहाँ के सूबेदार ने उसका स्वागत किया। अब दारा या तो दक्षिण में जा सकता था अथवा राजस्थान से उसे सहायता मिल सकती थी। राजा जसवन्तसिंह ने उसे सहायता का आश्वासन दिया और दारा राजस्थान की ओर बढ़ा। परन्तु जब वह अजमेर पहुँचा तो उसे यह सूचना प्राप्त करके बड़ी निराशा हुई कि औरंगजेब शाहशुजा को परास्त करके वापस आ गया था और जयपुर के राजा जयसिंह के कहने से राजा जसवन्तसिंह ने औरंगजेब की सेवाएँ स्वीकार कर ली थीं। राजा जसवन्तसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने के अतिरिक्त औरंगजेब ने उसे गुजरात का सूबेदार भी नियुक्त कर दिया था। दारा ने अजमेर के निकट देवराई के दर्रे में औरंगजेब का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और उसे भागना पड़ा। इस बार उसे गुजरात में शरण प्राप्त नहीं हुई और वह अफगानिस्तान जाने के उद्देश्य से सिन्ध में मुड़ गया। बक्खर के किले की सुरक्षा अभी तक दारा का एक वफादार सेवक कर रहा था। दारा ने उसकी रक्षा के लिए जाने का निर्णय किया। उसी समय उसकी पत्नी नादिरा बेगम बीमार हो गयी। दारा ने मलिक जीवन नामक एक बलूची सरदार के यहाँ शरण ली। दारा ने एक बार शाहजहाँ के क्रोध से मलिक जीवन की रक्षा की थी। वहीं पर नादिरा बेगम की मृत्यु हो गयी और उसकी इच्छा के अनुसार दारा ने अपने बचे हुए अंगरक्षकों के साथ उसके शरीर को लाहौर में दफनाने के लिए भेज दिया। दारा अपनी प्रिय बेगम की मृत्यु और अपनी परिस्थितियों के कारण पूर्णतया हताश हो चुका था। मलिक जीवन भी अहसान-फरामोश निकला। उसने दारा और उसके छोटे पुत्र सिपिर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिकोह को औरंगजेब के सरदारों को सौंप दिया। दारा को दिल्ली ले जाकर गन्दे कपड़ों में एक गन्दे हाथी पर बैठाकर शहर में घुमाया गया। शहर में अनेक नागरिक रोये और कुछेक ने मलिक जीवन और उसके साथियों पर आक्रमण कर दिया। दारा के प्रति जनता की सहानुभूति को देखकर औरंगजेब ने दारा को शीघ्र समाप्त करने का निर्णय किया। औरंगजेब ने एक विशेष न्याय-समिति नियुक्त की जिसने दारा को विधर्मी घोषित किया और मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी। 30 अगस्त, 1659 ई. के अन्तिम दिनों में दारा का कत्ल कर दिया गया, उसके शरीर को सड़कों पर दिखाया गया और अन्त में हुमायूँ के मकबरे में उसे दफना दिया गया।

अब औरंगजेब का एक शत्रु बाकी रह गया था। दारा का एक बड़ा बेटा सुलेमान शिकोह अभी जीवित था। सामूगढ़ के युद्ध का उसकी सेना पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा था। राजा जयसिंह और दिलेरखाँ उसका साथ छोड़ गये थे और उसकी सेना की संख्या निरन्तर कम होती जा रही थी। उसने भागकर इलाहाबाद के किले में शरण ली, पंजाब में अपने पिता से मिलने का प्रयत्न किया परन्तु असफल होने पर गढ़वाल में जाकर शरण ली। गढ़वाल के राजा पृथ्वीसिंह ने उसे औरंगजेब को देने से इंकार कर दिया परन्तु राजा जयसिंह ने राजा के लड़के मेदिनीसिंह को फुसला लिया जिसने चुपके से सुलेमान शिकोह को राजा जयसिंह को सौंप दिया। इस प्रकार 1660 ई. के अन्तिम दिनों में सुलेमान शिकोह पकड़ा गया। उसे ग्वालियर के किले में बन्दी रखा गया जहाँ धीरे-धीरे जहर देकर उसे मार दिया गया (1662 ई.)। मुरादबक्स को 1661 ई. में दीवान अलीनकी की हत्या के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया जा चुका था। परन्तु औरंगजेब ने दारा के छोटे बेटे सिपिर शिकोह को जीवित छोड़ दिया। 12 वर्ष के कारावास के पश्चात् उसे मुक्त कर दिया गया और औरंगजेब ने अपनी तीसरी बेटी की शादी उसके साथ कर दी। इसी प्रकार औरंगजेब ने मुराद के बेटे इजीदबक्स को जीवित छोड़ दिया और अपनी पाँचवीं लड़की की शादी उसके साथ कर दी।

इस प्रकार, अपने सभी विरोधियों को समाप्त करके और अपने पिता को कैद करके औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य के बादशाह का पद ग्रहण किया। यह केवल एक अनुमान का विषय है कि यदि औरंगजेब के स्थान पर दाराशिकोह इस उत्तराधिकार के युद्ध में विजयी होता तो भारत के इतिहास पर इसका क्या प्रभाव पड़ता ? औरंगजेब धार्मिक दृष्टि से कट्टर सिद्ध हुआ। उसकी धार्मिक कट्टरता की नीति अकबर की उदार धार्मिक नीति के विपरीत सिद्ध हुई। इससे भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता और बहादुर राजपूत मुगलों के विरोध में हो गये। औरंगजेब ने हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर करके राज्य की उस एकता को नष्ट कर दिया जिसे अकबर ने स्थापित किया था और जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने सुदृढ़ किया था। इससे राज्य में विभाजन हुआ, विद्रोह हुए और मुगल-साम्राज्य दुर्बल हुआ। दाराशिकोह के इस युद्ध में जीतने और मुगल सिंहासन प्राप्त करने से, सम्भवतया, यह न होता। दारा धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार था। इसी कारण हिन्दुओं और राजपूत सरदारों का उसे विश्वास प्राप्त था। यदि वह मुगल बादशाह बना होता तो, सम्भवतया, भारत में अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की विजय हो जाती और धार्मिक कट्टरता के प्रतिक्रियावादी तत्वों को शक्ति प्राप्त करने का अवसर न मिलता। ऐसी स्थिति में मुगल-साम्राज्य विभाजन, विद्रोह और दुर्बलता से बच जाता और, सम्भवतया, अधिक समय तक जीवित रह पाता। परन्तु यह सभी अनुमान का विषय है। औरंगजेब के पक्ष में एक बात यह अवश्य कही जा सकती है कि अपनी स्थिति को दृढ़ करने के उपरान्त उसने और अधिक रक्तपात नहीं किया। यह इससे स्पष्ट होता है कि उसने दारा और मुराद के छोटे पुत्रों को जीवित ही नहीं रहने दिया था बल्कि अपनी पुत्रियों के विवाह भी उनके साथ किये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[6]

शाहजहाँ के अन्तिम वर्ष और मृत्यु

शाहजहाँ ने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष आगरा के किले के शाह बुर्ज में एक बन्दी की भाँति व्यतीत किये। औरंगजेब ने उसके हीरे-जवाहरात ही उससे नहीं छीने बल्कि उसे आराम की साधारण वस्तुओं से भी वंचित रखा। उसका एकमात्र सहारा उसकी पुत्री जहानआरा थी जिसने मृत्यु तक उसकी सेवा की। 1666 ई. में अपनी प्रिय पत्नी मुमताजमहल की याद करते हुए और ताजमहल को निहारते हुए शाहजहाँ की 74 वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गयी। ताजमहल में उसकी प्रिय पत्नी की कब्र के निकट ही शाहजहाँ को साधारण नौकरों द्वारा दफना दिया गया।

[7]

मुमताजमहल

मुमताजमहल शाहजहाँ की सबसे प्रिय पत्नी थी। इतिहास में प्रख्यात शाहजहाँ के सभी पुत्रों एवं पुत्रियों का जन्म उसी से हुआ। उसका बचपन का नाम अर्जुमन्दबानू बेगम था। 1594 ई. में उसका जन्म हुआ और 1612 ई. में उसका विवाह हुआ। शाहजहाँ से उसके चौदह बच्चे हुए। 1631 ई. में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हुई। मुमताजमहल अपने पति के प्रत्येक सुख और दुख में उसके साथ रही। मुमताजमहल बहुत सुन्दर, सुयोग्य, शिक्षित और उदार स्त्री थी। उसका पिता आसफखाँ राज्य का प्रमुख सरदार था जिसने उसका लालन-पालन बहुत ही सहृदयता से किया था। मुमताजमहल का मुख्य गुण उसका पति-परायण होना था। इसके अतिरिक्त वह धर्म-परायण थी। वह इस्लाम धर्म के अनुसार पूजा-पाठ, उपवास आदि नियमपूर्वक करती थी। दान-दक्षिणा का भी उसने प्रबन्ध किया था। गरीबों, अपाहिजों, अनाथों और विधवाओं के प्रति वह बहुत कृपालु थी और दिल खोलकर दान करती थी। राजनीति में उसने कोई हस्तक्षेप नहीं किया था परन्तु यह कहा जाता है कि उसके कट्टर धार्मिक विचारों का प्रभाव शाहजहाँ पर पड़ा था। उसकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए उसकी याद में शाहजहाँ ने आगरा में विश्व-प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण कराया।

[8]

शाहजहाँ का चरित्र, व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

शाहजहाँ के चरित्र, व्यक्तित्व और कार्यों के बारे में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। इसी कारण यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि 'शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं।' निश्चय ही तथ्य कुछ ऐसे हैं जिससे शाहजहाँ के चरित्र को समझना और उसके कार्यों का मूल्यांकन करना कुछ असुविधाजनक है। शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक तरफ वह सुशिक्षित, सभ्य, शालीन, चरित्रवान, उदार, न्यायप्रिय, प्रजापालक, कला-प्रेमी और साहित्य की प्रगति में सहायता प्रदान करने वाला था और दूसरी तरफ वह कठोर, आतंकी, ऐश्वर्य-पसन्द, स्वार्थी और धर्मान्ध था। समय-समय पर प्रकट होने वाली इस विरोधी प्रकृति के कारण ही डॉ. एस. आर. शर्मा लिखते हैं : "कुछ मामलों में शाहजहाँ में विरोधाभास था।"

शाहजहाँ सुशिक्षित, सभ्य और मिलनसार था। उसने स्वयं अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और सभी विद्वानों का वह सम्मान करता था। फारसी और संस्कृत भाषा की प्रगति उसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संरक्षण में हुई। ललित-कलाओं का उसे शौक था। उसने स्थापत्य-कला, चित्रकला और गायन-कला की उन्नति में सहयोग दिया। वह स्वयं अच्छा गायक था। बहु-विवाह करने पर भी वह पत्नीव्रत था। मुमताजमहल के उसका प्रेम इतिहास की कहानी बन गया है। उसे अपने बच्चों में प्रेम था और उसने सभी को पूर्ण और उदारता से शिक्षा प्रदान की थी। वह एक योग्य सैनिक और सेनापति था। अपने पिता के समय में उसने अनेक युद्धों में भाग लिया और सफलता प्राप्त की। अपनी बादशाहत के समय में भी वह अन्त तक युद्ध की योजनाएँ स्वयं बनाता रहा था। एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से उसने अहमदनगर के राज्य को जीतकर राज्य-विस्तार किया तथा बीजापुर और गोलकुण्डा को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। मध्य-एशिया और कन्धार की पुनः प्राप्ति के लिए उसने प्रयत्न किये थे। शासन की दृष्टि से वह न्यायप्रिय और प्रजापालक था। उसके समय में व्यापार, उद्योग और कृषि उन्नतशील स्थिति में थे और राज्य धन-धान्य से पूर्ण था। उसे शासन-प्रबन्ध में रुचि थी और वह उसके लिए अत्यधिक परिश्रम करता था। उसने मनसबदारी-प्रथा में सुधार किया। उसने अकाल और कठिनाइयों के अवसर पर प्रजा की सहायता की। धार्मिक दृष्टि से उसके विचार और उसके कार्य अकबर और जहाँगीर की तुलना में संकीर्ण और अनुदार सिद्ध हुए परन्तु तब भी हिन्दुओं और ईसाइयों के दैनिक धार्मिक जीवन में उसने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मि. डेलावेल ने लिखा है : "काम्बे (खम्भात) में गौ-हत्या बन्द कर दी गयी थी।" मि. मेनरिक ने लिखा है : "हिन्दू जिलों में पशु-वध निषेध था।" शाहजहाँ हिन्दुओं के सभी उत्सवों एवं त्यौहारों में भाग लेता था और 'तुलादान', 'झरोखा-दर्शन' आदि जैसी हिन्दू-प्रथाएँ उसके समय में पहले शासकों की भाँति मानी जाती रही थीं। उसने राजपूत सरदारों के साथ सम्मान और विश्वास का व्यवहार किया जिसके कारण वे मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा के लिए पहले की भाँति ही तत्पर रहे। सभी बातें शाहजहाँ के पक्ष में ठीक मानी जा सकती हैं।

परन्तु शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी है। अनेक ऐसे अवसर आये और ऐसी घटनाएँ हुईं जब शाहजहाँ ने कठोरता और बर्बरता से कार्य किया। अपने पिता के विरुद्ध उसने विद्रोह किया था तथा अपने सभी भाइयों और राज्य के सम्भावित उत्तराधिकारियों को क्रूरता से समाप्त करके उसने राज्य-सिंहासन प्राप्त किया था। एक पिता की दृष्टि से उसने दाराशिकोह के प्रति अधिक प्रेम दर्शाकर पक्षपात का परिचय दिया था और अपने पुत्रों पर नियन्त्रण रखने में वह असफल रहा था। कन्धार और मध्य-एशिया के असफल आक्रमणों ने उसकी सैनिक दुर्बलता को प्रकट किया जिससे राज्य के सम्मान में कमी आयी। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार, "शाहजहाँ मनुष्य और शासक दोनों ही रूप में असफल रहा था।" उसके समय में किसानों पर कर का भार अधिक हो गया और उद्योग तथा व्यापार की उन्नति होने के पश्चात् भी राज्य की बढ़ती हुई सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं किया गया। शाहजहाँ ने अपने पितामह और पिता द्वारा संचित धन और राज्य की बढ़ती हुई आय का प्रयोग अपने व्यक्तिगत शौकों की पूर्ति के लिए किया। उसकी विभिन्न इमारतें, तख्त-ए-ताऊस आदि इसके प्रमाण थे। धार्मिक दृष्टि से उसके समय से अकबर की उदारता का समय समाप्त हो गया। उसके समय में ओरछा के हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया गया और युद्ध में पकड़े गये बन्दियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। बनारस के अनेक हिन्दू-मन्दिरों को शाहजहाँ के आदेश से तोड़ दिया गया और उस अकेले शहर में ही, सम्भवतया, 76 हिन्दू-मन्दिर नष्ट किये गये। हिन्दुओं पर कर का भार बढ़ा दिया गया था। हिन्दुओं पर तो तीर्थयात्रा-कर लगा दिया गया। पंजाब और कश्मीर में हिन्दू और मुसलमान विवाह-कर देते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे, जिसे रोक दिया गया। हिन्दुओं को मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनने से रोक दिया गया और हिन्दुओं के स्थान पर मुसलमानों को सरकारी सेवाओं में प्राथमिकता दी गयी। यद्यपि बाद के समय में दाराशिकोह के प्रभाव के कारण इस अनुदार नीति में कुछ परिवर्तन किया गया परन्तु तब भी उसके समय में धार्मिक अनुदारता का समय आरम्भ हो गया था। शाहजहाँ ने मक्का और मदीना के धार्मिक व्यक्तियों और निवासियों के लिए बहुमूल्य उपहार और दान के लिए धन भेजा। इस प्रकार, शाहजहाँ के चरित्र का दूसरा पहलू असफलता, अपव्यय और अनुदारता का है।

उपर्युक्त दोनों पक्षों पर ठीक प्रकार विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शाहजहाँ के चरित्र में कुछ दोष थे और कुछ क्षेत्रों में उसका समय असफलता और हानियों का था। परन्तु यदि उसके जीवन से उन कार्यों को निकाल दिया जाय अथवा उनके महत्व को कम कर दिया जाय जो शाहजहाँ ने सिंहासन पर बैठने के अवसर पर किये अथवा कभी-कभी क्रोधवश अथवा परिस्थितियोंवश किये, तो शाहजहाँ का व्यक्तित्व, चरित्र और इतिहास में स्थान पर्याप्त अच्छा स्वीकार किया जा सकता है। उसके चरित्र में अवगुण कम और गुण अधिक स्वीकार किये जा सकते हैं। निस्सन्देह, उसकी असफलताएँ कम और सफलताएँ अधिक थीं। शाहजहाँ के आलोचकों में यूरोपियन इतिहासकार अधिक हैं परन्तु वह भी उसके दोषों को गिनाने के पश्चात् उसके समय को श्रेष्ठ बताते हैं। इतिहासकार स्मिथ ने शाहजहाँ की कटु आलोचना की है, परन्तु उसने भी लिखा है : "शाहजहाँ के व्यक्तिगत चरित्र और उसके शासन की सफलता के बारे में चाहे जो भी धारणा रखी जाय परन्तु इसमें कोई विवाद नहीं है कि उसका समय मुगल-वंश और मुगल-साम्राज्य की पराकाष्ठा का था।" भारतीय इतिहासकारों में से अधिकांश उसको इतिहास में अच्छा स्थान प्रदान करने के पक्ष में हैं। शाहजहाँ का स्थान, निस्सन्देह, अपने पितामह अकबर से निम्न तथा अपने पिता जहाँगीर से श्रेष्ठ माना जा सकता है।

[9]

शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था ?

शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं, यह इतिहासकारों के लिए विवाद का प्रश्न है। अनेक इतिहासकार इसे मुगल-काल का ही नहीं वरन् मध्ययुगीन भारत के इतिहास का स्वर्ण-काल मानते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि यदि शाहजहाँ के काल को मुगल-काल का स्वर्ण-काल मान लिया जाता है तो मध्ययुगीन भारत के इतिहास के स्वर्ण-काल का स्थान उसे स्वतः प्राप्त हो जाता है। परन्तु विभिन्न इतिहासकार ऐसे भी हैं जिनका यह कहना है कि शाहजहाँ के काल की बाहरी चमक-दमक के कारण उसे मुगल-काल का स्वर्ण-काल केवल भ्रमवश मान लिया जाता है अन्यथा यह स्थान उसे प्राप्त नहीं होना चाहिए। उन्हीं में से कुछ इतिहासकारों का यहाँ तक कहना है कि कुछ दृष्टिकोणों से तो मुगल-वंश की दुर्बलताओं का आरम्भ उसके समय से ही हो गया था। इस कारण शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं, यह प्रश्न विवादपूर्ण है।

शाहजहाँ के शासनकाल के आलोचकों में से अधिकांश यूरोपीय इतिहासकार हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार 1627 से 1658 ई. तक का प्रायः तीस वर्ष का शाहजहाँ का शासनकाल साधारणतया मुगल-शासन का स्वर्ण-काल कहलाता है। निस्सन्देह, बाह्य दृष्टि से वह सम्पन्नता का युग था। उस समय में विदेशी युद्ध बहुत कम हुए, देश में शान्ति और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समृद्धि थी तथा राजकोष भरपूर था। शाहजहाँ ने अपने पितामह और पिता से अतुल सम्पत्ति प्राप्त की थी, फारस में एक दृढ़ साम्राज्य की स्थापना हो जाने के कारण पश्चिमी देशों से भारत के व्यापार में वृद्धि हुई थी और यूरोप से होने वाले व्यापार से भारत को बहुत लाभ प्राप्त होता था। परन्तु इन सभी लाभों के होते हुए भी यथार्थ में शाहजहाँ के समय से मुगलों की शक्ति और आर्थिक व्यवस्था पतन की ओर अग्रसर होने लगी। शाहजहाँ की फिजूलखर्ची और शासनाधिकारियों एवं उसकी शानदार इमारतों पर किये गये अपव्यय के कारण किसानों और मजदूरों पर (जिन पर साम्राज्य का जीवन निर्भर करता था) अत्यधिक बोझ डाल दिया गया। इससे राज्य पर जो आर्थिक संकट आया और जो उसके उत्तराधिकारी के समय में अधिक स्पष्ट हुआ, वह इस महान् संगठन के पतन का एक मुख्य कारण बना जिसे शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर से प्राप्त किया था।

इस प्रकार इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "आधुनिक इतिहासकारों, मुख्यतया एल्फिन्सटन ने शाहजहाँ के साथ अनावश्यक पक्षपात किया है। शाहजहाँ के दरबार की शान-शौकत, उसके साम्राज्य का विस्तार और सम्पत्ति, उसकी इमारतों के सौन्दर्य और मुख्यतया ताजमहल ने आधुनिक इतिहासकारों को चकाचौंध कर दिया है और वह उसके अनेक अपराधों को भुलाकर उसकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं···सेनापति की दृष्टि से वह अयोग्य था और उसकी सेना का संगठन और नेतृत्व अनुपयुक्त था।" स्मिथ ने आगे लिखा है : "राज्यों के कार्यों में वह निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहीन था।" शाहजहाँ के न्याय के बारे में स्मिथ लिखता है : "शाहजहाँ का न्याय बर्बर एवं भावनाहीन आतंक से पूर्ण, एशिया के साधारण निरंकुशी शासक का न्याय था जिसमें व्यक्तियों के सम्मान का कोई स्थान न था और जिसमें दयालुता नाममात्र के लिए भी न थी।" स्मिथ ने अपने तर्क के समर्थन में अन्य यात्रियों और इतिहासकारों के विचारों को भी प्रस्तुत किया है। वह लिखता है : "पीटर मुण्डी और अनेक यात्रियों के विवरण देश के कुशासन को सिद्ध करते हैं।" इसी प्रकार वह लिखता है : "बर्नियर ने जिसे शाहजहाँ और औरंगजेब के पक्ष अथवा विपक्ष में होने का कोई कारण नहीं था और जिसने मुगल-शासन के उस समय का वर्णन लिखा है जबकि मुगल-वंश पूर्णरूप से स्थापित, अत्यन्त धनवान और विदेशी आक्रमण से मुक्त था, उत्तरी प्रान्तों की स्थिति के बारे में लिखा था कि प्रत्येक स्थान पर बरबादी फैली थी।" उसी प्रकार स्मिथ ने दरबार के इतिहासकार अब्दुल हमीद के वर्णन को भी अपने तर्क के समर्थन में प्रस्तुत किया है और कहा है : "अन्य इतिहासकारों की भाँति उसने विपत्तियों पर पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं किया है।" इस प्रकार तत्कालीन यात्रियों एवं इतिहासकारों के वर्णनों को प्रमाण के रूप में देते हुए स्मिथ ने शाहजहाँ के शासन और उसके समय की आलोचना की है। उसने लिखा है : "जहाँ तक पीटर मुण्डी ने देखा, दक्षिण में अकाल पड़ने के समय राज्य की ओर से पीड़ित जनता के लिए कोई कार्य नहीं किया गया था जबकि बुरहानपुर में शाहजहाँ के निवास-स्थल पर प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं।" डॉ. जदुनाथ सरकार का दृष्टिकोण शाहजहाँ के प्रति इतना अनुदार नहीं है परन्तु अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'मुगल भारत का अध्ययन'* (*Studies in Mughal India*) में शाहजहाँ के दैनिक कार्यक्रम का वर्णन उन्होंने किया है तथा लिखा है : "यद्यपि शाहजहाँ अत्यधिक परिश्रमी था तब भी उसके शासनकाल में मुगल-वंश की अवनति का बीजारोपण हुआ था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी अपनी पुस्तक *'मुगलकालीन भारत'* में लिखा है : "शाहजहाँ का राज्यकाल भारत के मध्यकालीन इतिहास में स्वर्ण-युग के नाम से प्रसिद्ध है। यह केवल कला और कला में भी वास्तुकला की दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।" वह पुनः लिखते हैं : "उसकी धर्मान्धता और अनुदारता औरंगजेब के कट्टर शासन की अग्रदूत थी। उसकी भेंट तथा उपहार स्वीकार करने की प्रथा ने एक प्रकार से रिश्वत को प्रोत्साहन दिया और भेंट एवं उपहार देना राजकीय दरबार में ही नहीं वरन् राजकीय परिवार तथा अमीरों व सामन्तों में एक प्रथा का रूप धारण कर गयी। इससे राज्य-प्रबन्ध में भ्रष्टाचार फैल गया। अपनी बाहरी ठाठ-बाट के कारण वह जनता से अनुचित रूप से धन एकत्र करने के लिए बाध्य हुआ तथा उसकी विलासप्रियता ने जनता का नैतिक स्तर नीचा करने के लिए एक बहुत बुरा उदाहरण प्रस्तुत किया।" इसमें भी सन्देह नहीं कि शाहजहाँ के समय में धार्मिक अनुदारता की नीति आरम्भ हो चुकी थी, प्रतिक्रियावादी तत्वों का प्रभाव शासन और राजनीति में बढ़ गया था तथा राजपूतों को भी शासन में पहले की भाँति उचित सम्मान प्राप्त नहीं हो रहा था। इस प्रकार, शाहजहाँ के शासनकाल में अकबर द्वारा स्थापित राज्य के विस्तृत आधार को संकुचित कर दिया गया था जो, निस्सन्देह, हानिकारक था। इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने शाहजहाँ के समय की दुर्बलता की ओर अधिक या कम मात्रा में ध्यान दिलाया है और उसके आधार पर शाहजहाँ के काल को या तो स्वर्ण-काल स्वीकार करने से इंकार कर दिया है अथवा उसे केवल सीमित मात्रा में ही मुगल-काल का स्वर्ण-काल स्वीकार किया है।

परन्तु अन्य विभिन्न इतिहासकार ऐसे भी हैं जिन्होंने शाहजहाँ के काल को प्रत्येक प्रकार से देखकर यह निर्णय किया है कि शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल कहलाने का अधिकारी है। डॉ. एस. आर. शर्मा ने शाहजहाँ के काल को स्पष्ट रूप से मुगल-काल का स्वर्ण-काल स्वीकार किया है। वह लिखते हैं : "यद्यपि आरम्भ में विद्रोह हुए जो शीघ्रता से दबा दिये गये, यद्यपि राज्य की सीमाओं से बाहर आक्रमणकारी विदेशी युद्ध लड़े गये जो पूर्णतया असफल रहे और जिनमें अपार धन व्यय हुआ, यद्यपि दक्षिण और गुजरात में अकाल पड़ा जिन्होंने देश के विस्तृत भू-प्रदेश को बर्बाद कर दिया, और यद्यपि दक्षिण में निरन्तर युद्ध हुआ जिसका परिणाम अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा पर आधिपत्य था परन्तु जिसने साम्राज्य के आर्थिक साधनों पर बहुत दबाव डाला, तब भी शाहजहाँ के युग में बहुत कुछ ऐसा था जो कीर्तिमय था तथा उसमें अद्वितीय सम्पन्नता के अनेक ऐसे संशय-रहित चिन्ह थे जिनके कारण उसे साम्राज्य का स्वर्ण-काल कहना न्यायपूर्ण है।" अपने पक्ष का पोषण करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं : "हमारा आशय शाहजहाँ के युग की दुर्बलताओं और बुराइयों को छिपाने का नहीं है। उनको मानते हुए भी यह आवश्यक है कि हम उसके समय की संशयरहित सम्पन्नता को स्वीकार करें चाहे वह सम्पन्नता कितने ही थोड़े समय की क्यों न हो।" उनका कहना है : "अपव्ययपूर्ण नौकरशाही, किसानों और मजदूरों पर अत्यधिक बोझा, राष्ट्र का दिवालियापन आदि जैसे विचार विवादपूर्ण हैं और औरंगजेब के दोषों तथा मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उसे उत्तरदायी बताना तर्कपूर्ण नहीं है।" उनके अनुसार, "इतिहासकार स्मिथ ने शाहजहाँ के अत्यधिक पक्ष में प्रकट किये गये विचारों को दुर्बल करने के लिए उसकी अच्छाइयों को भुला दिया और उसके समय की बुराइयों पर बल दिया।" वह कहते हैं : "स्वयं स्मिथ जहाँ शाहजहाँ को निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहीन बताता है वहाँ वह यह भी स्वीकार करता है कि सम्भवतया शाहजहाँ अपने युग के अन्य अधिकांश बादशाहों से बुरा न था यद्यपि निस्सन्देह, उनसे अच्छा भी न था।" वह कहते हैं : "स्मिथ ने पीटर मुण्डी और बर्नियर के विवरणों के उन भागों को उद्धृत किया है जो शाहजहाँ के समय की बुरी स्थिति के बारे में दिये गये थे परन्तु उन्हीं व्यक्तियों के विवरणों ने उन अंशों को भुला दिया है जिनमें शाहजहाँ के समय की सम्पन्नता और गरीबों के लिए सहायता का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन है। बर्नियर ने अपने विवरण में बंगाल के सूबे की सम्पन्नता का विस्तृत उल्लेख किया है।"

अन्य विभिन्न तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने भी शाहजहाँ के युग की विभिन्न प्रकार से प्रशंसा की है। तत्कालीन इतिहासकार राय भारमल ने अपनी पुस्तक 'लुब्-उत-तवारीख' में लिखा है : "अकबर के समय में जिस परगने की आय तीन लाख थी अब उसकी आय केवल 10 लाख है। यद्यपि इस शासन की तुलना में पिछले शासकों का व्यय 1/4 भी नहीं था तब भी बादशाह ने बहुत शीघ्र इतना बड़ा खजाना एकत्र कर लिया था जितना कि उससे पहले के शासक वर्षों में कर पाते।" तत्कालीन इतिहासकार खफीखाँ ने लिखा है: "यद्यपि विजेता और व्यवस्थापक की दृष्टि से अकबर श्रेष्ठतम था परन्तु अपनी भूमि और अर्थ-व्यवस्था, शान्ति और व्यवस्था तथा राज्य के प्रत्येक विभाग के अच्छे शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से ऐसे किसी बादशाह ने भारत में शासन नहीं किया जिससे शाहजहाँ की तुलना की जा सके।" ट्रेवर्नियर जिसने निरन्तर भारत के अधिकांश भागों का भ्रमण किया था, लिखता है: "शाहजहाँ ने एक बादशाह की भाँति अपनी प्रजा पर शासन नहीं किया बल्कि ऐसे किया जैसे कि एक पिता अपने परिवार और बच्चों पर करता है।" शाहजहाँ के समय में शान्ति और व्यवस्था थी। वह स्वयं शासन की देखभाल करता था और उसका शासन सफल था। बर्नियर ने एक स्थान पर लिखा है : "हिन्दुस्तान में भूमि का प्रत्येक एकड़ बादशाह की सम्पत्ति समझा जाता है और एक किसान को बर्बाद करना बादशाह के राज्य पर डाका डालने के समान समझा जाता है।" मोरलैण्ड ने लिखा है : "शाहजहाँ का युग किसानों के लिए शान्ति का युग था।" शाहजहाँ का न्याय कठोर था परन्तु वह निष्पक्ष था। एल्फिन्सटन ने शाहजहाँ के समय के बारे में लिखा है : "शाहजहाँ का काल भारतीय इतिहास में सर्वाधिक समृद्धि का काल था।"

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने शाहजहाँ के शासनकाल की प्रशंसा की है। शाहजहाँ परिश्रमी, योग्य और न्यायप्रिय था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उसके समय में शान्ति और व्यवस्था थी, व्यवसाय, उद्योग एवं व्यापार उन्नति पर थे, किसानों की भलाई का ध्यान रखा जाता था, अत्याचारी सरकारी कर्मचारियों और अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था तथा राज्य प्रगति पथ पर था। शाहजहाँ ने जिस विपुल सम्पत्ति को एकत्रित किया और जिसका उसने प्रदर्शन भी किया, वह शासन की अव्यवस्थित स्थिति में अथवा जनसाधारण की निर्धनता की स्थिति में एकत्र नहीं की जा सकती थी। शाहजहाँ ऐश्वर्य-पसन्द था। उसने दो लाख पचास हजार रुपये की कीमत के हीरे-जवाहरातों से जड़ी हुई एक मशाल मुहम्मद साहब के मकबरे को भेंट की थी, पचास हजार रुपये मक्का के धर्म-गुरु को भेंट किये थे और साठ हजार रुपये मक्का के निवासियों में तथा पचास हजार रुपये मदीना के निवासियों में बँटवाये थे। उसका तख्त-ए-ताऊस तीन गज लम्बा, ढाई गज चौड़ा, पाँच गज ऊँचा और 12 खम्भों वाला रत्नजड़ित सिंहासन था। उसके प्रत्येक खम्भे के ऊपर दो मोर थे और उसके बीच में एक वृक्ष बनाया गया था। सात वर्ष में तैयार किये गये इस सिंहासन में प्रायः एक करोड़ रुपया व्यय हुआ था। संसार-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी शाहजहाँ के पास था। इन सभी से यह स्पष्ट होता है कि निरन्तर होने वाले युद्धों में धन का अपव्यय होने के बावजूद भी राज्य धनवान था। बादशाह के बड़े-बड़े सरंदार और जागीरदार भी इसी प्रकार की शान-शौकत की स्थिति में रहते थे। आसफखाँ अतुल सम्पत्ति का मालिक था, शाहजहाँ के समय में आर्थिक कारणों से कोई असन्तोष और विद्रोह नहीं हुआ था, दक्षिण और गुजरात के अकाल के अवसरों पर प्रजा को समुचित सहायता दी गयी थी और युद्ध के अवसर पर खेती की हानि हो जाने पर बादशाह उनकी पूर्ति कर दिया करता था—ऐसे प्रमाण और उदाहरण प्राप्त होते हैं। ऐसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि शाहजहाँ के समय में मुगल-राज्य की सम्पन्नता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।

राज्य-विस्तार की दृष्टि से दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता में लाने में शाहजहाँ सफल रहा था। मध्य-एशिया में सफलता न मिलना और कन्धार का जीतने के तीनों प्रयत्नों का असफल होना धन का अपव्यय और सैनिक दुर्बलता अवश्य माना जा सकता है परन्तु उनसे राज्य पर कोई संकट नहीं आया था।

साहित्यिक दृष्टि से शाहजहाँ के समय में फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि सभी भाषाओं को संरक्षण प्राप्त हुआ और उनकी प्रगति हुई। 'गंगाधर और 'गंगा-लहरी' के लेखक जगन्नाथ पण्डित शाहजहाँ के राजकवि थे। आचार्य सरस्वती और 'सुन्दर शृंगार', 'सिंहासन-बत्तीसी' तथा 'बारहमासा' के लेखक सुन्दरदास को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। कवि चिन्तामणि पर भी शाहजहाँ की कृपा थी। डॉ. सक्सेना ने लिखा है : "शाहजहाँ का युग प्रायः उस समय से मिल जाता है जिसे हिन्दी-साहित्य और भाषा की प्रगति का सबसे देदीप्यमान युग कहा जाता है।" फारसी भाषा में भी अच्छे ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। अब्दुल हमीद लाहौरी ने 'पादशाहनामा' लिखा और अमीन काजवानी ने 'शाहजहाँनामा' की रचना की। शाहजहाँ का बड़ा पुत्र दाराशिकोह स्वयं अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। उसके संरक्षण में संस्कृत की अनेक पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराया गया। मुंशी बनवारीदास ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद किया और इब्न हरकिरन ने 'रामायण' का अनुवाद किया। साहित्य के अलावा शाहजहाँ के समय में ज्योतिषशास्त्र, अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित आदि की भी प्रगति हुई। राजकीय संरक्षण के साथ-साथ व्यक्तिगत प्रयत्नों से भी इन सभी क्षेत्रों में प्रगति हुई।

शाहजहाँ को सभी ललित-कलाओं का शौक था। चित्रकला में यद्यपि जहाँगीर के समय की भाँति प्रगति नहीं हुई परन्तु शाहजहाँ ने जहाँगीर की परम्परा को स्थापित रखा। शाहजहाँ गाना सुनने का शौकीन था और स्वयं भी बहुत अच्छा गाता था। उसने सुखसेन, सूरसेन और जगन्नाथ जैसे गायकों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया।

परन्तु शाहजहाँ के समय में सबसे अधिक उन्नति वास्तु-कला (स्थापत्य-कला) की हुई। इस दृष्टि से उसका काल, निस्सन्देह, मुगल-काल का स्वर्ण-काल था, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उसके समय में न केवल संख्या की दृष्टि से इमारतों की श्रेष्ठता रही बल्कि कलात्मक दृष्टि से भी प्रगति हुई। दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, आगरा के किले में मोती-मस्जिद, दीवाने-आम, दीवाने-खास और संसार-प्रसिद्ध ताजमहल, लाहौर के किले में दीवाने-आम, मुसम्मम बुर्ज, शीशमहल, नौलक्खा और ख्वाबगाह तथा काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार आदि विभिन्न स्थानों पर बनवायी गयी इमारतें, महल, मकबरे और बगीचे आदि शाहजहाँ के युग को वास्तु-कला की दृष्टि से मुगल-काल में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। ताजमहल को संसार की सुन्दरतम इमारतों में स्थान दिया गया है और मोती-मस्जिद का नाम उसकी सुन्दरता के कारण ही 'मोती-मस्जिद' रखा गया है। शाहजहाँ ने एक 98 मील लम्बी रावी-नहर लाहौर तक बनवायी और एक दूसरी नहर 'नहर-ए-साहिब' (फीरोज-तुगलक द्वारा बनवायी गयी) को न केवल ठीक ही कराया बल्कि उसे 60 मील और लम्बा कराया तथा उसका नाम 'नहर-ए-शाह' रखा।

इस प्रकार, शाहजहाँ का समय साम्राज्य-विस्तार, शान्ति, सम्पन्नता और सांस्कृतिक दृष्टि से मुगल-काल का स्वर्ण-काल माना जा सकता है। अकबर ने जिस साम्राज्य और शासन की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना की और जहाँगीर ने जिसे पल्लवित किया, उसके फल शाहजहाँ के समय में प्राप्त हुए। विलियम हन्टर ने लिखा है : "शाहजहाँ के समय में मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।" उसी प्रकार सर रिचार्ड बर्न ने लिखा है : "शाहजहाँ ने 31 वर्ष शासन किया था। उस समय में उसके वंश का साम्राज्य प्रतिष्ठा और सम्पत्ति के चरम-सीमा पर पहुँच गया।"

परन्तु एक बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है कि राज्य में जो सम्पन्नता आयी उसका लाभ बादशाह और जागीरदारों को ही प्राप्त हुआ था। बहुसंख्यक किसानों का इससे कोई लाभ नहीं हुआ था क्योंकि शाहजहाँ के समय में लगान उत्पादन का आधा भाग होता था और राज्य की अधिकांश खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) को जागीरदारों की भूमि में परिवर्तित कर दिया गया था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शाहजहाँ की दक्षिण नीति की समीक्षा कीजिए।
2. "क्या शाहजहाँ का काल मुगलकाल का स्वर्ण युग था।" तर्क दीजिए।
3. शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिये।
4. शाहजहाँ के पुत्रों में हुए उत्तराधिकार के युद्ध के कारण व परिणाम लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शाहजहाँ के चरित्र का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. 'शाहजहाँ का युग स्वर्ण युग नहीं था।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. ताजमहल पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
4. उत्तराधिकार के युद्ध का परिणाम लिखिए।
5. शाहजहाँकालीन स्थापत्य कला का वर्णन कीजिए।
6. शाहजहाँ के काल में साहित्य के विकास पर एक लेख लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जहाँगीर के पुत्र खुर्रम का 5 जनवरी, 1592 ई. में जन्म हुआ था—
   (अ) काबुल में (ब) कन्धार में
   (स) लाहौर में (द) आगरा में।
2. बुन्देलखण्ड के विद्रोह का नेतृत्व किया था ?
   (अ) वीरसिंह बुन्देला ने (ब) जुझारसिंह ने
   (स) विक्रमाजीत सिंह ने (द) इनमें से किसी ने नहीं।
3. जुझारसिंह की राजधानी थी—
   (अ) ओरछा (ब) गोंडवाना
   (स) चौरागढ़ (द) दतिया।
4. खानेजहाँ की शाहजहाँ से नाराजगी का मुख्य कारण था—
   (अ) दक्षिण की सूबेदारी महाबत खाँ को देना
   (ब) स्वतन्त्रता की उसकी प्रवृत्ति
   (स) दोनों
   (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. शाहजहाँ पुर्तगालियों के दमन का क्यों इच्छुक था ?
(अ) पुर्तगालियों की बढ़ती उद्दण्डता (ब) लोगों को ईसाई बनाने की प्रवृत्ति
(स) उनकी लूटमार की प्रवृत्ति (द) उपर्युक्त सभी।

6. शाहजी भोंसले ने मुगल सेवा स्वीकार की थी—
(अ) 1628 ई. में (ब) 1629 ई. में
(स) 1630 ई. में (द) 1631 ई. में।

7. गोलकुण्डा के शासक अब्दुल्ला कुतुबशाह की सिंहासनारोहण के समय कितनी आयु थी—
(अ) 11 वर्ष (ब) 12 वर्ष
(स) 13 वर्ष (द) 14 वर्ष।

8. औरंगजेब पहली बार दक्षिण का सूबेदार कब बना था ?
(अ) 1626-1634 ई. (ब) 1642 से 1652 ई.
(स) 1636-1644 ई. (द) इनमें से कोई नहीं।

9. मीर जुमला का नाम था—
(अ) पीर मोहम्मद (ब) मुहम्मद अमीन
(स) फतह खाँ (द) मीर मुहम्मद सैयद।

10. इब्राहीम शाह की मृत्यु के बाद बीजापुर के शासक के पद पर कौन आसीन हुआ था ?
(अ) मुहम्मद आदिलशाह (ब) इब्राहीमशाह द्वितीय
(स) रनदुल्ला खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।

11. 1636 ई. की मुगलों और बीजापुरियों के मध्य सन्धि के कारण कितने वर्षों तक शान्ति रही ?
(अ) 18 वर्ष तक (ब) 20 वर्ष तक
(स) 24 वर्ष तक (द) 25 वर्ष तक।

12. शाहजहाँ के जीवित पुत्र और पुत्रियों की कुल संख्या थी—
(अ) 5 (ब) 6
(स) 7 (द) 8।

13. सामूगढ़ के युद्ध में कौन मुगल शाहजादा पराजित हुआ था ?
(अ) दाराशिकोह (ब) औरंगजेब
(स) शाहशुजा (द) मुराद।

14. शाहजहाँ ने अपने जीवन के कितने वर्ष किले में बन्दी अवस्था में व्यतीत किए थे ?
(अ) 5 वर्ष (ब) 8 वर्ष
(स) 7 वर्ष (द) 6 वर्ष।

15. शाहजहाँ के शासनकाल में किस कला का चरमोत्कर्ष हुआ था ?
(अ) मूर्तिकला का (ब) चित्रकला का
(स) स्थापत्य कला का (द) इनमें से कोई नहीं।

16. 'राज्य के कार्यों में वह (शाहजहाँ) निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहीन था' यह कथन किसका है ?
(अ) स्टेनले लेनपूल का (ब) वी. ए. स्मिथ का
(स) लिप्सन का (द) मैरियट का।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17. 'मुगल वंश की अवनति का बीजारोपण शाहजहाँ के काल से हुआ था' किसने लिखा है ?
(अ) सर जदुनाथ सरकार (ब) वी. ए. स्मिथ
(स) डॉ. हरिशंकर श्रीवास्तव (द) इनमें से कोई नहीं।

18. लुब्ब-उत-तवारीख का लेखक था—
(अ) अब्दुल कादिर (ब) अबुल फजल
(स) राय भारमल (द) भीमसेन।

19. 'शाहजहाँ का युग किसानों के लिए शान्ति का युग था।' किसने लिखा है ?
(अ) परमात्माशरण (ब) डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड ने
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने (द) डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने।

20. 'गंगाधर' और 'गंगालहरी' का लेखक था—
(अ) आचार्य सरस्वती (ब) बनारसी दास
(स) हरकिरन (द) जगन्नाथ।

[उत्तर—1. (स), 2. (ब), 3. (अ), 4. (स), 5. (द), 6. (ब), 7. (अ), 8. (स), 9. (द), 10. (अ), 11. (ब), 12. (स), 13. (अ), 14. (ब), 15. (स), 16. (ब), 17. (अ), 18. (स), 19. (ब), 20. (द)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7

औरंगजेब (1658-1707 ई.)

शाहजादे की स्थिति में औरंगजेब ने एक योग्य सेनापति तथा कुशल शासन-प्रबन्धक होने का परिचय दिया। उत्तराधिकार के युद्ध में गतिशीलता, सैन्य-संगठन, नेतृत्व एवं अवसर का सदुपयोग करने की जिस क्षमता का परिचय उसने दिया, उसके कारण वह अपने भाइयों के विरुद्ध सफलता पा सका। निस्सन्देह, उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब की सफलता साम्राज्य के लिए आकांक्षी शाहजादों में से सबसे योग्य सेनापति और व्यावहारिक कूटनीतिज्ञ शाहजादे की सफलता थी। इस सफलता से मुगल-साम्राज्य का संचालन दृढ़ एवं शक्तिशाली हाथों में हो गया। **औरंगजेब ने एक लम्बे समय तक भी शासन किया जिससे उसकी शक्ति, दृढ़ता और योग्यता का लाभ साम्राज्य को प्राप्त हो सकता था।** औरंगजेब को शान्त, दृढ़, विस्तृत और समृद्धशाली साम्राज्य प्राप्त हुआ था। उसने उसका अत्यधिक विस्तार किया परन्तु तब भी औरंगजेब असफल हुआ। उसके समय के अन्तिम दिनों में मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया था। औरंगजेब एक महान् शासक था, परन्तु उसकी असफलता भी अभूतपूर्व थी।

3 नवम्बर, 1618 ई. को उज्जैन के निकट दोहद नामक स्थान पर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब का जन्म मुमताज के गर्भ से हुआ था। जिस समय शाहजहाँ का अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह असफल हुआ उस समय दाराशिकोह और औरंगजेब को नूरजहाँ के पास बन्धक के रूप में रखा गया। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् उनको मुक्त किया गया। औरंगजेब की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। सैनिक-शिक्षा के साथ-साथ उसने धार्मिक ग्रन्थों तथा अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषा को भी सीखा। 18 मई, 1637 ई. को औरंगजेब का विवाह फारस राजघराने की राजकुमारी दिलरास बानो बेगम (रबिया बीबी) से हुआ था। उसका पहला सैनिक-अभियान बुन्देलखण्ड के शासक जूझरसिंह के विरुद्ध हुआ जिसमें उसने सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् औरंगजेब ने समय-समय पर दक्षिण के सूबेदार (दो बार), गुजरात का सूबेदार, बल्ख (मध्य-एशिया) और कन्धार के आक्रमण का सेनापति आदि के रूप में कार्य किया और सैनिक कूटनीतिज्ञ तथा शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से अनुभव प्राप्त किया। उत्तराधिकार के अवसर पर वह दक्षिण का सूबेदार था। अपने भाइयों को मारकर और शाहजहाँ को कैद करके उसने राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसका पहला राज्याभिषेक दिल्ली में 31 जुलाई, 1658 ई. को और दूसरा राज्याभिषेक 'खजवा' एवं 'देवराई' के युद्ध में सफल होने के बाद दिल्ली में ही 15 जून, 1659 ई. को हुआ तथा 'अब्दुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहम्मद औरंगजेब बहादुर आलमगीर पादशाह गाजी' की उपाधि धारण कर वह मुगल बादशाह के सिंहासन पर आसीन हुआ।

[1]

औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त : धार्मिक असहिष्णुता और उसके परिणाम

एक पत्र में अपने पिता को औरंगजेब ने लिखा था : "जहाँपनाह अच्छी तरह जानते हैं कि अल्लाह उसी को उत्तरदायित्व सौंपता है जो अपनी प्रजा की भलाई और उसकी रक्षा करने के कर्तव्य की पूर्ति करता है.....सम्प्रभुता का अर्थ प्रजा की रक्षा है, न कि भोग-विलास और अफीम।" औरंगजेब ने एक बार कहा था : "वास्तव में महान् बादशाह वह है जो अपनी प्रजा पर समानता से शासन करना अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझता है।" बादशाह के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के विषय में औरंगजेब के यह विचार सर्वथा निर्मूल न थे। उसने अपनी प्रजा की भलाई को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझा था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अपनी प्रजा की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को ही नहीं अपितु धार्मिक और नैतिक स्थिति की उन्नति करना भी औरंगजेब अपना कर्तव्य मानता था। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में राज्य की समृद्धि और किसानों की समृद्धि एक अच्छी लगान-व्यवस्था पर निर्भर करती थी। औरंगजेब ने किसानों का पूरा ध्यान रखा और व्यापारियों, उद्योगपतियों आदि सभी की उन्नति का प्रयत्न किया और इसके लिए उसने विभिन्न कानून बनाये। सिंहासन पर बैठते ही औरंगजेब ने करीब 80 करों को समाप्त कर दिया। इन्हीं में से 'राहदारी' (परिवहन-कर), 'पानडारी' (चुंगी-कर) विभिन्न प्रमुख स्थानीय कर थे, जिन्हें 'आबवाब' पुकारते थे। इन करों का भार जनसाधारण पर था। इससे यद्यपि राज्य की आय में करोड़ों रुपया प्रति वर्ष की कमी हुई परन्तु जनसाधारण को इससे लाभ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय अधिकारियों की बेईमानी के कारण इसमें से बहुत से कर जनसाधारण से इसके बाद भी लिये जाते रहे। परन्तु तब भी यह कार्य औरंगजेब की एक अच्छे शासन-प्रबन्धक की भावना के प्रतीक थे। औरंगजेब न्यायप्रिय था। ओविंगटन ने लिखा है : "महान् मुगल न्याय का सागर है।" औरंगजेब बहुत परिश्रमी था। प्रातःकाल 5 बजे से रात तक औरंगजेब सप्ताह के प्रायः सभी दिनों में शासन-कार्य में व्यस्त रहता था। अपने अन्तिम समय तक उसने कठिन युद्धों से भी मुख नहीं मोड़ा था। उसने स्वयं लिखा था : "जब तक जीवन की एक भी साँस बाकी है तब तक परिश्रम और कार्य से छुटकारा नहीं मिल सकता।" एल्फिन्सटन ने लिखा है : "जब बादशाह दक्षिण के युद्धों में लगा हुआ था उसकी आयु अधिक हो गयी थी। तब भी वह शासन के प्रत्येक विभाग की, प्रत्येक छोटे से छोटे अधिकारी की, प्रत्येक सन्देश की, प्रत्येक आक्रमण की और प्रत्येक किले को जीतने की योजना की ओर स्वयं ध्यान देता था।" इस प्रकार **औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त महान् था और मध्य-युग के महान् शासक होने के सभी गुण उसमें थे।**

परन्तु औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। उसने इस्लाम के महत्व को समझते हुए 'कुरान' (शरीयत) को अपने शासन का आधार बनाया। 1659 ई. में औरंगजेब ने कुरान के नियमों के अनुरूप इस्लामी आचरण संहिता के नियमों की पुनर्स्थापना के लिए अनेक अध्यादेश जारी किये। बादशाहत उसे न केवल अच्छा शासन करने के लिए ही प्राप्त हुई थी बल्कि इस्लाम (और उसमें भी सुन्नी मत)की सुरक्षा का और विस्तार के लिए भी प्राप्त हुई थी। औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। औरंगजेब का प्रमुख लक्ष्य इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(भारत) 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दार-उल-इस्माल' (इस्लाम देश) बनाना था। औरंगजेब जीवनपर्यन्त इस उद्देश्य को न भूल सका और न कभी शासन-नीति को इससे पृथक रख सका। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने पुत्र अकबर को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए छोड़ दिया, राजपूतों, जाटों, सिखों एवं मराठों को संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दिया, दक्षिण के शिया-राज्य बीजापुर और गोलकुण्डा को समाप्त कर दिया और अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा पर शासन, सम्मान, धर्म, अर्थ आदि सभी प्रकार से इतना दबाव डालने का प्रयत्न किया कि वह धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हो जाये। औरंगजेब का विश्वास था कि उससे पहले के सभी मुगलों ने सबसे गम्भीर भूल यह की थी कि उन्होंने भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। औरंगजेब ने अपने जीवन में इस कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार यह इस्लाम के मानने वाले बादशाह का एक प्रमुख कर्तव्य था। इस धारणा से औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त संकीर्ण बन गया, उसका कर्तव्य सीमित हो गया, उसकी नीति असहिष्णु बन गयी और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का बादशाह न रहा। औरंगजेब स्वयं इस्लाम का विद्वान था, नियमपूर्वक उसके नियमों का पालन करता था, इस्लाम और वह भी उसकी सुन्नी शाखा की श्रेष्ठता में उसका विश्वास था और वह अन्य सभी व्यक्तियों को अपने इस सत्य-धर्म के मार्ग पर लाने के लिए जीवनभर प्रयत्नशील रहा।

यह विचार भी प्रकट किया गया है कि व्यक्तिगत धारणा के अतिरिक्त परिस्थितियों ने भी औरंगजेब को धार्मिक कट्टरता की नीति अपनाने के लिए बाध्य किया था। एक तरफ अकबर की उदार नीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं और राजपूतों को समाज और शासन में प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया था और दूसरी तरफ इस्लाम के प्रतिक्रियावादी तत्व जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में प्रभावपूर्ण बनते जा रहे थे। उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर इन विरोधी तत्वों ने विरोधी शाहजादों का युद्ध में पक्ष लिया। औरंगजेब को प्रतिक्रियावादी तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ जबकि राजपूतों ने उसका विरोध किया। ऐसी स्थिति में युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब का हिन्दुओं एवं राजपूतों के प्रति शंकालु होना और प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन करना स्वाभाविक था। यह विचार तर्कसंगत है परन्तु फिर भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति का मुख्य आधार उसकी धार्मिक कट्टरता की स्वयं की धारणा थी।

औरंगजेब ने सिक्कों पर कलमा का खुदवाना बन्द कर दिया, नौरोज का त्यौहार मनाना बन्द कर दिया, तुलादान और झरोखा-दर्शन बन्द कर दिया, हिन्दू-राजाओं के माथे पर अपने हाथ से तिलक लगाना बन्द कर दिया, जिन्हें अकबर ने आरम्भ किया था। दरबार से गाने-नाचने वालों को निकाल दिया, भाँग का उत्पादन बन्द कर दिया, शराब पीना और जुआ खेलना बन्द करने का प्रयत्न किया, सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया, वेश्याओं को शादी करने अथवा देश छोड़ देने के आदेश दिये और दरबार में होली, बसन्त, दीवाली आदि त्यौहार मनाने बन्द कर दिये। इनमें से कुछ कार्य लाभदायक थे, परन्तु इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य सरकार से शिया और हिन्दू रीति-रिवाजों को समाप्त करना था। इस बात की देखभाल के लिए कि उसके धार्मिक नियम माने जायें, औरंगजेब ने बड़े-बड़े नगरों में 'मुहतसिबों' (धर्म-निरीक्षकों) की नियुक्ति की। मुहतसिबों का कर्तव्य था कि वह देखें कि मुसलमान ठीक प्रकार से अपने धर्म का पालन करते हैं या नहीं। उनका कर्तव्य धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देना भी था। औरंगजेब के समय में उदार शियाओं और सूफियों को भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दण्डित किया गया। औरंगजेब इस्लामी कानूनों को अक्षरशः मानने के कारण अपनी सुन्नी प्रजा के लिए 'जिन्दा-पीर' तथा अपने सादे रहन-सहन, रोजे और नमाज का नियमित से पालन करने तथा जीवनभर शराब न पीने के कारण 'शाही दरवेश' के रूप में भी जाता था।

अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत कठोर रहा। एक ओर अनुसार हिन्दुओं को अपने मन्दिरों की मरम्मत कराने का अधिकार न रहा और सूबेदारों मुहतसिबों को सभी हिन्दू-मन्दिरों एवं पाठशालाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी गयी हिन्दू अपने धर्म और शिक्षा का प्रसार न कर सकें। यह तो सम्भव नहीं हो सकता हिन्दुओं के सभी मन्दिर और पाठशालाएँ समाप्त कर दिये जाते परन्तु बनारस का विश्व का मन्दिर, मथुरा का केशवदेव का मन्दिर, पाटन का सोमनाथ का मन्दिर और प्राय बड़े-बड़े मन्दिर, मुख्यतया उत्तर-भारत के, उसके समय में तोड़े गये। अधीनस्थ हिन्दू राज के राज्यों में भी यही कार्य किया गया और अनेक स्थानों पर मन्दिरों की जगह मस्जिदें दी गयीं। 1679 ई. में सभी हिन्दुओं पर 'जजिया' (धार्मिक-कर) लगा दिया गया। यद्यपि 1704 ई. में दक्कन से यह कर उठा लेना पड़ा। उसके जजिया लगाने का उद्देश्य राजनीतिक था। क्योंकि वह मराठों और राजपूतों के खिलाफ मुसलमानों को संगठित चाहता था। इस कर के लिए सभी गैर-मुस्लिमों को तीन वर्गों में बाँटा गया। जिनकी 200 दिरहम प्रति वर्ष से कम थी उनको 12 दिरहम प्रति वर्ष, जिनकी आय 200-10 दिरहम प्रति वर्ष थी उनको 24 दिरहम प्रति वर्ष और 10,000 दिरहम प्रति वर्ष से ऊप आय के व्यक्तियों को 48 दिरहम प्रति वर्ष देने पड़ते थे। कारीगरों को अपने परिवार के को पूरा करने के बाद ही यह कर देना पड़ता था। स्त्रियाँ, गुलाम, 14 वर्ष से कम आ बच्चे, भिखारी और आय-रहित व्यक्ति इस कर से मुक्त थे। हिन्दुओं पर 'तीर्थयात्रा लगाया गया और जबकि मुसलमान व्यापारी व्यापारिक-कर से मुक्त रहे। हिन्दू व्यापारि वस्तु के मूल्य का 5% कर के रूप में लिया गया। जहाँ तक सम्भव हुआ, हिन्दुओं लगान-अधिकारियों के पदों से हटाया गया। 1674 ई. में गुजरात प्रान्त में धार्मिक अनुदान रूप में दी गयी हिन्दुओं की भूमियाँ जब्त कर ली गयीं। 1688 ई. में हिन्दुओं के त्यौहारों उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा उसी वर्ष राजपूतों के अतिरिक्त सभी हिन्दुओं पालकी या अच्छे घोड़े की सवारी करने और हथियार रखने से रोक दिया गया। इस हिन्दुओं पर विभिन्न प्रकार से दबाव डालने का सिर्फ एक ही आशय हो सकता था और था धर्म-परिवर्तन। उसने गुरुवार (जुमेरात) की रात को पीरों की मजार एवं अन्य कब्रों पर जलाने की प्रथा को बन्द करवा दिया। औरंगजेब ने धार्मिक दबाव, सामाजिक असम्मान राजनीतिक सुविधाओं से वंचित करना आदि के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में परिव करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दू प्रजा को अन्य विभिन्न प्रक लालच भी दिये जाते थे। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि औरंगजेब ने राज्य की आ कठिनाइयों के कारण हिन्दुओं पर यह कर लगाये थे, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह बहु करों को समाप्त करने की नीति न अपनाता। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ही मूल इसके लिए उत्तरदायी थी। इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "अपने इतिहास में पहली बार एक कट्टर मुसलमान को बादशाह के रूप में देखा। एक ऐसा मुसलमान जो दमन भी उतना ही करता था जितना कि अपनी प्रजा का और एक ऐसा बादशाह जो धर्म के लिए अपने राज्य-सिंहासन को भी छोड़ने के लिए तत्पर था।" औरंगजेब 40 व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयु में बादशाह बना था। वह व्यवहार-कुशल, चालाक और कूटनीतिज्ञ था। ऐसा सम्भव नहीं था कि वह अपनी नीति के दुष्परिणामों को न समझ सका हो, परन्तु तब भी वह मृत्युपर्यन्त दृढ़ता से अपनी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन करता रहा। उसका धार्मिक उत्साह ही इसका मूल कारण था। लेनपूल ने लिखा है : "दक्षिण की महान् सेना के क्षत-विक्षत अवशेषों के बीच पड़े हुए प्रायः 90 वर्ष के मरणासन्न औरंगजेब की आत्मा में धार्मिक उत्साह की वही अग्नि धधक रही थी जिसके कारण उसी प्रान्त में अपनी युवावस्था के समय में उसने अपनी सैनिकों की पोशाक को फेंककर एक भिखारी फकीर के निकृष्ट वस्त्र पहन लिये थे।" उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए, डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ये सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का विस्फोट था जो, निस्सन्देह, अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था।" इस प्रकार, औरंगजेब की योग्यता, गुण और नीति आदि सभी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की भाँति किया। **औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी धार्मिक सहिष्णुता की नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया और यही उसके लिए और मुगल-साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि के लिए घातक सिद्ध हुई।**

औरंगजेब के इस राजत्व-सिद्धान्त और धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण साम्राज्य में अनेक विद्रोह हुए। सतनामियों, जाटों और सिखों के विद्रोह इसके कारण ही हुए। बुन्देलों के विद्रोह और मराठों के संघर्ष का कारण राजनीति के साथ-साथ धार्मिक भी था। मुगल राज्य में अशान्ति, अव्यवस्था और निरन्तर संघर्ष हुए जिनके कारण स्वयं औरंगजेब असफल हुआ और मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ।

जाटों का विद्रोह

औरंगजेब की धार्मिक नीति के विरुद्ध पहला संगठित विद्रोह जाटों ने किया। मथुरा का स्थानीय अधिकारी अब्दुल नबी हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ रहा था और हिन्दू-स्त्रियों को अपमानित कर रहा था। 1661-62 ई. में उसने एक हिन्दू-मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवायी और वह दाराशिकोह द्वारा केशवराय के मन्दिर को भेंट में दिये गये एक जंगले को भी ले गया था। उसके अत्याचारों से दुखी होकर 1669 ई. में स्थानीय जाटों ने गोकुल के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया, अब्दुल नबी को मार दिया और सादाबाद की तहसील में लूटमार की। 1670 ई. में मुसलमानों ने बीरसिंह बुन्देला द्वारा बनवाये गये केशवराय के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ दिया और उसके स्थान पर मस्जिद की स्थापना की। इससे गोकुल का विद्रोह बढ़ता गया, उसके समर्थकों की संख्या 20,000 तक पहुँच गयी और उसने मुगलों की छोटी-छोटी टुकड़ियों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। अन्त में, तिलपत के युद्ध में जाट परास्त हुए, गोकुल पकड़ा गया, उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये, उसके परिवार के सदस्यों तथा बन्दी बनाये गये जाटों को या तो इस्लाम में परिवर्तित कर लिया गया अथवा मार दिया गया। परन्तु जाटों का विद्रोह समाप्त नहीं हुआ। 1686 ई. में जाटों ने राजाराम के नेतृत्व में विद्रोह किया। राजाराम ने कई मुगल अधिकारियों को परास्त किया, आगरा तक आक्रमण किये और कहा जाता है कि उसने बादशाह अकबर के मकबरे सिकन्दरा को हानि पहुँचायी तथा अकबर की कब्र को खोदकर उसकी हड्डियों को जला दिया। परन्तु 1688 ई. में राजाराम एक युद्ध में घायल हुआ और मारा गया। उसके पश्चात् राजाराम के भतीजे चूरामण ने विद्रोह जारी रखा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाटों का यह विद्रोह औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा और अन्ततोगत्वा जाटों ने मथुरा के निकट भरतपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।

2. सतनामियों का विद्रोह

1672 ई. में सतनामियों का विद्रोह हुआ। नारनौल और मेवात जिलों में सतनामियों का धार्मिक सम्प्रदाय पर्याप्त विख्यात था। सत्य-ईश्वर में विश्वास करने के कारण वे ब्रह्म को सतनामी पुकारते थे। वे अपने सम्पूर्ण शरीर के बालों को मूँड़ कर रखते थे। इस कारण उन्हें 'मुण्डिया' भी पुकारते थे। एक सतनामी साधु और मुगल सैनिक के झगड़े से यह विद्रोह आरम्भ हुआ। स्थानीय फौजदार उनके विद्रोह को न दबा सका और जो छोटी-छोटी सेना औरंगजेब ने भेजीं उन्हें परास्त कर दिया गया। यह भ्रान्ति फैल गयी कि सतनामी जादू जानते हैं और उनके शरीर पर बन्दूक की गोलियों का कोई प्रभाव नहीं होता। अन्त औरंगजेब ने कुछेक कागजों पर कुछ लिखकर उन्हें अपने सैनिकों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी सेना के झण्डों पर बँधवा दिया और तोपखाने के साथ उस सेना को भेजा। सतनामियों ने कट्टरता से युद्ध किया परन्तु वे परास्त हुए। करीब 2,000 सतनामी युद्ध में मारे गये और बाकी सतनामियों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

3. सिख-सम्प्रदाय और उसका विद्रोह

1469 से 1708 ई. तक के समय में सिखों के दस गुरु हुए। सिख-सम्प्रदाय के संस्थापक और सिखों के प्रथम गुरु नानक थे। 15 अप्रैल, 1469 ई. को तलबंडी (अब उसे ननकाना साहिब पुकारते है) नामक स्थान पर एक खत्री परिवार में इनका जन्म हुआ। इनके पिता मेहता कालू पटवारी थे। आरम्भ में इन्होंने राज्य-सेवा स्वीकार की, विवाह किया और इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। परन्तु 27 वर्ष की आयु में इन्होंने नौकरी और परिवार दोनों ही त्याग दिये तथा वर्षों तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। इन्होंने असम से लेकर बगदाद तक और तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक भ्रमण किया। वह विभिन्न साधुओं और फकीरों के सम्पर्क में आये। उन पर हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों का प्रभाव था। वह सभी धर्मों में समानता में विश्वास करते थे। एकेश्वरवाद तथा मानवमात्र की एकता गुरु के मौलिक सिद्धान्त थे। अपने अन्तिम दिन उन्होंने अपने परिवार के साथ पंजाब में करतारपुर नामक स्थान पर व्यतीत किये। गुरु नानक एक धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक थे। अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उन्हें तीव्र असन्तोष था। उनका कहना था "यह युग एक कटार है और राजा कसाई, न्याय ने पंख लगा दिये हैं और भाग गया है। दुख से रोता हूँ कि किस प्रकार उद्धार होगा ?" उन्होंने कहा था : "आजकल व्यक्ति केवल शक्ल और नाम से आदमी हैं अन्यथा कार्यों से वे कुत्ते हैं।" इन विचारों को लेकर उन्होंने धार्मिक समानता, एक ईश्वर और सत्कर्मों पर बल दिया। वह मूर्ति-पूजा, जाति-भेदभाव मुल्ला व पण्डितों की श्रेष्ठता के विरुद्ध थे। उन्होंने अवतारवाद और कर्मकाण्ड का किया। वह हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर नहीं करते थे। उन्होंने समानता और सत्कर्म सबसे अधिक बल दिया। नानक ने धर्म-प्रचार के लिए स्थान-स्थान पर 'संगतों' की की और अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने विचारों को फैलाने का उत्तरदायित्व अपने योग्य 'लहना' को सौंपा। दूसरे गुरु अंगद (लहना) ने 1538 ई. में नानक की मृत्यु हो जाने पर कार्य को सफलता से किया। उन्होंने गुरु नानक के सरल उपदेशों का प्रचार किया स्थानीय भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। इन्होंने प्रेरणादायी कविताओं एवं की रचना की जिन्हें एक पुस्तक रूप में संकलित किया गया जो बाद में आदि-ग्रन्थ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से विख्यात हुआ। गुरु अंगद (1539-1552 ई.) के समय में लंगर की व्यवस्था को स्थायी रूप प्रदान किया गया। उससे अन्तर्जातीय खान-पान को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, जाति-बन्धन शिथिल हुए और सिखों में सामाजिक समानता की भावना का विकास हुआ। 1552 ई. में गुरु अंगद की मृत्यु हुई। उन्होंने भी अपनी मृत्यु के अवसर पर अपने गुरु की गद्दी अपने किसी पुत्र को न देकर एक शिष्य अमरदास को सौंपी। तीसरे गुरु अमरदास (1552-1574 ई.) स्वयं खेती और व्यापार करते थे और उन्होंने कभी भी अपने शिष्यों को संसार छोड़ने के लिए नहीं कहा। उन्होंने अपने शिष्यों को 'पारिवारिक सन्त' होने का उपदेश दिया। उन्होंने सिखों के सम्प्रदाय को संगठित किया। उन्होंने इस कार्य के लिए 22 गद्दियाँ बनायीं जिनमें से प्रत्येक गद्दी का प्रधान गुरु के द्वारा नियुक्त किया जाता था। उस प्रधान व्यक्ति का कर्तव्य सिखों की सुरक्षा और गुरु के उपदेशों का प्रचार करना था। गुरु अमरदास स्वयं बहुत साधारण भोजन करते थे जबकि उनके लंगर में प्रत्येक गरीब और अमीर तथा हिन्दू और मुसलमान को बहुत अच्छा भोजन मिलता था। गुरु अमरदास ने लंगर-व्यवस्था में एक और परिवर्तन कर दिया। वह उस व्यक्ति से नहीं मिलते थे जो उनके लंगर में भोजन नहीं करता था। इस प्रकार, उन्होंने जाति-व्यवस्था पर और अधिक कठोर आघात किया। गुरु अंगद के पुत्र बाबा श्रीचन्द ने अपना एक सम्प्रदाय (उदासी) बना लिया था। उनके विरोध के कारण गुरु अमरदास ने अपने स्थान को बदल दिया और गोइन्दवाल चले गये। गुरु अमरदास ने सती-प्रथा का विरोध किया, विवाह की क्रियाओं को साधारण बनाया, पर्दा-प्रथा का विरोध किया और नशीली वस्तुओं, मुख्यतया शराब के प्रयोग का विरोध किया। उन्होंने विवाह-पद्धति को सरल बनाते हुए एक नवीन स्वरूप प्रदान किया जिसे 'लवन' पुकारा गया। उन्होंने, इसी प्रकार, मृतक-संस्कार को भी सरल बनाया। गुरु अमरदास ने अपने उत्तराधिकारी रामदास को 'देवत्व-गुणों' से युक्त बताया और उन्होंने सिखों से माँग की कि वे अपनी सम्पत्ति और आत्मा गुरु की इच्छा पर छोड़ दें। अकबर ने पंजाब में गुरु अमरदास से भेंट की थी और उनसे प्रभावित हुआ था। अकबर ने गुरु और उनके शिष्यों को तीर्थयात्रा-कर से मुक्त कर दिया था और उनकी पुत्री के नाम से कई गाँव दिये थे। 1574 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी। चौथे गुरु रामदास (1574-1581 ई.) पर भी अकबर की कृपा रही और उसने उन्हें 1577 ई. में 500 बीघा जमीन दी जिसमें एक प्राकृतिक तालाब भी था। यहीं पर अमृतसर का नगर बसा और अमृतसर का स्वर्ण-मन्दिर बना। 1581 ई. में गुरु रामदास की मृत्यु हो गयी। उन्होंने अपने तीसरे पुत्र अर्जुन को गद्दी सौंपी। उस समय से गुरु की गद्दी पैतृक आधार पर निश्चित होने लगी। यह विचार भी गुरु रामदास ने दिया कि एक गुरु की आत्मा दूसरे गुरु में स्वतः ही चली जाती है। इस कारण प्रत्येक गुरु का सम्मान समान रूप से किया जाना चाहिए। पाँचवें गुरु अर्जुन की आयु गद्दी प्राप्त करने के समय केवल 18 वर्ष थी। अपने समय (1581-1606 ई.) में उन्होंने सिख-सम्प्रदाय को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने जगह-जगह 'संगतों' की स्थापना की, स्थायी रूप से धर्म-प्रचारक (मसद और मेउरा) नियुक्त किये और धर्म-प्रचार के अतिरिक्त उनसे सिखों से ईश्वर के लिए धन लेने का भी कार्य किया। उन्होंने सिखों को व्यापार और कृषि की ओर ध्यान देने को कहा। उन्होंने सिखों को शक्तिशाली बनने के लिए भी कहा। स्वयं गुरु का दरबार मुगल बादशाह की तरह शान-शौकत से भरपूर था यद्यपि गुरु को स्वयं उससे कोई लगाव न था। गुरु अपने शिष्यों से आध्यात्मिक और नैतिक प्रगति के साथ-साथ भौतिक और शारीरिक प्रगति की भी आशा करते थे। उनका कहना था : "जो व्यक्ति सैनिक प्रशिक्षण लेता है, वह युद्धस्थल में निर्भय हो जायेगा। जो व्यक्ति शस्त्र लेकर विजय या मृत्यु का निश्चय करता है और जो व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर सत्य-नाम (ईश्वर) का स्मरण करता है वह कई जन्मों के पापों से मुक्त हो जायेगा और निर्वाण प्राप्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेगा। उनके इन्हीं विचारों एवं प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सिख-सम्प्रदाय पंजाब में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया। गुरु अर्जुन ने अपने और अपने पिछले गुरुओं के उपदेशों का संकलन कराया और 'आदिग्रन्थ' की रचना की जो सिखों की धार्मिक पुस्तक है। गुरु अर्जुन ने ही अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण कराया और 1604 ई. में वहाँ 'आदिग्रन्थ' की स्थापना की। वहीं पर उन्होंने सूफी संत मियां मीर द्वारा हरि-मन्दिर का निर्माण कराया। खुसरो के विद्रोह के अवसर पर गुरु ने उसे आशीर्वाद दिया और कुछ आर्थिक सहायता भी प्रदान की। इससे बादशाह जहाँगीर उनसे असन्तुष्ट हो गया और उसने गुरु से दो अथवा ढाई लाख रुपया जुर्माना माँगा। गुरु ने उसे देने से इंकार कर दिया। उनका कहना था : "मेरे पास अपना कोई धन नहीं है। मेरा धन तो गरीबों और असहायों के लिए है।" जहाँगीर ने गुरु की सम्पत्ति को जब्त करने तथा गुरु और उसके परिवार के सदस्यों को बन्दी बनाने के आदेश दिये। बन्दीगृह में गुरु अर्जुन को कठोर यातनाएँ देकर मार दिया गया (1606 ई.)। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय पर कोई आक्रमण नहीं किया। परन्तु गुरु अर्जुन के साथ किया गया उसका व्यवहार अनुचित था और सिखों ने इसे मुगलों द्वारा अपने धर्म पर पहला आक्रमण माना। उस समय से सिखों को शस्त्र रखने की आवश्यकता अनुभव हुई। गुरु अर्जुन की पीड़ायुक्त मृत्यु ने सिखों को सैनिक-सम्प्रदाय और गुरु को सैनिक-सन्त बनने की भावना प्रदान की। गुरु अर्जुन ने मरते समय अपने पुत्र और उत्तराधिकारी हरगोविन्द को सन्देश दिया था कि "उससे कहना कि वह शोक न मनाये और न पुरुषत्वहीन व्यक्ति की भाँति रोये बल्कि ईश्वर की प्रार्थना करे—अपने सिंहासन पर वह पूर्ण शस्त्र धारण करके बैठे और अपनी सामर्थ्य के अनुसार बड़ी से बड़ी सेना रखे।" छठे गुरु हरगोविन्द (1606-44 ई.) की आयु उस समय केवल 11 वर्ष की थी। उन्होंने अपने पिता की इच्छा का अक्षरशः पालन किया। दस दिन तक उन्होंने "ग्रन्थसाहिब" का पाठ कराया और उसके पश्चात् अपने कमर में दो तलवारें बाँधकर वह अपनी गद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने समर्थकों को माँस खाने की आज्ञा दी। उन्होंने 'तख्त अकाल बंगा' की नींव डाली और अमृतसर की किलेबन्दी की। उन्होंने धार्मिक-शिक्षा के साथ-साथ अपने शिष्यों को सैनिक-शिक्षा भी प्रदान की। उन्होंने ही दरबार में नगाड़ा बजाने की प्रथा को आरम्भ किया जो राजसत्ता का प्रतीक था। जहाँगीर ने उनसे उनके पिता पर किये गये जुर्माने को माँगा जिसे उन्होंने देने से इंकार कर दिया जिसके कारण वे प्रायः दो वर्ष तक ग्वालियर के किले में बन्दी रहे। वहाँ से मुक्त होने के पश्चात् उनके सम्बन्ध जहाँगीर से ठीक रहे। शाहजहाँ के आरम्भ-काल (1628 ई.) में शाहजहाँ के एक प्रिय बाज के गुरु के खेमे में उड़कर आ जाने और गुरु के उसे वापस न देने के कारण गुरु का मुगलों से झगड़ा आरम्भ हो गया। उस समय तो गुरु ने शाही-सेना की टुकड़ियों को परास्त करने में सफलता पायी परन्तु अन्त में अपने धर्म को असुरक्षित समझकर वह कश्मीर की पहाड़ियों में स्थित कीरतपुर नामक स्थान पर चले गये। वहीं 1644 ई. में उनकी मृत्यु हुई। उनके पश्चात् सातवें गुरु हरराय (1644-61 ई.) हुए जिनसे दाराशिकोह अक्सर मिलता रहता था।

जब औरंगजेब मुगल बादशाह बना तब हरराय सिखों के गुरु थे। गुरु हरराय का दाराशिकोह से मेल-जोल था। इस कारण औरंगजेब ने गुरु को दरबार में आने के आदेश दिये। गुरु हरराय ने अपने पुत्र रामराय को दरबार में भेजा जिसे औरंगजेब ने अपने साथ मिला लिया। इस कारण गुरु हरराय ने गद्दी अपने दूसरे पुत्र हरकिशन को सौंपी। रामराय ने औरंगजेब की सहायता लेकर गद्दी पर अधिकार करने का प्रयत्न किया जिसके कारण गुरु हरकिशन को दरबार में बुलाया गया। परन्तु आठवें गुरु हरकिशन (1661-64 ई.) की 1664 ई. में मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सिख-सम्प्रदाय ने हरगोविन्द के पुत्र तेगबहादुर को अपना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु माना। तेगबहादुर (1664-1675 ई.) सिखों के नवें गुरु हुए। उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक नीति का खुले तौर से विरोध किया और स्थान-स्थान पर जाकर उसकी नीति के विरोध में प्रचार किया। औरंगजेब ने उन्हें दिल्ली बुलाया और बन्दी बना लिया। गुरु को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया और उनके इंकार करने पर पाँच दिन तक विभिन्न यातनाएँ देते हुए उन्हें एक विद्रोही करार देकर कत्ल कर दिया गया। दिल्ली जाने से पहले गुरु तेगबहादुर ने अपने 19 वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह को अपनी गद्दी सौंप दी थी। गुरु गोविन्दसिंह सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए। अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया, और कहा : "जहाँ भी गुरु के उपदेशों को मानने वाले पाँच सिख एकत्रित होंगे मैं वहाँ उपस्थित हूँगा।" अपने समय (1675-1708 ई.) में गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को कट्टर सैनिक-सम्प्रदाय बनाने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने जीवनपर्यन्त औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता का विरोध किया। उन्होंने सिख-सम्प्रदाय को 'खालसा' पुकारा, सिखों को अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाने का आदेश दिया और प्रत्येक सिख को केश, कंघा, कृपाण, कच्छा और कड़ा रखने के आदेश दिये। उन्होंने खाने-पहनने और विवाह-सम्बन्धों के बारे में सिखों को पूर्ण एकता और समानता प्रदान की। उन्होंने कहा : "मैं चारों वर्णों के व्यक्तियों को सिंह बना दूँगा और मुगलों को बर्बाद कर दूँगा।" उन्होंने सिखों को पूर्ण सैनिक-शिक्षा दी, उनमें आत्म-विश्वास व साहस उत्पन्न किया तथा बहुत शीघ्र प्रायः 80,000 सैनिकों की खालसा-सेना तैयार कर ली। गुरुगोविन्द सिंह अपने पिता की मृत्यु और औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता को कभी न भुला सके और उन्होंने औरंगजेब की धर्मान्धता का जवाब धर्मान्धता से दिया। गुरु गोविन्दसिंह के विरुद्ध औरंगजेब ने कई सेनाएँ भेजीं, स्थानीय मुगल-अधिकारियों ने निरन्तर उनसे युद्ध किये और पाँच बार उनके आनन्दपुर स्थित निवास को घेरा। परन्तु गुरु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर लड़ते रहे। इस संघर्ष में उनके दो पुत्र युद्ध में मारे गये, अन्य दो पुत्रों को जीवित दीवार में चिनवा दिया गया और स्वयं वह भी विभिन्न कठिनाइयों में रहे। अन्त में वह दक्षिण-भारत चले गये और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही उत्तर-भारत आये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध उनसे सहायता माँगी और वह उसकी तरफ से युद्ध करने के लिए दक्षिण-भारत गये। वहीं पर गोदावरी नदी के तट पर नादिर नामक स्थान पर एक पठान ने छुरा मारकर उन्हें गम्भीर रूप से घायल कर दिया। प्रायः दो माह पश्चात् उन्होंने अपना अन्त समय निकट जानकर अपने शरीर को चिता को सौंप दिया (अग्निदाह 7 अक्टूबर, 1708 ई.)। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने अपने मृत्युपर्यन्त औरंगजेब और उसकी धार्मिक धर्मान्धता की नीति के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने पंजाब में सिखों को एक शक्तिशाली सम्प्रदाय बनाने में सफलता पायी जिसके कारण आगे आने वाले समय में पंजाब की राजनीति में सिखों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। कनिंघम ने उनके बारे में लिखा है : "सिखों के अन्तिम गुरु अपने लक्ष्य की पूर्ति अपने जीवन में न देख सके परन्तु उन्होंने एक पराजित व्यक्ति-समूह की सोई हुई शक्तियों को जाग्रत कर दिया और उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय महत्ता की उत्कृष्ट अभिलाषा के श्रेष्ठ और उपयुक्त आदर्श से प्रेरित किया।"

4. राजपूतों का विद्रोह और संघर्ष

राजपूतों से औरंगजेब के संघर्ष का कारण राजनीतिक और धार्मिक दोनों था। औरंगजेब राजपूतों के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करना चाहता था, वह उनके राज्यों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-राज्य की सीमाओं में सम्मिलित करना चाहता था, वह उनमें से प्रत्येक को सन्देह की दृष्टि से देखता था और वह, जिन्दा-पीर और इस्लाम का कट्टर समर्थक, उन्हें अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा मानता था। राजपूतों की शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी और यदि सफल हो जाती तो स्थायी नहीं हो सकती थी। परन्तु औरंगजेब कूटनीतिज्ञ था। इसलिए उसने चालाकी और अवसर देखकर कार्य करना पसन्द किया। उसकी तरकीब कुछ भी हो परन्तु उसका लक्ष्य स्पष्ट था। राजपूतों से भी औरंगजेब का यह लक्ष्य छिप न सका कि औरंगजेब उनके सम्मान, शक्ति और राज्यों को समाप्त करने पर तुला हुआ था। जैसे ही राजपूतों को यह स्पष्ट हुआ, उन्होंने अपनी रक्षा के लिए हथियार उठा लिये जिसका परिणाम था राजपूतों का मुगलों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष और विद्रोह।

उस समय राणा राजसिंह मेवाड़ का, राजा जसवन्तसिंह मारवाड़ का और राजा जयसिंह अम्बर का शासक था। राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह दोनों मुगलों की सेवा में थे और उनका स्थान राज्य के योग्यतम सेनापतियों में था। उत्तराधिकार के युद्ध के आरम्भ होने के अवसर पर राजा जयसिंह को सुलेमानशिकोह के साथ शाहशुजा के विरुद्ध भेजा गया था और शाहशुजा को परास्त करके उसने उसे बंगाल तक खदेड़ दिया था। परन्तु सामूगढ़ के युद्ध में दाराशिकोह की पराजय के पश्चात् वह औरंगजेब के साथ हो गया था। जसवन्तसिंह ने औरंगजेब का मुकाबला धरमट के युद्ध में किया और औरंगजेब तथा शाहशुजा के युद्ध के समय भी वह औरंगजेब का साथ छोड़कर चला गया था। परन्तु उसके पश्चात् राजा जयसिंह के समझाने पर तथा दाराशिकोह की स्थिति को नष्टप्राय समझकर वह भी औरंगजेब के साथ हो गया था। इस प्रकार ये दोनों राजपूत शासक औरंगजेब की सेवा में चले गये थे। परन्तु औरंगजेब उन दोनों पर सन्देह करता था। उसने दक्षिण के कठिन अभियान में राजा जयसिंह को नियुक्त किया। बीजापुर के विरुद्ध अभियान में असफल होने पर जुलाई 1666 ई. में बुरहानपुर में राजा जयसिंह की मृत्यु हो गयी। राजा जसवन्तसिंह को औरंगजेब ने अफगानिस्तान की सीमा पर भेजा जहां अफगानों के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करते हुए उसने अपने शौर्य और अपनी योग्यता को प्रकट किया।

(i) **मारवाड़ पर आक्रमण**—यह कहा जाता है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा, औरंगजेब ने सन्तोष की साँस नहीं ली। 20 दिसम्बर, 1678 ई. में अफगानिस्तान के जमरूद नामक स्थान पर राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु हो गयी। जसवन्तसिंह के बड़े पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह को औरंगजेब ने चालाकी से जहरीली पोशाक पहनाकर पहले ही मरवा दिया था और उसके दो पुत्र अफगानों से युद्ध करते हुए मारे गये थे। ऐसी स्थिति में राज्य का कोई भी उत्तराधिकारी जीवित न था। जसवन्तसिंह की मृत्यु के तीन सप्ताह पश्चात् औरंगजेब ने मारवाड़ को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने के लिए सेना भेज दी। मारवाड़ की राठौर सेना अपने राजा के साथ अफगानिस्तान में थी। इस कारण मारवाड़ में मुगलों का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ और मुगलों ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। स्वयं औरंगजेब इस कार्य के लिए अजमेर गया। मारवाड़ के मन्दिरों को गिरा दिया गया और वापस दिल्ली आने पर औरंगजेब ने 12 अप्रैल, 1679 ई. को हिन्दुओं पर 'जजिया' लगा दिया। मारवाड़ को और अधिक अपमानित करने के उद्देश्य से नागर के सरदार को 56 लाख रुपये में जसवन्तसिंह का राजसिंहासन बेच दिया गया और उसने मुगल सेना की सुरक्षा में जाकर सिंहासन को अपने अधिकार में ले लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि मारवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु मारवाड़ का भाग्य-सूर्य अस्त नहीं हुआ। अफगानिस्तान से वापस आते हुए लाहौर में राजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उन बच्चों में से एक की मृत्यु कुछ सप्ताह पश्चात् हो गयी परन्तु दूसरा बच्चा अजीतसिंह जीवित रहा। जसवन्त सिंह का सेनापति दुर्गादास अपने राजा की रानियों और अजीतसिंह को लेकर दिल्ली पहुँचा और औरंगजेब से माँग की कि मारवाड़ का राज्य अजीतसिंह को दे दिया जाये। औरंगजेब ने दुर्गादास से अजीतसिंह को उसे सौंप देने की माँग की और मारवाड़ को वापस देने की शर्त यह रखी कि अजीतसिंह इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले। उस समय से राठौरों और मुगलों का संघर्ष आरम्भ हुआ जो बीच-बीच में कुछ समय तक स्थगित रहने के बाद भी औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा। दुर्गादास ने रानियों को मर्दाने वस्त्र पहनाये, दासियों को रानियों के वस्त्र पहनाये, अजीतसिंह के स्थान पर एक दासी-पुत्र को छोड़ा और रानियों तथा अजीतसिंह को लेकर चुपके से दिल्ली से मारवाड़ की ओर भाग लिया। औरंगजेब को इसकी सूचना तब मिली जब दुर्गादास 9 मील का सफर तै कर चुका था। औरंगजेब ने उसका पीछा करने के लिए मुगल सेना भेजी परन्तु मार्ग में राठौरों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ मुगलों के मार्ग में बाधा डालती रहीं जिससे दुर्गादास को समय मिलता गया और अन्त में वह मारवाड़ पहुँच गया। मारवाड़ के राजपूत अपनी रानी और अल्पायु शासक की सुरक्षा के लिए शस्त्र लेकर खड़े हो गये और मारवाड़ का स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हो गया। औरंगजेब ने एक ग्वाले के पुत्र को अजीतसिंह घोषित किया, उसे इस्लाम में परिवर्तित करके उसका नाम मुहम्मद राज रखा और असली अजीतसिंह को नकली बताया। परन्तु राठौरों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने दुर्गादास के नेतृत्व में मुगलों से युद्ध जारी रखा। दुर्गादास राठौरों के युद्ध का जीवन और आत्मा सिद्ध हुआ। राजपूत उसकी बहादुरी को अभी तक स्मरण करते हैं और कहते हैं कि "हे माँ, पूत ऐसा जन जैसा दुर्गादास" (ए माँ, ऐसे पुत्र को जन्म दे जैसा कि दुर्गादास था)। टॉड ने उसको राठौरों का यूलीसेस (Ulysses—यूनान का महान् योद्धा) पुकारा है और डॉ. जदुनाथ सरकार ने उसके बारे में लिखा है : "भीषण विपत्तियों से संघर्ष करते हुए, चारों तरफ से शत्रुओं से घिरे हुए और अपने देश के निवासियों के द्वारा आत्म-विश्वास को खो देने और उनके अनिश्चित होने के उपरान्त भी उसने अपने स्वामी के पक्ष को जीवित रखा। मुगलों का स्वर्ण (gold) उसे लालायित न कर सका और मुगल-शस्त्र उसके साहस को न तोड़ सके। राठौरों में प्रायः वह अकेला ही था जिसने एक राजपूत सैनिक के साहस और शूरत्व तथा एक मुगल मन्त्री की चतुरता, कूटनीतिज्ञता और संगठनकर्ता की मिली-जुली योग्यता का परिचय दिया।"

औरंगजेब स्वयं अजमेर पहुँचा। उसने अपने पुत्र अकबर और अजमेर के फौजदार तहव्वरखाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना को मारवाड़ पर दुबारा आक्रमण करने के लिए भेजा। औरंगजेब के आदेश से मारवाड़ का एक-एक मन्दिर तोड़ दिया गया, उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी कर दी गयीं, घर-घर में लड़ाई की गयी और सभी तरफ बरबादी फैला दी गयी। परन्तु अजीतसिंह और दुर्गादास अधिकार में न आ सके। राठौरों ने अपने नगरों और गाँवों को छोड़कर जंगलों और पहाड़ों में छिपकर युद्ध जारी रखा।

(ii) मेवाड़ का युद्ध में सम्मिलित होना—मेवाड़ के राणा राजसिंह ने उस अवसर पर मारवाड़ की तरफ से मुगलों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय किया। औरंगजेब ने राणा से 'जजिया' माँगा था, उसकी नीति में मेवाड़ की शक्ति को समाप्त करना आवश्यक था और अजीतसिंह की माता मेवाड़ की राजकुमारी थी। सबसे प्रमुख बात यह थी कि मारवाड़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समाप्त हो जाने के पश्चात् मेवाड़ की सुरक्षा करना कठिन था। राणा राजसिंह ने चित्तौड़ के किलों की मरम्मत आरम्भ करा दी और देवबाड़ी के दर्रे की सुरक्षा के लिए सेना भेज दी। औरंगजेब भी चुपचाप नहीं बैठा हुआ था। उसने मेवाड़ पर आक्रमण किया। नवम्बर 1679 ई. में उसने अजमेर छोड़ दिया और मेवाड़ की नवीन राजधानी उदयपुर की ओर बढ़ा। देवबाड़ी के दर्रे पर मुगलों का अधिकार हो गया और राणा राजधानी को छोड़कर पहाड़ों में चला गया। मुगलों ने उदयपुर पर सरलता से अधिकार कर लिया। उदयपुर के सभी हिन्दू मन्दिर तोड़ दिये गये। यह विश्वास किया जाता है कि 173 मन्दिर उदयपुर में और 63 मन्दिर चित्तौड़ में तोड़े गये थे। 1680 ई. में एक युद्ध में राजसिंह की पराजय हुई। बाकी कार्य की पूर्ति के लिए अपने पुत्र अकबर को चित्तौड़ में छोड़कर औरंगजेब मार्च 1680 ई. में अजमेर वापस चला गया। परन्तु राजसिंह अभी तक समाप्त नहीं हुआ था। मई तक ही राजपूतों ने मुगलों को कठिन स्थिति में डाल दिया। औरंगजेब ने अकबर को हटाकर शाहजादा आजम को मेवाड़ के युद्ध का मुख्य सेनापति नियुक्त किया तथा शाहजादा अकबर और शाहजादा मुअज्जम को शाहजादा आजम के साथ कार्य करने के आदेश दिये। इस बार मेवाड़ पर तीन तरफ से आक्रमण किया गया जिससे राणा राजसिंह को घेरकर पकड़ लिया जाय अथवा मार दिया जाय। परन्तु यह आक्रमण सफल न हो सका। राठौर और सिसोदिया मिलकर कार्य कर रहे थे जबकि मुगल शाहजादे योजना के अनुसार युद्ध को न चला सके। इसी अवसर पर मुगलों ने तीसरी बार मारवाड़ पर आक्रमण किया और युद्ध मेवाड़ तथा मारवाड़ दोनों स्थानों पर साथ-साथ चलता रहा।

(iii) शाहजादा अकबर का विद्रोह—अकबर राजपूतों के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध से निराश हो गया था। उसे अपने पिता की धर्मान्धता की नीति की सफलता में विश्वास न था। विचारों से भी वह उदार था। उसी अवसर पर राणा राजसिंह और दुर्गादास ने उसके सामने प्रस्ताव रखा कि यदि वह अपने को भारत का बादशाह घोषित कर दे तो मेवाड़ और मारवाड़ दोनों की सेनाएँ उसकी सहायता करेंगी। अकबर ने अपने पिता (औरंगजेब) के विरुद्ध विद्रोह का निश्चय कर लिया। परन्तु 1 नवम्बर, 1680 ई. को राणा राजसिंह की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र जयसिंह को मेवाड़ का राणा बनाया गया। उसके राज्याभिषेक के कारण अकबर की घोषणा में कुछ विलम्ब हुआ। परन्तु जैसे ही वह कार्य पूरा हुआ, अकबर ने 11 जनवरी, 1618 ई. को स्वयं को मुगल बादशाह घोषित कर दिया। घोषणा की गयी कि बादशाह औरंगजेब ने इस्लाम के कानूनों के विरुद्ध कार्य करके राजसिंहासन पर से अपना अधिकार खो दिया है। चार मुल्लाओं ने औरंगजेब के विरुद्ध और अकबर के पक्ष में 'फतवा' पढ़ा। राजपूत सेनाओं को साथ लेकर अकबर अजमेर की तरफ बढ़ा। औरंगजेब के पास उस समय बहुत थोड़ी सेना थी। उसने तुरन्त शाहजादा मुअज्जम को अपनी सेना के साथ आने का आदेश दिया और स्वयं भी अजमेर से 8 मील दूर रोहरा नामक स्थान पर अकबर के मुकाबले के लिए पहुँच गया। औरंगजेब ने अकबर के साथ के मुगल सरदारों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और कुछ अंशों में सफलता पायी। अकबर के मुख्य सलाहकार तहव्वरखाँ को उसने सूचना भेजी कि यदि वह उसके सामने शीघ्र प्रस्तुत नहीं हुआ तो उसके परिवार के सभी सदस्यों को कत्ल कर दिया जायेगा जो उस समय शाही डेरे में ही थे। तहव्वरखाँ एक रात चुपके से अकबर का साथ छोड़ गया और जब औरंगजेब के पास पहुँचा तो उसे शाही डेरे के सामने ही कत्ल कर दिया गया। औरंगजेब ने एक पत्र भी तैयार कराया जो औरंगजेब की तरफ से अकबर को लिखा गया था जिसमें अकबर की सराहना की गयी थी कि उसने बहुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुराई से राजपूतों को फँसाकर औरंगजेब तक पहुँचा दिया था। यह पत्र राजपूतों के खेमों के निकट डाल दिया गया। राजपूतों ने इस पत्र को देख लिया और उनमें से अधिकांश को अकबर पर सन्देह हो गया। वे राजपूत उसी रात अकबर का साथ छोड़कर चले गये और जब अकबर सुबह सोकर उठा तब दुर्गादास और कुछ वफादार राजपूत सरदारों तथा दो या तीन हजार सैनिकों के अतिरिक्त उसका साथ देने वाला कोई न था। औरंगजेब की चालाकी पूर्णतया सफल हुई। अकबर का सम्पूर्ण साहस और उत्साह समाप्त हो गया तथा वह मेवाड़ की तरफ भाग खड़ा हुआ। राजपूत अपनी भूल को बहुत देर से समझ सके। दुर्गादास ने अकबर को अपने संरक्षण में रखा, राजपूताना तथा खानदेश की कठोर यात्रा की, मुगल-सेना से उसकी रक्षा की और उसे शिवाजी के पुत्र शम्भाजी के दरबार में पहुँचाने में सफलता पायी। शम्भाजी ने अकबर को संरक्षण तो दिया परन्तु उसे उसके पिता के विरुद्ध युद्ध करने के लिए पर्याप्त सहायता न दे सका। 1682 ई. में औरंगजेब स्वयं अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत गया। अपने जीवन को अरक्षित समझकर अकबर भारत छोड़कर फारस के लिए चल दिया। मार्ग में समुद्री तूफान के कारण उसे मस्कत के इमाम के यहाँ शरण लेनी पड़ी जो उसे औरंगजेब को दो लाख रुपयों के बदले में सौंपने को तैयार हो गया। परन्तु फारस के शाह के दबाव के कारण उसे अकबर को छोड़ना पड़ा और अकबर फारस पहुँच गया। वहीं पर औरंगजेब के अन्तिम दिनों में अकबर की मृत्यु हुई।

(iv) **मेवाड़ और मुगलों की सन्धि**—अकबर का विद्रोह तो सफल न हुआ परन्तु उसने मेवाड़ को बचा दिया। औरंगजेब को मेवाड़ से अपनी सेनाएँ हटानी पड़ी थीं। उनके लिए अकबर को समाप्त करना अधिक आवश्यक था। दूसरी तरफ राणा राजसिंह की मृत्यु हो गयी थी और राणा जयसिंह युद्ध को समाप्त करने के लिए उत्सुक था। इस कारण 24 जून, 1681 ई. को मेवाड़ और मुगलों में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार—

(1) राणा ने जजिया के बदले में मण्डल, पुर और बेदनूर के परगने मुगलों को दे दिये;

(2) मुगलों ने मेवाड़ से अपनी सेनाएँ हटा लेने का वायदा किया ; और

(3) राणा जयसिंह को पंचहजारी मनसबदार का पद दिया गया। युवराज भीमसिंह को राजा का पद दिया गया और उसे मुगल सेवा में ले लिया गया।

(v) **मारवाड़ के युद्ध का जारी रहना**—यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से सन्धि करके मारवाड़ का साथ छोड़ दिया परन्तु मारवाड़ ने साहस नहीं छोड़ा और युद्ध को जारी रखा। मारवाड़ की स्वतन्त्रता का युद्ध सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) 1681 से 1687 ई. तक का समय जिस समय में दुर्गादास दक्षिण में था और राठौरों ने बिना किसी नेतृत्व के युद्ध को जारी रखा ; (ब) 1687 से 1701 ई. तक का समय जिस समय में दुर्गादास दक्षिण से वापस आ चुका था और अजीतसिंह जवान हो चुका था तथा दोनों ने मिलकर राठौरों का नेतृत्व किया परन्तु मुगलों को मारवाड़ से बाहर निकालने में असफल रहे; (स) 1701 से 1707 ई. तक का समय जिस समय में राठौरों ने मारवाड़ को स्वतन्त्र कराने में सफलता पायी।

1681 से 1687 ई. तक के समय में राठौरों ने गुरिल्ला युद्ध-नीति का सहारा लिया। वे छिप-छिप कर मुगलों पर आक्रमण करते रहे और मुगलों की रसद एवं सेना को हानि पहुँचाते रहे। 1687 से 1701 ई. तक के समय में दुर्गादास और अजीतसिंह ने राठौरों का नेतृत्व किया और उन्हें बूँदी के दुर्जनसाल हाड़ा की भी सहायता प्राप्त हुई। उन्होंने अनेक मुगल चौकियों पर अधिकार कर लिया और मुगलों की सीमाओं में घुसकर दिल्ली के निकट तक आक्रमण किये। अजमेर के फौजदार को भी राठौरों ने परास्त किया परन्तु गुजरात के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूबेदार शुजातखाँ में उन्हें एक चालाक और कूटनीतिक शत्रु मिला। 1694 ई. में दुर्गादास ने अकबर की पुत्री शफीयातुन्निसा को और 1698 ई. में उसके पुत्र बुलन्दअख्तर को मुगलों को वापस कर दिया। दुर्गादास ने इन बच्चों की सुरक्षा ही नहीं की थी बल्कि उनकी शिक्षा, यहाँ तक कि इस्लाम की धार्मिक शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया था। धर्मान्ध औरंगजेब के लिए यह एक अच्छा सबक था। इसके बदले में अजीतसिंह को झालौर, संचोद और सिवाना के परगने तथा शाही सेवा प्रदान की गयी और दुर्गादास को 3,000 का मनसबदार और गुजरात में पाटन की फौजदारी दी गयी। यह राठौरों के लिए एक सम्मानपूर्ण समझौता नहीं माना जा सकता था परन्तु दुर्गादास और अजीतसिंह ने उस समय का सदुपयोग अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए किया। 1701 से 1707 ई. तक के समय में अजीतसिंह और दुर्गादास ने पुनः विद्रोह कर दिया परन्तु मारवाड़ की दुर्बल स्थिति और अपनी कठिन परिस्थितियों के कारण 1704-5 ई. में उन्हें मुगल-सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। राठौरों का अगला कदम उस समय उठा जबकि औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण भारत में अव्यवस्था फैल गयी और औरंगजेब के पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। 1707 ई. में अजीतसिंह ने जोधपुर (मारवाड़ की राजधानी) पर अपना अधिकार कर लिया और अपने को सम्राट घोषित कर दिया। प्रायः सम्पूर्ण मारवाड़ राठौरों के अधिकार में आ गया और दुर्गादास द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य सरलता से सम्पन्न हुआ।

5. अन्य विद्रोह

औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण मालवा, बिहार और बुन्देलखण्ड में भी विद्रोह हुए, मुख्यतया उस अवसर पर जबकि औरंगजेब दक्षिण-भारत में चला गया। इनमें से बुन्देलखण्ड का विद्रोह सफल हुआ। ओरछा के राजा चम्पतराय ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और 1661 ई. में उसने मुगल-आधिपत्य स्वीकार करने की बजाय आत्महत्या कर ली। जब उसका पुत्र छत्रसाल मुगलों की तरफ से दक्षिण के युद्धों में भाग लेने के लिए गया तो वह शिवाजी से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपनी सेवाएँ शिवाजी को अर्पित कीं। परन्तु शिवाजी ने उसे बुन्देलखण्ड में ही विद्रोह करने की सलाह दी। छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड में जाकर विद्रोह आरम्भ कर दिया और उसे सफलता मिली। उसने धमौनी और कालिंजर पर अधिकार कर लिया। 1705 ई. में औरंगजेब ने उससे सन्धि करना उचित समझा। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त वह बुन्देलखण्ड का स्वतन्त्र शासक बन गया। इसी प्रकार भारत के अन्य भागों में भी औरंगजेब के समय में अनेक उपद्रव और विद्रोह चलते रहे जिन्होंने राज्य की शक्ति को दुर्बल करने में बहुत बड़ा भाग लिया।

[2]
सिख-सम्प्रदाय का उत्थान और मुगलों से सम्बन्ध

सिख-सम्प्रदाय का निर्माण मुगल-शासनकाल में ही हुआ। सिखों के प्रथम गुरु नानक भक्ति-मार्ग के प्रचारकों में से एक थे। भक्ति-आन्दोलन ने जो मध्य-युग के धार्मिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता रहा, पंजाब को भी प्रभावित किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की समानता में विश्वास करने वाले तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न करने वाले सन्तों में से एक महान् सन्त गुरु नानक हुए। पंजाब उनके कार्य-क्षेत्र का प्रमुख स्थान रहा, यद्यपि उन्होंने सम्पूर्ण भारत और भारत से बाहर के देशों का भी भ्रमण किया। गुरु नानक ने किसी नवीन धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। उन्होंने न किसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक पुस्तक की रचना की और न किसी स्थान को धार्मिक स्थल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने तो केवल शिष्य बनाये थे जो कालान्तर में 'सिख' कहलाये। अपनी मृत्यु के अवसर पर नानक ने अपने विचारों के प्रचार के लिए अंगद (पहला नाम लहना) को चुना जो सिखों के दूसरे गुरु हुए। गुरु नानक (1469-1539 ई.) बादशाह बाबर और हुमायूँ के समकालीन थे। (गुरु नानक के विचारों के अध्ययन हेतु 'तुर्क-अफगान-काल' के अन्तर्गत अध्याय 19 में वर्णित भक्ति-आन्दोलन को देखिए।)

गुरु अंगद (1539-1552 ई.)

गुरु नानक ने अपनी मृत्यु के अवसर पर अपने शिष्य लहना को गुरु की गद्दी के लिए चुना। लहना जाति से खत्री था और दुर्गादेवी का पुजारी था। गुरु नानक ने लहना का नाम अंगद अर्थात् अपने शरीर का ही एक भाग रखा और बताया कि उनकी आत्मा अंगद में प्रवेश कर गयी है। गुरु अंगद ने गुरु नानक द्वारा आरम्भ की गयी लंगर-व्यवस्था को स्थायी बना दिया। इससे सिखों में जाति-मतभेद नष्ट हुए, भाई-चारे की भावना बढ़ी और सामाजिक समता का विकास हुआ। इससे सिखों और हिन्दुओं में अन्तर स्पष्ट हुआ क्योंकि हिन्दुओं में अन्तर्जातीय खान-पान सम्भव नहीं था। यह विश्वास किया गया है कि गुरु अंगद ने गुरुमुखी-लिपि को आरम्भ किया। इससे सिखों के एक पृथक साहित्य का निर्माण हुआ और सिख संस्कृत भाषा के अध्ययन से विमुख हो गये जिस भाषा में हिन्दुओं का अधिकांश धार्मिक साहित्य लिखा गया था। गुरु अंगद ने नानक के उपदेशों का संकलन भी आरम्भ किया जो बाद में गुरु अर्जुन द्वारा संकलित ग्रन्थ 'आदिग्रन्थ' में सम्मिलित कर लिया गया। गुरु अंगद ने कोई नवीन धार्मिक विचार प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने गुरु नानक के उपदेशों के आधार पर ही धर्म-प्रचार किया। 1552 ई. में गुरु अंगद की मृत्यु हो गयी।

हुमायूँ ने 1540 ई. में गुरु अंगद से पंजाब में उस समय भेंट की थी जब वह शेरशाह से बिलग्राम (कन्नौज) के युद्ध में परास्त होकर भाग रहा था। गुरु अंगद ने राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया और सूर-वंश के शासकों ने भी उनके धर्म-प्रचार के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

गुरु अमरदास (1552-1574 ई.)

गुरु अंगद ने अपना उत्तराधिकारी अपने शिष्य अमरदास को चुना। गुरु अमरदास हिन्दुओं के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। 60 वर्ष की आयु में वह गुरु की सेवा में आये। वह गुरु अंगद से आयु में 25 वर्ष बड़े थे और जब उन्होंने गुरु की गद्दी प्राप्त की तब उनकी आयु 73 वर्ष की थी।

उस समय तक सिखों का कोई केन्द्रीय तीर्थस्थान नहीं था। गुरु नानक ने अन्तिम वर्ष करतारपुर में व्यतीत किये थे और गुरु अंगद ने खादुर में अपना अधिकांश समय बिताया था। गुरु अमरदास ने गोइन्दवाल को अपना निवास-स्थान बनाया। वहाँ उन्होंने पानी की एक बावड़ी का निर्माण किया। गोइन्दवाल वर्षों तक गुरु की गद्दी का स्थान बना रहा और बावड़ी के पानी के बारे में यह किंवदन्ती प्रचलित हो गयी कि वह सभी प्रकार की बीमारियों को दूर कर सकता है।

गुरु अमरदास स्वयं बहुत साधारण भोजन करते थे जबकि उनके लंगर में सभी हिन्दू और मुसलमानों को बहुत अच्छा भोजन मिलता था। गुरु अमरदास ने लंगर-व्यवस्था में एक और परिवर्तन कर दिया। उन्होंने अपने मिलने से पहले प्रत्येक व्यक्ति के लिए लंगर में भोजन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना आवश्यक कर दिया। जो व्यक्ति लंगर में भोजन नहीं करता था उसे गुरु से मिलने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार, गुरु अमरदास ने हिन्दुओं की जातीय-व्यवस्था को समाप्त करने का आधार लंगर-व्यवस्था को बनाया। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि दीवाली के त्यौहार के अतिरिक्त सिख-सम्प्रदाय के व्यक्तियों की सम्मिलित बैठकें बैसाख माह और माघ माह के पहले दिन हों। सम्भवतया, उनका उद्देश्य सिखों के उत्सवों और त्यौहारों को हिन्दुओं के उत्सवों और त्यौहारों से अलग करके सिखों को हिन्दुओं से पृथक अस्तित्व प्रदान करना था। गुरु अमरदास के समय में पारिवारिक-सिख और साधु-सिखों में स्पष्ट अन्तर किया गया। गुरु अमरदास ने हिन्दुओं में प्रचलित सती-प्रथा और पर्दा-प्रथा का विरोध किया तथा स्त्रियों को पुरुषों के समान स्थान दिया। उन्होंने नशीले पदार्थों, मुख्यतया शराब के प्रयोग का भी विरोध किया। उन्होंने विवाह-पद्धति को सरल बनाया और सिखों के लिए हिन्दुओं से पृथक विवाह-पद्धति जिसे 'लवन' पुकारा गया, प्रचलित की जिसमें विवाह-पद्धति को कम खर्चीला बनाया गया। इसी प्रकार उन्होंने सिखों के मृतक-संस्कार को भी सरल बनाया। उन्होंने ऐसे अवसर पर सिर्फ गुरु के उपदेशों के पाठ की व्यवस्था की और मृतक की राख अथवा हड्डियों को गंगा में बहाने की आवश्यकता को नगण्य बताया। इस प्रकार, गुरु अमरदास ने कई ऐसे कार्य आरम्भ किये जो हिन्दुओं से सिखों को पृथक करते थे।

गुरु अमरदास ने सिख-धर्म के प्रसार के लिए भी बहुत कार्य किया। उन्होंने हिन्दुओं के तीर्थस्थानों की यात्राएँ कीं। गुरु नानक ने तीर्थ-यात्राओं को आवश्यक नहीं बताया था। गुरु अमरदास का आशय, सम्भवतया, तीर्थयात्रा का था भी नहीं। उन्होंने ये यात्राएँ इस कारण कीं ताकि वहाँ पर एकत्रित भीड़ में से उन्हें अधिक मात्रा में अपने शिष्य प्राप्त हो सकें। उनके समय में सिख-सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई, इसमें सन्देह नहीं है। अपने बढ़ते हुए अनुयायियों को धार्मिक उपदेश एक ही स्थान से दिया जाना सम्भव न होता देखकर गुरु अमरदास ने 22 गद्दियों की स्थापना की और प्रत्येक गद्दी पर एक महन्त की नियुक्ति की जिसका कर्तव्य गुरु के उपदेशों का प्रचार करना था। इससे भी सिख-अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई।

मुगल बादशाह अकबर ने गोइन्दवाल जाकर गुरु अमरदास से भेंट की थी। अकबर उनसे प्रभावित हुआ था। उसने गुरु के लंगर के व्यय के लिए उन्हें कुछ गाँव भेंटस्वरूप देने चाहे जिसके लिए गुरु ने मना कर दिया। तब अकबर ने गुरु की पुत्री, बीबी भानी के नाम से कई गाँव उन्हें प्रदान कर दिये।

गुरु अमरदास ने भी नानक के उपदेशों को संकलित किये जाने के कार्य को जारी रखा और स्वयं भी कुछ रचनाएँ कीं। उन्हें भी, बाद में, आदिग्रन्थ में सम्मिलित कर लिया गया। गुरु अमरदास की रचनाएँ बहुत सरल भाषा में तैयार की गयी थीं यद्यपि उन पर आध्यात्मवाद की झलक स्पष्ट है। उन रचनाओं में 'आनन्द' नामक पद्य-रचना को बहुत श्रेष्ठ बताया गया है।

गुरु अमरदास ने अपनी मृत्यु से पहले अपनी पुत्री बीबी भानी के पति रामदास को गुरु का पद प्रदान किया।

गुरु रामदास (1574-1581 ई.)

चौथे गुरु रामदास के समय में मुगल-बादशाह अकबर ने उन्हें 500 बीघे भूमि और दी जिसमें एक प्राकृतिक तालाब भी था। इस भूमि और उनकी पत्नी बीबी भानी को अकबर द्वारा प्रदान की गयी भूमि पर अमृतसर का शहर बना। उसका निर्माण गुरु अमरदास के समय में ही आरम्भ हो गया था। गुरु रामदास के समय में भी वह कार्य चलता रहा और वहीं पर एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालाब 'अमृत-सर' के नाम से बनाया गया। पहले उस शहर का नाम रामदासपुर रखा गया था परन्तु बाद में वहाँ खुदे हुए तालाब के नाम पर उसका नाम अमृतसर पड़ गया।

गुरु रामदास का समय थोड़ा रहा परन्तु तब भी उनके समय में सिख-सम्प्रदाय की संगठन-शक्ति में वृद्धि हुई। गुरु रामदास ने ही यह विचार दिया कि एक गुरु की आत्मा स्वतः ही अगले गुरु के शरीर में प्रवेश कर जाती है। इस कारण सभी गुरु समान हैं, सभी गुरुओं की आत्मा समान है और यदि अन्तर है तो शरीर मात्र का। गुरु रामदास ने अपने तीसरे पुत्र अर्जुन को गुरु का पद सौंपा। उन्होंने ही, इस प्रकार, सिखों के गुरु के पद को पैतृक बनाये जाने की व्यवस्था को आरम्भ किया। उनके पश्चात् सिख-गुरु का पद उनके परिवार से बाहर के किसी भी व्यक्ति को प्रदान नहीं किया गया। अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह ने अपने सभी पुत्रों की मृत्यु हो जाने के कारण सिखों से गुरु-प्रथा को ही समाप्त कर दिया। उनके पश्चात् सिखों का कोई गुरु नहीं रहा। पैतृक आधार पर गुरु-परम्परा को आरम्भ किये जाने से सिख-सम्प्रदाय को संगठित करने में सहायता मिली क्योंकि अनुयायियों की आस्था एक विशेष परिवार के सदस्यों तक ही सीमित हो गयी।

गुरु अर्जुन (1581-1606 ई.)

गुरु-पद को प्राप्त करने के अवसर पर अर्जुन की आयु अठारह वर्ष की थी। तब भी उन्होंने अपने समय में सिख-सम्प्रदाय को शक्तिशाली बनाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उनके बड़े भाई प्रिथीचन्द ने जिसे गुरु रामदास ने गुरु की गद्दी सौंपने से इंकार कर दिया था, आरम्भ से ही उनके मार्ग में बाधाएँ डालीं। उसने स्वयं को गुरु घोषित किया, एक मन्दिर बनवाया, दो तालाब बनवाये और एक धार्मिक ग्रन्थ की रचना आरम्भ की। इस प्रकार, उसने एक विरोधी सिख-सम्प्रदाय बनाने का प्रयत्न किया और कुछ मात्रा में सफल भी हुआ। परन्तु इससे भी बड़ी कठिनाई सिख-सम्प्रदाय के विस्तार के कारण थी। स्वयं गुरु अर्जुन ने अपनी यात्राओं द्वारा तथा सिखों से धर्म के लिए धन लेकर सिख-अनुयायियों की संख्या में बहुत वृद्धि की जिसके कारण सिख-सम्प्रदाय में विभिन्न जातियों, व्यवसायों तथा गाँव और नगरों के व्यक्ति सम्मिलित हो गये। ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए समूह में एकता बनाये रखना कठिन कार्य था। परन्तु गुरु अर्जुन इस कार्य में सफल हुए।

गुरु अर्जुन ने रामदासपुर-नगर के निर्माण को पूर्ण किया और उसमें अमृत-सर और सन्तोष-सर नामक दो तालाब बनवाये। ये कार्य उनके पिता गुरु रामदास द्वारा अधूरे छोड़ दिये गये थे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अमृत-सर तालाब के मध्य में ईश्वर का मन्दिर (हरि-मन्दिर) बनवाया जिसमें चार दरवाजे रखे गये जिसका अर्थ था कि सिख-सम्प्रदाय में हिन्दुओं के चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र) के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे। उनका आशय रामदासपुर को एक तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित करने का था जहाँ सभी स्थानों के सिख एकत्रित हो सकें। पवित्र तालाब, मन्दिर और गुरु सिख-अनुयायियों के आकर्षण के केन्द्रबिन्दु बनें और सिखों में एकता और समानता हो सके, यह गुरु अर्जुन का उद्देश्य था।

तालाब, मन्दिर और रामदासपुर के निर्माण के लिए गुरु अर्जुन को धन की आवश्यकता हुई। गुरु अमरदास के समय तक गुरु का लंगर उनके शिष्यों द्वारा स्वेच्छा से दिये गये धन के द्वारा चलाया जाता था। जब गुरु रामदास ने अमृत-सर के तालाब और रामदासपुर-नगर के निर्माण-कार्य को आरम्भ किया तब उन्होंने अपने अनुयायियों से धन एकत्रित करने के लिए विभिन्न स्थानों पर अपने प्रतिनिधि भेजे जिनको रामदासी पुकारा गया था। गुरु अर्जुन के समय में गुरु के इन प्रतिनिधियों को मंसद और मेउरा पुकारा गया। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगतों की स्थापना की जो धर्म-प्रचार का साधन बनीं और साथ ही साथ उन्होंने गुरु-कार्य के लिए अनुयायियों से धन भी एकत्रित किया। आरम्भ में अनुयायियों से धन स्वेच्छा के आधार पर लिया गया था परन्तु गुरु अर्जुन ने उसे अनिवार्य कर दिया और प्रत्येक सिख से उसकी आय का 1/10 हिस्सा माँगा। इससे गुरु के पास स्थायी आय की व्यवस्था हो गयी और उनके पास धन की कमी नहीं रही।

गुरु अर्जुन ने स्वयं भी धर्म-प्रचार का कार्य किया। उन्होंने मध्य-पंजाब का दौरा किया जहाँ जाट-किसानों का बाहुल्य था और बहुत बड़ी संख्या में उन्हें सिख-धर्म में परिवर्तित किया जिसका प्रभाव गम्भीर रूप से सिख-सम्प्रदाय पर आया। जब सिख-सम्प्रदाय को सैनिक-सम्प्रदाय में बदलने का प्रयत्न सिख-गुरुओं ने आरम्भ किया तब जाट-किसान ही इसमें सबसे आगे आये। गुरु अर्जुन ने वहाँ तरन-तराँ नामक नगर को बसाया और वहाँ पर भी एक तालाब बनाने के कार्य को आरम्भ किया। धीरे-धीरे उस क्षेत्र में सिखों के चार तीर्थ बने। ये थे खादुर, गोइन्दवाल, अमृतसर और तरन-तराँ। गुरु अर्जुन ने जलन्धर-दोआब और लाहौर-गुरुदासपुर क्षेत्रों की भी यात्रा की और वहाँ बड़ी संख्या में अनुयायी बनाये।

गुरु अर्जुन के समय में कुछ ऐसी भी परम्पराएँ आरम्भ हुईं जिन्होंने सिख-सम्प्रदाय को पंजाब में लोकप्रिय बनाने में सहायता दी। उस समय तक गुरु का पद पैतृक तो बन ही गया था। इस समय में गुरु को देवत्व-गुणों से युक्त समझा गया। यद्यपि किसी भी गुरु ने अपने को ईश्वर अथवा ईश्वरीय प्रतिनिधि नहीं कहा परन्तु तब भी जनसाधारण के मन में इस प्रकार की विचारधारा पनप गयी। गुरु अर्जुन के समय में हुए कुछ परिवर्तनों ने इस विचारधारा के निर्माण में सहयोग दिया। गुरु अर्जुन से पहले के गुरु साधारण जीवन व्यतीत करते थे और धन भी अधिक एकत्रित नहीं करते थे। गुरु अर्जुन ने प्रत्येक सिख से उसकी आय का 1/10 हिस्सा अनिवार्य रूप से माँगा। इस कारण उनके पास धन की कमी नहीं रही। अकबर के शासनकाल में मुगल-शासन के स्थायित्व के कारण व्यापार और कृषि दोनों में ही उन्नति हुई थी। उत्तर-पश्चिम के मार्गों से विदेशी व्यापार पंजाब द्वारा ही होता था जिसमें पंजाब के खत्री प्रमुख भाग ले रहे थे। इस कारण वे धनवान थे। उनमें से अधिकांश सिख-सम्प्रदाय के अनुयायी थे जिसके कारण सिख-गुरु को उनसे बहुत धन मिलता था। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम से किसी आक्रमण के न होने की सम्भावना के कारण और कृषि में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था हो जाने से पंजाब में कृषि भी उन्नतशील स्थिति में थी जबकि जाट-किसानों में भी सिख-सम्प्रदाय लोकप्रिय था। इस कारण, गुरु की आय उनसे भी अच्छी हो जाती थी। ऐसी स्थिति में गुरु अर्जुन ने राजसी ठाठ-बाट से दरबार लगाना आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त, गुरु अर्जुन ने विभिन्न तीर्थ-स्थलों और वहाँ गुरु-मन्दिरों (गुरुद्वारों) की स्थापना की, आदिग्रन्थ की रचना की, अमृतसर के गुरुद्वारे में उसकी स्थापना करायी और संगतों के माध्यम से जनसाधारण से सम्बन्ध बनाये। इन परिस्थितियों ने सिख-सम्प्रदाय को आत्मविश्वास प्रदान किया और उसके साथ-साथ गुरु के प्रति उनकी आस्था में भी वृद्धि हुई। धीरे-धीरे गुरु का स्थान श्रेष्ठता प्राप्त करता गया। गुरु अंगद और गुरु अमरदास के समय में भी गुरु के लिए 'सच्चा पादशाह' शब्द का प्रयोग किया गया था। अब गुरु अर्जुन के समय में गुरु को देवत्व-गुणों से युक्त माना जाने लगा और छत्र, तख्त, गुरु-दरबार आदि शब्द भी गुरु के सम्बन्ध में प्रयोग किये जाने लगे, जैसे—गुरु का तख्त, गुरु-दरबार आदि। इससे सिख-सम्प्रदाय की एकता और शक्ति में वृद्धि हुई। इस प्रकार गुरु अर्जुन ने सिख-सम्प्रदाय को योग्य नेतृत्व प्रदान करके उसे पंजाब में लोकप्रिय बनाने में बहुत सहायता की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु अर्जुन ने अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक और शारीरिक उन्नति करने का भी सन्देश दिया था। उनका कहना था कि "जो व्यक्ति शस्त्र लेकर विजय या मृत्यु का निश्चय करता है और जो व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर सत्य-नाम (ईश्वर) का स्मरण करता है वह कई जन्मों के पापों से मुक्त हो जायेगा और निर्वाण प्राप्त करेगा।" इससे स्पष्ट होता है कि गुरु अर्जुन अपने अनुयायियों से अवसर आने पर सशस्त्र संघर्ष की आशा भी करते थे।

गुरु अर्जुन का एक मुख्य कार्य आदिग्रन्थ की रचना भी था जिसने सिख-सम्प्रदाय को एक धार्मिक ग्रन्थ भी प्रदान किया जो एक धर्म की स्थापना और प्रसार के लिए आवश्यक होता है। गुरुओं के विचारों को संकलित किये जाने का कार्य गुरु अंगद और गुरु अमरदास ने भी किया था। गुरु अमरदास ने गुरु नानक और गुरु अंगद के विचारों को संकलित किया था और उनके साथ अपने विचारों को भी संकलित किया था। उनको मिलाकर उन्होंने दो ग्रन्थ तैयार किये थे जिन्हें 'गोविन्दवाल-पोथियाँ' के नाम से पुकारा गया था। गुरु अर्जुन ने उनके साथ अपने पिता गुरु रामदास, स्वयं अपने और भक्ति-मार्ग के हिन्दू अथवा मुसलमान सन्तों के उन विचारों को, जो सिख-सम्प्रदाय के विचारों से मिलते थे, संकलित किया। 1604 ई. में यह कार्य पूरा हुआ। सभी गुरुओं और अन्य सन्तों के विचारों को एक ग्रन्थ में संकलित किये गये ग्रन्थ को आदिग्रन्थ पुकारा गया और उसको अमृतसर के गुरुद्वारा में प्रतिष्ठित किया गया। इस ग्रन्थ का संकलन किया जाना एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करना था। सिख-सम्प्रदाय का विस्तार हो रहा था। इस कारण, स्वयं गुरु अथवा उनके प्रतिनिधि गुरु के विचारों को दूरस्थ क्षेत्रों तक फैले हुए जन-समुदाय तक नहीं पहुँचा सकते थे। जब इस ग्रन्थ की स्थापना विभिन्न गुरुद्वारों में हो गयी तब गुरुओं की वाणी उसके माध्यम से जनसाधारण तक पहुँच गयी। बाद में, गुरु गोविन्दसिंह ने अपने पिता और नवें गुरु तेगबहादुर के विचारों को भी आदि-ग्रन्थ में सम्मिलित किया यद्यपि उन्होंने अपने स्वयं के विचारों को एक पृथक ग्रन्थ में संकलित किया जिसे दसम् पादशाह का ग्रन्थ या दसम् ग्रन्थ के नाम से पुकारा गया। आदिग्रन्थ में सम्मिलित की गयी रचनाएँ पद्य में हैं जिन्हें गाकर पढ़ा जाता है। इसमें 12वीं सदी से लेकर 17वीं सदी तक हुए भक्ति-मार्ग के विभिन्न सन्तों की रचनाएँ हैं जिनमें सिख-गुरुओं की रचनाओं का बाहुल्य है। सबसे पहले की रचनाओं में बंगाल के वैष्णव-कवि जयदेव की रचनाएँ हैं और अन्तिम रचनाएँ सिख-गुरु तेगबहादुर की हैं। इनमें कुछ रचनाएँ नामदेव और रामानन्द जैसे सन्तों की भी हैं जो गुरु नानक से पहले हुए थे और कुछ ऐसे सन्तों की भी हैं जो विभिन्न सिख-गुरुओं के समकालीन थे। इससे स्पष्ट है कि सिख-गुरु मध्य-युग में हुए हिन्दू धर्म के भक्ति-आन्दोलन से गम्भीरता से प्रभावित थे। आदिग्रन्थ सिखों के धार्मिक-ग्रन्थ के रूप में ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु प्रायः छः सौ वर्षों (1200-1700 ई.) की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का आभास भी इससे होता है।

जब मुगल-बादशाह जहाँगीर सिंहासन पर बैठा तब उसके पुत्र खुसरो ने विद्रोह किया। वह भागकर पंजाब गया जहाँ गुरु अर्जुन ने उसे आशीर्वाद दिया और, सम्भवतया, कुछ आर्थिक सहायता भी दी। जहाँगीर इस घटना के कारण गुरु से अप्रसन्न हो गया। सम्भवतया, उसे गुरु के धार्मिक विचारों से भी चिढ़ थी क्योंकि गुरु हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही अपना शिष्य बना रहे थे। जहाँगीर ने गुरु पर 2-1/2 लाख रुपये का जुर्माना किया। गुरु ने इसे देने से इंकार किया। उनका कहना था : "मेरा अपना कोई धन नहीं है। मेरा धन तो गरीब और असहायों का है।" जहाँगीर ने गुरु की सम्पत्ति को जब्त करने तथा उन्हें कैद करने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेश दिये। बन्दीगृह में गुरु अर्जुन को कठोर यातनाएँ देकर मार दिया गया (1606 ई.)। जहाँगीर का गुरु के प्रति यह व्यवहार अनुचित था। सिखों ने इसे मुगलों द्वारा अपने धर्म पर प्रथम आक्रमण माना। उस समय से सिखों को शस्त्र रखने की आवश्यकता अनुभव हुई। गुरु अर्जुन की पीड़ायुक्त मृत्यु ने सिखों को सैनिक-सम्प्रदाय और गुरु को सैनिक-सन्त बनने की भावना प्रदान की।

गुरु हरगोविन्द (1606-1644 ई.)

जब गुरु हरगोविन्द ने गुरु की गद्दी सँभाली उस समय उनकी आयु ग्यारह वर्ष की थी। गुरु हरगोविन्द ने धर्म की रक्षा के लिए सिखों को सैनिक बनाने का कार्य आरम्भ किया। उनके पिता गुरु अर्जुन ने अपनी मृत्यु से पहले उन्हें सन्देश भेजा कि "उससे कहना कि वह शोक न मनाये और न पुरुषत्वहीन व्यक्ति की भाँति रोये बल्कि ईश्वर की प्रार्थना करे। वह अपने सिंहासन पर पूर्ण शस्त्र धारण करके बैठे और अपनी सामर्थ्य के अनुसार बड़ी से बड़ी सेना रखे।" गुरु हरगोविन्द ने अपने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। दस दिन तक उन्होंने **ग्रन्थ-साहिब** का पाठ कराया और अपनी कमर में दो तलवार बाँधकर वह गद्दी पर बैठे। उनके दो तलवारें धारण करने का अर्थ भौतिक (मीरी) और आध्यात्मिक (फकीरी) दोनों शक्तियों का प्रधान होना था। उन्होंने अपने अनुयायियों से धन के स्थान पर घोड़े और शस्त्र लेने आरम्भ किये, उन्हें माँस खाने की आज्ञा दी और उन्हें धार्मिक-शिक्षा के साथ-साथ सैनिक-शिक्षा भी प्रदान की। उन्होंने 12 फीट ऊँचा **'तख्त अकाल-बंगा'** का निर्माण किया और उस पर बैठकर अपने शिष्यों से मिलना आरम्भ किया। उनका आशय था कि जिस प्रकार बादशाह तख्त पर बैठकर दरबार करता है उसी प्रकार गुरु पवित्र तख्त पर बैठने का सम्मानित अधिकार रखता है। उन्होंने दरबार में नगाड़ा बजाने की व्यवस्था को आरम्भ किया जो राजसत्ता का प्रतीक था। उन्होंने अमृतसर शहर की किलेबन्दी भी की। उन्होंने शिकार करना भी आरम्भ किया और धार्मिक गानों के साथ-साथ सैनिक-गानों को गाना-बजाना भी आरम्भ किया। इस प्रकार, गुरु हरगोविन्द ने सिखों में सैनिक-भावना, सैनिक-शिक्षा और स्वरक्षा के लिए शस्त्र धारण करने की क्रियाएँ आरम्भ कीं।

गुरु हरगोविन्द द्वारा सिखों को सैनिक-भावना प्रदान करना परिस्थितियों के अनुकूल था। गुरु अर्जुन ने ही यह समझ लिया था कि, सम्भवतया, अकबर के पश्चात् मुगल-बादशाह की नीति धार्मिक उदारता की न रहे क्योंकि अकबर के शासनकाल में ही कट्टर इस्लाम के समर्थकों ने उसकी धार्मिक उदारता की नीति का विरोध करना आरम्भ कर दिया था। इस कारण, गुरु अर्जुन ने अपने अनुयायियों के धर्म की सुरक्षा के लिए उन्हें सैनिक-शिक्षा देना आरम्भ कर दिया था। जिन परिस्थितियों में गुरु अर्जुन की मृत्यु हुई वे भी स्पष्ट कर रही थीं कि धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र उठाने की आवश्यकता हो सकती है। इस कारण, गुरु हरगोविन्द ने सैनिक-शक्ति एकत्रित करनी आरम्भ की।

जहाँगीर ने गुरु हरगोविन्द से उनके पिता पर किये गये जुर्माने को माँगा और उनके मना करने पर उनको ग्वालियर के किले में बन्दी बना दिया। दो वर्ष या उससे भी अधिक समय गुरु हरगोविन्द वहाँ रहे परन्तु उसके पश्चात् उन्हें बिना किसी शर्त के छोड़ दिया गया। उसके पश्चात् जहाँगीर के काल में सिखों का कोई विवाद मुगलों से नहीं हुआ। परन्तु शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठते ही सिखों का मुगलों से संघर्ष आरम्भ हो गया। शाहजहाँ के प्रारम्भिक काल में मुगलों की धार्मिक-नीति अनुदार रही। उसने सिखों की भावना को उस समय चोट पहुँचाई जब लाहौर में स्थित अर्जुन-बाबड़ी को मिट्टी से भरवाकर वहाँ एक मस्जिद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निर्माण किया गया। बाद में एक साधारण घटना से सिखों और मुगलों का संघर्ष आरम्भ हो गया। शाहजहाँ का एक प्रिय बाज उड़कर गुरु के खेमे में पहुँच गया। गुरु ने उसे पकड़कर अपने पास रख लिया और जब मुगलों ने उसे वापस माँगा तंब उसे देने से इंकार कर दिया। उस समय थोड़े से झगड़े के बाद एक मुगल अधिकारी के मध्यस्थ बन जाने पर झगड़ा समाप्त हो गया। परन्तु 1634 ई. में अमृतसर के निकट सिखों और मुगल-सेना की एक टुकड़ी में युद्ध हुआ। इससे गुरु हरगोविन्द करतारपुर नामक स्थान पर चले गये जहाँ उन्होंने किलेबन्दी कर रखी थी। तब भी मुगलों से समय-समय पर झगड़े होते रहे। यह समझकर कि अभी सिख मुगलों की शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकते और संघर्ष करने से धर्म की सुरक्षा करना कठिन होगा, गुरु हरगोविन्द कीरतपुर चले गये जो कहलूर-राज्य में एक हिन्दू राजा के अधीन था तथा जहाँ मुगलों का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। इस कारण, गुरु हरगोविन्द के बाद के समय में सिखों और मुगलों में संघर्ष नहीं हुआ।

गुरु हरगोविन्द ने एक विद्रोही के रूप में मुगल-शासन से प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं किया। उनका संघर्ष मुगल-बादशाह से तो क्या पंजाब के मुगल-सूबेदार से भी नहीं हुआ। मुगलों से उनका संघर्ष स्थानीय झगड़ों के रूप में हुआ। परन्तु धर्म की रक्षा के लिए सिखों को हथियार उठाने हैं, यह शिक्षा उन्होंने सिखों को अवश्य प्रदान की। वह समझते थे कि उस समय तब सिख-सम्प्रदाय प्रत्यक्ष रूप से मुगल-प्रशासन से संघर्ष करने की शक्ति नहीं रखता था। इस कारण, उन्होंने दो बार अपना निवास-स्थान बदला और पंजाब के मुख्य प्रदेश को छोड़कर पहाड़ियों में चले गये। मुगलों से उनके संघर्ष का समय भी बहुत थोड़ा रहा। कुछ वर्षों को छोड़कर प्रायः 40 वर्ष के गुरु की गद्दी पर बैठे रहने के समय में उनका मुगलों से संघर्ष नहीं हुआ। अपनी समझदारी और नीति से गुरु हरगोविन्द ने सिख-सम्प्रदाय को मुगलों की विनाशकारी शक्ति से बचाया और साथ ही साथ सिखों में धर्म के लिए मर-मिटने की भावना को जाग्रत करने तथा उसे बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त की। 1645 ई. में कीरतपुर में ही गुरु हरगोविन्द की मृत्यु हुई।

गुरु हरराय (1644-1661 ई.)

गुरु हरगोविन्द ने अपने पुत्र के पुत्र हरराय को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गुरु हरराय की उम्र उस समय चौदह वर्ष की थी। गुरु हरराय ने भी अपने साथ सेना रखी और एक अर्ध-स्वतन्त्र सैनिक-सरदार के रूप में अपना अस्तित्व बनाकर रखा परन्तु उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों से अपने को पृथक रखा और यह ध्यान रखा कि मुगलों से उनका कोई संघर्ष न हो। परन्तु मुगल शाहजादा दाराशिकोह से उनका सम्पर्क हुआ। दाराशिकोह उदार धार्मिक विचारों का था तथा विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों से मिलता रहता था। इसी प्रकार वह गुरु हरराय से भी मिला था और उनसे प्रभावित हुआ था। उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब विजयी हुआ। दाराशिकोह सामूगढ़ के युद्ध में पराजित होकर जब पंजाब गया तब गुरु हरराय से मिला। सम्भवतया, गुरु हरराय से उसे कोई सहायता नहीं मिली। परन्तु तब भी औरंगजेब गुरु से अप्रसन्न हुआ और उसने उन्हें दिल्ली-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी। गुरु हरराय स्वयं तो औरंगजेब के दरबार में नहीं गये परन्तु उन्होंने अपने चौदह वर्षीय पुत्र रामराय को वहाँ भेज दिया। रामराय ने औरंगजेब को प्रसन्न करने के लिए कुछ ऐसे कार्य कर दिये जिनकी सूचना मिलने पर गुरु रामराय ने उसे अपना उत्तराधिकारी मानने से इंकार कर दिया और अपने छः वर्षीय पुत्र हरकिशन को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। 1661 ई. में गुरु हरराय की मृत्यु हो गयी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरु हरकिशन (1661-1664 ई.)

गुरु हरकिशन के बड़े भाई रामराय ने गुरु की गद्दी का दावा किया। उसे बादशाह औरंगजेब के समर्थन का विश्वास था। कुछेक मसन्द भी उसके पक्ष में हो गये। गुरु की गद्दी के विवाद पर निर्णय लेने के लिए औरंगजेब ने गुरु हरकिशन को अपने दरबार में बुलाया। गुरु हरकिशन दिल्ली आये परन्तु बादशाह से भेंट होने से पहले ही चेचक से उनकी मृत्यु हो गयी। बादशाह ने गुरु हरकिशन को ही गुरु हरराय का उत्तराधिकारी स्वीकार किया जिसके कारण रामराय देहरादून चला गया और वहाँ उसने अपनी पृथक् गद्दी स्थापित कर ली। उसके अनुयायी 'रामरायी' कहलाये।

गुरु तेगबहादुर (1664-1675 ई.)

यह विश्वास किया जाता है कि अपनी मृत्यु से पहले गुरु हरकिशन ने गुरु हरगोविंद के सबसे छोटे पुत्र तेगबहादुर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। तेगबहादुर ने 1635 ई. में करतारपुर के युद्ध में मुगलों से युद्ध किया था परन्तु उनका झुकाव धार्मिक दर्शन की ओर अधिक था। इस कारण, उसके पश्चात् उन्होंने अपना ध्यान धार्मिक कृत्यों पर अधिक लगाया। उस समय गुरु की गद्दी के 22 दावेदार खड़े हो गये थे। परन्तु सिख-सम्प्रदाय ने तेगबहादुर को ही अपना गुरु स्वीकार किया। उस समय गुरु तेगबहादुर की आयु 43 वर्ष की थी।

गुरु तेगबहादुर के सम्मुख कुछ नवीन कठिनाइयाँ थीं। सिखों की एकता उस समय संकट में थी। मसन्द जो गुरु अर्जुन के समय में सिख-अनुयायियों से धन एकत्रित करने के लिए नियुक्त किये गये थे, लालची हो गये थे और पिछले दो गुरुओं की कठिनाइयों का लाभ उठाकर स्वतन्त्रता से व्यवहार करने के लिए उत्सुक थे। गुरु की गद्दी के 22 दावेदारों की उपस्थिति ने इस कठिनाई को बढ़ावा दिया था। इसके अतिरिक्त जब गुरु की गद्दी तेगबहादुर को प्राप्त हो गयी तब वे दावेदार गुरु तेगबहादुर के विरुद्ध हो गये। इस कारण, गुरु तेगबहादुर को आरम्भ में एक स्थान पर ठहरने में कठिनाई हुई। बाद में, इसी कारण, उन्होंने मखोवाल नामक स्थान पर अपनी गद्दी स्थापित की जहाँ आनन्दपुर नामक नगर बसा।

यह विचार प्रकट किया गया है कि गुरु तेगबहादुर को आरम्भ में ही औरंगजेब ने अपने दरबार में उपस्थित होने के लिए बुलाया था और उन पर शान्ति भंग करने का आरोप लगाया था परन्तु अम्बर के राजा जयसिंह के हस्तक्षेप के कारण उन्हें बादशाह ने माफ कर दिया। गुरु तेगबहादुर ने पूर्वी भारत का भ्रमण किया और जिस समय राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह को असम पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया उस समय वह बिहार और बंगाल में भ्रमण कर रहे थे। वह रामसिंह के साथ असम तक गये। वहाँ से वापस आकर वह प्रायः एक वर्ष तक कीरतपुर में रहे। वहाँ से उन्होंने मध्य-पंजाब में भ्रमण किया और पंजाब के किसानों के सम्पर्क में आये। धर्म-प्रचार के अतिरिक्त उन्होंने किसानों के दैनिक-जीवन की समस्याओं में भी भाग लिया जैसा कि पहले किसी गुरु ने नहीं किया। उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक नीति का विरोध किया और किसानों से निडर रहने के लिए कहा। इससे किसानों में अत्याचार के विरुद्ध खड़े होने की भावना आई और उन्होंने अत्याचारी जमींदारों और लगान-अधिकारियों का विरोध करना आरम्भ कर दिया। मुगल-शासन के विरुद्ध जमींदार भी इस विरोध में सम्मिलित हो गये। उनमें अनेक ऐसे भी थे जिन्होंने विरोध में शस्त्रों का भी सहारा लिया। इससे मुगल-अधिकारी गुरु तेगबहादुर के प्रति शंकालु हो गये कि, सम्भवतया, गुरु ही जनसाधारण के विद्रोह के लिए उत्तरदायी हैं। औरंगजेब की दृष्टि में यह एक बड़ा अपराध और खतरा था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मथुरा में जाटों ने विद्रोह किया था और नारनौल में सतनामियों ने विद्रोह किया था। एक गुरु के नेतृत्व में, जो अपने को **सच्चा पादशाह** पुकारता था, पंजाब में हो सकने वाले विद्रोह को औरंगजेब बर्दाश्त करने के लिए तत्पर नहीं था। गुरु तेगबहादुर के विषय में मुगल-प्रशासन और औरंगजेब की आशंका निर्मूल थी। गुरु तेगबहादुर ने कभी भी सैनिक-शिक्षा पर बल नहीं दिया था और न उन्होंने अपने साथ शिष्यों की सेना रखी थी। उनके विचारों में भी सैनिक-प्रवृत्ति या संघर्ष की भावना प्रकट नहीं होती। वस्तुतः गुरु तेगबहादुर ने सैन्य-संचालन, मुगल-प्रशासन या बादशाह के विरुद्ध विद्रोह की भावना को फैलाने का प्रयत्न कभी नहीं किया था। उनका मुख्य भाव तो निर्भय रहकर अपने धर्म और कर्तव्य का पालन करना था। परन्तु तब भी उन पर राज्य के विरुद्ध होने का आरोप लगाया गया जो सर्वथा निराधार था। औरंगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर को कैद करने और उनको मृत्यु-दण्ड देने का कारण पूर्णतया धार्मिक था। यह विश्वास प्रकट किया गया है कि कश्मीर का मुगल-सूबेदार उस समय औरंगजेब के आदेशों पर मन्दिरों को तोड़ने और हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की नीति को कठोरता से लागू कर रहा था। उसने कश्मीरी पण्डितों को इस्लाम और मृत्यु इन दो में से एक को चुनने के लिए छः माह का समय दिया। कश्मीरी पण्डितों ने गुरु तेगबहादुर से सलाह माँगी। उन्होंने उनसे औरंगजेब से मिल कर यह शर्त रखने के लिए कहा कि यदि गुरु तेगबहादुर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेंगे तो हम भी कर लेंगे। जब यह शर्त औरंगजेब को बतायी गयी तब उसने गुरु तेगबहादुर को कैद करने के आदेश दे दिये। गुरु तेगबहादुर को कैद करके दिल्ली ले जाया गया। उनसे इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए कहा गया जिसके मना करने पर गुरु तेगबहादुर को पाँच दिन तक विभिन्न यातनाएँ देने के पश्चात् विद्रोही घोषित करके कत्ल कर दिया गया (1675 ई.)। इस प्रकार, गुरु तेगबहादुर ने धर्म की रक्षा के लिए अपना जीवन होम दिया और यह सिख धर्म पर किया गया मुगलों का दूसरा गम्भीर धार्मिक अत्याचार था।

गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय और गुरु हरकिशन ने धार्मिक रचनाएँ नहीं की थीं। गुरु तेगबहादुर ने इस कार्य को किया। उनकी कविताएँ मुख्यतया वैराग्य की भावना से भरी हुई हैं। उनमें कहीं भी राजनीति का प्रभाव दिखायी नहीं देता। गुरु तेगबहादुर ने पर्याप्त समय उत्तर-प्रदेश और बिहार में व्यतीत किया था। इस कारण, उनकी रचनाओं पर बृजभाषा का पूर्ण प्रभाव है।

गुरु गोविन्दसिंह (1675-1708 ई.)

गोविन्दसिंह गुरु तेगबहादुर के एकमात्र पुत्र थे। बिहार में पटना में 1666 ई. में उनका जन्म हुआ था। 1672 ई. में जब गुरु तेगबहादुर अपनी असम की यात्रा से वापस पहुँचे तब यह भी पंजाब पहुँचे। उन्हें साहित्यिक और सैनिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा दी गयी। वह प्रायः 9 वर्ष के ही थे कि उनके पिता को कत्ल कर दिया गया। आरम्भ में वह मखोवाल (आनन्दपुर) में ही रहे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हें गुरु घोषित किया गया। उन्होंने आरम्भ से ही सैनिक और शस्त्र एकत्रित करने आरम्भ किये। गुरु गोविन्दसिंह अपने पिता के कत्ल को कभी नहीं भुला सके। धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र उठाना और अत्याचारी का विनाश उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा। उन्होंने औरंगजेब की धर्मान्धता का उत्तर धर्मान्धता से दिया। उन्होंने अपने को **सच्चा पादशाह** कहा। वह एक बादशाह की भाँति दरबार करते थे।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों के उद्देश्य और उसकी पूर्ति के साधनों में परिवर्तन कर दिया। अभी तक सिख-गुरुओं का उद्देश्य धर्म-प्रचार और धर्म की रक्षा मात्र रहा था। गुरु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोविन्दसिंह ने 'सभी अत्याचारियों का दमन' अपना एक मुख्य उद्देश्य बनाया। उनका कहना था कि "ईश्वर ने उन्हें धर्म-प्रचार, सन्तों की रक्षा और अत्याचारियों के विनाश के लिए पृथ्वी पर भेजा है।" इसी कारण, उनके लिए शस्त्र धारण करना आवश्यक हो गया क्योंकि अत्याचारियों का विनाश बिना शस्त्र धारण किये हुए सम्भव नहीं था। उनका विश्वास था कि सिखों को एक नवीन उद्देश्य और उसकी पूर्ति के लिए एक नवीन साधन बनाने के लिए उनका जन्म हुआ है। गुरु गोविन्दसिंह ने, इसी कारण, ईश्वर के गुणों की परिभाषा बदली। उनसे पहले के सभी गुरु ईश्वर को दयावान, न्यायवान, शक्तिमान आदि गुणों से युक्त मानते थे। गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि ईश्वर में इन गुणों के अतिरिक्त अन्य गुण भी हैं। उनके अनुसार ईश्वर शस्त्रधारी और अत्याचारियों का विनाश करने वाला भी है। गुरु गोविन्दसिंह के अनुसार नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि पहले दुर्जनों का विनाश किया जाय। सभी गुरुओं ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान स्वीकार किया था परन्तु उन्होंने ईश्वर को दुर्जनों को नष्ट करने वाले के रूप में प्रस्तुत नहीं किया था। गुरु गोविन्दसिंह ने इस कार्य की पूर्ति की। अपने इन विचारों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए उन्हें खालसा के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को एक सैनिक-सम्प्रदाय **खालसा** में परिवर्तित कर दिया। सैनिकवाद की भावना सिखों में गुरु अर्जुन के समय में ही आरम्भ हो गयी थी। गुरु हरगोविन्द ने उसे पर्याप्त आगे बढ़ाया था। गुरु गोविन्दसिंह ने उसे पूर्णता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने सम्पूर्ण सिखों को **खालसा** पुकारा, प्रत्येक सिख को अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाने के लिए कहा तथा प्रत्येक को केश, कंघा, कृपाण, कच्छा और कड़ा रखने के आदेश दिये। उन्होंने कहा : "मैं चारों वर्णों के व्यक्तियों को सिंह बना दूँगा और मुगलों को बर्बाद कर दूँगा।" उन्होंने सिखों को खाने-पहनने और विवाह-सम्बन्धों के बारे में समानता और एकता प्रदान की। उन्होंने सिखों को शस्त्र-शिक्षा लेने और युद्ध में पीठ न दिखाने के लिए कहा। उन्होंने सिखों से नशा करने वालों, शिशु-बालिकाओं को मारने वालों तथा मीतास, धीर-मलियास और रामरायी सम्प्रदायों के व्यक्तियों तथा मसन्दों से पृथक रहने और उनसे कोई भी सामाजिक तथा विवाह-सम्बन्ध रखने के लिए मना किया। गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों में आत्मविश्वास और साहस उत्पन्न किया तथा एक शक्तिशाली **खालसा-सेना** तैयार करने में सफलता पायी।

गुरु गोविन्दसिंह के विरुद्ध औरंगजेब ने कई सेनाएँ भेजीं, स्थानीय मुगल-अधिकारियों ने भी उनसे निरन्तर युद्ध किये और पाँच बार उनके आनन्दपुर में स्थित निवास-स्थान को घेरा। परन्तु उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर लड़ते रहे। इस संघर्ष में उनके दो बड़े पुत्र युद्ध में मारे गये और दो छोटे पुत्र सरहिन्द के मुगल-फौजदार वजीरखाँ के द्वारा कैद कर लिये गये और बाद में दीवार में जिन्दा चिनवा दिये गये। अन्त में गुरु गोविन्दसिंह दक्षिण-भारत चले गये और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही उत्तर-भारत आये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् हुए उत्तराधिकार के युद्ध में उसके एक पुत्र बहादुरशाह ने गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी और वह उसके साथ दक्षिण-भारत चले गये। वहीं पर गोदावरी नदी के तट पर एक पठान ने छुरा मारकर उन्हें गम्भीर रूप से घायल कर दिया। प्रायः दो माह पश्चात् अपना अन्तिम समय निकट जानकर उन्होंने अपने शरीर को चिता को सौंप दिया।

गुरु गोविन्दसिंह सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए। अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया। उन्होंने कहा कि 'जहाँ भी गुरु के उपदेशों को मानने वाले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच सिख एकत्रित होंगे, मैं वहाँ उपस्थित हूँगा।' उन्होंने कहा कि 'गुरुबानी' (जो आदिग्रन्थ में दी गयी है) ही सिख-सम्प्रदाय के गुरु का कार्य करेगी। इसी कारण, सिखों ने शीघ्र ही आदिग्रन्थ को 'गुरु-ग्रन्थ' कहना आरम्भ कर दिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों का सैनिक-सम्प्रदाय, खालसा बनाया और उन्हें धर्म-युद्ध की शिक्षा दी। परन्तु यह नानक या अन्य गुरुओं की शिक्षा के विरुद्ध नहीं था। गुरु नानक के विचारों में ईश्वर को बुराइयों और दुराचारियों को नष्ट करने वाला स्वीकार किया गया था और गुरु तेगबहादुर ने सत्य की शिक्षा के लिए संघर्ष करते हुए अहिंसात्मक तरीके से अपना जीवन दिया था। गुरु गोविन्दसिंह ने भी धर्म की रक्षा के लिए ही शस्त्र धारण करना आवश्यक बताया। गुरु अर्जुन ने अपने पुत्र को शस्त्र धारण करने के लिए कहा था और उनकी आज्ञा को मानकर गुरु हरगोविन्द ने सिखों द्वारा शस्त्र धारण करने की परम्परा आरम्भ की थी। गुरु गोविन्दसिंह ने उसी परम्परा को पूर्णता प्रदान की थी। वह उस समय की आवश्यकता भी थी। परन्तु गोविन्दसिंह के संघर्ष का आधार भी पूर्णतया नैतिक और आध्यात्मिक था। इसी कारण, सिख-सम्प्रदाय की भौतिक-शक्ति का आधार सर्वदा धर्म से जुड़ा रहा। पंजाब की राजनीति में जो स्थान सिखों ने प्राप्त किया उसमें गुरु गोविन्दसिंह की शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ रहा। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह की योग्यता यही नहीं थी कि उन्होंने सिखों को एक कट्टर धार्मिक सम्प्रदाय में बदल दिया। वे विद्वान भी थे। उनके विचारों को दसम् पादशाह का ग्रन्थ में संकलित किया गया है। वे विचार तीन भाषाओं में लिखे गये थे—बृजभाषा, गुरुमुखी और फारसी। इसका अर्थ है कि गुरु गोविन्दसिंह को तीन भाषाओं का ज्ञान था। इसके अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान और आध्यात्मवाद के विचारों की दृष्टि से भी दसम् पादशाह का ग्रन्थ को एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। इस प्रकार, सिख-सम्प्रदाय के प्रति गुरु गोविन्दसिंह का योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण रहा।

बंदा बहादुर और उसके पश्चात्

इसके लिए अध्याय 14 में 'पंजाब में सिख-शक्ति का उत्थान' देखिए।

[3]

औरंगजेब के समय में अन्य विद्रोह

औरंगजेब के समय में उसकी धार्मिक नीति के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से भी विद्रोह हुए। 1663 ई. में गुजरात में एक झूठा दारा हुआ, 1669 ई. कूच-बिहार में एक झूठा शाहशुजा हुआ, 1674 ई. में यूसुफजाई जाति ने विद्रोह किया, 1699 ई. में इलाहाबाद में शाहशुजा का एक झूठा पुत्र हुआ, 1699 ई. में दक्षिण में एक झूठा अकबर हुआ और 1707 ई. में कश्मीर में एक विद्रोह हुआ। बीकानेर के शासक, पालामऊ के राजा मोरग के शाहजादे और कुमायूँ के राजा ने भी विद्रोह किये। परन्तु यह सभी विद्रोह साधारण रहे और सभी को सरलता से दबा दिया गया।

यूरोपियन जातियों में से पुर्तगालियों और अंग्रेजों से भी समय-समय पर औरंगजेब का संघर्ष हुआ। स्थल पर मुगल शक्तिशाली सिद्ध हुए और अधिकांशतया यूरोपियनों को सन्धि करने और कर देने के लिए बाध्य किया गया परन्तु समुद्र पर उनकी लूटमार रोकने में औरंगजेब असफल रहा।

औरंगजेब के समय का एक प्रमुख विद्रोह उत्तर-पश्चिम की सीमान्त जातियों का था। उत्तर-पश्चिम की सीमा पर रहने वाली वे अफगान जातियाँ पंजाब के मैदानों में आकर लूटमार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती थीं अथवा उत्तर-पश्चिम की तरफ से पश्चिम की ओर जाने वाले व्यापारिक काफिलों को लूटती थीं। यही उनकी जीविका का मुख्य साधन था। मुगल बादशाह समय-समय पर उनसे युद्ध करते थे अथवा समय-समय पर उनको शान्त रहने के बदले में धन देते थे। स्वयं औरंगजेब भी उनको धन देकर शान्त रखने का प्रयत्न करता रहा। परन्तु तब भी उन्होंने मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने की नीति को नहीं छोड़ा। विभिन्न अवसरों पर उनके विभिन्न नेता हुए जिन्होंने मुगलों को बहुत परेशान किया।

1667 ई. में यूसुफजाई कबीले के नेता भागू ने भयंकर लूटमार की। यूसुफजाई कबीला स्वात, बाजौर और उत्तरी पेशावर के मैदानी भाग में निवास करता था। भागू ने एक व्यक्ति को वहाँ के पुराने राजवंश का व्यक्ति बताकर मुहम्मदशाह के नाम से बादशाह घोषित किया, एक बड़ी सेना एकत्रित कर ली, सिन्धु नदी को पार करके मुगल सीमा में लूटमार की और मुगलों के काबुल तथा कश्मीर के मार्ग को बन्द कर दिया। औरंगजेब ने बड़ी सेनाएँ यूसुफजाई-विद्रोह को दबाने के लिए भेजीं। उसी वर्ष भागू मुगल-सरदार कामिलखाँ के द्वारा परास्त हुआ। अन्य कई स्थानों पर भी यूसुफजाइयों की पराजय हुई। अन्त में मुहम्मद अमीन खाँ उनके विद्रोह को कठोरता से दबाने में सफल हुआ और यूसुफजाइयों का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न समाप्त हुआ।

1672 ई. में अफ्रीदी-कबीले ने विद्रोह किया। यह कबीला खैबर दर्रे के निकट के क्षेत्र में रहता था। उनके नेता अकमालखाँ ने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित किया और मुगलों के विरुद्ध एक राष्ट्रीय युद्ध घोषित करके सभी कबीलों को अपने झण्डे के नीचे एकत्रित होने के लिए आह्वान किया। अमीनखाँ ने, जो उस समय काबुल का सूबेदार बनाया जा चुका था, इस विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया परन्तु एक युद्ध में उसकी गम्भीर पराजय हुई। मुगलों के प्रायः 10,000 सैनिक मारे गये, प्रायः 20,000 स्त्री-पुरुष कैद हो गये जिन्हें मध्य-एशिया में गुलामों की तरह बिकने के लिए भेज दिया गया और प्रायः दो करोड़ की सम्पत्ति लूटी गयी। इससे अकमालखाँ का नाम सम्पूर्ण पहाड़ी-क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गया और उसके सैनिकों की संख्या बढ़ने लगी। एक अन्य कबीला-जाति खट्टक भी अफ्रीदी-विद्रोहियों के साथ मिल गयी। यह कबीला कोहात, बन्नू और पेशावर के निकट के भागों में निवास करता था। उनका नेता खुशहालखाँ एक योद्धा और कवि दोनों था। खुशहालखाँ ने अपनी कलम और तलवार दोनों से इस विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया और यह विद्रोह कन्धार से अटक तक के क्षेत्र में सम्पूर्ण पठान-जाति का विद्रोह बन गया। आरम्भ में भेजे गये दो मुगल सेनापति इस विद्रोह को दबाने में असफल रहे। औरंगजेब विद्रोह की गम्भीरता को देखकर स्वयं 1674 ई. में पेशावर के निकट हसनअब्दल नामक स्थान पर जाकर 1-1/2 वर्ष तक रहा। उसने इस विद्रोह को दबाने के लिए तोपखाना और सेना की सहायता ली परन्तु साथ ही साथ उसने कूटनीति का भी सहारा लिया। विद्रोही नेताओं को धन और बादशाह के मनसबदार बनने का लालच भी दिया गया। उनमें से कई ने शाही सेवाएँ स्वीकार कर लीं और कई ने शाही-सेना की शक्ति के मुकाबले समझौता कर लिया। 1675 ई. के अन्त तक मुगलों को इस विद्रोह को दबाने में सफलता मिल गयी। इस कारण, औरंगजेब उसी वर्ष अमीरखाँ को काबुल का सूबेदार नियुक्त करके दिल्ली वापस आ गया। अमीरखाँ प्रायः 20 वर्ष तक काबुल का सूबेदार रहा। वह और उसकी पत्नी साहिबी सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुए। अमीरखाँ ने धन, भिन्नता, दबाव, आदि सभी साधनों का प्रयोग किया। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप अकमालखाँ के नेतृत्व में पठानों की सम्मिलित शक्ति टूट गयी। कुछ समय पश्चात् अकमालखाँ की मृत्यु हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने पर अफ्रीदियों ने मुगलों से समझौता कर लिया। उसके पश्चात् खुशहालखाँ खट्टक के नेतृत्व में पठान कुछ वर्षों तक मुगलों से संघर्ष करते रहे परन्तु विद्रोहियों की सम्मिलित शक्ति के टूट जाने से विद्रोह बहुत दुर्बल हो गया। खुशहालखाँ बाद में पकड़ा गया और उसका बाद का जीवन मुगलों की कैद में ग्वालियर में कटा। इस प्रकार, औरंगजेब उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त के विद्रोह को वर्षों के सतत् प्रयत्न के बाद दबाने में सफल हुआ। परन्तु इस विद्रोह ने साम्राज्य को बहुत हानि पहुँचाई। औरंगजेब को अपनी सर्वश्रेष्ठ सेना उत्तर-पश्चिम में रखनी पड़ी जिसके कारण वह शिवाजी की ओर ध्यान न दे सका और उन्होंने 1677 ई. में कर्नाटक को जीत लिया। उसी प्रकार, जब 1679 ई. में राजपूतों ने विद्रोह किया, उस समय वह उनके विरुद्ध अफगान-सैनिकों का प्रयोग नहीं कर सका क्योंकि उसे उन पर पूर्ण विश्वास नहीं रहा था और न वह अफगान सैनिकों की भर्ती कर सका।

[4]
साम्राज्य-विस्तार

1. उत्तर-पूर्व : असम

शाहशुजा के अव्यवस्थित शासन और उत्तराधिकार के युद्ध के कारण असम और कूच-बिहार के शासकों को मुगलों के विरुद्ध खड़े होने का साहस हुआ। 1661 ई. तक मुगल इस ओर कोई ध्यान न दे सके। जब औरंगजेब अपने सिंहासन पर दृढ़ हो गया तब उसने मीरजुमला को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे असमियों पर आक्रमण करने के आदेश दिये। 1 नवम्बर, 1661 ई. में मीरजुमला ने कूच-बिहार की राजधानी को जीत लिया, असम के पूर्वी और मध्य-भाग पर अधिकार कर लिया, 1662 ई. में गड़गाँव के राजा को परास्त करके उसकी राजधानी को जीत लिया तथा इस प्रकार मुगलों की सत्ता को असम में स्थापित कर दिया। 10 अप्रैल, 1663 ई. को बीमारी से मीरजुमला की मृत्यु हो गयी। मीरजुमला को असम की विजय का श्रेय जाता है। मीरजुमला के पश्चात् शाइस्ताखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया। उसने भी अराकान के राजा को परास्त किया और अगले चार वर्ष तक असम पर मुगलों का अधिकार रहा। परन्तु उसके पश्चात् अपने राजा चक्रध्वज के नेतृत्व में असमियों ने असम और उसकी राजधानी गौहाटी को जीतने में सफलता पायी (1667 ई.)। परन्तु 1670 ई. में असम में आन्तरिक संघर्षों के कारण 11 वर्षों में सात राजा बदले। इसका लाभ मुगलों ने उठाया। यद्यपि कामरूप पर मुगलों का आधिपत्य न हो सका परन्तु कूच-बिहार के राजा ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

2. दक्षिण-भारत

1682 ई. में अपने पुत्र का पीछा करता हुआ औरंगजेब दक्षिण-भारत पहुँचा। उसके पश्चात् उसे उत्तर-भारत में आने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। दक्षिण-भारत औरंगजेब का कब्रिस्तान सिद्ध हुआ।

(i) **बीजापुर की विजय**—उत्तराधिकार के युद्ध से पहले शाहजहाँ के आदेश से औरंगजेब ने बीजापुर से एक सन्धि की थी जिसके अनुसार अली आदिलशाह द्वितीय ने मुगलों को डेढ़ करोड़ रुपया और बीदर, कल्याणी तथा परेन्द्र के किले देने का वायदा किया था। बीजापुर ने इस सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया। 1665 ई. में राजा जयसिंह को शिवाजी और बीजापुर-राज्य का दमन करने के लिए नियुक्त किया गया। उसी वर्ष जयसिंह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इसके पश्चात् उसने बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर के 12 मील निकट तक पहुँच गया। परन्तु सफलता की आशा न देखकर जयसिंह को वापस लौटना पड़ा। 11 जुलाई, 1666 ई. में वापस आते हुए राजा जयसिंह की बुरहानपुर में मृत्यु हो गयी।

अगले दस वर्ष तक बीजापुर मुगलों के आक्रमण से बचा रहा। दिसम्बर 1672 ई. में अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसका चार वर्षीय पुत्र सिकन्दर आदिलशाह गद्दी पर बैठा। अल्पायु के इस शासक के समय में बीजापुर के सरदारों में राज्य के प्रभुत्व के लिए झगड़े आरम्भ हो गये। उस समय दक्षिण का मुगल-सूबेदार बहादुरखाँ था। 1676 ई. में उसने बीजापुर पर आक्रमण किया परन्तु वह विफल हुआ। औरंगजेब ने दिलेरखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। दिलेरखाँ ने पहले तो बीजापुर के मन्त्री सिद्दी मसूद को अपनी तरफ मिलाकर एक सन्धि करने में सफलता पायी जिसके अनुसार बीजापुर ने मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और सुल्तान की बहिन शाहजादी शहरबानू को औरंगजेब के पुत्र शाहजादा आजम ने शादी करने के लिए दिल्ली भेज दिया। परन्तु बाद में बीजापुर और मराठों की मित्रता के प्रश्न को लेकर दिलेरखाँ और सिद्दी मसूद में झगड़ा हो गया तथा दिलेरखाँ ने 1679 ई. में बीजापुर पर आक्रमण किया। दिलेरखाँ ने बीजापुर राज्य में बहुत बरबादी की परन्तु वह कोई विशेष सफलता न पा सका। 1680 ई. में औरंगजेब ने दिलेरखाँ को दक्षिण से हटा दिया तथा उसके स्थान पर शाहजादा आजम को भेजा।

शाहजादा आजम ने अनेक कठिनाइयाँ उठायीं परन्तु वह दृढ़तापूर्वक बीजापुर से संघर्ष करता रहा। अप्रैल 1685 ई. में उसने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। 13 महीने तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु किले को न जीता जा सका। 13 जुलाई, 1686 ई. में स्वयं औरंगजेब बीजापुर के किले के घेरे की देखभाल के लिए पहुँच गया। 22 सितम्बर, 1686 ई. को बीजापुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दरशाह स्वयं औरंगजेब से मिला। उसका स्वागत किया गया, उसे 'खान' का पद दिया गया तथा एक लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दी गयी। बीजापुर राज्य को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। बाद में आदिलशाही-वंश के अन्तिम सुल्तान सिकन्दरशाह की सतारा के निकट 32 वर्ष की आयु में मृत्यु हुई और उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उसे धार्मिक गुरु शेख फहीमुल्ला की कब्र के चरणों में खुले कब्रिस्तान में दफना दिया गया।

(ii) गोलकुण्डा की विजय—गोलकुण्डा का शासक अबुलहसन कुतुबशाह था। गोलकुण्डा राज्य समय-समय पर बीजापुर राज्य और मराठों की सहायता करता रहा था। अबुलहसन शिया धर्म को संरक्षण देता था और उसने शासन-सत्ता दो ब्राह्मण मन्त्रियों, मदन्ना और अकन्ना को दे रखी थी। औरंगजेब दक्षिण के इन राज्यों को इसलिए भी समाप्त करना चाहता था क्योंकि इनको समाप्त किये बिना मराठों की शक्ति को समाप्त करना असम्भव हो रहा था तथा इन राज्यों को समाप्त किये बिना उसकी साम्राज्य-विस्तार की नीति पूर्ण नहीं हो सकती थी।

1685 ई. में औरंगजेब ने शाहजादा शाहआलम को गोलकुण्डा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। हैदराबाद के मार्ग में मलखेद नामक स्थान पर गोलकुण्डा की सेना ने मुगलों की सेना के मार्ग को रोका परन्तु सेनापति मुहम्मद इब्राहीम के मुगलों के साथ मिल जाने के कारण गोलकुण्डा की सेना को मुगलों के सामने से हटना पड़ा। कुतुबशाह सुल्तान अबुलहसन हैदराबाद को छोड़कर गोलकुण्डा के किले में भाग गया और मुगलों ने हैदराबाद पर अधिकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके वहाँ बहुत बुरी तरह से लूटमार की। अबुलहसन ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की। जब सन्धि की बातचीत चल रही थी तभी कुछ सरदारों और हरम की प्रभावशाली स्त्रियों ने षड्यन्त्र करके मदन्ना और अकन्ना का सड़क पर वध करा दिया तथा उनके परिवार और घरों को लूट लिया गया। मदन्ना और अकन्ना के सिर काटकर शाहजादा शाहआलम के पास भेज दिये गये। इसके पश्चात् शाहआलम अपनी सेना को लेकर औरंगजेब के पास पहुँच गया। परन्तु औरंगजेब सन्धि करने के लिए तत्पर न हुआ। उसने बीजापुर के किले के पतन के पश्चात् 1687 ई. में गोलकुण्डा पर आक्रमण करके किले को घेर लिया। आठ महीने से भी अधिक समय तक किले का घेरा पड़ा रहा और मुगलों को सफलता न मिली। अन्त में, औरंगजेब ने लालच देकर अब्दुल्ला गनी नामक एक अफगान सरदार को अपनी ओर मिला लिया और उसने अपने मालिक के साथ विश्वासघात करके 2 अक्टूबर, 1687 ई. को प्रातःकाल किले के फाटक खोल दिये और मुगल सेना ने किले में प्रवेश पा लिया।

औरंगजेब ने अबुलहसन को बन्दी बनाकर दौलताबाद के किले में भेज दिया। उसे पचास हजार रुपया वार्षिक पेन्शन दे दी गयी और उसके राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार अक्टूबर 1687 ई. में गोलकुण्डा के स्वतन्त्र कुतुबशाही राज्य का अन्त हो गया।

(iii) मराठों से संघर्ष—मराठा-राष्ट्र के निर्माता और मराठों के स्वतन्त्र राज्य के संस्थापक शिवाजी को अपने पिता शाहजी से केवल पूना की जागीर प्राप्त हुई थी। परन्तु शिवाजी महत्वाकांक्षी थे। धर्म की रक्षा की भावना उनकी प्रेरणा थी और दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की दुर्बलताएँ उनके उचित अवसर थे। 20 वर्ष की आयु से उन्होंने बिना किसी सहायता और संरक्षण के अपने स्वतन्त्र जीवन का आरम्भ किया तथा साहस, चालाकी और कौशल से आसपास की भूमि और किलों को जीतना आरम्भ किया। उन्हें बीजापुर और मुगलों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। मुगलों से शिवाजी का पहला संघर्ष 1656 ई. में आरम्भ हुआ जब शिवाजी ने अहमदनगर और चुनार पर आक्रमण किया। परन्तु 1657 ई. में उन्होंने मुगलों से सन्धि कर ली। उत्तराधिकार के युद्ध के कारण शिवाजी को कुछ समय के लिए मुगलों से मुक्ति मिल गयी और उस समय शिवाजी ने बीजापुर से संघर्ष करके अपनी सीमाओं का विस्तार किया। 1659 ई. में उन्होंने अफजलखाँ को मारने और उसकी सेनाओं को भगाने में सफलता पायी। परन्तु 1660 ई. में शिवाजी को बीजापुर के सरदार सिद्दी जौहर और दक्षिण के मुगल-सूबेदार शाइस्ताखाँ दोनों का एक साथ मुकाबला करना पड़ा। बीजापुर ने उससे पन्हाला का किला छीन लिया और मुगलों ने उनसे पूना, शिवपुर और चाकन आदि स्थानों को छीन लिया। तब भी शिवाजी साहसपूर्वक युद्ध करते रहे और उन्होंने जगह-जगह मुगलों पर आक्रमण करने, उनकी रसद को लूटने और उनके मनोबल को कम करने में सफलता पायी। अप्रैल 1663 ई. में शिवाजी ने पूना में घुसकर चुपके से शाइस्ताखाँ के महल पर आक्रमण करने में सफलता पायी। शाइस्ताखाँ बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर भाग सका। औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को वापस बुला लिया और राजा जयसिंह को दक्षिण भेजा। इस बीच में शिवाजी ने सूरत शहर को लूटने में सफलता पायी। 1665 ई. में राजा जयसिंह ने शिवाजी को पुरन्दर के किले में घेरकर सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि से शिवाजी को अपने तीन-चौथाई किले और भूमि मुगलों को देनी पड़ी, मुगलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा और बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सहायता देनी पड़ी। राजा जयसिंह के समझाने से 22 मई, 1666 ई. में शिवाजी औरंगजेब से मिलने के लिए आगरा के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किले में 'दीवाने आम' में आये। वहाँ औरंगजेब ने उनको नजरबन्द कर 'जयपुर भवन' में रख दिया परन्तु अपनी चतुराई से शिवाजी वहाँ से भाग निकले और महाराष्ट्र पहुँच गये। महाराष्ट्र पहुँचकर शिवाजी ने औरंगजेब से सन्धि कर ली और प्रायः तीन वर्ष तक उन्होंने मुगल-सीमाओं के अन्तर्गत आक्रमण नहीं किये। 1670 ई. में शिवाजी ने पुनः मुगलों से युद्ध आरम्भ कर दिया, पुरन्दर की सन्धि द्वारा मुगलों को दिये गये प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, सूरत को दुबारा लूटा और मुगलों के औरंगाबाद, बगलाना, खानदेश, बरार आदि प्रदेशों पर सफल आक्रमण क़िये। औरंगजेब ने खानजहाँ (बहादुरखाँ) को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। परन्तु पाँच वर्ष के समय में वह कोई सफलता न पा सका। शिवाजी ने अनेक बार मुगल-प्रदेशों पर आक्रमण किये और विभिन्न स्थानों से चौथ वसूल की। **16 जून, 1674 ई. को रायगढ़ में शिवाजी ने राज्याभिषेक किया और 'छत्रपति शिवाजी' की उपाधि धारण कर एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना की।** 14 अप्रैल, 1680 ई. को शिवाजी की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार शिवाजी ने एक लम्बे समय तक बीजापुर तथा मुगलों का विरोध किया और महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने में सफलता पायी। **औरंगजेब शिवाजी के विरुद्ध सफलता न पा सका।**

शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी गद्दी पर बैठा। उसने भी मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने की नीति को जारी रखा। 1681 ई. में औरंगजेब के पुत्र अकबर को लेकर राठौर दुर्गादास शम्भाजी के दरबार में पहुँचा। परन्तु शम्भाजी में अपने पिता की भाँति दृढ़ता, परिश्रमशीलता, एकाग्रता और नीति-कुशलता नहीं थी। वह अकबर को सहायता देने में असफल रहा। 1682 ई. में औरंगजेब स्वयं दक्षिण पहुँचा और उसने हर तरफ से शम्भाजी पर आक्रमण शुरू कर दिये। दो वर्ष के प्रयत्नों का कोई लाभदायक परिणाम न निकला और 1682 ई. में औरंगजेब ने महाराष्ट्र से अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं। शम्भाजी ने भी मुगलों से समझौता कर लिया। परन्तु यह समझौता स्थायी नहीं रहा। उसी वर्ष मराठा-मुगल संघर्ष पुनः आरम्भ हो गया। उसके पश्चात् 6 वर्ष तक शम्भाजी निरन्तर मुगलों से युद्ध करता रहा। अन्त में, अपनी असावधानी के कारण 1689 ई. में शम्भाजी अपने मन्त्री कवि कलश और कुछ अन्य प्रमुख अधिकारियों के साथ पकड़ा गया। उसके पुत्र शाहू को भी मुगलों ने कैद कर लिया। औरंगजेब ने शम्भाजी से उसके सभी किलों और खजानों को माँगा। शम्भाजी ने इसे इंकार ही नहीं किया, बल्कि इस्लाम के पैगम्बर की बुराई भी की और औरंगजेब की एक पुत्री से विवाह करने की माँग की। इस कारण, कठोर यातनाएँ देने के पश्चात् 21 मार्च, 1689 ई. को शम्भाजी को कत्ल कर दिया गया।

1689 ई. में औरंगजेब ने मराठा-छत्रपति शम्भाजी को कत्ल कर दिया, मराठों की राजधानी रायगढ़ पर अधिकार कर लिया और प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत हुआ कि शिवाजी द्वारा स्थापित किया गया मराठा-राज्य सर्वदा के लिए समाप्त हो गया और औरंगजेब की दक्षिण-विजय पूर्ण हो गयी (बीजापुर और गोलकुण्डा को औरंगजेब इससे पहले ही विजय कर चुका था)। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। संकट की इस घड़ी में मराठों ने सिद्ध कर दिखाया कि शिवाजी द्वारा किया हुआ कार्य अत्यन्त दृढ़ नींव पर आधारित था। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया था, महाराष्ट्र-निवासियों को राष्ट्र-प्रेम सिखाया था और उन्हें स्वतन्त्र राज्य स्थापित रखने की अभिलाषा प्रदान की थी। इस कारण सम्पूर्ण महाराष्ट्र औरंगजेब के विरुद्ध खड़ा हो गया और मराठों ने उस युद्ध को आरम्भ किया जो मराठों के इतिहास में स्वतन्त्रता-संग्राम के नाम से विख्यात है। पहले इस संग्राम का नेतृत्व शम्भाजी के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौतेले भाई राजाराम ने किया जो एक साधु के वेष में जिंजी के किले (कर्नाटक में) तक पहुँचने में सफल हो गया था। 1700 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने तीन वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम से इस युद्ध का नेतृत्व किया। ताराबाई एक योग्य प्रशासक सिद्ध हुई। उस समय जबकि मराठों के सिंहासन के उत्तराधिकार का प्रश्न विवादग्रस्त था, मराठा-सरदारों में पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष फैला हुआ था, हजारों मावले मुगल-सेना में भर्ती किये जा चुके थे और औरंगजेब मराठों के विनाश के लिए कटिबद्ध था, ताराबाई ने अपने कौशल और कूटनीति से मराठों को सफल नेतृत्व प्रदान किया। मुसलमान इतिहासकार खफीखाँ तक ने उसके बारे में लिखा है कि "यह उसके प्रयत्नों का ही परिणाम था कि मराठों ने दक्षिण के सूबों पर ही नहीं अपितु मुगलों के अधीन दूरस्थ प्रान्तों पर भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और अपने शासन के अन्त तक भी औरंगजेब मराठों को दबाने में विफल रहा।" इसके अतिरिक्त रामचन्द्र बाबदेकर, शंकरजी मल्हारकर, परशुराम त्रिम्बक और प्रहलाद नीराजी जैसे राजनीतिज्ञों तथा सन्ताजी घोरपदे और धानाजी जादव जैसे सेनापतियों ने इस संघर्ष को जीवन दिया। परन्तु इस संघर्ष की आत्मा महाराष्ट्र की जनता थी जिसने मुगलों द्वारा की गयी बरबादी को सहन करते हुए अपने सरदारों और नेताओं को जीवन, धन और शक्ति प्रदान की। एक प्रकार से महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक, प्रत्येक घर मराठा-सैनिकों का सुरक्षा-स्थल और प्रत्येक गाँव मुगलों के विरुद्ध एक किला था। औरंगजेब इस संघर्ष में सफल न हो सका। अपनी मृत्यु तक औरंगजेब मराठों की शक्ति को दबाने में लगा रहा परन्तु असफल रहा। जदुनाथ सरकार के अनुसार, "औरंगजेब की कठिनाइयाँ मराठा राज्य के एक प्रधान और एक केन्द्रीय सरकार की अनुपस्थिति में बहुत बढ़ गयी थीं, क्योंकि प्रत्येक मराठा सरदार स्वेच्छा से अपने सैनिकों के साथ विभिन्न स्थानों पर आक्रमण करता और युद्ध करता था। यह युद्ध जनता का युद्ध बन गया था और औरंगजेब इसे समाप्त न कर सका क्योंकि न तो वहाँ मराठों की सरकार थी और न मराठों की राजकीय सेना थी जिस पर औरंगजेब आक्रमण करता और उसे नष्ट करता।" 1706 ई. में औरंगजेब अहमदनगर उस स्थिति में पहुँचा जबकि मराठे निरन्तर उसकी सेना का पीछा कर रहे थे और उसकी छावनी पर छापे मार रहे थे।

इस प्रकार, मराठों के विरुद्ध औरंगजेब असफल रहा। यह उसकी दक्षिण-नीति की असफलता थी, यह उसकी स्वयं की असफलता थी और यह मुगल-साम्राज्य की भी असफलता थी।

[5]
औरंगजेब की मृत्यु

औरंगजेब की मृत्यु अत्यन्त दुखद परिस्थितियों में हुई। राजनीतिक दृष्टि से उत्तर-भारत में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो रहे थे, दक्षिण-भारत में मराठे गुजरात, मालवा और खानदेश जैसे दूरस्थ मुगल-सूबों तथा बादशाह की छावनी पर भी आक्रमण कर रहे थे, शासन-व्यवस्था प्रायः नष्ट हो चुकी थी, आर्थिक दृष्टि से राज्य की स्थिति दुर्बल हो गयी थी और अपने पिता की राज्य को बाँटने की इच्छा को जानने के पश्चात् भी शाहजादा मुअज्जम, शाहजादा आजम और शाहजादा कामबक्स युद्ध को तत्पर हो रहे थे। औरंगजेब की धार्मिक नीति के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विद्रोहों और दक्षिण के युद्धों ने मुगल-साम्राज्य की कमर तोड़ दी थी। स्वयं औरंगजेब ने मृत्यु के अवसर पर अपनी असफलता को अनुभव कर लिया था। पारिवारिक दृष्टि से भी औरंगजेब का दुर्भाग्य रहा। 1702 ई. में उसकी पुत्री जेबुन्निसा की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु हुई, 1704 ई. में उसके निष्कासित पुत्र अकबर की मृत्यु फारस में हुई, 1705 ई. में उसकी प्रिय पुत्रवधु जहाँजेब की मृत्यु हो गयी, 1706 ई. में उसकी अकेली जीवित बहन गौहनआरा की मृत्यु हो गयी, उनकी मृत्यु के एक माह पश्चात् अकबर के पुत्र बुलन्दअख्तर की मृत्यु हुई और उसके दो नातियों की मृत्यु उससे थोड़े समय पहले 1707 ई. में हुई। ऐसी परिस्थितियों में 4 मार्च, 1707 ई. को औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। दौलताबाद से चार मील दूर शेख जैम-उल-हक के मजार के निकट औरंगजेब को दफना दिया गया। इस प्रकार औरंगजेब का अन्त हुआ, जिसे सर जदुनाथ सरकार ने **'एक के अतिरिक्त महान् मुगल बादशाहों में महान्'** पुकारा है।

[6]

औरंगजेब का चरित्र, व्यक्तित्व और मूल्यांकन

(असफलता और मुगल-साम्राज्य के पतन में उसका उत्तरदायित्व)

औरंगजेब शिक्षित, परिश्रमी, संयमी, दृढ़-निश्चयी, धार्मिक, योग्य सैनिक और सफल सेनापति था। उसे फारसी, तुर्की और हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। उसका अध्ययन अच्छा था और उसे विद्वान माना जा सकता था। वह अत्यधिक परिश्रमी था। उसे कठिनाई से 3 या 4 घण्टे सोने का अवसर मिलता था। शासन का कोई ऐसा विभाग न था, अधिकारों की कोई ऐसी नियुक्ति न थी और युद्ध की कोई ऐसी योजना न थी जिसे औरंगजेब स्वयं न देखता हो। **वह साहसी था।** जीवन की कठिनतम परिस्थितियों में उसने धैर्य नहीं छोड़ा। बचपन में हाथियों की एक लड़ाई को देखने के अवसर पर जब एक हाथी ने शाहजादे औरंगजेब पर आक्रमण किया तब भागने के स्थान पर शाहजादे ने हाथी पर तलवार से आक्रमण किया और उसे भगा दिया। बल्ख (मध्य-एशिया) में उजबेगों से युद्ध के समय में युद्ध के मैदान में घोड़े से उतरकर नमाज पढ़ने का साहस शाहजादे औरंगजेब में ही था। इसी प्रकार, अपने पुत्र अकबर के विद्रोह के अवसर पर बादशाह औरंगजेब के पास अजमेर में बहुत थोड़ी सेना थी परन्तु पीछे हटने के स्थान पर औरंगजेब युद्ध करने के लिए अजमेर के बाहर निकल आया था। **उसका व्यक्तिगत जीवन आदर्श था।** उसे अपने आचार-विचार पर कठोर नियन्त्रण था। वह बहुत सादा भोजन करता था और सादे वस्त्र पहनता था। वह शराब बिलकुल नहीं पीता था। इस्लाम के कानून के अनुसार उसने कभी भी चार से अधिक शादियाँ नहीं कीं और एक प्रणय-प्रसंग (हीराबाई उर्फ जैनबदी महल के साथ बुरहानपुर में, जबकि वह शाहजहाँ के द्वारा दूसरी बार दक्षिण-भारत का सूबेदार नियुक्त किया गया था) के अतिरिक्त उसका जीवन स्त्रियों के सम्पर्क से निष्कलंक था। वह दृढ़-निश्चयी था और एक बार अपने लक्ष्य को निश्चित करने के पश्चात् उसके साथ समझौता करने को तैयार नहीं होता था। एक सैनिक की दृष्टि से औरंगजेब ने साहस और कौशल से अनेक युद्धों में भाग लिया था और प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र चलाने में वह कुशल सिद्ध हुआ था। एक सेनापति की दृष्टि से वह चालाक और रण-कुशल सेनापति सिद्ध हुआ था। मध्य-एशिया और कन्धार के आक्रमणों के अवसर पर उसे अवश्य असफलता प्राप्त हुई थी परन्तु उनके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी न था। परिस्थितियों और एक अच्छे तोपखाने की कमी भी उसके कारण थे। उत्तराधिकार के युद्ध में जिस गतिशीलता और कौशल का उसने परिचय दिया था वह उसकी सफलता का कारण बने थे। उसके पश्चात् भी अनेक युद्धों में उसने भाग लिया और सफलता प्राप्त की। औरंगजेब युद्ध को जीतने के लिए कौशल और कूटनीति दोनों से काम लेता था। अपने भाइयों को पराजित करने, अकबर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विद्रोह को समाप्त करने और गोलकुण्डा के किले को जीतने में उसने कूटनीति का सहारा लिया था।

परन्तु औरंगजेब न एक अच्छा पुत्र, न एक अच्छा पिता, न एक अच्छा मित्र, न एक अच्छा भाई, न एक अच्छा बादशाह और न एक अच्छा शासन-प्रबन्धक सिद्ध हुआ। उसने अपने पिता को कैद में रखा, अपने भाइयों का वध कराया, उसका एक पुत्र विदेश भागने को बाध्य हुआ, उसके एक पुत्र और एक पुत्री की मृत्यु कैद में हुई, उसके एक अन्य पुत्र को आठ साल कैद में रहना पड़ा और उसका कोई अच्छा मित्र न था। **इसके लिए औरंगजेब स्वयं ही जिम्मेदार था। प्रथम, राजनीति में उदारता करना उसकी नीति के विरुद्ध था और दूसरे वह सन्देही प्रकृति का था।** उसने कभी किसी पर विश्वास नहीं किया। इसी कारण, शासन का सभी कार्य उसे देखना पड़ा, कोई उसके प्रति वफादार नहीं हो सका और कोई भी उसके समय में योग्यता प्राप्त नहीं कर सका। औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य में योग्य सेनापतियों एवं योग्य शासन-प्रबन्धकों का अभाव हो गया। जो योग्य व्यक्ति उसे प्राप्त हुए उनका निर्माण उसके समय में नहीं बल्कि उसके पिता के समय में हो चुका था। औरंगजेब का सन्देही स्वभाव किसी भी व्यक्ति की योग्यता को बढ़ने देने के अनुकूल न था। औरंगजेब न तो एक अच्छा बादशाह सिद्ध हुआ और न ही अच्छा शासन-प्रबन्धक। **उसके व्यक्तिगत चरित्र की मुख्य विशेषता धर्मान्धता थी।** यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता था, नियमपूर्वक रोजे रखता था, इस्लाम के सभी धार्मिक नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करता था तथा जिस धर्म की सत्यता में उसे विश्वास था उस धर्म को उसने अपनी प्रजा में फैलाने का प्रयत्न किया था। इस कारण वह एक अच्छा मुसलमान शासक था। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। इस मापदण्ड से अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ अच्छे मुसलमान शासक नहीं कहे जा सकते। **धर्म-पालन की इतनी संकुचित व्याख्या ने ही औरंगजेब को न अच्छा बादशाह बनने दिया और न अच्छा शासन-प्रबन्धक।** औरंगजेब ने इस्लाम धर्म को राज्य-धर्म बनाया और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू, सिखों और बौहरों के साथ ही नहीं बल्कि शिया-मत मानने वाले मुसलमानों के प्रति भी उसकी नीति अनुदार थी। जिस प्रकार उसने उन सभी के प्रति आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दुर्व्यवहार और असमानता की नीति अपनायी उससे उसने राज्य की एकता को नष्ट कर दिया, हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध खराब कर दिये तथा अनेक विद्रोहों को जन्म दिया जिसके कारण राज्य की आर्थिक एवं सैनिक-शक्ति नष्ट हुई, शासन अव्यवस्थित हुआ और प्रजा का धन, सम्मान और सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। **औरंगजेब की भावनाएँ कितनी ही नेक रही हों परन्तु धर्म की संकुचित व्याख्या ने उसके आदर्श और कर्तव्यों की परिभाषाओं को बदल दिया था। वह न तो अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने वाला योग्य शासन-प्रबन्धक।** एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से भी औरंगजेब असफल रहा। निस्सन्देह, उसके समय में मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ सबसे अधिक विस्तृत थीं, परन्तु उसकी दक्षिण की विजय अस्थायी और खोखली थी। साम्राज्य की श्रेष्ठता के समय से ही साम्राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ था। औरंगजेब दक्षिण-विजय को संगठित न कर सका बल्कि ऐसा करने के प्रयत्न में उसने उत्तर-भारत की विजय और एकता भी नष्ट कर दी। उसकी मृत्यु के समय उत्तर और दक्षिण दोनों ही भागों में स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण आरम्भ हो चुका था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब भी मध्य-युग के इतिहास में औरंगजेब का स्थान महान् है—उसकी सफलताओं के कारण भी और उसकी असफलताओं के कारण भी। इसी कारण जदुनाथ सरकार ने उसे 'एक के अतिरिक्त महान् मुगल बादशाहों में महान्' पुकारा है और सर जदुनाथ सरकार का औरंगजेब पर जो शोध-कार्य है उसे देखते हुए उनकी राय को प्रायः सभी इतिहासकारों को स्वीकार करना पड़ता है। औरंगजेब के समय की महानतम सफलता साम्राज्य का विस्तार था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "औरंगजेब का इतिहास प्रायः 60 वर्ष का भारत का इतिहास है·····उसके समय में मुगल-साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया और एक इतना बड़ा राज्य हो गया जितना भारत में इतिहास के आरम्भ होने से ब्रिटिश-साम्राज्य के निर्माण तक नहीं हुआ था।" परन्तु जदुनाथ सरकार ने यह भी लिखा है : "साम्राज्य का विस्तार उसके अन्त का आरम्भ होना था·····।" इस प्रकार सर जदुनाथ सरकार के शब्दों से औरंगजेब की महान् सफलता और महान् असफलता स्पष्ट हो जाती है। इतिहासकार लेनपूल ने भी लिखा है : "निस्सन्देह, औरंगजेब का जीवन एक महान् विफलता थी लेकिन वह महानता से ही विफल हुआ था।" इस प्रकार औरंगजेब महान् था। परन्तु औरंगजेब असफल हुआ। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "जब हम औरंगजेब को एक बादशाह की दृष्टि से देखते हैं तो कहना पड़ता है कि वह असफल था।" इतिहासकार लेनपूल जो एक स्थान पर औरंगजेब को अपने पिता से अधिक बुद्धिमान, अधिक न्यायप्रिय और अधिक दयावान बताता है, एक अन्य स्थान पर उसके बारे में लिखता है : "उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही हिन्दुस्तान अव्यवस्थित हो गया था और भविष्य में पतन के चिह्न प्रकट होने लगे थे।" सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में शासन बहुत शीघ्रता से गिरने लगा। शान्ति, समृद्धि और ललित-कलाओं का ह्रास हुआ तथा सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता पिछड़ गयी। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया और साम्राज्य के आर्थिक साधन इतने संकुचित हो गये कि वह साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गये। दक्षिण-भारत में बीजापुर, गोलकुण्डा, पूर्वी कर्नाटक और महाराष्ट्र की औरंगजेब की विस्तार विजयें सभी भ्रमपूर्ण थीं। साम्राज्य की शक्ति और सम्पत्ति में वृद्धि करने के स्थान पर उन्होंने आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य का विनाश कर दिया और उसकी सैनिक-शक्ति को नष्ट कर दिया। वास्तव में मुगल-साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत हो गया कि एक केन्द्र-स्थान से और एक व्यक्ति द्वारा उसका शासन करना असम्भव हो गया तथा उसका पतन आरम्भ हुआ जिसने 18वीं सदी में भारत के इतिहास को 'महान् अराजकता' की स्थिति में पहुँचा दिया।"

इस कारण, औरंगजेब का स्थान महान् शासकों में होते हुए भी ऐसे शासकों में आता है जो अपने जीवन के अन्तिम समय में अपनी असफलताओं को स्वयं देख सके और जिन्होंने अपनी दुर्बलताओं के कारण अपने शासन का अन्त अपने साम्राज्य को दुर्बल बनाकर किया। अन्त में, औरंगजेब असफल हुआ और अपनी असफलता के कारण वह मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। औरंगजेब की असफलता के मुख्य कारण शासन का उसके हाथों में केन्द्रीयकरण, उसकी सन्देही प्रकृति, उसकी धर्मान्धता की नीति और उसकी दक्षिण-नीति थी और इन्हीं कारणों से वह मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। औरंगजेब ने शासन का अत्यधिक केन्द्रीयकरण किया। मध्य-युग के सभी निरंकुश शासक ऐसा करते थे परन्तु औरंगजेब के शासन का केन्द्रीयकरण अन्य शासकों से इस कारण भिन्न हो गया कि औरंगजेब ने अपनी सन्देही प्रकृति के कारण किसी पर भी विश्वास नहीं किया और अपने उत्तरदायित्वों को योग्य एवं वफादार शाहजादों अथवा सरदारों में नहीं बाँटा। ऐसा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे पहले के किसी अन्य मुगल बादशाह ने नहीं किया था। इससे एक तरफ औरंगजेब पर कार्य-भार इतना अधिक हो गया कि वह सभी कार्यों की सुचारु रूप से देखभाल करने में असफल हुआ और दूसरी तरफ वह अपने शाहजादों एवं सरदारों को योग्य न बना सका और न उनकी वफादारी प्राप्त कर सका। औरंगजेब की असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि उसे किसी भी योग्य व्यक्ति की सेवाएँ प्राप्त नहीं हो सकीं। इसके लिए वह स्वयं भी दोषी था। औरंगजेब धर्मान्ध था। उसकी असहिष्णुता की नीति हिन्दुओं तक सीमित न थी बल्कि उसे शिया मुसलमानों से भी चिढ़ थी। बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों के अस्तित्व को समाप्त करने में औरंगजेब का एक उद्देश्य धार्मिक भी था। इसके अतिरिक्त, उसने राज्य की सेवाओं से शियाओं को वंचित रखने का प्रयत्न भी किया। मुगल-साम्राज्य को अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक अनेक योग्य शिया विद्वानों, शासन-प्रबन्धकों और सेनापतियों की सेवाएँ प्राप्त होती रही थीं। औरंगजेब के समय में यह सम्भव न हो सका। अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा के प्रति भी औरंगजेब अत्यधिक अनुदार सिद्ध हुआ। बजिया, तीर्थयात्रा-कर, व्यापारिक-कर, उनके साथ न्याय में कठोरता, उनको सम्मान से न रहने देना, उनको राज्य की सेवाओं से हटाने का प्रयत्न और खुले तौर से उनके मन्दिरों का विनाश तथा उनके देवी-देवताओं का अपमान आदि ऐसे कारण बने जिनसे औरंगजेब की हिन्दू-प्रजा उससे घृणा करने लगी और विभिन्न स्थानों पर अनेक विद्रोह हुए। जाट, सतनामी और सिखों के विद्रोहों का यही कारण था। बुन्देलखण्ड के विद्रोह, राजपूतों के विद्रोह और मराठों के निरन्तर संघर्ष के लिए भी औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थी। औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी तथा जहाँगीर और शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी धार्मिक सहनशीलता की नीति को त्याग दिया। इससे राज्य की एकता समाप्त हो गयी, वफादार राजपूत-वर्ग मुगलों का शत्रु बन गया तथा जाट, सिख और मराठे जैसे युद्धप्रिय वर्गों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इन विद्रोहों ने औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की नींव को हिला दिया। औरंगजेब की दक्षिण-नीति भी उसकी असफलता का एक मुख्य कारण बनी। दक्षिण की विजय से उसका साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत हो गया कि एक स्थान से उसका शासन करना असम्भव हो गया। भारतीय इतिहास ने कई बार यह सिद्ध किया था कि जिस शासक ने उत्तर और दक्षिण-भारत के दोनों भागों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लेने का प्रयत्न किया वह असफल हुआ और उत्तर-भारत के जिस बादशाह ने दक्षिण-भारत के राज्यों को केवल अपना स्वामित्व स्वीकार कराकर स्वतन्त्र छोड़ दिया, वह सफल रहा। औरंगजेब के समय में भारतीय इतिहास के इस सबक की पुनरावृत्ति हुई। दक्षिण-भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लेने के प्रयत्न के कारण औरंगजेब उत्तर-भारत के शासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण-भारत में उसके साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, उसके सर्वाधिक योग्य अधिकारी और उसकी सबसे अच्छी सेना लगी रही और उत्तर-भारत का शासन, अधिकार और सुरक्षा मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के हाथों में रही जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार न हो सका। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को तो खोया ही, साथ ही साथ उसने अपने और मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत उत्तर-भारत को भी खो दिया। इस प्रकार शासन-व्यवस्था, शान्ति, समृद्धि और उन्नति की दृष्टि से औरंगजेब ने सम्पूर्ण भारत को खो दिया। इसके अतिरिक्त औरंगजेब द्वारा बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय ने मराठों की उदीयमान शक्ति का प्रत्यक्ष संघर्ष मुगलों से करा दिया। यदि औरंगजेब ने इन शिया-राज्यों को समाप्त न किया होता तो, सम्भवतया, मराठे दक्षिण की राजनीति में ही व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने और उनकी दुर्बलताओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समझ पाने की सुविधा प्राप्त न हो पाती। इस कारण, औरंगजेब की दक्षिण-नीति अव्यावहारिक और अविवेकपूर्ण सिद्ध हुई तथा उसने औरंगजेब की असफलता और मुगल-साम्राज्य के पतन में प्रमुख भाग लिया।

आधुनिक समय में औरंगजेब के चरित्र, व्यक्तित्व और सफलताओं एवं असफलताओं को लेकर इतिहासकारों में विवाद उत्पन्न हुआ है। औरंगजेब के पक्ष में मुख्यतया दो बातें बतायी जाती हैं। प्रथम, औरंगजेब की विजयों का उद्देश्य भारत की राजनीतिक एकता था और द्वितीय, औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णु न थी। औरंगजेब का जो भी व्यवहार शिया-राज्यों, राजपूतों और हिन्दुओं के प्रति रहा उसका मुख्य कारण राजनीतिक एवं आर्थिक था। भारत की एकता, एक सूत्र और एक शासन में बँधा हुआ राज्य और राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ उसकी नीति का मुख्य आधार थीं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने विभिन्न तर्क और उदाहरण दिये हैं, यथा—औरंगजेब ने हिन्दू-मन्दिरों को जागीरें दी थीं और उन्हीं हिन्दू-मन्दिरों को गिराया था जहाँ पहले मुसलमानों की मस्जिदें थीं। परन्तु ऐसे विद्वानों के तर्कों में विस्तृत रूप से जाये बिना यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश तत्कालीन लेखकों के विवरणों में उनके पक्ष का समर्थन प्राप्त नहीं होता। अधिकांश तत्कालीन विवरणों के आधार पर औरंगजेब की नीति असहिष्णुता की सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, महान् मुगल सम्राट अकबर की नीति भी भारत की राजनीति एवं प्रशासनिक एकता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी परन्तु उसे जजिया तथा तीर्थयात्रा-कर लगाने और मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत, अकबर ने भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये थे। ऐसी स्थिति में दो ही निर्णय हो सकते हैं—या तो अकबर की नीति को अव्यावहारिक, अनुचित और अपर्याप्त कहा जाय अथवा औरंगजेब की नीति को अव्यावहारिक और अनुचित कहा जाय ? विद्वान् इतिहासकार ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, एक बात अवश्य ध्यान में रखने की है—जबकि अकबर की नीति से अकबर के समय में ही नहीं बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी मुगल-साम्राज्य शक्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील रहा, औरंगजेब की नीति से औरंगजेब के समय में न तो शक्ति का स्थायी विस्तार हुआ, न राज्य में समृद्धि आयी और न कला, शिक्षा, साहित्य आदि की दृष्टि से कोई प्रगति हुई तथा औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में मुगल-साम्राज्य प्रत्येक दृष्टि से पतनोन्मुख हुआ। स्वयं औरंगजेब ने भी अपनी मृत्यु के अवसर पर अपनी असफलता को समझ लिया था।

इस कारण यह स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यद्यपि औरंगजेब योग्य, प्रतिभाशाली, परिश्रमी, कर्तव्यपरायण, सदाचारी, साहसी और कुशल सेनापति था तथा महानता के गुण उसमें थे परन्तु व्यक्तिगत धारणाओं की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानकर तथा उसकी प्रगति में ही अपने जीवन की सार्थकता मानकर कर्तव्य, नैतिकता और बादशाह के आदर्शों की जो व्याख्या उसने की वह न उसके लिए लाभदायक रही और न उसके वंश अथवा साम्राज्य के लिए। औरंगजेब, सम्भवतया, उन व्यक्तियों में से एक था जो अपनी सद्भावनाओं में अटूट विश्वास रखते हुए अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नहीं करते बल्कि उनके विश्वासों, आदर्शों और सद्भावनाओं को बड़ी भूल मान बैठते हैं और उनको ठीक मार्ग पर लाना अपना धर्म बना लेते हैं, चाहे उनके स्वयं के आदर्श और भावनाओं में कितनी ही त्रुटि क्यों न हो। ऐसी एकांगी और संकुचित भावना की कट्टरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और न ऐसे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन सम्भव है। ऐसा व्यक्ति एक अच्छा फकीर या धर्म-प्रचारक तो हो सकता है परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा, कुशल और नीतिज्ञ बादशाह नहीं हो सकता। सम्भवतया, इसीलिए औरंगजेब न तो अपनी परिस्थितियों को समझ सका और न ही अच्छा नीतिज्ञ सिद्ध हुआ और यदि वह समझ भी सका तो उसने उनकी परवाह न की। इसका मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता थी। लेनपूल ने कहा है : "यदि औरंगजेब ने अपनी क्रियाशील शक्ति और अद्‌भुत योग्यता को अपने विनाश और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए गौरवपूर्ण साम्राज्य का विनाश करने वाले कार्यों में व्यय न किया होता तो वह सरलता से सिंहासन का आभूषण बन गया होता। इसके स्थान पर उसने आलमगीर अथवा विश्वविजयी बनने के खोखले कार्य को करने का प्रयत्न किया और वह इसी बात से सन्तुष्ट था कि तत्कालीन रूढ़िवादी मुसलमान उसे 'जिन्दा पीर' समझते थे.....उसका गौरव सिर्फ उसके लिए था। उसके विशाल साम्राज्य के लिए उसका निष्ठावान धार्मिक उत्साह एक अभिशाप सिद्ध हुआ।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. औरंगजेब की धार्मिक नीति का वर्णन कीजिए तथा उसके परिणामों पर प्रकाश डालिए।
2. औरंगजेब की दक्षिण नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. 'अपनी कट्टर धार्मिक नीति से औरंगजेब ने मुगल वंश के आधार को नष्ट कर दिया था।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?
4. औरंगजेब की राजपूत नीति की विवेचना कीजिए तथा उसके परिणामों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. औरंगजेब की धर्मान्धता पर प्रकाश डालिए।
2. जाटों के विद्रोह पर एक लेख लिखिए।
3. औरंगजेब की राजपूत नीति के परिणाम लिखिए।
4. गुरुनानक अथवा गुरु गोविन्दसिंह पर टिप्पणी लिखिए।
5. सिखों के विद्रोह का वर्णन कीजिए।
6. औरंगजेब के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. औरंगजेब मुगल सिंहासन पर आसीन हुआ था—
   (अ) 1657 ई. में (ब) 1658 ई. में
   (स) 1659 ई. में (द) 1660 ई. में।
2. जिस समय शाहजहाँ अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह में असफल हुआ, उसके किस पुत्र को नूरजहाँ के पास बन्धक रखा गया था ?
   (अ) दाराशिकोह को (ब) औरंगजेब को
   (स) दोनों को (द) इनमें से कोई नहीं।
3. औरंगजेब की धार्मिक नीति थी—
   (अ) धर्मान्ध (ब) उदार
   (स) सहिष्णु (द) इनमें से कोई नहीं।
4. औरंगजेब ने सिक्कों पर कलमा खुदवाना क्यों बन्द करवा दिया था ?
   (अ) हिन्दू उसे पढ़ न सकें (ब) हिन्दू उसे छू न सकें
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. औरंगज़ेब ने हिन्दुओं पर कौन-सा धार्मिक कर लगाया था ?
(अ) खिराज (ब) जकात
(स) खम्स (द) जजिया।

6. औरंगजेब के शासन में जाटों के विद्रोह का नेतृत्व किया था—
(अ) गोकुल ने (ब) राजाराम ने
(स) केशवसिंह ने (द) इनमें से कोई नहीं।

7. "मेरे पास अपना कोई धन नहीं है। मेरा धन तो गरीबों व असहायों के लिए है।" यह कथन किस सिख गुरु का है ?
(अ) गुरुनानक (ब) गुरु हरगोविन्द
(स) गुरु अर्जुन (द) गुरु तेग बहादुर।

8. औरंगजेब के शासनकाल में मेवाड़ का शासक था—
(अ) जसवन्तसिंह (ब) राजसिंह
(स) जयसिंह (द) राणा उदयसिंह।

9. 1678 ई. में राजा जसवन्त सिंह की किस स्थान पर मृत्यु हो गयी थी ?
(अ) खानदेश में (ब) बीजापुर में
(स) बुरहानपुर में (द) जमरूद में।

10. किस लेखक ने दुर्गादास को राठौरों का यूलीसैस (यूनान का महान् योद्धा) लिखा है ?
(अ) सरदेसाई ने (ब) कर्नल टाड ने
(स) सर जदुनाथ सरकार ने (द) इनमें से किसी ने नहीं।

11. शाहजादा अकबर के औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का मूल कारण था—
(अ) पिता की नीति में अविश्वास (ब) पराजय का भय
(स) दुर्बल सेना (द) कूटनीतिक दबाव।

12. अमृतसर में तालाब के मध्य हर मन्दिर का निर्माण किस गुरु ने कराया था ?
(अ) गुरु अंगद (ब) गुरु हरकिशन
(स) गुरु हरिराय (द) गुरु अर्जुन।

13. आदि ग्रन्थ के संकलन का श्रेय किस गुरु को दिया जाता है ?
(अ) गुरु हरगोविन्द (ब) गुरु अर्जुन
(स) गुरु तेग बहादुर (द) गुरु गोविन्दसिंह।

14. किस मुगल शासक का राज्याभिषेक दो बार किया गया ?
(अ) औरंगजेब (ब) हुमायूँ
(स) शाहजहाँ (द) जहाँगीर।

15. औरंगजेब ने पुनः 'जजिया' कर कब लगाया ?
(अ) 1678 (ब) 1680
(स) 1679 (द) 1675।

16. 'मुहतसिब' (सार्वजनिक सदाचार निरीक्षक) की नियुक्ति किस मुगल बादशाह ने की ?
(अ) अकबर (ब) जहाँगीर
(स) शाहजहाँ (द) औरंगजेब।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17. किस सिख नेता की इस्लाम धर्म न ग्रहण करने के कारण औरंगजेब ने हत्या करवा दी ?
(अ) हरगोविन्द (ब) गुरु गोविन्दसिंह
(स) तेग बहादुर (द) अर्जुन देव।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (द), 6. (अ), 7. (स), 8. (ब), 9. (द), 10. (ब), 11. (अ), 12. (द), 13. (ब), 14. (अ), 15. (स), 16. (द), 17. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष (1627-1707 ई.)

[1]
मराठा-शक्ति के उत्कर्ष के कारण

वस्तुतः अंग्रेजों ने भारत का साम्राज्य मुगलों से नहीं बल्कि मराठों से प्राप्त किया। तत्कालीन मुगल बादशाहों की शक्ति अत्यन्त दुर्बल एवं सीमित हो गयी थी तथा 18वीं सदी में मराठे भारत की श्रेष्ठ शक्ति बन गये थे। इस कारण यह कहना अधिक उपयुक्त है कि भारत की राजसत्ता के लिए अंग्रेजों को वास्तव में हिन्दू-मराठों से संघर्ष करना पड़ा था।

जी. एस. सरदेसाई के अनुसार 'मराठा' शब्द की उत्पत्ति राठा (Ratthas) शब्द से हुई है। महाराष्ट्र में इनकी शक्ति का उदय हुआ। दक्षिण-पश्चिम भारत का वह भाग जो पश्चिम में अरब सागर से लेकर उत्तर में सतपुड़ा पर्वत तक फैला हुआ है और जिसमें आधुनिक बम्बई का राज्य, कोंकण, खानदेश, बरार, मध्य-भारत का कुछ भाग और हैदराबाद राज्य का प्राय: एक-तिहाई भाग सम्मिलित है, मराठावाद के नाम से जाना जाता था। भारत के इसी भाग को महाराष्ट्र पुकारा गया है, जहाँ के निवासियों की मुख्य भाषा मराठी है। यहीं पर मराठा-शक्ति का उदय हुआ।

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष किसी एक व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्ति-समूह का कार्य न था और न किसी विशेष समय में उत्पन्न हुई कुछ अस्थायी परिस्थितियों का ही परिणाम था। मराठा-शक्ति के उदय का आधार महाराष्ट्र के सम्पूर्ण निवासी थे जिन्होंने जाति, भाषा, धर्म, साहित्य और निवास-स्थान की एकता के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया और उस राष्ट्रीयता को संगठित करने के लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की इच्छा की। मुसलमानों द्वारा भारत की विजय पूर्ण हो जाने के पश्चात् स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिए हिन्दुओं का यह प्रथम प्रयत्न था और यह प्रयत्न एक ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया जिसमें सभी वर्गों और व्यक्तियों ने भाग लिया। मराठों के उत्कर्ष का इतिहास मुसलमानों की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर हिन्दू राष्ट्रीयता के निर्माण का ऐसा इतिहास है जिसमें सम्पूर्ण महाराष्ट्र के निवासियों ने भाग लिया। यही वह शक्ति थी जिसके आधार पर मराठा-नेताओं ने भारत में 'हिन्दू-पादशाही' के निर्माण का स्वप्न देखा और दिल्ली के साम्राज्य को अपने हाथों में लेकर भारत की शक्तियों को एक शक्ति की अधीनता में लाने का प्रयत्न किया तथा यही वह शक्ति थी जिसके बल पर मराठे बड़े से बड़े संकट को बर्दाश्त कर सके।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठा-शक्ति के उत्कर्ष का इतिहास एक जन-समूह के उत्कर्ष का इतिहास है और एक ऐसे जागरण का इतिहास है जो सम्पूर्ण महाराष्ट्र की जनता में व्याप्त था।

इस शक्ति के निर्माण और उत्कर्ष में विभिन्न परिस्थितियों ने भाग लिया। **महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में सहायक थीं।** महाराष्ट्र का अधिकांश भाग पठारी है जहाँ जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रकृति से कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इससे वहाँ के निवासी परिश्रमी और साहसी बनते हैं। वहाँ आक्रमणकारी के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं तथा सेना को लेकर चलना और उसके लिए रसद प्राप्त करना कठिन था, जबकि सुरक्षा के लिए वहाँ अनेक सुविधाएँ थीं। स्थान-स्थान पर सरलता से पहाड़ी किले बनाये जा सकते थे जिनकी सुरक्षा करना सरल था परन्तु उनको जीतना कठिन था। गुरिल्ला युद्ध-पद्धति अथवा छापामार-नीति का प्रयोग वहाँ सरलता से सम्भव था। इसके अतिरिक्त, भारत के बीच में स्थित होने के कारण वहाँ के निवासियों के लिए उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में अपनी प्रगति करने की सुविधा थी।

आर्थिक दृष्टि से महाराष्ट्र के निवासियों में अधिक आर्थिक असमानताएँ न थीं। व्यापारी वर्ग के अतिरिक्त वहाँ धनवान व्यक्ति अधिक न थे। इसका कारण **आर्थिक शोषण करने वाले वर्ग का महाराष्ट्र में अभाव था।** इससे महाराष्ट्र-निवासियों का चरित्र दृढ़ बना था, वे परिश्रमी और साहसी थे, उनमें समानता की भावना थी, वे छोटे और बड़े की भावना से रहित थे तथा वे उस भोग-विलास से बचे रहे थे जिसके कारण उत्तर-भारत का समाज खोखला होता जा रहा था।

सामाजिक दृष्टि से महाराष्ट्र में तीव्र विभाजन न था। 15वीं और 16वीं सदी के धर्म-सुधार और भक्ति-आन्दोलन ने सामाजिक और धार्मिक सुधार किये थे तथा जातीय समानता को शक्तिशाली बनाया था। **महाराष्ट्र में राजनीतिक चेतना से पहले सामाजिक और धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गयी थी।** इसके अतिरिक्त, दक्षिण-भारत का वह धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन किसी एक वर्ग का आन्दोलन न था बल्कि वह जनसाधारण का आन्दोलन था। इस आन्दोलन का नेतृत्व उन व्यक्तियों ने किया था जिनमें से अधिकांश समाज के निम्न वर्ग में से थे। तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ जैसे सन्त और दार्शनिक इसकी आत्मा थे। यह आन्दोलन ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, ऊँच-नीच की भावना, जाति-व्यवस्था और कर्मकाण्ड के विरुद्ध था। इसने विश्वास, आस्था और भक्ति के द्वारा सभी को ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बताया। इस आन्दोलन ने धार्मिक और सामाजिक एकता तथा सरलता का मार्ग प्रशस्त किया, महाराष्ट्र के समाज और जन-जीवन को संगठित किया तथा उसे एकता की वह भावना प्रदान की जिससे राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। इतिहासकार रानाडे ने महाराष्ट्र में उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल का एक मुख्य कारण वहाँ के धार्मिक-आन्दोलन को बताया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र के विभिन्न सन्तों ने मराठों की राष्ट्रीय भावना का पोषण किया था। विभिन्न सन्तों के भजनों, उपदेशों आदि ने अशिक्षित मराठों की भावनाओं को गम्भीरता से प्रभावित किया और उनमें अपने धर्म और समाज की रक्षा की भावना को जन्म दिया।

भाषा की दृष्टि से मराठी भाषा बहुत सरल और व्यावहारिक थी। मराठी भाषा जनसाधारण की भाषा थी। साधारण भाषा के प्रयोग से महाराष्ट्र के निवासियों में एकता और समानता थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण-भारत में हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन रहा। इसके कारण दक्षिण के निवासी अपने सम्मान और गौरव तथा अपने समाज और धर्म के प्रति प्रेम को जीवित रख सके। उत्तर-भारत में राजस्थान के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी भागों में मुसलमानों की विजय पूर्ण थी, इस्लाम ने हिन्दुओं की विरोध करने की शक्ति को प्रायः तोड़ दिया था और मुसलमान एक लम्बे समय तक पूर्ण राजनीतिक सत्ता का उपभोग कर सके थे। परन्तु दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति कभी नहीं आयी। इसी कारण जबकि उत्तर-भारत में जनसाधारण की भाषा फारसी या उर्दू होती जा रही थी, हिन्दू सामाजिक दृष्टि से अपने को हीन समझने लगे थे और हिन्दू-मन्दिर छोटी-छोटी गलियों और कोनों तक ही सीमित रह गये थे, दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति न थी। दक्षिण-भारत में हिन्दू न केवल अपनी सामाजिक परम्पराओं को जीवित रख सके थे और न केवल हिन्दू-मन्दिर ही सुरक्षित रहे थे बल्कि हिन्दू अपने गौरव और सम्मान को भी सुरक्षित रख सके थे। राजनीतिक शक्ति के सन्तुलन के कारण मुसलमान शासकों को हिन्दुओं से शासन में सहायता लेनी पड़ी थी और हिन्दू तथा मुसलमान समाज एक-दूसरे के साथ समानता से व्यवहार कर सका था। इतिहासकार ग्राण्ट डफ का कहना है : "शिवाजी के उत्कर्ष से पहले ही कम से कम आठ मराठा परिवार ऐसे थे जिनका दक्षिण की राजनीति में पर्याप्त प्रभाव था।" स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर राज्य के प्रभावशाली सरदार थे और शासकों को बनाने वालों में से एक थे। उन्होंने अहमदनगर के पतन के पश्चात् वहाँ के अल्पवयस्क-शासक की तरफ से बहुत समय तक मुगलों से संघर्ष किया और उसके पश्चात् बीजापुर राज्य में भी उनका पद और सम्मान प्रभावपूर्ण रहा।

मुगलों द्वारा दक्षिण-भारत की विजय की सम्भावना ने भी मराठों को एक होकर मुगलों से संघर्ष करने का विचार दिया। मराठे दक्षिण-भारत के मुसलमानी राज्यों में विभिन्न सुविधाएं प्राप्त कर रहे थे। वहाँ के शासकों ने उनको प्रशासन में सम्मिलित किया था, उनके सामाजिक और धार्मिक जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं किया था और मराठे पर्याप्त संख्या में उनकी सेनाओं में थे। औरंगजेब के नेतृत्व में दक्षिण-भारत में मुगलों के प्रवेश से यह सभी कुछ नष्ट हो जाने की सम्भावना थी। औरंगजेब धर्मान्ध था और मुगलों की शक्ति विशाल थी। ऐसी स्थिति में मराठे उससे उन सुविधाओं की आशा नहीं करते थे जो उन्हें दक्षिण-भारत के दुर्बल मुसलमान शासकों से मिल रही थीं। इस व्यावहारिक दृष्टिकोण ने भी मराठों को शिवाजी के नेतृत्व में संगठित होने के लिए प्रेरित किया।

इसके अतिरिक्त, आरम्भ में औरंगजेब की दक्षिण के प्रति उदासीनता और बाद में सम्पूर्ण भारत को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न जिसमें मराठों को अपने 'वतन' और जागीरों को छिनने का भय हो गया तथा मराठा सैनिकों में सभी वर्गों के व्यक्तियों का सम्मिलित होना जिससे मराठा सेना राष्ट्रीय सेना बन सकी, आदि भी ऐसे कारण बने जिन्होंने मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में सहयोग दिया।

इस प्रकार, शिवाजी से पहले ही महाराष्ट्र में ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिनसे मराठा-शक्ति के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। परन्तु महाराष्ट्र में एक कमी थी। महाराष्ट्र में इन तत्वों को एकत्रित नहीं किया गया था, इन तत्वों के आधार पर मराठों की एकता का प्रयत्न किसी ने संगठित रूप से नहीं किया था और स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार मराठों में नहीं आया था। इस कार्य की पूर्ति शिवाजी ने की। इस कारण वह मराठा-राष्ट्र और एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य के निर्माता बने।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[2]

छत्रपति शिवाजी (1627-1680 ई.)

(अ) जीवन और कार्य

20 अप्रैल, 1627 ई. को पूना के उत्तर में स्थित जुन्नार नगर के निकट शिवनेर के दुर्ग में शिवाजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम शाहजी भौंसले और माता का नाम जीजाबाई था। जीजाबाई देवगिरी के महान् जागीरदार यादवराय की पुत्री थी। शाहजी भौंसले ने न केवल अहमदनगर राज्य में ही शक्ति और सम्मान प्राप्त किया था बल्कि उस अवसर पर वह बीजापुर राज्य में प्रतिष्ठित पद पर थे। उन्होंने युद्ध, शासन और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से बीजापुर में ख्याति प्राप्त की थी। इस कारण शिवाजी के पिता एक शक्तिशाली और सम्मानित सामन्त थे। परन्तु शाहजी ने तुकाबाई मोहिते नामक एक अन्य स्त्री से विवाह कर लिया था और जीजाबाई अपने पुत्र शिवाजी को लेकर अपने पति से अलग रहती थीं, अतः शिवाजी को अपने पिता का संरक्षण प्राप्त न हो सका। परन्तु यह कहना भूल होगी कि शाहजी ने अपने पुत्र का बिलकुल ध्यान नहीं रखा था। शाहजी ने अपने योग्य और वफादार सेवक दादाजी कोंणदेव को शिवाजी की देखभाल और शिक्षा के लिए नियुक्त किया था। 12 वर्ष की आयु में शिवाजी को अपने पिता से पूना की जागीर प्राप्त हुई थी। 1640 ई. में 12 वर्ष की आयु में शिवाजी का विवाह साईबाई निम्बालकर नाम की लड़की से कर दिया गया। शिवाजी ने 'मावल प्रदेश' को अपने जीवन की प्रारम्भिक कार्यस्थली बनाया। इसके अतिरिक्त शाहजी ने अपने पुत्र की सहायता के लिए, बाद में भी, कुछ योग्य अधिकारी भेजे थे जो उनके सहायक सिद्ध हुए। शिवाजी ने अपनी माँ से साहस, दृढ़-निश्चय, अत्याचार का विरोध और धर्म के प्रति रुचि प्राप्त की। शिवाजी के व्यक्तित्व पर सर्वाधिक प्रभाव उनकी माँ जीजाबाई का पड़ा था। माँ के बाद शिवाजी अपने गुरु एवं संरक्षक 'दादाजी कोंणदेव' से प्रभावित थे। पुस्तकीय शिक्षा में उनकी रुचि न थी परन्तु युद्ध और साहसिक कार्यों के लिए वह सदैव तत्पर रहते थे। यह कहना सर्वथा उचित है कि उनके चरित्र-निर्माण में जीजाबाई (उनकी माँ) का बहुत बड़ा हाथ था और यह उनकी सफलता का एक मुख्य कारण बना।

आरम्भ से ही शिवाजी का उद्देश्य एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना था। वह किसी भी मुसलमान शासक के जागीरदार के रूप में जीवन व्यतीत करने को तत्पर न थे। इस बात पर उनका अपने संरक्षक कोंणदेव से भी मतभेद था। महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करना उनका मुख्य लक्ष्य रहा। शिवाजी का प्रारम्भिक उद्देश्य मुसलमानी सत्ता से हिन्दुओं को मुक्ति दिलाना न था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "उन्हें एक स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना की लालसा सदैव रही परन्तु अपने को हिन्दुओं का उद्धारकर्ता उन्होंने बहुत बाद के समय के अतिरिक्त कभी नहीं माना।" इस प्रकार **हिन्दू-धर्म की रक्षा की भावना उनमें थी।** परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक था। साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक भावना से प्रेरणा प्राप्त की थी और वह धर्म की रक्षा करना भी अपना एक मुख्य लक्ष्य मानते थे।

एम. जी. रानाडे ने शिवाजी के जीवन को चार भागों में बाँटकर उनके उद्देश्य को स्पष्ट किया है। आरम्भ के छः वर्षों में शिवाजी का उद्देश्य आसपास के मराठा सरदारों को अपनी सत्ता में लेकर एकत्रित करना और अपनी रक्षा का प्रयत्न करना मात्र था। इस प्रारम्भिक कार्य की पूर्ति के पश्चात् उन्हें बीजापुर-राज्य से संघर्ष करना पड़ा। अगले दस वर्षों तक अपनी रक्षा,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय तत्वों को एकत्रित करना और अपनी सीमाओं का विस्तार करना उनका लक्ष्य रहा। बीजापुर-राज्य के निरन्तर प्रयत्नों और उसके श्रेष्ठतम सेनापतियों से संघर्ष करते हुए भी शिवाजी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त की। उनके जीवन के तीसरे काल (1662-1672 ई.) में उनका मुख्य संघर्ष दक्षिण की ओर बढ़ती हुई मुगलों की शक्ति से हुआ और अन्त में इसमें भी उन्हें सफलता मिली। अपने जीवन के अन्तिम समय (1674-1680 ई.) में शिवाजी ने अपने स्वतन्त्र राज्य को कानूनी रूप से स्थापित किया, अपना राज्याभिषेक किया और 'छत्रपति' 'हैंदव (हिन्दू) धर्मोद्धारक' एवं 'गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक' की उपाधि धारण की। इस प्रकार, स्वरक्षा और स्वतन्त्र-राज्य की स्थापना की भावना आरम्भ से अन्त तक उनके जीवन का उद्देश्य रहा और इसी भावना के कारण बीजापुर और मुगलों से उनका संघर्ष हुआ। बीजापुर-राज्य अथवा मुगलों से उनका कोई झगड़ा न था बशर्ते बीजापुर अपने को कर्नाटक में सीमित रखता और मुगल अपने को उत्तर-भारत में सीमित रखते तथा उनमें से कोई भी महाराष्ट्र को अपनी अधीनता में लेने का प्रयत्न न करता। शिवाजी मुगल-आधिपत्य को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर थे यदि मुगल बादशाह उनको उनके प्रदेश में स्वतन्त्र छोड़ देता। सम्भवतया, वह इसी उद्देश्य से आगरा भी गये थे। **शिवाजी ने हिन्दू-राजाओं को एकत्रित करके मुसलमानी राज्य को समाप्त करने का लक्ष्य कभी नहीं रखा। उनका मूल उद्देश्य दक्षिण-भारत में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना था।** इस उद्देश्य की पूर्ति और मुगलों को ताप्ती नदी तक सीमित रखने के लिए वह बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की सहायता करने के लिए तत्पर थे। इसी कारण जब मुगलों ने बीजापुर का घेरा डाला तब शिवाजी ने बीजापुर (जिससे उनका निरन्तर संघर्ष रहा था) की सहायता की। इस प्रकार, **शिवाजी का मूल उद्देश्य मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करना था।**

दादाजी कोंणदेव की संरक्षता के समय में शिवाजी ने पूना के आसपास के किलों को जीतना आरम्भ कर दिया। कोंणदेव शिवाजी के इस कार्य से सहमत न थे परन्तु वह शिवाजी को इस कार्य से रोक भी न सके। 1647 ई. में कोंणदेव की मृत्यु हो गयी और शिवाजी अपने लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये। उस समय शिवाजी की आयु 20 वर्ष थी। उनके साथ अनेक साहसी और योग्य मराठा सरदार एकत्रित हो गये। उनके पिता शाहजी ने 1639 ई. में श्यामजी नीलकण्ठ, बालकृष्ण दीक्षित, सोनाजी पन्त और रघुनाथराव बल्लाल जैसे योग्य व्यक्तियों को उनके पास भेजा था। शिवाजी ने तुकोजी और नरायन पन्त जैसे योग्य व्यक्तियों को स्वयं प्राप्त किया। 1643 ई. में शिवाजी ने बीजापुर से सिंहगढ़ के किले को जीता और उसके पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने चाकन, पुरन्दर, बारामती, तोर्ना, सूपा, तिकोना, लोहगढ़, रायरी (रायगढ़ जो बाद में उनकी राजधानी बना) आदि विभिन्न किलों पर अधिकार कर लिया। 1648 ई. में शिवाजी ने 'पुरन्दर के किले' को छल द्वारा नीलोजी नीलकण्ठ से छीन लिया। शिवाजी का उस समय तक बीजापुर से कोई खुला संघर्ष नहीं हुआ। सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह उस समय (1646-1656 ई.) बीमार था और शिवाजी ने उसके दरबार के बहुत से सरदारों को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर रखा था। इस प्रकार, 1656 ई. तक शिवाजी बिना किसी बड़े संघर्ष के विभिन्न मराठा सरदारों को एकत्रित करने, विभिन्न दुर्गों को जीतने तथा महाराष्ट्र और कोंकण प्रदेश के कुछ भाग पर अधिकार करने में सफलता पा चुके थे।

25 जनवरी, 1656 ई. में शिवाजी की एक महत्वपूर्ण विजय जावली की थी। जावली एक मराठा सरदार चन्द्रराव के अधिकार में था और वह शिवाजी के विरुद्ध बीजापुर-राज्य से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिला हुआ था। शिवाजी ने चन्द्रराव की हत्या कर दी और किले पर अधिकार कर लिया। इससे उनका राज्य-विस्तार दक्षिण-पश्चिम की ओर सम्भव हो सका। अप्रैल 1656 ई. में शिवाजी ने 'रायगढ़' को अपनी राजधानी बनाया।

1657 ई. में शिवाजी का मुकाबला पहली बार मुगलों से हुआ। दक्षिण के सूबेदार शाहजादा औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर ने शिवाजी से सहायता माँगी। यह अनुभव करके कि दक्षिण में मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना आवश्यक है, शिवाजी ने बीजापुर की सहायता करने के उद्देश्य से मुगलों के दक्षिण-पश्चिम भाग पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। इसी समय शिवाजी ने जुन्नार को लूटा और स्थान-स्थान पर आक्रमण करके मुगलों को तंग किया। परन्तु जब बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली तब शिवाजी ने मुगलों पर आक्रमण करने समाप्त कर दिये। उत्तराधिकार के युद्ध के कारण मुगलों को प्रायः दो वर्ष तक दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवकाश न मिल सका। इस अवसर का उपयोग शिवाजी ने सर्वप्रथम कोंकण को विजय करके किया।

परन्तु बीजापुर मुगलों से मुक्त होकर शिवाजी की शक्ति को दबाने के लिए तत्पर हो गया। 1659 ई. में बीजापुर-राज्य ने अपने एक प्रख्यात सरदार अफजलखाँ को शिवाजी को कैद करने या मार डालने के लिए भेजा। उसके साथ करीब 10 हजार घुड़सवार और एक अच्छा तोपखाना था। मार्ग में आते हुए अफजलखाँ ने मन्दिरों को तोड़ा, गाँवों को उजाड़ दिया और ऐसे उत्पात किये कि शिवाजी आतंकित हो जायें। वाई नामक स्थान पर आकर अफजलखाँ रुका। अब उसने कूटनीति का सहारा लिया। उसने अपने दूत कृष्णाजी भास्कर को शिवाजी के पास भेजकर यह सन्देश दिया कि यदि शिवाजी स्वयं उससे आकर मिलें और बीजापुर के आधिपत्य को स्वीकार कर लें तो वह उन्हें आदिलशाह से क्षमा ही नहीं दिला देगा बल्कि जो भी भू-प्रदेश और किले शिवाजी के पास हैं उनको उन्हीं की जागीर के रूप में तथा कुछ अन्य प्रदेश भी जागीर के रूप में उन्हें दिला देगा। शिवाजी ने धर्म की दुहाई देकर कृष्णाजी भास्कर से अफजलखाँ की वास्तविक इच्छा को जानने का प्रयत्न किया और उससे उन्हें संकेत मिल गया कि अफजलखाँ का मन साफ न था। अफजलखाँ वैसे भी विश्वास के योग्य न था। शिवाजी ने अफजलखाँ पर विश्वास नहीं किया और धूर्तता का जवाब धूर्तता से देने का निश्चय किया। मोरो पिंगले और नेताजी पालकर को शीघ्रता से परन्तु चुपके-चुपके प्रतापगढ़ के जंगलों में पहुँचने के आदेश दिये गये और गोपीनाथ को दूत बनाकर अफजलखाँ के पास भेजा गया। गोपीनाथ ने सूचना दी कि शिवाजी बहुत भयभीत हैं और यदि अफजलखाँ उन्हें क्षमा करने का आश्वासन दे तो प्रतापगढ़ के निकट वह उससे मिल सकते हैं। अफजलखाँ इस बात पर राजी हो गया और अपनी सेना को लेकर प्रतापगढ़ से एक मील दूर जाकर रुक गया। किले और अफजलखाँ की सेना के मध्य में शिवाजी और अफजलखाँ के मिलने के लिए स्थान निश्चित किया गया। यह भी निश्चित हुआ कि शिवाजी और अफजलखाँ केवल दो-दो अंगरक्षकों को लेकर एक-दूसरे से मिलने आयेंगे। शिवाजी को बिना अस्त्र-शस्त्र के आना था। शिवाजी ने अपनी सुरक्षा के लिए अपने अंगरखे के नीचे लोहे का कवच पहना, अपनी पगड़ी के नीचे लोहे की टोपी पहनी और अपने बायें हाथ में बघनख तथा सीधे हाथ की बाँह में एक तेज कटार को छिपा लिया। अपने अंगरक्षकों के रूप में उन्होंने जीवमहल और शम्भूजी कावजी को शस्त्रों सहित लिया। अफजलखाँ सशस्त्र आया और उसके साथ दो अंगरक्षक आये जिनमें एक प्रख्यात तलवारबाज सैयद बाँदा था। शिवाजी के दूत गोपीनाथ की प्रार्थना पर अफजलखाँ ने अपने 1,000 सैनिक बन्दूकचियों को मिलने के स्थान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कुछ दूर छोड़ दिया। 2 नवम्बर, 1659 ई. प्रतापगढ़ के दक्षिण में स्थित वार नामक स्थान पर अफजल खाँ ने शिवाजी के ऊपर तलवार से प्रहार किया। अफजलखाँ शिवाजी से गले मिला। शिवाजी के कवच ने उनकी रक्षा की और उन्होंने अपने बघनख और कटार को अफजलखाँ के पेट में घोंप दिया। अफजलखाँ ने घायल होकर शिवाजी को छोड़ दिया और जोर से चीखा। सैयद बाँदा ने तलवार से शिवाजी के सर पर चोट की परन्तु उनकी लोहे की टोपी ने उनकी रक्षा की। जीवमहल ने सैयद बाँदा का दाहिना हाथ काटकर उसे मार गिराया। जंगल में छिपी हुई मराठा सेना ने बीजापुर की सेना पर आक्रमण किया और उसे परास्त कर भगा दिया। शिवाजी को इस युद्ध के पश्चात् तोपखाना, गोला-बारूद, हाथी, घोड़े, ऊँट और करीब 10 लाख रुपया प्राप्त हुआ।

प्रो. फारुखी ने शिवाजी पर अफजलखाँ की हत्या का आरोप लगाया है। कुछ तत्कालीन फारसी ग्रन्थों और विदेशी यात्री मनुची के विवरण में भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया गया है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस बात को स्वीकार नहीं करते। यह विश्वास किया गया है कि स्वयं अफजलखाँ शिवाजी को धोखे से मारना चाहता था और शिवाजी ने उसकी इच्छा को जानकर अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया था। सर जदुनाथ सरकार का कहना है : "आक्रमण पहले अफजलखाँ ने किया था। ऐसी स्थिति में शिवाजी ने अपनी सुरक्षा के लिए अफजलखाँ की हत्या की थी। इस कारण शिवाजी को इस कार्य के लिए दोषी नहीं माना जा सकता।" अफजलखाँ की मृत्यु के पश्चात् शिवाजी ने कोंकण और कोल्हापुर के प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा पन्हाला और आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। अफजलखाँ की घटना ने शिवाजी की कीर्ति में वृद्धि की। 1662-63 ई. में शाहजी के हस्तक्षेप के कारण शिवाजी ने बीजापुर से यह समझौता कर लिया कि वे एक-दूसरे की सीमाओं पर आक्रमण नहीं करेंगे और मिलकर मुगलों का विरोध करेंगे। इसके पश्चात् शिवाजी का बीजापुर से कोई महत्वपूर्ण संघर्ष नहीं हुआ यद्यपि 1673 ई. में शिवाजी ने पन्हाला को पुनः जीत लिया और 1677-1680 ई. के समय में बीजापुर के अन्य किलों को भी छीन लिया जो बीजापुर ने गोलकुण्डा से जीते थे। इस प्रकार शिवाजी ने बीजापुर-राज्य से संघर्ष करते हुए सफलता प्राप्त की।

1660 ई. में मुगल-सूबेदार शाइस्ताखाँ को शिवाजी को समाप्त करने के आदेश दिये गये। उसने बीजापुर-राज्य से मिलकर शिवाजी को समाप्त करने की योजना बनायी और शिवाजी से पूना, चाकन और कल्याण को छीनने में सफलता प्राप्त की। प्रायः दो वर्ष के युद्ध में शाइस्ताखाँ ने शिवाजी के बहुत कुछ स्थानों और किलों को जीतने में सफलता पायी। परन्तु शिवाजी युद्ध करते रहे। 1663 ई. में शाइस्ताखाँ ने पूना में वर्षा बिताने की योजना बनायी। 15 अप्रैल, 1663 ई. को शिवाजी चुपके से पूना में प्रवेश कर गये और रात को शाइस्ताखाँ के महल पर 400 बहादुर सिपाहियों के साथ आक्रमण करने में सफल हो गये। शाइस्ताखाँ **इस अचानक आक्रमण से घबराकर भाग खड़ा हुआ।** यद्यपि शिवाजी केवल उसका अंगूठा काटने में सफल हुए परन्तु उनका यह रात्रि का आक्रमण बहुत सफल हुआ। इससे उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और उन्होंने मुगलों पर पुनः आक्रमण आरम्भ कर दिये। 10 फरवरी, 1664 ई. को शिवाजी ने सूरत पर आक्रमण किया। मुगल किलेदार भाग खड़ा हुआ। चार दिन तक सूरत को अच्छी तरह लूटकर और अधिक से अधिक धन लेकर शिवाजी वापस चले गये। इसके पश्चात् प्रायः एक वर्ष तक शिवाजी मुगल-आक्रमण से मुक्त रहे।

1665 ई. में औरंगजेब ने राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। राजा जयसिंह अपने समय का योग्यतम सेनापति और कूटनीतिज्ञ था। वह तुर्की, फारसी, उर्दू और राजस्थानी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा का ज्ञाता था। शाहजहाँ के शासनकाल में उसने मुगल-साम्राज्य के प्रत्येक भाग में युद्ध किया था। मुगल-दरबार ने बल्ख से लेकर दक्षिण तक और कन्धार से लेकर बंगाल के युद्धों में उसकी सेवाओं का लाभ उठाया था। शाहजहाँ के काल का एक भी वर्ष ऐसा न था जबकि राजा जयसिंह ने किसी न किसी प्रकार की सफलता प्राप्त न की हो और बादशाह से सम्मान और पद प्राप्त न किया हो। सैकड़ों युद्धों में भाग लिये हुए इस योग्य राजपूत सेनापति को 60 वर्ष की आयु में औरंगजेब ने शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह ने शक्ति और कूटनीति दोनों का सहारा लिया। एक शक्तिशाली मुगल सेना के दक्षिण में प्रवेश करने से यह सम्भावना थी कि गोलकुण्डा और बीजापुर के राज्य तथा शिवाजी मुगलों के विरुद्ध एक हो जायेंगे। जयसिंह ने इसे रोकने के लिए कूटनीति का सहारा लिया। उसकी नीति सफल रही और बीजापुर ने शिवाजी का साथ नहीं दिया। वे सभी मराठा सरदार, जो शिवाजी से ईर्ष्या करते थे, मुगलों की सेवा करने के लिए प्रोत्साहित किये गये। जयसिंह ने शिवाजी के सरदारों को भी लालच देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। जयसिंह ने यूरोपियन जातियों और जंजीरा के सीदियों को भी शिवाजी के विरुद्ध साथ देने के लिए पत्र लिखे। इस प्रकार, पूरी तरह तैयारी करके जयसिंह ने शिवाजी पर आक्रमण किया। वज्रगढ़ को जीतकर जयसिंह ने पुरन्दर के किले में शिवाजी को घेर लिया। आसपास के मराठा प्रदेश को नष्ट करने के लिए मुगल सेना को भेजा गया और किले पर अत्यधिक दबाव डाला गया। यह निश्चय हो गया कि पुरन्दर के किले की रक्षा सम्भव न हो सकेगी। यह देखकर शिवाजी ने आत्मसमर्पण कर दिया और बिना किसी शर्त के राजा जयसिंह से मिलने गये। 22 जून, 1665 ई. में पुरन्दर की सन्धि हो गयी जिसके अनुसार—

1. शिवाजी ने अपने 23 किले और करीब 4 लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि मुगलों को दे दी।
2. रायगढ़ को सम्मिलित करके शिवाजी के पास केवल 12 किले और एक लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि रही।
3. शिवाजी ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया परन्तु अपने स्थान पर अपने पुत्र शम्भाजी को 5,000 घुड़सवारों के साथ मुगलों की सेवा में भेजना स्वीकार किया।
4. शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सैनिक सहायता देने का वायदा किया।

बाद में इस सन्धि में एक शर्त और जोड़ी गयी जिसके अनुसार—

5. शिवाजी ने वायदा किया कि यदि कोंकण में 4 लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि और बालाघाट (जो बीजापुर के पास था) की 5 लाख हूण वार्षिक आय की भूमि उन्हें दे दी जाय तो वह मुगलों को 13 वर्षों में 40 लाख हूण देंगे। इन प्रदेशों को शिवाजी को स्वयं ही जीतना था। इस शर्त से मुगलों को बहुत लाभ था। प्रथम, शिवाजी और बीजापुर एक-दूसरे के शत्रु हो गये, और दूसरे, शिवाजी की शक्ति के इन प्रदेशों में ही लग जाने की सम्भावना हो गयी। यह जयसिंह की कूटनीति का परिणाम था।

इस प्रकार, तीन माह में ही जयसिंह की कूटनीति और शक्ति ने शिवाजी को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। इस आक्रमण और सन्धि से शिवाजी को बहुत हानि हुई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1666 ई. में शिवाजी औरंगजेब से मिलने आगरा गये। राजा जयसिंह ने उन्हें उनकी सुरक्षा के बारे में आश्वस्त किया और यह सुझाया कि, सम्भवतया, उनके स्वयं बादशाह से मिलने से उन्हें दक्षिण के मुगल प्रदेश की सूबेदारी और सीदियों से जंजीरा का टापू प्राप्त हो जाय। सम्भवतया, शिवाजी स्वयं भी औरंगजेब के दरबार से सम्पर्क स्थापित करने और उत्तर-भारत की स्थिति को जानने के लिए उत्सुक हो गये थे। राजा जयसिंह ने शिवाजी को अपने पुत्र रामसिंह की व्यक्तिगत सुरक्षा में रखने का विश्वास दिलाया। शिवाजी अपने पुत्र शम्भाजी सहित 9 मई, 1666 ई. को 4,000 मराठा सैनिकों को लेकर आगरा गये। जब रामसिंह शिवाजी को लेकर दरबार में गया तब औरंगजेब ने उनके प्रति उदासीनता का व्यवहार किया और उन्हें पंचहजारी मनसबदारों में खड़े हो जाने का इशारा कर दिया। शिवाजी ने इसे अपना अपमान माना और वह उसी समय मनसबदारों की पंक्ति से निकल कर बाहर जाकर बैठ गये। औरंगजेब ने रामसिंह तथा अन्य दो सरदारों को शिवाजी को बुलाने के लिए भेजा परन्तु उन्होंने औरंगजेब के सम्मुख जाने से इंकार कर दिया। रामसिंह ने शिवाजी की तबियत खराब हो जाने का बहाना कर दिया। इसके पश्चात् शिवाजी को रामसिंह की देखभाल में जयपुर भवन में रखा गया और उनको नजरबन्द कर दिया गया। शिवाजी औरंगजेब से भेंट करने के लिए फिर कभी नहीं गये। दरबार में अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो शिवाजी को मरवा देना चाहते थे। औरंगजेब भी अपने प्रमुख शत्रु को समाप्त करना चाहता था। औरंगजेब ने राजा जयसिंह से पूछा कि उसने शिवाजी को क्या आश्वासन दिया था ? राजा जयसिंह ने उत्तर दिया कि शिवाजी के जीवन की सुरक्षा के अतिरिक्त उसने उससे कोई अन्य वायदा नहीं किया था। परन्तु इस पत्र-व्यवहार में थोड़ा समय लगा। इस बीच में शिवाजी ने अनेक मुगल सरदारों को रिश्वत दी और भाग निकलने की योजना बनायी। शिवाजी ने बीमारी का बहाना किया और कुछ समय पश्चात् बीमारी के ठीक हो जाने की खुशी में मिठाई के बड़े-बड़े टोकरे गरीबों को बाँटने के लिए भेजने आरम्भ किये। एक दिन अपने सौतेले भाई हीरोजी को अपना सोने का कड़ा पहना कर और अपने बिस्तर पर लिटाकर शिवाजी और उनका पुत्र शम्भाजी मिठाई के टोकरे में बैठकर भाग निकलने में सफल हो गये। उसके पश्चात् साधुओं का भेष बनाकर, अपने पुत्र को मथुरा में एक मराठा परिवार के साथ छोड़कर तथा इलाहाबाद, बनारस, गोंडवाना और गोलकुण्डा होते हुए शिवाजी 25 दिन के पश्चात् 22 सितम्बर, 1666 ई. को रायगढ़ वापस पहुँच गये। इस प्रकार शिवाजी की आगरा की यात्रा निरर्थक सिद्ध हुई परन्तु उसने एक रोमांचकारी इतिहास का निर्माण किया। 1668 ई. में शिवाजी ने मुगलों से एक सन्धि कर ली।

1670 ई. में शिवाजी ने मुगलों से पुनः युद्ध आरम्भ किया। पुरन्दर की सन्धि द्वारा खोये गये अपने अनेक किलों को शिवाजी ने पुनः जीत लिया। इसी समय कोंगना के किले को नानाजी ने अपने साहस से जीता जिसे शिवाजी ने सिंहगढ़ का नाम दिया। विभिन्न मुगल प्रदेशों को सफलता से लूटने के अतिरिक्त शिवाजी ने पुरन्दर, कल्याण, माहुली आदि किलों को जीता। दिलेरखाँ और शाहजादा मुअज्जम के झगड़े का लाभ उठाते हुए शिवाजी ने 13 अक्टूबर, 1670 ई. में सूरत के बन्दरगाह को दुबारा लूटा। मराठों ने उस समय बरार, बगलाना और खानदेश पर आक्रमण किये तथा सलहेर और मुलहेर के किलों को जीता। उसी समय उत्तर कोंकण पर आक्रमण करके मराठों ने जवाहरनगर और रामनगर को जीता। 1672 ई. में मराठों का झगड़ा बीजापुर से भी हुआ जबकि मराठों ने पन्हाला पर आक्रमण किया। मराठों ने पन्हाला, पार्ली और सतारा के दुर्गों को भी जीत लिया। इस प्रकार, कुछ ही वर्षों में शिवाजी ने मुगलों और बीजापुर से अनेक दुर्गों और भू-प्रदेशों को जीतने में सफलता प्राप्त की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16 जून, 1674 ई. में शिवाजी ने अपना काशी के प्रसिद्ध विद्वान 'श्री गंगाभट्ट' द्वारा अपना राज्याभिषेक करवाया। छत्रपति की उपाधि ग्रहण की और रायगढ़ को अपनी राजधानी बनाया। उस युग के महान् विद्वान, वेदों के ज्ञाता और बनारस के महान् पण्डित विश्वेश्वर उर्फ गागभट्ट ने शिवाजी को क्षत्री माना, उदयपुर के राजपूत-राजवंश से उनका सम्बन्ध बताया और शिवाजी का राज्याभिषेक स्वयं करना स्वीकार किया। 15 जून, 1674 ई. को वेद-मन्त्रों और हिन्दू रीति-रिवाजों के अनुसार बड़ी धूमधाम से शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने 'छत्रपति' की उपाधि ग्रहण की और भगवा-ध्वज उनका झण्डा बना। इस अवसर पर शिवाजी ने बहुत धन व्यय किया। परन्तु इस प्रसन्नता में थोड़ी बाधा 12 दिन पश्चात् तब हुई जबकि शिवाजी की माता जीजाबाई की मृत्यु हो गयी। इसके कारण कुछ समय पश्चात् शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक तान्त्रिक विधि से भी कराया।

अपने रिक्त खजाने की पूर्ति करने के उद्देश्य से शिवाजी ने मुगल-सेनापति बहादुरखाँ के शिविर पर आक्रमण किया और प्रायः एक करोड़ रुपया तथा 200 अच्छे घोड़े लूटने में सफलता पायी। शिवाजी ने बीजापुर के खानदेश और बगलाना के प्रदेशों को लूटने में भी सफलता पायी। इन आक्रमणों में शिवाजी को केवल धन ही प्राप्त नहीं हुआ बल्कि उनकी शक्ति में भी वृद्धि हुई।

1677-78 ई. में शिवाजी ने पूर्वी कर्नाटक पर आक्रमण किया। शिवाजी ने बहाना किया कि वह अपने भाई से अपनी पैतृक जागीर का हिस्सा लेने जा रहे हैं। उन्होंने युद्ध की पूरी तैयारी की। उन्होंने मुगल-सूबेदार बहादुरखाँ से एक समझौता कर लिया और गोलकुण्डा के मुख्यमन्त्री मदन्ना की सहायता से गोलकुण्डा से एक सन्धि कर ली। शिवाजी ने कर्नाटक में प्रवेश करके जिंजी और बेलूर के किलों को जीता तथा तुंगभद्रा से लेकर कावेरी नदी तक के कर्नाटक के भाग पर अपना अधिकार कर लिया। जिंजी को उन्होंने अपने इस भाग की राजधानी बनाया। अपने भाई व्यंकोजी से भी शिवाजी ने अपने पिता की पैतृक जागीर से आधा भाग माँगा और उसके इंकार करने पर उसके प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा कावेरी नदी के उत्तर के सभी भागों पर अधिकार कर लिया। प्रायः एक वर्ष के समय में शिवाजी ने कर्नाटक की 20 लाख हूण प्रति वर्ष आय की भूमि पर अधिकार किया और प्रायः 100 किले अपने अधिकार में किये अथवा बनवाये। कर्नाटक की सीमाओं की सुरक्षा और शासन का प्रबन्ध करके शिवाजी महाराष्ट्र वापस आ गये। बाद में व्यंकोजी ने अपने प्रदेश को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। अन्त में, व्यंकोजी के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री के बीच में पड़ने से दोनों भाइयों में समझौता हो गया। व्यंकोजी ने अपने बड़े भाई के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, शिवाजी ने किलों के अतिरिक्त उसके भू-प्रदेश उसे वापस कर दिये और उसने सफलता से उनका शासन किया। इस प्रकार शिवाजी ने कर्नाटक में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में सफलता पायी।

शिवाजी का संघर्ष जंजीरा टापू के अधिपति सीदियों से भी हुआ। उत्तर-पश्चिम के समुद्री तट को जीतने की इच्छा शिवाजी की थी। इससे उनके साम्राज्य की सुरक्षा होती थी और पश्चिम से व्यापार करने के लिए मार्ग खुल जाता था। इस उद्देश्य से शिवाजी ने बीजापुर-राज्य से पोंडा और कारबार के समुद्री भागों को छीन लिया था, कोलाबा से मलवान तक के समुद्री-तट पर अधिकार कर लिया था और स्वर्णदुर्ग, विजयदुर्ग तथा सिन्धुदुर्ग जैसे समुद्र-तट के दृढ़ किलों को जीत लिया था। इसी उद्देश्य से शिवाजी ने एक नौ-सेना का निर्माण किया। परन्तु वह पुर्तगालियों से गोआ और सीदियों से चोल और जंजीरा को न छीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके। सीदी पहले अहमदनगर के आधिपत्य को मानते थे परन्तु 1636 ई. के पश्चात् से वह बीजापुर की अधीनता को मानने लगे थे। शिवाजी ने कोंकण प्रदेश को जीत लिया था जो उनकी आय और रसद का साधन था। इस कारण वे शिवाजी से शत्रुता मानते थे। दूसरी तरफ शिवाजी के लिए जंजीरा को जीतना अपने कोंकण प्रदेश की रक्षा के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, सीदियों को बिना अपनी अधीनता में लाये शिवाजी की नौ-सेना का विकास सम्भव न था। 1669 ई. में शिवाजी ने दरिया-सारंग के नेतृत्व में अपने जल-बेड़े को जंजीरा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। लगातार संघर्ष के पश्चात् फतहखाँ सीदी शिवाजी से संधि करने को तत्पर हो गया। परन्तु उसके दो सम्बन्धियों ने 1671 ई. में मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके न केवल शिवाजी का ही विरोध किया बल्कि फतहखाँ सीदी का भी विरोध किया। मुगलों की सहायता मिल जाने से सीदी शिवाजी से संघर्ष करते रहे। कई वर्षों तक युद्ध करने के बाद शिवाजी कोंकण प्रदेश पर तो अपना अधिकार रख सके परन्तु जंजीरा के टापू को जीतने अथवा सीदियों को अपने आधिपत्य में लेने में असफल रहे।

अपने अन्तिम समय में शिवाजी ने एक बार फिर बीजापुर को मुगलों के विरुद्ध सहायता दी। परन्तु अब शिवाजी का अन्तिम समय निकट आ गया था। वह बीमार हो गये और करीब 12 दिन की बीमारी के पश्चात् 14 अप्रैल, 1680 ई. को 53 वर्ष की अवस्था में शिवाजी की मृत्यु हो गयी।

इस प्रकार, शिवाजी ने निरन्तर बीजापुर राज्य और मुगलों की दक्षिण की ओर बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध संघर्ष किया। अपने इस संघर्ष में उन्होंने सफलता पायी। अपनी मृत्यु के समय तक उन्होंने एक बड़े तथा स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर लिया। शिवाजी के राज्य में महाराष्ट्र, कोंकण और कर्नाटक का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। उत्तर में रामनगर से लेकर दक्षिण में कारबार तक और पूर्व में बगलाना, आधा नासिक, पूना के जिले, सतारा और कोल्हापुर का बहुत सा भाग इसमें सम्मिलित था। पश्चिमी कर्नाटक का वह भाग जिसमें आधुनिक मैसूर का उत्तरी, मध्यवर्ती और पूर्वी भाग था, बेलारी जिले का कुछ भाग और अर्काट शिवाजी के राज्य में सम्मिलित थे। अस्थायी रूप से उन्होंने कनारा प्रदेश को भी जीता था। इतिहासकार सभासद के अनुसार शिवाजी के राज्य की आय एक करोड़ हूण प्रति वर्ष थी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी के आसपास के क्षेत्रों से चौथ (वार्षिक आय का 1/4 भाग) वसूल करते थे जिनसे उनकी आय 80 लाख हूण प्रति वर्ष थी। यह प्रदेश उनके प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत था। इस प्रकार शिवाजी ने दक्षिण के एक विस्तृत भू-प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित करने में सफलता पायी।

शिवाजी की यह सफलता इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना मानी जा सकती है। शिवाजी को दक्षिण के बीजापुर-राज्य से संघर्ष करना पड़ा जो दुर्बल होते हुए भी दक्षिण का एक प्रमुख राज्य था। इसके अतिरिक्त, मुगल-साम्राज्य औरंगजेब के समय में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। औरंगजेब शिवाजी तो क्या दक्षिण की शिया-रियासतों को भी समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। उसने शिवाजी के विरुद्ध अपने एक से एक योग्य सेनापति को भेजा, कूटनीति और चालाकी का प्रयोग किया परन्तु तब भी शिवाजी न केवल अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में ही सफल हुए बल्कि उन्होंने मुगल सीमाओं से निरन्तर चौथ वसूल करने में भी सफलता पायी। यह शिवाजी की महान् सफलता थी। शिवाजी की इस सफलता में विभिन्न परिस्थितियाँ सहायक बनीं। महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ शिवाजी के पक्ष में थीं। महाराष्ट्र का पठारी प्रदेश शिवाजी की सुरक्षा और उनकी गुरिल्ला युद्ध-पद्धति के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे अधिक उपयुक्त था। शिवाजी ने हिन्दुओं की धार्मिक भावना और महाराष्ट्र की भावना का सदुपयोग किया। शिवाजी ने अपना लक्ष्य और आदर्श इस प्रकार रखा कि वह हिन्दू धर्म, ब्राह्मणों और गायों के रक्षक माने गये। उनमें हिन्दुओं ने हिन्दू-राजत्व, 'हिन्दू-पादशाही' और हिन्दू-सभ्यता की रक्षा तथा स्थापना का स्वप्न साकार करने वाला व्यक्ति पाया। इस कारण शिवाजी बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहानुभूति पा सके। जिस समय शिवाजी आगरा गये थे तब जयसिंह ने औरंगजेब को उनके जीवन की सुरक्षा के बारे में लिखा था, राजा जसवन्तसिंह शिवाजी से सहानुभूति रखते थे, गोलकुण्डा के वजीर मदन्ना और अकन्ना शिवाजी की सहायता के लिए तत्पर थे और राजपूत सरदार एवं सैनिक शिवाजी के विरुद्ध उत्साहपूर्वक लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। जब औरंगजेब ने 1679 ई. में हिन्दुओं पर जजिया लगाया तब अकेले शिवाजी ही थे जिन्होंने इसका तीव्र विरोध करते हुए औरंगजेब को एक पत्र लिखा था। दक्षिण के अनेक सन्तों जैसे तुकाराम, रामदास, बाबा याकूत, जयराम स्वामी आदि ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से अपने शिष्यों को शिवाजी की सहायता करने की प्रेरणा दी थी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद को नहीं तोड़ा, कभी कुरान का अपमान नहीं किया और न कभी मुस्लिम स्त्रियों व बच्चों को अपमानित किया। इस कारण मुसलमान भी शिवाजी से असन्तुष्ट न थे और उनमें से अनेक उनका आदर करते थे। शिवाजी का गुप्तचर-विभाग बहुत श्रेष्ठ था। उनके गुप्तचरों से कई भाषाओं को जानने और महाराष्ट्र के कूट-प्रदेश की चप्पा-चप्पा भूमि से परिचित होने की आशा की जाती थी। इस कारण शिवाजी को अपने शत्रुओं की स्थिति को जानने, चुपके से उन पर आक्रमण करने और चुपके से भाग निकलने में सरलता होती थी। बीजापुर-राज्य की दुर्बलता शिवाजी की प्रारम्भिक प्रगति में सहायक हुई। आरम्भ में अपने सरदारों के पारस्परिक मतभेद और दुर्बलता के कारण बीजापुर कभी भी शिवाजी के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग न कर सका और बाद में औरंगजेब के भय से उसे अनेक अवसरों पर शिवाजी से सहायता लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। गोलकुण्डा-राज्य ने शिवाजी को अनेक अवसरों पर धन, सेना और तोपखाने से सहायता दी। शिवाजी की कर्नाटक-विजय बिना गोलकुण्डा की सहायता के सम्भव न थी। औरंगजेब का एक लम्बे समय तक उत्तर-भारत में व्यस्त रहना और उसके सरदारों का पारस्परिक मतभेद शिवाजी के लिए लाभदायक रहा। औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण हुए विद्रोह, उसका राजपूतों से संघर्ष, उत्तर-पश्चिम की सीमान्त-जातियों के विद्रोह आदि के कारण मुगलों की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग दक्षिण-भारत में नहीं हो सका। जो मुगल शाहज़ादे दक्षिण-भारत में भेजे गये वह आरामपसन्द थे और अनेक अवसरों पर मुगल-सरदार बेईमान और झगड़ालू सिद्ध हुए। मुगलों की आन्तरिक दुर्बलता का ही यह परिणाम था जिसके कारण शिवाजी मुगल-दरबार में मुगल बादशाह का अपमान करने के बाद भी आगरा से भाग निकलने में सफल हुए, शाइस्ताखाँ पर उसके महल में आक्रमण कर सके, मुगल-सेनापतियों को परास्त कर सके, मुगलों के शहरों और खजानों को लूट सके और मुगलों की सीमाओं से चौथ वसूल कर सके। परन्तु शिवाजी की सफलता का मुख्य श्रेय उनके व्यक्तित्व और चरित्र को था। एक व्यक्ति, एक जन्मजात नेता, एक सैनिक, एक सेनापति, एक शासन-प्रबन्धक आदि सभी दृष्टियों से शिवाजी की योग्यता उनकी सफलता का मुख्य कारण थी।

(घ) शासन-प्रबन्ध

1. राजा—मध्य-युग के अन्य शासकों की भाँति शिवाजी एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निरंकुश शासक थे। राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ उनमें केन्द्रित थीं। वही राज्य के अन्तिम

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून-निर्माता, प्रशासकीय प्रधान, न्यायाधीश और सेनापति थे। परन्तु शिवाजी ने अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए नहीं किया बल्कि वह एक प्रजापालक शासक सिद्ध हुए। इतिहासकार रानाडे के शब्दों में शिवाजी नैपोलियन की भाँति 'एक महान् संगठनकर्ता और असैनिक प्रशासन के निर्माणकर्ता थे।' शिवाजी के शासन की एक विशेषता यह भी रही कि उन्होंने मराठी को शासन की भाषा बनाया और उसकी प्रगति के लिए रघुनाथ पण्डित हनुमन्ते के सभापतित्व में विद्वानों की एक समिति की नियुक्ति करके उससे एक शब्दकोष—राज्य-व्यवहार-कोष—लिखवाया।

2. अष्ट-प्रधान—शासन में शिवाजी की सहायता के लिए आठ बड़े अधिकारी अष्ट मन्त्री थे। वे एक मन्त्रि-परिषद अथवा समिति की तरह से कार्य नहीं करते थे। प्रत्येक मंत्री अपने-अपने विभाग का प्रधान था और यह शिवाजी की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह उनसे पृथक-पृथक अथवा सम्मिलित रूप से सलाह लें। उनकी सलाह को मानने के लिए वह शिवाजी बाध्य न थे। ये आठ प्रधान शिवाजी के सचिवों की भाँति कार्य करते थे। शिवाजी द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करना और विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करना उनका प्रमुख दायित्व था। शिवाजी, वास्तव में, फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें और प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् की भाँति स्वयं ही अपने प्रधानमन्त्री थे और शासन की सभी शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित रखते थे। उनके इन आठ प्रधानों में पेशवा की स्थिति, निस्सन्देह, कुछ श्रेष्ठ थी परन्तु शेष अन्य प्रधान किसी भी प्रकार उसके अधीन न थे। उनमें से प्रत्येक का उत्तरदायित्व केवल शिवाजी के प्रति था। ये आठ प्रधान अग्रलिखित थे :

(i) **पेशवा अथवा मुख्य प्रधान**—इसका कार्य सम्पूर्ण राज्य के शासन की देखभाल करना था। राजा की अनुपस्थिति में उसके कार्यों की देखभाल करना, शासन में एकरूपता लाने के लिए शासन के अधिकारियों पर नियन्त्रण रखना और प्रजा के हित के लिए प्रयत्न करना उसका मुख्य दायित्व था। राजा के सभी आदेशों और पत्रों पर राजा की मुहर के नीचे उसकी मुहर लगती थी।

(ii) **अमात्य अथवा मजमुआदार**—राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना तथा राजा को उससे अवगत कराना इसका कार्य था।

(iii) **मन्त्री अथवा वाकिया-नवीस**—राजा के दैनिक कार्यों को लेखबद्ध करना, मिलने-जुलने वालों की देखभाल करना और राजा के जीवन की सुरक्षा की देखभाल करना इसका कार्य था।

(iv) **सचिव अथवा शुरु-नवीस**—राजा के पत्रों की भाषा एवं शैली को ठीक करना तथा परगनों की आय-व्यय की देखभाल करना इसका कार्य था।

(v) **सुमन्त अथवा दबीर**—यह राज्य का विदेश-मन्त्री था। राजा को सन्धि अथवा युद्ध के बारे में सलाह देना, विदेशों से समाचार प्राप्त करना, विदेशों में राजा के सम्मान की सुरक्षा, विदेशी राजदूतों की देखभाल और अपने राजदूतों को विदेशों में भेजना तथा उनके कार्यों की देखभाल करना इसका कार्य था।

(vi) **सेनापति अथवा सर-ए-नौबत**—सेना की भर्ती, संगठन, शिक्षा, शस्त्रों और रसद की व्यवस्था आदि इसका कार्य था।

(vii) **पण्डित राव**—राजा की तरफ से विद्वान ब्राह्मणों को दान देना, धार्मिक कार्यों को निश्चित करना, पाप के लिए दण्ड देना, धर्म और जाति के झगड़ों का निर्णय करना और प्रजा के नैतिक चरित्र को सुधारना इसका कार्य था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(viii) **न्यायाधीश**—सैनिक और असैनिक झगड़ों का हिन्दू-कानून के आधार पर न्याय करना, भूमि सम्बन्धी झगड़ों तथा गाँव के मुखिया के पद के झगड़ों का निर्णय करना इसका कार्य था।

सेनापति के अतिरिक्त ये सभी प्रधान ब्राह्मण थे और पण्डित राव तथा न्यायाधीश के अतिरिक्त सभी को अवसर पड़ने पर सेनाओं का नेतृत्व करना पड़ता था। राज्य के सभी पत्रों, आदेशों एवं सन्धियों पर राजा और पेशवा के अतिरिक्त चार अन्य मन्त्रियों के हस्ताक्षर होते थे परन्तु उनमें सेनापति, पण्डित राव और न्यायाधीश सम्मिलित नहीं थे।

इन आठ प्रधानों के अतिरिक्त राज्य के पत्र-व्यवहार की देखभाल करने वाले चिटनिस और मुंशी भी महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। वह एक प्रकार से सचिव का कार्य करते थे। मुंशी फारसी भाषा में लिखता था। शिवाजी के समय में बालाजी आवजी चिटनिस के रूप में और नीलोजी मुंशी के रूप में बहुत सम्मानित समझे गये थे। इन आठ प्रधानों की देखरेख में विभिन्न अधिकारी होते थे। प्रत्येक प्रधान की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त दावन, मजमुआदार, फडनिस, सुबनिस, कारखान, चिटनिस, जमादार और पोटनिस यह आठ प्रमुख अधिकारी होते थे। 18 कारखानों (जैसे तोपखाना, जवाहरात-घर, नकदी-घर, आदि) और 12 महलों (जैसे खजाना, व्यापारिक वस्तुएँ, घुड़साल आदि) की देखभाल भी इन आठ प्रधानों को करनी पड़ती थी और उनके सभी अधिकारी इनके अधीन होते थे। इस प्रकार शिवाजी ने केन्द्र के शासन की एक विस्तृत और सुनिश्चित योजना बनायी थी।

3. प्रान्त—शिवाजी द्वारा संगठित किया हुआ साम्राज्य तीन प्रान्तों में विभक्त था। उनमें से प्रत्येक में एक प्रान्तपति अथवा सूबेदार की नियुक्ति की गयी थी। उत्तरी प्रान्त में डांग, बगलाना, कोली प्रदेश, दक्षिणी सूरत, उत्तरी बम्बई का कोंकण प्रदेश और पूना की ओर का दक्षिणी पठार सम्मिलित था। यहाँ त्रिम्बक पिंगले की नियुक्ति की गयी थी। दक्षिणी प्रान्त में दक्षिणी बम्बई का कोंकण प्रदेश, सामन्तवाड़ी और उत्तरी कनारा का समुद्र-तट सम्मिलित था। यह प्रान्त अन्नाजी दत्तो की अधीनता में था। दक्षिण-पूर्वी प्रान्त में सतारा और कोल्हापुर के जिले तथा कर्नाटक में तुंगभद्रा के पश्चिम में बेलगाँव, धारवार और कोसल के जिले थे। यह प्रान्त दत्तोजी पन्त के अधिकार में था।

शिवाजी ने अपने अन्तिम समय में तुंगभद्रा के दूसरी ओर का कोपल से लेकर बेलूर तथा जिंजी तक का प्रदेश जीता था। इसमें आधुनिक मैसूर राज्य का उत्तरी, मध्यवर्ती और पूर्वी भाग तथा मद्रास राज्य के बेलारी, चित्तूर और अर्काट के जिले सम्मिलित थे। परन्तु इस प्रदेश का संगठन नहीं हो सका था और यहाँ उनके समय में सेना की शक्ति पर ही शासन चलाया जाता था। इसके अतिरिक्त कनारा, दक्षिण धारवार, सोन्धा और बेदनूर के प्रदेश अभी ऐसे थे जहाँ से शिवाजी कर तो वसूल करते थे परन्तु जिनके स्वामित्व के बारे में निर्णय नहीं हो सका था। ये शिवाजी की मृत्यु के निकट के अवसर पर ही जीते गये प्रदेश थे।

4. सेना और नौ-सेना—शिवाजी की सेना के मुख्य भाग घुड़सवार और पैदल सेना थे। उनकी मृत्यु के अवसर पर उनकी सेना में 45,000 पागा (शाही घुड़सवार), 60,000 सिलेदार घुड़सवार तथा एक लाख मावले पैदल सैनिक थे। उनकी सेना में हाथी भी थे। सम्भवतया, उनकी संख्या 300 के लगभग थी। उनके पास एक छोटा तोपखाना भी था।

पागा या शाही घुड़सवारों को 'बरगीर' पुकारते थे। इन्हें राज्य की ओर से शस्त्र दिये जाते थे जबकि 'सिलेदार' घुड़सवार अपने घोड़ों और शस्त्रों को स्वयं खरीदते थे और कभी-कभी अपने साथ अपने साथियों को लाते थे तथा उनके शस्त्रों और घोड़ों का प्रबन्ध भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं करते थे। 'पागा' घुड़सवार सेना का नियमित संगठन था। 25 घुड़सवारों के ऊपर एक हवलदार, 5 हवलदारों के ऊपर एक जमादार, 10 जमादारों पर एक एकहजारी और पाँच एकहजारियों के ऊपर पंचहजारी अधिकारी होता था। सम्पूर्ण घुड़सवार सेना का प्रधान घुड़सवार सेना का 'सर-ए-नौबत' कहलाता था।

इसी प्रकार, पैदल-सेना में भी अधिकारियों का पद-विभाजन किया गया था। 9 सैनिकों या पाइकों का अधिकारी नायक, दस नायकों के ऊपर एक हवलदार, दो या तीन हवलदारों के ऊपर एक जुमलादार, दस जुमलादारों के ऊपर एक एकहजारी और सात एकहजारियों के ऊपर एक सातहजारी अधिकारी होता था। पैदल-सेना में पंचहजारी का पद न था। सम्पूर्ण पैदल-सेना का प्रधान पैदल-सेना का 'सर-ए-नौबत' होता था। शिवाजी के अंगरक्षक 20,000 (बीस हजार) मावले सैनिक थे जिनके वस्त्रों और हथियारों पर पर्याप्त धन व्यय किया जाता था।

शिवाजी ने अपनी सेना में मुसलमान सैनिक भी रखे थे। बीजापुर की सेना से निकाले गये 700 पठान-सैनिकों को उन्होंने अपनी सेवा में अपने विभिन्न अधिकारियों की सलाह के विरुद्ध भी रख लिया था।

शिवाजी की सेना अत्यन्त संगठित और नियमित थी। उनकी भर्ती, शिक्षा और नियन्त्रण का पूरा ध्यान रखा जाता था। सेना में भर्ती होने वाले व्यक्तियों को शिवाजी स्वयं भी देखते थे। प्रत्येक नये सैनिक को अपनी जमानत किसी एक अन्य सैनिक से दिलानी पड़ती थी। सैनिक और अधिकारियों को अधिकांशतया नकद वेतन दिया जाता था। पैदल-सेना के सैनिक और छोटे अधिकारियों का वेतन 3 रु. से 9 रु. प्रति माह और घुड़सवार-सेना में 6 रु. से लेकर 20 रु. प्रति माह तक था। पैदल-सेना के जुमलादार को 100 हूण प्रति वर्ष और एकहजारी को 500 हूण प्रति वर्ष मिलते थे। घुड़सवार-सेना के जुमलादार को 500 हूण प्रति वर्ष और एकहजारी को 1,000 हूण प्रति वर्ष मिलते थे। शिवाजी सैनिकों को ठीक समय पर वेतन देते थे। शिवाजी की सेना का नियन्त्रण कठोर था। किसी भी सैनिक को अपने साथ अनावश्यक सामान ले जाने की आज्ञा न थी, सैनिकों को आदेश थे कि वे खेतों और घरों के निकट आग न जलायें या हुक्का आदि न पीयें और स्त्रियों व नौकरों को सेना में साथ ले जाने की आज्ञा किसी को न थी। इन नियमों को तोड़ने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। वर्षा के चार महीनों में सेना छावनी में ही रहती थी तथा आठ महीने आक्रमण करने और रसद को एकत्रित करने हेतु बाहर निकलती थी। छावनी छोड़ने से पहले प्रत्येक सैनिक की वस्तुओं की गणना कर ली जाती थी और छावनी में वापस पहुँचने से पहले पुनः उन वस्तुओं की जाँच की जाती थी जिससे सैनिक लूट के सामान को छिपाकर न रख सकें। आक्रमण के दौरान स्त्रियों और बालकों को मारना या सताना, ब्राह्मणों को लूटना, कृषि को बर्बाद करना आदि भी दण्डनीय था। इस प्रकार, शिवाजी ने सेना के नियन्त्रण के लिए विभिन्न नियम बनाये थे और ये नियम कठोरता से लागू किये जाते थे। इन सभी के कारण शिवाजी की सेना शक्तिशाली बन गयी थी।

शिवाजी की सैनिक-व्यवस्था में किलों की व्यवस्था एक प्रमुख स्थान रखती थी। शिवाजी के राज्य में प्रायः 250 किले थे जो उनकी सुरक्षा और आक्रमणकारी नीति के मुख्य आधार थे। शिवाजी ने किलों की रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किये थे। प्रत्येक किले में तीन प्रमुख अधिकारी होते थे—एक 'हवलदार', एक 'सबनिस' और एक 'सर-ए-नौबत'। किले की रक्षा और प्रशासन तीनों का संयुक्त उत्तरदायित्व था। 'हवलदार' तथा 'सर-ए-नौबत' मराठा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते थे जबकि 'सबनिस' ब्राह्मण होता था। इनके अलावा किले की रसद और सैनिक-सामग्री की देखभाल के लिए एक अन्य अधिकारी होता था जिसे 'कारखाना-नवीस' कहते थे। वह आय और व्यय का पूर्ण विवरण रखता था। हवलदार को अपने अधीनस्थ अधिकारियों को हटाने, सरकारी पत्रों को लेने और भेजने, शाम को किले के फाटक बन्द करने तथा सुबह के समय फाटक खोलने और बीच-बीच में अचानक जाकर देखभाल करने का दायित्व सौंपा गया था। 'सर-ए-नौबत' पर रात में किले की सुरक्षा और प्रहरियों की देखभाल का दायित्व था। 'सबनिस' किले के असैनिक शासन की देखभाल करता था। इस प्रकार विभिन्न अधिकारियों और विभिन्न जातियों के अधिकारियों की नियुक्ति करके शिवाजी ने यह प्रयत्न किया था कि किसी एक अधिकारी के शत्रु-पक्ष के साथ मिल जाने से किला शत्रुओं के हाथों में न चला जाय। शिवाजी ने विस्तृत रूप से यह निश्चित कर दिया था कि किस किले में कितने सैनिक होंगे, कितनी रसद होगी, कितने शस्त्र होंगे, फाटक को खोलने और बन्द करने का क्या समय होगा, इत्यादि। इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था। इससे शिवाजी के किले जो प्राकृतिक ढंग से ही पहाड़ों पर बने हुए थे, सरलता से शत्रु के हाथों में नहीं जा सकते थे।

शिवाजी ने नौ-सेना का भी निर्माण किया था। कोंकण प्रदेश को जीतने के पश्चात् जंजीरा के सीदियों के आक्रमण से अपने समुद्र-तट की रक्षा के लिए उन्हें इसका निर्माण करना आवश्यक हो गया था। सभासद के अनुसार शिवाजी की नौ-सेना में विभिन्न प्रकार के 400 जहाज थे। यह जल-बेड़ा दो भागों में विभक्त था। दरिया-सारंग और माई नायक इनमें से प्रत्येक एक भाग का प्रधान था। कुछ वर्षों के पश्चात् शिवाजी को दो अन्य योग्य व्यक्तियों 'मिसरी' और 'दौलतखाँ' की सेवाएँ भी प्राप्त हो गयी थीं। शिवाजी की नौ-सेना विदेशी व्यापारियों, जंजीरा के सीदियों और औरंगजेब के लिए चिन्ता का विषय बन गयी थी। उसने अनेक अवसरों पर पुर्तगाली, डच और अंग्रेज जहाजों से टक्कर ली और खण्डेरी के द्वीप को सीदी और अंग्रेजों के संयुक्त आक्रमण से बचाने में सफलता पायी। इसके अतिरिक्त शिवाजी ने **एक बड़ी व्यापारिक नौ-सेना का भी निर्माण किया था।** डॉ. एस. एन. सेन ने लिखा है : "अपने तत्कालीन शासकों से भिन्न उस महान् मराठा ने यह समझ लिया था कि बिना एक शक्तिशाली व्यापारिक नौ-शक्ति के एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण असम्भव था।" परन्तु **फिर भी शिवाजी की नौ-सेना यूरोपियन नौ-सेना की तुलना में दुर्बल थी।** इसका मुख्य कारण **उनकी नौ-सेना के पास तोपखाने का अभाव था।** इसी दुर्बलता के कारण शिवाजी को जंजीरा के सीदियों के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। सूरत की अंग्रेज फैक्टरी के प्रधान ने टिप्पणी की थी कि "एक अंग्रेजी जहाज अपने को बिना किसी खतरे में डाले हुए उनके एक सौ जहाजों को नष्ट कर देगा।" इस कारण शिवाजी की नौ-सेना का मुख्य कार्य अपने समुद्र-तट की रक्षा करना, अपने तट पर आये हुए जहाजों से व्यापारिक-कर लेना और समुद्र-तट पर टूटे हुए जहाजों के सामान को अपने अधिकार में करने तक सीमित था।

5. **अर्थ-व्यवस्था और लगान-व्यवस्था**—मुद्रा, व्यापारिक-कर और भूमि से लगान शिवाजी की आय के स्थायी साधन थे। परन्तु ये उनकी सेना और शासन के व्यय के लिए पर्याप्त न थे। इस कारण शिवाजी ने अपनी आय का मुख्य साधन 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' को बनाया था। ये 'कर' पड़ौसी राज्यों की सीमाओं और नगरों से अथवा अपने प्रभाव-क्षेत्र के नागरिकों से वसूल किये जाते थे। 'चौथ' उस प्रदेश की वार्षिक आय का एक-चौथाई भाग और 'सरदेशमुखी' उस प्रदेश की आय का 1/10 वाँ भाग होता था। शिवाजी इन प्रदेशों के शासन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेते थे और न ये प्रदेश उनके राज्य की सीमाओं के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत आते थे। इन करों की वसूली शक्ति के आधार पर की जाती थी और इनका मुख्य लक्ष्य अपने शत्रु-राज्यों की सम्पत्ति से अपनी सेना और शासन के व्यय को पूरा करना था। ये 'कर' शिवाजी की आय के मुख्य साधन थे और धीरे-धीरे शिवाजी और बाद में मराठों की शक्ति के विस्तार में सहायक भी हुए।

शिवाजी की लगान-व्यवस्था रैयतवाड़ी थी जिसमें राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया था। शिवाजी ने जागीरें देने की प्रथा को अधिकांशतया नहीं माना था और यदि भूमि जागीर के रूप में दी भी गयी थी तो उसकी आय का हिसाब राज्य के कर्मचारी रखते थे और उसी के अनुरूप उस जागीरदार के वेतन में कमी कर दी जाती थी। इस प्रकार लगान-व्यवस्था और भूमि की आय की देखभाल जागीरदार के हाथों में नहीं रहती थी बल्कि राज्य के लगान-अधिकारियों के हाथों में रहती थी। शिवाजी ने पाटिल, कुलकर्णी और देशमुख नामक पैतृक लगान-अधिकारियों को लगान वसूल करने के अधिकार से वंचित कर दिया और उनके स्थान पर वेतन-प्राप्त नवीन अधिकारी नियुक्त किये। तर्फ के लगान-अधिकारी को 'कारकुन' अथवा 'हवलदार' पुकारा गया, प्रान्त के अधिकारी को 'सूबेदार' या 'मुखिया' कहा गया और कई प्रान्तों के लगान की देखभाल करने वाले अधिकारी को 'सरसूबादार' पुकारा गया। शिवाजी ने अनुभव किया कि मलिक अम्बर द्वारा स्थापित लगान-व्यवस्था उनके राज्य के लिए सर्वथा उपर्युक्त रहेगी, इस कारण थोड़े परिवर्तनों के साथ उसी व्यवस्था को उन्होंने अपने राज्य में लागू किया था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव की भूमि की पैमाइश की जाती थी और पैदावार का अनुमान लगाया जाता था। पैमाइश के लिए रस्सी के स्थान पर लकड़ी के डण्डे का प्रयोग किया गया था। इस पैमाइश के आधार पर प्रत्येक किसान की पैदावार का अनुमान लगाकर उससे लगान माँगा जाता था। 1679 ई. में शिवाजी के आदेश पर 'अन्नाजी दत्तो' ने व्यापक स्तर पर भूसर्वेक्षण करवाया। **आरम्भ में शिवाजी ने पैदावार का 33% लगान के रूप में माँगा परन्तु बाद में जब उन्होंने स्थानीय करों को माफ कर दिया तब वह पैदावार का 40% लेने लगे।** शिवाजी ने प्राय: 40 स्थानीय करों से किसानों को मुक्त कर दिया था, यह देखते हुए 40% लगान कोई अधिक न था। इससे किसानों को लाभ हुआ क्योंकि अब वे अनिश्चित करों के भार से मुक्त हो गये। इसके अतिरिक्त, शिवाजी बाहर से आने वाले किसानों को मुफ्त भूमि देते थे और जब तक उस भूमि में समुचित पैदावार नहीं होती थी तब तक उस पर से लगान नहीं लेते थे। इस प्रकार **शिवाजी ने किसानों को अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया था।** नये किसानों को बीज और पशुओं की सहायता भी दी जाती थी जिसे सरकार धीरे-धीरे वापस लेती थी। **शिवाजी लगान नकद और अन्न दोनों ही रूपों में लेते थे।**

लगान-व्यवस्था के लिए शिवाजी का राज्य 16 प्रान्तों में बाँटा गया था। प्रान्तों को 'तर्फ' और 'कौजों' में बाँटा गया था। 'तर्फ' का प्रधान कारकुन कहलाता था और प्रान्त का अधिकारी सूबेदार होता था। कभी-कभी कई प्रान्तों की देखभाल के लिए एक सूबेदार की नियुक्ति भी की जाती थी। यद्यपि गाँव के प्राचीन पैतृक अधिकारी पाटिल और जिले के देशमुख अथवा देशपाण्डे पहले की भाँति अपने अधिकारों का उपयोग करते रहे परन्तु शिवाजी ने लगान की देखभाल के लिए नवीन अधिकारियों की नियुक्ति भी की थी।

शिवाजी की यह लगान-व्यवस्था किसानों के लिए लाभदायक रही। जार्विस ने लिखा है : "यह कहा जाता है कि उपद्रव, युद्ध और बेवफाई के होते हुए भी लगान में वृद्धि हुई थी और प्रजा समृद्धशाली हुई थी।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. धार्मिक नीति—शिवाजी एक सुसंस्कृत हिन्दू थे। हिन्दू धर्म की उदारता की भावना को उन्होंने ठीक प्रकार से समझा और अपने व्यवहार और नीति में उन्होंने उसका प्रयोग किया। समर्थ गुरु रामदास उनके आध्यात्मिक और धार्मिक गुरु थे। यह कहना तो उचित नहीं है कि गुरु रामदास ने शिवाजी के राजनीतिक उद्देश्यों के निर्माण में प्रमुख भाग लिया था परन्तु यह कहना सत्य है कि शिवाजी पर गुरु रामदास का प्रभाव धर्म और सदाचार का था और वे शिवाजी को प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति थे। शिवाजी ने हिन्दुओं, ब्राह्मणों और गौरक्षा की दुहाई देते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता का व्यवहार किया था। वह दुर्गा-भवानी के पूजक थे परन्तु उन्होंने किसी धर्म के पैगम्बर या देवता का कभी अपमान नहीं किया। इस्लाम के साथ उनका व्यवहार अत्यन्त उदार रहा। मुहम्मद और कुरान के प्रति उनका व्यवहार आदरपूर्ण था। जब भी उन्हें कुरान की पुस्तक प्राप्त होती थी, वह उसे ससम्मान अपने मुसलमान साथियों को पढ़ने के लिए दे देते थे। उन्होंने कभी भी मस्जिदों को नहीं तोड़ा, मुसलमान स्त्रियों एवं बच्चों के प्रति युद्ध के अवसर पर भी सम्मानजनक व्यवहार किया तथा मस्जिदों, मुस्लिम सन्तों और पीरों को आर्थिक सहायता दी। राज्य की सेवा में मुसलमानों को लिया गया था, उनकी सेना और नौ-सेना में मुसलमान थे तथा उन्हें योग्यतानुसार उच्च पद दिये गये थे। इतिहासकार खफीखाँ ने भी, जो शिवाजी से सन्तुष्ट न था, उनकी धार्मिक नीति की प्रशंसा की है।

इस प्रकार, शिवाजी का शासन-प्रबन्ध बहुत श्रेष्ठ था। इतिहासकार स्मिथ जैसे इतिहासकारों का शिवाजी के राज्य को 'डाकू राज्य' (Robber State) कहना सर्वथा अनुचित है। साम्राज्य-निर्माण के साथ एक अच्छी शासन-व्यवस्था की स्थापना शिवाजी को इतिहास के महान् व्यक्तियों में स्थान प्रदान करती है। शिवाजी के शासन-प्रबन्ध की श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध होती है कि जब शिवाजी आगरा में औरंगजेब के द्वारा नजरबन्द कर लिये गये थे उस समय में भी उनके राज्य में कोई अव्यवस्था नहीं हुई और सम्पूर्ण शासन उसी प्रकार चलता रहा जैसे कि उनकी उपस्थिति में चलता था। इसे सर जदुनाथ सरकार ने 'मध्ययुगीन राजतन्त्र की एक अनौखी घटना' कहा है। एम. जी. रानाडे ने शिवाजी के असैनिक शासन-प्रबन्ध को निम्नलिखित विशेषताओं के कारण अन्य शासन-व्यवस्थाओं से पृथक माना है :

1. किलों के शासन-प्रबन्ध को विशेष महत्व देना।
2. किसी भी एक पद को एक ही परिवार तक सीमित न करना अथवा उस पद को पैतृक पद न बनाना।
3. अपने सैनिक और असैनिक अधिकारियों को जागीरें प्रदान न करना।
4. लगान-व्यवस्था में किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना।
5. ठेके पर भूमि न देना।
6. अष्ट-प्रधान का निर्माण जिसके प्रत्येक सदस्य को पृथक-पृथक कार्य दिया गया था तथा जिनमें से प्रत्येक राजा और अपने साथियों के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी था।
7. शासन में सैनिक अधिकारियों की तुलना में असैनिक अधिकारियों को अधिक श्रेष्ठता प्रदान करना।
8. शासन में ब्राह्मण, प्रभु, मराठा आदि सभी जातियों को सम्मिलित करके उनमें सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार, शिवाजी एक महान् राज्य-निर्माता ही न थे बल्कि एक महान् शासन-प्रबन्धक भी थे।

(स) एक स्थायी राज्य की स्थापना करने में शिवाजी की असफलता के कारण

शिवाजी की मृत्यु के 9 वर्ष पश्चात् ही उनके द्वारा स्थापित किया हुआ राज्य समाप्त हो गया, उनके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था नष्ट हो गयी, जागीरदारी प्रथा पुनः आरम्भ हो गयी, पद पुनः पैतृक आधार पर दिये जाने लगे तथा हिन्दू-समाज की विभिन्न परम्परागत ऐतिहासिक और सामाजिक कुप्रवृत्तियों ने पुनः अपना सिर उठा लिया। इसके विभिन्न कारण थे।

यह कहा जा सकता है कि शिवाजी का शासनकाल बहुत थोड़े समय का था। 1670 से 1680 ई. तक का समय उन्हें शासन-व्यवस्था के लिए प्राप्त हुआ था क्योंकि उससे पहले का समय मूलतः राज्य-संस्थापन का समय था। परन्तु यह उनके राज्य के पतन का मूल कारण नहीं माना जा सकता। उनके राज्य के अस्थायी होने के मूल कारण कुछ अन्य थे। **उनके हिन्दू-राज्य को सबसे पहला खतरा हिन्दू-रूढ़िवादिता से हुआ।** शिवाजी (और बाद के समय में बाजीराव प्रथम) की सफलताओं ने हिन्दू-रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन दिया जिससे जातिवाद और कर्मकाण्ड को बल प्राप्त हुआ। इससे मराठा-समाज की एकता नष्ट हो गयी, उसमें छोटे और बड़े की भावना आ गयी, ब्राह्मणों और मराठों की श्रेष्ठता का विवाद खड़ा हो गया और ये अन्तर इतने बढ़ गये कि पूर्व और पश्चिम के ब्राह्मण तथा पहाड़ों के निवासी और मैदानों के निवासी आपस में अन्तर मानने लगे। स्वयं शिवाजी को भी इस जातिवाद के अपमान को सहन करना पड़ा। दक्षिण के ब्राह्मण उन्हें क्षत्री मानने को तैयार न थे। इसी कारण उन्होंने बनारस के पण्डित गागभट्ट को अपने राज्याभिषेक के लिए बुलाया था और इसी कारण वह बालाजी आवजी जैसे कायस्थ विद्वानों पर अधिक निर्भर करते थे। यह सभी बातें उनके राज्य की एकता और शक्ति में छेद करने वाली थीं। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "जाति जननक्रिया की भाँति बढ़ती है। यह राष्ट्रीय एकता के विरोध में है। जिस मात्रा में शिवाजी का हिन्दू-स्वराज्य का आदर्श रूढ़िवादिता पर आधारित था उसी मात्रा में उसकी मृत्यु के बीज उसमें स्वयं ही निहित थे।" **शिवाजी मराठों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और अपने 'वतनों' (जागीरों) से प्रेम करने की भावना को समाप्त नहीं कर सके थे।** अपने व्यक्तित्व के कारण वह उनकी सीमित वफादारी और पारस्परिक कलह की भावना को दबाने और उसे एक बड़े आदर्श के लिए प्रेरित करने में अवश्य सफल हुए थे परन्तु वह उसे समाप्त नहीं कर सके थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् मराठों की ये भावनाएँ पुनः जाग्रत होने लगीं। **शिवाजी के शासन की एक दुर्बलता यह भी थी कि उन्होंने जनसाधारण की शिक्षा, भावनात्मक एकता और सांस्कृतिक प्रगति के लिए ठोस कदम नहीं उठाये।** उनका प्रभाव उनके स्वयं के व्यक्तित्व और चरित्र के कारण था जो सफल तो हुआ परन्तु उसमें चिरस्थायी होने वाले तत्वों का अभाव रह गया। **शिवाजी के शासन की एक दुर्बलता, मध्य-युग के सभी शासकों की भाँति, एकमात्र राजा के चरित्र और योग्यता पर निर्भर रहने की थी।** शिवाजी का उत्तराधिकारी शम्भाजी उनके समान योग्य सिद्ध न हुआ जिसके परिणामस्वरूप जो शक्ति शिवाजी ने स्थापित की थी वह उसे सुरक्षित न रख सका। **औरंगजेब का दक्षिण-भारत में आना और दक्षिण के सभी राज्यों को नष्ट करने के लिए मुगल-साम्राज्य की विशाल शक्ति का प्रयोग करना शिवाजी के द्वारा स्थापित किये हुए राज्य के विनाश का मूल कारण बना।** मुगल-साम्राज्य की शक्ति और सामर्थ्य मराठा-राज्य की तुलना में बहुत श्रेष्ठ थी। जब उसका प्रयोग कटिबद्ध होकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव-स्थापित मराठा-राज्य के विनाश के लिए किया गया, तब मराठा-राज्य स्थिर न रह सका। शिवाजी के कार्य का महत्व तो इसी बात से बहुत था कि मराठे अपने राज्य के पतन के पश्चात् भी अपनी स्वतन्त्रता की भावना को न भूल सके और महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए कटिबद्ध होकर वर्षों तक मुगलों से संघर्ष कर सके तथा अन्त में न केवल महाराष्ट्र को ही स्वतन्त्र कर सके बल्कि मराठा-शक्ति के विस्तार के आधार का भी निर्माण करने में सफल हुए।

(द) शिवाजी का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में उनका स्थान (शिवाजी एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में)

सरदेसाई ने शिवाजी के बारे में लिखा है : "निस्सन्देह, शिवाजी का व्यक्तित्व अपने ही युग का नहीं बल्कि सम्पूर्ण आधुनिक युग का भी असाधारण व्यक्तित्व है। अन्धकार के बीच में वह एक ऐसे नक्षत्र के समान चमकते हैं जो अपने समय से बहुत आगे थे।" शिवाजी का चरित्र और व्यक्तित्व मराठा इतिहासकार के इस कथन की पुष्टि करता है। शिवाजी का चरित्र प्रत्येक प्रकार से आदर्श माना जा सकता है। वह एक अच्छे पुत्र, वफादार मित्र, पत्नीप्रिय पति और प्रिय पिता थे। वह अपनी माता का अत्यधिक सम्मान करते थे। उनके चरित्र के विकास में उनकी माता का बहुत बड़ा हाथ रहा। दयालुता, सहिष्णुता, सद्व्यवहार, साहस, शौर्य, दृढ़-निश्चय, पवित्र विचार आदि सभी गुण उनमें थे। अपने समय की परम्परा के अनुसार उन्होंने कई विवाह किये थे परन्तु अपनी सभी पत्नियों के प्रति उनका व्यवहार प्रेम का था। शिवाजी ने शिक्षा प्राप्त न की थी परन्तु अपने अनुभव से उन्होंने अच्छा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। वह कुशल नीतिज्ञ, मनुष्यों के पारखी और परिस्थितियों को समझने वाले थे। शिवाजी एक अच्छे हिन्दू और दुर्गा-भवानी के पूजक थे। धर्म, धार्मिक ग्रन्थ और कहानियाँ उनके जीवन की प्रेरणा थे। उनका धर्म उनको सत्कार्य में लगाने वाला था। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति एक पहाड़ी झरने की भाँति स्वच्छ जल को अविरल गति से बहाने वाली थी जिसमें धर्मान्धता की गन्दगी न थी। उन्होंने सभी धर्मों का सम्मान किया और उनके साथ समान व्यवहार किया। महाराष्ट्र के तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों और सन्तों से वह प्रभावित हुए थे और महाराष्ट्र का धार्मिक पुनर्जागरण इस बात पर आधारित था कि शक्ति के आधार पर लादी गयी मुसलमानी धार्मिक असहिष्णुता को सहन न किया जाय। शिवाजी के व्यक्तित्व पर धार्मिक पुनर्जागरण की उस भावना का प्रभाव स्पष्ट था। शिवाजी एक कुशल और साहसी सैनिक थे। अनेक युद्धों में उन्होंने अपने जीवन को संकट में डाला था। अफजलखाँ से भेंट करना, शाइस्ताखाँ पर अचानक उसके शहर और निवास-स्थान में प्रवेश करके आक्रमण करना, औरंगजेब से आगरा मिलने जाना उनके जीवन की ऐसी घटनाएँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि शिवाजी अपने जीवन को खतरे में डालने से कभी नहीं झिझके। शिवाजी एक योग्य सेनापति थे। अपने देश की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल उन्होंने गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग किया और सुरक्षा के लिए अनेक दुर्गों का निर्माण कराया। शिवाजी किसी भी प्रकार की मादक वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते थे और स्त्रियों के प्रति उनका व्यवहार आदरपूर्ण था। इस प्रकार, शिवाजी सभी मानवीय गुणों से पूर्ण थे और अपने समय की नैतिकता से कहीं आगे थे।

शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी और वह भी ऐसी परिस्थितियों में जबकि औरंगजेब आलमगीर मुगल-साम्राज्य की सम्पूर्ण विशाल शक्ति को लेकर हिन्दू-राज्य तो क्या, दक्षिण के शिया-राज्यों को भी समाप्त करने पर तुला हुआ था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीजापुर और मुगलों से निरन्तर युद्ध करके शिवाजी ने अपनी एक साधारण जागीर को दक्षिण-भारत के एक बड़े राज्य में परिवर्तित कर दिया। इस कार्य को करने में वह अकेले थे। उनसे पहले किसी भी मराठा सरदार ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की कल्पना भी नहीं की थी। स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी और संरक्षक कोंणदेव उनके इस विचार से सहमत न थे। यह कहना भूल होगी कि शिवाजी का राज्य एक 'युद्ध-राज्य' (Krieg State) था जो केवल युद्ध पर ही जीवित रह सकता था और युद्ध में ही आगे बढ़ सकता था। उनकी परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि अपने अस्तित्व को स्थापित करने और उसे स्थापित रखने के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध में लगना पड़ा था। बीजापुर से युद्ध किये बिना उनके राज्य का निर्माण सम्भव न था और बिना मुगलों से युद्ध किये उनके राज्य का अस्तित्व सम्भव न था। इस कारण युद्ध तो उन्होंने किये परन्तु युद्ध के साथ-साथ उनके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शिवाजी का लक्ष्य केवल 'युद्ध-राज्य' तक ही सीमित न था।

शिवाजी एक महान् शासन-प्रबन्धक थे। असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्था में उन्होंने अद्भुत योग्यता का परिचय दिया। शिवाजी ने शासन में पूर्णतया नवीन अन्वेषण किये हों, यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु उन्होंने दूसरों के ज्ञान से लाभ उठाकर अपनी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन किये थे। अकबर जैसे महान् शासन-प्रबन्धक ने भी शेरशाह के शासन से बहुत कुछ सीखा था। इस कारण शासन में नूतनता को जन्म देना ही एक शासक की योग्यता का मापदण्ड नहीं होता। शिवाजी की अष्टप्रधान-व्यवस्था, उनकी लगान-व्यवस्था, देशपाण्डे और देशमुख जैसे पैतृक पदाधिकारियों को बिना हटाये हुए उनकी शक्ति और प्रभाव को समाप्त करके किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना, शासन में असैनिक अधिकारियों को महत्व देना तथा ऐसे शासन की स्थापना करना जो उनकी अनुपस्थिति में भी सुचारु रूप से चल सका, ऐसी बातें थीं जो उनके असैनिक शासन की श्रेष्ठता को सिद्ध करती हैं। **उनकी सैनिक-व्यवस्था भी उतनी ही श्रेष्ठ थी।** घुड़सवार-सेना और पैदल-सैनिकों में पदों का विभाजन, उनके वेतन को निश्चित करना, उनको ठीक समय से वेतन देना, उनकी भर्ती की स्वयं देखभाल करना, उनको योग्यतानुसार पद देना, आदि सभी कार्य ठीक थे। गुरिल्ला युद्ध-पद्धति उनकी सफलता के लिए उत्तरदायी थी, किलों की सुरक्षा का प्रबन्ध और उनके शासन की व्यवस्था शिवाजी की अपनी पृथक विशेषता थी और आठ महीने सेना को आक्रमणकारी युद्धों में लगाये रखना उनकी सर्वोत्तम सैनिक-शिक्षा थी। शिवाजी ने मराठा-सैनिकों को भारी हथियार रखने अथवा अधिक या भारी सामान ले जाने के लिए मना कर रखा था जिससे उनकी सेना में गतिशीलता अत्यधिक थी जो उनकी सफलता का मुख्य कारण थी। मराठा-सैनिक स्त्रियों, दासियों आदि को अपने साथ नहीं ले जा सकते थे, अनावश्यक लूटमार नहीं कर सकते थे, कैम्प के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते थे और लूट के माल को छिपा नहीं सकते थे। शिवाजी ने इन सभी से सम्बन्धित विस्तृत नियम बनाये थे जिनका पालन कठोरता से किया जाता था। इसी कारण 17वीं शताब्दी में शिवाजी की सेना अजेय बन गयी थी। यही नहीं बल्कि **शिवाजी ने एक अच्छी नौ-सेना के निर्माण का भी प्रयत्न किया था।** शिवाजी की नौ-सेना अपने समुद्र-तट की रक्षा करने में ही समर्थ न थी बल्कि अपने व्यापार की सुरक्षा भी कर सकती थी। **शिवाजी ने मराठी भाषा को राजभाषा बनाया था और एक राज्य-व्यावहारिक संस्कृत-कोष का भी निर्माण कराया था।** इससे मराठी-साहित्य के निर्माण में सहायता मिली थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इनसे भी अधिक शिवाजी की महानता एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में है। शिवाजी का महानतम कार्य हिन्दू-मराठा-राष्ट्र का निर्माण करना और उनकी महानतम देन उसको स्वतन्त्रता की भावना प्रदान करना था। शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार किया। गुलाम रहकर वह बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। अपनी छः वर्ष की आयु में उन्होंने बीजापुर के सुल्तान के सम्मुख अपना सिर झुकाने से इंकार कर दिया था और औरंगजेब के दरबार में अपने को असम्मानित अनुभव करके उन्होंने दरबार की परम्परा को तोड़कर शक्तिशाली मुगल-बादशाह का उसके दरबार में (अप्रत्यक्ष रूप से) अपमान कर दिया था। अपने कार्य को उन्होंने बिना किसी विशेष सहायता के आरम्भ किया और यह अनुभव करके कि बढ़ती हुई मुस्लिम-शक्ति का विरोध मराठों की एकता के बिना सम्भव नहीं है, उन्होंने मराठों को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। अपने आकर्षक व्यक्तित्व और प्रारम्भिक सफलताओं के कारण वह शीघ्र ही योग्य मराठों को अपने नेतृत्व में एकत्र करने में सफल हो गये। आभाजी, रघुनाथ बल्लाल, समरजी पन्त, प्रतापराव गूजर, हमीरराव मोहिते, शिन्दोजी निम्बालकर, सम्बाजी मोर, तानाजी मालसुरे, सूर्यराव काकादे, सन्ताजी घोरपदे, धानाजी जादव, खाण्डेराव दाभादे, पार्सोजी भौंसले, सयाजी भौंसले, नेमाजी शिन्दे आदि अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो शिवाजी के सहायक बने और जिनमें से अनेक ने शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् भी मराठों का नेतृत्व किया। सभी वर्गों से आये हुए इन योग्य व्यक्तियों ने शिवाजी के हिन्दू-राज्य की सेवाएँ कीं। खतरों के अवसरों पर इनमें से एक भी अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हुआ, एक ने भी अपने राजा से बेवफाई नहीं की, अनेक ने अपने कर्तव्य की पूर्ति करते हुए सन्तोष से अपने जीवन को युद्धों में समाप्त किया और इस प्रकार सभी ने अपने त्याग और बलिदान से मराठा-राष्ट्र को जाग्रत करने में सहायता दी। **शिवाजी की मुख्य सफलता राज्य-विस्तार और धन की प्राप्ति में उतनी नहीं थी जितनी कि मराठों को एकता और आत्मविश्वास प्रदान करने में थी।** शिवाजी ने महाराष्ट्र और मराठा सरदारों को यह विश्वास दिया कि वह मुस्लिम शक्ति का सफलता से विरोध कर सकते थे और यही वह विश्वास था जिसके कारण मराठों ने 20 वर्षों (1687-1707 ई.) तक दृढ़तापूर्वक औरंगजेब की विशाल शक्ति का मुकाबला किया और मुगलों की कमर तोड़ दी। यह शिवाजी और प्रायः उनके एक सौ योग्य सरदारों की योग्यता और मुसलमानों से संघर्ष में प्राप्त सफलता का ही परिणाम था कि मराठा-राष्ट्र में एक नवीन साहस और आशा जाग्रत हुई थी तथा उनमें संघर्ष करने की शक्ति और अपनी अन्तिम विजय में विश्वास उत्पन्न हुआ था।

इस सभी का श्रेय शिवाजी को था। उन्होंने अकेले ही अपने संघर्ष को आरम्भ किया था, अपने आप ही अपने समर्थकों को एकत्र किया था, स्वयं अपनी सेना का संगठन किया था और बिना किसी सहायता के एक संगठित राज्य, एक व्यवस्थित शासन और एक अजेय सेना का निर्माण करने में सफलता पायी थी। शिवाजी से पहले मराठों की शक्ति दक्षिण के राज्यों में बिखरी हुई थी। उस समय तक मराठे या तो शान्तिप्रिय किसान थे अथवा दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में सैनिक या सरदारों के रूप में सेवा-कार्य कर रहे थे। मराठे इन राज्यों की सेवा में अपनी शक्ति, योग्यता, वफादारी एवं रक्त की आहुति दे रहे थे परन्तु उन्हें नेतृत्व का अधिकार न था, वे सन्धि अथवा युद्ध का निश्चय नहीं करते थे और उनकी सेनाएँ अपनी सेनाएँ न थीं। शिवाजी ने मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्र किया तथा उनको एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान किया। शिवाजी ने उन्हें कट्टर और साहसी सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल शासन-प्रबन्धक बनाया तथा उन्हें यह सिद्ध करके दिखाया कि वे स्वयं अपने मालिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे और स्वयं शासन कर सकते थे। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया, एक हिन्दू-राज्य का निर्माण किया और उस समय में किया जबकि मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था और उसका मुकाबला मुगलों से ही नहीं बल्कि दक्षिण की महत्वपूर्ण शक्तियों जैसे बीजापुर, पुर्तगाली और जंजीरा के सीदियों से भी था। शिवाजी पहले हिन्दू थे जिन्होंने मध्य-युग की बदलती हुई युद्ध की नैतिकता को समझा। उनके विरोधी इतिहासकार चाहे उन्हें डाकू कहें, चाहे उन्हें विद्रोही सामन्त पुकारें और चाहे औरंगजेब ने उनको 'पहाड़ी चूहा' कहकर अपनी सन्तुष्टि कर ली हो, परन्तु शिवाजी ने हिन्दू युद्ध-नीति की नैतिकता में एक नवीन अध्याय जोड़ा कि 'युद्ध जीतने के लिए लड़ा जाता है न कि शौर्य-प्रदर्शन के लिए'। उन्होंने युद्ध-नीति को अमानवीय, अनैतिक अथवा शौर्यरहित नहीं बनाया था बल्कि समय के अनुकूल उसके लक्ष्य को एक मोड़ दिया था जो उचित और आवश्यक था। डॉ. सरकार के अनुसार, "आधुनिक समय में भारत में ऐसी कुशलता और जीवन-शक्ति का परिचय किसी अन्य हिन्दू ने नहीं दिया। अपने उदाहरण से उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दू-जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, शत्रुओं को परास्त कर सकती है, कला और साहित्य की रक्षा कर सकती है, व्यापार और उद्योग की उन्नति कर सकती है और एक ऐसी नौ-सेना का निर्माण कर सकती है जो विदेशी नौ-सेना का मुकाबला करने में समर्थ हो।" शिवाजी ने अपने आदर्श और जीवन के उदाहरण से हिन्दुओं को अपने पूर्ण विकास का मार्ग बताया। उनकी धार्मिक सहनशीलता आधुनिक समय के लिए भी उदाहरणस्वरूप है। शक्ति और साम्राज्य को संचय करने के पश्चात् तथा औरंगजेब द्वारा जाग्रत किये गये धर्मान्धता के वातावरण में भी इस्लाम और मुसलमानों के प्रति उनका व्यवहार और मुसलमानों की वफादारी प्राप्त करने में उनकी सफलता अनुकरणीय है। शिवाजी निस्सन्देह महान् थे। इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है: "मैं उन्हें हिन्दू-जाति द्वारा उत्पन्न किया हुआ अन्तिम महान् क्रियात्मक व्यक्ति और राष्ट्र-निर्माता मानता हूँ।" उन्होंने पुनः लिखा है : "शिवाजी ने यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वास्तव में गिरा नहीं है बल्कि वह सदियों की राजनीतिक दासता, शासन से पृथकत्व और कानूनी अत्याचार के बावजूद भी पुनः उठ सकता है, उसमें नये पत्ते और शाखाएं आ सकती हैं और एक बार फिर आकाश में सिर उठा सकता है।" इस प्रकार शिवाजी का हिन्दू-मराठा-राष्ट्र के निर्माण में सहयोग और हिन्दू-मराठा-शक्ति के उत्थान में योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

[3]
शम्भाजी (1680-1689 ई.)

शम्भाजी शिवाजी का सबसे बड़ा पुत्र था। शिवाजी ने उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से किया था। परन्तु वह आरम्भ से ही अभिमानी, क्रोधी और भोग-विलासी हो गया था। अपनी मृत्यु के अवसर पर शिवाजी ने उसे पन्हाला के किले में कैद कर रखा था। रायगढ़ में शिवाजी के मन्त्रियों ने शम्भाजी को अयोग्य मानकर उसके छोटे और सौतेले भाई राजाराम को छत्रपति बनाने का निर्णय किया और गुप्त रूप से इसकी तैयारी की। परन्तु इस गुप्त मन्त्रणा में सेनापति हम्मीरराव मोहिते को सम्मिलित नहीं किया गया था। अतएव शम्भाजी ने अपने आप को पन्हाला के किले से मुक्त कर लिया और सेनापति हम्मीरराव मोहिते की सहायता से रायगढ़ को जीत लिया। उसने राजाराम, उसकी माता सूर्याबाई तथा पुराने पेशवा, सचिव तथा सुमन्त को बन्दीगृह में डाल दिया तथा जुलाई 1680 ई. में गद्दी पर अधिकार कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया और 30 जुलाई, 1680 ई. को राज्याभिषेक करवाया। शम्भाजी ने 'नीलोपन्त' को अपना पेशवा बनाया। गद्दी पर बैठने के समय से क्रूरता और विलासप्रियता का जो परिचय उसने दिया, वह उसकी मृत्यु तक चला। 1681 ई. में औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर शम्भाजी से सहायता माँगने दक्षिण-भारत आया। शम्भाजी ने उसे सुरक्षा तो दी परन्तु उसकी कोई विशेष सहायता न की। 1682 ई. में औरंगजेब लगभग तीन लाख की विशाल सेना लेकर दक्षिण-विजय की अपनी चिर-अभिलाषा की पूर्ति के लिए स्वयं दक्षिण-भारत पहुँच गया। 1686 ई. में बीजापुर और 1687 ई. में गोलकुण्डा को विजय करने के पश्चात् औरंगजेब ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति शम्भाजी के विरुद्ध लगा दी। शम्भाजी ने साहसपूर्वक मुगलों का मुकाबला किया परन्तु अन्त में अपनी असावधानी के कारण 1689 ई. में वह अपने मन्त्री कवि कलश के साथ संगमेश्वर में मुगल सेनापति मुकर्रब खाँ द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। औरंगजेब ने उससे अपने किलों और सम्पूर्ण खजाने को मुगलों को सौंप देने की माँग की। शम्भाजी ने इन माँगों को ठुकराकर औरंगजेब की पुत्री से अपने विवाह का प्रस्ताव रखा। औरंगजेब के आदेश से कई दिनों तक कठोर यातनाएँ देने के पश्चात् 21 मार्च, 1689 ई. को शम्भाजी को कत्ल कर दिया गया और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तों को डाल दिये गये। इस प्रकार शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का अन्त हुआ। इसे इतिहास का एक बर्बर हत्याकाण्ड माना जाता है।

शम्भाजी योग्य और साहसी सैनिक था। परन्तु वह विलासी और क्रूर था। उसमें राजनीतिज्ञता का अभाव था। उसने औरंगजेब के पुत्र अकबर की सहायता करके मुगल-साम्राज्य को दुर्बल करने का प्रयत्न नहीं किया और न उसने शिवाजी द्वारा संगठित राज्य की शक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न किया। शम्भाजी असफल रहा परन्तु अपनी मृत्यु के अवसर पर प्रकट किये गये उसके साहस ने मराठा राष्ट्र को मुगलों से संघर्ष करने की प्रेरणा दी। मराठे अपने राजा की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए एकसूत्र में बँध गये और उन्होंने राजाराम के नेतृत्व में मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ किया।

[4]

मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम (1689-1707 ई.)

राजाराम (1689-1700 ई.) और शिवाजी द्वितीय तथा ताराबाई (1700-1707 ई.)

शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठों ने रायगढ़ में उसके भाई राजाराम को मराठा-छत्रपति घोषित किया। उस समय राजाराम की आयु लगभग 20 वर्ष थी। शम्भाजी की विधवा पत्नी येसूबाई ने राजाराम को विशालगढ़ भाग जाने की सलाह दी और उसने स्वयं रायगढ़ की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। राजाराम विशालगढ़ भाग गया और मुगलों ने रायगढ़ पर अधिकार कर लिया। यहीं पर येसूबाई और उसके पुत्र शाहू को कैद किया गया तथा उन्हें औरंगजेब के पास भेज दिया गया। राजाराम को विशालगढ़ से भी भागना पड़ा और उसने कर्नाटक जाकर जिंजी के किले में शरण ली। प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर मुगलों का अधिकार हो गया और औरंगजेब का दक्षिण-भारत को जीतने का स्वप्न साकार हुआ। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ मानो शिवाजी का सम्पूर्ण परिश्रम बेकार हो गया हो। परन्तु उसी समय जबकि यह प्रतीत हुआ कि सभी कुछ नष्ट हो चुका है, शिवाजी द्वारा स्थापित राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित हुई। असम्मान और दुर्भाग्य की उन परिस्थितियों ने ऐसे राष्ट्रभक्तों को खड़ा कर दिया जिन्होंने शिवाजी की धरोहर को अपने चरित्र में प्राप्त किया था। मराठों की दृढ़ता और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहस ने मुगलों की विशाल शक्ति को पुनः चुनौती दी और वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध हो गये। यहाँ से मराठों का स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हुआ जो उस समय तक चलता रहा जब तक कि मराठों ने महाराष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं करा लिया और शाहू को मराठा-छत्रपति स्वीकार नहीं कर लिया गया। आरम्भ में राजाराम ने इस संघर्ष का नेतृत्व किया। राजाराम ने अपने पिता से कुछ महान् गुण प्राप्त किये थे। वह दृढ़-निश्चयी और स्वतन्त्रता-प्रिय था। उसका सबसे बड़ा गुण यह था कि वह विश्वास कर सकता था और विश्वास पा सकता था। वह अनेक वफादार और योग्य व्यक्तियों को अपने निकट एकत्र कर सका। उसने स्वयं को राजा भी नहीं माना। उसका कहना था कि वह तो शाहू (जो औरंगजेब की कैद में था) का प्रतिनिधि मात्र था। उस समय उसे प्रहलाद नीराजी, रघुनाथपन्त हनुमन्ते और रामचन्द्र नीलकण्ठ जैसे कुशल नीतिज्ञ और सन्ताजी घोरपदे तथा धानाजी जादव जैसे महान् सेनापति प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त, उस समय अनेक ऐसे मराठा सरदारों का उत्कर्ष हुआ जिन्होंने मुगलों की शक्ति की कमर तोड़ दी।

इस युद्ध में राजाराम ने मराठा सरदारों को अपनी सेना एकत्रित करने, मुगलों से अपनी इच्छानुसार युद्ध करने और जिस भूमि को वह जीत सकें उस भूमि को अपनी जागीर बनाने की स्वतन्त्रता और अधिकार दे दिया। इससे अनेक मराठा सरदारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। विभिन्न मराठा सरदार अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर विभिन्न स्थानों पर आक्रमण और युद्ध करने लगे। एक युद्ध द्वारा इस संघर्ष का निर्णय सम्भव न था। स्थान-स्थान पर मराठा सरदार मुगल-सेना पर आक्रमण करते थे, अवसर पाने पर उन्हें परास्त करते थे, उनकी रसद को लूटते थे और अवसर न होने पर भाग जाते थे। औरंगजेब की सेना इस प्रकार के युद्ध के लिए तत्पर न थी और न वह मराठों का ऐसे युद्ध में मुकाबला कर सकी। जब मुगल सेना ने जिंजी पर अधिकार किया तो राजाराम विशालगढ़ भाग गया और विशालगढ़ पर आक्रमण हुआ तो वह सतारा भाग गया। इसी प्रकार मराठे कभी कर्नाटक में थे तो कभी महाराष्ट्र में और जब वे पठारी प्रदेश से भगा दिये गये तो उन्होंने मालवा और गुजरात के उपजाऊ प्रदेशों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। मराठे सभी जगह थे और कहीं पर नहीं थे। एक ही युद्ध में अपनी शक्ति और भाग्य का निर्णय करने के लिए वे तैयार न थे और सम्मान तथा असम्मान का प्रश्न उनके सामने न था। महाराष्ट्र से मुगलों को निकालना उनका लक्ष्य था चाहे उसका तरीका कुछ भी हो। जनसाधारण की सहानुभूति उनके साथ थी और दिन का किसान रात का सैनिक था। मराठों के इस संघर्ष की आत्मा महाराष्ट्र की जनता थी जिसने मुगलों द्वारा किये गये विनाश को सहन करते हुए अपने सरदारों और नेताओं को जीवन, धन और शक्ति दी। एक प्रकार से महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक था, प्रत्येक घर मराठा सैनिकों का सुरक्षा-स्थल था और प्रत्येक गाँव मुगलों के विरुद्ध एक किला था। मुगल सतारा को पुनः अपने अधिकार में करने में सफल हो गये और उसी समय राजाराम की 30 वर्ष की अल्पायु में 12 मार्च, 1700 ई. को मृत्यु हो गयी। परन्तु मराठों ने अपने संघर्ष को समाप्त नहीं किया।

राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा ताराबाई ने अपने चार वर्षीय पुत्र को 'शिवाजी द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठाया और मुगलों से संघर्ष जारी रखा। ताराबाई एक योग्य और महत्वाकांक्षी स्त्री थी। विशालगढ़ और पन्हाला के किलों पर मराठों का आधिपत्य पहले ही हो चुका था। अब उसके नेतृत्व में मराठों ने अन्य स्थानों को भी जीतने का प्रयत्न किया। औरंगजेब इस युद्ध में सफल न हो सका। वह और उसकी सेना हताश हो गयी। मराठों और मुगलों में सन्धि की चर्चा भी हुई परन्तु उसका कोई परिणाम न निकला और संघर्ष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलता रहा। धीरे-धीरे मराठों ने बसन्तगढ़, सिंहगढ़, रायगढ़, सतारा आदि किलों को जीत लिया और उन्होंने दूर-दूर के प्रान्तों और बुरहानपुर, सूरत, भड़ौंच जैसे समृद्ध नगरों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। ऐसी परिस्थितियों में जबकि मराठे महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने में ही नहीं बल्कि मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने और औरंगजेब की छावनी तक को लूटने में सफलता पा रहे थे, मार्च 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। प्रायः 20 वर्ष तक मराठों का यह स्वतन्त्रता-संग्राम तब तक चलता रहा जब तक कि मुगलों ने शाहू को मराठों का छत्रपति स्वीकार नहीं कर लिया।

इस स्वतन्त्रता-संग्राम ने औरंगजेब और मुगलों की सैनिक-शक्ति को दुर्बल बना दिया। इससे मराठों को अनेक योग्य राजनीतिज्ञ और साहसी सेनापति प्राप्त हुए तथा मराठों की सैनिक-शक्ति तथा महत्वाकांक्षाओं का विस्तार हुआ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मराठों के उत्कर्ष के कारणों का वर्णन कीजिए।
2. शिवाजी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।
3. शिवाजी के शासन प्रबन्ध पर प्रकाश डालिए।
4. एक राष्ट्र निर्माता के रूप में शिवाजी का मूल्यांकन कीजिए।
5. 1689 से 1707 ई. तक मराठों के स्वतन्त्रता संग्राम का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मराठों के उत्कर्ष के तीन महत्त्वपूर्ण कारण लिखिए।
2. शिवाजी के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालिए।
3. शिवाजी की सैनिक व्यवस्था पर एक लेख लिखिए।
4. शम्भाजी पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
5. चौथ और सरदेशमुखी पर टिप्पणी लिखिए।
6. शिवाजी के अष्टप्रधान मन्त्रिमण्डल का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अठारहवीं सदी में मैसूर में किस व्यक्ति ने अपना शासन स्थापित किया था ?

   (अ) निजाम-उल-मुल्क ने (ब) हैदर अली ने ✓

   (स) टीपू सुल्तान ने (द) सादात खाँ ने।

2. फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठने के बाद हैदराबाद में स्वतन्त्र राज्य के निर्माता चिनकिलच खाँ को कौन सी उपाधि दी थी ?

   (अ) नियाज-उल-मुल्क आसफजा

   (ब) खानखाना

   (स) निजाम-उल-मुल्क बहादुर फतह जंग

   (द) 'ब' व 'स' दोनों। ✓

3. मुर्शिद कुली खाँ के देहान्त के बाद कौन बंगाल में सत्तारूढ़ हुआ था ?

   (अ) उसका-पुत्र (ब) उसका पौत्र

   (स) उसका दामाद ✓ (द) उसका भतीजा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. 1756 ई. में बंगाल की गद्दी पर आसीन हुआ था ?
(अ) सिराजुद्दौला (ब) अलीवर्दी खाँ
(स) सरफराज खाँ (द) इनमें से कोई नहीं।

5. शिवाजी का जन्म हुआ था—
(अ) कालिंजर के दुर्ग में (ब) शिवनेर के दुर्ग में
(स) सिंहगढ़ के दुर्ग में (द) रायगढ़ के दुर्ग में।

6. शिवाजी की मुगलों से पहली टक्कर हुई थी—
(अ) 1657 ई. में (ब) 1658 ई. में
(स) 1659 ई. में (द) 1660 ई. में।

7. 1663 ई. में शिवाजी ने शाइस्ता खाँ पर कहाँ आक्रमण किया था ?
(अ) शिवनेर में (ब) बंगलौर में
(स) पूना में (द) इनमें से कहीं नहीं।

8. पुरन्दर की सन्धि किनके मध्य हुई थी ?
(अ) शिवाजी और राणा प्रताप में (ब) शिवाजी और अफजल खाँ में
(स) शिवाजी और जयसिंह में (द) शिवाजी और शाइस्ताखाँ में।

9. शिवाजी मुगलों के बन्दीगृह से मुक्त हुए थे—
(अ) जेल के सिपाहियों को रिश्वत देकर (ब) सिपाहियों को धोखा देकर
(स) पहरेदारों की आँख बचाकर (द) मिठाई के टोकरे में छिपकर।

10. शिवाजी ने छत्रपति की उपाधि धारण की थी—
(अ) 1672 ई. में (ब) 1673 ई. में
(स) 1674 ई. में (द) 1676 ई. में।

11. शिवाजी ने मुगलों के विरुद्ध किस युद्ध पद्धति को अपनाया था ?
(अ) सुरक्षात्मक (ब) गुरिल्ला युद्ध
(स) आक्रमणात्मक (द) कूटनीतिक।

12. शिवाजी का शासन प्रबन्ध का आधार था—
(अ) अष्ट प्रधान (ब) सप्त प्रधान
(स) षष्ट प्रधान (द) इनमें से कोई नहीं।

13. घुड़सवार सेना के प्रधान को पुकारा जाता था—
(अ) दीवाने आरिज (ब) सर-ए-नौबत
(स) बरगीर (द) इनमें से कोई नहीं।

14. उत्तम लगान व्यवस्था के लिए शिवाजी ने अपने राज्यों को कितने प्रान्तों में बाँटा था ?
(अ) 10 में (ब) 12 में
(स) 16 में (द) 18 में।

15. शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु थे—
(अ) गुरु अमरदास (ब) गुरु हरिराय
(स) गुरु हरिदास (द) गुरु रामदास।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

16. शिवाजी ने अपने राज्याभिषेक के लिए बनारस के पण्डित नागभट्ट को क्यों बुलाया था ?
(अ) दक्षिण ब्राह्मण उन्हें क्षत्रिय नहीं मानते थे
(ब) वे शिवाजी को अयोग्य समझते थे
(स) वे शिवाजी का अपमान करना चाहते थे
(द) इनमें से कोई नहीं।

17. शिवाजी ने कितने वर्ष तक दृढ़ता से मुगलों का सामना किया था ?
(अ) 20 वर्ष तक (ब) 22 वर्ष तक
(स) 23 वर्ष तक (द) 24 वर्ष तक।

[उत्तर—1. (ब), 2. (द), 3. (स), 4. (अ), 5. (ब), 6. (अ), 7. (स), 8. (स), 9. (द), 10. (स), 11. (ब), 12. (अ), 13. (ब), 14. (स), 15. (द), 16. (अ), 17. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9

मुगल-साम्राज्य का विघटन

औरंगजेब की मृत्यु के समय से मुगल-साम्राज्य की शक्ति और वैभव का सूर्य अस्त हो गया। मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया यद्यपि औरंगजेब के समय में ही आरम्भ हो चुकी थी तब भी यह स्वीकार नहीं किया जाता कि उसके समय में उत्पन्न हुई समस्याएँ इतनी गम्भीर थीं कि उनका समाधान सम्भव न हो पाता। निश्चय ही उस समय भी मुगल-सत्ता भारत के सभी भागों में सर्वमान्य थी और यद्यपि स्थान-स्थान पर उसका विरोध आरम्भ हो चुका था परन्तु तब भी कोई विरोधी ऐसा न था जो अपने को पूर्ण स्वतन्त्र कहने की स्थिति में हो। अपने-अपने क्षेत्रों में मुगल-सत्ता को चुनौती देने वाले सभी विरोधी अधिक से अधिक उसकी अधीनता में स्वतन्त्र शासन और अपने-अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रहे थे। इस प्रकार वे सभी सुरक्षात्मक युद्ध कर रहे थे। मराठे, राजपूत, सिख आदि ऐसी ही विरोधी शक्तियाँ थीं। इनमें से कोई भी आक्रमणकारी नीति में संलग्न न था और इनमें से कोई भी मुगल-साम्राज्य को नष्ट करके उसके स्थान को ग्रहण करने की स्थिति में तो क्या उससे समता प्राप्त करने की स्थिति में भी न था। निस्सन्देह, यदि औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में से कोई भी योग्य होता तो वह साम्राज्य के विघटन की क्रिया को रोक सकता था। उस समय में भी साम्राज्य का भाग्य बादशाह की योग्यता अथवा अयोग्यता से बँधा हुआ था। यदि साम्राज्य को उस समय एक मृयोग्य शासन-प्रबन्धक और अच्छा सेनापति बादशाह के रूप में प्राप्त हो जाता तो मुगल-साम्राज्य का पतन न होता। परन्तु ऐसा न हुआ। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में कोई भी योग्य सिद्ध न हुआ। इसके विपरीत, एक के बाद एक अयोग्य, दुर्बल और विलासप्रिय मुगल बादशाहों ने मुगल-शक्ति और वैभव को नष्ट करने में सहायता दी। निस्सन्देह, उत्तरकालीन मुगल बादशाह मुगल-साम्राज्य के विघटन और पतन के लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थे। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न परिस्थितियाँ भी साम्राज्य के विघटन के लिए उत्तरदायी हुईं।

औरंगजेब ने अपनी मृत्यु के अवसर पर साम्राज्य को विभिन्न संकटों से ग्रस्त छोड़ा जिनका हल उसके उत्तराधिकारी न निकाल सके। 18वीं सदी के आरम्भ में साम्राज्य विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासकीय संकटों से ग्रस्त था जिनका समाधान सम्भव न हो सका। इस प्रकार, उन संकटमय परिस्थितियों ने भी साम्राज्य के विघटन को आरम्भ किया। डॉ. सतीशचन्द्र ने मुगल-साम्राज्य के विघटन और पतन का उत्तरदायित्व मनसबदारी एवं जागीरदारी व्यवस्थाओं की असफलता पर डाला है। उनके अनुसार मध्यकालीन भारत में राजनीतिक शक्ति मोटे तौर पर बादशाह के अतिरिक्त समाज के दो वर्गों में निहित थी। उनमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक वर्ग जमींदारों का था जो भूमि के पैतृक स्वामी थे और पैतृक आधार पर ही कुछ विशेष अधिकारों का उपयोग करते थे। उन्हें राय, राजा, ठाकुर, खुत, देशमुख आदि नामों से जाना जाता था। लगान वसूल करने, शासन करने और सैनिक दृष्टि से उनका स्थान साम्राज्य में सर्वदा महत्वपूर्ण बना रहा था। मुगल-शासकों ने उनकी शक्ति को तोड़कर किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु वे इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके थे। इसके विपरीत, औरंगजेब और उसके बाद के समय में उनके प्रभाव में वृद्धि हुई। उनके प्रभाव का मुख्य दोष यह था कि उससे क्षेत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उसका लाभ शासन में प्रभावशाली समाज के दूसरे वर्ग—अमीर-वर्ग—ने उठाया। अमीर-वर्ग ने साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हेतु उठाया जिसमें जमींदार-वर्ग की क्षेत्रीय भावनाओं ने सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार जमींदार-वर्ग ने साम्राज्य के विघटन में सहयोग दिया। समाज के दूसरे प्रभावशाली वर्ग—अमीर-वर्ग—ने इस विघटन की प्रक्रिया को सफल बनाया। अमीर-वर्ग में वे व्यक्ति सम्मिलित थे जिन्हें अपने राज्यों का शासन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था, जिन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें और मनसब दिये गये थे अथवा जिन्हें सूबेदार अथवा अन्य पद प्रदान करके भूमि सौंपी गयी थी और उससे सम्बन्धित प्रशासकीय उत्तरदायित्व दिये गये थे। विभिन्न राजपूत शासक, सूबेदार, बड़े और छोटे मनसबदार आदि इस अमीर-वर्ग की श्रेणी में आते थे। अकबर के समय में इस वर्ग को स्पष्ट और नियमित संगठन प्रदान किया गया था। मुगलों के शासन को 'कुलीनों का शासन' भी पुकारा गया है। इसी से स्पष्ट है कि साम्राज्य में इन कुलीनों अथवा अमीरों का कितना अधिक महत्व था। वह वर्ग, धर्म, देश, कबीलों आदि के आधार पर विभक्त था और इन आधारों पर उनके पृथक-पृथक गुट बने हुए थे। परन्तु इनमें से प्रत्येक गुट का मूल मन्तव्य राजनीतिक सत्ता को अधिकतम अपने हाथों में रखना था। दुर्बल उत्तरकालीन मुगल-सम्राटों के समय में इन गुटों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, द्वेष और शक्ति-संघर्ष ने न केवल बादशाहों के सम्मान को नष्ट किया अपितु साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को भी तीव्र किया। इस प्रकार जमींदारों की क्षेत्रीय भावनाओं और अमीरों की महत्वाकांक्षाओं और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने मुगल-साम्राज्य के विघटन में एक बड़ा भाग लिया।

औरंगजेब के समय में कुछ धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक तनावों के कारण जाटों, सिखों और मराठों ने मुगल-साम्राज्य से संघर्ष किया। उनमें से कोई भी उस समय अपने संघर्ष में पूर्णतया सफल न हुआ। परन्तु उन सभी का प्रभाव स्थायी रहा। अपने-अपने क्षेत्रों में जाटों और सिखों ने औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भी अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया। उनके संघर्ष ने भी मुगल-साम्राज्य को दुर्बल किया और अप्रत्यक्ष रूप से मुगल-साम्राज्य के विघटन में भाग लिया। औरंगजेब ने राजपूत-राज्यों को भी असन्तुष्ट कर दिया था जिससे उसी के समय में महत्वपूर्ण राजपूत-राज्यों से मुगलों का संघर्ष आरम्भ हो गया था। औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने भी राजपूत-शासकों को दबाने की नीति अपनायी यद्यपि वह उसमें सफल न हुआ। बाद में मुगल-सम्राटों को राजपूतों से समझौते की नीति अपनानी पड़ी। परन्तु एक लम्बे समय तक मुगल-राजपूत-संघर्ष ने दोनों की शक्ति को दुर्बल किया। इसके अतिरिक्त इन दोनों की सम्मिलित शक्ति का प्रयोग साम्राज्य के हित में न किया जा सका। इसके विपरीत, राजपूत-शासकों ने मुगल बादशाहों की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपने प्रभाव और अधिकार-क्षेत्र को विस्तृत किया। औरंगजेब के समय में ही मराठों-मुगलों का संघर्ष आरम्भ हुआ था। आरम्भ में मराठों का उद्देश्य महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र था। उसके पश्चात् उनका उद्देश्य मुगल बादशाह से सम्पूर्ण दक्षिण-भारत से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकार को प्राप्त करना हो गया। परन्तु, अन्त में, मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर उन्होंने उत्तर-भारत में भी प्रवेश किया और 1740 ई. तक गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड में अपने प्रभाव को स्थापित करने में सफलता पायी। राजपूतों के संघर्ष और मराठों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं ने भी, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के विघटन को तीव्र किया।

इसके अतिरिक्त, औरंगजेब के समय में ही मुगल-साम्राज्य विभिन्न आर्थिक और प्रशासकीय संकटों से ग्रस्त हो गया था। उस समय में ही अमीरों एवं उनके मनसबों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी थी और उनको देने के लिए भूमि अथवा जागीरों में कमी हो गयी थी। इस समस्या को 'बेजागीरी' की समस्या पुकारा गया। औरंगजेब ने इस समस्या का हल निकालने के लिए कागजी तौर पर जागीरों की आय को बढ़ा कर दिखाया। इससे लाभ के स्थान पर हानि हुई। इससे किसानों के आर्थिक भार में वृद्धि हुई क्योंकि अमीरों ने उनसे अधिक लगान की माँग की। परन्तु तब भी अमीर वह आय न पा सके जो कागजों में दिखायी गयी थी। इससे अमीरों के असन्तोष में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त युद्धों के बढ़ते हुए व्यय, बादशाहों और अमीरों की बढ़ती हुई विलासिता आदि ने भी साम्राज्य के आर्थिक और प्रशासकीय ढाँचे को दुर्बल किया। किसानों पर अत्यधिक आर्थिक भार की वृद्धि के बावजूद भी साम्राज्य की आय उसके व्यय के बराबर न हो सकी। इससे किसान, मजदूर, व्यापारी और अमीर सभी आर्थिक संकट से ग्रस्त हुए। उसका कुप्रभाव साम्राज्य के शासन पर पड़ा। दरबार में गुटबन्दियाँ बढ़ीं, अमीरों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अभिलाषाएँ कीं, केन्द्रीय शासन शिथिल हो गया और उसकी सैनिक-शक्ति भी दुर्बल हो गयी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ये आर्थिक और प्रशासकीय संकट बढ़ते गये और उन सभी ने मुगल-साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह के समय में एक अन्य समस्या मुगल-दरबार में उत्पन्न हो गयी। उसके समय में अमीरों की गुटबन्दी तीव्र हो गयी और उस गुटबन्दी का प्रमुख कारण वजीर के पद को प्राप्त करना था। बाद के मुगल बादशाहों के समय में यह समस्या अत्यन्त गम्भीर हो गयी। दुर्बल बादशाहों की उपस्थिति में एक योग्य वजीर अथवा उसके पद को ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही शक्ति को केन्द्रित करने का आधार बन सकता था। इस कारण, वजीर के पद को प्राप्त करना प्रत्येक गुट की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा बन गया। परन्तु इससे दो प्रकार से साम्राज्य की हानि हुई। एक दरबार में गुटबन्दी तीव्र हुई और दरबार से बाहर की शक्तियों ने भी उसमें हस्तक्षेप किया। दूसरे, मुगल बादशाह और वजीर में भी सत्ता के लिए संघर्ष हुआ। इससे बादशाह के सम्मान और शक्ति को हानि पहुँची। उसने भी साम्राज्य के विघटन में सहायता दी।

बादशाह बहादुरशाह (1707-1712 ई.)

औरंगजेब ने अपनी मृत्यु से पहले अपने जीवित पुत्रों में साम्राज्य को विभाजित करने की वसीयत की थी। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के युद्ध को टाला नहीं जा सका और उसके तीन जीवित पुत्रों—शाहजादा मुअज्जम (जिसे शाहआलम की उपाधि दी गयी थी), शाहजादा आजम और शाहजादा कामबख्श में सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। उस समय शाहआलम जमरूद में, आजम अहमदनगर के निकट और कामबख्श बीजापुर में था। शाहआलम ने शीघ्रता से बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और अपने को बहादुरशाह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया। उसके पुत्र अजीम-उस-शान ने अपने पिता की आज्ञा से आगरा पर अधिकार कर लिया। जून 1707 ई. में बहादुरशाह भी आगरा पहुँच गया। इस प्रकार आरम्भ में ही बहादुरशाह के अधिकार में मुगलों की राजधानी, खजाना और उत्तर-भारत के महत्वपूर्ण प्रदेश आ गये। आजम ने दक्षिण-भारत में अपने को मुगल बादशाह घोषित किया और आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। उस समय उसका पुत्र बीदरबख्त अहमदाबाद में था जो शीघ्र आगरा पहुँच सकता था। परन्तु शंकावश आजम ने उसे आगरा की ओर बढ़ने के आदेश न दिये जिससे आगरा बहादुरशाह के आधिपत्य में चला गया। आजम अपनी सेना सहित आगरा के निकट जाजऊ पहुँचा। वहाँ बहादुरशाह उसके मुकाबले के लिए तत्पर था। बहादुरशाह ने अपने पिता की इच्छानुसार साम्राज्य को बाँटने का प्रस्ताव रखा परन्तु आजम ने उसे ठुकरा दिया जिससे युद्ध का दोष उसके सिर हो गया। 18 जून, 1707 ई. को दोनों शाहजादों में युद्ध हुआ जिसमें आजमशाह की पराजय हुई और वह युद्ध में मारा गया। सबसे छोटे शाहजादे कामबख्श ने अपने को बीजापुर में मुगल बादशाह घोषित किया था। उत्तर-भारत की कुछ समस्याओं से निबटकर बहादुरशाह 1708 ई. में दक्षिण-भारत पहुँचा। उसने कामबख्श से भी समझौते का प्रस्ताव रखा परन्तु कामबख्श तत्पर न हुआ। 13 जनवरी, 1709 ई. को दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। कामबख्श की पराजय हुई, वह गम्भीर रूप से घायल हुआ और उसी रात्रि को उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार, अपने दोनों भाइयों को समाप्त करके बहादुरशाह मुगल-साम्राज्य का एकछत्र बादशाह बन गया।

बादशाह बनने के अवसर पर बहादुरशाह की आयु 63 वर्ष थी। उससे किसी नवीन नीति की आशा नहीं की जा सकती थी और न उसने कुछ ऐसा किया ही। उसके शासनकाल में आरम्भ में मारवाड़ में दुर्गादास और अजीतसिंह ने विद्रोह किया परन्तु 1708 ई. में उन्होंने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया। बहादुरशाह धार्मिक दृष्टि से औरंगजेब की तुलना में बहुत उदार था और यह विचार प्रकट किया गया है कि यदि वह अधिक समय जीवित रहता तो, सम्भवतया, औरंगजेब के समय की अनुदार नीति धीरे-धीरे समाप्त कर दी जाती। परन्तु डॉ. सतीशचन्द्र ने इसके विपरीत विचार प्रकट किया है। उनके अनुसार बहादुरशाह ने ऐसा कुछ भी नहीं किया जिससे यह माना जा सके कि वह शासन में उदारता की नीति अपनाता। वस्तुतः यही मत उसकी नीतियों का अवलोकन करते हुए अधिक तर्कसंगत लगता है। बहादुरशाह ने औरंगजेब की नीतियों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया अपितु उनका आधार पहले की भाँति ही रहा।

बहादुरशाह की राजपूतों के प्रति नीति अस्थिर रही। औरंगजेब की भाँति उसने भी उनको अपने अधिकार में रखने की चेष्टा की और उस उद्देश्य में असफल होकर उनसे समझौता किया। तत्कालीन उदयपुर-नरेश अमरसिंह, मारवाड़-नरेश अजीतसिंह और अम्बर (जयपुर)-नरेश जयसिंह (जिसे शाहजादा आजम ने सवाई मिर्जा राजा की उपाधि दी थी) से उसके सम्बन्ध अस्थिर रहे। आरम्भ में अजीतसिंह और जयसिंह ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। बहादुरशाह ने जोधपुर और अम्बर को अपने प्रत्यक्ष शासन में ले लिया। परन्तु जब वह कामबख्श से युद्ध करने दक्षिण-भारत गया तब उनसे समझौता कर गया। परन्तु जब वह दक्षिण में था तभी अजीतसिंह और जयसिंह ने राजा अमरसिंह से मिलकर मुगलों से पुनः युद्ध छेड़ दिया। बहादुरशाह ने दक्षिण-भारत से लौटने पर राजपूतों से पुनः युद्ध आरम्भ किया परन्तु अधिक सफलता न मिली। उसी अवसर पर बन्दा बैरागी के नेतृत्व में पंजाब और सरहिन्द में सिखों ने विद्रोह कर दिया। बहादुरशाह ने उस समय राजपूतों से समझौता कर लिया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजीतसिंह तथा जयसिंह को क्रमशः उनकी राजधानियाँ जोधपुर और अम्बर वापस कर दीं। इस प्रकार बहादुरशाह न तो राजपूतों को अपनी अधीनता में ले सका और न उनको अपना विश्वासपात्र मित्र बना सका। औरंगजेब की भाँति उसने भी बाध्य होकर उनको अपनी अधीनता में प्रायः स्वतन्त्र स्वीकार कर लिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने उत्तराधिकार के युद्ध में बहादुरशाह का साथ दिया था। इस कारण बहादुरशाह को सिख-विद्रोह की कोई आशंका न थी। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के प्रायः डेढ़ वर्ष पश्चात् ही सम्पूर्ण पूर्वी पंजाब में सिखों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का नेता था बन्दा बैरागी। बन्दा एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। उसके बारे में कहा गया है कि उसमें गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा का निवास था। उसने अपने को 'सच्चा पादशाह' घोषित किया, अपनी टकसाल चलाई और एक स्वतन्त्र सिख-राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। बहादुरशाह ने सिखों के विद्रोह को दबाना राजपूतों को दबाने की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण समझा। उसने उस विद्रोह को दबाने के आदेश अपने अधिकारियों को दिये और राजपूतों से समझौता करने के पश्चात् स्वयं भी पंजाब गया, परन्तु बहादुरशाह सिख-विद्रोह को समाप्त करने में असफल रहा। उसकी मृत्युपर्यन्त बन्दा बैरागी को पकड़ा न जा सका और सिख गुरिल्ला युद्ध-पद्धति से मुगलों से सफलतापूर्वक युद्ध करते रहे।

मराठों के प्रति भी बहादुरशाह की नीति अस्थिर रही। उत्तराधिकार के युद्ध के आरम्भ होने से पहले ही जुल्फिकारखाँ के परामर्शानुसार आजमशाह ने शम्भाजी के पुत्र शाहू को मुगल-छावनी छोड़कर चले जाने का अवसर दे दिया था। उसका आशय था कि शाहू के महाराष्ट्र में पहुँच जाने से मराठों में फूट पड़ जायेगी क्योंकि राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को मराठा-छत्रपति घोषित कर दिया था। ऐसा ही हुआ भी। शाहू ने महाराष्ट्र पहुँचकर मराठा-छत्रपति होने का दावा किया, जिसका ताराबाई ने विरोध किया। ताराबाई का कहना था कि शम्भाजी ने मराठा-राज्य को खो दिया था और उसके पति राजाराम ने उस राज्य की रक्षा की थी। इस कारण शम्भाजी के पुत्र शाहू की तुलना में उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय का मराठा गद्दी पर अधिक अधिकार था। परन्तु खेड़ के युद्ध में ताराबाई की पराजय हुई और 1708 ई. में शाहू ने अपने को मराठा-छत्रपति घोषित कर दिया। इससे ताराबाई की शक्ति दुर्बल हो गयी। तब भी वह शाहू का विरोध करती रही। शाहू और ताराबाई ने अपने पुत्र की ओर से बहादुरशाह से दक्षिण के सूबों की 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' की अलग-अलग माँग की। बहादुरशाह का झुकाव शाहू की ओर था। तब भी उसने अपनी नीति को स्पष्ट नहीं किया। उसने दोनों पक्षों को 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार दे दिया परन्तु 'चौथ' वसूल करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया। इससे मराठों की समस्या का हल न निकल सका। मराठे मुगल-सीमाओं पर आक्रमण करते रहे। इससे एक गलत परम्परा आरम्भ हुई। शाहू ने मुगल-आधिपत्य को आरम्भ में ही स्वीकार कर लिया था। परन्तु जब बहादुरशाह ने स्पष्ट में उसके 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया तब उसके सरदारों ने मुगलों के अधीनस्थ शासकों की सीमाओं पर आक्रमण करने की गलत परिपाटी को आरम्भ किया। इस प्रकार, बहादुरशाह ने मराठों की समस्या का हल निकालने की बजाय उसे और अधिक गम्भीर बना दिया।

बहादुरशाह ने एक और गम्भीर भूल की। कामबख्श की पराजय के पश्चात् उसने दक्षिण-भारत की सूबेदारी जुल्फिकारखाँ को प्रदान की जो मीरबख्शी के पद पर पहले से ही आसीन था। एक अमीर को एक साथ इतने बड़े दो पदों को देने की भूल उसके किसी पूर्ववर्ती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल बादशाह ने नहीं की थी। इससे दक्षिण-भारत के मुगल-सूबेदार की शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप दक्षिण-भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की इच्छा प्रबल हुई।

फरवरी 1712 ई. में बहादुरशाह की मृत्यु हो गयी। उसे 'शाहे-बेखबर' पुकारा गया है। बहादुरशाह एक उदार शासक माना गया है। उसने सभी अमीरों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी और अपने भाइयों का पक्ष लेने वाले अमीरों को भी राज्य में उच्च पद प्रदान किये। धार्मिक दृष्टि से भी वह उदार रहा और व्यवहार में उसने औरंगजेब की धार्मिक नीति का अनुकरण नहीं किया। उसने साम्राज्य के योग्य अमीरों की सेवाएँ प्राप्त करने में भी सफलता पायी। बहादुरशाह ने अपने भाइयों को परास्त करके साम्राज्य की एकता को बनाये रखा और मुगल बादशाह की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा। मुगल-साम्राज्य का विघटन उसके शासनकाल के पश्चात् आरम्भ हुआ। उसके शासनकाल में दूरस्थ सूबों में भी मुगल-सत्ता यथावत् स्वीकार की जाती रही। परन्तु बहादुरशाह योग्य शासक न था। उसे 'शाहे-बेखबर' के उप-नाम से पुकारा गया। उसने साम्राज्य की किसी भी महत्वपूर्ण समस्या का हल नहीं निकाला। राजपूतों और मराठों के प्रति उसकी नीति अनिश्चित रही। उनमें से कोई भी स्वतन्त्र सत्ता का दावा तो न कर सका परन्तु उनमें से किसी को भी न तो मुगल सेवा के लिए उपयोगी बनाया जा सका और न किसी को बादशाह की पूर्ण अधीनता में लिया जा सका। बहादुरशाह सिखों के विद्रोह को दबाने में असफल रहा और उनके साथ कोई समझौता भी न कर सका। उसके समय में राज्य में आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। उसने अपने अमीरों में अत्यधिक धन वितरित किया जबकि राज्य की आय में वह कोई वृद्धि न कर सका। इस कारण, शाही-खजाना रिक्त हो गया और राज्य की आय राज्य के व्यय को सँभालने में असमर्थ हो गयी। वह बड़े अमीरों की महत्वाकांक्षाओं पर भी अंकुश न लगा सका और उसी के समय में वजीर के पद के सम्मान में वृद्धि हुई जिसके कारण वजीर के पद को प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा उसके अन्तिम समय में उसके अमीरों में आरम्भ हो गयी। इसके परिणामस्वरूप दरबार में अमीरों के गुट बनने आरम्भ हो गये। उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में अमीरों की यह प्रतिस्पर्धा और गुटबन्दी इतनी तीव्र हो गयी कि उन्होंने सिंहासन के उत्तराधिकार के प्रश्न में हस्तक्षेप किया जिससे मुगल बादशाह की शक्ति और गौरव नष्ट हो गया। इस प्रकार यद्यपि बहादुरशाह के समय में मुगल-साम्राज्य का विघटन नहीं हुआ परन्तु उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण अवश्य हो गया।

जहाँदारशाह (1712-1713 ई.)

बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसके चार पुत्रों जहाँदारशाह, अजीम-उस-शान, रफी-उस-शान और जमानशाह में सिंहासन के लिए युद्ध हुए। असदखाँ के पुत्र जुल्फिकारखाँ की सहायता से जहाँदारशाह को इन युद्धों में विजय प्राप्त हुई और अपने सभी भाइयों को समाप्त करके वह 51 वर्ष की आयु में मुगल बादशाह बना। उसने असदखाँ को वकील-ए-मुतलक और जुल्फिकारखाँ को वजीर के पद पर नियुक्त किया। ये दोनों बाप-बेटे दरबार में ईरानी-दल के अमीरों के नेता थे।

जहाँदारशाह मूर्ख और विलासप्रिय शासक सिद्ध हुआ। वह 15 वर्ष की आयु से लालकुँवर नामक एक वेश्या पर बुरी तरह आसक्त था। उसने लालकुँवर को महल में रखा, उसके रिश्तेदारों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये और राजदरबार को नाचने-गाने का स्थान बना दिया। उसके समय में राजकोष रिक्त हो गया, सेना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और राज्य का आर्थिक संकट बढ़ गया। परन्तु उसके समय में सबसे गम्भीर दुष्परिणाम वजीर की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तियों में वृद्धि और फलस्वरूप दरबार के अमीरों की गुटबन्दी और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का विकास होना था।

जहाँदारशाह के वजीर जुल्फिकारखाँ ने उदार नीतियों को आरम्भ किया। उसने हिन्दुओं को सन्तुष्ट करने के लिए जजिया को समाप्त कर दिया। उसने राजपूत-शासकों के विश्वास को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अम्बर के शासक जयसिंह और जोधपुर के शासक अजीतसिंह को मनसब और उपाधियाँ दीं तथा क्रमशः उन्हें मालवा और गुजरात की सूबेदारी भी दी। अजीतसिंह को सोरठ, पालिताना और ईडर की फौजदारी भी दी गयी यद्यपि उससे इन्द्रसिंह को नागौर और राजसिंह को रूपनगर दिला दिया गया। उसने ताराबाई के पुत्र शिवाजी द्वितीय को भी मनसब दिया और प्रयत्न किया कि वह और शाहू अपने-अपने अधिकारों का निर्णय मुगल बादशाह से करायें। उत्तराधिकार के युद्ध में चूरामण जाट ने अजीम-उस-शान का साथ दिया था परन्तु युद्ध के पश्चात् उसे क्षमा कर दिया गया और शाही मनसब देकर मुगल-सेना में ले लिया गया। छत्रसाल बुन्देला को भी पहले की भाँति सन्तुष्ट रखा गया और वह मुगल बादशाह के प्रति वफादार रहा। बन्दा बैरागी के विद्रोह को, निस्सन्देह, दबाने का प्रयत्न किया गया परन्तु गुरु गोविन्दसिंह के दत्तक पुत्र अजीतसिंह को मान्यता प्रदान करके सिखों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार जुल्फिकारखाँ की नीति भारतीयों के सभी असन्तुष्ट वर्गों को सन्तुष्ट करके सभी को साम्राज्य के प्रति वफादार बनाने की थी।

परन्तु जुल्फिकारखाँ ने जो प्रयत्न वजीर की शक्ति में वृद्धि करने के लिए किये उनके कारण उसका विरोध भी हुआ। स्वयं जहाँदारशाह उससे ईर्ष्या करने लगा और उसने अन्य अमीरों को पद और अधिकार दिये जिससे वजीर के हाथों में शक्ति का केन्द्रीयकरण सम्भव न हो सके। उसने अपने धायभाई कोकलताश के अधिकारों में वृद्धि की जिसने दरबार में ऐसे व्यक्तियों के दल का संगठन किया जिनका उद्देश्य 'बादशाह की शक्ति बादशाह के हाथों में रहे' था। इसके अतिरिक्त, दरबार के अमीरों का तूरानी-गुट भी जुल्फिकारखाँ से ईर्ष्या करने लगा। तूरानी-गुट का नेतृत्व गाजीउद्दीनखाँ, उसका पुत्र चिनकुलीचखाँ तथा उसका भतीजा मुहम्मद अमीन कर रहे थे। फर्रुखसियर के विरुद्ध जहाँदारशाह की पराजय का कारण जुल्फिकारखाँ के प्रति कोकलताश का असहयोग तथा चिनकुलीचखाँ और मुहम्मद अमीन का युद्ध में तटस्थ रहना था।

जहाँदारशाह प्रायः दस माह ही बादशाह रह सका। उसके मृत भाई अजीम-उस-शान के पुत्र और बंगाल के सह-सूबेदार फर्रुखसियर ने सिंहासन पर अपना दावा किया। फर्रुखसियर स्वयं योग्य न था परन्तु अपनी माता की चालाकी और कूटनीति के कारण उसे पटना के सह-सूबेदार सैयद हुसैनअली और उसके बड़े भाई तथा इलाहाबाद के सह-सूबेदार सैयद हुसैनअली (जो बाद में सैयद अब्दुल्लाखाँ कहलाया) की सहायता प्राप्त हो गयी। फर्रुखसियर की सहायता करने में सैयद-भाइयों का अपना स्वार्थ भी था। फर्रुखसियर की सफलता उनको राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने में सहायक हो सकती थी, जैसा कि बाद में हुआ भी। फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों की सैनिक सहायता प्राप्त करके आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। जहाँदारशाह ने अपने पुत्र अजउद्दीन को उसके मुकाबले के लिए भेजा परन्तु वह खजुहा के निकट बिना युद्ध किये ही भाग खड़ा हुआ। आगरा के निकट जहाँदारशाह ने स्वयं फर्रुखसियर का मुकाबला किया परन्तु वह पराजित हुआ और भाग निकला। वह दिल्ली पहुँचा और उसने वकील-ए-मुतलक असदखाँ के घर में शरण ली। परन्तु असदखाँ ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फर्रुखसियर से झगड़ा करना उचित नहीं समझा। फर्रुखसियर के आदेश से जहाँदारशाह को उसकी प्रेयसी लालकुँवर के हाथों से छीनकर मार दिया गया। फर्रुखसियर के शासन के आरम्भ होने से जुल्फिकारखाँ का वजीर का पद भी समाप्त हो गया।

फर्रुखसियर (1713-1719 ई.)

फर्रुखसियर सैयद-भाइयों (सैयद अब्दुल्लाखाँ और सैयद हुसैनअली) की सहायता से 11 जनवरी, 1713 ई. को बादशाह बना। वह स्वयं बादशाह के योग्य न था। इस कारण, सैयद-भाइयों ने राजसत्ता को अपने अधिकार में कर लिया। फर्रुखसियर ने सैयद अब्दुल्लाखाँ को वजीर का पद दिया और सैयद हुसैनअली को मीर-बख्शी का। सिंहासन पर बैठने के पश्चात् फर्रुखसियर ने जुल्फिकार की हत्या करवा दी। बाद में हुसैनअली को दक्षिण-भारत का सूबेदार भी नियुक्त किया गया। एक ही व्यक्ति अथवा एक ही परिवार के व्यक्तियों को यह तीन बड़े पद इससे पहले प्रदान नहीं किये थे। यद्यपि ऐसा नहीं था कि सैयद-भाइयों ने राज्य के सभी उच्च पदों पर अपना एकाधिकार बनाये रखने का प्रयत्न किया हो अपितु, इसके विपरीत, उन्होंने अन्य बड़े अमीरों को भी बड़े-बड़े पद देकर सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया। परन्तु तब भी वह साम्राज्य में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति बने रहने और उनके समय से मुगल बादशाहों का अपने प्रभावशाली अमीरों के हाथ में कठपुतली बन जाने का समय आरम्भ हुआ। स्वयं फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों के हाथों में कठपुतली बनने से इंकार किया, उनकी नीतियों का विरोध किया, उनके विरोधी अमीरों को उच्च पद प्रदान किये और विभिन्न षड्यन्त्र करके उनको नष्ट करने का प्रयत्न किया; परन्तु अपनी अयोग्यता के कारण वह अपने प्रयत्नों में असफल हुआ जिसके कारण सैयद-भाइयों ने उसे सिंहासन से हटाकर अपनी इच्छानुसार बादशाहत में परिवर्तन किये। इससे बादशाह के सम्मान में कमी हुई, वजीर का पद प्रभावशाली बना, दरबार में अमीरों की गुटबन्दियाँ प्रबल हुईं और स्थानीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्तियों को बल मिला। इन सभी के लिए सैयद-भाइयों की अपेक्षा फर्रुखसियर अधिक उत्तरदायी था जो न स्वयं शासन कर सका और न जिसने सैयद-भाइयों को स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने दिया। इसी कारण उसका पतन भी हुआ। फर्रुखसियर के कुचक्रों से असन्तुष्ट होकर वजीर अब्दुल्लाखाँ ने अपने भाई और दक्षिण के सूबेदार हुसैनअली को दक्षिण से दिल्ली बुलाया। हुसैनअली ने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए मराठा छत्रपति शाहू से एक सन्धि की और पेशवा बालाजी विश्वनाथ के साथ मराठा सैनिकों को लेकर दिल्ली पहुँचा। फर्रुखसियर ने तब भी समझौता नहीं किया और अपना जीवन बचाने के लिए हरम में शरण ली। वहीं से उसे नंगे पैर और नंगे सिर घसीटकर निकाला गया। पहले उसे अन्धा करके कैद कर लिया गया और बाद में उसका वध कर दिया गया।

फर्रुखसियर के समय की एक प्रमुख घटना सिख-विद्रोह की समाप्ति थी। 1716 ई. तक बन्दा बैरागी सफलतापूर्वक मुगलों का विरोध करता रहा। उसने लाहौर के सूबेदार इस्लामखाँ को भी एक युद्ध में पराजित किया। फर्रुखसियर ने इस्लामखाँ के स्थान पर जकरियाखाँ को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया। उसने स्थान-स्थान पर बन्दा बैरागी का पीछा किया और अन्त में गुरुदासपुर नामक स्थान पर उसे घेर लिया। बन्दा बैरागी ने आत्मसमर्पण कर दिया और 1716 ई. में उसे यातनाएँ देकर मार दिया गया। उसकी मृत्यु से सिखों का विद्रोह समाप्त हो गया।

फर्रुखसियर के समय की एक अन्य प्रभावपूर्ण राजनीतिक घटना मुगल बादशाह और सैयद हुसैनअली की 1719 ई. में छत्रपति शाहू से हुई सन्धि थी। इसके कारण मराठे प्रथम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार दिल्ली आये और दिल्ली की राजनीति की दुर्बलता को समझ सके। इसने भविष्य के इतिहास को प्रभावित किया। फर्रुखसियर द्वारा अपने खिलाफ किये जा रहे षड्यन्त्र का पूर्वाभास होने पर सैयद बंधुओं ने मराठा नेता साहू के सहयोग से 28 अप्रैल, 1719 ई. को सम्राट फर्रुखसियर की गला दबा कर हत्या कर दी। इसे मुगल वंश का 'घृणित कायर' कहा गया।

रफी-उद्-दरजात (1719 ई.)

रफी-उद्-दरजात को सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर को हटाने के बाद मुगल-सिंहासन सौंपा। वह बहादुरशाह के पुत्र रफी-उस-शान का पुत्र था। वह केवल तीन माह बादशाह रहा। बीमार होने के कारण उसे सिंहासन से हटा दिया गया। शीघ्र ही उसकी मृत्यु भी हो गयी।

रफीउद्दौला अथवा शाहजहाँ द्वितीय (1719 ई.)

रफीउद्दौला रफी-उद्-दरजात का बड़ा भाई था। उसने सैयद-भाइयों की कृपा से लगभग साढ़े तीन माह शासन किया। उसकी मृत्यु भी बीमारी से ही हुई।

मुहम्मद (रंगीला) (1719-1748 ई.)

मुहम्मदशाह बहादुरशाह के पुत्र जमानशाह का पुत्र था। उसका मूल नाम रौशन अख्तर था तथा 'मुहम्मदशाह' के नाम से 28 सितम्बर, 1719 ई. को वह सैयद भाइयों द्वारा दिल्ली की गद्दी पर बैठाया गया। उसकी अत्यधिक विलासिता की प्रवृत्ति के कारण उसे 'रंगीला' का उपनाम दिया गया। वह भी सैयद-भाइयों की कृपा से शासक बना। उसका समय गम्भीर परिवर्तनों का था। उसके समय में सैयद-भाइयों का पतन हुआ। हैदराबाद, अवध और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के सूबे प्रायः स्वतन्त्र हो गये, राजस्थान के शासकों में आन्तरिक कलह हुई परन्तु मुगल-सत्ता वहाँ से प्रायः नष्ट हो गयी। गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के कुछ भाग पर मराठों की सत्ता स्थापित हो गयी, नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ और मुगल-साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हुआ।

सैयद-भाइयों का पतन

मुहम्मदशाह के सिंहासन पर बैठने के प्रायः एक वर्ष पश्चात् सैयद-भाइयों का पतन हो गया। सैयद-भाइयों ने साम्राज्य के सभी प्रभावशाली वर्गों एवं दरबार के अमीरों से समझौते और सहयोग का प्रयत्न किया था तब भी अनेक व्यक्ति उनके शत्रु बन गये थे। उनकी शत्रुता का मुख्य कारण सैयद-भाइयों की शक्ति से ईर्ष्या और सत्ता को स्वयं प्राप्त करने का प्रयत्न था। स्वयं बादशाह मुहम्मदशाह भी ईर्ष्यावश उनकी शक्ति को नष्ट करना चाहता था। इसके अतिरिक्त बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाये जाने के कारण वे बदनाम भी हुए थे। अनेक व्यक्ति उनको राजभक्त के स्थान पर राजद्रोही मानने लगे थे जिसका लाभ उनके शत्रुओं ने उठाया।

सैयद-भाइयों ने तूरानी-दल के नेता चिनकुलीचखाँ को उच्च पद प्रदान किया था और मालवा की सूबेदारी भी उसे प्रदान की थी। परन्तु तब भी वह सैयद-भाइयों से असन्तुष्ट था। 1720 ई. में उसने खानदेश पर आक्रमण किया जो सैयद हुसैनअली की सूबेदारी में था। दिल्ली से जो सेनाएँ उसके विरुद्ध भेजी गयीं उनको उसने परास्त कर दिया। तब हुसैनअली स्वयं बादशाह मुहम्मदशाह को लेकर दक्षिण-भारत की ओर चला। मार्ग में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया गया। मुहम्मद अमीनखाँ और हैदरकुलीखाँ इस षड्यन्त्र का नेतृत्व कर रहे थे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बादशाह मुहम्मदशाह भी इसमें सम्मिलित था। एक दिन हुसैनअली की छुरे से हत्या कर दी गयी। जैसे ही यह सूचना सैयद अब्दुल्ला को प्राप्त हुई, उसने शाही-परिवार के एक शाहजादे इब्राहीम को दिल्ली में बादशाह घोषित कर दिया। मुहम्मदशाह शाही सेना के साथ उत्तर-भारत की ओर बढ़ा। आगरा के निकट बिल्लोचपुरा नामक स्थान पर सैयद अब्दुल्ला ने मुहम्मदशाह का मुकाबला किया। वह परास्त हुआ। इब्राहीम और अब्दुल्लाखाँ को कैद कर लिया गया। यह घटना 1720 ई. में हुई। दो वर्ष पश्चात् अब्दुल्लाखाँ को जहर देकर मार दिया गया। इस प्रकार सैयद-भाइयों का 1720 ई. में पतन हुआ।

1713 से 1720 ई. तक का समय सैयद-भाइयों की सत्ता का था। कुछ विद्वानों ने उन पर बादशाह के सम्मान और सत्ता को कम करने का आरोप लगाया है। परन्तु यह आरोप सर्वथा तर्कसंगत नहीं है। सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर को बादशाह बनाने में सहायता दी थी और पुरस्कारस्वरूप वजीर और मीर-बख्शी के पद प्राप्त किये थे जो साम्राज्य के श्रेष्ठ पद थे। परन्तु इसके अतिरिक्त फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों को कुछ भी सहयोग नहीं दिया था अपितु, इसके विपरीत, उनके प्रभाव को कम करने के लिए अन्य सभी पद उनके विरोधी अमीरों को प्रदान किये थे और अधिकांशतया सैयद-भाइयों के विरोध में ही कार्य करता रहा था। सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर के षड्यन्त्रों के कारण ही अपने जीवन को अरक्षित समझकर उसे सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया और सफल हुए। इस कारण, फर्रुखसियर के पतन का मुख्य कारण स्वयं उसकी अयोग्यता, विलासिता और कुचक्री प्रवृत्ति थी। फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने के पश्चात् प्रायः डेढ़ वर्ष सैयद-भाइयों ने निर्विवाद राजसत्ता का उपभोग किया और बादशाहत में परिवर्तन किये। परन्तु इसका मूल कारण भी बादशाहों की स्वयं की अयोग्यता थी। मुहम्मदशाह भी जिसने सैयद-भाइयों की कृपा से बादशाहत प्राप्त की और बाद में उनको समाप्त करने में सफलता पायी, अयोग्य था। मुहम्मदशाह का प्रभाव सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् भी शासन में नगण्य रहा। उसके समय में भी राजसत्ता का उपभोग स्वयं बादशाह ने नहीं किया बल्कि कुछ अन्य प्रभावशाली अमीरों द्वारा किया गया। इस कारण, बादशाह की शक्ति और सम्मान में कमी होने का दोष मूलतया बहादुरशाह के दुर्बल उत्तराधिकारियों पर जाता है। सैयद-भाइयों पर यह दोष केवल कुछ अंशों में ही जाता है।

सैयद-भाई न तो योग्य कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुए और न ही व्यवहार-कुशल प्रशासक। अपितु यह सर्वमान्य है कि अब्दुल्लाखाँ ऐशपसन्द व आलसी था और हुसैनअली दम्भी व उद्दण्ड था। तब भी सैयद-भाइयों ने उचित नीतियों का पालन किया था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसकी अनुदार और उसके विपक्ष की उदार नीतियों में जो संघर्ष हो रहा था उसमें सैयद-भाई उदार नीतियों के पक्षधर थे। उन्होंने जजिया और तीर्थयात्रा-करों को समाप्त कराया, राजपूत-राजाओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया और शाहू को दक्षिण-भारत से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार देकर मराठों की शक्ति को साम्राज्य के हित में लगाने का प्रयत्न किया। सैयद-भाई भारतीय मुसलमान थे। इस कारण ईरानी और तूरानी दोनों गुटों के अमीर उनसे ईर्ष्या करते थे। परन्तु सैयद-भाइयों ने दोनों गुटों के अमीरों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। फर्रुखसियर ने सिंहासन प्राप्त करके उनकी सलाह के विरुद्ध ईरानी युद्ध के नेता असदखाँ को कैद किया और जुल्फिकारखाँ को मृत्यु-दण्ड दिया था। सैयद-भाइयों ने तूरानी गुट के नेता चिनकुलीचखाँ को सन्तुष्ट करने के लिए उसे बड़ा मनसब और मालवा का सूबेदार नियुक्त किया था। इस प्रकार, सैयद-भाई राज्य के सभी प्रभावशाली वर्गों और गुटों को सन्तुष्ट करके साम्राज्य के आधार को विस्तृत करके उसे शक्तिशाली बनाने के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्नशील थे। इस कारण उनकी उदार-नीति समय और परिस्थितियों के अनुकूल थी। परन्तु उनके विरोधी ईर्ष्यावश उस नीति की उपयोगिता को न समझ सके। स्वयं मुगल बादशाहों ने भी उनके साथ सहयोग नहीं किया। यह भी सैयद-भाइयों के पतन का कारण बना।

हैदराबाद का स्वतन्त्र राज्य

औरंगजेब के समय में ही दरबार में मुसलमान अमीरों के दो दल बन गये थे—एक विदेशी मुसलमानों का और दूसरा भारतीय मुसलमानों का। पठान और अफगान भारत में पिछली कई सदियों से रह रहे थे, हिन्दुओं से अधिक घुल-मिल गये थे और उनमें भारतीयता का अंश अधिक था। सैयद-भाई इसी वर्ग के थे। परन्तु इस वर्ग का विरोध मुगल, ईरानी, तूरानी आदि विदेशी मुसलमान करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ये दोनों दल अधिक स्पष्ट रूप से एक दूसरे के विरोध में हो गये। इसके अतिरिक्त, विभिन्न अमीर बादशाह को चुनने और वजीर के पद को प्राप्त करने के आधार पर भी विभाजित थे। मुगल-दरबार की राजनीति में यह अंश बादशाह फर्रुखसियर के समय में सम्मिलित हुआ। फर्रुखसियर सैयद-भाइयों की सहायता से बादशाह बना जो भारतीय मुसलमान-वर्ग के थे। इससे विदेशी मुसलमानों का वर्ग असन्तुष्ट हुआ और उसने सैयद-भाइयों के पतन में भाग लिया। परन्तु सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् दरबार की गुटबन्दियाँ समाप्त नहीं हुईं क्योंकि विदेशी मुसलमान भी एक गुट के न थे। उनमें भी परस्पर प्रतिस्पर्धा थी। ऐसी स्थिति में एक योग्य बादशाह ही अमीरों की महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगा सकता था। मुहम्मदशाह ऐसा बादशाह सिद्ध न हुआ जिसके कारण उसके समय में विभिन्न स्थानों पर प्रायः स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और मुगल-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ।

मुहम्मदशाह के समय में चिनकुलीचखाँ ने जिसे 'निजाम-उल-मुल्क' की उपाधि दी गयी थी, 1724 ई. में हैदराबाद में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। चिनकुलीचखाँ तूरानी-दल का नेता था। उसे अपने समय का एक योग्य कूटनीतिज्ञ और सेनापति स्वीकार किया गया था। सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् वजीर का पद अमीनखाँ को दिया गया। परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1722 ई. में वजीर का पद निजाम-उल-मुल्क को दिया गया जो उस समय दक्षिण-भारत का सूबेदार था। उस समय निजाम-उल-मुल्क वृद्ध सरदारों में से एक था। वह दरबार की स्थिति से सन्तुष्ट न था। बादशाह मुहम्मदशाह उसकी सलाह को मानने को तैयार न था और दरबार के जवान सरदार उसके विचारों का मजाक उड़ाते थे। इससे असन्तुष्ट होकर वह 1723 ई. में चुपके से दक्षिण-भारत की ओर चल दिया। मुहम्मदशाह ने दक्षिण-भारत के तत्कालीन सूबेदार मुबारिजखाँ को निज़ाम-उल-मुल्क का सामना करने के आदेश दिये। निजाम-उल-मुल्क ने मराठों से एक समझौता किया और 1724 ई. में एक युद्ध में मुबारिजखाँ को परास्त कर दिया। 1724 ई. में 'शकूर खेड़ा के युद्ध' में मुबारिज खाँ मारा गया। 1725 इ. में उसने दक्षिण-भारत के मुगल-सूबों पर अधिकार कर लिया और हैदराबाद को अपनी राजधानी बनाया। उस समय से हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। वह नाममात्र के लिए ही मुगल बादशाह के अधीन रहा। बादशाह मुहम्मदशाह ने उस स्थिति से समझौता कर लिया और निजाम-उल-मुल्क को 'आसफजा' की उपाधि भी दी। 1748 ई. में निजाम की मृत्यु हो गयी।

अवध का स्वतन्त्र राज्य

अवध के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना ईरानी-दल के नेता मीर मुहम्मद अमीन सादतखाँ बुरहान-उल-मुल्क ने की। सादतखाँ ने सैयद-भाइयों के पतन में भाग लिया। इसके उपलक्ष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसे ऊँचा मनसब और आगरा की सूबेदारी प्रदान की गयी। इस प्रकार 1720 ई. से 1722 ई. तक उसने आगरा के सूबेदार के पद पर कार्य किया। परन्तु बादशाह मुहम्मदशाह अधिक समय सादतखाँ से सन्तुष्ट न रह सका और उसे दरबार से हटाने की मंशा से अवध का सूबेदार नियुक्त कर दिया। 1722 ई. में सादतखाँ अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसी समय से उसने अपने आप को स्वतन्त्र शासक मान लिया। वह केवल नाममात्र के लिए ही मुगल बादशाह के स्वामित्व को स्वीकार करता रहा। उसने अपने भतीजे और दामाद सफदरजंग को अपनी तरफ से अवध का सह-सूबेदार नियुक्त किया और स्वतन्त्रतापूर्वक मुगल-दरबार की राजनीति में भी भाग लेता रहा। 1723 ई. में सआदत खाँ ने नयी 'राजस्व बन्दोबस्त' व्यवस्था को लागू किया। सादतखाँ ने उत्तर-भारत में मराठों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया यद्यपि वह उसमें अधिक सफल न हो सका। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर उसे मुगल बादशाह के अपमान के लिए उत्तरदायी ठहराया गया क्योंकि उसने नादिरशाह को दिल्ली पर अधिकार करने की सलाह दी थी। परन्तु बाद में लज्जावश 1739 ई. में उसने आत्महत्या कर ली। सआदत खाँ की मृत्यु के बाद सम्राट मुहम्मद शाह ने सआदत खाँ के भतीजे एवं दामाद सफदर जंग को अवध की नवाबी प्रदान की। उसके उत्तराधिकारी सफदरजंग ने वस्तुतः मुगल बादशाह की नाममात्र की सत्ता को भी स्वीकार न किया। 1748 ई. में मुगल सम्राट द्वारा इसे अपना वजीर बनाया गया और साथ में इलाहाबाद का प्रांत दिया गया। उसने मराठों के विरुद्ध एक लड़ाई लड़ी जिसमें हिन्दू और मुसलमानों को बराबर महत्त्व दिया गया। उसने अपनी सरकार में महाराज नवाब राय को उच्च पद प्रदान किया। 1754 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद 1754 ई. में शुजाउद्दौला अवध का नवाब एवं सम्राट का वजीर बना जिसने बक्सर के युद्ध में भाग लिया। उसने 1774 ई. में रुहेलों को परास्त कर रुहेलखण्ड पर अधिकार कर लिया। 1775 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। शुजाउद्दौला के बाद 'आसफउद्दौला' (1775-95 ई.) अवध का शासक हुआ जिसने अपनी राजधानी फैजाबाद से लखनऊ स्थानान्तरित की। 1819 ई. में इस वंश के सातवें शासक सआदत खान ने अवध के राजा की उपाधि धारण की। अवध के स्वतंत्र शासकों की कड़ी का अन्तिम शासक वाजिद अली शाह था। 1856 ई. में लार्ड डलहौजी ने अवध को ब्रिटिश शासन के अधीन कर दिया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा के स्वतन्त्र राज्य

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के समय बहादुरशाह का पुत्र अजीम-उस-शान बंगाल का सूबेदार था। परन्तु क्योंकि वह दरबार में रहता था इस कारण बंगाल का शासन दीवान और नाइब-निजाम मुर्शिदकुलीखाँ करता था। फर्रुखसियर ने बादशाह बनने पर मुर्शिदकुलीखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और 1719 ई. में उड़ीसा को भी उसकी सूबेदारी में सम्मिलित कर दिया। उसने अपनी राजधानी ढाका से मुर्शिदाबाद स्थानान्तरित की। मुर्शिदकुलीखाँ एक योग्य शासन-प्रबन्धक था जिससे उसके समय में इन सूबों की शक्ति और समृद्धि में वृद्धि हुई। 1727 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दामाद शुजाउद्दौला असदखाँ को इन सूबों की सूबेदारी प्राप्त हुई। 1733 ई. में बिहार को भी इन दो सूबों के साथ सम्मिलित कर दिया गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1739 ई. में यह तीनों सूबे उसके पुत्र सरफराजखाँ को प्राप्त हुए। सरफराजखाँ अयोग्य सिद्ध हुआ। बिहार के नाइब-सूबेदार अलीवर्दीखाँ ने 1740 ई. में उस पर आक्रमण किया और उसे युद्ध में परास्त कर दिया। उस समय में अलीवर्दीखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वामी बन गया। बादशाह मुहम्मदशाह इन सूबों में हस्तक्षेप करने की स्थिति में न था। इस कारण, उसने वस्तुतः स्थिति से समझौता कर लिया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अलीवर्दीखाँ को इन तीनों सूबों का सूबेदार स्वीकार कर लिया। परन्तु उस समय से ये सूबे वस्तुतः स्वतन्त्र हो गये। अलीवर्दीखाँ केवल नाममात्र के लिए मुगल बादशाह के आधिपत्य को स्वीकार करता था।

मराठे

मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का सबसे अधिक लाभ मराठों ने उठाया। औरंगजेब मराठों के स्वतन्त्रता-संग्राम को दबाने में असफल हुआ था और ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को मराठा-छत्रपति घोषित कर दिया था। इस प्रकार, मराठों ने औरंगजेब के शासनकाल में ही महाराष्ट्र में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। बाद में शम्भाजी के पुत्र शाहू ने छत्रपति होने का दावा किया जब उसने 1707 ई. में मुगल-खेमा छोड़ दिया जहाँ वह कैदी की भाँति रह रहा था। अधिकांश मराठा-सरदारों ने शाहू को मराठा-छत्रपति मान लिया और महाराष्ट्र पर उसका अधिकार हो गया। शाहू के समय में मराठों की शक्ति का विस्तार हुआ जिसमें शाहू के प्रथम तीन पेशवाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ के समय में मराठों का मुगल-दरबार से प्रथम सम्पर्क हुआ जबकि सैयद हुसैनअली ने 1719 ई. में मुगल-बादशाह की तरफ से मराठों से एक सन्धि की तथा मराठा-सैनिक दिल्ली गये और बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने में सहायक हुए। बालाजी विश्वनाथ के पश्चात् द्वितीय पेशवा बाजीराव के समय में मराठों ने गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया तथा सम्पूर्ण दक्षिण-भारत और बंगाल के सूबा से 'चौथ' की माँग की। मराठे उसी के समय में भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गये। तृतीय पेशवा बालाजी बाजीराव के समय में मराठों ने दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया जिसका परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। इससे मराठा-शक्ति की हानि हुई। तब भी 18वीं सदी के अधिकांश भाग में मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने रहे।

(विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए।)

राजस्थान के राजपूत-राज्य और सवाई मिर्जा राजा जयसिंह

राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़ और अम्बर (जयपुर) के राज्य प्रमुख राज्य थे। औरंगजेब के उत्तराधिकारी मुगल बादशाहों ने राजस्थान के इन राज्यों के प्रति कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनायी। अपनी दुर्बल स्थिति के समय में राजपूत-राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार बनाये रखना ही उस समय श्रेयस्कर था। परन्तु इस नीति को योजनाबद्ध तरीके से नहीं अपनाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूत-राज्यों ने भी मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाया और अपने अधिकारों में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। इस कारण 1740 ई. तक राजपूत-राज्य भी प्रायः अर्ध-स्वतन्त्रता की उसी स्थिति में पहुँच गये जो हैदराबाद, बंगाल और अवध के राज्यों ने प्राप्त कर ली थी। परन्तु राजपूत-राज्यों ने स्थिति का पूर्ण लाभ नहीं उठाया। विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद भी राजपूत-शासक एक न हो सके बल्कि उनमें आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गयी। इसका लाभ मराठों ने उठाया। राजस्थान के राजपूत-राज्य ही उत्तर-भारत की ओर बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को रोकने में समर्थ हो सकते थे, परन्तु चाहते हुए भी वे ऐसा न कर सके और इसी समय मराठों ने गुजरात और मालवा पर अपना अधिकार कर लिया तथा राजस्थान की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेवाड़

बहादुरशाह के समय में मेवाड़ सहित सभी राजपूत-राज्यों को दबाने का प्रयत्न किया गया था परन्तु दक्षिण-अभियान और सिखों के विद्रोह के कारण यह सम्भव न हो सका था। अपितु 1708 ई. में मेवाड़ के राणा अमरसिंह, मारवाड़ के राजा अजीतसिंह और जयपुर के राजा जयसिंह ने एक-दूसरे के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके राजस्थान से मुगलों के प्रभाव को नष्ट करने का निश्चय किया और वे पर्याप्त मात्रा में इस कार्य में सफल भी हुए। राणा अमरसिंह ने अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाने में सफलता पायी और मुगल बादशाह से ऊँचा मनसब भी प्राप्त किया। राणा के सम्बन्ध इस समय में जयपुर के शासक जयसिंह से अच्छे रहे। फर्रुखसियर के समय में जयसिंह की मित्रता के कारण राणा के सम्बन्ध सैयद-भाइयों से खराब हुए परन्तु सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् राणा ने ईडर और सिरोही पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, इस समय में मेवाड़-राज्य के अधिकार और सम्मान में वृद्धि हुई।

मारवाड़

मारवाड़ के शासक अजीतसिंह की पुत्री का विवाह बादशाह फर्रुखसियर के साथ किया गया और सैयद-भाइयों ने उसे अजमेर तथा गुजरात की सूबेदारी दिलवायी। परन्तु मुहम्मदशाह के बादशाह बन जाने पर उसने अजीतसिंह से गुजरात और अजमेर की सूबेदारी छीन ली जिसके कारण अजीतसिंह ने मुगल बादशाह का विरोध करना आरम्भ किया। 1723 ई. में मुगलों ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। उस समय अजीतसिंह की स्थिति दुर्बल हो गयी क्योंकि उसे किसी अन्य राजपूत शासक से सहायता नहीं मिली। राजा जयसिंह के हस्तक्षेप करने से मारवाड़ और मुगलों में एक सन्धि हो गयी जिसके अनुसार अजीतसिंह ने नागौर की जागीर इन्द्रसिंह को वापस कर दी। 1724 ई. में अजीतसिंह की हत्या कर दी गयी और बादशाह मुहम्मदशाह ने मारवाड़ का उत्तराधिकारी उसके पुत्र अभयसिंह को मान लिया। परन्तु अभयसिंह का विरोध उसके भाई आनन्दसिंह और रायसिंह ने किया तथा मराठों से सहायता माँगी। इससे मारवाड़ गृह-युद्ध में फँस गया जो 1728 ई. तक चला। इससे मारवाड़ की स्थिति दुर्बल हो गयी और मराठों को राजस्थान में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। इस बीच मराठे गुजरात में प्रवेश कर गये। 1730 ई. में अभयसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया गया। परन्तु वह मराठों के गुजरात में बढ़ते हुए प्रभाव को न रोक सका। 1733 ई. में मराठों ने गुजरात पर पुनः आक्रमण किया और अभयसिंह को उन्हें 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' देने का वायदा करना पड़ा। उसके पश्चात् अभयसिंह जोधपुर चला गया। बाद में उसने दिल्ली पहुँचकर अजमेर की सूबेदारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया और राजदरबार की दलबन्दियों में भाग लिया जिसके फलस्वरूप उसके सम्बन्ध राजा जयसिंह से खराब हो गये।

जयपुर और सवाई मिर्जा राजा जयसिंह

अपने पिता किशनसिंह की मृत्यु के पश्चात् 1700 ई. में जयसिंह जयपुर का शासक बना। तत्कालीन राजपूत-शासकों में जयसिंह सबसे अधिक योग्य सिद्ध हुआ। 12 वर्ष की उम्र में जब वह सिंहासन पर बैठा ही था, औरंगजेब ने उसे दक्षिण-भारत बुला भेजा। दक्षिण-भारत के युद्धों में साहसपूर्ण भाग लेने के कारण उसे मालवा का नाइब-सूबेदार बनाया गया। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर वह दक्षिण-भारत में था। शाहजादा आजमशाह के साथ वह उत्तर-भारत गया। बहादुरशाह से युद्ध आरम्भ होने के अवसर पर वह आजमशाह के साथ था परन्तु युद्ध के समय में ही आजमशाह की पराजय को निश्चित समझकर वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहादुरशाह के पक्ष में चला गया। बहादुरशाह ने बादशाह बनने पर जयसिंह को माफ कर दिया परन्तु जयपुर को खालसा-भूमि में सम्मिलित करने के आदेश दिये। बहादुरशाह ने इसी प्रकार जोधपुर को भी खालसा-भूमि में सम्मिलित करने के आदेश दिये थे। तब भी जयसिंह ने बादशाह का खुला विरोध न किया और अजीतसिंह की भाँति वह भी बहादुरशाह के साथ दक्षिण-भारत की ओर चल दिया। परन्तु वह और अजीतसिंह मार्ग से ही वापस भाग आये और दोनों ने 1708 ई. में मेवाड़ के शासक अमरसिंह से सहायता माँगी। अमरसिंह ने अपनी पुत्री चन्द्रकुँवर का विवाह जयसिंह के साथ कर दिया। अमरसिंह की एक अन्य पुत्री का विवाह अजीतसिंह से पहले ही हो चुका था। इस प्रकार दोनों राजाओं के पारिवारिक सम्बन्ध हो गये और तीनों ने मिलकर राजस्थान को मुगलों से स्वतन्त्र कराने के लिए प्रयत्न करने का आश्वासन एक दूसरे को दिया। 1708-1710 ई. तक इन राजपूत-शासकों ने मिलकर मुगलों से संघर्ष किया। बादशाह बहादुरशाह ने सिख-विद्रोह के कारण राजपूतों से समझौता कर लिया। बादशाह जहाँदारशाह ने 1712 ई. में जयसिंह को मिर्जा राजा का पद दिया। तब भी जयसिंह जहाँदारशाह और फर्रुखसियर में हुए युद्ध में तटस्थ रहा। 1713 ई. में बादशाह फर्रुखसियर ने जयसिंह को 'सवाई' का पद और मालवा की सूबेदारी दी। उस समय से वह सवाई मिर्जा राजा जयसिंह के नाम से विख्यात हुआ। जयसिंह ने 1715 ई. में मराठा-आक्रमण से मालवा की रक्षा की और फर्रुखसियर से सम्मान प्राप्त किया। परन्तु जयसिंह सैयद-भाइयों से सन्तुष्ट न था। इस कारण मारवाड़ के शासक अजीतसिंह से उसका मतभेद हुआ। 1716-1718 ई. के मध्य जयसिंह ने चूरामण जाट को दबाने का उत्तरदायित्व सँभाला और चूरामण को मुगल-सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। 1717 ई. में जयसिंह के स्थान पर अमीनखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया था। तब भी जयसिंह फर्रुखसियर के प्रति वफादार रहा और उसने सैयद-भाइयों के विरुद्ध फर्रुखसियर को सहायता देने का आश्वासन दिया। परन्तु फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों के कहने से उसे दिल्ली से चले जाने के आदेश दिये। इस कारण, जयसिंह जयपुर चला गया। 1722 ई. में जयसिंह को आगरा की सूबेदारी दी गयी और चूरामण जाट को दबाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया जो सैयद-भाइयों के गुट का सदस्य रहा था। इस अभियान में जयसिंह को सफलता मिली। इसके पश्चात् मुगल-दरबार में जयसिंह का सम्मान बढ़ता गया। मुगल बादशाह ने जयसिंह को सभी राजपूत-राजाओं से सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम बनाया। जयसिंह ने समस्त राजपूत-शासकों और मुगल बादशाह के मध्य अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया और पर्याप्त सफल रहा। उसने छत्रसाल बुन्देला को भी मुगल बादशाह के साथ बनाये रखने का प्रयत्न किया। जयसिंह मराठों से समझौता करके उन्हें मुगल बादशाह के प्रति वफादार बनाये रखने की नीति का पक्षधर था, परन्तु मुगल-दरबार की दलबन्दियों, राजपूतों के आन्तरिक संघर्षों और मराठों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण अपनी नीतियों को पूर्णतया कार्यरूप में परिणित करने में वह सफलता न पा सका अन्यथा उसका लक्ष्य सभी भारतीय शक्तियों को मुगल बादशाह के पक्ष में करके मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करना था। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर दरबार की दलबन्दियों के कारण जयसिंह युद्ध में तटस्थ रहा। 1743 ई. में जयसिंह की मृत्यु हुई। जयसिंह तत्कालीन राजपूत-शासकों में सर्वाधिक योग्य साबित हुआ और उसने अपने राज्य के सम्मान और शक्ति को बढ़ाने में सफलता पायी।

राजनीतिक सफलता के अतिरिक्त, जयसिंह ने अपने समय में सांस्कृतिक विकास में भी अभूतपूर्व योगदान दिया। जयसिंह ने नवीन जयपुर-नगर का निर्माण किया और वहाँ भव्य महल, इमारतें, बाजार आदि बनवाये। जयसिंह भूगोल, ज्योतिष और गणित विद्या में अत्यधिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुचि लेता था। उसने जयपुर, मथुरा, बनारस और उज्जैन में इनकी उन्नति के लिए शोधशालाएँ स्थापित कीं और अपने दरबार में इनसे सम्बन्धित हिन्दू, मुसलमान और विभिन्न यूरोपियन विद्वानों को एकत्रित किया। जयसिंह ने साहित्यिक प्रगति में भी भाग लिया। उसके समय में धर्मशास्त्रों पर विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये। उसके शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में एक प्रसिद्ध विद्वान रत्नाकर भट्ट पौंडरीक थे। उनके भतीजे ब्रजनाथ भट्ट भी एक प्रमुख विद्वान हुए। उसके समय के प्रमुख विद्वानों में श्रीकृष्ण भट्ट, हरिकृष्ण, मायाराम, जगन्नाथ, प्रियदास, केवलराम आदि थे। इन विद्वानों ने ज्ञान के सभी क्षेत्रों की उन्नति में सहयोग दिया। जयसिंह ने विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को रोकने का भी प्रबन्ध किया, जैसे कन्या-हत्या। उसने जाति-उपजातियों में खान-पान की उदारता आदि का समर्थन किया। इस प्रकार जयसिंह ने अनेक कठिनाइयों और राजनीतिक दाँवपेचों में व्यस्त रहते हुए भी भारत की सांस्कृतिक प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया। इस कारण, उसका स्थान अपने समय के राजस्थान के शासकों में ही नहीं अपितु भारत के योग्यतम शासकों में आता है।

नादिरशाह का आक्रमण (1739 ई.)

नादिरशाह तुर्क था जिसने अपनी योग्यता से 1736 ई. में फारस के राज्य पर अधिकार कर लिया था। 1736 ई. में नादिरशाह ने ईरान (पर्शिया) पर अधिकार किया और अफगानों को वहाँ से निकाल दिया। अफगानों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करने के लिए उसने 1738 ई. में कन्धार पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। उसके पश्चात् उसने अफगानिस्तान और भारत पर आक्रमण करने की योजना बनायी। नादिरशाह महत्वाकांक्षी था। उसने देखा कि मुगल बादशाह अपनी सीमाओं की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दे पा रहा है, इस कारण भारत पर आक्रमण करके यहाँ से धन लूटना उसके आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य बन गया। कन्धार को जीतकर उसने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया।

मुगल-सूबेदार नासिरखाँ को मुगल-दरबार से कोई सहायता नहीं मिली। वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ तथा नादिरशाह ने सरलता से अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया। नादिरशाह ने पेशावर के मार्ग से पंजाब में प्रवेश किया। पंजाब के सूबेदार जकारियाखाँ को भी मुगल-दरबार से कोई सहायता नहीं मिली और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। तब मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को होश आया और वह अपनी सेना को लेकर करनाल पहुँचा। नादिरशाह भी अपनी सेना को लेकर करनाल पहुँच गया। 24 फरवरी, 1739 ई. को करनाल का युद्ध हुआ। युद्ध में मुहम्मदशाह और निजाम-उल-मुल्क के नेतृत्व में मुगल-सेना ने कोई भाग नहीं लिया। केवल सादतखाँ, खानेदौरान और नासिर मुहम्मद के नेतृत्व में मुगल-सेना के थोड़े भाग ने युद्ध में भाग लिया। उसकी पराजय हुई। इसके पश्चात् सन्धि की बातचीत हुई और नादिरशाह दो करोड़ रुपया लेकर वापस लौटने के लिए राजी हो गया। युद्ध में खानेदौरान की मृत्यु हो गयी थी अतः बादशाह ने मीर-बख्शी के पद पर निजाम-उल-मुल्क की नियुक्ति कर दी। इससे सादतखाँ असन्तुष्ट हो गया क्योंकि वह स्वयं इस पद को प्राप्त करने का इच्छुक था। उसने नादिरशाह को दिल्ली जाने की सलाह दी। नादिरशाह ने बादशाह मुहम्मदशाह और निजाम-उल-मुल्क को कैद कर लिया तथा दिल्ली पहुँचने का निश्चय किया। मुहम्मदशाह को उसकी बात माननी पड़ी। 20 मार्च को नादिरशाह ने दिल्ली में प्रवेश किया जहाँ मुहम्मदशाह ने उसका स्वागत किया। 22 मार्च को दिल्ली में दंगा हो गया और कुछ ईरानी सैनिक मारे गये। इससे असन्तुष्ट होकर नादिरशाह ने कत्लेआम का आदेश दिया। प्रायः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आठे घण्टे दिल्ली में कत्लेआम होता रहा, प्रायः तीस हजार व्यक्ति मारे गये, अनेक स्थानों में आग लगायी गयी और प्रत्येक स्थान पर लूटमार की गयी। 15 मई तक नादिरशाह दिल्ली में रहा। उसके पश्चात् लूट में एकत्रित किये हुए धन, तख्त-ए-ताऊस, कोहनूर हीरा, हजारों दास-दासी, हाथी, घोड़े, ऊँट, कारीगर आदि लेकर नादिरशाह वापस लौट गया। उसने अफगानिस्तान, कश्मीर, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके अतिरिक्त, पंजाब के सूबेदार जकारियाखाँ ने उसके आधिपत्य को स्वीकार करके बीस लाख रुपया प्रति वर्ष उसे देना स्वीकार किया। इस प्रकार, नादिरशाह ने मुगल-साम्राज्य को न केवल आर्थिक दृष्टि से दुर्बल किया अपितु इसकी प्रतिष्ठा और शक्ति को भी नष्ट कर दिया। निस्सन्देह, इस आक्रमण ने भारतीयों में यह भाव उत्पन्न किया कि विदेशी आक्रमण से सुरक्षा के लिए मुगल बादशाह के नेतृत्व में संगठित केन्द्रीय सत्ता को बनाये रखना आवश्यक है, जिसके कारण किसी ने भी यहाँ तक कि सैनिक दृष्टि से सर्वशक्तिमान बन जाने के पश्चात् मराठों ने भी मुगल बादशाह को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु मुगल बादशाह की दुर्बल स्थिति से सभी भारतीय शक्तियाँ परिचित हो गयीं जिससे क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति बलवती हुई और मुगल-साम्राज्य का वस्तुतः विघटन आरम्भ हुआ।

इस प्रकार 1707-1740 ई. के विघटन के मध्य के समय की कुछ प्रमुख विशेषताएँ रहीं। इस समय में राज्य के अमीरों में गुटबन्दी हुई। इस गुटबन्दी का आधार धर्म, जाति, भारतीय अथवा विदेशी होना न था यद्यपि समय-समय पर विभिन्न गुटों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इन तत्वों की सहायता अवश्य ली। अमीरों की गुटबन्दी का मुख्य आधार राजनीतिक तथा आर्थिक था। बादशाहों की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाकर राज्य के प्रमुख अमीरों ने वजीर और मीर-बख्शी के पदों को प्राप्त करने के लिए गुटबन्दियाँ कीं क्योंकि राज्य की शक्ति, मुख्यतया जागीरों को वितरित करने की शक्ति बादशाह के पश्चात् इन पदों को प्राप्त करने वाले अमीरों के हाथों में थी। इस समय की एक अन्य विशेषता औरंगजेब की अनुदार नीति का त्याग था। बादशाह जहाँदारशाह के समय में ही जजिया को हटा दिया गया और सैयद-बन्धुओं ने फर्रुखसियर के समय में तीर्थयात्रा-कर भी समाप्त कर दिया। यद्यपि समय-समय पर अनुदार-वर्ग ने इन परिवर्तनों का विरोध किया परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सभी ने इन परिवर्तनों को स्वीकार किया और सभी बादशाहों एवं गुटों ने जाटों, राजपूतों तथा मराठों के प्रति समझौते की नीति का पालन किया। इस समय में राजपूत-राज्य मुगल-दरबार के प्रति निष्ठावान न रहे बल्कि वे प्रायः स्वतन्त्र राज्य बन गये। परन्तु उन्होंने इसका लाभ नहीं उठाया वरन् आन्तरिक संघर्षों में फँसकर अपने को दुर्बल बना लिया जिसके कारण मराठों को उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। इसके पश्चात् वे भारतीय राजनीति में कभी भी प्रभावशाली न बन सके। अमीरों की गुटबन्दी और बादशाहों की दुर्बलता के कारण मुगल-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ और विदेशी आक्रमण शुरू हो गये। इस समय में हैदराबाद, बंगाल और अवध के प्रायः स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ। राजपूत-राज्य तथा ये सभी राज्य यद्यपि कानूनी रूप से मुगल बादशाह को अपना सार्वभौमिक बादशाह मानते रहे परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः स्वतन्त्र हो गये। इस प्रकार, यह समय ऐसा रहा जिसमें वस्तुतः मुगल-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ। मुगल-साम्राज्य के विघटन का लाभ मराठों ने उठाया। बहुत शीघ्र ही मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गये। 1740 ई. तक ही वस्तुतः स्थिति यह बन गयी कि मुगल बादशाह नाममात्र के लिए भारत का बादशाह रह गया। मुगल-साम्राज्य के अवशेषों से विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ जिनमें सर्वप्रथम स्थान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठों ने प्राप्त किया। परन्तु इसी समय में भारत पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हुए। प्रथम आक्रमण नादिरशाह ने किया। उसके सफल आक्रमण ने अहमदशाह अब्दाली के निरन्तर आक्रमणों के लिए मार्ग खोल दिया।

मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् अहमदशाह (1748-54 ई.) 21 वर्ष की आयु में मुगल बादशाह बना। वह विलासी और अयोग्य था। उसके समय में अहमदशाह अब्दाली ने जो नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात् अफगानिस्तान का शासक बन गया था, अपने दूसरे और तीसरे आक्रमण में मुल्तान और पंजाब को जीतने में सफलता पायी। उसके समय में मराठे दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित होकर प्रभावपूर्ण बन गये। भरतपुर के राजा सूरजमल को भी दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। अहमदशाह की मृत्यु के पश्चात् आलमगीर द्वितीय (1754-58 ई.) मुगल बादशाह बना। वह 55 वर्ष की आयु में शासक बना था। वह भी अयोग्य था। उसके समय में अहमदशाह अब्दाली ने अपने चौथे आक्रमण में दिल्ली में प्रवेश किया और वहाँ लूटमार की। आलमगीर की हत्या उसके वजीर इमाद-उल-मुल्क ने 1758 ई. में करा दी और शाहजहाँ तृतीय (1758-59 ई.) को बादशाह बनाया। उसने केवल एक वर्ष शासन किया। 1759 ई. में आलमगीर के पुत्र अलीगौहर ने बिहार में अपने को शाहआलम द्वितीय (1759-1806 ई.) के नाम से मुगल बादशाह घोषित किया, यद्यपि वह वर्षों तक दिल्ली न आ सका। 1772 ई. में मराठों के संरक्षण में वह दिल्ली पहुँचा। उसके समय में पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ। शाहआलम के पश्चात् क्रमशः अकबर द्वितीय (1806-1837 ई.) और बहादुरशाह द्वितीय (1838-1858 ई.) मुगल बादशाह हुए। अन्तिम बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने बन्दी बनाकर रंगून भेज दिया तथा मुगल-साम्राज्य कानूनी तरीके से भी समाप्त हो गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 1707 से 1740 ई. तक मुगल साम्राज्य के विघटन का वर्णन कीजिए।
2. 1748 से 1754 ई. तक मुगल साम्राज्य के पतन में उत्तरदायी शासकों का वर्णन कीजिए।
3. मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. फर्रुखसियर के शासन में सैयद भाइयों की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. सैयद भाइयों के पतन पर प्रकाश डालिए।
3. 1739 ई. में नादिरशाह के आक्रमण का वर्णन कीजिए।
4. मुगल साम्राज्य के पतन में अहमदशाह की भूमिका लिखिए।
5. पानीपत के तीसरे युद्ध (1761 ई.) पर प्रकाश डालिए।
6. मुगल साम्राज्य के पतन के चार महत्त्वपूर्ण कारण लिखिए।
7. मुगल साम्राज्य के पतन में औरंगजेब का दायित्व लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुगल साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण था—

(अ) हुमायूँ की भूलें (ब) शाहजहाँ के काल में आर्थिक पतन

(स) औरंगजेब की धर्मान्धता (द) उत्तरकालीन मुगल शासकों की अयोग्यता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. बहादुरशाह का वास्तविक नाम था—
(अ) शाहआलम (ब) शाहजादा आजम
(स) कामबख्श (द) इनमें से कोई नहीं।

3. किस मुगल शासक को 'शाहे बेखबर' के नाम से पुकारा जाता था ?
(अ) जहाँदारशाह को (ब) बहादुरशाह को
(स) फर्रुखसियर को (द) रफीउद्दौला को।

4. जहाँदारशाह 15 वर्ष की आयु में बुरी तरह आसक्त था—
(अ) चन्द्रकुँवर पर (ब) शहीन बानू पर
(स) लाल कुँवर पर (द) इनमें से कोई नहीं।

5. सिख सरदार बन्दा बैरागी की हत्या किस शासक के काल में हुई थी ?
(अ) फर्रुखसियर के समय में (ब) बहादुरशाह के समय में
(स) सर जांदार के समय में (द) रफीउद्दौला के समय में।

6. मुहम्मदशाह रंगीला सैयद भाइयों के प्रभुत्व से मुक्त हुआ था—
(अ) 1718 ई. में (ब) 1719 ई. में
(स) 1720 ई. में (द) 1722 ई. में।

7. 1708 ई. में मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर के शासकों के सम्बन्ध थे—
(अ) वैमनस्यपूर्ण (ब) मैत्रीपूर्ण
(स) परस्पर द्रोहपूर्ण (द) इनमें से कोई नहीं।

8. 1733 ई. में गुजरात के सूबेदार अभयसिंह ने मराठों को कौन-सा कर देना स्वीकार किया ?
(अ) चौथ (ब) सरदेशमुखी
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

9. नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया था ?
(अ) 1738 ई. में (ब) 1739 ई. में
(स) 1740 ई. में (द) 1741 ई. में।

10. अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर कुल कितने आक्रमण किये ?
(अ) 3 बार (ब) 4 बार
(स) 5 बार (द) 6 बार।

11. अन्तिम मुगल बादशाह था—
(अ) मुहम्मदशाह (ब) अकबर
(स) बहादुरशाह द्वितीय (द) इनमें से कोई नहीं।

12. "हरम की रसोई में तीन दिनों तक आग न जली और शहजादियाँ भूख से व्याकुल हो गयीं।" आर्थिक स्थिति का यह भयानक चित्र किस इतिहासकार ने खींचा है ?
(अ) सर जदुनाथ सरकार ने (ब) सरदेसाई ने
(स) ग्रांट डफ ने (द) इनमें से कोई नहीं।

13. मुगल साम्राज्य की दुर्बलता का महत्त्वपूर्ण कारण था—
(अ) शासकों की अयोग्यता (ब) उत्तराधिकार के नियम का अभाव
(स) सैनिक दुर्बलता (द) शासकों की कठोरता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14. अठारहवीं सदी के आरम्भ में मुगल साम्राज्य के पतन का महत्वपूर्ण कारण था—
(अ) राजनीतिक पतन (ब) सामाजिक पतन
(स) बौद्धिक पतन (द) इनमें से कोई नहीं।

15. प्रो. हबीब के अनुसार मुगल साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण था—
(अ) धर्मान्धता (ब) आर्थिक दिवालियापन
(स) शासकों की कठोरता (द) नैतिक पतन।

[उत्तर—1. (द), 2. (अ), 3. (ब), 4. (स), 5. (अ), 6. (स), 7. (ब), 8. (स), 9. (ब), 10. (द), 11. (स), 12. (अ), 13. (ब), 14. (स), 15. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10

मराठा-शक्ति का विस्तार और प्रथम तीन पेशवा (1707-1761 ई.)

छत्रपति शाहू (1707-1749 ई.)

शाहू छत्रपति शम्भाजी का पुत्र था। रायगढ़ के पतन के पश्चात् उसे और उसकी माता येसूबाई को औरंगजेब ने कैद कर लिया था। उस समय उसकी आयु 7 वर्ष की थी। 17-1/2 वर्ष तक शाहू मुगलों का बन्दी रहा। यह आशा नहीं थी कि वह कभी भी मराठों का राजा बन सकेगा। परन्तु ऐसा ही हुआ। औरंगजेब की पुत्री जीनतुन्निसा की कृपा से वह मुसलमान होने या वध किये जाने से बच गया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध हुआ। उस समय शाहू आजमशाह की कैद में था। आजमशाह के सलाहकार जुल्फिकारखाँ ने उसे शाहू को मुक्त करके महाराष्ट्र जाने देने की सलाह दी। उसका विचार था कि इससे मराठों में फूट पड़ जायेगी। उस समय तक राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का मराठा-छत्रपति के रूप में राज्याभिषेक कर चुकी थी। जुल्फिकारखाँ का विचार था कि शाहू के महाराष्ट्र पहुँचने और मराठा-छत्रपति का दावा करने से उसका संघर्ष शिवाजी द्वितीय से हो जायेगा जिससे मराठे गृह-युद्ध में फँस जायेंगे। इस कारण जब 18 मई, 1707 ई. में शाहू ने मुगल-शिविर को छोड़ा तब उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया गया। शाहू महाराष्ट्र पहुँचा। उसने मराठा-सरदारों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। बालाजी विश्वनाथ की सहायता से वह मराठा-सेनापति धानाजी जादव को अपने पक्ष में करने में सफल हुआ। नवम्बर 1707 ई. में भीमा नदी के किनारे खेद नामक स्थान पर उसने ताराबाई की सेना को परास्त किया और महाराष्ट्र पर अपना अधिकार कर लिया। 12 फरवरी, 1708 ई. में उसने सतारा में मराठा-छत्रपति के रूप में अपना राज्याभिषेक किया। 1714 ई. में राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने ताराबाई और उसके पुत्र को कैद करने में सफलता पायी। उसने कोल्हापुर में अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय को मराठा-छत्रपति घोषित किया। इस प्रकार, यद्यपि पहले शिवाजी द्वितीय और 1714 ई. से शम्भाजी द्वितीय ने मराठा-छत्रपति होने का दावा अवश्य किया परन्तु महाराष्ट्र उनके अधिकार में न था। महाराष्ट्र शाहू के अधिकार में रहा और इस प्रकार मराठों का वास्तविक छत्रपति शाहू ही रहा। शाहू के शासनकाल में मराठा-शक्ति का विकास हुआ और मराठे भारत की प्रथम श्रेणी की शक्तियों में स्थान प्राप्त कर सके। शाहू स्वयं इसके लिए उत्तरदायी न था। शाहू न तो अच्छा शासन-प्रबन्धक था और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न योग्य सेनापति। परन्तु शाहू में योग्य व्यक्तियों को तलाश करने की क्षमता थी और वह उन्हें विश्वास देना और उनसे विश्वास प्राप्त करना जानता था। इस कारण उसने पेशवा का पद योग्य व्यक्तियों को दिया। उसके पेशवा ही मराठा-शक्ति के विस्तार के लिए उत्तरदायी हुए। प्रथम पेशवा बालाजी बाजीराव ने शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ किया और मराठा-शक्ति के विस्तार के आधार का निर्माण किया। उसके उपरान्त शाहू के द्वितीय पेशवा बाजीराव ने नीति और युद्धों द्वारा मराठा-शक्ति का विस्तार किया जिसके कारण उसी के समय में मराठों ने भारत की प्रथम श्रेणी की शक्तियों में स्थान प्राप्त कर लिया। 1740 ई. में पेशवा बाजीराव की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके पुत्र बालाजी बाजीराव को अपना पेशवा नियुक्त किया। 1749 ई. में शाहू की मृत्यु हो गयी। शाहू अन्तिम मराठा राजा था जिसने राजाओं के अधिकारों का उपयोग किया। उसके कोई पुत्र न था। उसने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत एक बच्चे को शिवाजी द्वितीय का पुत्र स्वीकार करके अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। वह बच्चा राजाराम द्वितीय के नाम से 1750 ई. में मराठा-छत्रपति बना। परन्तु बाद में ताराबाई ने घोषणा की कि राजाराम द्वितीय उसके पुत्र का पुत्र न था। इस कारण पेशवा बालाजी ने संगोला का समझौता करके राज्य के सम्पूर्ण अधिकार स्वयं ले लिये। उस समय से छत्रपति को सतारा में नाममात्र के शासक परन्तु वस्तुतः एक बन्दी के रूप में रखा गया और मराठा-राज्य का प्रधान पेशवा हो गया। बालाजी के समय में मराठों ने दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया और वे मुगल बादशाह को बनाने और हटाने वाले बन गये। इस कारण विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा करना भी उनका उत्तरदायित्व हो गया। इसी कारण उनका मुकाबला अहमदशाह अब्दाली से हुआ जिसका परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ।

सरदेसाई के अनुसार शाहू मराठों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शासक था। वह समय के अनुकूल शासक था। उस समय एक उदार विचार वाले, मन्त्रियों में विश्वास करने वाले, मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रखने वाले और दो मराठा-परिवारों में एकता लाने वाले राजा की आवश्यकता थी। सरदेसाई के अनुसार शाहू ऐसा ही राजा था। शाहू में योग्य व्यक्तियों की तलाश करने, उनमें विश्वास रखने और उनसे विश्वास प्राप्त करने की भी क्षमता थी। इसी कारण उसने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया। उसके पश्चात् उसके बीसवर्षीय पुत्र बाजीराव को और तदुपरान्त उसके 18-1/2 वर्ष के पुत्र बालाजी बाजीराव को पेशवा बनाया गया। ये सभी योग्य सिद्ध हुए और सभी शाहू के प्रति वफादार रहे। शाहू जानता था कि जो क्षमता उसमें न थी वह उसके पेशवाओं में थी। इस कारण उसने शासन के सम्पूर्ण अधिकार पेशवाओं को सौंप दिये। पेशवाओं ने अपनी योग्यता से मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। इस प्रकार शाहू अप्रत्यक्षतः मराठा शक्ति के विस्तार के लिए उत्तरदायी हुआ। इसके अतिरिक्त वह पेशवाओं से सम्मान भी प्राप्त कर सका और उनसे अपनी आज्ञा का पालन भी करा सका। परन्तु शाहू मराठा-छत्रपति और अप्रत्यक्षतः मराठा-शक्ति के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। पेशवाओं को स्वतन्त्र अधिकार देने से पेशवाओं की शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई और मराठा-छत्रपति का स्थान शासन में नगण्य हो गया। पेशवाओं ने शाहू के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् वे छत्रपति के प्रति वैसे भाव न रख सके और राज्य में प्रमुख बन गये। इसके अतिरिक्त पेशवाओं के उत्थान ने अन्य मराठा-सरदारों की महत्वाकांक्षाओं को भी बल प्रदान किया जिसके कारण मराठा-राज्य एक संघ-राज्य में परिवर्तित हो गया और उसकी एकता नष्ट हो गयी। यह मराठों के पतन का एक मुख्य कारण बना। इस प्रकार, शाहू एक तरफ मराठा-शक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विस्तार और दूसरी तरफ मराठा-छत्रपति और मराठा-शक्ति के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। इसी कारण, मराठा छत्रपतियों में शाहू का एक विशिष्ट स्थान है।

प्रथम तीन पेशवा और मराठों का उत्थान

शाहू के समय में महाराष्ट्र की राजनीतिक समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर थीं। आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति, गृह-युद्ध की समाप्ति और एक दृढ़ राज्य की स्थापना करना शाहू अथवा ताराबाई के द्वारा सम्भव नहीं हो सकते थे। शाहू आरामपसन्द और शान्तिप्रिय व्यक्ति था जबकि ताराबाई स्वार्थी और संकुचित प्रवृत्ति की स्त्री थी। इसके अतिरिक्त, इन कार्यों की पूर्ति करने की क्षमता शिवाजी द्वारा स्थापित 'अष्ट-प्रधान' संस्था में भी नहीं रह गयी थी। औरंगजेब के आक्रमणों के कारण वह प्रायः नष्ट हो चुकी थी। इस समय शाहू के पेशवाओं ने इन कार्यों की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व सँभाला। शाहू के पेशवा योग्य सिद्ध हुए। वह इन सभी कार्यों को करने में सफल हुए। यही नहीं अपितु उन्होंने मराठों के सम्मुख एक उच्च आदर्श भी उपस्थित किया और वह था 'हिन्दू-पदपादशाही' की स्थापना। इतिहासकार राजवाडे ने जब पेशवाओं का उद्देश्य 'ब्राह्मण-प्रभुसत्ता' को स्थापित करना बताया तो यह उसकी एक भूल थी। पेशवाओं का उद्देश्य उससे कहीं अधिक विशाल था। पेशवाओं ने महाराष्ट्र को न केवल राजनीतिक स्थायित्व और शान्ति प्रदान की अपितु उसके निवासियों की दृष्टि उत्तर-भारत के सम्पन्न प्रदेश की ओर भी आकर्षित की। उन्होंने महाराष्ट्र के निवासियों का ध्यान संकीर्ण झगड़ों से हटाकर उत्तर-भारत की विजय की ओर लगाया जिससे मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन सके। यह पेशवाओं की मराठा-राज्य और महाराष्ट्र को एक महान् देन थी। अपनी योग्यता से पेशवाओं ने वह कार्य किया जिसके द्वारा मराठा-शक्ति का सदुपयोग हो सका। अपनी योग्यता के कारण पेशवा 'अष्ट-प्रधान' और मराठा-छत्रपति से ऊपर उठ गये। निस्सन्देह, पेशवा बालाजी विश्वनाथ, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव महान् थे। मराठा-शक्ति का विस्तार उन्हीं के कारण हुआ।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713-1720 ई.)

बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के श्रीवर्धन गाँव में 'चितपावन' ब्राह्मणों के भट्ट परिवार में 1660 ई. के लगभग हुआ। उसके पिता और पूर्वज जंजीरा के सीदियों के अधीन अपने गाँव के देशमुख (प्रधान) थे। उसके पिता ने सीदियों के अत्याचारों के कारण शिवाजी के यहाँ नौकरी कर ली। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बालाजी अपने गाँव वापस चला गया, परन्तु उसे वहाँ से भागना पड़ा। 1699-1708 ई. के मध्य विश्वनाथ मराठा-सेनापति धानाजी जादव की सेवा में था और शाहू के महाराष्ट्र में प्रवेश करने के अवसर पर दौलताबाद का सर-सूबेदार था। उसने धानाजी जादव को शाहू का साथ देने की सलाह दी और 1707 ई. में वह अपने स्वामी के साथ शाहू की सेवा में चला गया। धानाजी जादव की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके पुत्र चन्द्रसेन को सेनापति का पद दिया। परन्तु वह उस पर पूर्ण विश्वास नहीं करता था। इस कारण, उसने 1708 ई. में विश्वनाथ को सेनाकार्टे का पद दिया जिससे वह सेना के संगठन की देखभाल करने के साथ-साथ चन्द्रसेन पर भी दृष्टि रख सके। विश्वनाथ ने वफादारी से शाहू की सेवा की और महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने ताराबाई के विरुद्ध हो रहे षड्यन्त्र में भाग लिया जिससे राजसबाई को सहायता मिली और उसने ताराबाई और उसके पुत्र को कैद करके अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय को कोल्हापुर में मराठा-राजा घोषित करने में सफलता पायी। 1713 ई. में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाहू ने विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया। 1714 ई. में विश्वनाथ ने मराठों के नौ-सेनापति कान्होजी आँग्रिया से भेंट की और उसे शाहू को मराठा-छत्रपति स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया। विश्वनाथ ने कौशल और युद्ध से शाहू के विरोधी मराठा-सरदारों जैसे कृष्णराव खटाऊकर, धानाजी थोरट, उदाजी चौहान आदि को परास्त करने में भी सफलता पायी। इस प्रकार, विश्वनाथ ने महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति को दृढ़ किया। उसने राज्य की आर्थिक स्थिति को भी सुधारने का प्रयत्न किया परन्तु उसमें सफल न हुआ। इसके विपरीत, उसने शाहू के व्यक्तिगत व्यय के उत्तरदायित्व को विभिन्न मराठा-सरदारों पर डालकर उसे अपने सरदारों पर आश्रित कर दिया। यही विश्वनाथ की एकमात्र असफलता रही। अन्य सभी दृष्टियों से वह सफल रहा।

विश्वनाथ की एक मुख्य सफलता 1719 ई. में मुगल बादशाह की ओर से सैयद हुसैनअली द्वारा मराठों से की गयी सन्धि थी। वस्तुतः सैयद हुसैनअली को बादशाह फर्रुखसियर के विरुद्ध सैनिक-शक्ति की आवश्यकता थी। फर्रुखसियर सैयद-भाइयों के विनाश के लिए प्रयत्नशील था। इस कारण, सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इस प्रयत्न में सफलता पाने के लिए सैयद हुसैनअली ने जो उस समय दक्षिण-भारत में था, शाहू से एक सन्धि का प्रस्ताव किया। विश्वनाथ की सलाह से शाहू ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के अनुसार मुगल-बादशाह ने शाहू को महाराष्ट्र और शाहू द्वारा विजित प्रदेशों का स्वामी, दक्षिण-भारत के छः सूबों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के मराठों के अधिकार और उन सूबों में शान्ति स्थापित करने के उनके उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लिया। इसके बदले में शाहू ने उस अवसर पर मुगलों को 15,000 घुड़सवार-सैनिकों की सहायता देने और मुगल बादशाह को दस लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया। यह सन्धि विश्वनाथ की एक बड़ी सफलता थी। इससे अप्रत्यक्षतः मराठे दक्षिण-भारत के सम्प्रभु बन गये तथा 'चौथ' एवं 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकार को प्राप्त करके उन्हें अपने राज्य को विस्तृत करने का बहाना मिला। इसके अतिरिक्त सैयद हुसैनअली के साथ विश्वनाथ खण्डेराव धाभादे के नेतृत्व में मराठा-सैनिक दिल्ली गये, मुगल बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने में भाग लिया तथा मुगल बादशाह और उसके साम्राज्य की दुर्बलता से परिचित हुए। इससे उनके साहस में वृद्धि हुई और भविष्य में मराठों ने उत्तर-भारत की ओर कदम बढ़ाये। विश्वनाथ स्वयं यह न सोच पाया था और न उसने मराठों को उत्तर-भारत की ओर बढ़ने का प्रोत्साहन दिया। परन्तु अप्रत्यक्षतः वह मराठों में इस विस्तारवादी नीति को आरम्भ करने के लिए उत्तरदायी हुआ। 2 अप्रैल, 1720 ई. में विश्वनाथ की मृत्यु हो गयी। तब तक वह शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ कर चुका था, शाहू मुगल बादशाह से अपने छत्रपति पद की स्वीकृति पा चुका था, दक्षिण-भारत से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार उसने पा लिया था। इस प्रकार मराठे मुगल-दरबार और उत्तर-भारत की राजनीति में प्रत्यक्षतः भाग ले रहे थे। इस सब ने मराठा-शक्ति के विस्तार की आधारशिला का निर्माण किया।

पेशवा बाजीराव (1720-1740 ई.)

विश्वनाथ की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके 20 वर्ष से भी कम आयु के पुत्र बाजीराव को पेशवा का पद प्रदान किया। बाजीराव एक योग्य नीतिज्ञ और सफल सेनापति सिद्ध हुआ। अपने प्रयत्नों से उसने मराठों को भारत की प्रथम श्रेणी की शक्तियों में स्थान दिला दिया। बाजीराव के सम्मुख विभिन्न कठिनाइयाँ थीं। नीति के आधार पर प्रतिनिधि श्रीपतराव ने और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति के साथ-साथ ईर्ष्यावश सेनापति त्रिम्बकराव ने पेशवा का विरोध किया, कोल्हापुर के शासक शम्भाजी द्वितीय ने शाहू के अधिकारों के विरोध में अपने अधिकारों का दावा किया और निजाम-उल-मुल्क आसफजा के हाथों में खेलकर मराठों की शक्ति को विभाजित किया, कोंकण-प्रदेश में सीदियों और पुर्तगालियों ने मराठों का विरोध किया, आँग्रिया-सरदार ने शाहू के अधीनस्थ सरदार के स्थान पर उसके साथ एक मित्र का व्यवहार करना चाहा और तत्कालीन समय के एक सफल कूटनीतिज्ञ और सेनापति तथा हैदराबाद के प्रायः स्वतन्त्र राज्य की नींव डालने वाले निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने दक्षिण-भारत में मराठा-शक्ति को गम्भीर चुनौती दी। परन्तु बाजीराव ने उन सभी कठिनाइयों को हल किया। प्रतिनिधि श्रीपतराव उत्तर-भारत में मराठों की शक्ति के विस्तार की नीति के विरोध में था जैसा कि पेशवा बाजीराव चाहता था। अन्त में, जब बाजीराव ने निरन्तर निजाम-उल-मुल्क आसफजा को युद्ध में परास्त किया तब वह बाजीराव की नीति के पक्ष में हो गया। सेनापति त्रिम्बकराव पेशवा से ईर्ष्या करता था और उसकी इस नीति के विरोध में भी था कि एक मराठा सरदार का एक जागीर पर एकाधिपत्य न हो। अन्त में 1731 ई. में दभाई के निकट सेनापति और पेशवा का युद्ध हुआ जिसमें पेशवा की विजय हुई और त्रिम्बकराव युद्ध में मारा गया। इससे शाहू के सरदारों में पेशवा का स्थान प्रमुख हो गया। शम्भाजी द्वितीय ने शाहू से महाराष्ट्र की भूमि का आधा भाग और दक्षिण के छः सूबों की 'चौथ' एवं 'सरदेशमुखी' में से अपना हिस्सा माँगा। अन्त में, श्रीपतराव के नेतृत्व में एक मराठा-सेना शाहू ने उसके विरुद्ध भेजी। 1730 ई. में वार्ना नदी के निकट शम्भाजी द्वितीय की पराजय हुई, परिणामस्वरूप 1721 ई. में उसने शाहू से वार्ना की सन्धि कर ली। इस सन्धि द्वारा शम्भाजी ने शाहू को महाराष्ट्र का स्वामी और स्वयं को उसके अधीन शासक स्वीकार कर लिया। बाजीराव ने कोंकण-प्रदेश में शाहू के स्वामित्व को स्थापित किया, आँग्रिया-बन्धुओं ने गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करके दोनों में समझौता कराया और दोनों को शाहू की सेवाएँ स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया, सीदियों को सन्धि करने के लिए बाध्य किया और पुर्तगालियों से बेसीन छीनकर उन्हें भी सन्धि के लिए बाध्य किया। निजाम-उल-मुल्क ने 1724 ई. में मराठों की सहायता लेकर दक्षिण-भारत के सूबेदार मुबारिजखाँ को परास्त करके हैदराबाद के प्रायः स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। वह मराठों का सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु सिद्ध हुआ। निजाम मुख्यतया बाजीराव की शक्ति और योजना से शंकित था। उसने उसके विरुद्ध छत्रपति शाहू और श्रीपतराव को भड़काया, शम्भाजी द्वितीय को शाहू के विरोध में अपने अधिकारों की माँग करने के लिए उकसाया और सेनापति त्रिम्बकराव को सैनिक-सहायता देने का आश्वासन दिया। तब भी बाजीराव उसके विरुद्ध सफल रहा। बाजीराव ने 1727-1728 ई. तक निजाम से छुटपुट युद्ध किये और अन्त में 1728 ई. में पालखेद नामक स्थान पर निजाम को घेरकर ऐसी स्थिति में डाल दिया कि उसने बिना युद्ध के मुंगीशेगाँव की सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने शाहू को मराठों का एकमात्र छत्रपति मान लिया और उसे 'चौथ' एवं 'सरदेशमुखी' भी देने का वायदा किया। 1737 ई. में मुगल बादशाह ने निजाम को मराठों के विरुद्ध भेजा। परन्तु इस बार भी बाजीराव उससे अधिक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। बाजीराव ने भोपाल के निकट निजाम को घेर लिया और पुनः ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि उसे बिना युद्ध के 1738 ई. में दुरई-सराय की सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस सन्धि के द्वारा मुगल बादशाह ने मालवा का सूबा और नर्मदा तथा चम्बल नदी के मध्य की सम्पूर्ण भूमि मराठों को दे दी। इसके अतिरिक्त, मराठों ने पचास लाख रुपया भी प्राप्त किया। इस विजय ने सम्पूर्ण भारत में बाजीराव की प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया। इस प्रकार बाजीराव ने अपने सभी शत्रुओं को परास्त करने में सफलता पायी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु बाजीराव की सफलता इससे भी अधिक थी। उसका प्रमुख लक्ष्य उत्तर-भारत की ओर मराठा-शक्ति का विस्तार करना था। उसका कहना था, "हमें इस जर्जर वृक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिए, शाखाएँ तो स्वयं गिर जायेंगी।" इसका अर्थ था कि पतनोन्मुख मुगल-साम्राज्य पर आक्रमण करके मराठों को राज्य-विस्तार करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आरम्भ से ही उत्तर-भारत की ओर विस्तार की नीति अपनायी। मराठों ने 1722 ई. में मालवा पर अपना प्रथम आक्रमण किया। उसके पश्चात् मराठे मालवा से निरन्तर 'चौथ' की माँग करते रहे। अन्त में, 1738 ई. में दुरई-सराय की सन्धि द्वारा निजाम-उल-मुल्क ने मुगल बादशाह की ओर से मालवा मराठों को सौंप दिया। गुजरात पर मराठों के आक्रमण 1723 ई. से आरम्भ हुए। धीरे-धीरे उन्होंने वहाँ अपने दबाव में वृद्धि की। अन्त में, 1735 ई. तक प्रायः सम्पूर्ण गुजरात पर मराठों का आधिपत्य हो गया। 1729 ई. में बाजीराव बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल की सहायता के लिए गया और उससे बदले में उसने बुन्देलखण्ड का कुछ भू-क्षेत्र तथा झाँसी, कालपी आदि नगरों को प्राप्त किया जो आगरा के निकट थे। उसके पश्चात् मराठों ने दोआब, राजस्थान और दिल्ली के निकटस्थ क्षेत्रों पर आक्रमण करने आरम्भ किये जिनके फलस्वरूप 1736 ई. में मुगल बादशाह ने मराठों को चम्बल नदी के दक्षिणी भू-क्षेत्र के लिए तेरह लाख रुपया, राजस्थान के लिए तेरह लाख साठ हजार रुपया और दक्षिण की आय का पाँच प्रतिशत भाग बाजीराव को 'सरदेशपाण्य' के रूप में प्रति वर्ष देना स्वीकार कर लिया। बाद में बाजीराव ने अवध और बंगाल के सूबों तथा इलाहाबाद, गया और बनारस जैसे हिन्दुओं के तीर्थस्थलीय नगरों की माँग भी मुगल बादशाह से की यद्यपि उसे स्वीकार नहीं किया गया। 1740 ई. में बाजीराव की मृत्यु हो गयी। परन्तु अपनी मृत्यु से पहले बाजीराव ने मराठों को न केवल दक्षिण-भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया था अपितु उन्हें उत्तर-भारत में भी विस्तृत भू-क्षेत्र पर अधिकार दिला दिया था। इस प्रकार मराठे, उसके समय में, भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति का स्थान प्राप्त कर चुके थे यद्यपि वैधानिक रूप से न उसकी माँग की गयी थी और न वह स्वीकृत था।

बाजीराव को महान् पेशवाओं में से एक स्वीकार किया गया है। वह एक महान् सैनिक और सेनापति था। निजाम-उल-मुल्क को अपने समय का एक महान् सेनापति माना गया था जिसने एक सौ से अधिक युद्धों में भाग लिया था। दो बार युद्ध में उसका बाजीराव से सामना हुआ और दोनों ही बार उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बाजीराव ने मराठों के सम्मुख एक नवीन और महान् लक्ष्य रखा और वह था उत्तर-भारत की विजय। मुगल-साम्राज्य नष्टप्रायः था और ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा व्यक्ति सफलता से साम्राज्य का निर्माण कर सकता था जिसमें साहस और तलवार की शक्ति होती। बाजीराव ने इस तथ्य को समझा और मराठा-साम्राज्य की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया। मुगल-साम्राज्य के पतन से भारत की राजनीतिक स्थिति में जो शून्यता आ गयी थी उसे किसी न किसी को अवश्य भरना था। यदि बाजीराव के नेतृत्व में मराठे इस कार्य को न करते तो कोई अन्य व्यक्ति इस कार्य को करता। बाजीराव ने जब इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया तो यह उसकी व्यावहारिक बुद्धि और उसके महान् आदर्श का प्रमाण था। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने तलवार का सहारा लिया जो मध्य-युग में सर्वाधिक सफल साधन था। बाजीराव सफल सेनापति सिद्ध हुआ। उसके नेतृत्व में मराठा-घुड़सवारों ने प्रायः सम्पूर्ण भारत में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की। बाजीराव ने अपने मुकाबले में खड़ी होने वाली सभी शक्तियों को परास्त किया। उसके समय में मराठे न केवल दक्षिण-भारत की अपितु सम्पूर्ण भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन गये। बाजीराव का विजय-अभियान चल ही रहा था कि उसकी मृत्यु हो गयी और यह जानने का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसर न मिल सका कि वह आगे क्या चाहता था। परन्तु जो भी सफलता उसने प्राप्त की वही उसे महान् सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी। डॉ. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है : "बाजीराव एक महान् सेनापति था। उसकी योजना की मौलिकता, उसको कार्यरूप में परिणित करने का साहस और युद्ध-नीति पर उसकी दृष्टि उसे, निस्सन्देह, असाधारण सेनापतियों की श्रेणी में स्थान देती है। शाहू के प्रधानमन्त्री की हैसियत में वह महाराष्ट्र के तत्कालीन व्यक्तियों में निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ था। उसकी विदेश नीति और मराठा-विस्तार की नीति मौलिक ही नहीं अपितु दूरदर्शितापूर्ण भी थी। इस कारण, यह ठीक ही कहा गया है कि बाजीराव योजना बनाने का मस्तिष्क रखने के साथ-साथ उन्हें कार्य-रूप में परिणित करने की शक्ति भी रखता था।"

पेशवा बालाजी बाजीराव (1740-1761 ई.)

बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके 18-1/2 वर्षीय पुत्र बालाजी को पेशवा नियुक्त किया, जिसे नाना साहब भी पुकारा गया है। बालाजी बाजीराव अपने पिता के समान योग्य सैनिक और सेनापति न था परन्तु व्यवहार-कुशल अवश्य था। यह कहा गया है कि बाजीराव ने मित्र कम और शत्रु अधिक बनाये जबकि उसके पुत्र बालाजी ने शत्रु कम और मित्र अधिक बनाये। आन्तरिक दृष्टि से बालाजी ने अर्थ और शासन-व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न किया और कुछ मात्रा में सफलता भी प्राप्त की। परन्तु उसकी मुख्य दुर्बलता मराठा-सरदारों को अपने अधीन बनाये रखने और उनमें परस्पर सहयोग बनाये रखने में असफल रहने की रही। वह रघुजी भौंसले की महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश न लगा सका, उसने गायकवाड़ को असन्तुष्ट कर दिया तथा वह सिन्धिया और होल्कर की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को न रोक सका। विदेश-नीति की दृष्टि से उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ की गयी साम्राज्य-विस्तार की नीति को ही अपनाया। छत्रपति शाहू ने भी उसे इस दिशा की ओर बढ़ने का उत्साह प्रदान किया। इस दृष्टि से वह सफल भी हुआ। 1752 ई. तक मराठे अपनी शक्ति की चरम-सीमा पर पहुँच गये। मराठा-घुड़सवार दक्षिण से उत्तर-भारत तक फैल गये, मुगल बादशाह उनके हाथ की कठपुतली बन गये, भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र पर उनका अधिकार हो गया और बचे हुए क्षेत्रों से उन्होंने 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करना आरम्भ कर दिया। परन्तु मराठे अपने बढ़ते हुए उत्तरदायित्व को सँभालने में असमर्थ रहे। उन्होंने राजपूतों और जाटों से अपने सम्बन्ध खराब कर लिये, दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने के पश्चात् वे उसे अपने अधिकार में न रख सके, विदेशी मुसलमान-सरदारों का दल उसके विरुद्ध हो गया तथा उस दल ने अहमदशाह अब्दाली से मराठों के विरुद्ध सहायता माँगी। इसका अन्तिम परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ जिसमें मराठों की पराजय हुई और जिससे मराठा-शक्ति की महान् क्षति हुई। उसके पश्चात् पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी, मराठों की एकता नष्ट हो गयी और मराठा-शक्ति पतनोन्मुख हुई। इस प्रकार, बालाजी का समय महान् सफलताओं से आरम्भ हुआ और मराठे उसके समय में एक बार अपनी शक्ति की चरम-सीमा पर पहुँच गये। परन्तु उसी के समय से मराठों का पतन भी आरम्भ हुआ। इसके लिए बालाजी को जिम्मेदार कहा गया। साम्राज्य की आधारशिला केवल सैनिक-बल पर आधारित नहीं होती अपितु उसके लिए दृढ़ और निष्पक्ष शासन-व्यवस्था की स्थापना करना भी आवश्यक होता है। बालाजी बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को यह व्यवस्था प्रदान न कर सका और इस प्रकार मराठों को समय और परिस्थितियों के अनुकूल नेतृत्व प्रदान करने में असफल हुआ। यह उसकी और मराठों की असफलता का कारण बना। इस प्रकार बालाजी के समय में मराठा-शक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर पतनोन्मुख भी हुई। पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय के धक्के को बालाजी सहन न कर सका और 23 जून, 1761 ई. को उसकी मृत्यु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गयी। परन्तु उसकी मृत्यु के अवसर पर भी मराठे भारत की एक शक्ति थे और यही बालाजी को महान् पेशवाओं में एक स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

बालाजी ने अपने पारिवारिक कर्जे को चुका कर अपने को आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त किया, तुलाजी और मानाजी आँग्रिया में उत्तराधिकार का युद्ध होने पर मानाजी आँग्रिया का पक्ष लेकर उसे सफल बनाया, 1741 ई. में मुगल बादशाह से एक सन्धि करके मालवा पर मराठों के अधिकार को वैध बनाया, 1746 ई. में कर्नाटक की विजय पूर्ण करायी, और निजाम से असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा उसके निकट के स्थानों को छीन लिया। बालाजी का संघर्ष रघुजी भोंसले से भी हुआ। रघुजी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का एकाधिपत्य दे दिया गया था। परन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट न रहा और उसने मालवा एवं बुन्देलखण्ड की सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये जो पेशवा की जागीर में थे। बालाजी ने कई बार रघुजी को परास्त किया। अन्त में, छत्रपति शाहू ने दोनों में समझौता कराया।

बालाजी के समय में मराठों द्वारा राजस्थान के राजपूत-राज्यों में भी हस्तक्षेप किया गया। जयपुर के शासक सवाई मिर्जा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। मराठों ने उसमें हस्तक्षेप किया परन्तु जिस प्रकार राजपूतों से उनका व्यवहार रहा उससे राजपूतों से उनके सम्बन्ध खराब हो गये। इसी प्रकार 1752 ई. में मारवाड़ के उत्तराधिकार के युद्ध में भी मराठों का हस्तक्षेप हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे भी राजपूतों के सम्बन्ध मराठों से खराब हुए। उस समय राजपूत-राज्य दुर्बल थे और मराठों ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके अनुचित लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यही मराठों और राजपूतों के सम्बन्ध खराब होने का मुख्य कारण बना। इसके परिणामस्वरूप पानीपत के तृतीय युद्ध के अवसर पर मराठे राजपूत-शासकों से सहायता प्राप्त करने में असफल रहे।

इस समय में मराठों ने भरतपुर के जाट-राजा सूरजमल से भी अपने सम्बन्ध खराब कर लिये। मराठों ने मुगल बादशाह का पक्ष लेकर कुम्भेर का घेरा डाला परन्तु सफलता न मिली। इससे मराठों के सम्बन्ध जाटों से भी खराब हो गये। उत्तर-भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करते हुए मराठों की यह दूसरी गम्भीर भूल थी।

1749 ई. में शाहू की मृत्यु हो गयी। उसने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत शिवाजी द्वितीय के तथाकथित पुत्र राजाराम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। परन्तु राजाराम के छत्रपति बनने के पश्चात् ताराबाई ने यह बताया कि राजाराम शिवाजी द्वितीय का पुत्र न था। इस कारण, बालाजी ने राजाराम से संगोला का समझौता किया जिसके अनुसार छत्रपति के सम्पूर्ण अधिकार पेशवा को प्राप्त हो गये और छत्रपति को सतारा में प्रायः बन्दी रूप में छोड़ दिया गया। इस प्रकार, बालाजी मराठा-साम्राज्य का प्रधान बन गया।

पानीपत का तृतीय युद्ध (1761 ई.)—बालाजी के समय की प्रमुख घटना पानीपत का तृतीय युद्ध था जो मराठों और अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली के मध्य हुआ। 1752 ई. में पेशवा ने मुगल बादशाह से एक सन्धि की। उसके द्वारा मुगल बादशाह ने मराठों को सम्पूर्ण भारत में 'चौथ' वसूल करने का अधिकार दिया और उसके बदले में मराठों ने अवसर पड़ने पर मुगल बादशाह को सहायता देने का वायदा किया। इस प्रकार, इस सन्धि से मराठे प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली की राजनीति से सम्बद्ध हो गये। उस समय मुगल-सरदार दो गुटों में बँट चुके थे जिनमें सत्ता के लिए परस्पर संघर्ष रहता था। उनमें एक गुट भारतीय-मुसलमानों का था और दूसरा गुट विदेशी, मुख्यतया, तूरानी-मुसलमानों का था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठों को सरदारों की उस गुटबन्दी में भी भाग लेना पड़ा और वे भारतीय मुसलमान-सरदारों के गुट के समर्थक बन गये। इस कारण, विदेशी मुसलमान-सरदारों के गुट ने विदेश से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यह सहायता उन्हें सरलता से अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली से प्राप्त हो गयी। अहमदशाह अब्दाली कश्मीर, मुल्तान और पंजाब को अपने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत मानता था। इस कारण वह इन प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर था। दुर्बल मुगल बादशाह दरबार की इस गुटबन्दी को रोकने में सर्वथा असमर्थ थे। इस कारण, दरबार के विरोधी गुटों को क्रमशः मराठों और अहमदशाह अब्दाली से सहायता प्राप्त हुई जिनके समर्थन को प्राप्त करके उन्होंने राज्य के प्रमुख पदों पर अधिकार करने तथा बादशाह तक में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। इस कारण, इन गुटों में संघर्ष हुआ और इन विरोधी गुटों का समर्थन करते हुए मराठे और अहमदशाह अब्दाली भी आपस में संघर्षरत हुए। इस प्रकार, मुगल बादशाह की दुर्बलता, उसके सरदारों का दो गुटों में विभाजित होना और सत्ता के लिए उनमें संघर्ष, मराठों का मुगल बादशाह को सहायता देने का वायदा तथा उत्तर-भारत में अपने प्रभाव को फैलाने की आकांक्षा तथा अहमदशाह अब्दाली का कश्मीर, मुल्तान और पंजाब पर अधिकार करने की लालसा से मुगल-दरबार के तूरानी गुट का समर्थन आदि पानीपत के तृतीय युद्ध का कारण बने।

1752 ई. में अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया था जिससे मुगल बादशाह अहमदशाह ने पंजाब और मुल्तान उसे सौंप दिये थे। अब्दाली मुइन-उल-मुल्क को इन स्थानों का सूबेदार बनाकर वापस चला गया था। 1753 ई. में मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु हो गयी। उसकी विधवा पत्नी मुगलानी बेगम ने शासन अपने हाथों में ले लिया परन्तु वह उसको सँभाल न सकी। 1754 ई. में मराठा रघुनाथराव के नेतृत्व में दिल्ली पहुँचे और वजीर गाजीउद्दीन की सहायता करते हुए उन्होंने अहमदशाह को सिंहासन से हटाकर आलमगीर द्वितीय को मुगल बादशाह बना दिया। इससे विदेशी मुसलमानों का गुट असन्तुष्ट हुआ जिनमें एक प्रमुख सरदार नजीबुद्दौला रुहेला था। 1756 ई. में वजीर गाजीउद्दीन ने मुगलानी बेगम से मुल्तान और पंजाब छीन लिया। इससे अहमदशाह अब्दाली असन्तुष्ट हुआ और जब नजीबुद्दौला और मुगलानी बेगम ने उससे सहायता माँगी तब उसी वर्ष उसने पंजाब पर आक्रमण किया। 1757 ई. में अब्दाली दिल्ली पहुँचा। उसने नजीबुद्दौला को मीर-बख्शी का पद दिया और पंजाब का सूबेदार अपने पुत्र तैमूरखाँ को बनाया। इसके पश्चात् वह काबुल वापस चला गया। पेशवा ने उस अवसर पर रघुनाथराव को पुनः उत्तर-भारत भेजा था परन्तु उसके दिल्ली पहुँचने से पहले अब्दाली भारत से वापस जा चुका था। रघुनाथराव ने नजीबुद्दौला को मीर-बख्शी के पद से हटा दिया और उस पद को अहमदशाह बंगश को दिया। उसने पंजाब पर आक्रमण करके तैमूरखाँ को भगा दिया और वहाँ अदीना बेग को सूबेदार नियुक्त किया। 1758 ई. में रघुनाथराव पूना चला गया और दिल्ली में उसका स्थान दत्ताजी सिन्धिया ने लिया। दत्ताजी ने साबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया और नजीबुद्दौला से कोई समझौता न होने पर शकरताल में उसे घेर लिया। अब्दाली इन घटनाओं से उदासीन न था। उसने पंजाब पर आक्रमण किया जिसके कारण साबाजी सिन्धिया को पंजाब से भागना पड़ा। दत्ताजी ने शकरताल का घेरा उठा लिया और दिल्ली की ओर बढ़ा। जनवरी 1760 ई. में दिल्ली के निकट लोनी नामक स्थान पर अब्दाली से उसका युद्ध हुआ जिसमें उसकी पराजय हुई और वह युद्ध में मारा गया। दिल्ली पर अब्दाली का अधिकार हो गया जहाँ नजीबुद्दौला आकर उससे मिल गया और उससे प्रार्थना की कि वह भारत से उस समय तक वापस न जाय जब तक कि मराठों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट न कर दिया जाय।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दत्ताजी की मृत्यु का समाचार पाकर पेशवा ने एक बड़ी मराठा-सेना सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में अब्दाली को भारत से बाहर निकालने के लिए उत्तर-भारत भेजी। अगस्त 1760 ई. में जब मराठे दिल्ली पहुँचे, अब्दाली दिल्ली से हट चुका था। अब्दाली और सदाशिवराव भाऊ ने अपने-अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिए उत्तर-भारत के विभिन्न सरदारों और राजाओं से सहायता लेने का प्रयत्न किया। अब्दाली ने घोषणा की कि वह स्वयं भारत में नहीं रुकेगा अपितु उसका उद्देश्य तो दक्षिण-भारत के मराठों को उत्तर-भारत से हटाकर मुगल बादशाह शाहआलम को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाना है। नजीबुद्दौला ने इस लक्ष्य की पूर्ति में उसकी सहायता की और सफल हुआ और इस कारण सदाशिवराव मुसलमान-सरदारों का समर्थन प्राप्त करने में असफल हुआ। सदाशिवराव का कहना था कि वह विदेशी आक्रमणकारी को भारत से निकालना चाहता है, और इस कारण यह युद्ध भारतीयों और विदेशियों का है। परन्तु सदाशिवराव कूटनीतिज्ञ न था। वह किसी भी प्रभावशाली सरदार का समर्थन न पा सका। राजपूत मराठों से पहले ही असन्तुष्ट थे। सदाशिवराव ने अपने व्यवहार से भरतपुर के राजा सूरजमल जाट को भी नाराज कर दिया और वह मराठों का साथ छोड़ गया। इसके अतिरिक्त, नजीबुद्दौला ने धर्म की दुहाई देकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में कर लिया तथा चालाकी से मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर से भी साँठगाँठ कर ली। सदाशिवराव सेनापति की दृष्टि से भी अब्दाली की तुलना में दुर्बल सिद्ध हुआ। उसे दिल्ली में रसद की कठिनाई होने लगी। अन्त में, मराठे पानीपत के मैदान की ओर बढ़े, जहाँ अब्दाली पहले ही पहुँच गया था। नवम्बर 1760 ई. में दोनों विरोधी सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख पहुँच गयीं जबकि युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. को हुआ।

14 जनवरी को प्रातःकाल 9 बजे मराठों ने आक्रमण आरम्भ किया। मल्हारराव होल्कर युद्ध के बीच में ही भाग निकला। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली को बहुत हानि पहुँचाई परन्तु, अन्त में, मराठों की पराजय हुई। शाम तक मराठा-सेना भाग गयी अथवा कत्ल कर दी गयी। दूसरे दिन तक कत्लेआम चलता रहा। कई बड़े मराठा-सरदार जिनमें सदाशिवराव, पेशवा का पुत्र विश्वासराव, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया आदि सम्मिलित थे, युद्ध में मारे गये। महाराष्ट्र में एक भी परिवार ऐसा न था जिसने अपने किसी न किसी स्वजन की मृत्यु पर शोक न मनाया हो।

मराठों की पराजय का मुख्य कारण सदाशिवराव की कूटनीतिक असफलता और अब्दाली की तुलना में उसका दुर्बल सेनापतित्व था। मराठों की सेना में स्त्रियों और नौकरों की संख्या बहुत अधिक थी और उसमें वस्तुतः सैनिक केवल 45,000 ही थे जबकि अब्दाली के सैनिकों की संख्या 60,000 थी। सदाशिवराव ने अपने गलत सैन्य-संचालन से दोआब को खो दिया और वह अपनी सेना के लिए पर्याप्त रसद न जुटा सका। वह तीन माह तक अब्दाली के सम्मुख बेकार पड़ा रहा और युद्ध भी तब आरम्भ किया जबकि मराठा-सैनिकों को दो माह से पर्याप्त भोजन तक नहीं मिल पा रहा था। उसने मराठा-गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग नहीं किया अपितु इब्राहीम गार्दी के तोपखाने पर आश्रित होकर सुरक्षात्मक युद्ध किया। अब्दाली के पास अच्छी घुड़सवार और ऊँट-सेना थी और उसके पास अच्छी बन्दूकें भी थीं जबकि मराठा-सेना में घुड़सवारों की कमी थी। सदाशिवराव का राजपूतों की सहायता न ले पाना और जाट-राजा सूरजमल की नाराजगी भी उसकी पराजय के कारण थे। इस प्रकार, सभी परिस्थितियाँ ऐसी बन गयी थीं जिनमें मराठों की पराजय प्रायः निश्चित थी। इस कारण यह युद्ध, युद्ध न रहकर हत्याकाण्ड मात्र बन गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पानीपत के इस युद्ध में परिणामों के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। इतिहासकार सरदेसाई के अनुसार इस युद्ध में मराठों की जन-हानि अवश्य हुई परन्तु मराठा-शक्ति का विनाश नहीं हुआ और न मराठों के उद्देश्य में कोई परिवर्तन हुआ। परन्तु, इसके विपरीत, इतिहासकार जदुनाथ सरकार के अनुसार यह मराठों की एक गम्भीर पराजय थी। इस युद्ध में मराठों ने अपने योग्यतम और बहादुर सरदारों को खो दिया जिसके कारण इसके पश्चात् रघुनाथराव जैसे दुर्बल और षड्यन्त्रकारी सरदारों को मराठा-राजनीति में भाग लेने का अवसर मिल सका। इस युद्ध से पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी और मराठा-राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। इस पराजय ने उत्तर-भारत में मराठों की प्रगति को रोक दिया। निस्सन्देह, सिन्धिया कुछ समय तक मुगल बादशाह का संरक्षक रह सका परन्तु उत्तर-भारत में मराठों का स्थायी प्रभाव स्थापित न रह सका। इसी कारण अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों की शक्ति को समाप्त करने तथा बंगाल में अपनी शक्ति को स्थापित करने का अवसर मिल सका और भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी। इस पराजय ने मराठों के सम्मान में कमी की, मराठा-सेना इसके पश्चात् अजेय नहीं रही और मराठों ने एक लम्बा समय अपनी शक्ति को पुनः दृढ़ करने में लगाया जिस समय में अन्य शक्तियों ने भी भारत में अपनी शक्ति दृढ़ कर ली। इस युद्ध के पश्चात् मराठे सम्पूर्ण भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा न कर सके अपितु भारत की विभिन्न शक्तियों में से एक रह गये। इस प्रकार पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय उनके पतन का आरम्भ था।

पेशवा माधवराव नारायन (1761-72 ई.) और उसके पश्चात्

पेशवा बालाजी बाजीराव पानीपत के तृतीय युद्ध के धक्के को सहन नहीं कर सका। 25 जून, 1761 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र माधवराव नारायन पेशवा बना। पेशवा बनने के अवसर पर उसकी आयु केवल 17 वर्ष की थी। माधवराव नारायन को भी महान् पेशवाओं में स्थान दिया गया है। पानीपत के तृतीय युद्ध के पश्चात् उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों स्थानों पर मराठों का सम्मान कम हो गया था तथा मराठे अजेय नहीं रह गये थे। माधवराव नारायन ने हैदराबाद के निजाम और मैसूर के हैदरअली को चौथ देने के लिए बाध्य करके दक्षिण-भारत में मराठों के सम्मान को पुनः स्थापित किया। उत्तर-भारत में उसने अहमदशाह अब्दाली से परस्पर शान्ति बनाये रखने का समझौता कर लिया, राजपूत-शासकों और जाटों को पुनः मराठों के प्रभाव में ले लिया और रुहेला-सरदार नजीबुद्दौला ने मराठों से एक समझौता कर लिया। 1772 ई. में मुगल-बादशाह शाहआलम भी अंग्रेजों के संरक्षण को छोड़कर इलाहाबाद से दिल्ली आ गया तथा उसने मराठों की संरक्षता स्वीकार कर ली। इस प्रकार, माधवराव नारायन मराठों के सम्मान को पुनः स्थापित करने में सफल हुआ। 1772 ई. में माधवराव नारायन की मृत्यु हो गयी।

माधवराव नारायन की मृत्यु ने मराठों के आन्तरिक संघर्ष को आरम्भ कर दिया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई नारायनराव पेशवा बना परन्तु उसके चाचा रघुनाथराव ने 1773 ई. में ही उसका वध करा दिया और पेशवा की गद्दी का दावा किया। परन्तु मराठा-सरदारों ने उसके अधिकार को स्वीकार नहीं किया अपितु नारायनराव की मृत्यु के पश्चात् जन्मे उसके बच्चे माधवराव नारायन द्वितीय को पेशवा स्वीकार किया और उसकी सहायता के लिए एक संरक्षक परिषद नियुक्त कर दी। रघुनाथराव ने भागकर अंग्रेजों की बम्बई-सरकार से सहायता माँगी जिसका परिणाम प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध था। उसके पश्चात् मराठों की पारस्परिक फूट के कारण उनका पराभव आरम्भ हुआ और, अन्त में, अंग्रेज उनको परास्त करने में सफल हुए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठा-राज्य एवं संघ का आविर्भाव, इसकी संरचना और भूमिका : चौथ और सरदेशमुखी—छत्रपति शाहू के शासनकाल में उसके प्रथम तीन पेशवाओं ने मराठा-साम्राज्य का निर्माण किया और मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति को दृढ़ किया, मुगल-बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने में सैयद-भाइयों की सहायता की और मुगल-बादशाह से दक्षिण के छः सूबों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार प्राप्त करके दक्षिण-भारत में अपने प्रभाव को बढ़ाने की सुविधा प्राप्त की। द्वितीय पेशवा बाजीराव ने मराठों के प्रभाव का विस्तार उत्तरी भारत में किया। उसके समय में मराठे गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के कुछ भाग पर अधिकार कर सके, बंगाल जैसे दूरस्थ सूबों से उन्होंने चौथ वसूल की और हैदराबाद के निजाम को निरन्तर परास्त करके दक्षिण-भारत में अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। तृतीय पेशवा बालाजी बाजीराव के समय में मराठे दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने और मुगल-बादशाह, वजीर और बख्शी में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करने में समर्थ हुए और पंजाब का सूबा भी उनके अधीन हो गया। परन्तु उसी के समय में पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की अहमदशाह अब्दाली से गम्भीर पराजय हुई जिसका एक परिणाम मराठा-संघ का आविर्भाव था।

वस्तुतः मराठा-संघ के आविर्भाव का बीज मराठा-स्वतन्त्रता-संग्राम के अवसर पर ही पड़ गया था जब औरंगजेब के विरुद्ध संघर्ष करने तथा महाराष्ट्र को मुगलों के आधिपत्य से मुक्त कराने के लिए राजाराम और ताराबाई ने मराठा-सरदारों को स्वेच्छा से अपनी सेनाएँ संगठित करने और जिस भूमि पर वे अपनी शक्ति से अधिकार करें उसको उनकी जागीर के रूप में स्वीकार करने की स्वतन्त्रता दे दी। उस समय से मराठा सरदारों में अपनी स्वतन्त्र जागीरें बनाने की भावना उत्पन्न हुई। परन्तु शाहू के महाराष्ट्र में प्रवेश करने और अधिकांश मराठा-सरदारों द्वारा उसे मराठा-छत्रपति स्वीकार करने से उस प्रवृत्ति पर रुकावट लग गयी। परन्तु स्वतन्त्र अधिकारों पर बल देने की प्रवृत्ति मराठा-सरदारों में रही। पेशवा बाजीराव ने उस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने में सफलता प्राप्त की। वह प्रत्येक जागीर पर कम से कम दो मराठा-सरदारों के प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए तत्पर था परन्तु वह किसी एक जागीर पर एक ही मराठा-सरदार के स्वामित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। इसी कारण, सेनापति त्रिम्बकराव से उसका युद्ध हुआ। दभाई के युद्ध में पेशवा की सफलता ने ही मराठा-सरदारों की स्वतन्त्र जागीरें प्राप्त करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया। परन्तु बाजीराव के समय में ही मराठों के प्रभाव-क्षेत्र में विस्तार हुआ तथा मराठे गुजरात और मालवा जैसे सम्पन्न सूबों के मालिक बन गये। जब तक पेशवा बाजीराव जीवित रहा, मराठा-सरदार अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण करने में असमर्थ रहे। परन्तु बाजीराव की मृत्यु के बाद पेशवा बालाजी बाजीराव के समय में इस प्रवृत्ति को रोकना सम्भव नहीं हुआ और मराठों में वंशानुगत जागीरदारी प्रथा आरम्भ हो गयी जिससे शक्तिशाली मराठा-सरदार अपनी-अपनी जागीरों के स्वामी हो गये और मराठा-संघ-राज्य का निर्माण हुआ। मुख्यतया इसके लिए प्रथम कारण, शाहू की मृत्यु हो जाने के पश्चात् मराठा-छत्रपति द्वारा पेशवा को अपने पद का समर्थन प्राप्त न होना हुआ तथा द्वितीय कारण, राजाराम द्वितीय के साथ संगोला का समझौता होने और छत्रपति के अधिकार पेशवा को प्राप्त हो जाने से हुआ। जब छत्रपति का ही एक सरदार अर्थात् पेशवा स्वतन्त्र शासन-सत्ता का उपभोग कर सकता था, तब अन्य सरदार क्यों नहीं ? पेशवा बालाजी बाजीराव को शक्तिशाली मराठा-सरदारों की स्वतन्त्रता की भावना से संघर्ष करना पड़ा। इसी कारण रघुजी भौंसले से उसका संघर्ष हुआ और गुजरात के गायकवाड़ से उसके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध खराब हो गये। बालाजी बाजीराव सिन्धिया और होल्कर की प्रतिस्पर्धा को रोकने में भी असमर्थ रहा तथा पानीपत के तृतीय युद्ध के पश्चात् उत्तरी भारत में सिन्धिया और होल्कर ही प्रभावपूर्ण बन गये और सत्ता के लिए एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी भी। पेशवा माधवराव ने भी मराठों की स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया और कुछ सफलता भी प्राप्त की परन्तु उसकी अकाल-मृत्यु ने मराठा-संघ-राज्य के निर्माण के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। मराठा-संघ-राज्य के निर्माण में उपरोक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त मराठों में उत्पन्न जागीरदारी-व्यवस्था और चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार ने भी सहयोग प्रदान किया।

चौथ और सरदेशमुखी—शिवाजी ने अपनी आय में वृद्धि करने के लिए इन करों को एकत्रित करने की प्रथा को आरम्भ किया था। 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' उनकी आय के प्रमुख साधन बने थे। बाद में ये कर उनके राज्य-विस्तार में भी सहायक सिद्ध हुए। ये कर पड़ोसी राज्यों की सीमाओं और नगरों से अथवा अपने प्रभाव-क्षेत्र के नागरिकों से वसूल किये जाते थे। 'चौथ' उस प्रदेश अथवा नगर की वार्षिक आय का एक-चौथाई (1/4) भाग और सरदेशमुखी उस प्रदेश अथवा नगर की आय का दसवाँ (1/10) भाग होता था। शिवाजी इन प्रदेशों अथवा नगरों के शासन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेते थे और न ये प्रदेश उनके राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत आते थे। इन करों की वसूली उन प्रदेशों अथवा नगरों पर आक्रमण करके शक्ति के आधार पर की जाती थी। यदि आक्रमण किये गये प्रदेश के नागरिक या उसके अधिकारी माँगे हुए कर को देने से इंकार करते थे तो उस प्रदेश या नगर में लूट- मार करके उसे वसूल किया जाता था। इस प्रकार, इन करों का मुख्य लक्ष्य शत्रु-राज्यों की सम्पत्ति से शिवाजी द्वारा अपनी सेना और शासन के व्यय की कमी को पूरा करना था। धीरे-धीरे ये कर उनके राज्य-विस्तार में भी सहायक सिद्ध हुए क्योंकि आक्रमण किये गये क्षेत्र के अधिकारी अपनी दुर्बलता के कारण मराठा-आक्रमणों का विरोध करने की स्थिति में नहीं रह जाते थे और, बाद में, शिवाजी को उन प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित करना सरल हो जाता था। शिवाजी के बाद भी मराठों ने 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' को अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों की पूर्ति का साधन बनाया। परन्तु इन करों ने मराठों की एकता के विरुद्ध मराठा-संघ-राज्य के निर्माण में भी सहयोग दिया। इन करों का अधिकांश भाग छत्रपति को प्राप्त होता था। बाद में, उस धन पर पेशवा ने अधिकार कर लिया। अन्त में, शक्तिशाली मराठा-सरदारों ने उस धन पर अपना अधिकार करने के लिए अपने स्वतन्त्र अस्तित्व पर बल दिया।

'चौथ' और 'सरदेशमुखी' के बँटवारे की व्यवस्था भी निश्चित की गयी थी। 'सरदेशमुखी' से होने वाली आय पर पूर्णतया मराठा-छत्रपति का अधिकार होता था। छत्रपति के शासन से पृथक हो जाने पर यह अधिकार पेशवा ने हस्तगत कर लिया। 'चौथ' का तीन-चौथाई (3/4) भाग आक्रमण करने वाली सेना के सैनिक और उसके अधिकारियों को प्राप्त होता था। बाकी पच्चीस प्रतिशत (25%) में से छः प्रतिशत (6%) सचिव को, तीन प्रतिशत (3%) मराठा-छत्रपति को जिसे वह अपनी इच्छानुसार अपने सैनिकों, सरदारों अथवा अन्य व्यक्तियों में वितरित करता था और बचा हुआ सोलह प्रतिशत (16%) धन छत्रपति के व्यक्तिगत व्यय के लिए सुरक्षित रखा जाता था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पेशवा बालाजी विश्वनाथ के जीवन वृत्त और उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. 'पेशवा बाजीराव सभी पेशवाओं में महान् था।' इस कथन की समीक्षा करते हुए मराठा शक्ति के विकास में उसके योगदान को स्पष्ट कीजिए।
3. पेशवा बालाजी बाजीराव की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
4. पानीपत के तृतीय युद्ध के कारणों व परिणामों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पेशवाओं के उत्थान के कारण बताइए।
2. 1719 ई. की बालाजी विश्वनाथ की मुगलों से की गयी सन्धि की शर्तें बताइए।
3. पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय के कारण लिखिए।
4. पेशवा माधवराव नारायण की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पेशवा बालाजी विश्वनाथ किस जाति से था ?
   (अ) क्षत्रिय (ब) वैश्य
   (स) ब्राह्मण (द) इनमें से कोई नहीं।
2. पेशवा बाजीराव ने शासन किया था—
   (अ) 16 वर्ष (ब) 18 वर्ष
   (स) 19 वर्ष (द) 23 वर्ष।
3. पेशवा बाजीराव व निजाम के बीच 1728 ई. में सन्धि हुई थी—
   (अ) पुरन्दर की (ब) मुंगी-शेगाँव की
   (स) दुरई सराय की (द) इनमें से कोई नहीं।
4. शम्भाजी द्वितीय शासक था—
   (अ) कोल्हापुर का (ब) कोंकण का
   (स) रायगढ़ का (द) मालवा का।
5. त्रियम्बकराव सेनापति था—
   (अ) पेशवा बालाजी राव का (ब) पेशवा बाजीराव का
   (स) दोनों का (द) किसी का नहीं।
6. बम्बई में किस नाविक शक्ति का प्रभुत्व था ?
   (अ) सीदियों का (ब) पुर्तगालियों का
   (स) अंग्रेजों का (द) डचों का।
7. मराठों व सूरजमल जाट के मध्य सम्बन्ध थे—
   (अ) मधुर (ब) तनावपूर्ण
   (स) मैत्रीपूर्ण (द) इनमें से कोई नहीं।
8. दत्ताजी की मृत्यु के बाद पेशवा ने अब्दाली का सामना करने के लिए भेजा था—
   (अ) सदाशिवराव भाऊ को (ब) रघुनाथ राव को
   (स) कृष्णराव को (द) मल्हारराव को।
9. अन्तिम मराठा सरदार था—
   (अ) पेशवा नारायण राव (ब) पेशवा माधवराव
   (स) महादजी सिन्धिया (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (ब), 4. (अ), 5. (ब), 6. (स), 7. (ब), 8. (अ), 9. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11

मुगल बादशाहों की विभिन्न महत्वपूर्ण नीतियाँ

[1]
मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति

मुगल बादशाहों का समय धार्मिक नीति की दृष्टि से अन्वेषण का युग सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत विचारों, युग की परिस्थितियों और राजनीतिक व्यावहारिकता के कारण बाबर से औरंगजेब तक हुए महान् बादशाहों ने जिस धार्मिक नीति का पालन किया उससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत की धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा में धार्मिक उदारता और समानता की नीति को अपनाया जाना ही भारत के शासक-वर्ग के लिए उपयुक्त है। बाबर और हुमायूँ का समय मुगल-साम्राज्य के लिए संघर्ष और राज्य-स्थापना की कठिनाइयों का युग था। यह आशा करना व्यर्थ था कि उनमें से कोई भी एक व्यवस्थित और योजनापूर्ण धार्मिक नीति को भारत में आरम्भ करता। अकबर का शासनकाल लम्बा था। उसके समय में मुगल-साम्राज्य भारत में स्थायी और विस्तृत हो गया। उसने एक योजनाबद्ध धार्मिक नीति को आरम्भ किया। उसकी धार्मिक सहिष्णुता और सभी धर्मों का सम्मान किये जाने की नीति ने मुगलों की राजनीतिक स्थिति को भारत में दृढ़ किया। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा की सद्भावना और उनकी युद्ध-प्रिय जाति राजपूतों की मित्रता प्राप्त करके अकबर ने मुगल-साम्राज्य को शक्तिशाली और वैभवपूर्ण बनाया। अकबर का प्रयत्न भारत की राजनीतिक एकता के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक एकता का भी था। उसकी धार्मिक नीति उसके इस प्रयत्न का एक मुख्य आधार थी। इसी कारण अकबर को राष्ट्रीय सम्राट कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जहाँगीर और शाहजहाँ ने अकबर की परम्परा को निभाया। यद्यपि उनके समय में मुगलों की धार्मिक नीति में धार्मिक कट्टरता की ओर झुकाव प्रतीत होता है परन्तु सैद्धान्तिक आधार पर मुगलों की नीति वही रही जिसका आरम्भ अकबर ने किया था। इससे उन्हें मुगल-साम्राज्य को शक्तिशाली एवं वैभवपूर्ण बनाने में सहायता मिली। अन्तिम मुगल-बादशाह औरंगजेब ने अपने व्यक्तिगत विचारों और सम्भवतया विस्तृत एवं सर्वोपरि मुगल-साम्राज्य की शक्ति में विश्वास करते हुए एक बार फिर इस्लाम की श्रेष्ठता को भारत में स्थापित करने का प्रयत्न किया। औरंगजेब ने धार्मिक सहिष्णुता और समानता की नीति को त्याग दिया। ऐसा करते हुए उसने न केवल अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के अनुभवों को भुला दिया बल्कि उसने मुगलों से पहले के भारत के प्रायः 350 वर्ष के मुसलमानी शासन के इतिहास को भी भुला दिया जिसने यह सिद्ध किया था कि शक्ति के आधार पर भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरर्थक था तथा हिन्दू और मुसलमानों को साथ-साथ रहने और एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करने का स्वभाव बनाना चाहिए। औरंगजेब की असफलता ने जो बहुत कुछ उसकी धार्मिक नीति की असफलता के कारण थी, यह सिद्ध कर दिया कि भारत में धार्मिक असहिष्णुता की नीति प्रत्येक शासक-वर्ग के लिए घातक है। भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता ने यह सिद्ध कर दिया कि अपने धर्म की सहिष्णुता की मूल भावना, सभी धर्मों को ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न मार्ग स्वीकार करने की उदार भावना और सभी धार्मिक विचारों की स्वतन्त्रता और बिना किसी बल-प्रयोग के फलने-फूलने की स्वच्छन्दता उनके लिए सर्वोपरि थी और कोई भी शक्ति उनको एक ही धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती थी। धार्मिक असहिष्णुता भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता की संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति और जन-जीवन के विरुद्ध थी, और है। औरंगजेब ने इसी का प्रयोग किया और इस प्रकार भारतीय संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति और जन-जीवन को चुनौती दी। इस चुनौती को देने से उसे असफलता मिली और भारतीय इतिहास ने भारत के शासक-वर्ग को एक स्थायी सबक सिखाया।

बाबर

धार्मिक दृष्टि से बाबर सुन्नी मुसलमान था तथा ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। वह कहा करता था कि "ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं होता। उसकी दया पर निर्भर करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।" परन्तु बाबर में धार्मिक असहिष्णुता न थी। उसने ईरान के शिया बादशाह शाह इस्माइल से सन्धि करके शिया-मत को अपने राज्य में फैलाने का वायदा किया था। उसके दरबार में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान न था। निस्सन्देह, भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। उसने राणा साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' (धर्म-युद्ध) की घोषणा की, युद्धों के पश्चात् 'गाजी' (काफिरों को कत्ल करने वाला) की उपाधि ग्रहण की, राजपूतों के सिरों की मीनारें खड़ी कीं और मुसलमानों को 'तमगा' (व्यापारिक-कर) से मुक्त कर दिया। परन्तु बाबर की इस नीति का मूल उद्देश्य और आधार धार्मिक न होकर राजनीतिक था। बाबर ने ये कार्य कुछ विशेष अवसरों और मुख्यतया युद्ध के अवसर पर ही किये थे। शासन की ओर से भारतीय जनता के प्रति कोई धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी गयी थी। बाबर सूफी मत के नक्शबन्दी सिलसिले से सम्बन्धित था। वह 'ख्वाजा उबैदुल्ला अहरार' का परम भक्त था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा न था।" डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उसने धर्म के आधार पर कभी किसी हिन्दू-मन्दिर को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किया हो।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार तो मुगलों की उदार धार्मिक नीति और शासन में सांस्कृतिक पक्ष पर बल दिये जाने का आरम्भ बाबर के समय से ही हुआ। इस प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि बाबर व्यक्तिगत रूप से धार्मिक था परन्तु शासक की दृष्टि से वह धर्मान्ध न था।

हुमायूँ

हुमायूँ सुन्नी मत को मानने वाला था और अपने धर्म के नियमों का पालन करता था। परन्तु उसमें धार्मिक कट्टरता अथवा असहिष्णुता नहीं थी। वह सूफी संतों से बहुत प्रभावित था, वह सूफियों की शत्तारी सिलसिले से सम्बन्धित था, वह प्रसिद्ध सूफी संत 'मुहम्मद गौस' का शिष्य था। शिया-मत के प्रति वह बहुत उदार रहा। उसकी पत्नी हमीदाबानू बेगम और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका मुख्य सरदार बैरमखाँ शिया थे। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार अपने पिता के ही समान रहा। युद्ध के अवसर पर उसने भी हिन्दुओं के साथ कठोर व्यवहार किया। कालिंजर के किले के हिन्दू-मन्दिरों को उसने नष्ट किया था परन्तु उसके समय में राज्य की ओर से हिन्दुओं को व्यवस्थित रूप से दबाने की नीति नहीं अपनायी गयी। वह ज्योतिष में अधिक विश्वास करता था। इसलिए वह सप्ताह में सातों दिन सात रंग के कपड़े पहनता था। मुख्यतः वह रविवार को पीले, शनिवार को काले एवं सोमवार को सफेद रंग के कपड़े पहनता था। हुमायूँ साधारणतया धार्मिक कट्टरता से तटस्थ रहा। उसका झुकाव सूफी-मत की ओर भी था और विभिन्न विद्वानों के धार्मिक विचारों को सुनने में उसे आनन्द आता था। उसकी धार्मिक नीति में असहिष्णुता के अंश प्राप्त नहीं होते।

शेरशाह

शेरशाह मुगल नहीं बल्कि अफगान शासक था। उसकी धार्मिक नीति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. के. आर. कानूनगो ने शेरशाह की धार्मिक नीति को सहिष्णुतापूर्ण बताया है। उनके अनुसार, "शेरशाह का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार आदरपूर्ण था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "शेरशाह के व्यक्तिगत विचारों को पृथक रखकर देखा जाय तो वह एक सहिष्णु शासक प्रतीत होता है·····हिन्दुओं को उसने तंग नहीं किया। उन्हें अपने धर्म का पालन करने की पूरी छूट थी। जहाँ तक सम्भव होता था वह राजनीति को धर्म से पृथक रखता था।" परन्तु डॉ. एस. आर. शर्मा ने शेरशाह की धार्मिक नीति को असहिष्णुतापूर्ण बताया है। उनके अनुसार, "धार्मिक नीति की दृष्टि से शेरशाह अपने समय की उपज था। अपने से पहले के शासक फीरोजशाह की भाँति उसमें प्रशासकीय उत्साह के साथ धार्मिक असहिष्णुता सम्मिलित थी। इतिहास में उसका स्थान धार्मिक सहिष्णुता अथवा तटस्थता की नीति को आरम्भ करने पर निर्भर नहीं करता है।" व्यक्तिगत दृष्टि से शेरशाह नियमपूर्वक अपने धर्म का पालन करता था और समय-समय पर उसने इस्लाम के सम्मान में वृद्धि करने का प्रयत्न किया था। रायसीन के शासक पूरनमल के विरुद्ध उसने जिहाद घोषित किया था और राजपूतों के साथ विश्वासघात करके उसने निर्दयता से उनको कत्ल किया था। जोधपुर में उसने हिन्दू-मन्दिर को नष्ट करके मस्जिद का निर्माण किया और कालिंजर के किले में भी उसने धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। परन्तु यह उदाहरण युद्ध के समय के हैं। शेरशाह ने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ने अथवा हिन्दू धर्म को असम्मानित करने के लिए कोई व्यवस्थित नीति नहीं अपनायी थी। इस कारण यह कहा जा सकता है कि साधारणतया शेरशाह की धार्मिक नीति हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की न थी।

अकबर महान्

मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति में अकबर की धार्मिक नीति को श्रेष्ठतम माना गया है। अकबर की नीति पूर्णतया धार्मिक सहिष्णुता की थी। उसकी धार्मिक नीति 'सुलहकुल' (सभी के साथ शान्ति) के सिद्धान्त पर आधारित थी। दिल्ली के सुल्तानों और बादशाहों में इस नीति को आरम्भ करने वाला अकबर था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति उदारता और सक्रिय सहानुभूति एवं सहायता का प्रयत्न प्रान्तीय राज्यों के द्वारा तो कभी-कभी किया भी गया था परन्तु दिल्ली और आगरा के बादशाहों ने यह प्रयत्न कभी नहीं किया था। अकबर प्रथम शासक था जिसने शासन के आरम्भ से ही धीरे-धीरे सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति प्रगतिशील उदारता और सक्रिय सहानुभूति की नीति को अपनाया।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर के उदार धार्मिक विचारों और धार्मिक सहिष्णुता की नीति के निर्माण में परिस्थितियों ने सहायता दी। अकबर का पिता हुमायूँ उदार सुन्नी था, अकबर की माता शिया थी और अकबर का संरक्षक बैरमखाँ भी शिया था। आरम्भ के काल में ही अकबर उदार सूफी सन्तों के सम्पर्क में आया था। अकबर का शिक्षक अब्दुल लतीफ धार्मिक विचारों में इतना उदार था कि फारस में उसे सुन्नी समझा जाता था और भारत में उसे शिया माना जाता था। अकबर का भारतीय जीवन से सम्पर्क पंजाब से आरम्भ हुआ जहाँ गुरु नानक जैसे धर्म-प्रचारक हिन्दू और इस्लाम धर्म की एकता में विश्वास करना सिखा रहे थे। भक्ति-आन्दोलन के अन्य विभिन्न धर्म-प्रचारक भी सभी जातियों और धर्मों की समानता, धार्मिक-सहिष्णुता और ईश्वर-प्रेम का प्रचार कर रहे थे। इस प्रकार, अकबर का लालन-पालन और शिक्षा उदार वातावरण में हुई और जो व्यक्ति आरम्भ में उसके सम्पर्क में आये वह उसके विचारों को उदार बनाने वाले थे। अकबर पर अपने युग का प्रभाव भी पड़ा। 16वीं सदी सम्पूर्ण संसार में धार्मिक पुनरुत्थान की सदी स्वीकार की गयी। भारत में भी हमें यह विशेषता प्राप्त होती है। प्रो. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है : "संसार के इतिहास में 16वीं सदी धार्मिक पुनरुत्थान की सदी है। धर्म-सुधार की महत्वपूर्ण लहर की समता भारत में उत्पन्न हुए जीवन के नवीन उद्वेग से समुचित प्रकार से की जा सकती है। भारत ने ऐसी जागृति का अनुभव किया जिसने उसकी प्रगति को तीव्र किया और राष्ट्रीय जीवन को शक्तिशाली बनाया। इस नव-जागृति की मूल भावनाएँ थीं—प्रेम और उदारता। प्रेम, जिसने मनुष्य को ईश्वर से मिलाया और इस कारण मनुष्य को मनुष्य से मिलाया तथा उदारता जिसने इस प्रेम से जन्म लेकर जाति, सम्प्रदाय और व्यवसायों के अन्तरों को समाप्त कर दिया तथा जिसने मानव-अस्तित्व और सभी धर्मों के तत्वों को अपना आधार बनाया और वह आधार था मानव-भ्रातृभाव। इसने अपने महान् आदर्शों से हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से प्रेरणा दी और वे कुछ समय के लिए अपने धर्मों की व्यर्थ की बातों को भूल गये। मुसलमानों और हिन्दुओं के लिए यह एक नवीन युग का आरम्भ था। मुसलमानों के लिए यह एक ऐसे महदी के जन्म की आशा को दिलाने वाला था जिसकी वह प्रतीक्षा कर रहे थे और हिन्दुओं के लिए यह ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण प्रेम का ज्ञान था।" अपने युग का प्रभाव अकबर पर आया था। अकबर आरम्भ से ही अत्यधिक उदार और मानवीय गुणों से युक्त था और उसने अपनी युवावस्था में आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता को समझा था। अकबर ने अपने शासन के आरम्भ में 1562 ई. में दास-प्रथा को समाप्त कर दिया, 1563 ई. में तीर्थयात्रा-कर को समाप्त कर दिया और 1564 ई. में 'जजिया' को समाप्त कर दिया।

अकबर धार्मिक प्रवृत्ति का था और धर्म की सत्यता को जानने के लिए वह जिज्ञासु भी था। बदायूँनी ने लिखा था : "बादशाह कभी-कभी सम्पूर्ण रात्रि खुदा को याद करते हुए बिता दिया करता था।" उसने अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के दरगाह की निरन्तर यात्राएँ की थीं और वह फतेहपुरसीकरी के सन्त शेख सलीम चिश्ती के प्रति भी बहुत श्रद्धा रखता था। धर्म की सत्यता को जानने की उत्सुकता के कारण उसने 1575 ई. में 'इबादतखाना' बनवाया, सभी धर्मों के विद्वानों को वहाँ आने का निमन्त्रण दिया और व्यक्तिगत रूप से ईसाई, जैन, पारसी और हिन्दू विद्वानों के सम्पर्क में आया। अकबर ने समस्त धार्मिक मामलों को अपने हाथों में लेने के लिए 1579 ई. में 'महजरनामा' या एक घोषणा जारी करवाया। जिसने धर्म के मामलों को सर्वोच्च बना दिया। इस पर पाँच उलेमाओं या इस्लामी धर्मविदों के हस्ताक्षर थे। 'महजर' जारी होने के पश्चात् अकबर ने 'सुल्तान-ए-आदिल' या 'इमाम-ए-आदिल' (न्यायप्रिय शासक) की उपाधि धारण की। इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दस्तावेज (महजर) में उसे 'अमीर-उल-मोमिनीन' कहा गया है। 'महजर' नामक दस्तावेज का प्रारूप 'शेख मुबारक' ने तैयार किया था, किन्तु उसे जारी करने की प्रेरणा शेख मुबारक एवं उसके दोनों पुत्रों अबुल फजल एवं फैजी द्वारा दी गयी थी। अकबर ने महजरनामा नामक सिद्धान्त की घोषणा उलेमाओं के विरोध को कम करने तथा राजत्व की गरिमा बढ़ाने के लिए की। अकबर के समय में तीन बार गोआ के ईसाई पादरियों को दरबार में निमन्त्रित किया गया और अकबर ने उनसे ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को जाना। यद्यपि ईसाई पादरी अकबर को धार्मिक मामलों में अधिक प्रभावित न कर सके तब भी उन्हें काम्बे, लाहौर, हुगली और आगरा में गिरजे बनाने की आज्ञा प्राप्त हो गयी। अपने समय के महान् जैन विद्वान हीराविजय सूरी, जिनचन्द्र सूरी, शान्तिचन्द्र, विजयसेन सूरी आदि को अकबर ने दरबार में आमन्त्रित किया। अकबर जैन धर्म के हिंसा के सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुआ। 1581 ई. में उसने भेड़ों और घोड़ों का वध निषिद्ध कर दिया, उसने स्वयं वर्ष में नौ माह माँस खाना बन्द कर दिया, उसने शिकार खेलना बन्द कर दिया जो उसका एक प्रमुख शौक था, और 1587 ई. में उसने वर्ष में प्रायः छः माह पशुओं के वध किये जाने का निषेध कर दिया। महान् पारसी विद्वान दस्तूरजी मेहरजी को अकबर ने 'इबादतखाने' में वाद-विवाद के लिए आमन्त्रित किया। पारसी धर्म के सम्पर्क में आकर अकबर ने अग्नि और सूर्य को दण्डवत करना आरम्भ कर दिया, महल में 24 घण्टे अग्नि प्रज्ज्वलित रहने की व्यवस्था की और दरबार में पारसी त्यौहार मनाना आरम्भ कर दिया। हिन्दू विद्वान पुरुषोत्तम और देवी निरन्तर अकबर को हिन्दू धर्मों के सिद्धान्तों के बारे में बताया करते थे। उनके सम्पर्क में आने से अकबर हिन्दुओं के कर्म और जीवागमन के सिद्धान्तों में विश्वास करने लगा। इस प्रकार सभी धर्मों के सम्पर्क में आकर अकबर को यह विश्वास हो गया कि सभी धर्मों में सत्य है। अकबर के निकट सम्पर्क में विभिन्न उदार व्यक्ति थे। अबुल फजल और फैजी से उसके सम्बन्ध मित्रता के थे और ये व्यक्ति अत्यन्त उदार थे। अकबर की राजपूत पत्नियों और सम्बन्धियों ने भी अकबर के विचारों को सहिष्णु बनाने में सहायता दी होगी, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। राजनीतिक कारण भी अकबर की उदार धार्मिक नीति के लिए उत्तरदायी थे। अपने समय के आरम्भ में विभिन्न मुसलमानों के द्वारा किये गये विद्रोहों ने उसे यह सोचने के लिए बाध्य किया कि वफादारी के लिए वह किन पर निर्भर कर सकता है। राजपूतों से उसके विवाह-सम्बन्ध हुए। उनके शौर्य, दृढ़ता और वफादारी की भावना से वह प्रभावित हुआ और उसने उन्हें अपना मित्र एवं राज्य की शक्ति का आधार बनाने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में उनके धर्म का सम्मान करना अकबर के लिए स्वाभाविक था। इक्तदार आलमखाँ ने इस पक्ष को अकबर की धार्मिक नीति का मुख्य कारण बताया है। उनके अनुसार अकबर की धार्मिक नीति का उद्देश्य अपने शासक-वर्ग में सन्तुलन स्थापित करना था जिसका गठन विभिन्न जातियों, वर्गों तथा धर्मों के व्यक्तियों द्वारा हुआ था। उसकी उदार प्रकृति इसके लिए अनुकूल थी। इस प्रकार अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा और उसके युद्धप्रिय राजपूत-वर्ग की सहानुभूति और वफादारी प्राप्त करके तथा उसके माध्यम से शासक-वर्ग में सन्तुलन बनाकर एक दृढ़ राज्य की स्थापना करने की इच्छा ने भी अकबर की उदार धार्मिक नीति के निर्माण में सहायता दी।

इन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अकबर ने जिस धार्मिक नीति का पालन किया वह सभी धर्मों की समानता, सम्मान और सत्य के विश्वास पर आधारित थी। अकबर की इस धार्मिक नीति का क्रमिक विकास हुआ। उदारता से आरम्भ होकर—इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण, दस्तावेज अथवा महज़र (तथाकथित अचूक आज्ञापत्र : so-called Infallibility Decree) की घोषणा, विभिन्न उदार नियमों का निर्माण जिनके द्वारा सभी धर्मों को समान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुविधा देने तथा समाज और उसके सदस्यों के नैतिक आचरणों में सुधार करने का प्रयत्न किया गया—इस नीति की पूर्ति 1582 ई. में 'तौहीद-ए-इलाही' (दीन-इलाही) की स्थापना करके हुई। अपनी धार्मिक नीति का उद्देश्य उसने स्वयं इस प्रकार अपने शब्दों में प्रकट किया था : "एक व्यक्ति द्वारा शासित साम्राज्य के लिए यह बुरा है कि उनके सदस्य आपस में विभक्त हों और एक-दूसरे का विरोध करते हों·····इस कारण हमें उन्हें संगठित करना चाहिए और वह भी इस प्रकार कि वे सब एक होकर भी किसी धर्म की इच्छाओं को न खो दें बल्कि समस्त धर्मों की इच्छाओं को ग्रहण कर सकें। इस प्रकार ईश्वर का सम्मान होगा, प्रजा को शान्ति मिलेगी और साम्राज्य की सुरक्षा होगी।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आरम्भ से ही कार्य किये थे। दास-प्रथा की समाप्ति और हिन्दुओं पर से तीर्थयात्रा-कर तथा जजिया का हटाया जाना उसके प्रारम्भिक प्रयास थे। इस्लाम धर्म के बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की लालसा से अकबर ने 1575 ई. में फतेहपुरसीकरी में इबादतखाने का निर्माण किया और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करने के लिए उसने इस्लाम धर्म के सभी विद्वानों को वहाँ आमन्त्रित किया। अकबर उनके वाद-विवादों को सुनता था। मुल्ला अब्दुल्ला और शेख अब्दुल नबी ने इन विवादों में प्रमुख भाग लिया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के बारे में इस्लाम धर्म के विद्वान एकमत नहीं थे। विवादों के अवसर पर उन विद्वानों के विचारों का अन्तर ही स्पष्ट नहीं हुआ बल्कि उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति और असहिष्णुता का भी परिचय मिला। अकबर की उपस्थिति में भी विभिन्न विद्वान एक-दूसरे को बुरा-भला कहने लगते थे और झगड़े तक के लिए तत्पर हो जाते थे। अकबर को इन बातों से दुख हुआ और इस्लाम की श्रेष्ठता से उसका विश्वास हिल गया। इस कारण उसने हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई आदि सभी धर्मों के विद्वानों को इबादतखाने में आने की आज्ञा दे दी।

जून 1579 ई. में अकबर ने स्वयं खुतबा पढ़ा जो 'अल्लाहो-अकबर' शब्दों से समाप्त हुआ जिनका अर्थ था कि 'खुदा महान्' है। किसी भी तरह इन शब्दों का अर्थ यह न था कि अकबर ने देवत्व ग्रहण किया था। कुछ ही समय पश्चात् सितम्बर 1579 ई. में अकबर ने महज़र पढ़ा। अबुल फजल के पिता शेख मुबारक ने इसे तैयार किया था और प्रमुख मुसलमान धार्मिक व्यक्तियों ने इस पर हस्ताक्षर किये थे। इसके द्वारा भारत में इस्लाम धर्म से सम्बन्धित विवादों के बारे में निर्णय करने का अधिकार अकबर को दिया गया। इसी महज़र को स्मिथ और वूल्जले हेग जैसे इतिहासकारों ने 'अचूक आज्ञापत्र' (Infallibility Decree) पुकारा है और कहा है : "यह स्पष्ट करता है कि अकबर पोप और बादशाह दोनों ही बनना चाहता था।" परन्तु उनका यह कथन सत्य नहीं है। इसी प्रकार, आई. एच. कुरैशी ने भी महज़र के विषय में अकबर की आलोचना की है। उनके अनुसार, "यह एक ऐसा दस्तावेज था जिसने अकबर को परम्परागत इस्लाम से विरोध करने तथा धर्म-द्रोहियों के पक्ष में मध्यस्थता करने का अवसर दिया।" परन्तु यह विचार भी अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों को स्वीकार नहीं है। इन विचारों के विपरीत सैयद ऐ. ऐ. रिज़वी का विचार आधुनिक इतिहासकारों को अधिक मान्य है। उनके अनुसार, "महज़र का उद्देश्य उन सभी विषयों को, जो अकबर की हिन्दू-मुस्लिम प्रजा से सम्बन्धित थे, बादशाह के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में लाना था।" वस्तुतः महज़र के द्वारा अकबर को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि मतभेद होने पर इस्लाम के सिद्धान्तों के बारे में वह अन्तिम निर्णय कर सकता था यद्यपि वह निर्णय कुरान के विरुद्ध नहीं होना चाहिए था। यह अधिकार अभी तक सद्र-ए-सद्र (मुख्य सदर) का था जो बादशाह का ही एक अधिकारी था। इस प्रकार अपने ही एक अधिकारी के अधिकारों को अपने हाथ में लेने से अकबर पोप बन गया था अथवा बनना चाहता था, यह कहना उचित नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी धर्मों में सत्य है, इस विश्वास को लेकर अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के व्यावहारिक प्रयोग के लिए अकबर ने निम्नलिखित विभिन्न कार्य राज्य की नीति और व्यक्तिगत उदाहरण के रूप में किये :

1. मुसलमान, हिन्दू, पारसी, ईसाई, जैन आदि सभी धार्मिक सम्प्रदायों के व्यक्तियों को अपने पूजा-स्थलों (मस्जिद, मन्दिर, गिरजाघर आदि) को बनवाने, उनमें पूजा करने, अपने धर्म को स्वतन्त्रतापूर्वक मानने एवं प्रचारित करने तथा अपने धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों आदि को मनाने की स्वतन्त्रता दी गयी।
2. जो स्त्री, पुरुष और बच्चे जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये थे, उनको अपने धर्म को पुनः स्वीकार करने की आज्ञा दे दी गयी।
3. राज्य-सेवाओं में बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सभी व्यक्तियों को योग्यता के अनुसार स्थान प्रदान किया गया।
4. हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों जैसे अथर्ववेद, रामायण, महाभारत आदि का फारसी भाषा में अनुवाद कराया गया।
5. झरोखा-दर्शन, तुला-दान जैसी प्रथाओं का आरम्भ, होली, दिवाली, बसन्त आदि हिन्दू त्यौहारों का दरबार में मनाया जाना, अकबर का स्वयं गाय का माँस न खाना, हफ्ते में कई दिन माँस न खाना, शिकार खेलना बन्द करना, पशु-पक्षियों के वध पर रोक लगाना, आदि ऐसे कार्य थे जो अकबर ने सहनशीलता की भावना के व्यक्तिगत उदाहरण-स्वरूप करने प्रारम्भ किये थे।
6. राज्य की कर-व्यवस्था सम्पूर्ण प्रजा के लिए एक-समान थी।
7. धर्म के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वेश-भूषा, आचार-विचार और सामाजिक परम्परा को मानने की सुविधा थी।

इस प्रकार राज्य की तरफ से धर्म के आधार पर प्रजा में कोई भेदभाव नहीं किया गया और सभी धर्मों को समान सुविधाएँ प्रदान की गयीं। अकबर ने कुछ सामाजिक परम्पराओं और व्यक्तिगत मान्यताओं पर अंकुश अवश्य लगाया परन्तु यह कार्य सुधार की दृष्टि से किया गया। उदाहरण के तौर पर उसने हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार दे दिया, बलपूर्वक स्त्रियों के सती होने पर बाधा लगा दी, निकट के सम्बन्धियों में विवाह करने पर रोक लगायी, 16 वर्ष से कम आयु के लड़के और 14 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करने और शराब पीने पर रोक लगायी तथा वेश्याओं को नगर में रहने के लिए अलग स्थान दिया गया। परन्तु यह बाधाएँ किसी सम्प्रदाय के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने हेतु न थीं बल्कि कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए थीं।

अकबर की धार्मिक नीति के विपक्ष में स्मिथ और वूल्जले हेग जैसे इतिहासकारों ने यह भी कहा है कि "एक ओर तो अकबर ने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति का पालन किया परन्तु दूसरी ओर उसने इस्लाम धर्म के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार किया।" उनकी यह धारणा तत्कालीन ईसाई धर्म-प्रचारकों और इतिहासकार बदायूँनी के कथन पर आधारित है। बदायूँनी ने अकबर के इस्लाम-विरोधी कार्यों की एक लम्बी सूची तैयार की थी जिसमें उसने बताया था कि 'मुता-शादियों' को कानूनी मान लिया गया था, 1580 ई. में व्यक्तियों को दाढ़ी बनाने की आज्ञा दे दी गयी थी, 1581-82 ई. में विरोधी मुल्लाओं और शेखों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कन्धार भेज दिया गया था और घोड़ों से उनकी बदली की गयी थी, अकबर ने कुरान की पुस्तकों को नष्ट कराया था और अरबी भाषा की शिक्षा में बाधा डाली थी, 1583-84 ई. में मस्जिदों को अस्तबल बना दिया गया था, अकबर ने 'हज' की यात्रा बन्द करा दी थी, अकबर ने मुस्लिम-समाज के मुस्लिम त्यौहारों और रोजों (उपवासों) पर रोक लगा दी थी, आदि।

अकबर के विरुद्ध उपर्युक्त आरोप सिद्ध नहीं किये जा सकते। अकबर ने कभी भी कुरान और मुहम्मद का अपमान नहीं किया और न ही मुस्लिम रोजों, त्यौहारों अथवा नमाज पर कोई रोक लगायी थी। हज (मक्का) की यात्रा अकबर के समय में यथावत् होती रही थी। युद्ध के अवसर पर खाली मस्जिदों का उपयोग सेना के लिए कर लिया गया हो, यह सम्भव है। अरबी की तुलना में फारसी शिक्षा पर बल और संस्कृत को भी प्रोत्साहन देना किसी भी हालत में अरबी की शिक्षा को समाप्त करना नहीं माना जा सकता। अकबर के समय में मुसलमान दाढ़ी रखते थे और उनके नाम के साथ अहमद अथवा मुहम्मद जुड़ा होता था। इस कारण बदायूँनी की आलोचना सत्य पर आधारित नहीं मानी जा सकती। बदायूँनी कट्टर मुल्ला था और वह उन कट्टर मुसलमानों में से एक था जो अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और समानता की नीति से असन्तुष्ट थे। उनकी दृष्टि में अकबर का सबसे बड़ा अपराध यह था कि वह इस्लाम के कट्टर सिद्धान्तों को नहीं मानता था और उसने राज्य में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। उसी प्रकार ईसाई धर्म-प्रचारक जो अकबर के ईसाई बन जाने की आशा करते थे, अपने उद्देश्य में असफल होकर अकबर से असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अकबर को घमण्डी, पाखण्डी और इस्लाम को न मानने वाला सिद्ध करने का असफल प्रयास किया।

अकबर के बारे में इतिहासकारों में एक अन्य प्रश्न पर भी विवाद है। **क्या अकबर अपने जीवनपर्यन्त इस्लाम धर्म को मानने वाला रहा था ?** डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया था यद्यपि मुसलमान सभ्यता की सभी बातों को छोड़ना उसके लिए असम्भव था।" उनके अनुसार, "अकबर का इस्लाम के पाँच मूलभूत सिद्धान्तों (कलमा, पाँच नमाज, रोजा, जकात और हज) में विश्वास न करना, एकमात्र इस्लाम धर्म को ही सत्य-धर्म स्वीकार न करना, मुहम्मद को ही एकमात्र पैगम्बर स्वीकार न करना, हिन्दू रीति-रिवाजों को मानना, हिन्दू धर्म के कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करना, आदि ऐसी बातें थीं जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया था।" डॉ. श्रीवास्तव का कहना है : "अकबर सबसे अधिक हिन्दू धर्म से प्रभावित हुआ था। यदि हिन्दू पण्डितों और राजाओं में इतनी उदारता होती कि वे मुसलमान राजा को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने को तैयार होते और उस समय मूर्ति-पूजा और जाति-पाँति को दूर करने की चेष्टा करते, तो सम्भव था कि अकबर हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लेता।" डॉ. एस. आर. शर्मा का मत डॉ. श्रीवास्तव के विपरीत है। डॉ. शर्मा के अनुसार, "अकबर अन्त समय तक इस्लाम धर्म को मानने वाला रहा।" वह लिखते हैं : "जब सलीम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया तब अकबर के विरुद्ध वह इस्लाम को न मानने का आरोप नहीं लगा सका था।" बदायूँनी (जो अकबर से असन्तुष्ट था) के कथन के अनुसार "1598 ई. तक पैगम्बर मुहम्मद का अपमान करने वाले को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।" उपर्युक्त दोनों विद्वानों के विचारों के आधार पर यह स्वीकार करना अधिक ठीक होगा कि अकबर इस्लाम के सिद्धान्तों का कट्टरता से पालन नहीं करता था और उनके व्यावहारिक प्रयोग में वह बहुत उदार रहा था यद्यपि उसने धर्म-परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। परन्तु वह अपनी मृत्युपर्यन्त मुसलमान रहा और एक अच्छा मुसलमान रहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1582 ई. में अकबर ने 'तौहीद-ए-इलाही' उर्फ 'दीन-इलाही' (Divine Monotheism) की स्थापना की। 1583 ई. में एक नये कैलेन्डर—'इलाही संवत्' को जारी किया गया। 1579 ई. में 'महज़र' अथवा 'खुतबा' की घोषणा करके अकबर ने धर्म के विषय में जिस अधिकार को प्राप्त किया था, यह उसका परिणाम था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है : "क्योंकि बादशाह अब धार्मिक मामलों का भी प्रधान था, अतः उसके लिए अपनी प्रजा को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करना आवश्यक हो गया।" डॉ. लाल पुनः लिखते हैं : "उन सभी व्यक्तियों को जो उसकी सुलहकुल (सभी के साथ शान्ति) की नीति में विश्वास करते थे, वह किस प्रकार एक सूत्र में बाँधे, यह उसकी समस्या थी और उसका समाधान था दीन-इलाही।" अबुल फजल इस सम्प्रदाय का प्रधान पुरोहित बना। जो भी व्यक्ति इस सम्प्रदाय का सदस्य होना चाहता था वह किसी भी रविवार के दिन बादशाह के पास जाकर उसके कदमों में अपनी पगड़ी रखता था। बादशाह उसे एक 'शिस्त' प्रदान करता था जिस पर खुदा का नाम 'अल्लाहो-अकबर' खुदा होता था। इस प्रकार उस व्यक्ति को इस सम्प्रदाय का सदस्य बनाया जा सकता था। इस सम्प्रदाय के सदस्यों से अग्रलिखित नियमों और व्यवहार का पालन करने की अपेक्षा की जाती थी :

1. वे आपस में अभिवादन के लिए 'अल्लाहो-अकबर' और 'जल्ले-जलालेहु' शब्दों का प्रयोग करें;
2. वे मृतक के सम्मान में दी जाने वाली दावत उसके जीवन-काल में ही दें। वे अपनी वर्षगाँठ पर दावत दें और कुछ दान-धर्म भी करते रहें;
3. जहाँ तक सम्भव हो माँस का प्रयोग न करें;
4. कम आयु की लड़कियों अथवा वृद्धा स्त्रियों के साथ विवाह न करें;
5. दस सद्गुणों को ग्रहण करें। वे गुण थे—1. क्षमा, 2. उदारता, 3. सांसारिक इच्छाओं का दमन, 4. सांसारिक मोह से स्वतन्त्र होने की इच्छा, 5. अपने कार्यों का पुनः अवलोकन, 6. सद्कार्यों को करने की इच्छा, 7. सद्व्यवहार, 8. मीठी भाषा और शब्दों का प्रयोग, 9. सांसारिक जीवों का त्याग तथा ईश्वर से प्रेम, और 10. आत्मा का ईश्वर से मिलने के लिए प्रयत्न;
6. 'एकपली' व्रत का पालन करें;
7. जुआ न खेलें और न कोई नशा करें;
8. विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दें;
9. प्रातःकाल, दोपहर और शाम को ईश्वर को याद करें; और
10. अपना धन, सम्मान, जीवन और धर्म बादशाह को अर्पित कर दें। इसी आधार पर इस सम्प्रदाय के सदस्यों की श्रेणी निश्चित की जाती थी। बादशाह को चारों चीजों को समर्पित करने वाला श्रेष्ठतम श्रेणी का, तीन चीजों को देने वाला द्वितीय श्रेणी का, दो चीजों को देने वाला तीसरी श्रेणी का और एक चीज को देने वाला चौथी श्रेणी का सदस्य माना जाता था। बादशाह को इन चीजों को समर्पित करने का अर्थ केवल इतना था कि उसकी उस वस्तु पर बादशाह का अधिकार हो जाता था और बादशाह जिस प्रकार तथा जिस समय चाहे उसका उपयोग कर सकता था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीन-इलाही के सदस्यों की संख्या केवल कुछ हजार तक ही सीमित रही और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की संख्या इसमें अधिक से अधिक बीस थी। हिन्दू प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से केवल बीरबल ने इसे स्वीकार किया। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह ने इसका सदस्य बनने से इंकार कर दिया था। दीन-इलाही की स्थापना के कारण कुछ इतिहासकारों ने अकबर की बहुत आलोचना की है। बारतोली ने उसे 'अकबर की दूरदर्शितापूर्ण धूर्तता' कहा था। इतिहासकार स्मिथ ने उसके बारे में लिखा है : "दीन-इलाही अकबर की बुद्धिमत्ता का नहीं बल्कि बेवकूफी का नमूना था।" परन्तु इन विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो दीन-इलाही एक धार्मिक सम्प्रदाय न था। उसका न कोई पैगम्बर था, न उसका कोई पूजागृह था, न उसकी कोई धार्मिक पुस्तक थी और न उसका कोई पुरोहित-वर्ग था—जो बातें एक धर्म की प्रमुख आवश्यकताएँ मानी जाती हैं। स्वयं अबुल फजल ने भी इस सम्प्रदाय को एक धार्मिक सम्प्रदाय स्वीकार नहीं किया था। अकबर ने इस सम्प्रदाय की सदस्यता को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि अबुल फजल के अनुसार वह नवीन सदस्य बनाने में हिचकिचाता था। राजा भगवानदास और मानसिंह जैसे व्यक्तियों के साथ, जिन्होंने इसका सदस्य बनने से इंकार कर दिया था, कोई दुर्व्यवहार नहीं किया गया था। दीन-इलाही एक ऐसा समुदाय अथवा समाज माना जा सकता था जिसके सदस्य समान विचारधारा के कारण आपस में बातचीत करना, मिलना-जुलना और पारस्परिक सहयोग करना आवश्यक मानते थे। इसके अतिरिक्त, अकबर का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण और राष्ट्रीय था। विभिन्न धर्मों को मानने वाली अपनी प्रजा को वह एकता और धार्मिक सहिष्णुता का पाठ सिखाना चाहता था। दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का यही उद्देश्य था। इस प्रकार, **दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का उद्देश्य उदार था और उसके प्रचार में भी वह उदार रहा। यदि दीन-इलाही असफल हुआ तो उसमें अकबर का दोष न था बल्कि उस युग की रूढ़िवादी परिस्थितियाँ दोषी थीं।** अपने लेख 'अकबर का दीन-इलाही' को डॉ. के. एस. लाल ने बहुत सुन्दरता से इस प्रकार समाप्त किया है : "वह एक अच्छे मुसलमान की तरह जीवित रहा और मरा लेकिन कुछ पुस्तकें और बहुत से लेख यह बताते हैं कि एक अच्छा मुसलमान औरंगजेब था न कि अकबर और जो कुछ भी अच्छा अथवा बुरा औरंगजेब ने किया वह अपनी धार्मिकता के कारण किया। अब प्रश्न यह है कि इनमें से कौन अच्छा मुसलमान था ? वह जिसने मन्दिरों को तोड़ने, जजिया लगाने और अन्य धर्मों का पालन करने वालों से युद्ध करने का विचार किया अथवा वह जिसने विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों को एक सम्प्रदाय के द्वारा एक करने का विचार किया। यदि पहला व्यक्ति अच्छा मुसलमान कहलाने का अधिकारी है तो यह बात स्मरणीय है कि जिस प्रकार प्रेम से प्रेम उत्पन्न होता है उसी प्रकार घृणा से घृणा उत्पन्न होती है तथा औरंगजेब जैसे 'अच्छे' मुसलमान सर्वदा 'अच्छे' हिन्दू, 'अच्छे' सिख और 'अच्छे' ईसाइयों को जन्म देंगे जो घृणा का उत्तर घृणा से देंगे। यह मध्ययुगीन भारत के इतिहास का सबक है। वास्तव में, अकबर जो सभी के साथ शान्ति में विश्वास करता था, एक अच्छा मुसलमान था।"

अकबर की धार्मिक नीति का परिणाम बहुत लाभदायक रहा। अधिकांश भारतीय जनता ने उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का हृदय से स्वागत किया। परन्तु एक छोटा वर्ग ऐसा भी था जिसने अकबर की इस नीति का विरोध किया। वह वर्ग था इस्लाम के कट्टर समर्थकों का जो अकबर से इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने की अपेक्षा करते थे। उन्होंने मुसलमान प्रजा को अकबर के विरुद्ध भड़काया और यह प्रचार किया कि अकबर ने इस्लाम धर्म को त्याग दिया है। अतः बंगाल और बिहार में 1581-82 ई. में विद्रोह हुए और अकबर के सौतेले भाई हकीम ने भारत पर आक्रमण करके उसे जीतने की आशा की। परन्तु ये विद्रोह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असफल हुए और अन्त में अकबर की नीति को अधिकांश व्यक्तियों ने स्वीकार कर लिया। कट्टर मुसलमानों के अतिरिक्त उन ईसाई पादरियों और धर्म-प्रचारकों ने भी अकबर की नीति की कटु आलोचना की जो अकबर को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने में विफल हुए थे।

५१न्तु **भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता, उदार मुसलमान, पारसी, जैन आदि धर्मावलम्बियों ने अकबर की इस नीति का समर्थन किया और वे सभी अकबर और मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार हो गये।** अतः मुगल-साम्राज्य के विस्तार और स्थायित्व में अकबर की इस धार्मिक नीति ने बहुत सहयोग दिया और अकबर को राष्ट्रीय सम्राट होने का गौरव प्राप्त हुआ। अकबर ने राज्य को एक अल्पमतवादी धर्म के समर्थकों तथा मुल्लाओं एवं उलेमाओं के प्रभाव और अत्याचार से मुक्त कर दिया। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है: "भारत के शासकों में उसका स्थान बहुत ऊँचा है और अन्य बातों के अतिरिक्त इसका मुख्य कारण यह था कि उसने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया और उसमें कुछ सफलता भी पायी। यदि उसे एक राष्ट्र के निर्माण में सफलता नहीं मिली तो उसका कारण यह था कि वह अपने समय की परिस्थितियों को तत्काल नहीं बदल सकता था। यह बात स्मरणीय है कि उस समय जबकि यूरोप विरोधी सम्प्रदायों के संघर्षों से ग्रस्त था और रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेण्टों को जीवित जला रहे थे तथा प्रोटेस्टेण्ट रोमन कैथोलिकों को कत्ल कर रहे थे, अकबर ने विरोधी सम्प्रदायों को ही नहीं बल्कि विभिन्न धर्मों को भी शान्ति प्रदान की। यदि उसकी उदारता के विस्तार, जिन नस्लों पर वह उदारता लागू की गयी वह, और तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में धार्मिक उदारता के क्षेत्र में वह प्रथम और महान् अन्वेषक था।"

जहाँगीर

धार्मिक नीति की दृष्टि से जहाँगीर का स्थान अपने पिता अकबर और पुत्र शाहजहाँ के मध्य में आता है। जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था और साधारणतया अपने धर्म के मुख्य नियमों का पालन करता था। परन्तु धर्म में उसे विशेष रुचि न थी। इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन भी वह बहुत कट्टरता से नहीं करता था। वह सभी धर्मों के मानने वालों से मिलता था, अतः उसका दृष्टिकोण उदार बन गया था। ईश्वर की एकता में भी उसका विश्वास था। इस कारण जहाँगीर अपने व्यक्तिगत व्यवहार और नीतिगत दृष्टि से धार्मिक मामलों में उदार रहा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मावलम्बियों को राज्य की ओर से समान सुविधाएं प्राप्त थीं और शासन में राज्य की ओर से धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण रखा गया था जो अकबर के समय में था। हिन्दुओं को राज्य में सम्मानित पद दिये जाते थे और उन पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया गया था। परन्तु जहाँगीर के समय की कुछ घटनाएँ ऐसी अवश्य हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि यदा-कदा जहाँगीर ने इस्लाम धर्म का पक्ष लिया था। रजौरी के हिन्दुओं को उसने इसलिए दण्डित किया था कि वे मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे, काँगड़ा के किले को जीतकर उसने वहाँ एक गाय को कटवा कर जश्न मनाया था, अजमेर के वाराह-मन्दिर की मूर्तियों को उसने तालाब में फिकवा दिया था और पुर्तगालियों से युद्ध के अवसर पर उनके सभी गिरजे बन्द करा दिये गये थे। इसी प्रकार, गुरु अर्जुन को दण्ड देने में उसका एक कारण यह था कि उसे उनके विचारों से चिढ़ थी। एक बार उसने जैनियों से अप्रसन्न होकर उन्हें गुजरात से बाहर चले जाने के आदेश दिये थे। परन्तु ये सभी घटनाएँ एक अवसर अथवा परिस्थिति विशेष के कारण थीं। उसने प्रसिद्ध जैन संत 'सिद्धिचन्द्र' को 'नादिरे-जमाँ' की उपाधि प्रदान की थी। गुरु अर्जुन को दण्ड देने का कारण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक भी था। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। इसके अतिरिक्त, जब हम यह देखते हैं कि असन्तुष्ट होने पर उसने मुस्लिम धर्म-प्रचारकों जैसे शेख रहीम, काजी नूरुल्ला, शेख अहमद सरहिन्दी आदि को भी दण्डित किया था तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका हिन्दू, जैन, सिख अथवा ईसाइयों के साथ कठोरता करने का कारण धार्मिक कट्टरता न होकर राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। साधारणतया जहाँगीर सभी धर्मों के प्रति उदार रहा और सभी से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ था और वह उनके सभी त्यौहारों एवं उत्सवों में भाग लेता था। उसने 1612 ई. में पहली बार रक्षाबन्धन का त्यौहार मनाया और अपनी कलाई पर राखी बँधवायी। उसने दीवाली के दिन जुआ खेलने की इजाजत दे रखी थी। उसने अपने दरबार में काजी मीर-ए-अदल, सद्र तथा इस्लाम धर्म के अन्य विद्वानों को 'सिजदा' न करने की छूट दी थी। उसने अमीरों एवं मनसबदारों की जब्त सम्पत्ति का 1/4 भाग मस्जिदों के निर्माण तथा इस्लामी शिक्षा पर खर्च किया। इस प्रकार अपने पिता के समान न होते हुए भी जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और अपने पिता के समय की अधिकांश परम्पराओं को उसने स्थापित रखा।

शाहजहाँ

शाहजहाँ अपने धार्मिक विचारों में अकबर और जहाँगीर की तुलना में अधिक अनुदार सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत दृष्टि से उसे कट्टर सुन्नी मुसलमान माना जा सकता है। वह नमाज पढ़ने और रोजा रखने का नियमपूर्वक पालन करता था। उसने दाढ़ी रखी थी, वह मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनता था, उसने हिन्दुओं को मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनने के लिए मना किया था और वह शराब का प्रयोग बहुत कम मात्रा में करता था। उसने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में धार्मिक कट्टरता का प्रमाण भी दिया। उसने 'सिजदा' की प्रथा (बादशाह के आगे जमीन पर लेटकर दण्डवत करना) को दरबार से समाप्त कर दिया, उसके स्थान पर 'चहार-तस्लीम' की प्रथा शुरू करवायी। इलाही संवत् के स्थान पर हिजरी संवत् को आरम्भ किया, हिन्दुओं को मुसलमान गुलाम रखने से रोक दिया और हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया यद्यपि थोड़े समय के पश्चात् उसे हटा दिया गया। उसने दरबार में हिन्दू त्यौहारों और उत्सवों को मनाना बन्द कर दिया जबकि मुसलमानी त्यौहारों को मनाया जाना जारी रखा गया। उसने हिन्दुओं को नये मन्दिर बनाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत कराने से रोक दिया। उसके समय में बहुत से हिन्दू-मन्दिर तोड़े गये, जैसे बनारस, इलाहाबाद, गुजरात और कश्मीर के अनेक मन्दिर। अकेले बनारस और उसके निकट के स्थानों में प्रायः 72 मन्दिर तोड़े गये। ओरछा के हिन्दू-मन्दिरों को तोड़कर औरंगजेब ने मस्जिदें बनवायीं और जूझरसिंह के परिवार के कुछ सदस्यों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। उसके समय में हिन्दू-मन्दिरों के अवशेषों को मस्जिदें बनाने के लिए प्रयोग में लाया गया। पुर्तगालियों से युद्ध होने पर उसने आगरा के गिरजाघर को तुड़वा दिया। उसने हिन्दू और ईसाइयों को अन्य धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को अपने धर्म में परिवर्तित करने से रोक दिया। रजौरी और भीमबार के हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उनको हिन्दू बना लिया करते थे। शाहजहाँ ने आदेश दिये कि ऐसी सभी लड़कियों को उनके पतियों से छीन कर उनके माँ-बाप को वापस कर दिया जाय और भविष्य में हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह न करें। अपने शासन के सातवें वर्ष में शाहजहाँ ने आदेश दिये कि जो हिन्दू मुसलमान बन जायगा उसे तुरन्त अपने पिता की सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त हो जायगा। उसके सम्पूर्ण शासनकाल में मुसलमान बनाये जाने के कार्य को प्रोत्साहन दिया गया। युद्ध-बन्दियों को मुसलमान बनाये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने की प्रथा पुनः आरम्भ की गयी, अपराधियों को इस्लाम अंगीकार करने पर मुक्त कर देने की व्यवस्था की गयी, हिन्दू-स्त्रियों से विवाह करने से पहले उनको मुसलमान बनाया जाना आवश्यक कर दिया गया और कुरान अथवा मुहम्मद का अपमान करने वाले के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की गयी। शाहजहाँ ने व्यक्तियों को मुसलमान बनाने के लिए पृथक विभाग स्थापित किया। वह नियमित रूप से मक्का के मुल्लाओं और फकीरों के लिए दान-दक्षिणा भेजता रहता था। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि शाहजहाँ ने अकबर की धार्मिक समानता की नीति को समाप्त कर दिया था और वह इस्लाम की श्रेष्ठता में विश्वास करता था।

परन्तु शाहजहाँ का समय धार्मिक कठोरता का भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। आरम्भ में उसने इस्लाम के समर्थन के लिए जो उत्साह दिखाया वह बाद के समय में धीरे-धीरे कम हो गया। आरम्भ में उसके द्वारा बनाये गये बहुत से नियमों का बाद में पालन नहीं किया गया। सम्भवतया, इसका मुख्य कारण उसके पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहाँनआरा का प्रभाव था जो धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक उदार थे। हिन्दू सरदारों के महत्व और शासन में उनके प्रभाव ने भी शाहजहाँ को उसकी प्रारम्भिक नीतियों को बदलने में सहायता दी होगी। शाहजहाँ ने झरोखा-दर्शन, तुला-दान और हिन्दू-राजाओं के माथे पर तिलक लगाने की प्रथा को स्थापित रखा, हिन्दुओं या अन्य धर्म के मानने वालों पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया, बाद के समय में हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ना बन्द कर दिया और जब हिन्दू वैरागियों और गुरु हरगोविन्द ने बहुत से मुसलमानों को हिन्दू अथवा सिख बनाने में सफलता पायी तब उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। शाहजहाँ के दरबार में हिन्दू विद्वानों को सम्मान प्राप्त होता रहा। सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्राचार्य आदि विद्वानों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। दाराशिकोह के संरक्षण में संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। शाहजहाँ ने अहमदाबाद के चिन्तामणि के मन्दिर की मरम्मत किये जाने की आज्ञा दे दी थी और काम्बे के नागरिकों की प्रार्थना पर वहाँ गौ-हत्या बन्द करा दी थी। शाहजहाँ के समय में हिन्दुओं को शासन और सेना में सम्मानित पद प्राप्त थे। राजा जसवन्तसिंह और राजा जयसिंह उसके बड़े सरदार थे। औरंगजेब जब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना था तब उस अवसर पर राजपूतों के प्रति उसके दुर्व्यवहार के लिए शाहजहाँ ने उसे फटकारा था। उसके समय में गायकों, नर्तकों और चित्रकारों आदि सभी को दरबार से संरक्षण प्राप्त होता था। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में शासन की ओर से अन्य धर्मों के प्रति अत्याचार, घृणा और भेदभाव की नीति नियमित रूप से नहीं अपनायी गयी थी। हिन्दुओं को ही नहीं बल्कि ईसाई व अन्य धर्म के मानने वालों को भी अपने धर्म को मानने की स्वतन्त्रता थी और उसका दैनिक धार्मिक जीवन राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त था। इस कारण, शाहजहाँ का समय धार्मिक असहिष्णुता का नहीं माना जा सकता। परन्तु फिर भी उसके समय में धार्मिक संकीर्णता की ओर झुकाव हो गया था तथा अकबर के महान् उद्देश्य को भुला दिया गया था, यह स्वीकार करना पड़ता था।

औरंगजेब

औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णुता की थी। वह व्यक्तिगत दृष्टि से कट्टर सुन्नी मुसलमान, इस्लाम के कानूनों को अक्षरशः मानने वाला और अपनी कट्टर सुन्नी प्रजा के लिए 'जिन्दा-पीर' था। वह नमाज और रोजे में नियमित था, वह बहुत सादे वस्त्र पहनता था और शराब उसने जीवनभर नहीं पी। मुगल बादशाहों में धार्मिक दृष्टि से इतना चरित्रवान बादशाह कोई नहीं हुआ। परन्तु औरंगजेब धर्मान्ध था। अपने धर्म की सत्यता और श्रेष्ठता में विश्वास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए वह यह नहीं सोच सका कि अन्य धर्मों में भी सत्यता हो सकती है। अन्य धर्मों को ही नहीं बल्कि इस्लाम के शिया तथा अन्य मतावलम्बियों को भी वह 'पथभ्रष्ट' मानता था। औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। इस कारण औरंगजेब का लक्ष्य इस (भारत) 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना बन गया। औरंगजेब अपने जीवनपर्यन्त इस लक्ष्य को न भूल सका और न अपने शासन की नीति को इससे पृथक रख सका। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने पुत्र अकबर को दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दिया, राजपूतों, जाटों, सिखों और मराठों को संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दिया, दक्षिण के शिया-राज्यों बीजापुर और गोलकुण्डा को समाप्त कर दिया तथा अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा पर शासन, धर्म, अर्थ आदि सभी प्रकार से इतना दबाव डालने का प्रयत्न किया जिससे वे धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हो जायें। औरंगजेब का विश्वास था कि उससे पहले के सभी मुगल-शासकों ने सबसे गम्भीर भूल यह की थी कि उन्होंने भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। औरंगजेब ने अपने जीवन में इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार इस्लाम के मानने वाले शासक का यह प्रमुख कर्तव्य था। इस कारण **औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त संकीर्ण बन गया, उसका कर्तव्य सीमित हो गया, उसकी धार्मिक नीति असहिष्णु बन गयी और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का बादशाह न रहा।**

यह भी विचार प्रकट किया गया है कि व्यक्तिगत धारणा के अतिरिक्त परिस्थितियों ने भी औरंगजेब को धार्मिक कट्टरता की नीति अपनाने के लिए बाध्य किया था। एक ओर, अकबर की उदार नीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं और राजपूतों को समाज और शासन में प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया था, और दूसरी ओर, इस्लाम के प्रतिक्रियावादी तत्व जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल से ही प्रभावपूर्ण बनते जा रहे थे। उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर इन दो विरोधी तत्वों ने विरोधी शाहजादों का युद्ध में पक्ष लिया। औरंगजेब को प्रतिक्रियावादी तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ जबकि राजपूतों ने उसका विरोध किया। ऐसी स्थिति में युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब का हिन्दुओं और राजपूतों के प्रति शंकालु होना और प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन करना स्वाभाविक था। यह विचार तर्कसंगत है परन्तु तब भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति का मुख्य आधार उसकी धार्मिक कट्टरता की स्वयं की ही धारणा थी।

औरंगजेब की नीति आरम्भ से ही कट्टरता की रही। उसने सिक्कों पर कलमा का खुदवाना बन्द कर दिया, नौरोज का त्यौहार मनाना बन्द कर दिया, तुला-दान और झरोखा-दर्शन की प्रथाओं को समाप्त कर दिया, दरबार से नाचने-गाने वालों को निकाल दिया और जब उन्होंने इसके विरोध में वाद्य-यन्त्रों का जनाजा निकाला तो उसने निर्देश दिये कि इन्हें इतना गहरा दफनाया जाय कि ये दुबारा न उठ सकें। उसने दरबार से ज्योतिषियों को निकाल दिया, भाँग का उत्पादन बन्द करा दिया, शराब पीने और जुआ खेलने को बन्द करने का प्रयत्न किया, सती-प्रथा पर रोक लगायी, वेश्याओं को शादी करने अथवा देश छोड़ने के आदेश दिये और दरबार में होली, दीवाली, बसन्त आदि हिन्दू-त्यौहारों का मनाना बन्द कर दिया। इस बात की देखभाल के लिए कि उसके धार्मिक नियम माने जायें, औरंगजेब ने मुहतसिबों (धर्म-निरीक्षक) की नियुक्ति की। मुहतसिबों का कर्तव्य था कि वे यह देखें कि मुसलमान ठीक प्रकार से अपने धर्म का पालन करते हैं अथवा नहीं। उनका कर्तव्य धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देने का भी था। औरंगजेब के समय में उदार शियाओं और सूफियों को भी दण्डित किया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत कठोर रहा। आरम्भ से ही उसने उनके धर्म पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था परन्तु राजा जयसिंह (अम्बर), राय रघुनाथ (राज्य का दीवान) और अन्त में जसवन्तसिंह (मारवाड़) की मृत्यु हो जाने के पश्चात् तो औरंगजेब हिन्दुओं पर प्रत्येक प्रकार के अत्याचार करने के लिए तत्पर हो गया। एक आदेश के अनुसार हिन्दुओं को अपने मन्दिरों की मरम्मत कराने का अधिकार न रहा और 1669 ई. में सभी सूबेदारों और मुहतसिबों को हिन्दू-मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी गयी जिससे हिन्दू अपने धर्म और शिक्षा का प्रसार न कर सकें। इसके लिए एक पृथक विभाग भी खोला गया। यह तो सम्भव नहीं हो सकता था कि हिन्दुओं की सभी पाठशालाएं और हिन्दू-मन्दिर नष्ट कर दिये जाते परन्तु बनारस का विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा का केशवदेव का मन्दिर, पाटन का सोमनाथ का मन्दिर और प्रायः सभी बड़े-बड़े मन्दिर, मुख्यतया उत्तर-भारत के मन्दिर इसी समय में तोड़े गये। अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं के राज्यों में भी यही किया गया। अनेक स्थानों पर मन्दिरों के स्थानों पर मस्जिदें बनायी गयीं और मूर्तियों एवं मन्दिरों के भग्नावशेषों को मस्जिदों की नींवों और सीढ़ियों में लगाया गया। 1679 ई. में हिन्दुओं पर 'जजिया' लगाया गया। इस कर के लिए सभी गैर-मुस्लिमों को तीन वर्गों में बांटा गया। जिनकी आय 200 दिरहम प्रति वर्ष से कम थी, उनको 12 दिरहम प्रति वर्ष, जिनकी आय 200 से 10,000 दिरहम प्रति वर्ष थी उनको 24 दिरहम प्रति वर्ष और 10,000 दिरहम प्रति वर्ष की आय के ऊपर के व्यक्तियों को 48 दिरहम प्रति वर्ष देने पड़ते थे। कारीगरों को अपने परिवार के व्यय को पूरा करने के बाद ही यह कर देना पड़ता था। स्त्रियाँ, गुलाम, 14 वर्ष की आयु से कम के बच्चे, भिखारी और आय-रहित व्यक्ति इस कर से मुक्त थे। अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं, ब्राह्मणों और निर्धन हिन्दुओं को भी इसे देने के लिए बाध्य किया गया जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। यह कहना भूल है कि हिन्दुओं के लिए राज्य की सैनिक-सेवा अनिवार्य न थी, इस कारण उन्हें जजिया देने के लिए बाध्य किया गया था क्योंकि औरंगजेब ने अपने हिन्दू-सैनिकों और सरदारों को भी जजिया देने के लिए बाध्य किया था। हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया गया। मुसलमान व्यापारिक-कर से मुक्त रखे गये जबकि हिन्दू व्यापारियों से वस्तु के मूल्य का 5% व्यापारिक-कर के रूप में लिया गया। जहाँ तक भी सम्भव था, हिन्दुओं को लगान-अधिकारियों के पदों से हटाया गया और सेना में उन्हें ऊँचा पद देना बन्द कर दिया गया। राय रघुनाथ, राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् किसी भी राजपूत सरदार या राजा को राज्य की ओर से बड़ा मनसब नहीं दिया गया। 1688 ई. में हिन्दुओं के त्यौहारों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाया गया और उसी वर्ष राजपूतों के अतिरिक्त सभी हिन्दुओं को पालकी या अच्छे घोड़े की सवारी करने तथा हथियार रखने से रोक दिया गया। हिन्दुओं पर इस प्रकार दबाव डालने का सिर्फ एक ही आशय हो सकता था और वह था धर्म-परिवर्तन। औरंगजेब ने आर्थिक दबाव, सामाजिक असम्मान और राजनीतिक सुविधाओं से वंचित करना आदि के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दू-प्रजा को विभिन्न प्रकार के लालच भी दिये जाते थे। पद का लालच, धन और सम्मान का लालच तथा दण्ड से मुक्ति, ये साधन साधारणतया प्रयोग में लाये जाते थे। सिखों के गुरु तेगबहादुर को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया था और उनके इंकार करने पर उन्हें कत्ल कर दिया गया था। मराठा-राजा शम्भाजी और उसके मन्त्री कवि कलश को भी इस्लाम स्वीकार कर लेने पर क्षमा कर देने का आश्वासन दिया गया था। यह कहना ठीक नहीं होगा कि औरंगजेब ने आर्थिक अथवा किसी राजनीतिक कारण से हिन्दुओं के प्रति यह नीति अपनायी थी। इस नीति के लिए औरंगजेब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की धार्मिक कट्टरता ही मूल रूप से उत्तरदायी थी। लेनपूल ने लिखा है : "अपने इतिहास में मुगलों ने पहली बार एक कट्टर मुसलमान को बादशाह के रूप में देखा—एक ऐसा मुसलमान जो अपना भी उतना ही दमन करता था जितना अपनी प्रजा का और एक ऐसा बादशाह जो अपने धर्म के लिए अपने सिंहासन को छोड़ने के लिए तत्पर था।" औरंगजेब 40 वर्ष की परिपक्व आयु में बादशाह बना था। वह व्यवहार-कुशल, चालाक और कूटनीतिज्ञ था। ऐसा सम्भव नहीं था कि वह अपनी नीति के दुष्परिणामों को न समझ सका हो परन्तु फिर भी वह मृत्युपर्यन्त दृढ़ता से अपनी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन करता रहा। उसका धार्मिक उत्साह ही इसका मूल कारण था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ये सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का फूट पड़ना था जो, निस्सन्देह, अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी औरंगजेब की धार्मिक नीति को धर्मान्धतापूर्ण बताया है। इस कारण, औरंगजेब की व्यक्तिगत पवित्रता, गुण, योग्यता और नीति आदि सभी उसकी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की भाँति किया। औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी धार्मिक सहिष्णुता की नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया।

औरंगजेब की इस धार्मिक नीति के भयंकर दुष्परिणाम हुए। उसने मुगल-साम्राज्य की एकता, शक्ति, शान्ति और समृद्धि को नष्ट कर दिया। वह औरंगजेब की विफलता का ही कारण नहीं बनी बल्कि मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुई। इसका प्रत्यक्ष परिणाम जाटों, सतनामियों, सिखों आदि के विद्रोह तथा बुन्देलखण्ड, दोआब आदि स्थानों पर समय-समय पर हुए उपद्रव थे। राजपूतों का विरोध और मराठों के संघर्ष का एक प्रमुख कारण भी यही नीति थी। सबसे पहले मथुरा के निकट गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने विद्रोह किया। राजाराम की मृत्यु के पश्चात् जाटों का यह विद्रोह समाप्त नहीं हुआ और अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् जाटों ने भरतपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी। दूसरा विद्रोह नारनौल और मेवात के जिलों में 'सतनामी' नामक धार्मिक सम्प्रदाय का था। कई युद्धों के पश्चात् ही इस विद्रोह को दबाया जा सका। औरंगजेब ने सिखों के नवें गुरु तेगबहादुर को कैद करके इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा और गुरु के इंकार करने पर उनको कत्ल करा दिया। गुरु तेगबहादुर के पुत्र और सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने सिख-सम्प्रदाय को सैनिक-सम्प्रदाय बनाया और निरन्तर औरंगजेब से संघर्ष किया। गुरु के दो पुत्र युद्ध में मारे गये, दो पुत्रों को दीवार में जिन्दा चिनवा दिया गया और गुरु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागते रहना पड़ा। परन्तु उन्होंने संघर्ष करना न छोड़ा। औरंगजेब के अन्तिम समय तक पंजाब में सिख पर्याप्त शक्तिशाली हो गये थे और औरंगजेब के पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी और प्राप्त की। 1678 ई. में राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु होते ही औरंगजेब राजपूतों के राज्यों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील हो गया जिसके फलस्वरूप उसका राजपूतों से संघर्ष आरम्भ हुआ। औरंगजेब मारवाड़ को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने में सफल हुआ परन्तु दुर्गादास के नेतृत्व में राठौरों ने अजीतसिंह को राजा बनाने के लिए जो युद्ध आरम्भ किया वह बीच-बीच में स्थगित रहते हुए भी औरंगजेब की मृत्युपर्यन्त चला। मेवाड़ के शासकों ने भी इस युद्ध में मारवाड़ की सहायता की। इसी अवसर पर औरंगजेब के पुत्र अकबर ने विद्रोह किया और जब वह असफल होकर दक्षिण-भारत भाग गया तो मेवाड़ से सन्धि करके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औरंगजेब उसका पीछा करते हुए दक्षिण-भारत चला गया। अन्त में, औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् अजीतसिंह ने मारवाड़ का शासक बनने में सफलता प्राप्त की। दक्षिण-भारत में औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने तथा शम्भाजी को समाप्त करके महाराष्ट्र पर अधिकार करने में सफलता अवश्य पायी किन्तु वह मराठा-शक्ति को नष्ट न कर सका। मराठों ने जिस स्वतन्त्रता-संग्राम को आरम्भ किया उसने औरंगजेब की दक्षिण-भारत की विजय को नष्ट कर दिया और औरंगजेब की मृत्यु मराठों से निरन्तर संघर्षरत रहते हुए दक्षिण-भारत में हुई।

औरंगजेब के समय के इन विद्रोहों और संघर्षों ने राज्य के शासन को अव्यवस्थित कर दिया, राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति को नष्ट कर दिया तथा प्रजा का धन, सम्मान और सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। औरंगजेब की धर्म की संकुचित भावना ने उसके आदर्श और कर्तव्यों की परिभाषा को बदल दिया। वह न तो अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने वाला योग्य शासन-प्रबन्धक। औरंगजेब की स्वयं की असफलता का मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता रही और अपनी असफलताओं के द्वारा वह मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का कारण बना। लेनपूल ने लिखा है : "उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही हिन्दुस्तान अव्यवस्थित हो गया था और भविष्य में पतन के चिन्ह प्रकट होने लगे थे।" इसी प्रकार, जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में शासन बहुत शीघ्रता से पतनोन्मुख हुआ। शान्ति, समृद्धि और ललित-कलाओं का ह्रास हुआ तथा सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता पीछे हो गयी। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और साम्राज्य के आर्थिक साधन इतने संकुचित हो गये कि वह साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गये।" जजिया, तीर्थयात्रा-कर, हिन्दुओं को सम्मान से न रहने देना, उनको राज्य की सेवाओं में उचित स्थान न देना और खुले तौर से उनके मन्दिरों का विनाश तथा उनके देवी-देवताओं का अपमान आदि ऐसे कारण थे जिससे औरंगजेब की हिन्दू-प्रजा उससे घृणा करने लगी। औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी और जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी धार्मिक सहनशीलता की नीति को समाप्त कर दिया। इससे राज्य की एकता समाप्त हो गयी, वफादार राजपूत जाति मुगलों की शत्रु बन गयी तथा जाट, सिख और मराठा जैसे युद्ध-प्रिय वर्गों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इनके विद्रोहों ने औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की नींव को हिला दिया। मि. प्रिंगले कैनेडी ने लिखा है : "जिसे अकबर ने प्राप्त किया था और अनेक दुर्गुणों के होते हुए भी जिसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने स्थापित रखा था, उसे औरंगजेब ने खो दिया और वह था अपनी हिन्दू-प्रथा का प्यार, और जिस शक्ति ने हिन्दू-जाति का विश्वास अर्जित न किया हो वह भारत में स्थायी रहने की आशा नहीं कर सकती।" **औरंगजेब की धार्मिक अनुदारता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रही बल्कि शिया, बोहरा आदि भी उससे प्रभावित हुए। इससे औरंगजेब को योग्य शिया व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं जो अकबर, जहांगीर और शाहजहाँ को प्राप्त हो सकी थीं।** इससे राज्य की हानि हुई। इस प्रकार औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति उसकी और बहुत कुछ मात्रा में मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी हुई।

आधुनिक समय के कई विद्वान इतिहासकारों के अनुसार औरंगजेब का जो व्यवहार शिया-राज्यों, राजपूतों और हिन्दुओं के प्रति रहा उसका मुख्य कारण राजनीतिक और आर्थिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। भारत की एकता, एक सूत्र और एक शासन में बँधा हुआ राज्य और राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ उसकी नीति का मुख्य कारण थीं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने विभिन्न तर्क और उदाहरण दिये हैं, जैसे औरंगजेब ने हिन्दू-मन्दिरों को जागीरें दी थीं और उन्हीं हिन्दू-मन्दिरों को गिराया था जहाँ पहले मुसलमानों की मस्जिदें थीं। परन्तु ऐसे विद्वानों के तर्कों में विस्तृत रूप से जाये बिना यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश तत्कालीन लेखकों के विवरणों में उनके पक्ष का समर्थन प्राप्त नहीं होता (जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कथन है)। अधिकांश तत्कालीन विवरणों के आधार पर औरंगजेब की नीति असहिष्णुता की ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, महान् बादशाह अकबर की नीति भी भारत की राजनीति और शासन की एकता के उद्देश्य की पूर्ति हेतु थी और उसके आरम्भ के समय में भी राजकोष रिक्त था। परन्तु उसे जजिया, तीर्थयात्रा-कर आदि लगाने और मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत, अकबर ने भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये थे। ऐसी स्थिति में दो ही निर्णय हो सकते हैं—या तो अकबर की नीति को अव्यावहारिक, अनुचित और अपर्याप्त कहा जाय अथवा औरंगजेब की नीति को अव्यावहारिक और अनुचित कहा जाय ? विद्वान इतिहासकार ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि जब अकबर की नीति से अकबर के समय में नहीं बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी मुगल-साम्राज्य शक्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील हुआ, औरंगजेब की नीति से औरंगजेब के समय में न तो शक्ति का स्थायी विस्तार हुआ, न राज्य में समृद्धि हुई और न कला, शिक्षा, साहित्य; आदि की दृष्टि से कोई प्रगति हुई। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में मुगल-साम्राज्य प्रत्येक दृष्टि से पतन के मार्ग पर अग्रसर हुआ। इस कारण यह कहा जा सकता है कि अपनी व्यक्तिगत धारणाओं की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए, अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानते हुए और उसकी प्रगति में अपने जीवन की सार्थकता को मानकर औरंगजेब ने कर्तव्य, नैतिकता और बादशाह के आदर्शों की जो व्याख्या बना ली थी वह न उसके लिए लाभदायक रही और न उसके वंश अथवा साम्राज्य के लिए। औरंगजेब, सम्भवतया, उन व्यक्तियों में से था जो अपनी सद्भावनाओं में अटूट विश्वास रखते हुए अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नहीं करते, उनके विश्वासों, आदर्शों और सद्भावनाओं को बड़ी भूल मान बैठते हैं और उनको ठीक मार्ग पर लाना अपना धर्म मानते हैं, चाहे उनके स्वयं के आदर्शों एवं भावनाओं में कितनी त्रुटि क्यों न हो। ऐसी एकाकी और संकुचित भावना की कट्टरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और न ऐसे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन सम्भव है। ऐसा व्यक्ति एक फकीर या धर्म-प्रचारक तो अच्छा हो सकता है परन्तु अच्छा, कुशल और नीतिज्ञ बादशाह नहीं हो सकता। सम्भवतया, औरंगजेब इसीलिए न तो अपनी परिस्थितियों को समझ सका और न अच्छा नीतिज्ञ ही सिद्ध हुआ, और यदि वह समझ भी सका तो उसने उसकी परवाह नहीं की। इसका मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता थी। लेनपूल का कथन है कि "यदि औरंगजेब ने अपनी क्रियाशील शक्ति और अद्भुत योग्यता को अपने विनाश और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए गौरवपूर्ण साम्राज्य के विनाशकारी कार्यों में व्यय न किया होता तो वह सरलता से सिंहासन का आभूषण बन जाता। इसके स्थान पर उसने आलमगीर अथवा विश्व-विजयी बनने के खोखले कार्य को करने का प्रयत्न किया और वह इसी बात से सन्तुष्ट था कि तत्कालीन रूढ़िवादी मुसलमान उसे जिन्दा-पीर समझते थे····उसका गौरव केवल उसके लिए था····उसके विशाल साम्राज्य के लिए उसका निष्ठावान धार्मिक उत्साह एक अभिशाप सिद्ध हुआ था।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में धार्मिक कट्टरता और धार्मिक उदारता की नीति में संघर्ष हुआ। परन्तु अधिकांशतया उदार विचारों को ही सफलता मिली। जहाँदारशाह के समय में ही जजिया समाप्त कर दिया गया और फर्रुखसियर के समय में सैयद-भाइयों के प्रभाव के कारण जजिया ही नहीं बल्कि तीर्थयात्रा-कर भी समाप्त कर दिया गया। बाद के मुगल बादशाह दुर्बल होने के कारण अनुदारता की नीति का पालन करने की स्थिति में ही न रहे।

[2]
मुगल बादशाहों की राजपूत-नीति

बाबर

बाबर की राजपूतों के प्रति कोई सुनिश्चित नीति थी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अपनी सत्ता को भारत में स्थापित रखने के लिए उसे राणा संग्रामसिंह से खानुवा का युद्ध करना पड़ा था। उसके पश्चात् राणा के सहायक और सहयोगी चन्देरी के मेदिनीराय पर भी उसने आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्त की। दोनों ही अवसरों पर उसने राजपूतों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित किया, गाजी की उपाधि ग्रहण की और राजपूतों के सिरों की मीनारें बनवायीं। परन्तु उसने हुमायूँ का विवाह एक राजपूत राजकुमारी से किया और राजपूतों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसके सरदारों में से कुछ राजपूत भी थे। इस कारण यह माना जा सकता है कि उसने राजपूतों से मित्रता का तो प्रयत्न नहीं किया परन्तु राजनीतिक कारणों से उत्पन्न संघर्षों के अतिरिक्त स्थायी शत्रुता का कोई व्यवहार नहीं किया।

हुमायूँ

हुमायूँ का व्यवहार भी राजपूतों के प्रति इसी प्रकार का रहा। उसकी नीति भी राजपूतों के प्रति सुनिश्चित न थी। बल्कि हुमायूँ ने तो मेवाड़ से मित्रता करने का एक सुअवसर भी खो दिया। सम्भवतया, मेवाड़ की रानी कर्णवती ने गुजरात के शासक बहादुरशाह के मेवाड़-आक्रमण के अवसर पर हुमायूँ से सहायता माँगी परन्तु हुमायूँ ने उसे सहायता न दी। इसका कारण चाहे धार्मिक रहा हो और चाहे सैनिक अथवा राजनीतिक, परन्तु हुमायूँ ने अफगानों के विरुद्ध मेवाड़ के राजपूतों की मित्रता प्राप्त करने का एक अच्छा अवसर खो दिया। मारवाड़ के शासक मालदेव ने भी हुमायूँ को शेरशाह के विरुद्ध सहायता देने का आश्वासन दिया था परन्तु हुमायूँ समय रहते हुए इसका लाभ नहीं उठा सका।

शेरशाह

अफगान सुल्तान शेरशाह ने राजपूतों को अपनी अधीनता में लाने की नीति का पालन किया। शेरशाह के समय में राजस्थान की सबसे बड़ी शक्ति मारवाड़ था जहाँ के शासक मालदेव ने हुमायूँ को सहायता देने का आश्वासन दिया था। 1544 ई. में शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया और चालाकी से वह मारवाड़ को अपने अधिकार में कर सका। इसके अतिरिक्त रणथम्भौर को शेरशाह ने अपने आधिपत्य में लिया और मेवाड़ तथा जयपुर के राजपूत शासकों ने स्वेच्छा से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अपनी मृत्यु के अवसर तक शेरशाह ने कालिंजर को भी विजय कर लिया। इस प्रकार शेरशाह राजपूतों की शक्ति को दबाने में सफल हुआ परन्तु वह उन्हें समाप्त नहीं कर सका। शेरशाह की नीति की सफलता का एक कारण यह भी था कि उसने राजपूतों के राज्य को अपने राज्य में शामिल करने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति को नहीं अपनाया। अधिकांशतया राजपूत-राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार कराने मात्र से ही वह सन्तुष्ट हो गया।

अकबर

अकबर पहला मुगल बादशाह था जिसने राजपूतों के प्रति एक सुनिश्चित नीति अपनायी। उसकी राजपूत नीति—'दमन और समझौते' की नीति पर आधारित थी। अकबर ने जिस राजपूत-नीति को अपनाया उसके विभिन्न कारण बताये जाते हैं। अकबर की नीति साम्राज्यवादी थी। सम्पूर्ण भारत को अपनी अधीनता में लाना उसका लक्ष्य था। जब तक राजपूत-शासक उसकी अधीनता को स्वीकार न कर लेते तब तक सम्पूर्ण भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। अकबर की कुशाग्र बुद्धि ने यह अनुभव कर लिया कि राजपूतों को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बनाना अधिक लाभदायक होगा। राजपूतों का शौर्य, चरित्र और गुण प्रभावशाली थे। शारीरिक बल, शस्त्र-कौशल, नैतिक चरित्र, जीवन की अपेक्षा युद्ध में मर जाने को गौरवपूर्ण मानना, दिये हुए वचन को पूरा करना और धन या किसी अन्य लालच से न खरीदी जाने वाली वफादारी के गुणों को राजपूतों ने सदियों से सुरक्षित रखा था। अकबर इन गुणों की उपयोगिता को समझता था। अफगान और मिर्जा-वंश के सरदारों के द्वारा किये गये विद्रोहों ने उसे राजपूतों की मित्रता के लाभों को और अधिक स्पष्ट किया। राजपूतों का सहयोग प्राप्त करके अकबर अपने शासन के आधार को विदेशियों की शक्ति पर आधारित करने के स्थान पर भारतीयों की शक्ति पर निर्भर कर सकता था और इस प्रकार उसे स्थायित्व प्रदान कर सकता था। इस प्रकार राजपूतों के प्रति अपनायी गयी अकबर की नीति के महत्वपूर्ण कारण राजनीतिक थे। इसके अतिरिक्त, राजपूताना की, जहाँ राजपूतों के प्रमुख राज्य थे, ऐसी भौगोलिक स्थिति थी कि उसकी विजय अकबर के लिए आवश्यक थी। उत्तर-भारत के गुजरात के बन्दरगाहों के माध्यम से होने वाले समुद्री व्यापार के मार्ग राजपूताना होकर थे। यदि राजपूताना मुगलों के अधिकार में नहीं होता तो उस व्यापार में बाधा आती थी। राजपूताना के ये मार्ग ऐसे भी थे जो वर्षा के मौसम में भी चालू रह सकते थे जबकि अन्य मार्ग वर्षा के मौसम में बेकार हो जाते थे। हज के यात्री भी अधिकांशतया इन्हीं मार्गों से जाते थे क्योंकि वे गुजरात के खम्भात या सूरत के बन्दरगाहों से ही अपनी समुद्री-यात्रा आरम्भ करना पसन्द करते थे। दक्षिण-भारत जाने का सुगम मार्ग भी राजपूताना होकर था। यहाँ नमक और संगमरमर जैसे पदार्थ भी प्राप्त थे। इस कारण, राजपूताना की विजय अकबर के लिए आर्थिक, धार्मिक और दक्षिण-भारत में राज्य-विस्तार के लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी उपयोगी थी। अकबर की धार्मिक नीति भी राजपूतों से मित्रता करने में सहायक थी।

अकबर का उद्देश्य राजपूतों को अपनी अधीनता में लाकर उन्हें सहयोगी बनाना था। उसका प्रमुख लक्ष्य अपने वंश के अधिकार को भारत में दृढ़ करना और उसकी सीमाओं का अधिकतम विस्तार करना था। राजपूतों के प्रति अपनी नीति में वह अपने लक्ष्य को नहीं भूला था। आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार अकबर का उद्देश्य राजपूतों को अपने प्रति निष्ठावान बनाना था। इसके लिए चार बातें आवश्यक थीं। एक, राजपूत-शासक नियमित रूप से उसे एक निश्चित धनराशि खराज के रूप में दें ; द्वितीय, अपने पड़ौसी या अन्य राज्यों से उनके सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से न हों अपितु मुगल-बादशाह के माध्यम से हों ; तृतीय, आवश्यकता होने पर वे मुगल बादशाह को सैनिक-सहायता दें ; और चतुर्थ, वे सभी अपने को स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में न मानकर साम्राज्य का अभिन्न अंग मानें। व्यवहार में अकबर ने जिस राजपूत-नीति का पालन किया उससे निम्नलिखित तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अ) राजपूतों के महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार, जैसे चित्तौड़, मेड़ता, रणथम्भौर, कालिंजर आदि पर। इन किलों पर आधिपत्य करने से अकबर ने राजपूतों की विरोध करने की शक्ति को दुर्बल कर दिया।

(ब) स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करने वाले अथवा विवाह-सम्बन्धों के इच्छुक राजपूत-राजाओं को अपनी अधीनता में लेना। ऐसे राजपूत-राजाओं को अपनी अधीनता में लेकर उनसे एक निश्चित वार्षिक कर लेकर अकबर ने उनके राज्य उन्हीं को वापस कर दिये, उन्हें और उनके सम्बन्धियों को राज्य की सेवा में ले लिया, उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद दिये, उनके आन्तरिक शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, उनके सम्मान को सुरक्षित रखा तथा उन्हें सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में समानता प्रदान की।

राजपूतों के साथ की गयी सन्धियाँ भी ऐसी सम्मानपूर्ण थीं जिनके कारण अकबर अधिकांश राजपूत-राजाओं को स्वेच्छा से अपनी अधीनता में ला सका। इसके अतिरिक्त वह उन्हें सम्मानित पद प्रदान करता था। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह जैसे राजपूत सरदार इसके उदाहरण थे। इससे वह उनकी वफादारी भी प्राप्त कर सका जिससे राजपूतों की योग्यता का मुगल-वंश को लाभ प्राप्त हुआ।

(स) विरोधी राजपूत-राजाओं को युद्ध करके अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न, जैसा कि मेवाड़-राज्य के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

अकबर की राजपूतों के किलों को जीतने की नीति के अन्तर्गत 1562 ई. में मेड़ता पर अधिकार किया गया जो मेवाड़ के अधीन सरदार जयमल के अधिकार में था। 1568 ई. में मेवाड़ से चित्तौड़ का किला छीन लिया गया, 1569 ई. में राजा सुरजनराय को रणथम्भौर का किला मुगलों को सौंपने के लिए बाध्य किया गया और 1569 ई. में राजा रामचन्द्र से कालिंजर का किला ले लिया गया।

स्वेच्छा से अकबर की अधीनता को स्वीकार करने वाले राजपूत-राजाओं में सबसे पहला आमेर (जयपुर) का राजा भारमल था। 1562 ई. में राजा भारमल ने अकबर से भेंट की, उसकी अधीनता को स्वीकार किया और अपनी पुत्री का विवाह अकबर से कर दिया। इसी राजपूत राजकुमारी के गर्भ से शाहजादा सलीम का जन्म हुआ। अकबर ने राजा भारमल, उसके पुत्र राजा भगवानदास और पोते मानसिंह को राज्य में सम्मानित पद प्रदान किये। चित्तौड़ के पतन के पश्चात् मारवाड़, बीकानेर, जैसलमेर तथा अन्य बहुत से राजपूत-राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और कुछ ने अकबर से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये। इसी प्रकार, हल्दी-घाटी के युद्ध के पश्चात् बाँसबाड़ा, बूँदी, ओरछा आदि के राजपूत-राजाओं ने भी स्वेच्छा से अकबर के साथ सन्धि करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार, अधिकांश राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता को थोड़े से बल-प्रदर्शन के बाद ही स्वीकार कर लिया।

विरोधी राजपूत-राजाओं में एक मेवाड़ का राजा ही ऐसा हुआ जिसने अकबर की अधीनता स्वीकार करने से अन्त तक इंकार किया। मेवाड़ का सिसोदिया-वंश राजस्थान और राजपूत-शासकों में सबसे अधिक सम्मानित राजवंश था। अकबर के प्रारम्भिक काल में मेवाड़ का शासक राणा उदयसिंह था। मेवाड़ की विजय अकबर के लिए आवश्यक थी। राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से मेवाड़ मुगलों के लिए महत्वपूर्ण था। राणा उदयसिंह ने मालवा के राजा बाजबहादुर को अपने यहाँ शरण दी और विद्रोही मिर्जाओं को उसका संरक्षण प्राप्त हुआ। राणा ने अकबर की अधीनता को मानने से इंकार कर दिया था और वह उन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजपूत-राजाओं को घृणा से देखता था जिन्होंने अकबर से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये थे। इसके अतिरिक्त प्रमुख बात यह थी कि मेवाड़ को विजय किये बिना अकबर की राजस्थान अथवा उत्तर-भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। मेवाड़-विजय का प्रभाव राजपूत-राजाओं को अकबर की अधीनता को सरलता से स्वीकार कराने में सहायक हो सकता था, जैसा कि हुआ भी। आर्थिक दृष्टि से मेवाड़ का महत्व इसलिए था क्योंकि वह मुगल-साम्राज्य के पश्चिमी समुद्र-तट के व्यापारिक मार्ग पर था। गुजरात की विजय के बाद पश्चिमी देशों से मुगल-साम्राज्य का जो व्यापार होता था उसे राजस्थान के मार्ग से गुजरना पड़ता था। मेवाड़ शत्रु-राज्य के विरुद्ध इस व्यापारिक मार्ग में बाधा उपस्थित करता था। गुजरात की सुरक्षा और यहाँ से उत्तर-भारत को होने वाले व्यापार की सुरक्षा के लिए मेवाड़ का मुगलों की अधीनता में होना आवश्यक था। 1567 ई. में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सरदारों की सम्मति से राणा उदयसिंह अरावली की पहाड़ियों में चला गया जहाँ उसने अपनी नवीन राजधानी उदयपुर की नींव डाली। सरकार ने चित्तौड़ का घेरा डाल दिया और कई महीने के पश्चात् 1568 ई. में किले को जीतने में सफलता पायी। परन्तु चित्तौड़ को जीतने मात्र से मेवाड़ की विजय पूरी नहीं हुई। मेवाड़ का अधिकांश भू-प्रदेश राजा के हाथों में रहा।

1572 ई. में राणा उदयसिंह की मृत्यु हो गयी। कर्नल टॉड ने उदयसिंह को दुर्बल और डरपोक बताया है। परन्तु उनका मत तथ्यों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। उदयसिंह ने अपने वंश और परिवार की सुरक्षा के लिए सरदारों की सम्मति से चित्तौड़ के किले को छोड़ा था और उसने आजीवन अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। इस कारण उसे दुर्बल, डरपोक अथवा अपने वंश के लिए अशोभनीय स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपनी मृत्यु के अवसर पर उदयसिंह ने अपने पुत्र जगमल को अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की थी परन्तु राजपूत सरदारों ने उसे स्वीकार नहीं किया और उसके सबसे बड़े पुत्र प्रतापसिंह को राणा बनाया। राणा प्रताप की दृढ़ता, उसका शौर्य और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष का संकल्प मेवाड़, राजस्थान और भारत के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। अकबर ने राजा मानसिंह, राजा भगवानदास और राजा टोडरमल को राणा प्रताप के पास भेजकर समझौते के प्रयत्न किये परन्तु वे सफल नहीं हुए। उसी अवसर पर हुए बूँदी और मारवाड़ के विद्रोहों ने अकबर को विश्वास दिला दिया कि राणा प्रताप को दबाये बिना राजपूत अपनी विरोध करने की भावना को नहीं छोड़ेंगे। राजा मानसिंह के नेतृत्व में एक मुगल सेना राणा के विरुद्ध भेजी गयी और 1576 ई. में हल्दीघाटी का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ। इस युद्ध के पश्चात् राणा पहाड़ों और जंगलों में चला गया। 1596 ई. में राणा प्रताप की मृत्यु हुई। उसने आजीवन मुगलों से संघर्ष किया और अन्त में चित्तौड़ के किले के अतिरिक्त मेवाड़ के अधिकांश भू-प्रदेश को अपने अधिकार में करने में सफलता पायी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अमरसिंह ने भी युद्ध को जारी रखा और 'मेवाड़ की स्वतन्त्रता' के प्रयत्न में लगा रहा। इस प्रकार अकबर मेवाड़ को पूर्णतया जीतने अथवा दबाने में असफल रहा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेवाड़ शक्ति पर्याप्त सीमित हो गयी थी, उसका मुगलों से संघर्ष एकाकी था और वह अकबर की साम्राज्य-विस्तार की नीति को रोकने में सफल नहीं हुआ था।

अकबर की राजपूत-नीति सफल हुई। मेवाड़ के भू-प्रदेश को छोड़कर अन्य सभी राजपूत-राज्य अकबर की सम्प्रभुता के अधीन हो गये। जो राजपूत शासक पिछले 350 वर्षों से मुसलमानी सत्ता का सफलता से विरोध करते आ रहे थे अब मुगल-साम्राज्य के वफादार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरदार बन गये और उन्होंने मुगल-साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया। कर्नल टॉड ने लिखा है : "वास्तव में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक अकबर था। वह राजपूत-स्वतन्त्रता का प्रथम सफल विजेता था।" उसकी नीति के कारण राजपूत अपने राज्यों की स्वतन्त्रता की भावना एवं आदर्श को भूल गये और उन्होंने प्रसन्नता से अपने गौरव एवं शौर्य को मुगल-वंश के गौरव एवं शौर्य के साथ आत्मसात कर दिया। यह अकबर की राजपूत-नीति की सबसे बड़ी सफलता थी। इससे मुगल-साम्राज्य के विस्तार में सफलता मिली और वह भारत में दृढ़ हुआ। यह कहना भूल होगी कि अकबर ने राजपूतों को अपमानित करने के उद्देश्य से उनसे विवाह-सम्बन्ध किये थे। पहले के अनेक मुसलमान शासकों ने भी हिन्दू और राजपूत स्त्रियों से विवाह किये थे। अकबर ने राजपूत-राजाओं को विवाह-सम्बन्धों के लिए बाध्य नहीं किया था और उसकी राजपूत-पत्नियों को पूर्ण सम्मान प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त, अकबर ने किसी भी राजपूत-स्त्री को विवाह से पहले इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए नहीं कहा और बाद में भी उनको अपने धर्म के अनुसार पूजा आदि करने की सुविधा दी। इसी प्रकार, यह भी कहना भूल होगी कि राजपूत-जाति शौर्य-विहीन अथवा कायर हो गयी थी। यदि अकबर ने राजपूतों के राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने, उनको असम्मानित करने अथवा उनके धर्म पर आक्रमण करने की नीति अपनायी होती तो राजपूत-जाति अकबर का उसी प्रकार विरोध करती जैसा उसने औरंगजेब के समय में किया। परन्तु अकबर ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। अकबर केवल यह चाहता था कि राजपूत राजा उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें, उसको कुछ वार्षिक कर दें, अपनी विदेश-नीति उसे सौंप दें, आवश्यकता के अवसर पर उसे कुछ निश्चित संख्या में सैनिक सहायता दें और अपने आप को मुगल-साम्राज्य का अन्तरंग भाग मानें। इसके बदले में वह उनको आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्रता, उनके सम्मान की सुरक्षा, उनको धार्मिक स्वतन्त्रता और योग्यता के अनुसार मुगल-साम्राज्य में श्रेष्ठतम पद देने को तत्पर था। यह बात ध्यान में रखने की है कि अकबर ने भारत में मुसलमान शासकों से जीते हुए सभी राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, किन्तु राजपूतों के किसी भी महत्वपूर्ण राज्य को (गोंडवाना के अतिरिक्त) मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया था। इसके अतिरिक्त, अकबर ने राजपूतों को अन्य जागीरें भी प्रदान की थीं। इस प्रकार अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने वाले शासकों को दोहरा लाभ था। अपने राज्यों के अतिरिक्त मनसबदारों के रूप में अतिरिक्त जागीरें प्राप्त करके उनकी शक्ति, धन और सम्मान सभी का विस्तार हुआ। इसने भी राजपूत-शासकों को स्वेच्छा से अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए लालायित किया। अकबर की यह उदार नीति उसकी सफलता का कारण बनी।

जहाँगीर

जहाँगीर ने राजपूतों के प्रति वही नीति अपनायी जो उसके पिता अकबर की थी। राजपूत-राजाओं से विवाह-सम्बन्ध, मित्रतापूर्ण व्यवहार, उनके राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता, उन्हें राज्य में सम्मानित पद देना आदि उसकी नीति के प्रमुख आधार रहे यद्यपि उच्च पदों पर राजपूतों की नियुक्ति की संख्या में कमी हो गयी। इसी प्रकार, विरोधी मेवाड़ को मुगल-अधीनता में लाना भी उसका लक्ष्य रहा। राणा अमरसिंह के विरुद्ध उसने अपने शासनकाल के आरम्भ से ही एक के बाद एक मुगल सेनाएँ भेजीं। इन युद्धों में मेवाड़ की कृषि, उद्योग, गाँव, नगर और मन्दिर बर्बाद हो गये, स्थान-स्थान पर मुगलों ने अधिकार कर लिया, स्थान-स्थान पर मुगल चौकियाँ स्थापित कर दी गयीं और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड़ का घेरा डाल दिया गया। राणा अमरसिंह ने साहस से सभी कठिनाइयों का मुकाबला किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और निरन्तर युद्ध किये परन्तु अन्त में युवराज करनसिंह और कुछ अन्य राजपूत सरदारों के कहने से सन्धि करने के लिए तैयार हो गया। 1615 ई. में मुगलों और मेवाड़ में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार—

1. राणा ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। उसने अपने स्थान पर अपने पुत्र करनसिंह को मुगल-दरबार में भेजना स्वीकार किया;
2. राणा को मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्धों के लिए बाध्य नहीं किया गया ; तथा
3. जहाँगीर ने मेवाड़ के सम्पूर्ण भू-प्रदेश और चित्तौड़ के किले को भी राणा को वापस कर दिया यद्यपि शर्त रखी गयी कि राणा किले की मरम्मत नहीं करायेगा।

इस प्रकार, मेवाड़ और मुगलों का लम्बा संघर्ष समाप्त हुआ। मेवाड़ के राणाओं ने इस सन्धि का उस समय तक पालन किया जब तक औरंगजेब की नीति के कारण राणा राजसिंह को मुगलों का विरोध करने के लिए बाध्य न होना पड़ा।

मेवाड़-मुगल संघर्ष के सन्दर्भ में यह कहना एक भूल होगी कि राणा अमरसिंह ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया था और मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके राणा प्रताप के नाम को लज्जित कर दिया था। राणा अमरसिंह ने मुगलों से उसी प्रकार और उन्हीं परिस्थितियों में युद्ध किया जिस प्रकार राणा प्रताप ने किया था। मेवाड़ के प्रति जहाँगीर का व्यवहार भी सराहनीय था। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें बहुत सम्मानित रहने दीं। उसने राणा के सम्मान को कहीं भी चोट नहीं पहुँचायी और मेवाड़ के जीते हुए भू-प्रदेश तथा चित्तौड़ का किला उदारतापूर्वक राणा को वापस कर दिये।

शाहजहाँ

शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर की राजपूत-नीति का अनुकरण किया। उसके समय में भी राजपूतों के प्रति सम्मान और समानता का व्यवहार किया गया और राजपूत उसकी नीति से सन्तुष्ट रहे यद्यपि उच्च पदों पर उनकी नियुक्ति की संख्या में निरन्तर कमी होती जा रही थी। मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह और अम्बर (जयपुर) के राजा जयसिंह ने मुगल-साम्राज्य की पूर्ण निष्ठा और योग्यता से सेवा की। मेवाड़ के राजा जगतसिंह और उसके पश्चात् राणा राजसिंह से भी उसके सम्बन्ध ठीक रहे। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों और राजपूतों के सम्बन्ध सम्मान और सद्भावना के रहे।

औरंगजेब

औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी तथा जहाँगीर और शाहजहाँ द्वारा अनुसरण की गयी राजपूत-नीति में परिवर्तन कर दिया। औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णु थी और वह राजपूतों को अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा मानता था। राजपूतों की शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी और यदि वह सफल भी हो जाती तो स्थायी नहीं हो सकती थी। इस कारण उसका लक्ष्य राजपूतों की स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करना बन गया और उसने उनके राज्यों को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। औरंगजेब के समय में अम्बर (जयपुर) का राजा जयसिंह, मेवाड़ का राजा राजसिंह और मारवाड़ का राजा जसवन्तसिंह प्रमुख राजपूत-राजा थे। शाहजहाँ के समय तक ये सभी राजपूत-राजा मुगल-साम्राज्य के मित्र रहे और राजा जयसिंह व राजा जसवन्तसिंह ने शाहजहाँ के समय में ही नहीं बल्कि औरंगजेब के आरम्भिक काल में भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-साम्राज्य की सेवा की। परन्तु औरंगजेब ने जयपुर के राज्य को छोड़कर मेवाड़ और मारवाड़ को अपनी नीति से असन्तुष्ट कर दिया।

उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर राजा जयसिंह ने शाहशुजा को परास्त करने में महत्वपूर्ण भाग लिया परन्तु सामूगढ़ के युद्ध के पश्चात् वह औरंगजेब के साथ हो गया। उसी प्रकार, राजा जसवन्तसिंह ने धरमट के युद्ध में औरंगजेब का मुक़ाबला किया तथा औरंगजेब और शाहशुजा के युद्ध के अवसर पर भी वह औरंगजेब का साथ छोड़कर अपने राज्य में वापस चला गया। परन्तु बाद में राजा जयसिंह के समझाने और दाराशिकोह की शक्ति को नष्टप्राय समझकर वह भी औरंगजेब के साथ हो गया। औरंगजेब सर्वदा इनको शंका की दृष्टि से देखता रहा और उसने उन दोनों को उनके राज्यों से दूर मुगल-साम्राज्य के लिए लड़े जाने वाले कठिनतम युद्धों में नियुक्त किया। राजा जयसिंह को दक्षिण-भारत भेजा गया और वहाँ 1666 ई. में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हुई। राजा जसवन्तसिंह को अफगानिस्तान की सीमाओं पर भेजा गया जहाँ उसके दो पुत्र युद्ध करते हुए मारे गये तथा वह स्वयं भी 1678 ई. में जमरूद नामक स्थान पर वीरगति को प्राप्त हुआ।

औरंगजेब इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। यह कहा गया है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा, औरंगजेब ने चैन की साँस नहीं ली। औरंगजेब ने उसके पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह को पहले ही जहर की पोशाक पहनाकर चालाकी से मरवा दिया था। इस कारण मारवाड़ का कोई उत्तराधिकारी जीवित न था। औरंगजेब ने तुरन्त मुगल सेना को भेजकर मारवाड़ पर अधिकार कर लिया और मारवाड़ को असम्मानित करने के लिए जसवन्तसिंह के सिंहासन को 36 लाख रुपये में बेच दिया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो मारवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगा।

परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अफगानिस्तान से वापस लौटते हुए लाहौर में राजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उनमें से एक बच्चे की मृत्यु हो गयी परन्तु दूसरा बच्चा अजीतसिंह जीवित रहा। राठौर सेनापति दुर्गादास रानियों और बच्चों को लेकर दिल्ली गया और औरंगजेब से अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने की माँग की। औरंगजेब इसके लिए तैयार न हुआ बल्कि उसने अजीतसिंह को अपने पास रखने और उसे इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने की इच्छा प्रकट की। यहीं से राजपूतों और औरंगजेब का संघर्ष आरम्भ हुआ जो औरंगज़ेब की मृत्युपर्यन्त चला। दुर्गादास रानियों और अजीतसिंह को लेकर दिल्ली से मारवाड़ भाग गया जहाँ राठौर जनता ने अजीतसिंह को अपना राजा मान लिया। औरंगजेब ने निरन्तर मारवाड़ पर आक्रमण किये, उस पर अधिकार कर लिया और उसे बर्बाद कर दिया। परन्तु राठौरों ने मुगलों से संघर्ष करना बन्द नहीं किया। मेवाड़ का राणा राजसिंह जो औरंगजेब की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट था, जिससे जजिया माँगा गया था, जिसके वंश की राजकुमारी अजीतसिंह की माँ थी और जिसकी स्वयं की स्वतन्त्रता को खतरा हो गया था, मारवाड़ की तरफ से युद्ध में सम्मिलित हो गया। इसी समय 1681 ई. में औरंगजेब के पुत्र अकबर ने राजपूतों की सहायता लेकर विद्रोह किया। अकबर का यह विद्रोह सफल न हुआ और उसे दक्षिण-भारत भागना पड़ा। औरंगजेब भी मेवाड़ के राजा जयसिंह (राजसिंह की मृत्यु हो चुकी थी) से सन्धि करके अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत चला गया और वहाँ से फिर कभी भी वापस न आ सका। मारवाड़ ने अपना युद्ध जारी रखा जो रुक-रुक कर औरंगजेब की मृत्यु के समय तक चला। दुर्गादास इस युद्ध की आत्मा सिद्ध हुआ। उसकी दृढ़ता, वफादारी और शौर्य ने मारवाड़ की स्वतन्त्रता की ज्योति को बुझने नहीं दिया और अन्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् अजीतसिंह ने मारवाड़ के अधिकांश भाग पर अधिकार करने में सफलता पायी।

इस प्रकार, औरंगजेब न तो मेवाड़ को जीत सका और न मारवाड़ पर अपनी सत्ता को ही स्थापित रख सका। इस कारण औरंगजेब की राजपूत-नीति का केवल एक ही परिणाम निकला। राजपूत-जाति जो अकबर के समय से मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार हो गयी थी और जिसने मुगल-साम्राज्य के विस्तार और उसकी शक्ति को भारत में दृढ़ करने में भाग लिया था, मुगल-सम्राट से असन्तुष्ट हो गयी और उसने उसका विरोध किया। इससे औरंगजेब के शत्रुओं की संख्या में वृद्धि हुई, अन्य विद्रोहों को प्रोत्साहन मिला और राजपूतों की योग्यता का प्रयोग मुगल-साम्राज्य के हित में नहीं किया जा सका। औरंगजेब ने राजपूतों को अपना शत्रु बनाकर और उसका विश्वास खोकर मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा के एक प्रमुख स्तम्भ को उखाड़ दिया। इस प्रकार औरंगजेब की राजपूत-नीति उसकी विफलता और मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का प्रमुख कारण बनी।

उत्तरकालीन मुगल बादशाह राजपूतों की वफ़ादारी प्राप्त करने में असफल रहे और राजस्थान में शीघ्र प्रायः स्वतन्त्र राजपूत-राज्यों का निर्माण हो गया।

[3]

मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति

बाबर के भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर दक्षिण-भारत में खानदेश, बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर के मुसलमानी राज्य थे और विजयनगर का हिन्दू-राज्य था। बाबर के वर्णन के अनुसार सेना और सीमाओं की दृष्टि से विजयनगर का राज्य हिन्दू-राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली था। परन्तु उससे पहले कि मुगल बादशाह दक्षिण-भारत की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण भाग ले पाते, दक्षिण की इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। जनवरी 1565 ई. में बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की संयुक्त सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण करके उसे तालीकोटा के युद्ध में परास्त कर दिया और उसके अस्तित्व को समाप्त कर दिया। इसके कुछ समय पश्चात् अहमदनगर ने बरार को जीतकर अपनी सीमाओं में सम्मिलित कर लिया और बीजापुर ने बीदर को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस कारण जब अकबर के समय में मुगलों का दक्षिण की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप आरम्भ हुआ, तब वहाँ केवल खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य ही शेष रह गये थे। परन्तु इससे पहले कि मुगल दक्षिण-भारत की विजय को पूर्ण कर पाते, वहाँ एक नवीन हिन्दू शक्ति—मराठों—का उदय हुआ। औरंगजेब के समय में मुगलों ने दक्षिण-भारत की इन सभी शक्तियों को नष्ट करने का प्रयत्न किया और वे सफल भी हुए। परन्तु मुगलों की दक्षिण-विजय स्थायी न हो सकी। मुगल-साम्राज्य का पराभव दक्षिण-विजय से आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण दक्षिण-भारत की विजय के पश्चात् भी मुगलों की नीति, अन्त में, दक्षिण में विफल रही और नवोदित मराठा-शक्ति ने मुगलों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करना आरम्भ कर दिया। उसके पश्चात् मराठों ने ही नहीं बल्कि मुगल सरदार निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने भी दक्षिण-भारत में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने में सफलता पायी। इस प्रकार मुगलों की दक्षिण-नीति का इतिहास उनकी सफलता और असफलता दोनों का है।

बाबर को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ। हुमायूँ के समय में खानदेश का शासक मुहम्मदशाह प्रथम गुजरात के शासक बहादुरशाह की तरफ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मेवाड़ के आक्रमण में सम्मिलित हुआ था और इस कारण हुमायूँ के विरुद्ध मन्दसौर और माँडू के युद्धों में वह बहादुरशाह के साथ था। हुमायूँ ने गुजरात को जीतकर एक साधारण आक्रमण खानदेश पर भी किया। उस समय मुहम्मदशाह ने हुमायूँ से माफी माँग ली और हुमायूँ सन्तुष्ट होकर वापस चला गया। इस प्रकार, बाबर और हुमायूँ ने दक्षिण-भारत के राज्यों के प्रति कोई निश्चित योजना नहीं बनायी थी। वह समय मुगलों के लिए भारत की राजसत्ता के लिए अफगानों से संघर्ष का था और उस समय तक मुगल बादशाह उत्तर-भारत में ही मुगल-साम्राज्य को स्थापित और दृढ़ करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस कारण उन्हें दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न था। अकबर के समय से मुगलों की दक्षिण-नीति सुनिश्चित रूप से आरम्भ होती है। मुगलों की स्थिति को उत्तर-भारत में दृढ़ करने के पश्चात् अकबर ने दक्षिण-भारत की ओर ध्यान दिया। अकबर की नीति साम्राज्यवादी थी और दक्षिण-भारत की विजय उसकी नीति का एक भाग बनी। उस समय तक पुर्तगाली भारतीय समुद्र-तट पर शक्तिशाली होने लगे थे। अकबर उनसे सन्तुष्ट नहीं था। पुर्तगालियों की शक्ति को नष्ट करना भी उसका एक उद्देश्य था। अबुल फजल के अनुसार अकबर की दक्षिण-विजय की नीति का उद्देश्य स्थानीय शासकों की निरंकुश शासन-व्यवस्था से पीड़ित जनता को सुख-शान्ति और सुरक्षा प्रदान करना था, यद्यपि इस विचार को आधुनिक इतिहासकार कोई महत्व प्रदान नहीं करते। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी इसी नीति को अपनाया गया और दक्षिण-भारत की विजय का आधार मूलतया राजनीतिक रहा। औरंगजेब के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति का आधार केवल राजनीतिक नहीं रहा बल्कि आर्थिक और धार्मिक भी हो गया। औरंगजेब ने मराठों की शक्ति को नष्ट करने के लिए दक्षिण के मुसलमानी राज्यों को समाप्त करना आवश्यक समझा। दक्षिण के शासक शिया थे और फारस के शासक को अपना संप्रभु मानते थे जो कट्टर सुन्नी औरंगजेब को अप्रिय था। इसके अतिरिक्त, दक्षिण के राज्य सम्पन्न थे। औरंगजेब को उनकी सम्पत्ति का भी लालच था। इसके अतिरिक्त, अकबर के समय से ही यह स्पष्ट हो गया था कि दक्षिण के भू-क्षेत्र से साम्राज्य की आय अधिक हो सकती है। औरंगजेब दक्षिण के नवीन हिन्दू-मराठा राज्य को ही नहीं बल्कि बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों के अस्तित्व को भी नष्ट करने पर तुल गया। इसके अतिरिक्त, शाहजहाँ के समय तक जहाँ दक्षिण-भारत के राज्यों की शक्ति को नष्ट करके और उनसे मुगल-अधीनता को स्वीकार कराकर ही सन्तोष कर लिया गया, औरंगजेब ने उनको मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी। वह अपनी नीति को कार्यरूप में परिणित करने में सफल भी रहा। औरंगजेब के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति अपनी सफलता की चरम सीमा पर थी। यह बात अलग है कि मुगल बादशाह अपनी इस विजय को स्थायी न रख सके। स्वयं औरंगजेब को भविष्य में दक्षिण-भारत की विजय की असफलता दिखायी देने लगी थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह असफलता स्पष्ट हो गयी और दक्षिण-भारत में पुनः स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

1591 ई. में अकबर ने दक्षिण के चारों राज्यों—खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा—में अपने राजदूत भेजे तथा उनसे मुगल अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। खानदेश के शासक अलीखाँ ने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। बाद में वह अकबर की ओर से अहमदनगर के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया। परन्तु दक्षिण के अन्य तीनों राज्यों ने नम्रतापूर्वक अकबर के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस कारण मुगलों ने अहमदनगर पर आक्रमण किया। चाँदबीबी के नेतृत्व में अहमदनगर ने मुगलों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु चाँदबीबी की मृत्यु और कई वर्षों के संघर्ष के उपरान्त ही मुगलों ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बरार, अहमदनगर और दौलताबाद के भू-प्रदेशों तथा किलों पर अधिकार करने में सफलता पायी। खानदेश के शासक अलीखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र मीरन बहादुर ने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। इस कारण मुगलों ने उस पर आक्रमण किया और अन्त में बुरहानपुर और असीरगढ़ के किलों को जीतकर सम्पूर्ण खानदेश को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। मीरन बहादुर को पेन्शन देकर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। बीजापुर और गोलकुण्डा को अपनी अधीनता में लाने का अवसर अकबर को प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार, अकबर ने खानदेश के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया, अहमदनगर को समाप्त तो न कर सका परन्तु उसके पर्याप्त बड़े भू-प्रदेश पर अधिकार कर लिया और दक्षिण के कई दृढ़ किलों, जैसे दौलताबाद, अहमदनगर, बुरहानपुर, असीरगढ़ आदि को जीतकर मुगलों की शक्ति को दक्षिण में जमा दिया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए दक्षिण-विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

जहाँगीर ने अपने पिता की दक्षिण-नीति को जारी रखा। उसके समय में अहमदनगर राज्य को समाप्त करने तथा बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों को मुगलों की अधीनता में लाने के प्रयत्न किये गये। जहाँगीर की दक्षिण-विजय की नीति में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर ने उपस्थित की। उसने अपनी योग्यता से अहमदनगर राज्य के शासन और आर्थिक स्थिति को ठीक किया, मराठा-सैनिकों को गुरिल्ला युद्ध-पद्धति में प्रशिक्षित किया और जहाँगीर के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में मुगलों से अहमदनगर का किला और अपने खोये हुए अन्य प्रदेशों को जीतने में सफलता पायी। जहाँगीर ने आरम्भ से ही विभिन्न मुगल सेनापतियों के नेतृत्व में मुगल सेनाओं को अहमदनगर के विरुद्ध भेजा परन्तु मलिक अम्बर की नीतिज्ञता और मुगलों के पारस्परिक मतभेदों के कारण मुगल कोई विशेष सफलता न पा सके। जब शाहजादा खुर्रम ने अहमदनगर पर आक्रमण किया तब 1617 ई. में अहमदनगर ने बालाघाट का प्रदेश और अहमदनगर का किला मुगलों को सौंपकर एक सन्धि कर ली और बीजापुर ने, जिसने इस सन्धि के लिए मध्यस्थता की, खुर्रम को मूल्यवान उपहार भेंट किये। जहाँगीर ने खुर्रम की इस सफलता को एक बड़ी सफलता माना और उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि से विभूषित किया। परन्तु ऐसा कुछ न था। मलिक अम्बर ने मुगलों के विरुद्ध पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया जिससे स्पष्ट हो गया कि अहमदनगर मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। दक्षिण में युद्ध चलता रहा जब तक कि 1621 ई. में अहमदनगर राज्य को सन्धि के लिए पुनः बाध्य न किया गया। इस सन्धि के अनुसार अहमदनगर ने मुगलों को बहुत से भू-प्रदेश दे दिये, 14 लाख रुपये की वार्षिक आय का एक अन्य भू-क्षेत्र मुगलों को दिया तथा 18 लाख रुपये नकद दिये। बीजापुर और गोलकुण्डा ने, जिन्होंने अहमदनगर राज्य की सहायता की थी, क्रमशः 12 लाख और 20 लाख रुपये हर्जाने के रूप में मुगलों को दिये। इसके पश्चात् दक्षिण-भारत का युद्ध समाप्त हो गया। इस प्रकार, जहाँगीर के समय में अहमदनगर राज्य को दुर्बल किया गया तथा बीजापुर व गोलकुण्डा के राज्यों पर दबाव बढ़ाया गया परन्तु साम्राज्य-विस्तार सम्भव न हो सका और न दक्षिण-भारत के किसी राज्य को समाप्त किया जा सका अथवा पूर्णतया मुगलों की अधीनता में लिया जा सका। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "मुगल-शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहाँ अकबर ने दक्षिण-विजय के समय उसे छोड़ा था।"

शाहजहाँ ने भी अकबर और जहाँगीर द्वारा अपनायी गयी नीति का अनुसरण किया और दक्षिण-भारत के राज्यों को समाप्त करने अथवा उनको अपनी अधीनता में लाने के प्रयत्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये। शाहजहाँ स्वयं एक योग्य सेनापति था और दक्षिण-भारत की राजनीति का उसे अच्छा अनुभव था। अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर की मृत्यु और उसके पश्चात् राज्य में उत्पन्न हुई अव्यवस्था ने उसे सुअवसर प्रदान किया। मलिक अम्बर का पुत्र फतहखाँ, जो राज्य का वजीर बना, न केवल अयोग्य था बल्कि धूर्त भी था। उसने सुल्तान, मुर्तजा निजामशाह द्वितीय को कैद करके कत्ल करा दिया और वह कभी मुगलों और कभी बीजापुर के साथ मिलता रहा। वह निजामशाही-वंश के प्रति वफादार नहीं था बल्कि उसका लक्ष्य केवल अपने स्वार्थ की रक्षा करना था। जिस छोटे बालक हुसैनशाह को उसने गद्दी पर बैठाया, वह उसके प्रति भी वफादार न रहा। अपनी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उसने निजामशाही-वंश के प्रति वफादार सरदारों (जैसे शाहजी भोंसले) को ही नहीं खो दिया बल्कि बीजापुर की सहानुभूति और मुगलों के विश्वास को भी खो दिया। अन्त में, 1633 ई. में उसने अपने मालिक हुसैनशाह के साथ मुगलों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। दौलताबाद के किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। हुसैनशाह को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया और **अहमदनगर राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया** (1633 ई.)। उसके पश्चात् भी शाहजी भोंसले ने एक बालक को मुर्तजा तृतीय के नाम से घोषित करके मुगलों से संघर्ष जारी रखा परन्तु अन्त में 1636 ई. में उसने भी मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंप दिया और स्वयं बीजापुर की सेवा में चला गया।

1626 ई. में गोलकुण्डा के शासक मुहम्मद कुतुबशाह की मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् 11 वर्ष की आयु का अब्दुल्ला कुतुबशाह बना। उसके समय में उसके दरबार में सरदारों में एकता न रही और राज्य दुर्बल हो गया। 1636 ई. में मुगलों के दबाव के कारण गोलकुण्डा को एक सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार अनेक शर्तों के अतिरिक्त उसने मुगलों की अधीनता भी स्वीकार कर ली। 1652 से 1657 ई. तक औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार रहा। उस समय में औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर पुनः दबाव डाला। गोलकुण्डा 1636 ई. में की गयी सन्धि की शर्तों को पूरा नहीं कर रहा था और उसने अपना वार्षिक कर भी पूरी तरह से नहीं दिया था। जब कुतुबशाह का झगड़ा अपने सरदार मीर जुमला से हुआ और मीर जुमला ने शाहजहाँ से संरक्षण माँगा तब औरंगजेब को गोलकुण्डा में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। औरंगजेब ने हैदराबाद को जीतकर गोलकुण्डा का घेरा डाल दिया। परन्तु इससे पहले कि वह गोलकुण्डा पर अपना अधिकार करता उसे गोलकुण्डा का घेरा उठा लेने का शाहजहाँ का आदेश प्राप्त हुआ। इस कारण 1656 ई. में गोलकुण्डा से सन्धि कर ली गयी जिसके अनुसार गोलकुण्डा ने मुगल-आधिपत्य को ही स्वीकार नहीं किया अपितु उसने अपनी एक पुत्री की शादी औरंगजेब के पुत्र शाहजादा मुहम्मद से कर दी, 10 लाख रुपया दहेज के रूप में दिया और 17 लाख रुपया युद्ध के हर्जाने के रूप में चुकाया। इस प्रकार, **गोलकुण्डा को दुर्बल तो कर दिया गया परन्तु उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट होने से बच गया।**

बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम की मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद आदिलशाह सुल्तान बना था। आदिलशाह की मुगलों के प्रति यद्यपि कोई स्वतन्त्र नीति न थी और उसके सरदारों में मतभेद था, तथापि 1631 ई. में किया गया मुगलों का आक्रमण विफल रहा। 1636 ई. में मुगलों ने बीजापुर पर पुनः आक्रमण किया और बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली जिसके अनुसार अन्य शर्तों के अतिरिक्त बीजापुर और मुगलों में कोई संघर्ष नहीं हुआ। जब शाहजादा औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना तब मुगलों ने पुनः बीजापुर में हस्तक्षेप किया। नवम्बर 1656 ई. में आदिलशाह प्रथम की मृत्यु हो गयी। यह विश्वास किया जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि उसके कोई पुत्र न था और उसकी बेगम 'बड़ी साहिबा' ने किसी अन्य लड़के को अपना पुत्र बनाकर उसे आदिलशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा दिया था। शाहजहाँ ने इससे लाभ उठाना चाहा और विभिन्न दोष लगाकर औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। मुगलों ने बीदर के किले को जीता, गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर की सेना को नष्ट कर दिया और कल्याणी के किले को भी जीत लिया। इसके पश्चात् औरंगजेब ने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। परन्तु इससे पहले कि बीजापुर के किले पर अधिकार किया जाता, शाहजहाँ के आदेशानुसार औरंगजेब को बीजापुर से सन्धि कर लेनी पड़ी। 1657 ई. में हुई इस सन्धि के अनुसार बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और डेढ़ करोड़ रुपया भी देने का वायदा किया। इसके अतिरिक्त बीदर और कल्याणी के किले भी मुगलों के अधिकार में रहे।

औरंगजेब ने इसी अवसर पर शिवाजी को परास्त करके उन्हें भी मुगलों से सन्धि करने को बाध्य किया।

इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति पर्याप्त सफल रही। अहमदनगर राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया, बीजापुर एवं गोलकुण्डा से भूमि छीनी गयी, कुछ किले ले लिये गये, उनसे धन वसूल किया गया, उनकी शक्ति को दुर्बल कर दिया गया और उन्हें प्रत्यक्ष रूप से मुगलों की अधीनता में ले लिया गया। सम्भवतया, बीजापुर और गोलकुण्डा के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया गया होता यदि स्वयं शाहजहाँ ने औरंगजेब के मार्ग में बाधा डालकर उनके अस्तित्व की रक्षा न की होती। शाहजहाँ दक्षिण-भारत की राजनीति की गम्भीरता से परिचित था और उसका यह आँकलन ठीक ही था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति मुगलों के लिए जटिल हो जायेगी। इस कारण वह उन राज्यों को दुर्बल करके और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहाँनआरा इन राज्यों को समाप्त करने के पक्ष में न थे। दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था। अतएव उनके प्रभाव के कारण शाहजहाँ ने इन राज्यों के अस्तित्व को कायम रहने दिया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तराधिकार के युद्ध की सम्भावना भी इस अवसर पर इन राज्यों के जीवित रह जाने का कारण बनी।

औरंगजेब की दक्षिण-नीति का उद्देश्य राजनीति के साथ-साथ आर्थिक और धार्मिक भी था। औरंगजेब न केवल साम्राज्य-विस्तार के लिए ही इन राज्यों को समाप्त करना चाहता था बल्कि उसका यह विश्वास भी हो गया था कि इन राज्यों को समाप्त किये बिना मराठों की शक्ति को दबाना असम्भव होगा। इसके अतिरिक्त ये राज्य शिया-राज्य थे। इस कारण वह इनसे असन्तुष्ट था। दक्षिण के ये शिया-राज्य सम्पन्न राज्य थे। औरंगजेब उनकी सम्पत्ति को भी लूटना चाहता था। औरंगजेब ने दक्षिण के राज्यों द्वारा मुगल-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर लेने मात्र से ही सन्तोष नहीं किया बल्कि उसने उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को नष्ट करके उन्हें मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने की योजना बनायी।

अपने शासनकाल के प्रारम्भ के प्रायः 25 वर्षों में औरंगजेब उत्तर-भारत में व्यस्त रहा तथा दक्षिण-भारत के राज्यों को जीतने का दायित्व विभिन्न मुगल सरदारों को सौंपा गया। बीजापुर ने 1657 ई. में सम्पन्न हुई सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया था। इस कारण 1665-66 ई. में राजा जयसिंह के नेतृत्व में मुगलों ने उस पर आक्रमण किया परन्तु सफलता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त न हो सकी। 1672 ई. में सुल्तान अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर उसका चार वर्षीय पुत्र सिकन्दर आदिलशाह गद्दी पर बैठा। अल्पायु के इस शासक के समय में दरबार के भारतीय मुसलमान और विदेशी मुसलमान सरदारों में प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी जिससे राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। 1678 ई. में मुगलों ने बीजापुर पर पुनः आक्रमण करने आरम्भ कर दिये परन्तु कई वर्षों तक मुगल कोई विशेष सफलता न पा सके। अन्त में, अप्रैल 1685 ई. में शाहजादा आजम ने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। औरंगजेब भी अपने विद्रोही पुत्र अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत पहुँच गया था। जुलाई 1686 ई. में स्वयं औरंगजेब किले के घेरे की देखभाल के लिए पहुँच गया। प्रायः 18 महीने के घेरे के पश्चात् सितम्बर 1686 ई. में बीजापुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दर आदिलशाह को पेन्शन देकर गद्दी से हटा दिया गया और **बीजापुर-राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1686 ई)।**

गोलकुण्डा का तत्कालीन शासक अबुल हसन कुतुबशाह था। अबुल हसन ने अपना शासन दो ब्राह्मण मन्त्रियों को सौंप रखा था। वह शिया-मत को मानता था और उसने औरंगजेब द्वारा सिकन्दर आदिलशाह पर किये गये आक्रमण की भर्त्सना की थी। औरंगजेब इन सभी बातों से असन्तुष्ट था। 1685 ई. में शाहजादा शाहआलम ने गोलकुण्डा पर आक्रमण किया। अबुल हसन को हैदराबाद छोड़कर गोलकुण्डा के किले में शरण लेनी पड़ी और मुगलों ने हैदराबाद को बुरी तरह से लूटा। अबुल हसन ने शाहजादा शाहआलम को कुछ शर्तों पर सन्धि के लिए राजी कर लिया और शाहजादा औरंगजेब के पास चला गया। परन्तु औरंगजेब किसी भी शर्त पर सन्धि करने को तैयार न था। औरंगजेब ने बीजापुर के किले को जीतने के पश्चात् 1687 ई. में गोलकुण्डा के किले का घेरा डाल दिया। अक्टूबर 1687 ई. में चालाकी से गोलकुण्डा के किले को जीतने में औरंगजेब ने सफलता पायी। अबुल हसन कुतुबशाह को पेन्शन देकर दौलताबाद के किले में कैद कर दिया गया और **गोलकुण्डा के राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1687 ई)।**

परन्तु बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय से औरंगजेब की दक्षिण की विजय पूर्ण नहीं हुई। औरंगजेब के समय में दक्षिण-भारत में मराठों की नवीन शक्ति का उदय हुआ। **औरंगजेब का सबसे कठिन संघर्ष मराठों से हुआ।** मराठा-राज्य की स्थापना शिवाजी ने की और ऐसा करते हुए उन्हें बीजापुर तथा मुगल दोनों से संघर्ष करना पड़ा। मुगलों से शिवाजी का पहला संघर्ष 1656 ई. में तब हुआ जब शिवाजी ने अहमदनगर और जुन्नार पर आक्रमण किया परन्तु 1657 ई. में औरंगजेब ने एक युद्ध में उन्हें परास्त करके सन्धि करने पर बाध्य किया। यह वह अवसर था जब औरंगजेब उत्तराधिकार के युद्ध की तैयारी कर रहा था। परन्तु यह सन्धि नाममात्र की थी। बिना मुगल-प्रदेशों को जीते हुए शिवाजी के राज्य की स्थापना सम्भव न थी। औरंगजेब ने भी बादशाह बनने के पश्चात् शाइस्ताखाँ को शिवाजी को दबाने के लिए भेजा। लेकिन जब शिवाजी ने शाइस्ताखाँ पर पूना के महल में अचानक आक्रमण करने में सफलता पायी तब औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को वापस बुलाकर राजा जयसिंह को भेजा। राजा जयसिंह ने 1665 ई. में शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य किया जिसके अनुसार उन्होंने अपने तीन-चौथाई किले और भूमि मुगलों को सौंप दी। 1666 ई. में शिवाजी औरंगजेब से भेंट करने आगरा गये जहाँ उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। शिवाजी अपनी बुद्धिमानी से वहाँ से भाग निकलने में सफल हुए। 1670 ई. में शिवाजी ने मुगलों से पुनः संघर्ष आरम्भ कर दिया। 1674 ई. में उन्होंने रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक किया और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार मराठों का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता पायी। इससे स्पष्ट है कि मुगल शिवाजी की प्रगति को रोकने में असफल रहे। 1680 ई. में शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी गद्दी पर बैठा। उसके दरबार में शाहजादा अकबर संरक्षण के लिए पहुँचा। 1682 ई. में औरंगजेब भी अपने पुत्र का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत पहुँच गया। कई वर्षों के युद्ध के पश्चात् 1689 ई. में औरंगजेब ने शम्भाजी को पकड़ने तथा कत्ल करने में सफलता पायी। इससे सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर मुगलों का अधिकार हो गया, शिवाजी द्वारा स्थापित किया हुआ मराठा-राज्य नष्ट हो गया तथा औरंगजेब एवं मुगलों की दक्षिण-भारत की विजय पूर्ण हो गयी। परन्तु औरंगजेब मराठा-राष्ट्र को नष्ट नहीं कर सका। मराठों ने राजाराम के नेतृत्व में महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का युद्ध आरम्भ कर दिया। राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम से इस स्वतन्त्रता-संग्राम कों जारी रखा और यह युद्ध औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा। ताराबाई एक योग्य प्रशासक सिद्ध हुई। उस समय जबकि सिंहासन के उत्तराधिकार का प्रश्न विवादग्रस्त था, मराठा-सरदारों में पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष का वातावरण फैल रहा था, हजारों मावले मुगल-सेना में भर्ती किये जा चुके थे और औरंगजेब मराठों के विनाश के लिए कटिबद्ध था, एकमात्र उसने अपने कौशल और कूटनीति से मराठों को सफल नेतृत्व प्रदान किया। मुसलमान इतिहासकार खफीखाँ तक ने उसके बारे में लिखा है कि "यह उसके प्रयत्नों का ही परिणाम था कि मराठों ने दक्षिण के सूबों पर ही नहीं अपितु मुगलों के अधीन दूरस्थ प्रान्तों पर भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और औरंगजेब अपने शासन के अन्त तक भी मराठों को दबाने में असमर्थ रहा।" उस समय में मराठों का न तो कोई सेनापति था और न वह किसी एक ही युद्ध-स्थल पर अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए तत्पर थे। विभिन्न मराठा सेनापति भिन्न-भिन्न स्थानों पर युद्ध कर रहे थे और सम्पूर्ण महाराष्ट्र या आसपास का ही नहीं बल्कि दूर-दूर तक का मुगल-प्रदेश उनका युद्ध-स्थल बना हुआ था। इस युद्ध को समाप्त करने में औरंगजेब असफल रहा। औरंगजेब की मृत्यु इस युद्ध में घिरे रहते हुए ऐसी स्थिति में हुई जबकि मराठा सैनिक उसकी छावनियों तक पर आक्रमण करने में सफलता पा रहे थे। इस प्रकार, औरंगजेब सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करके भी असफल रहा। वह अपनी दक्षिण-विजय को संगठित न कर सका। मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम ने उसकी दक्षिण-नीति की सफलता को नष्ट कर दिया और अन्त में मराठों ने औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित करने में सफलता पायी।

औरंगजेब के समय में अकबर के द्वारा आरम्भ की गयी मुगलों की दक्षिण-नीति अपनी चरम सीमा पर थी। औरंगजेब ने सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करने में सफलता पायी। परन्तु उसकी सफलता के समय से ही उसकी और मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति की विफलता प्रारम्भ हुई। औरंगजेब की दक्षिण-नीति मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण बनी। औरंगजेब की दक्षिण-नीति ने मुगल-साम्राज्य को इतना अधिक विस्तृत कर दिया कि एक केन्द्र-स्थान से उसका शासन करना असम्भव हो गया। भारतीय इतिहास ने कई बार यह सिद्ध किया है कि जिस शासक ने भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों भागों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने का प्रयत्न किया वह असफल हुआ परन्तु उत्तर-भारत के जिस बादशाह ने दक्षिण-भारत के राज्यों को अपना स्वामित्व स्वीकार कराकर स्वतन्त्र छोड़ दिया, वह सफल रहा। औरंगजेब के समय में भारतीय इतिहास के इस अध्याय की पुनरावृत्ति हुई। दक्षिण-भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने के प्रयत्न के कारण औरंगजेब उत्तर-भारत के शासन की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर ध्यान दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण-भारत में साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, उसके सर्वाधिक योग्य अधिकारी और उसकी सर्वश्रेष्ठ सेना लगी रही तथा उत्तर-भारत का शासन, अधिकार और सुरक्षा मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के हाथों में रही जिससे कोई कार्य ठीक प्रकार न हो सका। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को तो खोया ही, साथ-साथ उसने अपने मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत उत्तर-भारत को भी खो दिया। इस प्रकार शासन-व्यवस्था, शान्ति, समृद्धि और उन्नति की दृष्टि से औरंगजेब ने सम्पूर्ण भारत को खो दिया। इसके अतिरिक्त, एल्फिन्सटन, स्मिथ तथा कुछ अन्य इतिहासकारों ने यह विचार भी प्रस्तुत किया है कि बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय ने मराठों की उदीयमान शक्ति का मुगलों से प्रत्यक्ष संघर्ष करा दिया। यदि औरंगजेब ने शिया-राज्यों को समाप्त न किया होता तो सम्भवतया मराठे दक्षिण की राजनीति में व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने और उनकी दुर्बलताओं को समझने का अवसर प्राप्त न हो पाता। परन्तु डॉ. जदुनाथ सरकार ने उपर्युक्त विचार का खण्डन किया है। उनके अनुसार दक्षिण के दुर्बल राज्य न तो मुगलों और मराठों के मध्य दीवार का कार्य कर सकते थे और न मुगलों के सहायक बन सकते थे। ऐसी स्थिति में मुगलों और मराठों का प्रत्यक्ष संघर्ष अनिवार्य था। इस कारण औरंगजेब की दक्षिण-नीति अव्यावहारिक और अविवेकपूर्ण सिद्ध हुई।

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के शासनकाल में दक्षिण-भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

[4]

मुगल बादशाहों की मध्य-एशिया की नीति

मध्य-एशिया में ट्रान्स-ऑक्सियाना के भू-प्रदेश पर जहाँ बदख्शां, बल्ख, बुखारा, समरकन्द आदि थे, मुगल बादशाह अपना राज्य स्थापित करने के लिए सर्वदा उत्सुक रहे। वह उसे अपनी और अपने पूर्वजों की मातृभूमि मानते थे तथा समरकन्द को जीतना अत्यन्त गौरव और सम्मान की बात समझते थे। इसके अतिरिक्त, क्योंकि अफगानिस्तान मुगल-साम्राज्य का भाग था, इस कारण उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक समझा गया था कि उत्तर में बदख्शां और बल्ख से ऑक्सस नदी तक तथा दक्षिण में हेलमंद नदी तक का क्षेत्र मुगलों के आधिपत्य में हो। आर्थिक दृष्टि से उस समय काबुल एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। भारत के व्यापारिक मार्ग तथा पश्चिमी चीन और यूरोप के व्यापारिक मार्गों पर काबुल की स्थिति एक केन्द्रीय स्थिति थी। इस कारण काबुल को सुरक्षित रखना मुगलों के लिए आर्थिक दृष्टि से आवश्यक था जिसके कारण निकट के मध्य-एशिया के भागों पर अधिकार करना मुगल उचित मानते थे। इस कारण, बाबर से लेकर शाहजहाँ तक प्रत्येक मुगल बादशाह इस प्रदेश को अपने अधिकार में करने के लिए उत्सुक रहा। केवल औरंगजेब ने इस कार्य को असम्भव समझकर इसकी लालसा नहीं की।

बाबर समरकन्द को जीतने के लिए सर्वदा लालायित रहा। उसने तीन बार उस पर अधिकार भी किया किन्तु तीनों ही बार उजबेगों के विरोध के कारण उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा। बाबर ने बदख्शां को अपने अधिकार में रखा और उसका पुत्र हुमायूँ 1520 से 1529 ई. तक वहाँ का सूबेदार रहा। हुमायूँ के वापस आ जाने के बाद बाबर ने सुलेमान को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। हुमायूँ के समय में सुलेमान ने एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार किया और इस कारण बदख्शां भी मुगलों के आधिपत्य में न रहा। सुलेमान ने अपने को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिमूर-वंश के शाहजादों में प्रमुख माना और काबुल को जीतने का प्रयत्न किया यद्यपि इस कार्य में वह असफल रहा। हुमायूँ ने भारत से भागकर जब पुनः अफगानिस्तान पर अधिकार किया तब उसने बदख्शां और बल्ख को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल नहीं हुआ। इसके पश्चात् जब वह पुनः भारत वापस आ गया तब उसे मध्य-एशिया की ओर ध्यान देने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण हुमायूँ के समय में मध्य-एशिया का कोई भी भाग मुगलों के अधिकार में न रहा। 1598 ई. में सुलेमान और उसके विद्रोही पोते शाह-रुख के झगड़े में हस्तक्षेप करके अब्दुल्लाखाँ उजबेग ने बदख्शां को अपने अधिकार में कर लिया। इस कारण अकबर के समय में मध्य-एशिया का यह भाग उजबेगों के अधिकार में था। अकबर ने शाह-रुख को अपने यहाँ शरण दी क्योंकि वह मध्य-एशिया को जीतने की लालसा करता था। परन्तु यह सम्भव न हो सका। अकबर अपनी भारत-विजय में व्यस्त रहा और उजबेगों की शक्ति भी अब्दुल्लाखाँ के नेतृत्व में दृढ़ हुई। अकबर के समय में न तो उजबेग काबुल को जीतने का साहस कर सके और न मुगल मध्य-एशिया पर आक्रमण कर सके यद्यपि दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती थीं और दोनों को एक-दूसरे पर आक्रमण करने की आशंका रहती थी। जहाँगीर के समय में मध्य-एशिया पर चंगेजखाँ के वंशजों के एक वंश अस्तराखाँ-वंश ने अधिकार कर लिया। 1611 ई. में इस वंश के इमामकुली उजबेग ने समरकन्द को अपने अधिकार में कर लिया और अपने छोटे भाई नजर मोहम्मद को बल्ख का शासक नियुक्त किया। इमामकुली शान्त प्रकृति का शासक था और उसने मुगलों से मित्रता के सम्बन्ध रखे यहाँ तक कि 1622 ई. में जब फारस ने कन्धार पर अधिकार कर लिया तब उसने फारस के विरुद्ध मुगलों को सहायता देने का आश्वासन दिया।

शाहजहाँ के समय में मध्य-एशिया की विजय करने की सुनिश्चित योजना बनायी गयी। उसके लिए कारण और अवसर भी उपलब्ध हो गये। मूल कारण मुगलों और उजबेगों की महत्वाकांक्षाएँ थीं। मुगलों के लिए मध्य-एशिया को विजय करने की लालसा को समाप्त करना कठिन था और उजबेगों के लिए काबुल और कन्धार की लालसा को छोड़ना मुश्किल था। इस झगड़े का मुख्य कारण बल्ख और बदख्शां थे, जो काबुल और मध्य-एशिया की विजय के प्रवेश-द्वार थे। मुगल और उजबेग दोनों ही इन स्थानों को अपने आधिपत्य में लेने के उत्सुक थे। शाहजहाँ के आरम्भ-काल में उत्तराधिकार के प्रश्न से उत्पन्न हुई आशंकाओं से प्रोत्साहित होकर नजर मोहम्मद ने काबुल पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया परन्तु शाहजहाँ उस समय तक सिंहासन पर बैठ चुका था और उसने शीघ्र ही एक सेना काबुल की सहायता के लिए भेज दी। नजर मोहम्मद को असफल होकर वापस लौटना पड़ा। शाहजहाँ ने एक पत्र इमामकुली को लिखा जिसके उत्तर में इमामकुली ने अपने भाई के व्यवहार के लिए क्षमा माँग ली और मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रखने का वायदा किया। बाद में स्वयं नजर मोहम्मद ने भी शाहजहाँ से अपने कार्य के लिए खेद प्रकट किया। 1641 ई. में मध्य-एशिया में अव्यवस्था फैल गयी। इमामकुली अन्धा हो गया और उसके भाई नजर मोहम्मद ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। नजर मोहम्मद ने जिस प्रकार जागीरदारी-प्रथा को समाप्त करने, दान में दी गयी भूमि पर अधिकार करने तथा कठोरता से शासन करने के साधनों को अपनी सत्ता की स्थापना हेतु अपनाया, उससे उसके सरदारों ने ही नहीं बल्कि उसके पुत्रों ने भी विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। उसके एक पुत्र अब्दुल अजीज ने बुखारा में अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया और अपने पिता के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया (1645 ई.)। नजर मोहम्मद की स्थिति इतनी दुर्बल हो गयी कि उसने शाहजहाँ से सहायता माँगी। शाहजहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए यह एक सुअवसर था। उसने शाहजादा मुराद के नेतृत्व में एक बड़ी सेना मध्य-एशिया पर आक्रमण करने के लिए भेजी। मुगलों ने कुन्दुज, खोस्त, बदख्शां और अन्त में बल्ख पर भी अधिकार कर लिया। नजर मोहम्मद मुगलों पर पूर्ण विश्वास न कर सका और उसने उनका विरोध करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल होने पर वह फारस (ईरान) भाग गया। उस समय स्वयं शाहजहाँ युद्ध-स्थल के निकट होने की इच्छा से काबुल पहुँच गया और उसने दिल्ली से बल्ख तक के मार्ग को रसद और सेना के आवागमन के लिए सुरक्षित रखा। बल्ख की विजय से शाहजहाँ इतना उत्साहित हुआ कि वह बुखारा और समरकन्द को भी मुगलों के आधिपत्य में लाने की आकांक्षा करने लगा। परन्तु इससे पहले कि मुगल अपनी इस विजय को संगठित कर पाते, शाहजादा मुराद बल्ख को छोड़कर वापस आ गया। शाहजादा मुराद ऐशो-आराम में पला था। मध्य-एशिया की कठोर जलवायु और बंजर प्रदेश में वह अधिक समय तक न रह सका। शाहजादा मुराद के वापस आने पर मुगल-सरदारों ने जीते हुए प्रदेशों को चार भागों में बाँटकर शासन करने का प्रयत्न किया परन्तु वे अधिक सफल न हुए। उनके और उनके सैनिकों के लिए मध्य-एशिया की जलवायु उपयुक्त न थी। इसके अतिरिक्त उजबेग शान्ति से नहीं बैठे हुए थे। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर विद्रोह किये, मुगलों पर स्थान-स्थान पर आक्रमण किये और अपने खोये हुए प्रदेशों को पुनः जीतने का प्रयत्न जारी रखा। 1647 ई. में शाहजहाँ ने औरंगजेब को बल्ख का सूबेदार बना कर भेजा। जब तक औरंगजेब वहाँ पहुँचा तब तक उजबेगों ने मुगलों से कई महत्वपूर्ण स्थानों को छीन लिया था और मुगलों से बड़ी सेना तैयार कर ली थी। फिर भी औरंगजेब ने आसपास के पहाड़ों और घाटियों से उजबेगों को खदेड़ने में सफलता पायी और मुगल-सेना को लेकर बल्ख तक पहुँच गया। बल्ख से औरंगजेब तैमूराबाद गया जहाँ उसने उजबेगों को परास्त किया। उसके पश्चात् उसने उजबेगों के मुख्य स्थान पशाई पर अधिकार करने में भी सफलता पायी। परन्तु औरंगजेब बल्ख को छोड़कर बहुत आगे बढ़ गया था। अब्दुल अजीज और उसका छोटा भाई सुभानकुली बल्ख पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। इस कारण औरंगजेब को वापस लौटना पड़ा। ऑक्सस नदी के किनारे औरंगजेब ने दोनों भाइयों की सम्मिलित और अपने से कहीं बड़ी सेना को परास्त करने में सफलता पायी और कुशलतापूर्वक बल्ख वापस पहुँच गया। परन्तु युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकल रहा था। औरंगजेब ऑक्सस नदी से आगे नहीं बढ़ सका था और उजबेग मुगलों को बल्ख से निकालने में असफल रहे थे। सम्भवतया यदि औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों ने कुछ और समय मध्य-एशिया में ठहरने का निश्चय किया होता तो मुगल जीते हुए प्रदेशों को अपने आधिपत्य में रखने में सफल हो जाते क्योंकि औरंगजेब के नेतृत्व और दृढ़ता ने मुगलों को बहुत सफलता दिलायी थी और उजबेगों को प्रभावित भी किया था। औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों ने यह सिद्ध कर दिया था कि उजबेग युद्ध में मुगलों से अधिक साहसी अथवा पराक्रमी न थे जिसका उन्हें विश्वास और घमण्ड था। परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बन गयीं कि दोनों ही पक्ष शान्ति के इच्छुक हो गये। आमने-सामने के युद्ध में उजबेग मुगलों को परास्त करने में असफल रहे थे, बुखारा का खजाना खाली हो गया था और विभिन्न जातियों के सरदार युद्ध से पृथक होते जा रहे थे। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "उनकी कठिनाइयाँ इतनी गम्भीर थीं कि धन की कमी के कारण उनकी सेना मुगलों को अपने घोड़े बेचने के पश्चात् गर्मी के मौसम के बादलों के समान तितर-बितर हो गयी थी।" ऐसी स्थिति में उजबेग लम्बे समय तक मुगलों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार मुगलों को भी कठिनाइयाँ थीं। मुगल उजबेगों के छुटपुट आक्रमणों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को रोकने में असमर्थ रहे थे और उन्हें रसद की कठिनाई हो रही थी। मुगल छावनी में एक रोटी की कीमत एक या दो रुपया हो गयी थी, नजर मोहम्मद फारस (ईरान) के शाह की सहायता लेकर वापस आ गया था और फारस का शाह कन्धार पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। ऐसी स्थिति में जब नजर मोहम्मद और अब्दुल अजीज ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की तो शाहजहाँ शान्ति के लिए तैयार हो गया। औरंगजेब भी मुगल सैनिकों और सरदारों के नैतिक बल में कमी देखकर शान्ति के लिए इच्छुक था। शाहजहाँ ने औरंगजेब को आदेश दिये कि यदि नजर मोहम्मद व्यक्तिगत रूप से आकर क्षमा माँगे और मुगलों की अधीनता स्वीकार करे तो उसे क्षमा कर दिया जाय और उसका राज्य उसे वापस कर दिया जाय। नजर मोहम्मद ने अपने पोते कासिम सुल्तान को औरंगजेब के पास भेजकर क्षमा माँग ली। शाहजहाँ ने इस तरीके को भी मान लिया और 1647 ई. में नजर मोहम्मद को बल्ख वापस देकर औरंगजेब काबुल आ गया।

मध्य-एशिया के इस युद्ध में मुगलों के प्राय: 4 करोड़ रुपये खर्च हुए और लगभग 5,000 सैनिक मारे गये। इससे मुगलों को कोई भूमि प्राप्त नहीं हुई और यह स्पष्ट हो गया कि मध्य-एशिया में साम्राज्य स्थापित करने की उनकी लालसा व्यर्थ थी। मुगल बादशाह को यह पता लग गया कि यद्यपि वह अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा करने में समर्थ था परन्तु उत्तर-पश्चिम की ओर साम्राज्य-विस्तार करने से राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और प्रशासकीय आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती थीं। इस युद्ध की असफलता से फारस (ईरान) के शाह को कन्धार को विजय करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और 1648 ई. में उसने शाहजहाँ से कन्धार को फारस को दे देने की स्पष्ट माँग की। परन्तु फिर भी यह आक्रमण पूर्णतया व्यर्थ न था। उजबेगों ने मुगलों से अधिक हानि उठायी थी। उजबेगों की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी, ऑक्सस नदी के दक्षिण की उनकी सभी भूमि बर्बाद हो गयी और युद्ध ने उनको यह सबक दे दिया कि मुगलों पर आक्रमण करना सरल न था। इससे उजबेगों की काबुल पर आक्रमण करने की इच्छा और शक्ति समाप्त हो गयी। युद्ध की दृष्टि से मुगलों का यह सैनिक-आक्रमण विफल हुआ परन्तु उजबेगों के लिए यह अच्छा सबक था। इस प्रकार, अन्य सभी प्रकार से हानिकारक और व्यर्थ होते हुए भी शाहजहाँ की मध्य-एशिया की नीति इस दृष्टि से अवश्य लाभदायक रही। परन्तु इसके पश्चात् औरंगजेब तथा उसके पश्चात् के मुगल बादशाहों ने इस युद्ध से सबक लेकर मध्य-एशिया की राजनीति में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया।

[5]

मुगल बादशाहों की कन्धार की नीति

कन्धार मुगलों और फारस के शाहों के साम्राज्यों की सीमा पर था और दोनों राजवंशों के लिए उसका महत्व था। कन्धार का महत्व राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से था। राजनीतिक दृष्टि से वह जिस वंश के भी हाथ में होता उसे अपने राज्य की सुरक्षा और दूसरे के राज्य पर आक्रमण करने की सुविधा थी। आर्थिक दृष्टि से कन्धार भारत और पश्चिम एशिया तथा यूरोप तक के व्यापार के स्थल-मार्ग पर था। वह जिस वंश के भी अधिकार में होता था वही उस विस्तृत व्यापार का मालिक हो जाता था और कर आदि वसूल करके लाभ प्राप्त करता था। इस कारण मुगल बादशाह और फारस के शाह कन्धार को अधिकार में रखने के लिए एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। यह समय ऐसा भी रहा जबकि फारस और भारत दोनों ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थानों पर शक्तिशाली साम्राज्य और बादशाह थे जिसके कारण यह प्रतिद्वन्द्विता अधिक तीव्र हो गयी।

मुगल बादशाहों में सर्वप्रथम बाबर ने 1522 ई. में कन्धार को अपने अधिकार में किया। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् 1558 ई. में फारस ने आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया और पहले सुल्तान हुसैन मिर्जा तथा उसके पश्चात् उसके पुत्र मुजफ्फर हुसैन मिर्जा को उसकी देखभाल के लिए नियुक्त किया। 1594 ई. में अकबर को कन्धार सरलता से प्राप्त हो गया। किलेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्जा उजबेगों के आक्रमण को रोकने में असफल हो रहा था और उसे फारस-दरबार से कोई सैनिक सहायता नहीं मिल सकी थी। इस कारण उसने मुगलों से बातचीत आरम्भ की और मुगल सूबेदार शाहबेगखाँ को किला सौंप दिया। अकबर की मृत्यु के पश्चात् खुसरो के विद्रोह के अवसर पर फारस के बादशाह शाह अब्बास सफाई ने कन्धार को जीतने का प्रयत्न किया। वह स्वयं तो टर्की से युद्ध करने चला गया परन्तु खुरासान के सूबेदार और अन्य अधिकारियों को कन्धार पर आक्रमण करने के गुप्त आदेश दे गया। शाहबेगखाँ ने दृढ़ता से फारस के आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और जहाँगीर ने एक सेना शीघ्रता से कन्धार के किलेदार की सहायता के लिए भेज दी। फारस के आक्रमणकारियों को किले का घेरा उठाना पड़ा और वे वापस लौट गये। इस प्रकार 1607 ई. में फारस का यह प्रयत्न असफल हुआ। शाह अब्बास ने कूटनीति का सहारा लेकर जहाँगीर से माफी माँगी और इस आक्रमण को अपने बेवकूफ अधिकारियों की भूल बताया। जहाँगीर इससे सन्तुष्ट हो गया। परन्तु फिर भी उसने कन्धार की सुरक्षा के लिए मिर्जा गाजीखाँ के नेतृत्व में 15,000 सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना किले में छोड़ दी। यह अनुभव करके कि केवल शक्ति-प्रयोग लाभदायक न होगा, शाह अब्बास ने कूटनीति का सहारा लिया। उसने प्रेम और मित्रता से परिपूर्ण पत्र जहाँगीर को लिखने आरम्भ किये और जहाँगीर के दरबार में निरन्तर अपने राजदूत भेजे। 1611 ई. में यादगार अली, 1615 ई. में मुस्तफा बेग, 1616 ई. में रिजाबेग और 1620 ई. में जम्बलबेग फारस के राजदूत के रूप में मुगल-दरबार में आये। इन राजदूतों को भेजने के दो आशय थे—प्रथम, जहाँगीर कन्धार की ओर से आश्वस्त हो जाये और कन्धार पर फारस के आक्रमण का भय न रहे ; और द्वितीय, मुगल-दरबार की राजनीति की सूचना फारस के शाह को प्राप्त होती रहे। जहाँगीर ने भी अपने राजदूत खानेआलम को फारस के दरबार में भेजा था। परन्तु फारस के राजदूत अधिक सफल रहे। जहाँगीर फारस के बादशाह की सद्भावनाओं पर विश्वास करके कन्धार के किले की सुरक्षा की तरफ से असावधान हो गया। 1621 ई. में फारस के शाह को नूरजहाँ और शाहजहाँ के बढ़ते हुए मतभेदों का पता लग गया। उसी वर्ष फारस ने कन्धार पर आक्रमण किया और 1622 ई. में किले का घेरा डाल दिया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को कन्धार जाने के आदेश दिये जिसे वह टाल गया। इस कारण कन्धार की सुरक्षा के लिए समय से सहायता न पहुँच सकी और 45 दिन के घेरे के पश्चात् 1622 ई. में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया। शाह अब्बास ने एक पत्र में जहाँगीर को लिखा कि कन्धार पर कानूनी अधिकार फारस का था और जब जहाँगीर ने स्वेच्छा से उसे फारस को नहीं दिया तब बाध्य होकर फारस को कन्धार पर आक्रमण करना पड़ा। जहाँगीर ने फारस के शाह पर धोखेबाजी का आरोप लगाया और उसे बुरा-भला लिख भेजा परन्तु शाहजहाँ का विद्रोह हो जाने के कारण वह कन्धार को पुनः अपने अधिकार में करने का प्रयत्न न कर सका। इस प्रकार, जहाँगीर के अन्तिम वर्षों में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के अवसर पर शाह अब्बास ने उसे बधाई का पत्र भेजा और आवश्यकता होने पर सहायता देने का आश्वासन दिया। परन्तु 1629 ई. में शाह अब्बास की मृत्यु हो गयी और 1629 ई. में शाह सफी फारस का बादशाह बना। शाहजहाँ ने उसे बधाई का पत्र भेजा और सहायता का आश्वासन दिया। इस प्रकार फारस और मुगल बादशाहों में कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित रहे, यहाँ तक कि शाह सफी शाहजहाँ को अपना चाचा कहता था और शाहजहाँ ने उसे समय-समय पर सलाह भी दी थी। परन्तु इस कूटनीति के पीछे शाहजहाँ की कन्धार को प्राप्त करने की लालसा छिपी हुई थी। 1638 ई. में सुविधा से यह कार्य पूरा हो गया। कन्धार के सूबेदार अलीमर्दन से शाह सफी असन्तुष्ट हो गया क्योंकि उसने पिछले कई वर्षों से शाह को वार्षिक कर नहीं भेजा था। उसके स्थान पर एक अन्य सूबेदार की नियुक्ति की गयी और उसे एक सेना के साथ अलीमर्दन से किला छीन लेने के लिए भेजा गया। अलीमर्दन ने अपने पद और सम्मान को खतरे में जानकर काबुल के मुगल-सूबेदार से बातचीत की। शाहजहाँ ने फौरन अलीमर्दन को मुगल-सेवा में लेकर ऊँचा पद दिया और काबुल के सूबेदार सईदखाँ को कन्धार पर आधिपत्य कर लेने के आदेश दिये। सईदखाँ ने कन्धार पर अधिकार कर लिया और फारस द्वारा भेजी गयी सेना को परास्त करके वापस जाने के लिए बाध्य किया। शाहजहाँ ने शाह सफी को पत्र द्वारा सूचित कर दिया कि क्योंकि कन्धार पर मुगल-वंश का कानूनी अधिकार था, इस कारण शाह को इस घटना का बुरा नहीं मानना चाहिए। शाह सफी इस हानि को न भूल सका यद्यपि अन्य युद्धों में व्यस्त रहने के कारण वह कन्धार को अपने आधिपत्य में लेने का प्रयत्न न कर सका। इस प्रकार, **1638 ई. में एक बार फिर कन्धार मुगलों के हाथों में आ गया।**

1642 ई. में शाह सफी की मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी शाह अब्बास सिंहासन पर बैठने के समय केवल 11 वर्ष की आयु का था। इस कारण कुछ वर्षों तक फारस कन्धार की ओर ध्यान न दे सका। 1648 ई. में शाह अब्बास द्वितीय ने शासन-सत्ता अपने हाथों में ली तथा टर्की और उजबेगों से सन्धि हो जाने के पश्चात् उसने कन्धार की ओर ध्यान दिया। शाहजहाँ फारस के आक्रमण की तैयारी से अवगत हो गया और उसने कन्धार की रक्षा की तैयारी कर ली। काबुल के सूबेदार ने भी 5,000 सैनिक और पाँच लाख रुपया कन्धार के किलेदार दौलतखाँ को भेज दिया। स्वयं शाहजहाँ भी जाड़ों के पश्चात् काबुल जाने के लिए तैयार हो गया। परन्तु शाह अब्बास चतुर सिद्ध हुआ। वह जानता था कि मुगल जाड़े के मौसम से डरते थे और उस मौसम में वह फारस के आक्रमण की आशा भी नहीं कर सकते थे। इस कारण वह जाड़ों के समय को खोने के लिए तैयार न था। पहले उसने कूटनीति, चालाकी और धन का सहारा लिया, परन्तु जब वह उसमें असफल हुआ तब उसने कन्धार पर आक्रमण कर दिया। दिसम्बर 1648 ई. में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया और साथ-साथ 'निस्त' और 'जमींदवा' पर भी आक्रमण किया गया। मुगल-सैनिकों को धन का लालच दिया गया और उनमें से कुछ सरदार और सैनिक फारस की सेना से जाकर मिल भी गये। **किलेदार दौलतखाँ को सहायता मिलने की कोई आशा दिखायी न दी और उसने घबराकर फरवरी 1649 ई. में आत्मसमर्पण कर दिया।** फारस का जाड़ों में आक्रमण और दौलतखाँ की दुर्बलता के कारण कन्धार का किला मुगलों के हाथ से निकल गया। दौलतखाँ यह आँकलन न कर सका कि उसकी स्थिति बहुत खराब न थी, फारस की सेना में रसद की कमी हो रही थी और मुगलों के मुकाबले फारस की सेना की अधिक क्षति हुई थी। इस कारण फारस कन्धार को जीतने में सफल हो गया। शाह अब्बास ने शाहजहाँ को पत्र लिखा कि किले पर कानूनी अधिकार फारस का ही था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाहजहाँ को कन्धार के घेरे की सूचना तब मिली जबकि घेरा डाले हुए एक माह का समय बीत चुका था। शाहजहाँ ने तुरन्त शाहजादा औरंगजेब और वजीर सादुल्लाखाँ को कन्धार की सहायता के लिए भेजा। परन्तु औरंगजेब मई 1649 ई. में कन्धार पहुँच सका। उस समय तक कन्धार के किले पर फारस का अधिकार हो चुका था। उस अवसर पर स्वयं शाहजहाँ भी काबुल पहुँच गया। औरंगजेब ने किले-का घेरा डाल दिया और लगातार किले के अधिकारियों को धन व पद के लालच द्वारा और युद्ध के जरिये किले को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। मुगलों ने फारस की सेना को मैदान में पराजित करने में तो सफलता पायी और मुख्यतया 'शाहमीर' के युद्ध में मुगलों ने संख्या में अपने से दुगुनी फारस की सेना को सफलता से परास्त करने का श्रेय प्राप्त किया परन्तु वे किले की दीवार को न तोड़ सके। रसद की कमी, जाड़ों के मौसम में युद्ध को जारी रखने की कठिनाई और फारस से किले के लिए सहायता आ जाने की सम्भावना के कारण प्रायः 3-1/2 माह के घेरे के पश्चात् औरंगजेब को सितम्बर 1649 ई. में किले का घेरा उठाकर वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1652 ई. में पुनः औरंगजेब और सादुल्लाखाँ को कन्धार को जीतने के लिए भेजा गया। इस बार औरंगजेब ने पूरी तैयारी से आक्रमण किया था परन्तु उसकी तोपों ने उसे धोखा दे दिया। फारस के पास अच्छा तोपखाना था और मुगल उसके मुकाबले में कुछ न कर सके। इसी अवसर पर उजबेगों ने गजनी पर दबाव डाला और यह भय हो गया कि मुगल सेना के वापस लौटने का रास्ता बन्द हो जायेगा। प्रायः दो माह (मई से जुलाई) के घेरे के पश्चात् मुगलों को वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1653 ई. में शाहजहाँ ने अपने सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह को पर्याप्त धन, बहुत बड़ी सेना और बड़ी-बड़ी तोपें देकर कन्धार पर आक्रमण करने के लिए भेजा। दारा ने आसपास के क्षेत्र को जीत लिया, बिस्त और गिरसिक के किलों पर अधिकार कर लिया और फारस से सहायता आने वाले मार्गों पर भी अधिकार कर लिया। अप्रैल 1653 ई. में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया और उसकी दीवारों को क्षति पहुँचायी गयी। परन्तु फिर भी किले की तोपों के मुकाबले मुगलों की तोपें सफल न हो सकीं। जब तक दारा के पास गोला-बारूद और रसद रही तब तक वह किले से नहीं हटा परन्तु उसे कोई सफलता न मिली। अन्त में, अक्टूबर में मुगल-सेना वापस आ गयी।

इस प्रकार, कन्धार के किले पर मुगलों के तीनों आक्रमण विफल हुए और कन्धार स्थायी रूप से फारस के हाथों में चला गया। औरंगजेब ने इस किले को जीतने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में देखा जाय तो कन्धार का किला बहुत दृढ़ था और फारस या मुगल बादशाहों में से कोई भी उस पर सरलता से अधिकार नहीं कर सकता था। जब कभी भी मुगलों ने उस पर अधिकार किया तब कूटनीति से ही किया। अकबर और शाहजहाँ के समय में यह फारस के किलेदारों की गद्दारी से मुगलों को प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में जब फारस ने इस पर अधिकार किया तो मुगल किलेदार के साहस छोड़ देने के कारण ही अधिकार करना सम्भव हुआ था। सैनिक-अभियान की दृष्टि से फारस और मुगल बादशाह दोनों ही कन्धार के किले के सम्मुख असफल रहे थे। शाहजहाँ के समय में कन्धार को जीतने के सभी प्रयत्न इसी कारण असफल हुए। इसके अतिरिक्त मुगलों की अन्य दुर्बलताएँ भी थीं। मुगलों के मुकाबले फारस के पास अच्छी और दूर तक मार करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली तोपें थीं। इस कारण, मुगल कभी भी किले की दीवार को तोड़ने में सफल नहीं हो सके। इसके अतिरिक्त, मुगल-सेना कन्धार में जाड़े के समय में युद्ध करने की स्थिति में न थी ; केवल गर्मी के मौसम के कुछ माह ही उसे इस प्रयत्न के लिए मिल पाते थे। इस कारण, मुगल कन्धार के किले को जीतने में असफल रहे।

इन आक्रमणों में शाहजहाँ का लगभग 12 करोड़ रुपया नष्ट हुआ, हजारों सैनिक मारे गये और मुगल-साम्राज्य की सैनिक प्रतिष्ठा में कमी आयी जिसके कारण औरंगजेब के आरम्भिक काल में शाह अब्बास उसे भारत पर आक्रमण करने की धमकी दे सका। परन्तु इससे एक बात अवश्य निश्चित हो गयी। फारस के शाह ने यह स्पष्ट समझ लिया कि यदि मुगल पश्चिम की ओर साम्राज्य-विस्तार करने में असमर्थ हैं तो फारस भी कन्धार के पूर्व की ओर बढ़ने में असमर्थ है। कन्धार उस समय तक मुगलों और फारस के राज्यों की सीमा का विभाजन-स्थल बना रहा जब तक कि उत्तरकालीन मुगल बादशाह दुर्बल न हो गये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अकबर की धार्मिक नीति की समीक्षा कीजिए।
2. दीन इलाही पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
3. "दीन इलाही अकबर की बुद्धिमत्ता का नहीं, अपितु मूर्खता का प्रतीक है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. औरंगजेब की धार्मिक नीति का वर्णन करते हुए उसके परिणामों की व्याख्या कीजिए।
5. राजपूतों के प्रति अकबर की नीति का वर्णन कीजिए।
6. 'औरंगजेब की राजपूत नीति मुगल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई।' क्या आप सहमत हैं ?
7. मुगलों की दक्षिण नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
8. मुगल शासकों की मध्य एशिया नीति पर प्रकाश डालिए।
9. मुगलकालीन बादशाहों की कन्धार नीति अथवा उत्तर-पश्चिम सीमान्त नीति की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बाबर तथा हुमायूँ की धार्मिक नीति लिखिए।
2. अकबर की धार्मिक नीति के विकास पर प्रकाश डालिए।
3. दीन-इलाही की असफलता के कारण लिखिए।
4. दीन-इलाही के प्रमुख सिद्धान्त लिखिए।
5. औरंगजेब की धार्मिक नीति के परिणाम बताइए।
6. राजपूतों के प्रति अकबर की उदारता के कारण लिखिए।
7. 'औरंगजेब की धर्मान्धता मुगल साम्राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुई।' कारण लिखिए।
8. अकबर की दक्षिण नीति की समीक्षा कीजिए।
9. शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण नीति का वर्णन कीजिए।
10. बीजापुर अथवा गोलकुण्डा से औरंगजेब के सम्बन्ध लिखिए।
11. जहाँगीर के ईरान के साथ सम्बन्ध बताइए।
12. कन्धार के द्वितीय एवं तृतीय घेरे का वर्णन कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुगल शासकों से पूर्व तुर्क शासकों की हिन्दुओं के प्रति धार्मिक नीति का आधार था—
   (अ) जनहित (ब) असहिष्णुता
   (स) सहिष्णुता (द) इनमें से कोई नहीं।
2. मुगल शासक अकबर की शासन नीति का आधार था—
   (अ) धार्मिक कट्टरता पर (ब) क्रूरता पर
   (स) सुलह कुल पर (द) कूटनीति पर।
3. युद्ध के अवसर से अलग बाबर का धार्मिक दृष्टिकोण था—
   (अ) सहिष्णु (ब) असहिष्णु
   (स) कट्टर (द) इनमें से कोई नहीं।
4. हुमायूँ ने कालिंजर के दुर्ग में स्थित मन्दिर को नष्ट किया था—
   (अ) शान्तिकाल में (ब) युद्धकाल में
   (स) धार्मिक कट्टरता के कारण (द) हिन्दुओं से नाराजगी के कारण।
5. 'शेरशाह का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार आदरपूर्ण था।' किस इतिहासकार ने लिखा है ?
   (अ) डॉ. के. आर. कानूनगो ने (ब) डॉ. एस. आर. शर्मा ने
   (स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने (द) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने।
6. सभी धर्मों में निहित सत्यता को जानने के लिए अकबर ने निर्माण कराया था—
   (अ) मस्जिद का (ब) गिरजाघर का
   (स) इबादतखाना का (द) मन्दिर का।
7. 'मजहर' की घोषणा किस शासक के काल से सम्बन्धित है ?
   (अ) बाबर के (ब) हुमायूँ के
   (स) जहाँगीर के (द) अकबर के।
8. अकबर की उदार धार्मिक नीति का सबसे बड़ा आलोचक था—
   (अ) अबुल फजल (ब) अब्दुल कादिर बदायूँनी
   (स) खाफीखाँ (द) इनमें से कोई नहीं।
9. औरंगजेब ने अपने अधिकारियों को हिन्दू मन्दिरों व पाठशालाओं को तोड़ने की आज्ञा कब दी थी ?
   (अ) 1668 ई. में (ब) 1669 ई. में
   (स) 1670 ई. में (द) 1672 ई. में।
10. बाबर ने किन शासकों के विरुद्ध जिहाद (धर्मयुद्ध की) घोषणा की थी ?
   (अ) राजपूत शासकों के विरुद्ध (ब) अफगान शासकों के विरुद्ध
   (स) हिन्दुओं के विरुद्ध (द) इनमें से कोई नहीं।
11. अकबर ने राजपूतों के विरुद्ध उदार नीति अपनायी थी—
   (अ) हिन्दुओं से विवाह सम्बन्धों के लिए (ब) सामाजिक कारणों से
   (स) राजनीतिक कारणों से (द) धार्मिक कारणों से।
12. अकबर ने 1568 ई. में राजस्थान के किस किले को छीना था ?
   (अ) मेड़ता के (ब) मेवाड़ के
   (स) मारवाड़ के (द) जयपुर के।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13. राणाप्रताप चित्तौड़ की गद्दी पर आसीन हुआ था—
(अ) 1569 ई. में (ब) 1570 ई. में
(स) 1571 ई. में (द) 1572 ई. में।

14. राजा जसवन्त सिंह के अल्पवयस्क पुत्र अजीतसिंह का संरक्षक था—
(अ) सेनापति दुर्गादास (ब) मदन्ना
(स) रामदास (द) इनमें से कोई नहीं।

15. 1591 ई. में किस मुगल शासक ने दक्षिण के राजाओं को अधीनता स्वीकार करने के लिए राजदूत भेजे थे ?
(अ) जहाँगीर ने (ब) अकबर ने
(स) शाहजहाँ ने (द) औरंगजेब ने।

16. 1617 ई. की सन्धि के समय अहमदनगर के सुल्तान ने मुगलों को भेंट किया था—
(अ) बुरहानपुर का प्रदेश
(ब) 12 लाख रुपये
(स) बालाघाट का प्रदेश व अहमदनगर का किला
(द) इनमें से कोई नहीं।

17. औरंगजेब की दक्षिण नीति का मुख्य उद्देश्य था—
(अ) सामाजिक (ब) आर्थिक
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

18. दक्षिण औरंगजेब के लिए सिद्ध हुआ था—
(अ) जन्नत (ब) दोजख
(स) कब्रिस्तान (द) इनमें से कोई नहीं।

19. मुगल शासकों के लिए समरकन्द का क्या महत्व था ?
(अ) पूर्वजों की मातृभूमि होना (ब) सामरिक महत्व के कारण
(स) राजनीतिक महत्व के कारण (द) इनमें से कोई नहीं।

20. 1641 ई. में मध्य एशिया में अव्यवस्था का कारण था—
(अ) इमाम कुली का अन्धा होना
(ब) नजर मुहम्मद का जागीरदारी प्रथा को समाप्त करना
(स) कठोरता की नीति को अपनाना
(द) उपर्युक्त सभी।

21. मध्य एशिया का युद्ध मुगलों के लिए सिद्ध हुआ—
(अ) लाभदायक (ब) हानिकारक
(स) व्यर्थ प्रयास (द) इनमें से कोई नहीं।

22. सर्वप्रथम किस मुगल शासक ने कन्धार को विजय किया था ?
(अ) बाबर ने (ब) अकबर ने
(स) जहाँगीर ने (द) शाहजहाँ ने।

23. कन्धार पर फारसवासियों का अधिकार स्थापित हो गया था—
(अ) 1618 ई. में (ब) 1620 ई. में
(स) 1621 ई. में (द) 1622 ई. में।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

24. 1652 ई. में किस मुगल शहजादे को कन्धार विजय का दायित्व सौंपा गया था ?
(अ) शाहशुजा को (ब) औरंगजेब को
(स) मुराद को (द) दारा शिकोह को ।

25. शाहजहाँ ने कन्धार विजय हेतु कितना धन व्यय किया था ?
(अ) 8 करोड़ रुपये (ब) 10 करोड़ रुपये
(स) 12 करोड़ रुपये (द) 14 करोड़ रुपये ।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (अ), 6. (स), 7. (द), 8. (ब), 9. (ब), 10. (अ), 11. (स), 12. (ब), 13. (द), 14. (अ), 15. (ब), 16. (स), 17. (द), 18. (स), 19. (अ), 20. (द), 21. (ब), 22. (अ), 23. (द), 24. (ब), 25. (स) ।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12

मुगल शासन-व्यवस्था

[1]

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

एक समय में मुगल शासन-व्यवस्था भारत के समस्त संगठित एवं सुसभ्य भागों में फैली हुई थी और उसका प्रभाव बहुत से क्षेत्रों में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत भी पाया जा सकता था। मुगल विदेशी थे और उनकी शासन-व्यवस्था में विदेशी तत्व प्राप्त होते हैं। फारस और अरब की व्यवस्था के चिन्ह उसमें स्पष्ट हैं। उदाहरण के रूप में, उनका विभागों का वितरण, अधिकारियों के पद और उन पदों के नाम, प्रशासकीय नियम आदि विदेशी प्रभाव के प्रमाण हैं। परन्तु मुगलों ने अपने से पहले के तुर्क और अफगान शासकों से उसे पर्याप्त भिन्न कर दिया था तथा उसमें भारतीय शासन-व्यवस्था और उसके आदर्श पर्याप्त मात्रा में सम्मिलित हो गये थे। निस्सन्देह, मुगल शासन-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार सैनिक था और अपने आधार की इस विशेषता को उसने अन्त तक स्थापित रखा परन्तु उसमें प्रजा की भलाई और उन्नति को भी सम्मिलित किया गया। वह 'नियन्त्रण एवं सन्तुलन' पर आधारित थी। मुगल बादशाहों ने मूल आधार पर शासन-व्यवस्था के कुछ सिद्धान्तों में परिवर्तन कर दिया। मूलतया, मुगल-शासन केन्द्रीयकृत शासन था जिसमें बादशाह सम्पूर्ण राज्य और प्रशासन का प्रधान और सभी शक्तियों का निर्विवाद उपभोग करने वाला था। मुगलकालीन प्रशासन में अधिकार का बँटवारा—सूबेदार और दीवान के बीच—मिस्र के शासकों द्वारा अपनाई गई प्रणाली पर आधारित था। राजस्व प्रणाली को दो पद्धतियाँ अति प्राचीन हिन्दू तथा अरबी सिद्धान्तों का परिणाम थी जबकि मनसबदारी व्यवस्था मध्य एशिया से ग्रहण की गयी थी। उसके मन्त्री, मनसबदार, सरदार आदि उस पर पूर्णतया आश्रित थे। कुछ अधीन राजपूत-शासकों के अतिरिक्त उनमें से किसी का भी अधिकार पैतृक न था और जिन अधीन राजपूत-शासकों को यह अधिकार दिया भी गया था उनके लिए उत्तराधिकारी की स्वीकृति बादशाह से लेनी आवश्यक थी। प्रथम मुगल बादशाह बाबर ने बादशाह की उपाधि ग्रहण करके मुगल बादशाहों को खलीफा के नाममात्र के आधिपत्य से मुक्त कर दिया और उसी के समय से मुगल बादशाह किसी प्रकार भी किसी विदेशी सत्ता अथवा व्यक्ति के अधीन नहीं रहे। अकबर ने स्वयं को इस्लाम के कानूनों के बारे में अन्तिम निर्णायक घोषित करके बादशाह की स्थिति को और अधिक श्रेष्ठ बना दिया। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि मुगल-राज्य एक धार्मिक राज्य (Theocracy) न था। औरंगजेब के अतिरिक्त किसी भी अन्य महान् मुगल बादशाह ने इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार नहीं बनाया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-शासन केवल एक पुलिस-व्यवस्था भी नहीं माना जा सकता। मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा के दैनिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मुगल बादशाहों ने, निस्सन्देह, बादशाह के दो कर्तव्य माने थे—जहाँबानी (राज्य की रक्षा) और जहाँगीरी (अन्य राज्यों पर अधिकार)। परन्तु इन्हें हिन्दू राजाओं ने भी अपना कर्तव्य माना था। इसके अतिरिक्त, मुगलों ने अपनी प्रजा के लिए अच्छी और सुसभ्य जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करना भी अपना कर्तव्य समझा। इसी के कारण मुगल-काल में आर्थिक ही नहीं बल्कि सभ्यता और संस्कृति की उन्नति भी सम्भव हो सकी। धार्मिक दृष्टि से मुगलों ने एक नवीन युग का आरम्भ किया। उनसे पहले दिल्ली-सल्तनत के समय के शासकों में से एक को भी धार्मिक दृष्टि से उदार नहीं माना जा सकता। मुगलों के समय से धार्मिक उदारता का समय आरम्भ होता है। महान् मुगल बादशाहों की शासन-व्यवस्था धार्मिक सहिष्णुता पर आधारित थी। बाबर और हुमायूँ धार्मिक दृष्टि से कट्टर न थे और अकबर ने सभी धर्मों की समानता के आधार पर अपनी शासन-नीति का निर्माण किया। महान् मुगल बादशाहों में से केवल औरंगजेब एक ऐसा बादशाह हुआ जिसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाया। इस कारण मुगल शासन-व्यवस्था अपनी नवीन विशेषताओं को लिये हुए थी जो भारत के पहले के मुसलमान शासकों से भिन्न थी। अकबर ने मूलतया इस मुगल शासन-व्यवस्था का निर्माण किया और साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त यह व्यवस्था औरंगजेब के समय तक मुगलों के शासन का आधार रही। औरंगजेब के दुर्बल उत्तराधिकारी इस व्यवस्था को स्थापित न रख सके जिसका परिणाम 18वीं सदी की अव्यवस्था हुआ।

1. मुगल बादशाह

मुगल बादशाह राज्य का प्रधान था। वही राज्य का अन्तिम कानून-निर्माता, शासन-व्यवस्थापक, न्यायाधीश और सेनापति था। फिर भी प्रशासन की गतिविधियों को चलाने के लिए मन्त्रिपरिषद होती थी—जिसके लिए 'विजारत' शब्द का प्रयोग किया गया है। अकबर के समय से धार्मिक मामलों में भी श्रेष्ठता को प्राप्त करने से मुगल बादशाह के अधिकारों में वृद्धि हो गयी। इस प्रकार राज्य में बादशाह की स्थिति सर्वोच्च और शक्ति असीमित थी। वह शक्ति, वैभव और सम्मान की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ था। बादशाह के मन्त्री, सरदार और सलाहकार उसे सलाह तो दे सकते थे परन्तु बादशाह उनकी सलाह को मानने के लिए बाध्य न था। प्रत्येक बात में अन्तिम निर्णय बादशाह का होता था। अकबर के समय से बादशाह को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में माना जाने लगा। अबुल फजल ने जिस राजत्व-सिद्धान्त का समर्थन किया था, उसके अनुसार बादशाह एक साधारण मानव से कहीं अधिक था। वह ईश्वर का प्रतिनिधि था, वह पृथ्वी पर ईश्वर का दूत था और ईश्वर ने उसे साधारण व्यक्ति की तुलना में अधिक बुद्धि और विवेक प्रदान किया था। अकबर ने स्वयं को इस्लामी कानूनों के बारे में अन्तिम निर्णायक घोषित करके बादशाह की स्थिति को और अधिक श्रेष्ठ बना दिया। इसी कारण अकबर ने झरोखा-दर्शन और तुला-दान जैसी प्रथाओं को आरम्भ किया। मुगल बादशाहों का राजत्व सम्बन्धी यह सिद्धान्त हिन्दू राजत्व-सिद्धान्त के समान था। इस प्रकार, सम्पूर्ण शक्तियों को अपने में केन्द्रित करने और देवत्व के अंश को अपने में मानकर मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश थे। परन्तु मुगल बादशाह स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी न थे। उन्होंने प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझा। अकबर का कहना था : "एक राजा को न्यायप्रिय, निष्पक्ष, उदार, परिश्रमी और अपनी प्रजा का संरक्षक एवं शुभचिन्तक होना चाहिए। बादशाह के लिए अनीति और अत्याचार अनुचित है।" औरंगजेब भी अपने इस कर्तव्य के प्रति जागरूक था। यद्यपि उसके कर्तव्य की परिभाषा धार्मिक कर्तव्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण सीमित हो गयी थी परन्तु वह भी 'बादशाहत को ईश्वर द्वारा प्रदत्त उत्तरदायित्व' मानता था। इस कारण मुगल बादशाह 'उदार निरंकुश शासक' थे जिन्होंने अपनी प्रजा की भलाई का ध्यान रखा था। अपने इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मुगल बादशाह अत्यधिक परिश्रम करता था। मुगल बादशाहों की दैनिक दिनचर्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक सूर्योदय से बहुत पहले उठता था और रात्रि तक कार्य में लगा रहता था। आरामपसन्द जहाँगीर भी स्वयं सात या आठ घण्टे राज्यकार्य में लगाता था और न्याय करना बादशाह का व्यक्तिगत कर्तव्य मानता था जबकि औरंगजेब कठिनाई से रात्रि में तीन या चार घण्टे ही आराम करता था।

इस प्रकार, मुगल बादशाह प्रजापालक, परिश्रमी और असीमित अधिकारों का उपभोग करने वाले थे। कानूनी दृष्टि से उनके अधिकारों पर कोई अंकुश नहीं था और उनके अनेक विशेष-अधिकार थे; जैसे—झरोखा-दर्शन, पद प्रदान करना, नक्कारे का प्रयोग, हाथियों की लड़ाई आदि। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से मुगल बादशाहों के अधिकार कुछ सीमित थे। केन्द्रीय मन्त्रियों के अतिरिक्त, जिनकी सलाह बादशाह के लिए अवश्य ही प्रभावपूर्ण होती होगी, राज्य के बड़े-बड़े सरदारों के प्रभाव को भी बादशाह को मानना पड़ता था। डॉ. ताराचन्द ने मुगल-शासन को कुलीनों का शासन (Rule by Aristocracy) बताया है। निस्सन्देह, मुगल बादशाहों के समय में शक्तिशाली सरदार जो राज्य के बड़े-बड़े मनसबों को प्राप्त किये हुए थे, राज्य में प्रभावशाली थे। दिल्ली-सल्तनत के शासकों ने अपने सरदारों की शक्ति को तोड़कर (जैसे बलबन, अलाउद्दीन आदि ने) अपनी निरंकुशता को स्थापित किया था जबकि मुगल बादशाहों ने अपने सरदारों की वफादारी और शक्ति को अपनी शक्ति और निरंकुशता का आधार बनाया। ऐसी स्थिति में उनके सरदारों का प्रभाव उनकी नीति पर आना अनिवार्य था।

2. शासक-वर्ग

बादशाह के अतिरिक्त, वस्तुतः, मुगल-राज्य में कई वर्ग ऐसे थे जो शासन में प्रभावपूर्ण थे जिसके कारण वे शासक-वर्ग कहलाने के अधिकारी थे। उनमें एक वर्ग अमीरों का था जिनको 'उमरा' (अमीर का बहुवचन) पुकारा जाता था। बाबर के साथ ईरानी, तूरानी, मुगल आदि बहुत बड़ी संख्या में भारत आये थे। अकबर के समय में उमराओं की संख्या में वृद्धि हुई। उसने योजनापूर्ण तरीके से अपने सभी अधिकारियों को मनसब देने आरम्भ किये। उसकी मनसबदारी प्रथा के अन्तर्गत साधारणतया एक हजार जात और उससे ऊपर की संख्या के पदाधिकारियों को उमरा की श्रेणी में स्वीकार किया गया। अकबर के समय में अन्य नस्लों के व्यक्तियों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में राजपूतों को भी इस श्रेणी में सम्मिलित किया गया। उसके समय में योग्य भारतीय मुसलमानों को भी उमरा की श्रेणी में स्थान दिया गया जबकि औरंगजेब के शासनकाल में मराठे भी इस श्रेणी में सम्मिलित किये गये। ये अमीर राज्य में सभी प्रकार के सैनिक और असैनिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति करते थे और, इस प्रकार, शासन में शरीर की धमनियों के समान थे। राज्य-प्रशासन में, इस कारण, वे प्रभावपूर्ण स्थान रखते थे यहाँ तक कि बादशाह को उन पर विभिन्न तरीकों से नियन्त्रण रखने की आवश्यकता होती थी। बादशाह उनका स्थानान्तरण करता रहता था, उत्तरदायित्व की पूर्ति न किये जाने पर उनको दण्ड देता था और जिसकी मृत्यु हो जाती थी उसकी सम्पत्ति को हस्तगत करके उसके पुनः वितरण करने का अधिकार रखता था। उमरा-वर्ग में राज्य के बड़े से बड़े धनवान और शक्तिशाली अमीर सम्मिलित थे। उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं। उन्होंने प्रशासन को ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं अपितु जन-जीवन को भी प्रभावित किया। योग्य मुगल-बादशाहों के शासनकाल में उन्होंने राज्य-विस्तार, प्रशासन, भूमि-व्यवस्था, सार्वजनिक हित के कार्य, व्यापार-वृद्धि आदि में सहयोग प्रदान किया। परन्तु जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये तब वे ही बादशाह को बनाने और हटाने वाले बन गये जिससे मुगलों का केन्द्रीयकृत ढाँचा नष्ट हो गया, स्थानीय स्वतन्त्र राज्य बने और मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हुआ।

शासन में एक अन्य महत्वपूर्ण वर्ग जागीरदारों का था। जागीरदार वे मनसबदार थे जिन्हें उनका वेतन नकद नहीं मिलता था अपितु इसके लिए उन्हें एक निश्चित भू-क्षेत्र (जागीर) दे दिया जाता था जिसके राजस्व से वह अपना वेतन प्राप्त करते थे। जागीरदार का अपनी जागीर पर कोई पैतृक अधिकार नहीं होता था और न उसका अधिकार स्थायी था अर्थात् बादशाह जागीरदारों का स्थानान्तरण करता रहता था। केवल कुछ राजपूत-शासक ही जिन्हें उनके राज्य जागीरों के रूप में वापस दे दिये गये थे, अपनी जागीरों के स्थायी स्वामी थे और आन्तरिक शासन में भी पर्याप्त स्वतन्त्र थे। अपनी जागीरों के सम्बन्ध में जागीरदारों के अधिकारों में विभिन्नता भी थी। कहीं उन्हें केवल राजस्व वसूल करने मात्र का अधिकार था और कहीं-कहीं वे इसके साथ-साथ प्रशासन के उत्तरदायित्व को भी निभाते थे। परन्तु प्रत्येक स्थिति में केन्द्रीय सरकार उन पर विभिन्न प्रकार से नियन्त्रण रखती थी जिससे वे स्वतन्त्र प्रवृत्ति की भावना न रखें। आरम्भ में जागीरदारी-व्यवस्था से प्रशासन और राजस्व वसूल करने में सुविधा हुई। जागीरदार राजस्व वसूल करके अपना और अपने सैनिकों का व्यय पूरा करके बचा हुआ राजस्व केन्द्रीय सरकार में जमा करते थे। इससे केन्द्रीय सरकार का कार्यभार कम होता था और उसे पर्याप्त आय भी प्राप्त हो जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे इसमें दोष उत्पन्न हो गये और वे दोष इतने गम्भीर हो गये कि उन्होंने मुगल-साम्राज्य के पतन में भी भाग लिया। इसमें आरम्भ से ही यह दोष रहे कि जागीर से जितनी अनुमानित आय की आशा की जाती थी, वास्तविक आय सर्वदा उससे कम ही रहती थी। इसके अतिरिक्त जागीरदार अधिक से अधिक आय करना चाहते थे जिसके लिए वे अपने अधीन जमींदारों और किसानों पर दबाव डालते थे जिससे एक तरफ उनका जमींदारों से संघर्ष होता था और दूसरी तरफ किसानों पर आर्थिक दबाव पड़ता था। जागीरदारों का स्थानान्तरण भी होता रहता था जिसके कारण वे अपनी जागीर की स्थायी समृद्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते थे। बाद के समय में मनसबदारों की संख्या में वृद्धि हो जाने से खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) भी जागीर-भूमि में परिवर्तित की जाने लगी और अन्त में ऐसी स्थिति आयी कि बादशाह के पास अपने मनसबदारों को देने के लिए भूमि ही नहीं बची। इससे, एक तरफ, मनसबदारों और जागीरदारों में जागीरें प्राप्त करने के लिए पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और गुटबन्दी हुई और दूसरी तरफ बादशाह दिवालिया हो गया।

शासक-वर्ग का एक महत्वपूर्ण भाग जमींदार-वर्ग भी था। डॉ. नूरुल हसन ने मुगल-साम्राज्य के जमींदारों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा है—एक, प्राथमिक जमींदार जो भूमि के स्वामी थे, पैतृक अधिकार का उपभोग करते थे और भूमि को खरीद या बेच सकते थे। वे या तो स्वयं खेती करते थे अथवा मजदूरों से खेती कराते थे। दूसरे, माध्यमिक जमींदार जो प्राथमिक जमींदारों या किसानों से राजस्व इकट्ठा करके सरकारी खजाने में जमा करते थे और इसके बदले में राजस्व में से कुछ भाग, भू-अनुदान अथवा लगान-माफी का अधिकार रखते थे। चौधरी, मुकद्दम, देशमुख, देसाई, ताल्लुकेदार आदि इस वर्ग मे आते थे। तीसरे, सरदार, राजा, राव, राय आदि जो अपने भू-क्षेत्र के स्वतन्त्र शासक थे, मुगलों की अधीनता स्वीकार किये हुए थे और समय-समय पर मुगल बादशाह को भेंट, नज़राने आदि तथा सैनिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायता दिया करते थे। प्राथमिक जमींदारों का दायित्व अपनी भूमि का लगान देना था चाहे वे उस भूमि पर स्वयं खेती करते हों अथवा किसानों को पट्टे पर भूमि देकर उनसे खेती कराते हों। माध्यमिक जमींदारों का दायित्व राजस्व वसूल करके शाही खजाने में जमा करना होता था। वे अपने-अपने क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए भी जिम्मेदार थे। उनका पद पैतृक होता था। भू-क्षेत्रों के स्वतन्त्र शासकों का, जिनमें राय, राणा, राजा आदि आते थे, मुख्य दायित्व बादशाह की अधीनता स्वीकार करना, उसे भेंट और नजराने देना तथा माँगे जाने पर सैनिक सहायता प्रदान करना था। सभी प्रकार के जमींदार किसी न किसी रूप से प्रशासन में सहायता करते थे, अपने-अपने क्षेत्र में विस्तृत अधिकारों का उपभोग करते थे और उनके उपभोग के लिए अपने साथ सैनिक भी रखते थे। अधिकांश जमींदारों का सम्पर्क प्रत्यक्षतः किसानों से होता था। इस कारण वे आर्थिक, प्रशासकीय और सांस्कृतिक दृष्टि से भी साम्राज्य के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। परन्तु जबकि एक तरफ वे राज्य के लिए उपयोगी थे दूसरी तरफ उनके और राज्य के हितों में टकराव था क्योंकि दोनों ही किसानों के लाभ में से अधिक से अधिक स्वयं के लिए रखना पसन्द करते थे। जमींदार-वर्ग ने मुगल-साम्राज्य का समर्थन करके उसे शक्तिशाली बनने में सहयोग प्रदान किया। परन्तु इस वर्ग की एक मुख्य विशेषता क्षेत्रीय वफादारी पर बल देना था जिसके कारण बादशाह के दुर्बल हो जाने पर इस वर्ग ने उमरा या जागीरदारी-वर्ग का समर्थन किया और इस प्रकार साम्राज्य के विघटन में सहायता दी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, निस्सन्देह, मुगल बादशाह शासन का वस्तुतः प्रधान था परन्तु उमरा या मनसबदार, जागीरदार और जमींदार वर्ग मुगल-काल में प्रशासन का अभिन्न अंग थे और इस कारण तत्कालीन राज्य और समाज का शासक-वर्ग थे। इसके अतिरिक्त बादशाह ने शासन के लिए अपनी निजी व्यवस्था की थी जो निम्न प्रकार थी :

3. बादशाह के मन्त्री

शासन में अपनी सहायता के लिए बादशाह विभिन्न मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। उनमें से प्रत्येक से अलग-अलग अथवा सम्मिलित रूप से सलाह लेने का अधिकार बादशाह को था। वे शासन के विभिन्न विभागों के प्रधान होते थे और उनके शासन की देखभाल करते थे। इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मन्त्री का अपना पृथक कार्यालय होता था और उसके कर्मचारी उसकी अधीनता में कार्य करते थे। अकबर के समय में वकील, दीवान अथवा वजीर, मीर-बख्शी और सद्र-उस-सद्र यह चार ही मन्त्री-पद थे। बाद के समय में वकील और दीवान अथवा वजीर का पद एक ही व्यक्ति को दिया गया और यह राज्य का वकील-ए-मुतलक (वजीर) अथवा प्रधानमन्त्री कहलाया। बाद में खानेसामा, मुख्य काजी और मुहतसिब के पदों को भी मन्त्री-पद प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त, मीर-आतिश और दरोगा-ए-डाकचौकी के पद मन्त्री-पद के न होते हुए भी शासन के महत्वपूर्ण पद माने जाते थे।

1. प्रधानमन्त्री (वकील-ए-मुतलक, वजीर, दीवान)—अकबर के समय में वकील का पद बैरमखाँ को दिया गया और इस दृष्टि से वह राज्य का संरक्षक, सभी मन्त्रियों का प्रधान और उन्हें हटाने तथा नियुक्त करने का अधिकारी था। परन्तु बैरमखाँ के पश्चात् ऐसे अधिकार किसी भी पदाधिकारी को नहीं दिये गये। इसीलिए अकबर ने बैरम खाँ के पतन के बाद अपने शासनकाल के 8वें वर्ष एक नया पद 'दीवान-ए-वजारत-ए-कुल' की स्थापना की जिसे राजस्व एवं वित्तीय मामलों के प्रबन्ध का अधिकार प्रदान किया गया। धीरे-धीरे उसने वकील के एकाधिकार को समाप्त करके उसके अधिकारों को, दीवान, मीरबख्शी तथा मीर-सामा और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद्र-उस-सुदूर में बाँट दिया। प्रधानमन्त्री को दीवान के कार्य दे दिये गये और बाद के समय में दीवान ही राज्य का वजीर और प्रधानमन्त्री होने लगा। दीवान होने की दृष्टि से उसका मुख्य कार्य राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना था। यह बादशाह और अन्य अधिकारियों के बीच की कड़ी था। बादशाह की अनुपस्थिति में राजधानी में रहकर शासन की देखभाल करना, बादशाह के अल्पायु होने पर उसके संरक्षक के रूप में कार्य करना और समय-समय पर सेना का सेनापतित्व करना भी उसके कार्य थे। इस प्रकार, **बादशाह के पश्चात् शासन में प्रमुख स्थान प्रधानमन्त्री का था जिसको समय-समय पर वकील-ए-मुतलक अथवा वकील पुकारा गया था और जो वित्त-विभाग का प्रधान होने के नाते राज्य का दीवान भी था।**

प्रधानमन्त्री सभी अन्य विभागों पर नियन्त्रण रखता था, सूबों से सूचनाएँ प्राप्त करता था, बादशाह के आदेशों को वहाँ भेजता था, राजनीतिक पत्र-व्यवहार करता था और शासन के साधारण कार्यों को बादशाह की ओर से स्वयं करता था। उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारियों के अतिरिक्त पाँच अधिकारी प्रमुख थे—दीवाने-खालसा (शाही भूमि की देखभाल करने वाला अधिकारी), दीवाने-तन (वेतन और जागीरों की देखभाल करने वाला), मुस्तौफी (आय और व्यय का निरीक्षक), वाकिया-ए-नवीस (सभी पत्र-व्यवहार और घटनाओं का रिकार्ड रखने वाला) और मुशरिफ (दफ्तर की देखभाल करने वाला)।

2. मीर-बख्शी—मीर-बख्शी सेना-विभाग का प्रधान था। अवसर पड़ने पर उसे सेना का सेनापतित्व दिया जा सकता था परन्तु यह उसका प्रमुख उत्तरदायित्व न था और न वह राज्य का सेनापति था। सैनिकों की भर्ती, उनका हुलिया रखा जाना, घोड़ों और हाथियों का दागा जाना, सैनिकों के शस्त्रों, वस्त्रों, घोड़ों, शिक्षा और रसद, आदि की देखभाल करना उसका कार्य था। यह पद अकबर के काल में शुरू हुआ। प्रत्येक मनसबदार के सैनिकों की संख्या, प्रत्येक की पदोन्नति का हिसाब और प्रत्येक को वेतन देना आदि कार्य उसी के दफ्तर से होते थे। बादशाह के महल की सुरक्षा के लिए मनसबदारों को नियुक्त करना और प्रत्येक दिन उनमें परिवर्तन करना भी उसका मुख्य कार्य था। उसका कार्य बहुत अधिक था। अतः उसकी अधीनता में विभिन्न बख्शी, एक बड़ा विभाग और अनेक कर्मचारी थे। मीरबख्शी को युद्ध के दौरान छोड़कर बाकी सेना को वेतन बाँटने का कोई अधिकार नहीं था। सामान्यतः यह अधिकार 'दीवाने-तन' को होता था। मीर बख्शी के द्वारा 'सरखत' नामक पत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद ही सेना का मासिक वेतन निर्धारित होता था। मुगल काल में बख्शियों की संख्या निश्चित नहीं होती थी। औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम दौर में मुगल साम्राज्य का अधिक विस्तार हो जाने के कारण 4 बख्शियों को नियुक्त करना पड़ा।

3. सद्र-उस-सद्र—सद्र-उस-सद्र का कार्य धार्मिक था। **वह धार्मिक मामलों में बादशाह का सलाहकार था।** उसे 'शेख-उल-इस्लाम' भी कहा जाता था। दान-पुण्य की व्यवस्था, धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था, विद्वानों को जागीरें प्रदान करना और इस्लाम के कानूनों के पालन की समुचित व्यवस्था को देखना इसके प्रमुख कर्तव्य थे। **कभी-कभी इसे मुख्य काजी का पद भी प्राप्त हो जाता था तब उसे 'काजी-उल-कुजात' कहा जाता था।** यद्यपि अकबर के समय में अधिकांशतया यह पद पृथक-पृथक व्यक्तियों को दिये गये थे। सूबों के सद्रों की नियुक्ति में वह बादशाह को सलाह देता था और उसके कार्यों की देखभाल करता था। अकबर के समय में इस पद का सम्मान कम हो गया था क्योंकि अकबर धार्मिक मामलों में इसकी सलाह नहीं लेता था और उसने जागीरें तथा वजीफे आदि देने का कार्य भी अपने हाथों में ले लिया था। परन्तु फिर भी यह पद अत्यधिक सम्मान का समझा जाता था। सद्दाम में दी जाने वाली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगान मुक्त भूमि का निरीक्षण करता था। इस भूमि को 'सयूरगाल' या 'मदद-ए-माश' कहा जाता था। सद्र द्वारा जीविकोपार्जन हेतु दी जाने वाली नकदी को 'वजीफा' कहा जाता था। 1578 ई. में भी सद्र नियुक्त किये जाने लगे, जिससे केन्द्रीय सद्र का एकाधिकार समाप्त हो गया। मुगल काल में सर्वप्रथम सद्र 'शेखगदाई' था, जिसे बैरम खाँ ने अपने संरक्षण काल में बनवाया था।

4. मुख्य काजी—मुगल बादशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था और वह प्रत्येक बुधवार को स्वयं न्याय के लिए बैठता था। परन्तु बादशाह सभी मुकदमों का निर्णय नहीं कर सकता था। इस कारण उसकी सहायता के लिए राजधानी में एक मुख्य काजी (मुख्य न्यायाधीश) होता था। काजी मुस्लिम कानून के अनुसार न्याय करता था। उसकी सहायता के लिए 'मुफ्ती' होते थे जो कानून की व्याख्या करते थे जिसके आधार पर काजी निर्णय देता था। वह प्रान्तों, जिलों तथा नगरों में अन्य काजियों की नियुक्ति करता था और उनके कार्यों की देखभाल करता था।

5. मुहतसिब—प्रजा के नैतिक चरित्र की देखभाल करने के लिए और मुख्यतया यह देखने के लिए कि प्रजा इस्लाम के कानूनों के अनुसार आचरण करती है अथवा नहीं, मुहतसिब हुआ करता था। मादक-द्रव्यों के प्रयोग, जुआ खेलने से रोकना और स्त्री-पुरुषों के अनैतिक सम्बन्धों को रोकना उसका कार्य था। कभी-कभी उसे नाप-तौल के पैमाने की देखभाल तथा वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित करने का दायित्व भी दिया जाता था। औरंगजेब के समय में हिन्दू-मन्दिरों और पाठशालाओं को नष्ट करने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा गया था जिससे उसका पद महत्वपूर्ण बन गया था। उसकी सहायता के लिए प्रान्तों में भी मुहतसिबों की नियुक्ति की जाती थी।

6. मीर-ए-सामाँ—अकबर के समय में यह मन्त्री-पद न था, परन्तु बाद के बादशाहों के समय में इसे मन्त्री-पदों में स्वीकार किया गया। वह बादशाह के परिवार, उसके महल और उसकी व्यक्तिगत तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की देखभाल करता था। वह शाही भोजन, भण्डार, खजाना, उपहार, नजराने आदि की देखभाल करता था। उसका एक मुख्य उत्तरदायित्व शाही कारखानों की देखभाल करना था जहाँ विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था और जो राज्य की आय के प्रमुख साधन थे। यह पद बहुत ही विश्वासपात्र व्यक्ति को दिया जाता था और बाद के समय में यह इतना महत्वपूर्ण हो गया कि वजीर के पद के पश्चात् ही इसका पद माना जाने लगा और मीर-ए-सामाँ के पद को वजीर का पद प्राप्त करने की अन्तिम सीढ़ी माना जाने लगा।

7. मीरे-आतिश—मीरे-आतिश अथवा दरोगा-ए-तोपखाना का पद मन्त्री-पद का न होते हुए भी महत्वपूर्ण था। शाही तोपखाना उसके अधीन था। तोपों को बनवाना, किलों में उनकी व्यवस्था और बन्दूकों का निर्माण आदि उसकी देखरेख में था। अधिकांशतया यह पद किसी तुर्क या ईरानी को दिया जाता था।

8. दरोगा-ए-डाकचौकी—इसके अधीन राज्य के गुप्तचर और संवादवाहक थे। प्रान्तों से सूचनाएँ प्राप्त करना तथा वाकिया-ए-नवीसों और खुफिया-नवीसों की नियुक्ति और उनसे प्राप्त सूचनाओं को बादशाह तक पहुँचाना इसका प्रमुख कर्तव्य था। गुप्तचर-विभाग का प्रधान होने के कारण शासन में इसका विशेष महत्व था।

उपर्युक्त विभागों और उनके अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य का अपना एक बड़ा सचिवालय था जहाँ वजीर तथा केन्द्र के अन्य बड़े अधिकारियों की अधीनता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अनेक अधिकारी कार्य करते थे और जहाँ सभी विभागों की सूचनाएँ आती थीं। अकबर ने केन्द्रीय व्यवस्था को संगठित करने में बहुत परिश्रम किया था और वह प्रत्येक विभाग के कार्य को लेखबद्ध कराता था। यह विश्वास किया जा सकता है कि मुगलों की केन्द्रीय व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी।

[2]

मुगल-कारखाना

शाही-कारखाना और उसकी व्यवस्था भी मुगल-शासन का एक महत्वपूर्ण भाग था। के. एम. अशरफ के अनुसार कारखानों का विचार, सम्भवतया, मुगल बादशाहों ने फारस से लिया था। परन्तु यह विचार मान्य नहीं है। भारत में यह परम्परा प्राचीन थी। मौर्य-शासकों के समय में राज्य ने विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए कारखाने स्थापित किये थे तथा दिल्ली-सुल्तानों के शासनकाल में भी यह प्रथा प्रचलित थी।

'कारखाना' का शाब्दिक अर्थ उस स्थान से होता है जहाँ किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कारीगर एकत्रित होते हैं। परन्तु मध्य-युग में इसका अर्थ विस्तृत रूप में लिया गया। कारखाना-व्यवस्था शाही इच्छा और साधनों से विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था मात्र न थी अपितु इसके अतिरिक्त इसमें शाही आवश्यकता की सभी वस्तुओं को भण्डार में सुरक्षित रखना, वस्तुओं को खरीदना और बेचना, बादशाह की निजी सेवा और उसके महल की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति, पशुशालाओं की सुरक्षा आदि भी सम्मिलित थे। परन्तु इसमें प्रमुख कार्य विभिन्न वस्तुओं के निर्माण की व्यवस्था करना ही था। इस कार्य की पूर्ति के लिए मुगल बादशाहों ने एक अलग विभाग स्थापित किया था।

मध्य-युग में बड़े पैमाने पर सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं हुआ करता था। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ थीं जिनकी आवश्यकता की पूर्ति सरकार बाजार से नहीं कर सकती थी। इस कारण, बादशाह की ओर से उन वस्तुओं का निर्माण कराया जाना एक आवश्यकता थी। अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और उनके स्तर में उन्नति करना शाही आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, मुगल बादशाहों, उनकी बेगमों और 'हरम' की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध नहीं हो सकती थीं। बादशाह और बेगमों के शौक और उनके विलासपूर्ण जीवन के लिए श्रेष्ठ वस्तुओं का निर्माण करने हेतु भी शाही-कारखाना आवश्यक था। इस कारण, मुगल बादशाहों ने विस्तृत रूप से कारखानों का निर्माण किया तथा राज्य के विभिन्न शहरों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए कारखाने खुलवाये। प्रान्तीय सूबेदारों ने भी यह कार्य किया। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त वे बादशाह को भेंट, नजराना आदि देने के लिए भी अच्छी से अच्छी वस्तुओं का निर्माण कराते थे और उसके लिए श्रेष्ठ कारीगरों को खोजते थे।

मुगल बादशाहों ने कारखानों और उनमें बनायी जाने वाली वस्तुओं के निर्माण में व्यक्तिगत रुचि ली। अकबर ने अपने शासनकाल में आगरा, फतेहपुरसीकरी, लाहौर, अहमदाबाद आदि विभिन्न शहरों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए बहुत कारखाने खुलवाये। 'आईन-ए-अकबरी' में यह उल्लेख मिलता है कि अकबर देश-विदेश से योग्य कारीगरों को एकत्रित करता था, उनकी उत्पादन-कला को स्वयं परखता था और प्रसन्न होने पर कारीगरों को इनाम देता था। जहाँगीर भी कारखानों को प्रोत्साहन देता था और उसने ऊनी वस्त्रों के निर्माण के लिए कई कारखाने लाहौर में स्थापित किये। शाहजहाँ के काल में कश्मीर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लाहौर में ऊनी कालीन बनाने का स्तर इतना श्रेष्ठ हो गया कि ईरानी कालीन भी वहाँ के बने कालीनों से मुकाबला करने की स्थिति में नहीं रहे। औरंगजेब ने अपनी दक्षिण-भारत की सूबेदारी के समय में निरन्तर यह प्रयत्न किया कि मसलीपट्टम के कपड़ा-छपाई करने वाले कुशल कारीगरों को दिल्ली और आगरा ले जाया जाय।

शाही-कारखानों में सभी प्रकार की वस्तुएँ बनायी जाती थीं। वस्त्र, आभूषण, पोशाकें, जूते, फर्नीचर, झाड़-फानूस, बर्तन, तलवारें, कटारें, बन्दूकें, तोपें तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र, आदि सभी प्रकार की वस्तुओं का निर्माण इनमें होता था। इसके अतिरिक्त, कारखानों के अधिकारी बादशाह, बेगमों, महल आदि की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाजार से भी वस्तुएँ खरीदते थे और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तुओं को तलाश करते थे, यहाँ तक कि कारखाना-विभाग का प्रधान अधिकारी, मीर-ए-सामाँ, बादशाह के लिए बढ़िया से बढ़िया घोड़े और हाथी भी खरीदता था।

कारखानों की देखभाल के लिए एक पृथक विभाग था जिसके सबसे बड़े अधिकारी को 'मीर-ए-सामाँ' पुकारा जाता था। अपने अधीन कर्मचारियों की देखभाल, सूबों या अन्य शहरों के कारखानों पर नियन्त्रण, बादशाह के सम्मुख अपने विभाग की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करना, बहुमूल्य वस्तुओं को बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करना आदि उसका उत्तरदायित्व था। विभाग के वित्तीय (धन-सम्बन्धी) उत्तरदायित्व की पूर्ति करना दीवान-ए-बयूतात का कार्य था। अपने विभाग की आय और व्यय के कागजों को बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करना भी उसका उत्तरदायित्व था। इस प्रकार जबकि विभाग का प्रशासकीय उत्तरदायित्व मीर-ए-सामाँ का था, वित्तीय उत्तरदायित्व विभाग के दीवान-ए-बयूतात का था। दीवान की सहायता के लिए एक अधिकारी 'नजीर' होता था जो वित्तीय आय और व्यय का पुनः निरीक्षण करता था। मुशरिफ वह अधिकारी था जो प्रत्येक कारखाने में नियुक्त किया जाता था और जिसका कार्य अग्रिम-धन, कच्चे माल का दिया जाना, आदि के प्रतिदिन के हिसाब को लिखकर रखना होता था। इसी प्रकार, प्रत्येक कारखाने में एक दरोगा, एक तहसीलदार, एक मुस्तौफी और एक दरोगा-ए-कचहरी होता था। दरोगा का कार्य प्रतिदिन कारीगरों में काम बाँटना, उन्हें कच्चा माल देना, शाम को उनसे सामान वापस लेना और उनके द्वारा किये गये कार्य को लिखकर रखना था। तहसीलदार के पास कारखाने के व्यय के लिए धन और सामान होता था। वही कच्चा सामान दरोगा को देता था और उसके माध्यम से कारीगरों को तनख्वाह देता था। मुस्तौफी मुशरिफ, दरोगा और तहसीलदार द्वारा दिये गये हिसाब की प्रतिदिन जाँच करता था और दीवान के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करता था। वह दीवान को यह भी बताता था कि कारखाने के लिए अब कितना तथा क्या कच्चा माल चाहिए। दरोगा-ए-कचहरी का कार्य इन सभी अधिकारियों के कार्यों में सम्बन्ध बनाये रखना, कागजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना और खजाने से कारखाने के लिए धन लाना था। इस प्रकार प्रत्येक कारखाने की देखभाल के लिए विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये गये थे जो समुचित उत्पादन और व्यय के हिसाब को ठीक रखने के लिए उत्तरदायी थे। मीर-ए-सामाँ वर्ष में दो बार कारखानों के काम की सूचना, उन पर व्यय किये गये धन की रिपोर्ट और अपने विभाग की आवश्यकता बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करता था।

शाही-कारखानों की स्थापना कई प्रकार से लाभदायक रही। इससे राज्य को उचित मूल्य पर अपनी आवश्यकता की और अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं। बादशाहों, बेगमों और अमीरों के लिए विलासिता और शौक की चीजें बनाने के प्रयत्नों के कारण विभिन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हस्त-उद्योगों की प्रगति में सहायता मिली। साधारण कारीगरों के पास योग्यता के होते हुए भी वे आर्थिक साधन उपलब्ध नहीं हो सकते थे जो बादशाह और अमीरों के पास थे। धन की पूर्ति हो जाने से योग्य कारीगरों ने श्रेष्ठतम वस्तुओं का निर्माण किया और इस प्रकार अपने-अपने उद्योगों की उन्नति में भाग लिया। धनवान व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त करने की लालसा के कारण कारीगरों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हुई जिसने भी विभिन्न हस्त-उद्योगों की उन्नति में भाग लिया। यद्यपि कारखानों में बनायी जाने वाली अधिकांश वस्तुएँ व्यापारिक स्तर पर नहीं बनायी जाती थीं क्योंकि उनके बनाये जाने का मूल उद्देश्य राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति या बादशाह और बेगमों या अमीरों की रुचि की पूर्ति करना था, तब भी इन कारखानों की स्थापना से कारीगरों के कुछ वर्गों को तो आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ ही। इसके अतिरिक्त, इन कारखानों में बनी हुई वस्तुएँ अन्य कारीगरों के लिए आदर्श-स्वरूप होती थीं जिससे उन्होंने भी अपने कौशल में उन्नति करके अपने लिए कुछ अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इन कारखानों की स्थापना से कुछ मात्रा में गाँव के श्रमिकों का शहर की ओर आना आरम्भ हुआ और कुछों को जबरदस्ती लाया गया जिससे ग्रामीण कारीगरों में कुछ गतिशीलता आयी। इन कारखानों की स्थापना ने भारत के सांस्कृतिक जीवन को भी सुधारा क्योंकि इनमें बनी हुई वस्तुओं ने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता दी। यह बात और है कि यह प्रभाव भारत के धनवान वर्ग तक ही सीमित रहा।

17वीं सदी के अन्त तक शाही-कारखानों की संख्या काफी रही और उनमें कार्य होता रहा। परन्तु उसके बाद के समय में इनकी संख्या कम होती चली गयी। इसका सीधा सम्बन्ध साम्राज्य की आर्थिक स्थिति से था। जब मुगल-साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से पतनोन्मुख हुआ तो शाही-कारखानों पर व्यय किया जाना सम्भव न हो सका। यही इन कारखानों की स्थापना में आरम्भ से ही दोष था कि इन कारखानों को बादशाहों ने कभी भी व्यापारिक लाभ या स्वावलम्बन के आधार पर चलाये जाने का प्रबन्ध नहीं किया और इस कारण ये अपने संरक्षण के समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो गये।

[3]

प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन-व्यवस्था

प्रान्तों या सूबों का शासन

सम्पूर्ण मुगल-साम्राज्य को सूबों में बाँटा गया था। अकबर ने 1580 ई. में अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को 12 सूबों (प्रान्तों) में विभाजित किया, किन्तु शासनकाल के अन्तिम समय में दक्षिण भारत के बरार, खानदेश एवं अहमदनगर की विजय के पश्चात् सूबों की संख्या बढ़कर 15 हो गयी। किन्तु, अबुल फजल ने अपने 'आइने अकबरी' में केवल 12 सूबों का ही वर्णन किया है। इस प्रकार अकबर के समय में सूबों की संख्या 15 थी जो शाहजहाँ के काल में 18 और औरंगजेब के समय तक 20 हो गयी थी। प्रत्येक सूबे की अपनी पृथक राजधानी थी जहाँ सूबे के शासन का प्रधान सूबेदार रहता था। सूबेदार को निजाम, सिपहसालार अथवा केवल सूबा के नाम से भी पुकारा जाता था। प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का ढाँचा केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के समान ही था। डॉ. सरकार ने लिखा है : "मुगल सूबों में शासन-व्यवस्था केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का लघु रूप थी।" प्रत्येक सूबे में मुख्य अधिकारी सूबेदार, दीवान, बख्शी, सद्र और काजी, कोतवाल तथा वाकिया-ए-नवीस थे। किसी-किसी प्रान्त में दरोगा-ए-तोपखाना और मीर-बहर नामक अधिकारियों की भी नियुक्ति की गयी थी। अकबर ने अपने दीवान को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तृत अधिकार दिये थे और सूबों के सभी दीवानों को वजीर की प्रत्यक्ष अधीनता में कर दिया था। उसका उद्देश्य सूबेदार की शक्तियों को दीवान की शक्तियों से सन्तुलित करके सूबे के विद्रोह की आशंकाओं को समाप्त करना था। मुगल बादशाहों ने प्रान्तों को अपने नियन्त्रण में रखने के लिए अन्य साधन भी अपनाये थे। वे प्रान्तीय अधिकारियों का स्थानान्तरण करते रहते थे, प्रान्तों में नियुक्त 'वाकिया-ए-नवीस' प्रान्तों की सूचनाएँ केन्द्र को भेजते थे, डाक-चौकियों की व्यवस्था भी मुगलों के समय में उचित थी और समय-समय पर बादशाह भी प्रान्तों का दौरा करते थे। शक्तिशाली मुगल बादशाह प्रान्तों को अपने अधीन रखने में सफल रहे। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाह इस व्यवस्था को स्थापित न कर सके बल्कि कुछ अवसरों पर निजाम (सूबेदार) और दीवान के पद एक ही व्यक्ति को दे दिये गये। बहादुरशाह के समय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबेदार मुर्शिदकुलीखाँ को दीवान के अधिकार भी दिये गये थे। इसके परिणामस्वरूप बंगाल को मुगल-साम्राज्य से पृथक होने में सरलता हुई।

1. सूबेदार—सूबेदार सूबे के शासन का प्रमुख अधिकारी था। अपने सूबे में उसकी स्थिति एक छोटे बादशाह के समान थी। राज्य के बड़े मनसबदार को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उसके साथ एक बड़ी सेना होती थी। उसे अपने सूबे में एक बड़ी जागीर भी प्राप्त होती थी। सूबे में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था, प्रजा के हित की रक्षा और वृद्धि, फौजदारी मुकदमों का निर्णय करना, विद्रोहों का दबाना, पुल, सराय, सड़कों आदि की सुरक्षा और निर्माण, सूबे में स्थित अधीन राज्यों से राज्य-कर की वसूली आदि उसके विभिन्न कार्य थे। सूबेदार सूबे में बादशाह का प्रतिनिधि था और सूबे में उसकी प्रतिष्ठा एक छोटे बादशाह के समान थी। सूबे के सभी अधिकारी उसके अधीन होते थे और बादशाह उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि सूबेदार की सलाह से करता था। सूबे में उसके अधिकार केवल सूबे के दीवान के आर्थिक अधिकारों से ही सीमित थे अन्यथा अपने सूबे में वह पूर्ण शक्तिशाली था।

परन्तु सूबेदारों के अधिकारों पर कुछ सीमाएँ भी थीं तथा सभी सूबेदारों को समान अधिकार नहीं थे। बादशाह अपनी इच्छा से सूबेदार के अधिकारों पर कोई भी सीमा लगा सकता था अथवा किसी सूबेदार को कोई विशेष अधिकार दे सकता था, यथा—अकबर के द्वारा गुजरात के सूबेदार टोडरमल को राजपूत सरदारों से सन्धि करने और उन्हें मनसब प्रदान करने का अधिकार दिया गया था जो साधारणतया किसी अन्य सूबेदार के अधिकारों में सम्मिलित नहीं था। इसके अतिरिक्त, किसी भी सूबेदार को वह कार्य करने का अधिकार नहीं था जो बादशाह के विशेषाधिकार माने गये थे, यथा—एक सूबेदार बादशाह की तरह दरबार नहीं कर सकता था, किसी व्यक्ति को कोई उपाधि नहीं दे सकता था, झरोखा-दर्शन की प्रथा को नहीं अपना सकता था, आदि।

2. दीवान—दीवान सूबे का वित्त-अधिकारी था। बादशाह उसकी नियुक्ति केन्द्रीय दीवान की सलाह से करता था। सूबे में सूबेदार के पश्चात् शासन में उसी का पद था। वह सूबेदार के अधीन न था बल्कि वह केन्द्र के दीवान के अधीन था। परन्तु उसे सूबेदार के साथ सहयोग करते हुए कार्य करना पड़ता था और सूबेदार का सम्मान उससे अधिक था। लगान अथवा अन्य करों को वसूल करने में उसे सूबेदार की सहायता पर निर्भर करना पड़ता था क्योंकि उसके साथ कोई सेना नहीं होती थी। सूबे की सेना का प्रधान सूबेदार होता था। सूबे की वित्त-व्यवस्था पर नियन्त्रण, आय-व्यय का हिसाब, लगान और कृषि की देखभाल,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधीनस्थ वित्त-अधिकारियों पर नियन्त्रण, सूबे की आर्थिक स्थिति की सूचना केन्द्रीय सरकार को देना तथा दीवानी (धन अथवा लगान सम्बन्धी) मुकदमों का निर्णय आदि दीवान के प्रमुख कर्तव्य और अधिकार थे।

3. बख्शी—इसका मुख्य उत्तरदायित्व सूबे की सेना की देखभाल करना था। केन्द्र के मीर-बख्शी की सलाह से इसकी नियुक्ति की जाती थी। सूबे की सेना की संख्या, उसका संगठन, नियन्त्रण, रसद आदि की व्यवस्था इसके अधीन थी। बख्शी को कभी-कभी सूबे का वाकिया-ए-नवीस भी बना दिया जाता था। ऐसी स्थिति में वह सूबे की सभी सूचना केन्द्रीय सरकार को भेजता था और उसका पद अधिक सम्मानित एवं प्रभावशाली बन जाता था।

4. वाकिया-ए-नवीस—यह सूबे के गुप्तचर-विभाग का प्रधान था और इस दृष्टि से सूबे के शासन की प्रत्येक सूचना यहां तक कि सूबेदार व दीवान के कार्यों की सूचना भी यह केन्द्रीय सरकार को भेजता था। यह अपने अधीन गुप्तचरों और सन्देशवाहकों की नियुक्ति करता था तथा उनसे सूचनाएँ प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार अपने पृथक गुप्तचरों अथवा खुफिया-नवीसों की नियुक्ति भी सूबों में करती थी।

5. कोतवाल—सूबे की राजधानी तथा बड़े नगरों में शान्ति और सुरक्षा, स्वच्छता और सफाई, यात्रियों की देखभाल आदि कोतवाल करता था। उसके राजधानी अथवा नगर सम्बन्धी अधिकार काफी विस्तृत होते थे। वह एक सैनिक अधिकारी था और उसकी अधीनता में पर्याप्त सैनिक रहते थे।

6. सदर और काजी—साधारणतया सूबे में सदर और काजी का पद एक ही व्यक्ति को दिया जाता था जो सद्र-उस-सद्र अथवा मुख्य काजी के नियन्त्रण में कार्य करता था। सदर की हैसियत से वह प्रजा के नैतिक चरित्र और इस्लाम के कानूनों के पालन की व्यवस्था करता था तथा काजी के रूप में न्याय करता था। अपने अधीन काजियों के कार्यों की देखभाल और योग्य व्यक्तियों के नामों की सूची बनाकर केन्द्रीय सद्र को भेजना भी उसके कार्य थे।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त किसी-किसी स्थान पर दरोगा-ए-तोपखाना और बन्दरगाहों, नदी के मुहानों तथा पुलों के निकट कर वसूल करने के लिए मीर-बहर नाम के अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी।

सरकार अथवा जिले का शासन

प्रत्येक सूबा कई सरकारों (जिलों) में बँटा होता था। प्रत्येक सरकार के प्रमुख अधिकारी फौजदार, अमलगुजार, काजी, कोतवाल, बितिक्ची और खजानदार होते थे।

1. फौजदार—प्रत्येक सरकार में एक फौजदार होता था जो एक सैनिक-अधिकारी था। अपनी सरकार में शान्ति स्थापित रखना, चोर-लुटेरों से प्रजा की रक्षा करना और राज्य की आज्ञाओं का प्रजा से पालन कराना, आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। उसकी नियुक्ति बादशाह के द्वारा की जाती थी यद्यपि उसे सूबेदार की अधीनता में कार्य करना पड़ता था। वह कर वसूल करने में अमलगुजार की सहायता करता था। वह अपनी सरकार का प्रमुख अधिकारी था। शेरशाह के समय में इसे 'मुंसिफ-ए-मुंसिफाम' कहा जाता था जो परगनों के मालगुजारी कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करता था। कालान्तर में फौजदारी को न्यायिक अधिकार भी दिये जाने लगे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद लगभग फौजदार का पद वंशानुगत हो गया।

2. अमलगुजार—सरकार में लगान वसूल करना, कृषि की देखभाल करना, किसानों की सुरक्षा करना, चोर-लुटेरों को दण्ड देना, आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। वह सरकार का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वित्त-अधिकारी था और इस दृष्टि से वह सूबे के दीवान के अधीन था। वह सरकार के खजाने की देखभाल करता था।

3. बितिक्ची—**बितिक्ची अमलगुजार के अधीन अधिकारी था।** भूमि और लगान सम्बन्धी सभी कागज उसे तैयार करने पड़ते थे। भूमि की किस्म, उसकी पैदावार और किस किसान के पास कितनी भूमि है, यह हिसाब कानूनगो की सहायता से वही रखता था। किसानों से लगान वसूल होने की रसीद भी वही देता था।

4. खजानदार—यह सरकार का खजांची था। यह अमलगुजार की अधीनता में कार्य करता था और सरकारी खजाने की सुरक्षा इसका मुख्य उत्तरदायित्व था।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में न्याय के लिए काजी और शान्ति-व्यवस्था के लिए कोतवाल होते थे।

परगने का शासन

प्रत्येक सरकार कई परगनों में बँटी होती थी। **शिकदार, आमिल, फौतदार, कानूनगो और कारकुन परगने के प्रमुख अधिकारी थे।**

1. शिकदार—परगने का प्रमुख अधिकारी शिकदार था। वह एक सैनिक अधिकारी था। उसका प्रमुख उत्तरदायित्व परगने में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना तथा लगान वसूल करने में सहायता देना था।

2. आमिल—यह परगने का वित्त-अधिकारी था। किसानों से लगान वसूल करना उसका मुख्य कर्तव्य था और इसके लिए वह किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करता था। अकबर ने अपने शासन काल के 18 वें वर्ष प्रत्येक परगने (महाल) में, जिसको मालगुजारी आय प्रतिवर्ष 1 करोड़ दाम (25,000 रु) थी, एक आमिल नियुक्त किया जिसे जनसाधारण में 'करोड़ी' कहा जाता था।

3. फौतदार—यह परगने का खजांची था और खजाने की सुरक्षा उसका मुख्य दायित्व था।

4. कानूनगो—कानूनगो परगने के पटवारियों का प्रधान था। वह लगान, भूमि और कृषि सम्बन्धी सभी कागजों को तैयार करता था।

कारकुन परगने के क्लर्क थे जो लिखा-पढ़ी का कार्य करते थे।

नगरों का शासन

नगर के शासन का प्रधान कोतवाल होता था और वह उन सभी कार्यों को करता था जो आधुनिक समय में नगरपालिकाएँ और पुलिस अधिकारी मिलकर करते हैं। इस दृष्टि से नगर की सुरक्षा, स्वच्छता, बाजार और वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण, लावारिस सम्पत्ति की देखभाल, यात्रियों पर निगरानी, व्यापारिक समुदायों को स्वीकार करना, नगर को वार्डों में बाँटना, स्थानीय करों की वसूली आदि उसके प्रमुख कार्य होते थे। अपनी सहायता के लिए कोतवाल विभिन्न निम्न अधिकारियों की नियुक्ति करता था। उसकी अधीनता में एक अच्छा सैनिक दस्ता भी होता था।

गाँवों का शासन

गाँवों के शासन का उत्तरदायित्व मुगलों ने अपने अधिकारियों के हाथों में नहीं दिया था बल्कि परम्परागत ग्राम-पंचायतें ही अपने गाँव की सुरक्षा, सफाई, शिक्षा आदि की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखभाल करती थीं। गाँवों के अधिकांश झगड़ों का निपटारा भी ग्राम-पंचायतें ही करती थीं। गाँव का पैतृक चौकीदार गाँव की सुरक्षा करता था। गाँव के पटवारियों का पद भी पैतृक होता था। साधारणतया सरकारी कर्मचारी ग्राम्य-जीवन और शासन में हस्तक्षेप नहीं करते थे और न गाँव में किसी सरकारी कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी। परन्तु आवश्यकता होने पर सरकारी कर्मचारी ग्रामवासियों की सहायता करते थे और शासन में हस्तक्षेप करते थे। गाँव के चौकीदार व पटवारियों पर सुरक्षा और लगान से सम्बन्धित जो उत्तरदायित्व थे, उनकी पूर्ति के लिए सरकारी कर्मचारी उनको बाध्य करते थे। **इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों की अधीनता में गाँव शासन की स्वतन्त्र इकाइयाँ थे।** गाँव का मुख्य अधिकारी ग्राम प्रधान होता था जिसे 'खुत', 'मुकद्दम' या 'चौधरी' कहा जाता था। उसकी सहायता के लिए एक 'पटवारी' होता था। मुगल काल में 'पटवारी' को राजस्व का एक प्रतिशत 'दस्तूरी' के रूप में दिया जाता था। परगनों के अन्तर्गत आने वाले गाँव को 'मावदा' या 'दीह' कहा जाता था। 'मावदा' या 'दीह' के अन्तर्गत आने वाली छोटी-छोटी बस्तियों को 'नागला' कहा जाता था।

[4]

मुगल सैनिक-व्यवस्था (मनसबदारी-व्यवस्था)

मुगलों ने सर्वदा एक बड़ी और शक्तिशाली सेना रखने का प्रयत्न किया। औरंगजेब के समय तक मुगल-सेना अपनी शक्ति को स्थापित रख सकी। जब उत्तरकालीन मुगल बादशाह एक शक्तिशाली सेना रखने में असमर्थ हो गये तब उन्होंने अपनी शक्ति को खो दिया। बाबर को भारत में तोपखाने के सफल प्रयोग का आरम्भ करने का श्रेय है और अकबर को मुगलों की सैनिक-व्यवस्था को सुचारु रूप से संगठित करने का श्रेय है।

मुगल सेना में मुख्यतया निम्नलिखित तीन प्रकार के सैनिक और अधिकारी होते थे :

1. मनसबदार और उनके सैनिक

प्रत्येक सैनिक-अधिकारी को 'मनसब' (पद) प्रदान किया गया था। बादशाह के अधीन राजाओं को भी मनसबदारों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया था। मनसबदारी व्यवस्था मुगल सैनिक व्यवस्था का मूलाधार थी जो मंगोलों की 'दशमलव-पद्धति' पर आधारित थी। प्रत्येक मनसबदार स्वेच्छा से अपने सैनिकों की भर्ती करता था और स्वयं उनके वस्त्र, शस्त्र, शिक्षा, वेतन आदि के लिए उत्तरदायी था। बादशाह उसको उसके मनसब के अनुसार वेतन देता था। अधिकांशतया मनसबदार अपनी सेना में अपनी जाति के सैनिकों को ही भर्ती करते थे।

2. अहदी सैनिक

अहदी सैनिक बादशाह के सैनिक थे। बादशाह की तरफ से इनकी भर्ती, वेतन, शिक्षा, वस्त्र, घोड़े आदि की व्यवस्था की जाती थी। इस कार्य के लिए एक पृथक दीवान और एक पृथक बख्शी था। ये बादशाह के व्यक्तिगत सैनिक थे यद्यपि बादशाह समय-समय पर उन्हें किसी मनसबदार की सेवा में भी नियुक्त कर सकता था। उन्हें बहुत अच्छा वेतन मिलता था। जबकि एक साधारण घुड़सवार को 12 रु. से 15 रु. तक वेतन मिलता था, एक अहदी घुड़सवार को 500 रु. तक वेतन दिये जाने का उल्लेख है। इनकी संख्या निश्चित न थी। अकबर के समय में इनकी संख्या 12 हजार तक हो गयी थी। ये बादशाह के सबसे योग्य और वफादार सैनिक माने जाते थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. दाखिली सैनिक

ये वे सैनिक थे जिनकी भर्ती बादशाह की तरफ से की जाती थी यद्यपि इनको मनसबदारों की सेवा में रखा जाता था।

मुगलों की स्थायी सेना पर्याप्त विशाल थी। ब्लॉकमैन ने अकबर को स्थायी सेना की संख्या को 25 हजार के लगभग बताया है। परन्तु यह अनुमान बहुत गलत है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में शाही सेना की संख्या लगभग तीन लाख थी और अकबर के समय में भी शाही सेना की संख्या लगभग यही रही होगी। इस सेना में अधीनस्थ राजाओं और सूबेदारों की सेना सम्मिलित न थी। यह अनुमान किया जाता है कि यदि शाही सेना, मनसबदारों की सेना तथा सूबेदारों एवं अधीनस्थ राजाओं की सेनाओं को सम्मिलित कर दिया जाता तो उसकी संख्या 44 लाख तक पहुँच सकती थी। इस प्रकार, मुगलों की सेना बहुत बड़ी थी। यह सेना मुख्यतया निम्नलिखित भागों में बँटी हुई थी :

1. घुड़सवार सेना—घुड़सवार सेना मुगलों की सेना का श्रेष्ठतम भाग था। इसमें मुख्यतया दो प्रकार के सैनिक थे—**बरगीर (जिन्हें घोड़े, अस्त्र और शस्त्र राज्य की ओर से मिलते थे) और सिलेदार (जो अपने शस्त्र और घोड़े स्वयं लाते थे)**। घोड़ों की किस्मों के आधार पर भी घुड़सवार-सैनिकों में अन्तर किया जाता था। मुगल-सेना में अधिकांशतया तुर्की और ताजी घोड़े थे यद्यपि अरबी, फारसी, मुजन्ना, याबू और जंगली घोड़ों की अन्य किस्में थीं। इसके अतिरिक्त, **वह घुड़सवार दो-अस्पा कहलाते थे जिनमें से प्रत्येक के पास दो घोड़े होते थे। एक-अस्पा वह घुड़सवार था जिसके पास केवल एक घोड़ा होता था और निम्न-अस्पा वे घुड़सवार थे जिनके दो सैनिकों के पास केवल एक घोड़ा होता था।**

2. पैदल-सेना—अकबर ने पैदल-सेना को काफी महत्व दिया था। मुख्यतया **ये सैनिक दो भागों में बँटे होते थे—बन्दूकची और शमशीरबाज (तलवारबाज)**। ये तीर-कमान, भाला, तलवार, कटार आदि हथियारों का प्रयोग करते थे। इनमें लड़ने वाले सैनिकों के अतिरिक्त दास, सेवक, पानी भरने वाले आदि भी सम्मिलित होते थे।

3. हाथी-सेना—अकबर ने हाथियों की एक बड़ी सेना तैयार की थी। उसके समय में एक हजार शाही हाथी थे। सम्पूर्ण साम्राज्य में अनुमानतया हाथियों की संख्या 50 हजार थी। हाथी युद्ध करने और सामान ले जाने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। युद्ध करने के लिए भी हाथियों को तैयार किया जाता था।

4. तोपखाना—बाबर एक अच्छा तोपखाना लेकर भारत आया था। अकबर ने मुगल तोपखाने को और अधिक शक्तिशाली बनाया। उसके समय में पीतल और लोहे की इतनी बड़ी-बड़ी तोपें तैयार की गयीं जिनकी क्षमता डेढ़ मन का गोला फेंकने की थी। **परन्तु इस क्षेत्र में अकबर का प्रमुख कार्य ऐसी छोटी-छोटी तोपों का निर्माण करना था जो एक हाथी अथवा ऊँट की पीठ पर ले जायी जा सकती थीं।** इन छोटी तोपों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह थी कि इनको परिस्थिति के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र हटाया अथवा ले जाया जा सकता था। अकबर के समय में मुगल तोपखाना निश्चय ही बहुत दृढ़ हो गया था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "तुर्की तोपखाने को छोड़कर अकबर का तोपखाना एशिया में किसी से कम न था क्योंकि अकबर के समय में वह श्रेष्ठता की चरम सीमा पर था।"

5. नौ-सेना—जब तक अकबर ने गुजरात को विजय किया तब तक पुर्तगालियों ने समुद्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और वह किसी भी भारतीय शासक की नौ-सेना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की श्रेष्ठता को स्थापित नहीं होने देना चाहते थे। इसके अतिरिक्त अकबर का साम्राज्य मूलतया स्थल का साम्राज्य था। इस कारण उसके समय में एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण सम्भव न हो सका। उसके पश्चात् भी कोई मुगल बादशाह शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण न कर सका। इस प्रकार मुगलों की नौ-सेना सर्वदा दुर्बल रही और कभी भी यूरोपियन जातियों से समुद्र पर मुकाबला करने की स्थिति में नहीं हो सकी।

परन्तु मुगलों ने नदियों पर जल-बेड़ा अवश्य रखा था। पूर्वी बंगाल में ऐसी नावें भी थीं जिन पर तोपें रहती थीं। बिहार और सिन्ध में भी नावों का बेड़ा रखा जाता था।

मुगलों की सैनिक-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता मनसबदारी-व्यवस्था थी। मनसबदारी व्यवस्था की प्रेरणा 'खलीफा अब्बासईद' द्वारा आरम्भ की गयी तथा चंगेज खाँ एवं तैमूर द्वारा अपनायी गयी व्यवस्था से प्राप्त की थी। मुगल बादशाहों में से अकबर ने इसे अपने शासनकाल के 11वें वर्ष में आरम्भ किया था। अन्य मुगल बादशाहों ने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ इसे स्थापित रखा। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह निष्प्राण हो गयी। अकबर द्वारा आरम्भ की गयी मनसबदारी-व्यवस्था पूर्णतया नवीन नहीं मानी जा सकती यद्यपि उसने उसे उचित संगठन प्रदान किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। सम्भवतया, अकबर ने इसकी प्रेरणा खलीफा अब्बा सईद द्वारा आरम्भ की गयी और चंगेजखाँ तथा तिमूर द्वारा स्वीकार की गयी सैनिक-व्यवस्था से प्राप्त की थी। दिल्ली-सल्तनत के शासकों ने भी इस व्यवस्था को किसी न किसी रूप में अपना रखा था। बलबन के समय में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी और शेरशाह तथा इस्लामशाह ने भी इसी आधार पर अपनी सेनाओं का संगठन किया था। इस प्रकार, **मनसबदारी-व्यवस्था जिसका मुख्य आधार दशमलव प्रणाली के आधार पर अधिकारियों के पदों का विभाजन करना था, भारत के लिए नवीन न थी। परन्तु अकबर ने अपने तरीके से इसे श्रेष्ठ अवश्य बनाया था।**

साधारणतया 'मनसब' का अर्थ पद से था। विभिन्न अंकों की संख्या (जो दस से विभाजित हो जाती थी) अधिकारियों के पदों को निश्चित करने के लिए प्रयोग में लायी गयी थी। **छोटी संख्या का अधिकारी छोटे पद का होता था और बड़ी संख्या का अधिकारी बड़े पद का होता था। इसका प्रयोग अधिकारियों के वेतन और भत्तों को निश्चित करने के लिए भी किया जाता था।** अकबर ने अपने आरम्भिक काल के समय में 10 से लेकर 10,000 और बाद में 12,000 की संख्या तक के मनसब दिये थे। जब सबसे बड़ा मनसब 10,000 का था तब 5,000 से ऊपर की संख्या का मनसब केवल शाहजादों को दिया गया, परन्तु जब सबसे बड़ा मनसब 12,000 की संख्या का हो गया तब सरदारों को 7,000 तक के मनसब दिये गये और ऊपर के मनसब शाहजादों के लिए सुरक्षित रखे गये। अकबर ने अपने सम्पूर्ण मनसबों को 66 (अल्लाह शब्द के अंकों की गणना के योग के अनुसार अर्थात् 1 + 30 + 30 + 5 का योग) श्रेणियों में विभाजित किया था यद्यपि अबुल फजल ने 33 श्रेणियों का ही वर्णन किया है। जहाँगीर और शाहजहाँ ने सरदारों को 8,000 तक के मनसब और शाहजादों को 40,000 तक के मनसब दिये थे। उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के समय में 50,000 तक की संख्या में दिये गये मनसबों का उल्लेख मिलता है। 500 से नीचे के मनसबदार 'मनसबदार' ही कहलाते थे, 500 से 2,500 तक के मनसबदारों को 'अमीर' पुकारा जाता था और 2,500 से ऊपर के मनसबदारों को 'अमीरे आजम' कहा जाता था। सैनिक अधिकारियों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा का पद 'खानेजमा' और उसके पश्चात् 'खानेखाना' का था। यह पद एक समय में एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे। काजियों और सद्रों को इस व्यवस्था में सम्मिलित नहीं किया गया था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनसबदारों को अपने मनसब की संख्या के बराबर की संख्या में सैनिक रखने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था, जैसा कि कुछ इतिहासकारों ने लिखा है। वह उस संख्या से कम संख्या में ही सैनिक रखते थे। 'पादशाहनामा' में यह उल्लेख मिलता है कि शाहजहाँ ने आदेश दिये थे कि जिन मनसबदारों को अपनी नियुक्ति के स्थान पर ही जागीर मिली हुई थी वह अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/2 भाग, जिनको अपनी नियुक्ति के स्थान से बाहर के सूबे में जागीर मिली हुई थी वह अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/4 भाग और जिनको भारत से बाहर भेजा गया था वह अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/5 भाग सैनिक के रूप में अपने यहाँ रखेंगे। मनसबदारों के कार्य उनके मनसब की संख्या और श्रेष्ठता से निश्चित नहीं होते थे। अकबर के समय में राजा मानसिंह का मनसब अबुल फजल के मनसब से बड़ा था यद्यपि अबुल फजल का स्थान बादशाह के मन्त्रियों में था। इस प्रकार बादशाह किसी भी मनसबदार को किसी भी कार्य के लिए नियुक्त कर सकता था। मनसबदारों की नियुक्ति और पदोन्नति का भी कोई निश्चित नियम न था। बादशाह स्वेच्छा से किसी व्यक्ति को कोई भी मनसब प्रदान कर सकता था। मनसबदारों को नकद वेतन दिया जाता था और उन्हें यदि जागीर भी दी गयी थीं तब उनकी जागीरों से लगान वसूल करने का अधिकार केन्द्रीय अधिकारियों को था। मनसबदारों को अपनी जागीरों से प्राप्त हुई आय मिल जाती थी जिसे उसके वेतन में से कम कर दिया जाता था। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह व्यवस्था स्थापित न रह सकी थी। यह भी आधुनिक इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि मनसबदारों को पूरे 12 माह का वेतन मिलता था। यह बात दूसरी थी कि उनको वस्त्र, शस्त्र आदि के रूप में सहायता केन्द्रीय सरकार से मिलती थी तथा उनके व्यय को उनके वेतन से काट लिया जाता था। प्रत्येक मनसबदार अपने वेतन में से अपने सैनिकों का व्यय भी निकालता था। परन्तु फिर भी अच्छा वेतन मिलने के कारण उनको अपने व्यय के लिए पर्याप्त धन बच जाता था।

अकबर ने अपने अन्तिम वर्षों में मनसबदारी-व्यवस्था में 'जात' और 'सवार' के पदों को आरम्भ किया था। प्रत्येक मनसबदार को एक साथ 'जात' और 'सवार' के पद प्रदान किये गये। इन पदों का क्या अर्थ था, इसके बारे में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। ब्लॉकमैन के अनुसार, एक मनसबदार को अपनी 'जात' के पद की संख्या के अनुपात में कुछ सैनिक रखने पड़ते थे और 'सवार' के पद की संख्या के घुड़सवार रखने पड़ते थे। इर्विन के अनुसार, 'सवार' का पद अतिरिक्त प्रतिष्ठा का था और 'जात' का पद अन्य सैनिकों के अतिरिक्त मनसबदार के घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, 'सवार' का पद मनसबदारों के अतिरिक्त 'भत्ते' मात्र को निश्चित करने के लिए दिया गया था जो एक सवार के लिए दो रुपया था अर्थात् 500 सवार-पद के मनसबदार को 1,000 रुपया अतिरिक्त भत्ते के रूप में (वेतन के अतिरिक्त) मिल जाता था। अब्दुल अजीज के अनुसार, 'जात' का पद अन्य सैनिकों की संख्या का द्योतक और 'सवार' का पद घुड़सवारों की संख्या का द्योतक था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ब्लॉकमैन के विचार को सत्यता के सबसे अधिक निकट बताते हैं। उनके अनुसार भी 'जात' का पद हाथी, घोड़े आदि सभी की संख्या का द्योतक था जबकि 'सवार' का पद केवल घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था। अकबर के समय में मनसबदारों को अपने 'सवार' के पद की संख्या के बराबर घुड़सवार रखने के लिए बाध्य किया गया था। परन्तु बाद के मुगल बादशाहों के समय में यह सम्भव नहीं रहा था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जात' और 'सवार' के पद को आरम्भ करने के साथ-साथ अकबर ने अपने 5,000 और उससे कम संख्या के मनसबदारों की श्रेणियों में से प्रत्येक श्रेणी को तीन भागों में बाँट दिया जिससे 5,000 तक की श्रेणी के विभिन्न मनसबदारों की तीन श्रेणियाँ हो गयीं। यदि एक मनसबदार को समान संख्या का 'सवार' और 'जात' का पद दिया जाता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में प्रथम श्रेणी का मनसबदार माना जाता था। यथा—यदि एक मनसबदार को 5,000 जात और 5,000 सवार का पद प्राप्त होता था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में प्रथम श्रेणी का मनसबदार माना जाता था। यदि एक मनसबदार को 'सवार' का पद अपने 'जात' के पद से कम संख्या का, परन्तु आधे से कम नहीं, का प्राप्त होता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। जैसे—यदि एक मनसबदार को 5,000 जात और 2,500 सवार का पद प्राप्त था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। यदि एक मनसबदार को 'सवार' का पद अपने 'जात' के पद की संख्या के आधे से कम का प्राप्त होता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में तृतीय श्रेणी का माना जाता था। जैसे—यदि एक मनसबदार को 5,000 जात और 2,000 सवार का पद प्राप्त था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था।

जहाँगीर ने अपने समय में 'दो-अस्पा-सिह-अस्पा' नामक एक नवीन पद का सृजन किया। इस पद को दिये जाने वाले अधिकारी को अपने पास एक निश्चित संख्या में घुड़सवार रखने होते थे। सर्वप्रथम यह पद महाबतखाँ को दिया गया था।

अकबर ने अपने समय में सैनिकों की हुलिया लिखे जाने तथा घोड़े एवं हाथियों को दागने की प्रथा को आरम्भ किया था। 'दाग-महाली' नाम का एक पृथक विभाग घोड़ों और हाथियों को दागने के लिए खोला गया था। प्रत्येक घोड़े पर एक शाही निशान और एक मनसबदार का निशान दागा जाता था। प्रत्येक मनसबदार का निशान अलग-अलग कर दिया गया था जिससे वे एक दूसरे के घोड़ों में तब्दील न कर सकें। प्रत्येक मनसबदार की सेना और घोड़ों का समय-समय पर निरीक्षण किया जाता था जो प्रत्येक वर्ष अथवा प्रत्येक तीसरे वर्ष होता था।

मुगलों की सैनिक-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता कैम्प की व्यवस्था थी। मुगल कैम्प (Camp) बहुत विशाल होते थे, मुख्यतया जबकि मुगल बादशाह भी सेना के साथ जाया करता था। यह 5 मील से लेकर 20 मील तक के दायरे में फैला हुआ होता था और एक सम्पूर्ण शहर के समान होता था। उसमें एक अथवा दो लाख व्यक्तियों के ठहरने की व्यवस्था की जाती थी और फिर भी वहाँ पूर्ण व्यवस्था और शान्ति रहती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसे केवल चार घण्टों में ही लगा दिया जाता था।

मुगलों की इस सैनिक-व्यवस्था में विभिन्न दोष बताये गये हैं। मनसबदारों के द्वारा सैनिकों की भर्ती, प्रत्येक मनसबदारों द्वारा अपनी जाति अथवा कबीले के आधार पर सैनिकों की भर्ती करना, मनसबदारों के सैनिकों का वेतन मनसबदारों के द्वारा दिया जाना आदि ऐसे कारण थे जिनसे सैनिक अपने मनसबदारों के अधिक निकट थे और उन्हीं के प्रति वफादार होते थे। मनसबदारी-व्यवस्था में सैनिकों के वस्त्र, शस्त्र, शिक्षा आदि में कोई समता न थी और न ही मुगल बादशाहों ने सैनिकों की सैन्य-शिक्षा का कोई प्रबन्ध किया था। सैनिकों से अपने युद्ध-कौशल को जानने और बढ़ाने की आशा स्वयं के प्रयत्नों द्वारा की जाती थी। मुगलों ने पैदल-सैनिकों पर अधिक बल नहीं दिया। इसी प्रकार, मुगलों की नौ-सेना थी ही नहीं और उनका तोपखाना भी समय के अनुसार प्रगति नहीं कर सका था। कन्धार को जीतने के प्रयत्नों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निरन्तर विफल होना इस बात का प्रमाण था। अकबर ने अपने नियन्त्रण और परिश्रम से एक शक्तिशाली सेना के निर्माण में अवश्य सफलता पायी थी परन्तु बाद के मुगल बादशाह उसमें अधिक परिवर्तन न कर सके। अकबर के समय से ही मुगल-सेना भारत में अजेय समझी जाने लगी थी। इस कारण पहले बादशाहों और बाद में मनसबदारों ने अपनी स्त्रियों, रखैलों आदि को युद्ध में अपने साथ ले जाना आरम्भ कर दिया। मुगल कैम्प में बहुत बड़ी संख्या में वेश्याएँ और दास-दासियाँ भी जाने लगीं। इन कारणों से मुगल-सेना का चारित्रिक पतन हुआ, उसकी गतिशीलता नष्ट हो गयी और स्त्रियाँ, दास-दासियाँ आदि युद्ध के अवसर पर अतिरिक्त भार बन गये। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में इसके भयंकर दुष्परिणाम हुए जिसके कारण मुगल बादशाह आन्तरिक शान्ति स्थापित रखने और विदेशी आक्रमण-कारियों का मुकाबला करने में सर्वथा असफल रहे।

परन्तु अकबर द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी-व्यवस्था पर्याप्त लाभदायक रही थी। अकबर के समय में मुगल-सेना 'निस्सन्देह' अजेय हो गयी थी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है, "वह बाबर की सेना से भी, जिसे कुशल और सफल बताया गया था, श्रेष्ठ थी और टर्की के सुल्तान सुलेमान की गौरवपूर्ण सेना से जो यूरोप में अपनी ढंग की सेना में, निस्सन्देह, श्रेष्ठ स्थान रखती थी, कठिनाई से ही निम्न मानी जा सकती थी।" जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के समय तक भी मुगल-सेना बहुत श्रेष्ठ थी यद्यपि इन बादशाहों ने समय के अनुसार उसकी कुशलता और शक्ति में वृद्धि करने में सफलता नहीं पायी। मराठों के विरुद्ध औरंगजेब इसी कारण असफल हुआ। **उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मनसबदारी-व्यवस्था में दोष बढ़ते गये और मुगल-सेना की शक्ति क्षीण होती गयी जो मुगलों के पतन का एक मुख्य कारण बना।**

[5]

मुगलों की वित्त और लगान-व्यवस्था

मुगल बादशाहों की आय के मुख्य साधन युद्ध में लूटी गयी सम्पत्ति का पाँचवाँ भाग, व्यापारिक-कर, टकसाल, अधीनस्थ राजाओं एवं मनसबदारों से समय-समय पर प्राप्त होने वाले उपहार, लावारिस सम्पत्ति, नमक-कर, राज्य के द्वारा चलाये जाने वाले उद्योगों से आय और लगान (भूमि-कर) था। स्थानीय कर विभिन्न थे जिनको 'अव्वाब' पुकारते थे और स्थानीय शासन की आय का साधन थे। बाबर और हुमायूँ ने हिन्दुओं से 'जजिया' और मुसलमानों से 'जकात' नामक धार्मिक-कर लिये। अकबर ने इन्हें समाप्त कर दिया। औरंगजेब के समय में ये धार्मिक-कर पुनः लगाये गये और उसके पश्चात् सैयद-भाइयों के प्रभुत्व के समय को छोड़कर अधिकांश मुगल बादशाहों ने इन करों को लेने का प्रयत्न किया। बादशाह के व्यय के मुख्य साधन सेना, महल, हरम और बादशाह की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा शासन का व्यय थे। आय के साधनों में लगान अथवा भूमि-कर सबसे प्रमुख था।

लगान-व्यवस्था

राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन लगान (भूमि-कर) था। बाबर के समय में सम्पूर्ण भूमि को जागीरों में बाँट दिया गया। हुमायूँ ने अपने समय में भूमि-सुधार के लिए कोई कार्य नहीं किया। शेरशाह ने अपने समय में एक सुव्यवस्थित लगान-व्यवस्था का प्रबन्ध किया परन्तु वह व्यवस्था इस्लामशाह की मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो गयी और जब हुमायूँ ने दिल्ली के साम्राज्य को दुबारा प्राप्त किया तो उसने परम्परागत जागीरदारी-व्यवस्था को पुनः स्थापित कर दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकबर प्रथम मुगल बादशाह था जिसने लगान-व्यवस्था को सुचारु रूप से स्थापित किया और मध्य-युग की श्रेष्ठतम लगान-पद्धति का निर्माण किया। उसने विभिन्न लगान-अधिकारियों तथा अर्थ-मन्त्रियों की नियुक्ति करके विभिन्न अन्वेषण किये। अन्त में, उसने टोडरमल की सहायता से जिस लगान-व्यवस्था को स्थापित किया, उसे दहसाला-प्रबन्ध (जाब्ता) पुकारा गया और वह मुगल-लगान-व्यवस्था का मूल आधार बनी तथा सफल हुई।

1560 ई. में अब्दुल मजीद आसफखाँ को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसने सरदारों को प्रसन्न करने के लिए जागीरों की आय को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। परन्तु चूँकि वह आय यथार्थ न थी अतः उससे राज्य, जागीरदार एवं प्रजा में से किसी को भी कोई लाभ न था। जागीरों अथवा राज्य की आय को गलत दिखाने से सभी को हानि थी। 1563 ई. में ऐतमादखाँ को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसने पाया कि झूठी आय लिखे जाने के अतिरिक्त खालसा (शाही) भूमि और जागीरों की भूमि में स्पष्ट सीमाओं का विभाजन न होना और मुद्रा-व्यवस्था का दोषी होना राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहे थे। उसने खालसा-भूमि और जागीरों की भूमि की सीमाओं का विभाजन किया। उसने आदेश दिया कि प्रत्येक सिक्के का मूल्य उतना ही माना जाय जो उस पर अंकित है तथा अर्थ-विभाग और खजाने की व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। 1564 ई. में मुजफ्फरखाँ को राज्य का दीवान (अर्थ-मन्त्री) नियुक्त किया गया। उसने राज्य के लगान की आय का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए दस कानूनगो नियुक्त किये और उन्हें स्थानीय कानूनगोओं के कागजों के आधार पर ठीक लगान का पता लगाने के आदेश दिये गये। इनके आधार पर लगान की आय का जो लेखा-जोखा तैयार किया गया उसे 'जमाई हल हासिल' पुकारा गया। उसके द्वारा तैयार किया गया यह लेखा-जोखा तो पूर्णतया सही नहीं बन सका परन्तु उसने एक लाभदायक कार्य अवश्य किया। अभी तक लगान को नकदी (सिक्कों) में वसूल करने के लिए सम्पूर्ण राज्य में गल्ले की समान कीमतें निश्चित होती थीं। अब यह निश्चित किया गया कि विभिन्न स्थानों पर गल्ले की जो कीमतें होंगी उन्हीं के आधार पर किसान सिक्कों के रूप में लगान देंगे। 1568 ई. में सिहाबुद्दीन अहमदखाँ को खालसा-भूमि का दीवान नियुक्त किया गया। उसने पाया कि प्रति वर्ष पैदावार और गल्ले की कीमतों का पता लगाकर लगान निश्चित करने की व्यवस्था (जाब्ता-हरसाला) दोषपूर्ण एवं महँगी थी। इस कारण उसने इसे समाप्त कर दिया और 'नस्क' अथवा 'कनकूत' व्यवस्था को आरम्भ किया जिसके अनुसार पैदावार का अन्दाजा करके जमींदारों अथवा भूमिपतियों के माध्यम से लगान वसूल करने की व्यवस्था की गयी। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक न रह सकी। 1570 ई. में मुजफ्फरखाँ को पुनः अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया और उसने 'जाब्ता-हरसाला' की व्यवस्था को पुनः आरम्भ कर दिया। अब प्रत्येक भूमि की पैमाइश करने के अतिरिक्त उसकी पैदावार का सही पता लगाने की व्यवस्था भी की गयी और विभिन्न स्थानों पर गल्ले की विभिन्न कीमतों के आधार पर सिक्कों के रूप में लगान लेने की व्यवस्था की गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जागीरों की भूमि भी ले ली गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक भूमि का लेखा-जोखा और विभिन्न भागों में गल्ले की कीमतों का जो हिसाब अगले दस वर्षों तक तैयार किया गया, उसी के आधार पर 1580 ई. में 'दहसाला' लगान-व्यवस्था को लागू किया गया।

1580 ई. में दहसाला-प्रबन्ध को आरम्भ किया गया और उसे लगान-व्यवस्था का स्थायी स्वरूप दिया गया। उस समय राजा टोडरमल अर्थ-मन्त्री था और उसका मुख्य सहायक ख्वाजा शाह मंसूर था। इस 'दहसाला-प्रबन्ध' के विषय में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रकट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये हैं। परन्तु साधारणतया इस व्यवस्था की मूल बातों के बारे में सहमत होना सम्भव है जो निम्नलिखित मानी जाती हैं :

1. भूमि की नाप अभी तक रस्सी से की जाती थी जो मौसम के प्रभाव से बढ़ या घट जाती थी। अब रस्सी का प्रयोग समाप्त करके उसके स्थान पर बाँस की जरीब का प्रयोग शुरू हुआ जिसके टुकड़े लोहे की पत्तियों से जुड़े होते थे।
2. क्षेत्रफल की इकाई बीघा मानी गयी जो 60 गज × 60 गज = 3,600 वर्ग गज होता था।
3. आरम्भ में नापने के लिए 'गज-सिकन्दरी' का प्रयोग होता था परन्तु 1586-87 ई. से 'गज-इलाही' का प्रयोग आरम्भ किया गया।
4. कृषि-योग्य भूमि को चार भागों में बाँटा गया—(अ) पोलज भूमि सबसे श्रेष्ठ भूमि थी, जिस पर प्रत्येक वर्ष खेती होती थी ; (ब) परोती भूमि, जिसे अपनी उत्पादन-शक्ति को पुनः संचित करने के लिए एक या दो वर्ष के लिए खाली छोड़ दिया जाता था ; (स) छच्छर भूमि, जिस पर तीन या चार वर्ष खेती नहीं की जाती थी ; (द) बंजर भूमि, जिस पर पाँच या उससे भी अधिक वर्षों तक खेती नहीं की जाती थी। इसके अतिरिक्त, पहली तीन प्रकार की भूमि को पैदावार के आधार पर पुनः तीन-तीन श्रेणियों में बाँटा गया था।
5. प्रत्येक प्रकार की भूमि की पिछले दस वर्षों की पैदावार का पता लगाकर उस भूमि की औसत पैदावार (average produce) का पता लगाया जाता था और उस औसत पैदावार को लगान निश्चित करने का आधार मानकर अगले दस वर्षों के लिए किसानों से लगान निश्चित कर दिया जाता था।
6. राज्य का हिस्सा अथवा लगान पैदावार का 1/3 भाग होता था।
7. किसानों से लगान सिक्कों के रूप में लिया जाता था और इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों में गल्ले की अलग-अलग कीमतें निश्चित की जाती थीं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस कार्य के लिए सम्पूर्ण राज्य को दस्तूरों (आर्थिक इकाइयाँ जो शासन-प्रबन्ध की इकाई से पृथक थीं) में बाँटा गया था। प्रत्येक दस्तूर में पिछले दस वर्षों की कीमतों का पता लगाकर प्रत्येक गल्ले की औसत कीमत निकाल ली जाती थी और वह औसत कीमत उस गल्ले की, उस दस्तूर में, अगले दस वर्षों के लिए मान्य कीमत थी जिसके आधार पर किसान अपना लगान सिक्कों के रूप में राज्य को देता था।"
8. सरकारी कर्मचारी भूमि की किस्म, उसका क्षेत्रफल, क्या गल्ला पैदा किया गया, कितनी पैदावार हुई, गल्ले की क्या कीमतें रहीं आदि का हिसाब तो प्रत्येक वर्ष तैयार करते थे क्योंकि उसी के आधार पर भविष्य का लगान-प्रबन्ध निर्भर करता था परन्तु अब किसानों से प्रत्येक वर्ष लगान निश्चित करने और प्रत्येक वर्ष गल्ले की कीमतें निश्चित करने की आवश्यकता नहीं रही।
9. जागीरदारी भूमि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित की गयी थी। जो भूमि जागीरों के रूप में दी गयी थी उसकी लगान-व्यवस्था का प्रबन्ध भी केन्द्रीय अधिकारी करते थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. दान-दक्षिणा में दी गयी 500 बीघा अथवा उससे अधिक भूमि के मालिकों को बादशाह के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दी गयी। जो बादशाह के सम्मुख उपस्थित नहीं हुए अथवा जिनके अधिकार को वैध नहीं माना गया, उनसे उनकी भूमि छीन ली गयी। अब ऐसी भूमि को देने अथवा समाप्त करने का दायित्व बादशाह ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया और सूबों के सद्रों की सहायता से इस कार्य को करना आरम्भ किया।
11. अकबर ने किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया था और राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। इस प्रकार, शेरशाह की भाँति उसकी व्यवस्था भी रैयतवाड़ी थी।
12. लगान के लिए किसानों को 'पट्टे' दिये जाते थे जिसमें उनकी भूमि का विवरण (किस्म, क्षेत्रफल आदि) होता था और उन्हें कितना लगान देना है यह भी लिखा होता था। किसानों से उनकी स्वीकृति (कबूलियात) भी ली जाती थी।
13. किसानों को भूमि में सुधार करने हेतु प्रोत्साहन दिया जाता था, समय-समय पर उन्हें सहायता दी जाती थी और आपत्ति-काल में लगान को कम अथवा माफ भी कर दिया जाता था।
14. 'दहसाला-प्रबन्ध' सम्पूर्ण राज्य में लागू नहीं किया गया था बल्कि लगान को निश्चित करने के लिए अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रणालियों का प्रयोग किया गया था। गल्ला-बख्शी अथवा बँटाई (फसल का किसान और राज्य में बँटवारा करना) का तरीका सिन्ध और काबुल के कुछ भागों तथा कन्धार और कश्मीर में लागू था। नस्क अथवा कनकूत (बिना पैमाइश के पैदावार का अन्दाजा मात्र करके लगान निश्चित करना) का तरीका बंगाल, गुजरात और काठियावाड़ में लागू था। जब्ती अथवा नकदी (पैमाइश और गल्ले की किस्म के आधार पर लगान तय करना) का तरीका बिहार, इलाहाबाद, मालवा, अवध, आगरा, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान में लागू था और यही वे सूबे थे जहाँ 'दहसाला-व्यवस्था' लागू की गयी थी। सभी प्रान्तों में इस व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव भी नहीं था। इसी कारण विभिन्न स्थानों पर लगान निश्चित करने के उपर्युक्त विभिन्न तरीके प्रयोग में लाये गये थे।
15. पटवारी और मुकद्दम (इनको पटेल या देशमुख भी पुकारते थे) सरकारी अधिकारी न थे परन्तु राज्य इनको स्वीकार करता था, इनकी सहायता से लगान वसूल करता था, जमीन का लेखा-जोखा और हिसाब रखता था तथा लगान में से कुछ हिस्सा इनको देता था। अकबर ने बाद के समय में कानूनगोओं को सरकारी कर्मचारी मानकर उन्हें वेतन देना आरम्भ कर दिया था। कानूनगोओं से ऊपर आमिल और उनके ऊपर अमलगुजार सरकारी कर्मचारी थे। अमलगुजार सूबों के दीवानों के अधीन थे और सूबों के दीवान केन्द्रीय दीवान अथवा अर्थ-मन्त्री के अधीन थे। अकबर ने अपनी 'दहसाला-व्यवस्था' को लागू करने के लिए एक जिला-अधिकारी 'करोरी' की भी नियुक्ति की थी।
16. अकबर ने जजिया और जकात जैसे धार्मिक-करों को हटाने के अतिरिक्त किसानों की सुविधा के लिए पेड़ों व पशुओं के बेचने अथवा खरीदने, नमक, बाजार, मकान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेचने और खरीदने, निवास-स्थान, चमड़ा, कम्बल आदि विभिन्न वस्तुओं से कर हटा दिया था। अन्य विभिन्न स्थानीय करों (अव्वाबों) को भी अकबर ने हटाने का प्रयत्न किया था तथा सरकारी कर्मचारियों को किसानों से नजराने लेने से रोका था। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर इसमें पूर्णतया सफल नहीं हो सका था परन्तु फिर भी अनेक करों को समाप्त करने से किसानों को लाभ अवश्य हुआ था।

उपर्युक्त आधारों पर अकबर की लगान-व्यवस्था निश्चित की गयी थी। परन्तु अकबर की 'दहसाला-व्यवस्था' के बरि में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। मोरलैण्ड ने दस वर्ष की औसत पैदावार का कोई जिक्र नहीं किया है। वह केवल औसत कीमत का जिक्र करता है जिसके आधार पर किसान सिक्कों के रूप में लगान जमा करते थे। वी. ए. स्मिथ ने औसत पैदावार का जिक्र किया है जिसके आधार पर किसानों से अगले दस वर्षों के लिए लगान निश्चित किया गया था। परन्तु उसने औसत कीमत का कोई जिक्र नहीं किया है। डॉ. एस. आर. शर्मा का कहना है कि अकबर ने शेरशाह के समय में निश्चित किये हुए लगान को ही सिक्कों के रूप में लेने की व्यवस्था की थी। वह औसत पैदावार और दसवर्षीय प्रबन्ध का जिक्र नहीं करते। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने औसत पैदावार और औसत कीमत के प्रयोग को तो स्वीकार किया है परन्तु वह यह स्वीकार नहीं करते कि यह व्यवस्था दस वर्षों के लिए थी या स्थायी थी यद्यपि इसका व्यावहारिक प्रयोग अकबर के सम्पूर्ण समय में हुआ था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव औसत पैदावार और औसत कीमत के व्यावहारिक प्रयोग को स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि इसका प्रयोग आगामी दस वर्षों के लिए ही किया जाता था और दस वर्ष के पश्चात् औसत पैदावार और औसत कीमतें पुनः निश्चित की जाती थीं अर्थात् व्यवस्था दसवर्षीय भी थी।

अकबर की उपर्युक्त लगान-व्यवस्था में मुख्यतया दो दोष बताये जाते हैं। प्रथम, लगान-कर्मचारी भ्रष्ट थे और अकबर उनके अत्याचारों से किसानों को बचाने में समर्थ न था। द्वितीय, किसानों से लगान अधिक मात्रा में लिया गया था। परन्तु इन दोनों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन आरोपों को कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने अकबर की लगान-व्यवस्था पर इसलिए लगाया क्योंकि वे अकबर की व्यवस्था को अंग्रेजी काल की लगान-व्यवस्था से श्रेष्ठ मानने के लिए तैयार नहीं हैं। परन्तु अधिकांश भारतीय इतिहासकार अकबर की लगान-व्यवस्था को श्रेष्ठ और सफल स्वीकार करते हैं। भ्रष्टाचार थोड़ा-बहुत तो प्रत्येक समय में रहता है, इसे पूर्णतया समाप्त करना असम्भव है। जहाँ तक लगान के अधिक होने का प्रश्न है, वह भी गलत है। पैदावार का 1/3 भाग मध्य-युग में न्यूनतम लगान माना गया था। शेरशाह जो किसानों की भलाई के लिए बहुत प्रयत्नशील था, पैदावार के 1/3 भाग के अतिरिक्त किसानों से जरीबाना, महासीलाना और सुरक्षा-कर भी लेता था। अकबर ने पैदावार के 1/3 भाग के अतिरिक्त अन्य सभी करों से किसानों को मुक्त कर दिया था। इस कारण किसानों पर कर का भार अधिक न था बल्कि इस व्यवस्था से किसान प्रसन्न और सुखी थे। उनका लगान निश्चित था। पैदावार अथवा गल्ले की कीमत बढ़ने से जो अतिरिक्त लाभ होता था वह उन्हीं को मिलता था क्योंकि राज्य लगान में वृद्धि नहीं करता था। दूसरी तरफ किसानों को यह भी सुविधा थी कि उनकी फसल नष्ट होने या उनकी हानि होने पर राज्य उनके लगान को माफ या कम करने की सुविधा प्रदान करता है। **अकबर की व्यवस्था में किसानों से राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क था, यहाँ तक कि जमींदारों की भूमि की देखभाल भी शाही कर्मचारियों के हाथ में थी। इससे जागीरदार अथवा जमींदार जैसे शोषण करने वाले वर्ग अकबर के समय में नहीं थे। इस कारण अकबर की लगान-व्यवस्था पूर्णतया सफल रही।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे किसान सम्पन्न हुए, कृषि में उन्नति हुई और व्यापार तथा उद्योग पनप सके। इससे राज्य को भी लाभ हुआ और निरन्तर युद्धों में लगे रहते हुए भी अकबर का खजाना धन से परिपूर्ण रहा। इतिहासकार स्मिथ तक ने जिसे यह शंका थी कि अकबर के सभी नियम ठीक प्रकार से लागू नहीं किये जाते थे, इस लगान-व्यवस्था की प्रशंसा की है। इसी प्रकार इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "मध्य-युग के इतिहास में आज तक किसी व्यक्ति का नाम इतना ख्यातिपूर्ण नहीं माना गया है जितना टोडरमल का, और इसका कारण यह है कि अकबर के सुधारों में से कोई भी सुधार इतनी अधिक मात्रा में प्रजा के हितों की पूर्ति करने वाला न था जितनी इस महान् अर्थशास्त्री द्वारा की गयी लगान की पुनर्व्यवस्था।"

जहाँगीर के समय में लगान-व्यवस्था का मूल स्वरूप अकबर के समय की भाँति ही रहा परन्तु उसका प्रबन्ध शिथिल हो गया। जहाँगीर के समय में जागीरदारों के अधिकारों में वृद्धि हो गयी, किसानों की स्थिति खराब हुई तथा राज्य की आय में कमी हुई। **शाहजहाँ के समय में इस व्यवस्था में अधिक गिरावट आ गयी। डॉ. सक्सेना के अनुसार राज्य की 70% भूमि जागीरदारों को दे दी गयी और राज्य का सम्पर्क जागीरदारी भूमि के किसानों से न रहा।** शाहजहाँ ने किसानों के कर-भार में वृद्धि की। उसके समय में लगान पैदावार का 33% से 50% तक था अर्थात् बहुत से स्थानों पर पैदावार का आधा भाग लगान के रूप में लिया जाने लगा था। इसके अतिरिक्त, किसानों को अपनी सम्पूर्ण भूमि पर लगान देना पड़ता था चाहे वे उस भूमि पर खेती कर रहे हों अथवा नहीं। **शाहजहाँ के समय में लगान वसूल करने के लिए भूमि को ठेकेदारों को दिया जाना भी आरम्भ हुआ।** इससे शासन के व्यय में तो कमी हुई परन्तु ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक लगान एकत्र करने का प्रयत्न करते थे जिससे किसानों की स्थिति खराब होना स्वाभाविक था। निस्सन्देह, शाहजहाँ परिश्रमी था और स्वयं लगान-व्यवस्था की देखभाल करता था परन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों में किसानों की स्थिति अच्छी नहीं हो सकती थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है। **औरंगजेब के समय में लगान-व्यवस्था में न केवल वे समस्त दोष रहे जो शाहजहाँ के समय में उत्पन्न हुए थे बल्कि राज्य की आर्थिक कठिनाइयों के कारण किसानों पर अधिक दबाव डाला गया।** जागीरदारी व्यवस्था में ठेके पर भूमि का दिया जाना, 2/3 से लेकर 1/2 तक और आवश्यक होने पर उससे भी अधिक मात्रा में लगान का लिया जाना, सम्पूर्ण भूमि से लगान लिया जाना चाहे उस पर खेती की गयी हो अथवा नहीं आदि सभी पूर्ववत् रहे। किसानों से लगान वसूल करने के लिए कठोरता भी की गयी जिससे किसानों की स्थिति खराब हो गयी।

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में तो यह व्यवस्था पूर्णतया समाप्त हो गयी और भूमि को ठेकेदारों को देने के अतिरिक्त और कोई कार्य शेष न रहा। राज्य इन ठेकेदारों से, जो अधिकांशतया पैतृक भी बन गये थे, अधिक से अधिक धन माँगता था और ये ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे। इससे किसानों की स्थिति खराब हो गयी और राज्य का आर्थिक ढाँचा नष्ट हो गया। उत्तरकालीन मुगल बादशाह न तो कभी अपनी सेना को ठीक से वेतन दे सके, न शासन को ठीक कर सके और न अपने किसानों की स्थिति को ठीक करके उनकी वफादारी प्राप्त कर सके।

[6]

मुगलों की मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था

बाबर और हुमायूँ ने पहले समय से चली आ रही मुद्रा-प्रणाली को ही जारी रखा और उसी के आधार पर अपने नाम के सिक्के चलाये। बाबर ने चाँदी के सिक्कों पर एक तरफ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कलमा' और चारों 'खलीफाओं' का नाम तथा दूसरी ओर 'बाबर का नाम' एवं 'उपाधि' अंकित थी। उसने काबुल में चाँदी का 'शाहरुख' तथा कन्धार में 'बाबरी' नाम का सिक्का चलाया। अकबर ने मुगलों की टकसाल और मुद्रा-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसने 1577 ई. में दिल्ली में एक 'शाही टकसाल' बनवायी और जिसका प्रधान 'ख्वाजा अब्दुस्समद' को नियुक्त किया। अकबर ने अपने समय में सोना, चाँदी और ताँबे के विभिन्न तोल और मूल्यों के सिक्के चलाये और उनका पारस्परिक अनुपात निश्चित कर दिया। ये सिक्के अच्छी धातु और ठीक तोल के होते थे। इनमें से अधिकांश गोल थे यद्यपि कुछ चौकोर भी बनाये गये थे। बादशाह का नाम, टकसाल का नाम और जारी किये गये वर्ष के अतिरिक्त उनमें से अधिकांश पर कुरान की आयतें अंकित थीं। अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भ में 'मुहर' नामक एक सोने का सिक्का चलाया जो मुगलकाल का सबसे अधिक प्रचलित सिक्का था। 'आइने-अकबरी' के अनुसार 1 'मुहर' नौ रुपये के बराबर होता था। अकबर ने सिक्कों पर अपनी आकृति अंकित नहीं करायी थी। इन सिक्कों को सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाया गया था और इनकी ढ़लाई उत्तम प्रकार की थी। अकबर का सबसे बड़ा सोने का सिक्का 'शंसब' था जो तोल में 101 तोले के करीब था और जिसका प्रयोग बड़े लेन-देनों में होता था। सोने का अधिक चलने वाला सिक्का 'इलाही' कहलाता था जिसका मूल्य दस रुपये के बराबर था। इनके अतिरिक्त सोने के अन्य सिक्के भी थे जिनकी कुल संख्या 26 थी। चाँदी का सिक्का रुपया कहलाता था जिसका वजन 172.5 ग्रेन था। चौकोर रुपये को 'जलाली' पुकारा गया था यद्यपि वह बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। रुपये के 1/2, 1/4, 1/8, 1/10 और 1/20 भाग के सिक्के भी चलाये गये थे। ताँबे का सिक्का 'दाम' कहलाता था जिसकी कीमत रुपये का 40वाँ भाग थी। ताँबे का सबसे छोटा सिक्का 'जीतल' कहलाता था और एक 'दाम' के मूल्य में 25 जीतल माने जाते थे। अकबर ने जो मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था की थी वह बहुत श्रेष्ठ मानी गयी है। उसे अंग्रेजों के समय की मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था का आधार माना जा सकता है। सभी इतिहासकारों ने इस क्षेत्र में अकबर की सफलता की प्रशंसा की है। इतिहासकार स्मिथ ने उसकी मुद्रा-व्यवस्था और सिक्कों को तत्कालीन सभी यूरोपीय शासकों की व्यवस्था और सिक्कों से श्रेष्ठ बताया।

जहाँगीर ने अपने सिक्कों पर अपनी आकृति अंकित करायी थी और उसके कुछ सिक्कों पर उसके साथ नूरजहाँ का नाम भी अंकित था। जहाँगीर के कुछ सिक्कों पर उसकी आकृति हाथ में शराब का प्याला लिये हुए अंकित थी। अन्य सभी प्रकार से उसके समय में अकबर द्वारा आरम्भ की गयी मुद्रा-व्यवस्था ही चलती रही। उसने 'निसार' नामक एक सिक्का चलाया, जो रुपये के चौथाई मूल्य के बराबर होता था। शाहजहाँ के समय में भी मुद्रा-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। उसने 'दाम' और 'रुपये' के बीच 'आना' नामक सिक्के का प्रचलन करवाया। औरंगजेब के समय में रुपये के मूल्य में कुछ वृद्धि की गयी परन्तु वह अन्तर बहुत साधारण था। मुगलकाल में सर्वाधिक रुपये की ढुलाई औरंगजेब के काल में हुई। औरंगजेब ने राज्यारोहण के बाद सिक्कों पर 'कलमा' अंकन की प्रथा को बन्द करवा दिया। उसने अपने अन्तिम काल में ढाले गये कुछ सिक्कों पर 'मीर अब्दुल बाकी शाहबई' द्वारा रचित एक पद्य अंकित करवाया। बाद के समय में भी इस व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। इस प्रकार, मुगलों की मुद्रा-व्यवस्था अच्छी मानी जा सकती है।

मुगलों की मुद्राओं का प्रचलन राज्य द्वारा नियन्त्रित टकसालों के माध्यम से किया जाता था। ये टकसालें साम्राज्य के विभिन्न भागों में थीं। अबुल फजल के अनुसार 1595 ई. में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोने के सिक्के ढालने के लिए चार, चाँदी के सिक्के ढालने के लिए चौदह और ताँबे के सिक्के ढालने के लिए ब्यालीस टकसालें साम्राज्य में थीं। औरंगजेब के समय तक टकसालों की संख्या में और वृद्धि हो गयी। इरफान हबीब के अनुसार मुगल बादशाहों ने पूरे सौ साल तक रुपये के वजन को समान बनाये रखा। इसके अतिरिक्त, मुगल-शासन की एक विशेषता यह भी थी कि यद्यपि टकसालें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में थीं तब भी ढलाई के मामले में वे स्वतन्त्र थीं अर्थात् कोई भी व्यक्ति जिस धातु के सिक्के स्वयं ढलवाना चाहता था वह उस धातु को टकसाल में ले जाकर उस धातु के सिक्के ढलवा सकता था यद्यपि उसे इस प्रकार ढलवाये गये सिक्कों की कीमत का लगभग पाँच या छः प्रतिशत टकसाल को ढलाई के पारिश्रमिक के रूप में देना होता था। टकसाल के अधिकारी को 'दरोगा' कहा जाता था।

[7]
मुगलों की न्याय-व्यवस्था

यद्यपि न्याय करना मुगल बादशाह अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे परन्तु उनकी न्याय-व्यवस्था उनके शासन का अत्यन्त दुर्बल भाग था। मुगल बादशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और प्रायः सभी बादशाह प्रत्येक बुधवार की शाम को खुले दरबार में बैठकर न्याय करते थे। बादशाह की अदालत में अन्य अदालतों के मुकदमों को अन्तिम निर्णय के लिए ले जाया जा सकता था और वहाँ मुकदमे आरम्भ भी किये जा सकते थे। प्रायः सभी मुगल बादशाह निष्पक्ष रहकर न्याय करते थे यद्यपि अकबर के अतिरिक्त सभी धार्मिक मतभेद से प्रभावित होते थे। बादशाह के अतिरिक्त राजधानी में प्रधान काजी, सूबों की राजधानी में सूबों के काजी और बड़े-बड़े नगरों तथा कस्बों में भी काजियों की नियुक्ति की जाती थी। काजियों की अदालतों में अधिकांशतया धर्म सम्बन्धी या सम्पत्ति के मुकदमे आया करते थे। कहीं-कहीं पर काजी की सहायता के लिए मुफ्ती (कुरान के कानून की व्याख्या करने वाले) भी होते थे। इनके अतिरिक्त सूबेदार, फ़ौजदार, शिकदार, कोतवाल आदि शासन-अधिकारी फौजदारी के मुकदमों का तथा दीवान, अमलगुजार, आमिल आदि शासन-अधिकारी लगान सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय करते थे। अकबर ने अपने समय में हिन्दू पण्डितों को भी हिन्दुओं के मुकदमों का निर्णय करने के लिए नियुक्त किया था। गाँवों में मुकदमों का निर्णय ग्राम-पंचायतों के द्वारा किया जाता था। इस प्रकार मुगलों के समय में विभिन्न प्रकार की अदालतें थीं। परन्तु इन अदालतों के अधिकार-क्षेत्र और पारस्परिक सम्बन्ध न तो निश्चित थे और न स्पष्ट। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मुगल बादशाहों ने न्याय-व्यवस्था को एक सूत्र में बाँधने का कोई प्रयत्न नहीं किया था।

अकबर के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाहों ने इस्लामी कानून-व्यवस्था को ही न्याय करने का आधार माना था। अकबर ने अवश्य यह प्रयत्न किया था कि हिन्दुओं के साथ न्याय करते हुए हिन्दुओं की परम्पराओं को ध्यान में रखा जाय। मुस्लिम कानूनों की व्याख्या का मुख्य आधार 'कुरान' थी। परन्तु उसके कानूनों की व्याख्या करने में अन्तर हो सकते थे। जहाँगीर ने 'श्रीकान्त' नामक एक हिन्दू को हिन्दुओं के मुकदमों का निर्णय करने के लिए 'जज' नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त कानूनों को संग्रह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। इस क्षेत्र में सबसे सराहनीय कार्य औरंगजेब ने 'फतवा-ए-आलमगीरी' को तैयार कराकर किया था। इसमें इस्लाम के धार्मिक कानूनों का संग्रह किया गया था। औरंगजेब राजकीय धर्म निरपेक्ष कानून (जबावित) जारी कराने से नहीं हिचकिचाया। उसके आदेशों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जबावित-ए-आलमगीरी' में संग्रह किया गया। धर्म के आधार पर लागू की जाने वाली मुगलों की यह न्याय-व्यवस्था निश्चित ही गैर-मुसलमानों के लिए न्यायपूर्ण नहीं हो सकती थी।

मुगल दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। साधारणतया 'दाँत के लिए दाँत' और 'आँख के लिए आँख' की नीति का पालन किया जाता था। मृत्यु-दण्ड, हाथ-पैर काटना, नाक-कान काटना, असम्मानित करना, कोड़ों से पीटा जाना आदि दण्ड निस्संकोच दिये जाते थे।

[8]

तोल और नाप के पैमाने

अकबर से पहले तोल का सबसे बड़ा पैमाना मन था जो चालीस सेर का होता था परन्तु सेर का भार अनेक स्थानों पर एक दूसरे से भिन्न था जिसके फलस्वरूप विभिन्न स्थानों के मन के भार में भी विभिन्नता थी। अकबर ने सेर का वजन तीस दाम के वजन के बराबर रखा जिससे मन का भार 55.32 पौंड के लगभग हो गया। यह मन दक्षिण-भारत के बन्दरगाहों के अतिरिक्त प्रायः साम्राज्य के सभी भागों में प्रचलित हो गया। दक्षिण के विभिन्न बन्दरगाहों के मन का वजन अकबर के मन के वजन से कुछ कम था। जहाँगीर के शासनकाल में मन का वजन बढ़कर 66.38 पौंड हो गया तथा शाहजहाँ के काल में यह 73.76 पौंड हो गया। साम्राज्य के विभिन्न भागों में अकबरी-मन, जहाँगीरी-मन और शाहजहाँनी-मन साथ-साथ प्रचलित रहे।

नाप के लिए उत्तर-भारत में गज का प्रयोग होता था। इसकी लम्बाई के बारे में विद्वानों में मतभेद है। साधारणतया इसकी लम्बाई 30 से 33 इंच के बीच में रही थी, यह अधिकांशतया माना गया है। मुगलों से पहले सिकन्दरी-गज, जिसे सिकन्दर लोदी ने चलाया था, प्रचलित था। वह 39 अंगुल का था। अकबर ने अपने शासनकाल में इलाही-गज चलाया जो 41 अंगुल के बराबर था। दक्षिण-भारत में नापने के अलग पैमाने प्रयोग में आते थे, ऐसा विभिन्न विवरणों में प्राप्त होता है।

[9]

मुगल-शासन का मूल्यांकन

अनेक दोषों के होते हुए भी मध्य-युग में मुगल-शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ स्थान रखती है। अकबर ने इस शासन-व्यवस्था का निर्माण किया था। अकबर की महानता का कारण उसकी विजयें, उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता और धार्मिक सहनशीलता ही न थी बल्कि उसके द्वारा एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का स्थापित किया जाना भी था। अकबर ने इस क्षेत्र में न केवल अपने से पहले के शासकों के अनुभवों से ही लाभ प्राप्त किया बल्कि उसने अनेक नवीनताओं को भी जन्म दिया। यद्यपि केन्द्रीय सेना का गठन, सैनिकों की हुलिया लिखा जाना और घोड़ों को दागने की प्रथा अलाउद्दीन के समय से प्राप्त की जा सकती है और पदों के विभाजन में दशमलव प्रणाली का प्रयोग भी पूर्णतया नवीन नहीं माना जा सकता परन्तु अकबर की मनसबदारी-प्रथा उन सभी का एक व्यवस्थित, दोषरहित और श्रेष्ठतम स्वरूप था। उसी प्रकार, शेरशाह की लगान-व्यवस्था अकबर के लिए एक उदाहरण अवश्य थी परन्तु अकबर का 'दहसाला-प्रबन्ध' शेरशाह की लगान-व्यवस्था से श्रेष्ठ था। इसी प्रकार शासन के सभी क्षेत्रों में अकबर के प्रयत्न सफल हुए थे। अकबर की सफलता से जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने भी लाभ उठाया। जहाँगीर ने अपने पिता से एक व्यवस्थित राज्य प्राप्त किया। वह उसमें सुधार तो न कर सका परन्तु उस व्यवस्था को किसी न किसी रूप में स्थापित अवश्य रख

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सका। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में मुगल-शासन-व्यवस्था में दोष बढ़ते गये परन्तु फिर भी मूल व्यवस्था स्थापित रही। औरंगजेब के अन्तिम वर्षों में इसमें दुर्बलता आ गयी और दुर्बल एवं अयोग्य उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह नष्ट हो गयी। फिर भी एक लम्बे समय तक मुगल-शासन-व्यवस्था ने भारत को सुरक्षा तथा शान्ति प्रदान की। अंग्रेजों के शासनकाल में भी अनेक बातों का आधार मुगल-शासन-व्यवस्था रही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मुगलों की केन्द्रीय शासन व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
2. मुगलों की प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. मुगल सैनिक व्यवस्था की विवेचना कीजिए।
4. मुगलों की वित्त और लगान व्यवस्था पर लेख लिखिए।
5. मुगलों की मुद्रा एवं टकसाल व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
6. मुगलकालीन न्याय व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अकबरकालीन भू-व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए।
2. दहसाला प्रबन्ध पर एक लेख लिखिए।
3. मुगलकालीन मुद्रा व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
4. मुगलकाल में मनसबदारी व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
5. मुगलों के केन्द्रीय प्रशासन में शासकों की स्थिति लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. किस शासक ने अपने को इस्लाम के कानूनों के सम्बन्ध में आखिरी निर्णायक घोषित किया था ?
   (अ) बाबर ने (ब) अकबर ने
   (स) शाहजहाँ ने (द) औरंगजेब ने।
2. अबुल फजल ने किस राजत्व सिद्धान्त को जन्म दिया था ?
   (अ) सम्राट ईश्वर का प्रतिनिधि है (ब) पृथ्वी पर ईश्वर का रूप है
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
3. उमरा वर्ग में सम्मिलित थे—
   (अ) राज्य के धनवान व्यक्ति (ब) राज्य के शक्तिशाली व्यक्ति
   (स) राज्य के प्रतिभाशाली व्यक्ति (द) उपर्युक्त तीनों।
4. मीरबख्शी किस विभाग का प्रमुख था ?
   (अ) न्याय विभाग का (ब) तोपखाने का प्रमुख
   (स) सैन्य विभाग का (द) इनमें से कोई नहीं।
5. सद्र-उस-सद्र का कर्तव्य था—
   (अ) धार्मिक मामले में बादशाह को सलाह देना
   (ब) दान-पुण्य की व्यवस्था करना
   (स) विद्वानों को जागीरें देना
   (द) उपर्युक्त सभी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. प्रान्तीय शासन में गुप्तचर विभाग के प्रमुख अधिकारी को पुकारा जाता था—
(अ) वाकिया-ए-नवीस (ब) सदर
(स) बख्शी (द) दीवान।

7. अहदी सैनिक होते थे—
(अ) घुड़सवार सैनिक (ब) बादशाह के सैनिक
(स) मनसबदार (द) इनमें से कोई नहीं।

8. तत्कालीन मुगल सेना बँटी हुई थी—
(अ) तीन भागों में (ब) चार भागों में
(स) पाँच भागों में (द) छह भागों में।

9. मुगलों की सैनिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी—
(अ) घुड़सवार सेना (ब) हस्ति सेना
(स) नौसेना (द) मनसबदारी व्यवस्था।

10. जात और सवार का पद समान संख्या का होने पर मनसबदार अपनी श्रेणी में समझा जाता था—
(अ) श्रेष्ठतम (ब) निम्न
(स) मध्य (द) तीनों में से कोई नहीं।

11. राज्य की आय के साधनों में स्थानीय कर को पुकारा जाता था—
(अ) खम्स (ब) जकात
(स) अव्वास (द) खिराज।

12. टोडरमल की लगान व्यवस्था का आधार था—
(अ) जाब्ता (ब) दहसाला प्रबन्ध
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

13. 1560 ई. में अर्थमन्त्री नियुक्त किया गया था—
(अ) अब्दुल मजीद आसफ खाँ (ब) ऐतमाद खाँ
(स) मुजफ्फर खाँ (द) शिहाबुद्दीन अहमद खाँ।

14. अकबर के काल में कृषि योग्य भूमि को कितने भागों में बाँटा गया था ?
(अ) दो (ब) छह
(स) तीन (द) चार।

15. 1577 ई. में अकबर ने शाही टकसाल के सुपरिण्टेन्डेन्ट के पद पर नियुक्त किया था—
(अ) मुर्तजा मुहम्मद को (ब) ख्वाजा अब्दुल समद को
(स) जहीर अहमद को (द) मुहम्मद इकबाल को।

16. अकबरकालीन चौकोर रुपये को कहा जाता था—
(अ) दाम (ब) टंका
(स) जलाली (द) इनमें से कोई नहीं।

17. 1595 ई. में सोने के सिक्के ढालने के लिए साम्राज्य में टकसालों की संख्या थी—
(अ) एक (ब) दो
(स) तीन (द) चार।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

18. किस मुगल शासक ने अपने साथ-साथ अपनी बेगम का नाम भी सिक्कों पर अंकित करवाया था ?
(अ) अकबर ने (ब) जहाँगीर ने
(स) शाहजहाँ ने (द) मुहम्मदशाह रंगीला ने।

19. कानून के संकलन का सराहनीय कार्य 'फतवा-ए-आलमगीरी' किस मुगल शासक ने कराया था ?
(अ) अकबर ने (ब) जहाँगीर ने
(स) शाहजहाँ ने (द) औरंगजेब ने।

20. मुगल प्रशासन व्यवस्था का मूल संस्थापक था—
(अ) बाबर (ब) हुमायूँ
(स) अकबर (द) जहाँगीर।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (द), 4. (स), 5. (द), 6. (अ), 7. (ब), 8. (स), 9. (द), 10. (अ), 11. (स), 12. (स), 13. (अ), 14. (द), 15. (ब), 16. (स), 17. (द), 18. (ब), 19. (द), 20. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

13

मुगल-सभ्यता और संस्कृति

भारतीय सभ्यता और संस्कृति की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने अपने मूल आधार को खोये बिना विभिन्न प्रभावों और परिवर्तनों को अपने में आत्मसात करने में सफलता पायी है। मुस्लिम-सभ्यता के बारे में भी उसने ऐसा ही किया और मुगल-काल में यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। तुर्क और अफगान-काल में भारतीय और मुस्लिम सभ्यताएँ एक-दूसरे के निकट आ गयी थीं परन्तु राजनीतिक संघर्ष तथा मुसलमानों के विजेता और एकाकीपन की भावना ने भारतीय और मुस्लिम सभ्यता को बहुत घुलने-मिलने का अवसर नहीं दिया था। मुगल-काल में राजनीतिक स्थायित्व, मिलकर रहने की आवश्यकता और अनुकूल परिस्थितियों ने भारतीय सभ्यता और मुस्लिम सभ्यता को घुलने-मिलने का अधिक अवसर प्रदान किया और एक ऐसी भारतीय सभ्यता के निर्माण में सहयोग दिया जिसमें मुस्लिम सभ्यता के तत्व सम्मिलित कर दिये गये। मुगल-काल के समाज, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, साहित्य तथा ललित-कलाओं सभी में यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

[1]
आर्थिक स्थिति

मुगलकालीन आर्थिक जीवन की विस्तृत जानकारी 'आइने-अकबरी' तथा विदेशी लेखकों के संस्मरणों से प्राप्त होती है। मुगल-काल में शाहजहाँ के समय तक भारत की आर्थिक स्थिति ठीक मानी जा सकती है। शाहजहाँ तक का समय सम्पन्नता और समृद्धि का काल था। यद्यपि इस आर्थिक सम्पन्नता का लाभ मुख्यतया बादशाह, बड़े-बड़े मनसबदार, व्यापारी और उद्योगपति उठाते थे परन्तु वस्तुओं के मूल्य सस्ते होने के कारण जनसाधारण जीवन की साधारण आवश्यकताओं से वंचित न था। औरंगजेब के समय से भारत की आर्थिक स्थिति निरन्तर गिरती चली गयी।

मुगल-काल में भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से विभिन्न भागों में बँटा हुआ था। सबसे श्रेष्ठ स्थिति बादशाह, बड़े-बड़े मनसबदारों और राजपूत-राजाओं की थी। बादशाह की आय सबसे अधिक थी। विभिन्न करों को वसूल करने के अतिरिक्त बादशाह राज्य का सबसे बड़ा उद्योगपति और व्यापारी था। बादशाह के अनेक कारखाने थे जिनमें विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था जो उसकी आय का एक बड़ा साधन था। बादशाह, उनका दरबार और 'हरम' वैभव और विलासिता के केन्द्र थे। इसी प्रकार की स्थिति राज्य के बड़े-बड़े मनसबदारों और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजपूत-राजाओं की थी। उन्हें बड़े-बड़े वेतन और जागीरें प्राप्त थीं और वे सम्पूर्ण वैभव और विलासिता का उपभोग कर सके जब तक कि वे योग्य रहे। उनके पश्चात् राजा के अन्य कर्मचारी थे जो छोटी और बड़ी विभिन्न श्रेणियों में बँटे होते थे और जिनमें बहुत छोटे स्तर के कर्मचारियों अथवा दासों के अतिरिक्त सभी की स्थिति सन्तोषजनक और लाभप्रद थी। व्यापारी और उद्योगपति वर्ग में भी विभिन्न श्रेणियाँ थीं। इसमें बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति बहुत धनवान थे। सूरत के विरजी बोहरा को संसार का सबसे धनवान व्यक्ति माना जाता था और अकेले अब्दुल गफूर का व्यापार सम्पूर्ण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार के बराबर था। परन्तु यह वर्ग अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन नहीं करता था क्योंकि उनकी सम्पत्ति को कभी भी छीना जा सकता था और उत्तराधिकार के नियम को कठोरता से लागू किये जाने पर बादशाह ही नहीं बल्कि राज्य का कोई भी बड़ा अधिकारी उनके उत्तराधिकारियों को उनकी सम्पत्ति से वंचित कर सकता था। लघु व्यापारियों और उद्योगपतियों की स्थिति बहुत अच्छी न थी परन्तु सन्तोषजनक मानी जा सकती थी। उनके पश्चात् विभिन्न श्रेणी के विद्वान, कलाकार और कारीगर थे। इनमें से अच्छे विद्वानों, कलाकारों और कारीगरों को बादशाह, सरदारों एवं धनवान व्यक्तियों से संरक्षण प्राप्त हो जाता था और उनकी स्थिति अच्छी थी। परन्तु उनमें अधिकांशतः निम्न श्रेणी के कलाकार, दस्तकार और कारीगर थे जिन्हें साधारण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कृषि-मजदूर तथा अन्य मजदूरों की स्थिति भी अच्छी न थी। उनको बहुत साधारण वेतन मिलता था और उनका जीवन-स्तर गिरा हुआ था। समाज का निम्नतर वर्ग किसानों का था जो सबसे अधिक थे और जो सबसे अधिक उत्पादन करते थे परन्तु जिन पर कर का भार सबसे अधिक था और जिनका शोषण राज्य-कर्मचारी सबसे अधिक करते थे। इस प्रकार, मुगल-काल में आर्थिक ढाँचा मध्य-युग की विशेषता के अनुरूप सामन्तवादी था जिसमें समाज उच्च और निम्न आर्थिक वर्गों में बँटा हुआ था, जिसमें उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच चौड़ी खाई थी तथा जिसमें समाज का बहुसंख्यक साधारण वर्ग परिश्रम करता था और उनके परिश्रम का लाभ समाज के एक बहुत छोटे वर्ग को प्राप्त होता था।

1. कृषि

कृषि भारत की बहुसंख्यक प्रजा का मुख्य व्यवसाय था। फ्रान्सीसी यात्री बर्नियर ने लिखा था कि 'तत्कालीन भारत में बादशाह भूमि का एकछत्र स्वामी था।' परन्तु बर्नियर का यह कथन भ्रमात्मक है। बादशाह भूमि का स्वामी नहीं था। भूमि का स्वामी तो कृषक ही होता था, परन्तु क्योंकि मुगल बादशाहों की आय का मुख्य साधन भूमि-उत्पादन से लिया जाने वाला कर, लगान या खराज था, इस कारण प्रत्येक बादशाह यह चाहता था कि कृषि-योग्य भूमि का विस्तार हो और कोई भी भूमि जिस पर खेती हो सकती थी वह बिना खेती के न रहे। इस कारण, यदि कोई व्यक्ति खेती-योग्य भूमि पर खेती करने में असमर्थ हो जाता था तो बादशाह उस भूमि को किसी खेती करने वाले व्यक्ति को देने का अधिकार रखता था यद्यपि भूमि का मालिक वही व्यक्ति रहता था जिसकी वह भूमि थी। इस रूप में ही बादशाह को भूमि का स्वामी माना जाता था अन्यथा जब तक किसान अपना लगान देता रहता था तब तक वही भूमि का स्वामी था। परन्तु कृषक समान स्तर के नहीं थे। मुगलकालीन कृषक-समाज तीन वर्गों में विभाजित था। प्रथम, खुदकाश्त किसान था जो अपने ही गाँव में अपनी ही भूमि पर खेती करता था; खुदकाश्त को अपनी भूमि को बंटाई पर देने का तथा बेचने का अधिकार होता था। इन्हें 'मालिक-ए-जमीन' भी कहा जाता था। द्वितीय, पाहीकाश्त किसान जो दूसरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाँव में जाकर खेती करता था और वहाँ अस्थायी रूप से निवास करता था ; और तृतीय, मुजारियात किसान जो अपनी भूमि से होने वाली आय को अपने परिवार के लिए पर्याप्त नहीं मानता था और इस कारण अधिक भूमि वाले व्यक्ति से किरायेदार के रूप में खेती करने के लिए भूमि ले लेता था। इस प्रकार के किसानों के अतिरिक्त गाँव में एक वर्ग ऐसा भी था जिन्हें कृषक-मजदूर माना जाता था। उस काल में खेती में प्रयोग आने वाले साधनों और उत्पादन-औजारों की दृष्टि से भारत पिछड़ा हुआ देश नहीं माना जा सकता था। कृषि में प्रायः वे सभी साधन प्रयोग में लाये जाते थे जो भारत में 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक थे। भूमि से दो फसलें और कभी-कभी तीन फसलें भी तैयार की जाती थीं और फसलों में हेर-फेर करके फसलें तैयार करने की जानकारी भी भारतीयों को थी। कृषक मवेशी भी अच्छी संख्या में पालते थे। अबुल फजल के कथनानुसार एक किसान को चार बैल, दो गाय और एक भैंस बिना पशु-कर दिये पालने की अनुमति थी। गेहूँ, चना, जौ, बाजरा, मक्का, गन्ना, कपास, अफीम, नील, पोस्त आदि की खेती देश के विभिन्न भागों में की जाती थी। गेहूँ की उपज मुख्यतया पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार में की जाती थी। गन्ना मुख्यतया बंगाल और बिहार में, चना और जौ पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार में, बाजरा और मक्का उत्तर-प्रदेश और राजस्थान में, नील मुख्यतया बयाना जिले में, अफीम मुख्यतया मालवा और बिहार में, कपास देश के विभिन्न भागों में तथा चावल मद्रास, कश्मीर आदि स्थानों में उत्पन्न किया जाता था। 'आइने-अकबरी' में रबी (बसन्त) की 16 फसलों तथा खरीफ (शरद ऋतु) की 25 फसलों से प्राप्त होने वाले राजस्व का विस्तृत उल्लेख मिलता है। सिंचाई के लिए किसान वर्षा, कुओं, तालाबों, नदियों और नहरों पर निर्भर करते थे परन्तु सिंचाई के कृत्रिम साधनों के प्रयोग में विशेष उन्नति नहीं की गयी थी। भारत में तम्बाकू 1604 ई. के अन्त अथवा 1605 ई. के प्रारम्भ में (अकबर के काल) पुर्तगालियों द्वारा लायी गयी। इसी के आसपास मक्का अमरीका से भारत लाया गया। समय-समय पर किसानों को अकाल की समस्या का मुकाबला करना पड़ता था। मुगल-काल में कई अवसरों पर गम्भीर अकाल पड़े थे। अकाल के साथ महामारी और भयंकर बीमारियाँ भी आती थीं। प्लेग और हैजा समय-समय पर लाखों व्यक्तियों की मृत्यु का कारण बने थे। राज्य की ओर से ऐसे अवसरों पर किसानों को सहायता दी जाती थी परन्तु आवागमन के साधनों, दवाइयों तथा योग्य चिकित्सकों के अभाव में यह सहायता सर्वदा अपर्याप्त होती थी। शाहजहाँ ने अकाल से निपटने के लिए सिंचाई की सुविधा की व्यवस्था की। उसने 98 मील लम्बी रावी नहर लाहौर तक बनवायी, जिसे 'नहर-ए-फैज' कहा जाता था। ऐसे अवसरों पर गाँव के गाँव उजड़ जाते थे और कृषि नष्ट हो जाती थी। इसके अतिरिक्त, जंगली जानवर भी खेती को पर्याप्त हानि पहुँचाते थे क्योंकि उस समय जंगल और जानवर दोनों ही अधिक थे। किसानों पर कर का भार भी कुछ कम न था। अकबर और जहाँगीर के समय को छोड़कर किसानों से पर्याप्त कर लिये जाते थे और बादशाहों के आदेश के विरुद्ध भी स्थानीय अधिकारी किसानों को तंग करते थे। निरन्तर युद्ध और विद्रोह भी कृषि के लिए हानिकारक थे। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी कृषि की दृष्टि से देश आत्मनिर्भर था और क्योंकि किसानों के जीवन की आवश्यकताएँ न्यूनतम थीं अतएव वे विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करते थे। मुगलकाल में नयी भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए 'वनकटी' (अर्थात् जंगलों को साफ कर जमीन को खेती योग्य बनाना) नामक एक तरीका अपनाया गया जिससे अधिक से अधिक भूमि को कृषि योग्य बनाया जा सके। मध्य-युग के इतिहास में अन्य देशों की शासन-व्यवस्था से तुलना करते हुए अथवा मुगलों से पहले के समय की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसानों की स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि शाहजहाँ के समय तक उनकी स्थिति पर्याप्त ठीक थी।

2. उद्योग

मुगल-काल में विभिन्न बड़े-बड़े और सम्पन्न नगरों का निर्माण हुआ। गुजरात, बंगाल और दक्षिण-भारत के समुद्र-तटों पर अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे। विभिन्न यूरोपियन जातियाँ व्यापार करने के उद्देश्य से भारत आयी थीं। ये सभी इस बात के प्रमाण थे कि भारत में उद्योग अच्छी मात्रा में थे क्योंकि केवल कृषि इस सम्पन्नता और व्यापार के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकती थी। गुड़ और चीनी बनाने का उद्योग बंगाल, गुजरात और पंजाब में मुख्य रूप से होता था। अफीम और नील बनाने के उद्योग भी महत्वपूर्ण थे और यह विदेशों में भी भेजी जाती थीं। मिट्टी के खिलौने और बर्तन देश के विभिन्न भागों में बनाये जाते थे जो अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थे। दिल्ली, काशी (बनारस) और चुनार मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए विख्यात थे। लकड़ी का प्रयोग दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति और कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिए होता था। कश्मीर और कर्नाटक लकड़ी की कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। समुद्री जहाज-निर्माण करने के उद्योग में भारतीय कुशल थे। सामान ढोने और यात्रियों को ले जाने वाले बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण इसी समय में हुआ था। लोहा बनाने का उद्योग भी भारत में अच्छी स्थिति में था यद्यपि खान का कोयला प्राप्त न होने के कारण अच्छे इस्पात का निर्माण भारत में कम होता था। लोहे का प्रयोग मुख्यतया हथियार बनाने के लिए होता था। भारतीयों ने तलवार, कटार, भाला आदि परम्परागत हथियारों के बनाने में श्रेष्ठता प्राप्त की थी परन्तु वे बहुत अच्छे स्तर की तोपें और बन्दूकें बनाने में सफल नहीं हुए थे। इस क्षेत्र में वे फारस, टर्की और यूरोप के देशों से पिछड़े हुए थे। लोहे के अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए गुजरात और पंजाब प्रख्यात थे। ताँबा, काँसा और पीतल का प्रयोग मुख्यतया बर्तन अथवा मूर्तियाँ बनाने के लिए किया जाता था। दिल्ली और उसके निकटवर्ती स्थानों में ताँबे का उद्योग, बंगाल में काँसे का उद्योग और बनारस तथा उसके निकट पीतल का उद्योग बहुत अच्छा था। सोना, चाँदी और हाथीदाँत का प्रयोग जेवर और मूर्तियाँ बनाने के लिए किया जाता था। सोना पंजाब और कुमायूँ की नदियों से प्राप्त किया जाता था, ताँबे की खानें राजस्थान और मध्य-भारत में थीं तथा हीरे की खानें गोलकुण्डा और छोटा नागपुर में थीं। भारत ने अनेक श्रेष्ठतम हीरों और पन्नों को खो कर निकाला था। जगत-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा गोलकुण्डा की खान से प्राप्त हुआ था। हीरों का प्रयोग आभूषणों, सिंहासनों और वस्त्रों में लगाने के लिए किया जाता था। भारत में शराब बनाने का उद्योग भी बहुत बड़ा था परन्तु अच्छी शराब भारत में तैयार नहीं होती थी जिसके कारण उसे यूरोप और फारस से मँगाया जाता था। चमड़े की वस्तुएँ बनाने का उद्योग बहुत अच्छी स्थिति में न था। चमड़े के जूते या चप्पलें साधारण व्यक्ति नहीं पहनते थे। परन्तु चमड़े की मश्क और थैले तथा घोड़ों की रासें पर्याप्त मात्रा में बनती थीं और व्यक्ति देश के विभिन्न भागों में इस उद्योग में लगे हुए थे। नमक पंजाब की पहाड़ियों से प्राप्त किया जाता था तथा समुद्र व झीलों के पानी से भी तैयार किया जाता था। समुद्र-तट पर मोती निकालने का उद्योग भी पर्याप्त अच्छी स्थिति में था, मुख्यतया दक्षिण-भारत में यह एक प्रमुख उद्योग था। काँच के बर्तन और शमादान आदि बनाने का उद्योग फतेहपुरसीकरी, बरार तथा बिहार में पर्याप्त प्रगतिशील था तथा काँच की सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ वहाँ तैयार की जाती थीं। इत्र, सुगन्धित तेल, गुलाबजल आदि जैसी वस्तुएँ भी बहुत बड़ी मात्रा में तैयार की जाती थीं। जौनपुर और गुजरात ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। मुगल बादशाहों को इमारतें, मकबरे और मस्जिदें बनवाने का शौक था। बड़े-बड़े किले और महल भी बादशाहों और राजपूत-राजाओं द्वारा बनवाये गये थे। इस कारण पत्थर काटने और इमारतें बनाने का काम भी भारत में बहुत था। लाल पत्थर फतेहपुरसीकरी और राजस्थान में, पीला पत्थर थट्टा में और सफेद संगमरमर जयपुर तथा जोधपुर में पाया जाता था। भारत में शोरा भी तैयार किया जाता था।

लेकिन भारत का सबसे बड़ा उद्योग कपड़े का निर्माण था। सभी प्रकार का सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा भारत में तैयार किया जाता था। अच्छे-अच्छे कालीन और शाल भी भारत में तैयार किये जाते थे। आगरा, मुल्तान, फतेहपुरसीकरी, अलवर, जौनपुर आदि कालीन बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। परन्तु फिर भी भारतीय कालीन उतनी श्रेष्ठ कोटि के नहीं होते थे जितने कि फारस के बने हुए कालीन। कश्मीर में ऊनी कालीन, रेशमी कपड़ा तथा ऊनी कपड़े का निर्माण बहुत होता था। कश्मीर और बंगाल में रेशम का उत्पादन होता था और उससे रेशमी कपड़ा बनाया जाता था। अच्छा रेशम चीन से भी मँगाया जाता था। गुजरात में सबसे अच्छे रेशमी वस्त्र तैयार किये जाते थे। रेशमी कपड़ों को विभिन्न रंगों में तैयार किया जाता था और उन पर कसीदा तथा सोने-चाँदी के धागों का काम भी किया जाता था। बादशाह स्वयं अपने कारखानों में ऐसे वस्त्र तैयार कराया करते थे। आगरा, लाहौर, दिल्ली, ढाका तथा अहमदाबाद में अनेक ऐसे शाही कारखाने थे। परन्तु फिर भी रेशमी कपड़ा विदेशों से मँगाया जाता था जिससे यह अनुमान होता है कि रेशमी कपड़े के उद्योग की पूर्ण प्रगति नहीं हुई थी। ऊनी कपड़ा और वस्त्र बनाने का उद्योग केवल पहाड़ी प्रदेशों और मुख्यतया कश्मीर, पंजाब और कुमायूँ के क्षेत्रों तक ही सीमित था। बढ़िया ऊनी वस्त्र और शाल कश्मीर तथा लाहौर में तैयार किये जाते थे। अबुल फजल के कथनानुसार अकबर ने लाहौर में 1,000 कारखाने स्थापित किये थे। जहाँगीर ने अमृतसर में ऊनी वस्त्रों के उद्योग को आरम्भ किया था। यद्यपि भारतीय कारीगरों ने इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की थी और अनेक विदेशी यात्रियों के विवरणों में उनके कार्य की प्रशंसा प्राप्त होती है परन्तु फिर भी पर्याप्त मात्रा में अच्छी ऊन प्राप्त न होने के कारण यह उद्योग भी अपनी पूर्ण प्रगति करने में सफल नहीं हो सका था। भारत ने श्रेष्ठतम प्रगति सूती कपड़ा तैयार करने में की थी। बंगाल में सोनारगाँव, उत्तर-प्रदेश में बनारस और आगरा, सिन्ध तथा पंजाब में लाहौर, मुल्तान और थट्टा, गुजरात में अहमदाबाद, पाटन, बड़ौदा, भड़ौंच और सूरत, खानदेश में बुरहानपुर और गोलकुण्डा सूती कपड़ा तैयार करने के लिए विख्यात थे। ढाका की मलमल संसार-प्रसिद्ध थी। चीन, जापान, फारस, अरब, मिस्र, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों से भारतीय सूती कपड़े की माँग सबसे अधिक थी। यही एक वस्तु ऐसी थी जिसका निर्यात विदेशों में सबसे अधिक होता था। भारत के सूती कपड़े का उद्योग उस समय तक सफलतापूर्वक चलता रहा जब तक इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अन्तर्गत भारत के इस महत्वपूर्ण उद्योग को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

इस प्रकार भारत में सभी प्रकार के उद्योग थे यद्यपि इनमें से बहुत कम उद्योग ऐसे थे जिनका उपयोग विदेशी व्यापार के लिए किया जा सकता था। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के विस्तार और स्थिरता के समय में यह उद्योग सफलतापूर्वक चलते रहे और उनसे देश की समृद्धि में वृद्धि हुई। परन्तु फिर भी सम्पत्ति की सुरक्षा और व्यावसायिक आधार पर (अर्थात् Joint Stock Companies द्वारा) उद्योग को चला पाने के अभाव में भारतीय उद्योग विशेष प्रगति नहीं कर सके थे। इसके अतिरिक्त, भारत के उद्योग परिवारों तक सीमित थे और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारीगरों की कार्यकुशलता पैतृक शिक्षा पर ही आधारित थी। इस कारण उन्हें श्रेष्ठता और विस्तार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों का निर्माण सम्भव न था। विभिन्न कारीगर अपने घरों में ही कार्य करते थे, परिवार के सदस्यों से ही कार्य सीखते थे, उनके उद्योगों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था और अधिकांशतया कारीगर निर्धन थे। इन परिस्थितियों में उद्योगों के विकास की सम्भावना नहीं की जा सकती थी। जो कुछ भी हो सका वह थोड़ी-बहुत मात्रा में राजकीय संरक्षण अथवा व्यक्तिगत प्रयासों के कारण हुआ और जब उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय की दुर्व्यवस्था भारतीय उद्योगों को साधारण सुविधाएँ तक प्रदान न कर सकी तो भारतीय उद्योग नष्ट होने आरम्भ हो गये। शेष कार्य की पूर्ति अंग्रेजी शासनकाल में हो गयी जब भारत इंगलैण्ड को कच्चा माल देने वाला उपनिवेश और इंगलैण्ड की बनी हुई वस्तुओं को खरीदने वाला एक अच्छा बाजार बन गया।

3. व्यापार और वाणिज्य

मुगल-काल में भारतीय व्यापार अच्छी स्थिति में था। शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करके व्यापार को पनपने का अवसर दिया था। मुगल बादशाहों ने सड़कों, सरायों और यातायात की सुरक्षा का प्रबन्ध किया था जिससे व्यापार में सुविधा होती थी। उत्तरकालीन दुर्बल मुगल बादशाहों के समय में ही इन परिस्थितियों में अन्तर हुआ अन्यथा राज्य की परिस्थितियाँ व्यापार के अनुकूल थीं। मुगल बादशाह व्यापारिक-कर भी कम लेते थे। विदेश जाने वाली और विदेशों से आने वाली अधिकांश वस्तुओं पर 3-1/2% से अधिक व्यापारिक-कर नहीं लिया जाता था। व्यापार सड़कों और नदियों दोनों से होता था। विदेशों से व्यापार जल-मार्ग और स्थल-मार्ग दोनों से होता था। स्थल-मार्ग उत्तर-पश्चिम की ओर था। इसके लिए एक सड़क लाहौर से काबुल तक और दूसरी सड़क मुल्तान से कन्धार तक जाती थी। गुजरात, दक्षिण-भारत के दोनों तरफ के समुद्र-तट और बंगाल में अच्छे बन्दरगाह थे जो समुद्री मार्ग से व्यापार की सुविधा प्रदान करते थे। भारत के व्यापारिक सम्बन्ध यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के विभिन्न देशों से थे। फ्रान्स, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, इंगलैण्ड, अरब, मिस्र, मध्य-एशिया, फारस, श्रीलंका, बर्मा, चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपसमूह, नेपाल आदि सभी से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत फ्रान्स से ऊनी वस्त्र, इटली और फारस से रेशम, फारस से कालीन, चीन से कच्चा रेशम और मध्य-एशिया तथा अरब से घोड़े मँगाता था। सोना और चाँदी भी भारत विदेशों से लाता था क्योंकि यहाँ ये कम मात्रा में उपलब्ध थे। इनके अतिरिक्त अच्छी शराब, काँच के बर्तन, मखमल, दवाइयाँ, आदि भी भारत विदेशों से आयात करता था। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सूती कपड़ा प्रमुख था जिसकी माँग यूरोप, अफ्रीका और एशिया के सभी देशों में बहुत थी। इसके अतिरिक्त, काली मिर्च, नील, अफीम, चीनी, शोरा, मसाले, नमक आदि विभिन्न वस्तुएँ भारत से विदेशों को भेजी जाती थीं। इस प्रकार भारत का विदेशों से विस्तृत व्यापार था। इस व्यापार में लाभ की स्थिति भारत की थी जो भारत की आर्थिक स्थिति को ठीक रखने में सहायक थी।

मुगल-काल में व्यापारी-वर्ग मध्यम वर्ग का सबसे अधिक शक्तिशाली वर्ग था। मुगलकालीन भारत की अर्थ-व्यवस्था के कृषि-क्षेत्र से अलग क्षेत्र पर इसी वर्ग का प्रभुत्व रहा। इसमें छोटे और बड़े, आन्तरिक तथा विदेशी, और स्थानीय आधार पर ही व्यापार करने वाले सभी व्यापारी सम्मिलित थे। सूरत का एक व्यापारी, विरजी बोहरा अपने समय का सबसे अधिक धनवान व्यक्ति माना जाता था। इसी प्रकार सूरत के अब्दुल गफूर और अहमद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैलाबी, गोलकुण्डा का मीरजुमला और दक्षिण कारोमण्डल के मलय चेट्टी, कासी वरिन्ना और सुनकाराम चेट्टी अपने समय के बहुत धनवान व्यापारियों में स्थान रखते थे। बर्नियर ने ऐसे कई व्यापारियों का उल्लेख किया है जिनका अकेले-अकेले का व्यापार अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी से कम नहीं था। भारतीय व्यापारियों ने विभिन्न कार्यों में विशेषज्ञता भी प्राप्त कर ली थी। थोक-व्यापारियों, सर्राफों, साहूकारों, गुमाश्तों, दलालों आदि ने अपने-अपने क्षेत्र में न केवल दक्षता ही प्राप्त कर ली थी अपितु पृथक-पृथक व्यावसायिक-समूहों के रूप में भी संगठित हो गये थे। उस काल में व्यापारिक क्षेत्र में बंजारों की भी एक विशेष भूमिका थी जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक वस्तुओं को ले जाने में दक्ष हो गये थे। वे न केवल वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते थे अपितु ऐसा करते हुए अपना भी व्यापार कर लेते थे। सर्राफों ने धन के लेन-देन, धन को अमानत के रूप में रखने, धन उधार देने और धन को हुण्डी के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में दक्षता प्राप्त कर ली थी। हुण्डी एक प्रकार का कर्ज लेने या देने अथवा धन देने या पाने का लिखित पत्र था। व्यापारी-वर्ग हुण्डी के माध्यम से ही लेन-देन कर लिया करते थे जिससे धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती थी।

16वीं सदी में यूरोपीय राज्यों में से सर्वप्रथम पुर्तगाल ने भारत से होने वाले व्यापार में साझेदारी आरम्भ की। 1453 ई. में कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का आधिपत्य हो जाने के कारण यूरोपीय देशों के पूर्वी देशों से होने वाले व्यापार में बाधा आने लगी। यूरोपीय देश गर्म मसालों, जो उनकी खाद्य-सामग्री का एक महत्वपूर्ण भाग था, के लिए पूर्वी देशों के व्यापार पर निर्भर करते थे। इस कारण, यूरोपीय देशों में पूर्व के लिए प्रत्यक्ष समुद्री मार्ग के खोजने के प्रयत्न आरम्भ हुए मुख्यतया भारत के लिए मार्ग खोजने के जो उनके विचार के अनुसार गर्म मसाले प्राप्त करने का मुख्य स्थान था। 1498 ई. में पुर्तगाल के राजा का प्रतिनिधि वास्को-डि-गामा आशा-अन्तरीप के मार्ग से भारत में कालीकट पहुँचा। सम्पूर्ण 16वीं सदी में भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया से होने वाले व्यापार पर पुर्तगालियों का एकाधिपत्य रहा। परन्तु 17वीं सदी में पहले डच और बाद में फ्रान्सीसी तथा अंग्रेजों ने पुर्तगालियों की सत्ता को चुनौती दी जिसके परिणामस्वरूप दक्षिण-पूर्वी देशों के व्यापार पर डचों ने और भारत के व्यापार पर फ्रान्सीसियों और अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। 18वीं सदी के मध्य तक प्रायः यही स्थिति रही। बाद में अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों को पराजित करके भारत के व्यापार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया।

यूरोपीय राज्यों ने अपनी नौ-सेना की शक्ति की श्रेष्ठता के द्वारा भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के यूरोप से होने वाले व्यापार पर अपने हितों की पूर्ति के लिए पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया। परन्तु तब भी उन्होंने भारतीय व्यापार की वृद्धि की जिससे भारत को लाभ हुआ। उन्होंने गर्म मसालों के व्यापार के साथ-साथ भारतीय सूती कपड़े के विदेशी व्यापार में वृद्धि की। भारत का सूती कपड़ा, जो भारत का प्रमुख उद्योग था, यूरोप के विभिन्न देशों में विस्तृत बाजार प्राप्त कर सका जिससे भारत को आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ। यह स्थिति उस समय तक बनी रही जब तक कि अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करके उसे अपने आर्थिक हितों की पूर्ति का साधन नहीं बना लिया। यह प्रक्रिया 1757 ई. में हुए प्लासी के युद्ध के पश्चात् आरम्भ हुई और उस समय से अंग्रेजों का भारत का आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ।

इस प्रकार 16वीं सदी से प्रायः 18वीं सदी के मध्यकाल तक यूरोपीय व्यापारियों के भारत में आने से भारत के व्यापार और उसकी समृद्धि में वृद्धि हुई यद्यपि 18वीं सदी के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्त होने तक अंग्रेजों द्वारा भारतीय व्यापार को भारत के आर्थिक शोषण करने का माध्यम बना लिया गया।

4. मुगल और यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियाँ

मुगल-बादशाहों ने यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों द्वारा भारत के व्यापार पर नियन्त्रण करने में कोई बाधा नहीं डाली। मुगलों का साम्राज्य मूलतया स्थल-साम्राज्य था। उन्होंने न नौ-सेना का निर्माण किया और न व्यापारिक जल-बेड़े का। इस कारण उनके पास यूरोपीय व्यापारियों के नियन्त्रण को, जिनकी शक्ति का आधार उनकी नौ-सेना थी, रोकने की सामर्थ्य भी नहीं थी। स्वयं अकबर ने पुर्तगालियों से एक समझौता करके अपने एक जहाज को प्रति वर्ष, बिना कर दिये, लाल-सागर में भेजने की अनुमति प्राप्त की थी। यही नीति अन्य मुगल-बादशाहों की भी रही। कभी-कभी असन्तुष्ट होने पर उन्होंने अपने स्थल-स्थानों पर यूरोपियन व्यक्तियों को दण्डित अवश्य किया जैसा कि जहाँगीर के शासनकाल में हुआ। इसके अतिरिक्त तो मुगल-बादशाहों ने यूरोपीय व्यापारियों को विभिन्न व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कीं। जहाँगीर ने अंग्रेज कम्पनी को सुविधाएँ दीं और उत्तरकालीन मुगल-बादशाह फर्रुखसियर ने केवल तीन हजार रुपया वार्षिक कर के बदले में अंग्रेज-कम्पनी को बंगाल और हैदराबाद के सूबों में बिना कर दिये व्यापार करने की आज्ञा प्रदान की जिसने भारत में अंग्रेजी-राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

5. शहरी केन्द्रों का विस्तार

मूलतया एक शहर के दो लक्षण होते हैं। प्रथम, शहर में जनसंख्या घनी होती है। द्वितीय, शहर के निवासियों का व्यवसाय कृषि नहीं होता। इस प्रकार, जनसंख्या का घनत्व और व्यक्तियों का व्यवसाय कृषि न होना शहर को ग्राम से पृथक करता है।

प्राचीन भारत में बड़े-बड़े नगरों का निर्माण हुआ था यहाँ तक कि राजपूत-युग में भी उत्तर और दक्षिण-भारत में बड़े-बड़े शहर और बन्दरगाह थे। प्रो. हबीब के अनुसार भारत में तुर्की साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् तेरहवीं और चौदहवीं सदी में शहरीकरण की प्रवृत्ति तीव्र हुई। इन नवीन शहरों की एक विशेषता और भी थी। जबकि हिन्दुओं द्वारा निर्मित शहरों में अस्पृश्य जातियाँ तथा निम्न जातियाँ यहाँ तक कि कामगार व्यक्ति भी शहरों से बाहर रहते थे, तुर्कों द्वारा स्थापित शहरों के दरवाजे सभी व्यक्तियों के लिए खुले हुए थे। इरफान हबीब के अनुसार उत्पादन के साधनों में उन्नति होने से भी शहरों के निर्माण में सहायता प्राप्त हुई।

मुगल-काल में प्रशासकीय सुदृढ़ता और व्यापार तथा उद्योगों की उन्नति से शहरों के निर्माण की और भी प्रगति हुई मुख्यतया अकबर के शासनकाल से। बहुत से पुराने शहर जैसे दिल्ली, आगरा और लाहौर का विस्तार हुआ और कुछ नवीन शहर बने जैसे इलाहाबाद, फतेहपुरसीकरी अटक, फरीदाबाद आदि। मुगलों के राज्य की सीमाओं के बाहर भी अनेक पुराने शहरों और बन्दरगाहों का विस्तार तथा नवीन शहरों का निर्माण हुआ जैसे विजयनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा आदि। इनमें अनेक बड़े शहर ऐसे थे जो विदेशी व्यापार के केन्द्र-स्थल बन गये थे, जहाँ विभिन्न वस्तुओं की बड़ी-बड़ी मण्डियाँ थीं और जहाँ विभिन्न व्यवसायों के कारीगर बस गये थे तथा कुछेक ने किसी एक विशेष व्यवसाय अथवा किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में ख्याति प्राप्त कर ली थी। मुगलों का शासक-वर्ग शहरी जीवन की ओर आकर्षित था। सम्भवतया, बढ़ती हुई भारत की समृद्धि शहरों के विकास और नवीन शहरों के निर्माण के लिए मूलरूप से उत्तरदायी थी यद्यपि उसके अन्य कारण प्रशासकीय, सैनिक, भौगोलिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा धार्मिक भी थे। शहरों का जीवन बहुत आरामदायक और विलासपूर्ण भी हो गया। बढ़ते हुए उद्योग और आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार की उन्नति इसका मुख्य कारण रहे। 17वीं और 18वीं सदी में भी इस प्रक्रिया में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन सदियों में मुगल-शासन से बाहर भी विभिन्न समृद्धशाली शहरों का निर्माण होता रहा।

6. बैंकिंग-व्यवस्था

यद्यपि आधुनिक समय की भाँति मुगल-काल में बैंकिंग-व्यवस्था नहीं थी परन्तु तब भी कर्ज लेने और देने, आधुनिक बैंक-ड्राफ्ट या चैक की भाँति धन जमा करने या अपना धन लेने और अपने धन को सुरक्षा से बैंक-ड्राफ्ट के समान भेजने की सुविधा मुगल-काल में विभिन्न रूपों में उपस्थित थी। लगान अर्थात् खराज का मुद्रा के रूप में लिया जाना एक ऐसा कारण था जिसकी वजह से गाँव भी मुद्रा-व्यवस्था में सम्मिलित हो गये थे। मुद्रा के व्यापक असर और उसके चलन का लगान, प्रशासन और व्यापार में प्रयोग किया जाना ही मुगल-शासन के अन्तर्गत विकसित हुई बैंकिंग-व्यवस्था का मूल कारण था।

गाँवों में मुद्रा-व्यवस्था के कारण एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ था जिसे सर्राफ पुकारते थे। बहुत ही छोटे गाँवों को छोड़कर प्रत्येक गाँव में सर्राफ होते थे। ये सर्राफ धन के लेन-देन और वस्तुओं के क्रय-विक्रय में सम्मिलित होते थे। इसके अतिरिक्त, सर्राफ का एक मुख्य कार्य मुद्रा की ठीक परख करना होता था। उस समय व्यक्ति धातु देकर सरकारी टकसाल में मुद्रा ढलवाने के लिए स्वतन्त्र था। इस स्थिति में मुद्रा की सही परख होना आवश्यक था। सर्राफ इस कार्य को सम्पन्न करता था। इस कारण गाँवों में ही नहीं अपितु शहरों में भी बड़ी संख्या में सर्राफ हो गये थे। सर्राफ मुद्रा या सिक्कों की ठीक परख करने के बदले में धन लेता था, घटिया सिक्कों को लेकर और ठीक सिक्के देकर लाभ प्राप्त करता था, पुराने सिक्कों को टकसाल में दुबारा ढलवाने के लिए ले जाता था, किसानों को आवश्यकतानुसार कर्ज देता था तथा शहरों में व्यापारियों या अमीरों को भी ब्याज लेकर कर्ज देता था।

मुगल-काल की व्यापारिक गतिविधियों में बीमा-प्रणाली भी प्रचलित थी। अंग्रेज-फैक्टरियों के कागजों में तथा सुजानराय द्वारा लिखित 'खुलासात-उत-तारीख' में इस प्रकार के विवरण दिये गये हैं। यह कार्य भी सर्राफों द्वारा किया जाता था। व्यापारिक वस्तुओं का बीमा सर्राफ करते थे। उसके दो तरीके थे। एक के द्वारा बीमा करने वाला वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के समय तक उन वस्तुओं का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता था और दूसरे तरीके के द्वारा वह इस उत्तरदायित्व के अतिरिक्त वस्तुओं को उनके निश्चित स्थान तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व भी स्वयं लेता था। निश्चय ही अलग-अलग तरीकों के लिए अलग-अलग धनराशि बीमा करने वाले को प्राप्त होती थी।

सर्राफ अपने पास धन को सुरक्षा के लिए भी रखते थे और उस पर ब्याज भी देते थे जो कार्य आधुनिक बैंक करते हैं। अंग्रेज-फैक्टरियों के कागजों से यह पता लगा है कि आरम्भ में अंग्रेज अपनी सम्पूर्ण पूँजी सर्राफों के पास जमा कर दिया करते थे जो उसको अधिक ब्याज पर अन्य व्यापारियों को दे दिया करते थे। सर्राफों के अतिरिक्त धनवान व्यापारी, महाजन और साहूकार आदि भी इस कार्य को करते थे।

सर्राफों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य हुण्डी जारी करना था जो उस समय की बैंकिंग-व्यवस्था में बहुत उपयोगी कार्य था। अबुल फजल के विवरण से यह पता लगता है कि जब एक व्यक्ति अपने धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना चाहता था तब वह किसी सर्राफ या साहूकार के पास जाता था और वह धन उसे दे देता था। वह साहूकार उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक हुण्डी दे देता था जो वस्तुतः एक लिखित पत्र था जिसके आधार पर वह व्यक्ति उस स्थान पर जाकर, जहाँ उसे धन भेजना होता था, उस साहूकार के एजेण्ट से अपना धन ले लेता था। इस प्रकार उस व्यक्ति को अपने साथ धन ले जाने की आवश्यकता नहीं होती थी जिसमें खतरा था। इस प्रकार, साहूकार की हुण्डी एक आधुनिक चैक या बैंक-ड्राफ्ट के समान थी। हुण्डी इतनी अधिक माननीय और सर्वस्वीकृत थी कि उस पर न किसी गवाही की आवश्यकता थी और न किसी मुहर की। सुजान राय खत्री ने 'खुलासात-उत-तारीख' में हुण्डी के प्रचलन का वर्णन किया है। साहूकारों की इन हुण्डियों का लाभ प्रशासकीय अधिकारी और अमीर-वर्ग भी प्राप्त करते थे। ऐसे अनेक विवरण प्राप्त हुए हैं जिनमें यह दिया गया है कि सरकारी धन भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर साहूकारों की हुण्डियों के माध्यम से पहुँचाया गया था। हुण्डियों के माध्यम से कर्ज लेने और देने का भी कार्य होता था। इसके अतिरिक्त, ये हुण्डियाँ खरीदी और बेची भी जा सकती थीं। इस प्रकार, हुण्डियों के माध्यम से व्यक्तियों, व्यापारियों आदि को पर्याप्त मात्रा में वे सुविधाएँ प्राप्त थीं जो आधुनिक समय में बैंक प्रदान करते हैं।

विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए जिस प्रकार आधुनिक बैंक ब्याज लेते या देते हैं अथवा पारिश्रमिक-मूल्य अपने कार्य के लिए लेते हैं उसी प्रकार सर्राफों, साहूकारों, सेठों या धन के लेन-देन, बीमा करने आदि से सम्बन्धित सभी व्यक्ति मुगल-काल में भी इस कार्य को व्यवसाय के रूप में करते थे और अपने कार्य अथवा उत्तरदायित्व के बदले में पारिश्रमिक-मूल्य अथवा ब्याज प्राप्त करते थे। ऐसे भी विवरण प्राप्त हुए हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि विभिन्न कार्यों को करने के लिए पारिश्रमिक-मूल्य और ब्याज की दरें प्रायः निश्चित हो गयी थीं, जैसा कि आधुनिक बैंकों के साथ है। अंग्रेज-फैक्टरियों के विवरण से ज्ञात होता है कि 17वीं सदी में देहली से आगरा के लिए दी गयी हुण्डी की अदायगी पर एक प्रतिशत और बुरहानपुर से अहमदाबाद के लिए दी गयी हुण्डी की अदायगी पर 2-1/2% शुल्क था। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्थानों की दूरी और धन की सुरक्षा के अनुपात से हुण्डी जारी किये जाने के पारिश्रमिक-शुल्क में अन्तर होता था। उसी प्रकार सर्राफ या साहूकार जो धन का लेन-देन करते थे उसकी ब्याज में भी अन्तर होता था। विभिन्न स्थानों पर लेन-देन पर ब्याज की दरें भिन्न थीं। उनमें वृद्धि या कमी भी समय-समय पर होती रहती थी। इस क्षेत्र में आधुनिक बैंकों की भाँति उस काल में समानता नहीं थी।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि मुगल-काल में भारत में ऐसी अर्थ-व्यवस्था थी जो मुद्रा पर आधारित थी और जिसमें बैंकिंग, बीमा आदि की व्यवस्था समुचित रूप में उपस्थित थी यद्यपि उसकी तुलना आधुनिक बैंक-व्यवस्था से किया जाना उचित नहीं है। परन्तु तब भी उस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी विकसित व्यापार-पद्धतियाँ सम्मिलित थीं।

यह माना जा सकता है कि अपने युग की परिस्थितियों को देखते हुए भारत की आर्थिक स्थिति मुगल-काल में अच्छी रही थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में भी नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारियों को भारत से बहुत सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। 18वीं सदी की बढ़ती हुई अराजकता ने निश्चय ही इस आर्थिक सम्पन्नता को नष्ट कर दिया, यह सत्य है। परन्तु यह समय बाद का था जब मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो चुका था।

[2]

सामाजिक स्थिति

समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू था। हिन्दू परम्परागत आधार पर विभिन्न जातियों में बँटे हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र समाज के मुख्य वर्ग थे। परन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दुओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विभिन्न उप-जातियों का निर्माण भी हो गया था। जाति-बन्धन कठोर थे और साधारणतया अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध थे। परन्तु उच्च जातियों और निम्न जातियों में इसके व्यावहारिक प्रयोग में शिथिलता थी। उस समय में भी ब्राह्मणों का मुख्य कार्य अध्यापन और पुरोहिती का था, क्षत्री तथा राजपूत युद्ध करते थे, वैश्य व्यापार और कृषि का कार्य करते थे तथा शूद्रों का कार्य अन्य छोटे-छोटे कार्य, उद्योग तथा सेवा करना था। अछूत वर्ग हिन्दू-समाज का निम्नतर भाग था और वह शूद्रों से भी एक पृथक वर्ग बन गया था। हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिख, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मों के व्यक्ति भी भारत में निवास करते थे।

मुसलमान मूलतया दो भागों में बँटे हुए थे। एक भाग अरबी, फारसी, तुर्क, मंगोल, उजबेग, हब्शी, आर्मीनियन आदि विदेशी मुसलमानों का था जो रक्त के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानते थे। समाज और राज्य में उन्हें श्रेष्ठतम सम्मान और पद प्राप्त होता था और सबसे महत्वपूर्ण राजकीय पद उनको प्राप्त होते थे। उनसे अधिक संख्या में भारतीय मुसलमान थे अर्थात् वह मुसलमान जो हिन्दू से मुसलमान बने थे। इन्हें विदेशी मुसलमानों से निम्न स्तर का समझा जाता था यद्यपि इनमें से अनेक ने अपनी योग्यता से समाज और राज्य में सम्मानित स्थान और पद प्राप्त किये थे। दोनों ही प्रकार के मुसलमान धार्मिक वर्गों के आधार पर सुन्नी, शिया, बोहरे, खोजा आदि विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। इनमें सुन्नी और शिया मुख्य सम्प्रदाय थे। सुन्नी वर्ग बहुसंख्यक था और उसकी स्थिति विशेष सुविधा की थी क्योंकि मुगल बादशाह भी सुन्नी-मतावलम्बी थे। शेख और सैयदों का मुसलमानों में सम्मानपूर्ण स्थान था। मुसलमानों में एक महत्वपूर्ण वर्ग सूफियों का भी था।

भारत में विदेशियों के आने और यहाँ बसने पर कोई प्रतिबन्ध न था। इस कारण भारत के विभिन्न प्रदेशों में यहूदी, चीनी, पुर्तगाली, अंग्रेज, फ्रान्सीसी आदि भी बस गये थे।

मुगल-काल में अनेक योग्य और प्रतिभाशाली स्त्रियाँ हुईं जिन्होंने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया। तुर्क और अफगान-काल में ऐसी योग्य स्त्रियों का प्रायः अभाव रहा था। रानी कर्णवती, रानी जोधाबाई, रानी दुर्गावती, रानी रूपमती, चाँदबीबी, नूरजहाँ और उसकी माँ अस्मत बेगम, मुमताजमहल, जहाँनआरा, रोशनआरा, जेबुन्निसा, शिवाजी की माँ जीजाबाई, राजाराम की पत्नी ताराबाई, काबुल के सूबेदार अमीरखाँ की बीबी साहिबजी आदि ऐसी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया। नूरजहाँ की माँ 'अस्मत बेगम' ने इत्र बनाने की विधि का आविष्कार किया था। नूरजहाँ एवं मुमताज महल ने अनेक शृंगार प्रसाधनों एवं जेवरों में रुचिपूर्ण परिवर्तन किये थे। शृंगार-प्रसाधनों, वेश-भूषा, युद्ध-कौशल और राजनीति में समय-समय पर उनका सहयोग महत्वपूर्ण रहा। यह कहा जाता है कि मुगल बादशाहों की राजनीति पर उनकी बेगमों और हरम का प्रभाव बहुत अधिक था। परन्तु योग्य स्त्रियों के ये उदाहरण समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति से बहुत दूर थे। निस्सन्देह, बादशाह, सरदारों और राजपूत-शासक की स्त्रियों और पुत्रियों को अच्छी शिक्षा दी जाती थी तथा उनमें से अनेक ज्ञान एवं युद्ध-कौशल में प्रवीण हुआ करती थीं परन्तु जनसाधारण में स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी। साधारणतया स्त्रियों को न तो शिक्षा दी जाती थी, न समाज में उनका सम्मान था और न ही उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था। बल्कि मुगल बादशाहों, सरदारों, अमीरों तथा धनवान व्यक्तियों की बढ़ती हुई विलासिता की प्रवृत्ति ने स्त्री को केवल विलास-पूर्ति का साधन मात्र बना दिया था। बादशाहों और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों को 'हरम' में हजारों स्त्रियाँ सह-पत्नियों, रखैलों और दासियों के रूप में रहा करती थीं। इस्लाम में शराब पीना वर्जित है तथापि सभी बादशाह (औरंगजेब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अलावा) और अमीर शराब पीते थे। स्त्री और शराब दोनों विलासिता की मुख्य सामग्री बन गयी थीं। इस कारण बादशाह और अमीरों के हरम भोग-विलास और अनैतिकता के अड्डे बन गये। इसी प्रकार जहाँगीर हमेशा शराब में डूबा रहता था। उसकी इसी आदतों के कारण उसकी पत्नी मानबाई ने आत्महत्या कर ली थी। अकबर के हरम में करीब 5,000 स्त्रियाँ थीं। यही स्थिति अन्य मुगल बादशाहों की थी। हिन्दू-सरदार और राजा भी इनका अनुकरण करने लगे थे। राजा मानसिंह के हरम में 1,500 स्त्रियाँ थीं। ऐसे वातावरण का समाज पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था और इससे स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी थी। मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों में ही ऐसी कुरीतियाँ आ गयी थीं जिनसे स्त्रियों का सामाजिक स्तर गिर गया था। एक सुन्नी मुसलमान चार स्त्रियों से शादी कर सकता था जबकि शिया इससे भी अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता था। ऐसी स्थिति में मुसलमान स्त्रियों की स्थिति अपने परिवार में सम्मानजनक नहीं रह सकती थी। मुसलमानों में तलाक की व्यवस्था अवश्य थी परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न था। कठोर पर्दा-प्रथा के कारण मुसलमानों में स्त्रियों का सामाजिक जीवन नष्टप्राय था। न वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं और न सार्वजनिक जीवन में किसी प्रकार का भाग ले सकती थीं। मुसलमानी प्रभाव और मुख्यतया सम्मान की सुरक्षा के अभाव में हिन्दू-समाज में भी स्त्रियों का स्थान निम्न हो गया था। पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, लड़की के जन्म को अपशकुन मानना, सती-प्रथा, धनवान व्यक्तियों में बहुविवाह आदि सामाजिक कुरीतियाँ हिन्दू-समाज का अंग बन गयीं और स्त्रियों का स्तर समाज में बहुत निम्न हो गया। 'दहेज प्रथा' को अकबर तथा तत्कालीन मराठा सरदारों ने भी समाप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मणों तथा पंजाब एवं यमुना घाटी के जाटों में विधवा-पुनर्विवाह प्रचलित थे। समाज में हिन्दू-विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी, अवैध-सन्तानें भी बड़ी संख्या में होने लगीं, नाचने-गाने का पेशा लोकप्रिय हो गया और वेश्यावृत्ति बढ़ गयी। इस प्रकार शिक्षा और स्वतन्त्रता का अभाव, विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का समाज में प्रवेश, असुरक्षा की भावना और बढ़ती हुई विलासिता ने मुगल-काल में स्त्रियों की स्थिति को हीन बना दिया। परन्तु इसमें एक बात अवश्य थी। मुगल-सभ्यता मुख्यतया नगरों तक ही सीमित रही। इससे जनसाधारण का जीवन बहुत गम्भीरता से प्रभावित नहीं हुआ। जनसाधारण इस प्रभाव से मुक्त रहा और गाँवों अथवा नगरों से दूर रहने वाले व्यक्तियों ने साधारणतया अपने परिवारों की स्त्रियों को परम्परागत स्थान प्रदान कर रखा था।

मुगल-काल में वेश-भूषा, शृंगार-प्रसाधनों, जेवरों तथा खान-पान आदि में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उच्च तथा मध्यम श्रेणी के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अंगरखा तथा चूड़ीदार पाजामा पहनते थे। साधारण हिन्दू धोती तथा मुसलमान पाजामा और कुर्ता पहनते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पगड़ी या साफे का प्रयोग करते थे यद्यपि इसके बाँधने के तरीके अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग थे। कमर में कमरबन्द और कन्धे पर शाल या दुपट्टा डालने का भी रिवाज था। बादशाह, धनी सरदार तथा व्यक्ति अपने वस्त्रों पर सोना, कसीदा, हीरा-मोती आदि का कार्य भी कराते थे। जूतों अथवा चप्पलों का प्रयोग धनवान व्यक्ति करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही जेवरों का प्रयोग करते थे। पुरुष मुख्यतया कण्ठहार, माला, कुण्डल आदि का प्रयोग करते थे जबकि स्त्रियाँ चूड़ियाँ, कड़े, बाजूबन्द, पायजेब आदि विभिन्न जेवरों का प्रयोग करती थीं। हिन्दू स्त्रियाँ धोती और विभिन्न प्रकार की चोलियों का प्रयोग करती थीं जबकि मुसलमान स्त्रियाँ पाजामा, घाघरा, जाकेट और दुपट्टे का प्रयोग करती थीं। शृंगार के लिए विभिन्न प्रकार के लेप, खुशबूदार तेल, इत्र, काजल, महावर, पान खाना आदि विभिन्न प्रसाधन प्रयोग में लाये जाते थे। अस्मत बेगम ने गुलाब के इत्र को तैयार करने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधि का पता लगाया था और नूरजहाँ तथा मुमताजमहल ने शृंगार-प्रसाधनों और जेवरों में सुरुचिपूर्ण परिवर्तन किये थे।

हिन्दू और मुसलमानों के भोजन में कोई विशेष अन्तर न था। धनवान व्यक्तियों के भोजन में माँस, पुलाव, रोटी, फल, दूध, घी, मक्खन आदि सभी सम्मिलित थे। भोजन विभिन्न प्रकार से और विभिन्न मसालों से परिपूर्ण बनाया जाता था। धनवान व्यक्तियों का भोजन बहुत श्रेष्ठ होता था और उसकी बहुत सी किस्में होती थीं। जनसाधारण का भोजन दाल, चावल, रोटी, सब्जी, दूध आदि का होता था। माँस का प्रयोग हिन्दू भी करते थे। केवल जैन और बहुत से प्रदेशों के ब्राह्मण ही माँस का प्रयोग नहीं करते थे। मादक-द्रव्यों में शराब, अफीम और तम्बाकू का प्रयोग प्रमुख था।

इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक दृष्टि से भारतीय समाज मुगल-काल में भी विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था और अपनी-अपनी आय के अनुसार प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों की वेश-भूषा, खान-पान, निवास-स्थान और रहन-सहन के स्तर में बहुत अन्तर था। बादशाह शान-शौकत और विलासिता का जीवन व्यतीत करता था। मुगल बादशाहों के महल किलों के अन्दर ही होते थे और वह तथा उसका परिवार और सगे-सम्बन्धी श्रेष्ठतम जीवन का उपभोग करते थे और विलासिता की अनेक वस्तुओं को विदेशों से भी मँगाते थे। शाही कारखानों में सर्वप्रथम उसकी और उसके महल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रेष्ठतम पोशाकें, कालीन, पर्दे, फर्नीचर आदि बनाये जाते थे। मुगल बादशाह अत्यधिक धनवान थे और उसी प्रकार उन्होंने अपना जीवन-स्तर बना रखा था। उत्तरकालीन मुगल बादशाह, निस्सन्देह, इसमें अपवादस्वरूप रहे। बादशाह की नकल करते हुए उसके सभी अमीर, सूबेदार, सरदार आदि वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। उनको भी जीवन की श्रेष्ठतम वस्तुएँ उपलब्ध थीं। शहर का व्यापारी वर्ग कई स्तरों में बँटा हुआ था। धनी व्यापारी अमीरों की तरह सभी जीवन-सुविधाओं का उपभोग करते थे यद्यपि वे धन का प्रदर्शन नहीं करते थे। अन्य व्यापारी सुखद जीवन व्यतीत करते थे। उनके पास भी अच्छे निवास-स्थान थे जो ईंट-पत्थरों से बने होते थे। शहरों में अन्य धन-सम्पन्न वर्ग में साधारण व्यापारी तथा सरकारी कर्मचारी थे जो दो मंजिल तक के मकान बनाकर रहते थे। शहरों के कारीगर और मजदूर-वर्ग की स्थिति ठीक नहीं थी। अधिकांशतया वे झोंपड़ियों में रहते थे और वहीं पर अपनी व्यावसायिक वस्तुएँ भी तैयार करते थे। इस कारण शहरी-जीवन में धनवान और निर्धन वर्गों के व्यक्तियों की वेशभूषा, खान-पान और रहन-सहन में बहुत अन्तर था। गाँवों में भी आय के आधार पर अन्तर थे। छोटे जमींदार, खुदकाश्त किसान, किराये पर भूमि लेकर खेती करने वाले किसान और किसान-मजदूर की वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि में अन्तर होना स्वाभाविक था यद्यपि ये अन्तर शहरी-जीवन की तुलना में कम थे।

मनोरंजन के लिए नाच-गाना, नाटक, नौका-विहार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत से खेल थे। शतरंज, चौपड़, ताश, बल्ले के खेल, कुश्ती, जादूगरी आदि जनसाधारण में प्रचलित थे। पशुओं की लड़ाइयाँ, चौगान (पोलो) और जंगली पशुओं का शिकार बादशाह और अमीरों के मनोरंजन के साधन थे।

विभिन्न मेले और उत्सव धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति तथा मनोरंजन दोनों के ही लिए थे। नौरोज, ईद, शबेरात, बारावफात मुसलमानों के त्यौहार थे। होली, दीवाली, दशहरा, बसन्त, दुर्गा-पूजा, गणेश-उत्सव, आदि हिन्दुओं के प्रमुख त्यौहार थे। इन सभी अवसरों पर तथा बादशाह और शाहजादों के जन्म-दिवस आदि पर दरबार में उत्सव होते थे, विभिन्न स्थानों पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेले लगते थे और बड़े तथा छोटे, अमीर तथा गरीब सभी इनमें भाग लेते थे। भारतीयों के सामूहिक जीवन में इन मेलों, उत्सवों और त्यौहारों का विशेष महत्व था।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध, एकीकरण की प्रकृति 16वीं से 18वीं सदी के सन्दर्भ में

मुगल-काल के सामाजिक जीवन की एक मुख्य विशेषता हिन्दू और मुसलमानों का पहले की तुलना में एक-दूसरे के अधिक निकट आना था। नानक, कबीर, चैतन्य, मलूकदास और दादू जैसे धर्म-प्रचारकों, सूफी सन्तों तथा अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने इस कार्य में बहुत सहयोग दिया। एक लम्बे समय के संघर्ष के पश्चात् हिन्दू और मुसलमान मुगल-काल में एक-दूसरे के स्थान पर मिलकर रहने की अच्छाई समझने लगे थे। इससे भारत का सामाजिक जीवन पहले की तुलना में अधिक उदार और शान्तिपूर्ण बन गया था।

दिल्ली-सल्तनत काल में ही हिन्दू और मुसलमानों में एकीकरण की प्रकृति आरम्भ हो गयी थी यद्यपि इस काल में वह बहुत सीमित रही और उसका प्रभाव मुख्यतया शहरों और शासक-वर्ग में ही दृष्टिगोचर हुआ। मुगल-काल में मुख्यतया अकबर के शासनकाल से इस एकीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति, राजपूत-नीति, सभी व्यक्तियों को योग्यतानुसार पद प्रदान करना आदि ने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जिससे हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार हुआ। लम्बे समय तक फारसी भाषा के अध्ययन ने भी हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में सहायता की। बाद में उर्दू भाषा हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही लोकप्रिय हुई। उसने भी हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में सहायता दी। एकीकरण की यह प्रकृति न केवल सामाजिक दृष्टि से ही दृष्टिगोचर होती है अपितु सांस्कृतिक दृष्टि में भी यह स्पष्ट रूप से विद्यमान है। मुगल-स्थापत्य-कला और मुगल-चित्रकला मूल रूप से भारतीय हैं और हिन्दू तथा मुस्लिम कलाओं के मिश्रित रूप हैं। साहित्य की दृष्टि से भी अकबर के समय से ही अनेक संस्कृत के ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद आरम्भ हुआ। उससे हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे को समझने का अवसर मिला। विभिन्न हिन्दू सन्तों और सूफी-सन्तों ने भी हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट आने का और एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करने का सन्देश दिया। इन सभी परिस्थितियों ने हिन्दू और मुसलमानों के मध्य एकीकरण की प्रकृति को प्रोत्साहन दिया। निश्चय ही दिल्ली-सल्तनत-युग की तुलना में मुगल-युग में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अधिक निकटता के हुए। निस्सन्देह, बादशाह औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति ने इस प्रकृति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न किया परन्तु उत्तरकालीन मुगल-सम्राटों के समय में हिन्दू और मुसलमानों में राजनीतिक सन्तुलन स्थापित हो जाने के कारण पुनः हिन्दू और मुसलमानों के मध्य निकटता के सम्बन्ध स्थापित हुए और एक ऐसी संस्कृति का विकास सम्भव हुआ जिसके निर्माण में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने सहयोग दिया। भारतीयों की वेश-भूषा, खान-पान, सामाजिक रीति-रिवाजों आदि पर इस मिली-जुली संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी दिया। हिन्दू और मुसलमानों ने न केवल एक दूसरे के निकट रहना सीखा अपितु एक दूसरे से व्यावहारिक रूप में बहुत कुछ सीखा और एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया। 16वीं सदी से लेकर 18वीं सदी तक की भारतीय संस्कृति वस्तुतः हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का मिला-जुला स्वरूप थी। परन्तु इसकी एक सीमा अवश्य रही। यह संस्कृति शहरों और उनके निकट के स्थानों में ही सीमित रही थी। जनसाधारण इस संस्कृति से अधिक प्रभावित नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त धार्मिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट नहीं आये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार मुगल-काल के सामाजिक जीवन का अपना एक पृथक स्वरूप था। साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि के साथ बढ़ती हुई विलासिता और उसके साथ बढ़ती हुई अनैतिकता उसमें थी परन्तु सामाजिक शिष्टाचार, जीवन की बढ़ती हुई सुविधाएँ, सुरुचिपूर्ण नागरिक जीवन और सामाजिक स्थिरता भी उसमें थी जिसके फलस्वरूप मुगल-काल में सांस्कृतिक प्रगति सम्भव हुई।

[3]
धार्मिक स्थिति

हिन्दू, इस्लाम, सिख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, आदि विभिन्न धर्मावलम्बी भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। हिन्दू धर्म के मानने वाले इसमें बहुसंख्यक थे। इस समय भी हिन्दुओं ने मुख्यतया भक्ति-मार्ग का अनुसरण किया। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे परन्तु उनमें सबसे प्रमुख सम्प्रदाय वैष्णव-सम्प्रदाय था। वैष्णव-सम्प्रदाय के मानने वाले चार प्रमुख शाखाओं में विभाजित थे। प्रथम सम्प्रदाय रामानुज के समर्थकों का था जो लक्ष्मीनारायण की पूजा और भक्ति में विश्वास करते थे। दूसरा सम्प्रदाय चैतन्य के समर्थकों का था। वे चैतन्य को 'गौरंग महाप्रभु' के नाम से पुकारते थे और श्रीकृष्ण की पूजा तथा भक्ति में विश्वास करते थे। भजन-कीर्तन, रासलीला आदि के द्वारा भावना से ओत-प्रोत होकर नाचना-गाना और कृष्ण को याद करना इनका प्रमुख धार्मिक कार्य था। संस्कृत और बंगला भाषा में उन्होंने बहुत से भजनों और कीर्तनों की रचनाएँ कीं। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तर-प्रदेश में यह सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था। तीसरा सम्प्रदाय वल्लभाचार्य के समर्थकों का था। वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ और उसके पुत्र गोकुलनाथ ने इस सम्प्रदाय को बहुत लोकप्रिय बनाया। यह कृष्ण के पूजक थे और मूर्ति-पूजा पर बल देते थे। इस सम्प्रदाय के समर्थकों में आठ श्रेष्ठ कवि और गायक हुए जिनमें से सूरदास और मीराबाई विशेष लोकप्रिय हुए। उनके द्वारा रचित भजन लाखों व्यक्तियों को प्रेरणा देने वाले सिद्ध हुए। चौथा सम्प्रदाय रामानन्द के समर्थकों का था जो राम-सीता के पुजारी थे। इनके समर्थक विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँट गये और उन्होंने भक्ति पर बल देते हुए भी ईश्वर की उपासना में विश्वास करना सिखाया। दादू, मलूकदास, शिवदयाल जैसे सन्त इन्हीं में से थे और उनमें से प्रत्येक ने एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की। परन्तु इनमें से सभी ने भक्ति-मार्ग पर बल दिया और जाति-प्रथा का विरोध किया। परन्तु उच्च जाति के ऐसे हिन्दू भी थे जो राम-सीता की भक्ति में विश्वास करते हुए भी निर्गुण ईश्वर के इन उपासकों से पृथक रहे। इनका नेतृत्व तुलसीदास ने किया। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' की रचना करके राम-सीता को देवत्व का स्थान प्रदान किया और राम-सीता की भक्ति और पूजा को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। इन विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में अन्तर था परन्तु सभी एक बात में एकमत थे। वे सभी ईश्वर से प्रेम और भक्ति में विश्वास करते थे और उसी को ईश्वर-प्राप्ति अथवा मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग मानते थे। इन्होंने भक्ति-मार्ग को भारत में सबसे अधिक लोकप्रिय बना दिया। भक्ति-मार्ग ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति की, भारतीय संस्कृति को दर्शन, भजन, गान, मन्दिरों आदि के निर्माण से समृद्ध बनाया और जनसाधारण के सम्मुख ईश्वर-प्राप्ति का सरल मार्ग प्रस्तुत किया। परन्तु बहुत से अज्ञानी और स्वार्थी व्यक्तियों ने इनका दुरुपयोग भी किया। 'सखी-सम्प्रदाय' ने केवल कृष्ण को ही एकमात्र पुरुष माना और शेष सभी पुरुषों को स्त्री माना। उनके पुरुष-समर्थकों ने स्त्रियों की वेश-भूषा धारण करनी आरम्भ की और स्त्रियों के साथ रासलीलाएँ आरम्भ कर दीं जिससे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री-पुरुषों के अनैतिक सम्बन्ध आरम्भ हुए। इसी प्रकार गुरु को कृष्ण का स्वरूप मानकर स्त्रियों को गुरु को समर्पित करने की रीति से अनाचार फैला। मन्दिरों में भी धन का अपव्यय किया जाने लगा। कृष्ण की रासलीलाएँ भी गलत तरीके से प्रयोग में लायी गयीं और स्त्री-पुरुषों के अनुचित सम्बन्धों को बढ़ावा मिला।

मुसलमानों में सुन्नी, शियाओं, बोहरा तथा खोजाओं जैसे विभिन्न वर्गों के अतिरिक्त एक मुख्य सम्प्रदाय सूफियों का था। यह सम्प्रदाय भारत में मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना से पहले ही प्रवेश कर गया था परन्तु तुर्की साम्राज्य की स्थापना के समय से अनेक सूफी सन्त भारत में आकर बस गये और उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। सूफी-सम्प्रदाय में भी ईश्वर से प्रेम और उसकी भक्ति पर बल दिया गया। यह ठीक है कि सूफी-सम्प्रदाय भारत में विदेशों से आया और उसकी उत्पत्ति इस्लाम के अन्तर्गत हुई परन्तु भारत में आकर इसने बहुत-कुछ हिन्दुओं के वेदान्त-दर्शन से भी प्राप्त किया। मुगल-काल में यह प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो गया, मुख्यतया सूफियों के चिश्ती-सम्प्रदाय पर। इस्लाम में व्यक्ति और ईश्वर का सम्बन्ध एक गुलाम और मालिक के सम्बन्धों के समान माना गया है जबकि सूफियों ने व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्धों को एक प्रेमिका और प्रेमी के रूप में व्यक्त किया। यह प्रभाव हिन्दू-धर्म के भक्ति-मार्ग के कारण है। इसी प्रकार अहिंसा और शान्ति की भावना हिन्दू, बौद्ध, जैन और ईसाई धर्म की विशेषता तो मानी जा सकती है परन्तु इस्लाम धर्म की नहीं। परन्तु इसे सूफियों ने स्वीकार किया। इसी प्रकार ईश्वर का ध्यान करना, अपने शरीर को कष्ट देना आदि विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ सूफियों ने भारतीय धर्मों और वातावरण से प्राप्त कीं। मुगल-काल में सूफी-सम्प्रदाय के अनेक सन्त हुए और उन्होंने अपने विचारों से बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों को प्रभावित किया। सूफी विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। मुगल-काल में इनके प्रमुख सम्प्रदाय चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी और नक्शबन्दी थे। फतेहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती, शेख अब्दुल कादिर, शेख मीयान मीर, शेख अहमद सरहिन्दी, शेख वली उल्लाह आदि उस समय के मुख्य सूफी सन्त थे। सूफी-सम्प्रदाय ने सादगी, सच्चाई, प्रेम और ईश्वर की एकता पर बल दिया। अधिकांश सूफी सन्त पारिवारिक सन्त थे और विवाह करते थे। संसार में रहते हुए सत्कर्म करना उनका उद्देश्य था। 17वीं और 18वीं सदी में सूफी-सम्प्रदाय हिन्दू और मुसलमान दोनों में पर्याप्त लोकप्रिय था तथा उसने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में योग दिया। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "सूफी दर्शन ने शासक-वर्ग और शासित प्रजा को निकट लाने का प्रयत्न किया।" भक्ति-मार्ग की प्रेम की भावना के दुरुपयोग से जिस प्रकार दुष्परिणाम निकला था, उसी प्रकार कहीं-कहीं सूफियों के प्रेम की भावना का भी दुरुपयोग किया गया अन्यथा सूफी धर्म का प्रभाव साधारणतया ठीक था।

मुगल-काल की एक मुख्य विशेषता सिख-सम्प्रदाय की उत्पत्ति और विकास था। गुरु नानक (1469-1539 ई) ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। नानक स्वयं किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करना चाहते थे। उनके समय में सिख-सम्प्रदाय का नाम भी यह नहीं था। सिख-धर्म हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत ही एक सुधारवादी आन्दोलन था। सिख नाम 'शिष्य' के अपभ्रंश से पड़ा है जिसे उनके बाद के अनुयायियों ने स्वीकार किया। नानक एक पारिवारिक सन्त थे। उन्होंने धार्मिक समानता, एक ईश्वर, सत्कर्म, नैतिकता, सत्य, ईमानदारी, दया और सज्जनता पर बल दिया। दान करना, ईश्वर (हरि) का स्मरण करना और गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति रखना भी उन्होंने सिखाया। कर्म-सिद्धान्त, जीव के आवागमन के सिद्धान्त और मोक्ष में उनका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास था, परन्तु वे अवतारवाद, कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, जाति-विभेद और मौलवियों एवं पण्डितों की श्रेष्ठता के विरुद्ध थे। वे हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर नहीं करते थे और दोनों वर्गों से उन्होंने शिष्य बनाये थे। नानक के पश्चात् सिखों के नौ गुरु और हुए। दूसरे गुरु अंगद के नानक के उपदेशों का स्थानीय भाषा में संकलन किया। तीसरे गुरु अमरदास ने सिख-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए 22 गद्दियों की स्थापना की, सती-प्रथा का विरोध किया, वैवाहिक क्रियाओं को सरल बनाया, पर्दा-प्रथा का विरोध किया और मादक-वस्तुओं के प्रयोग का निषेध किया। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी रामदास को 'देवत्व गुणों' से युक्त बताया और अपने शिष्यों से माँग की कि वे अपनी सम्पत्ति और आत्मा गुरु की इच्छा पर छोड़ दें। चौथे गुरु रामदास हुए जिन्होंने गुरु की गद्दी को पैतृक बनाया और सिखों को यह विश्वास दिलाया कि एक गुरु की आत्मा दूसरे गुरु में स्वतः ही आ जाती है। पाँचवें गुरु अर्जुन ने विभिन्न गुरुओं के उपदेशों का संकलन कराया और 'आदि-ग्रन्थ' की रचना की। उन्होंने ही अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण कराया। जहाँगीर ने खुसरो के विद्रोह के अवसर पर गुरु से असन्तुष्ट होकर उन्हें कैद में डाल दिया और वहीं उनकी मृत्यु हुई। छठे गुरु हरगोविन्द ने सिखों को सैनिक बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया और शाहजहाँ से उनका संघर्ष हुआ। सातवें गुरु हरराय, आठवें गुरु हरिकिशन, नवें गुरु तेगबहादुर और दसवें गुरु गोविन्दसिंह औरंगजेब के समय में हुए। औरंगजेब के सम्बन्ध इन सभी से खराब रहे और नवें गुरु तेगबहादुर को उसने बन्दी बनाकर कत्ल करा दिया। उनके पुत्र और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को शक्तिशाली सैनिक-सम्प्रदाय (खालसा) में परिवर्तित करने में सफलता पायी और उन्होंने जीवनपर्यन्त औरंगजेब से संघर्ष किया। उनके समय तक सिख-सम्प्रदाय पंजाब में धर्म और राजनीति दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण बन गया। सिख-सम्प्रदाय ने पंजाब के जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। यद्यपि सिख-सम्प्रदाय अपने मूल धर्म की प्रवृत्ति को खोता जा रहा है और उसमें भी अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड सम्मिलित होते जा रहे हैं परन्तु फिर भी मुगल-काल में ही नहीं बल्कि आधुनिक समय में भी उसने भारत के धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

मुगल-काल की एक मुख्य विशेषता हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का उत्पन्न होना था। इस युग के मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों और प्रवर्तकों जैसे भक्ति-मार्ग-प्रचारक, सूफी और सिख-सम्प्रदाय ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में सहयोग प्रदान किया। निरन्तर एक लम्बे समय तक संघर्ष करने के पश्चात्, सम्भवतया, हिन्दू और मुसलमान दोनों एक साथ मिलकर रहने की आवश्यकता अथवा बाध्यता को समझ गये थे। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और राजनीतिक समानता की नीति ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। इस कार्य में एक बाधा औरंगजेब की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने पहुँचायी। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् मराठों, सिखों, राजपूतों और जाटों के राजनीतिक उत्थान के कारण पुनः हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया और भारत में धार्मिक असहिष्णुता के लिए कोई स्थान न रहा। 18वीं सदी में भी हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध निकटता के थे और ये सम्बन्ध उस समय तक बने रहे जब तक अंग्रेजी शासनकाल में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति को नहीं अपनाया गया। इस कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि यद्यपि हिन्दू और मुसलमान मिलकर पूर्णतया एक तो कभी न हो सके परन्तु पहले के तुर्क और अफगान-काल तथा बाद के अंग्रेजी-काल की तुलना में मुगल-काल में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अधिक अच्छे रहे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-काल में जनसाधारण का धार्मिक जीवन सरल था। अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड और जादू-टोनों में विश्वास करते हुए भी व्यक्ति अधिकांशतया सदाचारी थे। धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से मुगल-काल में कोई विशेष बात नहीं हुई। प्राचीन धर्मों को सुधारने का प्रयत्न अवश्य किया गया था परन्तु यह प्रयत्न अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ। अतः धर्म को सहिष्णुता, सरलता, सदाचार, सत्कर्म और पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग पर स्थापित करने की आवश्यकता मुगल-काल में भी रही।

[4]

शिक्षा

मुगल-काल में शिक्षा का कोई पृथक विभाग न था और न व्यवस्थित रूप से शिक्षा की कोई योजना ही बनायी गयी थी। 'सद्रों' द्वारा दान के रूप में शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने की परिपाटी थी और उन्हीं की सिफारिश पर विद्वानों को धन, सम्मान और जागीरें दी जाती थीं। इस प्रकार मुसलमानों की शिक्षा पहले की भाँति मदरसों और मकतबों के द्वारा तथा हिन्दुओं की शिक्षा व्यक्तिगत प्रयत्नों एवं धनवान व्यक्तियों की सहायता से पाठशालाओं और विद्यापीठों के द्वारा चलती रही। **परन्तु मुगल बादशाहों ने शिक्षा के महत्व को समझा था। उनमें से प्रायः सभी शिक्षित थे और सभी ने विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया था।** इस कारण मुगल-काल में योग्य व्यक्तियों की शिक्षा का अभाव उस समय तक न रहा जब तक कि मुगल-साम्राज्य शक्तिशाली रहा। इसी कारण इस काल में अच्छी साहित्यिक प्रगति सम्भव हो सकी। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि मुगल-काल में राज्य ने जनसाधारण की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया और न ही उसके प्रति उत्तरदायित्व का अनुभव किया।

बाबर को एक विद्वान शासक माना गया है और वह साहित्य का प्रेमी था। उसने दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया जिसमें इस्लाम की धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त गणित, भूगोल और नक्षत्र-विज्ञान पढ़ाये जाने की व्यवस्था की गयी। हुमायूँ ने भी दिल्ली में एक मदरसा खोला। शेरशाह और उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी शिक्षा को राजकीय सहायता प्राप्त थी और शिक्षा का स्तर ठीक रहा। परन्तु उस समय तक शिक्षा में प्रमुख महत्व धार्मिक शिक्षा को दिया गया। अकबर ने यह अनुभव किया कि इस्लाम की धार्मिक शिक्षा को शिक्षा का प्रमुख आधार मानकर चलना शिक्षा की प्रगति के लिए हानिकारक है। अकबर ने विभिन्न स्थानों पर मकतब और मदरसे खुलवाये, हिन्दू पाठशालाओं और विद्यापीठों को सहायता दी तथा उदार धार्मिक विचारों के 'सद्रों' को नियुक्त किया गया। अकबर ने शिक्षा में गणित, भूगोल, नीतिशास्त्र, गृह-विज्ञान, शासन-व्यवस्था, चिकित्साशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयों की शिक्षा पर बल दिया। उसका विचार था कि केवल धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था पर बल देने से बुद्धि संकुचित हो जाती है। इस कारण संस्कृत विद्यालयों में भी उसने व्याकरण, न्याय और पातंजलि की टीका के अध्ययन पर बल दिया। अकबर ने शिक्षा प्रदान करने के तरीके में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। उसका कहना था : "इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए कि वह (विद्यार्थी) स्वयं ही प्रत्येक चीज को समझ सके। अध्यापक उसमें उसकी थोड़ी सहायता अवश्य कर सकता है।" अकबर के इन विचारों का कितना व्यावहारिक प्रयोग किया गया होगा, यह कहना कठिन है। परन्तु अकबर के समय में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विद्वान हुए, यह इस बात का प्रमाण है कि अकबर के समय में शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया गया था। अकबर के समय में हिन्दुओं को मुसलमान मदरसों और मकतबों में स्थान प्राप्त होने लगा जिससे हिन्दुओं ने फारसी भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। इसी समय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मुसलमानों ने भी संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। इस आदान-प्रदान के कारण संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद सम्भव हो सका। जहाँगीर के समय में भी मदरसों और मकतबों को पूर्ण सहायता मिलती रही। जहाँगीर ने यह नियम भी बनाया था कि यदि किसी सरदार की मृत्यु के पश्चात् उसका कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का उपयोग मदरसों की सहायता के लिए कर लिया जाय। शाहजहाँ के समय में भी मदरसों, मकतबों और हिन्दू-पाठशालाओं को सहायता दी गयी और उनकी संख्या में वृद्धि होती गयी। औरंगजेब के समय में मदरसों और मकतबों को तो सहायता दी गयी परन्तु हिन्दू-पाठशालाओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस कार्य में औरंगजेब को पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि अधिकांश पाठशालाएँ व्यक्तिगत प्रयत्नों से चलती थीं न कि राज्य की सहायता से। परन्तु फिर भी हिन्दुओं की शिक्षा पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में राज्य की ओर से शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाना सम्भव न हो सका परन्तु विभिन्न प्रान्तों में जो स्वतन्त्र राज्य बने उनमें से अनेक ने शिक्षा और विद्या के प्रसार में भाग लिया। फिर भी 18वीं सदी में बौद्धिक प्रगति का प्रवाह रुक गया था जिसका परिणाम भारत का बौद्धिक दिवालियापन और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का रुक जाना था।

मुगल-काल में दिल्ली, आगरा, फतेहपुरसीकरी, लखनऊ, अम्बाला, ग्वालियर, कश्मीर, इलाहाबाद, लाहौर, जौनपुर, स्यालकोट, आदि मुस्लिम शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। बादशाहों, सरदारों और सद्रों की सहायता से अनेक मकतब और मदरसे खोले गये थे। **मकतबों और मदरसों में फारसी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी।** यद्यपि सभी स्थानों पर शिक्षा का तरीका और शिक्षा के विषय एक-समान थे परन्तु विभिन्न विद्वानों के संरक्षण में विभिन्न मदरसे विशिष्ट विषयों की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। जैसे लखनऊ का 'फारंगी महल मदरसा' न्याय की शिक्षा के लिए, दिल्ली का शाह वली उल्लाह का स्कूल परम्परागत मान्यताओं की शिक्षा के लिए और स्यालकोट का मदरसा व्याकरण की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। विद्यार्थियों के लिए वार्षिक परीक्षाएँ नहीं होती थीं बल्कि अध्यापक की इच्छा के अनुसार उन्हें कक्षा में प्रवेश मिलता था अथवा उनकी उन्नति की जाती थी। एक विद्यार्थी की योग्यता का मापदण्ड उसके अध्यापक की योग्यता और उसका मदरसा होता था। विद्यार्थियों को तीन प्रकार की उपाधियाँ दी जाती थीं। तर्क और दर्शन के विद्यार्थी को 'फाजिल', धार्मिक शिक्षा के विद्यार्थियों को 'आलिम' और साहित्य के विद्यार्थियों को 'काबिल' प्रमाण-पत्र दिये जाते थे।*

हिन्दुओं की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ और विद्यापीठ होते थे। पाठशालाओं में प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी और विद्यापीठ में उच्च श्रेणी की शिक्षा का प्रबन्ध था। विभिन्न विद्वान अपने घरों पर भी विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। **संस्कृत भाषा और साहित्य शिक्षा के मुख्य विषय थे।** इनके अतिरिक्त, धार्मिक साहित्य, भूगोल, चिकित्साशास्त्र, गणित, व्याकरण आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। हिन्दू शिक्षा में मुसलमानी **शिक्षा की अपेक्षा धर्म की शिक्षा का अभाव था।** इस कारण विभिन्न अन्य विषयों की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण थी। **बनारस, मथुरा, इलाहाबाद, अयोध्या, नदिया, मिथिला, श्रीनगर आदि हिन्दुओं की शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे।** बनारस प्राचीन काल से हिन्दू-धर्मशास्त्रों, संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत भाषा की शिक्षा का केन्द्र रहा था। उस समय भी वह शिक्षा का एक

---

* डॉ. ए एल. श्रीवास्तव : मध्ययुगीन भारतीय सभ्यता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य केन्द्र था। यात्री बर्नियर ने बनारस की तुलना ग्रीस के एथेन्स नगर से की थी। टैवर्नियर ने भी शिक्षा के क्षेत्र में बनारस की प्रशंसा की थी। इसी प्रकार, बंगाल में नदिया शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था। शिक्षा का उससे भी प्राचीन केन्द्र बिहार में मिथिला नगर था। हिन्दुओं का शिक्षा की ओर अधिक झुकाव था। पाठशालाएँ नगरों और गाँवों तक फैली हुई थीं जो साधारणतया मन्दिरों से जुड़ी हुई थीं और जहाँ पर विद्यार्थी प्रायः चार वर्ष निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करता था। पाँच वर्ष की आयु में बच्चे को पाठशाला भेज दिया जाता था। पाठशाला में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार विद्यापीठ में प्रवेश के लिए जा सकता था।

लड़कियों की शिक्षा के लिए कोई पृथक व्यवस्था न थी और उनके अध्ययन के विषय ही पृथक थे। पाठशालाओं में लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। हिन्दू अपनी लड़कियों की शिक्षा में अधिक रुचि लेते थे। परन्तु लड़कियों में उच्च शिक्षा का अभाव था। धनवान व्यक्ति अपनी लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अपने घर पर ही करते थे और उन्हीं को उच्च शिक्षा सुलभ हो सकती थी। इसी प्रकार, शाहजादों की शिक्षा के लिए योग्य विद्वानों की नियुक्ति की जाती थी।

मुगल-काल की इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था इस दृष्टिकोण से समुचित मानी जा सकती है कि मध्ययुगीन परम्परा के अनुसार मुगल बादशाहों के संरक्षण में शिक्षा को सहायता दी जाती थी, समाज के उच्च वर्ग को शिक्षा की सुविधा प्राप्त थी, फारसी भाषा को राजभाषा बनाकर शिक्षा में समानता और एकता लाने का प्रयत्न किया गया था, विद्वानों को दरबार में आश्रय प्राप्त होता था और जब तक मुगल-साम्राज्य दृढ़ रहा तब तक शिक्षा-संस्थाओं को सुरक्षा और प्रगति करने का अवसर प्राप्त होता रहा था। एक अन्य दृष्टिकोण से यह शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण थी और अपर्याप्त थी। इसमें धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया गया था, राज्य की ओर से जनसाधारण की शिक्षा का प्रयत्न नहीं किया गया था, और इसमें राज्य के प्रयास कम और व्यक्तिगत प्रयास अधिक थे। स्त्री-शिक्षा प्रायः नाममात्र के लिए थी। इसमें विभिन्न तकनीकी, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इस प्रकार की शिक्षा एक व्यक्ति केवल अपने परिवार से, किसी कुशल व्यक्ति के साथ कार्य करने से अथवा शाही कारखानों में कार्य करने से ही प्राप्त कर सकता था। ऐसी स्थिति में ऐसी शिक्षा की प्रगति सम्भव न थी। इस कारण भारत इन क्षेत्रों में अन्य देशों से पिछड़ गया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी प्रगति सम्भव नहीं हुई। 18वीं सदी में उत्पन्न हुई अव्यवस्था ने शिक्षा के क्षेत्र को और अधिक सीमित कर दिया। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि चाहे राज्य के प्रयत्न हों अथवा व्यक्तिगत, मुगल-काल में अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा में कमी न थी। इसी कारण इस युग में हमें साहित्य और ललित-कलाओं की दृष्टि से अभाव प्रतीत नहीं होता। यदि इस शिक्षा में कोई दोष था तो यह कि इसने तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया तथा बाद के समय की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गयी और इसका भाग्य राजनीतिक परिस्थितियों से बँध गया।

[5]

साहित्य

साहित्यिक दृष्टि में मुगल-काल प्रगतिशील था। इस समय में विभिन्न भाषाओं के साहित्य का निर्माण हुआ। नवीन रचनाएँ और अनुवाद दोनों ही दृष्टि से इस समय में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्वपूर्ण कार्य हुआ। फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि के अतिरिक्त उर्दू भाषा का विकास भी उस काल में हुआ तथा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई।

1. फारसी-साहित्य

मुगल-काल में फारसी (Persian) साहित्य की विशेष प्रगति हुई। अकबर के अतिरिक्त अन्य सभी मुगल बादशाह शिक्षित थे और सभी ने साहित्यिक प्रगति में सहयोग प्रदान किया। मुगल-राज्य का संस्थापक बाबर एक विद्वान शासक था और उसके दरबार में विद्वानों का आदर किया जाता था। उसने अपनी आत्मकथा 'तुजुके-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' तुर्की में लिखी थी और वह इतनी श्रेष्ठ मानी गयी कि तीन बार उसका फारसी में अनुवाद किया गया और विभिन्न यूरोपियन भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ। बाबर तुर्की और फारसी में कविता करता था। उसका कविता-संग्रह 'दीवान' (तुर्की) बहुत प्रसिद्ध हुआ। हुमायूँ तुर्की तथा फारसी साहित्य का अच्छा ज्ञाता था तथा उसे दर्शन, गणित और नक्षत्र-विज्ञान का भी ज्ञान था। उसने विभिन्न विद्वानों को अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया। हुमायूँ के शासनकाल में 'मिर्जा हैदर दोगलत' ने 'तारीखे रशीदी' नामक फारसी ग्रन्थ लिखा। जिसमें मध्य एशिया के तुर्कों का इतिहास एवं हुमायूँ के काल का विस्तार से वर्णन मिलता है। अकबर स्वयं शिक्षित न था परन्तु उसने अपनी उदारता से ऐसा वातावरण बनाया जिससे उसके समय में साहित्यिक प्रगति सबसे अधिक हुई। उसने फारसी भाषा को राजभाषा बनाया और संस्कृत, अरबी, तुर्की, यूनानी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद करने के लिए एक 'अनुवाद-विभाग' (Translation Department) स्थापित किया। उसके समय में अनेक विद्वानों को राज्य का संरक्षण प्राप्त हुआ। अकबर के काल में संभवतः कुरान का पहली बार अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त सिंहासन बत्तीसी तथा पंचतंत्र का कलीला एवं दिमना नाम से तथा अबुल फजल ने 'कालिया दमन' का 'अयोरे-ए-दानिश' 'यार-ए-दानिश' नाम से अनुवाद किया गया। जहाँगीर स्वयं शिक्षित विद्वान और आलोचक था। उसने अपने शासनकाल के 17वें वर्ष तक अपनी आत्मकथा 'तुजुके-जहाँगीरी' को लिखा यद्यपि उसके पश्चात् यह कार्य मोतमिदखाँ को दे दिया गया। जहाँगीर के दरबार में विद्वानों का सम्मान था जिन्होंने मूल पुस्तकों की रचना की। जहाँगीर के समय में अनुवाद का कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। शाहजहाँ के समय में भी अनेक विद्वान हुए और उसके पुत्र दाराशिकोह के प्रयत्नों के कारण संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। औरंगजेब स्वयं एक श्रेष्ठ विद्वान था यद्यपि उसे कविता और इतिहास की पुस्तकों से घृणा थी। उसके समय में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मुहम्मदशाह के समय तक तो फारसी भाषा राजभाषा बनी रही परन्तु उसके पश्चात् उसका स्थान उर्दू ने ले लिया। परन्तु फिर भी बाद के समय में अनेक पुस्तकें फारसी में लिखी जाती रहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण मुगल-काल में फारसी-साहित्य को राज्य का संरक्षण प्राप्त होता रहा और उसकी प्रगति होती रही।

फारसी-साहित्य में मुख्य स्थान आत्मकथाओं एवं ऐतिहासिक पुस्तकों का है। बाबर की आत्मकथा 'तुजुके-बाबरी', अबुल फजल का 'अकबरनामा' और 'आइने-अकबरी', निजामुद्दीन अहमद का 'तबकाते अकबरी', गुलबदन बेगम का 'हुमायूँनामा', जौहर का 'तजकिरातुल वाकयात', अब्बास सरवानी का 'तौफाये-अकबरशाही' उर्फ 'तारीखे शेरशाह', 1,000 वर्षों का इस्लाम का इतिहास बनाम 'तारीखे अलफी', जिसे विभिन्न विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्न से लिखा गया, बदायूँनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीख', अहमद यादगार का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तारीखे सलातीने अफगाना', बयाजिद सुल्तान का 'तारीखे हुमायूँ' और फैजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा' आदि इतिहास की वे रचनाएँ हैं जो (तुजुके-बाबरी को छोड़कर) अकबर के समय में लिखी गयीं। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुके-जहाँगीर' को लिखा और उसी के समय में मोतमिदखाँ ने उसकी अधूरी आत्मकथा को पूरा करने के अतिरिक्त 'इकबालनामा-ए-जहाँगीर', ख्वाजा कामगर ने 'मअस्सरे जहाँगीर', और नियामतउल्ला ने 'मकज्जम-ए-अफगानी', मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने 'तारीखे-फरिश्ता' और मुल्ला नहबन्दी ने 'मअस्सरे रहीनी' को लिखा। शाहजहाँ के समय की पुस्तकों में अब्दुल हमीद लाहौरी का 'पादशाहनामा', अमीनाई काजविनी का 'पादशाहनामा', इनायतखाँ का 'शाहजहाँनामा' और मुहम्मद सालेह का 'आलमे सालेह' प्रमुख हैं। औरंगजेब इतिहास की पुस्तकों की रचना में विश्वास नहीं करता था परन्तु फिर भी उसके समय में विद्वानों ने स्वयं ही कुछ श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना की। उनमें खफीखाँ की 'मुन्तखब-उल-लुवाब', मिर्जा मुहम्मद काजिम का 'आलमगीरनामा', मुहम्मद सकी का 'नुएक दिलकुशा', ईश्वरदास का 'फतुहात-ए-आलमगीरी', और सुजानराय की 'खुलासात-उत-तारीख' प्रमुख हैं। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में भी अनेक ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी गयीं। इनमें से अधिकांश की रचना मुगल दरबार के विद्वानों ने की और अन्यों की रचना विभिन्न प्रान्तीय स्वतन्त्र सरदारों के संरक्षण में रहने वाले विद्वानों ने की। इनमें से प्रमुख गुलाम हुसैन की 'सिदरुल-मुतखारीन', मुहम्मद अली की 'तवारीखे मुजफ्फरी', हरिचरन दास की 'तवारीख चहार गुलजारे शुजाई' आदि प्रमुख हैं।

फारसी में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अन्य विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया जाना था। संस्कृत की पुस्तकों में से 'महाभारत' का अनुवाद नकीब खाँ, बदायूँनी, अबुल फजल, फैजी आदि विभिन्न विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्नों से किया गया। बदायूँनी ने रामायण का अनुवाद किया। उसने 'अथर्ववेद' को आरम्भ किया और उसकी पूर्ति हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने की। 'लीलावती' का अनुवाद फैजी ने किया, 'राजतरंगिणी' का अनुवाद शाह मुहम्मद शाहाबादी ने, 'कालियदमन' का अबुल फजल ने, 'नल-दमयन्ती' का फैजी ने और 'हरिवंश' का अनुवाद मौलाना शेरी ने किया। ये सभी कार्य अकबर के समय में हुए। शाहजहाँ के समय में उसके पुत्र दाराशिकोह के प्रोत्साहन से इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया गया। उसने उपनिषदों, भगवद्गीता और योगवशिष्ठ का अनुवाद फारसी में कराया। स्वयं दाराशिकोह ने एक मौलिक पुस्तक 'मंजुल-बहरीन' (दो समुद्रों का मिलन) लिखी जिसमें उसने हिन्दू और इस्लाम धर्म को एक ही ईश्वर की प्राप्ति के दो मार्ग बताये। इसके अतिरिक्त अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषाओं के बहुत से ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। बाइबिल का अनुवाद किया गया और कुरान की बहुत-सी टीकाओं का फारसी में अनुवाद हुआ। औरंगजेब ने बहुत से अरबी ग्रन्थों की सहायता लेकर फारसी में न्याय और कानून की एक पुस्तक 'फतवा-ए-आलमगीर' की रचना करायी।

फारसी-कविता के क्षेत्र में भी कार्य किया गया यद्यपि वह बहुत श्रेष्ठ कोटि का न बन सका। हुमायूँ ने स्वयं कुछ पद्यों की रचना की थी। अकबर के समय में फैजी, गिजाली और उर्फी फारसी के महत्वपूर्ण कवि हुए। अबुल फजल ने अकबर के दरबार के 59 कवियों के बारे में बताया है। जहाँगीर और नूरजहाँ को भी कविता करने का शौक था। शाहजहाँ की पुत्री जहाँनआरा तथा औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा भी कवियित्रियाँ थीं। अधिकांश कविताओं का विषय 'प्रेम' था और वह गजल, रुबाइयाँ आदि के रूप में तैयार की गयी थीं।

विभिन्न बादशाहों और सरदारों द्वारा लिखे गये पत्र भी फारसी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अबुल फजल और औरंगजेब द्वारा लिखे गये अनेक पत्रों को बहुत श्रेष्ठ माना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। मुनीर, राजा जयसिंह, अफजलखाँ और सादुल्लाखाँ द्वारा लिखे गये पत्र भी प्रशंसनीय हैं।

2. हिन्दी-साहित्य

मुगलों के भारत में आने के समय तक हिन्दी भाषा ने साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर लिया था। बाबर, हुमायूँ और शेरशाह के समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ परन्तु व्यक्तिगत प्रयासों से 'पद्मावत' और 'युगावत' नामक दो श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई। इसके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना भी इस समय तक हो चुकी थी। अकबर की उदारता और धार्मिक सहनशीलता की नीति ने हिन्दी-साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। उसके समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। परन्तु हिन्दी-साहित्य का निर्माण केवल दरबार के संरक्षण पर ही निर्भर नहीं रहा। व्यक्तिगत प्रयासों के कारण भी महान् ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। राजा बीरबल, राजा मानसिंह, राजा भगवानदास, नरहरि और हरिनाथ राजदरबार से सम्बन्धित विद्वान थे। नन्ददास, विट्ठलनाथ, परमानन्ददास, कुम्भनदास आदि ऐसे कवि थे जिन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। इसके अतिरिक्त ऐसे अन्य अनेक व्यक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की सेवा की। परन्तु उस समय के हिन्दी विद्वानों में तुलसीदास और सूरदास का विशेष महत्व है। तुलसीदास ने प्रायः 25 ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। तुलसीदास का राजदरबार से कोई सम्बन्ध न था। उनका जीवन अधिकांशतया बनारस में व्यतीत हुआ। परन्तु उन्होंने जिस प्रकार के दोहों और चौपाइयों की रचना की उनकी नकल करने के प्रयत्न भी असफल हुए हैं। उनकी रचनाओं को भाव, भावना, भाषा आदि सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतम माना गया है। उतना ही श्रेष्ठ स्थान कृष्ण-भक्त सूरदास का है। अब्दुर्रहीम खानखाना से उनका सम्पर्क रहता था। वह अन्धे थे और आगरा में ही रहते थे। उन्होंने 'सूर-सागर' में जिन पदों का संग्रह किया है वह भक्ति-रस की श्रेष्ठतम रचनाएँ मानी गयी हैं। इस समय में एक महत्वपूर्ण स्थान मीराबाई का भी है जिनके भजन हिन्दी-साहित्य में अभी तक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परन्तु अकबर के समय का हिन्दी-साहित्य अब्दुर्रहीम खानखाना और रसखान की रचनाओं को सम्मिलित किये बिना पूरा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से मुसलमानों ने भी हिन्दी-साहित्य की सेवा की तथा अब्दुर्रहीम ने सैकड़ों पद, दोहे और सतसैया तथा कृष्ण-भक्ति पर लिखे रसखान के भजन और 'प्रेमवाटिका' नामक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। अकबर का समय हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल था, यह निस्सन्देह स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँगीर और शाहजहाँ ने हिन्दू विद्वानों का सम्मान किया। जहाँगीर का भाई दानियाल हिन्दी में कविता करता था और जहाँगीर के दरबार में वृक्ष-राय (बूटा), राजा सूरजसिंह, अनूप गोसाईं, राय मनोहरलाल और बिशनदास जैसे हिन्दी के विद्वान थे। शाहजहाँ के काल में भी हिन्दी की पर्याप्त प्रगति हुई। सुन्दर कविराय जिन्होंने 'सुन्दर-शृंगार' लिखा, सेनापति जिन्होंने 'कवित्त रत्नाकर' लिखा, कवीन्द्र आचार्य जिन्होंने 'कवीन्द्र कल्पतरु' नामक कविता को मिश्रित अवधी और ब्रजभाषा में लिखा तथा शिरोमणि मिश्र, बनारसीदास, भूषण, मतिराम, वेदांगराय, हरीनाथ आदि हिन्दी के विद्वान शाहजहाँ से संरक्षण प्राप्त किये हुए थे। इसके अतिरिक्त कवि देव ने अनेक धार्मिक कविताओं की रचना की, पन्ना के प्राणनाथ ने जिन्होंने प्राण-पन्थी सम्प्रदाय को आरम्भ किया और अहमदाबाद के दादू ने जिन्होंने दादू-पन्थी सम्प्रदाय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ किया, अनेक धार्मिक कविताओं की रचना की। हिन्दी के महान् कवि बिहारी को राजा जयसिंह का संरक्षण प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा रचित दोहे अभी तक हिन्दी में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। महाकवि केशवदास इसी समय में ओरछा में हुए। उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'अलंकार-मंजरी' का हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। औरंगजेब ने हिन्दी को संरक्षण नहीं दिया परन्तु फिर भी हिन्दू-राजाओं के संरक्षण और व्यक्तिगत प्रयत्नों से 18वीं सदी तक हिन्दी की निरन्तर प्रगति होती रही।

3. संस्कृत-साहित्य

उस युग में संस्कृत-साहित्य में श्रेष्ठ मौलिक रचनाओं का अभाव रहा परन्तु फिर भी संस्कृत भाषा की स्थिति पूर्ववर्ती सल्तनत-काल से अच्छी रही। अकबर ने संस्कृत के विद्वानों का सम्मान किया। अबुल फजल ने अपने समय के संस्कृत के अनेक विद्वानों का उल्लेख किया है। उसके समय में संस्कृत और फारसी भाषा का एक कोष 'फारसी-प्रकाश' तैयार किया गया। अनेक हिन्दू और जैन आचार्यों ने संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। दरभंगा के महेश ठाकुर ने अकबर के समय का इतिहास संस्कृत में लिखा, जैन विद्वान पद्मसुन्दर ने 'अकबरशाही शृंगार-दर्पण' लिखा, जैन आचार्य सिद्धचन्द्र उपाध्याय ने 'भानुचन्द्र चरित्र' में अकबर के दरबार में गये जैन साधुओं के बारे में लिखा और देवविमल तथा अन्य विद्वानों ने भी संस्कृत में अपनी रचनाएँ लिखीं। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अकबर की परम्परा को स्थापित रखा। शाहजहाँ के समय तक राजदरबार में संस्कृत के विद्वानों को आश्रय मिलता रहा। कवीन्द्र आचार्य सरस्वती और जगन्नाथ पण्डित राज्य के कवि थे और जगन्नाथ पण्डित ने 'रस-गंगाधर' और 'गंगा-लहरी' की रचना की थी। औरंगजेब ने संस्कृत को संरक्षण देना समाप्त कर दिया। हिन्दू-राजाओं से इसे संरक्षण मिलता रहा परन्तु बाद में इसकी प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

4. उर्दू-साहित्य

तुर्क और अफगान-काल में ही उर्दू भाषा का निर्माण हो चुका था। पहले इसे 'जवान-ए-हिन्दवी' पुकारा गया परन्तु बाद में इसका नाम उर्दू हो गया। उर्दू की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। मुहम्मद हुसैन आजाद इसे फारसी और ब्रजभाषा के सम्पर्क का परिणाम मानते हैं, महमूद शेरवानी ने इसे फारसी, पंजाबी तथा सिन्धी के सम्पर्क का परिणाम बताया है, डॉ. मसूद हुसैन ने इसे फारसी और हरियाणवी भाषा के सम्पर्क का परिणाम बताया है, तथा डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने इसे दिल्ली और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में सदियों से बोली जाने वाली वह भाषा माना है जिस पर फारसी भाषा का भी प्रभाव पड़ा। अमीर खुसरो पहला विद्वान था जिसने उर्दू भाषा को अपनी कविताओं का माध्यम बनाया। उसके पश्चात् सूफी सन्तों और भक्ति-मार्ग के कुछ सन्तों ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए इसका प्रयोग किया तथा इसे लोकप्रिय बनाने में सहायता दी। परन्तु उर्दू को किसी भी तुर्क अथवा अफगान-शासक ने मान्यता प्रदान नहीं की। शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने उर्दू को कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया। **मुगल बादशाहों में से मुहम्मदशाह (1719-48 ई.) पहला बादशाह था जिसने उर्दू को प्रोत्साहन दिया।** उस समय तक दक्षिण-भारत के मुसलमानी राज्यों में यह भाषा लोकप्रिय हो चुकी थी। मुहम्मदशाह ने दक्षिण के प्रसिद्ध कवि शम्सुद्दीन वली को अपने दरबार में बुलाकर सम्मानित किया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे फारसी भाषा को समझने की कठिनाई तथा बादशाहों के संरक्षण के कारण उर्दू लोकप्रिय भाषा बन गयी। धीरे-धीरे इसमें हिन्दी के शब्दों के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा। इसमें अनेक लोकप्रिय शायर हुए और दिल्ली तथा उत्तर-प्रदेश में यह भाषा पर्याप्त लोकप्रिय हो गयी। 19वीं सदी में अंग्रेजों ने भी उर्दू को प्रोत्साहन दिया और उत्तर-भारत के एक बड़े भाग में यह भाषा लोकप्रिय बन गयी तथा अनेक विद्वानों ने अपने लेखन से इसे साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध बनाया।

उपर्युक्त भाषाओं के साहित्य के निर्माण के अतिरिक्त मुगल-काल में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं, जैसे बंगाली, गुजराती, तमिल, तेलुगू, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं की भी प्रगति हुई। भक्ति-मार्ग के विभिन्न प्रचारकों के अतिरिक्त प्रान्तीय सूबेदारों के संरक्षण और व्यक्तिगत प्रयत्न इनके विकास के लिए उत्तरदायी हुए। अनेक विद्वानों ने धार्मिक साहित्य और वीरगाथाओं का निर्माण किया। पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी भाषा का महान् कवि हुआ तथा बंगला-साहित्य में कृष्णदास कविराज और वृन्दावन ने महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस प्रकार, मुगल-काल में साहित्यिक दृष्टि से बहुत उन्नति हुई और इस दृष्टि से यह युग भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण माना गया है।

[6]

कला

1. स्थापत्य-कला

ललित-कलाओं के विकास की ओर मुगल बादशाहों ने पूर्ण ध्यान दिया। उनमें श्रेष्ठ स्थान स्थापत्य-कला (वास्तुकला) का है। मुगल बादशाहों को इमारतें बनवाने का शौक था। शाहजहाँ के समय तक अनेक ऐसी इमारतों का निर्माण हुआ जो अभी तक स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं।

जिस कला को मुगल-स्थापत्य-कला पुकारा गया है वह मध्य-एशिया की इस्लामी कला और भारतीय हिन्दू-कला का मिश्रित रूप है। मुगलकालीन स्थापत्य की मुख्यतम विशेषता संगमरमर के पत्थरों पर हीरे-जवाहरात से की गयी जड़ावट 'पित्रादुरा' एवं महलों तथा विलास भवनों में बहते पानी का उपयोग है। अकबर ने इस कला के निर्माण में सहयोग दिया। जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में अकबर का दृष्टिकोण राष्ट्रीय था उसी प्रकार ललित-कलाओं के क्षेत्र में भी उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय रहा और उसने इच्छा एवं सुविधा के अनुसार हिन्दू-कला और कलाकारों का उपयोग अपनी इमारतें बनवाने के लिए किया। उससे पहले के दिल्ली-सुल्तानों के समय में भी इस्लामी-कला को हिन्दू-कला प्रभावित कर चुकी थी। अकबर की उदारता ने उसे और आगे बढ़ा दिया। हिन्दू-कलाकारों का बहुसंख्यक मात्रा में होना और भारतीय जलवायु के अनुकूल इमारतों का निर्माण करना भी इस्लामी और हिन्दू-कला के निर्माण के लिए उत्तरदायी बने। इस प्रकार, अकबर के समय से इस्लामी और हिन्दू-कला के मिश्रण से जिस स्थापत्य-कला का विकास हुआ उसे राष्ट्रीय स्थापत्य-कला स्वीकार किया जा सकता है। इस कला में इस्लामी-कला से गोल गुम्बद, ऊँची-ऊँची मीनारें और मेहराब, छतें, खम्भे और नुकीली मेहराबें ली गयी थीं। आरम्भ में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया तथा इमारतों को विशाल एवं मजबूत बनाने पर बल दिया गया लेकिन बाद में इन इमारतों में सफेद संगमरमर के प्रयोग को सम्मिलित किया गया तथा उन्हें नक्काशी, सोने-चाँदी के पानी के प्रयोग और रंगीन बेल-बूटों आदि के द्वारा अत्यधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। यह सभी कुछ मिलाकर मुगल-स्थापत्य-कला श्रेष्ठ बनी और इस समय में भव्य इमारतों का निर्माण हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम मुगल बादशाह बाबर इमारतें बनवाने का शौकीन था और उसने पाया कि भारत में मजदूरी बहुत सस्ती है। उसके समय में हजारों मजदूरों ने आगरा, बयाना, धौलपुर आदि स्थानों पर इमारतें बनाने का कार्य किया। बाबर राजा मानसिंह और राजा विक्रमाजीत द्वारा बनवायी गयी ग्वालियर की इमारतों से बहुत प्रभावित हुआ था यद्यपि कला का पारखी होने के कारण वह उनके दोषों को भी समझ सका था। अपने अल्प-शासनकाल में बाबर ने बड़ी इमारतों को बनवाने का कार्य नहीं किया। उसने कुएँ, तालाब, फव्वारे, स्नानगृह आदि ही बनवाये जो समय के प्रभाव के कारण नष्ट हो गये अथवा सूर-वंश के शासकों द्वारा नष्ट कर दिये गये। उसके समय की केवल तीन मस्जिदें प्राप्त होती हैं। उसके द्वारा बनवायी गयी एक मस्जिद पानीपत में काबुलीबाग में है और दूसरी रुहेलखण्ड में सम्भल में है। ये दोनों मस्जिदें 1529 ई. में तैयार की गयी थीं। उसके समय की तीसरी मस्जिद अयोध्या में है। परन्तु इन तीनों में से किसी को भी कला का श्रेष्ठ नमूना नहीं माना जा सकता हैं। हुमायूँ भी कला के विकास की दृष्टि से कोई सराहनीय कार्य नहीं कर सका। 'दीनपनाह' नामक उसका महल शेरशाह द्वारा नष्ट कर दिया गया और आगरा तथा फतेहाबाद में बनवायी गयी उसकी दो मस्जिदें कला के अच्छे नमूने नहीं माने जा सकते।

शेरशाह द्वारा बनवाया गया सहसराम (बिहार) का स्वयं का मकबरा मुगल इमारतों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। परन्तु वह इस युग की कला का एक श्रेष्ठतम नमूना है। **एक विशाल झील के मध्य में बना हुआ शेरशाह का यह मकबरा उसके 'व्यक्तित्व का प्रतीक', तुगलक बादशाहों की इमारतों की सादगी और शाहजहाँ की इमारतों की स्त्रियोचित सुन्दरता के बीच की कड़ी, 'उत्तर-भारत की इमारतों में एक श्रेष्ठ इमारत' आदि पुकारा गया है।** हिन्दू और इस्लामी-कला का प्रभाव इसमें स्पष्ट है। दिल्ली में 'पुराना किला' और उसमें बनी हुई मस्जिद (किला-ए-कुहना) भी शेरशाह ने बनवायी थी। परन्तु 'पुराना किला' तो अब अवशेष मात्र ही है।

अकबर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत दिल्ली में बना हुआ हुमायूँ का मकबरा है। इसे अकबर की सौतेली माँ हाजी बेगम ने फारसी कलाकार मीरन मिर्जा गियास की सेवाएँ उपलब्ध करके बनवाया था। इस पर फारसी कला का प्रभाव है। लम्बी गर्दन वाले गुम्बद की इमारत की कला की समता समरकन्द में बने हुए तिमूर या बीबी खानम के मकबरे से की जा सकती है। मकबरे के चारों ओर चारबाग की रचना की गयी है। अपनी इमारतों को बागीचों का निर्माण करके सुन्दर बनाना मुगल-स्थापत्य-कला की एक मुख्य विशेषता रही। उस विशेषता का प्रयोग इस मकबरे में भी किया गया है। इमारत के मुख्य कक्ष से पानी के बहने के लिए नालियाँ निकाली गयी हैं जिनके बीच में बराबर दूरी पर फव्वारे बनाये गये हैं। मकबरे में आने-जाने के लिए पक्के रास्ते बनाये गये हैं जिनके किनारे-किनारे फूलों की क्यारियाँ हैं। इमारत में विस्तृत रूप से घास के लॉन भी बनाये गये हैं। मुगलों द्वारा आरम्भ में बनायी गयी इमारतों में हुमायूँ का मकबरा सबसे अधिक सुन्दर है। वह मजबूत भी है जिसके कारण अभी तक पूर्णतया सुरक्षित है।

हुमायूँ का मकबरा बनवाने में अकबर ने कोई भाग नहीं लिया था। इसके पश्चात् की बनी सभी इमारतों पर अकबर के व्यक्तित्व और विचारों की छाप है। अकबर के समय में आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किले बनवाये गये, उनमें बहुत सी इमारतें बनवायी गयीं और फतेहपुरसीकरी के नगर और उसमें अनेक इमारतों का निर्माण किया गया। आगरा और लाहौर के किले तथा फतेहपुरसीकरी की अनेक इमारतें अब भी हैं लेकिन इलाहाबाद के किले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बहुत सी इमारतें नष्ट हो गयी हैं। इन सभी इमारतों के बनाने में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। इनमें हिन्दू तथा इस्लामी कलाओं का खुलकर प्रयोग हुआ है। आगरा का किला करीब 15 वर्षों में बना और इसी के साथ-साथ लाहौर के किले का भी निर्माण हुआ। इलाहाबाद का किला कुछ समय बाद का है। इनकी दीवारें इतनी सुदृढ़ बनायी गयी हैं कि पत्थरों के जोड़ों के बीच में से बाल तक नहीं निकल सकता। आगरा के किले में पहले चार प्रवेश-द्वार थे परन्तु बाद में दो बन्द कर दिये गये। शेष दो द्वारों में से एक दिल्ली द्वार और दूसरा अमरसिंह द्वार कहलाता है। किले का घेरा करीब डेढ़ मील है जिसमें अकबर ने लगभग 500 इमारतें बनवायी थीं। इनमें से बहुत सी इमारतों को शाहजहाँ ने तुड़वाकर दुबारा बनवाया अथवा उनके स्वरूप को बदल दिया। इनमें से प्रमुख 'जहाँगीर महल' और 'अकबरी महल' हैं। आगरा के किले की साधारण रूपरेखा राजा मानसिंह द्वारा बनवाये गये ग्वालियर के किले से मिलती है और इसमें बनी इमारतें भी हिन्दू-कला से प्रभावित हैं। लाहौर के किले की रूपरेखा भी आगरा के किले के समान है यद्यपि उसकी इमारतों में सजावट अधिक की गयी है। परन्तु अकबर की सुन्दरतम इमारतें फतेहपुरसीकरी (आगरा के निकट) में बनवायी गयीं। यद्यपि आधुनिक समय में फतेहपुरसीकरी एक उजड़ा हुआ स्थान है लेकिन अकबर की कला को देखने के लिए बड़ी दूर-दूर से व्यक्ति वहाँ जाते हैं। वहाँ की इमारतों में दीवाने-आम, दीवाने-खास, पंचमहल, तुर्की सुल्ताना का महल, खास-महल, जोधाबाई-महल, मरियम-महल, बीरबल-महल, हिरन-महल, जामा-मस्जिद, हाथी-पोल, बुलन्द-दरवाजा और शेख सलीम चिश्ती का मकबरा प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ सैकड़ों इमारतें हैं। वे सभी सुन्दर हैं और सम्भवतया एक ही स्थान पर इतनी सुन्दर इमारतों का किसी अन्य स्थान पर पाया जाना सम्भव नहीं है। पाँच मंजिल के पंचमहल में जितने भी स्तम्भ हैं वे सभी विविध प्रकार के हैं। प्रत्येक स्तम्भ की सजावट एक दूसरे से भिन्न है और प्रायः कलश, घण्टियाँ, फूल और पत्तियों को बनाया गया है। तुर्की सुल्ताना का महल इतना सुन्दर है कि पर्सी ब्राउन ने उसे 'स्थापत्य-कला का मोती' कहा है। जोधाबाई का महल यह संकेत देता है कि मुगल-परिवार के सदस्य रहने के लिए किस प्रकार की व्यवस्था पसन्द करते थे। अकबर की पत्नी मरियम के महल पर फारसी-कला का प्रभाव है। उसके स्तम्भ और दीवारें बन्दर, हाथी, चीता जैसे जानवरों और विभिन्न रंगों के पत्थरों में मानव-आकृतियों से सजायी गयी थीं। जामा-मस्जिद भारत में बनी हुई मस्जिदों में श्रेष्ठ स्थान रखती है। भूमि से 176 फीट ऊँची और पहले चबूतरे से 134 फीट ऊँचाई का बुलन्द-दरवाजा अपने आप में एक विशाल और सुन्दर इमारत मानी जाती है। शेख सलीम चिश्ती की कब्र पर सीपियों से बने हुए स्तम्भ सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। निस्सन्देह, फतेहपुरसीकरी में बनी इमारतें मुगल-काल की इमारतों में बनी बहुत श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "फतेहपुरसीकरी के समान न तो उससे पहले ही कुछ बन सका और न उसके बाद कुछ बनना सम्भव है। यह पत्थरों में ढाला गया एक रोमान्स है।" अकबर ने अटक, मेड़ता, अजमेर आदि अन्य स्थानों पर भी कुछ किले, मस्जिदें, फव्वारे आदि बनवाये।

जहाँगीर को स्थापत्य-कला के स्थान पर चित्र-कला और बागीचे लगाने का शौक था। फिर भी उसके समय में कुछ इमारतों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त, स्थापत्य-कला उसी समय से एक नवीन मोड़ लेती है। सफेद संगमरमर का प्रयोग और उस पर अधिकतम पच्चीकारी जो शाहजहाँ के समय में श्रेष्ठतम स्थिति में पहुँच गयी, जहाँगीर के समय में आरम्भ हुई। जहाँगीर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत आगरा के निकट सिकन्दरा में अकबर का मकबरा है। इसकी योजना अकबर ने बनायी थी परन्तु जहाँगीर ने उसमें थोड़ा परिवर्तन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया और उसे पूर्ण किया। चारों तरफ से एक मील के घेरे में फैले हुए विस्तृत बागीचे के मध्य में बना यह पाँच मंजिल का मकबरा अकबर के विशाल और उदार हृदय का प्रतीक है। दक्षिण की तरफ इसका प्रवेश-द्वार है और इसके चारों कोनों पर संगमरमर के बने हुए चार गुम्बद हैं। चार मंजिलें पाँच चबूतरों पर बनी हुई हैं जिनमें से प्रत्येक ऊपर की मंजिल नीचे की मंजिल से छोटी होती चली गयी है। सबसे ऊपर की मंजिल में संगमरमर से बनी हुई दीवारों से घिरा एक आँगन है जिसमें फारसी में अकबर के शासन की प्रशंसा में लिखे गये 36 दोहे (दो पंक्ति की कथाएँ) हैं। इस इमारत के ऊपर कोई गुम्बद नहीं है। अकबर के मकबरे की योजना सरल और सादी होते हुए भी बहुत प्रभावशाली है। हावेल ने लिखा है : "अकबर का मकबरा भारत के एक महान् शासक के लिए उपयुक्त मकबरा है।" इसे इस्लामी, हिन्दू, ईसाई और इनसे भी अधिक बौद्ध-कला का एक मिश्रित स्वरूप माना जा सकता है। जहाँगीर के समय की दूसरी इमारत लाहौर में बना स्वयं का मकबरा है। इसके अधिकांश भाग को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी बेगम नूरजहाँ ने बनवाया था। यह मकबरा भी एक विस्तृत बागीचे के बीच में बना हुआ है। परन्तु यह बहुत प्रभावशाली नहीं है। जहाँगीर के समय में बनी हुई एक महत्वपूर्ण इमारत आगरा का एत्मातुद्दौला का मकबरा है। इसे नूरजहाँ ने अपने पिता एत्मातुद्दौला की कब्र पर बनवाया था। मकबरे का मुख्य भाग पूर्णतया सफेद संगमरमर का बना हुआ है और इस ढंग की बनी हुई यह पहली मुगल इमारत है। इसमें अधिकतम पच्चीकारी की गयी है और संगमरमर के अतिरिक्त अन्य कीमती पत्थरों का भी प्रयोग किया गया है। दो मंजिल की यह इमारत एक विस्तृत बागीचे के मध्य में बनी हुई है। यह मकबरा अकबर और शाहजहाँ के समय के मध्य की कड़ी है। यह इतना सुन्दर है कि अनेक व्यक्ति इसे मुगल इमारतों में ताजमहल के बाद दूसरा स्थान प्रदान करते हैं। पर्सी ब्राउन ने इसे "अपनी तरह की इमारतों में सबसे अधिक पूर्ण" माना है।

शाहजहाँ के समय में मुगल-स्थापत्य-कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गयी। सफेद संगमरमर और अन्य कीमती पत्थरों का प्रयोग, अधिकतम पच्चीकारी, कीमती रंगों का प्रयोग आदि उसके समय की कला की विशेषता बन गये। उसकी इमारतों से ऐसा प्रतीत होता है मानो जौहरी और चित्रकार के कार्यों को पत्थरों में जड़ दिया गया हो। शाहजहाँ को स्थापत्य-कला का शौक था। उसने न केवल नवीन इमारतों का निर्माण कराया बल्कि आगरा और लाहौर के किलों में उसने अकबर द्वारा बनवायी गयी इमारतों को तुड़वाकर नवीन इमारतें भी बनवायीं। आगरा के किले में दीवाने-आम, दीवाने-खास, मच्छी-भवन, शीशमहल, खासमहल, अंगूरी-बाग, झरोखा-दर्शन का स्थान, शाह-बुर्ज, मोती-मस्जिद, नगीना-मस्जिद आदि, आगरा में ही जामा-मस्जिद, दिल्ली की जामा-मस्जिद तथा लाल-किला और उसमें बनी हुई इमारतें, जैसे दीवाने-आम, दीवाने-खास, मोतीमहल, हीरामहल, रंगमहल, नहरे-बहिश्त आदि, और लाहौर के किले में दीवाने-आम, शाह-बुर्ज, शीशमहल, नौलखामहल और ख्वाबगाह आदि शाहजहाँ के समय की मुख्य इमारतें हैं। इनके अतिरिक्त काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार, अहमदाबाद आदि विभिन्न स्थानों में भी शाहजहाँ ने अनेक मस्जिद, मकबरे आदि बनवाये थे। परन्तु शाहजहाँ की श्रेष्ठतम इमारत आगरा में अपनी बीबी मुमताजमहल की याद में बनवाया गया संसार-प्रसिद्ध ताजमहल है जिसे 22 वर्षों में लगभग 9 करोड़ रुपये की लागत से बनवाया गया था। शाहजहाँ के द्वारा बनवायी गयी आगरा के किले की सभी इमारतें बहुत सुन्दर हैं परन्तु इनमें श्रेष्ठतम स्थान मोती-मस्जिद का है। दूध की तरह सफेद संगमरमर से बनी हुई यह मस्जिद अपने नाम 'मोती' की भाँति ही है। आगरा की जामा-मस्जिद शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँनआरा के द्वारा बनवायी गयी थी। दिल्ली के लाल किले की इमारतें, उनमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पानी और फव्वारों का प्रबन्ध आदि इतना सुन्दर था जैसा कि वहाँ एक स्थान पर लिखा है कि "अगर भूमि पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है," स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु ताजमहल का स्थान इन सभी इमारतों में श्रेष्ठ है। एक विस्तृत बागीचे के उत्तरी भाग में सफेद संगमरमर की बनी हुई यह इमारत संसार की श्रेष्ठतम इमारतों में स्थान रखती है। भूमि से 22 फीट ऊँचे संगमरमर के चबूतरे पर बनी यह इमारत लगभग 108 फीट ऊँची है यद्यपि इसका मध्य गुम्बद 187 फीट ऊँचा है। चबूतरे के चारों कोनों पर चार सफेद मीनारें हैं और इसकी बगल से यमुना नदी बहती है। मध्य के ऊपरी भाग में मुमताजमहल और शाहजहाँ की नकली कब्र हैं और नीचे के भाग में उन दोनों की असली कब्र हैं। सुन्दर पच्चीकारी से अलंकृत जालियाँ, बेल-बूटों से सजी हुई दीवारें तथा लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई की दृष्टि से इमारत को एक इकाई का रूप प्रदान करने वाली कला न केवल ताजमहल के सौन्दर्य को बढ़ाने वाली है अपितु ताजमहल एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में संगमरमर में ढाला गया एक स्वप्न है जो एक महान् सौन्दर्य का प्रतीक माना जा सकता है। शाहजहाँ मुमताजमहल के सौन्दर्य को एक मूर्ति में तो नहीं ढाल सकता था क्योंकि यह इस्लाम धर्म के विरुद्ध था परन्तु उसने उसके सौन्दर्य को ताजमहल का निर्माण करके व्यक्त कर दिया। इसी कारण हावेल ने उसे "भारतीय नारीत्व की साकार प्रतिमा" कहा है। उसने लिखा है : "यह एक ऐसा महान् विचार है जो स्थापत्य-कला से नहीं बल्कि मूर्ति-कला से सम्बन्धित है।" ताजमहल के निर्माण की योजना के बारे में यह धारणा गलत सिद्ध कर दी गयी है कि इसके नक्शे को बनाने में किसी यूरोपियन कलाकार ने सहयोग दिया था। यह प्रमाणित किया जा चुका है कि इसका मुख्य कलाकार उस्ताद अहमद लाहौरी था जिसे शाहजहाँ ने 'नादिर-उज-असर' की उपाधि प्रदान की थी।

औरंगजेब की ललित-कलाओं में कोई रुचि न थी। उसके समय में किसी भी श्रेष्ठ इमारत का निर्माण नहीं हुआ। उसके समय में बनी हुई एक इमारत लाहौर की बादशाही मस्जिद है जिसे औरंगजेब ने, सम्भवतया, अपने निजी प्रयोग के लिए बनवाया होगा क्योंकि इसका आकार बहुत छोटा है। एक अन्य इमारत औरंगाबाद में बना औरंगजेब की बेगम रबिया दोरानी का मकबरा है। उसमें ताजमहल की नकल करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। उसके पश्चात् मुगल-स्थापत्य-कला को विकास का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और उसकी स्थिति निरन्तर गिरती चली गयी। विभिन्न प्रान्तों और बाद में स्वतन्त्र हुए राज्यों में अनेक इमारतें बनीं परन्तु उनमें से अधिकांश नष्ट हो गयीं। उनमें से बची इमारतों में श्रेष्ठ स्थान ग्वालियर के मान-मन्दिर, वृन्दावन के गोविन्ददेव के मन्दिर, जयपुर के हवा-महल, बीजापुर के गोल-गुम्बद और अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का है।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत के मुसलमान शासकों द्वारा भी बहुत बड़ी संख्या में अच्छी इमारतों का निर्माण कराया गया। इनमें से अहमदनगर के शासक अहमद निजामशाह का मकबरा, बाग-ए-रौजा, उसी के द्वारा बनवाया गया एक बाग और महल, हश्त-बहिश्त (आठवाँ स्वर्ग), बीजापुर के शासक अली प्रथम द्वारा बनवायी गयी जामा-मस्जिद, सुल्तान इब्राहीम द्वारा बनवाया गया स्वयं का मकबरा, आनन्द-महल, मिहतरु-महल और जामा-मस्जिद तथा गोलकुण्डा के सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह द्वारा बनवाये गये महल जैसे चन्दन-महल, हीरा-महल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस कारण मुगल-काल में स्थापत्य-कला की श्रेष्ठतम उन्नति हुई और भव्य महल, मकबरे, मस्जिदें आदि बनीं। मुगल-स्थापत्य-कला अपने में श्रेष्ठतम रही और उसने विभिन्न प्रान्तीय स्थापत्य-कलाओं को भी प्रभावित किया। यह कहना भूल होगी कि मुगलों की स्थापत्य-कला मूलतया विदेशी थी। यह कहना अधिक सत्य है कि मुगल-स्थापत्य-कला की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी पृथक विशेषता थी और विदेशी प्रभावों को अपने में सम्मिलित करते हुए भी उसका मूल स्वरूप भारतीय था। मुगलों द्वारा बनवायी हुई इमारतें टर्की, फारस और मध्य-एशिया की इमारतों से भिन्न हैं। ताजमहल का निर्माण केवल भारत में ही हो सकता था और उसकी नकल करने का प्रयत्न किसी अन्य स्थान पर सम्भव नहीं हुआ। ताजमहल भारतीय मुगल-स्थापत्य-कला का नमूना है और इस कारण उसकी अपनी एक पृथक विशेषता है और इसी कारण यह संसार में प्रसिद्ध है।

2. चित्रकला

हिन्दू-काल में भारत में चित्रकला में बहुत उन्नति हुई थी तथा हिन्दू और बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रचार होने से उसने एशिया के विभिन्न देशों की चित्रकला को प्रभावित किया था। परन्तु बाद के समय में इसकी प्रगति सम्भव न हो सकी तथा मुसलमान सुल्तानों के समय में भी यही स्थिति रही। मुगल बादशाहों ने चित्रकला को पुनर्जीवित किया और एक बार फिर उसे श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचा दिया।

मुगल-चित्रकला का जो स्वरूप बना वह फारस (ईरान) और भारतीय चित्रकला का मिश्रित स्वरूप था। मंगोलिया और चीन की चित्रकला को पहली बार फारस के मुसलमान शासकों ने संरक्षण प्रदान किया अन्यथा इस्लाम धर्म में चित्रकला का निषेध होने के कारण मुसलमान शासक इसको प्रोत्साहन नहीं देते थे। धीरे-धीरे फारस ने अपनी चित्रकला को विदेशी प्रभाव से मुक्त कर लिया और एक स्वतन्त्र फारसी-चित्रकला का निर्माण किया। बाबर और हुमायूँ का इसी फारसी-चित्रकला से सम्पर्क हुआ और उन्होंने उसे भारत मे लाने का प्रयत्न किया। फारस का प्रसिद्ध चित्रकार 'बिहजाद' (पूर्व का रैफेल) सम्भवतः बाबर के समय भारत आया था। क्योंकि तुजुके-बाबरी में एकमात्र चित्रकार 'बिहजाद' का ही नाम मिलता है। इसे बाबर ने अग्रणी चित्रकार कहा है। मुगल चित्रकला की नींव हुमायूँ के शासनकाल में पड़ी। अपने निर्वासन के दौरान उसने मीर सैयद अली और 'अब्दुस्समद' नामक दो फारसी चित्रकारों की सेवाएँ प्राप्त कीं जिन्होंने मुगल चित्रकला का शुभारम्भ किया। अकबर ने चित्रकला की प्रगति करने में विदेशी कलाकारों की सहायता ली परन्तु वह इसी से सन्तुष्ट न रह सका। उसने भारतीयों को प्रोत्साहन दिया तथा उसके दरबार में अनेक कलाकारों को संरक्षण प्राप्त हुआ। 'आइने अकबरी' में मीर सैयद अली और अब्दुस्समद के अलावा 15 प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम प्राप्त होते हैं जिनमें कम से कम तेरह हिन्दू चित्रकार थे। इससे फारसी और भारतीय कला का मिश्रण हुआ तथा उस शैली का निर्माण हुआ जिसे मुगल-चित्रकला-शैली के नाम से पुकारा गया। धीरे-धीरे यह शैली फारस की कला के प्रभाव से मुक्त होती गयी और उस पर भारतीय प्रभाव अधिक हो गया। इस कारण मुगल-चित्रकला का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया जिसके कारण यह कहा गया कि अकबर ने राष्ट्रीय चित्रकला-शैली का निर्माण किया। जहाँगीर के समय में यह कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गयी। शाहजहाँ ने भी इसे संरक्षण दिया परन्तु उसकी रुचि स्थापत्य-कला में अधिक थी। औरंगजेब ने चित्रकला को धर्म के विरुद्ध मानकर दरबार से हटा दिया और अनेक चित्र नष्ट कर दिये। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इस कला को प्रोत्साहन देने की स्थिति में नहीं थे और चित्रकला मुगल दरबार में संरक्षण न पा सकी। परन्तु उस समय तक प्रान्तों में चित्रकला का विकास हो गया था और विभिन्न हिन्दू-राजाओं और मुसलमान सूबेदारों अथवा स्वतन्त्र शासकों के संरक्षण में चित्रकला पनपती रही, विभिन्न शैलियों का निर्माण हुआ और चित्रकला को भारत में स्थायित्व प्राप्त हो गया।

बाबर और हुमायूँ को चित्रकला में रुचि थी और वे इस विषय में इस्लाम के निषेध को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। हुमायूँ जब फारस गया तो वह हिरात के प्रसिद्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रकार बिहजाद के शिष्य ख्वाजा अब्दुल समद और मीर सैयद अली के सम्पर्क में आया और उसने उन्हें अपने यहाँ आने के लिए आमन्त्रित किया। अब्दुस्समद ने जो कृतियाँ तैयार कीं, उसमें से कुछ जहाँगीर द्वारा तैयार की गयीं, 'गुलशन चित्रावली' में संकलित हैं। हुमायूँ जब काबुल में था, तभी वह दोनों उसके पास पहुँच गये थे। हुमायूँ और अकबर दोनों ने ख्वाजा समद से चित्रकारी की शिक्षा ग्रहण की।

जब अकबर बादशाह बना तो उसने चित्रकला को विशेष प्रोत्साहन दिया। उसने अब्दुल समद के नेतृत्व में चित्रकला का एक पृथक विभाग खोल दिया। पुस्तकों के लिए ही नहीं बल्कि फतेहपुरसीकरी के महलों की दीवारों पर भी उसने चित्र बनाने की आज्ञा दी। उसने चीन और फारस के विभिन्न कलाकारों को दरबार में आमन्त्रित किया, अनेक भारतीयों को कला की शिक्षा की सुविधा प्रदान की, उनको संरक्षण दिया तथा प्रत्येक की रुचि और योग्यता के अनुसार उन्हें कार्य दिया। अकबर के इन प्रयत्नों से सैकड़ों कलाकारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, अनेक चित्रों का निर्माण हुआ, मुगल-चित्रकला का निर्माण हुआ और एक राष्ट्रीय चित्रकला-शैली का विकास हुआ। अकबर के दरबार में प्रायः 100 अच्छे चित्रकार थे जिनमें से 17 को दरबार में प्रमुख स्थान प्राप्त था। इनमें विदेशी फारसी चित्रकार भी थे परन्तु हिन्दू-चित्रकारों की संख्या अधिक थी। फारसी-चित्रकारों में अब्दुल समद, मीर सैयद अली, फर्रुखबेग, जमशेद आदि मुख्य थे और हिन्दू-चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, साँवलदास, ताराचन्द, जगन्नाथ, लाल मुकन्द, हरिवंश आदि प्रमुख माने जाते थे। इस प्रकार अकबर ने मुगल-चित्रकला-शैली को भारत में स्थापित किया, उसकी प्रगति की और उसकी उन्नति के मार्ग खोल दिये।

जहाँगीर चित्रकला का शौकीन और पारखी दोनों ही था। उसके समय में मुगल-चित्रकला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी। जहाँगीर ने अपने बागीचे में एक चित्रकला-कक्ष का निर्माण कराया था। विभिन्न महलों में भी उसी प्रकार के कला-कक्ष रहे होंगे, यह माना जा सकता है। जहाँगीर के समय में चित्रकला की उन्नति का एक कारण कलाकारों को संरक्षण प्रदान करना था तो दूसरा कारण उसकी कला के प्रति रुचि और उसका स्वयं कला का अच्छा ज्ञाता होना था। अपनी आत्मकथा 'तुजुके-जहाँगीर' में उसने लिखा है : "कला में मेरी रुचि और ज्ञान इस सीमा तक पहुँच गया है कि यदि मेरे सम्मुख किसी भी मृत अथवा जीवित चित्रकार की कलाकृति प्रस्तुत की जाती है और मुझे इस चित्रकार का नाम नहीं बताया जाता है तो मैं तुरन्त बता देता हूँ कि यह अमुक व्यक्ति के द्वारा किया गया कार्य है। यदि एक ही चित्र में विभिन्न कलाकारों के द्वारा विभिन्न आकृतियाँ बनायी गयी हों तो मैं यह बता सकता हूँ कि अमुक आकृति अमुक चित्रकार ने बनायी है। यदि एक चित्रकार ने चेहरा बनाया हो और उस चेहरे में आँखें और भौहें किसी दूसरे चित्रकार ने बनायी हों तो मैं यह बता सकता हूँ कि अमुक चित्रकार ने मूल चेहरा और अमुक चित्रकार ने आँखें और भौहें बनायी हैं।" जहाँगीर के इस कथन को यदि अतिशयोक्ति भी मान लिया जाय तब भी यह उसकी रुचि का प्रतीक है। अच्छे से अच्छे चित्रकार जहाँगीर के दरबार में एकत्रित थे जिन्होंने अकबर के समय में आरम्भ किये गये कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। जहाँगीर ने हेरात के प्रसिद्ध चित्रकार 'आकारिजा' के नेतृत्व में आगरा में एक चित्रणशाला की स्थापना की। 'फारुख बेग' जिसने अकबर के समय में मुगल चित्रणशाला में प्रवेश किया था, जहाँगीर के समय उसने (फारुख बेग) 'बीजापुर के सुल्तान आदिलशाह का चित्र' बनाया था। अबुल हसन को 'नादिर-उज-जमात' और मसूर को 'नादिर-उज-असर' की उपाधियाँ दी गयीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगा रजा, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, बिशनदास, मनोहर, माधव, तुलसी, गोवर्धन आदि उसके दरबार के प्रमुख चित्रकार थे।

शाहजहाँ को चित्रकला की तुलना में स्थापत्य-कला का अधिक शौक था। परन्तु उसने भी चित्रकला को संरक्षण दिया। उसके समय में आकृति-चित्रण और रंग-सामंजस्य में कमी आ गयी परन्तु रेखांकन और बॉर्डर बनाने में उन्नति हुई। फकीर उल्ला, मीर हाशिम, अनूप, चित्रा आदि उसके दरबार के मुख्य चित्रकार थे। उसके समय में चित्रकारों की संख्या कम हो गयी थी। जहाँगीर की तुलना में शाहजहाँ के समय में चित्रकला की अवनति हुई थी। औरंगजेब ने चित्रकला का विरोध किया और उसने अनेक स्थानों के चित्रों को नष्ट किया। इस कारण चित्रकार मुगल दरबार से हटकर विभिन्न प्रान्तों में फैल गये। इससे चित्रकला की हानि हुई और लाभ भी। बादशाहों के संरक्षण के अभाव में उसकी प्रगति में बाधा पड़ी परन्तु प्रान्तीय शासकों के संरक्षण में एक अन्य दृष्टि से उसे लाभ हुआ। प्रान्तीय कला के रूप में चित्रकला के विभिन्न स्वरूप हो गये और चित्रकला जनजीवन के अधिक निकट हो गयी। बादशाह फर्रुखसियर और बादशाह मुहम्मदशाह ने भी चित्रकला को संरक्षण दिया परन्तु उस समय मुगल बादशाहों की स्थिति ऐसी न थी कि वे इस पर अधिक धन व्यय कर पाते। इस कारण मुगल-चित्रकला का पतन हो गया। 18वीं सदी के अन्त तक उस पर यूरोपियन चित्रकला का प्रभाव पड़ने लगा जो उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ और मुगल-चित्रकला अपने मूल स्वरूप से पृथक हो गयी।

मुगल-चित्रकला ने एक समय में बहुत उन्नतशील स्थान प्राप्त किया और भारतीय चित्रकला के इतिहास में उसका स्थान गौरवपूर्ण है। इस कला के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण हुआ था। बादशाहों और अमीरों की आकृतियाँ (portraits), दरबार और शिकार के दृश्य, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, बाग-बागीचे, फल-फूल, पेड़-पत्तियाँ आदि का चित्रण आदि सभी इसमें सम्मिलित थे। चित्रकारों ने आकृतियों के निर्माण में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। मुगल बादशाहों ने विभिन्न मुद्राओं में स्वयं के चित्र बनवाये और मुगल सरदारों ने भी ऐसा ही किया। स्त्रियों की आकृतियाँ, सम्भवतया, पर्दा-प्रथा के कारण मूल में प्रस्तुत नहीं हो सकी थीं परन्तु पुरुषों की आकृतियाँ पूर्णतया मूल में थीं। इसी प्रकार, विभिन्न दृश्यों, पशु-पक्षियों, फूलों, बाग आदि को भी चित्रकार सामने बैठकर बनाते थे। मुगल-चित्रकारों से आशा की गयी थी कि जो वे सामने देखें उसी को बनायें। इसी कारण उनके चित्रों में सजीवता एवं यथार्थता थी। मुस्लिम धार्मिक गाथाओं के चित्रों को बनाने में चित्रकारों ने संकोच किया था परन्तु हिन्दू पौराणिक गाथाओं और ईसाई धर्म की कहानियों को चित्रों में प्रस्तुत किया गया था। बड़े व्यक्तियों की जीवनियों को भी चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का कार्य मुगल-चित्रकारों ने किया। हमजाहनामा, बाबरनामा, तिमूरनामा, रज्मनामा, शाहनामा, लीलावती, लैला-मजनू, अकबरनामा, आदि को सफलतापूर्वक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। वस्तुतः मुगल-चित्रकला का आरम्भ पाण्डुलिपियों पर लघु-चित्र बनाने से ही हुआ। 'हमजाहनामा' फारसी अमीर हम्जा के वीरतापूर्ण कार्यों से सम्बन्धित अर्द्ध-पौराणिक ग्रन्थ है। अकबर ने, सर्वप्रथम, इस पुस्तक को ही चित्रों के रूप में तैयार करने की आज्ञा दी थी। बदायूँनी और शाहनवाज खाँ के अनुसार इसे तैयार करने में लगभग पन्द्रह वर्ष लगे थे और पहले सैयद अली तथा बाद में अब्दुल समद की देखरेख में प्रायः पचास चित्रकारों ने इसे तैयार करने में हिस्सा लिया। इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपियों में बने हुए लघु-चित्र अर्थात् हाशिया-चित्र मुगल-चित्रकला-शैली के उत्कृष्ट नमूने माने गये हैं। जहाँगीर के शासनकाल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाशिया-चित्रण का विकास कला की एक पृथक शाखा के रूप में हो गया और उसमें आलंकारिक आकारों के अतिरिक्त दृश्यों, पशु-पक्षियों, मानव-आकृतियों, पुष्पों, वृक्षों आदि के चित्रण को भी स्थान प्राप्त हो गया। शाहजहाँ के शासनकाल में इस हाशिया-चित्रण-कला का और अधिक विकास हुआ। अकबर ने छवि-चित्र बनाने के भी आदेश दिये थे जिसके कारण स्वयं अकबर के, उसके विभिन्न अमीरों के, उत्सवों आदि के बड़े-बड़े छवि-चित्र बनने आरम्भ हुए। बाद के काल में तो पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाने की परम्परा प्रायः लुप्त ही हो गयी। उनका स्थान व्यक्तियों के छवि-चित्रों, प्रकृति, दरबार, शिकार आदि के दृश्यों ने ले लिया। शानदार वस्त्र पहने हुए बादशाह और दरबारी, कीमती कालीन बिछे हुए कमरे, शराब पीती और पिलाती हुई स्त्रियाँ, धार्मिक साधना में लीन सन्त और फकीर, शिकार करते हुए अमीर, पारस्परिक युद्ध में लगे हुए पशु आदि विभिन्न दृश्यों को दर्शाते हुए हजारों चित्र इस समय में तैयार किये गये जिनकी प्रशंसा सभी के द्वारा की गयी है। पुस्तकों पर चित्र बनाना और सुन्दर लेखन-शैली भी इसकी अपनी विशेषता रही। अकबर के समय से प्रगति करती हुई मुगल-चित्रकला धीरे-धीरे अपने रंग के मिश्रण और अनुपात की दुर्बलता को दूर करती गयी और उसने चित्रकला के क्षेत्र में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बनाने में सफलता पायी। बाद के समय में मुगल-चित्रकला-शैली पर कुछ प्रभाव यूरोपीय चित्रकला का भी आया। अकबर के दरबार में ईसाई पादरी आने आरम्भ हुए। उन्होंने अन्य वस्तुओं के साथ बादशाह को यूरोप में बने चित्र भी भेंट-स्वरूप दिये जिनकी प्रशंसा हुई। इन चित्रों की अपनी कुछ पृथक विशेषता थी जिससे भारतीय चित्रकार प्रभावित हुए और उन्होंने अपने चित्रों में यूरोपीय चित्रों की कला को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जिसके कारण मुगल-शैली कुछ मात्रा में यूरोपीय-चित्रकला-शैली से भी प्रभावित हुई। मुगल-चित्रकला के नमूने बहुत बड़ी संख्या में देश-विदेश में उपलब्ध हैं, जैसे—ब्रिटिश म्यूजियम, सवाई मानसिंह संग्रहालय जयपुर, भारतीय संग्रहालय कलकत्ता, अमेरिका और यूरोप के विभिन्न म्यूजियम और संग्रहालय आदि में। मुगल-चित्रकला की एक दुर्बलता यह अवश्य थी कि उसमें साधारण जनजीवन को चित्रित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। वह मुख्यतया दरबार और बादशाहों के निकट रही। इस कारण जनजीवन का प्रभाव उस पर नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार से मुगल-चित्रकला श्रेष्ठ मानी जा सकती है।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत में भी चित्रकला का विकास हुआ। उसे मुगल-चित्रकला ने प्रभावित किया, यद्यपि कुछ अन्य दृष्टियों से वहाँ की कलाकृतियाँ मुगल-कलाकृतियों से भिन्न थीं। दक्षिण-भारत में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों ने भी अपने दरबारों में चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया। यह कहना उचित नहीं है कि इनमें से प्रत्येक राज्य में पृथक चित्रकला-शैली का विकास हुआ था यद्यपि थोड़ा-बहुत अन्तर इन स्थानों की शैलियों में रहा। इस कारण इन राज्यों की शैली को मिलाकर दक्षिण-भारत की मुगलकालीन-शैली कहना उचित है तथा यह भी स्वीकार करना ठीक है कि कुछ सीमा तक मुगल-चित्रकला-शैली ने दक्षिण-भारत की समकालीन चित्रकला को प्रभावित किया था। दक्षिण-भारत में बने हुए चित्रों में भारतीय इतिहास संशोधक मण्डल पूना में प्राप्त 'तारीख-ए-हुसैनशाही' की अपूर्ण पाण्डुलिपि पर बने हुए विचित्र चित्र हैं। इसी प्रकार एक अन्य ग्रन्थ 'नुजुम-अल-उल्म' में विभिन्न आकार के प्रायः 876 चित्र बनाये गये थे जो अब उपलब्ध हो चुके हैं। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय तथा उसके एक मन्त्री का एक चित्र भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में उपलब्ध है। ये चित्र तो उदाहरणस्वरूप हैं अन्यथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगलकालीन दक्षिणी-चित्रकला-शैली के अन्तर्गत तैयार किये गये अनेक चित्र विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध हैं।

राजपूत-चित्रकला—इस काल में राजपूत-चित्रकला-शैली भी राजस्थान के विभिन्न राजपूत-शासकों के संरक्षण में फली-फूली थी। उसकी अपनी अलग विशेषताएँ रहीं। मेवाड़, जोधपुर, जयपुर, बूँदी, कोटा, बीकानेर और किशनगढ़ राजस्थानी-चित्रकला के मुख्य केन्द्र-स्थान थे। इन विभिन्न राज्यों के विभिन्न शासकों के संरक्षण में राजस्थानी अथवा राजपूत-चित्रकला मुगल-चित्रकला से पहले भी किसी न किसी रूप में उपस्थित थी, मुख्यतया पाण्डुलिपियों पर लघु-चित्रों को चित्रित किये जाने की परम्परा राजस्थान में पहले भी किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। मुगल-काल में राजस्थान के अधिकांश शासक मुगल-दरबार के निकट सम्पर्क में आये, चित्रकला के प्रति उनकी रुचि बढ़ी, उन्होंने चित्रकारों को संरक्षण दिया और उनकी देखरेख में बड़ी संख्या में चित्रों का निर्माण हुआ। उससे राजस्थानी-चित्रकला मुगल-चित्रकला से प्रभावित हुई। परन्तु जब 17वीं सदी में मुगलों की राजनीतिक पकड़ राजस्थान में दुर्बल हो गयी तब वहाँ की संस्कृति और चित्रकला भी मुगलों के प्रभाव से पर्याप्त मात्रा में मुक्त हो गयी। उस समय से राजस्थानी-चित्रकला की अधिक प्रगति हुई तथा उसकी विभिन्न शैलियों का निर्माण हुआ।

राजस्थानी-चित्रकला-शैलियों को मूलतया चार भागों में बाँटा गया है—1. मेवाड़-शैली, 2. बूँदी-कोटा शैली, 3. मारवाड़-शैली और 4. जयपुर-शैली। मेवाड़-शैली के विकास के केन्द्र-स्थान चित्तौड़, उदयपुर, नाथद्वारा, देवगढ़ आदि रहे; बूँदी-कोटा-शैली के निर्माण के केन्द्र-स्थल बूँदी और कोटा ही रहे; मारवाड़-शैली का विकास मुख्यतया बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर, जैसलमेर आदि में हुआ और जयपुर-शैली के विकास-केन्द्र जयपुर, अलवर तथा आमेर रहे।

राजस्थानी-चित्रकला में **मेवाड़-शैली** पर मुगल-चित्रकला का प्रभाव न्यूनतम पड़ा क्योंकि हठी सिसोदिया-शासकों ने अकबर और जहाँगीर के प्रारम्भिक वर्षों में मुगल-आधिपत्य को स्वीकार करने से इंकार कर दिया जिसके कारण मेवाड़ मुगलों के सांस्कृतिक प्रभाव से भी मुक्त रहा। राणा प्रतापसिंह ने अकबर से संघर्ष करते हुए भी कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया था परन्तु इस शैली की चित्रकला का विकास मुख्यतया राणा जगतसिंह (1625-52 ई.) के शासनकाल में हुआ। इस शैली के अन्तर्गत **रागमाला, रामायण, रसमंजरी, गीत-गोविन्द, भागवत-पुराण** आदि पर आधारित विभिन्न चित्र बने। **बूँदी-शैली** के अन्तर्गत आरम्भ में **भागवत-पुराण, रसिकप्रिया, बारहमासा** आदि पर आधारित लघु-चित्र बनाये गये परन्तु 18वीं सदी में इस शैली के अन्तर्गत हाथियों की लड़ाई, शिकार करते हुए व्यक्ति, घुड़सवारी करते हुए सैनिकों आदि को चित्रित करने वाले चित्रों का बाहुल्य हो गया। इसके अतिरिक्त, बूँदी के राजमहलों तथा कुछ अन्य स्थानों पर भित्ति-चित्र भी बनाये गये जो अब भी सुरक्षित स्थिति में हैं और इस शैली के श्रेष्ठ नमूने माने गये हैं। कोटा का राजघराना बूँदी के राजघराने का ही एक भाग था। 1628 ई. में बादशाह शाहजहाँ ने बूँदी के राव रतनसिंह के भाई माधवसिंह को कोटा की जागीर प्रदान की। तब से कोटा का अस्तित्व पृथक हो गया। इस राजघराने के संरक्षण में पली हुई चित्रकला बूँदी-चित्रकला-शैली से कुछ भिन्न रही यद्यपि विस्तृत आधार पर उसी का एक भाग मानी जाती रही है। कोटा-घराने के संरक्षण में बने हुए चित्रों में शिकार, विभिन्न पशुओं की लड़ाइयाँ, राजाओं के मनोरंजन आदि के चित्रों की अधिकता है। कोटा के राजमहलों में सुन्दर भित्ति-चित्र भी बनाये गये थे जो अब भी सुरक्षित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और वहाँ की चित्रकला में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। **मारवाड़-शैली** के अन्तर्गत भी **भागवत-पुराण, बारहमासा, रागमाला** आदि पर आधारित विभिन्न चित्रों का निर्माण हुआ। बीकानेर और किशनगढ़ भी राजस्थानी-चित्रकला-शैली के विकास के मुख्य स्थान रहे जहाँ बने हुए चित्रों की अपनी कुछ पृथक विशेषताएँ भी रहीं यद्यपि मूल आधार पर वे मारवाड़-शैली का ही भाग माने गये। बीकानेर में बने चित्रों पर मुगल-चित्रकला का प्रभाव सबसे अधिक माना गया है। किशनगढ़ में राधा-कृष्ण की लीलाओं पर आधारित चित्र बहुत सुन्दर और बड़ी संख्या में बनाये गये। **जयपुर-शैली** के विकास में राजा जयसिंह, सवाई राजा जयसिंह, सवाई माधोसिंह प्रथम और सवाई राजा प्रतापसिंह के नाम प्रमुख हैं। इस शैली के अन्तर्गत **भागवत-पुराण, रागमाला, बारहमासा** आदि पर आधारित चित्र, छवि-चित्र और भित्ति-चित्र बड़ी संख्या में बनाये गये।

राजपूत-शैली में बनाये गये चित्रों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, दरबारी-चित्र जिनमें राजाओं तथा सरदारों के खड़े, बैठे, शिकार करते, मनोरंजन करते, दरबार में बैठे आदि के छवि-चित्र हैं। द्वितीय, साहित्यिक चित्र जिनमें साहित्यिक रचनाओं जैसे रसमंजरी, रसिकप्रिया, रागमाला, बारहमासा आदि की घटनाओं को चित्रित किया गया है। इनमें रामायण, महाभारत, कृष्णलीला, देवी-महात्तम, आदि धर्म से सम्बन्धित कथाओं और क्रियाओं को प्रदर्शित करते हुए चित्र भी सम्मिलित हैं। तृतीय, लोक-कला सम्बन्धी चित्र जिनमें जन-साधारण के जीवन और कार्यकलापों को प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक राजस्थानी या राजपूत-शैली की विशेषताओं का प्रश्न है वह पृथक-पृथक भागों में अपनी-अपनी पृथकताओं को लिये हुए थी। मेवाड़-शैली की विशेषता नीले, हरे अथवा लाल रंग की पृष्ठभूमि में गहरे और चमकीले रंगों का प्रयोग, पुष्पों और पक्षियों का चित्रण और परम्परागत राजस्थानी वेशभूषा में स्त्रियों एवं पुरुषों का चित्रण रहा। बूँदी और कोटा-शैली की विशेषता चटकीले रंगों का प्रयोग, स्त्री-आकृतियों का लम्बी और छरहरी होना, घने जंगलों के दृश्य, शिकार एवं पशुओं की लड़ाइयों का चित्रित किया जाना तथा राजाओं और उसके सरदारों को उनकी विभिन्न मुद्राओं में चित्रित करना रहा। जोधपुर-शैली में बीकानेर और किशनगढ़ में बने चित्रों को अधिक सुन्दर माना गया जिनकी विशेषता स्त्री-सौन्दर्य को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना और राधा-कृष्ण की लीला सम्बन्धी चित्रों का निर्माण रहा। जयपुर-शैली की विशेषता हरे, पीले, गुलाबी, लाल और सुनहरे रंगों का प्रयोग और बड़े-बड़े चित्रों का निर्माण रहा।

राजपूत-शैली पर, निस्सन्देह, मुगल-चित्रकला-शैली का प्रभाव था परन्तु तब भी यह प्रभाव न तो स्थायी था और न पूर्ण, जिसके कारण राजपूत-शैली मुगल-शैली से भिन्न रहकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हुई। इसके अन्तर्गत पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाये गये, छवि-चित्र बनाये गये, प्राकृतिक सौन्दर्य, शिकार और पशुओं की लड़ाइयों के चित्र बनाये गये तथा भित्ति-चित्र भी बने जिनकी संख्या असीमित है। इसके अतिरिक्त, राजपूत-शैली के अन्तर्गत बने लोक-कला सम्बन्धी चित्र अपनी पृथक विशेषता लिये हुए हैं। इनके माध्यम से जनसाधारण के जीवन की अभिव्यक्ति की गयी है जिसका मुगल-चित्रकला-शैली में अभाव रहा। इस प्रकार मध्य-युग में विकसित राजपूत या राजस्थानी-चित्रकला-शैली का भारतीय-चित्रकला में अपना पृथक और महत्वपूर्ण स्थान है।

पहाड़ी चित्रकला—इसी काल में **पहाड़ी-चित्रकला (बसौली और काँगड़ा-चित्रकला-शैली)** का विकास भी उत्तर-पश्चिम हिमालय-क्षेत्र के विभिन्न राज्यों में हुआ। इस चित्रकला की उत्पत्ति बसौली राज्य में हुई। कश्मीर में पनपी लोककला-भित्ति-शैली,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-शैली और राजस्थानी-शैली के समन्वय से इस शैली का जन्म हुआ। आरम्भ में इस शैली में भी **रसमंजरी, रागमाला, गीत-गोविन्द** तथा **रामायण** के वृत्तान्तों को चित्रों में प्रस्तुत किया गया। बाद में स्त्री-पुरुषों, जंगलों, पहाड़ों तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों तथा पशु-पक्षियों को विभिन्न मुद्राओं और स्थितियों में प्रस्तुत किया गया। पहाड़ी-चित्रकला में श्रेष्ठ स्थान काँगड़ा-शैली ने प्राप्त किया। इस शैली के विकास का मुख्य श्रेय वहाँ के शासक राजा संसार चन्द (1775-1823 ई.) को था जिसने आरम्भ से ही कलाकारों को अपना संरक्षण प्रदान किया। इस शैली के अन्तर्गत बने चित्र-समूहों में **भागवत-पुराण, गीत-गोविन्द, कवि बिहारी का सतसैया, रागमाला** और **बारहमासा** के कथानकों पर आधारित चित्रों को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काँगड़ा-शैली में प्रकृति-प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को सावधानी से चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। वैष्णव-गीतों को भी चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाना इस शैली की एक विशेषता रही। इसके अतिरिक्त, यहाँ के कलाकारों ने हिन्दी-साहित्य की कुछ नवीन रचनाओं को भी अपनी कला की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। कुछ चित्रों में हीर-राँझा, सोनी-महिवाल तथा सस्सी-पुन्नू आदि लोकप्रिय प्रेम-गाथाओं को चित्रित किया गया तथा कृष्ण-लीलाओं पर भी बड़ी संख्या में चित्र बनाये गये। इसके अतिरिक्त, इस शैली के अन्तर्गत बने विभिन्न राजाओं, दरबारियों, यूरोपीय यात्रियों, सेनापतियों, सरकारी कर्मचारियों आदि के छवि-चित्र भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। प्रकृति-चित्रण भी यहाँ के कलाकारों का शौक था। ऊँचे-ऊँचे पेड़, फलों के वृक्ष, पहाड़, घाटियाँ, आसमान आदि का चित्रण भी यहाँ के कलाकारों ने सफलता से किया। इस प्रकार पहाड़ी-चित्रकला-शैली ने भी परवर्ती मध्य-युग में चित्रकला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस कारण इस शैली को भारतीय-चित्रकला में एक सम्मानित स्थान प्रदान किया गया है।

3. संगीत और नृत्य-कला

मुगल-काल में संगीत-कला की भी उन्नति हुई तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उसमें सहयोग दिया। बाबर और हुमायूँ दोनों संगीत-कला के प्रेमी थे। अकबर स्वयं बड़ा अच्छा नगाड़ा बजाता था। उसने अपने दरबार में दूर-दूर से ख्यातिप्राप्त संगीतज्ञों को आमन्त्रित किया था। अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में संगीतज्ञों की संख्या बहुत अधिक थी। उनमें से सबसे प्रमुख नाम तानसेन का है जिसने राजा मानसिंह द्वारा स्थापित ग्वालियर के संगीत-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। अकबर ने तानसेन को 'कण्ठाभरणवाणी बिलास' की उपाधि प्रदान की। तानसेन के गुरु वृन्दावन में रहने वाले गुरु हरिदास थे। अबुल फजल ने तानसेन के बारे में लिखा था : "उस जैसा गायक हजार वर्षों में भी कोई नहीं हुआ।" उसने विभिन्न राग और रागनियों का निर्माण किया था। तानसेन के पश्चात् दरबार के संगीतज्ञों में बाबा रामदास का नाम आता था। सूरदास का दरबार से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। बैजू बावरा यद्यपि दरबार से सम्बन्धित न था परन्तु सम्भवतया तानसेन का समकालीन संगीतज्ञ था। इस प्रकार अकबर के समय में वाद्य और संगीत दोनों की ही प्रगति हुई। अकबर के समय 'ध्रुपद' गायन की चार शैलियाँ प्रचलित थीं—नोहारवाणी, खण्डारवाणी, गोवरहारी या गौरारीवाणी और डागुरवाणी। कालान्तर में ध्रुपद का स्थान 'ख्याल गायन शैली' ने ले लिया। जहाँगीर भी संगीतज्ञों को आश्रय देता था। सैकड़ों गायक और नर्तक उसके दरबार में रहा करते थे। इनमें जहाँगीर दाद, परवेज दाद, हमजान, छत्रखाँ आदि प्रमुख थे। जहाँगीर ने गजल गायक 'शौकी' को 'आनन्द खाँ' की उपाधि दी थी। शाहजहाँ भी संगीत-प्रेमी था और स्वयं भी एक अच्छा गायक था। जगन्नाथ, रामदास, सुखसेन, सूरसेन, लालखाँ, दुरंगखाँ आदि उसके दरबार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रमुख गायक थे। शाहजहाँ ने 'लाल खाँ' को 'गुनसमुन्दर' (गुण समुद्र) की उपाधि दी थी। अपने शासनकाल के आरम्भ होने के कुछ वर्षों के पश्चात् ही औरंगजेब ने संगीतज्ञों को अपने दरबार से निकाल दिया और संगीतज्ञों द्वारा संगीत का जनाजा निकालने पर उसने उसे गहराई में दफनाने की सलाह दी। परन्तु फिर भी सरदारों, सूबेदारों और बादशाह के हरम से संगीत-प्रेम समाप्त नहीं हुआ।

18वीं सदी में मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले (1719-1748 ई.) के समय में संगीत की बहुत उन्नति हुई और ख्याल गायन लोकप्रिय हुआ। उससे पहले ध्रुपद-गायन शैली ही अपने विभिन्न रूपों में लोकप्रिय थी। इसी सदी के पूर्वार्द्ध में सितार और तबला दो संगीत-वाद्यों का निर्माण हुआ। पहले इनके निर्माण का श्रेय 13वीं सदी में हुए विद्वान और गायक अमीर खुसरो को दिया जाता था। परन्तु अब विद्वानों की राय बनी है कि इन वाद्यों का निर्माण 18वीं सदी में हुए एक अन्य गायक खुसरो खाँ ने किया था जो मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले का समकालीन था। इन वाद्यों के निर्माण ने भारतीय संगीत को श्रेष्ठतम बनाने में बहुत सहायता दी।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत में भी अनेक योग्य गायक हुए और गायन पर कुछ श्रेष्ठ पुस्तकों की भी रचना हुई। इसमें विजयनगर-राज्य के राजा सदाशिवराव के मन्त्री रामराय का नाम उल्लेखनीय है जिसने एक संगीत-ग्रन्थ स्वरमेल-कला-निधि की रचना की थी। इसी प्रकार का एक अन्य ग्रन्थ षड्रागचन्द्रोदय की रचना पुण्डरीक विट्ठल ने खानदेश के शासक बुरहानखाँ फारुखी के संरक्षण में की। इसके पश्चात् पुण्डरीक ने ही राजा मानसिंह के संरक्षण में रहकर रागमाला नामक संगीत के ग्रन्थ की रचना की जिसमें भारतीय संगीत के छः रागों का वर्णन किया गया है। दक्षिण-भारत के अन्य शासकों के संरक्षण में भी संगीत फलता-फूलता रहा क्योंकि वे सभी संगीत के शौकीन थे। इस प्रकार, मुगल-काल में संगीत-कला ने बहुत उन्नति की।

संगीत के साथ-साथ नृत्य-कला भी मुगल-काल में पनपती रही थी। संगीत और नृत्य-कला का इतना गहरा सम्बन्ध है कि उनकी प्रगति साथ-साथ होना स्वाभाविक था। मुगल बादशाह, दरबारी, सूबेदार और धनी व्यक्ति संगीत के साथ-साथ नृत्य का भी आनन्द लेते थे तथा दरबार और अन्य स्थानों पर बहुत बड़ी संख्या में नर्तक और नर्तकियाँ रखे जाते थे।

4. अन्य कलाएँ

मुगल-काल में सुलेख (अच्छा लिखने की कला) पर विशेष ध्यान दिया गया था और चित्रकारों की सहायता से पुस्तकों को अच्छे लेखों, अच्छी जिल्दों और अच्छे चित्रों से सजाया जाता था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने मूर्ति-कला को भी सहायता दी यद्यपि इस क्षेत्र में विशेष उन्नति नहीं हुई। मूर्तियों में मुख्यतया हाथीदाँत की बनी हुई छोटी-छोटी मूर्तियाँ ही इस कला में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकीं। मिट्टी और अन्य विभिन्न धातुओं द्वारा बनाये जाने वाले बर्तनों की कला में भी मुगल-काल में प्रगति हुई। अच्छे आभूषण और जवाहरातों को श्रेष्ठ बनाने की कला ने भी इस समय में पर्याप्त प्रगति की। बाग लगाने का शौक मुगल बादशाहों को था। उनकी सभी इमारतें और मकबरे बागीचों में ही बनाये गये थे। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न स्थानों पर भी बाग लगाये गये थे। बाबर ने आगरा में 'नूर अफगान' नामक बाग लगवाया जिसे अब रामबाग कहा जाता है। अकबर और जहाँगीर ने अपने मकबरों को सुन्दर बागों में बनवाया। कश्मीर का शालीमार बाग जहाँगीर के द्वारा लगवाया हुआ है। शाहजहाँ ने विभिन्न इमारतों और ताजमहल के अतिरिक्त लाहौर में शालीमार बाग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनवाया। औरंगजेब ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु विभिन्न सरदारों ने अपने बादशाहों का अनुसरण करते हुए विभिन्न बाग लगवाये।

इस प्रकार मुगल बादशाहों के समय में उस समय तक जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति होती रही जब तक मुगल बादशाह शक्तिशाली और समृद्धशाली रहे। सांस्कृतिक क्षेत्र में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा। साहित्यिक और विभिन्न ललित-कलाओं की प्रगति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में मुगल-काल का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी कुछ मिला कर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मुगल बादशाहों का राजनीतिक इतिहास आकर्षक और गौरवपूर्ण है, उसी प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से भी उनका इतिहास आकर्षक और गौरवपूर्ण है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मुगलकालीन आर्थिक स्थिति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. मुगल काल में धार्मिक दशा का वर्णन कीजिए।
3. मुगल काल में सामाजिक दशा का वर्णन कीजिए।
4. मुगल काल में साहित्य की प्रगति पर प्रकाश डालिए।
5. अकबरकालीन स्थापत्य कला का वर्णन कीजिए।
6. राजपूतकालीन चित्रकला पर एक निबन्ध लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मुगल काल में बैंकिंग व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. मुगलकालीन उद्योगों पर एक निबन्ध लिखिए।
3. मुगलकालीन स्थापत्य कला की विशेषताएँ बताइए।
4. अकबर अथवा जहाँगीर के शासन में चित्रकला का वर्णन कीजिए।
5. मुगल काल में फारसी अथवा हिन्दी साहित्य की प्रगति पर लेख लिखिए।
6. मुगल काल में सिख सम्प्रदाय की उत्पत्ति और विकास का वर्णन कीजिए।
7. मुगल काल में कृषि विकास पर एक लेख लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुगल काल में सभ्यता एवं संस्कृति की एकरूपता दृष्टिगोचर होती है—
   (अ) समाज में (ब) साहित्य में
   (स) कलाओं में (द) तीनों में।
2. खिराज से तात्पर्य है—
   (अ) लूट का माल (ब) लगान
   (स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
3. विश्व प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा कहाँ प्राप्त हुआ था ?
   (अ) गोलकुण्डा में (ब) बीजापुर में
   (स) अहमदनगर में (द) इनमें से कहीं नहीं।
4. मुगल काल में भारत का सबसे बड़ा उद्योग था—
   (अ) चमड़ा उद्योग (ब) सीमेण्ट उद्योग
   (स) कपड़ा उद्योग (द) नील उद्योग।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. कारखाना विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी था—
(अ) मुशरिफ (ब) मीर-ए-सामान
(स) नजीर (द) इनमें से कोई नहीं।

6. मुगल काल में बीमा प्रणाली के प्रचलन का वर्णन मिलता है—
(अ) अंग्रेज फैक्टरियों के कागज में (ब) खुलासात-उत-तवारीख में
(स) दोनों में (द) इनमें से किसी में नहीं।

7. मुगल काल में सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता थी—
(अ) हिन्दू-मुस्लिम सहयोग (ब) हिन्दू-मुस्लिम असहयोग
(स) सांस्कृतिक समन्वय (द) 'अ' व 'स' दोनों।

8. मुगल काल में किस वर्ग का जीवन सबसे खुशहाल था ?
(अ) शासक वर्ग का (ब) मध्यम वर्ग का
(स) जनसाधारण का (द) इनमें से कोई नहीं।

9. जनसाधारण वर्ग का जीवन था—
(अ) अत्यन्त दुःखपूर्ण (ब) अत्यन्त सुखपूर्ण
(स) सामान्य (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

10. मुसलमानों में सबसे उदार कौन थे ?
(अ) सुन्नी मुसलमान (ब) शिया मुसलमान
(स) सूफी मुसलमान (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

11. सिख धर्म के संस्थापक थे—
(अ) गुरु अंगद (ब) गुरु नानक
(स) गुरु रामदास (द) गुरु अमरदास।

12. 'फूट डालो और शासन करो' की नीति थी—
(अ) अंग्रेजों की (ब) मुगलों की
(स) अफगानों की (द) तुर्कों की।

13. मुगल काल में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे—
(अ) दिल्ली (ब) जौनपुर
(स) लखनऊ (द) उपर्युक्त सभी।

14. मदरसों में अध्ययन के बाद दी जाने वाली डिग्री थी—
(अ) फाजिल (ब) आलिम
(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

15. फारसी साहित्य में मुख्य स्थान प्राप्त था—
(अ) आत्मकथाओं को (ब) ऐतिहासिक पुस्तकों को
(स) साहित्यिक पुस्तकों को (द) 'अ' व 'ब' दोनों को।

16. मुगल काल के प्रसिद्ध मुसलमान हिन्दी कवि थे—
(अ) रसखान (ब) अब्दुर्रहीम खानखाना
(स) 'अ' और 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17. संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ भानुचन्द्र चरित्र की रचना की थी—
(अ) जगन्नाथ ने (ब) पद्म सुन्दर ने
(स) आचार्य कवीन्द्र ने (द) सिद्धचन्द्र उपाध्याय ने।

18. उर्दू भाषा का निर्माण हुआ था—
(अ) राजपूत काल में (ब) तुर्क और अफगान काल में
(स) मुगल काल में (द) इनमें कोई नहीं।

19. उर्दू की लोकप्रियता का क्या कारण था ?
(अ) बादशाहों का संरक्षण
(ब) उर्दू साहित्य के विकास में शायरों का योगदान
(स) फारसी साहित्य को समझने की कठिनाई
(द) उपर्युक्त सभी।

20. गुजराती साहित्य के अन्तर्गत गर्भा साहित्य से तात्पर्य है—
(अ) भगवान शिव की स्तुति में लिखी कविताओं का संग्रह
(ब) दुर्गा की स्तुति में संग्रहीत कविताएँ
(स) भगवान विष्णु की स्तुति में रचित कविता संग्रह
(द) इनमें से कोई नहीं।

21. मराठी साहित्य के उत्थान में अत्यधिक योगदान था—
(अ) एकनाथ का (ब) तुकाराम का
(स) मोरपन्त का (द) उपर्युक्त सभी का।

22. हुमायूँ का मकबरा स्थित है—
(अ) आगरा में (ब) जौनपुर में
(स) दिल्ली में (द) बिहार में।

23. फतेहपुर सीकरी में स्थित इमारतों के निर्माण का श्रेय दिया जाता है—
(अ) अकबर को (ब) जहाँगीर को
(स) शाहजहाँ को (द) बाबर को।

24. "फतेहपुर सीकरी के समान न तो उससे पहले ही कुछ बन सका और न उसके बाद बनना सम्भव है।" यह कथन किस विद्वान इतिहासकार का है ?
(अ) स्टेनले लेनपूल का (ब) वी. ए. स्मिथ का
(स) डॉ. ईश्वरी प्रसाद का (द) प्रो. गूच का।

25. शाहजहाँ की इमारतों की प्रमुख विशेषता थी—
(अ) लाल पत्थर (ब) सुन्दर पच्चीकारी
(स) सफेद संगमरमर (द) 'ब' व 'स' दोनों।

26. ताजमहल के मुख्य कलाकार उस्ताद अहमद लाहौरी को उपाधि दी गयी थी—
(अ) नादिर-उल-जमा (ब) श्रेष्ठतम कलाकार
(स) नादिर-उल-असर (द) इनमें से कोई नहीं।

27. किस मुगल शासक के काल में चित्रकला पराकाष्ठा पर थी ?
(अ) जहाँगीर (ब) अकबर
(स) शाहजहाँ (द) हुमायूँ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

28. 'नुजूम-अल-उल्म' नामक ग्रन्थ में कुल कितने चित्र बनाये गये थे ?
(अ) 756 (ब) 876
(स) 905 (द) 911।

29. राजस्थानी चित्रकला शैली को कितने भागों में बाँटा गया है ?
(अ) एक (ब) दो
(स) तीन (द) चार।

30. अकबर के काल का श्रेष्ठतम संगीतज्ञ था—
(अ) बैजू बावरा (ब) तानसेन
(स) हरिमोहन (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (अ), 4. (स), 5. (ब), 6. (स), 7. (द), 8. (अ), 9. (अ), 10. (स), 11. (अ), 12. (अ), 13. (द), 14. (स), 15. (द), 16. (स), 17. (द), 18. (ब), 19. (द), 20. (ब), 21. (द), 22. (स), 23. (अ), 24. (ब), 25. (द), 26. (स), 27. (अ), 28. (ब), 29. (द), 30. (ब)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14

18वीं सदी में भारत की स्थिति

[1]
राजनीतिक स्थिति

18वीं सदी में भारत का राजनीतिक विभाजन हुआ। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह (1719-1748 ई.) के शासनकाल में मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा हैदराबाद, बंगाल और अवध में प्रायः स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। मराठों ने न केवल महाराष्ट्र के लिए स्वतन्त्रता ही प्राप्त कर ली अपितु पेशवा बाजीराव के समय (1720-40 ई.) में उत्तर-भारत के विभिन्न सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल की तथा दिल्ली के निकट तक धावे किये। इससे मुगल-साम्राज्य शीघ्रता से पतनोन्मुख हुआ। यद्यपि नाम के लिए मुगल-बादशाहत 1858 ई. तक रही जब तक कि अंग्रेजों ने 1857 ई. के विद्रोह को दबाने के पश्चात् अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को सिंहासन से हटाकर 1858 ई. में रंगून नहीं भेज दिया परन्तु वस्तुतः मुगल-बादशाहत उससे बहुत पहले ही नष्ट हो गयी थी और 18वीं सदी में ही भारत में विभिन्न शक्तियों का उदय हो गया था जिनमें सत्ता और राज्य-विस्तार के लिए संघर्ष हुआ। राजस्थान में राजपूत-शासक स्वतन्त्र हो गये, पंजाब में सिखों ने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये, दक्षिण-भारत में हैदरअली ने मैसूर के स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली तथा मराठों ने भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा किया। राजनीतिक विभक्तीकरण की इन परिस्थितियों में यूरोपीय राज्यों के निवासियों ने भी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया, परस्पर संघर्ष किया और भारतीय नरेशों से भी संघर्ष किया। 18वीं सदी के इस राजनीतिक उथल-पुथल और संघर्ष के समय में अधिकांशतया मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने रहे परन्तु 18वीं सदी के समाप्त होने के समय तक यह स्पष्ट हो गया कि भारत की सत्ता के लिए उनके मुख्य तथा शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने अपने मुख्य यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वी फ्रान्सीसियों को 1761 ई. में पाण्डिचेरी पर अधिकार करके अपने मार्ग से हटा दिया, 1757 ई. में प्लासी के युद्ध और 1764 ई. में बक्सर के युद्ध को जीतकर उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की वास्तविक सत्ता अपने हाथों में ले ली, 1799 ई. में उन्होंने अपने एक स्थायी शत्रु टीपू को परास्त करके मैसूर राज्य के विरोध को समाप्त कर दिया और मराठों से प्रथम युद्ध करके 1782 ई. में सम्मानित शर्तों पर उनसे सालबाई की सन्धि की। इस प्रकार 18वीं सदी भारत में मुगल-साम्राज्य के पतन और उसके परिणामस्वरूप उसके विभिन्न भागों में बने स्वतन्त्र राज्यों तथा भारत में आयी हुई यूरोपियन जातियों के पारस्परिक संघर्ष की सदी रही।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. राजपूत-राज्य

मुगल-काल में अकबर ने राजपूतों के प्रति एक निश्चित नीति अपनायी थी जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ के अतिरिक्त राजस्थान के सभी राजपूत-शासकों ने मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया था। 1580 ई. में जब अकबर ने प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को बारह सूबों में विभाजित किया तब उसने राजस्थान के अपने अधीन सभी राज्यों को एक सूबा में संगठित किया और उसे अजमेर-सूबा पुकारा। इस सूबा की राजधानी अजमेर रखी गयी। अजमेर-सूबा में भी एक मुगल-सूबेदार नियुक्त किया गया जो सूबा की देखभाल करता था। परन्तु उसके प्रशासनिक अधिकार कुछ बहुत ही छोटे राज्यों के शासन तक सीमित थे अन्यथा अन्य सभी राजपूत-राजा अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र थे और मुगल बादशाह से उनका सीधा सम्बन्ध था। इस दृष्टि से वे अपने और अपने राज्यों के कार्य के सम्बन्ध में सूबेदार के प्रति नहीं अपितु मुगल बादशाह के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे। परन्तु अकबर की इस व्यवस्था ने इन राजपूत-शासकों और उनकी प्रजा को यह स्पष्ट कर दिया कि मुगल बादशाह उनका सम्प्रभु था। इस प्रकार, अकबर ने राजस्थान के राजपूत-शासकों को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके भी उनके राज्यों को मुगल-साम्राज्य का अन्तरंग अंग बनाने में सफलता प्राप्त की थी। मुगलों की यह नीति औरंगजेब के काल तक रही। परन्तु जब औरंगजेब ने जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने से इंकार कर दिया तब मारवाड़ ने विद्रोह किया, मेवाड़ ने उसका साथ दिया और यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से शीघ्र सन्धि कर ली परन्तु मारवाड़ बीच-बीच में सन्धि करते हुए भी औरंगजेब के अन्तिम समय तक संघर्षरत रहा जब तक कि मुगल बादशाह ने अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार नहीं कर लिया। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों ने राजस्थान के शासकों के साथ कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनायी बल्कि उसके प्रथम उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम का पहला प्रयत्न इन शासकों को अपने दबाव में लाने का रहा, परन्तु वह इस कार्य में असफल रहा। इसके प्रतिक्रियास्वरूप मेवाड़ के राणा अमरसिंह, मारवाड़ के शासक अजीतसिंह और जयपुर के राजा जयसिंह ने मिलकर राजस्थान में मुगलों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया। पंजाब में सिखों के विद्रोह के कारण बहादुरशाह ने इन राजपूत-शासकों से समझौता करना उचित समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन राजपूत-शासकों को भी मुगलों की दुर्बलता समझ में आ गयी और उन्होंने अपने अधिकारों में वृद्धि की तथा 1740 ई. तक वे भी अर्द्ध-स्वतन्त्रता की उसी स्थिति में पहुँच गये जो हैदराबाद, अवध और बंगाल के राज्यों ने प्राप्त कर ली थी। परन्तु राजपूत-राज्यों ने इसका कोई लाभ नहीं उठाया। उनमें अधिकांशतया परस्पर संघर्ष रहा अथवा सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए युद्ध होते रहे जिसका लाभ उभरती हुई मराठा-शक्ति ने उठाया। मराठों ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके राजस्थान को अपने प्रभाव में ले लिया। इस कारण राजपूत-शासक धीरे-धीरे मराठों की अधीनता में चले गये। उनका मराठों से वही सम्बन्ध हो गया जो पहले मुगल बादशाह से था। बाद में जब भारत में मराठों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया तब राजस्थान के ये राजपूत-शासक अंग्रेजों की सम्प्रभुता के अधीन हो गये।

16वीं सदी में जब राजपूतों के सम्बन्ध मुगलों से हो गये तब उन सम्बन्धों का प्रभाव उनके शासन, राजनीति, सभ्यता और संस्कृति पर आया। यद्यपि मुगल बादशाहों ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजपूत-राजाओं के शासन और परम्पराओं में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं किया तब भी उनके शासन और रीति-रिवाजों पर मुगलों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शासन में राजा जिसे राणा, महाराणा, महाराजा, राजाधिराज आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था, राज्य का प्रधान था और राज्य की वैधानिक कार्यकारिणी, न्यायिक और सैनिक-शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं। उसकी सलाह के लिए मन्त्रियों की एक समिति अवश्य होती थी परन्तु उसकी सलाह मानने के लिए राजा बाध्य नहीं था। राजपूत-शासकों में यह परम्परा थी कि उनके सबसे बड़े पुत्र के वयस्क होने पर उसे सिंहासन का उत्तराधिकारी अर्थात् युवराज घोषित कर दिया जाता था और शासन में उससे भी सहयोग लिया जाता था। सबसे बड़े पुत्र के अयोग्य होने पर राजा या उसकी मृत्यु हो जाने की स्थिति में राज्य के सामन्त-गण उसके किसी अन्य पुत्र या निकट के किसी सम्बन्धी को गद्दी पर बैठा देते थे, ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। मुगल बादशाह अकबर ने राजपूत-शासकों पर अपनी सम्प्रभुता को प्रभावी बनाये रखने के लिए राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी को टीका अर्थात् माथे पर तिलक लगाकर उसे राजा की मान्यता प्रदान करने की प्रथा आरम्भ की। यह प्रथा एक परम्परा बन गयी जिसका प्रयोग मुगल बादशाहों ने अपने पक्ष में किया। कई अवसरों पर मुगल बादशाहों ने विवादग्रस्त उत्तराधिकार के समय में अपने ऐच्छिक व्यक्ति को टीका लगाकर राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और इस प्रकार राजपूत-शासकों के सम्प्रभु होने के अधिकार का अपने पक्ष में प्रयोग किया। मुगल बादशाह अधिकांशतया राजपूत-शासकों की नियुक्ति उनके राज्य के बाहर ही करते थे जिसके कारण राजपूत-शासक अपने राज्य का शासन प्रत्यक्ष रूप से करने की स्थिति में नहीं रह गये, उनकी मन्त्री-परिषद का महत्व कम हो गया तथा केन्द्रीय विभागों के प्रधान शासन में महत्वपूर्ण बन गये। राजपूत-शासन में केन्द्र पर दीवान, बख्शी, खान-ए-सामाँ और शहर कोतवाल आदि पदाधिकारियों का होना मुगल-शासन के प्रभाव को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार, राज्य को परगना, तहसील और गाँव में बाँटना तथा वहाँ हाकिम, फौजदार, अमीन, कानूनगो, पटवारी आदि अधिकारियों के पदों का नामांकन और उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का वर्गीकरण भी मुगल-शासन प्रणाली के समान ही किया गया था। परगना का सबसे बड़ा अधिकारी हाकिम था तथा शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए फौजदार की नियुक्ति होती थी। तहसील में शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व थानेदार का होता था और गाँव के शासन की देखभाल चौधरी या पटवारी और ग्राम-पंचायतें करती थीं। यह कहना उचित नहीं है कि सभी राजपूत-राज्यों में शासन-व्यवस्था समान थी। वस्तुतः यह कहना अधिक उचित है कि उनमें स्थानीय आधार पर पदाधिकारियों के नामांकन, अधिकारों और लगान-सम्बन्धी शासन को लेकर अन्तर थे यद्यपि विस्तृत रूप में उनमें समानता थी जो उनके शासन पर मुगलों का प्रभाव आ जाने के कारण थी। मूलतया, राजपूतों की सामन्त-व्यवस्था भी सभी राजपूत-राज्यों को समता प्रदान करने में सहायक थी। यह सामन्त-व्यवस्था यूरोप की सामन्त-व्यवस्था से भिन्न थी। राजपूत-राजा के सामन्त अधिकांशतया उसके निकट के सम्बन्धी या रक्त-सम्बन्धों से जुड़े हुए परिवार के ही व्यक्ति होते थे। उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुत्व और रिश्तेदारी के होते थे न कि किसी समझौते के जैसा कि यूरोप में था। इसके अतिरिक्त, जबकि यूरोप में सामन्त अपने सिक्के ढालने और अपने प्रदेश में शासन और न्याय करने का स्वतन्त्र अधिकार रखते थे, राजपूतों में ऐसा नहीं था। इसके अतिरिक्त, जबकि यूरोप में भूमि राजा की मानी जाती थी जिसे राजा सामन्तों को प्रदान कर सकता था, भारत में प्रत्येक शासन के अन्तर्गत और राजपूतों में भी भूमि का मालिक सामन्त को नहीं बल्कि किसान को माना गया था जो भूमि पर खेती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता था। परन्तु राजपूतों की अपनी सामन्त-व्यवस्था में तो समानता थी ही जो उनके विभिन्न राज्यों के शासन में समता प्रदान करती थी। यह भी कहना उचित है कि राजपूत-राजा और सामन्तों के सम्बन्ध सर्वदा एक जैसे नहीं रहे थे। शक्तिशाली मुगल-शासकों का आश्रय पाकर राजपूत-शासकों की सामन्तों पर निर्भरता कम हुई और उन्होंने सामन्तों के अधिकारों में कमी की परन्तु जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये तब सामन्तों ने अपने प्रभाव को पुनः बढ़ा लिया।

राजपूत-राज्यों की आर्थिक स्थिति में भी कृषि और उस पर लिये जाने वाले लगान का जिसे 'भोग' या 'हासिल' पुकारा जाता था, मुख्य स्थान था। भूमि चार प्रकार की थी। राजा की भूमि खालसा-भूमि कहलाती थी जिससे राज्य उत्पादन का 1/3 से 1/2 भाग लगान के रूप में लेता था। सामन्तों की भूमि को जागीर-भूमि पुकारते थे जो अपनी भूमि की आय का 8% भाग (जिसे 'रेख' पुकारते थे) राजा को उसके सैनिक-व्यय के लिए देते थे। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सामन्त राजा की सैनिक सहायता करने के लिए भी बाध्य था जिसे 'चाकरी' पुकारते थे। तीसरे प्रकार की भूमि भौम थी जिसके मालिक को 'भौमिया' पुकारते थे, जो कृषि-कर से मुक्त भूमि थी और जिस पर 'भौमिया' का वंशानुगत अधिकार था तथा जिसके बदले में वह गाँव, सड़कों, यातायात और अपने क्षेत्र में खजाने की सुरक्षा की व्यवस्था करता था। चौथी भूमि 'मुआफी' भूमि थी जो दान या पारितोषिक के रूप में व्यक्तियों को दी जाती थी तथा कर-मुक्त थी। राज्य की ओर से किसानों को पट्टे दिये जाते थे। सामन्त भी किसानों को पट्टे देते थे। इन पट्टों द्वारा भूमि पर किसान के स्वामित्व को स्वीकार किया जाता था। विद्रोही होने पर, उत्तराधिकारी न होने पर अथवा राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने पर ही राज्य किसान को उसकी भूमि से पृथक कर सकता था अन्यथा नहीं। परन्तु किसानों का एक वर्ग ऐसा भी था जिनको पट्टे अस्थायी रूप से दिये जाते थे। ऐसी स्थिति में उन किसानों का अपनी भूमि पर वंशानुगत अधिकार नहीं होता था अपितु उनका अधिकार भूमि पर उतने समय के लिए ही होता था जितना समय उनके पट्टे में लिखा होता था। खड़ी फसल पर लगान तय करना, फसल के कटने के पश्चात् लगान तय करना और भूमि की पैमाइश के आधार पर लगान तय करना आदि विभिन्न तरीके लगान को निश्चित करने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। लगान गल्ले की शक्ल में या सिक्के की शक्ल में अर्थात् दोनों में से किसी भी शक्ल में दिया जा सकता था। अलग-अलग फसलों के लिए अलग-अलग व्यवस्था थी। लगान निश्चित करते समय किसान का आर्थिक स्तर, भूमि की किस्म, सिंचाई की सुविधा, गाँव से खेत की दूरी आदि का भी ध्यान रखा जाता था। कठिनाइयों के अवसर पर किसानों को लगान में छूट भी दी जाती थी। किसानों से बेगार ली जाती थी, ऐसे भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। लगान के अतिरिक्त समय-समय पर सामन्तों तथा अन्य अधिकारियों द्वारा दिये गये नज़राने जिन्हें 'पैशकश' कहते थे और सीमा-शुल्क जिसे 'राहदारी' पुकारते थे, राज्य की आय के अन्य साधन थे। बिक्री-कर, मकान-कर, आदि भी राज्य की आय के अन्य स्रोत थे। राज्य का दीवान (प्रधान वित्त-अधिकारी), उसकी सहायता के लिए दीवान-ए-तन, हवलदार, दरोगा, अमीन, पोतदार, कामदार, तहसीलदार आदि विभिन्न राज्य-अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त चौधरी, पटवारी और साहण गाँव के पैतृक अधिकारी थे जो लगान वसूल करने में राज्य की सहायता करते थे परन्तु वेतनभोगी अधिकारी नहीं थे। मुगलों की लगान व्यवस्था का प्रभाव राजपूतों की व्यवस्था पर था, यह उनके अधिकारियों के नामांकन से स्पष्ट होता है। मुगल-साम्राज्य के सम्पर्क में आने से राजस्थान के व्यापार में प्रगति हुई थी। मुगल-प्रदेशों में राजस्थान का चमड़े और लकड़ी का सामान, संगमरमर पत्थर से बनी हुई वस्तुएँ, ऊँट आदि की माँग होने लगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान की भौगोलिक स्थिति दक्षिण-भारत, गुजरात, मालवा और उत्तर-भारत से व्यापार करने के लिए सुविधाजनक थी। राजस्थान में सड़कों की कमी भी न थी। मेवाड़, रणथम्भौर, जयपुर, अजमेर, मेड़ता, सिवाना आदि से विभिन्न सड़कें विभिन्न स्थानों को जाती थीं और राजस्थान के सभी नगर एक-दूसरे से सड़कों से जुड़े हुए थे। इस कारण, सम्पूर्ण मुगल-काल में राजस्थान के व्यापार में उन्नति हुई, नई मण्डियाँ खुलीं तथा नवीन बाजारों और हाटों (व्यापारिक मेले) की व्यवस्था हुई। उद्योगों की दृष्टि से भी राजस्थान में सूती वस्त्र, लोहे के शस्त्र, आभूषण, पत्थर निकालना, चमड़े की वस्तुएँ आदि बनाने के उद्योग और नमक बनाने का उद्योग काफी प्रगतिशील था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मुगल-साम्राज्य के सम्पर्क में आने से राजस्थान आर्थिक दृष्टि से प्रगति की ओर अग्रसर हुआ था।

सामाजिक दृष्टि से कुल अथवा जातीय-व्यवस्था राजस्थान में दृढ़ रही। राजपूतों की सामन्त-व्यवस्था ने उसे कठोर ही बनाया। ब्राह्मणों और क्षत्रिय-राजपूतों का समाज में श्रेष्ठ स्थान रहा। खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन के साधनों में, मुगल-दरबार के सम्पर्क में आने से, मुख्यतया शासक-वर्ग में सुधार हुआ। परन्तु सामाजिक कुरीतियाँ जैसे सती-प्रथा, अल्पायु-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, जाति-भेद आदि समाज में वर्तमान रहे। मुगलों के सम्पर्क में आने से राजपूत-शासकों में विलासिता की वृद्धि हुई। अकबर के समय में राजा मानसिंह ने भी अपना हरम स्थापित कर लिया था जिसमें प्राय: 1,500 स्त्रियाँ थीं। ऐसी स्थिति में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आयी और राजपूतों का नैतिक पतन हुआ। 18वीं सदी में राजपूत-शासकों में हमें शौर्य और चारित्रिक दृढ़ता का अभाव दिखायी देता है। स्पष्ट है कि मुगल बादशाहों की विलासिता ने राजपूत-शासकों को प्रभावित कर दिया था जिसके कारण उनके चारित्रिक गुण नष्ट हो गये। यह राजपूत-राज्यों के पतन का एक मुख्य कारण रहा अन्यथा सदियों तक अपने से कहीं अधिक शक्तिशाली तुर्कों और मुगल-शासकों से उचित साधनों की अनुपस्थिति में भी संघर्ष करने वाले राजपूत पहले मराठों और उसके पश्चात् अंग्रेजों के सम्मुख बिना विरोध के न झुक जाते। इस प्रकार मुगलों के सम्पर्क में आने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम राजस्थान के राजपूत-शासकों के परम्परागत जातीय गुणों का नष्ट हो जाना था। सांस्कृतिक दृष्टि से, निस्सन्देह, स्थापत्य-कला और चित्रकला की दृष्टि से राजस्थान ने मुगलों के सम्पर्क का लाभ उठाया। इस काल में भव्य मन्दिरों, नगरों और महलों का निर्माण हुआ तथा राजपूत-चित्रकला-शैली का विकास हुआ जो भारतीय-चित्रकला में एक विशेष स्थान रखती है। इसके अतिरिक्त, राजपूत-शासकों ने साहित्यिक दृष्टि से भी कुछ योगदान दिया तथा संगीत और नृत्यकला को भी प्रोत्साहन दिया। विभिन्न विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण देने की परम्परा इस काल के राजपूत-शासकों ने भी निभायी।

2. पंजाब में सिख-शक्ति का उत्थान

सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र युद्ध में लड़ते हुए मारे गये थे और दो पुत्रों को मुगलों ने दीवार में जिन्दा चिनवा दिया था। उन्होंने अपनी मृत्यु से पहले गुरु की प्रथा को समाप्त कर दिया और कहा कि जहाँ भी पाँच सिख एकत्रित होंगे वहाँ मैं उपस्थित रहूँगा। इस प्रकार, उन्होंने सिख-सम्प्रदाय के हितों के बारे में निर्णय करने का अधिकार सिख-पंचायत को सौंप दिया। गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को पूर्णतया सैनिक बनाया और खालसा-सेना की स्थापना की यद्यपि यह क्रिया छठे गुरु हरगोविन्द के समय से ही आरम्भ हो गयी थी। उन्होंने जीवनभर मुगलों से संघर्ष किया और ऐसा करते हुए उन्होंने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब में सिखों को एक बड़ी शक्ति बना दिया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् हुए उत्तराधिकार के युद्ध में बहादुरशाह प्रथम ने उनसे सहायता माँगी और वे उसके साथ दक्षिण-भारत गये। 1708 ई. में वहीं पर नादिर नामक स्थान पर एक पठान ने छुरा मारकर उन्हें बुरी तरह से घायल कर दिया। कुछ दिनों पश्चात् अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द करके आत्मदाह कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह की भेंट नादिर में माधवदास नाम के एक वैरागी से हुई जिसने गुरु से प्रभावित होकर अपने को उनका बन्दा (दास) पुकारा था। गुरु ने उसको बन्दा बहादुर पुकारा और अपनी मृत्यु से पहले ही उसे पंजाब में सिखों की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व सौंपा तथा अपने तर्कश के पाँच तीर, पाँच मुख्य अनुयायी तथा कुछ अन्य सिख अनुयायी उसके साथ करके उसे पंजाब जाने के आदेश दिये। बन्दा जब तक दिल्ली पहुँचा तभी उसे गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु का समाचार मिल गया। उसी समय से उसने गुरु के आदेश को मानकर सिखों को नेतृत्व प्रदान किया।

बन्दा बहादुर—बन्दा का जन्म 1670 ई. में पुंछ जिले के रजौरी गाँव में हुआ था। उसका बचपन का नाम लक्ष्मणदेव था। उसके पिता रामदेव भारद्वाज राजपूत थे जो एक साधारण किसान थे। बन्दा ने अपनी युवावस्था में घर छोड़ दिया और साधुओं की एक टोली के साथ दक्षिण-भारत चला गया। उसने अपना नाम भी माधवदास रख लिया तथा वैरागी का जीवन काटने लगा। नादिर में एक आश्रम बनाकर उसने योग-साधना आरम्भ की और बहुत से व्यक्ति उसके अनुयायी बन गये। वहीं गुरु गोविन्दसिंह से उसकी भेंट हुई जिन्होंने उसे सिखों की रक्षा का उत्तरदायित्व देकर पंजाब भेजा। बन्दा ने गुरु का सन्देश सिखों को पहुँचाया और मुगलों के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया। मुगल-अधिकारियों के विरुद्ध उसने अपना सशस्त्र संघर्ष सोनीपत से आरम्भ किया तथा वहाँ के मुगल फौजदार को परास्त किया। मार्ग में शाहबाद, मुस्तफाबाद, आदि स्थानों को जीतते हुए बन्दा ने सरहिन्द पर आक्रमण किया जहाँ के फौजदार वजीरखाँ ने गुरु गोविन्दसिंह के दो बच्चों को दीवार में चिनवाया था। वजीरखाँ युद्ध में मारा गया और उसकी अपार सम्पत्ति बन्दा के हाथ लगी। बन्दा की प्रारम्भिक सफलता ने उसे बहुत लोकप्रिय बना दिया और सिख यह समझने लगे कि उसमें गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा आ गयी है। सरहिन्द के 28 परगने बन्दा ने अपने अधीन कर लिये। बन्दा का उद्देश्य पंजाब में एक सिख-राज्य स्थापित करने का था। इसके लिए उसने लौहगढ़ को राजधानी बनाया, गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम के सिक्के चलाये और सिख-राज्य की एक सील या मुहर भी बनवायी। कहा गया है कि उसने एक नया संवत भी चलाया था। इस प्रकार, पंजाब में एक सिख-राज्य की स्थापना का विचार सिखों को सर्वप्रथम बन्दा बहादुर ने दिया। बन्दा ने सरहिन्द में मुगल-अधिकारियों को हटाकर सिख अधिकारी नियुक्त किये। बन्दा ने स्वयं न तो कोई पदवी ली और न कभी दरबार किया। उसने सभी कार्य गुरु के नाम से किये। मुगल बादशाह बहादुरशाह पहले दक्षिण में और उसके पश्चात् राजपूत-शासकों के विरोध को दबाने में व्यस्त रहा। इस कारण, बन्दा ने पंजाब में ही नहीं बल्कि गंगा-यमुना दोआब में सहारनपुर और उसके निकट के क्षेत्रों तक आक्रमण किये। परन्तु बहादुरशाह सिखों के आक्रमणों के प्रति उदासीन नहीं था। उसने फीरोजखाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना बन्दा बहादुर को समाप्त करने के लिए भेजी जिसके कारण बन्दा बहादुर को पहाड़ों में छिपने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसकी राजधानी लौहगढ़ भी मुगलों के अधिकार में चली गयी। परन्तु बन्दा बहादुर ने साहस नहीं छोड़ा। वह निरन्तर मुगलों से संघर्ष करता रहा। नवीन मुगल बादशाह जहाँदारशाह और उसके पश्चात् फर्रुखसियर भी सिखों के विद्रोह को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दबाने के लिए कटिबद्ध रहे। अन्त में 1716 ई. में गुरुदास-नांगल नामक स्थान पर बन्दा बहादुर को मुगल-सेना ने घेर लिया। प्रायः आठ माह के घेरे के पश्चात् बन्दा बहादुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे और उसके साथियों को दिल्ली ले जाया गया जहाँ इस्लाम को स्वीकार करने से मना करने पर उसे और उसके साथियों को क्रूरता से मार दिया गया।

बन्दा बहादुर के बाद—बन्दा की मृत्यु के पश्चात् सिख नेतृत्वहीन हो गये। उनके सामने न अब गुरु रह गया और न गुरु का बन्दा। उस समय से सिखों ने **सरबत खालसा** और **गुरुमत्ता** की प्रथाओं को आरम्भ किया। बैसाखी और दीवाली पर वर्ष में दो बार सिखों ने अपनी आम-सभाएँ करनी आरम्भ कीं। ये सभाएँ **'सरबत खालसा'** कहलाती थीं। इन सभाओं में जो निर्णय होते थे उन्हें गुरु का मत मानकर **'गुरुमत्ता'** पुकारा गया। इस प्रकार, वे निर्णय गुरु का आदेश माने गये। बन्दा बहादुर के पश्चात् भी सिखों और मुगलों में संघर्ष होते रहे। बन्दा बहादुर ने सिखों को अपना राज्य स्थापित करने का विचार दिया था। उससे प्रेरणा पाकर विभिन्न सिख-सरदारों ने अपनी सेनाएँ एकत्रित करके अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में उनका मुगलों से संघर्ष स्वाभाविक था। इसी अवसर पर अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण पंजाब और दिल्ली पर होने आरम्भ हुए। दिल्ली की राजनीति के कारण आगे आने वाले वर्षों में पंजाब में मराठों का भी हस्तक्षेप हुआ। इस प्रकार पंजाब वर्षों तक अफगान, मुगल और मराठों की राजनीति और युद्धों का शिकार रहा। 1761 ई. में पानीपत की तीसरी लड़ाई में अहमदशाह अब्दाली ने मराठों को बुरी तरह से पराजित किया जिसके कारण पंजाब की राजनीति में मुगलों और मराठों का प्रभाव दुर्बल हो गया। ऐसी स्थिति में सिखों को अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिला। बाद में अहमदशाह अब्दाली की मृत्यु के पश्चात् पंजाब पर अफगान-शासक की पकड़ भी कमजोर हो गयी तथा सिखों ने विभिन्न स्थानों पर अपने छोटे-छोटे राज्य बना लिये जिन्हें **'मिस्ल'** पुकारते थे। रणजीतसिंह के उत्थान से पहले पंजाब में ऐसे बारह मिस्ल थे। उन्हीं में से एक मिस्ल का मालिक रणजीतसिंह का पिता माहासिंह था। 1792 ई. में माहासिंह की मृत्यु हुई और उसके पश्चात् रणजीतसिंह अपने पिता की मिस्ल सुकारचकिया का मालिक बना। उस समय अफगानिस्तान का शासक जमानशाह था जिसने पंजाब पर 1795-98 ई. के मध्य तीन आक्रमण किये। उसके तीसरे आक्रमण के अवसर पर रणजीतसिंह ने उसकी सहायता की जिसके उपलक्ष्य में उसे राजा का पद और लाहौर की सूबेदारी मिली। रणजीतसिंह ने बाद में पंजाब में एक सशक्त राज्य की स्थापना की। परन्तु 18वीं सदी के अन्त तक ही सिख पंजाब में पर्याप्त शक्तिशाली बन गये थे जिसके कारण रणजीतसिंह को अपने सिख-राज्य का निर्माण करने का अवसर मिला।

3. मैसूर-राज्य का उत्थान और पतन

मैसूर विजयनगर-राज्य के अधीन था। 1565 ई. में तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् जब विजयनगर-राज्य दुर्बल हो गया तब मैसूर-राज्य ने एक स्वतन्त्र राज्य की भाँति व्यवहार करना आरम्भ कर दिया, यद्यपि नाम के लिए वह विजयनगर-राज्य के स्वामित्व को स्वीकार करता रहा। 1612 ई. में विजयनगर के शासक वैंकट द्वितीय ने मैसूर के सरदार वाडियार को 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया। तब से मैसूर-राज्य की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयीं। उसके शासकों ने स्वतन्त्र शासकों की भाँति ही राज्य-विस्तार की नीति अपनायी और पर्याप्त सफल भी रहे। 1732 ई. में अल्पायु में राजकुमार कृष्णराज मैसूर-राज्य का राजा बना। उसके समय में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक शासन-सत्ता उसके मन्त्री नन्दराज के हाथों में चली गयी। उस स्थिति का लाभ हैदरअली ने उठाया और 1761 ई. में उसने सत्ता अपने हाथों में ले ली।

हैदरअली का जन्म मैसूर-राज्य में बुदीकोट नामक स्थान पर 1721 ई. में हुआ था। उसके पूर्वज दिल्ली से गुलबर्गा आये थे और कृषि करते थे। हैदरअली के पिता फतह मुहम्मद ने, सर्वप्रथम, सैनिक-सेवा आरम्भ की और मैसूर-राज्य में फौजदार का पद और बुदीकोट की जागीर प्राप्त की। 1728 ई. में फतह मुहम्मद की मृत्यु हो गयी जबकि हैदरअली बच्चा ही था। जवान होकर हैदरअली सेना में भर्ती हो गया। उस समय कृष्णराज मैसूर का राजा था। हैदरअली साहसी और सैनिक दृष्टि से प्रतिभावान था। इस कारण, उसके पद में उन्नति होती गयी। हैदराबाद के निजाम नासिरजंग के कत्ल हो जाने और मुजफ्फरजंग के निजाम बनने के अवसर पर हैदरअली को सौभाग्य से नासिरजंग के खजाने का कुछ भाग मिल गया। इससे उसे अपने सैनिकों की संख्या बढ़ाने का अवसर मिला। उसने यूरोपीय युद्ध-शैली की श्रेष्ठता को समझा और अपने सैनिकों को उसी आधार पर प्रशिक्षित किया। नन्दराज, एक बार, त्रिचनापल्ली पर आक्रमण के अवसर पर, उसे अपने साथ ले गया जिसने उसे युद्ध का अनुभव करा दिया। सौभाग्य से हैदरअली को उस युद्ध में अंग्रेजों की कुछ तोपें प्राप्त हो गयीं। इससे उसे अपनी सैनिक-शक्ति में वृद्धि करने का अवसर मिला। 1755 ई. में उसे डिण्डीगल का फौजदार नियुक्त किया गया। वहाँ उसने फ्रान्सीसियों की सहायता से एक शस्त्रागार स्थापित किया और उनसे अपने सैनिकों को यूरोपीय युद्ध-पद्धति का प्रशिक्षण भी दिलवाया। उस समय मैसूर-राज्य पर मराठों के आक्रमण होते रहते थे जिनसे छुटकारा अधिकांशतः धन देकर ही पाया जाता था। हैदराबाद का निजाम भी मैसूर-राज्य के विरुद्ध था और यदा-कदा उससे धन वसूल करता था। इन पड़ौसी राज्यों द्वारा उत्पन्न की गयी कठिनाइयों से भी हैदरअली को अपने उत्थान में सहायता मिली। उसकी सैनिक-प्रतिभा और शक्ति को देखकर उसे राज्य का सेनापति नियुक्त किया गया। इसका उसने पूर्ण लाभ उठाया और 1761 ई. में वह राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। मैसूर के राजा को वर्ष में एक बार उसकी प्रजा को दिखा दिया जाता था परन्तु शासन में उसका कोई महत्व न था। हैदरअली ही राज्य का प्रधान बन गया यद्यपि उसने सुल्तान का पद कभी भी ग्रहण नहीं किया। हैदरअली ने मैसूर-राज्य को विस्तृत किया। वह जब डिण्डीगल का फौजदार था तभी से अपने सीमा-क्षेत्र को बढ़ा रहा था। बाद में भी वह इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार के युद्ध, पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय और अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसियों की कट्टर शत्रुता ने उसे अपने राज्य की सीमा में विस्तार करने का अवसर दिया क्योंकि इनमें से कोई भी काफी समय तक मैसूर-राज्य की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं पा सका। हैदरअली ने धीरे-धीरे अपने निकट के क्षेत्रों जैसे बेदनूर, कनारा आदि पर अधिकार कर लिया और बल्लालपुर, रायदुर्ग, चित्तलदुर्ग, आदि के सरदारों को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार, हैदरअली ने दक्षिण-भारत में मैसूर-राज्य को एक विस्तृत और शक्तिशाली राज्य बनाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मराठे और निजाम मैसूर-राज्य के उत्थान के प्रति उदासीन नहीं थे। निजाम अपने पड़ौस में एक शक्तिशाली राज्य को पसन्द नहीं करता था और मराठे दक्षिण में एक अन्य राज्य को पनपने का अवसर देना नहीं चाहते थे। अंग्रेज भी आरम्भ से ही मैसूर-राज्य के विरोधी हो गये थे। हैदरअली का सैनिक-प्रशिक्षण के लिए फ्रान्सीसियों पर निर्भर करना, माही के बन्दरगाह पर अंग्रेजों का अधिकार करना, हैदरअली के पुत्र और उत्तराधिकारी टीपू का भी अंग्रेजों के विरुद्ध रहना तथा ट्रावनकोर के राजा पर आक्रमण करना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अंग्रेजों का मित्र-राज्य था, समय-समय पर ऐसे कारण बने जिनसे अंग्रेजों और मैसूर-राज्य के सम्बन्ध शत्रुता के रहे। वैसे भी अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति भारत में किसी भी शत्रु-राज्य को न पनपने देने की थी। अंग्रेज, निजाम और मराठे टीपू से इस कारण भी असन्तुष्ट हुए क्योंकि उसने 1786 ई. में सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया। इस कारण हैदराबाद का निजाम, मराठे और मुख्यतया अंग्रेज मैसूर-राज्य के विरोधी रहे। निस्सन्देह, निजाम और मराठे अप्रत्यक्ष रूप से मैसूर-राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए क्योंकि समय-समय पर उन्होंने या तो अंग्रेजों की मैसूर-राज्य के विरुद्ध सहायता की अथवा अंग्रेजों और मैसूर-राज्य में युद्ध होने की स्थिति में वे तटस्थ हो गये। परन्तु अंग्रेज प्रत्यक्ष रूप से मैसूर-राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए। अंग्रेजों ने चार युद्ध मैसूर-राज्य के विरुद्ध लड़े—पहला 1766-1769 ई. में, दूसरा 1780-1784 ई. में, तीसरा 1790-1792 ई. में और चौथा 1799 ई. में। दूसरे आँग्ल-मैसूर युद्ध के अवसर पर हैदरअली की मृत्यु हो गयी जिसके कारण बाद के दो युद्ध अंग्रेजों से टीपू ने लड़े। इन युद्धों का परिणाम हैदरअली द्वारा बनाये गये मैसूर-राज्य का नष्ट हो जाना था। चौथे युद्ध में टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टम के किले की दीवार के निकट लड़ता हुआ मारा गया। उसके पश्चात् मैसूर-राज्य के अधिकांश भाग पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया, कुछ भाग निजाम को दे दिया गया और बाकी बचा हुआ छोटा राज्य पहले के हिन्दू राजा के अल्पायु पुत्र को सौंप दिया गया जो पूर्णतया अंग्रेजों पर आश्रित था।

इस प्रकार 18वीं सदी की एक मुख्य घटना दक्षिण-भारत में मैसूर-राज्य का उत्थान और उसी सदी में उसका पतन रही।

4. मराठे

मराठों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने औरंगजेब के शासनकाल में ही कर ली थी। बाद में, 1689 ई. में औरंगजेब ने शिवाजी के पुत्र और उत्तराधिकारी शम्भाजी को समाप्त करने तथा महाराष्ट्र पर अधिकार करने में सफलता पायी। परन्तु यह सफलता अस्थायी थी। मराठों ने शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए जो संग्राम आरम्भ किया वह औरंगजेब की मृत्यु तक चला। औरंगजेब मराठों के उस संग्राम को न दबा सका और मराठों ने न केवल महाराष्ट्र को ही स्वतन्त्र कर लिया बल्कि मुगल-छावनी पर भी छापे मारने आरम्भ कर दिये। शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु (1700 ई.) के पश्चात् मराठों का छत्रपति अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को घोषित किया और मुगलों से संघर्ष जारी रखा। ऐसी ही स्थिति में मुगलों की कैद से निकलकर आये हुए शम्भाजी के पुत्र शाहू ने महाराष्ट्र में प्रवेश किया (1707 ई.) और मराठा-छत्रपति होने का दावा किया। वह सफल हुआ। अधिकांश मराठा-सरदारों ने उसे मराठा-छत्रपति मान लिया। उसके समय में उसके द्वारा नियुक्त किये गये उसके प्रथम तीन पेशवाओं ने मराठा-साम्राज्य के विस्तार में भाग लिया। एक के बाद एक हुए पेशवा बालाजी विश्वनाथ, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव ने अपने-अपने साधनों से मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। उन्होंने इस श्रेष्ठता का उपभोग उस समय तक किया जब तक कि मराठा-शक्ति पानीपत के तृतीय युद्ध में अहमदशाह अब्दाली से टकराकर दुर्बल नहीं हो गयी। परन्तु वह 18वीं सदी का प्रायः अन्त था। 18वीं सदी के अधिकांश समय में मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति थे। बाद में उनका संघर्ष नवोदित शक्ति अंग्रेजों से हुआ जिसमें वे परास्त हुए।

(मराठा-शक्ति के विस्तार के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए।)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. यूरोपीय निवासी

यूरोप के निवासियों में से भारत आने वाले और यहाँ की राजनीति और व्यापार को प्रभावित करने वालों में पुर्तगाली, डच (हॉलैण्ड के रहने वाले), अंग्रेज और फ्रान्सीसी थे। भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मुख्य अभिप्राय व्यापार था यद्यपि सहायक रूप में अपने देश के गौरव में वृद्धि करना और ईसाई धर्म का प्रसार करना भी रहे। तुर्कों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी यूरोप तक अपना अधिकार कर लिया था जिससे यूरोप द्वारा एशिया के पूर्वी देशों से व्यापार करने के स्थल-मार्ग पर उनका एकाधिपत्य हो गया था और यूरोप के राज्य इसके लिए उनकी दया पर आश्रित हो गये थे। यूरोपीय देश एशिया के देशों से रेशम, जवाहरात, जड़ी-बूटियाँ आदि विभिन्न वस्तुएँ आयात करते थे परन्तु उनमें सबसे मुख्य वस्तु गर्म-मसाले थे जो उनके माँसाहारी भोजन को स्वादिष्ट बनाने की एक आवश्यकता थे। इस कारण यूरोपीय देशों को भारत और पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए जल-मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। उनके अनुसार भारत एक ऐसा देश था जो धनवान था और जहाँ से वे गर्म-मसाले प्राप्त कर सकते थे। इस कारण, भारत के लिए समुद्री-मार्ग की खोज यूरोप-निवासियों के लिए एक आवश्यकता और प्रेरणादायक लक्ष्य बन गयी। भारत आकर ही उन्हें यह पता लगा कि गर्म-मसालों के लिए भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश जैसे जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो आदि और श्रीलंका अधिक उपयुक्त थे। स्वयं भारतीय गर्म-मसालों को इन देशों से आयात करते थे और फिर उन्हें यूरोपीय देशों को भेजते थे। परन्तु तब भी भारत दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों से व्यापार करने की एक कड़ी हो सकता था। इस कारण, पूर्व से आने वाले सभी यूरोपीय निवासियों ने भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये।

18वीं सदी में भारत की राजनीतिक दुर्बलता को देखकर इन यूरोपीय निवासियों ने यहाँ राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उनमें पारस्परिक व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी आरम्भ हुई। इससे इनके झगड़े आपस में हुए और भारतीय नरेशों से भी। इस संघर्ष में अन्तिम विजय अंग्रेजों की हुई जिन्होंने सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मूल कारण भारत से व्यापार करके आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। यूरोप उस समय तक बौद्धिक जागृति (Renaissance) और धर्म-सुधार (Reformation) से प्रभावित हो चुका था और जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नतिशील था। इस कारण, 16वीं सदी में तो नहीं परन्तु 17वीं सदी में व्यापारिक क्षेत्र में भी उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयी थीं और वह अन्तर-महाद्वीपीय व्यापार के लिए तत्पर और समर्थ हो गया था। इस कारण, यूरोप-निवासियों ने एशिया के देशों से व्यापार करने हेतु अपनी गतिविधियाँ तीव्र कीं तथा भारत के लिए प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग खोजने में सफल हुए। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूरोप-निवासियों का भारत आना एक श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार (civilization on the march) था अर्थात् यूरोप-निवासियों का एशिया और अफ्रीका के देशों में जाने का उद्देश्य सभ्यता का प्रसार करना था और भारत में भी उनका मुख्य उद्देश्य यही था। परन्तु यह पूर्णतया असत्य विचारधारा है। यूरोप-निवासी इन देशों और भारत में भी पूर्णतया व्यापार और धन की लालसा से आये थे। यहाँ आकर उन्होंने राज्यों की दुर्बल स्थिति से लाभ उठाकर अपने राज्य स्थापित किये और इन देशों के निवासियों का शोषण किया। बाद में अपने साम्राज्यवाद और उससे उत्पन्न दोषों पर पर्दा डालने के लिए उन्होंने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार' और 'सफेद आदमी का बोझा' (White Man's Burden) अर्थात् काले व्यक्तियों को सुसभ्य बनाना सफेद आदमी का उत्तरदायित्व या बोझा है, आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

(i) पुर्तगाली—पहला यूरोपीय व्यक्ति, जिसने यूरोप से आशा अन्तरीप (Cape of Goodhope) होते हुए भारत के प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग को खोजने में सफलता प्राप्त की, वास्को-डि-गामा था। 1498 ई. में वह कालीकट के समुद्र-तट पर उतरा। वह पुर्तगाल के शासक के प्रतिनिधि के रूप में भारत आया था और उसने कालीकट के शासक जेमोरिन से पुर्तगाल के लिए व्यापार करने की सुविधा माँगी। वह सुविधा उसे प्राप्त हो गयी। इस कारण, यूरोप-निवासियों में भारत आने वाले सर्वप्रथम पुर्तगाली थे। सम्पूर्ण 16वीं सदी में पुर्तगालियों ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के यूरोप से होने वाले व्यापार पर अपना अधिकार रखा। किसी अन्य यूरोपीय राज्य से उनकी प्रतिद्वन्द्विता इस कारण भी नहीं हुई कि 1492 ई. में ही पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ ने पूर्वी समुद्रों में व्यापार करने का एकाधिपत्य पुर्तगाल को अपने एक आज्ञापत्र द्वारा दे दिया था जिसका विरोध करने का साहस किसी भी कैथोलिक देश ने नहीं किया। बाद में, 1506 ई. में पोप जुलियस द्वितीय ने और 1514 ई. में पोप लुई दशम ने इस आज्ञापत्र की पुनरावृत्ति की। इस कारण, धर्म-सुधार के शक्तिशाली होने से पहले किसी भी यूरोपीय राज्य ने इन आज्ञापत्रों का उल्लंघन नहीं किया और 16वीं सदी में पुर्तगाल यूरोप का एकमात्र देश रहा जिसने भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार किया। बाद में धर्म-सुधार के शक्तिशाली हो जाने के कारण पोप की आज्ञा का उल्लंघन हुआ तथा डच, अंग्रेज और फ्रान्सीसियों ने भारत एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार करने के लिए पुर्तगाल से ही नहीं बल्कि आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता की।

पुर्तगालियों ने भारत से व्यापार करना ही आरम्भ नहीं किया अपितु भारतीय राजनीति में भी हस्तक्षेप किया। आरम्भ में ही उन्होंने कोचीन के शासक के विरुद्ध कालीकट के राजा की सहायता की। पुर्तगालियों का भारत में पहला गवर्नर आल्मीडा (1505-1509 ई.) था। यद्यपि उसका प्रमुख उद्देश्य भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के पुर्तगाली व्यापार की सुरक्षा करना था तब भी उसने भारत में पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका उत्तराधिकारी अल्बुकर्क (1509-1515 ई.) अधिक महत्वाकांक्षी था। उसके पुर्तगाली-शक्ति को पूर्वी समुद्रों में बनाये रखने के निम्न लक्ष्य थे :

1. यूरोप से भारत के मार्ग में पड़ने वाले सभी व्यापारिक स्थानों को अपने अधिकार में किया जाय ;

2. स्थानीय निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध करके पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित किये जायें ;

3. जहाँ उपनिवेशों की स्थापना सम्भव न हो वहाँ समुद्र-तट पर दृढ़ किले बनाये जायें जिससे जल-मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था हो सके ; और

4. जहाँ किले बनाना भी सम्भव न हो वहाँ स्थानीय शासक से पुर्तगाल के राजा की सत्ता को स्वीकार कराया जाये।

अल्बुकर्क ने पूर्वी समुद्रों में पुर्तगाल की शक्ति को दृढ़ बनाने में पर्याप्त सफलता पायी। भारत में भी पुर्तगालियों ने व्यापार और निवास-स्थान के रूप में कई अच्छे स्थान प्राप्त किये, जैसे पश्चिमी समुद्र-तट पर गोआ, डामन, ड्यू, सालसेट, बेसीन, चौल और बम्बई,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मद्रास-तट पर सान-थोम और बंगाल में हुगली। 16वीं सदी में समुद्र पर पुर्तगालियों की श्रेष्ठता ने उन्हें यूरोप से पूर्वी देशों में व्यापार पर श्रेष्ठता बनाये रखने में सहायता दी। उनकी शक्ति को चुनौती 17वीं सदी में हॉलैण्ड ने सफलतापूर्वक दी जिसकी नौ-सेना पुर्तगालियों की नौ-सेना से श्रेष्ठ थी।

पुर्तगाली प्रायः 100 वर्ष तक यूरोप के भारत से होने वाले व्यापार पर नियन्त्रण रखने में तो सफल हुए परन्तु भारत में राजनीतिक दृष्टि से वे कभी भी अधिक सफल न हो सके। 16वीं सदी में यूरोप के अन्य राज्यों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता तथा पोप द्वारा पूर्वी-संसार के व्यापार पर उन्हें एकाधिपत्य प्रदान करना उनकी सफलता का मुख्य कारण थे। परन्तु 17वीं सदी में जब डच उनके मुकाबले आये तब वे परास्त हो गये। उनका समुद्र पर आधिपत्य नष्ट हो गया। इस कारण, भारत में राजनीतिक सफलता प्राप्त करना उनके लिए असम्भव हो गया। पुर्तगालियों के राजनीति में हस्तक्षेप करने से असन्तुष्ट होकर 1629 ई. में शाहजहाँ ने उनसे हुगली छीन लिया, 1639 ई. में मराठों ने उनसे सालसेट और बेसीन छीन लिये तथा 1661 ई. में पुर्तगाल ने दहेज में बम्बई अंग्रेजों को दे दिया। पुर्तगालियों द्वारा स्थानीय व्यक्तियों का धर्म-परिवर्तन करने और उनसे विवाह-सम्बन्ध करने से भी उनके शत्रु उत्पन्न हुए। पुर्तगालियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि दिखायी जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। उस समय भारत में मुगल-साम्राज्य दृढ़ था। 1580 ई. में पुर्तगाल स्पेन के साथ मिलकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो बैठा। इसके अतिरिक्त, पुर्तगाल यूरोप का एक बहुत छोटा राज्य था। आर्थिक और सैनिक दृष्टि से वह इतना सबल नहीं था कि भारत जैसे दूरस्थ प्रदेश में अपनी सत्ता स्थापित कर पाता।

भारतीय समुद्र पर पुर्तगाली नियन्त्रण की स्थापना तथा उसके राजनीतिक और आर्थिक परिणाम—1498 ई. में पुर्तगाल के राजा हेनरी दी नेवीगेटर के प्रतिनिधि के रूप में वास्को-डि-गामा के कालीकट पहुँचने पर पुर्तगाल के भारत से व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध आरम्भ हुए। धीरे-धीरे पुर्तगालियों ने अरब-सागर तथा बंगाल की खाड़ी पर तथा लाल-सागर से लेकर अरब-सागर तक के समुद्री मार्ग और व्यापार पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।

16वीं सदी के आरम्भ से ही पुर्तगालियों का उद्देश्य लाल-सागर से लेकर भारत के पश्चिमी तट तक के मार्ग और व्यापार को अपने एकाधिपत्य में लेना था। पूर्वीय देशों के मुकाबले उनकी नौ-सेना दृढ़ थी जिसका मुख्य कारण उनके जहाजों पर गोला-बारूद का प्रयोग करने वाली तोपें थीं। इस कारण, उन्होंने इस मार्ग पर अधिकार कर लिया तथा अपने अधिकार को दृढ़ करने के लिए मार्ग के समुद्री-तट पर विभिन्न स्थानों पर किले बनाये या स्थानीय शासकों के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों ने शक्ति के आधार पर यह निर्णय लिया कि हिन्द-महासागर में व्यापार करने वालों को उनकी स्वीकृति लेनी चाहिए, काली मिर्च और घोड़ों का व्यापार कोई अन्य व्यापारी नहीं करेगा तथा अपने जहाजों की सुरक्षा के बदले सभी व्यापारियों को उन्हें थोड़ा कर देना चाहिए। प्रायः एक सदी तक पुर्तगालियों ने अपनी नौ-सेना की शक्ति के आधार पर अरब-सागर और कुछ मात्रा में बंगाल की खाड़ी के व्यापार पर अपना स्वामित्व अथवा नियन्त्रण स्थापित रखने में सफलता प्राप्त की। परन्तु 17वीं सदी में उनकी श्रेष्ठता का विरोध डचों (हॉलैण्ड के रहने वाले) ने करना आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया।

प्रायः एक सदी तक पुर्तगालियों के हिन्द-महासागर के व्यापार पर नियंत्रण करने के कुछ आर्थिक और राजनीतिक परिणाम हुए। आर्थिक दृष्टि से इस व्यापार से न केवल पुर्तगाल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ही लाभ प्राप्त हुआ अपितु भारत को भी आर्थिक लाभ हुआ क्योंकि भारतीय व्यापार को उससे सुरक्षा प्राप्त हुई जिससे उसमें वृद्धि हुई। राजनीतिक दृष्टि से समुद्री-व्यापार पर नियन्त्रण करने के अधिकार का प्रयोग करके पुर्तगालियों ने एशियाई सामुद्रिक गतिविधियों में राजनीति का समावेश कर दिया। उन्होंने अपने व्यापारिक लाभ के लिए एक भारतीय राजा के मुकाबले दूसरे भारतीय राजा की सहायता करना आरम्भ किया। कोचीन का राजा एक प्रकार उनके अधीन शासक हो गया जबकि कालीकट के शासक ने उनका विरोध किया। इसके परिणामस्वरूप पुर्तगालियों ने कोचीन के राजा की सहायता की जिसके कारण कालीकट के स्थान पर कोचीन मसालों के व्यापार का केन्द्र स्थान बन गया। इसी प्रकार, उन्होंने घोड़ों के व्यापार को भी राजनीति में सम्मिलित किया। उन्होंने घोड़ों को बेचने का आश्वासन उन्हीं भारतीय राज्यों को दिया जो व्यापार में उनके मित्र बने। इस प्रकार व्यापार के आधार पर मित्र-राज्य और शत्रु-राज्य के अन्तर पुर्तगालियों ने भारत में आरम्भ किये।

(ii) डच—भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम डच कम्पनी 1602 ई. में स्थापित हुई। डचों ने पुर्तगालियों से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा ही नहीं की बल्कि पूर्वी समुद्रों और बस्तियों पर अधिकार करने के लिए उनसे संघर्ष भी किया। डच नौ-सेना पुर्तगाली नौ-सेना से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। इस कारण, डचों ने पहले पुर्तगालियों को समुद्री-मार्ग से हटाया तथा बाद में उनके भू-स्थलों पर भी आक्रमण किये। पुर्तगालियों के पूर्व के व्यापार को नष्ट करने में डचों का प्रमुख हाथ रहा। उन्होंने श्रीलंका और इण्डोनेशिया पर जहाँ से उन्हें गर्म-मसाले प्राप्त होते थे, अधिकार कर लिया। 17वीं सदी में फ्रान्सीसी और अंग्रेज भी भारत और पूर्व के देशों से व्यापार करने के लिए आ गये परन्तु वे देर से आये। 17वीं सदी में भारत का डचों से व्यापार अंग्रेज और फ्रान्सीसियों की तुलना में अधिक था और भारत में उन्होंने पुलीकट, सूरत, चिनसुरा, कासिमबाजार, पटना, बालासोर, नागापट्टम, कोचीन, आदि स्थानों पर अपने व्यापारिक केन्द्र बना रखे थे। परन्तु डचों ने भारत में राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। वे गर्म-मसाले के व्यापार के लिए भारत आये। इसके लिए उन्हें भारत की अपेक्षा इण्डोनेशिया और श्रीलंका अधिक उपयुक्त लगे और उन पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया परन्तु भारत से उन्हें सूती वस्त्र प्राप्त होता था जिसकी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में माँग थी। इस कारण, भारत में भी उन्होंने व्यापारिक केन्द्र बनाकर रखे। भारत में उनकी राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की लालसा नहीं थी। इसके अतिरिक्त, 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन और हॉलैण्ड के मध्य नौ-सेना के युद्ध हुए जिनमें हॉलैण्ड की पराजय हुई। उस पराजय से भी भारत में अंग्रेजों की तुलना में उनकी स्थिति दुर्बल हुई। भारतीय राजनीति और व्यापार में अंग्रेज अधिक रुचि ले रहे थे। ऐसी स्थिति में डचों ने उनके विरुद्ध होना लाभदायक नहीं समझा। इस कारण, डचों ने भारत में राज्य स्थापित करने में रुचि नहीं ली और वे अंग्रेजों या फ्रान्सीसियों के राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भारत में खड़े नहीं हुए।

(iii) अंग्रेज—प्रथम अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना 1600 ई. में हुई। 1615 ई. में इसी कम्पनी ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार में भेजा और मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत व्यापारिक कोठियाँ खोलने की आज्ञा प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने सूरत, आगरा, अहमदाबाद, बम्बई, पटना, कासिमबाजार, राजमहल, कलकत्ता आदि में अपनी कोठियाँ या व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। 1698 ई. में एक अन्य अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना हुई परन्तु पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिए 1702 ई. में दोनों कम्पनियों को मिला दिया गया जो मिलकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी कहलायी। 1717 ई. में इस कम्पनी ने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल बादशाह फर्रुखसियर से एक व्यापारिक अधिकार-पत्र प्राप्त किया। इस अधिकार-पत्र (फर्मान) द्वारा अंग्रेज कम्पनी को मुगल बादशाह को 3,000 रु. प्रति वर्ष देने के बदले में हैदराबाद, गुजरात और बंगाल में बिना कर दिये हुए व्यापार करने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त, दीवान की आज्ञा प्राप्त करके कम्पनी को बंगाल में 38 गाँव खरीदने और यदि साम्राज्य के हित में समझा जाय तो वहाँ के शाही टकसाल का उपयोग करने का अधिकार भी दिया गया। कम्पनी ने इस फर्मान को बंगाल में अंग्रेजी-व्यापार का **मैग्ना कार्टा** बताया। परन्तु यह फर्मान अंग्रेज कम्पनी और बंगाल के नवाबों के मध्य झगड़े का कारण भी बना जिस झगड़े में अंग्रेज विजयी हुए। इस प्रकार, यह फर्मान न केवल अंग्रेजों के व्यापार की वृद्धि में सहायक हुआ अपितु अंग्रेजी राज्य को भारत में बंगाल से आरम्भ करने के लिए भी उत्तरदायी हुआ।

(iv) फ्रान्सीसी—फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें के मन्त्री कोलबर्ट के प्रोत्साहन और सरकारी सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थापना हुई। फ्रान्सीसियों ने पूर्वी समुद्र-तट पर पाण्डिचेरी, बंगाल में चन्द्रनगर तथा मॉरीशस द्वीप में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। परन्तु फ्रान्सीसियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि प्रकट की। सम्भवतया, इसका एक कारण कम्पनी का राजकीय संरक्षण में बनना था और दूसरा कारण यह था कि फ्रान्सीसी गवर्नर फ्रान्स से अधिक सहायता की आशा नहीं करते थे क्योंकि फ्रान्सीसी सरकार का ध्यान भारत की अपेक्षा अमेरिका की ओर अधिक था। फ्रान्सीसी गवर्नर एलेक्जेण्डर ड्यूमा ने राजनीति में हस्तक्षेप की नीति को गम्भीरता से लिया और सफलता भी पायी। उसके उत्तराधिकारी डूप्ले को इससे प्रोत्साहन मिला और वह राजनीति में और अधिक सक्रिय हो गया। अंग्रेज फ्रान्सीसियों की गतिविधियों के प्रति उदासीन नहीं रहे। यूरोप-निवासियों में से वस्तुतः अंग्रेज और फ्रान्सीसी ही 18वीं सदी में व्यापारिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के लिए बाकी रह गये थे। इस कारण, अंग्रेज भी अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए। इस व्यापारिक और राजनीतिक स्पर्धा के फलस्वरूप अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का संघर्ष आरम्भ हुआ जो मूलतया दक्षिण-भारत में कर्नाटक-राज्य तक सीमित रहा। इस संघर्ष का एक अन्य कारण भी था। ब्रिटेन और फ्रान्स यूरोप और अमेरिका में भी एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। इस कारण, उन दोनों की यूरोपीय राजनीति का प्रभाव भी उनके भारत के सम्बन्धों पर पड़ा। अंग्रेज और फ्रान्सीसियों में उपर्युक्त कारणों से तीन युद्ध हुए जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय कर्नाटक-युद्ध कहलाये।

6. कर्नाटक के तीन आँग्ल-फ्रान्सीसी युद्ध और फ्रान्सीसियों की भारतीय राजनीतिक मंच से समाप्ति

व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और उससे कहीं अधिक राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता तथा यूरोपीय राजनीति के प्रभाव के कारण अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के मध्य कर्नाटक-क्षेत्र में तीन युद्ध हुए :

प्रथम कर्नाटक-युद्ध (1746-48 ई.)—प्रथम कर्नाटक-युद्ध के आरम्भ होने का प्रमुख कारण 1740 ई. में यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का आरम्भ हो जाना था।

भारत में दोनों कम्पनियों ने शान्ति रखने का प्रयत्न किया परन्तु जब अंग्रेजी नौ-सेना ने समुद्र पर फ्रान्सीसियों के कुछ जहाजों को डुबा दिया जिसमें एक जहाज फ्रान्सीसी गवर्नर डूप्ले का भी था, तब युद्ध नहीं रुक सका। डूप्ले ने मॉरीशस के गवर्नर और नौ-सेनापति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाबर्डिनो से सहायता माँगी जिसने अंग्रेज नौ-सेनापति पेटन को हुगली की तरफ जाने के लिए बाध्य किया और मद्रास पर आक्रमण कर दिया। मद्रास ने शीघ्र आत्मसमर्पण कर दिया। उसके पश्चात् लाबर्डिनो और डूप्ले में मतभेद हो गया। जबकि लाबर्डिनो एक लाख रुपया स्वयं के लिए और तीन लाख रुपया कम्पनी के लिए लेकर मद्रास को छोड़ने के लिए तत्पर हो गया, डूप्ले निकट के सेण्ट डेविड के किले और बंगाल के अंग्रेजों के ठिकानों को जीतकर अंग्रेजी-शक्ति को भारत से सर्वदा के लिए समाप्त करना चाहता था। लाबर्डिनो ने डूप्ले का कहना नहीं माना और साठ हजार रुपये लेकर वापस चला गया। डूप्ले ने मद्रास शहर पर अधिकार कर लिया और वहाँ लूट-मार आरम्भ कर दी। अंग्रेजों ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन से सहायता माँगी जिसने एक सेना अपने पुत्र के नेतृत्व में फ्रान्सीसियों से मद्रास छीन लेने के लिए भेज दी। फ्रान्सीसियों की 700 भारतीयों और 230 फ्रान्सीसियों की सेना ने नवाब द्वारा भेजी गयी 10,000 सैनिकों की सेना को 1746 ई. में सेण्ट थोमी के युद्ध में परास्त कर दिया। परन्तु डूप्ले का निकट के सेण्ट डेविड को अंग्रेजों से छीनने का प्रयत्न अठारह महीने के युद्ध के पश्चात् भी विफल रहा। 1748 ई. में अंग्रेजी जल-बेड़े के द्वारा पाण्डिचेरी को जीतने का प्रयत्न भी असफल हुआ। उसी वर्ष यूरोप में एक्स-ला-शैपल की सन्धि हो जाने से ब्रिटेन और फ्रान्स का युद्ध समाप्त हो गया तथा इस सन्धि से फ्रान्स ने मद्रास अंग्रेजों को दे दिया और उसके बदले में अमेरिका में लूबर प्राप्त कर लिया।

भौगोलिक लाभ की दृष्टि से यह युद्ध दोनों में से किसी भी कम्पनी के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ। परन्तु इससे सिद्ध हुआ कि यूरोपीय पद्धति से प्रशिक्षित सेनाएँ भारतीय नरेशों की सेनाओं से श्रेष्ठ हैं और नौ-सेना युद्ध में महत्वपूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों को निकट की भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान हो गया। परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों का ही साहस भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करके राजनीतिक लाभ प्राप्त करने का हो गया।

द्वितीय कर्नाटक-युद्ध (1749-54 ई.)—द्वितीय कर्नाटक-युद्ध के आरम्भ होने का तात्कालिक कारण अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का भारतीय नरेश-राज्यों की राजनीति में हस्तक्षेप करना था। अंग्रेजों ने तंजौर-राज्य की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया था। फ्रान्सीसियों को भी हैदराबाद और कर्नाटक की राजनीति में हस्तक्षेप करने का शीघ्र ही अवसर मिल गया। 1748 ई. में हैदराबाद के निजाम आसफजा की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र नासिरजंग और पोते मुजफ्फरजंग में सिंहासन के लिए संघर्ष आरम्भ हुआ। मुजफ्फरजंग ने मराठों से सहायता माँगी। उसकी भेंट कर्नाटक के पहले के नवाब दोस्तअली के दामाद चाँदा साहब से हुई जो कर्नाटक पर अपना अधिकार समझता था। परन्तु उस समय वह मराठों की कैद में था। मराठों ने उसे कैद से मुक्त कर दिया तथा उसने और मुजफ्फरजंग ने फ्रान्सीसियों से सहायता माँगी। डूप्ले इसके लिए तैयार हो गया। चाँदा साहब ने कर्नाटक पर आक्रमण करके तत्कालीन नवाब अनवरुद्दीन को अम्बर के युद्ध में कत्ल कर दिया और उसके पुत्र मुहम्मदअली को त्रिचनापल्ली भागने के लिए बाध्य किया। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों ने मुहम्मदअली और हैदराबाद के निजाम नासिरजंग को सहायता देना आरम्भ किया। इस प्रकार, अप्रत्यक्षतः अंग्रेज और फ्रान्सीसी पुनः एक दूसरे से युद्ध करने लगे।

नासिरजंग ने कर्नाटक पर आक्रमण किया तथा जिंजी नदी के निकट चाँदा साहब और फ्रान्सीसियों को एक युद्ध में परास्त कर दिया। मुजफ्फरजंग ने आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु डूप्ले ने साहस नहीं छोड़ा और फ्रान्सीसियों ने मसलीपट्टम और जिंजी के किले पर अधिकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया। 1750 ई. में नासिरजंग की हत्या हो गयी और डूप्ले ने तुरन्त मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया। फ्रान्सीसियों ने अभी तक त्रिचनापल्ली में मुहम्मदअली को घेर रखा था। अगस्त 1751 ई. में क्लाइव ने कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर अचानक आक्रमण किया और उसे जीत लिया। इससे त्रिचनापल्ली का घेरा उठा लिया गया और चाँदा साहब ने भागकर तंजौर के राजा के यहाँ शरण ली जहाँ उसकी हत्या हो गयी। तब भी डूप्ले ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब मानने से इंकार कर दिया और छुटपुट युद्ध 1754 ई. तक चलता रहा। इसी समय फ्रान्सीसी सरकार ने डूप्ले को हटाकर गोड्यू को फ्रान्सीसी गवर्नर नियुक्त किया जिसने दिसम्बर 1754 ई. में अंग्रेजों से एक सन्धि करके युद्ध समाप्त कर दिया।

कर्नाटक का द्वितीय युद्ध भी अनिर्णयात्मक रहा। यदि अंग्रेज कर्नाटक में अपनी इच्छा का नवाब बनाने में सफल हुए थे तो फ्रान्सीसियों ने हैदराबाद में अपनी इच्छा का निजाम बनाया था तथा 1751 ई. में मुजफ्फरजंग की मृत्यु के पश्चात् सलाबतजंग को निजाम बनाकर वहाँ अपने प्रभुत्व को स्थापित रखा था। परन्तु इसके पश्चात् भारतीय राजनीति में अंग्रेजों का पलड़ा भारी हो गया। 1757 ई. में प्लासी के युद्ध को जीतने से अंग्रेजों ने बंगाल के धनवान सूबा के नवाब को अपने प्रभाव में ले लिया। तीसरा कर्नाटक-युद्ध उस परिस्थिति में हुआ जबकि बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा की धन और सैनिक-शक्ति अंग्रेजों के साथ हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में तीसरा कर्नाटक-युद्ध निर्णयात्मक हुआ।

तृतीय कर्नाटक-युद्ध (1757-63 ई.)—तृतीय कर्नाटक-युद्ध के आरम्भ होने का तात्कालिक कारण यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध का आरम्भ हो जाना था जिसमें ब्रिटेन और फ्रान्स पुनः एक दूसरे से युद्धरत हो गये।

सप्तवर्षीय युद्ध 1756 ई. में आरम्भ हुआ परन्तु भारत में अंग्रेज और फ्रान्सीसियों ने 1757 ई. में युद्ध करना आरम्भ किया। दक्षिण-भारत में 1757 ई. में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु बंगाल में अंग्रेजों ने चन्द्रनगर फ्रान्सीसियों से छीन लिया। 1758 ई. में फ्रान्स ने काउन्ट-डी-लैली को सम्पूर्ण सैनिक और असैनिक अधिकार देकर भारत भेजा। लैली ने सेण्ट डेविड के किले पर अधिकार कर लिया परन्तु मद्रास को जीतने में वह असफल हुआ। अंग्रेजों को निरन्तर बंगाल से सहायता मिलती रही जबकि लैली के साधन सीमित रहे। उसने फ्रान्सीसी अधिकारी बुसी को भी हैदराबाद से बुला लिया जिससे वहाँ फ्रान्सीसी प्रभाव समाप्त हो गया। जनवरी 1760 ई. में वाण्डीवाश के युद्ध में फ्रान्सीसी पराजित हुए। यह युद्ध निर्णयात्मक हुआ। जनवरी 1761 ई. में अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों के प्रमुख स्थान पाण्डिचेरी को भी जीत लिया। उसके पश्चात् फ्रान्सीसियों के सभी स्थानों जैसे जिंजी, माही आदि पर भी अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया।

1763 ई. में पेरिस की सन्धि द्वारा पाण्डिचेरी, चन्द्रनगर आदि कुछ स्थान फ्रान्सीसियों को वापस दे दिये गये यद्यपि वे वहाँ किलेबन्दी नहीं कर सकते थे। इस प्रकार तृतीय कर्नाटक-युद्ध को जीतकर अंग्रेजों ने अपने एकमात्र यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी को अपने मार्ग से हटाने में सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् फ्रान्सीसियों ने भारतीय नरेश-राज्यों की सहायता करते हुए अंग्रेजों का विरोध करने का प्रयत्न किया परन्तु वे अंग्रेजों से प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष करने की स्थिति में कभी नहीं आ सके। आँग्ल-फ्रान्सीसी युद्ध भारतीय राजनीति की दुर्बलता का प्रमाण थे। उस समय तक तो कोई भी भारतीय राज्य और राजनीतिज्ञ यह समझ नहीं सका कि ये दो यूरोपीय शक्तियाँ वस्तुतः भारतीय साम्राज्य को प्राप्त करने हेतु आपस में लड़ रही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं अथवा उनमें से किसी के भी पास इनको रोकने की और उनसे अपने मनोनुकूल कार्य कराने की शक्ति नहीं रह गयी थी।

7. अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ (बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार)

यूरोप-निवासियों में से अंग्रेज भारत में राजसत्ता प्राप्त करने में सफल हुए। निस्सन्देह, भारतीय राजनीति में उनका हस्तक्षेप दक्षिण-भारत में कर्नाटक से आरम्भ हुआ। परन्तु वहाँ उनका हस्तक्षेप और संघर्ष मूलतया फ्रान्सीसियों की प्रतिस्पर्धा के कारण था जो स्वयं भारत में राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। अंग्रेज फ्रान्सीसियों से संघर्ष करने में सफल हुए परन्तु उससे पहले ही उन्होंने बंगाल के सूबा में, जिसमें उस समय बिहार और उड़ीसा के प्रदेश भी सम्मिलित थे, अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। भारत में अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ बंगाल से हुआ जहाँ प्लासी के युद्ध (1757 ई.) को जीतकर उन्होंने उस व्यक्ति को नवाब बनाने में सफलता प्राप्त की जो पूर्णतया अंग्रेज कम्पनी पर आश्रित हो गया।

बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला और अंग्रेज कम्पनी में युद्ध होने के विभिन्न कारण थे जिनमें प्रमुख मुगल बादशाह फर्रुखसियर द्वारा 1717 ई. में दिये गये फर्मान (आज्ञापत्र) पर विवाद था जिसके द्वारा अंग्रेजों को बंगाल के सूबा में बिना कर दिये व्यापार करने की सुविधा तथा कलकत्ता के निकट 38 गाँव खरीदने की अनुमति दी गयी थी। अंग्रेज कम्पनी ने इस कर-मुक्त व्यापार के अधिकार को कम्पनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार पर भी लागू किया जबकि नवाब का कहना था कि कर-मुक्ति की सुविधा कम्पनी के कर्मचारियों को उनके व्यक्तिगत व्यापार के लिए नहीं बल्कि केवल कम्पनी के व्यापार के लिए ही प्रदान की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, कम्पनी भारतीय व्यापारियों को भी कर-मुक्ति-पत्र (दस्तक या Free Pass) दे देती थी जिससे भारतीयों की व्यापारिक वस्तुएँ भी कर से मुक्त हो जाती थीं। इस प्रकार मुगल बादशाह के फर्मान की व्याख्या और अंग्रेज कम्पनी द्वारा कर-मुक्त व्यापार के अधिकार को लेकर कम्पनी और नवाब में झगड़ा था। कम्पनी द्वारा 38 गाँव खरीदने के अधिकार का प्रयोग केवल उसकी स्वीकृति के बाद ही हो सकता है जिसके लिए वह तत्पर नहीं था। इसके अतिरिक्त, जबकि कम्पनी अपनी भू-सीमाओं के अन्तर्गत पूर्ण सम्प्रभुता का दावा करती थी तथा अपने किले की मरम्मत करना तथा किसी को भी अपना संरक्षण प्रदान करना अपना अधिकार समझती थी, नवाब कम्पनी को ये अधिकार देने के लिए तत्पर नहीं था। वह कम्पनी को एक व्यापारी मात्र की सुविधा देने के अतिरिक्त अन्य अधिकार देने को तैयार नहीं था। उसके अनुसार कम्पनी को उसकी इच्छानुसार कार्य करते हुए ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा में व्यापार करने का अधिकार था।

उपरोक्त विवादग्रस्त प्रश्नों को लेकर अंग्रेज कम्पनी और नवाब सिराजुद्दौला में झगड़े के कारण उपस्थित हो गये। अंग्रेजों ने नवाब के गद्दी पर बैठने के अवसर पर उसे भेंट (नज़राना) नहीं दी थी जो एक परम्परा थी और एक अवसर पर उसे अपनी कासिमबाजार की फैक्टरी को दिखलाने से भी मना कर दिया था। इस कारण भी नवाब अंग्रेजों से असन्तुष्ट था। नवाब अंग्रेजों से इस कारण भी असन्तुष्ट हुआ कि उन्होंने राजवल्लभ के पुत्र कृष्णवल्लभ को शरण दी और नवाब के माँगने पर उसे वापस नहीं किया। राजवल्लभ नवाब की बहन घसीटी बेगम का पक्षधर था और उसने बेगम के धन को कृष्णवल्लभ को देकर अंग्रेजों के संरक्षण में भेज दिया था जिसके कारण नवाब ने उसे दीवान के पद से हटा दिया था। 1756 ई. में जब अंग्रेजों ने कलकत्ते के किले की मरम्मत की तब नवाब ने उन्हें ऐसा करने से रोका।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजों द्वारा किलेबन्दी को रोकने की आज्ञा को ठुकराने से नवाब क्रोधित हो गया और उसने किले पर आक्रमण करके कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों को फुल्ता के द्वीप में शरण लेनी पड़ी। इस घटना ने प्लासी के युद्ध की भूमिका तैयार कर दी।

मद्रास से क्लाइव और वाटसन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेनाओं के आ जाने से नवाब 1757 ई. में सन्धि करने के लिए बाध्य हुआ। परन्तु यह एक अस्थायी समझौता था। नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध आरम्भ से ही षड्यन्त्र चल रहे थे। पिछले नवाब अलीवर्दीखाँ का बहनोई और राज्य का सेनापति मीरजाफर स्वयं गद्दी का दावेदार था। वह प्रभावशाली हिन्दू व्यापारी-सेठों तथा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था। अंग्रेज भी नवाब को हटाने के इस षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गये। जब षड्यन्त्र के अनुसार सिराजुद्दौला को हटाकर मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाने का निर्णय हो गया तब क्लाइव ने नवाब पर सन्धि की शर्तों को तोड़ने का दोष लगाया और अपनी सैनिक-कार्रवाई आरम्भ कर दी। नवाब ने अपनी सेना लेकर उसका मुकाबला किया और 23 जून, 1757 ई. को प्लासी का युद्ध हुआ। नवाब की अधिकांश सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया। उसकी सेना का दाहिना भाग रायदुर्लभ और बायाँ भाग मीरजाफर के नेतृत्व में था जबकि ये दोनों ही अंग्रेजों से मिले हुए थे। नवाब भाग खड़ा हुआ परन्तु उसे पकड़ कर मार दिया गया। इसके पश्चात् क्लाइव ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब घोषित कर दिया।

प्लासी का युद्ध सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था। परन्तु आर्थिक दृष्टि से कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने नवाब से बहुत धन प्राप्त किया। उनका व्यापार कर-मुक्त हो गया। अंग्रेज कम्पनी को 24 परगने की जागीर और कलकत्ता में अपनी टकसाल स्थापित करने का अधिकार मिला। इस युद्ध से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। परन्तु सबसे अधिक लाभ कम्पनी को राजनीतिक दृष्टि से हुआ। बंगाल का नवाब कम्पनी पर आश्रित हो गया। कम्पनी ने उसकी सुरक्षा के लिए 6,000 सैनिकों की अपनी सेना रखी। वस्तुतः अंग्रेज कम्पनी ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा की मालिक हो गयी और उसने इस सूबे की धन और जन-शक्ति का प्रयोग करके धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में अपना राज्य विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की। नाममात्र के लिए ही बंगाल का नवाब अपने सूबे का मालिक रहा। यह उस समय स्पष्ट हो गया जब मीरकासिम के विरोध करने पर (1763 ई.) उसे बंगाल छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। मीरजाफर को 1760 ई. में गद्दी से हटाकर मीरकासिम को नवाब अंग्रेजों ने ही बनाया था। जब उसने अंग्रेजों के इशारे पर नाचने से इंकार कर दिया तब उसने भागकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सहायता माँगी जिसका परिणाम 1764 ई. में बक्सर का युद्ध हुआ जिसे जीतकर अंग्रेजों ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला और स्वयं मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय को अपने पर आश्रित कर लिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत में अंग्रेज 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही एक बड़ी शक्ति बन गये थे। इसी कारण वे मैसूर-राज्य को समाप्त कर सके और मराठों से पृथक युद्ध करने का साहस कर सके। निस्सन्देह, मराठा-सम्प्रभुता का इतिहास अब नष्टप्राय था।

8. उत्तरकालीन मुगल बादशाह (1740-1858 ई.) और मुगल-साम्राज्य का पतन

मुहम्मदशाह (1719-48 ई.) के शासनकाल में ही मुगल-साम्राज्य का विघटन हो गया था। बंगाल, अवध और हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना उसी के समय में हो गयी थी। इसके अतिरिक्त, मराठों ने गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग पर अपना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार कर लिया था तथा दूरस्थ मुगल सूबों से चौथ की माँग कर रहे थे। उसी के समय में 1739 ई. में पर्शिया के शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। उसने न केवल दिल्ली में लूट-मार और कत्ल-ए-आम किया अपितु मुगल-बादशाहत के सम्मान को ही नष्ट कर दिया। उत्तरकालीन मुगल बादशाह अयोग्य सिद्ध हुए थे। उनमें से कोई भी तत्कालीन समस्याओं का हल निकालने में सफल नहीं हुआ। मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **अहमदशाह** (1748-54 ई.) 21 वर्ष की आयु में बादशाह बना। वह विलासी सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में मराठों का दिल्ली-दरबार में हस्तक्षेप बढ़ गया, भरतपुर का जाट-राजा सूरजमल भी दिल्ली में प्रभावशाली होने लगा और अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने तीन बार भारत पर आक्रमण किया और पंजाब तथा मुल्तान के सूबों पर अपना अधिकार कर लिया। 1754 ई. में अहमदशाह के वजीर इमाद-उल-मुल्क ने उसे सिंहासन से हटा कर जहाँदारशाह के दूसरे पुत्र अजीजुद्दीन को **आलमगीर द्वितीय** (1754-58 ई.) के नाम से सिंहासन पर बैठाया। आलमगीर अयोग्य सिद्ध हुआ तथा वजीर इमाद-उल-मुल्क स्वार्थी और सिद्धान्तहीन। उसने मराठों पर निर्भर करके पंजाब पर आक्रमण किया और अहमदशाह अब्दाली के सूबेदार मुगलानी बेग को हटाकर अदीना बेग को सूबेदार बना दिया। अब्दाली ने असन्तुष्ट होकर दिल्ली पर आक्रमण किया। उसने आलमगीर की एक पुत्री से स्वयं विवाह किया, उसकी एक अन्य पुत्री से अपने पुत्र का विवाह किया, दिल्ली को लूटा और रुहेला-सरदार नजीबुद्दौला को मीर-बख्शी बनाया। पंजाब में उसने अपने पुत्र तिमूर को सूबेदार बनाया। अब्दाली के वापस जाने के बाद रघुनाथराव के नेतृत्व में मराठे दिल्ली पहुँचे। मराठों ने नजीबुद्दौला को मीर-बख्शी का पद छोड़ने के लिए बाध्य किया, पंजाब से तिमूरखाँ को भगाकर पहले अदीना बेग को और उसकी मृत्यु के बाद साबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया। 1758 ई. में वजीर इमाद-उल-मुल्क ने आलमगीर की भी हत्या करा दी और बहादुरशाह प्रथम के एक पोते को **शाहजहाँ तृतीय** (1758-59 ई.) के नाम से गद्दी पर बैठा दिया जिसने प्रायः एक वर्ष शासन किया। जिस समय आलमगीर की हत्या हुई उस समय उसका सबसे बड़ा पुत्री अली गौहर बिहार में था। उसने **शाहआलम द्वितीय** (1759-1806 ई.) के नाम से अपने को मुगल बादशाह घोषित कर दिया यद्यपि वह 12 वर्षों तक दिल्ली नहीं गया। शाहआलम द्वितीय के नाममात्र के शासनकाल में अंग्रेजों ने प्लासी और बक्सर के युद्धों को जीतकर बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित की तथा 1761 ई. में पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ जिसमें मराठों की अहमदशाह अब्दाली से पराजय हुई और वे कुछ वर्षों के लिए दिल्ली की राजनीति से पृथक हो गये। अब्दाली जाने से पहले नजीबुद्दौला को ही दिल्ली के शासन की देखभाल के लिए नियुक्त कर गया था। 1770 ई. तक दिल्ली पर नजीबुद्दौला ने शासन किया। 1770 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जाबिताखाँ ने शासन किया। उसने शाही परिवार के सदस्यों और स्त्रियों का अपमान करने का साहस किया। शाहआलम, उस समय, अंग्रेजों पर आश्रित होकर इलाहाबाद में था। उसने मराठों से बातचीत की और उनके संरक्षण में 1772 ई. में दिल्ली पहुँचा। 1787 ई. में जाबिताखाँ के पुत्र गुलाम कादिर को बख्शी बनाया गया था। वह क्रूर सिद्ध हुआ और जबकि महादजी सिन्धिया राजस्थान में व्यस्त था उसने 1788 ई. में शाहआलम को अन्धा करा दिया, शाही परिवार की स्त्रियों को असम्मानित किया और धन की तलाश में शाही खजाने की जमीन तक को खुदवा दिया। बाद में सिन्धिया ने दिल्ली आकर गुलाम कादिर को कत्ल कराया। 1794 ई. में महादजी की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया ने शाहआलम को अपने संरक्षण में ले लिया। 1803

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई. में अंग्रेजों ने शाहआलम को अपने संरक्षण में लिया और अंग्रेजों से पेन्शन पाते हुए 1806 ई. में शाहआलम की मृत्यु हुई। शाहआलम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **अकबर द्वितीय** (1806-37 ई.) मुगल बादशाह बना। उसने जीवनपर्यन्त अंग्रेजों से पेन्शन प्राप्त की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **बहादुरशाह द्वितीय** (1838-58 ई.) बादशाह बना। यह अन्तिम नाममात्र का मुगल बादशाह था। 1857 ई. के विद्रोह में सम्मिलित होने के लिए उसे बाध्य किया गया। अंग्रेजों ने उसको दोषी ठहराकर 1858 ई. में सिंहासन से उतारकर रंगून भेज दिया और मुगल-बादशाहत को समाप्त कर दिया। बहादुरशाह की मृत्यु रंगून में हुई।

इस प्रकार, मुगल-साम्राज्य और मुगल-बादशाहत का अन्त हुआ। वस्तुतः औरंगजेब के बाद के मुगल बादशाह बादशाह कहलाने के योग्य नहीं थे। बहादुरशाह प्रथम ने किसी भी समस्या का हल नहीं निकाला। मराठों, राजपूतों और सिखों से उसने समझौते मात्र किये थे और आर्थिक दृष्टि से तो उसने साम्राज्य की कठिनाइयों में वृद्धि ही की। उसके पश्चात् के मुगल बादशाह किसी न किसी सरदार की सहायता से बादशाह बने। जहाँदारशाह वजीर असदखाँ के पुत्र जुल्फिकारखाँ की सहायता से और फर्रुखसियर रफी-उद्-दरजात, शाहजहाँ द्वितीय और मुहम्मदशाह सैयद-भाइयों पर निर्भर करके बादशाह बने तथा आलमगीर द्वितीय, शाहजहाँ तृतीय, शाहआलम द्वितीय, अकबर द्वितीय और बहादुरशाह द्वितीय मराठों के पेन्शनर बने। अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय की मृत्यु अंग्रेजों के पेन्शनर के रूप में हुई। ये सभी मुगल बादशाह अयोग्य थे और इस कारण अपने और अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुए।

9. मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण : विभिन्न धारणाएँ

प्रायः 175 वर्ष के गौरवपूर्ण शासन के पश्चात् मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। विभिन्न इतिहासकारों ने मुगल-साम्राज्य के पतन के कारणों पर विभिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है। **मुगल-शासन पुलिस-शासन तक ही सीमित रहा।** मुगल बादशाहों का प्रमुख लक्ष्य साम्राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा और आन्तरिक शान्ति स्थापित करना ही रहा। इसी से उनके सम्मान और शक्ति की सुरक्षा होती थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इन दायित्वों की पूर्ति भी नहीं कर सके। इस कारण जनसाधारण उनसे पृथक रहा और स्थानीय सरदारों अथवा सूबेदारों के स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ा बल्कि, इसके विपरीत, जिस प्रशासक ने उन्हें सुरक्षा और शान्ति प्रदान की उसका जनसाधारण ने स्वागत किया। **नौ-सेना का अभाव** मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का कारण अवश्य था परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसके पतन के लिए उत्तरदायी नहीं था। नौ-सेना के अभाव से उत्पन्न दुर्बलता उस समय प्रकट हुई जब 16वीं सदी से यूरोप के निवासी भारत आये और समुद्र पर अधिकार स्थापित करके उन्होंने भारत के विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित किया। व्यापारिक दृष्टि से यूरोपियनों पर निर्भरता ने भारतीय शासकों को उन्हें व्यापारिक सुविधाएँ देने के लिए बाध्य किया जिससे, अन्त में, उनमें से एक को भारत में राज्य स्थापित करने का अवसर मिला। मुगल विदेशी थे और प्रयत्न करने के बावजूद भी वे **भारतीयों को यह विश्वास दिलाने में असमर्थ रहे कि उनका शासन विदेशियों का शासन नहीं है।** ऐसी स्थिति में भारतीयों ने जिसके पास शक्ति थी उसी को अपना शासक स्वीकार कर लिया। **18वीं सदी में मुगल-साम्राज्य अपने नागरिकों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ हो गया।** खालसा-भूमि में कमी और लगान वसूल करने में ठेकेदारी-व्यवस्था ने राज्य और किसान दोनों की आर्थिक स्थिति दुर्बल कर दी जिससे राज्य दुर्बल हुआ और जनसाधारण राज्य के प्रति वफादार नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा। **बौद्धिक पतन** को भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है। निश्चय ही मुगलों के अधिकांश शासनकाल में शिक्षा की व्यवस्था समुचित नहीं थी और जो थी भी वह समय के अनुकूल न रही। उसमें तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण अभाव था और उदार मानवीय भावनाओं के विकास में सहयोग देने में बहुत कमी। इस कारण, प्रशासन को योग्य व्यक्ति मिलने बन्द हो गये। **उत्तराधिकार के नियम के न होने** से प्रत्येक बादशाह की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए युद्ध की आशंकाएँ बनी रहीं और युद्ध भी हुए जिनमें जन-जीवन, प्रशासन, कृषि, व्यापार आदि नष्ट हुए और दरबार में प्रतिद्वन्द्वी गुटबन्दियाँ हुईं। **मुगल-सेना का शक्तिहीन हो जाना** भी मुगलों के पतन का एक मुख्य कारण था। यह अन्य बात है कि उसकी शक्तिहीनता का प्रमुख कारण जागीरदारी या मनसबदारी-प्रथा का असफल हो जाना था। इसके अतिरिक्त, अकबर के समय में ही मुगल-सेना के अजेय बन जाने के बाद के बादशाहों के समय में स्त्रियों, रखैलों और वेश्याओं को ले जाना आरम्भ करने से सेना का चारित्रिक बल कम हुआ और सेना की गतिशीलता कम हो गयी। जागीरदारी-प्रथा पर आधारित संगठित सेना, निस्सन्देह, अयोग्य शासकों के समय में शक्तिहीन हो गयी। मध्य-युग में सैनिक-शक्ति के अभाव में कोई साम्राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता था। मुगल-साम्राज्य के साथ भी ऐसा ही हुआ। **राजदरबार की दलबन्दियाँ** भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुईं, मुख्यतया जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये। यह माना जा सकता है कि बादशाहों की दुर्बलता का एक परिणाम दलबन्दियाँ थीं परन्तु सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ भी इसके लिए उत्तरदायी थीं। निस्सन्देह, उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में इन दलबन्दियों ने बादशाह के अधिकारों को समाप्त करके साम्राज्य को दुर्बल बनाया। **मराठों के** उत्तरी भारत पर आक्रमण और नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली द्वारा हुए विदेशी आक्रमणों ने मुगल-साम्राज्य की शक्ति और सम्मान को नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी यद्यपि यह माना जा सकता है कि ये आक्रमण हुए भी इस कारण कि मुगल-साम्राज्य पतनोन्मुख हो चुका था। **उत्तरकालीन मुगल बादशाहों का नैतिक पतन और अयोग्यता** और उनकी नकल करते हुए **मुगल सरदारों का नैतिक पतन और उनकी अयोग्यता** भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुईं, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि विलासप्रियता से अधिक बादशाहों और सरदारों की अयोग्यता मुगल- साम्राज्य के लिए अधिक उत्तरदायी थी क्योंकि विलासप्रिय तो औरंगजेब के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाह थे। परन्तु उत्तरकालीन बादशाह अयोग्य और उत्तरदायित्वहीन सिद्ध हुए जबकि महान् मुगल बादशाह ऐसे नहीं थे। **आर्थिक पतन**, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी था। यह संकट शाहजहाँ के समय से ही उपस्थित हो गया था। बादशाहों के विलास और शौक, जागीरदारी-प्रथा की असफलता, खालसा-भूमि का कम हो जाना, भूमि को ठेके पर दिया जाना आदि ऐसे दोष थे जिनसे साम्राज्य और प्रजा दोनों की आर्थिक हानि हुई और राज्य अपनी आय से अपने व्यय की पूर्ति करने में असमर्थ हो गया। इसका कुप्रभाव असैनिक और सैनिक प्रशासन दोनों पर पड़ा। औरंगजेब के शासनकाल में आर्थिक संकट और बढ़ गया तथा उत्तरकालीन बादशाहों के काल में तो अर्थ-व्यवस्था नष्टप्राय हो गयी। ऐसी स्थिति में साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था। डॉ. विपिनचन्द्र के मतानुसार **भारत में राजनीतिक राष्ट्रीयता का अभाव** मुगल-साम्राज्य के पतन का एक महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक कारण था। निस्सन्देह, राष्ट्रीयता की भावना यूरोप में भी 18वीं सदी के अन्तिम समय में उत्पन्न हुई और भारत में मुगल-काल में उसके उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं था। परन्तु ब्रिटेन और फ्रान्स जैसे राज्य अपने पृथक अस्तित्व को समझ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठे थे और उनके नागरिकों में राष्ट्रीयता के अभाव में भी एक राजनीतिक इकाई का भाव उपस्थित हो गया था। भारत की आर्थिक, राजनीतिक, जातीय और सामाजिक व्यवस्था उस काल में ऐसी नहीं बनी जो भारतीयों को एक राज्य के नागरिक होने की और उसके प्रति वफादार होने की भावना प्रदान करती या राष्ट्र के निर्माण की आधारशिला बनती। इस भावना के अभाव के कारण भी मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। **औरंगजेब का मुगल-साम्राज्य के पतन में क्या उत्तरदायित्व था, इसके विषय में थोड़ा मतभेद है।** औरंगजेब की दक्षिण-नीति औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी थी, इस विषय में मतभेद नहीं है। इतिहासकारों का बहुमत यह स्वीकार करता है कि यदि औरंगजेब ने दक्षिण के मुसलमान-राज्य बीजापुर और गोलकुण्डा को विजय नहीं किया होता तो मराठों का उससे प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं होता, साम्राज्य की आर्थिक और प्रशासकीय समस्याएँ नहीं बढ़तीं और मराठे तथा दक्षिण के ये मुस्लिम-राज्य पारस्परिक संघर्ष में लिप्त रहते। इस कारण, औरंगजेब की दक्षिण में राज्य-विस्तार की नीति, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के लिए कठिनाई और संकट उपस्थित करने वाली सिद्ध हुई। विवाद औरंगजेब की धार्मिक नीति को लेकर है। आधुनिक समय में विद्वान इतिहासकारों ने यह विचार प्रस्तुत किये हैं कि औरंगजेब की नीति धार्मिक असहिष्णुता की नहीं थी। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं अथवा राजपूतों के विद्रोहों का होना, साम्राज्य की एकता का नष्ट हो जाना आदि का दोष औरंगजेब पर नहीं लगाया जा सकता। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि औरंगजेब की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी या नहीं। इस कारण यह प्रश्न विवाद का ही रहेगा।

आधुनिक समय में कुछ विद्वानों ने मुगल-साम्राज्य के पतन के कारणों पर अन्य दृष्टिकोणों से भी प्रकाश डाला है जो महत्वपूर्ण और विचारणीय है। मूलतया, उन सभी ने मुगल-साम्राज्य के आर्थिक पतन के पहलुओं पर विचार किया है और जागीरदारी-संकट, लगान-व्यवस्था में व्याप्त दोष, भूमि को लगान वसूल करने के लिए ठेके पर दिया जाना (इज़ारादारी-व्यवस्था) आदि के विभिन्न दोषों, जैसे बादशाह की स्थिति का दुर्बल होना, जागीरों में कमी हो जाना, दरबार की दलबन्दियाँ, सैनिक-शक्ति में कमी, किसानों पर कर के भार का बढ़ना, जमींदारों का आर्थिक संकट के कारण विद्रोही बन जाना आदि के लिए उत्तरदायी माना जिनमें से प्रत्येक ने मुगल-साम्राज्य के पतन में भाग लिया। इस प्रकार, इन विद्वानों ने मुगल-साम्राज्य के पतन के मुख्य कारण उनकी प्रशासकीय और मूलतया उनकी अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न हुए दोषों में ही तलाश करने का प्रयत्न किया है और इसमें सन्देह नहीं कि वे पर्याप्त मात्रा में इस दिशा में सफल भी रहे हैं।

डॉ. सतीशचन्द्र ने मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए **मनसबदारी और जागीरदारी प्रथाओं की असफलता** को जिम्मेदार बताया है। उनके अनुसार औरंगजेब के समय से ही युद्धों, प्रशासन-व्यय और बादशाह तथा उमरा-वर्ग (अमीर या सरदार) की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति किया जाना कठिन हो गया। बादशाह और उमरा-वर्ग की आय का प्रमुख साधन भूमि थी। जिस अनुपात में प्रशासन और प्रशासक-वर्ग के व्ययों में वृद्धि हुई उस अनुपात में सभी प्रकार के प्रयत्न किये जाने के बावजूद भी कृषि-उत्पादन की वृद्धि नहीं हुई जिसके कारण राज्य और प्रशासक-वर्ग की आय और उनके व्यय में अन्तर बढ़ता गया और जागीरदारी या मनसबदारी व्यवस्था के दोष सामने आ गये। औरंगजेब की दक्षिण-विजय ने इस संकट में वृद्धि की। जबकि दक्षिण की भूमि से आय अधिक सम्भव नहीं थी, औरंगजेब को दक्षिण-भारतीयों और मुख्यतया मराठों को उमरा-वर्ग में सम्मिलित करके उन्हें जागीरें प्रदान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनी पड़ीं। स्थिति यह बन गयी कि जागीरें कम हो गयीं और उनके माँगने वालों की संख्या अधिक। जब औरंगजेब ने नये उमरा-वर्ग को जागीरें दीं तब पुराने उमरा-वर्ग पर दबाव पड़ा क्योंकि उनकी जागीरों को छोटा करने की आवश्यकता हुई। इससे उमरा-वर्ग में अच्छी जागीरें प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता हुई। इस प्रतिद्वन्द्विता और संकट को एक अन्य प्रकार से भी बढ़ावा मिला। कागजों में जागीरों से प्राप्त होने वाली आय को बहुत पहले से उस जागीर से प्राप्त होने वाली वास्तविक आय से अधिक दिखाया जाता रहा था। ऐसी स्थिति में उमरा-वर्ग ने वस्तुतः अच्छी आय वाली और सरलता से नियन्त्रण में रखी जाने वाली जागीरों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इससे दरबार में राजनीतिक दलबन्दियों को बढ़ावा मिला परन्तु इससे कहीं अधिक हानिकारक प्रभाव किसान और भूमि पर पड़ा। बड़े जागीरदारों ने छोटे जागीरदारों पर दबाव डाला। छोटे जागीरदारों ने लगान वसूल करने के लिए भूमि ठेकेदारों को देनी आरम्भ की जिससे वे लगान-वसूली के झंझट से बच सकें। इस व्यवस्था को **इजारादारी** पुकारा गया। ठेकेदारों या इजारेदारों ने क्योंकि अधिकतम बोली लगाकर भूमि से लगान वसूल करने का अधिकार लिया था, इस कारण किसानों से अधिकतम लगान एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया। इससे किसान और स्थानीय जमींदार दोनों पर दबाव पड़ा। किसानों ने कृषि करना बन्द कर दिया और जमींदारों ने उनकी सहायता से विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। इससे मुगलों की आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक-शक्ति टूटती चली गयी क्योंकि यह सभी कुछ भूमि से प्राप्त आय पर निर्भर करता था। डॉ. सतीशचन्द्र के अनुसार यही कारण मुगल-साम्राज्य के पतन को आरम्भ करने वाला सिद्ध हुआ। प्रो. अतहरअली ने डॉ. सतीशचन्द्र के विचार का समर्थन किया है।

प्रो. इरफान हबीब ने भी आर्थिक संकट को ही मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। इसके लिए उन्होंने **कृषि-संकट का सिद्धान्त** प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कागजों में जागीर की आय को उसकी वास्तविक आय से अधिक दिखाने और जागीरों या जागीरदारों के स्थानान्तरण करने के कारण कृषि-संकट उपस्थित हुआ और किसानों पर अत्याचार हुए। उनके अनुसार जब सरकार ने कागजों में जागीर की वास्तविक आय से अधिक आय दिखायी तब उसके अनुकूल सैनिक रखने की आशा जमींदार से की। परन्तु क्योंकि जागीर की वास्तविक आय कम थी इस कारण सरकार की आशा के अनुकूल सैनिक रखने के लिए जागीरदार को अपनी आय में वृद्धि करने हेतु किसानों पर दबाव डालना पड़ा। जहाँ तक जागीरदारों के स्थानान्तरण का प्रश्न था उससे भी किसानों पर दबाव पड़ा क्योंकि जबकि जागीरदार किसानों से अधिकाधिक धन लेना चाहता था वह भूमि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए धन व्यय नहीं करना चाहता था क्योंकि वह जागीर स्थायी रूप से उसे प्राप्त नहीं थी और उसे कभी भी दूसरी जागीर पर भेजा जा सकता था। इस कारण, अपनी जागीर से अधिकतम आय प्राप्त करना प्रत्येक जागीरदार का उद्देश्य होता था जिसका अन्तिम भार किसानों पर ही पड़ता था। जब जागीरें या भूमि ठेकेदारों को दी जाने लगीं तब किसानों पर दबाव और अत्याचार बढ़ गया जिससे किसानों ने विद्रोह करने आरम्भ कर दिये अथवा वे ऐसे जागीरदारों की भूमि पर बसने लगे जो सरकार के विरोधी थे। उनके अनुसार इससे सरकार-विरोधी तत्वों में वृद्धि हुई जिसने मुगल-साम्राज्य के पतन में सक्रिय भाग लिया।

मुगल-साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में एक अन्य विचार नोमन अहमद सिद्दीकी ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने **राजनीतिक, प्रशासनिक और कृषि-संकट** को सम्मिलित रूप से मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार औरंगजेब के बाद के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय में जागीरदारी-प्रथा बदली हुई राजनीतिक और कृषि की स्थिति का साथ देने में असफल हुई। एक तरफ जागीरों में कमी हो रही थी और दूसरी तरफ उमरा-वर्ग के सदस्यों में वृद्धि हो रही थी। इसके कारण एक तरफ कागजों में जागीरों की आय को वास्तविक आय से अधिक दिखाया गया जो हानिकारक सिद्ध हुआ और, दूसरी तरफ, पुराने मनसबदारों या जागीरदारों और नवीन मनसबदारों में अच्छी जागीरों को प्राप्त करने की तीव्र प्रतिस्पर्धा हुई। औरंगजेब के पश्चात् जागीरों की कमी का संकट और बढ़ गया क्योंकि बहादुरशाह प्रथम ने मनसब देते हुए जागीरों की कमी का ध्यान नहीं रखा। इससे स्थिति यह बन गयी कि मनसबदारों को खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) से जागीरें दी गयीं। इस कारण जब तक मुहम्मदशाह सिंहासन पर बैठा तब तक खालसा-भूमि का बहुत बड़ा भाग जागीरों के रूप में उमरा-वर्ग को दिया जा चुका था। इससे बादशाह की भूमि से प्राप्त होने वाली आय में बहुत कमी हो गयी। परन्तु तब भी जागीरों की माँग में कोई कमी नहीं आयी तथा उमरा-वर्ग में असन्तोष फैलने लगा जिससे राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ने लगा। जागीरों की वास्तविक आय कागजों में दिखायी जाने वाली आय से कम होने के कारण जागीरदारों ने अपने सैनिकों की संख्या में कमी की। वे उतने सैनिक नहीं रख पाये जितनी उनसे आशा की जाती थी। इससे साम्राज्य की सैनिक-शक्ति दुर्बल हुई। प्रशासन पर भी इसका कुप्रभाव पड़ा। प्रशासकीय अधिकारी भी उतनी आय प्राप्त नहीं कर रहे थे जितनी उनकी जागीरों की आय दिखायी गयी थी। इस कारण, उन्होंने भी अपने प्रशासन के व्यय में कमी की जिससे प्रशासन में ढीलापन आया। इसके अतिरिक्त, प्रो. सिद्दीकी भी यह स्वीकारते हैं कि छोटे जागीरदारों और ठेकेदारों द्वारा किसानों पर दबाव डाला गया जिससे अनेक स्थानों पर पुश्तैनी जमींदार समाप्त हो गये और उनका स्थान शहर से आये हुए महाजनों ने ले लिया तथा किसान कृषि छोड़कर विद्रोह करने के लिए बाध्य हुए या उन जमींदारों के संरक्षण में चले गये जो विद्रोही थे। इस प्रकार प्रो. सिद्दीकी के अनुसार बादशाह की दुर्बलता, जागीरों की कमी, दरबारियों की बढ़ती हुई लालसाओं एवं दलबन्दियों, सैनिक-शक्ति में कमी आदि से मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हुआ।

इसके अतिरिक्त औरंगजेब के पश्चात् वजीर के पद को योग्य व्यक्ति को नहीं अपितु राजनीतिक दलबन्दी और उसकी आर्थिक एवं सैनिक क्षमता के आधार पर दिया गया। ऐसी स्थिति में जबकि बादशाह अयोग्य थे तथा उनकी भूमि, आय और सैनिक-शक्ति में कमी आती जा रही थी, वजीर बादशाह के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभरा जिससे उमरा-वर्ग की दलबन्दियाँ भी बढ़ीं। सिंहासन के लिए उमरा-वर्ग के सदस्यों की सहायता लेना भी उत्तरकालीन मुगल बादशाहों की दुर्बलता का एक कारण बन गया। बाद के समय में वजीर या दीवान ने सहयोगी उमरा-वर्ग की सहायता से बादशाह बनाये और हटाये तथा अपने हाथों में शक्ति रखने के लिए विभिन्न गुटों या उनके सरदारों ने अपने से बाहर की शक्तियों की भी सहायता ली। इस सभी ने, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के पतन में भाग लिया।

[2]

आर्थिक स्थिति

18वीं सदी के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। पर्याप्त समय तक यह माना जाता रहा है कि 18वीं सदी भारत में पुनः अन्धकारमय सदी थी। राजनीतिक एकता और स्थायित्व के अभाव में भारत आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ गया जिसका अन्तिम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम भारत में एक विदेशी सत्ता का स्थापित हो जाना था। परन्तु सर्वप्रथम डॉ. सतीशचन्द्र ने 1959 ई. में इस धारणा को खण्डित करने का प्रयत्न आरम्भ किया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि कपड़े और मुख्यतया सूती कपड़े के उद्योग और व्यापार में इस काल में उन्नति हुई। गाँवों में भी मुद्रा का प्रचलन था, प्राथमिक बैंक-व्यवस्था ददनी-प्रथा (अग्रिम धनराशि देकर कारीगरों से काम कराना) और हुण्डियों को जारी किये जाने के रूप में प्रगति पर थी और नकदी फसलों का उत्पादन वृद्धि कर रहा था। इस प्रकार डॉ. सतीशचन्द्र के अनुसार 18वीं सदी के भारत में परिवर्तन की सम्भावनाएँ थीं और उसकी स्थिति आर्थिक दृष्टि से जड़ता की नहीं मानी जा सकती जिसके कारण उसे अन्धकारमय सदी माना जा सके। कुछ इतिहासकारों के अनुसार सामन्तवाद की उपस्थिति में पूँजीवादी की प्रगति की सम्भावना भारत में नहीं थी जो उसके विकास का आधार बनती। इसके विपरीत, कुछ अन्य इतिहासकारों के अनुसार सामन्त-व्यवस्था पतनोन्मुख थी जिसके कारण आर्थिक विकास के पूँजीवाद के चरण के उदय होने की पूरी सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त, सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि यूरोप-निवासियों के आने से भारत के व्यापार में उन्नति हुई जिसका प्रभाव भारतीय उद्योगों पर भी लाभदायक पड़ा और भारत की आर्थिक स्थिति में उन्नति हुई। परन्तु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि इसी सदी के उत्तरार्द्ध में मुख्यतया 1765 ई. से जबकि अंग्रेजों ने मुगल बादशाह से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली, तब से भारत का आर्थिक शोषण भी आरम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप 1770 ई. में बंगाल जैसे धनवान सूबे में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें बंगाल की प्रायः एक-तिहाई जनसंख्या समाप्त हो गयी। उपरोक्त विवादपूर्ण धारणाओं तथा तथ्यों को देखते हुए सामान्यतया यह माना जा सकता है कि इन एक सौ वर्षों के लम्बे समय में विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए जिनके कारण इस पूरे समय में भारत की आर्थिक स्थिति समान नहीं रही और न ही भारत के सभी क्षेत्रों में समान रही। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि इस काल में भारत की आर्थिक स्थिति में उतार-चढ़ाव रहा और यदि किसी एक क्षेत्र में आर्थिक उन्नति हुई किसी अन्य क्षेत्र में गिर भी गयी।

भारत की अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार कृषि और लघु-उद्योग सर्वदा रहे थे। वे इस सदी में भी रहे। इस काल में कृषि की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। व्यापार की प्रगति के कारण लघु-उद्योगों के विकास में सहायता अवश्य मिली परन्तु उन उद्योगों की वस्तुओं की निर्माण-विधि में कोई सुधार नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण भारत में तकनीकी विकास का अभाव था जिसके कारण कृषि-उत्पादन और लघु-उद्योगों के विकास में नवीन उपकरणों का निर्माण और प्रयोग सम्भव नहीं हुआ। भारत की जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि पर निर्भर करता था। कृषि-उत्पादन मूलतया प्रकृति और किसान के शारीरिक श्रम पर निर्भर करता रहा। किसान अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कृषि-उत्पादन से कर लेता था। इस कारण कृषि में उसकी रुचि बनी रही। कुछ मात्रा में नकदी फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई परन्तु वह स्थानीय लघु-उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु मात्र था। अन्यथा 18वीं सदी में कृषि के विकास के कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार, किसानों की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं थी। शासन ने निरन्तर लगान में वृद्धि की तथा जागीरदार, जमींदार और ठेकेदार किसानों का शोषण करते रहे। इसके अतिरिक्त, उत्तराधिकार के युद्धों, उमरा-वर्ग की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों एवं लूटमार तथा भारत के शासक और धनवान वर्ग की धन-लोलुपता ने किसानों और अन्य निर्धन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गों के आर्थिक शोषण को बढ़ावा दिया। इस कारण, इस काल में कृषकों और कृषि-उत्पादन की स्थिति सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती। यह अवश्य माना जा सकता है कि भारतीय इस क्षेत्र में अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अवश्य समर्थ रहे और इसका मुख्य श्रेय भारत के किसानों के श्रम और उनके साधारण जीवन को था।

व्यापार तथा औद्योगिक दृष्टि से भी भारत की जो उन्नति होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पायी। राजनीतिक अस्थिरता, गृह-युद्ध, विदेशी आक्रमण आदि के कारण भारत में शान्ति और व्यवस्था इस काल में सम्भव नहीं हुई जिससे आन्तरिक और विदेशी व्यापार की हानि हुई और उसका कुप्रभाव उद्योगों पर भी पड़ा। भारत में विभिन्न स्वतन्त्र राज्य बन जाने से उनकी सीमाओं पर व्यापारिक-कर लिया जाने लगा जिससे वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुई तथा व्यापारिक वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में असुविधा हुई। इससे आन्तरिक व्यापार में बाधा आयी। विभिन्न राज्यों के बन जाने से भारत की आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण सम्भव नहीं हुआ जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास नहीं हुआ और उनकी प्रगति में रुकावट आयी। विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत के सम्पन्न नगरों को लूटा जो व्यापार और उद्योगों के केन्द्र थे। नादिरशाह ने दिल्ली के वैभव को नष्ट किया और अहमदशाह अब्दाली ने दिल्ली और उत्तर-भारत के सम्पन्न नगरों को लूटा। भारतीय शासकों के पारस्परिक युद्धों ने भी कृषि, व्यापार और उद्योगों को हानि पहुँचाई। मराठों ने दक्षिण-भारत, मालवा तथा गुजरात के सभी नगरों से चौथ वसूल की तथा जाटों और सिखों ने भी भारत के उत्तर-पश्चिम के नगरों को लूटने में कोई कसर न छोड़ी।

परन्तु तब भी भारतीय उद्योग तथा व्यापार नष्ट नहीं हुए। पिछली सदियों से तुलनात्मक दृष्टि से गिरावट हो जाने के बावजूद भी भारतीय उद्योग देश की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और विदेशों को वस्तुएँ निर्यात करने की स्थिति में रहे। इसी कारण, भारत का विदेशी व्यापार सुरक्षित रहा। भारत उस काल में भी प्रचुर मात्रा में कपास, रेशम, शक्कर, जूट, नील, अफीम, जड़ी-बूटियाँ, कीमती पत्थर, मोती आदि वस्तुओं का उत्पादन करता था। भारत के तत्कालीन उद्योगों में सबसे अधिक प्रगतिशील उद्योग और व्यापार की वस्तु सूती कपड़ा था। भारत बहुत उच्चकोटि का और विभिन्न किस्मों एवं रंगों का सूती कपड़ा तैयार करता था जिसकी माँग संसार के सभी देशों में थी। इस उद्योग के केन्द्र-स्थान ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, सूरत, बड़ौदा, अहमदाबाद, बुरहानपुर, जौनपुर, बनारस, लखनऊ, आगरा, मुल्तान, लाहौर, मसलीपट्टम, विशाखापट्टम, बंगलौर, कोयम्बटूर, मदुराई आदि थे। भारत रेशमी कपड़ा भी तैयार करता था। बंगाल में ढाका, कासिमबाजार, हुगली आदि रेशमी वस्त्र तैयार करने के केन्द्र-स्थान थे। भारत रेशमी कपड़े का निर्यात करता था। कश्मीर के बने ऊनी वस्त्र विख्यात थे। माल ढोने वाले समुद्री जहाजों का निर्माण भी भारत में होता था। यूरोपीय व्यापारी भी भारत में बने ऐसे जहाजों को खरीदते थे। इस प्रकार, भारतीय उद्योग और विदेशी व्यापार सुरक्षित रहा और इस सदी में भी भारत के पक्ष में रहा। भारत का यूरोप, एशिया और अफ्रीका के विभिन्न देशों से व्यापार होता था। यूरोप-निवासियों के भारत में आने से आरम्भ में भारत के विदेशी व्यापार को लाभ हुआ था यद्यपि बाद में अंग्रेजों द्वारा अपने सभी यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वियों को भारत के व्यापार से वंचित कर देने और 1765 ई. से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर लेने से यह लाभप्रद स्थिति बनी नहीं रह सकी। तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि भारत 18वीं सदी में एक निर्धन राज्य था। यह अवश्य है कि पिछली दो सदियों की तुलना में भारत की सम्पन्नता में 18वीं सदी में कमी अवश्य आ गयी थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु आर्थिक दृष्टि से भारत की आर्थिक दुर्बलता का मुख्य कारण उसकी आर्थिक असमानताएँ थीं। भारत के विभिन्न वर्गों के आर्थिक साधनों में बहुत असमानता थी। भारत का शासक-वर्ग, उमरा-वर्ग, जागीरदार, जमींदार, बड़े व्यापारी और उद्योगपति आदि भारत के सम्पन्न वर्ग में आते थे जो जीवन की सभी सुविधाओं और ऐश्वर्य का उपभोग करते थे। परन्तु यह वर्ग भारत की जनसंख्या का बहुत छोटा वर्ग था। भारत का बहुसंख्य वर्ग तो किसान, किसान-मजदूर, औद्योगिक मजदूर, साधारण कारीगरों आदि का था जो केवल जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं मात्र की पूर्ति से समर्थ था। इस गम्भीर आर्थिक विषमता के कारण भारतीय समाज में एकता नहीं हो सकती थी और न ऐसी स्थिति में जनसाधारण में देश-प्रेम की भावना उत्पन्न हो सकती थी। इसी कारण, विदेशियों को यहाँ के जनसाधारण-वर्ग से वफादार सैनिक मिलना सम्भव हुआ। अंग्रेजी सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या ही अधिक थी जिन्होंने अंग्रेजी-साम्राज्य को भारत में स्थापित करने में सहायता दी।

[3]

सामाजिक स्थिति

सामाजिक दृष्टि से भी भारत में विभिन्नताएँ और असमानताएँ थीं। आर्थिक आधार पर भारत विभिन्न वर्गों जैसे शासक, जागीरदार, जमींदार, व्यापारी, उद्योगपति, किसान, किसान-मजदूर, बड़े कारीगर, छोटे कारीगर, साधारण मजदूर, मध्यम-वर्ग जैसे कलाकार, शिक्षित पेशेवर-वर्ग, वैद्य, शिक्षक आदि विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था जिनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और विरोध था। इसके अतिरिक्त, धर्म, समाज, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर भी भारतीयों में तीव्र विभाजन था।

भारत का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू था जो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के आधार पर ही नहीं बल्कि प्रत्येक वर्ण की सैकड़ों जातियों और उप-जातियों में बँटा हुआ था। जाति-व्यवस्था कठोर थी और विभिन्न जातियों में पारस्परिक खान-पान और विवाह-सम्बन्ध सम्भव नहीं थे। जातियों की अपनी पंचायतें होती थीं जो जातीय नियमों का कठोरता से पालन करती थीं और नियमों का उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड देती थीं। व्यक्ति की जाति ही अधिकांशतया उसके व्यवसाय का निर्धारण करती थी। जाति-परिवर्तन सम्भव नहीं थे यद्यपि धन और शक्ति प्राप्त करके एक व्यक्ति समाज में सम्मान अवश्य पा सकता था। हिन्दू-समाज में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा, बहु-विवाह, देवदासी-प्रथा, बालिका-हत्या, विधवा-विवाह न होना आदि ऐसी कुप्रथाएँ थीं जिनसे भारतीय स्त्रियाँ पीड़ित थीं। सम्पत्ति में स्त्रियों का कोई हिस्सा नहीं था।

भारतीय समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग मुसलमानों का था। मुसलमान भी धर्म, धन, व्यवसाय आदि के आधार पर विभाजित थे। उनके विभाजन का एक मुख्य आधार विदेशी या भारतीय मुसलमान होना था। विदेशी मुसलमान, जो बाहर से आये थे, अपने को भारतीय मुसलमानों (जो भारत में हिन्दू से मुसलमान बने थे) से श्रेष्ठ मानते थे। विदेशी मुसलमान भी विभिन्न राज्यों के आधार पर बँटे हुए थे। ईरानी, तूरानी, अफगान आदि आपस में अन्तर मानते थे। भारतीय मुसलमान अपनी पूर्व की हिन्दू-जाति के आधार पर विभाजित थे। मुसलमान व्यवसायों की भिन्नता के आधार पर भी बँटे हुए थे। उनमें शिया, सुन्नी, सूफी आदि धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर भी अन्तर थे। मुसलमानों में भी सामाजिक कुरीतियाँ थीं। पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह और शिक्षा का अभाव मुसलमान-स्त्रियों से सम्बन्धित कुरीतियाँ थीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिख, पारसी, जैन आदि अन्य सामाजिक वर्ग थे। इस प्रकार, भारतीय समाज विभाजित, प्रतिस्पर्धापूर्ण और विभिन्न कुरीतियों से ग्रस्त था। ऐसा समाज दुर्बल और गतिहीन था।

[4]

सांस्कृतिक स्थिति

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में गिरावट थी। महान् मुगल बादशाहों, कुलीनों, जागीरदारों एवं हिन्दू-नरेशों ने भारत की राजनीतिक एकता और आर्थिक समृद्धि के समय में शिक्षा, साहित्य और ललित-कलाओं को संरक्षण प्रदान करके उनकी उन्नति में सहयोग दिया था। 18वीं सदी में यह सम्भव नहीं हुआ क्योंकि इस सदी में न महान् बादशाह रहे और न उच्च स्तर का उमरा या कुलीन वर्ग। इस सदी में जिनके पास धन था उन्होंने भी उसका उपयोग अधिकांशतया व्यक्तिगत विलासिता और स्वार्थ-पूर्ति के लिए किया। इस कारण, सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में गिरावट आयी। स्थापत्य-कला की दृष्टि से हमें इस काल में बनी हुई कोई उत्कृष्ट इमारत दिखायी नहीं देती और मुगल-चित्रकला-शैली तो लुप्तप्राय हो गयी। यह अवश्य है कि काँगड़ा और राजस्थान के राजपूत-शासकों के संरक्षण में राजपूत और काँगड़ा-चित्रकला-शैली ने अवश्य भारत में चित्रकला को जीवित रखने में सहायता दी। इसी प्रकार, उत्तरकालीन मुगल बादशाहों और कुछ क्षेत्रीय नवाबों के विलासपूर्ण जीवन के कारण गायन और नृत्यकला जीवित रही। मुहम्मदशाह रंगीले ने अदारंग और सदारंग नाम के योग्य गायकों को संरक्षण प्रदान किया था। तंजौर, ट्रावनकोर और हैदराबाद के शासकों ने भी गायन-कला को संरक्षण प्रदान किया। इसी प्रकार, दक्षिण के कुछ शासकों ने भरतनाट्यम् और कत्थक नृत्य-कला-शैलियों का पोषण किया। साहित्यिक दृष्टि से फारसी-साहित्य की प्रगति के कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नहीं होते। परन्तु प्रादेशिक भाषाओं में से कुछ की उन्नति अवश्य इस काल में हुई, मुख्यतया उर्दू के कुछ विद्वान जैसे मीर, सौदा, नज़ीर आदि इस काल में हुए और उर्दू मुगल-दरबार की लोकप्रिय भाषा हो गयी। तमिल, मलयालम और बंगला भाषा में भी कुछ ग्रन्थों की रचना हुई।

इस प्रकार, सांस्कृतिक दृष्टि से भी 18वीं सदी गिरावट की थी। इसका मुख्य कारण शिक्षा का अभाव था। निस्सन्देह, मुसलमानों की शिक्षा के लिए मकतब और मदरसे थे तथा हिन्दू पाठशालाओं और मन्दिरों से जुड़े हुए विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे, परन्तु शासक-वर्ग की तरफ से शिक्षा की व्यवस्था न तो समुचित थी और न विशेष लाभदायक। शिक्षा-संस्थाओं को इस काल में उचित आर्थिक संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु इस क्षेत्र में भारत की सबसे बड़ी दुर्बलता विज्ञान और तकनीकी शिक्षा का अभाव था। भारत के किसी शासक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और न यह जानने का प्रयत्न किया कि विदेशों में इन क्षेत्रों में क्या प्रयत्न किये जा रहे थे। इस कारण भारत आर्थिक और सैनिक साधनों की दृष्टि से अन्य देशों, मुख्यतया यूरोपीय देशों से पिछड़ गया। यही नहीं अपितु भारतीयों की बुद्धि का विकास आधुनिकता की ओर नहीं हो सका। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भारतीय परम्परावादी बने रहे और शासन, आर्थिक ढाँचा, सामाजिक व्यवस्था आदि जीवन के किसी भी क्षेत्र में नवीनता को जन्म नहीं दे सके। यह उनकी अवनति और अंग्रेजों द्वारा गुलाम बनाये जाने का एक मुख्य कारण बना।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 18वीं सदी में राजपूत राज्यों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति के विषय में आप क्या जानते हैं ?
2. 18वीं सदी में राजपूत राज्यों की शासन व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ? वह मुगल शासन व्यवस्था से कहाँ तक प्रभावित थी ?
3. सिखों के राजनीतिक उत्थान में बन्दा बैरागी का क्या योगदान था ?
4. 18वीं सदी में मैसूर राज्य के उत्थान के कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।
5. 18वीं सदी में हुए आंग्ल-फ्रान्सीसी संघर्ष के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
6. 18वीं सदी में भारत की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति के बारे में आप क्या जानते हैं ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में पुर्तगालियों के पतन के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालें।
2. भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों की असफलता के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालें।
3. बन्दा बहादुर के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालें।
4. प्रथम कर्नाटक युद्ध का वर्णन करो।
5. द्वितीय कर्नाटक युद्ध का क्या परिणाम रहा ?
6. मुगल साम्राज्य के पतन के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालें।
7. 18वीं सदी में भारत की आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों की असफलता के निम्न कारणों में से कौन-सा कारण ठीक नहीं है ?
   (अ) अंग्रेजों की तुलना में फ्रान्सीसियों की नौसेना का दुर्बल होना
   (ब) आर्थिक दृष्टि से फ्रान्सीसी कम्पनी का दुर्बल होना
   (स) भारत में साम्राज्य विस्तार की ओर फ्रान्सीसी गवर्नरों का ध्यान न देना
   (द) बंगाल पर अधिकार करके अंग्रेजों का धन और जनशक्ति से शक्तिशाली हो जाना।
2. बक्सर का युद्ध हुआ था—
   (अ) 1761 ई. में (ब) 1762 ई. में
   (स) 1763 ई. में (द) 1764 ई. में।
3. निम्न में से किस यूरोपीय देश ने भारत के बजाय दक्षिण-पूर्व एशिया में अपना ध्यान केन्द्रित किया ?
   (अ) पुर्तगाली (ब) डच
   (स) डेन (द) फ्रेंच
4. बंदा बहादुर का जन्म कब हुआ था ?
   (अ) 1670 ई. में (ब) 1671 ई. में
   (स) 1672 ई. में (द) 1673 ई. में।
5. तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध समाप्त हुआ था—
   (अ) तंजौर की सन्धि के द्वारा (ब) अर्काट की सन्धि के द्वारा
   (स) मंगलौर की सन्धि के द्वारा (द) श्रीरंगपट्टम की सन्धि के द्वारा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. प्रथम मराठा युद्ध समाप्त हुआ था—
   (अ) सूरत की सन्धि द्वारा (ब) पुरन्दर की सन्धि द्वारा
   (स) वादगाँव की सन्धि द्वारा (द) सालबाई की सन्धि द्वारा।
7. निम्न में से कौन अवध का अन्तिम नवाब था ?
   (अ) सादत अली (ब) नासिरुद्दीन
   (स) नासिरुद्दौला (द) वाजिद अली शाह।
8. द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के समय गवर्नर-जनरल कौन था ?
   (अ) वारेन हेस्टिंग्स (ब) लार्ड कार्नवालिस
   (स) सर जॉन शोर (द) लार्ड वेलेजली।

[उत्तर : 1. (स), 2. (द), 3. (ब), 4. (अ), 5. (द), 6. (द), 7. (द), 8. (अ)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15

मुगल-साम्राज्य की सफलताएँ एवं असफलताएँ

मुगल-साम्राज्य ने लगभग 200 वर्षों तक भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र को राजनीतिक एकता, दृढ़ता, सुरक्षा और शान्ति प्रदान की। केवल औरंगजेब का दक्षिण-भारत को जीतकर मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न सफल होते हुए भी हानिकारक और अस्थायी सिद्ध हुआ। परन्तु फिर भी भारत के अधिकांश भाग को—मुख्यतया उत्तर-भारत के विस्तृत और उपजाऊ भू-प्रदेश को—अपने अधीन करने में मुगल बादशाह सफल हुए थे और वे इस विजय को एक लम्बे समय तक स्थायित्व भी प्रदान कर सके थे। मुगल-साम्राज्य एक लम्बे समय तक शक्तिशाली, समृद्धशाली और प्रगतिशील रहा, एक लम्बे समय तक उसने भारत को योग्य एवं गौरवशाली शासक प्रदान किये, विदेशों में भारत के सम्मान को बढ़ाया तथा भारत की आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में योग दिया। मध्य-युग में जब संसार के प्रायः सभी राज्यों में राजतन्त्र ही एकमात्र सफल शासन-व्यवस्था स्वीकार की जाती थी, मुगल बादशाहों ने भारत को एक शक्तिशाली राजतन्त्र प्रदान करके देश की सर्वांगीण प्रगति में भाग लिया। मुगल-साम्राज्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से उसकी सफलताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मुगल-साम्राज्य का वैभव नष्ट हो गया और अन्त में वह एक दुर्बल और बीमार व्यक्ति की तरह घुट-घुटकर समाप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनेक सफलताओं को प्राप्त करने के पश्चात् भी मुगल-साम्राज्य अनेक कार्यों को करने अथवा समस्याओं का हल खोजने में असफल हुआ था।

मुगल-साम्राज्य की सबसे पहली सफलता भारत के अधिकांश भू-प्रदेश को एक लम्बे समय तक राजनीतिक एकता और एक शासन-व्यवस्था प्रदान करने की थी। सम्पूर्ण उत्तर-भारत और दक्षिण के अधिकांश भाग को उसने राजनीतिक एकता, स्थायित्व और शासन की एकता प्रदान की। अकबर के समय से समान लगान-व्यवस्था, समान प्रान्तीय शासन, एक राजभाषा, एक सुनियोजित सैनिक-व्यवस्था, सुरक्षा के लिए विभिन्न किलों का निर्माण, पदाधिकारियों का स्थानान्तरण, पदों का योग्यता के आधार पर वितरण, प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता-प्रदर्शन करने की सुविधा आदि स्थापित की गयीं। औरंगजेब के प्रारम्भिक काल तक प्रायः इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था रही। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य में एकता रही, शासन दृढ़ रहा, राज्य को योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त होती रहीं, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा रही और साधारण प्रजा शान्ति का उपभोग कर सकी। इन सभी से राज्य की जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति सम्भव हो सकी। मुगल-साम्राज्य से बाहर भी भारत के जो प्रदेश थे वे भी इस शासन-व्यवस्था से किसी न किसी प्रकार प्रभावित अवश्य हुए थे। यही नहीं, इसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव स्थायी भी रहा, यहाँ तक कि अंग्रेजों ने भी मुगलकालीन शासन-व्यवस्था का प्रयोग शासन के अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त समय तक किया।

मुगल बादशाहों के शासन का आधार केवल तलवार की शक्ति न थी। निस्सन्देह, उन्होंने बड़ी सेनाएँ रखीं परन्तु वह समय की आवश्यकता थी। मुगल विदेश से भारत आये थे। उनकी शक्ति के विस्तार और स्थायित्व के लिए तलवार की शक्ति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त, मध्य-युग में कोई भी साम्राज्य बिना शक्ति के नहीं चल सकता था। उसके अभाव में साम्राज्य के गौरवपूर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। इस कारण मुगलों की शक्ति का आधार भी तलवार थी। परन्तु मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया था। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक ही नहीं बल्कि औरंगजेब के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि वह परिश्रमी था, उनमें से प्रत्येक अपने-अपने दृष्टिकोण और क्षमता से प्रजा की भलाई के लिए प्रयत्नशील था और उनमें से अधिकांश अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने में सफल हुए थे। मुगल बादशाहों की शक्ति, गौरव और शान-शौकत ने अपनी प्रजा को भी गौरव और सम्मान प्रदान किया। मध्य-युग में प्रजा एक शक्तिशाली और समृद्धशाली बादशाह के प्रति ही भक्ति-भाव रख सकती थी। मुगल बादशाहों ने प्रजा की इस भावना को सन्तुष्ट किया। इस कारण **एक लम्बे समय तक मुगल बादशाह अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त कर सके थे।**

मुगलों ने युद्ध के तरीकों और साधनों में वृद्धि की। टर्की, फारस और मध्य-एशिया से प्राप्त युद्ध-नीति को उन्होंने भारत में आरम्भ किया। बाबर की तुलगमा युद्ध-नीति, उसका तोपखाना और घुड़सवार-सेना पर बल आदि भारत के लिए नवीन चीजें थीं। बाद के मुगल बादशाहों ने उन सभी को पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। किलों का निर्माण, सुरक्षा के प्रयत्न, मनसबदारी-प्रथा, कैम्प-व्यवस्था आदि मुगलों की अपनी पृथक विशेषताएँ थीं जिन्होंने भारत में युद्ध के नवीन साधनों और तरीकों को आरम्भ किया।

धार्मिक उदारता और हिन्दू-मुसलमानों के निकट आने की दृष्टि से भी मुगलों का समय पूर्ण सफल तो नहीं था परन्तु अपने से पहले के मुसलमान शासकों की तुलना में कहीं आगे था। तुर्क और अफगान शासकों ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न नहीं किया था और धार्मिक दृष्टि से प्रायः वे सभी अनुदार थे। उनके समय में हिन्दू और मुसलमान निरन्तर एक-दूसरे से संघर्ष करने की स्थिति में रहे और जो कुछ निकटता उनमें आयी वह बाध्यता और परिस्थितियोंवश आयी। इसके विपरीत, मुगल बादशाहों ने हिन्दू और मुसलमानों के भेद-भाव को अधिक महत्व नहीं दिया। बाबर और हुमायूँ अधिक कट्टर न थे, अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का सक्रिय प्रयोग किया, जहाँगीर और शाहजहाँ ने उनकी नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया और, सम्भवतया, औरंगजेब की धर्मान्धता को भी क्षमा किया जा सकता है यदि उसकी तुलना यूरोप और एशिया के अन्य समकालीन बादशाहों की धर्मान्धता से की जाय। औरंगजेब के बाद के मुगल बादशाह धर्मान्धता की नीति का अनुसरण करने की स्थिति में ही न रहे। इस प्रकार, **तुलनात्मक दृष्टि से मुगल-काल धार्मिक दृष्टि से उदार था।** भक्ति-मार्ग मुगल-काल में भी लोकप्रिय रहा और नानक, कबीर, दादू आदि सन्तों ने हिन्दू और इस्लाम-धर्म की एकता में विश्वास करना सिखाया। अनेक सूफी सन्त इसी मार्ग पर चलने की सलाह देते थे। इनके प्रयत्न पूर्णतया सफल न थे परन्तु धार्मिक उदारता के वातावरण की स्थापना करने में सहायक अवश्य थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगलों के समय में भारत के सम्बन्ध विदेशों से घनिष्ठ हुए। एक लम्बे समय तक अफगानिस्तान भारतीय साम्राज्य का भाग रहा। इसके स्थल-मार्ग से उत्तर-पश्चिम और यूरोप के देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। गुजरात और बंगाल के विभिन्न बन्दरगाह समुद्री मार्ग से विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक हुए।

मुगल-साम्राज्य एक लम्बे समय तक आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहा। कृषि, व्यापार और उद्योगों की दृष्टि से मुगल-काल उन्नतशील था। विदेशी व्यापार में भारत की स्थिति लाभप्रद थी। निस्सन्देह, इस बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि का मुख्य लाभ समाज के श्रेष्ठ वर्ग, मुख्यतया बादशाह और उनके सरदारों एवं अमीरों को था। परन्तु फिर भी इस समृद्धि और गौरव में प्रजा ने भी भाग लिया था। सम्भवतया, मध्य-युग में बादशाहों से इससे अधिक आशा करना व्यर्थ था।

मुगल-साम्राज्य सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। मुगलों ने इतिहास-लेखन में प्रगति की। विभिन्न बादशाहों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखीं अथवा अपने समय के इतिहास को अन्य व्यक्तियों से लिखवाया। फारसी भाषा इसी समय राजभाषा बनी। इससे उसके साहित्य का विकास हुआ और अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थों का उसमें अनुवाद किया गया। इसके अतिरिक्त, इस युग में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी प्रगति हुई। स्थापत्य-कला और चित्रकला की दृष्टि से मुगल-काल गौरवपूर्ण है। मुगल-काल में बनी अनेक इमारतें, किले, मकबरे और विभिन्न चित्र भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधियाँ हैं। संगीत, नृत्य, लेखन-कला, बागवानी आदि अन्य दृष्टियों से भी मुगल-काल प्रगतिशील था। मुगल-काल की वेश-भूषा, शृंगार, खान-पान, सामाजिक व्यवहार, आभूषण आदि ने एक लम्बे समय तक भारत को प्रभावित किया और ये सभी भारत की संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये।

इस प्रकार, मुगल-काल की अनेक सफलताएँ मान्य हैं। मुगल-काल भारत का महान् काल माना गया है और मुगल बादशाह महान् बादशाह माने गये हैं **परन्तु मुगल बादशाह समय की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल महान् न रह सके। यही उनकी असफलता थी और यही उनके और उनके साम्राज्य के पतन का कारण बनी। मुगल-काल में हिन्दू और मुसलमान सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं हो सके।** यदि दिल्ली के सुल्तानों का समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच राजनीति, सत्ता और धार्मिक श्रेष्ठता के लिए संघर्ष का समय रहा, तो मुगल बादशाहों का समय राष्ट्रीय एकता के प्रयत्न और कट्टर इस्लाम की प्रवृत्ति के संघर्ष का समय रहा। इसमें अन्त में विजय कट्टर इस्लाम की प्रवृत्ति की हुई। अकबर के द्वारा आरम्भ किया गया राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न आगे नहीं बढ़ सका तथा औरंगजेब के समय में इस प्रयत्न को त्याग दिया गया। परन्तु जिस समय अंग्रेजों ने भारत में अपने कदम जमाये उस समय तक हिन्दू-मराठे मुगलों और इस्लाम की शक्ति की श्रेष्ठता को तोड़ चुके थे और कट्टर इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति परास्त हो चुकी थी। फिर भी इस संघर्ष का निर्णय नहीं हुआ। इस कारण भारत में एकता न थी, हिन्दू-मराठे और विभिन्न मुसलमान शक्तियाँ आपस में संघर्ष कर रही थीं और हिन्दू-प्रजा और मुख्यतया हिन्दुओं का व्यापारी वर्ग, जिनका हित अंग्रेज व्यापारियों से जुड़ा हुआ था, मुसलमानों के विरुद्ध अंग्रेज कम्पनी की सहायता के लिए तत्पर था। इस प्रकार, मुगल बादशाह भारत की प्रजा में अन्ततः एकता लाने में असफल रहे थे। **ऐसी परिस्थितियों में मुगल-शासन को 'राष्ट्रीय शासन' और मुगल-काल को 'भारतीय राष्ट्रीयता का युग' पुकारना ठीक नहीं है, जैसा कि कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने उसे पुकारा है।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य मुस्लिम राज्यों के विस्तार की भाँति भारत में मुगल-साम्राज्य के विस्तार का एक आधार विभिन्न साहसी सरदारों का शौर्य और उनकी योग्यता रहा था। जब तक जीतने के लिए नवीन भूमि रही तब तक उनमें परस्पर संघर्ष नहीं हुए। परन्तु जब मुगल-साम्राज्य विस्तार और सुरक्षा की अन्तिम सीमा पर पहुँच गया तो षड्यन्त्र, विद्रोह, गृह-युद्ध, उत्तराधिकार के युद्ध आदि अधिक होने लगे। मुगल बादशाह उनको रोकने में असमर्थ रहे। शाहजहाँ और औरंगजेब जैसे शक्तिशाली बादशाह अपने पुत्रों को आपस में युद्ध करने से न रोक सके। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह स्थिति और अधिक खराब हो गयी। ऐसी स्थिति में न तो शान्ति सम्भव थी, न समृद्धि और न सांस्कृतिक प्रगति। मुगल बादशाह एक सुनिश्चित और स्थायी शासन को अपने साम्राज्य का आधार न बना सके। व्यक्तिगत शक्ति और महत्वाकांक्षाएँ गम्भीरता से मुगल-साम्राज्य में अन्त तक सम्मिलित रहीं। मुगल-काल में सम्पत्ति की सुरक्षा, अधिकारों की सुरक्षा, आर्थिक प्रगति, विदेशी व्यापार और सांस्कृतिक प्रगति का कोई ठोस आधार न था। वह सभी कुछ समय की बदलती हुई परिस्थितियों पर निर्भर करता था। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगल-काल में शासन, सैनिक-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, सांस्कृतिक प्रगति आदि सभी के प्रति दृष्टिकोण मध्ययुगीन रहा। उसमें आधुनिकता, समय के अनुकूल परिवर्तन की इच्छा, नवीन दृष्टिकोण तथा नूतन विचारों एवं परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता नहीं रही थी।

मुगल-शासन की एक सफलता चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में थी। मुगल बादशाह अपनी प्रजा के नैतिक चरित्र की रक्षा न कर सके। उनका स्वयं का जीवन अत्यन्त विलासितापूर्ण रहा। औरंगजेब को छोड़कर प्रायः सभी मुगल बादशाह मादक-द्रव्यों के प्रयोग और स्त्री-सम्पर्क के प्रति उदार थे। अकबर जैसे बादशाह का अपना एक विशाल 'हरम' था जिसमें हजारों स्त्रियाँ रखैल अथवा दासियों के रूप में थीं। बादशाह के सरदारों और अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं ने भी उनके मार्ग का अनुसरण करने में गौरव का अनुभव किया। इस कारण समाज का श्रेष्ठतम और धनवान वर्ग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने का आदी हो गया। निस्सन्देह, यह प्रभाव ग्राम्य-जीवन और जनसाधारण तक नहीं पहुँचा और बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित रहा, परन्तु नगर-जीवन और समाज के श्रेष्ठ वर्ग की बदलती हुई मान्यताएँ ही समाज की नैतिक एवं बौद्धिक प्रगति का स्रोत होती हैं। मध्य-युग में यह बात और भी अधिक सत्य थी। ऐसी स्थिति में जब समाज का नेतृत्व करने वाले ही नैतिक और बौद्धिक प्रगति में सहयोग देने में असमर्थ हो गये तब समाज और राज्य का दुर्बल होना स्वाभाविक था। मुगल-संस्कृति दरबार और नगरों तक ही सीमित रही तथा धन और सुरक्षा की प्राप्ति से वहीं पर बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगति हुई। परन्तु उस प्रगति का मूल आधार दुर्बल था। संघर्ष के काल तक मुगल-काल में विलासिता और शौर्य साथ-साथ रह सके। संघर्ष के काल के समाप्त होते ही शौर्य समाप्त हो गया और केवल विलासिता रह गयी। मुगल बादशाहों और सरदारों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी दुर्बल होती गयी, नैतिक और बौद्धिक पतन बढ़ता गया, समाज का श्रेष्ठ वर्ग समाज को नेतृत्व प्रदान करने के योग्य न रहा और अन्त में जनसाधारण भी उसके प्रभाव से मुक्त न रहा। बाद के मुगल-युग में योग्य सेनापतियों, योग्य शासन-प्रबन्धकों, योग्य साहित्यकारों, योग्य कलाकारों आदि का अभाव हो गया और 18वीं सदी का भारतीय समाज दुर्बल हो गया। बौद्धिक पतन के कारण भारत में अन्वेषण, विकास और नूतनता के लिए कोई स्थान न रहा और देश दिन-प्रतिदिन पतन की ओर बढ़ा। घूस, अनाचार, अत्याचार, खुशामद आदि तो इस बीमारी के केवल बाह्य चिह्न थे। मूल बीमारी इससे अधिक गम्भीर थी जिसने मुगल-साम्राज्य को भारत से मिटा दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुगल-शासन का स्वरूप अन्त तक सैनिक रहा। मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा की भौतिक, शैक्षणिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति का प्रयत्न किया। ऐसा नहीं था कि वे इस तरफ से पूर्णतया उदासीन थे परन्तु इसके लिए उन्होंने अत्यन्त सीमित साधनों का प्रयोग किया था। अगर मुगल-साम्राज्य की समृद्धि में प्रजा को भी उचित हिस्सा प्राप्त हुआ होता और उसकी शिक्षा तथा बौद्धिक एवं भौतिक प्रगति का योजनाबद्ध प्रयत्न किया गया होता, तो देश सुदृढ़ होता। मुगल बादशाहों ने राजनीति के इस सिद्धान्त पर कार्य ही नहीं किया कि 'महान् प्रजा की अनुपस्थिति में महान् साम्राज्यों का निर्माण सम्भव नहीं है।'

इस्लाम की कट्टरता, जो मुसलमानों की प्रारम्भिक सफलता का कारण थी, उनकी रूढ़िवादिता और जड़ता का कारण बनकर उनके पतन का कारण बनी। आधुनिक समय में भी यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध की जा सकती है। मुगल-साम्राज्य की सफलता और असफलता भी इस्लाम की इस कट्टरता की भावना से प्रभावित हुई। उदार अकबर बादशाह के समय में मुगल-साम्राज्य की बहुमुखी प्रगति के द्वार खुल गये थे जबकि कट्टर औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य के पतन का मार्ग खुला था। यही नहीं बल्कि मूल आधार पर इस्लाम की कट्टरता सभी मुसलमानी राज्यों के पिछड़ेपन का कारण रही थी। भारत के मुगल-साम्राज्य के बारे में भी ऐसा ही हुआ। किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता एक सीमा तक तो एक व्यक्ति अथवा एक साम्राज्य अथवा एक राज्य के लिए लाभदायक हो सकती है परन्तु उसका अन्तिम परिणाम प्रतिक्रिया, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और नूतन विचारों, विश्वासों एवं मान्यताओं की अवहेलना होती है जो एक व्यक्ति, एक सम्प्रदाय अथवा एक राज्य के पतन का कारण बनती है। मुगल-साम्राज्य भी इस्लाम की इस धार्मिक कट्टरता से विमुख न हो सका जिसके कारण वह नूतनता से विमुख रहा। उसके मुकाबले अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी विचारधारा अधिक प्रगतिशील सिद्ध हुई जो अन्त में भारत में उनकी सफलता का कारण बनी। सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका ने नवीन विचार, नवीन बौद्धिक स्तर और शासन में नवीनता की खोज को बन्द कर दिया था। यूरोपियनों के समक्ष सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका के झुक जाने का यही कारण था। मुगल-साम्राज्य की भी यह दुर्बलता रही। भारत में अंग्रेजों ने बहुत-कुछ क्षेत्रों में व्यक्तिगत प्रयासों की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की सुरक्षा, तर्कपूर्ण बुद्धि का विकास, प्रगति की इच्छा आदि की स्थापना करने में सहयोग दिया था। यही उनकी सफलता का कारण था। मुगल-साम्राज्य यही सब कुछ करने में असफल रहा था। मुगल-साम्राज्य मध्ययुगीन था और अन्त तक मध्ययुगीन ही बना रहा। आधुनिकता की ओर न बढ़ने की इच्छा और समय के अनुकूल परिवर्तित न होने की क्षमता मुगल बादशाहों और मुगल-साम्राज्य की सबसे बड़ी असफलता थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मुगल साम्राज्य की सफलताओं का वर्णन कीजिए।
2. मुगल साम्राज्य की असफलताओं पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मुगलों की धार्मिक कट्टरता पर एक लेख लिखिए।
2. मुगलकाल में होने वाले उत्तराधिकार के युद्धों का वर्णन कीजिए।
3. मुगल शासकों के काल में सांस्कृतिक विकास पर लेख लिखिए।
4. मुगल शासकों की सैनिक सफलता का उल्लेख कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. शासन के क्षेत्र में मुगल शासकों की सफलताओं का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लम्बे समय तक मुगल साम्राज्य के शक्तिशाली एवं समृद्धशाली बने रहने का मूल कारण था—
   (अ) जनतन्त्रात्मक व्यवस्था (ब) राजतन्त्र
   (स) सीमित राजतन्त्र (द) इनमें से कोई नहीं।
2. भारत में एक प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है—
   (अ) हुमायूँ को (ब) जहाँगीर को
   (स) अकबर को (द) बाबर को।
3. मुगलों ने भारत में स्थायित्व प्राप्त किया था—
   (अ) तलवार के द्वारा (ब) आध्यात्मिक बल से
   (स) प्रजा का विश्वास प्राप्त करके (द) उपर्युक्त तीनों प्रकार से।
4. मुगलों की सैनिक सफलताओं का कारण था—
   (अ) उनकी घुड़सवार सेना (ब) उनकी तुलगमा नीति
   (स) उनका तोपखाना (द) उपर्युक्त सभी।
5. मुगलकाल तुलनात्मक दृष्टि से धार्मिक मामलों में रहा था—
   (अ) उदार (ब) कठोर
   (स) धर्मान्ध (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
6. मुगलों की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण था—
   (अ) उनकी युद्धों की प्रवृत्ति (ब) उत्तराधिकार के लिए होने वाले युद्ध
   (स) परस्पर संघर्ष (द) गृहयुद्ध।
7. मुगल शासकों का नैतिक चरित्र था—
   (अ) आदर्श (ब) विलासितापूर्ण
   (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
8. मुगल शासकों में शान्ति काल में क्या परिवर्तन हुआ ?
   (अ) वे आलसी हो गए (ब) वे नशा करने लगे
   (स) वे ऐशो-आराम में डूब गये (द) इनमें से कोई नहीं।
9. किस मुगल शासक का काल मुगलों की प्रगति का आधार बना—
   (अ) अकबर का (ब) जहाँगीर का
   (स) बाबर का (द) शाहजहाँ का।
10. इस्लाम की कट्टरता ने मुसलमानों को बना दिया था ?
    (अ) अन्धविश्वासी (ब) पिछड़ा हुआ
    (स) रूढ़िवादी (द) इनमें से कोई नहीं।
11. यूरोपवासियों के सामने अफ्रीका और एशिया के लोगों के झुक जाने का कारण था—
    (अ) नवीन बौद्धिक विचारों का त्याग (ब) नवीन खोजों के प्रति अरुचि
    (स) 'अ' व 'ब' दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (स), 4. (द), 5. (अ), 6. (ब), 7. (ब), 8. (स), 9. (अ), 10. (ब), 11. (स)।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट 1

मध्यकालीन भारतीय इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियाँ

तिथि	घटना
1526-1530 ई.	बाबर का शासन-काल
21 अप्रैल, 1526 ई.	पानीपत का प्रथम युद्ध
17 मार्च, 1527 ई.	खानुवा का युद्ध
1529 ई.	बाबर का घाघरा का युद्ध
1530-1556 ई.	हुमायूँ का शासन-काल
26 जून, 1539 ई.	चौसा का युद्ध
17 मई, 1540 ई.	कन्नौज का बिलग्राम का युद्ध
1540-1545 ई.	शेरशाह का शासन-काल
1545-1553 ई.	इस्लामशाह का शासन-काल
1556-1605 ई.	अकबर का शासन-काल
5 नवम्बर, 1556 ई.	पानीपत का द्वितीय युद्ध
1576 ई.	राणा प्रताप और मुगलों में हल्दीघाटी का युद्ध
1582 ई.	अकबर द्वारा 'दीन-ए-इलाही' का आरम्भ
1605-1627 ई.	जहाँगीर का शासन-काल
1611 ई.	जहाँगीर-नूरजहाँ का विवाह
1623-1626 ई.	शाहजहाँ का विद्रोह
मार्च 1626 ई.	महाबतखाँ का विद्रोह
1627-1658 ई.	शाहजहाँ का शासन-काल
1658-1659 ई.	शाहजहाँ के पुत्रों में उत्तराधिकार का युद्ध
1658-1707 ई.	औरंगजेब का शासन-काल
1679 ई.	औरंगजेब द्वारा जजिया का लगाया जाना
1681 ई.	शाहजादा अकबर का विद्रोह
1627-1680 ई.	छत्रपति शिवाजी का जीवन-काल
1674 ई.	शिवाजी का राज्याभिषेक
1680-1689 ई.	छत्रपति शम्भाजी का शासन-काल
1739 ई.	नादिरशाह का आक्रमण
1707-1749 ई.	छत्रपति शाहू का शासन-काल
1720-1740 ई.	बाजीराव पेशवा के रूप में
14 जनवरी, 1761 ई.	पानीपत का तृतीय युद्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट 2

महत्त्वपूर्ण शासकों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्य

1. बाबर (1526-1530 ई.)

* मुगल साम्राज्य का संस्थापक, पानीपत के प्रथम युद्ध में उसने उजबेकों की युद्ध नीति 'तुलगमा युद्ध पद्धति' तथा तोपों को सजाने में 'उस्मानी विधि' (रूमी विधि) का प्रयोग किया।
* 'मिर्जा' की पैतृक उपाधि का त्याग कर 1507 ई. में काबुल विजय के उपलक्ष्य में 'पादशाह' की उपाधि धारण की, खानुवा और चन्देरी युद्ध में 'जिहाद' घोषित किया, पानीपत युद्ध में विजय के उपलक्ष्य में काबुल के प्रत्येक निवासी को एक-एक चाँदी का सिक्का दान में देने के कारण उसे 'कलन्दर' भी कहा जाता है।
* तमगा नामक कर की समाप्ति, आगरा में ज्यामितीय विधि पर 'नूरे अफगान' नामक बाग लगवाया, जिसे 'आरामबाग' (रामबाग) कहा जाता है।
* सड़कों को नापने के लिए 'गज-ए-बाबरी' नामक माप का प्रयोग, काव्य संग्रह 'दीवान' का तुर्की भाषा में संकलन, 'मुबइयान' नामक पद्य शैली का विकास और 'रिसाल-ए-उसज' की रचना की, जिसे 'खत-ए-बाबरी' भी कहा जाता है। काबुल में चाँदी का 'शाहरुख' तथा कन्धार में 'बाबरी' नाम का सिक्का चलाया।

2. हुमायूँ (1530-1556 ई.)

* भाइयों में साम्राज्य विभाजन करने वाला एकमात्र शासक, अफीम का शौकीन, मुगल चित्रकला की नींव पड़ी, मीर सैयद अली और 'अब्दुस्समद' नामक दो फारसी चित्रकारों की सेवाएँ प्राप्त कीं। 1533 ई. में दिल्ली में दीनपनाह नामक एक नगर का निर्माण कराया जो आज 'पुराने किले' के नाम से विख्यात है।
* सूफियों की शतारी सिलसिले से सम्बन्धित 'मुहम्मद गौस' का शिष्य, 15 मई, 1555 ई. को मच्छीवारा का युद्ध हुआ, 22 जून, 1555 ई. में सरहिन्द का युद्ध हुआ।
* लेनपूल ने लिखा है—"हुमायूँ की असफलता का एक मुख्य कारण उसकी सुन्दर परन्तु विवेक-रहित दयालुता थी।"
* हुमायूँ ने गौड़ में चारों तरफ लाशों के ढेर देखे तथा उसको उजड़ा हुआ पाया इसीलिए उसका नाम जन्नताबाद रखा।

3. अकबर (1542-1605 ई.)

* 1560-62 ई. में पर्दा शासन का अस्तित्व, 1562 ई. में दास प्रथा का अन्त, 1563 ई. में तीर्थ यात्रा कर की समाप्ति, 1564 ई. में जजिया कर की समाप्ति, 1571 ई.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में फतेहपुर सीकरी की स्थापना (प्रारूप बहाउद्दीन ने तैयार किया), 1575 ई. में फतेहपुर सीकरी में इबादत खाने का निर्माण, 1578 ई. में इबादत खाने को सभी धर्मों के लिए खोला गया अर्थात् यह धर्म संसद बना।

* 1579 ई. में महजर या तथाकथित अमोघत्व की घोषणा, स्मिथ ने इसे इनफैविलिटी डिक्री कहा है।
* 1582 ई. में तौहीदे-इलाही की घोषणा, 1583 ई. में कुछ निश्चित दिनों पर पशुवध निषेध, 1584 ई. में गुजरात विद्रोह को दबाने के कारण अब्दुर्रहीम को 'खानखाना' की उपाधि दी गयी।
* 1575-76 ई. में सम्पूर्ण साम्राज्य 12 सूबों में बाँटा गया (दक्षिण की विजय के बाद संख्या 15 हो गयी), 1582 ई. में टोडरमल द्वारा दहसाला प्रणाली लागू, 1573-74 ई. में गुजरात विजय के बाद मनसबदारी प्रथा आरम्भ (प्रेरणा अब्बा सईद से प्राप्त की)।
* 'झरोखा दर्शन', तुलादान तथा 'पायबोस' जैसी पारसी परम्पराओं को आरम्भ किया, जैन धर्म के आचार्य 'हरिविजय सूरि' को 'जगतगुरु' तथा जिनचन्द सूरि को 'युग-प्रधान' की उपाधि दी थी।
* उसके दरबार में ईसाइयों का जेस्सुइट मिशन तीन बार आया जिसका प्रथम बार नेतृत्व कादर एकाबीवा ने किया था।
* 1583 ई. में उसने मुद्रा पर सूर्य और चन्द्रमा की महिमा का बखान करने वाले पद्य अंकित कराये। मुद्रा को एक सुव्यवस्थित एवं व्यापक आधार दिया, 1577 ई. में दिल्ली में 'शाही टकसाल' बनवायी जिसका प्रधान 'ख्वाजा अब्दुस्समद' को नियुक्त किया, 'मुहर' नामक एक सोने का सिक्का (आइने अकबरी के अनुसार एक मुहर नौ रुपये का होता था), 101 तोले का सबसे बड़ा सोने का सिक्का शंसब, 10 रुपये मूल्य के बराबर गोलाकार सिक्का 'इलाही' चलाया।
* अकबर ने चाँदी का एक चौकोर या वर्गाकार सिक्का 'जलाली' चलाया, ताँबे का एक सिक्का 'दाम' चलाया, जो रुपये के 40वें भाग के बराबर होता था। उसने कुछ सिक्कों पर 'राम और सीता' की मूर्ति अंकित करवायी और देवनागरी में 'राम-सिया' लिखवाया।
* असीरगढ़ दुर्ग की विजय स्मृति में एक सोने का सिक्का जिस पर एक ओर 'ताज' और दूसरी ओर टकसाल का नाम तथा ढालने की तिथि अंकित करवायी।

4. जहाँगीर (1605 से 1627 ई.)

* आगरे के किले की शाहबुर्जी और यमुना के किनारे ग्रड़े पत्थर के एक खम्भे के बीच 'न्याय की प्रसिद्ध जंजीर' लगवायी, जिसमें 60 घंटियाँ थीं तथा 'बारह घोषणाएँ' प्रकाशित करवायीं जिसे 'आइने-जहाँगीरी' कहा जाता है।
* 1612 ई. में पहली बार रक्षाबन्धन का त्यौहार मनाया और अपनी कलाई पर राखी बँधवायी, जहाँगीर ने एक नयी प्रथा चलायी जिसके अनुसार पुरुषों का कान छिदवाना और मूल्यवान रत्न पहनना फैशन बन गया।
* सूरदास को आश्रय दिया, उसी के संरक्षण में 'सूरसागर' की रचना हुई। उसके शासनकाल में हाकिन्स (1608-11 ई.) (कम्पनी का प्रतिनिधि) और सर टामस रो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1615-19 ई.) में (सम्राट जेम्स का दूत) आया, जहाँगीर ने हाकिन्स को 400 का मनसब दिया।

* 'निसार' नामक एक सिक्का चलाया जो रुपये के चौथाई मूल्य के बराबर होता था। उसने अपने कुछ सिक्कों पर अपना और नूरजहाँ दोनों का नाम एक साथ अंकित करवाया जबकि कुछ सिक्कों पर उसकी आकृति हाथ में शराब का प्याला लिए हुए अंकित थी।
* जहाँगीर ने हैरात के एक प्रसिद्ध चित्रकार 'आकारिजा' के नेतृत्व में आगरा में एक चित्रणशाला की स्थापना की, जहाँगीर के समय के 'सर्वोत्कृष्ट चित्रकार' 'उस्ताद मंसूर' और 'अबुल हसन' थे। बादशाह ने उन दोनों को क्रमशः 'नादिर-उल-असर' (उस्ताद मंसूर को) और 'नादिर-उद्जमा' (अबुल हसन) की उपाधि दी थी।
* उस्ताद मंसूर प्रसिद्ध पक्षी विशेषज्ञ चित्रकार था जबकि अबुल हसन को 'व्यक्ति चित्रों' में महारथ हासिल थी। अबुल हसन ने 'तुजुके-जहाँगीरी' के मुख-पृष्ठ के लिए चित्र बनाया था।

5. शाहजहाँ (1627-1658 ई.)

* 1636-37 ई. में 'सिजदा' एवं 'पायबोस' प्रथा को समाप्त कर उसके स्थान पर 'चहार-तस्लीम' की प्रथा शुरू करवायी, 'इलाही संवत्' के स्थान पर 'हिजरी संवत' चलाया, हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा कर लगाया तथा गौ-हत्या निषेध सम्बन्धी अकबर और जहाँगीर के आदेश को समाप्त कर दिया।
* शाहजहाँ ने झरोखा दर्शन, तुलादान और हिन्दू राजाओं के माथे पर 'तिलक' लगाने की प्रथा को जारी रखा, 'गंगा-लहरी' और 'रस गंगाधर' के लेखक पण्डित जगन्नाथ उसके राजकीय कवि थे। इसके अतिरिक्त चिन्तामणि, कवीन्द्राचार्य और सुन्दरदास आदि अनेक हिन्दू लेखक भी उसके दरबार में थे।
* हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए पृथक विभाग स्थापित करवाया।
* शाहजहाँ ने 'दाम' और 'रुपये' के बीच 'आना' नामक सिक्के का प्रचलन करवाया।

6. औरंगजेब (1658-1707 ई.)

* 'अबुल मुजफ्फर आलमगीर' की उपाधि धारण की, जनता के आर्थिक कष्टों के निवारण के लिए 'शहदारी' (आन्तरिक पारगमन शुल्क) और पानदारी (व्यापारिक चुंगियों) आदि प्रमुख आबवाबों (स्थानीय करों) को समाप्त कर दिया।
* 'कुरान' को अपने शासन का आधार बनाया, इस्लामी आचरण संहिता के नियमों की पुर्नस्थापना के लिए अनेक अध्यादेश प्रसारित किये, औरंगजेब ने देश को 'दार-उल-हर्ब' के स्थान पर 'दार-उल-इस्लाम' में परिवर्तित करना चाहा।
* अपने सिक्कों पर 'कलमा' (कुरान की आयतें) खुदवाना, पारसी नववर्ष 'नौरोज' का आयोजन, सार्वजनिक संगीत समारोह, भाँग उत्पादन, शराब पीने तथा जुआ खेलने आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

* 1663 ई. में सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया, हिन्दुओं पर 'तीर्थयात्रा' कर लगाया, 1668 ई. में हिन्दू-त्यौहारों और उत्सवों को मनाये जाने पर रोक लगा दी।
* अपने शासन के 11वें वर्ष 'झरोखा दर्शन' एवं 12वें वर्ष 'तुलादान प्रथा' (बादशाह को सोने-चाँदी से तौलना) को समाप्त कर दिया। 1679 ई. में जजिया कर पुनः लगाया, यद्यपि उसे 1704 ई. में दक्कन से यह कर उठा लेना पड़ा।
* गुरुवार की रात को पीरों की मजार एवं अन्य कब्रों पर दीये जलाने की प्रथा को बन्द करवा दिया।
* सर्वाधिक रुपये की ढलाई औरंगजेब के काल में हुई, उसने अपने अन्तिम काल में ढाले गये कुछ सिक्कों पर 'मीर अब्दुल बाकी शाहबई' द्वारा रचित एक पद्य अंकित करवाया।

7. शेरशाह सूरी (1540-1545 ई.)

* 1540 ई. में उत्तर भारत में सूरवंश अथवा द्वितीय अफगान साम्राज्य की स्थापना की, 'सुल्तान-उल-अदल' की उपाधि धारण की, उत्पादन के आधार पर भूमि को तीन श्रेणियों में विभाजित किया—'अच्छी', 'मध्यम' और 'खराब'।
* शेरशाह ने भूमि की माप के लिए 'सिकन्दरी गज' (31 अंगुल या 32 इंच) एवं 'सन की डंडी' का प्रयोग किया। 1708 ई. में सरायों का निर्माण कराया, प्रत्येक सराय की देखभाल एक 'शिकदार' नामक अधिकारी करता था, दिल्ली में दान का लंगर स्थापित करवाया जिसमें लगभग 500 अशरफी प्रतिदिन खर्च होता था।
* बेईमानी को रोकने के लिए उसने घोड़ों को दागने की प्रथा तथा सैनिकों का हुलिया लिखे जाने की प्रथाओं को अपनाया, उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के लिए 'रोहतासगढ़' नामक किला बनवाया, दिल्ली का पुराना किला बनवाया। कन्नौज नगर को बरबाद करके 'शेरसूर' नामक नगर बसाया।
* आगरा से बुरहानपुर तक, आगरा से जोधपुर होती हुई चित्तौड़ तक, लाहौर से मुल्तान तक, बंगाल में सोनारगांव से शुरू होकर दिल्ली, लाहौर होती हुई पंजाब में अटक तक चार सड़कों का निर्माण कराया।
* शेरशाह के समय में 23 टकसालें थीं, शेरशाह के सिक्कों पर शेरशाह का नाम और पद अरबी या नागरी लिपि में अंकित होता था।
* शेरशाह द्वारा रुपये के बारे में 'स्मिथ' ने लिखा है, "यह रुपया वर्तमान ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली का आधार है।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

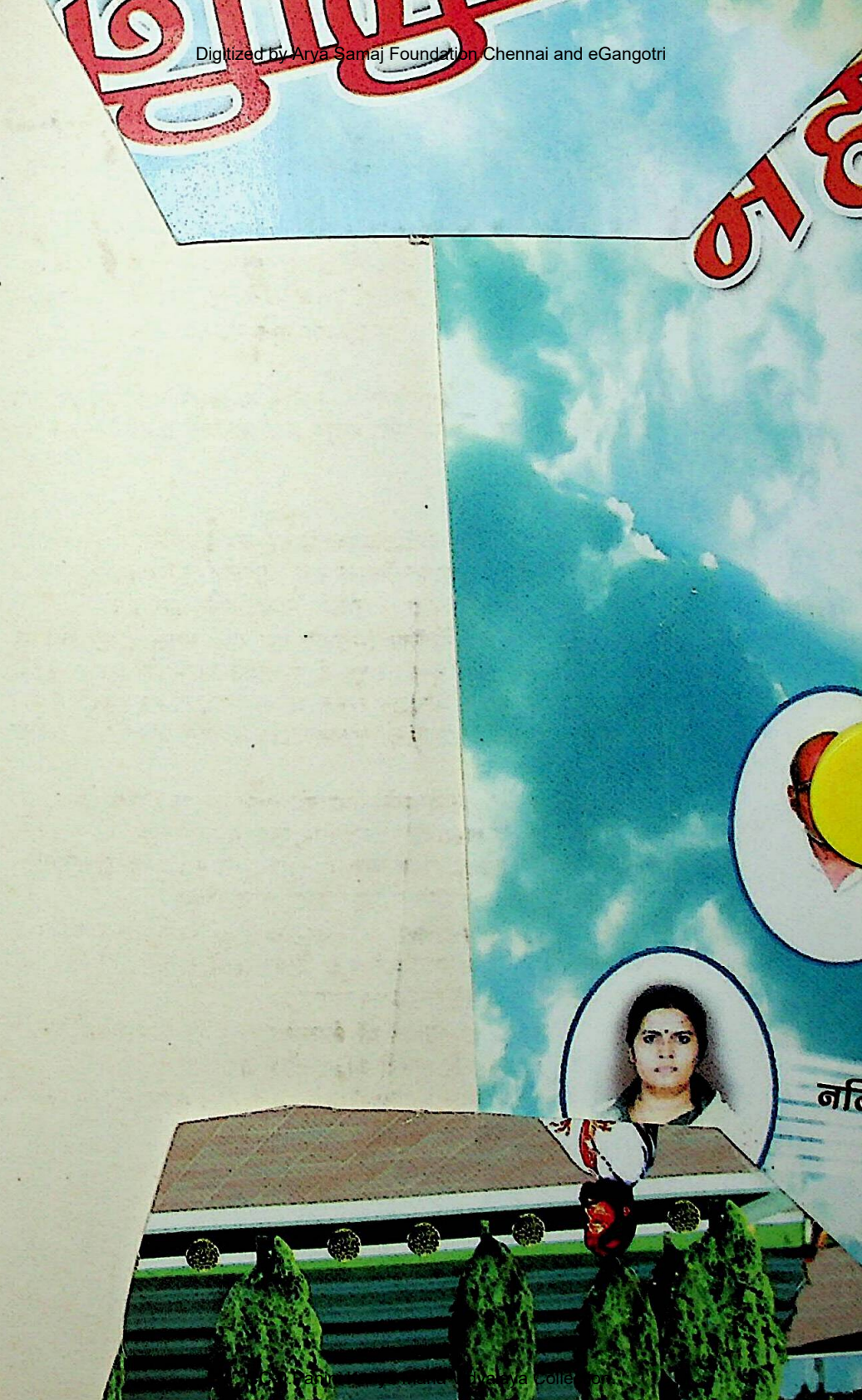

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.